निदानस्थानस्य सूचोपत्रम् ।

| प्रथमोऽ | यायः। | | | विषयाः | | पृष्टे प | ङ्क्तौ | |
|-------------------------------------|--------------|--------------|--------|--|----------|--------------|--------|------------|
| विषयाः | | पृष्ठे पर | र्सो । | रक्तिपत्तिनिर्गमे दोपभेदेन | | | | |
| उवरनिदानाध्यायः | ••• | ११९३ | २ | मार्गनिहेंब: | ••• | १२७२ | • | |
| निदानस्य पर्स्यायः | ••• | 1168 | 3 | मार्गभेदेन रक्तपित्तस्य सा | | १२७२ | | • |
| निदानस्य भेदाः | •• | ११९६ | 9 | रक्तपित्तस्य चिकित्सासूत्र | | ३२७४ १२७४ | | 1 |
| ब्याधेः पर्यायः | *** | १२०३ | 9 | रक्तपित्तस्य साध्ययाप्यास | | | | • |
| व्याधेर्ज्ञानोपायाः | • • • • | 3508 | 9 | रक्तपित्तस्यासाध्यलक्षणा | | | 8 | 4 |
| पुर्वे रूपलक्षणम् | ••• | १२१२ | 9 | अध्यायार्थो वसंहारः | η | 1260 | • | |
| रूपस्य लक्षणं परयीयश्च | *** | १२१७ | 9 | | | 1261 | ર | _ |
| उपशयलक्षणम् | ••• | 1220 | 9 | तृतीयोऽभ | યાયઃ | | | Ţ |
| सम्प्राप्तेः पर्यायः प्रकारभे | दश्च | १२२७ | 9 | गुल्मनिदानाध्यायः | ••• | १२८२ | | |
| ज्वरस्य प्रथमत्वोपदेशे हेत् | ; : | १२३७ | 3 | गुल्मस्य संख्या | ••• | १२८२ | ઠ | ħ |
| तस्याष्टी कारणानि | ••• | १२३८ | 9 | वातगुल्मः | ••• | 8568 | 3 | i |
| वातज्वरस्य निदानादीनि | ••• | 3580 | 9 | गुल्मस्यावस्थितिस्थानम् | ••• | १२८५ | 3 | i |
| पित्तज्वरस्य निदानादीनि | | १२४५ | 3 | गुल्मस्य निरुक्तिः | ••• | १२८५ | ર | गो |
| कफज्बरस्य निदानादीनि | | 158% | 9 | पित्तगुल्मः · · · | - *** | १२८७ | 8 | TF. |
| द्वन्द्व-सान्निपातिकज्वराणां | सम्प्राप्ति- | | | ३लेप्मगुल्मः ··· | ••• | 3566 | ዓ | - ਬ |
| र्छिङ्गानि च | | १२५१ | 9 | सान्निपातिकगुल्मः | ••• | १२८९ | 99 | ₹- |
| आगन्तुउवरस्य निदानादी | नि | १२५२ | 9 | शोणितजगुल्मः | ••• | १२९० | ş | ٠. |
| ज्वरस्य स्वरूपं ह्रे विध्यञ्च | | १२५५ | 3 | गुरुमानां पूर्व्यरूपाणि | ••• | १२९३ | 1 | णं |
| | | 3940 | 3 | गुल्में वातस्य प्रधानता | ••• | १२९३ | 6 | |
| ज्वरस्य पूर्वित्पत्तिप्रकारा | | | | गुल्मस्य चिकित्सासूत्रम् | ••• | १२९३ | ٩ | Ęį |
| व्याधिप्राधान्यञ्च | | 1249 | 3 | अध्यायार्थोपसंहारः | ••• | १२०० | 1 | स्य |
| उत्ररपृत्वेरूपे चिकित्साविधि | रें: | १२६१ | y. | चतुर्थोऽध | ग्रायः । | | | स्य |
| जीर्णज्वरे चिकित्सासूत्रम् | 4. | १२६२ | ų | प्रमेहनिदानाध्यायः - | *** | 13,00 | ą | ાર્થ |
| अध्यायाथीपसंहारः | | १२६५ | 9 | प्रमेहस्य संख्या | ••• | 3 300 | 8 | { ? |
| | | | • | व्याधिविशेपाणां हेतुः | ••• | 3503 | ٠ ٦ | • |
| द्वितीयोऽध्यासम्बद्धाः सम्बद्धाः | યાયઃ [| 12510 | . ! | रवेतवावस्थाना हुए। इस्टेप्मजप्रमेहस्य निदानम् | | १३०३ | 3 | त्ति |
| रक्तपित्तनिदानाध्यायः | | १२६७ | 3 | इलेप्सनप्रमहस्य दृष्यविशे इलेप्सनप्रमहस्य दृष्यविशे | | 150g | 4 | ादि -८- |
| रत्तःपित्तस्य निदानपूर्व्विक | | | Ę | इलेप्सजमम्हस दूऱ्यापर इलेप्सजप्रमहसम्प्राप्तिः | | १३०५ | ą | भि |
| तस्य पूर्वरूपाणि | ••• | 1200 | 8 | द्शविभारतेषाज्ञमेहाणां | _ | - | ş | र्याय |
| तस्य उपद्रवाः | • • • • | ર્વે કેલ્ડ ફ | ξ ! | द्शावभरणभागमस्।णा | -italia | 1308 | Ģ | |

| | | • | | | | | |
|---|----------------|---------------|------------|----------------------------------|------------------|----------------|-----------|
| विपयाः | | पृष्टे प | ङ्क्तौ | विपयाः | • • | त्र हे प | ু ভুকী |
| तेपां साध्यत्वे हेतुः | | 15,00 | • | तस्य रुक्षणानि | | 1886 | • |
| सेपां लक्षणानि | ••• | 15,00 | , s | तस्य उपद्भवाश्च | *** | 133/ | |
| पित्तजप्रमेहस्य निदानपृहि | र्वका | | | चेगसन्धारणज्ञशोपस्य वि | नेदानपृथ्यि | | · |
| सम्प्राप्तिः | ••• | ગર્ગ૧ | ş | सम्त्राप्तिलेखगञ | | ११४७ | S |
| पड्विधपित्तज्यमेहाणां ना | मानि | ૧૨૧૨ | | क्षयजशोपस्य निदानम् | ••• | 1385 | , S |
| सेपां याप्यत्वे हेतुः | | 15,15 | | क्षयजशोपस्य सम्प्राप्तिपृष | र्वकं लक्ष | गम् १३४ | S 2 |
| तेपां लक्षणानि | ••• | গহ্গহ্ | | विषमाशनज्ञाोपस्य निः | ([नं | | |
| वातजश्मेहस्य निदानम् | | 3338 | | सम्प्राप्तिर्लक्षणध | ••• | 3384 | ξ |
| चतुर्विधवातजपमेहाणां स | । स्याप्ति∙ | | | शोपस्य राजयक्मसंज्ञात्वे | निग्किः | १३५० | 3 |
| 22- | | 1 ર ૧૪ | y | शोपस्य पृट्येरूपाणि | ••• | 15,70 | ŝ |
| वातजप्रमेहाणामसाध्यत्वे | हेनः | १३१६ | | शोपस्यैकादश रूपाणि | • • • | કર્પર | 1 |
| यातजप्रमेत्ताणां रुभणानि | | १३,५७ | s. | शोपस्य साध्यत्वादिनिर्देश | สะ | 1505 | 7 |
| प्रमेहाणां पृहर्वस्वाणि | ••• | १३१८ | y | अध्यायाधीपसंहारः | ••• | રકંત્રક | 2 |
| भमेहाणा <u>स</u> ुपद्गवाः | ••• | 93,76 | 33 | सप्तमोऽध्य | । । | | |
| सेपां चिकित्सासूत्रम् | ••• | १३१९ | 9 | ं उन्मादनिदानाध्यायः | ••• | કેફ બુબ | ą |
| अध्यायार्थे पिसंहारः | | 13,19 | | उन्मादस्य संख्यानिर्देशः | | ૧ ફુલ્લ | |
| पश्चमोऽध्य | तयः । | | •• | तस्य निदानपृध्विका सम्प | រែ្ម: | રેક્રોયાય જ | Ę |
| | | | _ | उन्मादस्य पृद्यंक्ष्पाणि | ••• | देहत .ठ | 3, |
| क्रुष्ठानदानाध्यायः जुष्ठानां सप्त द्रध्याणि | | १३२० | ۶ | यातोन्माद्छिङ्गानि | | 1246 | v. |
| कुष्टानां संख्याभेदः | ••• | १३२० | υ, | पित्तोनमाद् लि ज्ञानि | ••• | ૧૩૫૦ | ۷ |
| कापालादिकुप्ठेषु दोपसम्ब | | १३२३ | ક | इलेप्मोन्मादलिङ्गानि | | १३६० | S |
| निर्णयः ··· | | 42.51- | | त्रिदोपोन्माद् लिक्षानि | | ३३६० | ٥, |
| कुष्ठानां निदानं सम्प्राप्तिश्च | ••• | १३२५ | 3 | साध्योनमादानां चिकित्सा | सत्रस | १३६१ | ş |
| कुष्ठानां पूर्व्वरूपाणि | | १३२५ | ٥ | भागन्तुकोन्मादस्य निदान | • | | • |
| कुष्ठानां रूपाणि | ••• | १३२८ | 3 | पूर्वरूपाणि च | | १३६२ | Я |
| कुष्ठाना स्थान कुष्ठानामसाध्यत्वादिनिर्देशः | ••• | १३२९ | 5 . | उन्मादकरभृतानामुन्माद्रि | ं प्यताम् | | |
| | | १३३२ | • | आरम्भविशेपः | ••• | 1३६४ | 3 |
| · · · | ••• | १३३३ १३३५ | 30 | आगन्तूनमादस्य रूपाणि | ••• | १३६४ | ξ |
| षष्ट्रोऽध्यार | | 1442 | 3 | उन्मादकालाः ··· | •• | १३६५ | 3 |
| | | | | उन्मादकरमूतानामुन्माद् ने | r° | | |
| | er | १३३६ | ۲ . | प्रयोजनम् | ••• | १३६६ | y |
| वतुब्विधशोपायतनानां निर्दे | | १३३६ | 8 | पञ्चविधानामप्युन्मादानां | | | |
| साहसजशोपस्य निदानं सम | નાાસશ્ય | १३३६ | ٤ | ह्रे विध्यम् · · · | *** | १३६७ | ٩ |

| | | (41. | स्य स्वापत्रम् । | | = | |
|---|--|---|---|--|---------------------------------|---|
| विपयाः | पृष्टे प | ङ्की | विपयाः | पृष्ठे पर | ক্ষ | |
| उन्मादानां साध्यत्वादि क्रियासूत्र | ञ्च १३५७ | g | अपस्मारेप्यागन्तुकानुयन्धनिर्देशः | १३७५ | ų, ir | |
| अध्यायार्थेपसंहारः | १३७० | २ | अपस्मारस्य चिकिःसासुत्रम् | 3300 | , | |
| अष्टमोऽध्यायः | 1 | | गुल्माचष्टरोगाणामुलक्ती पीराणिक | • | • | |
| अपस्मारनिदानाध्यायः | ૧૩્ ૭૧ | ą | कथा | รูรูเยอ | 3 | |
| अपस्मारस्य संख्यानिर्देशः | १३७१ | S | अपस्मारस्य साधारण-चिकित्सा- | • • | | • |
| तस्य निदानपृर्व्यिका सम्प्राप्तिः | १३७१ | ų | विधिः | 93,0% | Q | - |
| अपस्मारस्य स्वरूपम् | ૧ૂ૩૭૨ | به | रोगाणां निदानार्थकरत्वम् ··· | ૧ૂટ્ષ | 2 | T |
| अपस्मारस्य पूर्विरुगाणि 🕠 | গহ্তহ্ | 3 | हेतुभर्मान्तरम् | १३८२ | ų | : |
| वातापस्मारलक्षणानि · · · | १ ३७३ | o | लिङ्गस्य चातुर्विष्यम् | १३८३ | ч | ते |
| वित्तावस्मारलक्षणानि | 85.28 | ų | रोगाणां साध्यत्वादि | 9320 | 3 | 1 |
| इलेप्मापस्मारलक्षणानि · · · | ૧ૂક્ષ્ય | Ġ, | साधारणचिकित्साविधिः | १३८७ | U | II |
| सान्निपात्तिकापस्मारलक्षणानि | १३७५ | Ę | अध्यायार्थेषसंहारः | १३९० | 2 | ₹: |
| | | | 1 | - | | ग्रे |
| | | | | 3 (2) | | [] |
| · | | | /(५/६० जयपुर । | a recei | • | ti |
| वि | मानस्थ | गतस | य सूचीपत्रम्। | | | वो |
| • | | | | | | |
| | | | e d'une | | | |
| प्रथमोऽध्यायः । | | | • | 1 824 | S | ता |
| | | | कुक्ष्यशिवभागेन मात्रावस्वनिर्देशः मात्रावदाहारलक्षणम् | १४२५ १४२६ | 8 | ता ्च |
| रसविमानाध्यायः | १३९३ | ą | कुक्ष्यशविभागेन मात्रावस्वनिर्देशः | १४२६ | 8 & | ता ्च (र- |
| रसविमानाध्यायः रसादिमानज्ञानस्य प्रयोजनम् | १३९३ १३९४ | 3 | कुक्ष्यशिवभागेन मात्रावरवनिर्देशः मात्रावदाहारलक्षणम् … | | Ę | ता ्च |
| रसविमानाध्यायः रसादिमानज्ञानस्य प्रयोजनम् रसदोपयोः प्रभावः | 53 ९ ३ 53९४ 53९५ | B, 3 | कुक्ष्यशिवभागेन मात्रावस्वनिर्देशः मात्रावदाहारलक्षणम् अमात्रावदाहारलक्षणम् | १४२६ | Ę | ता ,च ,र- मणं |
| रसविमानाध्यायः रसादिमानज्ञानस्य प्रयोजनम् रसदोपयोः प्रभावः द्रव्यप्रभावः | \$393 \$398 \$394 \$398 | 3 3 | कुक्ष्यशिवभागेन मात्रावस्वनिर्देशः मात्रावदाहारलक्षणम् अमात्रावदाहारलक्षणम् अतिमात्राहारस्य लक्षणं सर्वदीप- | ३४२७ ३४२६ | E7 9 | ता च इ- मणं दे। |
| रसविमानाध्यायः रसादिमानज्ञानस्य प्रयोजनम् रसदोपयोः प्रभावः | \$292 \$293 \$294 \$294 \$294 | B, 3 | कुक्ष्यशिवभागेन मात्रावरविनर्देशः मात्रावदाहारलक्षणम् अमात्रावदाहारलक्षणम् अतिमात्राहारस्य लक्षणं सर्वदोप- प्रकोपकरवण्ड | १४२६ १४२७ | ق ق د | ता च रूप |
| रसविमानाध्यायः रसादिमानज्ञानस्य प्रयोजनम् रसदोपयोः प्रभावः द्रव्यप्रभावः सततासेव्यानां द्रव्यत्रयाणां निह्हाः | \$\$08 \$\$08 \$\$08 \$\$08 | 3 3 3 3 | कुक्ष्यशिवभागेन मात्रावस्वनिर्देशः मात्रावदाहारलक्षणम् अमात्रावदाहारलक्षणम् अतिमात्राहारस्य लक्षणं सर्वदोप- प्रकोपकरवणज्ञ आमप्रदोपनिदानम् | १४२६ १४२७ | ق ق د | ता च र- मणं दे। स्य |
| रसविमानाध्यायः रसादिमानज्ञानस्य प्रयोजनम् रसदोपयोः प्रभावः द्रन्यप्रभावः सततासेन्यानां द्रन्यत्रयाणां निद्दशः पिप्पल्यादीनां सततसेवने दोपाः | \$292 \$293 \$294 \$294 \$294 | W & & & & & & | कुक्ष्यशिवभागेन मात्रावरवनिर्देशः मात्रावदाहारलक्षणम् अमात्रावदाहारलक्षणम् अतिमात्राहारस्य लक्षणं सर्वदोप- प्रकोपकरवणञ्च आमप्रदोपनिदानम् मात्राभ्यवहतस्य पथ्यस्याप्यन्नस्य | 3856 3850 3850 3856 | £ 10 0 0 0 17 9 | ता च ए- मणं दे। स्य स्य |
| रसविमानाध्यायः रसादिमानज्ञानस्य प्रयोजनम् रसदोपयोः प्रभावः द्रव्यप्रभावः सततासेव्यानां द्रव्यत्रयाणां निद्दशः पिष्पच्यादीनां सततसेवने दोपाः सातम्यनिर्देशः अष्टानामाहारविधिविशेषायतनानां निर्देशः | \$\$08 \$\$08 \$\$08 \$\$08 | W & & & & & & | कुक्ष्यशिवभागेन मात्रावस्वनिर्देशः मात्रावदाहारलक्षणम् अमात्रावदाहारलक्षणम् अतिमात्राहारस्य लक्षणं सर्वदोप- प्रकोपकरवणज्ञ आमप्रदोपनिदानम् मात्राभ्यवहतस्य पथ्यस्याप्यक्षस्य अजीर्णत्वे हेतुः | \$856 \$850 \$850 \$850 | £ 10 0 0 0 17 9 | ता च र- मणं दे। स्य |
| रसविमानाध्यायः रसादिमानज्ञानस्य प्रयोजनम् रसदोपयोः प्रभावः द्रव्यप्रभावः सततासेव्यानां द्रव्यत्रयाणां निद्दशः पिप्पल्यादीनां सततसेवने दोपाः सात्म्यनिर्देशः अष्टानामाहारविधिविशेषायतनानां निर्देशः भोजनविधिभौज्यसाद्गुण्यञ्च | \$\$\\ \$\$\\ \$\$\\ \$\$\\ \$\$\\ \$\$\\ \$\$\\ \$\$\ | 8% | कुक्ष्यशिवभागेन मात्रावरवनिर्देशः मात्रावदाहारलक्षणम् अमात्रावदाहारलक्षणम् अतिमात्राहारस्य लक्षणं सर्वदोप- प्रकोपकरवणञ्च आमप्रदोपनिदानम् मात्राभ्यवहृतस्य पश्यस्याप्यन्नस्य अजीर्णत्वे हेतुः विसूचिकालक्षणम् अलसकस्य सनिदानलक्षणम् अलसकस्यासाध्यलक्षणम् | 1856 1856 1856 1856 | E 2 | ता च ए- मणं दे। स्य स्य |
| रसविमानाध्यायः रसादिमानज्ञानस्य प्रयोजनम् रसदोपयोः प्रभावः द्रव्यप्रभावः सततासेव्यानां द्रव्यत्रयाणां निद्दशः पिष्पच्यादीनां सततसेवने दोपाः सातम्यनिर्देशः अष्टानामाहारविधिविशेषायतनानां निर्देशः | \$\$\\ \$\\ \$\\ \$\\ \$\\ \$\\ \$\\ \$\\ \$\\ \$\ | UX, 62 64 53 64 100, R. | कुक्ष्यशिवभागेन मात्रावस्वनिर्देशः मात्रावदाहारलक्षणम् अमात्रावदाहारलक्षणम् अतिमात्राहारस्य लक्षणं सर्वदेगेप- प्रकोगकरवणज्ञ आमप्रदोपनिदानम् मात्राभ्यवहृतस्य पथ्यस्याप्यन्नस्य अजीर्णस्य हेतुः विसूचिकालक्षणम् अलसकस्य सनिदानलक्षणम् अलसकस्यासाध्यलक्षणम् अलसकस्यासाध्यलक्षणम् | 3850 3856 3856 3850 3850 3850 | E | ता च्र- गणं दे। स्य नथं त्? |
| रसविमानाध्यायः रसादिमानज्ञानस्य प्रयोजनम् रसदोपयोः प्रभावः व्रव्यप्रभावः सततासेव्यानां व्रव्यव्रयाणां निद्दाः पिष्पल्यादीनां सततसेवने दोपाः सात्यनिर्देशः अष्टानामाहारविधिविशेषायतनानां निर्देशः भोजनविधिभौज्यसाद्गुण्यञ्च अध्यायार्थीपसंहारः | 3845 3830 3830 3800 3800 3808 3564 3568 3568 | W & & & & & & & & & & & & & & & & & & & | कुक्ष्यशिवभागेन मात्रावस्वनिर्देशः मात्रावदाहारलक्षणम् अमात्रावदाहारलक्षणम् अतिमात्राहारस्य लक्षणं सर्वदोप- प्रकोणकरवणज्ञ आमप्रदोपनिदानम् मात्राभ्यवहतस्य पथ्यस्याप्यक्षस्य अजोणित्वे हेतुः विसूचिकालक्षणम् अलसकस्य सनिदानलक्षणम् अलसकस्यासाध्यलक्षणम् अलसकस्यासाध्यलक्षणम् अलसकस्यासाध्यलक्षणम् अलसकस्यास्वाणि | 3856 3856 3856 3856 3856 3856 | ELD SEL US LE COM | ता च र मणे दे स्य मधे १ त्रापि ति |
| रसविमानाध्यायः रसादिमानज्ञानस्य प्रयोजनम् रसदोपयोः प्रभावः द्रव्यप्रभावः सततासेव्यानां द्रव्यत्रयाणां निह्नाः पिप्पल्यादीनां सततसेवने दोपाः सात्म्यनिर्देशः अष्टानामाहारविधिविशेषायतनानां निर्देशः भोजनविधिभीज्यसाद्गुण्यञ्च अध्यायार्थोपसंहारः [द्वतीयोऽध्यायः | \$\$\\ \$\$\\ \$\$\\ \$\$\\ \$\$\\ \$\$\\ \$\$\\ \$\$\ | W & & & & & & & & & & & & & & & & & & & | कुक्ष्यशिवभागेन मात्रावस्वनिर्देशः मात्रावदाहारलक्षणम् अमात्रावदाहारलक्षणम् अतिमात्राहारस्य लक्षणं सर्वदोप- प्रकोपकरवणञ्च आमप्रदोपनिदानम् मात्राभ्यवहृतस्य पथ्यस्याप्यन्नस्य अजीर्णत्वे हेतुः विसूचिकालक्षणम् अलसकस्य सनिदानलक्षणम् अलसकस्य सनिदानलक्षणम् अलसकस्यासाध्यलक्षणम् अलसक-विसूचिकयोः कियास्त्राणि आमप्रदोपस्य चिकित्साविधिः | 3851 3850 3850 3850 3850 3850 3850 3850 | שיים או שיי אל אל שיי פיי אל שי | ता ए । एकं दे । एकं मार्थ १ मार्थ १ मार्थ १ मार्थ १ |
| रसविमानाध्यायः रसादिमानज्ञानस्य प्रयोजनम् रसदोपयोः प्रभावः व्रव्यप्रभावः सततासेव्यानां व्रव्यव्रयाणां निद्दाः पिष्पल्यादीनां सततसेवने दोपाः सात्यनिर्देशः अष्टानामाहारविधिविशेषायतनानां निर्देशः भोजनविधिभौज्यसाद्गुण्यञ्च अध्यायार्थीपसंहारः | 3845 3830 3830 3800 3800 3808 3564 3568 3568 | W & & & & & & & & & & & & & & & & & & & | कुक्ष्यशिवभागेन मात्रावस्वनिर्देशः मात्रावदाहारलक्षणम् अमात्रावदाहारलक्षणम् अतिमात्राहारस्य लक्षणं सर्वदोप- प्रकोणकरवणज्ञ आमप्रदोपनिदानम् मात्राभ्यवहतस्य पथ्यस्याप्यक्षस्य अजोणित्वे हेतुः विसूचिकालक्षणम् अलसकस्य सनिदानलक्षणम् अलसकस्यासाध्यलक्षणम् अलसकस्यासाध्यलक्षणम् अलसकस्यासाध्यलक्षणम् अलसकस्यास्वाणि | 3856 3856 3856 3856 3856 3856 | שיים או שיי אל אל שיי פיי אל שי | ता च र मणे दे स्य मधे १ त्रापि ति |

| . तृतीयोऽध्यायः। | | | विपयाः | पृष्टे पर | इन्हें। |
|---|--------------|---------------|--------------------------------------|-----------|-------------|
| विपया: | मृष्ठे पर | प् रहो | अनुमानलक्षणम् | 1880 | 3 |
| जनपदोद्ध्वंसनीयविमानाध्यायः | १४३६ | ` | उपदेशेन परीक्षाविधिः | 1861 | S |
| जनपदोद्ध्वंसस्य पूर्वंरूपाणि तत्र | | | प्रत्यक्षेण परोक्षाविधिः | 1865 | s |
| कर्त्तन्योपदेशश्च | ३४३६ | ৩ | अनुमानेन परीक्षाविधिः | 3885 | 33 |
| जनपढेषु सामान्यभावानां निर्देशः | १४३९ | v | परीक्षापृद्वेकचिकित्सायाः फलम् | १६८६ | ź |
| अनारोग्यकरवातस्य लक्षणम् | ૧૪ફર | ς | अध्यायार्थेपसंहारः | 3880 | ş |
| अपगतगुणस्य जलस्य लक्षणम् | 1880 | Ę | पश्चमोऽध्यायः। | | |
| अहितदेशस्य लक्षणम् | 3880 | Ę | स्रोतोविमानाध्यायः | | •• |
| भहितकालस्य लक्षणम् | 1881 | Ę | मृर्त्तिमत्सर्वभावाणामभिनिर्वर्त्तने | 2888 | ં |
| दुष्टवातादीनां यधोत्तरं गुरुलाघवः | | | क्षये च स्रोतसां मृहत्वम् | 2886 | |
| निर्देशः | ૧૪૪૨ | s | स्रोतसां संस्था | 1866 | 13. |
| जनपदोद्ध्वंसकाले कर्त्तव्यानि | 1888 | 3 | प्राणवहादि त्रयोदशस्रोतसां निर्देशः | 1850 | ų ų |
| वारवादीनां वेगुण्ये हेतुः | \$88A | 8 | स्रोतसां मूलिनेईशः दृष्टिलक्षणञ्च | 1863 | ٠ ٤ |
| शस्त्रप्रभवस्य जनपदोद्ध्वंसस्य हेतुः | १ ४४६ | v | स्रोतसां नामानि | 1865 | 9 |
| अभिशापप्रभवस्य च तस्य हेतुः | 1880 | ą | स्रोतोदूषणे प्रकोपकारणानि | 1884 | 8 |
| कृतयुगोत्पन्नानां मानवानां | | | स्रोतसां दृष्टिलक्षणम् ··· | 1860 | ۶. و |
| लक्षणानि · · · · · | 2888 | 3 | स्रोतसामाकारनिर्देशः | 1840 | ۲ y |
| अस्यत्कृतयुगस्य रुक्षणम् · · · | 3886 | ٩ | प्रदृष्टस्रोतसां कियासूत्रम् · · · | १४९७ | 9 |
| त्रेतायुगस्य रुक्षणम् · · · | 3886 | 8 | अध्यायार्थीपसहारः | 1869 | Ę |
| आयुपो हासकारणम् · · · | १४४९ | ς | | 10.70 | ٩ |
| भायुपो नियतानियतकालप्रमाण- | | | पष्टोऽध्यायः । | | |
| निर्देशः | १४६२ | ą · | रोगानीकविमानाध्यायः | ६५०० | ٦ |
| ज्वरिताय उष्णपानीयदाने हेतुः | 1800 | 3 | रोगानीकस्य प्रभावादिभेदेन | | |
| हेतुविपरीतभेपजप्रयोगविधिः | १४७१ | 2 | द्विद्धिभेदाः | quoó | 8 |
| तत्र सोदाहरण उपदेशः | | - | ह्रे धस्यापि तस्य एकत्वं बहुत्वमपरि- | | |
| अध्यायार्थोपसंहारः | १४७३ | છ | संख्येयत्वज्ञ | १५०० | S |
| चतुर्थोऽध्यायः । | | | रोगदोपयोः सामान्यं विशेपश्च | १५०३ | 3 |
| त्रिविभरोगविशेषविज्ञानीय- | | | शारीरमानसदोपजविकाराणां | | |
| विमानाध्यायः ••• | १४७५ | ર | निर्देशः | ६५०५ | 3 |
| त्रिविचा रोगविशेपविज्ञानोपायाः | १४७५ | 8 | अनुवन्ध्यानुवन्धयोर्लक्षण्म् · · · | १५०७ | ş |
| वपदेशलक्षणम् · · · | १ ४७५ | Ę | अग्नेर्वलभेदेनं चतुर्व्विधत्वम् | १५०९ | ३ |
| त्रत्यक्षरुक्षणम् · · · · · · · · · · · · · · · · · · · | १४७७ | 3 | प्रकृतिभेदेन तस्य च भेदः | 1499 | २ |
| | | | | | |

| , | | | | | ı | |
|----------------------------------|----------------|------|--------------------------|----------|-----------------------|---------------------|
| विषयाः | गृष्टे प | ट्की | ं विषयाः | | पृष्टं प | ङ्ची |
| देहाग्निरक्षणसमीकरणवि धिः | કપક ર ્ | s | प्राग्वादात् कर्तन्यम् | | ૧૫૬૪ | į |
| वातलादीनां विशेषविज्ञानविज्ञिः | 3434 | S. | वाद्मरपीदालक्षणम् | | ૧ ૫૬૫ | · |
| वातलस्य चानावज्ञयनविधिः | 3434 | 6 | वादमार्गज्ञानार्थमधिगस्य | गानां पद | ानां | ı |
| पित्तलस्य पित्तायज्ञयनविधिः | ३५३६ | ९ | निर्देशः | | ૧૫૬૫ | į- |
| रलेप्मलख इलेप्मावजयनविधिः | 31496 | Ę | वादस्य लक्षणं भेद्ध | | રૂપ ફ.૭ | र्वा |
| अध्यायार्थोपसंहारः | 1419 | ٥ | द्रव्यादीनां छञ्जणम् | | ده نه ځ | ; |
| * सप्तमोऽध्यायः। | | | प्रतिज्ञालक्षणम् | | કૃષ્કળ | ते |
| ब्याधित रूपीयविमानाध्यायः | ૧૫૨૧ | ą | स्थापनालक्षणम् | | १५७६ | ή, |
| व्याधितरूपाणां हे विध्यम् | | | प्रतिष्ठापनालक्षणम् | | 34.06 | .1 |
| तस्य प्रयोजनञ्ज · · · | 3423 | ક | हेनुलक्षणम् ··· | | १५७९ | ΙŢ |
| तत्राकुशसकुशसमिपजां सक्षणानि | 5453 | o | ट प्टान्तलक्षणम् | | 1460 | :1, |
| किमीणां समुन्यानादिविशेषः | 3458 | v | डपनय निगमनलक्षणम् | | ૧૫૮૨ | ग्रे |
| मलजिकमीणां निदानादि | કુત્રકુષ્ટ્ર | g | टत्तरलक्षणम् | | 1464 | { I |
| शोणिनजिकमी गां निदानादि | بروبرو | v | सिद्धान्तलक्षणम् | | १५८६ | ₫ 1 |
| इलेप्सजिकमीणां निदानादि | 3426 | 3 | शन्दलक्षणम् ·· | | ૧ ૫ ૧ ૧ | वो |
| पुरीपजिकिमीणां निदानादि | १५२६ | ૧૨ | , प्रत्यक्षन्यक्षणम् 👵 | | १६१५ | না |
| किमोणां चिकित्साविधिः | १५२८ | 2 | ं अनुमानलक्षणम् | 0 | १६१७ | 'च |
| अध्यायार्थोपसंहारः | ૧૫૩્૬ | ą | गृतिहास्रक्षणम् ··· | | १६१७ | ٠ ٦- |
| | | | औपम्य लक्षणम् | ٠ | १६१८ | णिं |
| अष्टमोऽध्यायः । | | | संशयलक्षणम् | | १६२३ | 101 |
| रोगभिपग्जितीयविमानाध्यायः | 3,480 | ą | मयोजनलक्षणम् | ••• | १६२७ | b |
| शास्त्रपरीक्षात्रिधिः | 34.50 | 3 | सन्यभिचारलक्षणम् | ••• | १६२७ | 1 3 |
| आचार्यपरीक्षाविधिः | રુતકર્ | 3 | जिज्ञासालक्षणम् | ,*** | १६२८ | ₃स्य |
| त्रिविधोपायानां निर्देशः | 9484 | ą | ब्यवसायलक्षणम् | ••• | १६२९ | इस्य |
| अध्ययनविधिः | 30,80 | ų, | अर्थप्राप्तिलअणम् | ••• | १६२९ | शार्थ |
| अध्यापनविधिः शिष्यपरीक्षाविधिश्र | १५४६ | 8 | सम्भवलक्षणम् | | १६३० | 9₹ ? |
| शिष्यानुशासनविधिः | quyo | Đ, | अनुयोज्यलक्षणम् | | 9630 | ^४ त्रापि |
| सम्भाषाविधिः | <i>૧૫૫૫</i> | 3 | अननुयोज्यलक्षणम् | ••• | १६३१ | ^३ ।दि । |
| जल्पकस्य गुणा दोपाश्र | १५५९ | 8 | अनुयोगलक्षणम् | •• | १६३१ | भि |
| परस्य त्रैविध्यम् | १५६० | ₹ | प्रत्यनुयोगलक्षणम् | | १६३२ | ³ यीय |
| परिपदो भेदः | १५६० | 8 | वाक्यदोपलक्षणम् | ••• | १६३२ | ३ |
| परिपदभेदे सम्भापाविधिः | १५६० | 6 | न्यूनलक्षणम् | ••• | १६३२ | Ę |

| | 1,5 | ामामस्य इसामस्य | 1146 | न ए,नापनध्। | |
|-------------------------------|-------------------|--------------------|---------------|---------------------------------|-------------------------|
| विषयाः | | पृष्टे पर | ्न <u>े</u> । | विपयाः | प्रष्टे प्रत्ती |
| मिषकलक्षणम् · · · | ••• | इह्इइ | 3 | वातस्य न्यस्यं वानप्रहानीनां | |
| भनर्थकलक्षणम् | ••• | १६३४ | 1 | रुक्षणञ्च | १६९० १ |
| भपार्थकलक्षणम् | ••• | 323.8 | 3 | विकृतिनः पर्राक्षाविद्यः 🕠 | ११६८ ह |
| वेरहरुक्षणम् | | १६३५ | 3 | सारगः परीक्षाविधिः 💮 \cdots | १६८२ १ |
| बाक्यप्रज्ञंसालक्षणम् | •• | গ্রহ্ | 7 | नंहनननः पर्राक्षाविधिः 🕠 | ११०२ ९ |
| उललक्षणम् ··· | ••• | १६३७ | S | प्रमागतः पर्राक्षाविधिः | 9 500; |
| भहेतुरुक्षणम् … | ••• | १६४० | 1 | शरीरस्य प्रमाणन् 🕝 🕟 | 9:07 9 |
| अतीतकाललक्षणम् | •• | १६४३ | 3 | तत्रःयानां भावानां निर्देशः | ১ ৯০5 হ |
| उपालम्भलक्षणम् | ••• | 1688 | 3 | साम्यत वातुरपरीक्षा | \$502 g |
| वरिहारलक्षणम् | ••• | १६५५ | 4 | सत्त्वत भातुरपरीक्षा | 1500 1 |
| व्यतिज्ञाहानिलक्षणम् | • • • | १६५० | 3 | भाहारशक्तित भानुस्परीक्षा | 1290 0 |
| अभ्यनुज्ञालक्षणम् | ••• | १६५८ | 3 | व्यायामशक्तित आनुरपरीक्षा | 3135 7 |
| हेरवन्तरलक्षणम् | ••• | १६५२ | 1 | वयन आनुरपरीक्षा | \$250 B |
| अर्थान्तरलक्षणम् | ••• | १६६० | • | कालस्य लक्षणं परीद्याविधिद्य | 9090 0 |
| निम्रहस्थानलक्षणम् | • • • | १६६० | 3 | प्रवृत्तिलक्षणम् | 3751 0 |
| बादकाले भिपजां वाक्यकथ | ा नप्रकारः | ११६३ | Ď, | डपायलक्षणम् | १९२० १ |
| भिपनां ज्ञानार्थं केपाञ्चित् | | | | परीक्षाचाः प्रयोजनम् 🗼 · · · | इत्हर अ |
| प्रकरणानाम् उपदेशः | ••• | ११६४ | 3 | वमनोपयोगिभेपजानां निर्देशः | 1:5% 9 |
| कर्त्तु करण कार्ययोनि का | रर्य- | | | विरेचनद्रव्यागां निर्देशः | १४२६ ५ |
| कार्य्यफलानां निर्देशः | • • • | १६६५ | 3 | आस्थापनद्रव्याणां निहेंगः · · · | १०२१ ५ |
| भनुबन्ध-देश-काल-प्रवृत्यु | पायानां | | 1 | मधुरस्कन्धः | \$453 |
| निहेंशः … | | ३६७४ | 3 | अम्लस्कन्यः | 155 |
| कारण-करणादीनां दशविध | परीक्ष्याण | i | | लवणस्कन्धः | १७३३ १ |
| लक्षणानि ··· | ••• | १६८५ | 9 | कटुकस्कन्धः | র গট্ট ত |
| आतुरपरीक्षावि घिः | ••• | १६९० | 9 | तिक्तस्कन्धः | র তর্ ৪ ५ |
| प्रकृत्यादिभावानां निर्देशः | | १६९३ | 8 | कपायस्त्रन्धः | ३७३७ ७ |
| इलेप्सणः स्वरूदं इलेप्सप्रकृ | तीनां | | | अनुवासनदृष्याणां निर्देशः · · · | १७३९ : |
| लक्षणञ्च ··· | | १६९४ | ט | शिरोविरेचनद्रव्याणां निर्देशः | १७३९ ८ |
| वित्तस्य स्वरूपं वित्तप्रकृती | नां | | | अध्यायार्थोपसंहारः | १७४० १० |
| ं लक्षणञ्च ··· | ••• | ५६ ९६ | 3 | अध्यायप्रशंसा | १७४१ ५ |
| | | | | | |

शारीरस्थानस्य सूचीपत्रम् ।

| प्रथमोऽध्यायः। | | | विषयाः | पुच्छे पर | ভ্র |
|--|-----------|-------|-------------------------------------|-----------|-----|
| विपयाः | पृष्ठे पह | ्ता । | प्रतिअंशस प्रतेश लक्षणम् | १८३६ | |
| कतिभापुरुपीयशारीराध्यायः | 21212 | ` | स्मृतिअंशस्य स्मृतेश्च लक्षणम् | १८३० | |
| | १७४३ | ર | प्रज्ञापराधकक्षणम् | १८३७ | , |
| पुरुपाश्रितास्त्रयोविंशतिः प्रश्नाः | १७४४ | 3 | कालकर्माणां सम्प्राप्तिनिहेशः | १८३९ | , |
| धातुभेदेन पुरुपस्य भेदः | ३७४६ | 3 | असातम्येन्द्रियार्थसंयोगविवरणम् | 3885 | ī |
| मनसो लक्षणम् · · · | १७६३ | 3 | शारीरव्याधीनां सुखदःखयोश्च हेतु- | | |
| दशेन्द्रियाणां निर्देशः | १७७७ | 3 | निर्देशः | 3688 | , |
| पञ्च महासूतानि तेपां गुणाश्च | १७८५ | 3, | वेदनानामधिष्टाननिर्देशः | 9880 | : |
| बुद्देर्विवरणम् ··· ··· | १७९२ | 9 | वेदनानिवृत्तिकारणम् | 3883 | |
| पुरुवस्य कारणता | १७९७ | 9 | योगलक्षणम् | 2886 | 1 |
| पुरुपप्रतिष्ठितभावानां निर्देशः | 9600 | 9 | | १८५२ | • |
| पुरुपस्य प्रभवकारणम् | 9604 | ų | 1 | • | |
| पुरुपस्य ज्ञत्वाज्ञत्वादिनिर्देशः | १८०६ | 9 | मोक्षलक्षणम् · · · | ૧૮૫૫ | |
| चतुर्व्विशतिकपुरुपस्य सम्भवहेतुपु | | | योगजस्मृतेर्विज्ञानोपायः | 9644 | • |
| प्रकृतिविकारनिर्देशः | १८१२ | 9 | स्मृत्युपलाभे हेतुः | १८५३ | 5 |
| पुरुपस्य लिङ्गानि | 3686 | 9 | स्मृतेः कारणानि | 5433 | • |
| पुरुषस्य ।छङ्गान निष्क्रियस्यात्मनः क्रियावस्त्रे हेतुः | १८२४ | 9 | तस्वस्वरूगम् | 38.78 | Ş |
| | | • | चरमसन्न्रासस्य फलम् ··· | १८६० | 5 |
| पुरुपस्यानिष्टयानिषु जनकारणम् | १८२६ | 3 | भृतासमनोऽनुपलव्धी हेतुः 🕟 | 9665 | á |
| विश्वनस्तस्य लक्षणानि ··· | १८२७ | 3 | अध्यायार्थोपसंहारः | १८९४ | 3 |
| सर्व्यगतस्यात्मनः सर्व्ववेदनाज्ञानाभ | | | (0) | | |
| कारणम् | १८२७ | ર | द्वितीयोऽध्यायः । | | |
| भात्मनो विभुत्वे कारणम् ··· | १८२८ | 3 | अतुल्यगोत्रीयशारीराध्यायः | १८९५ | ą |
| क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोरनादित्वम् ··· | १८२९ | 3 | 7.7 W | 9694 | 3 |
| आत्मनः साक्षित्वे कारणम् | १८३० | 9 | अग्निवेशस्य प्रश्नः | • | 9 |
| पुरुपस्य वेदनाकृतविशेपनिर्देशः | १८३० | 3 | शुक्रशब्दाभिधेयकथनम् ··· | १८९६ | • |
| वेदनानां चिकित्सानिर्देशः | १८३१ | ३ | गर्भोत्पत्तौ कारणम् | १८९७ | ર્ |
| वेदनानां हेतुनिर्देशः | १८३५ | 9 | सप्रजाया अपि नार्य्याश्चिराद् गर्भ- | | |
| | | - 1 | धारणे हेतुः | 9696 | 9 |

| ू १० ' शार् | ीरस्था | न₹य | । स्चीपत्रम् । | | |
|--|------------|--------|-------------------------------------|----------------------|----------|
| विषयाः | गृन्धे प∈् | स्ती | विपयाः | पृष्ट प | हक्ता |
| त्रवुधानां गर्भभ्रमे कारणम् | 1686 | Đ, | आत्मनिर्णयः ··· ·· | इ९५६ | ۶ |
| ज्ञ्यासुतादिशसवे हेतुः | 5900 | 9 | अध्यायार्थोपसंहारः | 10,50 | ą |
| हरेतःपवनेन्द्रियाद्यष्टानां जन्म- | | | चतुर्थोऽध्यायः। | | |
| : - कारणम् · · · · · · | 1905 | ą | । महतीगर्मीवकान्तिशारीराध्यायः | idao | ą |
| त्रद्योऽनुगतगर्भस्य लक्षणम् | १९०५ | ३ | गर्भसम्भवकारणम् · | 10,00 | 1. |
| _¦ त्री-पुं-न्षुंसकगर्भाया लक्षणम् | १९०६ | ş | । गभसंज्ञा ··· · | ودبي | 3 |
| न्तरत्यस्य मातापितृसमरूपत्ने हेतुः . | 3900 | ٩ | कुञ्जा गर्भाभिनिव्वर्त्तनप्रकारः | ووبيي | • |
| वृत्रत-हीनाधिकाङ्ग-विक्लेन्द्रिय- | | | प्रथम-द्वितीय-तृतीयमासपु गर्भस | | |
| : प्रसवस्य कारणम् * · · · | १९०९ | 9 | अवस्थामेदः | १०५६ | 3 |
| शात्मनो देहान्तरगमने हेतुः | १२०९ | Ŋ | े महासूत्विकारप्रविभागेन गर्भस्य | , | |
| ास्यानुबन्धानां निर्देशः | 1618 | 3 | े अङ्गादीनां विभागः | १९६० | 9 |
| नुक्वीमयानां हेतुः प्रशमनविधिश्च | 1614 | 3 | , स्त्रीपु सर्यावेशेपिका भावाः | ^{१९} ६३ | |
| हूर्पस्य शोकस्य च निमित्तम् | १९१५ | ų | गर्भस्य वेदनानुसृतिवालः | १९६४ | ષ્ટ |
| ्रोगाणासपुनर्भवने कारणम् | 363.4 | Ę | : है हेद्रयकथनम् | १९ ६५ | |
| हैवपुरुपकारयोर्लक्षणम् | १९१७ | ę | र्गार्भणी-गर्भयोर्लक्षणम् | १९ ६७ | ٠ ٦ |
| ृादेभ्यः पृत्र्वं प्रतिकर्मिविधिः | ३९१८ | 3 | गर्भोपघातकरभावानां निर्देशः | १९६८ | ų |
| आरोग्यहेतुः · · · · · | 3838 | ३ | द्वे हदस्यविमाननायां दोपः | इंड्ड | y, Is |
| प्रस्यायार्थोपसंहारः | १९१९ | 9, | चतुर्थादिमासेषु गर्भस्यावस्था | इंद्रहरू इंद्रहरू | ·. |
| ^१ तृतीयोऽध्यायः। | | | प्रसवकालनिर्देशः | 3903 | S |
| बुड्डीकागर्भीवकान्तिशारीराध्यायः | | | कुर्ओ गर्भस्य वृद्धिहेतुः | १९७ २ | ñ |
| | १९२० | | गर्भस्याजनमहेतुः | १९७३ | |
| गर्भोत्पत्तिकारणम् गर्भाभिवृद्धिकारणम् | 1440 | S | ङ्घिस्थगभंस्य विनाशहेतुरचिरजन्म | | , |
| गमामनुद्धकारणम् गमोत्पादकभावविषये ऋषीणां | 1241 | ₹ | हेतुश्च | | 5 |
| | 5055 | ٥ | गर्भस विकृतिहेतुः | | |
| वादः ः । । । । । । । । । । । । । । । । । । | 1224 | 1 | शुद्धादिभेदेन सत्त्रस्य ग्रैविध्यम् | | |
| ्रार्भस्य मानृज पितृजात्मज-सात्म्यज- | | | शुद्धसत्त्वजत्राह्मत्रादिसत्त्वानां | • • • | • |
| रसज-सत्त्वजभावानां निर्देशः | | | लक्षणम् | १९७९ | 9 |
| गर्भविषये भरहाजस्य प्रशाः | | ٠ ٤ | राजसनामससत्त्वानां लक्षणम् | | |
| मनुष्यादीनां तत्प्रभवत्वे हेतुः | | • | अध्यायार्थीपसंहारः | | • |
| त्रड़ादिजातानां पितुरसदरूपावे | | | पञ्चमोऽध्यायः। | | . • |
| | | | पुरुपविचयशारीराध्यायः | | ۲. |

| | शारीरस्था | न्स | य सूचीपत्रम् । | | 1 | 1- |
|--|------------|------|---|-------------|--------------|---------|
| विपयाः | पृष्ठे पट् | क्ते | विपयाः | | पृष्ठे | पङ्क्षा |
| पुरुपस्य लोकसम्मितत्वम् | ३९८६ | ક | दृष्टदोपाणां कार्य्यम् | ••• | २०१८ | Ų |
| लोक-पुरुपयोः सामान्यम् · · · | 5960 | ч | प्रकृतिभूतानां दोपाणां प | • | २०३९ | 8 |
| सामान्योपदेशस्य हेतुः | १९९२ | S | गर्भाङ्गस्य प्रवीभिनिव्दृ | त्तो सुनीन | | |
| प्रवृत्तेम् लम् | 9998 | ą | वादः | | २०२० | ٩, |
| अहङ्कारादीनां लक्षणम् | 5993 | ξ | गर्भस्य कुक्षी स्थितिपका प्रकारश्च · · · | रा वत्तेन• | २०२३ | ٩ |
| निवृत्तिलक्षणम् | १९९६ | S | गर्भस्य निर्गमनप्रकारः | | २०२४ २०२४ | Ę |
| नोक्षोपायनिद्दशः | १९९इ | Ę | सञ्जातस्य तस्याहारोपचा | | २०२५ २०२५ | • |
| शुद्धसत्त्वस्य फलम् | २००३ | ર | कालाकालमृत्युविपयको | | २०२१ २०२६ | 8 |
| ज्ञानस्य निन्दीगसाधकःवम् | २००२ | ર | कालाकालमृत्युवययका अध्या-ार्थोपसंहारः | ાવ વાર | २०३ <i>१</i> | 9 |
| ा । । । । । । । । । । । । । । । । । । । | 5005 | ч | सप्तमोऽः | जाजः। | 4041 | • |
| मुक्तात्मनो लक्षणम् | २००३ | 3 | शरीरसंख्यानामशारीराध्य | | २०३३ | २ |
| मुक्तस्य पर्यायाः | २००३ | ş | शरारसंख्यानामशाराराध्य पण्णां त्वचां विवरणम् | II4. | २०३४ २०३४ | ٠ ٦ |
| अध्यायार्थीपसंहारः | २००३ | 6 | पण्णा त्वचा विवस्णम् पण्णामङ्गानां निद्दशः | | २०३६ २०३६ | 9 |
| पष्ठोऽध्यायः | 1 | | थिकामङ्गाना ।नद्दशः अस्थिसंख्यानिर्देशः | | २०३७ २०३७ | , |
| शरीरविचयशारीराध्यायः | २००५ | ءِ ا | । इन्द्रियाधिष्ठानानामिन्द्रिय | | 4040 | • |
| शरीरविचयस्य प्रयोजनम् 🕠 | २००५ | y | हान्द्रयाविष्ठानानामान्द्रः निर्देशः ··· | | २०४० | 3 |
| शरीरलक्षणम् ··· ··· | २००५ | v | चेतनाधिष्ठानस्य निर्देशः | | २०४० | ч |
| धातुवैपम्यंस्य फलम् | २००६ | 9 | प्राणायतनानां निर्देशः | ••• | २०४० | ષ |
| धातुवैपम्यलक्षणम् | २००६ | ą | मुर्मानिर्देशः | | २०४१ | 9 |
| भेपजप्रयोगफलम् | २००८ | ٦ | काष्टाङ्गिनिर्देशः | | २०४३ | ર |
| जस्थसापि साम्यरक्षणार्थे | | İ | प्रत्यङ्गनिर्देशः | | २०४२ | 9 |
| भेपजोपदेशः | २००९ | ₹ | स्नाय्वादितक्यंप्रत्यङ्गानां । | निर्देशः | २०४४ | 9 |
| शारीरधातूनां वृद्धिहासकारणम् | 2011 | ર | अञ्जलिसंख्येयानामुदकादी | | | |
| शरीरधातुगुणाः ं | २०११ ' | ų | निर्देशः | ••• | هنه | ર |
| े उर्द्धनीयधातृनां निर्देशः | २०१३ | ર | त्वगादिषु सामान्यन्तः | पाञ्च- | | |
| धात्नां वर्द्धनोपायः | 5018 | 9 | भौतिकत्वनिर्देशः | ••• | २०५९ | 9 |
| शरीरबृद्धिकरभावाणां निर्देशः | २०१५ | 9 - | अध्यायार्थोपसंहारः | ••• | २०६१ | ३ |
| बलबृद्धिकरभावाणां निर्देशः | 2034 3 | 1 | અ ષ્ટ્રનોડધ્ય | गयः । | | |
| आहारपरिणामकरभावाणां निर्देश | तः २०१६ ' | 3 | जातिसूत्रीयकारीराध्यायः | •• | २०६३ | २ |
| शरीरधातूनां हे विध्यम् | २०१७ | ₹ | अभीष्टप्रजननकम्मीपदेशः | | २०६३ | ч |
| तत्र मलमूतानां निर्देशः | २०१७ ४ | 3 | पुष्पात् प्रभृति स्त्रिया | स्त्ररात्रं | | |
| प्रसादाख्यधातूनां निर्देशः | 5036 _ 5 | 2 | कर्त्तव्यम् | ••• | २०६४ | ४ |
| | | - 1 | | | | |

शारीरस्थानस्य स्वीपत्रम्।

| विपयाः | | पृष्टे पर | इक्ती | विपयाः | पृष्ठे प | — ट्का |
|--------------------------------|-------------|-----------|-------|-----------------------------------|----------|-----------|
| तसाश्चतुथऽहनि कर्त्तं स्या | ₹ … | २०६५ | 9 | प्रतिमासिककर्मणः फलम् | ২৭০ই | |
| पुत्रदृहितृकामयोः सहव | ासदिवस- | • | | स्तिकागारस्य विधिः | २००३ | |
| नियमः … | | २०६६ | ą | तत्र संग्रहणीयद्रव्याणां निर्देशः | २१०४ | |
| गर्भे प्रहणशीतः | ••• | ২০হ্৩ | ٩ | सूतिकागारप्रवेशविधिः | २६०५ | |
| गर्भाधाने वर्ज्जितस्त्रीपुरुप | योर्निद्शः | २०६८ | 9 | प्रजननकाललिङ्गानि | হয়তহ | |
| संसर्गप्रकारः 🕟 | • • • | २०६९ | 3 | आवीप्रादुर्भावे कर्तव्यम् | २५०६ | 6 |
| शुद्धस्नानात् आसप्तरात्रं | कर्त्तव्यम् | ২০৩০ | ٤ | आर्थाछिद्यमानाया अप्रसंदे कर्त्तः | स्२१०७ | 3 |
| गर्भाधानसंस्कारः | ••• | ঽ৹ওঽ | 3 | अमरापातनापायः | २६०९ | _ |
| अभिरुपितपुत्रकामायाः व | कर्त्तव्यम् | २०७४ | પ્ર | जातमात्रस्यैव कुमारस्य विधेयानि | 2953 | ર |
| वर्णवैशेष्ये कारणान्तरम् | | ঽ৹ড়ঀ | O | नाइं।च्छेदविधिः | ২গগু | - |
| प्राणिनां सत्त्ववैद्येष्ये का | रणम् | २०७७ | ş | नाभिनाङ्गेपाकचिकिःसा | २११३ | ų |
| पु सवनविधिः | 100 | २०८० | 17 | असम्यक्किल्पतनाट्या दोपाः | | |
| गर्भस्थापनानि ··· | ••• | २०८३ | 5 | तत्प्रतीकारधः | হ ঃ | હ |
| गर्भोपघातकभावानां निर्दे | | | ø | कुमारस्य जातकभर्म स्तनपानिविधि | | |
| गर्भिणी-चिकित्सा | | | 3 | कुमारस्य रक्षाविधिः | २११४ | ч |
| गभिण्या हिन्निमासेषु पुष | पदर्शनस्य | | | स्तिकायाः स्वस्थवृत्तम् · | २५१६ | S |
| फलम् … | | २०८९ | Ð, | सृतिकाया आतुर्यवृत्तम् | २११८ | ş |
| चतुर्भासेषु पुष्पदर्शने गर्भस् | यापनविधि | रः २०९० | Ę | नामक्रममंबिधिः | २११९ | ş |
| भामान्वय।ट् उपगारुपयो | गाच पुष्प | '- | | आयुप्मतां कुमाराणां रुक्षणानि | २९२० | ą |
| दर्शनस्य फलम् | ••• | २०९२ | c | धात्रीपरीक्षाविधिः | २१२३ | ৩ |
| तयोर्विशेपचिकित्सा | ••• | २०९३ | ۵ | स्तन-स्तन्यसम्पद्यक्षणानि | २१२४ | ч |
| गर्भास्पन्दने कत्तंव्यम् | | २०९४ | ષ્ટ | वातादुपपसृष्टक्षारलक्षणानि | २९२५ | 9 |
| गर्भिण्या उदावर्त्तविबन्धे र् | चेकित्सा | २०९५ | ષ્ટ | दृष्टक्षारायाः पानाशनविधिः | २१२६ | 9 |
| अन्तर्मृतगर्भाया निदानपू | र्वक- | | | क्षीरजननानि ··· | २१२६ | ۹, |
| लक्षणम् | * * * | २०९६ | 8 | धात्रोस्तन्यपानविधिः | २१२७ | 9 |
| मृतगर्भायाश्चिकित्सा | ••• | २०९८ | 9 | कुमारागारविधिः | ९१२८ | 3 |
| निह् तगर्भशल्याया उपक | सः | २०९९ | 9 | कुमारस्य शयनास्तरणादिविधिः | २१२८ | • |
| गर्भिण्या प्रतिमासिककामा | | | | वालस्य क्रीड्नकानि | २१३० | 3 |
| उपदेशः … | ••• | 5300. | 9 | वालातुर्य्वचिकित्साविधिः | २१३१ | 3 |
| किक्दराचिकित्सा | *** | 2303 | 8 | अध्यायार्थोपसंहारः | २१४२ | ч |
| | | | 1 | | | |

शारीरस्थानस्य सूचीपत्रं समाप्तम् ।

इन्द्रियस्थानस्यं सूचीपत्रम् ।

| विपयाः | | पृष्ठे पड | को | विषयाः पृष्ठे पङ्की |
|-----------------------------------|-----------|-------------|----------------|--|
| मथमोऽ ध्य | पायः । | | | पञ्चमोऽध्यायः। |
| वर्णस्वरीयेन्द्रियाध्यायः | ••• | ३१४५ | Ę | पृब्वंरुपीयेन्द्रियाध्यायः २१८१ २ |
| धायुःप्रमाणावशेपज्ञानार्थे | परीक्ष्य- | | | अरिष्ट्यापकपूर्वंरूपाणां सामान्य- |
| विपयाणां निहेंशः | | २१४६ | 3 | विशेषभावेन निर्देशः २५८१ ४ |
| नेपां परीक्षोपायः | ••• | २१४८ | S | , उत्रगदिरोगाणामारष्टज्ञापकप्र्वं- |
| प्रकृतिनिर्देशः | ••• | 5186 | 3 | ' रूवाणि २१८१ ६ |
| विकृतिनिर्देशः | | 5340 | 3 | , प्र्वंरूपावस्थायां स्वप्नतोऽिरष्ट- |
| वर्णोधिकारः · · · | | ર્યુપર્ | 3 | कथनम् … २१८२ ७ |
| स्वराधिकारः | ••• | २१५६ | 3 [°] | रूपावस्थादिषु स्वप्नकथनम् २१८७ ५ |
| अध्यायार्थे पसंहारः | | 5 १५९ | 3 | सप्तविधस्वप्नानां निर्देशः २१९० ३ |
| द्वितीयोऽध | यायः । | | | कालभेडेन तेपां फलम् ··· २१९१ ३ |
| पुष्पितकेन्द्रियाध्यायः | | २१६० | ą | अध्यायार्थोपसंहारः · २५९३ १ |
| पुष्पिनलक्षणम् | • • | २१६२ | 3 | , पष्टोऽध्यायः। |
| गन्धपरीक्षा ं | ••• | २१६४ | ų | कतमानिशरीरीयेन्द्रियाध्यायः २१९४ २ |
| रसपरीक्षा | ••• | २१६५ | 3 | ब्याधिमच्छरीरविषयकप्रकाः २१९४ ४ |
| अध्यायार्थो वसंहारः | | २१६६ | ą | च्याधिमच्छरीराणाम्स्टिलक्षणम् २१९४ ८ |
| तृतीयोऽध | यायः । | | | अध्यायार्थोपसंहारः २२०१ ३ |
| परिमर्शनीयेन्द्रियाध्यायः | *** | २१६७ | ą | सप्तमोऽध्यायः। |
| परिमर्शनविधिः | ••• | २१६७ | Ę | पन्नरूपीयेन्द्रियाध्यायः २२०२ २ |
| स्रुश्यभावानां लक्षणानि | ••• | २१६७ | Q | छायामितच्छाययोरस्ष्टिलक्षणम् २२०२ ४ |
| च्यासनः परिमर्शनविधिः | | 8358 | ξ | सुमूर्पतां प्रतिच्छायाया लक्षणानि २२०३ १ |
| अध्यायार्थोपसंहारः | ••• | २१७१ | ч | संस्थानादीनां विवरणम् ··· २२०४ १ |
| चतुर्थोऽध | गयः । | | | प्रतिच्छायालक्षणम् २२०४ ३ |
| इन्द्रियानीकेन्द्रियाध्यायः | | २१७२ | २ | खादीनं हैं।याया लक्षणम् |
| इन्द्रियपरीक्षणोपायः | ••• | २१७२ | S | शुमाशुमत्वज्ञ … २२०४ ५ |
| .पन्चेन्द्रियाणां परीक्षा | ••• | २१७३ | સ | तैजसीच्छायाया त्रकारभेदः शुभा |
| सामान्यतः सर्वेन्द्रियासि | टपरीक्षा | २१७९ | . 3 | शुभत्वञ्च २२०५ ५ |
| अध्यायार्थो पसं हारः | ••• | २१८० | 3 | प्रभाच्छाययोभेदः २२०६ १ |

| ••• | | 1.01. | | | | |
|--|------------|-----------------|------------------------------------|--|--|---------------|
| विषयाः | | पृष्ठे पड | ्को | विपयाः | पृष्टे पड | ्क्त) |
| अपरमरिष्टलक्षणम् | ••• | २२०७ | 9 | समान्ते परलोकं गन्तुर्लक्षणम् | २२३१ | 3 |
| अध्यायाथेपसंहारः | ••• | २२५२ | 3 | पड़ भिर्मासमिरिप्यतो लक्षणानि | হহঃ গ | ર્ |
| अष्टमोऽध्यायः । | | | मासान्तरे सुमूपेर्छक्षणम् | २२३२ | 3 | |
| अवाक्शिरसीयेन्द <u>ि</u> याध्य | ायः | २२५३ | ą | मासात् सुमूर्पेर्लक्षणानि ··· | २२३२ | ą |
| विवर्जनीयरूपप्रतिच्छायानिर्देशः | | २२१३ | ક | कतिपयारिष्टानि | ঽঽঽঽ | ن |
| जड़ीमृतपक्ष्मदृष्टोश्चिकित्सानिषेधः २२१३ ६ | | | भिषगादिहे पिणां दोषाः | २२३५ | Ŗ | |
| शुष्यतोऽरिष्टलक्षणम् | | २२१३ | 6 | जातारिष्टानां गुणवचतुष्पादेऽपि | | |
| केशगतारिष्टलक्षणानि | •• | २२ १४ | 9 | चिकित्साब्यर्थत्वम् | २२३६ | 3 |
| नासागतास्प्रिलक्षणम् | | হ্ হ্গুদ | 9 | भायुःपरीक्षणे उपदेशः | २२३६ | 3 |
| ओष्ठगतारिष्टलक्षणम् | | ३३ १५ | V, | अरिष्टस्य लक्षणम् | ঽঽঽ৩ | ì |
| दन्तगतारिष्टलक्षणम् | | २२१ ५ | ড | द्वादशोऽभ्यायः। गोमयचूर्णयेन्द्रियाध्यायः | | |
| जिह्वागता रिष्टलक्षणम् | •• | २२१६ | 3 | | २२३८ | ź |
| कतिपयान्यरिष्टलक्षणानि | | २२१६ | ď | मासान्ते सुमूपोरिरिप्टलजणानि | २२३८ | ß |
| अध्यायाथीपसंहारः | • • • | २२१८ | o | अहँमासान्तरे मुम्पोर्लक्षणम् इर्लभजीवितस्य रुक्षणम् ः | २२३८ | 6 |
| नवमोऽध्यायः । | | | | उर्जनामस्य स्थापम् । | २ २३९ | 3 |
| यस्यइयावनिमित्तीयेन्द्रिया | ध्यायः | ঽঽঽ৽ | ə, İ | दूताधिगतारिष्टानि | २२४० | 3 |
| कतिपयारिष्टलक्षणानि • | | २ २२० ं | S | गच्छतो वेद्यस्य पथि औत्पातिकानि | २२४५ | 3 |
| राजयक्ष्मणोऽरिष्टलक्षणम् | • • | ३ २२३ | 3 | आतुरकुलानामौत्पातिकानि | २२४७ | 3 |
| वलमांस्थयेऽचिकित्स्यानां रोगाणां | | | सुमूपोवें दिमकजनानां न्यवहारः | ३ २४७ | Ø | |
| निर्देशः … | ••• | 5553 | y ' | मरिष्यतः श्यनासनादीनि | २२४७ | ٩ |
| संशयप्राप्तजीवितस्य लक्षणम् २२२२ ९ | | | द्वादशाध्यायोक्तानामरिष्टलक्षणानां | | | |
| संशयितजीविते वैद्यस्य क | र्त्तव्यम् | २२२३ | 9 | समासतः पर्यायान्तरेण निर्देशः | २२४९ | ş |
| अपराण्यरिष्टानि | ••• | २२२३ | ઝ | अरिष्टरूपाणि पश्यतापि पृष्टेना- | | |
| अध्यायार्थोपसंहारः | ••• | २२२४ | 9 | पृष्टेन वा भिपजा कर्त्तव्यम् | २२५३ | 6 |
| द्शमोऽध्यायः। | | | | प्रभस्तदूतलक्षणम् | $\dot{\gamma}\dot{\gamma}\dot{\nu}\dot{\nu}$ | 3 |
| सद्योमरणीयेन्द्रियाध्यायः | | २२२६ | 3 | पथि चातुरवेशमप्रवेशे च प्रशस्तानि | २२५६ | 3 |
| सद्यःप्राणांस्तिनिक्षतो लक्षा | गानि | ,२२२६ | ξ | भातुरकुले प्रशस्तलक्षणानि ··· | २२५७ १ | 3 |
| अध्यायार्थोपसंहारः | | २२२९ | w | | २२५८ | ર |
| एकाट्योऽध्यायः। | | | आतुरलक्षणप्रशस्तिः | २२५९ | 3 | |
| अणुज्योतीयेन्द्रियाध्यायः | ••• | २२३० | 2 | आरोग्यस्य फलम् | २२ • ९ | 3 |
| समान्तरे मरिष्यतो छक्षण | नि | २२३० | 8 | | | , 4 |
| इन्द्रियस्थानस्य सुवीपत्रं सम्।प्तम् । | | | | | | |

चरक-संहिता

निदानस्थानम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

अथातो ज्वरनिदानं व्याख्यास्यामः, इतिह स्माह भगवानात्रेयः॥१॥

गङ्गाधरः—अथोदिष्टक्रमात् इलोकस्थानानन्तरं निदानस्थाने वक्तव्ये सर्विव्याधिमधानलात् ज्वरस्य निदानमादावाह—अथात इत्यादि। सब्व पूर्विवद् व्याख्यातव्यम्। ज्वरस्य निदानं ज्वरनिदानमधिक्कत्य कृतमध्यायं ज्वरनिदानमध्यायं व्याख्यास्याम इति।। १।।

चक्रपाणिः—संक्षेपेण हेतुलिङ्गाभिधायकं स्त्रस्थानमनु प्रपन्नेन हेतुलिङ्गाभिधायकं निदानस्थानमुन्यते ; हेतुलिङ्गा(प्रविका हि चिकित्सा साध्वी भवति ; यद्य चिकित्सासूत्रमात्रमभिधातयम्, तद्दग्दायान्तर्गतमेवेति इत्वां ; किंवा हेतुलिङ्गाभिधायकस्यापि चिकित्सार्थत्वात् चिकित्सासूत्रमात्राभिधानमिह ; तत्रापि च दारीरिविकारेषु प्रधानत्वात् उवरस्यैव निदानमादौ स्थ्यते ; तथा च उवरः प्रधानमत्रैव "उवरस्तु खल्ल" इत्यादिना वक्ष्यति, तथा च चिकित्सिते च वक्ष्यति,—वेहान्द्रयमनस्तापी सर्व्यरोगाप्रजो वली" इत्यादि ; यत् तु वक्ष्यति,—"पुरा गुल्मोत्पत्ति-रस्त्र्" इति, तत्र 'पुरा'-शब्द आद्याविभावे गुल्मस्य वक्तते न तु उवरस्य प्राग्मावे ; दक्षाध्वरस्वमे हि ज्वरपिगृहीतानां प्राणिनां दिश्च विद्वावणादिना गुल्मोत्पत्तेरुक्तत्वात्। निदानं कारणिमहोच्यते, तच्चेह व्याधिजनकं व्याधिबोधकच्च सामान्येनोच्यते ; तत्र व्याधिजनकं निदानं हेतुः, व्याधिबोधकच्च सारणं निदानपूर्वरूपस्पोपशयसम्प्राप्तिरूपम् ; तत्र हेतुरूपं निदानं जनकच्च भवति, व्याधेविधकच्च भवति ; अत एव प्रथमम्, "इह खल्लु" इत्यादिना हेतुमभिधाय "तस्योपल्विधिनिदानम्" इत्यादिना पुनर्हेतुरपुक्तः ; ज्वरस्य निदानं जरनिदानम्। किंवा निदानदादो जनकवारणवचन एव ;

इह खलु हेतुर्निसित्तसायतनं कर्त्ता कारणं प्रत्यः समुखानं निदानिस्यनर्थान्तरम् ॥ २ ॥

गङ्गाधरः - नतु को ज्वरः, किमस्य निदानम् ? इत्याकाङ्गायां प्रतिलोम-तन्त्रयुक्तया पाग् ज्वरोपदेशानिदानमुच्यते। अत्र निदानशब्देन निदान-पूर्व-रूप-लिङ्गोपशय-सम्प्राप्तयो विवक्षिताः। समास-व्यासाभ्यां तज्ञापयितु समासेन निदानादीनि पश्च क्रमेणोपदिशति । रोगाणां हुत्रत्पत्तावादी निदानं, ततः पूर्व्यस्पं, ततः सम्प्राप्तिः, ततो रूपं, तत उपशयः, इत्यत आदौ समासेन निदानमाह—इहेत्यादि । खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे । इह संसारे हेतुरित्यादिकम् अनर्थान्तरमर्थान्तररहितमेकार्थकम्। भावानाम्रत्पत्तिसम्पादक इत्येप एक एवार्थों हेत्रपां हेलादीनां पदानाम्। उत्पत्तिस्तु सत्ता, तत्समानाधिकरणं तद्तुक्त्र्लव्यापारश्च इत्युभयात्मिका। तदुभयार्थस्यैकनिष्टलाद्कम्मेकलम् उत्पर्यर्थेधातूनाम् । सदिति यतः सा सत्ता द्रव्यगुणकर्माग्र । सा तु गुणकरमोग्र सद्भावान गुणो न कम्मे। द्रव्याणि नान्तरेण गुणकम्भभ्यां सन्तीति द्रव्याणां गुणतः कम्मेतो वा सञ्जावमतीत्या द्रव्याणां सत्ता गुणो वा कम्मे वेति चेत्र गुण-कस्में सद्भावात् । गुणाः सन्ति कम्मीण सन्तीति गुणेषु कम्में सु च सत्तायाः सद्भावात्। तहि चानेकद्रव्यारव्धेषु द्रव्येषु द्रव्यं कारणभूतं यत् सा कि सत्ता ! नैवं, सामान्यविशेषाभावेन च। सत्तायां हि नास्ति सामान्यं नास्ति विशेषः, कारणभूतद्रव्येषु पुनरस्ति सामान्यं विशेषश्च। अनेकद्रव्यसत्त्वात् तु तेषां द्रव्यलमुक्तं, तथा काय्यंगुणानामप्यनेकगुणारव्यत्वेनानेकगुणसन्दावाद् गुणलग् उक्तं, तथा काय्येकम्मेणामनेककम्मेभिः सजातीयविजातीयैरारव्यलेनानेक-कम्मेसत्त्वात् कम्भेलमुक्तं, न तु तेषां काय्याणां द्रव्यगुणकम्मेणामारम्भेकाणि तत्र ज्वरस्य जनककारणं निदानमधिकृत्य कृतोऽध्यायो ज्वरनिदानम् ; तेन प्रर्वरूपादीनामपि ज़ित्रहेतृनां तथा चिकित्सासूत्रस्य च ग्रहणम् ॥ 🕽 ॥

चक्रपाणिः—तवेचं उवरितदाने वक्तन्ये सर्विच्याधिसाधारणमेव निदानं वक्तु मुखतः सामान्यपूर्वकत्वाव् विद्योपस्य, तथाप्युत्पन्नस्य व्याधेर्लक्षणं युक्तमिति कृत्वा अत्पत्तिहेतुं व्यवहारार्थं लक्षणार्थञ्च पर्याचेराह्—इह खिल्वत्यादि। इहेति इह प्रकरणे कारणामिधायके हेत्वादयो नार्थोन्तरे, प्रकरणान्तरेऽर्थान्तरे हेत्वादिशक्दा भवन्तीति दर्शयति; यथा वक्ष्यति—"हेतुः अकृतकत्वाद्" इति, तथा "दर्शवायतनानि स्युः" तथा "कर्त्ता, मन्ता, बोद्धा" इत्यादी, प्रत्ययस्य लक्षादी, वत्थानस्य उद्गमनादी; हेत्वादिभूरिपर्यायकथनं शास्त्रे व्यवहारार्थम्, तथा हेत्वादिभूरिपर्यायकथनं शास्त्रे व्यवहारार्थम्, तथा हेत्वादिभूरिपर्यायकथनं सामनाधिकरण्यात् कारण एव वृद्धिः

द्रव्यगुणकर्माणि सत्ताः सामान्यविशेषवत्त्वातः सत्तायास्तु सामान्यविशेषा-भावात्। तहि पुनः सत्ता कः पदार्थः ? पारिशेष्यात् समवायः। स हि भावो-ऽनुकृत्तेरेव हेतुलात् वस्तृनां यावत्काळं स्वारम्भकाणां मेळकरूपः समवायो वर्त्तते तादत्कालमनुरुत्तिभैवतीति काय्येषु कारणसमवायः सत्ता, सा च तत्समा-नाधिकरणस्तद्तुक्लञ्यापारश्च इत्युभयात्मिकवोत्पत्तिः। षयोरेतर् द्रव्यगुणकर्मासमवायानितिरक्तिलात् सत्तायाः सत्त्वाभावात् द्रव्य-गुणकम्संणामुत्पत्तिसम्पादको हेतुर्निमित्तमित्यादिशब्दैरभिधेयः। तत्त्वन्त् — कार्य्याणां नियतपूर्वविचिव भावेषु सम्भवति नान्येषु । तत्र पयोजकस्य हेतुसंग्लेन पर्योजककर्त्तरि चार्थे हेतुशब्दः, शक्कनादौ च निमित्तशब्दः, आयतनशब्दः स्थाने, क्रियांनिमित्तेषु स्वतन्त्रे कत्तु शब्दः, क्रियाहेतुव्यापारे कारणशब्दः, सुप्तिङादिषु प्रत्ययशब्दः, उद्गमादिषु उत्थानशब्दः। रूपादिषु चतुषु तद्धिकरणग्रन्थेषु च निदानशब्दो वर्तते, तेष्वथेषु हें ग्रकार्थताभावादर्थान्तरतात्र हेतुर्भवतीति। हि वर्द्धन-गमनयोः, स्वादिः, कृत्योगे इत्रिति रूपम्, निपूर्व पिदे रूपं निमित्तम्, आङ्पूर्व यतते रूप-मायतनम्, तुजन्तकुञः कत्ती, णिजन्तस्य कुञः कारणम्, प्रतिपृव्वस्येणः प्रत्ययः, समुत्पूर्व्वतिष्ठतेः समुत्थानम्, निपूर्व्वदाधातो रूपं निदानम् । भावाना-मुत्पत्तिसम्पादके हेलाद्यः सन्वे वत्तेनते। तेन तनिदानमिहोच्यते--निदीयते निष्पद्यते यस्मान्न तु येन तिन्नदानम् । ध्वंसक्षयचयमकोपप्रसरस्थानसंश्रयादी-नाम अप्युत्पत्तिरस्तीति तेपां हेतौ न निरुक्तयन्तरं क्रियते। उपलिभकारणेऽर्थ-ऽपि न क्रियते निरुत्तयन्तरम्, उपलब्धेरप्युत्पत्तिरस्ति न चास्त्युत्पत्तेरुत्पत्ति-रिति । निदीयते निहिंश्यते व्याधिरनेनेति निदानं, दिशेः पृषोदरादिशेन रूप-सिद्धिः, इत्येवं च्युत्पन्ननिदानशब्दो नेह हेतुसामान्यपर्य्यायसात्। अथ निश्चित्य दीयते प्रतिपद्यते व्याधिरनेनेति निदानमित्येवश्च व्युत्पन्ननिदानशन्दो नंह प्रतिपत्तिहेतुमात्राभिधायिलात्। एतदर्थकनिदानशब्दस्तु ज्वरनिदानं व्याख्यास्याम इत्यत्रोपादत्तम् । इति ॥ २ ॥

नियम्यते ; तेन, एकस्मिन्नर्थे यस्मिस्ते शब्दाः प्रवर्तन्ते, तत् कारणमितरहेत्वाधर्थेभ्यो न्यव-च्छिद्यते ; तेन लक्षणार्थञ्च परयोगाभिधानं भवति ; एवमन्यन्नापि व्याध्यादिपरयोगाभिधानेऽपि व्याख्येयम् ; इह चारुसंख्याया मङ्गलत्वेन, तथा अष्टविधन्याधिज्वराधभिधानार्थसंज्ञाशाच्य इत्यष्टावेव हेतुपर्याया वक्ताः, तेन अपरेऽपि योनिम्लुमुखपक्रत्यादयो हेतुपरर्याया बोझ्ब्यास्तस्य विस्तरभयान्नोक्ताः । एवं रोगपरर्यायान्तरानभिधानेऽपि ग्रन्थविस्तरभयाद्यनुसर्णीयम् ॥ २ ॥ तत् त्रिविधमसारम्येन्द्रियार्थसंयोगः प्रज्ञापराधः परिगाम-श्चेति । अतस्त्रिधा व्याधयः प्रादुर्भवन्त्याग्नेयाः सौम्या वाय-व्याश्च*, द्विविधाश्चापरे राजसास्तामसाश्च ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः--निदानं समासत उत्तवा सर्व्वपां रोगाणां सामान्यतो निदान-माह—तत् त्रिविधमित्यादि। असात्म्येत्यादि। असात्म्येन्द्रियार्थ-संयोगादिहेतुत्रयम् उत्तरोत्तरप्राधान्येन दीर्घञ्जीवितीयेऽध्याये मागुक्तम्। कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च। द्वयाश्रयाणां च्याधीनां त्रिविधो हेतुसंग्रहः। शरीरं सत्त्वसंबश्च व्याधीनामाश्रयो मतः॥ इति। मिथ्यायोगायोगातियोगानां विशेषज्ञानार्थम् असुवादः तेपां कतिधापुरुषीये तद् यथा-धीधृतिसमृतिविभ्नं शः कृतः। कालकम्मेणाम् । असात्म्यार्थागमञ्चेति ज्ञातच्या दुःखहेतवः ॥ इति । तत्र कालस्य मिथ्यायोगायोगातियोगाः परिणामसंज्ञा उक्ताः तिस्र पणीयेऽध्याये। शीतोष्णवर्षलक्षणाः पुनहेंमन्तग्रीष्मवर्षाः संवत्सरः, स कालः। तत्रातिमात्र-खलक्षणः कालः कालातियोगः, हीनखलक्षणः कालः कालायोगः, यथा-खलक्षणविपरीतलक्षणस्तु कालः कालमिथ्यायोगः। कालः पुनः परिणाम उच्यते इति । परिणाम इति । कालो हि सन्वै परिणगयतीत्यतः परिणामः तस्मिन् काले च यत् परिणमति स च सन्बीऽपि परिणाम इत्युच्यते। यदिह शुभाशुभानि कम्माणि कुन्वंनित तानि खल्विह लोके फलन्ति कानिचित्, कानिचित् परत्र फलन्ति। तच्छुभाशुभंकम्मेजौ धम्मीधम्मौ कालान्तरफलौ न तु सद्यःफलौ गोदोहनवत्। ततः काले परिणामेन शुभाशुभफलहेतु-लात् परिणामसंजी। भावानां स्वभावोऽपि परिणामसंजः। कांलस्य परिणामेन जन्मजरामृत्युपभृतयोऽनिमित्तजाः स्वाभाविका व्याधयः स्वभावात जायन्ते। पूच्वेदेहकृतौ शुभाशुभकम्मंजौ धर्मश्राधममेश्र कर्मसंज्ञः, कालेन परिणामेन शुभाशुभहेतुलात् परिणामः। अस्मिन् जन्मिन च यानि कम्मीणि

चक्रपाणिः हितोभेंदमाह तत् त्रिविधमित्यादि । एतच्चासात्योग्द्रस्योगादि दीर्घशीवि-तीये तिस्ते पणीये च प्रपञ्जितमिति नेह प्रपञ्चयते ; अत्र पाठादेव त्रित्वे सिद्धे त्रिविधमितिवधनं यहु-प्रपञ्जस्यापि असात्य्येन्द्रियार्थस्योगादेस्त्रैविध्यान्तिकमोपदर्शनार्थम् , तथा, प्रत्येकमयोगातियोग-

^{*} त्रिविधविकल्पा इति वा पाठः।

शुभाशुभानि तज्जों च धम्मांधम्मों काले परिणामात् फलहेतुलात् परिणाम-संबो भवनः। एतदुक्तं कित्रधापुरुपीय—कालस्य परिणामेन जरामृल्लग्न-निमित्तजाः। रोगाः स्वाभाविका दृष्टाः स्वभावो निष्मितिक्तयः। निद्दिष्टं देवशब्देन कम्मे यत् पौक्वदेहिकम्। हेतुस्तद्पि कालेन रोगाणामुपलभ्यते। न हि कम्म महत् किञ्चित् फलं यस्य न भुज्यते। क्रियाझाः कम्मंजा रोगाः मश्मं यान्ति तत्स्यात्। इति। यस्ताह् प्रवापराधेनाशुभकम्मीण कुक्वेन्नि प्रवासमयोगेन शुभानि तज्जाताविष धम्मीधस्त्री तत्र प्रजापराधे प्रवासम-योगेऽन्तभूताविति तद्साधु, चरकस्यैतद्वचनिरोधात्। प्रजा च यदपराध्यति तद्षि कृतत्रेतादिकालवशेन। न ह्यादिकाले पूर्वकृतमासीदशुभकमीजं फलं किमिष येन बुद्धिरपराध्येत। तदा कालविशेष एव प्रजापराधे हेतुः, कालो हि स्वभावतः शुभाशुभहेतुः प्रसिद्धस्तिथ्यादियोगेनानुमेयः, तद्धेतुकञ्च प्राक् कम्मे यदशुभं कृतम् अशुभकाले समागते प्रजातत्त्वविद्यामतत्त्वाविद्या-ञ्चापराध्यति, तत् कालजं प्रजापराध्यं तत्कलमधस्तेः परिणाम एवोच्यते। आदिकारणतो हि संबा भवति, फलजननक्चेदानीं कालेन परिणामादेवेति, परिणामे धम्मीधम्मीन्तभीवो न प्रजापराधसमयोगयोरिति।

नतु भवसेवं कालस्य त्रिविधा योगा व्याधिहेतवः, शीतोष्णविष्यं प्रस्तास्य यथास्त्रलक्षणयोगेऽपि दोपाणां चयप्रकोपप्रश्नाः प्राग्नहादिषु जायन्ते, जीणंभुक्तप्रजीणांनकाले च प्रकोपो जायते, पूर्विहादिषु च स च कालः को हेतुः किंचतुर्थः, तथाते त्रिविधत्वव्याचात इति ; उक्तं प्राक्त् श्रीतोष्णवपेलक्षणः संवत्सरः स काल इति, तस्य स्वलक्षणस्य कालस्यातियोगा-योगिभिध्यायोगव्यतिरिक्तसमयोगास्तत्कृताश्चयप्रकोपप्रश्नमा वातादीनां प्राकृती गतिः। अतिमात्रस्वलक्षणस्य कालस्यातियोगः कालातियोगः, हीनलक्षण-कालस्य योगः कालायोगः, यथास्त्रलक्षणविपरीतलक्षणस्य कालस्य योगः काल-मिध्यायोगः, इति त्रिविधयोगो वेकृतः, तस्माद्वातादीनां-चयप्रकोपप्रश्नमाः, वाता-दीनां प्राकृती गतिः, इत्युक्तं कियन्तःशिरसीये। चयप्रकोपप्रश्नमाः पित्तादीनां यथाक्रमम् । भवन्त्येकैकशः पट्मु कालेष्वभ्रागमादिषु। गतिः कालकृता चैपा चयाद्याः पुनरुच्यते। गतिश्च द्विविधा दृष्टा प्राकृती वेकृती तथा। इति। वातादी-मिध्यायोगभेदात् त्रिविधत्वदर्शनार्थन्तं ; एतच्च हेतुत्रित्वस्रक्तमपि पुनः प्रकरणवशाद्यमानिष्क् न पुनरक्तं दोपमावहितः एतच्चासात्येन्द्रियार्थदेस्त्रैविध्यं मूलकारणं प्रति नियामकमः ; तेन 'ज्वरसन्तापाद रक्तिनसुद्वीद्यंते' हत्याद्वक्तरोगादेरि प्रत्यासन्नकारणावनोधो नोज्ञावतीयः।

नामपरा च पाकृती वैकृती गतिर्यथा—पित्तादेवोष्मणः पक्तिर्नराणाग्रपजायते। पित्तञ्चैव प्रकुपितं विकारान् कुरुते वहन् । प्राकृतस्तु वलं इलेष्मा वैकृतो मल उच्यते। स चैवौजः स्मृतं काये स च पाप्पोपदिक्यते। सर्व्या हि चेष्टा वातेन स प्राणः प्राणिनः स्पृतः । तेनैव रोगा जायन्ते तेन चैवोपरुध्यते । इति । इत्येवं माकृतवैकृतद्विविधकालयोगः कालसम्प्राप्तिस्तथा काले परिणतकम्में कलाधम्मेश कालस्य मिथ्यायोगायोगातियोगा उच्यन्ते । तद् यथा कतिधापुरुषीये-धीधृति-स्मृतिविभ्नं शः सम्प्राप्तिः कालकर्म्भणाम् । असारम्यार्थागमञ्चेति बातव्या दुःखहेतवः। इति। अत्र या कालसम्प्राप्तिरुक्ता तत्रैव चयादयोऽन्तभू ताः। तथा चोक्तम् । निर्दिष्टा कालसम्प्राप्तिन्योधीनां हेतुसंग्रहे । चयपकोषपश्चामाः पित्तादीनां यथा पुरा। मिथ्यातिहीनलिङ्गाश्च वर्पान्ता रोगहेतवः। जीर्णभुक्त-प्रजीर्णान-कालाः कालस्थितिश्र या । पूर्विमध्यापराह्माश्च रात्रा यामास्त्रयश्च ये। येषु कालेषु नियता ये रोगास्ते च कालजाः। इति । इति काले परिणामेन फलोन्मुखीभूतेनाशुभकम्मेजफलेनाथम्मेण यदा बुद्धिरिघण्ठीयते, तदा धीर्वा धृतिर्वा समृतिर्वा भ्रव्यति, धीधृतिसमृतिभ्रंशो हि बुद्धेरितयोगायोगिमध्या-योगाः, तैस्तु त्रिविधैयौगें युक्ता प्रज्ञा वाङ्मनः शरीरारम्भेष्वपराघ्यतीति प्रज्ञाप-राध उच्यते। प्रशापराधे सति वागतिप्रवत्तेते न वा प्रवर्त्तते मिथ्या वा प्रवर्त्त-मानास्चकानृता कालकलहापियावद्धानुपचारपरुपवचनादीनि भाषते। मनः श्राति पवर्त्तते न वा पवर्त्तते गिथ्या वा पवर्त्तमानं भयशोककोधलोभमोह-मानेष्यामिथ्याद्शनादिकमाचरति। शरीरञ्चातिपवत्तेते न वा प्रवर्त्तते मिथ्या वा प्रवत्तमानं वेगधारणोदीरणविषमस्खलनगमनपतनाङ्गपणिधानाङ्गपदपण-प्रहारावमहेनप्राणोपरोधसंक्लेशनादीनि करोति। एवमक्तं उदीरणं गतिमतामुदीर्णानाश्च निग्रहः। सेवनं साहसादीनां नारीणाञ्चातिसेवनम्। कम्मेकालातिपातश्च मिथ्यारम्भश्च कम्मेणाम्। विनयाचारलोपश्च पूज्यानाश्चाभिधपेणम् । बातानां स्वयमर्थानामहितानां निषेवणम् । परमौन्मादिकानाश्च प्रत्ययानां निषेवणम् । अकालादेशसञ्चारौ मैत्री संक्रिष्टकम्मिभः। इन्द्रियोपक्रमोक्तस्य सद्वतस्य च वर्जनम् । ईष्यीमानः किंवा रक्तिपत्तादिकारणे ज्वरादाविष असाध्येन्द्रियार्थसंयोगाद्येव मूलकारणम् तेन उवरादिकार्ये रक्तंपितादौ ज्वरादिकारणसेव मूलकारणं भंवति ; पूर्वोक्तकालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति चेति क्रमभेदेनेहासास्येन्द्रियार्थसंयोगस्यादावभिधानेन सर्व्वेपामेवेषां रोगकर्तु स्वे प्राधान्यं दर्शयति ; मा भूदेकान्ताभिधानेन प्रधानतानियमः । यद्यपि मूलभूतत्वेन

भयकोध-लोभमोहगदभ्रमाः। तडनं वा कम्मे यत क्रिप्टं क्रिप्टं यह देहकर्माः जम् । यचान्यदीदशं कर्म्मे रजोमोहसप्रुत्थितम् । प्रशापराधं तं शिष्टा ब्रुवते व्याधि-ेकारणम् । युद्ध्या विषमविद्यानं विषमञ्च प्रवर्त्तनम् । प्रज्ञापराघं जानीयान्यनसो गोचरं हि तत् । इति । इत्येवश्च प्रजापराचेन कृतकम्मेक्छेनाधम्मेण फलोन्मुखी-भूतेन अधिष्टितः पुरुषोऽतिषात्रस्तनितपटहोतुक्कृष्टादीनां शब्दानापतिषात्रं श्रवणं करोति। सर्वेशो या शब्दान न शुणोत्यतिस्ध्मान वा श्रणोति। परुपेष्ट्विनाकोपयातप्रथपंणभीषणादीन् वा शब्दान् श्रृणोतीत्येवं शब्दानाम् अतियोगायोगहीनयोगिययायोगेस्यः श्रवणेन्द्रियं च्यापद्यते। कतिथापुरुषीये-अत्युग्रशब्दश्रशणात् श्रवणात् सर्व्वशो न च। शब्दाना-श्चातिहीनानां भवन्ति श्रवणाज्जहाः। परुपोद्गीपणाशस्ताऽप्रियव्यसन-सूचकैः। ज्ञंब्दैः श्रवणसंयोगो निष्यायोगः स उच्यते।१। तथाति--शीतोष्णानि स्पृध्यानि स्पृशति स्नानाभ्यञ्जनोत्सादादीनि चातिशीतोष्णानि अत्युपसेवते। सन्वेशो चा स्प्रथानि न स्पृशति मुक्ष्माणि वा स्पृशति। विषमस्थानासनाभिघाताशृचिभूतादीनि वा स्पृध्यानि स्पर्शेनेन्द्रियस्प्रधातियोगायोगहीनयोगमिध्यायोगेभ्यः स्पर्शनेन्द्रियवाथा तदुक्तं कतिधापुरुषीये - असंस्पर्शोऽतिसंस्पर्शो भवति । एव च। स्पृश्यानां संग्रहेणोक्तः स्पर्शनेन्द्रियवायकः। यो भूतविप-स्नेहशीतोष्णसंस्पशौ मिथ्यायोगः स वातानामकाले नागतश्च यः। उच्यते। २ । तथातिप्रभावतां दञ्यानामतिमात्रं दर्शनमाचरति सन्वेशो वा न पदयति । अतिसुक्ष्माणि वा पदयति । अतिविमकृष्टरौद्रभैरवाद्भुतिहृष्ट-वीभत्सिवकृतादिरूपाणि वा पश्यतीत्येवं चक्षुर्थातियोगायोगहीनयोग मिध्यायोगेभ्यो नयनं व्यापचते। तदुक्तं कतिथापुरुपीये-रूपाणां भास्त्रतां दृष्टिचिन्यपति हि द्रशेनात्। दशेनाचातिस्र्ध्माणां सन्वेशश्राप्य-दर्शनात । द्विष्टभैरववीभत्स-द्रातिकिष्टदर्शनम् । तामसानाश्च रूपाणां मिथ्यासंयोग उच्यते । ३ । तथासौ पुरुषोऽतितीक्ष्णोग्राभिष्यन्दिनो गन्यानित-मात्रं जित्रति सर्वेशो वा न जित्रति जित्रति वातिसूक्ष्मान्। प्रतिद्विष्टामेध्य-

प्रज्ञापराधः प्रधानं भवति, तथापि प्रत्यासस्तकारणत्वेन तथा अबुद्धिपूर्वकस्यापि उत्करशब्द-मिध्यायोगावेराप कारणत्वेनासासम्बेन्द्रियार्थसयोगोऽपि प्रधानम्; यद्यपि कालो दुष्परि-हरत्वेन प्रधानम्, तथापि सोऽपीन्द्रियार्थपराधीनत्वेनाप्रधीनम्, कालातियोगादय हन्द्रियार्थ-द्याताद्यतियोगाविभ्य एव प्रायो भवन्ति । हिन्निविषयनसुणपगन्धादीन् वा जिन्नतीत्येवं न्नाणार्थगन्धातियोगायोगहीनयोगिमध्यायोगेभ्यो व्यापन्नते न्नाणोन्द्रयम्। तदुक्तं कित्यापुरुपीये—
अतिमृद्दितिहिणानां गन्धानामुपसेवनम्। असेवनं सर्व्वश्च न्नाणोन्द्रयविनाशनम्। पृतिभूतिविषद्विष्टा गन्धा ये चाष्यनार्चवाः। तैर्गन्येन्नीणसंयोगो
मिध्यायोगः स उत्त्यते। १। तथैवासौ पुरुषः पद्मसानक्षेकशो द्विशस्त्रिशो वा
चतुरः पञ्च वातिमात्रमाद्चेऽथवा सर्व्वशो नाद्चेऽत्यव्षं वा मिध्या वाद्चे,
यान्याद्वारविधिविशेपायतनान्यष्टो राशिवज्जं तद्विपय्ययेणाद्चे, इत्येवं
रसनार्थातियोगायोगदीनयोगिमध्यायोगेभ्यो ज्वरादयो व्याथयो जायन्ते।
तदुक्तं कित्रधापुरुपीये—अत्यादानमनादानमोकसात्म्यादिभिश्च यत्। रसानां
विषमादानमल्पादानश्च दृषणम्। इति। ५। इत्येवं परिणामश्चापराथासात्स्येन्द्रयार्थसंयोगास्त्रिविधा हेतवः प्रागिभिद्दिताः।

नन्वेवंविधेषु त्रिविधेषु हेतुषु कानिचिद्द्रव्यभूतानि कानिचित् गुणभूतानि कानिचित् कर्मभूतानि । तानि किं न्याधिं प्रति समवायिकारणानि यानि विक्रियमाणानि कार्य्यलमापद्यन्ते, यथा घटं पति मृद्धालकादीनि। अथवा निमित्तकारणानि यानि काय्येंऽसम्बध्यमानानि कार्य्यं जनयन्ति, यथा घटं प्रति कुळाळादीनि इति । तत्रोच्यते—सर्वत्र हि किश्चित् कारणं निमित्तं किश्चित् समवायि चेति । तत्र मधुरादिकं द्रव्यं द्रव्यगुणकर्मारव्यं समयोगेन मात्रया-ऽभ्यवहृत जाटरामिना विपक्षं रसाख्यं सामान्यविशेषाभ्यां समान् थात्न् समवेत्य रक्षति अयोगेन विशेषेण हासयति मिथ्यातियोगाभ्यां वर्द्धयति क्षीणान् सामान्येन वर्द्धयति रुद्धान् विशेषेण हासयतीति समवायि कारणम् । एवं शब्दादिकम् । प्रज्ञा चायोगमिध्यायोगातियोगयुक्ता वाङ्वनःशरीरातियोगिमध्यायोगायोगेभ्यः कल्पते। तया बुद्धा प्रवृत्ताऽतिप्रवृत्ता पिथ्याप्रदृत्ता वा वाङ्गनःशरीरप्रदृत्तिः समवेत्य शरीर-मनोधातून् क्षीणान् सामान्येन वर्ष्डयति दृद्धान् विशेषेण हासयति समान् सामान्येन वर्ष्वंयति विशेषेण इ।सयति । समयोगयुक्ता तु मना वाङ्मनः चरीरत्रष्टत्तिसमयोगाय कल्पते। तया बुद्ध्या समप्रवृत्ता वाङ्मनःशरीर-प्रवृत्तिः सामान्यविशेपाभ्यां क्रियासाम्येन समान् धातून् समवेत्य रक्षति

हेतोहेंतुत्वं कार्ये भवतीति हेतुकार्यं व्याधिमाह—अतस्त्रिविधेत्यादि। न चात्र यथासंख्यम्, एकख्पादिप हेतोस्त्रिविधव्याध्युत्पादः; अत्रापि 'त्रिविध' वचनमानन्त्येऽपि रोगाणामाग्नेयत्वाद्यनतिकमोपदर्शनार्थम्; आग्नेयाः पैत्तिकाः, सौम्याः कफजाः, वायस्याः विशेषेण हासयित सामान्येन वर्द्धयतीति समवायिकारणम्। प्रजाया एव समयोगातियोगादिभिः कृतार् वाङ्गनः गरीरारम्भाज्ञातं कर्म्मफळं धर्माधरमं संस्कारविशेषरूपं शरीरेण समबेत्य वर्त्तमानं तत्र कालेन परिणतं धर्माखां सामान्यविशेपाभ्यां समान् धातृन् रक्षति, अधर्माख्यन्त हास-यनि विशेषेण, वर्द्धयति सामान्येनेति । अयोगादियुक्तम्बाजातस्वयम्मेः । इति धम्मीधम्मेमपि समवायिकारणम् । कालोऽपि समलक्षण शरीरं समबेत्य समान धातून रक्षति सामान्यविशेपाभ्यां हीनातिमिध्यायोगलक्षणस्त शरीरं समवेत्य समान् धातृन सामान्येन बद्धेयति विशेषण हासयतीति सम वायिकारणम् । इत्येवं रोगारोग्ययोः समयोगायोगादियोगरूपं कारणत्रयम् असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगप्रधापराथपरिणामाख्यं समावायिकारणम्। निमित्तं कारणन्तु जनकं मातापित्रादिकं घटादिषु कुलालादिकमिव भूताभिपङ्गादिकं रोगारोग्ययोभिपगादिपाद्त्रयश्च द्रव्यवज्जम् सन्तिकृष्टम् । विप्रकृष्टन्त् सन्वे-रोगाणां मृत्युनान्त्री कन्या, तस्या रोदनजाश्रु विन्दवो हि रोगाः। दक्षयरी क्रपितः रुद्ध्य ज्वरस्येति । देशस्त खल्वसात्स्येन्द्रियार्थसंयोगेऽन्तर्भवति तत्तहेश-गुणानामिन्द्रियैयौगात् । एपान्तु त्रयाणां स्वस्वकाश्येजनने सामान्यविशेषयो-धेर्मायोभ्रेयस्ताल्पीयस्ताभ्यां जयाजये सति व्यभिचाराव्यभिचारौ भवतः। वक्ष्यतंऽत्रेव स्थाने प्रमेहनिदाने । इह खलु निदानदोपदृष्यविशेषेभ्यो विकाराणां विद्यातभावाभावभावभिविशोषा भवन्ति । यदा ह्ये ते त्रयो निदानादिविशोषाः पुरस्परं नानुबध्नन्ति न तदा विकाराभिनिन्द्रं त्तिभवति। अथापकपादवलीयांसो वानुवश्नन्ति, न तदावश्यं विकाराभिनिव्दे त्तिर्भवति । चिराद्वाप्यभिनिर्व्यत्तेन्ते विकारास्तनवो वा भवन्त्यथवाष्ययथोक्तसन्वं लिङ्गाः, विषय्येये विषरीताः । इति सन्वेविकारविघातभावाभावभावपतिविशेपाभिनिन्द्रित्तिहेतुभेवत्युक्तः। इति। यथा दुग्धं मधुरं मधुरपाकं शीतवीर्यं स्निग्धं गुरु पिच्छिछं द्रवं सरश्च । कफस्य च तादशगुणस्य स्थिरस्य स्थैय्यंगुणवज्जं सन्वेंगुणसामान्यभूयस्तात् स्थिरगुण-हासकारिणं सरगुणमविज्य सर्व्वगुणतः कर्भं वद्धंयति । न तु सरलेन दुग्धं माध्यपीदिकमविज्य कर्फं स्थिरगुणतो हासयत्यरंपीयस्तात्। काञ्जिकन्त्यम्लम्

वातजाः; यद्यपि प्रधानत्वेन वायन्या एव प्रथमं निर्देश्टुं युज्यन्ते, तथापीह ज्वरे पित्तस्य प्रधानत्वादाग्नेयाभिधानम्; भाग्नेयसौग्यवायन्या इति समासेनैकेकसाप्यसारम्योन्द्रयार्थ-संयोगादेखिविधरोगोत्पत्तित्वं दर्शयति; असमासे हि यथालंक्यमपि शङ्कपते, अन्यथापि

उष्णं तीक्ष्णं विशदं लघु चेपत्स्तिग्धं द्रवश्च । द्रवस्तामान्येऽपि कफमम्लादि-विशेषेभू यस्तात् द्रवलमव जिल्य हासयति न तु द्रवलेन कर्फ वर्छयति। तथा हिमे सिञ्चतस्य कफस्य वसन्ते वमनलङ्गनकदुकादिसेवनं सन्निकृष्टं जीवनीयघृतादिकं वाधिला च विषं सद्यो जीवनं हन्ति। इत्येवं प्राधान्या-अभिन्यक्तिरप्युत्पत्तिविशेषः। नद्धेतुलात् अभि-वोध्यमु । व्यञ्जकञ्च हेतुभेदमाह कश्चित्। हेतुत्रयमिदं किञ्चिद्धातुमदृपणवचनेन दोपहेतु-च्याधिहेतु-दोपच्याध्युभयहेतुत्वेन वोध्यम् । दोपहेतवो यथक्रृत्पना मधुरादयः। च्याधिहेतवो मृद्धक्षणाद्यः पाष्डुरोगादेः। यथा-कपाया पित्तमूपरा मधुरा कफम्। कोपयेन्मृद्रसादींश्र रौक्याद् अक्तश्च रक्षयेत्। इति कपायादिमृद्धक्षणतः कुपितवातादीनां पाष्ट्रशोफरोगेतररोगानारम्भक-लेन पाण्डरोगशोफरोगमात्रारम्भकलात् तु न्याधिहेतुलात्। उभयहेतवो वात-रक्तादौ हस्त्यश्वादियानादयः। ते हि दोपं कोपयिला वातरक्तादिपतिनियत-मेव च्याधि जनयन्ति नान्यविकारमिति कश्चित् ; तन्न, मृद्धक्षणस्येव हस्त्यश्वादि-यानादैव्यीधिहेतुलात् । हस्तप्रथादियानादैरिव च मृद्धक्षणस्योभयहेतुलापत्तेः। तेन व्याधिहेतवोऽभिघातादयः, उभयहेतवो मृद्धक्षणहस्त्यश्वयानादय इति ।

यस्तु वाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधं हेतुं त्रवाणोऽसात्म्येन्द्रियाथसंयोगादित्रयं वाह्यं कारणं दोपा दृष्याश्चाभ्यन्तरम्। तत्र दोपा वातादयः शारीराः ; रजस्तमसी मानसौ दोपो दृष्याश्च रसादयो धातवः। पुरीपादयश्च शारीराः सत्त्वगुणस्तु मानसो दृष्य इति व्याचष्टे तदनेन प्रत्याख्यातं भवति, यतोऽस्मिन्दुक्त विकारो धातुवैपम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते। इति। वातादिधातुवैपम्यं व्याधि प्रति हि न दोषादिको हेतुः। तद्धातुवैपम्यहेतुकास्तु ज्वरादयो व्याध्यस्तेपूपादानं दोषा वातादयो रसादयश्च दृष्याः। मानसदोपरजस्तमोवैपम्यनिमित्ताः कामक्रोधादयश्च ये तेपूपादानं विपमरजस्तम इति वातादिभ्यः पृथङ् न ज्वरादयः कामादयश्च न पृथप्रजस्तमोभ्यामिति ; तचोक्तं— स्वधातुवैपम्यनिमित्तजा ये विकारसङ्घा वहवः शरीरे। न ते पृथक् पित्तककानिलेभ्य आगन्तवस्ते तु ततो विशिष्टाः। इति। ये चागन्तवः शरीरेऽभिघातादिभ्यो जायन्ते क्षतादयस्ते-

व्याधीनुक्तहेतुजानाह—द्विविधाश्चापर इत्यादि। राजसतामसानाञ्च विच्छिय पाठेनेह तन्त्रे श्चारीरव्याध्यधिकारप्रवृत्तेरनिधकारत्वेनाप्रपञ्चनीयत्वं दर्शयति; अभिधानञ्च राजसतामसयो-रिह व्याधिकथनस्य न्यूनतापरिहारार्थम्; आगन्तवश्चाभिधातादिजा रोगा आग्नेयादिष्वेवान्त- तत्र व्याधिरामयो गट् न्नानङ्गो यच्मा ज्वरो विकारक इत्यनर्थान्तरम् ॥ ४ ॥

ऽपि तप्रसमांसादिवैपम्यजा एव. किञ्चिन्कालं प्रथमं यहातादिहोपसम्बन्ध रहिनास्तावत्कालं पित्तकपानिलेभ्यो विशिष्टा न पित्तादिहोपात्मकाः। नस्मादाभ्यन्तरहेनवो न सिन्त ज्वराद्यो हि धानुवैपम्यरूपव्याधिजन्यताद् व्याध्य उत्त्यन्ते। यथा पञ्चभूतार्द्धं वस्तु द्रव्यारव्यतात् द्रव्यं तदुक्तं सेन्द्रियं चेननं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेननिमिति। एवं वक्ष्यते चात्र। कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुभूता प्रशाम्यतीति। स च रोगजताद् रोगः उत्यतो रोगाख्यहेतुन्धिक इति। यथा पञ्चभूतजपन्नमञ्जञ्च शुक्रभिन्यन्नं न पृथग्द्रव्यं भूतेभ्य इति।

एवं त्रिविधे हेनी सिद्धान्ते नन्कार्यमाह—अत इत्यादि । अतिस्विधात् असारम्येन्द्रियाधेयंयोगादितः । यथा धातुर्वपम्यं स्यात् निर्द्धां शस्त्रादिन-सद्योवणाद्यागन्तुकं वातादिर्वपम्य । तद्वातादिर्वपम्यनिमित्ता ज्वराद्यञ्चेति । त्रिविधा आधिभौतिका आध्यारिमका आधिद्विकाञ्चेति त्रिविधाः आग्नेयादिनिद्देशेनंव त्रिविधते सिद्धे त्रिविधवचनात् ख्यापिताः । आग्नेया इत्यादि पृथक्पद्निद्देशेन त्रिविधाः त्रेगियधवचनात् ख्यापिताः । आग्नेया इत्यादि पृथक्पद्निद्देशेन त्रिविधाः त्रेगियधवचनात् ख्यापिताः । त्रिया व्याधीनाह—आग्नेया इत्यादि । ज्ञारीरास्त्रियाग्नेयादिभेदात् । तत्र मात्त्रधातुर्वपम्य-ख्या आग्नेयास्तथा पैत्तिकाश्च । पितृजधातुर्वपम्यस्याः सौम्याः व्लेपिकाश्च । वातवेपम्यं तन्निमित्ताश्च वायव्या इति । अत्रागन्तवोऽन्तर्भवन्ति । द्विविधाश्चापरे मानसा राजसास्तामसाश्च । आग्नेयस्य राजसत्वं वायव्यस्य च तथा सौम्यस्य तामसत्वम् यद्यपि तथापि साक्षान्कारणेन भूतेन निद्देशो न त्रितपरम्परा-कारणेन गुणेन । इति ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—अथ वातादिरसादिस्वेदादीनां शारीराणां धातृनां रजस्तमसो-मानसयोश्च धालोः सत्त्वस्य च वैषम्येभ्यो विकारेभ्यो जातानां ज्वरादीनां कामक्रोधादीनाश्च विकारत्यं किमस्ति नास्ति वा इति १ अत उच्यते—तत्रेत्यादि । तत्राग्नेयादिषु त्रिविधेषु राजसनामसेषु च धातुवैषम्यनिमित्तेषु रोगेषु व्याधिः भंवन्ति , यतस्त्राणि हि दोषप्रकोषव्यपदेशोऽत्त्येव , किंवा 'अपरे' इत्यप्रधानाः, परो हि श्लोष्ट उच्यते , अप्रधानत्वे चोक्ते वोषपत्तिः । व्याधीनामाम्नेयादिविभागं दर्शयित्वा व्यवहारार्थं इक्षणार्थञ्च पर्यायानाह—अत्र व्याधिरित्यादि । अत्राणि पर्यायाणामनर्थान्तरेणातङ्कादि-

^{*} इतः परं रोग इत्यधिकः पाठो बहुपु अन्थेपु दृश्यते ।

तस्योपलिधर्निद्।नपूट्य रूपलिङ्गोपश्यसम्प्राप्तितश्च।

इत्यादि विकार इत्यन्तं सर्वं प्रातिपदिकमनर्थान्तरमेकार्थकम्। परस्परमेकार्थकं सद् यमर्थमभिद्धाति सोऽर्थो रोगो रोगलात्। यथा गोजातो गौरइवजातश्राइव इति। तत्र व्यथ ताइने इत्यस्य रूपं व्याधिः। अम रोगे चौरादिस्तस्य
रूपमामय इति। गद व्यक्तायां वाचीत्यस्य रूपं गद इति संघायाम्। तिक
दौःस्थ्ये इत्यस्याङ्पूर्वेस्य रूपमातद्वः। यक्ष पूजने इति चौरादिकस्य संघायां
यक्ष्मा। ज्वर रोगे इत्यस्य रूपं ज्वर इति। विपूर्वेक-कृञो रूपं विकार इति।
एपां यथा धातुवैपम्यमुपादानं तथा चासात्मयेन्द्रियार्थसंयोगादित्रयश्च
कारणमिति। कुष्ठाख्योपधिविशेषस्य व्याधिपर्यायवाच्यलेऽर्थान्तराभावाद्
व्याधिलं न प्रसज्यते, तत्रेतिपदेनाग्नेयादीनामनुकपंणात्। यक्ष्मा ज्वरक्चेति
रोगसामान्ये यथा वक्तेते तथा रोगविशेषे च वक्तेते। यथा शालशब्दो वृक्षसामान्ये एक्षविशेषे च वक्तेते। विस्तरेण रोगस्यरूपं विकारो धातुवपम्यमिति
श्लोके व्याख्यातमिति॥ ४॥

गङ्गाधरः—अथास्य व्याधे कुत उपलिव्धिभवतीति अत उच्यते—तस्येत्यादि ।
तस्य धातुवैपम्यनिमित्तस्य तद्निमित्तस्य चासात्म्येन्दियार्थसंयोगादिजस्य
व्याधेः स्वरूपतः प्रभेदतः साध्यतासाध्यतादितो वलावलतोऽनुवन्ध्यानुवन्धादितश्च सव्वेतोभावेनोपलिव्धयेथासम्भवं प्रत्यक्षमनुमानश्च निदानादिभ्यः
पूर्व्यमाप्तोपदेशेन ज्ञातस्य । यथा हिकादौ शब्दः श्रोत्रेण प्रत्यक्षमुपलभ्यते ।
शैत्यौष्ण्यादिकमातुरगतं स्पर्शनेन । कृष्णारुणश्चेतपीतादिकं चक्षुपा कृश-

शब्दानां भयाधर्थताब्युदासाद् व्याधिलक्षणत्वं घोष्यम् । आतङ्कोन हि भयमप्युच्यते, विकार-शब्देन हि इन्द्रियादयोऽपि पोड्श विकारा उच्यन्ते । तथा व्याध्यादिशब्दानां व्युत्पस्या रोग-धर्मा लक्षणीयाः ;—तथा च विविधं दुःखमादधातीति व्याधिः । प्रायेणामम्मुत्थत्वेनामय उच्यते । आतङ्क इति दुःखयुक्तत्वेन कृच्छ्रजीवनं करोति । वचनं हि "आतङ्कः कृच्छ्रजीवने" । यक्ष्मशब्देन च राजयक्ष्मवदनेकरोगयुक्तत्वं विकाराणां दर्शयति ; ज्वरशब्देन च देहमनःसन्ताप-करत्वम् । विकारशब्देन च शरीरमनसोरन्यथाकरणत्वं व्याधेर्दर्शयति । रोगशब्देन च रुजाककृत्वम् ॥ ३।४ ॥

चक्रपाणिः—इदानी न्याधेर्जनमहेतुमिभधाय तथा तद्धेतुजन्यञ्च न्याधिमुनत्वा तस्य न्याधे-र्जानोपायमाह—तस्येत्यादि । अविज्ञाते हि न्याधो चिकित्सा न प्रवर्तते । अतः सामान्येन न्याधिज्ञानोपायनिदानपञ्चकाभिधानम् । सार् इ.स.च । रसधातुरानो रसनेनानौचित्याद् ग्रहणानुक्तेः परन्तनुमानेनोप-लभ्यने । गन्धस्तु घाणेनेति । प्रत्यक्षमन्यत् सब्बेमनुमानेनेति ।

अर्थवमस्तु-निदानेन रोगस्य भविष्यतो वर्त्तमानस्यानुपशयेन निदानेनानु-मानादुपलब्धो सत्यां पुनः कथं पूर्विरुपादिभिर्मानमिष्यते ; बातस्य पुनर्काने मयोजनाभावादिति चेत् १ न, निटानेन हि न्याधिर्यं भविष्यतीति विषायते, स च कीदशो व्याधिरिति न विषायते, न वा निदानादिपश्चकान्यतममेकमप्यन्तरेण च्यायेः सर्व्यथा मानं भवति, तस्माद्परे मानहेतवो वक्तव्याः । एकनिदानकानाम् अनेकव्याधीनाश्च समानानेकनिदानकानां वा न निश्चयेन ग्याधीनां णानं भवति को व्याधिभविष्यतीति संशयात् । निदानस्य सन्निकर्प-विषक्पीदिना जयपराजयविधानादितो व्याध्युत्पत्तिव्यभिचाराच्च । तस्मात् पूर्व्वरूपादीनां वक्तव्यते सामान्यपूर्वेरूप।त् केवलात् व्याधेर्वातजलादिविशेषावधारणं न स्यात्. न वा विशेषेण पृथ्वेरूपात् केवलात् व्याधीनां निश्चयणानं स्यात् । रक्त-पित्तपित्तममेहसन्देहे हि वक्ष्यते "हारिद्रवर्ण रुधिरञ्च मूत्रं विना ममेहस्य हि पूर्वेरूपैः। यो मूत्रयेत् तं न वदेत् प्रमेहं रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः॥" इति। हारिद्रवर्णरुधिरवर्णमृत्रद्शेने पूर्व्वमस्मात् प्रमेत्पुर्व्वरूपमभूत् किं नाभूत् तं विषाय निःसंग्रयो भवति न केवलहारिद्रवर्णरुधिरवर्णमृत्रस्य रूपस्य दर्शनमात्रेण निःसंशयः स्यात्, तस्माद्रूपधानमात्रतो न व्याधिधानं भवति । नाप्युपशयात् केवलाट् च्याधेनिश्चयः स्यात् । एकद्रव्योपश्चयानां वातिकानां पैत्तिकानाश्च वातिकलपैत्तिकलान्यतरसंशयात्। व्याधीनां मधुरस्त्रिग्धादिभिरुपशये व्याधिमभावेण चावम्यतिमिरादीनां कफजलनिश्रयो न वमनेन स्यात् इति। न वा केवलया सम्प्राप्ता व्याधिनिश्ययः स्यात्। वातादिः पत्येकमेव प्रतिरोगं सर्वरोगस्य नियमतः स्थानसंश्रयादिमत्तया व्याधिजनकलात् । स्त्रस्व-लिङ्गं विना वाताचवगमाभावात्। तस्मानिदानादिपञ्चकात् समस्तादेव **न्याधेरुपलन्धिर्भवति** सन्वेथैव । एकैकस्मात् तु कस्यचित् कदाचित् कथित्रत् काचिद्रपलव्धिभवति।

अथ भविष्यति व्याधिनिश्चयश्चतुर्भिरिति निदानं नोत्तवा शेपाणि चलार्यु च्यन्तामिति चेत् १ न । भूताद्यमिपङ्गादिजानां व्याधीनां निदानं भूतादिकमन्तरेण भूतलक्षणसमानलक्षणवातादिलिङ्गः वातादिजलेन ज्ञाना-भावात् । एवमग्निद्ग्धादिषु वोध्यम् । भूतादिनिदानेन हि तज्ज्ञानात् तस्मानिदानं वक्तव्यम् । निदानेनैव चानुपश्चात्मकेन रृद्षिङ्गानां व्याधीनां

श्चानाच। यत् तु संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिज्जनिमिति सुश्रुत-वचनदर्शनेन निदानशानमन्तरेण निदानपरिवज्जनं न स्यात् अतो निदान-मवस्यं वाच्यमिति व्याचष्टे, तन्न, व्याधेरुपलव्य्यर्थं हि न निदानं शातव्यं भवति, क्रियाथेन्तु भवतीति क्रियोपदेशे वक्तव्यं स्यादिति।

अथ ति पूर्विरूपं नोच्यतां निदानरूपोपश्यसम्प्राप्त्यस्तूच्यन्तामिति चेत् ?
न। विना हि पूर्विरूपं निदानादिभिश्चतुभिने व्याधेनिश्चयः स्यात्। यथा—
"हारिद्रवणं रुधिरश्च सूत्रं विना प्रमेहस्य हि पूर्विरूपेः। यो मूत्रयेत् तं न वदेत्
प्रमेहं रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः" इति। यत् तु व्याधिशानहेतुषु
निदानादिषु पूर्विरूपस्यानुपादाने पूर्विरूपावस्थायां विहितक्रियाविशेपो
न कर्त्तुं शक्यते भिषम्भः, पूर्विरूपशानावात्। उक्तश्च सुश्रते। वातिकज्वरपूर्विरूपे घृतपानिमिति। वक्ष्यते चात्र ज्वरस्य पूर्विरूपे लघ्वशनमपत्पणं
वेति। तदिप व्याध्युपलिध्वप्पादाने साधकं न थवति। चिकितसार्थं
पूर्विरूपस्य शानस्यावश्यकत्वात् तत्रवोपदिश्यतां पूर्विरूपमिति। शानहेतुषु
उपादाने शानार्थं यत् तत् साधकं भवतीति।

अथ लिक्नं नोच्यतां निदानपूर्वक्षपोपग्रयसम्प्राप्तयस्त्र्च्यन्तामिति चेत् ?
न। लिक्नं हि विना व्याधेः खरूपज्ञानं न स्याद् वातादिजलविशेपज्ञानश्च।
यत्तु रूपावस्थायां विहिता सर्व्या चिकित्सा विना लिक्नज्ञानं न सम्भवति,
तस्माल्किनं वक्तव्यमिति व्याच्छे, तम्न। व्याध्युपलिध्यहेतुषु लिक्नोपादाने
साधकं भवति। चिकित्सार्थं लिक्नज्ञानावश्यकत्वे तत्रैव वक्तव्यं भवतीति।
इत्थश्च व्याधेः साध्यत्नासाध्यत्नादिज्ञानार्थश्च निदानपूर्व्यक्षपिल्नान्यवश्यं वक्तवानि भवन्ति। उक्तं हि सुखसाध्यलक्षणप्रकरणे—हेतवः पूर्व्यक्षपाणि रूपाण्यल्पानि यस्य वा इत्यादि। कुच्छुसाध्यलक्षणे च—निमित्तपूर्व्यक्षपाणां
रूपाणां मध्यमे वले इति। तथा ज्वरस्यासाध्यलक्षणे—हेतुभिर्जातो
वलिभिर्वहुलक्षणः। ज्वरः प्राणान्तकृत्। एवं, पूर्व्यक्षपाणि सर्व्याणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया। यं विश्वन्ति विश्वत्येनं सत्युर्व्यस्पाणि मरणं ध्रुवमिति। सुखसाध्यत्नादिज्ञानार्थश्चावश्यं वक्तव्यानि तत्यापि मरणं ध्रुवमिति। सुखसाध्यत्नादिज्ञानार्थश्चावश्यं वक्तव्यानि निदानपूर्वक्षपिलङ्गानीति।

अथोपशयोऽप्यवश्यं वक्तव्यः। त हि रृट्छिङ्गव्याधीनामनभिव्यक्तत्वेन सङ्कीर्णलक्षणानाञ्चोपशयानुपशयाभ्यामन्तरेण विशेषज्ञानं भवति। वक्ष्यते सत्र गृट्छिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेतेति।

तत्र निदानं कारण्मित्युक्तमये।

अथ सम्माप्तिरित् च्याधिविगानतेतुषु नोच्यतामिति चेत् १ न । यतो निदानेन जातस्यापि व्याधेः आरम्भकदोपाणामंत्रांशिवकल्पानुबन्ध्यानुबन्धरूष-माधान्याप्राथान्यवलकालादिजानं सम्माप्तिमन्तरेण न स्यात् ततो व्याथेरशेषः विशेषण स्यात् न चाविशेषविशेषण व्याथेर्जानमन्तरेण विशेषण विकित्सा भवति । बक्ष्यते च—रोगमात् परीक्षेत्र ततांऽनन्तरमोपधम् । ततः कम्मीभिषक् पश्चाम्जानपृत्वं समाचरेत् ॥ इति । इत्यश्च व्याधिजानाधिमिहोपिद्ष्येष पश्चमु निदानादिषु चिकित्साथं पुनरतत्र नंगानि वाच्यानि भवन्ति ।

पश्चानामेपां निर्देशानिदानस्थानग्रन्थोऽपि निदानशब्देनोच्यते। तत्राथं निरुक्तिस्यं—निदीयते निबध्यते देलादिसम्बन्धो व्याधिसनेनास्मिन् वेति निदानं निदानस्थानम्। या गांः कामदुवा न तां निद्दीतेति निबन्धनार्थे निप्वदानो व्यासन मयुक्ततात्। देतुलक्षणनिद्देशान्निदानानीति पोइशेति स्थूतवचनाच। नेपा निरुक्तिः सुश्रुतवचनेन संगच्छते देतुलक्षणनिद्देशादित्युक्तेः, निवन्थनोक्त्यभावाद् । करणाधिकरणयोश्च ल्यूट् ग्रन्थार्थे पुंलिङ्गत्वमसङ्गाचाध्यायार्थे च। स्थानार्थे चेन्निदानानीति पोइशेति अध्यायार्थे निदानानीति नपुंसकतानुपपत्तिथा। देतुलक्षणनिद्देशादित्युक्तेः निद्दानादीनि यस्मिन् तिन्नदानं निदानस्थानं पृपोदरादित्याद् रूपसिद्धिः। इयमपि निरुक्तिन साधुः। निदानानीति पोइशेति पोइशाध्याय-परतान्तपुंसकतानुपपत्तेः। देतुलक्षणनिद्देशादित्युक्त्या निदानशब्दे निपूर्व्व-दिशेः प्रयोगाभावात्। एवश्च निदानशब्दस्य देतुलक्षणवचनस्य तत्तद्ध्याये उपचारस्तत्तच्द्राधेहेतुलक्षणनिद्देशादिति, अन्यथा नपुंसकलङ्गानुपपत्तिनिदानानीति, अध्यायविशेपणलेन पुंलिङ्गसङ्गद्देति।

तत्र निदानादीनि क्रषेण लक्षयति—तत्र निदानमित्यादि। कारणित्युक्तमग्रे इति। यदिहेवाग्रे उक्तं हेतुनिमित्तमित्यादिपर्यायेण उत्पत्तिकारणं तदिह व्याधेनिदानमिति। यदा तु व्याधिरपरं व्याधिं जनयति; यथा—ज्वरसन्तापाद् रक्तपित्तं जायते इत्येवमादि, तदा तदक्तिपित्तकरो ज्वरो निदानार्थकरो रोग एव न तु निदानम्। यथा घटादि द्रव्यं द्रव्यारव्यद्भव्यं

्षकं निदानं विद्युणोति—निदानिमत्यादि। अग्रे उक्तमिति 'इह खलु' इत्यादिना 'परिणामश्च' इत्यन्तेन। कारणच 'च्याधीनां सित्रकृष्टं वातादि, विपक्तरुख्याथीनाम्

तदारम्भकमृदादि द्रव्यं द्रव्यार्थकरं द्रव्यं न तु नवद्रव्यान्तर्गतं द्रव्यम् । तस्मात् असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगादित्रिविधनिदानातिरिक्तं निदानं यच सेतिकर्त्तेव्यताको व्याध्युत्पत्तिहेतुर्निदानमित्युत्तवा त्रिविधेष्वसात्म्ये-न्द्रियार्थसंयोगादिषु द्रव्यभूतेषु यथा समन्वेति, तथा वातादिषु च विपमेषु समन्वेति । हेतुश्च वाह्य आभ्यन्तरइचेति द्विविधः । वाह्यस्त्रिविधः, आभ्यन्तरास्तु दोषदृष्या इति च्याख्याय दोपाणामितिकत्तंच्यतायाश्च इतिकर्त्तच्यतान्तर-भावान्न निदानलं किन्तु सम्पाप्तिलिमिति सुश्रुतेन वातादीनां निदानलसुक्तम्। तद्यथा—सन्वेपाञ्च न्याधीनां वातिपत्तरलेष्माण एव मूर्लं तिल्कालाट् इप्ट-फललादागमाच्चेति व्याचप्टे, तन्न सङ्गतम् ; अद्रव्यभूतेष्वसात्म्येन्द्रियार्था-दिष्वत्युग्रशन्दादिषु परुपवागादिषु लक्षणस्याप्रसङ्गात् सेतिकर्त्तन्यताकलाभावात द्रव्यभूतानामितिकत्तेव्यतास्वशसङ्गाच । निदानार्थकरेषु विषमवातादिषु ज्वराः दिपु चातिमसङ्गात् । सुश्रुते तु सन्वेपाञ्च न्याधीनां वातिपत्तक्रेष्माण एव मूछं तिहाइसात् इत्युक्तं न निदानमुक्तम् तिहाइसादित्यनेन वातादिपकृतिकलमुक्तं तेन सन्वेपां न्याधीनामिति वातादिप्रकृतिकानां न्याधीनां ज्वरादीनां मूळ-मित्युक्तं न लागन्तुन्याधीनां न वा कामादीनां मानसन्याधीनां मूलमुक्तं तस्माद विषमवातिषत्तक्रेष्माणो न निदानं किन्तु विकारा एव। यत उक्तं विकारो धातुवैपस्यिमति, तच धातुवैपम्यं निदानार्थकरं निदानार्थकरज्वरादिव्याधि-बद्द्राधिरेव। तत्र सुश्रुते च पुनरुक्तं तद् यथा—"भूयोऽत्र जिलास्यं—िकं वातादीनां ज्वरादीनाश्च नित्यः संश्लेपः परिच्छेदो वेति ? यदि नित्यः संश्लेपः स्यात् तहि नित्यातुराः सर्वे एव प्राणिनः स्युः। अथाप्यन्यथा वातादीनां ज्वरा-दीनाश्चान्यत्र वत्तेमानानामन्यत्र लिङ्गं न भवतीति कुला यदुच्यते वातादयो ज्वरादीनां मूलानीति।" तस्मात् सन्वेषां व्याधीनामिति ज्वरादीनां न तु धातुवैषम्यागन्तुव्याधीनाम् ; किं हि वातवैषम्यस्य वातवैषम्यं मूलम् ? तत्रोत्तर-श्चोक्तं-"दोषान् पत्याख्याय ज्वरादयो न भवन्ति, अथ च न नित्यः सम्बन्धो यथा हि विदुर्रहाताशनिवर्पाणि आकाशं प्रत्याख्याय न भवन्ति, सत्यप्याकाशे कदाचिन्न भवन्ति अथ च निमित्ततस्तत एवोत्पद्यन्ते। तरङ्गबुद्भदादयश्र उदकविशेषा एव। एवं वातादीनां ज्वरादीनाश्च नाष्येव संश्लेषो न भयोगादि ; पुनर्विप्रकृष्टं कारणं ज्वरस्य रुद्रकोपः, सन्निकृष्टं कारणं रक्तपित्तस्य ज्वरसन्ताप इति । पुनख न्याधीनां सामान्येन विप्रकृष्टं कारणमुक्तम्, यथां—"प्रागपि चाधम्मीहते नं रोगो-त्पत्तिरभूद्र' इत्यादि । तदेतत् सन्देसपि कारणशन्देन माह्यम् । तत्राधरमंकारयत्वेन न्याधीनां

परिच्छदः शाश्वतिकः, अथ च निमित्तत एवोत्पत्तिरिति। तस्मान्निदान-शब्देन कुपितवातादयो नोच्यन्ते। ज्ञास्त्रेऽस्मिन् वाबहेतोः पर्यायेण एवमेपामसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगप्रशापराधपरिणामानां निदानशब्द एक्तः। निदानानां कानिचित् दोपान् वर्द्धियता ज्वरादीन् जनयन्ति कानिचित् कारणान्तरतः सञ्चितान् दोपान् व्यञ्जयन्ति विकारान् जनयन्ति । दोप-प्रकोपपृर्व्वकज्वरादि व्याधिहेतृन् प्रतिरोगाध्याये वक्ष्यति । हेमन्ते सिञ्चतं इलेप्पाणं घृतिमव मृय्येसन्तापो विलयन कफरोगं जनयति । तदुक्तं—हेमन्ते निचितः ब्लेप्पा वसन्ते कफरोगकृदिति । सुश्रुते च वातादीनां चयप्रकोपादि-हेतुरुक्तः एकविंशतितमेऽध्याये। तद्यथा-प्राक्सिश्चतहेतुरुक्त इति ऋतुभेदेन। तत्र सञ्चितदोपाणां स्तन्यपूर्णकोष्टता पीतावभासता मन्दोप्पता चाङ्गानां गौरवमालस्यं चयकारणविशेषदचेति लिङ्गानि भवन्ति । तत्र प्रथमः क्रिया-काल इति । एप पाकृतचय ऋतुस्वभावादेव भवति । समयोगयुक्तानामपि । एवं सञ्चिते दोपे पृब्वं प्रजापराधकृतकर्माफलेनाधर्मविशेषेण काले परिणमता फलोन्मुखीभूतेनाधिष्टितः ; तत्पतिकारं न करोति, करोति पुनः प्रवापराधा-दहितसेवनम् । रोगसामान्यकारणं विशेषरोगकारणं वा सेवते । तत्र वात-सामान्यकारणमुक्तं मुश्रुतेन । तद्यथा—अत ऊर्द्धं प्रकोपणानि वक्ष्यामः । तत्र वलवद्विग्रहातिव्यायामव्यवायाध्ययनप्रपतनप्रधावनप्रपीइनाभिघातलङ्गन-ष्ट्रवनतरण-रात्रिजागरण-भारहरण-गजतुरगरथपदातिचर्य्याकटुकपायतिक्तरुक्ष-लघुशीतवीर्य-शुष्कशाक-वल्लूरवरकोदालककोरदृप-क्यामाकनीवारमुद्रमसूरा-ढ्कीहरेणुकलाय-निष्पावानशनविषमाशनाध्यशन-वातमूत्रपुरीपशुक्रच्छिद्धवयू-द्वारवाष्पवेगविघातादिभिविशेपैर्वायुः प्रकोपमापद्यते। स शीताभ्रप्रवातेषु घम्मीन्ते च विशेषतः। प्रत्यूपस्यपराक्षे च जीर्णेऽन्ने च प्रकुप्यतीति। एतान्यासेव-मानस्यादौ वायुः सञ्चीयते तत्र चोक्तानि लक्षणानि यश्च वा पूर्विकरम्पेकृता-धरमीविशेषणाधिष्ठितो वक्ष्यमाणानि वातज्वरादिकारणान्यासेवते तस्य चादौ वायुः सञ्चीयते। तस्य चोक्तानि रुक्षणानि भवन्ति न विशेपापररुक्षणानि, तस्माद्तुमीयतेऽस्य वातजो व्याधिभैविष्यति, वातलाहारादिजातस्तव्धपूर्ण-कोष्ठतादिमरवात्। एवमेव पूर्व्वं प्रज्ञापराधकृतकम्मीविशेषफलेनाधम्मीविशेषण वैवन्यपाश्रयप्रायश्रित्तविक्रमङ्गलेत्यादिचिकित्सासाध्यत्वं प्रतीयते । रुद्रकोपभवत्वेन च ज्वरस्य - महादेवप्रभवत्वं तथाग्नेयत्वं प्रतीयते । कोधो ह्याग्नेयः । तेन तन्मयो उवरोऽप्याग्नेयः । तथा च षचनम्—"उष्मा पित्ताष्टते नास्ति ज्वरो नास्त्युप्मणा विना। तस्मात् पित्तविरुद्धानि त्यजेत् काले परिणमता फलोन्मुखीभूतेनाधिष्टितः प्राक्सिश्चतिपत्तसश्चयप्रतिकारं न करोति, करोति पुनः प्रधापराधादहितसेवनम्, रोगसामान्यकारणं रोगविशेप-कारणं वा सेवते। तत्र पित्तसामान्यकारणमुक्तं सुश्रुतेन। तद्यथा-क्रोधशोक-भयायासोपवास-विदग्ध-मैथुनोपगमनकदुम्ल-ल्वण-तीक्ष्णोप्णलघुविदाहितिल-तैल्रपिण्याककुलस्य-सपेपातसीहरितकशाक-गोधामत्स्याजाविकमांस-दिध-तक-क्रुच्चिकामस्तुसौवीरकसुराविकाराम्लक्ष्वलकदूरार्कप्रभृतिभिः पित्तं मापचते । तदुष्णैरुप्णकाले च मेघान्ते च विशेपतः । मध्याहे चाढरात्रे च जीर्घ्यत्यन्ने च कुप्यति ॥ एतान्यासेवमानस्यादौ पित्तं सश्चीयते, तत्र चोक्तानि स्तव्यपूर्णकोष्ठतादीनि लक्षणानि भवन्ति। यश्च वा पूर्विकम्मेकृताधम्मे-विज्ञोषेणाधिष्टितो वक्ष्यमाणपित्तज्वरादीनां कारणमासेवते तस्ये चादौ पित्तं लक्षणानि भवन्ति न विशेपापरलक्षणानि ; सञ्चीयते, तत्राप्युक्तानि तस्मादनुमीयतेऽस्य पित्तजो व्याधिर्भविष्यति, पित्तलाहारादिजातस्तव्ध-पूर्णकोष्ठतादिमरवात्। एवमेव पूर्वं प्रज्ञापराधकृतंकस्म विशेषफलेनाधस्म विशेषफ काले परिणमता फलोन्मुखीभूतेनाधिष्टितः माक्सिञ्चतं इलेप्माणं न मतिकुरुते, कुरुते पुनः प्रज्ञापराधादहितसेचनम्, रोगसामान्यकारणं रोगविशेपकारणं वा सेवते। तत्र कफसामान्यकारणगुक्तं सुश्रुतेन—दिवाखण्नाव्यायामालस्य-मधुराम्ललवणशीत-स्त्रिग्ध-गुरु-पिच्छिलाभिष्यन्दि-हायनकयवकनैपधकेत्कटक-माप-महामाप-गोधूम तिलिपष्टिविकृति दिधिदुग्धकृशरापायसे श्विविकारान् पौदक-मांसवसाविस-मृणाल-कशेरक-शृङ्गाटक-मधुरवल्लीफल-समशनाध्यशनप्रभृतिभिः इलेप्सा प्रकोपमापद्यते । स शीतैः शीतकाले च वसन्ते च विशेपतः । पूर्वाक्षे च प्रदोपे च शुक्तमात्रे प्रकुप्यति इति ॥ एतान्यासेवमानस्यादौ इलेप्मा सञ्चीयते तत्र चोक्तानि स्तव्यपूर्णकोष्टतादीनि लक्षणानि भवन्ति। पूर्व्वकृताध्रमं विशेषेण अधिष्ठितो वक्ष्यमाणकपः वरादिकारणमासेवते तस्य चादौ इलेब्मा सश्चीयते। तत्राप्युक्तानि स्तव्यतादीनि लक्षणानि भवन्ति न विशेपाप्रलक्षणानि । तस्मादनुमीयतेऽस्य इलेष्मजो व्याधिभविष्यति, इलेष्मला-हारादिजातस्त व्यकोष्ठतादियन्वात्। एवं सञ्चितवातादिदेहस्य पुनः प्रवाप-राधात् पित्तप्रकोपणैः सेन्यमानैश्वाभीक्ष्णमेव द्रवद्रव्यस्निग्धगुरुभिश्वाहारैदिंवा-स्त्रप्तकोधानलातपश्रमाभिघाताजीणीवरुद्धाध्यश्चनादिभिरस्क प्रकोपमापद्यते। पित्ताधिकेऽधिकम्"॥ इति । वातादिजन्यत्वज्ञानेन च वातादिविपरीतभेपजसाध्यत्वं तथानुद्भतः वातादिविकारान्तरसम्बन्धोऽपि भावी कल्प्यते। भसात्म्यहेतुसेवोपदर्शकेन च भावी व्याधिः

यस्माद् रक्तं विना दोषेनं कदाचित् प्रकृष्यति । तस्मात् तस्य यथादोषं कालं विद्यात् प्रकोषणे ॥ इति । इत्येवमेकको दिवाः समस्ता वा दोषाः कोणितसिहता वा सिश्चता यदा प्रकृष्यन्ति ति तह्न सण्यक्तं सामान्येन मुश्रुते । तद्यथा—तेषां प्रकोषात् कोष्ट-तोदसञ्चरणाम् स्रकाषिपासा-परिदाहान्न द्वे पहृदयोत् वलेदा जायन्ते । इति । तदानुमीयते अस्य देते कोष्टतोदादिभिर्यातादिप्रकोषो-अभूदित्यस्य वातादिजन्याधिभविष्यतीति न चानुमीयते को न्याधिः भविष्यतीति । एप दितीयः कियाकालः ।

यद्यप्यत्र सामान्यतः प्रकोपलिङ्गान्युक्तानि, तथाप्येतानि दोपविशेषतो विभज्य प्रकोपलिङ्गानि विद्यात् । तत्र कोष्टतोदसञ्चरणाभ्यां वातप्रकोषोऽनु-भीयेत । अम्डिकाविपासापरिदाईः वित्तस्य शोणितस्य च प्रकोपः । अन्नद्देप-धुद्योत्न्छेदाभ्यां क्लेप्मप्रकोष इति । एवं प्रकृषित्वातादिदेहः प्रमान् यदि तदा तत्मतिकारं मनापराधान्न करोनि तदा यद्याधिं जनियप्यति दोपस्तं देशमि-पसरित । तन्यया यहुक्तं सुश्रुतेन । अत ऊर्द्ध्य पसरं वक्ष्यामः । तेपामेभिरातक्कतेतु-विशेषेः प्रकृपितानां पर्यु पितिक्तनोदकपिष्टसमवाय इवोदिक्तानां पसरो भवति। तेपां वायुर्गतिमत्त्वात् प्रसरणहेतुः। सत्यप्यचैतन्यं स हि रजो-भ्यिष्ठो रजश मवर्त्तकं सन्वंभावाणाम्। यथा महानुद्कसञ्चयोऽतिष्टद्धः सेत्मवदीर्द्यापरेणोदकेन व्यामिश्रः सन्वेतः प्रधावति एवं दोपाः कदाचिदेकशो द्विशः समस्ता वा शोणितसहिता वाऽनेकधा प्रसर्गतत । वातः पित्तं इछेप्पा शोणितं वातिपत्ते वातक्रेष्माणौ पित्तक्लप्माणौ वातशोणिते पित्तशोणिते इलेप्मशोणितं वातपित्तशोणितानि वातइलेप्मशोणितानि शोणितानि वातपित्तकफाः वातपित्तकफशोणितानीत्येवं पञ्चदश्या प्रसरः। तत्र वायोः पित्तस्थानगतस्य पित्तवत् प्रतिकारः । पित्तस्य कफस्थानगतस्य कफवत्। कफस्य च वातस्थानगतस्य वातवत्। एवं क्रियाविभागः। एवं प्रकुपितानां प्रसरताश्च वायोर्विमागेगमनाटोपौ । ऊपाचोपपरिदाहधूमायनानि पित्तस्य। अरोचकाविपाकाङ्गसादाङछिईश्च इलेप्मणो लिङ्गानि भवन्तीति। तत्र तृतीयः क्रियाकालः। इति।

एतस्मिन काले विमार्गगमनाटोपाभ्यामनुमीयतं मकुपितो वायुः प्रसरित वातजो रोगो भविष्यतीति, न तु को रोगो भविष्यति सोऽनुमीयते। तजन्य उन्नीयते। व्याधिपरीक्षायाज्ञ सन्देहे जाते यस्य व्याधेहेंतुसेवा दृश्यते, स परिकल्पते, प्रवमादिहेतुना व्याधिपरीक्षणम्।

पूर्वकृपं प्रागुत्पत्तिलच्गां व्याधेः।

एवमोपचोपादिभिरतुमीयते प्रकुपितिपत्तमस्य प्रसरित पित्तजो व्याधिः भिविष्यतीति, न तु यो व्याधिभिविष्यति सोऽतुमीयते। एवमरोचकादिभि-रतुमीयतेऽस्य प्रकुपितः इलेष्मा प्रसरित इलेष्मजोऽस्य व्याधिभविष्यतीति, न तु यो व्याधिभविष्यति सोऽतुमीयते तह्ग्राधिविशेषिलङ्गाभावात्। अस्मिन् क्रियाकाले प्रज्ञापराधात् प्रतिकारमकुर्व्यतो यो व्याधिभिविष्यति तह्ग्राध्युत्पत्ति-स्थानं दोपाः संश्रयन्ति। तदुक्तं सुश्रुतेन—अत ऊर्ज्यं स्थानसंश्रयं वस्यामः ; एवंप्रकुपिताः प्रस्ताश्च दोपास्तांस्तान् शरीरप्रदेशानागत्य तांस्तान् व्याधीनः जनयन्ति। तत्र स्थानविशेषान् कियत उत्तवा चोवाच। तेषामेवमिभिनिविष्ट-दोपात् प्रादुभविष्यतां व्याधीनां पूर्व्यस्पप्रादुभविस्तत् प्रतिरोगं वस्याम इति । तत्र पृत्वेस्त्पागते चतुर्थः क्रियाकालः। अत ऊर्ज्यं व्याधिदर्शनं, तत्र पञ्चमः क्रियाकाल इति। भवति चात्र। सञ्चयञ्च प्रकोपञ्च प्रसरं स्थानसंश्चयम्। व्यक्तिं भेदञ्च यो वेत्ति दोपाणां स भवेद्भिपगिति।

इत्येवं निदानसेवनानन्तरं चयपकोपप्रसरानन्तरं स्थानसंश्रयं पूर्विरूपाणि भवन्तीत्यभिपायेण निदानलक्षणानन्तरं पूर्विरूपलक्षणमाह—
पूर्वेरूपं प्रागुत्पत्तिलक्षणं व्याधेरिति। व्याधेरत्पत्तेः पूर्वं यह्यसणं
तत् पूर्विरूपं व्याधेः। तच प्रतिरोगं वक्ष्यते। मुश्रुते तेपामेवमभिनिविष्टदोपात् प्रादुर्भविष्यतां व्याधीनां पूर्विरूपप्रादुर्भाव उत्युवत्या तथाविधस्थानसंश्रितदोपादेव भवन्ति; भविष्यतो व्यरस्य पूर्विरूपाणि मुखवैरस्यादीनि भवन्ति चरकेणोक्तानि, सुश्रुतेनोक्तानि श्रमोऽरितिविवणंतपित्यादीनि। यक्ष्मणाश्च घुणतृणकेशपतनानि तत्स्थानसंश्रितदोपादेव
भवन्ति तज्जनकाधस्माधिष्ठितदोपाणामिष्ठष्ठातुरधम्मेप्रभावात्। यथा धम्मीधर्माभ्यामिष्ठितपुरुषस्यानन्विच्छतो लभ्यालभ्यादीनि गजतुरगपुत्र-

निदानानन्तरीयक्रवात् पृट्वेरूपादीनां निदानानन्तरं प्रवेरूपादीन्युच्यन्ते। अतः प्र्वेरूपलक्षणमाह—प्रवेर्वाद। उन्यन्ते प्राक् प्रागुरपितः। एतेन उत्पत्तेः प्रवे यदः भविष्यद्व्याधेर्लक्षणम्, तत् प्रवंरूपम्। निदानसेवा तु भाविष्याधिवोधिका भवन्त्यपि निदानशब्दगृहीतत्वादेव तथा लक्षणशब्दानभिधेयत्वाच न प्रवेरूपशब्देनोच्यते। उक्तं द्वान्यत्र "स्थानसंश्रविणः सुद्धा भाविष्याधिप्रवोधकम्। लिङ्गं कुर्व्वन्ति यद् दोषाः प्रवंरूपं तदुस्यते॥" न च वास्यम्—यदनुरपन्नर्यादिद्यमानस्य व्याधेः कथं लक्षणं भवतीति। यतः मेघादपि

्धम्मोधम्मेप्रभावात् स्वयमेवावगम्यन्ते दृरतोऽदृरतश्र पोत्रमणिरत्नादीनि एवंग्याख्यानमविद्वांसो दृपयन्ति ; लक्षणियं-स्थानसंश्रयिणः क्रुद्धा भाविन्याधिप्रवोधकम् । दोपाः कुन्वेन्ति यहिङ्गं पून्वेरूपं तदुच्यते ॥ यक्ष्मिणां घुणतृणकेशपतनानामदृष्ट्रजन्यत्वेन दोपजन्यताभावान्न तत् पूर्विरुपस्य लक्षणमिति । केचित् प्रमादिनश्र—सुश्रुते ; श्रमोऽरति-विवणेलं वैरस्यं नयनष्लवः। इच्छाद्वेषौ मुहुश्वापि शीतवातातपादिषु। जुम्भाद्गमदौ गुरुता रोमइपौंऽरुचिस्तमः। अप्रहपंथ शीतश्च भवत्युत्पतस्यति ज्वरे । सामान्यतो विशेषात् तु जुम्भात्यर्थं समीरणात् । पित्तान्नयनयोर्दाहः कफान्नान्नाभिनन्द्नमिति सामान्यविशेपवचनमालोच्य द्विविधं पूर्वेरूपं ज्याचक्षते ; सामान्यपूब्वेरूपं विशिष्टपूर्व्वरूपश्च । तच पूर्वेरूपमन्यक्त-्टक्षणं, व्यक्तलक्षणन्तु रूपमिति कृता विमतिपद्यन्ते। जम्भात्यथं समी-रणादित्यत्यर्थलं व्यक्ततं ततो जुम्भाया रूपत्रशसद्गः। तत्रान्ये समा-प्रभूतान्यक्तपूर्व्वेरुपसह्चरितलेन न्यक्तस्याप्यन्यक्ततं छत्रिणो गच्छन्ति मापराशिरित्यादिवत् । तदसाधु, श्रमादीनां सन्वेपामेव व्यक्ततात्। अन्येपामपि अतिसारादीनां पूर्व्वरूपाणि किमन्यक्तानि १ सर्व्वाणि हि न्यक्तानि दृइयन्ते, तस्माद्व्यक्तलक्षणं पृत्र्वेरूपमित्यसाधु । परे चात्र यदाहुः—श्रमादीना-्मिवाव्यक्तव्याधिवोधकताज्जूम्भाया अन्यक्तत्रमित्यप्यसाधु । न हि भविष्य-द्व्याथिरन्यक्तः किं नास्तिल्वन्यक्तलं १ नास्ति हि न्याधिः पूर्वेरूपे । तच्चेदिष्ट-मतीतो व्याधिरपि नास्ति, तस्य लक्षणमप्यव्यक्तव्याधिवोधकलाद्व्यक्तं लक्षणं तच्च पूर्वेरूपं भवतु ; तस्मादव्यक्तलक्षणं न पूर्वेरूपम्। अथाव्यक्तत्रमीप-द्वाक्तलिमित चेन्न, ज्वरातिसारादीनां यानि पूर्विरूपाणि तानि व्यक्तान्येव नेपद्वाक्तानि न च येन दोपविशेषेणानिधिष्ठित उत्पिरसुर्ग्याधिर्रुक्यते तत् पूर्वे-रूपम्। एकशो द्विशो वा समस्ता वा दोपा हि सिञ्चताः प्रकुपिताः प्रस्ताः तत्तत् स्थानं संश्रिताः पूच्चेरूपाणि जनयन्ति, तैरुत्पित्सुव्याधिर्छक्ष्यते दोप-

भाविनी वृष्टिरनुमीयते, तथा रोहिण्युद्यं रङ्गा कृत्तिकोदयोऽनुमीयते । तच पूर्वंरूपं द्विविधं— 'एकं भाविन्याध्यव्यक्तलिङ्गम्, यद्क्तम्—"अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्व्वरूपमिति स्मृतम् इति, तथा 'पूर्व्वरूपं, लिङ्गमन्यक्तमल्पत्वाद् व्याधीनां तद्यथायथम्' इति । द्वितीयन्तु—दोप-दूष्यसंमूर्च्छनाजन्यमन्यक्तलिङ्गादन्यदेव, यथा—ज्वरे वालप्रद्वेपमहर्पादि । न ह्योतत् पूर्व्वरूपं ज्वरावस्थायां नियमेन व्यक्तं भवति, किन्तु ज्वरपृद्वंकाल एव । यत्र तु व्यक्तं भवति स चासाध्यो मतः । अत एवेवंभृतपृर्व्वरूपाभिष्ठायेणैव अरिष्टे वक्ष्यति,—"पूर्व्वरूपाणि सर्व्वाणि विशेषपेणानधिष्टित इति विशेषणानर्थक्यम् । दोषविशेषाष्टितो हि उत्पद्य-मानो न्याधिरुत्पन्नश्च न्याधिर्न च स उत्पितसः। दोपविशेषेणान-धिष्टित आतङ्को येन लक्ष्यते तत् पृट्वेरूपमिति वा भवतु व्यथं-मुत्पित्सुरिति विशेषणम् । तस्मात् असाधु चैतत्—तत्प्राग्रूपं येन लक्ष्यते । उत्-पित्सुरामयो दोप-विशेषणानिधिष्ठित इति । अत्र यदुग्रन्यते दोपविशेषण अन-थिष्टित इति दोप-विशेषवातादिजन्यासाधारणवेपथ्वादिना लक्षणेनानिधिष्टित तद्प्यसाध् । दोपविशेषवातादिजन्यासाधारणवेषध्वादिनाधिष्टितो । यो वातादिजातः स खलु नोत्पित्सुर्व्याधिरुत्पन्नो व्याधिर्ह नोत्पितसुः भवतीति । एवं यदुच्यते विशिष्टपूट्येरूपम् — लिङ्गम् च्यक्तपरुपसाद्राधीनां, तद् यथायथमिति, तद्प्यसाधु, अनार्पसाद्यौक्तिकसाच। अल्पलाद् हि अन्यक्तं लिङ्गमुत्पचमानस्यैव न्याधेर्भवति न भविष्यतो न्याधेः। पूर्वस्प् वयाधेः इति किं व्याध्युत्पत्तेः पूर्व्यं यद्भुपं तत् पूर्व्यरूपम् १ अथ किम्रुत्पन्नाद्द्राधेः पूर्वं यद्र्षं तत् पूर्वेरूपमिति ? तत्रोत्पद्यमानस्य यद्र्षं तन्नोत्पत्तेः पूर्वं किन्त उत्पत्तिसमानकालम्। अथोत्पन्नात् पूर्व्विमिति चेत् ? तदा चरकाद्यपिवचन-विरुद्धं, चरकेणोक्तं हि पूर्विरूपं पागुन्पत्तिलक्षणं व्याधेरिति न तु पागुत्पनन-लक्षणित्युक्तम् । सुश्रूतेनाप्युक्तमातुरोपक्रमणीयेऽध्याये । यो भविष्यद्र्याधि-ख्यापकः स पूर्वेरूपसंज इति । उत्पद्यमानस्यालपलाद्व्यक्तलक्षणस्य ख्यापकं लिङ्गं न भविष्यद्वप्राधिख्यापकमिति। पराशरेणाष्युक्तं-पृत्वेरूपं नाम तत्। भावी ब्याधिविशेषो लक्ष्यते, न तु दोपविशेष इति। कश्चिद्विपतिपद्यते। नसु दोपविशेप इति वचनानर्थवयम् ; सुश्रुते हुरक्तं—सामान्यतो विज्ञेपात् तु जुम्भात्यर्थं समीरणात्। नयनयोदीहः कफान्नान्नाभिन्दनमिति, सत्यमेतत्। पराशरेण येन भाविन्याधिविशेषो लक्ष्यत इत्येतन्मात्रेणैव वचनेन सिध्यति भान्येव व्याधिविशेषो ज्वरादिलें ध्यते इति भाविपदेन भविष्यद्वत्तंमानोभयव्याधि-

उवरोक्तान्यितमात्रया। यं विश्वान्ति विश्वारयेनं मृत्युर्ज्वरपुरःसरः॥" इति। तथा "अन्यस्यापि च रोगस्य पूर्व्वरूपाणि यं नरम्। विश्वान्त्यनेन करुपेन तस्यापि मरणं भ्रुवम्॥" इति। एतिहः अन्यक्तलक्षणपूर्व्वरूपाभित्रायेण। वचनं हि—तदा सर्व्यज्वराणामसाध्यत्वं स्यात्, यदा पूर्व्व-रूपावस्थायामन्यकानि लक्षणानि ज्वरे जाते न्यक्तानि सर्व्वीण सर्व्वत्रैव भवन्ति। तस्मात् पूर्व्यरूपावस्थाप्रतिनियतपृर्वेरूपाभित्रायेणैवेतव् वचनम्। अन्यक्तता च लक्षणानामियमेव, यद्रुपत्वेन स्फुटरवम्। यत् तृ पूर्व्यरूपं दोषदूष्यसंमूर्ण्यनावस्यानियतम्, तव् व्याधिमादस्य

योधकानां निदानोपशयादीनां व्याद्यतेः, व्याधिविशेष इतिषदेन चय-मकोपमसरलक्षणानां ज्याद्यतेश्व। ज्याचिपदेन भावी दोपाणां सामान्य-ग्रुतान्त्यभूतोभयविशेषो च्याष्ट्रतौ मसज्यते। अत्रान्त्यविशेषच्याब्रूत्तर्थभूक्तं न तु दोपविशेष इति। येन भावी दोपाणामन्त्यविशेषो न लक्ष्यते भावी व्याधि-विशंषो लक्ष्यते तत् पूर्वेरूपनित्ययः। सामान्यं द्विया विशेषश्च द्विधा, सन्वे-सामान्यं यथा सत्ता, विशेषसामान्यं यथा द्रव्यतं गुणतं कम्पेतञ्च । सत्तापेक्ष-'निशेषश्च । तत्त्वमन्त्यनिशेषः । तथैव वातादेव्रक्षैकटोपोऽन्त्यविशेषः । ं।श्रुतेनोक्तं—सामान्यतो विशेषात् स्तितः, तन् सर्व्यसामान्यानि अपादीनि शुन्वंरूपाणि ज्वरस्य ततो विशेषात् तु सामान्यभूतविशेषा श्रमादिषु या जुम्भा रा चेद्रयर्थं तदा समीरणादिनि केवलवाताहाताधिकवातिपत्ताहा अधिकवात-🚣 फाद्वाताधिकसन्निपाताच । एवष् इच्छा हे पो मुहुश्चापि शीतवातातपादिषु इत्यनेन यो दाह उक्तः स चेन्नयनयोरत्यर्थं स्यात् तदा स पित्तात्, केवल-रित्तात्रः पित्ताधिकवातपित्तात् पित्ताधिकककपित्तात् पित्ताधिकसन्निपाताच भवति। तथा अमादिषु याऽरुचिरुक्ता सा चेद्रयर्थं भवति तदा कफात क्षेत्रहरूकात् ककाधिकवातकफात् कफाधिकपित्तकफात् कफाधिकसन्नि-'गताच्चेति सामान्यभूतविशेपादन्त्यभूतविशेपाच्च। ततोऽन्त्यभूतो भावी 'ग्रोपविशेषो न लक्ष्यते इति । द्विविधं सामान्यं सर्व्वसामान्यं तदपेक्षविशेष-सामान्यमिति। विशेष-सामान्यपूर्विक्षमत्यथज्मभादिकं न त्वन्त्यविशेष-पूर्व्यरूपमिति न पराशरव चनविरोधः। सुश्रुतेनापि ज्वरचिकित्सिते ज्वरपूर्व्य-रूपचिकित्सोक्ता। ज्वरस्य पूर्व्वरूपेषु वर्त्तमानेषु बुद्धिमान्। पाययेत घृतं बच्चं ततः स लभते सुखम्। विधिर्मारुतजेप्वेप पैत्तिकेषु विरेचनम्। मृद् ाच्छईनं तद्दन् कफजेषु विधीयते। सर्व्यं त्रिदोपजेपूक्तं यथादोपं विकलपयेत। अस्नेहनीयोऽशोध्यश्च संयोज्यो लङ्घनादिना। रूपपाग्रूपयोविद्यान्नानात्वं रिहिधूमवत्। इति । अत्र मारुतजेषु पैत्तिकेप कफजेष्विति वहुवचनार् वातज-

गंमकम्, न तदृदोपिवशेपगमकम् । एतत् पूर्व्वरूपाभिष्रायेण च वाग्भटेऽप्युक्तम् ; यथा— प्राग्नूपं येन रुक्ष्यते । उत्पित्सुरामयो दोपिवशेपेणानिष्ठितः" इति । यत् तु अन्यक्तरिङ्गं पूर्व्वरूपम्, तद्दोपदूष्यावशेपमि न्याधेर्गमयित, यद्क्तं हारीते—"इति पूर्वरूपमधानां ज्वराणां सामान्यतो, विशेपतस्तु जुम्भाङ्गमर्दभूयिष्टं हृदयोद्दोगि वातजम्" इत्यादि । तथा सुश्रुते-ऽप्युक्तम्—"सामान्यतो विशेपात् तु जुम्भात्यर्थं समीरणात् । पित्तान्नयनयोदीहः कृषान्नान्नाभि- वाताधिकवातिपत्तजादिष्वित्युक्तम्। तत्र पूर्विरूपेषु वर्त्तमानेषु न लतीते स्वच्छघृतपानादिभिर्विरकारिदोपनाञ्चात् दोपजश्रमादिनाञः स्यात् तेन च दृः संयोगोऽपि न दोपेण भवतीत्यतो न ज्वरो भविष्यतीति। भविष्यज्ज्वररः पीयं पूर्विरूपचिकित्सया चिकित्सा भवति, इत्यभिमायेण कतिधापुरुपीः ऽष्युक्तम्। पूर्वेरूपं विकाराणां दृष्टा प्रादुर्भविष्यताम्। या क्रिया क्रियते र च वेदनां हन्त्यनागताम्।। इति द्विधेव सामान्यपूर्व्वरूपमिति।

अथ दूष्यसंयोगे दोपाणां यथा यथा न्याधिर्मायते तत् सन्वे पतिरो सम्प्राप्तौ बक्ष्यते। तत्र दोपाणागरपतात् तत्तद्वप्राध्यारम्भसमाप्तिपय्येः यद् यह्रक्षणं तत् सर्विभव्यक्तं स्वरूपस्पतात्। यथा गर्भे वालक्य लक्षणमिति। लिङ्गमन्यक्तमलपलाद् न्यायीनां तद् यथायथमिति विकि पाग्रुपम्। तदेव व्यक्तनां यातं रूपिन्यभिधीयते। यत उक्तं चरकु क्षतक्षीणे। अन्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्विरूपिनित समृतिमिति चेत् ? ने ज्वरादीनां सामान्यजानां व्याधीनां खखलक्षणातिरिक्तमस्ति पूर्वेरु क्षतक्षीणस्य तु खल्वेकविधस्य प्रभेदहीनलात् नास्ति खलक्षणातिरिः पूर्व्यक्षं, तेन लक्षणातिदेशेन संक्षेपोत्तयर्थमुक्तम् । अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर् रूपमिति समृतमिति, यदेव क्षतक्षीणस्योत्पन्नस्य लक्षणं तदेव दोपदूष्य संयोगात् पूर्व्वमिप चाव्यक्तरूपेण भवति तदस्य पूर्वेरूपं न तु दोपदृष्द संमूर्चनावस्थायामन्यक्तं यत् तत् पूर्विरूपम् उत्पत्तेः समकालिकत्वेन पूच्च लाभावादिति, तस्मात् तत्प्रमाणतो दोपदूष्यसंमूच्छनावस्थातः पूच्च मन्येपां व्याधीनां व्यरादीनां अमादिवदव्यक्तस्वलक्षणातिरिक्तलक्षणं नारित च ज्वरादीनां क्षतक्षीणस्य दोपदृष्यसंमूच्छन्।वस्थातः पूर्वमन्यक्तलक्षणाह अन्यक्तस्व उक्षणं स्वस्व लक्षणाति रिक्त श्रमादि पूर्व रूपाणा मुक्त लादि ति । तस्मा दनार्षमयौक्तिकञ्च तद् यदुक्तं लिङ्गभव्यक्तमल्पलाद्रप्राधीनां तद् यथायथमितिः पाय पम् । तत् त सम्पाप्तयवस्थाजातं लक्षणं गर्भस्थवालस्याकृतिवत्

नन्दनम्॥" इति । एति एर्विङ् पूर्वेरूपं भाविज्वरिङ्किमेवाञ्यक्तमरुपत्वेन होयम् । ज्यक्ते हि ज्वर्वे वातादिजे जुम्भादयः पूर्वेरूपापेक्षया भत्यर्थं भवान्त । एवं पूर्वेरूपहे विध्ये यत्र विशिष्टं पूर्वेरूपमित, तत्र साक्षादेवाभिधीयते, यत्र विशिष्टन्तु नास्ति, तत्र लिङ्गमात्रं वक्ष्यति ; तेन अञ्चक्तान्येव लिङ्गानि पूर्वेरूपमिति तत्र ज्ञातन्यम् । प्रादुर्भू तलच्गां पुनिलेङ्गमाकृतिर्लच्गां चिह्नं संस्थानं व्यक्षनं रूपमित्यनर्थान्तरिन्यस्मिन्नर्थे।

अथ तहिं किं तद् न्यक्तं लिहं न्याधे रूपं नेत्याह-मादु-र्भू तेत्यादि । पादुर्भू तलक्षणं पुनलिङ्गिमिति । पादुर्भू तस्योत्पन्नस्य व्याधेः यहः अणं तद्वराधेलिङ्गं न त भविष्यतो भवतो वा न्याधेरिति। शादुभू तपदस्थ-भूतार्थेनिष्टापत्ययेन भाविभवद्वप्राधेलेक्षणनिदानोपशयसम्प्राप्तीनां व्याष्ट्रिः क़ुता। उत्पन्नस्य च व्याघेसिंहं न सर्व्यं व्यक्तं भवति किश्चित् तु व्यक्तं किश्चि-चान्यक्तम् । यथा जातस्य वालकस्य पाणिपादादिकं सन्वेमक्नं न्यक्तं रमश्रुदन्त-लोमविशेपशुकादिकमन्यक्तं वालायाः स्तनार्त्तेवादिकमिति । उक्तश्च श्वासाधि-.कारे—स साध्य उक्तो वलिनः सर्व्य चान्यक्तलक्षणा इति । अत्रान्यक्तलक्षणा ,जायमाना एव जातानां व्यक्ताव्यक्तलक्षणलात् । तस्मात् तदेव व्यक्ततां यातं रूपित्यभिधीयते इति यदुक्तं तद्साधु। व्याधेः खरूपं यहाक्षणं तदिप लिङ्गं, यथा पड़ङ्गः पुरुप तस्यैकैकमङ्गं लिङ्गं, तथा सन्तापलक्षणो ज्वरः, मांसाङ्क रलक्षणमञ्जेः, प्रन्थिविशेपरूपो गुल्मः, न चात्माश्रयदोपः । स्क्ष्मशरीरी हि पुरुरो यथा देवनरतिर्ध्यग्योनिषु जायमानः पड्झलक्षणो जायते तत्-पहङ्गिनानुमीयतेऽयं देवोऽयं मनुष्योऽयं पशुरिति ; एवमेव मृत्युक्तन्यारोदनात् यावन्तोऽश्रुविन्द्वोऽपतन् पाक्काले तावन्त एव रोगाख्या अभवन् तेपामेक्षैक एव विन्दुरेकैकव्याधिरभूत्-कश्चित् ज्वरः कश्चिद्रक्तपित्ताख्यः कश्चित् यक्ष्मेत्येवमादिः, तेपां ज्वरो दक्षाध्वरध्वंसे जातस्य वीरभद्रस्यैकस्य शिवा-बया तिस्रो मूर्चयः खरूपरूपेण प्रथमगणपतिवीरभद्र एव द्वितीया मृत्तिः भूमिसम्भवा मङ्गलग्रहात्मिका तृतीया मूर्त्तिः लोके ज्वरः। स प्राणिनां जन्म-

लक्षणमाह—प्राद्धभू तेत्यादि । उत्पन्नव्याधेः स्वरूपं तथा वाताचामपक्वादिविशेषण-विशिष्टं व्याधिं निदानोपशयसंप्राप्तिव्यतिरिक्तं यद् वोधयित तिल्लङ्गम् । अनेन च ग्याधिप्रतिनियतं लिङ्गम्, यथा ज्वरस्य सन्तापः, तथा अतिसरणमतीसारस्थेत्यादि गृद्धते । तथा वातादिकृतञ्च वातादिज्वरस्य विपमारम्भविसिर्गित्वादि गृद्धते । तथा आमपकजीर्णज्वर-लक्षणादीनि विशिष्टव्याधिबोधकानि गृद्धन्ते । तथा उपद्ववाश्चासाध्यताद्यवस्थापत्रव्याधि-बोधकरवेन लक्षणान्येव । रिष्टन्तु मरणस्य पूर्व्यस्पमेव । निदानाद्यस्तु यद्यपि उत्पन्नव्याधि-गामका अपि भवन्ति, तथापि प्रथान्त्रक्षणनिर्देशात्र ते इद्द लिङ्गशब्देनोच्यन्ते । व्यवहारार्थं तथा लक्षणार्थेश्च पद्यशिनाह—तत्र लिङ्गिनत्यादि । अस्मिन्नर्थेऽनर्थान्तरमिति लिङ्गलक्षणे-

[ज्वरनिदानम्

मात्रे महामोहरूपः मरणकाले तमोरूपः मध्ये सन्तापलक्षणः। इति खरूप-लक्षणमि लिङ्गं न चात्माश्रयो दोषः। एवं प्राग्भूतरक्तिपित्तादयोऽपि लोके-ऽपचारादिना जायमाना यथास्त्रलक्षणा जायन्ते। तेषाश्चापरे व्याधयो ये लिङ्गानि ते तद्व्याधिवोधने तु न न्याधयः पृथग्भूता यदा तदा पृथगेव न्याधयः। वक्ष्यतेऽत्रैव। ज्ञानार्थं यानि चोक्तानि न्याधिलिङ्गानि संग्रहे। न्याध्यररे तदात्वे हि लिङ्गानीष्टानि नामयाः। इति । प्रमादिनः केचिदाहुः। पूर्व्वरूपाि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया। यं विशन्ति विशत्येनं मृत्युज्वरपुरःसरः। अन्यस्यापि च रोगस्य पूर्वेरूपाणि यं नरम्। विश्वन्त्यनेन कल्पेन तस्यापि मरणं ध्रुवम्, इत्यनेन चरकवचनेन पूर्व्यरूपानुग्रत्तिरुत्पन्ने च न्याधौ भवतीति तदसाधु। तत्प्ववेरूपाणि हि सन्वीणि यस्य स्युस्तस्य मरणं स्यादुत्पन्ने व्याघी यं विशन्तीत्येवमुक्तिने कृता, कथं तथा व्याचक्षते इति। उपद्रवास्तु किन्तृत्पन्नच्याध्यारस्भकदोपप्रकोपाज्जातोऽन्यो नोत्पन्नव्याधिलक्षणानि । व्याधिः। सुश्रुतेनोक्तं-यः पूर्वोत्पन्नं व्याधिं जवन्यजातव्याधिरुपस्जति स तन्मूल उपद्रवसंब इति। अत्र स तन्मूल इति तन्मूलं मूलं यस्येति तन्मूळः। तद्व्याधेर्यन्मूळमारम्भको दोषः अपचारादिना भूयः प्रकुपितः स दोष-स्तस्य मूळं तं व्याधिं जनयतीत्याहुरेके। तत्रापरे चाहुः। अत्र जिज्ञास्यं, यो दोपो द्ष्यसंयोगेन विक्रियमाणो यद्याधिरूपेण जायते, स किं कात्स्न्येनैकदेशेन वा १ यदि कात्स्न्येन मृदादिर्यथा घटादिरूपेण जायते तथा दोषो न्याधिरूपेण जायते, तदा तद्व्याध्यारस्भकदोषः पृथङ् न वत्तेते, कः पुनरपचारादिना प्रकृपित उपद्भवं कुट्यति ? अथ चेदेकदेश उपद्भवं करोत्येकदेशो व्याधिरूपेण जायत इति तहिं स एकदेशो न व्याधेमू लं, कथं तन्मूलं मूलं यस्येति सिध्यति १ तस्मात् स पन्वीत्पन्नो न्याधिम् छं यस्य स तन्मूल इति।

द्विंदिभधेयेद्रनर्थान्तरम् । प्रकरणान्तरे तु अर्थान्तरेद्वि छिङ्गादयो भवान्त, यथा—"वर्छी छिङ्गाद्वित्तेया सुपमा विपमा च या" तथा "संस्थानमाकृतिर्ज्ञेया सुपमा विपमा च या" तथा "लक्षणवच्चोदाहरणवच्च" तथा "तेलसिपिभ्यां व्यक्षनमुपकरपयेत्," तथा 'रूपस्य सम्बस्य च सन्तिर्वियां हत्यादी । ननु यथेह "अस्मिन्नर्थे" इत्युक्तम्, तथा हेतुव्याधिसम्प्राप्तिपर्यायानिधानेद्वित्त "अस्मिन्नर्थे" इति वक्तव्यम् ननु हेतुपर्यायाभिधाने तावत् "इह खलु" इत्यनेनैधा तद्यं उक्त एव । सम्प्राप्तिपर्यायकथने च "व्याधेः" इति पदेन 'अस्मिन्नर्थे' इति व कृतम् ; अयद्य भाचार्याभिप्रायः—यक्-यद्यत्रान्यार्थतां शब्दस्य पर्यति, तन्नेव 'अस्मिन्नर्थे' इति करोति । तथा भाचार्याभिप्रायः—यक्-यद्यत्रान्यार्थतां शब्दस्य पर्यति, तन्नेव 'अस्मिन्नर्थे' इति करोति । तथा

कृपितो दोपो व्याधिरूपेण जायते तत्कारणेन सेव्यमानेन पूनः स व्याधिः अथोभ्यवलो हुप्रपद्भवं करोति । ततो वा तन्मूलं मूलं यस्येति स तन्मूल इति । अम्लम्तया तन्मूलो भवतु न्याधिकृत एवोपद्रवो न न्याधिलक्षणम्। विह्नकार्य्य अग्निष्टु विहिल्किः तद्वत् पृत्योत्पन्नन्याधिकृतो न्याधिर्न कथं लिङ्गं लक्षणताभावान्न पूर्वोत्पन्नव्याधेलिङ्गं तद्व्याधिकृतो व्याधिः। मद्यश्च । तत् तस्य भवति, व्यक्ताव्यक्तयद्रपापन्नः सन् य उत्पन्नो भवति तत्त-सम्यान्त्रव्यक्तरूपं तस्य छक्षणं तत्तद्व्याधेलिङ्गिमिति। न हि पितु पुत्रो छक्षणं ें न वा धूमो वह रिति। किन्तु कार्ट्य कार्ट्यण लिङ्गेनानुमीयते, यथा विहः तथोपद्रवेणानुमीयते च्याधिर्वलवान् कप्रसाध्योऽसाध्यो वा, न चानुमीयते वाताचात्मक इति । कप्टसाध्यतादौ व्याघेलिङ्गं न तु व्याधेर्लक्षणं लिङ्गमिति । व्याधिस्त यथा स्वाधिकारे वक्ष्यमाणसन्तापादिलक्षणः स्वरूपतो ज्वरादियेथा गलकम्बलादिलक्षणः खरूपतो गवादिः स शुक्तोऽब्बहुलस्तेजोबहुलो लोहितः इयावो वायुवहुल इति । एवमेव ससन्तापादिलक्षणो ज्वरादिवेपथ्वादिलक्षणो वातात्मकः तीक्ष्णवेगादिलक्षणः पित्तात्मकः स्तैमित्यादिलक्षणः कफात्मक इति । समुदायात्मको व्यायिः प्रत्येकं तस्य लक्षणम् । समुदायात् पृथक् समुदायी । यथा खदिरवणं देवदारुवणमित्येवमादयः। तत्रापि वनाधिष्टाता कश्चिद् भावो वनं तस्य लक्षणं प्रत्येकं दृक्षः। यथा च कालः पड्तुकः पड्क्रस्तत्राधिष्ठाता कलनलक्षणः कश्चिट् भावस्तस्य लक्षणं शीतोष्णवर्षं तत्तल्लक्षणा ऋतवः पट्च लक्षणानि । यथा च पर्वितस्तत्राधिष्टितः कश्चिर् भावस्तस्य लक्षणं पस्तर-तरुंठतादिकम्। एवं मांसाङ्क रादिकमर्शोव्याधिः खरूपतो भवत्यस्य लक्षणं कृष्णतङ्नखादिकं तत्समुदायात्मकमशं इति।

अथैतच्छास्त्रे व्यवहारार्थं लिङ्गस्य पर्यायानाह—आकृतिरित्यादि। अनर्थान्तरमिति। योऽथौ लिङ्गशव्दस्य स एवार्थ आकृतिशव्दस्य स चार्थो लिङ्गशव्दस्य स एवार्थ आकृतिशव्दस्य स चार्थो लिङ्गणशव्दस्य स एवार्थ अहिं तर्थानशव्दस्य स एवार्थः सोऽर्थश्च व्यञ्जनशव्दस्य रूपशव्दस्य च स एवार्थः इत्येकोऽर्थो लिङ्गादिशव्दानां न लर्थान्तरमिति। कथमिति चेत् १ (समवेतानां पुनर्दोपाणामंशांशविकल्पो विकल्पोऽस्मित्रर्थे इति। 'विकल्प'शव्दो खन्यशापि वर्तते, यथा—"अन्येश्च विकल्पैविकल्पितानाम्," तथा "विकल्पो न त्वसाध्यानाम्" इत्यादि। नमु पूर्व्वरूपोपशययोः किमिति पर्यायानभिधानम् १ स्रूमः, पूर्व्वरूपस्य तावत् पर्यायाभि-धानम्, वदेव हपस्य तदेव; दतः हपाद्य एव हि (पूर्वः शव्दहुनाः पूर्व्हर्पपथ्यीय।

उपश्यः पुनर्हेतुच्याधिविपरीतानां विपरीतार्थकारिगाङ्ग्^त-श्रोषधाहारविहाराणामुपयोगः सुखानुवन्धः ।

लिङ्गाते पादुर्भुतो भावः स्वरूपतो ज्ञायतेऽनेनेति लिङ्गं न लस्य्याधयः। येन तदिह लिङ्गं, एवम् आक्रियते घायतेऽनेनेत्याकृतिः, शायतेऽनेनेति लक्षणं, चिह्नप्रते वायतेऽनेनेति चिह्नं, संस्थीयते शायतेऽर्द्ह्याि संस्थानं, व्यज्यते बायतेऽनेनेति व्यञ्जनं, रूप्यते बायतेऽनेनेति रूसरः। इति । छक्ष्यते अनेनेति सामान्यतो जानकरणे ऽपि छक्षणशब्दो वर्तते इति ज्ञापनार्थं लक्षणे लक्षणशन्दोपादानं कृतस्। यो यथारूपो ज्ञायते येन तस्य तल्लक्षणिमति तस्याप्येकाथेमाकृत्यादिकमिति द्वाधकत्वख्यापनार्थं लक्षणशब्दः पुनर्लिङ्गपर्याये गृहीतः। व्याधेर्धानं त्रिविधं कस्यचित् प्रक्तेन कस्यचित भत्यक्षेण कस्यचिद्तुमानेन। अरोचकादौ मुखरसो जायते पृष्टेनोक्तमित-तदुपदेंशेऽन्तभू तम्। दाहादौ स्पर्शनेन्द्रियादिना प्रत्यक्षम्। ज्वरादिषानं सन्तापादिना लिङ्गेनानुमानमित्येवं त्रिविधवानकरणं लिङ्गमिति। तत्रादौ खरूपलक्षणेन खरूपतो न्याधिं शाला वातादिलिङ्गेन वातजला-दिकं जानाति ततः खरूपतो शातस्य वातादिलक्षणं न व्यभिचारि भवति। यस्य हि सन्तापलक्षणो ज्वरो जातो ज्ञातस्तस्य वेपथ्वादीनि लिङ्गानि तं ज्वरं वातजमेव शापयन्ति न लन्यं व्याधिं सन्तापलक्षणलाभावातः , एवं सर्व एव व्याधिः खरूपेण ज्ञातः प्रभेदलिङ्गेन च ज्ञायते नान्यो विज्ञायते खरूपिङ्गा-भावादिति। तस्मादिदं वक्ष्यमाणं न विरुद्धं भवति। लिङ्गमेकमनेकस्य तथैकस्यैकमुच्यते। वहून्येकस्य च व्याधेर्वहूनां स्युवेहूनि च।

अथोदेशक्रमेणोपशयमाह—उपशयः पुनिरत्यादि । हेतुव्याधिविपरीताना-मिति । हेतुश्र व्याधिश्चेत्यन्वाचये द्वन्द्वः । हेतुस्त्रिविध उक्तः—असात्म्येन्द्रियार्थ-संयोग-प्रज्ञापराध-परिणामभेदात् । न तु ज्वरादीनां दोपा दूप्याश्च । ते तूपदेशे तेषामुपदेशाभावात् । व्याधिश्च प्रागिहैवोक्तः । अतस्त्रिविधा व्याधयः प्रादुर्भवन्ति । आग्नेयाः सौष्या वायवयाश्च ; द्विविधाश्चापरे राजसास्तामसाश्चेति । तथा

गवन्ति । उपशयस्तु चिकित्सा, तस्यास्तु पर्य्यायाश्चिकित्सित एव स्वाधिकारत्वेन वक्तव्याः ।

उपशयमाह—उपशय इत्यादि । उपशमनसुपशयः सुखानुबन्ध इत्यर्थः । हेतुना, था न्याधिना, तथा हेतुन्याधिभ्याञ्च विपरीता हेतुन्याधिविपरीताः, तेपामीपधाहार- 3.,

ं निदानार्थकरो रोगझ्चेत्युक्तं तत् कृतो हेनुराभ्यन्तरो दोपद्ष्यात्मको-अयोभयः १ तस्मादाग्नेयाः पित्तवैषम्यं तहे पम्यनिमित्ताश्च ज्वरादयः । सौम्याः अम्लमामनं तद्देपम्यनिमित्ताश्च ज्वराद्यः। वायव्या वायुवैषम्यं तद्-अग्निप्लु^{ट्टे} ।रादयः । एपु इन्द्रसन्निपातजा अन्तर्भवन्ति । राजसा रजोग्रण-रुक्षाहारजााम्यनिमित्ताः कामादयथ । तामसास्तमोगुणवैपम्यं तद्दैपम्य-मद्यश्च । । हादयथ । एपु प्रजापराधना आगन्तवो ज्वरादयथान्तर्भवन्ति । सम्यन्त्रयामिति। यद्गुणक्रियो हेतुस्तद्गुणक्रियाविपरीतगुणक्रियावताम् श्रीपयानः तविहाराणाम् । यद्गुणक्रियो-व्याधिस्तद्गुणक्रियाविपरीतगुणक्रिया-ाताञ्चौपघान्नविहाराणाम्। यद्गुणिकयो हेतुव्याधी चोभौ तदुभयस्य ा तद्गुणक्रियाविषरीतगुणक्रियावतामीपयान्नविहाराणाम् । विषरीतार्थे गरिणामिति ओपधान्नविद्वाराणामित्यस्य विशेषणम् । तेनान्वाचये द्वन्द्वात्। बदौपर्य यचान्नं वा यो विहारो वा यदौपधान्नं ये चौपधान्नविहारा वा हेत्रविपरीता न भवन्ति व्याधिविपरीता वा न भवन्ति हेतुव्याध्योरुभयोवो विष रीता न भवन्ति भवति च हेतुविपरीतमीप्यं वान्नं वा विहारो वा यमथं तद्-व्याधिमश्मनं करोति तदर्थकारिणः स्वप्रभावेण तेपाश्चौपधान्नविहाराणाम् औपधस्य वान्नस्य वा विहारस्य वा द्वन्द्वस्य समुदायस्य वा सुखानु-वन्धः उपयोग उत्तरकालं सुखं वध्नाति य उपयोगः स उपशयः। अनुशब्देन आपाततः सुखकरं यन्नोत्तरकालं सुखं वध्नाति तदुपयोगो नोपशयः। यथा सदाहपिपासस्य नवज्वरिणः तत्कालप्रखकरं स्रुक्षीतलजलपानं नोत्तर-कार्छं सुखकरं तन्नोपश्यः। सुखमत्र सुखसंबक्षमात्भगुणविशेषः दुःख-निष्टत्तिः। यदा यथा दुःखं भवति तदा तदुःखनिष्टत्तिः। निःशेपा दुःख-निष्टत्तिस्तु मुक्तिः। औपधमुक्तं चतुष्पादं पोइशकलं युक्तियुक्तं भेपजमिति। तेषु चतुर्षु पादेषु द्रव्यपाद इहौपधं तत्र देशकालयोरप्यन्तर्भावः। तत्र देशा जाङ्गलानूपसाधारणभेदाः। तत्र शीतदेशे जातस्य न्याधेरुष्णदेशेऽवस्थानम् उप्णदेशे जातस्य शीतलदेशेऽवस्थानमित्येवमुपयोगः। एवं कालस्यापि, यत्-

विहाराणाम् । तथा हेतुन्याधिविपरीतार्थकारिणाञ्चोपधाननविहाराणाम् । सुखानुबन्ध इति सुखरूपोऽनुबन्धः । अनुबन्धश्च सुखकराणामित्यर्थः । अयञ्चोपशयो गृङ्खिङ्गे च न्याधो शानोपायो भवति । यदकम् — "गृङ्खिङ्गे न्याधिमुपशयानुशयाभ्यां परीक्षेत" । वक्ष्मित च गुल्मे— "स्नेहोष्णमईनाभ्याञ्च प्रणश्येत् स च वातिकः" । तत्र विपरीतार्थकारि तदेवोच्यते, यदविपरीततया आपाततः प्रतीयमानं विपरीतस्थार्थं प्रशमरुक्षणं करोति । अत्रोदाहरणानि

काले जातो यो व्याधिस्तत्कालविपरीतगुणकालोपयोगः। शीतेनोप्णकृतान् रोगान् शमयन्ति भिपश्विदः। ये च शीतकृता रोष्ट्रिस्प-मुष्णं भिषग्जितम् ॥ अमजे अमहरं द्राक्षादिदशकप् । अमजाया/पि लोके-अमजे ज्वरे वा रसौदनः। इत्यन्तम्। स्निग्यदिवानिद्राजार्युव्याथयो ये तज्जेच ज्वरे रात्रिजागरणं रुक्षं दिवानिद्राविपरीतम् । इति विहार्हं व्याधयः । हेतुविपरीता ओपधान्नविहासः। व्याधिविपरीतमीपर्यं यथा—रेन्याधयरो वातरुद्धौ स्तिग्यं भद्रदार्चादिकम्। अतीसारे स्तम्भनं पाटादिर्भेहपारि शिरीपः। कुप्ठे खदिरः। प्रमेहे हरिद्रा। तृष्णाञ्चादिकं दशकं रिक्षाः। च्याधिविपरीतमन्नं यथा। रौक्ष्यगुणतो वायुग्रद्धौ स्निग्धं घृतादिकेम् अतीसारे स्तम्भनं मसुरयपादि। व्याधिविपरीतविहारस्त वातरुद्धौ दिवानिद्रा। उदावर्चे प्रवाहणम्। उभयविपरीतमौपधं यथा-शीतगुणतो रुद्धवातशोथं दशमूलमुरणं शीतहेतुविपरीतं वातशोथविपरीतश्च यथा-शीतनिमित्तरृद्धवातजे ज्वरे जभयविपरीतमन्नं । ज्वरह्नी च। ज्वरह्नी ज्वरसात्म्यलादित्युक्तम्। उभयविपरीतो विहारो यथा— स्तिग्घदिवास्यप्नजायां कफदृद्धौ तज्जायां तन्द्रायाश्च तदुभयविपरीतं रात्रि-जागरणम्। अथ हेतुविपरीतार्थकारि औपर्धं यथा—कटुरसातियोगजनिते शुक्रक्षये दृष्यं विष्पलीशुण्ठप्रादिकं, वित्तप्रधाने पच्यमानव्रणशोधे वित्तकर उप्ण उपलेपश्च। हेतुविपरीतार्थकार्य्यन्नं यथा-रुक्षाहारातियोगजे शुक्र-क्षये रुक्षः पुराणगोधुमो दृष्यः, वित्तप्रधाने पच्यमानत्रणशोथे चान्नं विदाहि द्रव्यम् । उभयविषरीताथेकारी विहारो यथा-भयजायां वातरृद्धौ भयजे च ज्वरे कामः। कामजे वा ज्वरे शोकः क्रोधश्च। भयजे वातोन्मादे त्रासनम्। अथ व्याधिविपरीतार्थकारि चौपयं यथा—वातजे रुद्धिसंबरोगे शुष्ठप्रादिकं यावचौपधं तन्त्रेषु प्रोक्तं, छद्देशं वमनकरं मदनफलादिकम्। व्याधि-विपरीतार्थकारि चान्नं यथा-कफट्राद्धिजे प्रमेहे पुराणा मधुयवगोधूमाः, वातातीसारे रेचनार्थं क्षीरम्। व्याधिविपरीतार्थकारी विहारस्तु—सस्नेह-स्त्रिग्धे दिवास्वप्नः, छदेंग्रां वमनाथे प्रवाहणश्च। पित्तदृद्धिजाते क्रिस्यन्ते—हेतुविपरीतमीपधं, यथा—शीतकफज्वरे शुण्ळादुपणं भेपजम्। हेतुविपरीतमन्तं, यथा—श्रमानिलजे ज्वरे रसौदनः। हेतुविपरीतो विहारः, यथा—दिवास्वप्नोध्यक्षफे रात्रौ जागरणम् । व्याधिविपरीतमोपधं, यथा-अतिसारे स्तम्भनं पाठादि । व्याधिविपरीतमन्नं, यथा- इ.तीसारे स्त्रमनं मसूरादि। व्याधिविपरीतो विहारः, यथा- उदावर्ते प्रवाहणम्।

चौपर्यं यथा। कटुम्लोप्णाहारात पित्तरृद्धौ अथोभयविपरीतार्थकारि जाङ्गमविपे मौलविषं मौले जाङ्गमम्। पित्तहरम्। अग्निष्टुप्टे चोष्णोऽगुर्व्वादिलेषः। उभयःविषरीतार्थकारि चान्नं यथा - तीक्ष्ण-रुक्षाहारजाते पित्तरोगे मन्दं स्निग्धं घृतम्। मद्यपानोत्थे मदात्यये मदकारणं मद्यश्च। उभयविषरीतार्थकारी विहारस्त्र-व्यायामातियोगजे दृद्धे वाते तथातिच्यायामज चोरुस्तम्भे जलप्रतरणं स्थलाक्रमणञ्च सम्बन्धायामः। वधानः वक्ष्यते च रसविमाने। तत्र खल्वनेकरसेषु द्रव्येष्वनेकदोषात्म-केषु विकारेषु रसदोपप्रभावमेकैक इयेना भिसमी क्ष्य ततो द्रव्यविकारप्रभावतत्त्वं व्यवस्येत्। न लेवं खळु सर्व्यंत्र। न हि विकृतिविषमसमवेतानां नानात्म-कानां परस्परेण चोपहतप्रकृतिकानामन्येश्च विकल्पनैविकल्पितानामवयव-प्रभावानमानेन समुदायप्रभावतत्त्वमध्यवसात् शक्यम् । तथायुक्ते हि समुदाये समुदायमभावतत्त्वमेत्रोपलभ्य ततो द्रव्यविकारमभावतत्त्वं व्यवसेत्। ततो द्रव्यं प्रयुद्धीतेति। अत्र जिज्ञास्यं, हेत्यंदि असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगप्रज्ञाप-राधपरिणामा एवेति त्रिविधो भवति तत उत्पन्ने च्याधौ चिकित्सार्थ हेतु-विपरीतविपरीतार्थेकारिणामौपधादीनाम्यपयोगवचनं व्यर्थं भवति, ह्यस्पन्ने निदानानामसञ्ज्ञावात्। नैवं प्राणिनामध्यवहृतमाहारजातं जाठरेण अग्निना पक् इन्नेष्मादिभिः सहेकीभूतं इन्नेष्मादिधातुरूपेणाभिनिष्पद्यते, ततः इलेब्मादयो धातवस्त छेतुस्वभावा भवन्ति समाः सम्यग्योगेन विषमा-ततुस्त्रमावप्रशमार्थं तद्धेतुविपरीतार्थकारिणामौपधादीनाम् विषमयोगेण उपयोग इति न तद्वचनानर्थक्यम्। ये च व्याचक्षते—दोपा दृष्याश्च व्याधीनां हेतव इति दोषविपरीतार्थकारिणामीपधाननविहाराणां सुखानु-वन्ध उपयोगोऽप्युपश्यः। व्याधयो ज्वरादयस्तेषां विपरीतविपरीताथ-कारिणामौषधान्नविहाराणां सुखान्नवन्ध उपयोगश्चोपशयः। दोषच्याध्यः भयविपरीतविपरीतार्थकारिणामौपधान्नविहाराणां सुखान्चवन्धः उपयोगश्च उपशय इति। तत्र यत् तु ज्वरादिन्याधिहरं तदवश्यं दोपहरमन्यथा स रोगो हेतन्याधिविपरीतमोपधं, यथा—वातशोथे वातहरं शोथहरज्ञ दशमूलम् । हेतुन्याधिविपरीत-मन्नं, यथा-शीतोत्थज्वरे उष्णा ज्वरही यवागः । हेतुन्याधिविपरीतो विहारः, यथा- स्निर्ध-दिवास्त्रप्नजायां तन्द्रायां रुझं तन्द्राविपरीतं रात्रिजागरणम्। हेतुविपरीतार्थकारयो पूछं. यथा-पित्तप्रधाने पच्यमाने शोथे पित्तकर उष्ण उपनाहः । हेतुविपरीतार्थकार्य्यन्नं, यथा-पच्यमाने पित्तप्रधाने शोथे विदाखनम् । हेतुविपरीतार्थकारी विहारः, यथा—वातोन्मादे त्रासनम् ।

जित एव न स्यात् कारणताञ्चस्थ्यात्। दोषविपरीतादस्यायं भेदः। यद द्रव्यं दोषविपरीतं तन्नावरुयं व्याधिं हरति। यया वमनलङ्घने कफहरे कफगुल्मं न हरतः। उक्तं हि—कफे लङ्घनसाध्ये तु कर्त्तेरि ज्वरगुल्मयोः। तुल्येऽपि देशकालादौ लङ्घनं न च सम्मतम्।। तथा। न चामयेत् तैमिरिकं तन्नातिसङ्गतमित्यन्ये। दोषो हि तत्र समवायी न न न गुलिम्मिमिति। समवायिकारणाभावान्नियमेन कार्य्याभाव इति । यदि दोषो निमित्तकारण-मुच्यते किमर्थ तहिं वमनादिना दोषहरणं विधीयते न हि घटादेनिमित्तानां दण्डसूत्रकुलालादीनां विनाशो घटादिविनाशार्थं विधीयते। दोषो निमित्तकारणं यत् तु निमित्तकारणस्थायि कार्य्यं तन्निमित्तकारणा-भावादिष काय्येनाशो भवति, यथा वित्तेलविनाशात दीपनाशः पङ्कजलनाशात पङ्कजनाश इति। तस्माद्नियमात् समवायिनिमित्ताभावे कार्य्यनाश इति। असमवायिकारणाभावात् तु नियमेन कार्व्याभावः। यथा घटस्य कपाल-मालासंयोगस्यासमवायिकारणस्य नाजाद् घटनाजः। एवं रोगस्यापि सम्प्राप्तिलक्षणस्य संयोगस्यासमवायिकारणस्य व्याधिविपरीताचौषधादिना नाशाद विनाशः। दोषस्तत्र खर्थं निवत्तेते क्रियान्तरेण वा। यदि न्याधि-हरं यत तदवक्यं दोषहरं स्यात् तदा पुनरुभयविपरीताद् व्याधिविपरीतस्य भेदो दुरुपादः स्यादिति । इत्येवमुक्तम्भयमेवासाधु । तथा हि दश्येते । दिकं यदतीसारादिहरं न तद् दोषहरणपूच्चकिसति यदुक्तं तत् कथम्रपपन्नं दोषदूच्या हि संयुक्ता विक्रियमाणा ज्वरादिरूपेण जायन्ते। ततो ज्वरादयो न दोपदृष्यातिरिक्ता व्याधिहरणभेषजादिना तस्य नाशः स्यात् सुतरां विकृतदोषद्ष्यनाज्ञः स्यात् यतो दोषद्ष्यास्तत्र प्रकृतिभूतहेतवः सम-वायिन एव। यथा मृद्धालुकादिन्यतिरिक्तो न घटः। इति वाप्यचन्द्रवचनं साधु । दोषस्य हेतुशब्देनातुक्तलाद् व्याधिलेन ग्रहणात् । तत्र यदुक्तमन्यैः तन्नातियुक्तं यतस्तत्र दोषः समवायी निभित्तं वा। न च समवायिकारणा-ब्वाधिविपरीतार्थकारयौ पर्ध, यथा-छई्यां वमनकारकं मदनफलम्। ब्याधिविपरीतार्थ-कार्र्यन्नं, यथा—अतीसारे विरेककारकं क्षीरम्। उक्तं हि—"वहुदोपस्य दीप्ताग्नेः सप्राणस्य न तिष्ठति । पैत्तिको यद्यतीसारः पयसा तं विरेचयेत् ॥" इति । व्याधिविपरीतार्थकारी विहारो यथा—छईनां छिईसाध्यायां वमनार्थं प्रवाहणम्। हेतुन्याधिविपरीतार्थकारयो पधं, यथा— े अग्निना प्लुप्टेऽगुर्व्वादिना लेपः । उप्णं हि हेतावग्नौ व्याधौ चानुगुणं प्रतिभाति । हेतुन्याधि-विपरीतार्थकार्यन्नं, यथा-मद्यपानीत्थे सदात्यये मद्युक्ते मद्कारकं मद्यम् । हेत्त्रयाधि-

भावान्नियमेन कार्याभावः, किन्तसमवायिकारणाभावपयक्तोऽपि । सम्प्राप्ति-लक्षणस्य संयोगस्यासमवायिकारणस्य व्याधिहरौपधादिना नाशाद्व्याधि-नाजः स्याद्, दोपस्तु स्वयं क्रियान्तरेण वा निवर्त्तते इति। तदिदं दृपणमयुक्तं विक्रियमाणा दोपदृष्या हि ज्वरादिरूपेण जायन्ते नातो व्याधेः पृथग्दोप-दृत्या न वा दोपदृष्यभ्यः पृथग् ज्वरादय इति। दोपदृष्यसंयोगनाशो यदि च्याधिहरौपधादिना भवति ततः किं खरूपो च्याधिनस्यति, किं विकृत-; दोपदृष्यन्यतिरिक्तोऽपरो न्याधिरस्ति ; यस्य नाज्ञो न्याधिहरौपधादिना संयोगनाशे भवति १ सन्तापलक्षणो हि इवरो दोपदप्यव्यतिरिक्तः किं भवति ? दृष्येण सह दोपसंयोगस्य हेतुस्तु दोपप्रकोपविशेपस्तत्सत्त्वे तत्संयोगनाशस्यासम्भवस्तस्माद् व्याधिहरौपधादिना दोपसञ्चयपकोपनाशो वक्तन्यस्तत एव दोपहरत्नमुपपद्यते न्याधिहराणामौपधादीनामिति। यया हि दोपसञ्चयमकोपनाशः स्यात् तथा तथैव दृष्यमंयोगः शिथिली-भवति दोपवलहानेः। निःशेषेण दोपवलहानौ दृष्यवलहानौ च तयोः संयोगो विनइयति शिथिलीभावेऽपि हि वत्तेते। तस्मात् समवायिकारणा-भावान्नियमेन कार्य्याभावः स्यात् । न चासमवायिकारणं तयोः संयोगः। सोऽपि समवायिकारणं गुणलात्। अन्यथा संयोगस्य गुणलं व्याहन्यते। उक्तं हि पूर्व्वाध्याये—समवायी त निश्चेष्टः कारणं गुण इति । कणादेन अप्युक्तम्-द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमन्यापेक्षो गुण इति समवायिकारणमित्यनुवत्त्यौक्तम्। तथा। द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्तं साधम्म्येम् । द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरमित्युक्तम् । तत्र गुणस्य सजातीयगुणारम्भे यदि समनायिकारणतं नोच्यते, तहि यो गुणो यमपरं गुणमारभते तमपरं गुणं किंपकृतिकमारभते ? नान्तरेण विक्रियमाणं स्वं कोऽपि गुणः सजातीयमपरं गुणं शक्कोत्यारव्युमिति । विक्रियमाणो हि गुणः सजातीयमपरं गुणमारभते । यथा लोहितशुक्ककृष्णा गुणाः स्वाश्रयद्रव्या-श्रितकम्मेणा तत्तद्रव्यसंयोगविभागाभ्यां विक्रियमाणाः परस्परं समवायेन एकीभूय पीतरूपेण निष्पद्यन्त इति पीतगुणमारभन्त इत्युच्यते। तत् समवायि-कारणानि लोहिताद्यः पीतगुणस्य। इत्येवं निश्चेष्टसमवायिकारणं गुण

विपरीतार्थंकारी विहारः, यथा—व्यायामजनितसम्मृद्वाते जलप्रतरणादिरूपो व्यायामः। अयं हेतो व्यायामे न्याधो च सम्मृद्वातेऽनुगुणः प्रतिभाति ।

इति गुणले संयोगस्यापि संयोगान्तरारम्भे समवायिकारणलं द्रव्यस्य सजातीयद्रव्यान्तरारम्भे समवायिकारणवत्। कार्य्यद्रव्यं हि द्रव्यगुणकम्भे-विकारसमुदायात्मकं तत्रारम्भकाणि द्रव्यगुणकम्मीणि विक्रियमाणानि स्वस्वविकारसमुदायात्मके काय्ये समवयन्त्येव वर्त्तन्ते नासमवायीनि। एवं सति संयोगो यद्यसमवायी स्याद् द्रव्यमप्यसमवायि भवतु ; तस्मात्, संयोगेऽपि गुणः समवयन् कार्य्यद्रव्ये वत्तेते। इति कथमसमवायिकारण-म्रपपद्यते। तस्पादसमवायिकारणमेव नास्ति गुणकम्मेणामसमवायिकारणल-वचनं भ्रान्तानां ततस्तदसाध । कम्मीण्यपि स्वस्वाश्रयद्रव्याणि परस्परं संयोज्य विभज्य यथा तत्सजातीयद्रव्यान्तरमारम्भयन्ति तदा गुणांश्र सजातीयगुणान्तरमारम्भयन्ति तथा तदा निजान्यपि परस्परं समवायेन मिलिखा सजातीयविजातीयानि कस्मीन्तराण्यारभमाणानि द्यारमके काय्ये समवयन्ति वर्त्तन्ते इति समवायिकारणान्येव कम्माणि न ससमवायीनि कारणानि । द्रव्यगुणकम्मे विकारसमुदायात्मकं हि कार्यद्रव्यम् उक्तमिति। यदि निमित्तकारणं दोप इति कुला दोपस्थायी च ज्वरादिः ष्याधिवेत्तितैलनाशे दीप इव नश्यति तर्हि को अन्यो दोपादिव्यतिरिक्तो ज्वरादिः किंप्रकृतिको वा ? तद्भावात् तद्वचनमसाधु । यदि विक्रियमाणदोषदृष्य-विकारात्मको व्याधिना च्यते दोपतः पृथक् चोच्यते कथं तहिं व्याधिनामान-भिज्ञस्य तद्व्याधिचिकित्सायां सामर्थ्यं दोपज्ञानेनोपपचते। यत उक्तं स्वयमेव। च्याधयोऽपरिसंख्येया भिद्यमाना भवन्ति हि । रुजावर्णसमुत्थान-स्थानसंस्थान-नामभिः।। व्यवस्थाकरणं तेषां यथा स्थूटेन संग्रहः। तथा प्रकृतिसामान्यं विकारेपुपदिश्यते।। विकारनामाञ्जञलो न जिहीयात् कदाचन। न हि सर्व्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः।। स एव कुपितो दोपः समुत्थान-विशेषतः। स्थानान्तरगतश्रापि विकारान् कुरुते वहून्।। तस्माद्विकारमकृती-र्घिष्ठानान्तराणि च। समुत्थानविशेषांश्र बुद्धा कम्मे समाचरेत्।। यो हेरतित्त्वयं बाला कम्मीण्यारभते भिषक्। बानपूर्वं यथान्यायं स कम्मेसु न सुद्यति॥ नित्याः प्राणभृतां देहे वातिपत्तककास्त्रयः । विकृताः प्रकृतिस्था वा तान् बुभुत्सेत

नन्पश्चयवद्नुपशयोऽपि व्याधिपरीक्षकोऽस्ति। उच्यते च—"गृह्लिङ्गं व्याधिमुपशयानुप-शयाभ्यां परीक्षेत"। तथा वाग्भटेऽप्युक्तम्,—"विपरीतोऽनुपशयः स हासात्म्यमिति स्मृतः" इति। सत्यमस्ति च, परं निदानग्रहणेनैव गृहीतत्वान पृथगुन्यते, अनुपशयोऽपि हेतुसेवयैव भवति। सम्प्राप्तिरागतिर्जातिरित्यनर्थान्तरं व्याघेः । सा सङ्ख्या-प्राधान्यविधिविकल्पवृत्तकातिवशेषैर्भिचते ॥ ५ ॥

पण्डितः ॥ इति । एतेन विक्रता दोपा एव विकासस्तत्पकृतिका ज्वरादयस्तेपां प्रकृतिसमुत्थानविशेपाथिष्टानविशेपशानेनानामकव्याधीनामपि प्रकृतिविधातेन एवोपघातो भवतीति कथं निमित्तकारणं दोपः स्यात् १ एवं पूर्वेरूपावस्थायां प्रयुक्तभेपजादीनां सुखकरानुबन्धः कथमसमवायिकारणदोपदृष्यसंयोगलक्षण-सम्प्राप्तिनाज्ञाद्भवति ? नास्ति हि पूर्व्वरूपे सम्प्राप्तिः। उक्ते हि स्वयमेव। भविष्यन्त्या असम्प्राप्तिरतीताया अनागमः। साम्प्रतिक्या अपि स्थानं नास्त्यत्तेः संशयो हातः । इति । विषमा धातवो दोषा दृष्याश्च व्याधय एव न तु हेनव उक्ताः । हेतवस्तु त्रयोऽसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगप्रजापराधपरिणामा उक्ताः । ततो व्याधिविपरीताद्यौपधाहारविहाराणामुभयविपरीतादिभ्यो भेदः सुव्यक्त एव, न दुरुपपादः। यथा कामजे ज्वरे कामहरः क्रोधः कामज्वरहरुचेति। अतीसारे पाटादिस्तदारम्भकदोपवैषम्यात्मकन्याधितन्निमित्तातिसारहर एव न तु गुर्व्वितिस्निग्धाहारादिहेतुहर इति । विपरीतार्थकारिणामिति निदान-समानवस्मिणामपि प्रभावाद् रोगोपश्रमकारिणामिति नार्थः। निदानसमान-धिममणो न व्याधिविपरीतार्थकारिणः किन्तु निदानविपरीतार्थकारिण इति। तस्माट् हेतुच्याधुत्रभयसमानधुम्माणोऽपि प्रभावाद् हेतुच्याधुत्रभयविपरीतानाम् औपधादीनामधेकारिण इत्यर्थः।

एप उपशयः पूर्व्वरूपे प्रयुक्तो भविष्यद्वािधं वोधयति। उत्पन्ने व्याधौ प्रयुक्तो वर्त्तमानं व्याधिं वोधयति। जायमानन्तु व्याधिं किं वोधयति न वाध्य चेद्वोधयति कदा प्रयुक्तो वोधयतीत्यतः सम्प्राप्तिमाह—सम्प्राप्तिरित्यादि। सम्प्राप्तिरागतिर्जातिरित्यनर्थान्तरं व्याधेः इति। सम्प्राप्तिरिति भावे क्तिच्। जातिरित्यपि जनेभीवे क्तिच्। आगतिरित्यपि आगमेभीवे किच्। य एवाथीं जनेः स एवार्थः सम्प्रभ्यामापेः स एव आङ्पूर्व्वगमेरित्य- नर्थान्तरिमतुत्रक्तम्। जनी प्रादुर्भावे इति सत्तानुक्रलव्यापारो जनिधासर्थः।

यद्यपि सम्प्राप्त्यनन्तरं लिङ्गप्राद्वभीवः, तथापि संप्राप्तेनिरूपणं प्रति अल्प-प्रयोजनाच्ह्रेपतः सम्प्राप्तिमाह—सम्प्राप्तिरित्यादि। जातिर्जन्म, सम्प्राप्त्यागतिजातिशब्दैयौं-ऽथोऽभिधीयते व्याधेः, सा सम्प्राप्तिरित्यर्थः। अत्रैके व्याधिजन्ममात्रमन्त्यकारणव्यापारजन्यं संप्राप्तिमाहुः। इयञ्च सम्प्राप्तिर्यद्यपि निदानादिवदृग्याधिवोधिका न भवति, तथापि जन्यर्थस्वरूपो वाद्यभावः क्तिच्पत्ययार्थः। स च सत्तानुकूलग्यापार-स्वरूपः। सदिति। यतः स सत्ता सद्भावः प्रकृतिभूतकारणानां रूपान्तरेण अभितिष्पन्नानामनुष्टतिहेतुः। उत्पन्नो येनोत्तरकार्छं वर्त्तते स स्वकारण-समनाय एव सत्ता। सा द्विधा सामान्यं विशेषश्च। आरम्भकद्रव्याणां खर्खक्रियाजन्यपुनःपुनःसंयोगविभागाभ्यां विक्रियमाणानां समानप्रसवात्मिका सत्ता सामान्यं जातिरित्युच्यते। यथा ब्राह्मणानां निखिलानां समान एव प्रसवः। असमानप्रसवात्मिका सत्ता प्रत्येकशो जातिः जन्मविशेष उच्यते। यथा ब्राह्मणानामेकैकस्य प्रसवोऽसमानः, सामान्यजन्मनोरिति। तत्रेदं सामान्यजातिलक्षणम्, विशेप-जातिः जातिस्तु प्रतिरोगं वक्ष्यते। उत्पन्नानां भावानां समवायिकारणसमवायो यावन्तं काळं वर्त्तते तावन्तं काळं तेपामृत्पत्तेरनु पश्चाद्वत्तिरित्यनुवृत्तेहेतुः समवायः सत्तोच्यते। तस्याश्च सत्ताया अनुकूलव्यापारः प्रकृतिभूतद्रव्याणां खखित्रयाभिः परस्परं पुनःपुनःसंयोगविभागौ जनयिला निष्पाचते तत्तत्-कार्याणां खरूपनिष्पत्तौ सर्वावयवसमवाय इति। ज्ञारीरव्याध्रुत्पत्तौ तु खकारणैः दुष्टानां दोपाणां दुष्टिर्वहुधा, संग्रहेण दिधा प्राकृती वैकृती च। पाकृती यथा स्वलक्षणर्त्तकसंवत्सराहोरात्रभुक्तांशकालकृतचयप्रकोपौ। वैकृती पुनः ऋतूनां यथास्वलक्षणहीनातिविषय्येयेण या दुष्टिनिदान-सेवाभिश्र। सा च दिधा दुष्टिरेकशो दिशः सर्वश्र। दृढौ क्षये च। रजस्तमसोरचैवं दृष्टिरेकशो दिशश्च। तत्र शारीरदोपाणां सांसर्गिकी दुष्टिद्धिं पा प्रकृतिसमिविषमसमनायाभ्यां भवति। तत्र पट्पञ्चाञत्, एकज्ञः पिहति, दृद्धिक्षययोद्द्रीपष्टिधा । विपमसमवायात् तु नियमो नास्ति। एवं दुष्टौ स्वभावाद् यस्मिन् व्याधौ यावती दुष्टिस्तावती

नानुत्पन्नस्य व्याधेर्लक्षणं भवतीति कृत्वा उत्पत्तेर्व्याध्युपलम्भक्तवं वर्णयिन्त । एतज्ञान्ये न मन्यन्ते । यतः—नैवं सित सम्प्राप्तितः कश्चिद् विशेषो व्याधेरिधगम्यते ; न चायं नियमः— यदुत्पन्न एव परं व्याधिरूपलभ्यते । यतः निदानपूर्व्यरूपाभ्यामनुत्पन्नो व्याधिर्भावित्वेन बुध्यते । तस्माद्व्याधिजनकदोपव्यापारिविशेषयुक्तं व्याधिजनमेह सम्प्राप्तिः । पर्ट्यये 'आगितः' इत्युक्तम् । आगितिर्हं उत्पादकारणस्य व्याधिजननपर्यन्तं गमनम् । इयञ्च सम्प्राप्तिव्याधिविशेषं बोधयत्येव, यथा—ज्वरे—"स यदा प्रकुपितः प्रविश्यामाशयम्" इत्यारभ्य "तदा ज्वरमिनिवर्व्यतेत्याति" इत्यन्तेन या सम्प्राप्तिरूच्यते तथा ज्वरस्यामाशयदूपकत्वादिधम्मः, तत्रश्च कारण-दयो धर्माः प्रतीयन्ते । न च वाच्यम्—दोपाणामयमामाशयदूपकत्वादिधर्माः, तत्रश्च कारण-

सङ्ख्या त।वद्षष्टो ज्वराः पश्च गुल्माः सप्त कुष्टानी-रयेवमादि ।

संख्या तस्य व्याधेः सर्वद्या इति सत्तानुक्ला सह्या व्यापारविशेषः। आगन्तु-जेप्विप सह्या सत्तानुक्ला व्यापारभेद एव । दोपाणां तथैव दुष्टानां द्विशो वह्नाश्च प्राधान्यमप्राधान्यश्च व्यापारिविशेषः। प्रकारश्च व्यापारभेदः। निदानस्वभावेन यादशस्त्रभावो दोपो भवति स तस्य प्रकारः। यावतांशेन यस्य दोपस्य चयप्रकोषो तत्कल्पना च व्यापारभेदः। वलकालश्च दोपाणां व्यापारभेदः।

इत्येते दोपाणां दृष्यसंयोगे स्वस्तक्रियेव व्यापारास्तानाह—सा संख्या प्राधान्यविधिविकल्पवळकाळविशंपैभिचते । इति । सा सत्तानुक्ला क्रिया सम्प्राप्तिः संख्यादिभिः पञ्चभिभंदैभिंचते ॥ ५ ॥

गङ्गायरः - संख्या तावदित्यादि । संख्या तावत् द्वो ज्वरौ पुनरष्टो ज्वराः पञ्च गुल्मा इत्येवमाद्यः । यद्यपि यो भावो जायते स एक एव जायते

धर्माणां निदानग्रहणेनेव ग्रहणं भवतीति। यतः कारणधर्मोऽप्ययं व्याधिजनकदोपव्यापार-रूपः सम्प्राप्तिश्चव्देन विशेषयोधनार्थं पृथक् कृत्वोच्यते। यथा—िव्हृत्वाविशेषेऽपि भावि-व्याधियोधकत्विशिषात् पृव्वं रूपं पृथगुच्यते। अत पृत्र वाग्भवेऽप्येवमेव सम्प्राप्तिलक्षणमुक्तम् ;— 'यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता। निर्व्हृ तिरामयस्यासो सम्प्राप्तिजीतरागितः॥' इति। सम्प्रति सम्प्राप्तेः प्रतिव्याधिव्यक्तिभिन्नायाः सर्व्वत्र व्याधो तत्प्रयोजनाभावान्न भेदो वक्तव्यः, यस्त्प्रयुक्तो भवति सम्प्राप्तिविशेषः, तमभिधास्यत्येव, "स यदा प्रकृषितः प्रविश्यामाशयम्" इत्यादिना ग्रन्थेन; अतः सर्व्वसम्प्राप्त्यनभिधानात् न्युनतादोषपरिहारार्थे सर्व्वव्याधि-साधारणान् सम्प्राप्तिभेदानाह—सा संव्येत्यादि। सा सम्प्राप्तिः संव्यादिभिर्भचते इति संव्यादिभिन्ने व्याधो भिन्ना भवतीत्यर्थः, यतः न भिन्नानां भावानामभिन्नोत्पत्तिर्भवति, किं तर्हि भिन्नेव भवति; यद्यपि च प्रतिव्याधिव्यक्तप्रपि सम्प्राप्तिर्भन्नेव भवति, तथापि स भेदः सम्प्राप्तेरिह प्रयोजनाभावान्नोच्यते; यतः, संख्याप्रधान्यविध्यादितुव्यासु व्यरव्यक्तिपु एक-रूपनिदानलिङ्गचिकित्सतासु भेदप्रतिपादने न किश्चत् प्रयोजनमस्ति; संख्यादिभिन्ने तु ज्वरादौ निदानलिङ्गचिकित्सतासु अवेदप्रतिपादने न किश्चत् प्रयोजनमस्ति; संख्यादिभिन्ने तु ज्वरादौ निदानलिङ्गचिकित्साभेदोऽस्ति; अतः संख्यादिभेद्जनिकायाः सम्प्राप्तेर्भेदकथनसुचितमेव॥ ५॥

चक्रपाणिः—संख्याभेदमुदाहरति—संख्या ताविद्ति । यद्यपि प्राधान्यादिभेदभिन्नेऽपि व्याधो संख्याभेदोऽस्त्येव, तथापीह यैव शास्त्रसिद्धा अशोदरीयादिप्रतिपादिता सैव संख्या-शब्देन प्राप्ता ; अत एवाशो ज्वरा इत्यभिधाय द्विविधं शोणितपित्तमिति क्रमात् प्राप्तं रक्तिपत्तं प्राधान्यं पुनर्दोषाणां तरतमाभ्यामुपलभ्यते तत्र द्वयोस्तर-स्त्रिषु तमः।

विधिनीस द्विविधा ट्याधयो निजागन्तुभेदेन त्रिविधा-स्त्रिद्रोषभेदेन चतुर्विधाः साध्यासाध्यसृदुद्राह्णभेदेन पृथक्। नानेकतया जायत इति, तथापि स भावः सर्व्व एव कतिधा जायत इति। तत् सामान्यस्य संख्यानानार्थं संख्योपदेशः।

प्राधान्यमित्यादि । व्याध्यारभे खल्वेकैको दोपक्चेद्वप्राधिमारभते तत्र प्राधान्यं न सम्भवति । प्राधान्यं हि सापेक्षम् । यश्च व्याधिं द्वौ वा त्रयो वा दोपा आर्भन्ते तत्र प्राधान्यमेकमपेक्ष्यापरस्य भवति । तत्र द्वयोस्तरः । द्वयोभेध्ये यस्तर उत्कृष्टः अधिकलिङ्गस्तस्य प्राधान्यय् । त्रिषु तम इति त्रिषु दोपेषु मध्ये यस्तम उत्कृष्टोऽधिकलिङ्गस्तस्य प्राधान्यय् । लिङ्गतारतम्याभ्यां प्राधान्यं दोपयोदौपाणां विज्ञायते ।

विधिस्तु प्रकारः । संख्या भेदमात्रम् । सजातीयविजातीयेषु पश्च ब्राह्मणाः पश्च ब्राह्मणक्षत्रियाः । प्रकारस्तु सजातीयेषु भिन्नेषु धम्मीन्तरेण उपपक्तिः । निजः शारीरदोपजलेन धम्मीणैकप्रकारः । आगन्तुकरणजलेन धम्मीण अपर-प्रकारः । इति तत्तद्धमीं शापयित विधिः । तस्य प्रयोजनं यथोद्धी गलधमीकं रक्तिपत्तं नोद्धी हरणसाध्यं किन्त्वधोहरणसाध्यमधोगलधमीकमूद्धी हरणसाध्यं नाधोहरणसाध्यमिति । एप विधियीन नोक्तस्तस्य भ्रमः ।

नोदाहरति ; यतः द्विविधं हि रक्तिपत्तस्य विधिभेदे प्रविश्वति, न द्विविधं संख्यायाम्, 'द्विविधं शोणतिपत्तम्' इति विधिशब्देनैवोक्तत्वात् ।

प्राधान्यं पुनिरित्यादों तरतमाभ्यामिति 'तरतम'शब्दाभिधेयाभ्यां वृद्धिभ्याम् ; तरतमशब्दयोर्विपयं विभजते—ह्योरित्यादि। 'द्वयोस्तरः' इति द्वयोद्दीपयोर्वु द्वयोः 'तर' प्रयोगो भवति, 'वृद्धतरः' इति ; एवं 'त्रिपु तमः' इति त्रिपु दोपेपु वृद्धेपु सत्मु 'तम'-प्रयोगो भवति ; तदेवं द्वन्द्वारब्धे विकारेऽन्यतरदोपस्य 'तर'शब्दलक्षितेन प्राधान्येन सम्प्राप्तिः भिद्यते ; तथा त्रिदोपारब्धे विकारे 'तम'शब्दलक्षितान्यतमदोपप्राधान्यात् सम्प्राप्तिर्भिद्यते इत्युक्तं भवति ।

सम्प्राप्तिभेदकं क्रमागतं विधिमाह—विधिनभित्यादि। 'द्विविधा स्याधयो निजागन्तुभेदेन' इत्यादिना विधिरिति कृतमित्वर्थः; ते द्विविधत्वादयो भेदा यतो भवन्ति, स विधिः; विधिश्च प्रकारो भेद इत्यर्थः; साध्यासाध्यमृदुदारुणभेदेनेति साध्यासाध्यगतेन ममवेतानां पुनदोंपाणामंशांशवलविकल्पो विकल्पो-ऽस्मिन्नर्थ।

वलकालिवशेषः पुनर्व्याधीनामृत्वहोरात्राहारकालिविध-विनियतो भवति ॥ ६ ॥

अय विकल्पः। समवेतानामिति। रोक्ष्यादिगुणानां यावता गुणेन कृपितो यो यो दोपः कार्यमारभमाणः परस्परं समवैति, तस्य तस्य दोपस्य नावान् गुणोऽंशस्तत्तत् प्रत्येकमंशांशस्ततो दोपाणां तेषां समवेतानां व्वलस्य विकल्पः विशेषेण कल्पना, कस्य दोपस्य किम्मितं वळं तस्यावधारणं कल्पनेत्यस्मिन्नथें विकल्प इति। एप विकल्पश्चिकित्साविशेपार्थं भवति। एवंविकल्पेन दोपवळं विशायते तथा काळविशेषणापि।

नतो बलकालविशेषमाह—बलकालविशेषः पुनिरिति । ऋतवो वसन्ताद्यः अहोरात्रः आहारश्च तेषां कालविश्विना विनियतोऽवशारितो भवति । यस्य दोषस्य यो बलकालि ह्रिशेषः स ऋतादिभिरवशाय्येते तद्दोषज्ञयाधेरिष तैः ऋतादिभिर्वलकालिशेषोऽवधाय्येते । वसन्ते बलवांश्चेह्याधिभेवति, तद्द्याध्यारम्भकं कर्षं णाषयति वसन्तः, ककजश्चेद् व्याधिवेसन्ते

मृदुदारणभेदेन ; तेन मृदुसाध्यं सुखसाध्यम्, दारणसाध्यं कृच्छूसाध्यम्— रोहिणीवलयादि, तथा मृदुसाध्यं याप्यं, दारुणासाध्यं प्रत्याख्येयमिति भेद्वतुष्टयम् ; यद्यपि च संख्याप्राधान्यादि-, कृतोऽपि व्याधेर्विधिभेदो भवत्येष, तथापि संख्यादिभेदानां स्वसंज्ञ्येव गृहीतत्वाद् गोवलीवर्द-न्यायात् संख्याद्यगृहीते व्याधिप्रकारे च विधिशव्दो वर्त्तनीयः।

क्रमागतं विकल्पमाह—समवेतानामित्यादि। समवेतानां सर्व्वेपाम्; तेन एकरो द्विरो मिलितानाञ्च दोपाणां अहण्म्; अंशमंशं प्रति वलम् अंशांशवलम्, तस्य विकल्प उत्कपीपकर्परूपः अंशांशवलविकल्पः; एवम्मूतो दोपाणाम् अंशांशविकल्पोऽस्मिन्नथं इति अस्मिन् प्रकरणे विकल्प उच्यते; प्रकरणान्तरे तु विकल्पशब्देन भेदमाश्रमुच्यते, यथा—'विकल्पो न त्वसाध्यानाम्' इत्यादाविति भावः। तत्र दोपाणामंशांशविकल्पो यथा—वाते प्रकृपितेऽपि कदाचिद् वातस्य शीतांशो वलवान् भवति, कदाचिह्नध्वंशः, कदाचिद्रक्षांशः, कदाचिह्नप्रक्षांश इति; एवं पित्तकफयोरण्युदाहाय्योंऽ शांशविकल्पः; अयञ्चांशांशविकल्पो दोपाणां शीतादि-गुणोञ्जत्वहेतुभेदाद भवति।

वलकालविशेषमाह—वलेत्यादि । वलस्य कालो बलकालः, तस्य विशेषो वसन्त-पूर्वाह्णादिकेलकालविशेषः ; ऋतवधाहोरात्राहारयोध काला ऋत्वहोरात्राहारकालाः, तेषां स वलवान् भवति। यस्य ग्रीष्मे वलं तस्यारम्भकं ग्रीप्मो शापयति। यस्य प्राष्टिप वळं तस्यारम्भको वायुरिति प्राचृट् ज्ञापयति । वर्षासु यस्य वर्छं तस्यारम्भकः कफ इति वर्षा ज्ञापयन्ति । यस्य शरदि वलं तस्यारम्भकं पित्तमिति शरज्ञापयति । यस्य हमन्ते वलं तस्या-रम्भको वायुरिति ज्ञापयित हेमन्तः। एवं पूर्व्याक्ते यस्य वळं तस्यारम्भकः कफ इति ज्ञापयति पूर्व्योद्धः। यस्य मध्याह्ये वछं तस्यारम्भकं पित्तमिति मध्याह्रो बापयति । यस्यापराह्ने वलं तस्यारम्भको वायुरित्यपराह्नो बापयति । एवं प्रदोपं यस्य वलं तस्यारम्भकः कफ इति प्रदोपो ज्ञापयति। यस्य मध्यरात्रे वळं तस्यारम्भकं पित्तमिति ज्ञापयति मध्यरात्रः। यस्य रात्रिशेप वलं तस्यारम्भको वायुरिति ज्ञापयति रात्रिशेषः। आहारकालस्त भक्तमात्रं पच्यमानकालः जीणेकालश्च। यस्य भुक्तमात्रकाले वर्छं तस्यारम्भकः कफ इति ज्ञापयति भुक्तमात्रकालः। यस्य पच्यमानकाले वलं तस्यारम्भकं पित्तमिति ज्ञापयति पच्यमानकालः। यस्याने जीणे वलं तस्यारम्भको वायुरिति ज्ञापयति जीर्णकालः। इत्येवं सत्ताः इल्टब्यापारः सम्प्राप्तिः। प्रतिरोगं वक्ष्यते हि सम्प्राप्तिः सन्वेत्रैव । तत्तत्रर्रः तसंश्रयिणो दोषाः पून्वे-रूपाणि कुन्वेन्तः प्रज्ञापराधान प्रतिक्रियन्तेऽथ ते दूष्यानादाय खखिक्रयाभिः परस्परं संयुज्य विभज्य समवेत्य सर्वित्रवैकीभूय तत्तद्व्याधिरूपेण जायन्त इति स स व्याधिभेवतीतुत्रच्यते । तदा स्वरूपतो जातः स स व्याधिर्गर्भाचिष्कान्तो वाल इव क्रमेण वर्द्धमानो यथावातादिपकुत्यकृत्स्नलक्षणोऽभिव्यज्यते व्यज्यते चास्योत्तरकालं यथावलं प्रकृतिसमिवपमसमवायतो लक्षणं किञ्चिदन्यद् वालस्य रेतःश्मश्रुदन्तादिवदिति। एवमेपा सम्माप्तिव्योधीनां प्रत्यक्षा-दिभिरुपलब्धो कारणध्। यदि हेरवं नाभविष्यन तदा ताद्रूप्येण प्रत्यक्षादि-भिन्येबास्यत । सम्प्राप्तिइचैपा न्याधीनां समानपसवात्मिका सामान्यभूता जातिराकृतिग्रहणा। खखा तु विशेपभूता जातिर्जनमोच्यते। प्रतिक्षणं हि भेदो विधिः, तत्र नियतो वलकालावशेप ऋत्वहोरात्राहारकालविधिनियत:। अत्र ऋतुविनियतो वलकालविशोपो यथा—इलेप्मज्वरस्य वसन्तः ; अहोरात्रविनियतो यथा—इलेप्मज्वरस्य पृर्ध्वीहः प्रदोपश्च ; आहारविनियतो यथा—क्लेप्मज्वरस्य भुक्तमात्रकालः ; एवमाद्वननेयस् ; केचित् तु विधिशब्देन पूर्वेकृतं कर्मा ब्रुवते ; अत्र कर्मानियतो वलकालविशेप: पच्यमानकर्मकाल प्व बोद्धव्यः ; एपु वलकालेषु यद्यपि व्याधेरभूतप्राद्मीवरूपा सम्प्राप्तिर्न भवति, तथापि व्याधि-

सन्ताने तत्कालं व्याध्युत्पत्तौ च सम्प्राप्तिर्भन्नैव भवतीति मन्तव्यम् ; इयद्य कालविशेपप्राप्त्रा

भावानां नित्यगतस्य गावादुपादानसातत्याद्यारमभकद्देतवः प्राग्यथाभूतत्वं प्रकृतिम्थं विकृतिम्थं वा तथाभूतत्वेनोत्तरावस्थां यथोपादानमारभमाणाः प्राग्यस्थाभः छ्व्वंन्तीति प्रतिक्षणमवस्थान्तरगपनमपि जन्मोच्यते, तच स्या स्था सातिः सम्प्राप्तिरागतिरित्यनथान्तरसात्। ततः पुरुपस्य वाल्ययौवन-मध्यमस्थाविय्यवद्वाधीनामुत्तरसाळं द्यद्विहासादिकं यथोपादानं भवति। नवापि प्राग्यस्थायां भविष्यदुन्पत्तिरत्यवस्थारमपूर्व्वकप्राग्यस्थाभक्षो वर्त्तगानोन्पत्तिस्तन्समाप्तो स्वतीतोत्पत्तिरित्येवमुत्पत्तिर्जातिः स्था स्था सम्प्राप्तिस्वकाला।

आगन्त्दश्योनागपि प्रागेव कारणतो जायमानानामन्तरेणा-दोपसम्बन्धं धात्र्वेपम्पे जाते तद्विपमधानुव्यापारेण तथैव निष्पचने । इति सम्प्राप्तिगातिरित्यस्य नाप्रसङ्गः । यस्तु यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पना । निन्द्र रैत्तरामयस्यासौ सम्प्राप्तिजीतिरागतिरिति न्याच्छे तद्साधः, दोपसम्बन्धाभावादागन्तुषु । तस्प्राज्जन्मापि षानकारणं भविष्य-दुनपत्तिमान् भावः पृट्वेरूपेण जायते । वत्तेमानोत्तपत्तिमांस्न सम्प्राप्तिकालिक-तत्त्रह्रक्षणेन । अतीतोत्पिनांस्तु वर्त्तमानो भावो व्यक्तलक्षणेन । यस्यवं त्रैकालिकोद्पत्तिनास्ति तक्षास्ति न च वायते। तर्गातस्थायां परं ब्रह्म चावस्थान्तरगासाच गायत्री वभूवेति तत् सन्वं यज्ञःप्रकृतीय द्शितमिति। तस्माज्जन्मापि भावानां प्रत्यक्षादिवानहेतुनिदानादिवद्वोधकमेव न त रूपादि-वद्विपयत्वेन, विषयो हि घटादिवदाकृतिसमुदायो वातादिज्यरादिस्तेन च कपालादीनामित्र वेपथ्वाद्यीनामाकृतीनां स्वजाने विषयले सिद्धे समुद्दायस्य षाने लिङ्गलेनान्त्रमित्यादिषु हेतुलात् यावत्समवायिसमवायस्तु सत्ताजातिः सामान्यविशेवरूपासामान्यविशेषाकृतिभ्याम् सुमीयते इति ।

यत् तु फलविशिष्टव्य पारात्मक् व्याधेजन्म सम्माप्तिरित्यभिष्ठायेणोक्तं—
यलवद्याधिजनिका सम्माप्तिव्य धिर्विशेषं स्फुटमेव बोधयति ; यतः प्र्वीहादिवलसमाप्तमा व्यास्य फफादिजल्यमुन्नीय् इति ; इह च सम्माप्तेरेव विशेषाः संख्यादिकृता उक्ताः, न तु निदानादीनां विशेषाः , यतः, निदानादिविशेषाः प्रतिव्याधि वक्ष्यमाणभेदेनैवोषयुक्ताः ; यतः, माह्म ज्वरे निदानम्, न ताहम् रक्तिषत्ते, ये च पूर्विक्ष्पादिविशेषाः ज्वरे, न ते रक्तिपत्तादो, मिन्नजातीया एव , स च भेदो निदानादीनां भेदगमकत्वेनोषयुक्तो व्याधिभेदकथन एव , सम्माप्तेस्तु संख्यादिभेदः सर्वव्याधिष्वेकजातीयत्वेन न विशेषगमक इति इहैव कथ्यते ; निदानादिविशेषास्तु प्रतिव्याधि विशिष्टस्वेन नेह प्रपत्नेनोच्यन्ते , अत एव चाष्ट्रवाध्याये सम्माप्तेः

तस्माद्रग्रधीन् भिषगनुपहतसत्त्ववुद्धिहें स्वादिभिभविर्धथा-वदनुवुध्येत । इत्यर्थसंयहो निदानस्थानस्योदिष्टो भवति, तं विस्तरेगोपदिशन्तो भूयस्तरतमतोऽनुव्याख्यास्यामः ॥ ७॥

यथा दुण्टेन दोपेण यथा चानुविसपता। निन्धे त्तरामयस्यासौ सम्प्राप्तिर्जाति-रागतिः इति। अत्रामयस्येति ज्वरतादिरूपेण दोपस्य दोपात्मकताच्छारीर-च्याधीनामिदन्तु लक्षणं निजमानसच्याध्यभिप्रायेण वोध्यम्, अन्यथागन्तु-च्याधिसम्प्राप्तौ तस्याच्याप्तिः दोपदुष्ट्रप्रभावात्। चरकाचार्च्यस्तु सर्व्यसम्प्राप्ति-च्यापकताभिप्रायेण सम्प्राप्तिः आगतिर्जातिरित्यनर्थान्तरं च्याधीरिति लक्षण-मृत्तवानः इत्थञ्च ज्वरादिषु रससंयोगामाश्यगमनजाठराग्निवहिष्करणादि-धाने पाचनलङ्घनस्वदनादिकियाविशेषोऽपि लभ्यते इति यदन्यैः फलात्मक्री-जन्मनश्चिकितसायामुपयोगित्तमुक्तं तन्न युक्तम्, ज्ञामाश्यगमनरसद्पणविह-वहिष्करणादिको हि प्रकारो विधिवप्रापार एव ज्वरतादिरूपेणाभिव्यक्तो दोपाणामिति तत्समवायिकारण-समवायात्मक्कलं विना किं व्यापारः सम्भवति १ निष्कला हि क्रिया नास्ति। तस्मात् फलरूपं जन्म सत्ता च्याधीनामसत्तायां कस्य चिकित्सा स्यात् १ तस्माव् व्याधिजन्मनः सत्ता-रूपस्य सर्व्ययैव चिकित्सायामुपयोगित्वमिति निष्कर्षः॥ ६॥

गङ्गाधरः—नन्वेभिनिदानादिभिः किं कः कुर्य्यादिति १ अत आह—तस्मा-दित्यादि । यस्मात् तत्र निदानं कारणिनत्यादिग्रन्थेन विवरीतिनदानपूर्वेरूप-लिङ्गोपशयसम्प्राप्तितस्तस्योपलिब्यस्तस्मात् व्याधीननुपहतसन्ववृद्धिभिपक्

सामान्याभिधानेनेवोक्तस्वात् सम्प्राप्ति परिःयज्य निदानादिविद्योपाभिधानम्, तत् प्रतिजानीते ''तस्य निदानपूर्व्वेरूपिछङ्गोपद्मयविशेपाननुन्याख्यास्यामः" इति ॥ ६ ॥

चक्रपाणिः—यस्मादिमे निदानादय उक्तेन न्यायेन परीक्षायामुपयुक्ताः, तस्माट् व्याधीन् भिपग् हेत्वादिभिः परीक्षेतेति योजना ; न च वाच्यम्— यि दानादीनां मध्ये चेदन्यतमेनापि व्याधि परिच्छेतुं समर्थस्तत् कथं पद्यकाभिधानेनेति ; यतः यावन्तो ज्ञानोपाया व्याधीनाम्, ते सर्व्व एवोपदर्शनीयाः ; तत्र यो निदानं विस्मृतवान्, तस्य प्व्वेरूपादिभिव्योधिः परीक्ष्यते ; तथा यत्र च प्व्वेरूपाद्यो विस्मृताः सिन्दिग्धा वा, तत्रोपदायेन परीक्षा भवति ; एवं कफजत्व-सन्देहे ज्वरस्य सम्प्राप्तिरपि प्रवीक्षे भुक्तमात्रे वा भवतिति कफजत्वं गमयतीत्यादि प्रयोजन-मनुसरणीयम् ; तथा प्व्वेरूपेणापि लिङ्गसामान्यनिश्य उक्तः ; यदक्तम्—"हारिद्ववणं रुधिरञ्च सूष्टं विना प्रमेहस्य हि प्व्वेरूपेः । यो मृश्येत् तं न चदेत् प्रमेहं रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोषः ॥"

हेलादिनिनिदानादिभिक्कलक्षणलक्षितैभविः खस्याधिकारोक्कयैथावर् यथा-विधि अनुमानादुम्कविधानेनानुवृध्येत उपदेशेन मातान् पश्चात् वृध्येत। उपमंहरति—इत्यर्थत्यादि । इति निदानादिपश्चकरूपस्याथेस्य संग्रहो निदानस्थानस्य उद्दिष्टः संक्षेपेणोपदिष्टो भवति। अत्र निदानशब्देन हेलाई। नि पश्च गृह्यन्ते ; निदीयते मितपद्यते च्याधिरनेनेति च्युत्पत्तेः। ननु निदानादिपञ्चानामेनमस्तु स्वरूपं तेन कथं ज्वरादिरूपलभ्यते इत्याकाङ्माया-माह-निमत्यादि । तमुहिष्टं निदानस्थानस्यार्थसंग्रहं निदानादिपञ्चकमर्थ विस्तरेण प्रतिगोगमुपदिशन्तो वयं भूयस्तरं प्रतिरोगं निदान।दिप्रत्येकेन भृयिष्टातिगयमञ्ज निदानस्थाने चिकितसास्थाने च व्याख्यास्यामः॥ ७॥ इति : नया, लिजनिधितेऽपि व रेषो। पृत्वंरूपेणासाध्यत्वमुक्तम् , यथा—"पृर्व्वरूपाणि सर्व्वाणि ज्वरोकान्यितमात्रया । यं विरात्येनं मृत्युव्वरेशपुरःसरः" इति ; तस्माजिदानादि-पद्यकमभित्रावव्यमेव । नजु कोने व्याधिः परीक्षणीय इति वचनालिङ्गव्यतिरिक्तो व्याधिः ङ्खुकं भवति ; तत्र च लिज्ञसमुदायव्यतिरिक्तो न व्याधिरुपलभ्यते ; विपमारम्भविसर्गिरवा-द्यो हि सन्तापसहिता ज्वराः, तथा प्रतिद्यायकासादेवकादशरूपमेलक एव यक्ष्मा ; नैवम्, लिङ्गत्वेन शास्त्रे शतिपादितानां तद्तिरिक्तव्याध्यभावे लिङ्गत्वानुपपत्तेः ; वचनं हि—"विप-मारम्भमूलादेवज्वर एको निरुच्यते ; विकारङ्गेह दोपदृष्यमेलकविद्योपो ज्वरादिवाद्वेनोच्यते ; स च दोपदृष्यविशोपात्मा उवरोऽरुच्यादिभ्यो दोपदृष्यवेषम्यविशोपेभ्योऽर्थान्तरमेव ; न च वाच्यम्,---उवरिक्तान्त्यद्भमद्दीदिरूपधातुर्वेषम् ब्रेशेषमेलको उवरोऽन्तु, अलं तदितिस्कःवरफल्पनयाः; लिङ्गलिङ्गिभावश समुदायसमुदाविभेदात् भविष्यतीति ; यतः, एवमप्यरुच्यङ्गमईदिधातु-वैपम्यानुगतो धातुवैपम्यविद्योपो जनस्रुपोऽनयवीति भिन्न एव वक्तस्यः ; जङ्गाबाहुद्यिरोऽन्तराध्य-वयवानतिरिक्तमेव शरीरमवयविरूपम्। न च दःखमेव व्याधिरिति पूर्वमेव पराकृतम् ; तेन टुःखरूपत्वाद स्याधेरवयवित्वं न सम्भवतीति न वास्यम् ; लिङ्गानि तु खरूपेण ब्याधयो भवन्ति, ते च वोद्यव्यव्याध्यपेक्षया लिङ्गं भवंति ; तदुक्तम् "न्याधयस्ते तदात्वे तु लिङ्गानीष्टानि नामयाः" इति ; लिङ्गलिङ्गिभावध जिज्ञासावशाद् भवति ; यद् वस्यति—'विपमारम्भसूलानां ज्वर एको हि लक्षणम् । विपमारम्भमृलैश्च ज्वर एको निरुच्यते ॥ अस्य चार्थमपरमार्गिदाने प्रक-रणागतं व्याख्यास्यामः ; तरमात् सुस्थितं व्याधिगमकत्वं निदानादिपञ्चकस्येत्यर्यः ।

इतीत्यादो इति परिसमासो । निदानस्थानस्पेति सर्व्वव्याधिनिदानस्य । भर्थ-संग्रह इत्यनेनेव संक्षेपार्थोभिधाने उट्धे, 'उहिएः' इति संक्षेपाभिधायिपदकरणेन संक्षेपस्यापि संक्षेपाभिधानमेतदिति दर्शयित ; तमिति सामान्यनिदानोहेशम् ; अतो निदानोहेशमात्रतो भूयस्तरमुपदिशन्तो विस्तरेण व्याख्यास्याम इति योजना ; तेनैतदितसंक्षेपकथनापेक्षया प्रपञ्च-कथनमेवेह विस्तरशब्दार्थं इति दर्शयित ; तेन निदानादीनां यावट विस्तरकथनमुक्तरत्रोपपन्ने भवति ॥ ७ ॥ तत्र प्रथमत एव तावदायान् लोभातिद्रोह कोपप्रभवानष्टो व्याचीन् निदानपूर्विण क्रमेणानु व्याख्यास्यामः । तथा सूत्र-संबद्दमात्रं चिकित्सायाः, चिकित्सिते चोत्तरकालं † यथोदिष्टं

ग्राधरः—नतु सर्वान्नेव व्याधीन् किं भ्र्यस्तरेण निदानस्थाने व्याख्यास्यसीति ? अत आह—तत्रेत्यादि । तत्र निदानादिपश्चानामर्थस्य भ्र्यस्तरेले द्वानानुव्याख्यात्व्यसे प्रथमत एव निदानस्थान एवाष्ट्री व्याधीन् निदानपूर्विण द्वायाख्यात्व्यसे प्रथमत एव निदानस्थान एवाष्ट्री व्याधीन् निदानपूर्विण द्वायाख्यास्मिक्तर्मायाः । तथा चिकितसायाः स्त्रसंग्रहमात्रमत्तु व्याख्याख्यासः । नत्नु क्वतोऽष्ट्री व्याधीन् व्याख्यारं सित्यत आह—तावदाच्यानित्यादि । तावदाचान् तावतां व्याधीनां म्भी पृक्वतनत्वेनोद्भूतान् । नन्वष्टानां व्याधीनामाचत्वं यौगपदेप्रनोत्पत्तं ।वना न सम्भवति इत्यत्त आह—लोभेत्यादि । लोभातिद्रोहकोपाणां परमाणुकालेऽपि यौगपचाभावात् दिनाहोरात्रपक्षमासत्तुं क्ष्यस्थूलकालेन यौगपचसम्भवाद् दिनादिकालेन युगपदुत्पन्नत्वं ख्यापितम् । तेन दक्षाध्वरध्वंसे ज्वरोत्पत्त्यनन्तरं रक्तपित्तादुप्त्पत्तव्यांख्यास्यमाना संगळते ।

अथ निदानपूर्वक्रमेण व्याख्याने कर्त्तव्ये^{र्गि}उपशयस्यापि भूयस्तरत्वेन व्याख्याने प्राप्ते सुत्रसंग्रहेण व्याख्यानिमह केंग्रियंमिति शापनाथमाह— सुत्रसंग्रहमात्रं चिकित्साया इति। प्रतिरोगग्रपशयन्तु न भूयस्तरमत्र

चक्रपाणिः—तन्नेत्यादि । ज्वराद्यश्विधरोगस्य निदानस्थाने कथनं प्रतिजानीते ; "प्रथमत

एव तावद्" इत्यनेन पश्चाचिकित्साभिधेयानर्शः प्रमृतीन् सूचयित । "आद्यान्" इत्यनेन

आदी दक्षाध्वरोद्ध्वं से उत्पन्ना ये, तेपामिह कथनं दर्शयित ; यद्यपि च राजयक्ष्मा पृथगेवोत्पन्नः,

वचनं हि—"अतिव्यवायात् पुनर्नक्षत्रराजस्य यक्ष्मा" ; तथाप्यस्य प्राधान्यादिहाभिधानम् ;

यद्यपि च दक्षाध्वरोद्ध्वं सोद्धृतानपस्मारान्तानिभधाय पृश्गुत्पन्नस्य यक्ष्मणोऽभिधानमुचितस्,
'तथाप्युन्मादापस्मारयोरागन्तुत्वेन शोपमप्यभिधायान्तेऽभिधानम् । ' "लोमामिद्रोहमभवान्"

इत्यनेन जनपदोद्ध्वंसनीये "प्रागपि चाधम्मीदते न रोगोत्पित्तरभृद्" इत्यनेन वक्ष्यमाणानां ज्वरा
देनां लोमामिद्रोहजन्यतां दर्शयित ; अनेनाधम्मजत्वं ज्वरादीनामुक्तं भवित । निदानपूर्व्वलिति

निदानप्रथमेन । क्रमेणेति रोगसामान्योक्तनिदानपूर्व्वरूपरूपीपश्चित्रयसम्प्राहिरूपेण ; अयञ्च क्रमः

^{*} अभिद्रोहेति पाठान्तरम्।

[†] उत्तरकालं यथोपचितविकाराननुन्याख्यास्याम इति चक्रसम्मतः पाठः।

विकाराणाम् । इह खलु ज्वर एवादौ विकाराणामुपदिश्यते तत्त्रथमत्वाच्छारीराणाम् ॥ ८ ॥

मुत्रसंग्रह्मात्रमस्मिन् स्थाने व्याख्यास्यामः। ध्यारुवास्यामः, किन्त् भूयस्तरमुपश्यं कुत्र व्याख्यास्यसि इत्यत आह—चिकित्सिते चिकित्सिताध्यायेषु यथोदिनं श्लोकस्थाने रोगचतुप्के त्रयोद्दिष्टमनतिक्रम्य विकाराणां चिकित्साया भूयस्तरमनुच्याख्यास्याम इति । नन्वष्टानामाद्यानां व्यप्शीनामादौ क उपदेश्यते इति ? अन आह— ्री इह्ट्यादि । इह निदानस्था देविकाराणां लोभादित्रभवानापष्टानां वाच्यलेन प्रतिज्ञातानामादौ ज्वर एवो प्येत्वयतेऽन ऊर्ह्न म्। नस् क्रुतो ज्वर एवाष्टानामादा-द्यपेदिज्यते इत्यत आह—तदित्यादि । नह्य गर्भस्थस्यापि कामो मानसन्याधिः प्राथमिकलेन दृज्यते कथं ततुप्रथमलिमत्यत आह—शारीराणामिति। शारीराणां व्याधीनां गर्मेऽिं। सहजाशेःप्रभृतिभेवतीति चेन्न। अवैगु॰येन ंजातस्य पुरंस इत्यभिषायात् । अवैगुण्येन जायमानो हि सज्वर एव जायतेsथवा लोके बारीराणामुत्पत्तिः पूर्व्वं प्रथमं ज्वरस्योत्पत्तेः। वक्ष्यते हि महंश्वरकोपप्रीव इति, तथा चिकित्सास्थाने विस्तरेण ज्वरस्तु खलु वक्ष्यते ॥ ८ ॥

क्वचित् प्रयोजनवशाद्वाध्यते; यथा अत्रैव ज्वरे,—अग्रे हि रूपमिभधाय पृद्वंरूपमिभधातव्यम्; क्रमभेद्रययोजनव्येह,—यत्, रूपाण्यत्र प्रतिज्वरमिभधातव्यानि; न तु प्राग्नूपाणि प्रतिज्वरमिभधातव्यानि; तेन सर्व्वसाधारणस्यात् रूपमिभधाय सामान्यं प्राग्नूपमिभधातव्यम्; तथा स्त्रसंग्रहमात्रं चिकित्साया व्याख्यास्याम् इति सम्बन्धः; निदाने च चिकित्साभिधानप्रयोजनं प्राग्नेवोक्तम्। 'सूत्रम्' इति कृत्वा यत् संग्रहं करोति, तेन स्त्रसापि संक्षेपेणाभिधानं द्रश्यिति; तथा च चिकित्सास्त्रमपीह किञ्चित्र वक्तव्यम्; यथा "लङ्गनयवाग्वाद्यक्षिकित्सते" इत्यनेनैय चोत्तरकालत्वे लब्धे, पुनः 'वक्तरकालम्' इति वचनम्; चिकित्सितस्थानेऽपि ज्वराद्यमिधानोत्तर-कालमेव यथोपचितविकाराणां निदानादिकथनं द्रश्यिति; यथोपचितमिति ये ये उपचिता विकाराः शोपार्शःप्रभृतयस्तान्; किंवा, यथाचितम् इति पाटः, तन्नापि 'यथाप्रधानम्' इत्यर्थ उन्नेयः। चिकित्सिते च विकाराणां निदानाद्यभिधानं निदानादिनाव्यवधानेन प्रतीते विपये चिकित्सा सम्यक् प्रतीयते इत्यमिप्रायेण। अत एव च ज्वरादीनामिपि च पुनर्दिदानाद्यभिधारयति, इह तु ज्वरादीनां निदानाद्यभिधानं बहुवक्तव्यवेन स्थानभेदं कृत्वा कृतम्, स्थानभेदकरणेन च ज्वरादीनां निदानाद्यभिधानं वहुवक्तव्यवेन स्थानभेदं कृत्वा कृतम्, स्थानभेदकरणेन च

श्रथ खल्वष्टाभ्यः कारणेभ्यो ज्वरः संजायते मनु-प्याणाम् ; तद् यथा—वातात् पित्तात् ककाह् वातपित्ताभ्यां वातकफाभ्यां पित्तर्लेष्यभ्यां वातपित्तर्लेष्यभ्य श्रागन्तोरष्ट-सात् कारणात् ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—अथ निदानपूर्वेण क्रमेणानु व्याख्यास्याम इत्यादि यत् प्रतिज्ञातं, तथैव व्याचप्टे-अथेत्यादि । अथ व्याख्यानादिक्रमोपद्शेनानन्तरं, खळुशब्दो वाक्यालङ्कारे। अष्टाभ्य इत्यादि। मनुष्याणामिति प्राथान्यान् सपेकरभादीनामनावश्यकलाट् व्यवच्छेदः। 📆 कारणानि विष्टणोति— तद् यथेत्यादि। वातादित्यादि। यथार्_{मि} सुवन्ततया योज्यं, कारणोपदेशे दृद्धिकारणदशेनात् क्षयकार्नोपदर्शनाभावाच कारणतन्तु वातादीनां ज्वरादिषु न क्षयावस्थायां सम्भवति तेन गृद्धार् वातादित्येवरे मादि च्याख्येयं, वातादित्यादि प्रत्येकस्य निर्देशात् वातिपत्ताभ्यामित्यादिकं विकृतिविपमसमवायेन पकृतिसमसमवायेन च समस्तत्वेन वोध्यम्। तत्र च वातादिन्त्रानाधिक्यादिकलेऽति तदात्मकलेनानतिरिक्तलाङ द्दन्द्वयमेकैकमेव सन्निपातक्चंक एव नाधिक्यः। आगन्तोरिति। आगमयति हटादुत्पादयति इत्यागन्तुरागछति हटादुत्पद्धः यतो वेति । भूताद्यभिपङ्गादिः अनेकोऽप्यागन्तुरागन्तु ससामान्येनैक एव गणित इति नाधिकसमिति। तथा गणनयाष्ट्रसाधिकलाशङ्कावारणायोक्तमष्टमादिति । नन्वष्टभ्यः कारणेभ्य इति किमसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगप्रज्ञापराधपरिणामेष्वन्तं भू तेभ्यः केभ्यश्चिदित्यतो वातादित्यादीनां विशेषणमाह—कारणादिति। अष्टाभ्यः कारणेभ्य इति यत् तद्वातात् कारणादसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगादिभिः प्रेरकैः प्रेरितादित्येवम्

चिकित्सावदायुर्धेदे निदानस्यापि ज्ञेयत्वेन प्राधान्यं दर्भयति। इह खिवत्यष्टविधन्याधिनिदाने वक्तन्ये। 'शारीराणाम्' इत्यनेन, कामकोधादिमानसं रोगं प्रति न ज्वरस्य प्रथमत्विमिति दर्शयिति॥ ८॥

चक्रपाणिः— उवरस्य निरूपणीयस्य कारणकृतं भेदमाह—अथेत्यादि । एतच कारणं वातादि सिक्छिष्टम् । मनुष्याणामितिवचनेन गोगजशकुन्यादीनां नावस्यमिदं ज्वराष्ट्रवमनुगामीति दर्शयति ; तथा हि—हस्त्यादीनां पाकलादयो नाष्टिवधाः प्रतिपाचन्ते । भागन्तोरिति वक्तव्ये 'अष्टमाद् ' इतिवचनं, आगन्तोरिभिधातादिचतुष्कारणभेदेऽपि एकःवोपदर्शनार्थम् ; आगन्तुर्हि

तस्य निदानपूर्वेरूपलिङ्गोपश्यसम्प्रातिविशेषान् अनु-द्यान्यास्यासः॥ १०॥

गङ्गाचरः—नन्नु निदानपूर्विण क्रमेणेति प्रतिज्ञातं भवता, कथमादौ
स्त्रोक्ति चेद् १ न, यद्यपि छत्र पूर्विमसास्म्येन्द्रिवार्थसंयोगादि त्रिविधं
नदानपागन्तुनिजयोः प्रेरणमुक्तं हेतुनिभित्तपायतनिमत्यादिपय्यायवचनेन
गमवायिकारणवाचितं हेलादिपदानां न व्यविष्ठनं कृतमिति ज्ञापनार्थं
तत्यकं निदानादिव्याख्यानाथेश्चादौ प्रकृतिभूतकारणभेदेन संख्यानिहैशं
कृता प्रत्यकं निदानादिकं यथासम्भवं व्याख्यातुं प्रतिज्ञायते—तस्येत्यादि।
तस्य वातादिप्रकृतिभूतकारणभेदेन भिन्नस्य ज्वरस्य यथासम्भवं विशेषतस्तु
असादम्येन्द्रियायेसंयोगादित्रयरूपं निदानं सामान्यतः पूर्वेरूप विशेषतो
लिङ्गानुप्रपश्यः सम्प्राप्तयश्चात्र व्याख्यास्यन्ते व्याधीनामनुत्पत्त्यवस्थायां
पूर्विरूपाणि भवन्ति। तिम्नवन्धनिवशेषभयोजनसाध्यत्नासाध्यत्नादिक्नानार्थं
सन्वत्र व्याख्यास्यन्ते।। १०॥

हारणभेदोत्पन्नोऽप्येकरूप एव ; यतः आगन्तुः सर्व्वो व्यथापूर्वमेव भवति ; यस्तु तत्र, 'कामशोकभयाद् वायुः' इत्यादिना भेदो वक्तव्यः, स वातादिकृत एवेति भावः ॥ ९ ॥

चक्रपाणिः—तस्येत्यादौ 'तस्य' इति ज्वरस्य ; विशेषानिति निदानादिभिः प्रत्येकं सम्बन्धते ; निदानादिविशेषाश्चेह रोगान्तररक्तापत्ताद्यपेक्षया तथा परस्परं वातादिज्वरापेक्षया च यथासम्भवं बोद्धस्याः ; तेन पूर्व्यरूपविशेष इह रक्तपित्तादिपूर्व्यरूपापेक्षया बोद्धस्यः, पूर्व्यरूपस्य विशेषेण हानिभिधानात् ; उपशयविशेषानिभधानञ्च निदानिवशेषादेव लभ्यते ; यतः निदानिवपर्ययेण तइ यथा — रुज्लबुशीतवसनविरेचनार्थापनशिरोविरेचना-तियोग-व्यायाम-वेगसन्धारणानशनाभिधातव्यवायोह् गशोक-शोणिताभिषेक-जागरण-विपम--श्रीरन्यासेभ्योऽतिसेवितेभ्यो वायुः प्रकोषसापचते।

स् यदा प्रकृषितः प्रविश्यासाश्यसुष्प्रगाः स्थानसुष्मगा

गृक्त्य वातादिङवरनिदानादीन्याह—तद् यथेत्यादि । रुक्षेत्यादि वातज्यरनि क्षाश्च लघवश्च श्रीताश्चौपधाहारदेशकालाः । वमन-विरेचनास्थापने लगान् चतुर्णामन्यतमस्यातियोगश्च । व्यायामश्च इत्यादीनां द्वन्द्वसमासः । शानिकः शोणितमोक्षणसः । रिल्नि-सेवनेनातियोगस्य लाभात् पुनः कथं वमः श्वीतयोग उक्त इति १ अतियोगयुक्तवमनादीनामिव सम्यग्योगेनाप्येपामितसेवनेन वर्षः प्रकृत्यित सोऽपि ज्यरमिनि व्यत्तेयित न केवलोऽतियोगयुक्तवमनादि यद्धो वायुरिति वोधनार्थं पुनरुक्तः ।

अथ निदानानन्तरं स्थानसंश्रयात् पूर्विरूपाणि यद्यपि भवन्ति तथापि ययानुपूर्व्यो व्याधिर्जायते तयानुपूर्व्यो शिप्यवोधनार्थं व्यादे सम्प्राप्त्युपदेशो युज्यते, तेन हि चयप्रकोपप्रसरस्थानसंश्रया ह्यायन्ते उपश्यमिधास्यति ; पूर्विरूपक्रेष्ठ विशिष्टमन्यत्तारुङ्गविशेषरूपमेव श्रेयम् ; सम्प्राप्ते वस्यमाणाया इहाप्रतिज्ञानम्, तस्याः सर्व्यरोगे सम्प्राप्तिभेदाभिधानेनेव कथितत्वात्, तथा निदानादिवत् सम्प्राप्ते व्याधियोधनं प्रत्यप्रधानत्वाच ; यश्च सम्प्राप्तिभेदोऽभिधातव्यः स सर्व्यर्थे गिसाधारण एव ; भेदस्त तस्या वातादिदोपमात्रकृत एव ; वातादिभेदश्च निदानभेद एव ; अन्ये तु ह्युवते—सम्प्राप्ति नाभिधास्यत्येवायम् , यदेतत् ;—'स यदा प्रकृषितः" इत्यभिधास्यति, तिन्दानारूपताति निदानान्तर्गतमेव ॥ १० ॥

चक्रपाणिः - रुक्षेत्यादि । वातप्रकोपणं प्रति रुक्षस्य प्रधानत्वेनाप्रेऽभिधानम् ; रुक्षो हि गुणो वातगुणेषु प्रधानम् ; आस्थापनं यद्यपि वातहरमुक्तम् ,—"आस्थापनानुवासनन्तु खलु सर्व्ववातिवकारेषु प्रधानम्" इति वचनात्, तथापीहास्थापनस्यातियोगो वातहेतुरुक्त एवेति र दोषः ; वचनं हि—'वत्क्वेशाग्निवधो स्नेहान्निरूहात् पवनाद् भयम्" ; निरूहश्चानुवासनं

कृत्वा युक्त एव मात्राकृतः साधारणवातहर इति सिद्धान्तः ।

'स यदा' इत्यादिना सम्प्राप्तिमाह—'यदा' इति वचनात्। एवं कुपितोऽिष वायुर्यदा आमाशयप्रवेशादिसम्प्राप्तियुक्तो भवति, तदैय ज्वरं करोति नान्यदेति दर्शयति त्तइ मिर्श्रासृत आग्रसाहारपरिणामधातुं रसनामानम् स्नन्वेत्य रसम्बेदवहानि स्रोतांति पिधायाग्निमुपहत्य पक्ति-रथानान् उपनाणं वहिनिरस्य केवलं श्रारसनुपद्यने, तदा

तनः पूर्वस्वोपदेशार्थं ते चयादयो न पुनर्वाच्या भवन्ति; इति गनित कृता निदानानन्तरं वातव्यरसम्माप्तिमाह—स यदेखादि। स वायुयंदा उक्तस्काचन्यतमैकानेकनिदानतः सिच्चतः सन् यदा वातव्यरक्तारणायुभक्षम्पक्तेन संस्व्यमानः भचोदितः प्रकृपितः स्वस्थानात् प्रसरन् आर्ण्युभक्षम्पक्तेन संस्व्यमानः भचोदितः प्रकृपितः स्वस्थानात् प्रसरन् आर्ण्यं प्रविद्य नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय इति स्मृत इत्युक्तरूपं प्रविद्य साक्ष्मियतो वक्ष्यमाणं पृच्वेरूपं मुखवैरस्यं ग्रुरुगात्रत्विमत्यादिकं जनयित, ततो यदुप्तणो जटराग्नेः स्थानं नाभेर्वामत ऊद्धं स्थानं तदात्मकपच्यमानाशयं प्रविद्यं तत्रस्यनोप्पणा जटरायिना मिश्रीभूय आदंत्र रसनामानमाहारपिर्णामनो यो द्रवरूपो धातुस्तं धातुं न तु तत्पोपितं रसनामानं धातुं शारितम् । अन्ववेत्यानुगम्य । रसवहानि सप्तशतानि मूक्ष्मच्छिद्राण गाभिकन्दजानि स्रोतांसि स्वेदवहानि रोमक्रपादीनि पिधायादृत्य । अगिपित उक्तजटराग्निम् उपहत्य मन्दीकृत्य पक्तिस्थानादिति नाभेर्वामत ऊद्धं खानंत् उप्पाणं तस्य जाटराग्नेरोप्प्यं वहिनिरस्य कियदंशेन रोमकृपत्र पितं कृत्तानं उपाणं तस्य जाटराग्नेरोप्प्यं वहिनिरस्य कियदंशेन रोमकृपत्र पितं कृत्तानं कृत्तानां गारिते वायुव्यानाव्यो यः कृत्त्वदेहचरः न तु प्राणनां कृत्स्तानां गारिते नामेवानां कृत्स्तानां

'प्रविश्यामाशयम्' इत्यनेन ज्वरकत्तुं देषिखामाशयदूषकत्वं दर्शयित ; यद्य वायोर्जरणान्तप्रामाशयिवशुद्धवर्थं ल्रह्ममुत्सर्गतो वदन्ति ; यद्यपि चामाशयप्र ; अन्यथा, एतदेवारम्मादिहम्यत एव ; यतः आमाशय एव विह्रस्थानम्, "नाभिस्तनान्तरं शेषे च जहादो प्रतिनियमेन
इति वचनात्, तथापि विह्रस्थानस्यामाशयेकदेशत्वेनामाशयप्रवेशोऽ जिलविशेषे जरणान्तादौ च वात[श्टिविशेषेण लभ्यत इति ; अत एवोक्तम्—"उप्मणा सह ि त्रणान्त इत्यादि ; धम्मोन्त इति
इत्युच्यमाने आहाररसेऽपि मधुररसादौ प्रसक्तिः स्थात्, अपकत्य व्यभिवृद्धिरिति व्यवस्था ।
सातुराहारपरिणामधातुस्तमिति ; तेन आहारपरिणामधातुर न्याद्य इत्युच्यते ; व्यग्प्रहणेनैव
—'आद्यम्' इति प्रथममित्यर्थः । रसमिति वक्तव्ये 'मिद्दर्शनार्थम् । क्लृप्तीभावोऽप्रवृक्तिः,
सतीति 'रसः' इति व्युष्पत्तिमात्रेण रक्तादिषु रससंज्ञां किंवा, क्लृप्तीभावो भेदः स्कुटनमिति
ग्रह्यति, एवमन्यश्रापि च यरपदमधिकार्थमिह प्रतीयते क्रिश्च काश्चित्रित्यानुपक्तवेनेति चलाचलाः,
इतमेव विस्पष्टार्थे तन्त्रं युज्यते । अन्विति यथोक्तः जान्वधोजङ्कामध्यमांसपिण्डका ; भग्नं

कटीपार्वपृष्ठस्कन्धवाह्वं सोरसाञ्च भग्नरगणमृद्धितमथितचिट-तावपीड़ितावनुन्नत्विमव, हन्वोश्चाप्रसिद्धः स्वनश्च कर्णयोः शृङ्खयोनिस्तोदः कषायास्यता त्रास्यवैरस्यं वा मुखतालुकण्ठ-शोपः, पिपासा हृदयप्रहः शुष्कच्छिद्धः शुष्ककासः चरथूद्धार-विनिम्नहोऽन्नरसखेदः प्रसेकारोचकाविपाकाः, विषादजुभ्मा-विनामवेपशुश्रमभ्रमप्रलापप्रजागरण-रोमहर्षदन्तहर्षाः तथो-पणाभिप्रायता, निदानोक्तानुपश्यो विषरीतोषश्यश्चेति द्वान-ज्वरिलङ्गानि स्युः॥ ११।१२॥

सन्धीनाश्च विश्लेषणं द्विधेव । जन्नीः सादोऽवसन्नता । कञ्चादीन् सिवः गान्ति । कृष्णं भग्नादिलमिव वेदना कञ्चाः भग्नलमिव पाश्चेयो रुग्णतिमव पृष्ठे कि वालः मिव एक कि वालः मिव पाश्चेयो रुग्णतिमव पृष्ठे कि वालः मिव स्कन्धे मिथतलिमव वाह्नोरुत्पाटितलिमव असयोरवपीहित हित्रिमिव उससो वन्धभूतलिमव वेदना इत्यर्थः । इन्वोश्चाप्रसिद्धिरचालनलिमव । विनश्च कर्णयोः शङ्कादिध्वनिरिव । शङ्कयोलेलाटस्योभयतोभागयोनिस्तोदः निः शेपतो वेदना । कपायास्यलमास्यक्षपायता आस्यवैरस्यं स्वभावरसान्यथानाः । मुलादिशोपः । पिपासा मुलादिशोपाभावेऽपि जल पातृमिच्छा । इदयग्रहो वक्षोग्रहः । शुष्कच्छि इछि देवेगमात्रम् । शुष्ककासो निष्ठेव गामावे सित कासः । क्षवधूद्वारिविनग्रहः क्षवोद्वारयोर्गष्टितः । अत्ररः खेदः खिद विघाते इति अत्ररसास्वादनिवधातः । प्रसेको मुलसावः । विनामः नति शिरस्तम् । अमोऽनायासश्रमः । भ्रमश्रकस्थितस्येव भ्रमणम् । प्रलापोऽन कान्वस्थिवनमुद्धा । भ्रमश्यकस्थितस्येव भ्रमणम् । प्रलापोऽन कान्वस्थिवनमुद्धा । भ्रमश्यकस्थितस्येव भ्रमणम् । प्रलापोऽन कान्वस्थिवनमुद्धा । विद्यानोक्षायत्व । विद्यानेकष्ठित्व । विद्यानेकष्ठ । विद्यानेकष्ठ । विद्यानेकष्ठ । विद्यानेकष्ठ । विद्यानेकष्ठ । विद्यानेकष्ठ । विद्यानेकष्ठ । विद्यानेकष्ठ । विद्यानेकष्ठ । विद्यानेकष्ठ । विद्यानेकष्ठ । विद्यानेकष्यानेकष्ठ । विद्यानेकष्ठ । विद्यानेकष

किञ्चिद्वशेषेण च्छिन्नम् ; मृद्तिं पाइवीवमोटितम् ; अवपाटितमेकदेशोत्पाटितम् ; अवनुन्नं प्रोरितम् ; एपाञ्च भग्नादीनां छोकत एवार्थावगितः ; यतः, छोकिकैरेव एते शब्दाः प्रसिद्धत्वेन् तत्र तत्र शास्त्रैरभिधीयन्ते । हन्वोरप्रसिद्धिरिति हन्योः स्वव्यापाराकरणम् ; आस्यस्य वेरस्यमिति अरसञ्चता ; अन्नरसखेदोऽन्नरसे मधुररसादौ खेदः सर्व्वरसेप्वनिच्छेत्यर्थः ; किंवा अन्नरसस्य खेटो वमनमन्नरसखेटः । अरुचिर्वश्यमाणा वन्ने प्रविष्टस्यानस्यानस्यवहरणा उप्णाक्त-लवण-जारकटुकाजीर्णभोजनेभ्योऽतिसेवितेभ्यः तथा तीच्णातपायित्नन्ता । अनको अविषमाहारेभ्यश्च पित्तं प्रकोपमापयते । तद्द यदा प्रकृषितमामाश्यं प्रविशत् प्रवोक्षमाण अपसृजदायमाहारपरिणाप्तधातुं रसनामानम् अन् अवेर र रसस्वेद वहानि स्रोतांसि पिध्य द्रवत्वाद्रयिमुपह्त्य पक्तिस्थानादुष्पाणं विहिनिरस्य प्रतीड्यत् केवलं श्रीरमनु-प्रपान, तदा ज्वरमिभिनिव्वत्तियति । तस्येमानि लिङ्गानि भविष्य । तद्द यथा —युगपदेव केवले श्रीरे व्व स्याभ्यागमनम् गुरूष्णसायस्तरपथ्यः गुलानुवन्ध इत्यनुपथ्योपश्ययोर्वातज्वरस्य दृष्टिहास-करतेत् । दिहासाभ्यामुपलिध्यहेत्तेन निदानेश्चपश्यययान्तर्भावे पृथक् चोप-श्यस्य पादानिमिति ताभ्यां दृष्टिहासे च व्याधि वातजलादिरूपेण शाप्यत इति दृष्टिहासयोलिङ्गलेनदं वचनं न लनुपश्योपश्ययोरिति । इति वातज्वरलिङ्गानि स्युरिपानील्यः ॥ ११।१२ ॥

गङ्गाधरः - क्रमिकतात् पित्तज्यरिनदानादीन्याह - उप्णेत्यादि । कटुकान्ता आहाराः । अजीणे सित भोजनम् । तीक्ष्णादीन्यद्रव्याणि । विपमाहारस्तु उप्णल्वणादिद्रव्यव्यतिरेकेणापि पित्तं कोपयतीति ख्यापनार्थ पृथक्षद् कृतम् । तद् यदेति पित्तज्वरसम्प्राप्तिः । तत् पित्तं प्रकुपितिमत्यादि पृव्वेवव् व्याख्येयम् । तत् पित्तं प्रकुपितिमत्यादि पृव्वेवव् व्याख्येयम् । तत् पित्तस्य तेजसस्याग्न्युपहन्तृसाभावाशङ्कानिरासायोक्तं द्रवतादिति । द्रवतेजसेनाद्रवतेजसोपघातः सम्भवतीति वोध्यम् । युगपदेवत्यादिना पित्तज्वर् लिङ्गानि । केवले कृत्तस्न श्रीरे युगपदेव ज्वरस्याभ्यागमनमुत्पत्तिरिमवृद्धिः बोद्धवा ; उप्णाभिन्नायता उप्णिव्यता । निदानोक्तानामनुपशय इति वचनेनैव विपरीत उपशयोऽर्थल्ववोऽपि स्परार्थमुच्यते ; किंवा अर्थापत्तेसनैकान्तिकत्वेन उद्यते ; यथा, - नवज्वरे दिवास्वक्ते प्रतिपिद्धेऽर्थापत्त्या प्रराणक्वरे दिवास्वक्तं प्राप्तोति, अथच तत्र दिवास्वक्ते न विद्यत इति अर्थापत्तेकान्तिकत्वमस्ति ; निदानोक्तानामित्यत्र 'उक्त'महणाद , यदेव निदानत्वेनोक्तम्, त्रियेवानुपशयित्वं न्दिर्शतं, न पुनर्यस्यापाततो निदानत्वं प्रतिभाति ; तेन मदात्ययादौ स्यादेनिदानत्वेन प्रतीयमानस्वापि उपशयित्वमेष ॥ १९११२ ॥

चक्रपाणिः—उप्णेत्यादिना पित्तज्वरमाह—तद्यदेत्यादि पूर्ववद् व्याष्येयम् ; द्रवत्वाद अग्निमुपहत्येतिवचनादृष्णस्यापि पित्तस्य द्रवत्वेनाग्निवपरीतेन गुणेनाग्निहन्तृतां द्शयति ; अभिवृद्धिर्वा, भुक्तस्य विद्र।हकाले मध्यन्दिनेऽद्धरात्रे श्रिद वा विशेषेण, कटुकास्यता, वाण्यभुलकण्ठौष्ठतालुपाकस्तृष्णाक मदो भ्रमो मूर्च्छा पित्तच्छद्दनम् अतीसारोऽल्लद्धेषः सदनं

मकोप इति द्वयम् । वाशब्देनाभिष्टद्धिश्च ज्वरस्य विदाहकाले पच्यमानकाले । मध्यन्दिने त्रिभागीकृतदिनस्य]मध्यभागे, एवमद्धेरात्रेऽपि वौध्यम्। एवं दिव-सान्तादिच्योख्यातः। वाशब्देनानियतलं ख्यापितम्। विशेपेण कटुकास्यता तिक्तास्यता। महारोगाध्याये हि पित्तनानात्मजेषु तिक्तास्यत्वमुक्तम् अन्ये तु कटुः स्यात् कटुतिक्तयोरिति स्मृत्या तथा योऽम्लं भृशोष्णं कटुतिक्तव् ः पीतं सरक्तं हरितं वमेद् वा। सदाहचोपज्वरवऋशोषं सा पित्तकोपप्रभवा वि छिहिः। इति सुश्रुतवचनाच कटतिक्तान्यतरास्यल्यमिच्छन्ति, दृश्यते हि लिन्हेस्यल-मेव ज्वरे इति । घ्राणादीनां पाकः क्षतः पिड़काभिनिन्द्र त्तिः । मद् मर् गर् पूगधुस्तूरादिभक्षणे यादशलं तदिव। भ्रमश्रकस्थितस्येव भ्रमणशीलवस्तु-खदेहभ्रमणज्ञानश्च। यद्यपि महारोगाध्याये वातजाजीति-विकारेषु भ्रमोऽभिहितस्तथापि रजःपित्तानिलाद् भ्रम इति वचनात् वातजल-वत् पित्तजलमपि भ्रमस्य रूयापनाथेमिदं वचनं वातज्वरेऽपि भ्रमस्योक्त-लात्। अन्ये तु न रोगोऽप्येकदोषज इति वचनात् पैत्तिकेऽपि वातानुवन्धाद् भ्रम इत्याहुः, तन्न, सन्वेषां प्रेरकत्वेऽपि वायोनं पैत्तिके ज्वरे आरम्भकत्वम्, न हि स्वनिदानकुपितस्तत्र वायुः किन्तु एकः प्रकुपितो दोषः सर्व्वानेव प्रकोपयेदिति वचनात् प्रेरकलशक्तिपात्रेणैव वायोः कोपो न तु रुक्षलादि-धम्मेण। तथाले हि वातपित्तजलव्यपदेशापित्तरस्यतरलक्षणापित्रश्च। परे तु दोषद्व्यसंयोगप्रभावात् कारणदृष्टस्यापि कार्य्यत्वेन सम्भवो यथा इरिद्रा-चर्णसंयोगाद्रक्तत्वपरुणत्रञ्च नीरूपतेऽपि वातातिसारे पुरीषस्य इत्याहुरतदिप न मनोरमं तथाविश्ररूपान्तरापत्तेः। केचित् तु पित्तदृषितनेत्रलेन शृहः पीत् इति ज्ञानवद्भ्रमज्ञानमाहुः। मूर्च्छन्धिकारभवेश इव ज्ञानम्। पित्तच्छोन-मिति कर्फ विना केवलिपत्तवान्तिः। अतीसार इति पित्तस्य सरहेन वस्यति हि प्रहण्यध्याये—"आष्ठावयद्धन्त्यनलं जलं तप्तमिवानलम् इति ; वहिः प्रपोड्यदिति-वचनेन पित्तज्वरे वातज्वर हव न सहसा वह्निक्षेपणं भवति, किन्तु शनैः स्तोकक्रमेणेति दर्शयति।

^{े *} तृष्णेत्यन्न अष्मेति पाठान्तरम्।

स्वेदः प्रलापो रक्तकोठाभिनिव्वृ क्तिः शरीरे । हरितहारिद्रस्वं नख-नयनवदनमूत्रपुरीपत्वच।मत्यर्थमुप्मणस्तीव्रभावोऽतिमात्रं सद्रविद्पर्रतिने सतीसाररोगः, तस्य ज्वरोपद्रवसेनोक्तसात्। तु यदा सद्रवमष्टत्तिस्तदा पित्तज्वर एव यदा तूपद्रवलेनातिसाररोगस्तदा ज्वरातिसार इतीच्छन्ति। वस्तुनस्तु द्रवपुरीपलिमिति नोक्लातिसार इति वचनेन द्रवातिसरणं वातादिज्वरापेक्षया स्यात् तथा रसधातोरति-रुद्धले पित्तदूपितले च यस्पिन् पित्तज्वरे पित्तस्येव पुरीपिभश्रता च स्यात् तस्मिन् पित्तञ्वरे त्रतीसारो भवति, अतिसार-ज्वरयोस्तुल्यसम्माप्तिकलात् इत्युगयरूपलं रूपापितिमिति । केचित् तु अस्या-मेवावस्थायां ज्वरो ज्वरातिसार इत्याहुस्तव् यथा पित्तज्वरे पित्तभवोऽतिसारः तथातिसारे यदि वा ज्वरः स्यात्। दोपस्य दृष्यस्य समानभावात् ज्वरातिसारः कथितो भिषग्भिरिति। अत्र तथातिसारे पित्तजातिसारे इत्पर्थः 🖒 अन्ये तु वाताद्यतिसारेऽपि वातादेरामाश्चयगमनम् अब्धातु-विशेषरस्यातुदृषणञ्चेति ज्वरस्य दोपदृष्यसामान्याद् यदि वाताद्यति-सारेऽपि ज्वरः स्यात् तदा सोऽपि ज्वरातिसार उच्यते, तेन ज्वरातिसारे भेपज-विधानं पृथगिष्यते यतो ज्वरघ्नं प्रायशो भेदि, अतिसारघ्रन्तु स्तम्भि। तच मत्येकं न युज्यते इत्याहुः। तच न चरकसुश्रुताद्यभिमतं युक्तया ज्वरोक्ताति-सारोक्तभेपनयोमिंश्रेण भेपनकल्पनया सिद्धः, क्रियासामान्यश्च युक्तयाभि-सन्पायं प्रयोक्तुपहेति। विह्नबद्धेनपाचनादिकं हि लङ्गनादिकं ज्वरे चाति-सारे च युक्तं दृश्यते इति ज्वरातिसारः पृथङ् नोक्त इति । उपद्रवाणाश्च खख-चिकित्सा विहिता, अन्यथा तत्तदुपद्रववतां प्रत्येकं चिकित्साविशेपस्य वाच्य-लापत्तिः स्यात्। न चातिसारज्वरयोविरुद्धोपक्रपोऽस्ति तावानेव, लङ्घनादि-समोपक्रमद्शंनात् । अनद्वे पोऽहचिः, सदनमङ्गानाम् । स्वेदो घम्मेपृष्टत्तिः, सन्वे-**ज्वरे प्रायशो घम्मेनिरोधेऽपि पैत्तिकादिज्वरे पित्तस्य तैक्ष्णप्रात् ज्वरप्रभावाद्वा** यम्मेनिरोधो न स्यात्। प्रलापोऽसम्बन्धवचनं वातकाय्येवत् पित्तकार्य्यश्च। रक्तकोटाभिनिच्टे त्तिरिति ज्वरप्रभावात् पित्तातिशयकोपाद्दा रक्तस्य दुष्ट्या रक्त-वर्णकोटः स्यात्, कोटस्तु वरटीद्पृदेहप्रदेशे इव क्षणिकोत्पत्तिविनाशी मण्डला-युगपदेवेति न वैपम्येण ; अभ्यागमनमभिवृद्धिवेति च पूर्वेण, युगपदेवेत्यादिना परेण च विशेषेणेत्यन्तेन च प्रम्थेन सम्बश्यने ;् कोठाभिनिर्म्बृत्तिः शरीर इति च्छेदः॥ १३ ॥

दाहः शीताभित्रत्यता निटाने कानुष्य्या विषयीतोष्य्यश्चेति पित्तज्वरितङ्गानि भवन्ति ॥ १३ ॥

स्निग्ध-गुरु-मधुर-िव्छल-शितास्ल-लवण-दिधासमहर्षा-ट्यायामेभ्योऽतिसेवितेभ्यः श्लेष्मा प्रकोपमापयते । स यदा प्रकृपितः प्रदिश्यामाश्यमुष्मणा सह मिश्रीभूय आग्रमाहार-परिणामधातुं रसनामानमन्यदेत्य रसस्वेदवहानि स्रोतांसि पिधायाग्निमुण्हत्य पक्तिस्थानात् उष्माणां वहिर्निरस्य प्रपीड्यन् केवलं श्रीरमनुप्रपयते, तदा ज्वरमिमिन्टर्वर्त्तयति । तस्येमानि लिङ्गानि भवन्ति । तद् यथा—युगपदेव केवले श्ररीरे ज्वरस्याभ्यागमनमिमवृद्धिर्वा । सुक्तमात्रे पूर्व्वाह्णे पूर्व्व-रात्रे वसन्तकाले वा विशेषेणा । ग्रुरुगाइत्वम् अनन्नाभिलाषः श्लेष्मप्रसेको मुखमाधुर्यं हृङ्णासो हृद्योपलेषः स्तिमित्रत्वं कारः शोफः । हरितहारिद्रतं हरितत्वं, पलाशपुष्पवणेतं हारिद्रत्वं हरिद्रा-वर्णतं व्यस्तत्वेनेह वोध्यं युगपदसम्भवात् । उष्मणो देहे वहिरूप्मणोऽत्यर्थं तीव्रभावः । शेषं सुगमम् ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः — क्रमिकलात् कपज्वरिनदानादीन्याह — स्त्रिग्धेत्यादि । लवणान्ता आहाराः । स्वभावा विहाराः । हषौ मनःप्रद्धादो न तु मैथुनम् । स यदेत्यादिना इलेष्मज्वरसम्प्राप्तिः । स इति इलेष्मा । प्रकुपित इति उक्तस्त्रिग्धादिनिदानान्यतमैकानेकातिसेवनेन यद्यदंशेन दृद्धस्तत्तदंशतो दृद्ध इत्यथेः । एवं सन्वेत्र व्याख्यातव्यम् । शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम् । इलेष्मज्वरिक्षान्याह — तद् यथेत्यादि । युगपदेवत्यादि पूर्ववद् व्याख्यातव्यम् । ह्लासो हृदयस्थ-

चक्रपाणिः—स्निग्धेत्यादिना इलेप्मज्यसमाह—स यदेत्यादि पूर्व्वत् कपज्यरेऽपि च्याल्येयम् ; नजु इलेप्मण आमाशयः स्थानम् , तत् किं प्रविद्यामाशयमिति वचनेन १ नेवम् , इलेप्पण उरोऽपि प्रधानं स्थानम् ; तेन इहोर स्थस्यापि इलेप्पण आमाशयप्रवेशं दर्शयति ; यत् तु केवलामाशयस्थितं पित्तम् , तत्र 'आमाशयं प्रविद्य' इति न कृतम् किन्तु, 'आमाशयाद्यमाणमुत्सज्य' इति कृतम् ; पित्तं ह्यामाशयप्रविष्टमेव भवति ; त्रष्टामाशयकदेशस्थं प्रद्यीमपामाशयकदेशं विद्वस्थानं स्वस्थानाद गच्छतीति युक्तम् । युगपदित्येककालम् , एकदैव

छिद्दिद्विद्विता निद्राधिक्यं स्तम्भस्तन्द्रा कासः श्वासः प्रति-श्यायः शैत्यं श्वैत्यश्च नखनयनवदनमूत्रपुरीपत्वचामत्यर्थश्च शीत-पिड़का भृशमङ्गेभ्य उत्तिष्ठिन्ति, उष्णाभिप्रायता निदानोक्तानुप-श्यो विपरीतोषश्यश्चेति श्लेष्मज्वरिक्षिङ्गानि भवन्ति ॥१४॥ विपमाशनादनशनाद्वस्थापरिवर्त्तोहतुव्यापत्तेः श्रसात्म्य-

कक्तस्योपस्थितवमनिव । हृद्योपलेषः अन्तवक्षःस्थरलेष्मणान्तर्वक्षितः उपलेषः । स्तिमितल्पाद्रेवसनावगुण्ठितल्पाव मन्यते गात्रम् । छिद्दैः कक्तस्य, मृद्वियता वातादिष्वरापेक्षयाऽधिकमन्दायिता सन्वेष्वरेऽपि विद्वमान्द्रात् । निद्राधिवयं वात्रष्वरे निद्रानाशः पित्तष्वरेऽल्पनिद्रा कक्ष्वरेऽस्मिन्नधिक-निद्रिति वोध्यम् । स्तम्भः शरीरस्य पुरीपस्य च । तन्द्रा निद्रावदक्षेन्मीलित-नेत्रत्वं मेरकवायोनेत्रस्थानगतलात् । कासः सङ्लेष्मा । मित्रयायो नासा-स्नावः । शैत्यं शीतल्प् । श्वेत्यं क्वेतवणलश्च नखादीनामत्यथमन्यत्र तु न तथा । शीतिषद्भाः शीतमारुतादिसम्भवकोठवच्छोका उद्दे इत्याख्याः भृशमत्यर्थ-मृत्तिष्ठन्त्यङ्गेभ्य इति । शेपं पूर्ववेवत् ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—क्रमिकलाट् वातिपत्तादिद्दन्द्दसिन्नपातानां निदानादीन्याह— विपमेत्यादि। विपमाशनं वातादिकोपनमनशनं वातिपत्तकोपनम् अन्नपरिवत्तं इहान्नपरिणामः स च पित्तकोपन इव वातकोपनश्च, उक्तं हि भुक्ते जीय्येति भोजने चेत्यादि। ऋतुच्यापत्तिः ऋत्वयोगातियोगिमध्यायोगाः त्रिदोप-फफज्वरे सर्व्वशरीरव्याप्या भागमनमिवृद्धिंवा भवतीति दर्शयति। शीतिपङ्कास्तन्त्रान्तरे इवेतिपङ्का उच्यन्ते ; 'तस्येमानि छिङ्गानि भवन्ति' इत्येतावतैव कफज्वरिङ्कत्त्वे छव्धे पुनः 'इलेप्पज्वरिङ्गानि भवन्ति' इतिवचनं किमर्थम् १ व्याः—'तस्य'इतिपदेन स्वदोपमात्र-प्रत्यवमर्पोऽपि स्यात् ; तेन दोपिङङ्गत्तेव परं छिङ्गानां सा स्यादित्येतदर्थं पुनरिभधानम् ; किंवा पूर्वप्रतिष्ठ्या छिङ्गानां प्रागवच्छेद उक्तः, उत्तरेण इलेप्पज्वरिङ्गानि भवन्तीत्यने-नान्त्यावच्छेद उच्यते ; पुनमन्यन्नापि वातज्वरादौ पूर्व्यस्पे च पुनरुक्तः परिहर्त्तव्या। १४॥

चक्रपाणिः—विपमाशनादिना द्वान्द्विकसान्निपातिकज्वरानाह । अनशनं यद्यपि न पित्तश्लेष्म-करंम् , तथापि अग्निमान्द्यकरत्वात् त्रिदोपकर्मिप भवति ; किंवा एपु विपमाशनादिपु यथायोग्यतया द्वन्द्वकारणत्वं त्रिदोपकारणत्वज्ञोन्नेयम् ; तेन अनशनं वातिपत्तकरं वोध्यम् ; यत् तु पित्तहरत्वमुक्तमनशनस्य, तत् तु द्रवांशक्षयात् ; वचनं हि—"कफिपत्ते द्रवे धात् सहेते लङ्गनं गन्धोपद्याणात् विपोपहतस्य चोदकस्योपयोगाद् गरेभ्यो गिरीणाञ्चोपरलेपात् स्नेहस्वेदवमनविरेचनास्थापनानुवासन-शिरोविरेचनानाम् अयथावत् प्रयोगात् मिथ्यासंसङ्जनाद्वा स्त्रीणाञ्च विपमप्रजननात् प्रजातानाञ्च मिथ्योपयोगात् यथोक्तानाञ्च हेत्नां मिश्रीभावात् यथानिदानं द्वन्द्वाना-मन्यतमः सर्व्वे वा त्रयो दोपा युगपत् प्रकोपमापद्यन्ते,

कोपनाः। असात्म्यगन्धोपघाणं त्रिद्ोपकोपनम्। विषोपहतोदकोपयोग-स्तिदोपकोपनः। गरथ त्रिदोपकोपनः। गिरीणामुपक्छेपथ त्रिदोपकोपनः। स्नेहादीनामयथावत्प्रयोगस्त्रयोगातियोगरूपस्त्रिदोपकोपनः। ज्जनश्च स्तेहादीनामविधिना पथ्ययोगस्त्रिदोपकोपनः। स्त्रीणाश्च विपम-मजननमल्पकाले कालात्यये वा विपुलदेहापलस्य वा प्रसवस्तिदोपकोपनः। प्रजातानाश्च प्रस्तानां स्त्रीणाश्च मिथ्योपचारो विधिविषय्यंयेणाहारो विहार्श्व त्रिदोपकोपनः। प्रजातेति कर्त्तरि कः। यथोक्तानाश्च हेतृनां वातादि-ज्वरोक्तानां रुक्षादीनामुप्णाम्लादीनां स्तिग्धादीनाञ्च निदानानां मिश्रीभावात् द्वन्द्वानां त्रयाणां वा मिलितत्वेन सेवनात्। यथानिदानं यस्य वातादेद्वंनद्वा-न्यतमस्य त्रिकस्य वा यद्यदंशतो बढेकनिदानं सेवितं भवति तत्तदंशतो द्वन्द्वानामन्यतमो वातिपत्तरूपो वात्रक्षेष्मरूपो वा पित्तरक्षेष्मरूपो वा द्वन्द्वो दोपः। सन्वे वा समस्तास्त्रयो दोपा वा युगपत् एककालमेव प्रकोपम् आपद्यन्ते। सन्वे इतिपदेन प्रत्येकं त्रयाणां दोपाणां प्रकोपन्यदछेदः। एवं द्वन्द्वपदेन वोध्यम्। युगपदितिपदेन पूर्व्योत्तरकाले मिलितत्वेन कोप च्यवछेद इति । एतेन तन्निरस्तं यदुच्यते पित्तं येन वर्द्धते तेन कफोपशमनं येन त इलेप्सा वर्छते तेन पित्तस्य मारुतस्यापि प्रशमनं भवतीति। महत्" इति । अन्नपरिवर्त्तीद्ति सहसेवाक्रमेण कृताभ्यस्तान्नपरिवर्त्तात् ; असारम्यगन्धोपव्राणात् असात्म्यगन्धद्गृत्यस्य नासिकयान्तःप्रवेशाद् यथा दोपकरो भवति, न तथा असात्म्यरूपाद्यः ; ते हि नावर्गं शरीरं विशन्त ; तेन नेहासात्म्यरूपाद्य उक्ताः। यथानिदानमिति यदा द्वयोर्निदानं सेन्यते, तदा द्वन्द्वः, यदा त्रयाणाम्, तदा त्रयो दोपाः ; द्वन्द्वे ६िप यदा वात-िपत्तयोर्निदानं सेन्यते, तदा वातिपत्तरूपं द्वन्द्वम् ; एवमन्यदिप कुप्यतीत्यर्थः । सर्वे त्रयो दोषा इत्यनेन लब्धेऽपि 'युगपर' इति वचनं क्रमप्रकोपप्रतिषेधार्थम्, युगपदेव प्रकोपमापद्यन्ते

ते प्रकृषितास्तयेवानुपूट्यां ज्वरमिनिटर्वर्त्तयन्ति। तत्र यथोक्तानां ज्वरिक्षङ्गानां मिश्राभावविशेषदर्शनात् द्वान्द्रिक-मन्यतमं ज्वरं सान्निपातिकं वा विद्यात्॥ १५॥ 2682

सिंख्यानलयोरिव विरोधात्। युगपत् प्रकोपासम्भवो यथा—तीक्ष्णोप्णाम्ल-कट्गुणस्य पित्तस्य रुक्षशीतल्ध्वादिगुणस्य वातस्य गुरुशीतमृदु-स्त्रिग्यस्तिमितपिछिलगुणस्य कफस्य परस्परं गुणविरोधाच विक्षजलयोरिव परस्परोपघातात् मिलिल्वेककार्य्यारम्भकलं नोपपद्यते, तत् कथं दृन्द्दसिन्नपात-विकारसम्भव इति ? विषमाशनादीनां यथायोग्यं प्रभावात् दृन्द्दसिन्नपात-दोपकोपकलं वोध्यम्। अन्यथा पश्चमहाभूतानामपि परस्परविरुद्धगुणलात् जगदारम्भानुपपत्तिश्च। दृद्वलेन लन्यथा उपपादियिष्यते। विरुद्धरिप न लेते गुणवर्ननित परस्परम्। दोपाः सहजसात्म्यलाद् घोरं विषमहीनिव।। इति।

द्वन्द्वसिन्नपातज्वराणां सम्माप्तिमाह—ते प्रकृपिता इत्यादि । ते द्वन्द्वाः सन्वे वा त्रयो दोपाः । तयैवानुपूर्व्यति वातादुप्रक्तसम्माप्त्यनुरूपया, तथाच ते यदा प्रकृपिताः प्रविद्यामाश्चयमुप्मणा सह मिश्रीभूयाद्यमाहारपरिणाम-धातुं रसनामानमन्ववेत्य रसस्वेद्वहानि स्रोतांसि पिधायाग्निमुपहत्य पक्तिस्थानादुप्माणं वहिद्वारं निरस्य केवळं शरीरमनुपद्यन्ते तदा ज्वरमिन-निव्वत्तंयन्तीत्यर्थः ।

द्वन्द्वसिन्नपातज्वराणां लिङ्गान्याह—तत्रेत्यादि । तत्र द्वन्द्वसिन्नपातज्वरेषु
मध्ये प्रत्येकश उक्तानां वातादिसम्भवज्वरिङ्गानां मिश्रीभावविशेषदर्शनात्
द्वान्द्विकमन्यतमं ज्वरं विद्यात् । ययोरेव वातादिजयोद्वेयोज्वेरयोः
उक्तानामेव लिङ्गानां मिश्रीभावे सत्येकैकजाट् विशेषरूपदर्शनात्
पृथग्जेभ्यो भिन्नरूपदर्शनाच द्वान्द्विकमन्यतमं तद्वातिपत्तादिद्वन्द्वेन
मक्कतिसमसमवायारव्यं तद् द्वान्द्विकं ज्वरं विद्यात् । ययोर्वाताद्योः द्वयोः
ज्वरयोरुक्तानां लिङ्गानां विपमारम्भिलादीनां मिश्रीभावस्य ततोऽतिरिक्तलिङ्गविशेषस्य च दर्शनं तद्वातिपत्तादिप्रत्येकज्वरोक्तानां तद्वाताद्योः
द्योज्वेरयोल्डिङ्गानां तदितिरिक्तलिङ्गानाश्च दर्शनात् । तद् वातिपत्तादिद्वन्द्वेन

न कमेणेत्यर्थः । ज्वरिकङ्गानामित्यादो मिश्रीभावविशेषा वातिषक्तिङ्गं वातश्लेष्मिकङ्गं वा पित्तद्लेष्मिकङ्गं वा ; अन्यतमिमिति वातिषक्तज्वरादिकम् ॥ १५ ॥

अभिघातासिषङ्गासिचारासिशापेस्य आगन्तुहि व्यथा-पूट्यीऽष्टमो व्यरो भवति । स किञ्चित्कालमागन्तुः केवलो

विकृतिविषमसमवायारव्यं तद् द्वान्द्विक ज्वरं विद्यात्। एवं वातादि-जानां त्रयाणां ज्वराणां प्रत्येकत ज्कानां लिङ्गानां मिश्रीभावमात्र-दर्शेनात् तदितिरक्तिलङ्गिविशेषाद्शनात् प्रकृतिसमसमवायारव्यं सान्नि-पातिकं ज्वरं विद्यात्। मिश्रीभावस्य तदितिरक्तिलङ्गिविशेषस्य च दर्श-नात् तु विकृतिविषमसमवायारव्यं सान्निपातिकं ज्वरं विद्यात्। एतेनैतद् जक्तं भवति—प्रकृतिसमसमवायारव्यं द्वन्द्वजे सान्निपातिकं वा व्याधौ प्रकृति-भूतयोद्धयोद्शेषयोः प्रकृतिभूतानां त्रयाणां वा दोषाणां स्वस्वकार्य्यक्ष्पाप्येव लिङ्गानि भवन्ति न तु अतिरिक्तानि। विकृतिविषमसमवायारव्ये तु तानि च तत्तिद्वशस्त्रकस्य वा दोषस्य कारणवैचित्रग्रात् कोपविशेषात् विकृतिविशेषात् संयोगतो. दोषाणां स्वस्वकम्माणि मिलिला परिणम्यासमानजातीयानि, लिङ्गानि भवन्तीति। अत्र विशेषशब्दो भिन्नवाचकः॥ १५॥

गङ्गाधरः—अथाष्ट्रमागन्तुजन्वरिनदानादीन्याह—अभिवातेत्यादि । अभि-घातोऽभिहननं शस्त्रदण्डमुष्टिलोप्ट्रादिभिः । अभिपङ्गो देवादीनां भूतानां कामादीनाश्च सम्बन्धः । अभिचारः स्येनादियागकृतः सपेपादिना लौह-स्रुचा विपरीतमन्त्रे होम इति । अभिशापो गुरुष्टद्धसिद्धव्राह्माणादीनामनिष्टाभि-शंसनम् । एभ्यश्चतुभ्येः आगन्तुभ्य आगन्तुजोऽष्टमो ज्वरो भवति ।

ननु किमभिवातादिभ्यो वातादयः प्रकृपिताः पूर्व्योक्तयैवानुपूर्व्यो ज्वर-मभिनिवेत्तयन्तीत्यत आह—व्यथापूर्व्य इति । हिशव्दो हेल्वये । व्यथा दुःख-मभिवातादिजं तदेव पूर्व्यमग्रे यस्य न तु ततो दोपकोपः पूर्व्य यस्य स तथा । ननु किमागन्तुजन्मकालावधि यावत्कालं दोपासम्बन्य एवेत्यत आह— स किञ्जिदित्यादि । स व्यथापूर्व्यो जात आगन्तुज्येरः किञ्जित्कालं

चक्रपाणिः—आगन्तुज्वरमाह्—अभिचातेत्यादि । अभिघातो छगुड़ायभिघातः ; अभि-पङ्गः कामायभिपङ्गः ; अभिचारोऽथव्वमन्त्रादिः ज्वरकरः ; अभिशापस्तु गुरुसिद्धायभिश्चपन् ; एतत् प्रधानत्वेन चतुर्व्विधं कारणिमहोक्तम् ; तेन ओपिधगन्धमूताभिपङ्गदुष्ट्यहिनिरीक्षणादयो-ऽप्यागन्तुज्वरहेतवो बोद्धव्याः ; किंवा अभिघातग्रहणेन शारीराभिह्ननवाचिनोऽसात्म्यगन्धा-द्यो ग्राह्माः ; अभिपङ्गेण तु भूताभिपङ्गादयः ; व्यथापूर्व्वमिति आगन्तौ प्रथमं व्यथा भवति, पश्चात् दोपानुबन्धकृतानि लक्षणानीति दर्शयति ; किंवा 'व्यथापूर्व्वम्' इति वचनात् आगन्तौ भृत्वा पश्चान्निजेद्पिरनुवध्यते । तत्राभिघातजो वायुना दुष्ट-शोणिताधिष्ठानेन, अभिपङ्गजः पुनर्वातपित्ताभ्याम्, अभि-

क्षणादिकं केवलो भूता दोपासम्बन्धो भूता पश्चाचिजैः शारीरैरभिघातादि-स्वस्वनिदानकुपितेयेथासम्भवैदाेषिर्वातादिभिरस्वय्यते । इति वातादयो दोपा आगन्तु ज्वरेऽनुवन्धा अनुवन्ध्यस्तु अभिघातादिरिति व्याधेरागन्त्रहेत्-प्राधान्याद् व्याधिहत्वभिघाताभिपङ्गादीनां विशेषेण चिकित्सा काय्यो वाताद्य-विरोधेन । उक्तं हि अनुबन्ध्यो विशेषेण चिकित्स्योऽनुबन्धाविरोधेनेति । नन्वभिघातादीनां कतमजो ज्वरः केन दोषेणानुवध्यते इत्यत आह—तत्रेत्यादि । तत्राभियातादिजेषु ज्वरेषु मध्येऽभियातजो ज्वरो दुष्टशोणिताधिष्टानेन दण्डाद्यभिहननेन दुष्टं शोणितमधिष्ठानं यस्य तेन वायुना न तु केवलेन वायुनानुवध्यते इत्यनुवर्त्तते तत्परेण च युज्यते। अभिपङ्गज इति काम-शोकभयक्रोयज एव तत्र भयान्तजो वातेन क्रोयजस्तु पित्तेन। अभिचाराभि-शापो तिति तुशब्दो भिन्नक्रमेऽनुक्तसमुचये च, तेन भूताभिपङ्गजो विपकृतश्र अभिपङ्गज्वरोऽभिज्ञापज्वरश्च सन्निपातेनानुवध्यते इत्यर्थो वोध्यः। वक्ष्यते हि चिकित्सिते। कामशोकभयक्रोधैरभिपक्तस्य यो ज्वरः। सोऽभिपङ्गज्वरो द्ये यो यथ भूताभिपङ्गजः। तथा, विषद्वशानिलस्पर्शान् तथान्यैविषसम्भवैः। अभिपक्तस्य चाप्याहुर्व्वरमेकेऽभिपङ्गजम् ॥ इति । अत्रोपधिगन्धजन्वरस्यान्त-र्भावस्तेन न न्यूनत्तम्। अथैपां दोपागन्तुजानामष्टानां ज्वराणामेकविध-सम्प्राप्त्यभावादेकमेव सम्प्राप्तिलक्षणं न कुला पृथक् पृथक् कृतमित्यवसेयम्। दोपजानान्तेकविधा सम्प्राप्तिभंद्ग्या व्याख्याता तेन, ज्वरं क्रुय्युः प्रकुपिता दोपास्लामाशयं गताः। रसं सन्दृष्य सन्दृष्य विक्षं कुला विहस्तथा इति।

ज्वरे व्यथेव पूर्वरूपमिति वद्गितः; रूपन्तु यदेव ज्वरस्य प्राव्याक्ष्मिकं सन्तापरूपम्, तदेव वातज्वरादिरुक्षणरिहतं वोद्धव्यं प्रथमतः, उत्तरकालीनदोपानुवन्धे तु यथावद्ध्यमाणदोपिलङ्गान्येव भवन्ति; अस्म इति वचनेनाभिधातादिहेतुचतुरुययोगप्राप्तं चातुर्व्विध्यं निपेध्य व्यथापृर्व्वक-त्वेनैकरूपयोगादेकविधत्वं चतुर्णां दर्शयति; चातुर्व्विध्ये ह्यागन्तोर्नास्मत्वम्, नवमत्वा-दयोऽपि स्युः। किञ्चित्कालमिति स्तोककालम्; केचित् 'त्रवहम्', अन्ये 'सप्ताहम्' आहुः; आगन्तो सप्ताहादृद्धं दोपलिङ्गानि भवन्तीति दर्यम्; तस्य यस्यागन्तोर्यादशो दोपानुवन्धोऽस्ति, तमाह—तत्राभिधातेत्यादि। वातिपत्ताभ्यामिति कञ्चिद् वातेन, कश्चित् पित्तेन, कश्चिद् धातिपत्ताभ्याम्; वचनं हि—'कामशोकभयाद वायुः कोधात् पित्तं त्रयो मलाः। भूताभिन चाराभिशापजौ तु सन्निपातेनानुवध्येते। स सप्तविधात् ज्वराद् विशिष्टिलिङ्गोपक्रमसमुत्थानत्वाद् विशिष्टो वेदितव्यः,

दोपजानां सामान्यलक्षणं वोध्यम्। एवमन्यत्राप्युक्तं—मिथ्याहारविहारस्य दोपा ह्यामाञ्चयाश्रयाः। वहिनिरस्य कोष्टाग्निं ज्वरदाः स्य रसानुगा इति। ज्ञोपं सुगमम्।

ननूत्तरकालं निजैद्धिरनुवन्ध्यत्वेनायं कथमप्टम उच्यते, इत्यत आह— स सप्तेत्यादि । सप्तविधादिति वातादिदोपजसप्तविधात् विशिष्टिङ्गलात् विशिष्टोपक्रमलात् विशिष्टसमुत्थानलाच विशिष्टः पृथगेव । दुष्टशोणिताधिष्टान-वातानुवन्ध्योऽप्यभिघातजो ज्वरो न वातज्वरलिङ्गः परन्तु ज्वरचिकित्सिते— तत्राभिघातजो वायुः प्रायो रक्तं प्रदृषयन् । सन्यथाशोधवैवणंत्र सरुजं कुरुते ज्वरम्। इत्युक्तलिङ्गत्वेन वातज्वरात् भिन्न एव। तथाभिपङ्गजेषु ज्वरेषु कामशोक-भयजो वातानुवन्धोऽपि न वातज्वरिलक्षः, परनतु-कामजे चित्तविभ्रं शस्तन्द्रा-लस्यमभोजनम् इति लिङ्गत्वेन कामजज्वरो भिन्नः-कामाद् भ्रमोऽरुचिर्दाहो हीनिद्राधीधृतिक्षय इत्यपरोक्तलिङ्गलाहा । तथा शोकजो ज्वरो न वातज्वरलिङ्गः किन्तु प्रलापमात्रलिङ्गलात् ततो भिन्न एव। एवं भयजो ज्वरो न वातज्वरलिङ्गः किन्तु प्रलापमात्रलिङ्गलात् ततो भिन्न एव। एवं क्रोधजो ज्वरः पित्तानुवन्धोऽपि न पित्तज्वरिक्षः, परन्तु-कोधात् कम्पः शिरोरुक च प्रलापो भयशोकज इत्यप-रोक्तकम्पशिरोरुक्पृलापलक्षणलात् पित्तज्वरतो भिन्न एव। तथा भूताभिपङ्गजो ज्वरः सन्निपातानुबन्ध्योऽपि न सन्निपातज्वरलिङ्गः, परन्तु देवादिभूतलिङ्गहास्य-रोदनकम्पादिलात् ततो भिन्नः। विपकृतस्तु ज्वरो दोपत्रयानुवन्धोऽपि न त्रिदोपज्वरिष्ठङ्गः, परन्तु—इयावास्यता विपकृते तथातिसार एव च । भक्तारुचिः पिपासा च तोदश्च सह मूच्चेया। इति लक्षणतात् ततो भिन्नः। ओपधी-गन्धव्राणजस्तु त्रिदोपानुवन्धोऽपि न त्रिदोपज्वरलिङः, किन्तु-ओपधीगन्धजे मूर्च्छा-शिरोरुग्वमथुस्तथा इत्युक्तलिङ्गलात् भिन्न एव । अभिचाराभिशापजौ तु त्रिदोपानुवन्धाविप न त्रिदोपडवरिलङ्गौ, परन्तु—अभिचाराभिशापाभ्यां मोह-स्तृष्णा च जायते। इति लिङ्गलाट् भिन्नावेवेति । अथ अत ऊर्द्धं चिकित्सिते च

पङ्गात् कुप्यन्ति भूतसामान्यलक्षणाः ॥ इति ; भूताभिपङ्गे तु यद्यपि त्रिदोपप्रकोप उक्तस्तथापि तत्र वातिपत्तयोरेवैतद्वचनात् प्राधान्यम् । आगन्तोर्निजाद् भेदमाह—स इत्यादि । विशेप-. किङ्गता आगन्तोर्व्यथापूर्वेन्याख्यानन्याकृता ; समुत्थानविशेपोऽपि अभिघातादिरुक्तः ; उपक्रम- कर्म्मणा साधारणेन चोपक्रम्यत इत्यष्टविधा व्यरप्रकृति-रुक्ता ॥ १६ ॥

ज्वरस्त्वेक एव सन्तापलच्याः, तमेवाभिप्रायविशेषादु

वस्यमाणविभिन्नोपक्रमलाच दोपजसप्तज्वरतो भिन्नः। विशिष्टसमुत्थानलन्तु वातादिदोपाभिवातादिकं स्फुटम्। नन्वस्य कश्चोपक्रम इत्यत आह— कम्मेणत्यादि। चकारात् स इत्यनुवर्त्तते। स चाष्टमः सप्तविथदोपज्वराद्विशिष्ट आगन्तुज्वरः कम्मेणा साधारणेन दैवव्यपाश्रयमुक्तिव्यपाश्रयोभयेण कम्मेणा उपक्रम्यते भिपजेति शेषः। नन्वेतेऽष्टौ ज्वराः किम्रुपादाना इत्यत आह— इत्यप्टेत्यादि। प्रकृतिरुपादानं सा वातादिरूपा।। १६।।

गङ्गाधरः—नन्वष्टिविधमकृत्या किमप्टस्तरूपं ज्वराणामुक्तरूपेण किमन्यथान्यदस्तीत्यतः सामान्यतः स्वरूपमाह—ज्वर इत्यादि। एक एवेति ज्वरस्यैकमेव स्वरूपं सन्तापलक्षणत्वं सन्वंपामव ज्वराणां सन्तापः शरीरोत्तापि श्विष्ठम्। न ह्यन्येषां रोगाणां चिक्वं सन्तापोऽस्ति। दाहाष्ट्यरोगस्य तु शरीरे स्वभावोप्मानितिरक्तोप्पत्वे दाहमात्रलक्षणं ज्वरस्य तु स्वभावोप्मातिरिक्तदेहोप्पलक्षणमिति वोध्यमथवा सन्तापो देहेन्द्रियमनस्तापस्तत्र देहतापो देहस्य स्वाभाविकोप्माधिकोप्मा। इन्द्रियताप इन्द्रियाणां वैकल्यम्। मनस्तापो वैचित्तरमरिक्राणिनमेनसस्तापलक्षणमिति, ईद्दश्य सन्तापो न दाहाष्ट्यः तेन तन्निरस्तम्। स्वेदावरोधः सन्तापः सर्व्वाङ्गग्रहणं तथा। युगपद् यत्र रोगे च स ज्वरो व्वपदिश्यते। इति सुश्रुतवचनं यदिदं केचिद् व्याचक्षते स्वेदावरोधो यम्भीनरोधः सन्तापो निरुक्तः। सर्व्वाङ्गग्रहणं सर्व्वाङ्गवेदना। युगपदिति मिलितलक्षणत्रयमिदं यत्र स ज्वरः, प्रत्येकशो व्यभिचारात्। स्वेदावरोधः कुष्ठपूर्व्वरूपे। सन्तापो दाहाष्ट्ये। सर्व्वाङ्गग्रहणं सर्व्वाङ्गवात-रोगे। इति व्याख्यानञ्चेदं अविद्वान् कश्चिदाह। स्वेदावरोधः सन्तापः सर्व्वाङ्गवात-रोगे। इति व्याख्यानञ्चेदं अविद्वान कश्चिदाह। स्वेदावरोधः सन्तापः सर्व्वाङ्ग-ग्रहणं तथा। युगपद् यत्र रोगे च स ज्वरो व्यपदिश्चते। इति। तत्र पुनः पैत्तिकः

विज्ञेपस्तु ''साधारणेन कर्म्मणा चोपचर्य्यते' इति वचनेनैवात्र कथ्यते ; साधारणेनेति दैवयुक्तिन्यपाश्रयेण ; दैवव्यापाश्रयं हि विल्मङ्गलहोमादि, युक्तिन्यपाश्रयं हि लब्बशनाप-तर्पणयवागूकपायपानादि । प्रकृतिरुक्तेति स्वभावोऽपि वातादिव्वराणां निदानादुप्रपाहित उक्त इत्यर्थः॥ १६॥

द्विविधमाचच्तते निजागन्तुविशेषाच । तत्र निजं द्विविधं वातक्ळैष्मिकादिज्यरे घम्मांगमात्। वातज्यरे विषमारम्भविसर्गित्वेन सर्व्याङ्ग-ग्रहाभावाचाव्याप्तिनीशङ्गा । उत्सगेलालक्षणस्यास्य पैत्तिकादिब्बरलक्षणेन विशेषेण वाधितलादिति, तन्नेत्यन्ये, विधावृत्सर्गापवादभावस्य स्वीकारेण लक्षणे तदस्वीकारात्। ब्रुवते च स्वेदोऽग्रिस्तस्यावरोधो वहिनिरसनेन मन्द्रसम्। वातज्वरे वायोश्रलत्वेनारमभविसर्गयोवपमयमिति सन्बेदेहगतदोपस्य ज्वरा-रम्भकत्वेनानुवृत्त्याऽस्फुटसर्वाङ्गग्रहणमस्त्येवेति नाव्याप्तिः। तदपि न मनो-रमम्। अभिघाताचागन्तुज्वरे जटराग्नेरपगमस्य ज्वरोत्पत्तिकालेऽभावात्। देहेन्द्रियमनस्तापानाश्च सुक्ष्मकालव्यवधानेन शारीरमानसञ्बरे यौगपद्या-भावाच। न हि सुक्ष्मकालव्यवधानेनावद्यम्भावित्वं सन्तापस्य यौगपद्रं भवति। तस्मात् स्वेदावरोध इत्यादित्रिलक्षणो न ज्वरः। किन्तु सन्तापलक्षण इति। तत्र चैवञ्चेत् भिपक् पुच्छत्रते, कोऽयं व्याधिरिति ; पृष्टइचेवं भिपक् ब्रूयादस्यातुरस्य अयं व्याधिज्वेरः देहेन्द्रियमनस्तापिलात् यथा दाहो देहतापी यथा च दाहो देहं तापयति तथायं देहेन्द्रियमनांसि तापयति तस्माद्यं ज्वर इत्येक-पक्षकसाध्यकलात् व्यतिरेकेण दृष्टान्तः एवं व्यर्त्वेन स्थापितं तमेनं रोनं चेद्भिपक् पुच्छारते कोऽयं ज्वर इति पृष्टक्वेंचं भिपक् ब्रूयाज्ज्वरोऽयं वातजो विषमारम्भविसर्गादिलक्षणलात्, यथा पित्तजः यथा च पित्तजन्वरः कटुकास्य-बादिलक्षणस्तथा चायं विपमारम्भविसर्गितादिलक्षणस्तस्माञ्चरोऽयं वातज इत्येवमसाधारणलक्षणसहचरितसन्यभिचारिलक्षणेनापि सामान्यतो विशेपत-श्चानमीयेत। एवं सन्वेत्र।

सामान्यमकृतिमुक्तवा ज्वरस्य प्रकृत्यन्तरमाह—तमेवेत्यादि। तमेव सन्तापलक्षणमेव ज्वरमभिप्रायविशेषात् द्विविधमाचक्षते। शीताभिप्राय उप्णाभिप्रायक्ष्मेति द्विविधो ज्वरो भवति। तत्र वातात्मक उप्णाभिप्रायः, पित्तात्मकः
शीताभिप्रायः; कफात्मक उप्णाभिप्रायः। वक्ष्यते च चिकित्सिते—वातपित्तात्मकः शीतमुप्णं वातकफात्मकः। इच्छत्युभयमेतत् तु ज्वरो व्यामिश्रलक्षणः। योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयाथेकृत्। दाहकृत् तेजसा युक्तः
शीतकृत् सोमसंश्रयात्। इति। व्यामिश्रलक्षणः सान्निपातिकः। प्रकृत्यन्तरमाह—निजागन्तुविशेषाच्चेति। चकाराद् द्विविधमाचक्षते इत्यनुवर्त्तते।
चक्षपाणः—निजागन्तुविशेषाच्च द्विविधमिति सम्बन्धः। निजं द्विविधमित्यादौ हैविध्यं

त्रिविधं चतुर्विष्धं पञ्चविधं सप्तिविधञ्च जगुर्भिषजो वातादि-विकल्पात् ॥ १७॥

तस्येमानि पूटवरूपाणि भवन्ति । तद् यथा —मुखबैरस्यं तत्र निजः शारीरदोपजः, आगन्तुस्तु कामादिमानसञ्बरोऽभिघातादिजङ्चेति द्विविधस्य वाचकः। चिकित्सिते च—द्विविधो विधिभेदेन ज्वरः शारीरमानस इत्युक्त्वा शारीरो जायते पूर्व्व देहे मनिस मानस इति यद् वक्ष्यते तत्र शारीरो दोपजोऽभियाताचागन्तुश्च, मानसस्तु कामाद्यागन्तुज इति न स्ववचनविरोधः, नाप्यत्र तत्र न्यूनलम् ; अत एव स्वयमत्र निजं विदृणोति—तत्रेत्यादि। तत्र निजागन्तु-ज्वरयोमेध्ये निजं द्विवियं चिकित्सिते वक्ष्यमाणरूपम्—सौम्य आग्नेयश्च । वातात्मक-कफात्मक-वातकफात्मक-वातकफान्यतरमधानद्वन्द्वसन्नि-पातात्मकभेदात् सौम्यः । पित्तात्मक-वातपित्तात्मक-पित्तप्रधानसन्निपातात्मक-भेदादाग्नेयः। तथापरो द्विविधश्चान्तवेगो वहिवेगश्च। तथान्यो द्विविधश्च माकृतो वैकृतश्च । तथान्योऽपि द्विविधः साध्योऽसाध्यश्च । तथापरो द्विविधो मृदुर्दारुणक्चेति। द्विविधश्वापरो राजसस्तामसक्चेति। त्रिविधमिति एक-दोपज-दिदोपज-त्रिदोपजभेदात् सौम्याग्नेयवायन्यभेदाच । मिति साध्यासाध्य-मृदुदारुणभेदात् । सुखसाध्य-कुच्छसाध्य-याप्यासाध्य-प्रत्याख्येयासाध्यभेदाच । पश्चविधमिति सन्ततसततान्येदुप्रस्तृतीयकचतुर्थक-भेदात्। सप्तविधमिति वातिकादिभेदेनोक्तदोपजः सप्तविधः, रसादिसप्तथातु-गतत्वेन च सप्तविधः। आगन्तु व्वरस्य विधिभेदोऽभियातादिहेतुभेदादुन्नेयो न हापरभेदेन भेदोऽस्तीति न स्फुटमुक्तवान् ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—ज्वराणां प्रकृतिमुक्तवा निदानसम्प्राप्तिलिङ्गानि चोक्तानि प्रागेव,
अधुना पूर्व्यक्षपाह—तस्येत्यादि । तस्येति निजज्वरस्य न तु निजागन्तूभयस्य ।
स्थानसंश्रयात् परं दोपाणां जनिष्यमाणस्य निजस्य ज्वरस्येमानि पूर्व्यक्षपाणि
संस्रष्टासंस्ष्टजन्यत्वेन शीतोष्णाभिप्रायभेदात् ; त्रिविधं दोपभेदात् ; चतुर्व्विधं प्रत्येकं
वातादिदोपजन्यत्वभेदात् ; तत्र चातुर्व्विध्ये द्वन्द्वज्वराः प्रतिक्षिष्यन्ते, तेषां प्रत्येकं वातादिज्वरसद्दशत्वात्, त्रिदोपज्वरस्तु असाध्यतायोगात् कृत्कूसाध्यतायोगाद् वा प्रथगुच्यते ॥ १७ ॥

चक्कपाणिः—तस्येमानीत्यादिना सर्व्वज्वरसाधारणं पूर्व्वरूपमाह ; एतानि च पूर्व्वरूपाणि आगन्तोरपीत्येके वदन्ति ; अन्ये तु निजानामेवैतानि वदन्ति, आगन्तोस्तु न्ययेव पूर्व्वम् ;

^{*} ऑदर्ज्ञान्तरे पञ्चविधमिति पाठो न इश्यते i

ग्रहगात्रत्वमनद्वाभिलाषश्चनुपोराकुलत्वमश्रागमनं निद्राधिवयम् ग्रहितः जुम्भा विनामो वेपशुः श्रमभ्रमप्रलापजागरणरोमहर्ष-दन्तहर्षाः श्व्दशीतवातातपसहत्वासहत्वमरोचकाविपाको दौर्व्वत्यमङ्गमईः सदनमल्पप्राणता दीर्घसूत्रतालस्यमुचितस्य कर्मणो हानिः प्रतीपता स्वकार्थेषु गुरूणां वाक्येष्वभ्यसूया वालेभ्यः प्रह्रोषः स्वधमर्भेष्वचिन्ता माल्यानुलेपनभोजनवलेशनं मधुरेभ्यश्च भच्येभ्यः प्रह्रोषः उष्णाम्ललवणकटुप्रियताक चेति ज्वरस्य पूर्वक्षपाणि भवन्ति प्राक् सन्तापात्, अपि चैनं सन्तापात्तमनुवधनन्ति ॥ १८॥

भवन्ति—तद् यथेत्यादि । मुखवरस्यं मुखस्य विरुद्धरसतम्, चक्षुपोराकुलतमश्रा-गमनम्। अरतिरनवस्थितचित्तलमकीइलं वा, जूम्भा जूम्भणम्। तच सर्व्ववेव ज्वरेषु पाग्र प्तया भवति, वाताधिकये लत्यर्थं भवति । उक्तश्चान्यत्र—सामान्यतो विशेषात् तु जुम्भात्यर्थं समीरणादिति । विनामो नतशिरस्तम् । श्रमोऽनायास-श्रमः श्रान्तलिमव मन्यते । शब्दादीनां सहलासहलमनियतेछाद्धेपौ । अरोचक इह सत्यप्यभिलापेऽन्नाभ्यवहारासामथेत्रमतोऽनन्नाभिलापाट् भेदः। अङ्गमदौ-ऽङ्गवेदना । सद्नमवसन्नता । अल्पमाणता स्वल्पवललम् । दीर्घम्त्रता कर्मण्युप-स्थिते चिरक नु तम्। आलस्यं कम्मं खतुत्साहः। हानिरक नु तेन त्यागः। स्वकारयेंपु प्रतीपता विरोधाचरणम्। अस्या गुणेषु दोपारोपस्तेन गुरूणां स्वस्मिन्न तुक्कलवाक्येषु दोपारोपः। स्वथममेषु नित्यक्रियासन्ध्यावन्दनादिषु अचिन्ता मनसोऽपर्वतिः। इतीति एतानि। पाक् सन्तापादिति शरीरादिपु सन्तापाभिव्यक्तेः पूर्व्वमेतानि ज्वरस्य पूर्व्वरूपाणि भवन्तीति। अतोऽनन्तरं अत्राप्यनलाभिलापारोचकयोः प्रवेवर्भेदः ; दौर्वस्यं ज्रीरमात्रवलहानिः ; अल्पप्राणता च मानसवलहानिर्वोद्यन्या ; किंवा दोर्व्यन्यं मांसापचयः ; दीर्वसूत्रता चिरेण कार्यकर्तृत्वम् । उवरपूर्व्यरूपाणि भवन्ति प्राक् सन्तापादिति च्छेदः, उवरप्र्वंरूपसन्तापात् प्रागेतानि पूर्वंरूपाणि भवन्तीत्यर्थः ; आप च सन्तापार्त्तमनुबध्नन्तीत्यनेन प्रव्यक्तेऽपि उवरे कानिचित् पूर्व्यरूपाणि मुखवैरस्यारुच्यादीनि भवन्तीति ; न चैवं पूर्व्वरूपानुवृत्ते रिष्ठत्वं वाच्यम्, यतः सर्व्वपूर्व्य-

^{*} उप्णाम्ललवणकटुप्रियतेत्यत्र अम्ललवणकटुप्रियता इति पाठश्रक्रधतः।

इत्येतान्येकेकश्रश्च ज्वरिलङ्गानि व्याख्यातानि भवन्ति विस्तरसमासाभ्याम् ॥ १८ ॥

ज्वरस्तु खलु सहेर्वरकोषप्रभवः सर्व्वप्राणिनां प्राण्हरः, सन्तापाभिन्यक्तौ तु किमेतान्यनुवर्त्तन्ते न वा इत्यत आह—अपि चैन-मित्यादि। एतानि ज्वरपूर्व्यस्पाणि एनं ज्वरपूर्वरूपिणं पुरुषं सन्तापार्त्तं जायमानसन्तापं जातसन्तापमपि अनुवध्नन्ति च यथादोषवळं कृत्स्त्रशो-ङकृत्स्त्रशो वा। अनुवन्यवचनेन व्यक्तसन्तापत्वे वातात्मकादिज्वरलक्षणविप-मारम्भविसिनिताद्यपेक्षया त्वपाधान्येनेपामनुष्टत्तिः स्चिता भवति। उत्पन्न-

व्वरस्य तु तानि लिङ्कानि भाषन्ते कुशलाः ॥ १८॥

गुङ्गाधरः—उपसंहरति—इत्येतानीत्यादि । एकंकशः प्रत्येकशः । चकारात् सामान्यतथ । ज्वरिलङ्गानि ज्वरस्य रूपाणि पूर्व्वरूपाणि च । किंवा निदाना-दीनि पश्च, लिङ्गाते ज्ञायते यस्तानि लिङ्गानीति च्युन्पत्तेः । अनुपश्योपश्याभ्यां दृष्णिहास्तवचनेन पुनरुपश्चयस्य व्याख्यातलान्न पश्चानां व्याख्यानन्यूनता । विस्तरसमासाभ्यामिति एकंकशो निदानादीनां व्याख्यानं विस्तरेण बोध्यं सन्तापलक्षणं पूर्व्वरूपाणि च समासेन व्याख्यातानीति वोध्यम् ॥ १९॥

गङ्गाधरः—ननु पूर्व्यमुक्तं लोभातिद्रोहकोपप्रभवानष्टौ व्याधीन निदान-पूर्विण क्रमेण व्याख्यास्याम इति, ततस्तु खल्वयं व्वरो लोभप्रभवो वातिद्रोह-प्रभवो वा कोपप्रभवो वेत्यत आह—व्वरस्तित्यादि। महेश्वरः शिवस्तस्य कोपात् प्रभव आद्योत्पत्तियस्य स तथा। महेश्वरकोपात् प्रभवपकारस्तु चिकित्सास्थाने विस्तरेण दश्यिप्यते। महेश्वरकोपोद्भवत्वदर्शनेन महेश्वरकोपस्य ज्वरं प्रति

रूपाणामितमात्रानुवर्त्तनं रिष्टमुक्तम् ; वचनं हि—'पूर्व्यरूपाणि सञ्जाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया । यं विद्यन्ति विश्वत्येनं मृत्युर्ज्वरपुर सरः ॥" इति ; किंवा अस्य इलोकस्थान्य एवार्थः, तिमिन्द्रिये वस्थामः । न चारुच्यादीनां व्यक्तज्वरभावित्वेन पूर्व्यरूपार्थं हन्यते ; यतः लिङ्गान्तरयुक्तानि अरुच्यादीनि लिङ्गानि भवन्ति ; लिङ्गान्तरविरहितानि नु पूर्व्यरूपाणि । एकेकशो ज्वर-लिङ्गानीत्यत्र 'लिङ्ग'शब्देन निद्दानपूच्यरूपादीन्युच्यन्ते ; विस्तरसमासाभ्यामिति विस्तरेण वातादिज्वरा उक्ताः, समासेन संसर्गसित्वपातजाः, यस्त्वत्र समासेनोक्तः, स चिकित्सिते प्रपञ्चनीय इति भावः ॥ १८१९ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति ज्वरस्य महाप्रभावतां दर्शयितुं पूर्वोत्पत्तिप्रकारान्तरञ्चाह—ज्वरस्तु इत्यादि । 'महेश्वरकोपप्रभवः' इति, ज्वरचिकित्सिते 'द्वितीये हि युगे शर्व्यमकोधवृत्- देहेन्द्रियमनस्तापकरः, प्रज्ञावलवर्णहर्षोत्साहह् ।सकरः, श्रम-क्लममोहाहारोपरोधसंजननः, ज्वरयति श्ररीराणीति ज्वरः । नान्ये व्याधयस्तथा दारुणा वहृपद्रवा दुश्चिकित्स्याश्च यथायम् । स सर्व्वरोगाधिपतिर्नानातिर्य्यग्योनिषु च वहुविधैः

विमकृष्टकारणलं ख्यापितं, ज्वरो यदि महेश्वरकोपान्नाभविष्यत् तदाधुनाष्यप-चारादिना नोद्पत्स्यत। कोपप्रभवलेन ज्वरस्य च तजसलं महेश्वरस्य कोपो एव-लेन देवतात्मकलञ्च ख्यापितम्। तैजसलख्यापनेन सर्व्वज्वरे पित्ताविरोधेन क्रिया युक्ता देवतात्मकलेन पूजाईलश्च युक्तम्। अत एव--उप्मा पिचाहते नास्ति ज्वरो नास्त्युप्पणा विना। तस्मात् पित्तविरुद्धानि त्यजेत् पित्ताधिके-अधिकमित्युक्तम् । विदेहे च ज्वरस्तु पूजनैर्वापि सहसैवोपशाम्यति इत्यादि । ज्वरस्त्रिपादस्त्रिशिराः पड् भुजो नवलोचनः । भस्पप्रहरणो रौद्रः कालान्तक-यमोपम इति हरिवंशे मूर्त्तिमानुक्त इति। सर्व्वप्राणिनां स्थावरव्रक्षादीनां जङ्गमम् जुप्यपशुपक्ष्यादीनाञ्च । देहेन्द्रियमनस्तापकर इति देहादितापलक्षणं चिकित्सिते दर्शियप्यते। आहारस्योपरोधो निरोधः मतिवन्ध्यलम्। ज्वरयतीति निरुक्त्र्रापदर्शनेन ज्वरशब्दस्य रुग्जनकलेन सर्वेव्याधिवोधकलेऽपि ईदशो यो ज्वरयति चेदशवेदनया स ज्वर इति योगरूढिवृत्त्या सन्तापलक्षण-निरुक्तस्यास्य रोगस्य वाचक इति ख्यापितः। अस्य सर्वेव्याधिमाधान्य-माह—नान्ये इत्यादि। यथायं निरुक्तप्रभावो ज्वरो दारुणो वहूपद्रवो दुश्चिकित्स्यश्च तथा नान्ये रक्तिपत्तादयो न्याथयो दारुणा वहुपद्रवा दुश्चिः कित्स्याश्च । सुतरामयं ज्वरः सन्वरोगाधिपतिः । न केवलमुक्तप्रभावात् सन्वं-रोगाधिपतिः प्रभावान्तरेणापि तदाह—नानेत्यादि। नाना सपेंगजादिषु।

मास्थितम्" इत्यादिग्रन्थे वक्ष्यमाणां ज्वरोत्पत्तिमाह । क्रोधभवत्वेन च दलेष्मजन्यस्याप्याग्नेयत्वं दर्शयित ; क्रोधो ह्याग्निरूपः, तेन तन्मयोऽपि ज्वरस्तथेव ; अत एवोक्तम्—"उप्मा पित्ताहते नास्ति ज्वरो नात्स्युप्मणा विना । तस्मात् पित्तविरुद्धानि त्यजेत् पित्ताधिकेऽधिकम् ॥" न च रुद्रकोपभवत्वेन लोभाभिद्रोहप्रभवत्वं ज्वरस्य विरुध्यते ; यतः, रुद्रकोपोद्भृत एव ज्वरो लोभाभिद्रोहस्वरूपपापाचारप्राप्त्या पुरा मनुष्येषु भूतः ; सर्व्वप्राणिनां ज्वर एव प्राणहर इति, मरणकाले सर्व्वप्राणिनां ज्वर एव प्राणहर इति दर्शयित । देहेन्द्रियमनस्तापकर इत्यन्न प्रत्येकं लापलक्षणं ज्वरचिकित्सिते वोद्धव्यं "वैचित्त्यमरित्रलीनिर्मनःसन्तापलक्षणम्" इत्यादिना ; ज्वरयित सन्तापयित । 'इति'शब्दो हेतो ; तेन यस्माइक्तमहेश्वरक्रोधशभवत्वादियुक्तः, तस्मात् सर्व्व-

शब्देरिसधीयते । सर्व्यश्राणभृतश्च सञ्चरा एव जायन्ते सञ्चरा एव क्रियन्ते । स महामोहः । तेनाभिस्ताः प्राग्देहिकं देहिनः किञ्चिद्धिप न स्मरन्ति, सर्व्यश्राणिनाञ्च व्वर एवान्ते प्राणानाद्ते ॥ २०॥

तत्र पृट्वेरु पद्र्शि ज्वराद्रौ वा हितं लघ्वशनसपत्रपंगं वा वहुवियेः शब्दैः पालकेश्वरादिशब्दैरिभिशीयते । तदुक्तं पालकाष्येन—पालकः स तु नागानामभितापस्तु वाजिनाम् । गवामीश्वरसंशस्तु मानवानां ज्वरो मनः । अजावीनां प्रलापाख्यः करभे चालसो भवेत् । हारिद्रो महिपाणान्तु मृगरोगो मृगेषु च । पिक्षणामभिवातस्तु मत्स्येष्विन्द्रमदो मतः । पक्षाधातः पतद्गानां व्याद्रिप्वाक्षिकसंश्वकः । इत्यादि । अन्यत्र च जलस्य नीलिका भूमेरूपरः दृशस्य कोटर इत्यादि । प्रभावान्तरमाह—सर्व्वत्यादि । सर्व्वप्राण-भृत इति सर्व्वे प्राणनः । स महामोह इति । लोके यो महामायाकार्य्यत्या मोहो दृश्यते स ज्वर एव । तं दर्शयति—तेनेत्यादि । तेन ज्वरेण । जन्ममात्रं ज्वरेण प्राग्दैहिकं पूर्वेजन्मभवम् । ज्वर एवान्ते मरणकाले सर्व्वप्राणिनां प्राणानादत्ते च यमादिः । ज्वरादत्त्वप्राणान् हि पुरुपान् यमादिरादत्ते ॥ २०॥

गङ्गाथरः—िलङ्गोपदेशव्याजेनोपशयमुत्तवा निर्देशसूत्रेण पुनर्व्याकरोति— तत्रेत्यादि। तत्र ज्वरे पूर्विरूपदर्शने प्राग्नत्पत्तेः ज्वरादौ उत्परनमात्रनवज्वरे रोगाधिपतिरिव रोगाधिपतिः; नानाविधेः शब्देरिति हस्तिषु पाकलो गोपु खेरिको मत्स्याना-मिन्द्रजालो विहङ्गानां श्रामरक इत्यादिशब्दैः; सर्व्वप्राणसृतः सञ्चरा एव जायन्ते सञ्चरा एव श्रियन्ते; तत् किमिति तेषां जन्मिन मरणे वा सन्तापात्मा ज्वरो न लक्ष्यत इत्याह—स महामोह इति, जन्ममरणयोर्महामोहरूपो ज्वरो भवति, न सन्तापात्मत्यर्थः; अत एवोक्तम्—"ज्वर-प्रभावो जन्मादौ निधने च महत् तमः" इति; जन्मिन महामोहतामाह—तेनेत्यादि। प्राग्दैहिकं जन्मान्तरकृतम्। ननु शुद्धसन्त्वानुगमात् प्राग्दैहिकं स्मरणं युक्तम्; वचनं हि—"यदा तेनैव सत्तेन मनसा युज्यते, तदा जातिमतिक्रान्तामिष स्मरति" इति; न, तस्य शुद्धमनः-सन्त्वानुकृतेरपवादत्वादेतत् परित्यज्यान्यत्र ज्वरस्य प्राग्दैहिकविस्मारकत्वं श्रीयम्। मरणे महा-मोहतामाह—सर्व्वप्राणसृतामित्यादि। ज्वर एव महामोह एवेति भावः; तेन श्रियमाणाः सर्व्वे महामोहं प्रविश्वन्तीत्यर्थः॥ २०॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति स्त्रितं चिकित्सासूत्रमाह—तत्रेत्यादि । यद्यपि चिकित्सिते ज्वरादौ लङ्गनं वस्पति, तथापीह पाक्षिकलध्वशनविधानं न विरोधि, लष्टकशनसापि लाधवकर्तृ त्वेत्रैव ज्वरस्यामाश्यसमुत्थःवात् । ततः कपायपानाभ्यङ्गस्नेहस्वेद-प्रदेहपरिणेकानुलेपनवसनिवरेचनास्थापनानुवासनोपश्मननस्तः-कर्मधूपधूमपानाञ्चन-चीरभोजनिवधानश्च यथास्वं युक्तगा प्रयोज्यम् ॥ २१ ॥

जीर्गाज्यरेषु तु सर्व्यप्तेय स्पिष्टः पानं प्रश्स्यते यथा-स्वीपप्रसिद्धस्य । सर्पिहिं स्नेहाद्ध वातं श्रमयति संस्कारात् स्तारपत्या दृष्ट्रोपे लव्यवनं साधितं प्यादिकं रसाधिक्ये दुण्टे तु दोपेऽपत्रपेणमन्वनम् । कस्मादित्यत आह—आमाञ्चयग्रहत्थलादिति । आमाञ्चसप्तरथानं हि वहिद्धणणमन्तरेण न भवतीत्यतो, वहिद्दीपनं लव्यवना-नज्ञनयोविधियोक्तः । सम्यग्लिङ्वते च लव्यक्तनं यथास्वीपधिसद्धपेयादिक-मिति वाज्यव्यवस्थया व्यवस्था लग्नापिता । ततस्तरणत्वानन्तरं मध्यव्यरादी सम्यग्लिङ्वतपीतपेयादिके कपायपानादिकविधानं यथास्वं यस्मिन् ज्वरे यस्यामवस्थायां यदुपयुक्तं तत् युक्त्या दोपवल-पुरुपवल-देशकालानुसारेण प्रयोज्यित्यर्थः ॥ २१॥

गङ्गाधरः—जीणेज्वरेष्वित । पुराणज्वरे दशाहादृद्धं सम्यग्लिङ्घतक्षियतकफे सन्वंद्वेव ज्वरेषु न तु न्यूनकफव्यतिरिक्तेषु । न्यूनकफजीणेज्वरेषु कफावजयः कथं भवति किम्रु सिप्पोऽसिद्धस्य पानिमत्यत आह—यथास्वीपधेत्यादि । यथास्वीपधिसद्धे न्यूनकफहरसं दर्शयति—सिप्हिंदियादि । हेतुं दर्शयिला

लहुनत्वात् ; किंवा यत्र वातादिष्यरे लहुनं न कर्तव्यम्, तत्र लघ्वशनं वोद्वव्यम्, अपतर्पण्डा लहुनमेव ; अथ किमिति वातिकेऽपि वातकारकं लघ्वशनमपतर्पणं वा कार्य्यमित्याह—आमा-शयसमुत्थत्वादित्यादि । आमाशयसमुत्थत्वेन वातोऽपि मनाक लहुनीयः स्थानापेक्षया भवतीति भावः , वचनं हि—"जयेद्वि पूर्व्यं स्थानस्य विरुद्धञ्च" इति ॥ २३ ॥

चक्रपाणिः—यथास्त्रीपधिसद्धस्येति वातादिज्वरे वातज्वरादिहरद्रव्यसिद्धस्य। कथं सिर्पः सर्वत्रंत्र कार्य्यमित्याह—सिर्पिर्ह स्नेहादित्यादि। संस्कारात् कफिमिति कटुतिक्तादिकफहर-संस्कारात्; यद्यपि च यथास्त्रोपधिसद्धस्येति वचनात् वातेऽपि वातहरसंस्कृतमेव सिर्पिर्विहितम्, तथापि वाते रुक्षविपरीतेन स्नेहेनापि सिर्पिर्वातहरमेव, पित्तेऽपि उप्णविपरीतशैत्यान्वितम्, कफेनु सिर्पा स्नेहशैत्यादिना समानेन कश्चित्र स्वाभाविको विरोधिगुणोऽस्ति, किन्तु संस्कारात् हितमेव दर्शयति; उपमाणव्येति ज्वरमभावभूतमुष्माणम्, न पित्तोपमाणम्, तस्य पित्तग्रहणेनैव

कफं शैत्यात् वित्तमुष्माणञ्चोवशमयति । तस्मात् जीर्णंडवरेषु सर्व्यक्षेत्रेव सपिहितमुद्कमिवासिष्लुष्टेषु दृव्येष्विति ॥ २२ ॥

निगमनमाह—तस्मादित्यादि । इष्टान्तमाह—उदकिषवेत्यादि । प्राणिनां व्यवच्छेदार्थमाह—द्रव्येष्टिति । द्रव्येषु प्राणिपु । इममर्थं पदेप्रन द्रायित ॥२२

ब्रहणात् ; अनेन ज्वरस्योप्महर्णेन सर्पिपो ज्वरन्याधिप्रत्यनीकरवं दर्शितं भवति ; अत्र वात-वामनं सर्पिपोऽभिधाय पित्तवामनेऽभिधातन्ये ककश्मनमुख्यते शेवतो वक्तन्योध्मरूपव्याधि-प्रत्यनीकतयापि पित्तदामनहेतोः द्वीत्यस्य समानगुणत्वात् ; यदि त्विह मध्ये पित्तप्रदामनमुच्यते, सदा पुनःसंस्कारात् कफमित्युक्त्वा द्वेत्यादुष्माणमिति वक्तव्यं स्यात्, यत्र तु स्रोकपाठे प्रत्य-नीकःवं घृतस्य पृथङ्नोक्तम्, तत्र, 'स्नेहाद वातं शमयति' इत्यादौ वातमनु पित्तमेव कृतिमिति साधु कृतम् ; तस्मादिति दोषव्याधिप्रत्यनीकत्वात् ; 'जीर्णज्वर' इति वचनेनामज्वरे निपेधयति : सामे हि समानगुणत्वात् सर्पिरहितम् ; शान्तिमिति सन्तापशान्तिम् ; अभि-श्रीरेयेति बुद्ध्या स्वीकृत्य, तथा जीर्णज्यरे घृतं दुरातीति शेषः। नन्यत्र श्लोकं सर्पिर्गुणकथने किमिति ज्याधिरूपोप्मशमनं नोच्यते १ ब्र्मः-पित्तोष्माव्यतिरिक्तत्वेन ज्वरोप्मणः पित्तशमनेन एव लब्धत्वात् ; ननु यद्येवम्, गचपाठे पृथङ् न पठनीय उपमा ; ब्रूमः-यावानुषमा शारीरः, स पेत्त एव ; बतो ब्रूते—'उप्मा पित्ताहते नास्ति इति, तथा 'पित्तादुप्मणः पित्तर्नराणामुप-जायते" इति ; किन्तु, नासाबुष्मा कदाचित् पित्तेन साम्येऽप्येको भवति, यथा - कफन्वरे कदा-चित् तु अधिके पित्ते बह्विरूप उप्मा मन्द्रो भवति, यथा च-पित्ताग्निमान्देत्र ; तदेवसूप्मा पित्ताद् भिन्नोऽभिन्नश्च भवति ; तंत्र भेदं गृहीत्वा गद्यपाठे पृथम् व्वरोप्मा पितः, श्लोकपाठे त्वभेद-ुविंवक्षया न पृथक् पटितः ; ज्वरे तु पित्तोष्मा ज्वरप्रभावेण वर्त्तते, स च प्रभावो ज्वरस्य दोषः , दूष्यविद्योपात्मक्रस्य, तथा 'रुद्रकोधोद्भतत्रिपादत्रिद्याराः' इत्याद्ग्यक्याणिविद्येपस्य ज्ञेयः। नन् सर्पिः कर्यं पित्तं हन्ति, यतः यथा पित्तविपरीतशैत्यं सर्पिपि, तथा पित्तसमानः स्नेहोऽप्यस्ति १ सेवम् ; वित्तं सस्नेहमित्यत्र ईवदर्थेन 'स'शब्देनाल्पस्य स्नेहस्याभिधानात्, उष्णत्वन्तु पित्ते प्रधानम् ; यद्यपि पित्तं जलेनाप्यारब्धम्, तथापि तत्र शैत्यमभिगृयाग्निकृतम् ओज्यमेवाधिकं भवति तथा तेजसी रोक्ष्येण जलकृतस्नेहोऽपि पित्तेऽभिसूयते, द्रवत्वन्तु जलकृतं तेजसा नाभिभूयते ; दश्यते ह्यानिसंपुक्तजले ज्ञवत्वमल्यस्नेहता उष्णता चेति ; किंवा किमनेन तप्तजलहष्टान्तेन, अहप्टकृत एवायं भूतानामुत्पादः ; तेन कश्चिदेव गुणः पाञ्चभौतिकत्वेऽपि द्रव्याणामाविभू तो भवति न तु सर्व्यः ; यथा—शालिपु तोयकृतं मधुरत्वन्, न तु गौरविमत्युत्तं सूत्रस्थाने । उत्सर्गतः सस्नेहस्यापि पित्तस्य कदाचित् तेजोभूयस्त्वेन रुक्षत्वमपि भवति जीर्ण-उबरे; तेन सस्नेहशीतं सिपंहितं तत्र भवतीति न दोपः; अत एवोक्तं चिकित्सिते— रुक्षं तेजो ज्वरफरम्" इत्यादि ; न च वाच्यम् —यथा सांसिद्धिकमपि चेत् पित्तस्य स्निग्धत्वमपैति तथा वातस्यापि रोक्ष्यं किमिति नापैतीति ; यतो विचित्रा एव हि गुणा अप्रतिक्षेपणीयाः प्रति-

भवन्ति चात्र।

यथा प्रज्वितितं वेश्म परिपिश्चित्ति वारिणा । नराः शान्तिमिभिप्ते त्य तथा जीर्णज्ञरे घृतम् ॥ स्नेहाद्वातं शमयित शैत्यात् पित्तं नियच्छिति । घृतं तुल्यगुणं दोषं संस्कारात् तु जयेत् कफ्म् ॥ नान्यः स्नेहस्तथा कश्चित् संस्कारमनुवत्तेते । यथा सर्विरतः सिपः सर्व्वस्नेहोत्तमं सतम् ॥ पूर्व्वोक्तोक्ष यः पुनः पद्रौरर्थः समनुगीयते । तद्वाक्तिव्यवसायार्थं द्विरुक्तं तन्न गर्ह्यते ॥ २३ ॥

गृङ्गाधरः—भवन्ति चात्रतेपादि। यथेत्यादि। वेश्म काष्टतृणादिनिम्मितगृहं, दोषं कफिन्दिन्वयः। संस्कारादिति कफहरद्रव्येण। नतु तैलवसादीनाम्
अप्येवं विधिर्जीणेज्वरे क्रुतो नोक्त इत्यत आह—नान्य इत्यादि। अन्यः
स्नेहस्तैलादिः। वात्रक्लेष्मणोहितमिष हि तैलं वातकफादिहरद्रव्येण संस्कारात्
स्वगुणं विहाय संस्कारकद्रव्यगुणानावहतीति सव्वेषु ज्वरेषु न युज्यते इति
भावः। नतु च्लान्दसच्छन्दसा यदेतमर्थमुक्तवान् पुनश्च तमर्थं पदेत्रन कथं
वक्तीत्यत् आह—पूर्व्योक्त इत्येदि। तद्व्यक्तीति एतत् संहिताध्येत्रपुरुषस्य
व्यवसायार्थं शब्दतः कण्ठे धारणार्थं न गईत्रते पुनस्कत्वदोषाय न भवति।।२३।।

क्षेपणीयाश्च ; तत्र ये न सर्व्वदा दृश्यन्ते वातशैश्यपित्तस्त्रेहादयः, त एव प्रतिक्षेपणीयाः, नान्ये, तथैव दृष्टत्वात् ॥ २२ ॥

चक्रपाणिः—तुल्यगुणिमिति सर्वधा तुल्यगुणम् , ननु संस्कारात् कफहन्तृत्वे संस्कारेणैव कफो हन्यते, कस्तत्र सिर्पपो न्यापार इत्याह—नान्य इत्यादि । नान्य इति तैलादिः ; संस्कारम् अनुवर्त्तत इति संस्कारकद्रन्यकार्थ्यं करोति । तेनैतद् दर्शयितं, यत्—तेनैव द्रव्येण यादङ्मानेन घृतं संस्क्रियते, अन्यश्च तैलादिस्तथैव संस्क्रियते, तदा घृतमेवान्यस्नेहेभ्यो विशेषेण संस्कारकद्रन्यकार्थ्यं करोति ;—अयं घृतप्रभावोऽधिकः ; तेन संस्कारात् कफविजये घृतमेव कर्त्तन्यम् इत्यर्थः , प्रपिद्धतिश्चायमर्थः स्नेहाध्याये ।

ननु स्नेहाट वातं शमयतीत्यादिग्रन्थो गद्ये नैवोक्तः, तत् किमर्थं श्लोकेनीच्यते

गद्योक्त इति चक्रसम्मतः पाठः ।

क्रा

तत्र श्लोकाः।

स त्रिविधं नामपर्यायैहेंतुं पञ्चविधं गदम् । न गदलच्यापर्यायान् व्याधेः पञ्चविधं महम् ॥ ज्यसम्विधं तस्य प्रकृष्ट।सन्मकारणम् ।

पूर्वरूपञ्च रूपञ्च भेषजं संग्रहेण च ॥

गङ्गाधरः-अधाध्यायार्थमुपसंहरति-तत्र श्लोका इति । त्रिविधमित्यादि । ं नामपर्यायैरिह खिल्वत्यादिना नामपर्य्यायैहेतुं तत्तित्रविधमसातम्येत्यादिना त्रिविधं हेत्म् । अतस्त्रिधेत्यादिना पश्चविधं गदम् । तत्र न्याधिरामयेत्यादिना गदस्य लक्षणप्रयोगान् लक्षणाय परयोगान् । तस्योपलव्यिरित्यादिना व्याधेः पञ्चविधं ग्रह्मपलव्यकारणम् । तं विस्तरेणेत्यादिना सन्दर्भाय मतिकाय अध खल्वष्टभ्य इत्यादिना ज्वरमष्टविधम् । तस्येत्यादिना प्रतिकाय तस्याष्टविधस्य ज्वरस्य प्रत्येकशः क्रमेण । रक्षलिध्वत्यादिना आसन्नकारणं ससम्प्राप्तिकं पूर्व-इत्याह—गद्योक्तो य इत्यादि। तद्वयक्तिः ववसायार्थमिति, तद्वयक्तिर्गद्योक्तार्थस्य व्यक्तिः प्रसन्नतेति यावत्, व्यवसायोऽध्यवसायो प्रहणमित्यर्थः ; यस्मात् प्वत्रोक्तार्थस्य स्वीकरणार्थः पुनः श्लोकेनाभिधानम्, तस्मात् प्रयोजनान्तरयुक्तःवात् न पुनरुक्तिद्रोप इति भावः, गद्योक्ता-पेक्षया श्लोकाभिधानं सुखग्रहणं भवतीति कोकसिद्धमेव। अत्र च गद्योक्त इत्युपस्रक्षणं तेन श्लोकोक्तोऽपि श्लोकेनोच्यत इति योद्रव्यम् ; यथा-आरग्वधीये ; एवं गद्योक्तोऽपि गद्येनेति बोद्धव्यम् : यथा-प्रपञ्चेन कारणाद्यभिधायोत्तमेव "असारम्येन्द्रियार्थसंयोगः प्रज्ञापराधः परिणामश्च' इत्यादि ; तथा श्लोकेनोक्तोऽपि गद्येनोच्यते ; यथा—"ब्रह्मणा हि यथा प्रोक्तम्" इत्यादि श्लोकेनाभिधाय भाग्रे रुध्याये, पुनरन्यत्रोक्तम्—"यमायुर्वेदमिवनो मर्खं प्रायच्छेताम्" इत्यादि : अत्र श्लोकाभिधानमेव सुखप्रहणार्थमिति च्येम् ; किंवा, तदव्यक्तिव्यवसायार्थमिति यथायोग्यतया बोद्दव्यम् ; तेन प्रपञ्चाभिधानमनुवृत्त्यर्थः, बोद्दव्यम्, संक्षेपाभिधानन्तु व्यवसाया-र्थम् ; तेन गद्यश्लोकाभिधानाभ्यां व्यक्तिव्यवसायौ क्रियेते ; तत्र प्रपञ्चाभिधाने भर्थस्य व्यक्तिः स्कृटतैवेति, संक्षेपाभिधानन्तु प्रपञ्चापेक्षया सुखग्रहणं भवति ॥ २३ ॥

चक्रपाणिः—संग्रहे यद्यपि हेतुपरयीयाः प्रश्चिक्तास्तद् हेतुत्रेविध्यम्, तथापि च्छन्दोऽनुरोधेन तद्विपर्ययक्षथनम् ; नामरूपा योगरूदाः पर्याया नामपर्यायाः ; पद्मविधं गद्मित्याग्नेयादि-भेदेन ; पर्यायनामानीति पाठे लिङ्गपरयोगाभिधानम् ; तस्य व्याधिपञ्चविधग्रहशक्देनैव "तस्योपलविधः" इत्यादिग्रन्थान्तनिविष्टसकलार्थस्य गृहीतत्वात् ; गदलक्षणपर्यायानिति पाठे तु पूर्वपक्षो नास्येव ; पाठस्तु नायमतिशिसदः ; प्रकृष्टासन्नकारणिति ज्वरस्य रक्षादि

[ज्वरनिदानम्

व्याजहार ज्वरस्याये निदाने विगतज्वरः । भगवानियवेशाय प्रगाताय पुनर्विसुः ॥ २२ ॥

इत्यक्षिवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते निदानस्थाने ज्वरनिदानं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

रूपश्च रूपश्च। संग्रहेण सामान्यतः संक्षेपण भेपजश्चाष्टविधस्यैव ज्वरस्योपश्यम् । अग्रे निद्दानेऽस्मिन् ज्वरनिद्दानाध्याये। विगतज्वरः पुनर्व्वसुरिति ॥२४॥ अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि॥

> इति श्रीगङ्गाथरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजलपकलपतरौ द्वितीयस्कन्धे निदानस्थानीयपथमाध्यायज्वरनिदान-जलपाख्या प्रथमशाखा ॥ १॥

प्रकृप्यम्, आसन्नं वातादि, तथा प्रकृप्यं रुद्रकोपः, आसनन्तु रुक्षादिः, यद्यपि रूपात् प्रधात् पूर्व्वरूपिमत्युक्तम्, तथापि च्छन्दोऽनुरोधात् पूर्व्वरूपममे कृतम् ; किंवा वातादिजविशिष्टज्वर- लक्षणानामच्यक्तानां विशिष्टज्वरपृद्वेरूपतां स्चयता पृद्वेरूपं पृद्वे कृतम् ; वातादिज्वर- लक्षणानि सन्यक्तानि पृद्धेरूपमेव भवन्ति ॥ २४ ॥

इति चरकचतुरानन-श्रीमचक्रपाणिदत्तविरचतायाम् आयुर्वेददीपिकायां निदानस्थानस्य व्याख्यायां ज्वरनिदानं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः।

अथातो रक्तपित्तनिदानं व्याख्यास्यामः, इतिह स्माइ भगवानात्रेयः॥ १॥

पित्तं यथाभूतं लोहितपित्तमिति संज्ञां लभने, तथानु-व्याख्यास्यामः।

यहा जन्तुयवकोहालकको द्वाप्यायाण्यतानि भुङ्क्ते, भृशोष्णतीचणमपि चात्रजातं निष्यावमापकुलस्थसूपचारोप-हितं, दिधर्घिमण्डोदिश्वत्कदूराम्लकाञ्जिकोपसेकं वा,

गङ्गाधरः—अथ ज्वरसन्तापाद् रक्तिपित्तस्य सम्भव इति हेतुत्वसङ्गत्या तथा ज्या पित्तादते नास्ति ज्वरो नास्त्युप्मणा विनेति वचनात् सर्व्यज्वरे पित्त-सम्बन्धो छोहितपित्ते च सर्व्यज्ञैय पित्तसम्बन्ध इत्येककार्व्यवसङ्गत्या च ज्वरानन्तरं रक्तिपित्तनिदानमाह—अथात इत्यादि । सर्व्य पूर्व्यवत् ॥१॥

गङ्गाधरः—नमु रक्तिपित्ति किं रक्तसहितं पित्तं ? किं रक्तश्च तत् पित्तञ्चेति रक्तिपित्तं ? कि रक्तगतिपत्तं रक्तिपत्ति शिव्यद्धं प्रवक्तु-माह—पित्तिमित्यादि । यथाभूतं येन प्रकारेण यद्रूपं भूतेल्ययेः । तथानु-च्याख्यानमाह—यदेत्यादि । यवकादयः प्राया वहुला यत्र तानि तथा । यवकादीनां शीतवीर्यादिलेऽपि संयोगप्रभावात् पित्तप्रकोपकलं लोहितपरि-माणातिवर्त्तेकतश्च । एवं मापादीनां वोध्यम् । न हि केवलयवकादिभक्षणेन पित्तं रक्तश्चाशु मानमतिवर्त्तते, किन्तु यवकादिभिर्वहुलैः संयुक्तादनात् तथा

चक्रपाणिः—आयोत्पत्तो उवरसन्तापाद्रक्तिपत्तोत्पत्तेः उवरमञ्ज रक्तिपत्तिनिदानमुच्यते । 'पित्तं ययाभूतम्' इत्यादिना पित्तमेव अवस्थावशात् लोहितपित्तमित्युच्यते इति दर्शयति, न तु रक्तञ्च पित्तञ्च रक्तिपत्तिमिति ।

 वाराइ-माहिषाविक-मास्यगव्यिष्शित-पिग्याक-पिग्डालु-शुष्क-शाकोपिइतं, मूलकसर्वपलसुनकरञ्जशित्र मधुशित्र खड़यूष-भूस्तृणसुमुखसुरस-कुठेरक-गगडीर-कालमालक पर्णासच्चक-फण्जिमकोपदंशं, सुरासोवीरकतुषोदकमेरेयकमेदकमधूलक-शुक्तकुवलबद्गान्त्रशयान्त्रपानं, पिष्टान्नोत्तरसृपिष्ठमुष्णाभि-तसो वातिमात्रस्रतिवेलं वा प्यसा वा समश्चाति, रोहिग्गीकं काणकपोतं वा सर्वपतेलचारसिद्धं, कुल्थ्यम।ष‡षिग्याक-जाम्बवनिकुचपत्रवेः शौक्तिकरामचीरस्रतिमात्रसथदा पिव-खुष्णाभितसः, तस्यैवसाचरतः पित्तं प्रकोपमापद्यते, लोहित-श्चाशु प्रमाग्यस्तिवर्तते।

<u>भृशोष्णतीक्ष्णानानिष्पानमापादुप्रपहितात्</u> दध्यादुप्रपिक्ताद्वा . वराहादि-मांसिपण्डाळुकादुप्रपहिताद्वा मूळकसपंपादुप्रपदंशाद्वानात् सरासीवीरकादि-प्रायान्त्रपानाद्दा तथोष्णाभितप्तस्य पुंसः पिष्टान्नोत्तरभूयिप्दं पिष्टान्नमुत्तरं भोजनावसाने भूयिष्टं यस्पित्रशने तत् तथा। तथाविधमन्नमतिमात्रमुष्णाभितप्तो वा योऽइनाति यथातिमात्रमुप्णाभितप्तः सन्नतिवेलमित्रायं पयसा सहाश्चाति तस्य पित्तं प्रकोपमापचते, लोहितश्चाशु प्रमाणमतिवर्तते। सर्पपतैलञ्चाराभ्यां सिद्धं रोहिणीकं शाकं काणक्षीतमांसं वा योऽश्वाति, तथा कुलत्थादिपक्वैः शौक्तिकवेंदरफलैः आमश्रीरमपकदुग्धमितमात्रं यः पिवति, अथवा य जप्णाभितप्तः सन्तिमात्रं क्षीरं पियति, तस्य पित्तं मकोपमापयते, लोहित-श्चाशु प्रमाणमतिवर्त्तते। उष्णाभितापेन पित्तपकोपः पिष्टानादिभोजनपानाभ्यां मस्तु, उद्धिदृद्धंजलं तक्रम्; कट्टरं निउर्जलम्, किंवा अम्लं तक्रम्; मधुशियु स्वल्प-. शोभाञ्जमकम् ; खड्यूपो रागकप्र हति ख्यातः ; सुमुखादयः फणिज्झकान्ताः पणीसभेदाः ; षपदंशमिति मूलकादीनि खादयित्वा यावकाद्यन्नं भुक्त इत्यर्थः ; मधूलको गोधूमविशेषः ; शुक्तः सन्धानविशोपः ; पिटानमुत्तरत्र भोजनस्य भूयिष्ठं यत्र तत् पिटान्नोत्तरभूयिष्टम् ; अति-चेलमिति पुनःपुनः; रोहिणीकं रोहिणीशाकम्; शौक्तिकैरिति वदरीफलैः; आममित्युत्तरेण

^{*} कालमानक इति वा पाठः । † इतः परं 'पयः पित्रति' इत्यधिकः पाठः कचित् हश्यते ।

क्षः मापेतिशब्दश्रक्षपाणेरनिभमतः ।

तिसन् प्रमाणातिवृत्ते पित्तं प्रकृपितं श्रीरमनुख्प्य यद्दैव यकृत्प्लीहप्रभवाणां लोहितवहानाश्च स्रोतसां लोहिताभि-प्यन्द्रगुरूणि मुख्यन्यासाय प्रतिपयते, तदेव लोहितं प्रदूषयति, तह्नोहितसंसर्गात् लोहितप्रदूषणाङ्गोहितवर्णगन्धानुविधानाच पित्तं लोहितपित्तमाचन्तते ॥ २ ॥

रक्तस्य द्यद्धिभैवति । रसयातुपरिणामे परिमाणेनाधिकं भवति रक्तप् । सुश्रुते-ऽप्युक्तं—क्रोधशोकभयायास-विरुद्धान्नातपानिलान् । कट्टम्ललवणक्षार् तीक्ष्णो-ष्णातिविदाहिनः । नित्यमभ्यस्यतो दुष्टो रसः पित्तश्च कोपयेत् । विद्रग्धं स्वगुणैः पित्तं विदहत्याशु शोणितमिति ।

इति निदानमुक्तवा विधिरूपां सम्माप्तिमाह—तस्मिन्नत्यादि । तस्मिन् लोहिते प्रमाणातिष्ट्रके परिमाणादित्रयेन एके प्रकृपितं पित्तं यदा शरीरमनुस्ट्य यक्रत्ष्ष्रीहमभवाणां यक्रत्ष्ष्रीहारूये हे नाड्यो रक्तोत्पित्तस्थाने दक्षिणवामपाद्यक्ष्ये ताभ्यां प्रभवाणां तयोः प्रतानरूपाणां तयोः स्थितस्य रक्तस्य वहनानां स्रोतसां नाङ्गीनां मुखानि रुद्धलोहिताभिष्यन्देन गुरूणि आसाय आगत्य प्रतिपयते प्राप्नोति, तदा लोहितं प्रदृपयति । एतेन वश्यमाणस्योद्धं प्रतिपयमानस्य रक्तस्य यक्रत्ष्रीहमभवेभ्य उद्धं गामिभ्यः स्रोतोभ्यदेच्यवनमामाश्यस्थस्याधोगामिभ्यः स्रोतोभ्यदेच्य प्रतिपयमानस्य स्थर्याधोगामिभ्यः स्रोतोभ्यदेच्य प्रतिपयमानस्य स्थर्याधोगामिभ्यः स्रोतोभ्यदेच्य प्रतिपयमानस्य न्यत्वनम् । सुश्चते—ततः प्रवर्तते रक्तमूद्धं श्चाधो द्विधापि वा । आमाश्याद् व्रजेद्दं मधः प्रकाशयाद् व्रजेत् । विद्यययोद्दे योश्चापि द्विधा मार्गं प्रवर्तते । केचित् सयकृतः प्रीहः प्रवदन्त्यस्जो गतिमिति ।

निरुक्तिमाह—तदित्यादि। लोहितरागस्यानुविधानाच्चेति लोहितवर्णं लोहितगन्धं स्वं विधायं प्रवर्त्तनात् लोहितस्य वर्णगन्धानुवर्णगन्धौ स्वस्य विधा-

सम्बध्यते ; स्वप्रमाणमितवर्त्तते प्रवर्द्धत इत्यर्थः ; यदेवेत्यनेन, एवमिष कुपितस्य पित्तस्य य एवांश उक्तसम्मासिमान् भवति, स एव रक्तं दूपयित, नान्य इति दर्शयित । लोहिताभिष्यन्द-गुरूणि प्रवृद्धलोहितस्यन्देन गुरूणि उत्सन्नानि विवृतानीति यावत् ; प्रतिरुम्धात् वृद्धेन शोणितेन इति शेषः ; प्रतिपद्यत इति पाठपक्षे तु शोणितमिति शेषः, शोणितं प्रतिपद्यतं इत्यर्थः । यकृत्- तस्येमानि पूर्वत्ररूपाणि भवन्ति ; तद् यथा—ग्रनन्नाभि-लाषो भुक्तस्य विदाहः शुक्ताम्लगन्धरस उद्गारश्छर्देरभीच्गा-गमनं छिद्दतस्य वीभत्सता खरभेदो गात्राणां सदनं परिदाहो

याथो बोद्ध बा,युगपद् वा प्रवर्त्तनात् लोहितपित्तमाचक्षते। लोहितवर्णगन्धो केम प्रकारेण खस्य विद्धीतेत्यत आह—तल्लोहितसंसर्गादिति। एतेन लोहित-मिश्रलं ख्यापितं पित्तस्य। लोहितमिश्रणे हेदुमाह—लोहितपद्पणादिति। एतेन द्व्यमत्र लोहितमिति दिशितम्। तथा लोहितश्च तत् पित्तक्चिति लोहितपित्तमिति व्युत्पत्तिश्च ख्यापिता। लोहितसञ्च पित्तस्य लोहित-संसर्गात् लोहितसंमिश्रणन्तु लोहितवर्णगन्धाभ्यामनुमेयमिति। तेन खदूपित-लोहितमिश्रितपित्तपष्टित्तवर्णगन्धाभ्यामनुमेयमिति। तेन खदूपित-लोहितमिश्रितपित्तपष्टितवर्णगन्धाभ्यामनुमेयमिति। तेन खदूपित-लोहितमिश्रितपित्तपष्टितवर्णग्याः अत एव लोहितश्च पित्तक्चेति लोहित-पित्तमिति न युज्यते, पृथक्पित्तरक्तयोः प्रयूत्यदर्शनात्। न वा लोहितन सम् मिश्रं पित्तं लोहितपित्ति, युगपन् खरूपतो लोहितस्य पित्तस्य पृथक् प्रयूत्वर्शनात्।। २।।

गङ्गाधरः—विधिसम्प्राप्तिमुक्तवा पूर्विरूपाण्याह—तस्येमानीत्यादि । अन-न्नाभीत्यादि । शक्तं चुकं तस्याम्लस्य च द्रव्यस्येव गन्ध्रसौ यत्रोद्धारे स तथा । अभीक्ष्णागमनं प्रायेण च्छिद्दियोपस्थितिनं तु च्छिद्दिः । यदि च च्छिद्दिः स्यात् तदा तस्य वीभत्सता वैकृतचेष्टता । स्वरभेदः । परिदाहो गात्राणाम्

स्रोहमभवागामित्यस्य विशेषणं—'लोहितवहानाम्' इति ; चकारोऽवधारणे ; वद्यति च चिकित्सिते,—"स्रोहानञ्च यक्तच्चेव तद्धिष्टाय वर्चते । स्रोतांसि रक्तवाहानि तन्मूलानि हि देहिनाम्" ॥ इति ।

प्वं रक्तदूपके पित्ते यथा 'रक्तपित्त'संज्ञा भवति, तदाह—संसगीदित्दादि।
संसगीहोहितसम्बन्धात्; लोहितगन्धवणीनुविधायित्वादिति लोहितसदशगन्धवणेयुक्तत्वात्;
एतेन रक्तयुक्तं पित्तं 'रक्तपित्तम्' इति प्रथमा निरुक्तिः; रक्ते दूण्ये पित्तमिति द्वितीया, रक्तवत्
पित्तं रक्तपित्तमिति नृतीया दश्येते; उक्तञ्च चिकित्सिते—"संसगीद् दूपणात् तत् तु सामान्याद्
गन्धवणयोः। रक्तस्य पित्तमाख्यातं रक्तपित्तं मनीपिभिः॥"; एतदेव च रक्तपित्तस्य सामान्यं
कक्षणम् यद्—'रक्तगन्धवणीनुविधानम्'; विशेषलक्षणन्तु ऊद्धादिभेदेन कफादिसम्बन्धात्
एवेह बोद्धन्यम्; चिकित्सितेऽपि "सान्द्रं सपाण्डु" इत्यादि लक्षणं वक्ष्यति॥ ११२॥

चक्रपाणिः—पूर्व्वरूपे च्छिहितस्य वीभत्सता वैवण्यवैगन्धादियोगात्; पिड्कोलिका नेन्नमळाः;

मुखाद्धमागम इव लोहलोहितमत्स्यामगन्धित्विमव चारयस्य, रक्त-हरित-हारिद्रस्यमङ्गाद्यय-श्रद्ध-मृत्रस्येदलालातिंघाणकास्य-कर्णमलिबिङ्का-*-िषड्कानाम्, अङ्गवेदना, लोहितनीलपीत-श्यादानामिचिद्यमतां दुष्टानाञ्च रूपाणां स्वप्ने सन्दर्शन-मभीदण्यिति लोहितिषक्तपूर्व्यरूपाणि भवन्ति ॥ ३॥

उपद्रवास्तु खतु नियताः † दौट्यंल्यारोचकाविपाकश्वास-कासउवरातिसारशोषशोथपार्गुरोगाः खरभेदश्च ॥ ४ ॥ एव । लोहितमत्स्यस्य यथामगन्थस्तथैवामगन्धितमास्यस्य । रक्तहरितहास्द्रि-लान्यतमवर्णलमङ्गावयवानां शकुनश्च मूत्रस्य च स्वेदस्य च लालायाश्च सिङ्घाणकस्य चास्यस्य च कर्णमलस्य च पिचिङ्का नेत्रमलास्तेपां पिइ-कानाश्च भवति । तथा स्वप्ने लोहितायन्यतमवर्णानामिच्चंप्मतां वह्नप्रदिनिकृतक्ष्याणां दर्शनमभीक्ष्णमिति ॥ ३ ॥

गङ्गा<u>धरः</u>-अस्य रक्तिपित्तस्य दौर्व्यंच्यादीनां लिङ्गलेनाशङ्कानिरासार्थ-माह - उपद्रवास्तित्यादि । उपद्रवलक्षणन्तु सुश्रुतेनोक्तं - यः पूर्वात्पन्नं व्याधि जवन्यजातो व्याधिमुपस्जति स तन्मूलउपद्रवसंब इति। तथान्यत्र च-रोगारम्भकदोपप्रकोपजन्योऽन्यो विकार उपद्रव इति। एते दौर्व्वल्यादय उपद्रवा रक्तिपित्ते नियताः अवश्यम्भाविन इत्यत उक्ता ये चानियतास्ते नात्र तन्त्रे लाचार्य्येणोक्तास्तरमाज्ज्वरादीनामुपद्रवा नोक्ता अनियतलात्। सति चास्य रक्तिपत्तस्यापि येऽन्ये लिनयता उपद्रवा न तेऽत्रोक्तास्ते तु वमन-मददाहमुच्छी भुक्तस्य घोरविदाहाधृतिहृदयातुल्यपीड़ा तृष्णा शिरोऽभितापभक्त-द्वेपपूर्तिनिष्ठीवनविकृतयथ वोध्याः। सुशुते हुरक्तम्-दौर्व्यत्यासकास-ज्वरवमथमदाः पाण्डुता दाहमूर्च्छा अक्ते घोरो विदाहस्त्रधतिरपि सदा ह्यतुल्या अङ्गवेदना अङ्गमर्दः । व्याधेरसाध्यस्य कृच्छसाध्यस्य वा धर्मास्य ख्यापकान् लिङ्गविशेपानुपः द्रवाख्यानाह-उपद्रवास्त्रिवत्यादि । तेनोपद्रवस्य लिङ्गभूतत्वेन निदानपञ्चकातिरिक्तत्वम् ; रक्तिपत्ते चैते उपद्भवाः प्रायोभावित्वेन नियता इत्यभिधीयन्ते ; ज्वरे तूपद्भवा नियता न सन्ति, तेन तत्र नोक्ताः ; एवं गुल्मादाविप प्रायोभावित्वेन उपद्रवकथनं व्याख्येयम् । स्वरभेदस्वेति पृथक्पाठेन, स्वरभेदस्य प्रायोभावित्वमाह ॥ ३ । ४ ॥

^{*} पिड्कोलिका इकि चकः।

[†] नियता इति पटं केपुचित् अन्थेपु न दृश्यते ।

मार्गी पुन्रस्य द्वावूर्द्ध आध्य । तद्व दुरलेप्मणि शरीरे रलेष्मसंसर्गादृद्धं प्रातपद्यमानं कर्णनासानेत्रास्येभ्यः प्रच्यवते । बहुवाते तु शरीरे वातसंगीद्धः प्रतिपद्यमानं मूत्रवचीमार्गाभ्यां प्रच्यवते । वहुश्लेष्सवाते तु श्रारीरे श्लेष्मवातसंसर्गात् द्वाविष मागों प्रतिपद्यते। हो मागों प्रतिपद्यमानं सर्व्येश्य एव यथोक्तेभ्यः खेभ्यः प्रच्यवते श्ररीरस्य । तत्र यर्ङ्कभागं तत् च पीड़ा। तृब्णा कण्डस्य भेदः शिरसि च तपनं पूर्तिनिष्ठीवनश्च भक्तः-द्वेपोऽवियाको विकृतिरपि भवेद् रक्तपित्तोपसर्गाः। इति ॥ ४ ॥

गुङ्गाधरः-मार्गमाहास्य-मार्गावित्यादि । यद्यपि मुखाद्यनेकमार्गा रक्तस्य भवर्त्तने तथापूत्रद्धीयस्ताद् द्वाभ्यां द्वावेव युगपद्दिमार्गस्य तयोरनतिरिक्तत्वात् । मार्गमितिनियमे दोपप्रतिनियमस्य हेतुःसमाह—तद्दृद्धित्यादि। तत् रक्तिपित्तं वहुक्लेष्मणि वारीरे तच्छ्वेष्मसंसर्गान् खल्वामाशयस्थं प्रमाणातिष्टत्तरक्त-वहानां यक्त्रप्रीहनाङ्गिमभवाणां स्रोतसामूळ् गामिभिः स्रोतोभिरूढ् पति-पद्ममान कर्णनासिकानेत्रास्येभ्यः प्रच्यवते। यहुवाते तु शरीरे वातसंसर्गात्तद्रक्त-पित्तं पकाशयस्थमधोगामिभिः स्रोतोभिरवः प्रतिपद्यमानं मूत्रवचीमार्गाभ्यां प्रचयवते। वहुइछेष्मवाते तु शरीरे इछेष्मवातसंसर्गा प्रकामाशयस्थं तद्रक्त-पित्तं सर्व्वभ्यः स्रोतोभ्यो द्वाविष मार्गावृद्ध्वीधोमार्गो प्रतिपद्यमानं खछ यथोक्तेभ्यः खेभ्य इति पूर्वोक्तेभ्यः कर्णनासानेत्रास्यमूत्र-पुरीपमार्गभ्यः। अस्य रोगस्य मार्गप्रतिनियतचिकित्सलान्मार्गप्रतिनियत कफादिदोपलाच मार्गेप्रटित्तदर्शनेनैव दोपज्ञानाट् दोपलिङ्गानि नात्र स्थाने व्याख्यातानि इति वोध्यम्।

नन्वस्तेवं, रोगाणां साध्यतासाध्यतादिकन्तु दोपलिङ्गैरेव बायते तत् कथं दोपलिङ्गानि नोक्तानीत्याशङ्घायां रक्तपित्तस्य साध्यलासाध्य-लादिकमपि न केवलं दोपलिङ्गविज्ञे यमपि तु तदपि मार्गपरित्विज्ञे यमित्यभि-में त्याहास्य साध्यतासाध्यतलक्षणानि—तत्रेत्यादि। विरेचनोपक्रमणीयतात

चक्रपाणिः—साध्यत्वादिविशेषस्य तथा कफादिसम्बन्धस्य च मार्गविशेषकृतस्य प्रतिपादनार्थे मार्गमाह—मार्गावित्यादि । बहुदलेष्मणि शरीरे इलेष्मसंसर्गादितिवचनेन ऊर्द्धा रक्तिपत्ते इलेप्मसभ्यन्धः कारणान्तरचितेनापि इलेप्मणा भवतीति दर्शयति ; यन् तु रक्तपित्तनिदानजन्यस्वं साध्यं, विरेचनोपक्रमणीयत्वाद् वह्यौपधत्वाच् । यद्धोमार्गं तद् याप्यं, वननोपक्रमणीयत्वाद्रस्पीपधत्वाच् । यदुभयभागं तद्साध्यं, वमनविरेचनायोगित्वाद्नोपधत्वाच्चति ॥ ५ ॥

इति विरेचनं पित्तहरणानामिति पित्तहरौपशेषु श्रेष्टतमितरेचनेन उपक्रम-योग्यलात् । वहौपधलाच्चेति मधुराम्लल्यणकदुवज्जें कपायतिक्तौपधलात् । वमनोपक्रमणीयवादिति-वक्ष्यते हि मतिमार्गश्च हरणं रक्तपित्ते विधीयते इति, तेन विरेचनस्य पित्तौपधश्रेष्ठतमस्यायोग्यत्वेन वमनस्य प्रतिमार्गेहरण-तयोपयुक्तस्य वातिपंत्तजयौपधलेन श्रेष्टलाभायात् अल्पौपधलाच्चेति वात-पित्तहर्णे मधुरभेपजमेव यौगिकं न तु अम्ललवणौ पित्तवर्द्धेकलात्, न वा कद्वितक्तकपाया वातवर्द्धेकलादिति ऊद्धंगापेक्षयाल्पौपधलं वोध्यम्। वमन-उपयभागमृहत्तस्याधोभागमृहत्तर्क्तापित्तहरणे वमने विरेचनायोगिलादिति प्रयक्ते ऊर्द्धभागप्रकृतस्य वृद्धिः स्यात् तथोद्धभागप्रवृत्तस्य हरणार्थं प्रयुक्तेन विरेचनेनाधोभागमग्रत्तस्य गृद्धिः स्यादिति वमनविरेचनोभयस्य नोपयोगिलम्। अनौषधताच्चेति नास्त्यौपथं, द्रव्यं हि पडुसान विना नास्ति, तत्राधोगस्य मितकारार्थं मध्रमृद्धभागमृहत्तस्य वर्द्धकं भवति कफवद्धकलात्। उद्धं-भागहरणार्थं कपायतिक्तकौ वातवर्द्धेकलेनाधोगस्य रुद्धिकरो, तथाम्ललवण-कदुका उभयत्रापि पित्तवर्द्धकलान्नैवौपथानि भगन्तीत्यौपधाभावो द्रष्टुच्य इति । एतच मार्गप्रतिनियतसाध्यासाध्यलादिकं सूत्ररूपं दोपभेदेन विस्तरेण वक्ष्यमाणं चिकित्सिताध्याये वोध्यम्, तेन, एकदोपानुगं साध्यं द्विदोपं याप्यमुच्यते । यत् त्रिदोपमसाध्यं स्यान्मन्दाग्नेरतिवेगवदिति वक्ष्यमाणवचनेन प्राकृतः सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भव इति वचनाच रक्तपित्तस्य पैत्तिक-रोगलात्। शरदि यदि कफमात्रसंस्टब्टं सद्द्धं गं रक्तिपत्तं स्यात् तदा स्रख-साध्यम्, अन्यकाले चेत् तदा कुच्छुं, यदि शरदि पित्तानुवन्धं वा वातानुवन्धं स्यात् तदा कुच्छ्रसाध्यं स्यात् तत्र मार्गमहिस्रा कफसंसगेऽपि द्विदोपलाभावात् न याप्यलम्, अन्यकाले तु याप्यलमतिकुच्छुलं वा । यद्गुढ्वं गं रक्तपित्तं शरदि

कफरा, तन्नावर्थं भवति ; अत एव "स्निग्नोष्णमुष्णस्थञ्च रक्तपित्तस्य कारणम् । अधागस्योत्तरं प्रायः" इत्यादो 'प्रायः'शब्दं कृतवान् ; एवं बहुवाते इत्यत्रापि व्याख्येयम् ; खेभ्य इति रन्ध्रेभ्यः । विरेचनोपोक्रमणीयत्वात्, तत् श्लोकेन स्वयमेव व्याकरिष्यति ॥ ५ ॥ रक्तिपत्तप्रकोवस्तु खलु पुरा दच्चयज्ञध्वंसे रुद्रकोपामर्पप्रभवासिना प्राणिनां परिगतश्ररीरप्राणानासभूड वरसनु ॥ ६॥
तस्याशुकारिणो दावाग्नेरिवापतितस्यात्ययिकस्य आशु
प्रशान्त्ये प्रयतितद्यम्। मात्रां देशं कालश्राभिस्तमीच्य
वातिपत्तानुगं वातकपानुगं विशेषण कप्पत्तानुगं स्यात् तदा सुखेन
याप्यमन्यकाले तु कष्टेन याप्यम्। यदि शरदि विशिष्टकपित्तवातैः संस्प्टं
स्यात् तदा तसाध्यं चिरकारिलेन वोध्यम् अन्यकाले तु शीन्नकारिलेनासाध्यं
भवतीति। अधोगन्तु यदि शरदि केवलविशिष्ट्यातानुगं स्यात् तदा सुखेन
याप्य स्यादन्यकाले तु कष्टेन याप्यम्, कफेन विशिष्टिपत्तेन वा संस्पटं स्यात्

तदापि तथा। यदि शरदि विशिष्टवातिपत्ताभ्यां विशिष्टवातकफाभ्यां विशिष्ट-पित्तकफाभ्यां वा तदातिकुच्छेण याप्यमसाध्यं वा चिरकारि। तथान्यान्य-

काले च। त्रिदोपानुगन्तु सन्वेकाले क्षिप्रासाध्यमिति वोध्यम्। उभयगन्तु सन्वेथैवासाध्यमिति ॥ ५॥

गङ्गाधरः—ननु पूर्विमुक्तं प्रथमत एव तावदाद्यान् लोभातिद्रोहकोपप्रभवानष्टौ व्याधीनित्यादि तद्यं रक्तिपत्तरोगः किंभव इत्यत आह—रक्तिपत्तप्रकोप-स्तित्यादि । पुरा पूर्विस्मन् काले रक्तिपत्तप्रकोपस्तु ज्वरात् अभवत् । ज्वरम् महु महेश्वरकोपात् ज्वरोत्पत्तिः पश्चात् । केन प्रकारेण तदाह—दक्षेत्यादि । दक्षस्य प्रजापतेः यज्ञध्वंसे सति रुद्रकोपप्रभवेण रुद्रस्यासौम्यभाव-मापन्नस्य शिवस्य कोपादमर्पाच प्रभवो यस्य, तेनाग्निना ज्वररूपेण परिगताः परीताः श्ररीरश्च प्राणाश्च येपां, तेपां प्राणिनामर्थात् तात्कालिक-ज्विरणां ज्वरसन्तापात् ज्वरानन्तरं रक्तिपत्तप्रकोपोऽभवदिति भावः । यदि पुरा ज्वरसन्तापाद्रक्तिपत्तं नाभविष्यदधुनापि यवकोद्दालकादुप्रपसेवनात् नोदपत्स्यत् । इति रक्तिपत्तस्य प्रभवमुक्तवा प्रभावमाह—तस्याश्वरयदि । तस्य रक्तिपत्तस्य श्वरतिशीघं प्राणहरणकारिणः । कस्येवेत्यत आह—दावाग्नेरिवेति । आपतितस्य दावाग्नेरिवाशु आगतस्य तथा दावाग्नेरिवाशु चात्यिकस्य उपक्रमाभावे शीघं मारकस्य नितरामाञ्चेव प्रशान्तौ प्रशमने

चक्रपाणिः—रक्तपित्तस्याप्याग्नेयत्वप्रतिपादनार्थं पूर्व्वोत्पित्तिसाह—रक्तेत्यादि । कोप्युक्तो-ऽमर्पोऽभिनिवेशः ; अन्यत्रापि च कोपामर्पयोभेद उक्तः, यथा—"अमर्पसंरम्भविनग्नभावाः सन्तर्थे ऐनापतर्प ऐन वा मृदुमधुरशिशिरितक्तकपायरभ्यवहाय्येः प्रदेहपरिषेकावगाहसंस्प श्रेवीमनादै। वी तत्रावहितेनेति ॥ ७॥

भवन्ति चात्र। साध्यं लोहितपित्तं तद् यदूर्द्धं प्रतिपद्यते। विरेचनस्य योगित्वाद् वहुत्वाद्रभेषजस्य च॥ विरेचनं हि पित्तस्य जयार्थं परमौषधम्। यश्च तत्रानुगः रलेष्मा तस्य चानधमं स्वृतम्॥

प्रयतितन्यं प्रयतः कारयः। ननु केन प्रकारेण प्रयतितन्यमित्यत आह—मात्रामित्यादि। मात्रां दोपवलपुरुपवलाद्यनुरूपेणाहारविहारोपधानां परिमाणम्।
देशं शीतं वोप्णं वा साधारणं वा। तथा कालञ्च। ननु केन प्रशान्तो प्रयतितन्यमित्यत आह—सन्तपंणेनेत्यादि। अत्र वाशन्दो न्यवस्थावाची, तेन रुक्षदुन्वलपुरुपस्याधोगरक्तिपत्ते वा सन्तपणेन रक्तिपत्तहरद्राक्षादिद्रन्यकृतद्रवेण
आलोहितसक्तृकाभ्यवहारेण। स्त्रिग्धमवलपुरुपस्योद्धा गरक्तिपत्ते वापतपंणेन
अनश्चनेन। ननु केषां द्रन्याणां सन्तपंणेन औपधलकरपनेन प्रयतितन्यमित्यत
आह—मृद्दित्यादि। मधुरेति वातानुवन्धे। तिक्तकपायेति कफानुवन्धे।
शिशिरेति सन्वत्र। मृद्दादिभिरभ्यवहार्यादिकानां त्रयाणां सम्बन्धः। ननु
केन पुरुपेण प्रयतितन्यमित्यत आह—तत्रावहितेनेति। अवहितोऽनधानशाली
पुरुपः॥ ६।७॥

गङ्गाधरः—अथोक्तार्थानां तद्विद्यव्यसायार्थं श्लोकंन प्रवचनं करोति—
भवन्तीत्यादि । साध्यमित्यादि । विरेचनस्य योगिलादिति विरेचनं
पित्तहरणानामिति पूर्वेमुक्तमिति पित्तजयार्थं विरेचनं श्रेष्ठतमगौपधम् । ननु
ऊद्धं गे लोहितपित्ते केवळं न पित्तमस्ति कफानुवन्धश्चास्ति, तत् कथं पित्तमात्रजयभेपजस्य परमतं तत्साध्यत्वेन साध्यत्वमित्यत आह—यक्ष्वेत्यादि । तस्य
सन्तर्जनाभिद्रवणीष्णपरोषाः इति । सन्तर्पणेनेति अधोगस्य ; अपतर्पणेनेत्यूद्धं गस्य ; संस्वत्रयत
इति संस्पर्शनं मुक्तादि ॥ ६।७ ॥

चक्रपाणिः—ऊर्द्ध्यास्य विरेचनयोग्यतां विवेचयति—विरेचनमिति । ऊर्द्ध्यां रक्तपित्ते प्रधानं . पित्तम्, अनुबन्धश्च इलेप्मा ; रक्तपित्ताख्यव्याधिर्जेतन्यः, अत्र पित्तस्य जयार्थे विरेचनं तावत् परमोपधम्, "विरेचनं पित्तहरणानाम्" इतिवचनादिति भावः । यश्च तत्रान्वयोऽनुबन्धस्यरूपः

भवेद् योगावहं तत्र कषायं तिक्तसेव च *। तस्मात् साध्यतमं रक्तं यदूर्ष्वं प्रतिपद्यते ॥ ८॥ रक्तन्तु यद्धोभागं तद् याप्यमिति निश्चयः। वमनस्यालपयोगित्वादलपत्वादं भेषजस्य च॥ वमनं हि न पित्तस्य जयार्थं परमौषधम्। यश्च तत्रानुगो वायुस्तच्छान्तौ चावरं स्वृतम्॥

कफस्य चौषधं विरेचनं नाधमं न चाश्रेष्टतमम् अपि तु श्रेष्टं अनधममिति करणात्। साध्यसे हेसन्तरमुक्तं वहुसार् भेपजस्य चेति तद्विष्टणोति—भवे-कपायं तिक्तमेव चेति कपायरसदृष्यं तिक्तरसदृष्यञ्चैव न तु दित्यादि। मधुरमिति, मधुरमात्रद्रव्यस्य अयोगवहत्ताद् भेषजाधिवयमधोगापेक्षया, अधोगे हि वक्ष्यते मधुरञ्चैव भेषजमिति न तु तत्र कषायं तिक्तं वा वातवर्द्धंकलादिति, अधोगे भेषजाल्पत्वं तत्र व्याख्येयम् । साध्यत्वं निगमयति – तस्मादित्यादि । तत्र इलेष्यानुवन्धोर्द्ध गस्योपदर्शनेन साध्यतमित्युक्तं न तु तत्र वाताचनु-वन्धेन। सन्बोद्धिंगाभित्रायेण पूर्विष्ठक्तं साध्यं लोहितिपत्तं स्यादिति। रक्तन्तु यद्धोभागमित्यादिकं पूच्चेवद्वग्राख्येयस्। वमनस्यालपयोगिलं विष्ट णोति—वमनं हीत्यादि। नन्नु वमनं पित्तस्य जयार्थं न परमौपथमस्तु प्रभावात दोषान्तरजयार्थं परमौषदं न वा इत्यत आह—यश्चेत्यादि। इलेप्मा, तस्य जयार्थे अनधममधमं न भवति मध्यममित्यर्थः ; वचनं हि—"पित्तं वा फफपित्त वा पित्ताशयगतं हरेत्। संसनम्" इति। योगावहञ्च तत्रेति, तत्र जर्द्धा रक्तपित्ते तद्विरेचनं योगवाहं भवति प्रतिमार्गहरणरूपत्वादित्यर्थः ; अनेन च व्याधिप्रत्यनीक्मुच्यते । एवं व्याधि-प्रधानकारणे वित्ते प्रधानशमकत्वात् तथा मध्यकुपिते च कफे मध्यभेपजत्वात् प्रतिमार्गहरण-रूपतया च प्रत्यनीकत्वात् विरेचनमूद्धं गे साधु भेषजम्। मधुरम्चैव भेषजमित्यत्र 'एव'-बाट्दोऽप्यर्थः; तेन कपायतिक्ते तावद् भेपजे भवत एव पित्तकप्रप्रत्यनीकत्वात्। सधुरमपि लङ्घनादिना कफे जिते भेपजं भवतीत्यर्थः ॥ ८॥

चक्रपाणिः—अधोगे वमनस्याजुपयोगितां विवेचयित—वमनं हीत्यादि। पित्तस्य रक्त-पित्तमूलस्य हरणे न श्रेप्टं वमनम्, वमनं हि कफानुगतं पित्तं हरित, न पित्ते प्राधान्येन क्रियते; तच्छान्तो चावरमिति वातहरणे त्वप्रधानमेव वमनम्; वातहरणेऽयुक्तत्वादेव वमनस्य;

मधुरञ्चेव भेपजमिति चक्रसम्मतः पाटः ।

स्याच्च योगावहं तत्र मधुरञ्चेव भेषजम् ॥ । तस्माद् याप्यं समाख्यातं यद्रक्तमनुलोमगम् ॥ ८ ॥ रक्तिपत्तन्तु यन्मार्गौ द्वाविष प्रतिपद्यते । असाध्यमिति तज्ज्ञे यं पूर्व्वोक्तादेव कारणात् ॥ न हि संशोधनं किश्चिदस्यास्ति प्रतिमार्गगम् । प्रतिमागञ्च हरणं रक्तिपत्ते विधीयते ॥

वमनमवरं स्मृतमित्यर्थः। अल्पोपधलं विद्यणोति—स्याच्चेत्यादि। मधुरञ्चैव भेपजं न तु कपायं वा तिक्तं वा इत्यल्पभेपजलमृद्धं गापेक्षया वोध्यं। निगमयति —तस्मादित्यादि । अनुलोमगमधोगं याष्यमिति वातानुवन्धोपदशेनात् तदभि-प्रायेण द्विदोपाद्यतुवन्धे तु चिकित्सास्थानोत्तया चासाध्यत्वं वोध्यम् ॥ ८।९ ॥ गङ्गाधरः—मागो^र द्वावपीत्युद्धाधोमार्गयुगळम्। पूर्व्योक्तादेव कारणादिति वमन-विरेचनायोगिलात् अनौपधलाच । नतु वमनविरेचनयोः कथमयोगिलं तयोर-योगिलेन वा किं निरूहादिसंशोधनान्तरमप्यस्ति तेनैव साध्यते, इत्यत आह—न हीत्यादि । प्रतिमार्गगमिति रक्तपित्तस्य मागेविपरीतमागेगम् । यथा ऊद्धं गे विरेचनमधोगे वमनं प्रतिमार्गगं न तथास्थापनं, तद्ध्यशेषार्गहरं नोद्धे मार्गदोष-मपहरतीत्युभयमागगरक्तिपत्ते प्रतिमागंगं न भवति । एवं शिरोविरेचनन्तु न केनापि मार्गेण प्रतिमार्गगमिति । नतु भवतु वा न वा प्रतिमार्गगं दोप-हरलादास्थापनादिकानां यौगिकलं कथं न स्यादित्यत आह-प्रतिमार्ग-ञ्चेत्यादि । चकारार्थौऽवधारणं, तेन त्रल्यमागेहरणं प्रतिषिध्यते । प्रतिमागे-तचायोगावहमिति तद् वमनं प्रतिमार्गहरणरूपतया योगावहमिप सत् पित्तवातयोरुक्ते न न्यायेनायोगिकन्वेनायोगावहमित्यर्थः : कपायितक्तकानि च अयोगावहानीति योजना, कपाय-तिक्तयोवीतप्रतिकृलत्वादित्यर्थः ; एवं मधर्मेकमवशिष्टमधोगे रक्तपित्ते भेपजं भवति; तेनाल्पौ-पधत्वं सिद्धम् ; अम्लङ्बणकटुकानाञ्च पित्तविरुद्धत्वेन एक्तपित्तेऽप्रसिक्तिरिति ॥ ९ ॥-

चक्रपाणिः—प्रवीकादिति वमनविरेचनायोगिकत्वादनोपधत्वाच ; वमनविरेचनायोगिकत्वं व्युत्पादयति—न हीत्यादि । संशोधनिमिति सामान्यवचनेन वस्तिशारोविरेचनयोरिप प्रति- क्षेपणं सूचयति ; यदधोभागं विरेचनम्, तद्धोभागं रक्तिपत्तं कोपयति , यद्धुं भागं वमनम्, तद्धोभागं रक्तिपत्तं कोपयति ; अतः नास्त्युभयमार्गे रक्तिपत्तं शोधनम् । अथानुगुणशोधनं

^{*} कपायं तिक्तकानि च इति चक्रधतः पाठः।

एवमेवोपशमनं सर्व्वशो नास्य विद्यते । संस्ट्रप्टेषु हि दोषेषु सर्व्वजिच्छमनं मतम् ॥ इत्युक्तं त्रिविधोदकं रक्तं मार्गविशेषतः ॥ १०॥

हरणस्य तु रक्तिपत्ते यौगिकलं रोगस्वभावात् पित्तरक्तयोः स्वभावाच्, अम्लिपत्ते हि तुल्यगागंहरणं यौगिकं दृश्यते। संशोधनस्य दोपाणामा मूलत उन्मूलकरत्वात् उपक्रमेषु प्राधान्यादुध्यगे रक्तिपत्ते तद्योगिले चिकित्सायां भिपजां दौर्व्यल्य-मित्यसाध्यले हेतुर्वोध्यः। नन्नु सर्व्यथा क्रियाभावो नास्ति संशमनेन च चिकित्साकरणसामध्यादित्यत आह— एविमत्यादि। एविकुक्तप्रकारेण उपश्चमनभेपजमि सर्व्वशो नास्यास्ति। छद्धेगे हि मधुरं भेपजं न यौगिकम् अधोगे तु कपायं तिक्तकञ्च न यौगिकं सुतराम्रभयगे मधुरकपायितक्तानि न यौगिकानि भवन्ति, कृष्टम्ललवणानि तु पित्तरक्तिवरोधित्वान्नौपधानीति सर्व्यथैवोपशमनौपधाभावः, तस्मादसाध्यमाख्यातं; यत् दृौ मागौ प्रतिपद्यते इति वाच्यं निगमनम्।

अथ ऊद्धु गाधोगयोः कफवातानुवन्धप्रतिनियमेऽपि दोपान्तरसंसर्गे संशमन-माह—संस्पटेषु इत्यादि । सन्वेजिदिति वातिपत्तकपरक्तानां चतुर्णामेवावजय-करं भेषजं शमनं मतम्। ऊर्द्धगे हि रक्तश्च पित्तश्च तदारम्भकमनुवन्धस्तु कफः प्रतिनियतस्तत्र दोषान्तरःतु वायुरेव परिशिष्टस्तत्संसगेइचेत् तदा सर्वदोषसद्भाव इति, सर्वेजित् संशमनं विधेयम् एव भवति । एवमधोगेऽपि व्याख्येयम्। दोपान्तरसंसर्गविकानाय लिङ्गानि चिकित्सिते वक्ष्यन्ते, अत्र सूत्ररूपलान्नोक्तानि। इति त्रिविधं मार्गविशेषत उद्धीमार्गाधोमार्गीभय-मार्गभेदात् उदर्कं साध्ययाप्यप्रत्याखेत्रयरूपं फटं यस्य तत् रक्तपित्तमुक्तं भवति। ननु मागौ पुनरस्य द्वाविति पूर्वमुक्तं, कथमत्र त्रिविधोदकौक्तिन विरुध्यते ? उच्यते, ऊद्धे आधरचेति द्वी मार्गावेव यौगपदेत्र हुत्रभयमिच्छन्ति कफच्छईपामिव वमनं रक्तिपत्ते भवतीत्याह—प्रतिमार्गब्चेत्यादि । रक्तिपत्तव्याधिमहिस्ना प्रतिमार्गहरणमेव भेपजं भवति नान्यदित्यर्थः ; अथात्रैव सशमनं वा भवतु भेपजम् १ तन्न भवतीत्याह—एवमेवेत्यादि । उभयमार्गानुसारित्वेन वातकपानुबन्धत्वात् संशोधनं नास्ति तथोपशमनमपि युगपदवातकपशमकत्वाभावाज्ञास्तीत्यर्थः ; सर्व्दशो न विद्यत इति किञ्चिद्पि न विद्यत इति । एतदेवोपशमनभेपजाभावं स्फोटयति—संसुप्टेप्विति सन्नि-पातेषु बोद्धस्यम् । सर्व्वजिदिति अनुबन्धभूतवातकप्रमूलभूतिपत्तजित् ; मधुरं हि कप्रकारि,

एभ्यस्तु खलु हेतुभ्यः किञ्चित् साध्यं न सिध्यति । प्रे प्योपकरणाभावाद् दौरात्म्याद् वैद्यदोषतः ॥ अकम्मतश्च साध्यत्वं कश्चिद्रोगोऽतिवर्त्तते । तत्रासाध्यत्वमेकं स्थात् साध्ययाप्यपरिक्रमात् ॥

(च शब्दस्यान्वाचयाथलात्) न लतिरिक्तमित्यभिपायणोक्तं त्रिविधोदर्कमिति । युगपद्गतस्यासाध्यतं फलविशेष एव प्रत्याखेत्रयलात् ॥ १०॥

गृह्मधरः—नमु साध्यतेन यदुक्तं तदिष किं नासाध्यं भवितुमहतीत्यत आह
—एभ्यस्तित्यदि । एभ्य इत्यत ऊर्ड वस्यमाणेभ्य एव मे प्योपकरणादिभ्यो
हेनुभ्यः । मे प्येति आतुरस्य परिचारक उपकरणं धनं वास्ति चेत् तदा
तस्य दौरात्म्यताद् दुन्यु द्व्यादिना कुपथ्याचारात्, तेषु गुणवत्मु सत्स्विष
वैद्यदोपतः शास्त्रविहितमतिकारिवपरीतिक्रयादिकरणदोपात् । अकम्मतद्येति
मतिक्रियाकरणाभावात् । कश्चिद् रोगो रोगिवशेयः साध्यत्यमतिवर्षतेऽसाध्यत्वमापद्यते । नन्वसाध्यतं द्विविद्यं—याप्यं मत्याखेयश्च । किं तद् द्विविधमित्यत
आह—तत्रासाध्यत्वमित्यदि । साध्ययाप्यपरिक्रमाद् कम्यचिद् याप्यतं कस्यचित् मत्याखेययतं, तस्मात् साध्ययाप्यपरिक्रमादेकमेवासाध्यतं स्यात् ।
तिक्कपायो नु वातकरो, शेपास्नु पिक्करा एवेति भावः । किंवा, एवमेवेति, विना भेपनं नोपश्रमनं रक्तपित्तस्य भवतीति योजनीयम् । श्रिविधोदक्रीमिति श्रिविधजातीयफङ्म्, तच्च साध्यत्ययाप्यत्वश्रत्याख्येयत्वरूपम् ॥ ३०॥

चक्रपाणिः—असाध्यतोपोद्घातेनेतरन्याधि-साधारण्येऽपि असाध्यतापत्तिकारणान्याह—एभ्यस्तु इत्यादि । उपकरणाभावादिति भेपजाभावात् ; दौरात्म्यादिति आतुरस्यानात्मवत्त्वात् । अकम्मत इत्यत्र कुत्सायाम् नञ्, अपुत्र इति यथा ; तेन अकम्मतोऽसम्यक् चिकित्सात इत्यर्थः ; किंवा अध्यम्मत इति अध्यम्मीदसाध्यव्याधिजनकात् । कश्चिदिति वचनेन अचिकित्सया न सर्व्ये तिलकालकमशकाद्योऽयश्यमसाध्या भवन्तीति दर्शयति, तेपामचिकित्सयापि साध्यत्वात् । प्रेष्यादिदोपेण प्रकृतरक्तिपत्ते असाध्यत्वं दर्शयत्राह—तत्रेत्यादि । तत्रेति रक्तिपत्ते ; असाध्यत्वम् एकमिति असाध्यत्वमेव परं स्यात् ; साध्ययाप्यपिक्तमादिति साध्ययाप्यमार्गाभ्यां परिक्रमात् उभयमार्गानुसारित्वादित्यर्थः ; किंवा, साध्ययाप्ययोः परिक्रमः, तस्मात् ; तत्र साध्यस्य परिक्रमो याप्यमार्गामित्वम्, एवं याप्यस्य परिक्रमः साध्यमार्गगामित्वम् ; अयञ्च मार्गपरिक्रमो मार्गपरित्यागादपरित्यागाद वा असाध्य एव, अपरित्यागे तावद्वभयमार्गेणैव असाध्यत्वम् ; परिर्थागेऽसाध्यत्वमुक्तं ; वक्ष्यिति हि चिकित्सिते—"मार्गन्दार्णं चरेट यद् वा तच रक्तमित्रिद्वमत्तं

कषायिगामसौम्यानां नम्नानां दग्रहधारिगाम् । कृष्णानां रक्तनेत्राणां स्वप्ने नेच्छन्ति दर्शनम् ॥ २७ ॥ कृष्णा पापायनाचारा दीर्घकेशनखस्तनी । विरागमाल्यवसना स्वप्ने कालनिशा मता ॥ २८ ॥ इत्येते दारुणाः स्वमा रोगी यैर्याति पञ्चताम् । अरोगः संश्यं गत्वा कश्चिदेव प्रमुच्यते ॥ २६ ॥ मनोवहानां पूर्णत्वाद दोषैरतिवलैस्त्रिभः । स्रोतसां दारुणान् स्वमान् काले पश्यति दारुणे ॥ ३० ॥

रक्तपुष्पमालावान् सन्तुच्चैहसन् दिग्वासा नग्नः सन् दक्षिणां दिशं याति, अथवा तथाविधः सन् किपयुक्तेन वानरसहयोगेन दारुणामटवीं पयाति, अथवा किपायिणामसौस्यादीनाश्च दर्शनम् स्वप्ने नेच्छिन्ति। एपां स्वप्ने दर्शनमशुभ-करसान्नेच्छिन्ति तज्जा इति भावः॥ २७॥

गङ्गाधरः—कृष्णा स्त्री पापाद्यनाचारा वा स्त्री दीर्धकेशादिमती स्त्री ।वरागमाल्यवसना रक्तमाल्यवसना स्त्री च स्वप्ने दृष्टा सती कालनिशा कालरात्रियमभगिनी मता मारिका हो या ॥ २८ ॥

गङ्गाधरः—एपां स्वप्नानामाशिषमाह—इत्येते इत्यादि। एपां दारुणतं रोगिणां मारकलमरोगाणां प्रायेण मारकलश्च। कस्यचिद्वहुक्केशेन मोचकल-मिति भावः।। २९।।

गृङ्गाधरः—नमु कस्माहारुणं स्वप्नं पश्यति तदाह—मनोवहानामित्यादि ।
नरो दारुणे मारके काले समुपस्थितेऽतिवलैरितशयवलविद्धिस्त्रिभिद्धिपैवितपित्तकफैमेनोवहानां स्रोतसां पूर्णसात् दारुणान् मारकान् स्वमान्
पश्यति ॥ ३०॥

किपयुक्तेन यानेनेति शेषः। कश्चिदेव प्रमुच्यत इत्यरोगान् प्रति नैतत् स्वप्नानामरिष्टत्वम्। तेन अरोगेप्वेतेषां मरणव्यभिचारेण नारिष्टत्वं वक्ष्यति ॥ २७—२९ ॥

चक्रपाणिः—यथैतत् स्वप्नदर्शनं भवति तदाह—मनोवहानामित्यादि । मनोवहानि स्रोतांसि यद्यपि पृथङ् नोक्तःनि तथापि मनसः केवलमेवेदं शरीरमयनमूत्रम् इत्यभिधानात् सर्व्वशरीरस्रोतांसि ः गृह्यन्ते, विशेषेण तु हृदयाश्रितत्वान्मनसस्तदाश्रिता दश धमन्यो मनोवहा अभिधीयन्ते । त्रिभिरिति

नातित्रसुतः पुरुषः सफलानफलांस्तथा। इन्द्रियेशेन सनसा खनान् परयत्यनेकधा॥ ३१॥ दृष्टं श्रुतानुभृतञ्च प्रार्थितं कल्पितं तथा। भाविकं दोपजञ्चैव खजं सप्तविधं विदुः॥ ३२॥

गङ्गाधरः--ननु कीहक् पुरुषो दारुणान् स्वमान् पश्यति न च कथं सन्वः पष्यति, न वा कथं सर्व्ववेव निद्रायां पश्यतीत्यत आह—नातीत्यादि। विभाषया नजोऽनादेशविधानात्। नातिप्रसुप्तोऽनतिप्रसुप्तः, प्रमुप्तस्तु सुपुप्तिवडर्ने या निद्रा तन्निद्रागतः। तादशस्तु तैजसाहङार-योगेणात्मा भवति। सुपुप्तस्तु तामसाहङ्कारयोगेण भवति। ईदशस्त्वात्मा न त्रिद्रोपपूर्णमनोवहस्रोतस्तं विना दारुणान् स्वमान् पश्यति। परन्तु तैजसाहङ्कारयोगमात्रेण स्वमान् पश्यति न दारुणान् पश्यति। त्रिदोपपूर्ण-मनोवहस्रोतास्तु दारुणान् स्वमान् पश्यति, न तु सन्देः पुरुषः। तामसाहङ्कारयोगः स्यात् तदा न कञ्चन स्वप्नं पश्यति। नन्वेवमपि दारुणान् स्वमान् दृष्ट्वापि जीवन् अस्तीति दृश्यते इत्यत आह— सफलानफलांस्तथेति । एतान् दारुणान् स्वमान् सफलान् अफलांश्च पश्यति । योऽफलान् परयति स जीवति, यः सफलान् स म्रियते एवेति भावः। नन् कस्मात् स्वमाः सफलाञ्चाफलाञ्च भवन्त्येकविधलादात्मन इत्यत आह— इन्द्रियेशेनेत्यादि। मनसा इन्द्रियेशेन दशेन्द्रियभेरकेण मनसानेकथा स्वमान् पुरुषः पश्यति ॥ ३१ ॥

गङ्गाधरः—ननु कीद्दशा अनेकथा स्वमा इत्यत आह—दृष्टिमित्यादि। श्रुत-श्रानुभूतश्च तत्तथा। एकं स्वप्नं दृष्टं विदुः। द्वितीयं श्रुतस्। तृतीयमनुभूतं मनसा चिन्तितं तिर्कतं व्याख्यातिमत्यादिकम्। चतुर्थं प्रार्थितं पूर्व्वं मनसा वाचा वा यद् याचितस्। पश्चमं किष्पतं मनसाऽपाष्याप्राप्यतादिक्षेण यन्मनसा

त्रिभिरपीत्यर्थः। तेन पृथक् चापि दोपैः पूरणं ज्ञेयम्। नातिप्रसुप्त इति नातिनिद्राभिमूत इत्यर्थः। हन्द्रियेशेनेति इन्द्रियपेरकेण॥ ३०१३१॥

चक्रंपाणिः—स्वप्नानां फलवावद्योक्तं स्वप्नप्रकारानाह—दृष्टमित्यादि । दृष्टमिति चक्षुपा, अनुभूतन्तु रोपेन्द्रियज्ञातम् । कल्पितमिति मनसा भावितम् । प्रार्थितं याच्याविपयक्रतम् । भाविकमिति भाविशुभाशुभफलस्यचकम् । दोपजमिति उद्यणदातादिदोपजन्यम् ॥ ३२॥ तत्र पश्चिवधं पूर्व्यसफलं भिषगादिशेत्। दिवास्त्रमतिहस्वमितदीर्धं तथैव च ॥ ३३ ॥ दृष्टः प्रथमरात्रे यः स्वप्तः सोऽल्पफलो भवेत्। न स्वपेद् यः पुनर्द ष्ट्रां स सद्यः स्यान्महाफलः ॥ ३४ ॥ अकल्याणमिष स्वप्नं दृष्ट्रां तत्रेव यः पुनः। पश्येत् सौम्यं शुभाकारं तस्य विद्याच्छुमं फलम् ॥ ३५ ॥

वलृप्ती क्रियते पूर्वं तत्। भाविकं भविष्यन्तं पष्डम्। दोपजं वातादिदोपभवं सप्तमं विदुः। इति सप्तविधं स्वप्नं विदुः॥ ३२॥

गङ्गाधरः—तत्रेत्यादि। तत्र पश्चिविधं पूर्वि हण्टं श्रुतम् अतुभूतं प्राथितं किएतञ्चेति पश्चिवधमफलं भिपगादिशेत्। शेपौ भाविकदोपजौ सफलौ। तत्राप्याह—दिवेत्यादि। भाविकं वा दोपजं वा दिवा यदि पश्चिति तदाप्यफलं विदुः। यदि वा भाविकं दोपजं वा स्वप्नं रात्रावितहस्वं स्वल्परूपेण पश्चिति तदा तमप्यफलं विदुः। यदि वातिदीर्घं रात्रौ भाविकं दोपजं वा स्वप्नं पश्चिति तदा तमप्यफलं विदुः। यदि वातिदीर्घं रात्रौ भाविकं दोपजं वा स्वप्नं पश्चित तदा तमप्यफलं विदुरित्यर्थस्तथैवेत्यस्य।। ३३।।

गङ्गाधरः—नन्वभयोऽतिरिक्ताः सन्व फलवन्तः सन्तु न कथं सर्वदा फलन्ति इत्यत आह—हृष्ट इत्यादि। प्रथमरात्रे प्रहररात्राभ्यन्तरे सोऽल्पफलश्चिर-फलश्च। स्वप्ने तु प्रथमे यामे वत्सरेण फलं लभेत् इति तन्नान्तरवचनात्। एतेन द्वितीय-तृतीय-चतुथंयामेषूत्तरोत्तरं फलाधिक्यं स्वल्पकालश्च ख्यापितः। तत्रापि स्वल्पफलल्याह—न स्वपेदित्यादि। यः स्वप्नं हृष्ट्वा पुनर्ने स्वपेत् न निद्रां गच्छेत् स सद्यस्त्रिरात्रेण महाफलः स्यात् महाफलप्राप्तः स्यात्। एतेन स्वप्नं शुभं वाशुभं हृष्ट्वा पुनर्निद्रागमे स्वल्पफलः चिरेण फलहानिर्वा भवतीति ख्यापितम्॥ ३४॥

गङ्गाधरः—नतु पुनरपि निद्रागतो यदि पून्त्रस्वप्नविरोधिस्वप्नं पत्रयेत्, तदा किं स्यादित्यत आह—अकल्याणमपीत्यादि। यद्यकल्याणं कल्याणं

चक्रपाणिः—पूर्वं दृष्टादिकिर्दितान्तं पञ्चविधस्वष्तमफलं फलशुन्यत्वादिति पारिशेष्याद् भाविकं दोपजन्यञ्च सफलम् । तत्र भाविकं शुभाशुभरूपतया शुभाशुभफलप्रदम् । यत् तु दोपजन्यं तद् दोपप्रकोपजन्यव्याधिरूपफलसूचकतया सफलम् । अफलस्वष्नान्तरमाह—दिवा-स्वष्नित्यादि । दिवादण्टं सर्वं स्वष्नम् तथा रात्रिद्दष्टञ्चातिदीर्घमतिद्वस्वञ्च स्वष्नमफलं

वा स्वप्नं पूर्व्यं दृष्ट्या तत्रैव स्वप्ने शुभाकारं सौम्यं न लशुभाकारं स्वप्नं पद्येत्। तस्य शेपस्वमफलं शुभं स्यात्। सुतरां जागरिखा पुनिनेद्रायां शुभस्वम-दर्जनस्य शुभमेव फर्डं लभ्यते। एतेन शेपस्वक्षो गरीयानिति ख्यापितः।

इत्थञ्चापरिसङ्घेत्रयाः स्वमा द्विधा, कतिचिच्छुमाः कतिचित् अशुभा-कतिचिदुपदिष्टा अरिष्टाधिकारात्। **स्तत्रास्मिस्तन्त्रेऽशुभाः** अशुभाः शुभाश्च कतिचित् तन्नान्तरतोऽवगन्तव्याः । मुश्रुते तु अशुभाः शुभाश्च कतिचिदुक्तास्तत्र कतिचिदशुभा यथा—स्वमानतः प्रवक्ष्यामि मरणाय शुभाय च । सुहदो यांश्र पश्यन्ति न्याधितो वा स्वयं तथा।। स्नेहाभ्यक्त-शरीरस्तु करभव्यालगईभैः। वराहमिहिपैर्वापि यो यायाद् दक्षिणामुखः॥ रक्तास्वरधरा कृष्णा हसन्ती मुक्तमृद्धिजा। यं वा कर्पति वद्धा स्त्री वृत्यन्ती दक्षिणामुखम् ॥ अन्त्यावसायिभियौ वा कृष्यते दक्षिणामुखः । परिष्वजेरन् यं वापि मेताः पत्रजितास्तथा।। मूर्छन्यात्रायते यस्तु श्वापदैर्विकृताननैः। पिवेन्मधु च तैलञ्ज यो वा पद्धे अवसीदित ॥ पद्धपदिग्धगात्रो वा पतृत्येत महसेत् तथा। निरम्बरश्च यो रक्तां धारयेन्छिरसि सनम्।। यस्य वंशो नलो वापि तालो वोरसि जायते। यं वा मत्स्यो ग्रसेट् यो वा जननीं पविशेवरः॥ पर्विताग्रात् पतेद् यो वा न्वभ्नं वा तमसाष्टते। हियते स्रोतसा यो वा यो वा मौण्ड्यमवाप्तुयात्।। पराजीयंत वध्येत काकादैप्रवीभिभूयते। पतनं तारकादीनां प्रणाजं दीपचक्षुपोः ॥ यः पश्येद् देवतानां वा प्रकम्पमवन-स्तथा। यस्य च्छि दिविरेको वा दशनाः प्रपतिनत वा।। शाल्मलीं किंशुकं यूपं वल्मीकं पारिभद्रकस् । पुष्पाढ्यं कोविदारं वा चितां वा योऽधिरोहति ॥ कार्पासतैलिपण्याक-लोहानि लवणं तिलान्। लभेताश्रीत वा पकमन्नं यश्र पिवेत् सुराम्। स्वस्थः स लभते न्याधिं न्याधितो मृत्युमृच्छति।। यथास्वं मकृतिस्वमो विस्मृतो विहतश्च यः। चिन्ताकृतो दिवादृष्टो भवन्त्यफलदास्तु ते।। ज्वरितानां शुना सख्यं किपसख्यन्तु शोषिणाम्। उन्मादे राक्षसः भेतैः अपस्पारे मवर्त्तनम् । मेहातिसारिणां तोय-पानं स्नेहस्य क्रिष्टिनाम् ॥ गुल्मेषु स्थावरोत्पत्तिः कौष्टे मुद्धि शिरोरुजि। शष्कुलीभक्षणं छद्देशमध्वा श्वास-पिपासयोः। हरिद्राभोजनं वापि यस्य स्यात् पाण्डुरोगिणः। रक्तपित्ती पिवेद् यस्तु शोणितं स विनश्यति॥ स्वमानेवंविधान हृष्ट्वा मातरुत्थाय यत्वान्। दद्यान्यापांस्तिलान् लोहं विषेभ्यः काञ्चनं तथा। जपेचापि पुमान् विद्यात्। अत्र चाध्याये येपामेव स्वप्नरूपरिष्टसम्भवः त एवोक्ताः। तेन ग्रहण्यादीनां किमिति तत्र श्लोकः।

पूर्विरूपाण्यथ स्वप्तान् य इमान् वेत्ति दारुणान् । न स मोहादसाध्येषु कम्माण्यारभते भिषक् ॥ ३६ ॥ इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने पूर्विरूपीयमिन्द्रियं नाम पश्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

मत्रान् गायत्रीं त्रिपदां तथा। दृष्टा च प्रथमे यामे सुप्याद् ध्याला पुनः शुभम्।। जपेद्वान्यतमं देवं ब्रह्मचारी समाहितः। न चाचक्षीत कस्मैचिद् दृष्टं स्वमम्शोभनम्।। देवतायतने चैव वसेद् रात्रित्रयं तथा। विगांश्च पूजयेत्रित्यं दुःस्वमात् प्रविद्युच्यते।। अत ऊर्जु प्रवक्ष्यामि प्रशस्तं स्वमदर्शनम्। देवान् द्विजान् गोष्ट्रयमान् जीवतः सहदो नृपान् ।। समिद्धमिनं विगांश्च निम्मेलानि जलानि च। पश्येत् कल्याणलाभाय व्याधरपगमाय च। मांसं मत्स्यान् स्रजः श्वेताः वासांसि च फलानि च। लभन्ते धनलाभाय व्याधरपगमाय च। महाप्रासादस्त्रकल्ट हक्षवारणपर्वतान्। आरोहेद् द्रव्यलाभाय व्याधरपगमाय च। नदीनदसमुद्रांश्च क्षुभितान् कल्लपोदकान्। तरेत् कल्याणलाभाय व्याधरपगमाय च। नदीनदसमुद्रांश्च क्षुभितान् कल्लपोदकान्। तरेत् कल्याणलाभाय व्याधरपगमाय च। स्तर्भावसम् च। स्तर्भावसम् च। स्तर्थ धनलाभञ्च बुद्धिमान्। एवं क्ष्पान् शुभान् स्वमान् यः पश्येद्व्याधितो नरः। स

गङ्गाधरः—अध्यायाशिपभाह—तत्र श्लोक इति। पूर्विकपाणीत्यादि। एतद्वध्यायोक्तानि पूर्विकपाणि इमान् इत्यस्य लिङ्गविपर्ययेणान्वयात्। स मोहात् अज्ञानात्।। ३६।।

अध्यायं समापयति—अग्रीत्यादि ॥

् इति वैद्यश्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजलपकलपतराविन्द्रिय-स्थानजलपं पश्चमस्कन्धे पूर्विरूपीयेन्द्रियजलपाख्या पश्चमी शाखा॥ ५॥ न स्वन्नारिष्टानि, इत्यादि न वाच्यम्। तत्र रिष्टासम्भावादेवानिभधानं ज्ञेयम्। "इष्टः प्रथमयाम् यः" इत्यादिग्रन्थं केचिदत्र पठन्ति, स न्यकार्थं एव॥ ३३—३६॥

इति महामहोपाध्याय-चरकचतुरानन-श्रीमचकपाणिदत्तविरचितायामायुर्वेददीपिकायां । चरकतात्पर्य्यटीकायाम् इन्द्रियस्थाने पूर्वेरूपीयमिन्द्रियं नाम पद्ममोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षंष्ठोऽध्यायः।

ज्ञथातः कतसानिश्रोरीयसिन्द्रियं व्याख्यास्यामः, इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

कतसानि श्राराणि व्याधिमन्ति सहामुने ! यानि वैद्यः परिहरेद्वेषु कर्म्स न सिध्यति ॥ इत्यिश्वेशेन गुरुः प्रश्नं पृष्टः पुनर्व्यक्षः । आचचचे यथा तस्मै भगवांस्तन्निवोधत ॥ २ ॥ यस्य वै भाषमाणस्य रुजत्यूर्ष्ट्रं मुरो भृश्म् । अन्तं वा च्यवतेऽपक्षं स्थितं वापि न जीर्थित ॥

गङ्गाधरः — अथ पूच्चंरूपीयेन्द्रियच्याख्यानन्तरं स्थानिवशेषे व्याधि-विशेषतोऽरिष्टं व्याख्यातुं कतमानिशरीरीयमिन्द्रियं व्याख्यायते — अथात इत्यादि । कतमानि शरीराणि व्याधिमन्तीत्यादि । श्लोकार्थं कतमानि शरीराण्यधिकृत्य कृतमित्यथं कतमानिशरीरीयमिति ॥ १॥

गङ्गाधरः — कतमानीत्यादि । हे महामुने गुरो ! येषु व्याधिमत्सु शरीरेषु चिकित्सितं कर्म न सिध्यति, तानि कतमानि व्याधिमन्ति शरीराणि भवन्ति, यानि शरीराणि व्याधिमन्ति वैद्यः परिहरेदरिष्ट्रलान्न चिकित्सेदिति प्रश्नमग्निवेशेन शिष्येण पृष्टो भगवान् पुनर्व्यसुर्णे रुस्तस्मै अग्निवेशाय यथा आचचक्षे तिन्वोधत्।। २।।

गङ्गाधरः—यस्येत्यादि। भाषमाणस्य वावयं वदत एव यस्य ऊर्द्ध मुरो वक्षस ऊर्द्ध देशो भृशं रुजित व्यथते, न लभाषमाणस्य तं भिषक् परिवर्ज्जयेत्। यस्य भुक्तमपक्षमन्नं च्यवते गुदात् निर्मच्छिति, अथवा यस्य भुक्तमन्नमुद्रे

चक्रपाणिः—सम्प्रति प्रदेक्षपीयानन्तरं भा।वन्याध्याश्रयारिष्टाभिधानार्थे कतमानिशरीरीय-मिन्द्रियमुच्यते । कतमानि शरीराण्यधिकृत्य कृतं कतमानिशरीरीयम् । प्रश्नमिति प्रच्छाविषयम् । कर्द्भुस् इति उरकर्त्वभाग इत्यर्थः । एतद्ध्यायप्रतिपाद्यानाञ्चासाध्यस्याधीनां सरणसूचकेन वलश्च हीयते शीव्रं तृष्णा चातिप्रवर्द्धते । जायते हृदि शूलश्च तं भिषक् परिवर्ज्जयेत् ॥ ३ ॥ हिक्का गम्भीरजा यस्य शोणितश्चातिसार्य्यते । न तस्मा श्रोषधं दद्यात् स्मरन्नात्रेयशासनम् ॥ ४ ॥ श्चानाहश्चातिसारश्च यमेतो दुर्ज्जलं नरम् । व्याधितं विश्तो रोगौ दुर्ज्जभं तस्य जीवितम् ॥ ५ ॥ श्चानाहश्चातिसारश्च कर्षितं यमुभौ भृशम् । विश्तो विज्ञह्त्येनं प्राणा नातिचिरान्नरम् ॥ ६ ॥

स्थितमपि न जीय्यति, वलश्च हीयते, शीघं तृष्णा चातिमवर्द्धते, हदि च शुळं जायते, तं नरं भिषक् परिवर्जियत् ॥ ३॥

गङ्गाधरः — हिक्के त्यादि । गम्भीरजा नाभिष्रवृत्ता गम्भीरा नाम हिका यस्य तस्यैव शोणितातिसारञ्चेत ॥ ४॥

गङ्गाधरः—आनाह इत्यादि। आनाहो विङ् विवन्थन्याधिः स्वनामा-स्यातस्तत्रातिसारइचेत् तदा एतौ द्वौ मिथो विरुद्धौ यं दुर्व्वलं न्याधितं नरं प्रविश्वतस्तस्य दुर्लभं जीवितं स्यात्, न तु प्रवलस्य नापि स्वस्थस्य ॥ ५॥

गङ्गाधरः एवमानाहरुचेत्यादि न्याख्येयम्। कपितं न्याधिभिर्वा धनवान्धवक्षयोपनासादितो वा, इति पूर्वस्माद्धेदः। नातिचिरादिति शीघ्रमित्यर्थः॥६॥

अरिष्टेन समं मरणसूचकतया साधम्मयौदिरिष्टानामिष व्याधीनामिधानिमह ह्राते। याद एतं एवासाध्यव्याधयो मरणपूर्वं रूपतया रिष्टरूपा एव भवन्ति, तथापि न कदाचित् क्षतिः। तेनारिष्टाधिकारादरिष्टत्वमेव एतद्ध्यायवाच्यानामिष व्याधीनामिच्छामः॥ १—३॥

चक्रपाणिः—गम्भीरजा इति गभ्भीरनाभ्यादिदेशजा न तु गम्भीरा, तस्याः स्वरूपासाध्य-त्वेनोक्तत्वात् । 'शोणितज्ञातिसार्थ्वते' इति विशेषणमनर्थकं स्यात् । ज्याधितमित्यनेन हि रक्तातिसारारिष्टव्याधिगृहीतमिति दशैयति । आनाहातिसारयो रोगत्वेनापि 'रोग'विशेषणं विशेषेण ज्वरः पीर्व्याह्मिको यस्य शुष्ककासश्च दारुगः। वलसांसविहीनस्य यथा प्रतस्तथैव सः॥ ७॥ ज्यरो यस्यापराह्ने तु श्लेष्मकासश्च दारुणः। वलमांसविहीनस्य यथा प्रतस्तथैव सः॥ ॥ यस्य सूत्रं पुरीपञ्च यथितं संप्रवर्तते । निरुष्मग्गो जठरिगाः श्वसतो न स जीवति ॥ ६ ॥ श्वयथुर्यस्य कुचिस्थो हस्तपादं विसर्पति । ज्ञातिसङ स संक्लेश्य तेन रोगेण हन्यते ॥ १०॥

गङ्गाधरः - ज्वर इत्यादि । पौन्वां क्षिको दिवापूर्वेदशदण्डाभ्यन्तरे ज्वरस्य भोगावजेपस्तत्र कफकाले। दारुणः कष्टदः। शुष्ककासो वातकम्मं। इति अचिन्त्यलक्षणम् । वलमांसहीनस्य मरणाय, वलमांसवतस्तु कप्टेन जीवनमिति भावः। एवं ज्वरो यस्यापराह्वे तिति न्याख्येयम् ॥ ७। ८॥

गङ्गाधरः — यस्येत्यादि । मूत्रं ग्रथितं ग्रन्थिलवत्, पुरीपश्च ग्रथितं यस्य श्वसतः श्वासं कुर्वतः, निरुष्मणो मन्दाग्नेर्जठरिण उदर्रोगिणः संप्रवर्त्तते, स न जीवति॥९॥

गङ्गाधरः- इवयथुरित्यादि। यस्य कुक्षिस्य उदरगतः इवयथुः क्रमेण इस्तपादं विसपिति, तेन इवयथूरोगेण स चिरकालं तदार्चः सन् नानाविध-परिचर्याभिकातिसङ्घं संक्रेंक्य क्रेंब दत्त्वा तेन रोगेण इन्यते स्नियते इत्यर्थः ॥ १०॥

रजाकर्त्र त्वोपदर्शनार्थम् । इहालभ्य एव जीविते 'दुर्लभम्' इत्युक्तम् । यदाह—सर्व्देथालभ्यं दुर्लभमिति ।. अन्ये तु 'दुर्लभमापया' अनियतं मरणे रिष्टमिति ज्वते, एवं ''संशयपाप्तमात्रेयो जीवितं तस्य मन्यते" इत्यादाविप न्याख्यानयन्ति । अनियतिरष्टता स्वरसतस्त्वसाभिः पुष्पितक एवोक्ता । ''संशयप्राप्तमात्रेयो जीवितं तस्य मन्यते'' इत्यस्य चार्थं यस्यइयावनिमित्तीये वक्ष्यामः॥ ४--८॥

. चक्रपाणिः—सूत्रं प्रथितिमिति घनीसूतं शेयम् । ज्ञातिसङ्घं स संक्षेश्येतिवचनेन चिरमस्य रोगोऽनुवर्त्तते । ततः प्रत्याशया ज्ञातयस्तत्प्रतीकारार्थं व्हिश्यन्ति, ततस्तु श्रियत एव न प्रतिकर्त्तुं पार्यते ॥ ९।१० ॥

श्वयथुर्यस्य पादस्थस्तथा हास्तै च पिगिडके।
सीदतश्चाध्युभे जङ्के तं भिषक् पिरवर्ज्यते॥ ११॥
शूनहस्तं शूनपादं शूनगुद्धोदरं नरम्।
हीनवर्णवलाहारमोषधैनींपपादयेत्॥ १२॥
उरोयुक्तो बहुरलेष्मा नीलः पीतः सलोहितः।
सततं च्यवते यस्य दूरात् तं परिवर्ज्यते॥ १३॥
हृष्टरोमा सान्द्रमूत्रः शुष्क-छ-कासज्वरार्हितः।
जीग्मांसो नरो दूराद् वड्ड्यों वैद्येन जानता॥ १४॥
त्रयः प्रकृषिता यस्य दोषाः कोष्ठेऽभिलचिताः †।
कृशस्य वलहीनस्य नास्ति तस्य चिकित्सितम्॥ १५॥

गङ्गाधरः—इवयथुयस्येत्यादि । यस्य पादस्थः इवयथुः पिण्डिके जान्वधोः मांसपिण्डद्वयश्च स्नस्ते अधस्ताल्लिम्वतं भवति, उमे द्वे च जङ्गे सीदतोऽवसन्ने भवतस्तं भिपक् परिवज्नेयत् ॥ ११ ॥

गुङ्गाधरः - श्नेत्यादि । यस्य हस्ते शोथः पादे च शोथः गुह्योदस्योश्र शोथः, हीनाश्र वलवर्णाहारास्तमीपधैनौपपादयेत्, स मरिष्यतीति भावः ॥ १२ ॥

गृङ्गाधरः—उर इत्यादि। यस्य उरिस वक्षिस युक्तो लग्नो वहुइलेष्मा उत्कासादिना तस्मादुरसः सततं सलोहितो नीलो वा सलोहितः पीतो वा च्यवते, तं दृरात् परिवडकीयेत्।। १३।।

गृङ्गाधरः—हप्टरोमेत्यादि । सान्द्रमूत्रो घनं मूत्रं यस्य सः ॥ १४ ॥
गृङ्गाधरः—त्रय इत्यादि । कोष्ठे मलमूत्ररुधिराद्यात्रये हृदुण्डुकादिषु च ।
अक्रशस्य वलवतो वा । न तस्य चिकित्सितमस्तीति भावः ॥ १५ ॥

चक्रपाणिः—पिण्डिके इति जङ्गभांसपिण्डिके। उरोयुक्त इति उरोभवत्वेन रोगोऽनुमीय-मानः। कष्टाभिलक्षिता इति दुरुपक्रमत्वेन ज्ञाताः। किंवा कोष्टाभिलक्षिता इति पाठः, स व्यक्तः

^{🍰 🛪} ञ्चून इति.पाठान्वरम् ।

[ो] क्रष्टाभिलक्षिता इति च 🕬

ज्वरातिसारो शोफान्ते श्वयथुर्वा तयोः चये। दुर्व्वलस्य विशेषेण नरस्यान्ताय जायते ॥ १६ ॥ पागडुरश्च कृशोऽत्यर्थं तृष्णयातिपरिष्तुतः। डम्बरी कृपितोच्छ्वासः प्रत्याख्येयो विज्ञानता ॥ १७ ॥ हनुसन्यायहस्तृष्णा वलहासोऽतिसात्रया। प्राणाश्चोरित वर्त्तन्ते यस्य तं परिवर्ज्यते ॥ १८ ॥ व्यायच्छते तास्यति च श्म्मं किश्चिन्न विन्दति। चीणमांसवलाहारो सुमूर्षु रिचरान्नरः॥ १६ ॥

गुङ्गाधरः—ज्वरेत्यादि । यस्य शोफान्ते पूर्व्वं शोथो भूला निष्टत्तो ज्वरातिसारी च युगपज्जायेते तस्य नरस्यान्ताय नाशाय व्योध्यो । स यदि दुर्व्वलस्तदा किमत्र वचः । नरस्य तयोः क्षये पूर्व्वं ज्वरातिसारौ द्वावेव भूला निष्टत्तौ श्वयथुश्चान्ताय जायते भवति, दुर्व्वलस्य तस्य विशेषेणाचिरादेवान्ताय जायते इत्यर्थः ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः —पाण्डुर इत्यादि । पाण्डुरः पाण्डुरोगवान् योऽत्यर्थं कृशस्तृष्णया चात्यर्थं परिष्छतः । डम्बरी आङ्म्बरवान् स्तव्धाक्षः सन्नवलोकयित संरम्भेण वा पश्यति । कुपितोच्छ्वासः श्वासरोगवान् प्रत्याख्येयस्त्याज्यः ॥ १७ ॥

गङ्गाधरः—हत्तुमन्येत्यादि। यस्य हतुग्रहो मन्याग्रहस्तृष्णा तथातिमात्रया वलहासः प्राणा उरसि वर्त्तन्ते इत्येवं लक्ष्यते, तेन प्राणिनगमोन्मुखलमाख्यायते, तं परिवर्ज्ञयत्॥ १८॥

गुङ्गाधरः - व्यायच्छते इत्यादि। यो व्यायच्छते व्यायामं कुरुते तेन व्यायामेन तास्यति ग्लायति न किश्चित् शस्मे सुखं विन्दति क्षीणमांसादिश्च भवति, स नरोऽचिरान्सुमूर्षु भेवति॥ १९॥

एव। डम्बरी स्तन्धाक्षावलोकी, किंवा डम्बरी संरम्भवान्। कृषित उच्छ्वासो यस्य स कृषितोच्छ्वासः॥ ११—१७॥

चकपाणिः—प्राणाश्चोरिस वर्त्तन्त इति वायव उरिस प्रकृषिता वहन्ति। यदि तु जीवितं प्राणा इहोच्यन्ते, तदा तस्योरिस वर्त्तन्ते मृत एव पुरुषो भवति। ततश्च तस्मिन् काले रिष्टेनासाध्यतां ज्ञात्वा रोगिपरित्यागे वैद्यस्याप्रसिद्धिभवत्येवेति कृत्वा प्राणा वायव इहोच्यन्ते इति ब्रुवते। वयन्तु ब्रूमः सद्योमरणीयारिष्टवदेतत् प्रत्यासन्नमृत्युगमकमेव भविष्यतीति॥१८॥

रक्तिपत्तस्य विज्ञानिमिद् तस्योपदेच्यते । यत् कृष्णसथवा नीलं यद्वा शक्रधनुःप्रभम् । रक्तिपत्तमसाध्यं स्थाद् वाससो रञ्जनश्च यत् ॥ सृशं पूत्यतिमात्रश्च सद्वोपद्ववच्च यत् । वलमांसच्ये यच्च तच्च रक्तमसिद्धिमत् ॥ येन चोपहतो रक्तं रक्तिपत्तेन मानवः । पश्येद् दृश्यं वियञ्चापि तज्ञासाध्यं न संश्यः ॥

सर्वरोगाणां साध्यानामसाध्यलप्रकारमुक्तवा तेन प्रकारेण रक्तिपित्तस्य साध्यस्याप्यसाध्यले तिह्मानार्थं लिङ्गान्याह—रक्तिपित्तस्य तिह्मानार्थं लिङ्गान्याह —रक्तिपित्तस्य साध्यलेनाप्युपितृष्टस्य तस्य पे व्योपकरणाभावाद्यु कहेतु स्योऽसाध्यसमापन्नस्य विम्नानं लिङ्गिमिदम् अत ऊर्द्ध्र मुपदेश्यामः। यदित्यादिना। यदिति रक्तिपित्तं कृष्णं भवति तदसाध्यम्। अथवा यद् रक्तिपत्तं नीलं नीलं नीलं नीलवणं भवति तदसाध्यम्। अथवा यद रक्तिपत्तं शक्ष्यनुःप्रभं लोहितमेकदेशेन दृव्वादलक्ष्याम् मेकदेशेन तथाविधं तदसाध्यम्। यच रक्तिपत्तं वाससो रञ्जनं विमलवसनं येन रक्तेन म्रक्षितं शुष्कश्च पुनजलेन धौतं रक्तमेव वर्त्तते तद् रक्तिपत्तमसाध्यम्। यच रक्तिपत्तं भवति वातिमात्रमितशय-मानेन प्रवृत्तं तदसाध्यम्। यच सव्वीपद्रववत् उक्तदौर्व्वल्यारोचकादि-समुदायोपद्रवयुक्तं तदसाध्यम्। यच सर्व्वीपद्रववत् उक्तदौर्व्वल्यारोचकादि-समुदायोपद्रवयुक्तं तदसाध्यम्। यच सर्व्वीपद्रववत् उक्तदौर्व्वल्यारोचकादि-समुदायोपद्रवयुक्तं तदसाध्यम्। यच सर्व्वीपद्रववत् उक्तदौर्व्वल्यारोचकादि-समुदायोपद्रवयुक्तं तदसाध्यम् । स्वाप्यविक्षमाविति साध्यस्य याप्यत्वेन परिक्रमावित्ययं।

जद्धं गस्यापि रक्तिपत्तस्य लाक्षणिकीमसाध्यतामाह—रक्तिपत्तस्येत्यादि। एते कृष्णा-द्यो वर्णाः गम्भीरधातुसम्बन्धाद्भवन्तिः ततश्चासाध्यं युक्तमेवः वाससो रञ्जनञ्च यदिति प्रक्षालितमिष सद् वासो रञ्जयति, न क्षालनेनापैतीति बोद्धन्यम् ; अन्यथा 'सर्व्यमेव रक्तं वाससो रञ्जनं भवति" इति वचनमनर्थकं स्यात् ; किंवा 'अरञ्जनम्' इति पाठः ; तेन रक्तस्य वाससो रञ्जकस्यारञ्जनमेव विकृतिः। भृदां प्तीति धात्वन्तरसम्बन्धादतिदुर्गन्धिः ; सन्वीपद्मववदिति वक्तदेशिक्वेन्याद्मपद्मवयुक्तम् ।

इड्यं घटपटादि; वियदाकाशम्; रक्तं रक्तवर्णमिस्यर्थः; यद्यप्याकाशमपि इङ्यं

विरुद्धयोनयो यस्य विरुद्धोपक्रमा भृशम् । जायन्ते दारुणा रोगाः शीघं शीघं स हन्यते ॥ २०॥ वर्लं विज्ञानमारोग्यं घहणी मांससारिणी ७ । एतानि यस्य हीयन्ते चित्रं चित्रं स हीयते ॥ २१॥

गृहाधरः—विरुद्धेत्यादि । यस्य विरुद्धयोनयो योनीनां परस्परं विरोधिता येपां ते विरुद्धयोनयो रोगाः । ते च वातिपत्तक्ष्टेष्मजसान्निपातिकादयो रोगा भवन्ति, न च ते मारकाऽकस्मादित्यत आह—विरुद्धोपक्रमा भृशमिति। योनीनां परस्परविरुद्धत्वेऽपि न क्षतिर्यदि तेपां रोगाणामिष दोपदृष्यतो विरुद्ध उपक्रमः स्यात् । यथाधोगरक्तिपत्तं वातानुगिषत्तजं, विरेकसाध्यं पित्तं तच नाधोगरक्त-पित्तहितमिति उभयगं वा। तत्र ते यदि दारुणाः कष्टदाः शीघं जायन्ते तदा तै रोगैः स शीघं हन्यते । इत्यनुक्तसर्व्वरोगारिष्टं व्याख्यातम् ॥ २०॥

गङ्गाधरः—वल्लिल्लादि । मांससारिणी ग्रहणी मांससिनिविष्टा ग्रहणी नाड़ी अर्थाज्जठराग्नः। एतानि यस्य हीयन्ते तस्य जीवितं मृत्युईरतीति । एतेन समृतिमेधामकृतिवल्लपरीक्षा न्याख्याता । इति न्याधीनां रूपतः परीक्षाः न्याख्याताः। सुश्रुतेऽप्यवारणीयेऽध्याये यथा—उपद्रवैस्तु ये जुष्टा न्याधयो यान्त्यवाय्येताम् । रसायनाद्विना वत्स तान् शृज्वेकमना मम ॥ वातन्याधिः प्रमेहश्च कुष्टमशौ भगन्दरः। अक्ष्मरी मृद्गर्भश्च तथवोदरमप्टमम् । अष्टावेते पक्तत्येव दुश्चिकित्स्या महागदाः॥ प्राणमांसक्षयश्वास-तृष्णाशोपविमाव्यरेः। मृच्छोतिसारिहकािमः पुनक्वैतैरुपद्रुताः। वर्जनीया विशेषण भिपजा सिद्धिनिच्छता ॥ शूनं सुप्तवचं भगनं कम्पाध्मानिपीड़ितम् । रजात्तिमन्तश्च नरं वातन्याधिविनाशयेत् ॥ यथोक्तोपद्रवारिष्टमितमस्र तमेव वा। पिड़कापीड़ितं गादं प्रमेहो हन्ति मानवम् ॥ प्रभिन्नं प्रस्त ताङ्गश्च रक्तनेत्रं हतस्यरम् । पश्चकम्मी-गुणातीतं कुष्ठं हन्तीह कुष्टिनम् ॥ तृष्णारोचकश्लाक्तीनितसस्र तशोणितम् । शोफातिसारसंयुक्तमशौन्याधिविनाशयेत् ॥ वातमूत्रपुरीपाणि क्रिमयः शुक्रमेव च । भगन्दरात् प्रस्तवन्ति यस्य तं परिवज्जयेत् ॥ भश्चनाभिष्टपणं वद्ध-

चक्रपाणिः—आयच्छते अङ्गानि क्षिपति । विरुद्धयोनय इति परस्परविरुद्धधम्मीणः । विरुद्धयोनयोऽपि स्वरुपतयेकभूततया वा अविरुद्धोपक्रमा अपि भवन्तीत्यत उक्तं विरुद्धोपक्रमा इति ।

^{*} मांसंशोणितमिति चकः।

सूत्रं रुजाहितम्। अञ्मरी क्षपयत्याशु सिकता शर्करान्विता।। गर्भकोपपरासङ्गो मक्छो योनिसंष्टतिः। हन्यात् स्त्रियं मूद्गभौ यथोक्ताश्चाप्युपद्रवाः॥ पार्च-भङ्गानिविद्वेष-शोफातिसारपीड़ितम्। विरिक्तं पूर्यमाणश्च वर्ड्ययेदुदराद्दितम्॥ यस्ताम्यति विसंज्ञश्च शेते निपतितोऽपि वा। शीतादितोऽन्तरुष्णश्च ज्वरेण स्रियते नरः ॥यो हप्टरोमा रक्ताक्षो हदि सङ्घातश्रुठवान्। नित्यं वक्तुं ण चोच्छुस्यात्तं ज्वरो हन्ति मानवम् ॥ हिकाश्वासिपपासात्तं सूढं विश्वान्तलोचनम् । सन्ततो-च्छ्रासिनं क्षीणं नरं क्षपयति ज्वरः॥ आविलाक्षं प्रतास्यन्तं निद्रायुक्तमतीव च। क्षीणज्ञोणितमांसञ्च नरं क्षपयित ज्वरः ॥ श्वासश्लिपासाचे क्षीणं ज्वर-निपीड़ितस्। विजेपेण नरं दृद्धमतीसारो विनाजयेत्।। शुक्काक्षमन्नद्देष्टार-मृद्धे श्वासनिपीड़ितम्। कुच्छे ण वहु मेहन्तं यक्ष्मा हन्तीह मानवम्।। श्वासश्र्लिपपासान्न-विद्वेपग्रन्थिमूढ्ताः। भवन्ति दुव्वेललञ्च गुल्मिनो मृत्युमेष्यतः ॥ आध्मानं वहु निष्यन्दं छिईहिकातृङ्दितम्। रुजाम्बाससमाविष्टं विद्रधिनीशयेन्नरम् ॥ पाण्डुदन्तनखो यस्तु पाण्डुनेत्रश्च मानवः। पाण्डसंघात-द्र्शीं च पाण्ड्ररोगी विनश्यति ॥ लोहितं छद्येद् यस्तु वहुशो लोहितेसंणः। रक्तानाश्च दिशां द्रष्टा रक्तपित्ती विनश्यति ।। अवाङ्मुखस्तून्मुखो वा क्षीण-मांसवलो नरः। जागरिष्णुरसन्देहमुन्मादेन विनद्यति ॥ वहुशोऽपस्मरन्तन्तु मक्षीणं चिलतभ्रवस्। नेत्राभ्याश्च विकुर्वाणमपस्मारो विनाशयेत्।। इति। तथा विपरीताविपरीतेव्रणविकानीयेऽपि। गन्धवर्णरसादीनां विशेषाणां समासतः। वैकृतं यत् तदाचप्टे त्रणिनः पकलक्षणम्।। कहस्तीक्षणश्च विस्रश्च गन्धस्तु पवनादिभिः। लोहगन्धस्तु रक्तेन न्यामिश्रः सान्निपातिकः॥ लाजातसीतैलसमाः किश्चिद्विसास्तु गन्धतः। बोयाः प्रकृतिगन्धाः स्युरतो-ऽन्यद् गन्धवैकृतम् । मद्यागुर्वाज्यस्यसमनः-पद्मचन्दनचम्पकैः। सगन्धा दिव्यगन्धा वा मुसूर्ष् णां त्रणाः स्मृताः । श्ववाजिमूपिकध्वाङ्क-पूतिवल्ळूरमत्कुणैः । सगन्धाः पङ्कगन्धाश्च भूमिगन्धाश्च गहिताः। ध्यामकुङ्कमकुकु-सवणौः पित्तकोपतः। न दह्यन्ते न चूष्यन्ते भिपक् तान परिवज्जयेत्। कण्डूमन्तः स्थिराः इवेताः स्त्रिग्धाः कफनिमित्ततः। दूयन्ते च विद्यन्ते भिपक् तान् परिवज्जेयेत्। कुष्णास्तु ये तनुस्रावा वातजा मर्थ्मतापिनः। स्वरपामपि न कुर्व्वन्ति रुजं तान् परिवर्ज्ययेत्। क्ष्वेङ्नित घुर्घुरायन्ते ज्वलन्तीव च ये व्रणाः। ज्ञङ्गांस-स्थाश्च पवनं सशब्दं विस्नजन्ति ये। ये च मम्मस्वसमभूता भवन्त्यत्यर्थवेदनाः। द्द्यन्ते चान्तरत्यर्थं वहिः शीताश्च ये व्रणाः। द्द्यन्ते वहिरत्यर्थं भवन्त्यन्तश्च

विकारा यस्य वर्द्धन्ते प्रकृतिः परिहीयते । सहसा सहसा तस्य मृत्युर्हरित जीवितम् ॥ २२ ॥

तत्र श्लोकः।

इत्येतानि श्रीराणि व्याधिमन्ति विवर्ज्जयेत्। न हेर्रषु धीराः पर्यन्ति सिद्धिं काश्चिद्धपक्रमात् ॥ २३॥ इत्यित्रवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने कतमानि-श्रीरीयमिन्द्रियं नाम पण्ठोऽध्यायः॥ ६॥

शीतलाः। शक्तिकुन्तव्यनस्था वानिवारणगोष्ट्रपाः। येषु चाप्यवभासेरन् प्रासादाकृतयस्तथा। चूर्णावकीर्णा इव ये भान्ति वा न च चूर्णिताः। प्राण-मांसक्षयक्वास-कासारोचकपीड़िताः। प्रदृद्धपूयरुधिरा व्रणा येपाश्च मम्भेस्र। क्रियाभिः सम्यगारुव्धा न सिध्यन्ति च ये व्रणाः। वर्ज्यत् तान् भिपक् प्राधः संरक्षन्नात्मनो यशः॥ इति॥ २१॥

गङ्गाधरः—विकारा इत्यादि स्पष्टम् ॥ २२ ॥ गङ्गाधरः—अध्यायार्थम्रपसहत्तु माह—इत्येतानीत्यादि ॥ २३ ॥ अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि।

इति वैद्यश्रीगङ्गाधरकविरत्नविरचिते चरकजल्पकल्पतराविन्द्रियस्थान-जलपे पश्चमस्कन्धे कतमानिज्ञरीरीयेन्द्रियजल्पाख्या पष्टी जाखा ॥ ६ ॥

भारोग्यं हीयत इति भन्नोक्तरोगन्यतिरिक्तरोगवृद्धमा आरोग्यहानिर्वोध्या। प्रकृतिः परिहीयत इति स्वभावसुशीलत्वादिरूपं क्षीयते। किंवा प्रकृतिर्जन्मप्रतिवद्धर्लेष्मप्रकृत्यादिरूपा हीयते॥ १९—२३॥

इति महामहोपाध्याय-चरकचतुरानन-श्रीमचक्रपाणिदत्तविरचितायामाथुःवददीविकायां चरक-तात्पर्यंटीकायाम् इन्द्रियस्थाने कतमानिशरीरीयेन्द्रियं नाम पष्टोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः ।

ज्ञथातः पन्नरूपीयसिन्द्रियं व्याख्यास्यामः, इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

हृष्ट्या ⊕ यस्य विजानीयात् पञ्चरूपां क्रमारिकाम् । प्रतिच्छायामयीमच्गोनैनिमच्छेचिकित्सितुम् ॥ २ ॥ ज्योत्स्नायामातपे दीपे स्तिलादर्शयोरिष । अङ्गेषु विकृता यस्य च्छाया प्रतस्तथाविधः॥ ३ ॥

ाङ्गधरः—अथेत्यादि । अथ कतमानिश्वरीरीयेन्द्रियच्याख्यानःतरमतः शरीरीयलात् प्रतिच्छायादीनां परीक्षार्थं पन्नरूपीयमिन्द्रियं व्याख्यास्याम गइत्यर्थः । पन्नं गतं विनप्टं रूपं यस्याः सा पन्नरूपा । तामधिकृत्य कृत इति पन्नरूपीयस्तं तथा । सर्व्वं पूर्व्ववत् ॥ १॥

गङ्गाधरः—दृष्ट्वेत्यादि । यस्याक्ष्णोः दृष्ट्वा भिषक् प्रतिच्छायामयीं स्वकीय-प्रतिविम्बमयीं कुमारिकां पुचलिकां पन्नरूपां विगतरूपां विजानीयात्, तमेनं पुरुषं चिकित्सितुं नेच्छेदसाध्यलात् ॥ २॥

गङ्गाधरः—ज्योत्स्रायामित्यादि । यस्य अङ्गेषु ज्योत्स्रादिनिविष्टमित-विस्वरूपाङ्गेषु च्छाया छविविकृता विकृतिमापन्ना स्वरूपान्तरमाप्ता, तथाविधः स मेतो मृत एवाचिरानमृत्युत्वात् ॥ ३॥

चकपाणिः—व्याधिरूपानन्तरं वेदनोपद्रवौ सत्त्वस्वप्नौ च पूर्वाध्याय एव ''शूलाटोपान्त्र-क्रुजश्र'' इत्यादिना रिष्टरूपावुक्तावेवेति कृत्वा च्छायाप्रतिच्छायारूपारिष्टस्य क्रमप्राप्तस्याभिधायकं पन्नरूपीयसुच्यते । पन्नरूपामधिकृत्य कृतं पन्नरूपीयस् ॥ १॥

चक्रपाणिः—पन्नरूपामिति नष्टरूपाम् । कुमारिकामिति पुरुपान्तरनयनगतां कुमारिकाम् । किंवा आतुरतयनगतामेव । यद्क्तं हारीते—''अदर्शनमसंघाते नेत्र नष्टकुमारिके'' इति । प्रतिच्छायामयीमिति प्रतिच्छायारूपाम् ॥ २॥

चक्रपाणिः —अन्यत्रापि च्छायाविकृतिमाह् ज्योत्स्नेत्यादि । अङ्गेषु विकृतेति शिरोबाहु-

^{*} दृष्ट्याम् इति बंहुषु अन्थेषु पाठः ।

छिन्ना चिछद्राकुला च्छाया होना वाध्यधिकापि वा।
नष्टा तन्त्री द्विधाचिछन्ना विकृता क विशिराश्च या॥
एताश्चान्याश्च याः काश्चित् प्रतिच्छाया विगर्हिताः।
सर्व्वा मुसूर्षतां ज्ञे या न चेल्लच्यनिमित्तजाः॥ १॥।
संस्थानेन प्रमाणेन वर्णेन प्रभयापि वा।
छाया विवर्त्तते यस्य स्वस्थोऽपि प्रेत एव सः॥

गृङ्गाधरः—अस्याः प्रतिच्छायायाः विकृतिमाह—छिन्नेत्यादि। यस्य ज्योत्स्तादिपु च्छाया प्रतिविम्बरूपा प्रतिच्छायेत्यर्थः छिन्ना विच्छिन्नरूपा, किंवा चिछद्रवती, अथवा आकुला आविला अनिश्चितप्रतिविम्बरूपा, हीना वा केनापि अङ्गपत्यङ्गतः न्युना, किंवा अधिका, अथवा नष्टा ज्योत्स्तादिपु च्छायां न दृश्यते, किंवा तन्वी अतिस्कृष्मरूपा, अथवा द्विधा-च्छिन्ना ज्योत्स्तादिपु द्विधाच्छेदवती दृश्यते। अथवा विकृता अनुकारिणी, किंवा विश्विरा शिरोहीना। एता याः प्रतिच्छाया अन्या वा याः काश्चिद विगर्विताः प्रतिच्छायाः सर्वाः एव ताः प्रतिच्छाया स्मूर्पतां क्षेयाः, चेद् यदि लक्ष्यनिमत्तजा न स्यः। लक्ष्या ज्योत्स्तादयस्तदोपनिमत्तजा न चेद्भवेपुरित्यर्थः। लक्ष्यदोपनिमित्तास्तु न रिष्टलक्षणम् इत्यर्थः॥ ४॥

गृङ्गाधरः—संस्थानेनेत्यादि । संस्थानमाकृतिः च्छाया स्वमृत्तिनीत्र प्रति-च्छाया, यस्य विवर्त्तते रूपान्तरत्वेन वर्त्तते स स्वस्थ आहुरोऽपि प्रेत एव ।

जङ्घादिष्वधिकरणभूतेषु प्रतिष्छाया यस्य विकृता भवतीत्यर्थः । तेन व्यस्तसमस्ताङ्गविकृता ष्छाया गृद्यते । अन्ये तु विभक्तिविपरिणामादङ्गानाभिति व्याख्यानयन्ति, तथा च सुगम एवार्थः ॥ २ ॥

चकपाणिः—एतानेव च्छायाविकृतिभेदानाह—छिन्तेत्यादि । आकुलेति अनिश्चितप्रतिविग्वा । अविकृता विकृतानुकारिणी । यद्यप्यरिष्टाधिकारे अनिमित्तमेव यद् भवति तद्रिष्टमुक्तम्, तथापि पुनः स्पष्टार्थं 'न चेछ्रक्ष्यनिमित्तजाः' इत्युक्तम् ॥ ४ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति च्छायारूपं सामान्येन दर्शयन् छायाश्रयारिष्टमाह्—संस्थानेनेत्यादि । एतच प्रतिच्छायायाः समानं सूत्रम् । तत्र संस्थानेन प्रमाणेन च्छायायाः प्रतिच्छायायाः स्वरूपः

^{..} अविकृतेति चकः।

संस्थानमाइतिज्ञें या सुषमा विषमा च या।

मध्यस्तरं सहचोक्तं प्रमाणं त्रिविधं तृणाम् ॥ ५ ॥

प्रतिप्रमाणसंस्थाना जलादश्रीतपादिषु।

छाया या ला प्रतिच्छाया या च वर्णप्रमाश्रया॥ ६ ॥

खादीनां पञ्च पञ्चानां च्छाया विविधलचणाः।

नाभसी निःर्मला नीला सरनेहा सप्रभेव च ॥

रुका स्यावारुणा या तु वायवी सा हतप्रमा।

विशुद्धरक्ता लाग्नेयी दीसामा दर्शनप्रिया॥

संस्थानं विद्यणोति—संस्थानियादि । संस्थानियान्ति वे या सा चाकृतिः द्विविधा सुपमा विषमा च । सुपमा अविकृता शोधनरूपा, विषमा समादिगता नातिशोधना इत्यर्थः । प्रमाणं विद्यणोति—मध्यमित्यादि ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—प्रतिच्छायां विद्यणोति—प्रतीत्यादि। प्रमाणसंस्थानयोः प्रति सरूपा या च्छाया जलादिषु सा प्रतिच्छाया। एवं जलादिषु वर्णप्रभाश्रया वर्णप्रभयोरिष अनुरूपा या च्छाया सापि प्रतिच्छाया, छायामाह लोके॥ ६॥

गुङ्गाधरः—खादीनामित्यादि । खादीनां पञ्चानां भूतानां पञ्च च्छायाः संस्थानप्रमाणवर्णप्रभारूपविविध छक्षणाः । तद् यथा—तदाह नामसीत्यादि । नामसी च्छाया तु सा या नीला निम्मला सरनेहा स्त्रिग्धेत्यर्थः । सप्रभेव प्रभावतीव, न हि प्रभा सम्भवत्याकाशस्य किन्तु वैश्वात् सप्रभेव । वायवीच्छायामाह— रुक्षेत्यादि । हतप्रभा प्रभाहीना । आग्नेयीं च्छायामाह— कथनम् तथा वर्णेन प्रभवा च च्छावायाः त्वरूपकथनम् । संस्थानेन प्रमाणेन च सदशी च्छाया प्रतिच्छाया होया । वर्णेन प्रभवा च लितता वर्णप्रभाश्रयाद्वये वस्त्रमाणा पञ्चविधा होया । अत्र यसदोनित्यामिसम्बन्धात् सा इत्यध्याहार्य्यते । तेन संस्थानादिभिर्या च्छाया प्रतिच्छायारूपा, सा यस विवर्त्तते अन्यथा भवति स प्रेत एवेति योजना ।

प्रतिच्छायाकारमृते संस्थानप्रमाणे एव विवृणोति—संस्थानमित्यादि । आकृति-राकारः । प्रतीत्यादि प्रतिच्छायाविवरणम् । 'छाया वर्णप्रभाश्रया' इत्यादि तु च्छायाविवरणं भविष्यति । प्रतिप्रमाणसंस्थानेत्यत्र प्रति साद्द्ये । तेन प्रमाणसद्दशी संस्थानसद्दशी । प्रमाणसंस्थानसद्दशतया जलादिपु या च्छाया सा प्रतिच्छाया । छाया तु या पञ्चविश्वा सा वर्ण-प्रभाश्रया वर्णप्रभासहचरितोपलभ्यत इत्यर्थः ॥ ५/६ ॥

चक्रपाणिः— खादीनामित्यादिना च्छायां विभजते । सप्रभेति दीप्तामा ।

शुद्धवेद्द्रथिवमला सुक्तिग्धा चाम्भसी शुभा ।
स्थिरा क्षिग्धायता ७ श्ठच्णा रयामा रवेता च पार्थिवी ॥७
वायवी गर्हिता तासां चतस्यः स्युः शुभोदयाः ।
वायवी तु विनाशाय वलेशाय महतेऽिष वा ॥ ५ ॥
स्यात् तैजसी प्रभा सर्व्या सा तु सप्तविधा स्मृता ।
रक्ता पीता सिता श्यावा हरिता पाग्डुराऽसिता ॥
तासां याः स्युर्विकाशिन्यः क्षिग्धाश्च विपुलाश्च याः ।
ताः शुभा रुच्मिलिनाः संक्षिष्टा- †-श्चःशुभोदयाः ॥ ६ ॥

विश्रद्धेत्यादि । आग्नेयी च्छाया विश्रद्धा निम्मेला चासौ रक्ता चेति । दीप्ताभा मदीप्तदुप्रतिः । दर्भनिया द्रष्टः मनोरमा । आम्भसी छायामाह—श्रद्धेत्यादि । श्रद्धं वैदृर्ध्यमिव विमला निम्मेला सिक्तग्धा श्रभा शोभना च्छाया आम्भसी । पार्थिवीं छायामाह—स्थिरेत्यादि । स्थिरा चिरावस्थायिनी, स्निग्धा चिक्कण-रूपा, आयता इति दीर्घा प्रमाणाभिप्रायेणोक्तं संस्थानवणंप्रभाणां दीर्घताभावात्, श्रुह्णा ईपत् श्रुह्णा, इयामा, इवेता च व्यस्तसमस्ता पार्थिवीयं छाया ॥ ७॥

गृङ्गाधरः—छायालक्षणान्युत्तवा तच्छुभाशुभमाह—वायवीत्यादि। तासां पश्चानां पाञ्चभौतिकीनां छायानां मध्ये गहितत्वं विदृणोति—वायवी तित्यादि॥८॥

गङ्गाधरः—तैजस्यादछायाया विशेषमाह—स्यात् तैजसीत्यादि । सर्वा तैजसी प्रभा, विना हि तैजसतां न प्रभा सम्पद्यते । सा तु तैजसी प्रभा सप्त-विधा मता । किं सप्तविधा तदाह—रक्तेत्यादि । तासामित्यादि । तासां रक्ता-दीनां सप्तानां प्रभाणां मध्ये याः प्रभाः विकाशिन्यः आशुप्रसारिण्यः स्तिग्धाश्च वायवी गर्हितेति वायवी रिष्टे प्रायो भवति । यस जन्मप्रसृति वायवी स चापि प्रभूतक्षे-श्वभाग् भवतीनि एतदेवाह—वायवीत्यादि । विनाशायेति अकसाइत्पन्ना विनाशाय सहजा तु वायवी क्षेशायेति श्रीय ॥ ७८ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति च्छायाश्रयत्वेन वर्णभेद् उक्तः, तत्र वर्णभेदास्तद्रिष्टञ्च प्रथमाध्याय एवो-कम् । प्रभायास्तु भेदं रिष्टञ्चाह—तैजसीत्यादि । प्रभा च यद्यपि प्रथमाध्याय एव संप्रहेणोक्ता, वर्णसाक।सति च्छाया प्रभा ६ वर्णप्रकाशिनी। ञ्ञातका लच्यते च्छाया प्रकृष्टा भाः प्रकाशते ॥१०॥ नाच्छायो नाप्रभः कश्चिद्दिशेषाश्चिह्नयन्ति तु। नृगां शुभाशुभोत्तिं काले च्छायाः प्रभाश्रयाः॥ ११॥

विमलाश्च स्युस्ताः तैजस्यः प्रभाः सप्त शुभोदयाः। यास्तु रक्तादयस्तैजस्यः प्रभा रुक्षमिलनाः संक्लिष्टाः उत्पतिताश्च स्युस्ता अशुभोदयाः॥ ९॥

गङ्गाधरः—प्रभाच्छाययोर्भेद्माह—वणिमत्यादि। छाया वर्णमाङ्गामिति मिलिनीकरोति, प्रभा तु वर्णप्रकाशिनी। तद्विशानार्थमाह लक्षणान्तरम्— आसन्तेत्यादि। छाया न दूराह्यक्ष्यते परन्तासन्ना नैकट्रमापन्ना च लक्ष्यते। भाः प्रभा तु प्रकृष्टा विषक्षपेण दूरादिष लक्ष्यते। इति च्छायाप्रभयो-

न्द्राधरः—तत्र प्रभागतच्छायाया अशुभशुभत्तमाह—नाच्छाय इत्यादि। किथित पुरुषो नाच्छायइछायारहितोऽस्ति, न वा अपभः प्रभारहितोऽस्ति। तस्मात् सर्व्वाइछायाः सर्व्वाञ्च प्रभा न नृणां शुभं वा अञुभं वा चिह्नयन्ति परन्तु विशेषाञ्छायानां प्रभाणाश्च विशेषाः प्रभेदाः काश्चिच्छायाः काश्च प्रभा नृणां शुभाशुभोत्पत्तिं काले कालपरिणामे चिह्नयन्ति, चिह्नीभूता ज्ञापयन्ति, स्तरां यदा प्रभाविशेषा नृणां शुभाशुभोत्पत्तिं चिह्नयन्ति, तदा ते प्रभाविशेषा स्वरूपान्यत्वेन च्छायाभिधैव भवन्तीति। प्रभाश्रयापि च्छाया न वितिरिक्ता प्रभा शुभाशुभोत्पत्तिचिह्नकदशायामिति भावः॥ ११॥

तथापि तत्र च्छायाश्रयत्वेन न वर्णभेदा उक्ताः, तत्र वर्णभेदास्तदिष्टञ्च प्रथमाध्याये संग्रहेणोक्ता-स्तथापि च्छायाश्रयत्वेन न तत्र सूचिता इति ज्ञेयम् । अशुभोदया इत्यकसादृत्पादे मरणोद्याः, सहजोत्पादे तु वहुदःखरूपा अशुभोदया इति ज्ञयम् ॥ ९ ॥

चक्कपाणिः—प्रभाच्छाययोदुर्लक्षणत्वेन भेदकं लक्षणमाह् वर्णमिति । वर्णमाकामतीति च्छाया-कान्तो वर्णो नोपलभ्यते सम्बक् । आसन्ना लक्ष्यते च्छाया । यथा—चित्रगता च्छाया प्रत्यासन्नव लक्ष्यते । भाः प्रकृष्टा प्रकाशते यथा मणिमोक्तिकादीनां प्रभा दूराइपलभ्यत इत्यर्थः ॥ १० ॥

चक्रपाणिः—विशेषा इति च्छायाप्रभयोः शुभाशुभरूपविशेषाः। चिह्नयन्तीति गमयन्ति।

^{् *} भास्तु इति चक्रध्रतः पाठः।

कामलाच्गोर्मु खं पूर्णं शङ्खयोर्मु क्तमांसता छ । सन्त्रासश्चोष्णता चाङ्गे † यस्य तं परिवर्ज्ञयेत् ॥ १२ ॥ उत्थाप्यमानः शयनात् प्रमोहं याति यो नरः । मुहुर्म्मुहुर्न सप्ताहं स जीवति विकत्थनः ॥ १३ ॥ संस्रष्टा व्याधयो यस्य प्रतिलोमानुलोमगाः । व्यापन्ना ग्रह्म्णी प्रायः सोऽर्ज्जमासं न जीवति ॥ १४ ॥

गृङ्गाधरः—छायाविशेषम्रत्तवाऽपरमिर्द्धं द्र्यायित—कामछेत्यादि । यस्या-क्ष्णोईयोः कामला, मुख्य पूर्णमुपचितं न कृशम्, शृङ्घयोर्छलाटोभयदेशयोर्मुक्त-मांसता हीनमांसता, सत्रासः सम्यक्त्रासस्तथाङ्गेषु चोष्णता, तं नर परिवर्जयेत् ॥ १२॥

गृङ्गाधरः— उत्थाप्येत्यादि । शयनात् निद्रितस्तु निद्रातः शयानः शय्यातो वा यदि उत्थाप्यमानो मुहुम्मुंहुरेव ममोहं याति, विकत्थनः विशेषेण श्लाघया वैद्यो पर्तत् इति भावः ॥ १३ ॥

<u>रङ्गायरः</u>—संस्रष्टा इत्यादि । यस्य संस्रष्टा अनेकव्याधयो मिलितास्तत्र मध्ये कश्चित् प्रतिलोमगोऽपरश्चानुलोमग ऊर्ज्युमागंगोऽघोमार्गग इत्यर्थः । प्रायो ग्रहणी ग्रहणशीला नाङ्गी व्यापना ग्रहण्यध्यायोक्तदोषवती सोऽर्ज्यमासं न जीवित ॥ १४ ॥

काल इति परिपाककाले। कामलाक्ष्णोरिति कामिलन इय पीताक्षत्वम्। विकत्थन इति निन्दापरः। संस्पृष्टा इति परस्परसंवद्धाः। किंवा संस्पृष्ट्रोपजन्याः। प्रतिलोमानुलोमगा इति अश्रोमार्गोद्धिमार्गगताः। न्यापन्ना प्रहणीति च्छेदः। किंवा न्यापन्ना प्रहणी यस्य स न्यापन्न-प्रहणीक इति पांठः। 'प्रायशोऽर्द्धमासं न जीवति' इत्यनेनार्द्धमासमितिकस्यापि मरणं भवति, न तु मरणव्यभिचारः॥ ११—१४॥

^{*} गण्डयोर्युक्तमांसता इति पाठांन्तरम् ।

[†] चोष्णगात्रञ्च इति वा पाठः

उपरुद्धस्य योगेन कर्षितस्याल्यमश्रतः।
वहु सूत्रपुरीषं स्याद्ध यस्य तं परिवर्ज्ञयेत्॥१५॥
दुर्व्यको वहु अङ्क्ते यः प्राग्युक्तादन्नमातुरः छ।
ऋत्यसूत्रपुरीपश्च यथा प्रतस्तथेव सः॥१६॥
वर्ष्किष्णुं †गुग्गसम्पर्धात् यो नरः।
शश्यच वलवर्णाभ्यां हीयते न स जीवति॥१७॥
प्रकृजति प्रश्वसिति शिथिलञ्चातिसार्य्यते।
वलहीनः पिपासार्त्तः शुष्कास्यो न स जीवति॥१८॥
हस्तञ्च यः प्रश्वसिति व्याविद्धं स्पन्दते च यः।
स्वतसेव तमात्रेयो व्याचचके पुनर्व्यसुः॥१६॥

गङ्गाधरः— उपरुद्धस्येत्यादि । व्याधिना कर्णितस्य योगेनोपरुद्धस्यारुपमश्चतो यस्य मूत्रपुरीषं वहु स्यात् तं परिवर्ज्ञयेत् ॥ १५॥

गङ्गाधरः—दुर्वेल इत्यादि। य आतुरः प्राग्धकात् अनातुर्यावस्थायां याविन्मतं भक्तमासीत् तद्भक्तादृहुमानमन्नमातुरः सन् आतुर्यावस्थायां भुङ्कि-ऽथच दुर्वेलः अल्पम्त्रपुरीषश्च स्यात्, स यथा प्रेतो मृतो नरस्तथा, अर्थादासन्न- पृत्युरित्यर्थः ॥ १६॥

गङ्गाधरः चर्छिष्णुगुणेत्यादि । यो नरो वर्छिष्णुगुणसम्पन्नमन्नं न तु हीनगुणमन्नं वर्छिष्णुं क्रमेण मानतोऽधिकमश्चाति शश्वच दिने दिने च वल- वर्णाभ्यां हीयते, स न जीवति ॥ १७॥

गृङ्गाधरः—प्रक्रजतीत्यादि। यः प्रक्रजति अव्यक्तशब्दं करोति प्रश्वसिति च शिथिछं द्रवं यथा स्यात् तथातिसार्यते वलहीनादिश्च भवति, स न जीवति॥ १८॥

गङ्गाधरः—हस्यञ्चेत्यादि । यो हस्यमदीर्घं व्याविद्धं कुटिलम् ॥ १९ ॥

<u>षक्षपाणिः</u>—प्रागभुक्तं ति अङ्ब्वंलः सन्नभुक्तंत्यर्थः । पूर्व्वदिनेषु वहु भुड्कं इत्यर्थः ।

इष्टमिति इष्टरसम् । गुणसम्पन्नमिति पध्यम् । शिथिलमिति पूर्व्वण संबध्यते । तेन श्रथ

इव प्रकृतित । प्रथसितीत्यन्तःश्वासं नयति । व्याविद्धमिति कुटिलम् ॥ १५—१९ ॥

^{*} प्रागभुक्तान्नमाश्रितः इति वा पाठः।

तत्रासाःयं परित्यज्य याण्यं यत्नेन यापयेत्। साध्यञ्जाबहितः सिद्धैर्भपज्ञेः साधयेद्भिपक्॥ ११॥

कारणं नामनिव्यृ तिं पूट्यरूपाग्युपद्रवान् । मार्गो दोषानुवन्धश्च साध्यत्वं न च हेतुमत् ॥ निदाने रक्तिपत्तस्य व्याजहार पुनर्व्यक्षः । वीतमोहरजोदोष-लोभमानमदस्पृहः ॥ १२ ॥ इत्यिश्वयेशकृते तन्त्रे चरक-प्रतिसंस्कृते निदानस्थाने रक्तिपत्तिदानं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

असाध्यम्। नतु असाध्यादिषु किं प्रतिकार्य्यमित्यत आह—तत्रेत्यादि।
,तत्र रक्तपित्तेषु यदसाध्यं रक्तपित्तं तत् परित्यज्य भिषग् यत्नेन याप्यं
रक्तपित्तं पथ्यादिना यापयेदविहतः सन् भिषक् साध्यं रक्तपित्तं सिद्धैभेषजैः
साधयेदिति॥ ११॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थम् पसंहरति—तत्र श्लोकावित्यादि। यवकोदाल-केत्यादिना कारणम्। ततस्तु तस्मिन् प्रमाणातिष्टत्ते इत्यादिना नामनिन्द्रत्तं लोहितपित्तेति संद्याकरणाथं निन्द्रत्तं सम्प्राप्तिम्। तस्येमानीत्यादिना पूर्विष्पाणि। उपद्रवस्तित्यादिना उपद्रवान्। मागौ पुनिरित्यादिना मागौ। तद्वहुक्लेष्मेत्यादिना दोपानुवन्धम्। तत्र यद्द्वीमत्यादिना साध्यतं हेतुमत्-साध्यते हेतुसहितं साध्यतवचनं न हेतुमच्च न साध्यतं याप्यासाध्ययोः सहत्पदेशवचनं चकारादुपक्रममयवाय भोजनादिकश्च॥ १२॥

अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि ॥

इति श्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ द्वितीयस्कन्थे निदानस्थानीयरक्तपित्तनिदानाख्य-द्वितीयाध्यायजल्पाख्या द्वितीयशाखा ॥ २ ॥

भवति मीमांसक्रनये, तथापि प्राय आकाश एवासाध्यरक्तपित्तरक्रत्वं प्रतीयत इति न पुन-रुक्तम् । यत्नेनेतिवचनाद् याष्ययापनं यत्नं विना न भवतीति दर्शयति ॥ ११॥

चक्रपाणि:—कारणमित्यादि संग्रहः ; नामनिन्द्रं तिमिति 'छोहितसंसर्गाद्' इत्यादिना ; 'न च' इति न चासाप्यत्वम्, अनेन च याप्यमपि गृहीतम् ; असाध्यभेदो हि याप्यम् ; हेतुमदिति विरेचने यौगिकत्वायोगिकत्वादिहेतुवर्णनं संगृह्वाति ; चीता अपगता मोहादयो यस्य स तथा॥ ३२॥

हृति चरकचतुरानन-श्रीमचक्रपाणिदत्त-विरचितायाम् आयुर्वेददीपिकायां निदानस्थानस्य व्यभ्वायां रक्तपित्तनिदानं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

उद्धिश्च यः प्रश्विति रलेष्मणा चाभिभूयते। हीनवर्णवलाहारो नरो वा न स जीवित ॥ २० ॥ उद्धिश नयने यस्य यस्यानारतकम्पने छ । वलहीनः पिपातार्त्तः शुष्कास्यो न स जीवित ॥ २१ ॥ यस्य गरडावुपचितौ ज्वरकासौ च दारुणौ । शूली प्रद्वेष्टि चाप्यन्नं तस्मिन् कर्म न सिध्यति ॥ २२ ॥ व्यावृत्तमुखिजह्नस्य भ्रुवौ यस्य च विच्युते । करटकेश्चाचिता जिह्ना यथा प्रतस्तथैव सः ॥ २३ ॥ श्रेफश्चात्यर्थमृत्सिक्तं नि स्त्रतौ वृष्णौ भृशम् । श्रातश्चैव विपर्थ्यांसो विकृत्या प्रतलच्लाम् ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः—ऊर्ड मित्यादि । इलेष्मणाभिभूयते कण्ठ आत्रियते । हीन्वणी-दिको वा, स न जीवति ॥ २० ॥

गङ्गाधरः जर्जुांग्रे इत्यादि। यस्य नयने द्व ऊर्द्धांग्रे। यस्य वा नयने द्वे अनारतं सततं कम्पने सततकम्पनशीले भवतः। वलहीनादिः स च न जीवति॥ २१॥

गृङ्गाधरः-यस्येत्यादि स्पष्टम् ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—च्यावृत्तेत्यादि । च्यावृत्तं स्वरूपान्यथारूपं मुखजिह्नं यस्य । विच्युते अधोनते । कण्टकैः कण्टकाकारैराचिता व्याप्ता जिह्ना ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः - शेफरचेत्यादि । यस्य विकृत्या शेफो मेढमत्यर्थमुत्सिक्तमन्तः-प्रविष्टं, द्यपणौ च भृशं निःसतौ निर्गतौ, त्वेतत् भेतलक्षणं मृतस्य लक्षणम् । एवं

चक्रपाणिः—ऊर्द्वाप्रे इति ऊर्द्व्यमुखे । भारतकरपने अविश्रान्तकरपने । उत्सिक्तमिति अन्तःप्रविष्टम् । अतङ्चैवं विषय्यीस इति शेफोऽतिनिःसतं वृषणौ चापि प्रविष्टौ । विक्रत्येति

^{*} मन्ये चारतकापने इति पाठश्रकसामतः।

निचितं यस्य सांसन्तु त्वगस्थि 🛭 चैव दृश्यते । जीग्रस्थान्यूनतस्तस्य मासमायुः परं भवेत् ॥ २५ ॥

विद्यत्यैवातो विषय्यसि च मेतलक्षणम् । तद् यथा—जेफो भृजं निःसतं रूपणौ चात्यर्थमन्तःमविष्टौ इत्यर्थः । विकृत्येति वचनेन मक्कत्या यस्य त्वेवं तन्न रिष्टमिति ख्यापितम् ॥ २४॥

गङ्गाधरः-निचितमित्यादि । यस्य मांसं शरीरे निचितं सम्पूणम् । लगस्थि च दृश्यते, यस्य श्लीणस्यान्यूनतः सम्पूणतः मांसहीनस्य लगस्थि च निचितं दृश्यते, तस्य मासं व्याप्य परमायुभेवेदित्यर्थः। सुश्रुतेऽपि— ज्यावा लोहितिका नीला पीतिका वापि मानवम् । अभिद्रवन्ति यं छायाः स परामुरसंशयम् ॥ अभिद्रवन्ति अभिधावन्ति । हीश्रियौ नश्यतो यस्य तेजओजः-अकस्साद् यं भजन्ते वा स परासुरसंशयम्। यस्याधरौष्टः पितः क्षिप्तथोर्द्धं तथोत्तरः। उभौ वा जास्त्रवाभासौ दुर्छभं तस्य जीवितम्। आरक्ता दशना यस्य श्यावा वा स्युः पतन्ति वा। खञ्जनप्रतिमा वापि तं गतायुषमादिशेत्। ऋष्णा स्तन्धावलिप्ता वा जिह्यां शृना च यस्य वै। कर्रशा वा भवेर् यस्य सोऽचिराद्विजहात्यसून्। क्वटिला स्फुटिता वापि शुष्का वा यस्य नासिका। अवस्फूर्जिति मग्ना वा न स जीवति मानवः। संक्षिप्ते विषमे स्तब्धे रक्ते स्तब्धे च लोचने। स्यातां वा प्रस्तते यस्य स गतायुर्नरो ध्रवस्। केशाः सीमन्तिनो यस्य संक्षिप्ते विनते भ्रुवौ। छनन्ति चाक्षिपक्ष्माणि सो ऽचिराट् याति मृत्यवे। नाहरत्यन्नमास्यस्थं न धारयति यः शिरः। एकाग्रदृष्टिम् दृात्मा सद्यः प्राणान् जहाति सः। वलवान् दुव्वेलो दापि संमोहं योऽधिगच्छति। उत्थाप्यमानो वहुशस्तं धीरः परिवर्जयेत्। उत्तानः सर्वदा शेते पादौ विकुरुत च यः। विमसारणशीलो वा न स जीवति मानवः । शीतपादकरोच्छास-विखन्नश्वासश्च यो भवेत् । काकोच्छासश्च

स्वभावं विना। तेन स्वभावोत्सिक्तरोफादि न रिष्टम्। किन्स्विनिमिक्तं कादाचित्कं तदेव तावद् सरिष्टम्। निचितमिति क्षीणं 'नि'शब्दस्य प्रतिदेधार्थत्वात्। एवञ्च तथा मांसं क्षीणं भवति। यथा

^{*} त्वगस्थिष्वेव इति चकः।

यो मत्त्यस्तं धीरः परिवड्जयेत्। निद्रा न च्छित्रते यस्य यो वा जागत्ति सर्वदा। मुह्मेद्दा वक्तुकामस्तु प्रत्याख्येयः स जानता। उत्तरीष्टश्च यो लिखादुद्वारांश्र करोति यः। भेतैर्वा भापते सार्ढं मेतरूपं तमादिशेत्॥ खेभ्यः सरोमक्र्पेभ्यो यस्य रक्तं पवर्त्तते। पुरुपस्याविपार्तस्य सद्यो जहात् स जीवितम्। वाताष्टीला तु हृदये यस्योङ् मनुयायिनी। रुजान्नविद्वेपकरी स परासुरसंशयम्। अनन्योपद्रवकृतः शोफः पाद्ससुरिथतः। प्रुरुषं हन्ति नारीश्च मुखजो गुह्मजो द्वयम्। अतिसारो ज्वरो हिका च्छिहः शुनाण्डमेहता। श्वासिनः कासिनो वापि यस्य तं परिवर्ज्ययेत्। स्वेदो दाहश्च वलवान् हिका श्वासश्च मानवम् । वलवन्तमपि प्राणैविधुङ्जन्ति न संशयम् । श्यावा जिहा भवेद् यस्य सन्यश्चाक्षि निमज्जिति । मुख्य जायते पूर्ति यस्य तं परिवर्ज्जेयेत् । वक्तमापूर्यतेऽश्रूणा स्विद्यतश्ररणावुभौ। चक्षुश्राकुलतां याति यमराष्ट्रं गमिष्यतः। अतिमात्रं लघूनि स्युगीत्राणि गुरुकाणि च। यस्याकस्मात् स विशेषो गन्ता वैवस्वतालयम्। पङ्गमत्स्यवसातैलघृतगन्धाश्च ये नराः। मृष्टगन्धांश्र ये वान्ति गन्तारस्ते यमालयम्। यूका ललाटमायान्ति वर्छि नाश्चन्ति वायसाः। येपां वापि रतिनीस्ति यातारस्ते यमालयम् । ज्वराति-सारशोफाः स्युर्यस्यान्योन्यावसादिनः। प्रक्षीणवलमांसस्य नासौ शक्य-श्चिकित्सितुम्:। श्लीणस्य यस्य श्चनुष्णे हुदैप्रिष्टिहितैस्तथा। न शाम्यतो-ऽन्नपानैश्च तस्य मृत्युरुपस्थितः। प्रवाहिका शिरःशूळं कोष्ठशूळञ्च दारुणम्। पिपासा वलहानिश्च तस्य मृत्युरुपस्थितः। विपमेणोपचारेण कम्मीभिश्च पुराकृतैः। अनित्यलाच जन्तूनां जीवितं निधनं त्रजेत्। प्रेतभूत-पिशाचाश्च रक्षांसि विविधानि च। मरणाभिमुखं नित्यमुपसर्पनित मानवम्। तानि भेषनवीय्यीण प्रतिव्रन्ति जिघांसया। तस्मान्मोघाः क्रियाः सर्व्वा भवन्त्येव गतायुषः ॥ इति ॥ २५॥

त्वगरिथष्वेव रुग्ना दृदयते । किंवा निचित्तमुपचितं मांसं स्यात् । त्वगस्थिष्वेव दृदयते त्वगस्थि-मात्रावदोपो वा भवतीति यावत् ॥ २०—२६॥

तत्र श्लोकः।

इदं लिङ्गसरिष्टाख्यमनेकमभिजिज्ञान्। आयुद्धेद्विद्याख्यां लभते कुश्लो जनः ॥ २६ ॥

. इत्यज्ञिनेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने ्पन्नरूपीयसिन्द्रयं नास सप्तसोऽध्यायः॥ ७॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थमुपसंहत्त्रभाशिपमाह—तत्र श्लोक इत्यादि। इद-मित्यादि । अभिज्ञिवान् अभिज्ञातवान् कुशलो जन आयुर्वेद्वित् इत्याख्यां लिभते ॥ २६ ॥

अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि ।

इति वैद्यश्रीगङ्गाधरकविरवविरचिते चरकजलपकलपतरौ इन्द्रियस्थान-जल्पे पञ्चमस्कन्धे पञ्चलपीयेन्द्रियजलपाख्या सप्तमी शाखा ॥ ७॥

े इ्ति महामहोपाध्यायचरकषतुराननश्रीमचक्रपाणिदत्तविरिचतायामायुर्वेददीपिकायां चरक-तात्पर्यरीकायाम् इन्द्रियस्थाने पन्नस्पीयमिन्द्रियं नाम सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

अष्टमोऽध्यायः।

श्रथातोऽत्राक्शिरसीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः, इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥ श्रवाक्शिरा वा जिह्या वा यस्य वा विशिरा भवेत् । जन्तो रूपप्रतिच्छाया नैनमिच्छेचिकित्सितुम् ॥ २ ॥ जड़ीभृतानि पच्माणि दृष्टिश्चापि न यह्यते । यस्य जन्तोर्न तं धीरो भेषजेनोपपादयेत् ॥ ३ ॥ यस्य श्रूनानि वर्त्मानि न समायान्ति शुष्यतः । चनुषी चोषदहेरते यथा प्रतस्तथेव सः ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—अथ पन्नरूपीयेन्द्रियानन्तरम् । अतः छायाधिकारात् हेतोरवाक्-शिरसीयमिन्द्रियम्, अवाक्शिरा इति पदार्थमधिकृत्यः कृतमिन्द्रियम् व्याख्या-स्यामः ॥ १॥

गृहाधरः—अवाक् शिरा इत्यादि। यस्य जन्तो रूपमितच्छाया जलादर्श-च्योत्स्नातपादिषु मृत्तिमितिविम्बः अवाक् शिरा ऊर्द्ध पदा स्यादेथवा जिल्ला कुटिला स्यादथवा विशिरा विवर्त्तितमस्तका वा स्यादेनं चिकित्सितुं नेच्छेत्।।२।।

गङ्गाधरः — जड़ी भूतानीत्यादि । यस्य जन्तोः पक्ष्माणि जड़ी भूतानि मिलितानि भवन्ति न च तैर्दे ष्टिपृ हाते तं जन्तुं धीरो न भेपजेनोपपादयेत् । सुश्रुतेऽप्युक्तं — मिलिनत चाक्षिपक्ष्माणि सोऽचिराद् याति मृत्यवे ॥ इति ॥ ३॥

गृङ्गाधरः—यस्येत्यादि। यस्य शुष्यतः शोषं गच्छतो जन्तोर्वत्मानि चक्षुपोश्चलारि उपर्यधोवत्मानि श्नानि शोफवन्ति भवन्ति न समायान्ति सम्यक्त्वं परस्परं सङ्गततया मिल्रनं नायान्ति, चक्षुषी च उपदहेत्रते, स यथा मेतस्तथैव स्यादित्यर्थः॥ ४॥

चक्रपाणिः— उक्तानुक्तपरिम्राहकेऽध्यायद्वये वक्तन्ये च्छायारिष्टाभिधायकत्वसाधम्मर्थादवाङ्-शिरसीयोऽभिधीयते । अवाङ्ग्विरारा द्वात ऊर्द्धुपादः । एत च्छायाप्रकरणवक्तन्यमपि शीव्रमारकत्व- भ्रुवोर्वा यदि वा मृद्धि सीमन्तावर्तकान् वहून् । भ्रपूट्यान-७-कृतान् व्यक्तान् दृष्ट्वा सरणमादिशेत् ॥ ५ ॥ श्रमहमेतेन जीवन्ति लच्च्यानातुरा नराः । श्ररोगाणां पुनस्त्वेतत् पड्रात्रं परमुच्यते ॥ ६ ॥ †श्रायस्योत्पाटितान् केशान् यो नरो नावबुध्यते । श्रमातुरो वा रोगी वा पड्रात्रं नातिवर्त्तते ॥ ७ ॥ यस्य केशा निरभ्यङ्का दृश्यन्तेऽभ्यक्तसन्तिभाः । उपरुद्धायुवं ज्ञात्वा तं धीरः परिवर्ज्यते ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः — भ्र वोरित्यादि । यस्य जन्तोभ्र वोद्व योलामसु अपूर्वान् पूर्वं न ये सीमन्तावर्त्तकास्तान्, अकृतान् न च केश्चिन्निमित्तैः कृता ये तान्, व्यक्तान् वहून् सीमन्तावर्त्तकान् दृष्ट्वा यदि वा मृद्धि केशेषु दृष्ट्वा तस्य मरणमादिशेत् । अस्य लक्षणस्य स्वस्थातुरत्नदिननियममाह—त्रप्रहमित्यादि । एतेन सीमन्तावर्त्तकलक्षणेन आतुरा नरास्त्रप्रदं जीवन्ति । अरोगाणान्तु पद् -रात्रम् एतज्जीवनं परं परमायुरुच्यते ॥ ५।६ ॥

गङ्गाधरः—आयम्येत्यादि । अनातुरो रोगी वा यो नरः स्वस्य केशान् परेण वा स्वेन वा आयम्य आयतीकृत्य उत्पाटितान् नावबुध्यते, स पङ्रात्रं नातिवर्त्तते अतिकामित । पङ्रात्रं प्राप्य म्रियते इत्यर्थः ॥ ७॥

गृङ्गाधरः —यस्येत्यादि । यस्य निरभ्यङ्गास्तैलादिस्नेहेनाभ्यङ्गरहिताः केशा अभ्यक्तसिन्नाभ्यक्तेलादिस्नेहाभ्यक्तकेशतुल्या दृश्यन्ते, धीरस्तं पुरुषग्रपसद्धायुषं श्लीणायुषं शाला परिवर्ज्ञयेत् ॥ ८॥

ख्यापनार्थमिह शीव्रमारकरिण्टेप्वपि परितम्। अत्र हारिष्टानि त्रग्रहादिमारकाणि वक्तस्यानि। समायान्तीति न परस्परं मिलन्ति। असजानकृतानिति प्रयत्नेनाकृतान्॥ १—६॥

वक्रपाणिः—आयस्येति वलादाकृष्य । यद्यपि "मृतस्य केशलोमानि" इत्यादिनैव तदरिष्ट-मित्युक्तम्, तथापीहातुरस्वस्थविपयप्रतिपादनार्थमभिधानम्, किञ्च तत्र 'प्रच्यवेरन्' इति पदेन केशानामनुत्पादनमुक्तम्, नेह तथेति विशेषः॥ ७।८॥

^{*} असजान् इति पाठान्तरं वर्तते।

[†] भायस्य द्ति चक्रवर्णितः पाठः।

ग्लायतो ७ नासिकावंशः पृथुत्वं यस्य गच्छति । श्रश्नुनः श्रृनसङ्काशः प्रत्याख्येयः स जानता ॥ ६ ॥ श्रत्यर्थिववृता यस्य यस्य चात्यर्थसंवृता । जिह्या वा परिशुष्का वा नासिका न स जीवति ॥ १० ॥ मुखश्च्दस्ववावोष्ठौ † शुक्कर्यावातिलोहितौ । विक्वतौ ‡ यस्य वा नीलौ न स रोगाद्विमुच्यते ॥ ११ ॥ श्रिस्थिश्वेता द्विजा यस्य पुष्पिताः पङ्कसंवृताः । विक्वत्या न स रोगांस्तु विहायारोग्यमर्नुतै ॥ १२ ॥

गृङ्गाथरः—ग्लायत इत्यादि । यस्य ग्लायतो हृष्यतः पुरुषस्य नासिकावंशः पृथुतं गच्छति, अशृनः सन शृनसङ्काशश्च भवति, स जानता वैदेतन प्रत्याख्येयस्त्याच्यः ॥ ९ ॥

गृहाधरः—अत्यथत्यादि । यस्य नासिका जिस्मा कुटिला अत्यर्थिवृहता अतिशयविस्हता निर्गता वा अथवात्यर्थसंहता कुश्चिता अनिर्गता वा, यस्य नासिका जिस्ना कुटिला वा परिशुष्का स न जीवति ॥ १०॥

गुङ्गाधरः—मुखेत्यादि। यस्य रोगिणो द्वानोष्टौ मुख्यग्व्यस्त्रनौ स्वमुखात् शब्दिनिःसतौ स्रवतः स्नानं कुरुतस्तौ। यदा शब्दं न कुरुते स पुमान, तदा न स्रवतः। शुक्रवणौ श्याववर्णावतिलोहितवणौ मिलितत्रयवणौ वा। यस्य वा विकृतौ स्वरूपान्यरूपौ नीलौ वा, स तद्रोगान् मुच्यते॥ ११॥

गङ्गाधरः—अस्थीत्यादि । यस्य रोगिणो द्विजा दन्ता अस्थिइवेता अस्थिवत् सिता रुक्षाः पुष्पिताः पुष्पवद्गन्धा दन्तइवेतलापेक्षया अतिइवेता वा

चक्रपाणिः—ग्लायत इति दौर्घ्यन्यं भजते । अञ्चल इति परमार्थतोऽञ्चाः । विवृतेति निर्गता । संवृतेति प्रविष्टा । शब्दश्रवो कर्णो । विकृत्येति सहजं विना तथा हेतुं विनेत्यर्थः ॥ ९—११ ॥

^{*} ग्लायते इति चकः ।

[†] मुखं शब्दश्रवाबोष्टो इति वा पाठः ।

क्षः विकृत्या इति पाठांन्तरम् ।

स्तन्धा निश्चेतना गुर्व्यो कराटकोपचिता भृशम्। श्यावा शुष्काथवा शूना प्रतिज्ञहा विसर्पिणी ॥ १३॥ दीर्घमुच्छ्त्य यो हृस्वं नरा निश्वस्य ताम्यति । उपरुद्धायुपं ज्ञात्वा तं धीरः परिवर्ज्जयेत् ॥ १४ ॥ ्हस्तौ पादौ च सन्ये च तालु चैवातिशीतलम्। भवत्यायुःचये क्रूरमथवापि भवेन्मृद् ॥ १५ ॥ घद्दयन् जानुना जानु पादानुद्यम्य पातयन् । योऽपास्यति मुहुर्वक्त्रमातुरो न स जीवति ॥ १६ ॥ दन्तेशिङ्दन् नखायािंग नखेशिङ्दन् शिरोरुहान्। काष्ठेन सूमिं विलिखन् न रोगात् परिमुच्यते ॥ १७॥

विकृत्या स्वभावं विना पङ्कसंद्यताः क्लेद्युक्ताः, स रागान् विहायारोग्यं नाश्चते ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—स्तब्धेत्यादि। यस्य जिह्वा स्तब्धा निश्चला निश्चेतना स्पर्श-रसानभिका गुन्वी परिपुष्टा कण्टकोपचिता भृजं कण्टकाकारैरपचिता न्याप्ता क्यावा शुष्का अथवा शुना शोफवती एवं विसर्पिणी वहिर्निर्गता सा प्रेतिजहा म तस्याचिशन्मरिष्यतो जिह्या। १३॥

गङ्गाधरः —दीर्घमित्यादि । यो रोगी नरः पूर्व्व दीर्घमुच्छुस्य पश्चात् हस्वं निश्वस्य ताम्यति, तमुपरुद्धायुपं क्षीणायुष ज्ञाला धीरः परिवर्ज्ययेत् ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः - हस्तावित्यादि । आयुः क्षये नराणां हस्तादिकमतिशीतळं भवति अथवा क्रूरं भवति अपि वा मृदु भवति ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—घद्दयन्नित्यादि । य आतुरो नरो जानुना जानु घद्दयन् पादौ च उद्यम्य उच्चैः कृता क्षिप्ता पातयन् मुहुर्वारंवारं वक्त्रम् अपास्यति अपाक्षिपति, स न जीवति ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः-दन्तैरित्यादि। रोगी नरो दन्तर्भखाग्राणि च्छिन्दन् नखैः शिरोक्हान् केशान् च्छिन्दन् काष्ठेन भूमिं विलिखन् रोगान्न परिमुच्यते ॥१७

चक्रपाणिः-अस्थिवत स्वेता अस्थिश्वेताः। विसर्पिणी वहिनिर्गता। निश्वस्येति अन्तरो-

दन्तान् खादित यो जायदसाम्ना विरुद्द् हसन्। विजानाति न चेद् दुःखं न स रोगाद विमुच्यते ॥ १८ ॥ मुहुईसन् मुहुः च्वेड़न् श्रय्यां पादेन हन्ति यः। उच्चेश्छद्राणि विमृश्ज्ञातुरो न स जीवित ॥ १६ ॥ येविन्दते पुरा भावेः समेतेः परमां रितम्। तैरेव रममाणस्य ग्लास्नोर्मरणमादिशेत् ॥ २० ॥ न विभित्ते शिरोप्रीवं ए॰ठं वा भारमात्मनः। सहन् पिण्डमास्यस्थमातुरस्य मुमूर्वतः॥ २१ ॥ सहसा ज्वरसन्तापस्तृष्णा सूच्छी वलचयः। विश्लेषणश्च सन्धीनां मुमूर्थोरुपजायते ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—दन्तानित्यादि । यो जाग्रत् सन् दन्तान् खादति दन्तकड़कड़ि-ध्वनिं करोति । असाम्ना अशान्तवचनेन विरुद्द् रुदं सम् सन् चेष् यदि दुःखं न विजानाति, स रोगी न रोगाद् विग्रुच्यते ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—ग्रहुरित्यादि। य आतुरो ग्रहुहसन् सन् ग्रहुः क्ष्वेहन् विपादं कुर्वन् सन् पादेन श्रट्यां हन्ति श्रय्यायागाधातं करोति उच्चे श्रिष्ठद्राण्यूद्धाङ्गगानि च्छिद्राणि कर्णनासादिविवराणि विमृशन् स्पृशनर्थात् स्पृशति, स आतुरो न जीवति ॥ १९ ॥

गङ्गाधरः — यैरित्यादि । यैः समेतैः सङ्गतैः भावैनेरः पुरा परमां रितं विन्दते तैरेव सङ्गतैभावै रममाणस्य क्ष्रीडृतस्तस्य ग्लास्नोरङ्गीडृतोऽहृष्यतो मरणमादिजेत् ॥ २०॥

गङ्गाधरः—न विभित्तीत्यादि । मुस्पत आतुरस्य शिरोग्रीवम् आत्मनो भारं न विभित्ती, पृष्टं वा आत्मनो भारं न विभित्ती, आस्यस्थं पिण्डमन्त्रग्रासः सहतुं हतुसंहितम् आत्मनो भारं न विभित्ति॥ २१॥

गङ्गाधरः—सहसेत्यादि । सुमूपौनेरस्य सहसा ज्वरसन्तापादयः । सन्धीनां विक्लेपणश्च शैथिल्यम् उपजायते ॥ २२ ॥

च्छ्रासं नीत्वा। अपास्यति मुहुरिति मुखमाक्षिपति। असाम्ना इति उच्चैः। छिद्राणीति नासाकणीक्षित्रीतांसि॥ १२—१९॥ नातर्गे वदताद्वं यस्य स्वेदः प्रच्यवते भृशम् । लेपन्वरोपततस्य दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ २३ ॥ नोपैति कगठमाहारो जिह्वा कगठसुपैति च । आयुष्यन्तं गते जन्तोर्वलञ्च परिहीयते ॥ २४ ॥ शिरो विचिपते कृच्छ्रान्मुञ्जयित्वा प्रपाणिकौ । ललाटप्रस्नुतस्वेदो सुसूर्षः श्रुथवन्धनः ॥ २५ ॥

तत्र श्लोकः।

इमानि लिङ्गानि नरेषु वुद्धिमान् विभावयेतावहितो मुहुर्महुः छ ।

गङ्गाधरः—गोसर्ग इत्यादि। यस्य छेपज्वरोपतप्तस्य प्रछेपकज्वर्वतः गोसग मभातकाछे वदनात् मुखात् भृशमितशयं यथा स्यात् तथा स्वेदो घम्भेः प्रच्यवते, तस्य जीवितं दुर्छभम् ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—नोपैतीत्यादि। जन्तोरायुपि अन्तं ज्ञेषं गते सत्याहारो न कण्ठमुपैति जिह्वा च कण्ठमपैति वलञ्च परिहीयते॥ २४॥

गङ्गाधरः—शिर इत्यादि । मुम्पुंनिरः शिरोगतौ स्वपपाणिकौ पाणिद्वयाग्र-भागौ शिरस्तः कुच्छात् मुश्चियला आनीय शिरो विक्षिपते चालयते, ललाट-मस्र तस्वेदश्च भवति, श्लथबन्धनः शिथिलसन्धिवन्धनो भवतीति ॥ २५ ॥

गृङ्गाधरः—अध्यायाथौपसंहारार्थमाशिषमाह—तत्र श्लोक इत्यादि। इमानीत्यादि। बुद्धिमान् भिषगवहितोऽवधानपूर्व्वकिममानि अत्राध्याये प्रोक्तानि लिङ्गानि मरणलक्षणानि नरेषु महुम्मुहुर्विभावयेत विशेषेण

चक्रपाणिः—ग्लास्नोरिति क्षीयमाणस्य । भारमात्मन इति ऊर्द्वाशरम् । प्रष्टमिति

^{*} सुमूर्षु पु इति च पाठः।

तृतीयोऽध्यायः।

अथातो गुल्मनिदानं व्याख्यास्यामः, इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

इह खलु पञ्च गुल्मा भवन्ति, तद् यथा—वातगुल्मः पित्तगुल्मः श्लेष्मगुल्मः निचयगुल्मः शोगितगुल्मश्चेति ॥२॥

गङ्गाधरः—अथातिकपंकज्वरप्रभवत्वेन समाननिदानलाट् रक्तपित्त-ग्रुलमयोरेककार्यलसङ्गत्याः तथा सर्वेत्र रक्तपित्ते पित्तस्याव्यभिचरित-हेतुलादेकदोपस्याव्यभिचारिहेतुलपसङ्गसङ्गत्या च सर्व्यग्रुलमे वातस्याव्यभिचारि-' प्रकृतिभूतहेतुलाच्च रक्तपित्तनिदानानन्तरं ग्रुल्मनिदानव्याख्यानमारभते। अथात इत्यादि। ग्रुल्मस्य निदानं निदानादि पश्चनिदानम् ॥१॥

गङ्गाधरः—इहेत्यादि । इह संसारे जन्तूनां पश्च गुल्मा भवन्तीति यदुक्त-मष्टोदरीये तस्यानुवादोऽयं स्मरणार्थम् । निचयगुल्म इति सन्निपातजगुल्म इत्यर्थः । शोणितगुल्मक्चेति । पदार्थाख्रतन्त्रयुक्तयात ऊर्द्धः स्त्रीणामात्त्रवज्ञ गुल्मव्याख्रानदर्शनादत्र शोणितपदेनात्त्रवमुच्यते, यत् तु—स्त्रीणामात्त्रवजो गुल्मो न पुंसाम्रपजायते । अन्यस्तस्रग्भवो गुल्मः स्त्रीणां पुंसाश्च जायते । इति वचनात् शोणितशब्देन प्रसादरक्तमात्त्रवरक्तश्चोच्यते तन्न, चरक-स्रश्रुतादौ प्रसादरक्तजगुल्मादर्शनेन तद्वचनस्यामूलकत्वात् ॥ २ ॥

चक्रपाणिः—दक्षाध्वरोदध्वंसे रक्तिपत्तमनु गुहमोत्पित्तिरित रक्तिपत्तमनु गुहमनिदानम् । इह पन्चेतिवचनात् चिकित्सितेऽधिकान् गुहमान् सूचयित, वक्ष्यिति हि—"व्वामिश्रलिङ्गानपरांस्तु गुहमांस्त्रीनादिशेदौपधकल्पनार्थम्" इति । निचयः सिन्नपातः ; तत्कृतगुह्मो निचयगुह्मः ; इह प्रत्येकवातादिगुह्मिकियामेलकादेव द्वन्द्वजगुह्माः साध्यन्त इति कृत्वा न पृथगुक्ताः ; सिन्नपातगुह्मास्तु वातादिगुह्मिकियामेलकेन साध्या भवन्त्येव ; तेन वातादिसंयोगमिहम्ना अतिरिक्तासाध्यत्वयोगान्निचयगुह्मः पृथगुक्तः, एतदेव गुह्मेऽस्मिन्नसाध्यत्वं प्रतिपाद्यिनुं सिन्नपातग्रव्वं साध्यव्वरादिसिन्नपातेऽपि वर्त्तमानं पित्त्यव्य निचयशव्दः ; अत्यर्थं हि असाध्य-रूपेश्चायं निचयः ॥ ११२ ॥ च्रागेन भूत्वा ह्यपयान्ति कानिचित् न चाफलं लिङ्गिमहास्ति किश्वन ॥ २६ ॥

इत्यिप्तिवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने अवाक्-शिरसीयमिन्द्रियं नामाप्टमोऽभ्यायः ॥ ८॥

निरीक्षेत। कस्मात् १ हि यस्मादेषु कानिचिछिङ्गानि क्षणेन भूला अंपयान्ति अपगच्छन्ति। नज्ज यान्यपयान्ति यान्तु अपरलक्षणेन ज्ञातन्यमिति तैश्र किमित्यत आह—न चेत्यादि। इह एषु चिह्नेषु मध्ये किश्चन चिह्नं न चाफ्छं निष्फलमस्ति। यछिङ्गं क्षणेन भूलापगतं न च ज्ञातं ततोऽन्यच लक्षणं किश्चित्र यदि भवति तदा तत्र भिषम् मुह्नति, तस्मान्मूहुम्मुंहु-चिभावयेतेत्यर्थः॥ २६॥

अध्यायं समापयति—अशीत्यादि ।

इति वैद्यश्रीगङ्गाधरकविरत्नविरचिते चरकजल्पकल्पतराविन्द्रियस्थान-जल्पे पञ्चमस्कन्धेऽवाक्तिरसीयेन्द्रियजल्पाख्याष्ट्रमी शाखा ॥ ८॥

शरीराधोभागः। गोसर्ग इति प्रत्यूपे। लेपज्वरः स्वल्पशीतयुक्तः कफज्वरः। कृष्णादित्यवीद्रं मुद्ययित्वा प्रपाणिकौ मणिवन्धादृङ्गं कूर्परपर्य्यन्तं शिरो विक्षिपति ॥ २०—२६ ॥

इति महामहोपाध्यायचरकचतुराननश्रीमचक्रपाणिदत्तविरचितायामायुर्वेदद्रीपिकायां चरकतात्परयेटीकायाम् इन्द्रियस्थाने भवाक्शिरसीयमिन्द्रियं नाम अष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

नवसोऽध्यायः।

अथातो यस्यश्यावितमित्तीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः, इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

यस्य श्यावे परिध्वस्ते हरितै चापि दर्शने।
आपन्नो व्याधिरन्ताय ज्ञे यस्तस्य विजानता॥ २॥
तिःसंज्ञः परिशुष्कास्यः संविद्धो क व्याधिभिश्च यः।
उपरुद्धायुषं ज्ञात्वा तं धीरः परिवर्ज्ञयेत्॥ ३॥
हरिताश्च तिरा यस्य लोमकूपाश्च संवृताः।
सोऽम्लाभिलाषी पुरुषः पित्तान्मरग्गमश्नुतै॥ ४॥

गङ्गाधरः—अथावाक् शिरसीयेन्द्रियानन्तरम् अतङ्खायाधिकाराद्धेतोः यस्य-च्यावनिमित्तीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ॥ १॥

गङ्गाधरः—यस्येत्यादि । यस्य नरस्यातुरस्य दर्जने चक्षुपी परिध्वस्ते नष्टे इयावे हरिते वा तमापन्नः प्राप्तो व्याधिस्तस्यान्ताय मरणाय विजानता भिपजा क्रेय इत्यर्थः ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—निःसंब इत्यादि। यो नरो व्याधिभिः संविद्धो निःसंबः परिशुष्कास्यश्च स्यात्, तम् उपरुद्धायुपं बाला धीरः परिवर्ज्यते ॥ ३॥

गङ्गाधरः—हरिताश्चेत्यादि। यस्य सिरा हरिताः पालाशवर्णाः, लोम-क्षाश्च संद्रता न स्वेदान् वहन्ति स यद्यम्लाभिलाषी स्यात् तदा पित्तात् पित्तजरोगान्मरणमञ्जुते॥४॥

चक्रपाणिः—यस्यश्यावनिमित्तीयोऽपि उक्तानुक्तिरिष्टाभिधायकतया उच्यते । 'यस्यश्याव'-शब्देन छक्षणेन 'यस्यश्याव' इत्यादिमन्थोक्तं रिष्टम् माद्यम् । तेन यस्यश्यावरूपिनिमत्तं रिष्टमिष्कृत्य कृतोऽध्यायः यस्यश्यावनिमित्तीयः । समृद्ध उपिनतः ॥ १—३ ॥

समृद्ध इति चक्रव्याख्यातः पाठः ।

शरीरान्ताश्च शोभन्ते शरीरञ्चोपशुष्यित । वलञ्च हीयते यस्य राजयदमा हिनस्ति तम् ॥ ५ ॥ ग्रांसाभितापो हिक्का च दर्शनं शोणितस्य च । ग्रानाहः पार्श्वशूलञ्च भवत्यन्ताय शोषिगाः ॥ ६ ॥ वातव्याधिरपरमारी कुष्ठी रक्ती क तथोदरी । ग्रल्मी च मधुमेही च राजयदमी च यो नरः ॥ श्राचिकित्स्या भवन्त्येते वलमांसच्ये सित । मन्देष्वपि विकारेषु तान् भिषक् परिवर्ज्येत् ॥ ७ ॥ विरेचनहतानाहो † यस्तृष्णानुगतो नरः । विरिक्तः पुनराध्माति यथा प्रतस्तथैव सः ॥ म ॥

गृ<u>ङ्गाधरः</u>—शरीरान्ताश्चेत्यादि। यस्य शरीरान्ता इस्तपादाद्यन्तावयवाः शोभन्ते पुष्टिवर्णमभादिभिः साधुभावा भनन्ति शरीरश्चान्तराधिमध्यकाय उपशुष्यति वलमपि च हीयते, तं राजयक्ष्मा हिनस्ति ॥ ५॥

गङ्गाधरः—अंसेत्यादि । यस्य शोपिणो राजयिक्ष्मणः अंसाभितापो भुजयोरूढिदेशयोरुपतापः हिका च शोणितस्य रक्तस्य दर्शनञ्चानाहः पाइवे-शुलञ्च, अन्ताय मरणाय स्यात् ॥ ६॥

गृङ्गाधरः—वातन्याधिरित्यादि । वाताज्ञातोऽसाधारणो नानात्मजो न्याधियस्य स तथा । रक्ती रक्तिपत्ती । अचिकित्स्या असाध्याः । मन्देषु अल्पेष्विप वल्लमांसक्षयेऽल्पदोपेष्विप वहुदोषेषु स्रतरां वातन्याध्यादीन् परिवज्जयेत् ॥ ७॥

गङ्गाधरः—विरेचनेत्यादि। यो नरो विरेचनहतानाहः विरेचनेन हतो जित आनाहो यस्य स तृष्णानुगतो यदि विरिक्तः सन् पुनराध्माति वायुना पूर्णोदरो भवति, तदा स यथा भेतस्तथैव भवति ॥ ८॥

चक्रपाणिः—शरीरान्ता हस्तपादादयः। शोभन्त इति राजन्ते, किंवा शोभायुक्ता इव मवन्ति। वात एव व्याधिर्यस्य रोगिणः स वातव्याधिः। तानिति वलमांसक्षययुक्तान्। विरेचनहत आनाहो यस्य स तथा॥ ४—८॥

शोफी इत्यन्यन्नःपुरुवते।

[†] विरेचनहतानाह इति चकः।

पेयं पातुं न शकोति शुष्कत्वादास्यकगठयोः।
उरसश्च विवन्धत्वाद्वं यो नरो न स जीवति॥ ६॥
स्वरस्य दुर्व्यलीभावं हानिश्च वलवर्णयोः।
रोगवृद्धिमयुत्तया च ७ दृष्ट्वा मरगामादिशेत्॥ १०॥
ऊर्ज्वं श्वासं गतोष्मागां शूलोपहतवङ्चणम्।
श्रम्भं चानधिगच्छन्तं वुद्धिमान् परिवर्ज्ययेत्॥ ११॥
†श्चपस्वरभाषमागां प्राप्तं मरगामात्मनः॥
श्रोतारञ्चाष्यशब्दस्य दूरतः परिवर्ज्ययेत्॥ १२॥
यं नरं सहसा रोगो दुर्ध्वलं परिमुञ्जति।
संश्यप्राप्तमात्रयो जीवितं तस्य मन्यते॥

गङ्गाधरः-पेयमित्यादि स्पष्टम् ॥ ९॥

गङ्गाधरः—खरस्येत्यादि । खरस्य दुव्वेलीभावं खरक्षीणत्वं दृष्ट्वा वल-वर्णयोर्हानिश्च दृष्ट्वा अयुक्तया युक्तिं विना अर्थाद्तुचितक्रमेण रोगद्रिश्च दृष्ट्वा सर्वेषां रोगिणां मरणमादिशेत् ॥ १०॥

गङ्गाधरः—ऊद्धृत्यादि। गतोष्माणं नित्योष्मस्थानवक्षःशिरोजिह्यादिषु गतोऽतीत उष्मा यस्य तं तथा, शुलोपहतवङ्क्षणं वङ्क्षणदेशेऽतिशयश्लवनतं श्म्मे च क्षणमपि नाधिगच्छन्तं सर्व्वं शोगिणं बुद्धिमान् परिवर्ज्यत्॥ ११॥

गङ्गाधरः—अपस्वरेत्यादि। अपस्वरेण विकृतस्वरेण भाषमाणं नरम् आत्मनो मरणं प्राप्तं परिवर्ज्जयेत्। अशब्दस्य शब्दाभावे सति शब्दस्य श्रोतारश्च परिवर्ज्जयेदिति॥ १२॥

गङ्गाधरः यं नरमित्यादि। यं दुर्व्वेळं रोगिणं नरं सहसा स रोगो मुश्चित तस्य जीवितं संशयपाप्तमात्रेयो मन्यते कचित् कश्चिजीवित महा-

चक्रपाणिः—अयुक्तेनेत्यनुचितरूपेण अपस्तरमिति विकृतस्तरं यथा भवति तथा भापमाणम् । कि

^{*} अयुक्तेनेति पाठान्तरम् ।

[†] अपस्तरं भाषमाणं इति चक्रधृतः पाठः।

श्रथ चेज्ज्ञातयस्तस्य याचेरन् प्रिण्पाततः । रसेनाद्यादिति ब्र्यान्नास्मै दद्याद्विशोधनम् ॥ मासेन चेन्न दश्येत विशेषस्तस्य शोभनः । रसेश्चान्यैर्वहुविधेर्दुर्जभं तस्य जीवितम् ॥ १३ ॥ निष्ठ्रातश्च पुरीषश्च रेतश्चाम्भसि मज्जति । यस्य तस्यायुषः प्राप्तमन्तमाहुर्मनीषिणः ॥ १४ ॥

कच्टेनेति संशयपाप्तिमित्यनेन ख्यापितम्। तदाह अथ चेदित्यादि। वैदेरन प्रत्याख्यानानन्तरं चेद् यदि तस्य ज्ञातयो भ्रात्राद्यमात्यगणाः प्रणिपाततोऽस्य चिकित्सार्थं याचेरन्, तदा रसेन मांसरसेन पुष्टप्रथमद्यादिति वैद्यस्तान् ज्ञातिगणान् ब्रूयात्। न चारमे दुर्व्वलाय सहसा रोगमुक्तये विशोधनं दद्यात् कर्षकलात्। नमु तेन किं स्यादित्यत आह—मासेनेत्यादि। चेद् यदि मांसरसेन मासमन्नादनेन तस्य दुर्व्वलस्य शोभनो विशेषः मुलक्षणयोगेन पूर्व्वभावादिशिष्टो भावो न दृश्यते, तदा बहुविधरन्ये रसरदनेनापि तस्य जीवितं दुर्लभम्। यदि च मासेन मांसरसादनेन शोभनो विशेषो दृश्येत तदा स जीवेदिति मला अन्यवैहृविधैः रसेरदनेन चिकित्सेदिति भावः॥ १३॥ मङ्गाधरः—निष्ट्रप्रतञ्चेत्यादि। निष्ट्रप्तं निष्टीवनम्॥ १४॥

भापमाणिमत्याह—मरणमात्मन इति । मिरिष्यामि मिरिष्यामीति भापमाणिमत्यर्थः । श्रीतारम्चे
त्यादिरिष्टानन्तरं 'संशयप्राप्तमात्रेयः' इत्यादि अनियतारिष्टतया आन्नेयस्यात्र मरणं प्रति सन्देह इति
ह्रूते, तत्र, नारिष्टस्य मरणान्यभिचारित्वमाचार्य्येण प्रयत्नेनोक्तम्, न्युत्पादितञ्चासाभिः । किञ्च न च
वीतसंशयस्यान्नेयस्य संशयोऽस्ति । तेन शिष्यन्युत्पत्त्यर्थमाचार्य्यः संशयं दर्शयति, तथा निर्णयं
करोति । यथा ''दृष्ट्वा प्रमेहं मधुरं सिपच्छं मधूपमं स्याद् द्विविधो विधारः'' इत्यादौ संशयं
दर्शयित्वा निर्णयं दिर्शतवान्, तथा अन्नापि दुर्श्वरुसेह रोगमुक्तौ रिष्टं वा स्यात् सर्व्यया
सन्तर्पणाद व्याधिक्षयो वा स्यादिति सन्देहः, अरिष्टपक्षे तु मरणम् । तत्र 'अथ चेत्' इत्यादिना
परीक्षामारभते, परीक्षाञ्च मासादिना विशेषादारुभ्य रिष्टत्वावधारणं भवतीति सुव्यवस्थोऽयं
प्रन्थः । दुर्श्वभित्यप्राप्यम् ॥ ९—१३॥

निष्ठ्यते यस्य दृश्यन्ते वर्णा वहुविधाः पृथक् ।
तद्य सीदेत् पयः प्राप्य न स जावितुमहित ॥ १५ ॥
पित्तमुष्मानुगं यस्य शृङ्घो प्राप्य विशुष्यति ।
स रोगः शृङ्घको नाम त्रिरात्राद्धन्ति मानवम् ॥ १६ ॥
सफेनं रुधिरं यस्य मुहुरास्यत् प्रसिच्यते ।
शृङ्खश्च तुद्यते कुक्तिः प्रत्याख्येयः स तादृशः ॥ १७ ॥
वलसांसच्यस्तीत्रो रोगवृद्धिररोचकः ।
यस्यातुरस्य लच्यन्ते त्रीन् पद्मान् न स जीवित ॥ १८ ॥

तत्र श्लोकः।

विज्ञानानि सनुष्याणां मरणे प्रत्युपस्थिते.। भवन्त्येतानि संपर्येदन्यान्येवंविधानि च॥

गृहाधरः—निष्ट्राते इत्यादि । तच निष्ट्रातं पयो जळं प्राप्य सीदेत् गिळतं स्यात् ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः—पित्तमित्यादिना शङ्कस्यात्रारिष्टाधिकारतात् प्रदर्शनम् ॥१६॥
गङ्गाधरः—सफेनमित्यादि ॥ स्पष्टम् ॥१७॥
गङ्गाधरः—वल्रमांसेत्यादि ॥१८॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थाशिषमाह—विकानानीत्यादि । मनुष्याणामुपस्थितं । मरणं प्रति एतानि विकानानि भवन्ति, एतानि संपर्धत्। एवं विधान्यन्यानि च उपस्थितमरणविकानानि सम्यक् पर्धत्। सन्वीण्येवोपस्थितमरणविकानानि मनुष्याणां भिपक् पर्धदिति भावः।

चक्रपाणिः—निष्ट्रयत इत्यादी बहुविधवर्णयोगः प्रवीरिष्टार्विशेषः। सीद्तीति मज्जति। 'पित्तम्' इत्यादिना सूत्रस्थानोक्तोऽपि शङ्कक इह मरणसूचकतयारिष्टवेनोच्यते। विज्ञानानीति

तानि सर्व्वाणि लच्यन्ते न तु सर्व्वाणि मानवम् । विशन्ति विनशिष्यन्तं तस्माद् वोध्यानि सर्वशः ॥ १६ ॥ इत्यित्रवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने यस्य-श्यावनिमित्तीयमिन्द्रियं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ६ ॥

नतु 'सर्गिण्येवारिष्टिचिहानि, तिहें किं सर्गिनेव पुरुपान् प्रविश्वन्ति इत्यत आह—तानीत्यादि। तानि उपस्थितमरणविश्वानानि सर्गिण्येवैकैकं पुरुपं प्रति लक्ष्यन्ते कानि कानि जातानि इति कृता अवेक्ष्यन्ते, कानि कस्य भवन्तीति नियमाभावात्। न तु सर्गिण मरणलिङ्गानि विनशिष्यन्तं मरिष्यन्तमेकं मानवं विश्वन्ति। तस्मात् प्रतिनियतलिङ्गाभावात् सर्ग्येशः सर्गिण्येवैकैकं मानवं प्रति वोध्यानि भवन्तीत्यर्थः॥ १९॥

अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि ।

इति वैद्यश्रीगङ्गाधरकविरत्नविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ इन्द्रियस्थानजल्पे पश्चमस्कन्धे यस्पञ्यावनिभित्तीयेन्द्रियजल्पाख्या नवमी ज्ञाखा ॥ ९ ॥

लक्षणानि नयनादिवैकृतानि ज्ञेयानि । सन्वीणि लक्ष्यन्त इति नाना पुरुषेषु लक्ष्यन्ते । न तु सन्वीणि मानवं विश्वन्तीति न एकं पुरुषं सन्वीणि विश्वन्तीति ॥ १५—१९ ॥

इति महामहोपाध्यायचरकचतुराननश्रीमचकपाणिदत्तविरचितायामायुर्धेददीपिकायां चरकतात्पर्ययीकायाम् इन्द्रियस्थाने यस्यद्यावनिमित्तीयेन्द्रियं नाम नवमोऽध्यायः॥ ९॥

दश्मोऽध्यायः।

अथातः सद्योमरग्गीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः, इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

सद्यस्तितिच्तः प्राणान् लच्नणानि पृथक् पृथक् । आग्निशेश ! प्रवच्यामि स स्पृष्टो यैने जीवति ॥ २ ॥ वाताष्ठीला सुसंवृत्ता तिष्ठन्ती दारुणा हृदि । तृष्ण्याभिषरीतस्य सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ३ ॥ पिणिडके शिथिलीकृत्य जिह्मीकृत्य च नासिकाम् । वायुः शरीरे विचरन् सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ४ ॥ भ्रुवौ यस्य च्युते स्थानादन्तर्दाहश्च दारुणः । तस्य हिक्काकरो रोगः सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ४ ॥

तस्य हिक्काकर। रागः सचा सुर्वणात जावितस्या प्रा।
गङ्गाधरः—अथ यस्यद्यावनिमित्तीयेन्द्रियानन्तरमतद्वायारिष्टप्रसङ्गात
सद्योमरणीयं सद्योमरणमधिकृत्य कृतिमिन्द्रयं व्याख्यास्याम इति ॥ १॥

गङ्गाधरः—सद्यस्तितिक्षत इत्यादि । प्राणान् सद्यस्तितिक्षतो वर्त्तमान-शरीरेण भोग्यभोगात् सद्यः क्षान्तीक्चन्त्रतः पुरुषस्य पृथक् पृथक् लक्षणानि भवक्ष्यास्यित्रवेश ! स यैर्लक्षणैः स्पृष्टो न जीवति ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—वाताष्ठीलेत्यादि । दारुणा वाताष्ठीला हदि वक्षसि सुमंग्रता सती तिष्ठन्ती तृष्णयाभिपरीतस्य जीवितं सद्यो सुष्णाति चोरयति ॥३॥

गङ्गाधरः—पिण्डिके इत्यादि । पुरुपस्य वायुः पिण्डिके जान्वधोमांस-पिण्डद्वयं शिथिलीकृत्य नासिकाश्च जिस्नीकृत्य क्रिटिलीकृत्य शरीरे विचरन् सद्यो जीवितं मुख्णाति ॥ ४॥

गङ्गाधरः - भ्रुवावित्यादि। यस्य यस्मिन् रोगे भ्रुवौ स्थानात् च्युते अधस्तानीचे भवतः, अन्तर्दोहश्च दारुणो भवति, स च रोगो यदि तस्य हिकाकरः स्यात्, तदा तस्य जीवितं सद्यो मुख्णाति ॥ ५॥

ः चक्रपाणिः—व्यवहितमरणप्रतिपादकमरिष्टमभिधाय प्रत्यासन्नमरणप्रतिपादकरिष्टयुक्तः सद्यो-मरणीयोऽभिधीयते । 'सद्यः'शब्देनेह केचित् सप्तरात्रमिच्छन्ति, अपरे त्रिरात्रम् । तितिक्षत चीणशोणितमांसस्य वायुरूर्षं गतिश्चरम् ।
उसे मन्ये समे यस्य सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ६ ॥
अन्तरेण ग्रदं गच्छन् नाभिश्च सहसानिजः छ ।
ऋशस्य वङ्चणौ ग्रह्णन् सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ७ ॥
वितत्य पर्शं काम्राणि ग्रहीत्वोरश्च मास्तः ।
स्तिमितस्यायताच्स्य सद्यो मुष्णाति जावितम् ॥ ५ ॥
हृदयश्च ग्रदे चोभे ग्रहीत्वा मास्तो वर्जा ।
दुर्च्वतस्य विशेषेण सद्यो मुष्णाति जोवितम् ॥ ६ ॥
वङ्चणौ च ग्रदे चोभे ग्रहीत्वा मास्तो वर्जा ।
श्वासं संजनयन् जन्तोः सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—क्षीणेत्यादि। स्पष्टम् ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—अन्तरेणेत्यादि। कृशस्यानिलो गुदं नाभिश्चान्तरेण गुदनाभी विना गच्छन् वङ्गणौ गृह्णन् जीवितं सद्यो गुष्णाति॥ ७॥

गङ्गाधरः—वितत्येत्यादि । मारुतो नरस्य पशु काग्राणि पाइवस्थिनाम् अग्राणि वितत्य विस्तृतीकृत्य उरो वक्षश्च गृहीला स्तिमितस्य स्तब्धाङ्गस्य आयताक्षस्य स्फारितनेत्रस्य तस्य जीवितं सद्यो मुण्णाति ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—हृदयञ्चेत्यादि। वली मारुतो नरस्य हृदयं वक्षो गुदे चोभे उत्तरगुदञ्चाधरगुदञ्च गृहीला सर्व्वस्यापि जीवितं सद्यो गुरुणाति। दुव्वेलस्य विशेषेणातिशीघं जीवितं गुरुणाति॥ ९॥

गङ्गाधरः-वङ्गणौ चेत्यादि । स्पष्टम् ॥ १०॥

इति तितिक्षत इव, प्राणानां प्रियत्वेन स्वयं हननायोग्यत्वात् । पिण्डिके इति जङ्गा-पिण्डिके ॥ १—६ ॥

चक्रपाणिः—गुदं नाभिज्ञान्तरेणेति गुद्नाभिमध्ये । हृदयं गृहीःवेति हृद्यं स्वविकारेण प्राप्येति ॥ ७—१०॥

^{*} गुदं नाभिज्ञान्तरेण गृह्णाति सहसाऽनिलः इति चकोकः पाटः।

नाभिं वस्तिशिरो सृत्रं पुरीषश्चाित सारतः।
विवध्य क जनयन् शूलं सद्यो सुष्णाित जीवितम् ॥ ११ ॥
भिदेरते वङ्चराौ यस्य वातशूलैः समन्ततः।
भिन्नं पुरीपं तृष्णा च सद्यः प्राराान् जहाित सः॥ १२ ॥
आप्जुतं सारतेनेह शरीरं यस्य केवलम्।
भिन्नं पुरीषं तृष्णा च सद्यः प्राराान् जहाित सः॥ १३ ॥
शरीरं शोफितं यस्य वातशोफेन देहिनः।
भिन्नं पुरीषं तृष्णा च सद्यः प्राराान् जहाित सः॥ १४ ॥
पक्षाश्यसमुत्थाना यस्य स्यात् परिकर्त्तिका।
तृष्णा गुद्यहश्चोग्रः सद्यः प्राराान् जहाित सः॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—नाभिमित्यादि । नरस्य मारुतो नाभि विवध्य वस्तिशिरो विवध्य मूत्रं पुरीपश्चापि विवध्य शुळं जनयन जीवितं सचो मुख्णाति ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—भिद्येते इत्यादि। यस्य नरस्य वातश् छेर्वङ्कणौ समन्ततश्चतु-दिश्च भिद्येते भेदवत् पीड्येते, पुरीपञ्च भिन्नं द्रवीभूतं भवति, तृष्णा च भवति, स नरः प्राणान् सद्यो जहाति ॥ १२॥

गङ्गाधरः -आप्छतमित्यादि । यस्य केवलं कृत्सनं शरीरमिह मारुतेन आप्छतं विग्रणीभावेन व्याप्तं, पुरीपश्च भिन्नं द्रवीभूतं, तृष्णा च वर्त्तते, स प्राणान् सद्यो जहाति ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः-- शरीरमित्यादि । स्पष्टम् ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—पकाशयेत्यादि । परिकत्तिंका कर्त्तनवत् पीड़ा । गुदग्रहो गुदस्य रुक् ॥ १५॥

चक्रपाणिः – वस्तिशीर्पमिति वस्त्यूड्वभागम् । प्रच्छिन्नमिति प्रच्छिन्नमित प्रच्छिन्नमेत प्रच्छिन्नभेते छेदनाकार-वेदनायुक्तत्वात् । आप्छुतमिति व्यासम् । शोफितमिति शोफयुक्तम् । परिकर्त्तिका परि-कर्त्तनाकारा वेदना ॥ ११—१५॥

वस्तिशिरः इत्यत्र वस्तिशीपं तथा विवध्य इत्यत्र प्रच्छिन्नमिति पाठान्तरम् ।

एवंवादिनं भगवन्तमात्रेयमिश्ववेश उवाच, कथिमह भगवन् पञ्चानां गुल्मानां विशेषमिभजानीमहे १ न ह्यविशेष-विद् रोगाणामौषधविद्पि भिषक् प्रशमसमर्थो भवतीति । तमुवाच भगवानात्रे यः । समुत्थानपूर्व्यस्पि ङ्गवेदनोपश्य-विशेषभ्यो विशेषविज्ञानं गुल्मानां भवति, अन्येषाञ्च रोगाणा-मिश्ववेश । तत्र तावद् गुल्मेष्च्यमानं निवोध ॥ ३ ॥

गङ्गाथरः—एविमत्यादि स्पष्टम्। विशेपिति वातजलादिरूपेण ज्ञातत्वं विना पञ्चलिकानं न भवतीति वातजलादिना ज्ञानसिद्धौ तिद्दशेपज्ञानसिद्धैः साध्य-लादिविशेपं कथमभिजानीमहे इति नार्थः। पञ्चानां गुल्मानामिति वचनन्तु पञ्च गुल्मा भवन्तीत्युक्तानुवादे कृतं न तु वातजलादिरूपेण ज्ञातत्वेनोक्त-वातगुल्मलादिविशेपित्यथेः। अविशेपविदिति गुल्मलरूपेणैव यो भिपक् गुल्मवेत्ता न तु वातजलादिविशेपरूपेण गुल्मवेत्ता स वातजादिगुल्म-प्रशमोपथिवदिप वातजादिविशेपगुल्मानां प्रशमनसमर्थो न भवतीति। समुत्थानत्यादि। वेदनोपशयेति वेदनाया यातनाया उपशय इत्यर्थः। अन्येपाञ्च रोगाणामिति ज्वररक्तपित्तादीनाम्। नन्न तस्योपल्लिध-निदानपूर्व्यक्पेत्यादिना रोगाणां विशेपविज्ञानमुक्तमत्र च पुनस्सदुक्तम् इति पौनरुत्तपिति चेन्न, तत्रोपल्लिधिरित्युक्तं, तत्र तस्य सामान्यत उपल्लिधः किं विशेपतः उपल्लिधिरिति संशयेन पुनर्विशेपज्ञानार्धं शिष्य-प्रशस्तस्य भेदकमुत्तरवचनं नातः पुनरुक्तिमिति वोध्यम्। तत्र समुत्थानादिषु तावतसमुत्थानादिविशेपेभ्यः॥ ॥ ॥ ॥

चक्रपाणिः—समुख्यानेत्यादो लिङ्गान्तिनिविष्टा उपद्रवा न पृथगुच्यन्ते ; नेदनारूपद्र लिङ्गं गुल्मिलङ्गान्तर्गतमपि वेदनाप्रधानविकारेषु प्रायो वेदनयैव विशेषावधारणं भवतीति पृथग्दर्शितम् ; सम्प्राप्तेस्त्विहाक्यनं गुल्मिवशेषागमकत्वेनैव वोद्यन्यम्, गुल्मिवशेषविज्ञान्व्येहाधिकृतम् ; संख्यादिभेदिभिन्ना तु सामान्यसम्प्राक्षिः सर्व्यरोगनिदान एवोक्तेति भावः ; वलकालभिन्ना तु सम्प्राप्तिर्यचिष वातिकत्वादिविशोषं गमयत्यिष, तथाष्यव्यत्तत्वात् तथा लिङ्गगृहीतत्वाच सा नादियते । दिवसान्तजरणान्तादिवलसंप्राप्तिर्हे लिङ्गमध्य एव पष्ट्यते तत्र तत्र ; तेन लिङ्गग्रहणेनैव वत्त सुस्थम् । प्राप्रपञ्च यद्यपि पृथग्वातादिगुल्मगमकं साक्षात्र पठितम्, तथापि विशेषिङ्गान्यक्तत्वात्विष्टः प्राप्रप् विशेषिङ्गकथनेनेव उक्तमेव ; तेन वातादिगुल्मविशेषगमकन्वयक्तात्वाद्विष्टः प्राप्रपं विशेषिङ्गकथनेनेव उक्तमेव ; तेन वातादिगुल्मविशेषगमक

पकाश्यमधिष्ठाय हत्वा संज्ञाञ्च मारुतः ।
कण्ठे घुर्घुरकं कृत्वा सद्यो हरति जीवितम् ॥ १६ ॥
दन्ताः कईमदिग्धामा मुखं चूर्णकसंयुतम् ।
सिप्रायन्ते च गात्राणि लिङ्गं सद्यो मरिष्यतः ॥ १७ ॥
तृष्णाश्वासशिरोरोग-मोहदौर्ज्यक् जनैः ।
स्पृष्टः प्राणान् जहात्याशु शक्रद्दमेदेन चातुरः ॥ १८ ॥
तत्र श्लोकः ।
एतानि खलु लिङ्गानि यः सम्यगवबुध्यते ।
स जीवितञ्च मर्त्यानां मरणञ्चापि बुध्यते ॥ १६ ॥
इत्यग्निशेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने सद्योमरणीयमिन्द्रियं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

<u>गङ्गाधरः</u> पकाशयत्यादि । मास्तः पकाशयमधिष्ठाय सज्ञाञ्च हला कण्डे

घुषु रकं शब्दं कुला नरस्य प्राणान् सद्यो हरति ॥ १६ ॥

गङ्<u>षाधरः</u>—दन्ता इत्यादि। सद्यो मरिष्यतः पुरुषस्य लिङ्गं—दन्ताः कदम-दिग्धामा भवन्ति, मुखञ्च चुणकसंयुतं शम्बुकशक्तिकादिभस्मचूणयुक्तमिव भवति, गात्राणि च सिपायन्ते। सिपा नदी, सेवाचरन्ति स्वेदवाहुल्येन रोमाञ्चायन्ते वा इति॥ १७॥

गङ्गाधरः—तृष्णेत्यादि । आतुरो येन केनापि व्याधिना व्याधित-सतृष्णादिभिः स्पृष्टः शकुद्धे देन च स्पृष्टः आशु प्राणान् जहाति ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—तत्र श्लोक इत्यादिनाशीरस्याध्यायस्य ॥ १९ ॥ अध्यायं समापयति—अग्रीत्यादि ।

इति वैद्यश्रीगङ्गाधरकविरत्नविरचिते चरकजलपकलपतरौ इन्द्रियस्थानजलप पञ्चमस्कन्धे सद्योगरणीयेन्द्रियजलपाख्या दशमी शाखा ॥ १०॥

चक्रपाणिः—घुर्षु रक्तमिति घुर्षु रक्तमित्याकारशब्दः, स कफात्मकेन श्वासेन भवति । सुर चूर्णकसिन इत्यात् । सिप्रायन्त इति सिप्रानदीवत् स्वेदप्रादर्भोवादाचरन्तीति सिप्रायन्ते, किंवा सिप्रायन्त इति शिथिलीभवन्ति अनेकार्थत्वाद् धातूनाम् । स जीवितञ्चावबुध्यत इति यथोक्तिरिष्टाभावेन जीवितं बुध्यते । तेन रिष्टसङ्गावेन च मरणं बुध्यत इति ॥ १६—१९ ॥

इति महामहोपाध्यायचरकचतुराननश्रीमचक्रपाणिदत्तविरचितायामायुर्वेददीपिकायां चरक-तारपर्य्यटीकायाम् इन्द्रियस्थाने-सद्योमरणीयेन्द्रियं नाम दशमोऽध्यायः॥ १०॥

एकादशोऽध्यायः।

ज्ञथातोऽणुज्योतीयसिन्द्रियं व्याख्यास्यासः, इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

श्रणुज्योतिरनेकाश्रो दुश्छायो दुर्स्मनाः सदा । रतिं न लभते गन्ता परलोकं समान्तरे ॥ २ ॥ वितं वित्तभुजो यस्य प्रणीतं नोपभुञ्जते । लोकान्तरगतः पिग्डं भुङ्क्ते संवत्सरेण सः ॥ ३ ॥ सप्तर्वीगां समीपस्थां यो न पश्यत्यरुग्धतीम् । संवत्सरान्तरे जन्तुः स पश्यति महत् तमः ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः — अथ सद्योमरणीयेन्द्रियानन्तरं छायाधिकाराखेतोरणुज्योतीयम् अणुज्योतिरिति पदमधिकृत्य कृतमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ॥ १॥

गङ्गाधरः—अणुज्योतिरित्यादि । समान्तरे संवत्सरानन्तरं परलोकं गन्ता गमनशीलः पुरुषः । अणु ज्योतिः सर्व्वशरीरगतं तेजः, अल्पो वा जठराग्निर्यस्य सोऽणुज्योतिः । अनेकाग्नो नानाविधतया व्याकुलचित्तः, न एकाग्र इत्यर्थः । दुश्लायोऽशोभमानच्लविः । दुर्म्भना दुष्टं दुःखितं वा मनो यस्य सः । तेनानेकाग्र इत्यनेन न पौनरुत्तयम् । रतिम् अवस्थितचित्तत्वं न लभते ॥ २ ॥

गङ्गाधरः —वलिमित्यादि। यस्य निमित्तं प्रणीतं कित्पतं विक्तं भोज्यं विलिश्चनः काका नोपश्चलते, स संवत्सरेण लोकान्तरगतः सन् पिण्डं शुङ्क्ते॥३॥

गङ्गाधरः-सप्तपीणामित्यादि। स्वमीर्गे गगनोपरि वसिष्ठादिसप्तपिनाम-

चक्रपाणिः—सञ्ज्ञालनियतं रिष्टमभिधाय कालविशेपनियतारिष्टाभिधायकमणुज्योतीय-मुच्यते । अणुज्योतिश्चेह यथाश्रुतं रोगं वर्ज्जायित्वा संज्ञायामनुक्तियते, ज्योतिः सकलशरीरान्तर्गतं तेजः, अणुज्योतिर्मन्दाग्निः । अनेकाओ व्याकुलचित्तः । दुग्मना इत्यनेन मनोदौर्व्यव्यमित्युच्यते, तेन न पौनरुक्त्यम् । समान्तरमिति समामध्ये ॥ ११२ ॥

चक्रपाणिः—बिलिमिति वायसानां विधिवद्दत्तमन्नम्। महत् तम इति मरणरूपं तमः।

विकृत्या विनिमित्तं यः शोभामुपचयं धनम् । प्राप्तोत्यतो वा विश्रंशं समान्तं तस्य जीवितम् ॥ ५ ॥ भक्तिः शोलं स्मृतिस्त्यागो बुद्धिर्वलमहेतुकम् । षड़े तानि निवर्त्तन्ते षड्भिर्मासैर्मिरिप्यतः ॥ ६ ॥ धमनीनामपूर्व्वाणां जालमत्यर्थशोभनम् । ललाटे दृश्यते यस्य षड्भिर्मासैर्मिरिप्यति ॥ ७ ॥ लेखाभिश्चन्द्रवक्राभिर्ललाटमुपचीयते । यस्य तस्यायुषः षड्भिर्मासैरन्तं समादिशेत् ॥ ८ ॥

नक्षत्रसमीपस्थापरुन्धतीं तन्नापक्षुद्रतमनक्षत्रं यो न पश्यति, स जन्तुः संवत् सरान्तरे महत् तमो थमालयं पश्यति ॥ ४॥

गृहाधरः—विकृत्येत्यादि । विनिमित्तं शोभोपचयधनलाभस्रचकं स्वाभाविकं शरीरसम्बन्धि रेखाचिहादिकं लक्षणं विना विकृत्या विकारेण तत्तच्छोभादिस्चकं चिह्नं यः प्रामोति अतः शोभोपचयधनचिह्नाद् वा विभ्नंशं प्रामोति तस्य समानतं वत्सरानतप्र्यन्तं जीवितम् ॥ ५॥

गङ्गाधरः—भक्तिरित्यादि । पङ्भिर्मासैमरिष्यतः पुरुपस्य भक्तयादि-वलान्तानि पङ्णतानि अहेतुकं निवर्त्तन्ते । इति स्वभावविप्रतिपक्तिः ॥ ६॥

गुङ्गाधरः—धमनीनामित्यादि। यस्य पूर्व्यं यादशीनां धमनीनां जालं वर्तते तद्विपय्ययेण धमनीनां जालमत्यथशोभनं ललाटे दश्यते, स पङ्भि-मासिमंरिष्यति॥७॥

गुङ्गाधरः — लेखाभिरित्यादि । यस्य ललाटं चन्द्रवकाभिद्वितीया-तृतीयाभ्युदितचन्द्र इव वकाभिर्लेखाभिवेद्वीभिरुपचीयते दृध्यते, तस्य नरस्यायुषः अन्तं शेषं पड्भिर्मासैवैद्यः समादिशेत् ॥ ८॥

विकृत्येति प्रसिद्धं धनादिकारणं विना । विनिमित्तमिति शरीरसम्बन्धधनादिस्चकलक्षणं विना कस्मिश्च काले धनादि तदुपचयो वा भवति, तचानिमित्तलक्षणत्वादिरिष्टं प्रथमाध्याय एवोक्तम् । उपचयमिति शरीर एवोपचयम् । अतो विश्रंशमिति शोभाद्यभावम् ॥ ३—५ ॥

चक्रपाणिः—भक्तिरिच्छा । अहेतुकमिति कियाविशेषणम् । संख्येयनिर्देशादेव पट्त्वं प्राप्तं पुमः 'पढ्' इति पदं पण्णां समुदितानामेव निन्धं त्तिरिष्टमिति दर्शयितुम् । जालमिति जालाकारम् । चन्द्रवकाभिरिति वालचन्द्रवकाभिः ॥ ६—८॥ शरीरकम्पः संमोहो गितर्वचनमेव च ।

सत्तस्येवोपलच्यन्ते यस्य सासं न जीवित ॥ ६ ॥

रेतोसूत्रपुरीषाणि यस्य सज्जन्ति चाम्सिस् ।

स सासात् व्यजनद्वेष्टा मृत्युवारिणि सज्जित ॥ १० ॥

हस्तपादं मुखञ्चोभे विशेषाद्व यस्य शुष्यतः ।

शूयेते वा विना देहात् स च सासाद्व विनश्यित ॥ ११ ॥

ललाटे वस्तिशीर्षे वा नीला यस्य प्रकाशते ।

राजी वालेन्दुकृटिला न स जीवितुमर्हति ॥ १२ ॥

प्रवालग्रटिकाभासा यस्य गात्रे मस्रिकाः ।

उत्पद्याशु विलोगन्ते निचरात् स विनश्यित ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः-शरीरेत्यादि । यस्य मत्तस्य मद्करद्रव्यं भक्तवतो मदेन यथा शरीरकम्पसम्मोहगतिवचनानि तथा उपलक्ष्यन्ते, स मासं न जीवति ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—रेत इत्यादि । यद्यपि नवमाध्याये निष्ठ्यतश्च पुरीपञ्चेत्यादिना रिष्टमिद्युक्तम्, तथाष्यत्र खजनद्वेष्ट्रखलक्षणमधिकमिति लक्षणान्तरमिदं न पुनरुक्तम् ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—हस्तपादमित्यादि। यस्य हस्तपादं मुखङ्चेत्युभे विशेषाद् अङ्गान्तरमपेक्ष्यातिशयेन देहात् मध्यदेहाद्विना शुष्यतः देहो न शुष्यतीत्यर्थः, स मासात् परं विनश्यति। यस्य च हस्तपादं मुखञ्चेत्युभे देहाद्विना विशेषात् शुयेते शोफवती भवतः देहस्तु न शुनः स्यात्, स च मासात् परं विनश्यति॥११॥

गङ्गाधरः—ललाटे इत्यादि। यस्य ललाटे वस्तिशीपे वा वालेन्दुकुटिला नीला राजी रेखा प्रकाशते उद्भवति, स जीवितुं नाईति॥ १२॥

गङ्गाधरः—प्रवालेत्यादि । यस्य गात्रे प्रवालगुटिकाभासा मसूरिका लोके इक्षणिः—रेत इत्याचरिष्टम्, 'निष्ट्रतञ्च पुरीपम्' इत्यादिना यद्यप्युक्तम्, तथापीह समासवचनात् समुदितानामेव रेतःप्रश्वतीनां मजनं स्वजनद्वेषे सित मारकं भवतीति इयम्॥ ९१२०॥

चक्रपाणि:— 'उभे' इति वचनं मुखात् हस्तादिशोपिमिति दर्शयति । प्रवालकृतगुड्कावत्

योवामहों न वलवान् जिह्नाश्वयथुरेव च।

त्रधास्यगलपाकश्च यस्य पक्ष्यं तमादिशेत्॥ १४॥

संभ्रमोऽति प्रलापोऽति पर्व्यभेदश्च दारुणः।

कालपाशपरीतस्य त्रयमेतत् प्रवर्तते॥ १५॥

प्रमुद्योल्लुश्चयेत् केशान् परान् यह्णात्यतीव च।

नरः स्वस्थवदाहार-वचनः कालचोदितः॥ १६॥

समीपे चनुषः कृत्वा मृगयेताङ्गुलीकरम्।

समयतेऽपि च कालांश्च ऊर्द्याचोऽनिमिषेच्चणः॥

श्यनादासनादङ्गात् काष्ठात् कुड्यादथापि च।

श्रमनमृगयते किश्चित् स मुद्यन् कालचोदितः॥ १७॥

वसन्तनामिका व्याधिः उत्पद्माशु विलीयन्ते लयमापद्यन्ते, स निचरात् शीघ्रं विनश्यति ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—ग्रीवेत्यादि । यस्य ग्रीवामही ग्रीवाग्रहः । न वर्छ वास्ति जिह्याक्वयथुथ आस्यगलपाकथ तं बुद्धा पक्वं आयुपोऽन्तत्वेन परिणतम् आदिशेत् ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—सम्भ्रम इत्यादि । सम्भ्रमोऽतिशयेन भ्रान्तिः । त्रयमेतन्मिलितं कालपाशपरीतस्य (कालपकशरीरस्य) आयुपः परिशेपाभाववतो नरस्य प्रवर्तते ॥ १५॥

गृङ्गाधरः—ममुहेप्रत्यादि । कालचोदित आयुपः कालपरिणामेन चोदितः मेरितो नरः प्रमुख मुग्गो भूला केशान स्वकरेणोल्छञ्चेत् उत्पाटयेत् एवं मुग्धो भूला अतीव च परान् मृह्णाति तथा यथा प्रायेण कष्टात् मुच्यन्ते । किन्तु स्वस्थवदाहारवचनश्च भवति ॥ १६ ॥

गङ्गाथरः—समीप इत्यादिश्लोकद्वयम्। यो नरो मुहान् मोहं प्राप्तः सन् अज्ञान इव सन् स्वचक्षुपः समीपे कुला अङ्गुलीकरं मृगयते किमिप यत् तत्र आभासन्त इति प्रवालगुड्किमासाः। कालपाशपरीतस्येति शीवं मरिष्यतः। परिमृह्णाति स्वस्थवदाहारमिति योजना, अवलः सन् स्वस्थवदाहारमत्यर्थं करोतीत्यर्थः॥ ११—१६॥

चक्रपाणिः—समीप इत्यादि । चक्षुःसमीपेऽज्जुलीकरं कृत्वा तत् पश्यन् अङ्गुलिकरञ्च मृगयते

अहास्यहासी संमुह्यन् यो लेढि दशनच्छदौ । शीतपादकरोच्छ्वासो यो नरो न स जीवति ॥ १८॥ आह्वयंस्तं समीपस्थं खजनं जनमेव वा । महासोहावृतसनाः पर्यक्रिष न पर्यति ॥ १६॥ अयोगमितयोगं वा शरीरे मितिमान् भिषक् । खादीनां युगपद् दृष्ट्या भेषजं नावचारयेत् ॥ २०॥

नास्ति। ऊर्ज्याक्षश्च सन् अनिमिषेक्षणः अनिमिषेण दृष्टिशीलश्च सन् कालान् दिवारात्रिरूपान स्मयते विस्मयीभवति। असच वस्तु किश्चित् यत् तत्र तत्र नास्ति तत् तत्र तत्रासीदिनि मला मोहेन शयनात् शय्यायाम् आसनादासने तथाङ्गात् स्वकीयाङ्गे काष्टान् कृड्यात् काष्टकुड्यादिषु च मृगयते अन्वेषणं कुरुते, स कालचोदितो मरणकालमेरिनभावयान् ॥ १७॥

गङ्गाधरः—अहास्येत्यादि। यो नरो संमुह्मन् मदमुग्ध इव सन् अहास्यहासी हास्यविषयासत्त्वे हासशीलः, दशनच्छदावोष्टो लेहि, यथ शीतपादकरो-च्छ्वासथ, स न जीवित॥ १८॥

गृङ्गाधरः—आह्वयंस्तिमित्यादि। यो नरः समीपस्थं खजनं खजनभिननं जनमेन वा आह्वयंस्तं खजनं जनं वा महामोहाष्ट्रतमनाः सम् पश्यन्तिप न पश्यति परिचयशीलो न भवति, स न जीनतीति पूर्विणान्वयः॥ १९॥

गृङ्गाधरः—अयोगिमत्यादि । खादीनामाकाशादीनां शब्दादिमतां विषयाणां सद्धावेऽपि श्रोत्रादिभिरयोगो यदा तदैव श्रोत्रस्पर्शनेन्द्रियादिभिरतियोग इति युगपदाकाशादीनां स्पर्शेन्द्रियाद्ययोगातियोगो शरीरे दृष्ट्वा मितमान् भिपक् भेषज न कारयेत्॥ २०॥

प्रार्थयते । सायतं विस्तितो भवति । ऊर्जुगम् अनिमिपञ्च ईक्षणं यस्य स तथा सन् मृगयते । अविद्यमानं शयनासनादि सृगयते प्रार्थयते ॥ ১৬॥

च्छपाणिः—अह। स्वहासी इति अहास्यिषपये हास्यवान् । दशनच्छद्दी भोष्टी । 'शीत'-शब्दः उच्छ्वासान्तैः, संवध्यते । जनमिति गोवलीवर्द्ग्यायेनास्वजनम् । सादीनामिति सादि-कारमीणां श्रोत्रादीनां योग्यविपयाप्रहणमयोगः ॥ १८—२०॥ अतिप्रवृद्ध्या दोपाणां मनसश्च वलच्यात् । वासमुत्स्ट्रजित चिप्रं शरीरी देहसंज्ञकम् ॥ २१ ॥ वर्णस्वराविप्तवलं वागिन्द्रियमनोवलम् । हीयतेऽसुच्चये निद्धा नित्या भवति वा न वा ॥ २२ ॥ भिषग्भेषजपानान्नगुरुमित्रिद्धपश्च ये । वश्गाः सर्व्व एवेते वोद्धव्याः समवर्त्तनः ॥ एतेषु रोगः क्रमते भेषजं प्रतिहन्यते । नेषामन्नानि भुक्षीत न चोदकमि स्पृशेत् ॥ २३ ॥

गङ्गाथरः—अतीत्यादि । शरीरी आत्मा दोपाणामतिषद्ध्या मनसो वळक्षयाच देहसंबकं वासं वसतिस्थानं क्षिपग्रुत्स्जिति ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—तत्रापि कारणान्तरमाह—वर्णत्यादि । वर्णश्च स्वरश्चाग्निवलश्च वाचामिन्द्रियाणां मनसश्च वलञ्चेति सर्व्व नृणामसुक्षये हीयते । निद्रा च नित्या अविरता वा भवति नैव वा भवति ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः—भिपगित्यादि । ये भिपगादिकानामेकद्वरादीनां द्वेष्टार एते सन्त्रे एव नराः समवर्त्तिनो यमस्य वश्वगा वोद्धन्याः । भिपगादिद्वेपिणां दोपम् आह—एतेप्वित्यादि । एतेषु भिपगादिद्वेपिषु रोगः क्रमते आक्रमते वर्द्धते इत्यर्थः । सम्यक्कृतमिप भेपनं प्रतिहन्यते भेपनेन रोगो न हन्यते, रोगेण

चक्रपाणिः—वासमिव वासं शरीरमात्मनो गृहमिव भवति । न वा भवतीति सर्व्वथा न भवतीत्यर्थः ॥ २१।२२ ॥

चक्रपाणिः—समवर्त्तन इति यमस्य । अन्ये तु 'समवर्त्तन्'शब्देन कालमृत्युं ब्रुवते । 'च'-शब्देनोक्तवक्ष्यमाणसकलारिष्टम्रहणं कुर्वन्ति । तेन सर्वमेव रिप्टं कालमृत्योः परं भवतीति रिप्टं वर्णयन्ति । अत्र द्वंपमनु रोगक्रमणम्, निष्फलो भेपजप्रयोगश्चापि स्वादित्याह— पादाः समेताश्चलारः सम्प्रद्धाः साधकेर्पुणैः । व्यर्था गतायुपो द्रव्याद्विना नारित ग्रणोदयः ॥ २४ ॥ परीच्यमायुर्भिपना नीरुजस्यातुरस्य च । आयुर्वेदफलं इत्स्नमायुर्देखनुवर्तते ॥ २५ ॥

पुनमेंपजं हन्यते। एपां भिषगादिद्देषिणामन्नानि साघुर्न भुझीत न चोदक-पिष स्पृशेत् पानस्य का कथा। भिषगादिद्देषिणां मृतप्रायत्वेनान्नजलयो-रथुद्धलात्। नन्वेवं चेत् सर्व्वपामेव जातारिष्टानामन्नजलग्रहणं न प्रसञ्येतेति चेन्न. तथाविथत्वेन जातत्वे मृतप्रायत्वेऽपि भिषगादिद्देषिणामित-पापात्॥ २३॥

गङ्गाधरः—नमु जातारिष्टानां गुणवचतुष्पादेऽपि सति किं नारोग्यं स्यादित्यत आह—पादा इत्यादि। साधकैः फलसाधकतमैभिपगादीनां श्रुतपर्यंवदातलादिभिग्रं णैः सम्पन्नाश्चलारः पादाः भिपग्द्रन्योपस्थात्ररोगिणः समेता मिलिता अपि गतायुपो नरस्य न्यर्था निष्फलाः आरोग्यफलस्य न साधकाः। कस्मादित्यत आह—द्रन्यादित्यादि। यस्माद्द्रन्यात् जीवनहेतोः आयुपो विना गुणोदयिक्षिकित्साफलस्यारोग्यस्योदयो नास्ति॥ २४॥

गङ्गाधरः—परीक्ष्यमित्यादि । नीरुजस्य स्वस्थस्य आतुरस्य चायुर्भिपजा परीक्ष्यं परीक्षितन्यम् । कृत्स्त्रमायुर्न्वेदफलमायुर्देही यस्मादसुवर्तते ॥ २५॥

एतेष्वित्यादि । भेपजं प्रतिहन्यत इति सम्यक् कृतमिष भेपजं हन्यत इत्यर्थः । नेपामन्नानि भुक्षीत इति प्रायेण तदनस्यारिष्टत्वात् । एवमुदकप्रतिषेधेऽपि वोध्यम् ॥ २३ ॥

चक्रपाणिः—पादा भेपजादयः। साधकेर्गुणिरिति शुते पर्य्यवदातत्वमित्यादिभिः पोद्दागुणैः सम्पन्नाः। कत्साद् वैद्यादयो गतायुपो रोगान् न साधयन्तीत्याह—द्रव्यं विना नास्ति गुणोदय इति, द्रव्यं कारणं विना आरोग्यलक्षणो गुणोदयो नास्ति, कारणम्बेहारोग्योत्पत्तो अगतायुद्गम्, तच्च नास्तीति भावः। भायुर्जानफलं विद्यमानायुपि भेपजदानात्॥ २४।२५॥ तत्र श्लोकः ।

क्रियावथमितकान्ताः केवलं देहमाव्लुताः । दोपा यत् कुर्व्वते चिह्नं तद्रिष्टं निरुच्यते ॥ २६ ॥ इत्यित्रवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने अग्णु-ज्योतीयेन्द्रियं नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—नन्दरिष्टं किं ताविद्त्यत आह—तत्र श्लोक इति । क्रियापथ-पित्यादि । दोपा वाताद्यः क्रियापथं चिकित्साक्रियायाः पन्थानम् आरोग्य-लक्षणफलोदयजननव्यापारोपायमतिक्रान्ता उल्लङ्घ्य केवलं कृत्सनं देहम् आप्लता आष्ट्राव्य यचिह्नं कुर्वते, तचिह्नमरिष्टं निरुच्यते । तदेव नियत-मरणाख्यापकं लिङ्गमिति वोध्यम् ॥ २६ ॥

अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि ।

इति वैद्यश्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ इन्द्रियस्थानजल्पे पश्चमस्कन्धेऽणुज्योतीयेन्द्रिय-जल्पाखेप्रकादशी शाखा ॥ ११ ॥

च्रापिणः—रिष्टलक्षणमाह् —िक्रयापथमितकान्ता इत्यादि । आप्नुता इति गताः । दृतादिगतरिष्टलक्षणमेतन भवति, किन्तु शरीरिष्टलक्षणम् । तेन व्यामिलेक्षणस्य वाच्या । सव्वरिष्टव्यापकन्तु लक्षणम्, यथा—अन्तर्गतस्य लिङ्गमिति, तच 'इन्द्रिय'पदेनैवोक्तमिति । प्रथमाध्याय एव 'इन्द्रिय'पदव्याख्या प्रोक्ता । ननु निर्निमक्तं रिष्टमित्युक्तम्, इह दोपजन्यत्वं रिष्टानामुच्यत इति न कणं विरोधः ? निर्निमक्तत्वं द्यनुपलभ्यमाननिमिक्तता, तस्मान्न विरोधः ॥ २६ ॥

हृति महामहोपाध्यायचरकचतुराननश्रीमचक्रपाणिदत्तविरचितायामायुर्वेददीपिकायां चरकतात्पर्य्यटीकायाम् इन्द्रियस्थाने अणुज्योतीयेन्द्रियं नामैकादशोऽध्यायः॥ ११॥

द्वादशोऽध्यायः।

अथातो गोसयचूर्णीयिमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः, इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥ यस्य गोसयचूर्णाभं चूर्णं सूर्ष्ट्रीन जायते । सस्तेहे ७ भ्रार्यते चव सासान्तं तस्य जीवितम् ॥ २ ॥ निर्वर्षन्निव यः पाद्ये च्युतांसः परिधावति । विकृत्या न स लोकेऽस्मिश्चिरं वस्ति मानवः ॥ ३ ॥ यस्य स्नातानुलितस्य पूर्व्यं शुष्यत्युरो भृशम् । आद्रेषु सर्व्वगात्रेषु सोऽर्ष्ट्रमासं न जीवित ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—अथाणुज्योतीयेन्द्रियानन्तरं छायाधिकारात् पारिशेष्याच गोमय-चूर्णीयं गोमयचूर्णाभिति पदार्थमधिकृत्य कृतिमिन्द्रियं न्याख्यास्याम इत्यर्थः ॥ १॥

गङ्गाधरः—यस्येत्यादि। यस्य नरस्य मूर्द्धनि गोमयचूर्णाभं चूर्णं वर्णाकृतिभ्यां जायते सस्नेहे च तस्मिन् मूर्द्धनि तैलादिना सस्नेहे कृते च सित तद्गोमयचूर्णाभचूर्णं भ्रह्यते लीयते एव, तस्य मासान्तं जीवितम्। सुश्रते-ऽप्युक्तं "गोमयचूर्णप्रकाशस्य वा रजसो दर्शनमुत्तमाङ्गे विलयनश्च" इति ॥ २॥

गङ्गाधरः—निर्धपेन्निवेत्यादि। विकृत्या विकारवशात् न तु प्रकृत्या तेनाकस्माद् यः पादौ निर्धानिव च्युतांसः सन्धिवन्धनान्युक्तभुजोद्धृ देश इव च सन् परिधावति, स मानवस्त्रस्मिन् छोके चिरं न वसति। प्रकृत्या चेदेवम्, न तदाऽचिरान्ध्रियते इत्यर्थः ॥ ३॥

गङ्गाधरः—यस्येत्यादि । स्नातः सन्ननुलिप्तोऽगुरुचन्दनादिना यस्तस्य यदि सन्देगात्रेषु आद्रेषु सत्सु पूर्वम् अङ्गान्तरस्थानुलेपनं न विशुष्य उरो वक्षःस्थल-मेव भृजं शुष्यति, सोऽद्धमासं न जीवति ॥ ४॥

चक्रपाणिः—पारिशेष्याद् गोमयचूर्णियमुच्यते । चूर्णमित्यस्य विशेषणं सस्नेहिमिति । निकपन्निचेति चर्पन्निव । विकृत्येत्यनेन पादाद्यवचर्पणादि निपेधयति । 'पृद्वंमुरः शुप्यति' इत्यभिधानादेव शेपगात्रार्द्रतायां लब्धायां पुनः 'आर्द्रेषु सर्व्यगात्रेषु' इति वचनात् विशेषेण अपरगात्राणामार्द्रतां दर्शयति ॥ १—४ ॥

^{*} सस्तेहे इत्यत्र सस्तेहं तथा निर्धपंत्रिवेत्यत्र निकपित्रव इति चक्रधतः पाठः।

यदा पुरुषो वातलो क ज्वरवसनविरेचनातिसारान्य-तमकर्षणेन कर्षितो वातलमाहारमाहरेच्छीतं वा, विशेषेणाति-मात्रस्नेहपूट्वं † वा वसनविरेचने पिवत्यनुदीर्णां वा च्छहि-मुदीरयत्युदीर्णान् वातसूत्रपुरीषवेगान् रुणिद्ध, अत्यशितो वा पिवति नवोदकमतिमात्रम्, अतिसंचोभिणा वा यानेन याति, अतिव्यवायव्यायामसद्यशोकरुचिर्वाभिघातम् च्छति वा, विष-माश्नश्यनासनस्थानचंक्रमण्सेवी वा भवति, अन्यहा किञ्चिदेवंविधमतिमात्रं व्यायामजातसारभते, तस्यापचाराद

गङ्गाधरः—तत्रादौ वातजगुल्मसमुत्थानमाह—यदेत्यादि। वातल इति गर्भारम्भप्रभृति वातवहुलः। कर्पणेनाक्रमणेन कर्पित आक्रान्तः। वातलं वातदमाहारं शीतं वेति शीतमाहारं वेत्यर्थः। विशेषेणेतिपदेन ज्वरादिकपंणानां तैश्र कपितस्य वातलाहारस्य सर्वगुरुमकारणलम् अतिमात्रस्नेहपूर्व्वकवमनः विरेचनादीनां वातगुलमकारणत्ं ख्यापितम् । पिवतीति वाहुल्येन पानोपदेशः तेन भक्षणाञ्चनलेहा अपि वोध्याः। वमनविरेचने औपधे। अनुदीर्णामनुप-स्थिताम्। उदीरयति पवर्त्तयति वमनचेष्टां करोतीति। उदीर्णान् प्रष्टतान् निरुणद्धि निमृह्णाति । अत्यशित इति कत्तरि कः, कृतः कत्तरीत्यक्तरेन्यत्रापि प्रयोगतः कृतो भवन्तीति। अति अशितं येन स इति वा। नवोदकमितमात्र-मित्यन्तइछेदः। नवोदकं पाष्ट्रकालिकजलम्। अतिमात्रं संक्षोभिणेति अतिशयशरीरप्रचालकेन । अतिव्यवायादिरुचिरतिव्यवायादिकमाचरितवान्। अभिघातं दण्डाद्याघातमृछति प्राप्नोति वा । अन्यद्वेति उक्तव्यायामातिरिक्तं व्यायामजातं व्यायामसमूहं वलवदादिभिः सह विग्रहादिकम् । एवं विधमिति उक्तरूपम्। तस्योत उक्तस्य ज्वरादिकर्षितादेः पुरुषस्य अपचारादित्यक्त-निदानादिमध्ये पूर्व्वरूपपाठो न्याय्य प्वेति ; किंवा पूर्व्वरूपविशोपोऽप्यत्र रक्तपित्तादिरोगापेक्षया सामान्योक्तोऽपि विशेषो ज्ञेयः ॥ ३ ॥

चक्रपाणिः—वातलो विशेषेणेतिवचनात् पित्तलादेरपि यथोक्तमाचरतो वातगुल्मो भवति, वातलस्य त्वत्यर्थमिति दर्शयति । शीतं वा विशेषेणेति अत्यर्थशीतमित्यर्थः । अतिमात्रमिति च्छेदः ; अतिन्यवायन्यायामादिरुचिर्भवतीति शेपः ; व्यवायादिरुच्या व्यवायाचाचरणं

इतः परं "विशेषेण" इत्यधिकं पठ्यते चक्रेण । † अतिमात्रमस्नेहपूर्वे इति चक्रसग्मतः पाठः ।

समुद्दिश्यातुरं वद्यः सम्पाद्यितुमोपधम् ।
 यतमानो न श्कोति दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ ५ ॥
 विज्ञातं वहुशः सिद्धं विधिवचावचारितम् ।
 सिध्यत्योपधं यस्य नास्ति तस्य चिकित्सितम् ॥ ६ ॥
 श्राहारमपि भुञ्जानो भिपजा सूपकिल्पतम् ।
 यः फलं तस्य नाम्नोति दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ ७ ॥
 दूताधिकारे वद्यन्ते लच्गानि मुमूर्पताम् ।
 यानि दृष्णं भिषक् प्राज्ञः प्रत्याख्यायादसंश्यम् ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः —समुद्दिश्येत्यादि । वैद्य आतुरं समुद्दिश्य यदातुरार्थम् औषध् सम्पाद्यितुं पस्तुतं कर्जुं यतगानोऽपि अत्यर्थमयत्रवानपि पस्तुतं कर्जुं केनाप्यभावेन न शक्नोति, तस्य जीवितं दुर्लभम् । कश्चिज्जीवित वहुकप्टेनेति भावः ॥ ५ ॥

गङ्गायरः - विकातिमत्यादि । वैद्योन वहुशो वहुशा विकातं सिद्धं दृष्ट-फलत्वेन यदीयशं वहुशा विकातं तदेवीयशं यस्यातुरस्य विधिवचावचारितं सेवितं कृतं किन्तु तदीपशं फलदत्वेन न सिध्यति चेत् तदा तस्य चिकित्सितं नास्ति, सं मरिष्यतीत्यथं ॥ ६ ॥

गृहाधरः-आहारिमत्यादि । यः पुरुषो भिषजा स्पक्ष त्यास्त्रविधिना युत्तया शोभनप्रपक्ष त्याद्विधिना युत्तया शोभनप्रपक्ष त्याद्विधिना स्थाना स्याना स्थाना स्याना स्थाना
गुङ्गाधरः - दृताधिकारे इत्यादि । पत्याख्यायादातुरमिति शेपः । सुश्रुते-ऽप्युक्तम् -- दृतदर्शनसम्भापावेशश्चेष्ठितमेव च । ऋक्षं वेलातिथिश्चेव निमित्तं शक्तनोऽनिलः । देशो वैद्यस्य वाग्देह-मनसाश्च विचेष्टितम् । कथयन्त्यातुरगतं शुभं वा यदि वाशुभम्।।। इति ॥ ८ ॥

चक्रपाणिः—यमुद्दिश्येति यस्यार्थे। सिद्धमित्यनेन रूपेण बहुशो ज्ञातम्। आहारम् इत्याद्यरिष्टं रोगविषयम्। तेन 'इष्ट्रञ्च गुणसम्पन्नम्' इत्यादिग्रन्थोक्तेन स्वस्वविषयेणारिष्टेन समं न पोनरुक्तरम्॥ ५—८॥

च सुहिर्य इति चक्रवर्णितः पाठः ।

मुक्तकेशेऽथवा नम्ने रुद्ध्यप्रयतेऽथवा।
भिषगभ्यागतं दृष्ट्वा दूतं मरणमादिशेत्॥
सुप्तै भिषजि ये दूताश्छिन्द्खिप च भिन्द्ति।
आगच्छिन्ति भिषक् तेषां न भक्तीरमनुवजेत्॥ ६॥
जुह्दस्यिमथो पिग्डान् पितृभ्यो निर्विपखिष।
वैद्यो दूता य आयान्ति ७ व्यन्ति प्रतिजिघांसवः॥ १०॥

गङ्गाधरः - मुक्तकेशे इत्यादि। भिषक् स्वस्मिन् मुक्तकेशे सित अथवा नग्ने. विवस्त्रे सित किंवा स्दित सित अथ वाष्यप्रयतेऽश्वचो सित। मरणाद्य-शौचन्तु नाप्रयतं, तदात्वे हि तदेव प्रयतम्। इत्यतो विद्स्पर्शाद्यपवित्रे. सित यस्यातुरस्य चिकित्सामुद्दिश्य स्वस्याद्वानार्थं स्वमिनछक्ष्य आगतं दृतं दृष्ट्वा तस्यातुरस्य मरणमादिशेत्। स्वप्त इत्यादि। भिषि स्वस्मिन् स्वप्ते निद्रिते सित अथवा किमिष चिछन्दित सित किंवा किमिष भिन्दित सित ये दृता यस्यातुरस्य चिकित्सार्थं स्वमाह्वियतुमागच्छन्ति तस्य भत्तारं तमातुरं चिकित्सित् भिषङ् नानुत्रजेत्॥ ९॥

गङ्गाधरः जुहतीत्यादि । वैद्ये जुहित अग्निं पञ्चालयित अग्निं पञ्चालय होमं वा कुर्वित तण्डुलादिकं पचित वा सित, पिण्डान् पितृभ्यो निर्विपति वा सित ये दृता वैद्यमाहियितुमायान्ति ते प्रतिजिद्यांसवो दस्यव इव तमातुरं प्रनित । सुश्रुतेऽप्युक्तम् —दिक्षणाभिमुखं देशन्त्वशुचौ वा हुताशनम् । ज्वालयन्तं पचन्तं वा क्रूरकर्म्मणि चोद्यतम् । नग्नं भूमौ शयानं वा वेगोत्सगेंषु वाऽशुचिम् । प्रकीणकेशमभ्यक्तं स्विन्नं विक्रवमेव च । वैद्रंग य उपसपेन्ति दृतास्ते चापि गिहिताः । वैद्यस्य पैत्रे दैवे वा काय्ये चोत्पातदर्शने ॥ इति ॥ १०॥

चक्रपाणिः—अप्रयत इति अपवित्रे । सुप्त इत्यादि । न भक्तीरमिति न दूतप्रेपकमानुस्म इत्यर्थः । न प्रजिघांसवश्च भवन्ति, न च शक्त्या दृता व्यन्ति, अथो प्रजिघांसवो व्यन्तिति चोक्तम् । दूताश्च यद्यपि रोगिहितमिच्छन्ति, तथापि यथानुरस्य विनाशो भवति तथा दैवप्रेरिताः सन्तः आगच्छन्तो दृताः प्रजिघांसव इव तथा व्यन्तीवेति कृत्वा प्रजिघांसवो व्यन्तीत्युच्यते । तेन 'इव'-शब्दो छुसनिर्दिष्टो द्रष्टन्यः ॥ ९।१०॥

ते व्रन्ति ग्रजिघांसवः इति चकः।

कथयत्यप्रश्स्तानि चिन्तयत्यथवा पुनः । वैदेग दूता मनुष्याणामागच्छन्ति सुमूर्पताम् ॥ ११ ॥ मृतद्भिवनष्टानि भजति व्याह्रस्यिष । अप्रश्स्तानि चान्यानि वैद्यो दूता सुमूर्पताम् ॥ १२ ॥ विकारसामान्यग्रणे देशे कालेऽथवा भिषक् । दूतमभ्यागतं दृष्ट्या नातुरं समुपाचरेत् ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—कथयतीत्यादि। वैदेप्रें प्रश्नस्तानि कथयति सति, अथवा वैदेप्रें प्रश्नसत्तानि चिन्तयति सति, अथवा वैदेप्र मृतं वा दग्धं वा विनष्टं वा भनति सति, किंवा वैदेप्रें प्रश्निम चापगस्तानि च्याहरति वद्ति च्यवहरति वा सति, मुमूषेतां रोगिणां दृता आगच्छन्तीत्यथः॥ ११। १२॥

गङ्गाधरः — विकारसामान्येत्यादि । विकाराणां वायव्याग्नेयसोम्यानां सामान्यगुणो यत्र तस्मिन् देशेऽथवा विकारसामान्यगुणे कालेऽभ्यागतं दृतं दृष्ट्वा भिषणातुरं न समुपाचरेत् । तथा च वातरोगिणो दृतो यदि वेयगाहियनुं वैद्यस्य प्रायण नित्याविध्यतिदेशं कालश्च विना वातन्नहदेशस्थे वैद्ये ऽपराह्ने वा वा शेपरात्रौ वा वातकाले गच्छति, तदा तं दृतं दृष्ट्वा तद्वातरोगिणं भिषङ् न समुपाचरेत् । एवं यदि पित्तरोगिणो वा ककरोगिणो दृत आगच्छिति, तदा शुभम् । अथ पित्तरोगिणो दृतो यदि उल्णाभितव्ते देशे स्थिते वैद्ये उल्णाभिन्व्यासक्तदेहं वा मध्याह्ने मध्यरात्रे वाप्यायाति, तदा तं रोगिणं नोपाचरेत् । वातकफरोगिणञ्चेत् तदा शुभम् । अथ कफरोगिणो दृतो यदि जलाद्याद्र देशे स्थिते वैद्ये पूर्व्याह्ने पूर्व्वरात्रे वा रात्रिमात्रे वाप्यायाति, तदा तं कफरोगिणं नोपाचरेत् । वातिपत्तरोगिणञ्चेन् तदा शुभिति भावः । सुश्रुतेऽप्युक्तम्—मध्याह्ने चार्छरात्रे वा सन्ध्ययोः कृत्तिकासु च । आर्द्राञ्चेपपघामूल-पूर्व्वासु भरणीपु च । चतुर्थ्यां वा नवम्यां वा पष्टां सन्धिदनेषु च । वैद्यं य उपसर्पन्ति दृतास्ते चापि गहिताः । स्विताः पत्तिरात्रा मध्याह्ने ज्वलनस्य समीपतः । गहिताः पित्तरोगेषु दृता

चक्रपाणिः—चिन्तयत्यप्रशस्तानीति सम्बन्धः। व्याहरत्यपि वैदेत्र मृतदग्धविनप्टानीति योजना । विकारसामान्यगुणो देशो यथा—रक्तिपत्ते व्वलनसन्निहितो देशः । विकारसामान्यगुणः कालो यथा—रक्तिपत्ते मध्याह्न हत्यादि ज्ञेयम् ॥ ११—१३ ॥ दोनभीतद्रु तत्रस्त-मिलनानसतीं स्त्रियम् । त्रीन् ट्याकृतींश्च पगडांश्च छ दूतान् विद्यान्मुमूर्पताम् ॥१४॥ त्रङ्गट्यसनिनं दूतं लिङ्गिनं ट्याधितं तथा । ' संप्रे च्य चोयकम्मीगां न वद्यो गन्तुमहिति ॥ १५॥ त्रातुरार्थमनुप्रान्तं खरोष्ट्रस्थदाहनम् । दूतं दृष्ट्या भिष्मृत्रृ यादातुरस्य पराभवम् ॥ १६॥ प्लालवुषमांसास्थि-केशलोमनखद्विज्ञान् । मार्जनीसूर्पमुष्लान्युषानद्वय्वति ।

तृ गाकाष्ठतुपाङ्गारं स् ग्रान्तो लोव्यमर्म च ॥ १७ ॥

वैद्यप्रपागताः।त एव कफरोगेषु कम्मेंसिद्धिकराः स्मृताः। एतेन शेपं व्याख्यातं बुद्धाः संविभजेत् तु तत्। रक्तपित्तातिसारेषु प्रमेहेषु तथैव च । प्रशस्तो जलरोधेषु दृतवैद्यसमागमः। विद्यायैव विभागन्तु शेपं बुध्येत पण्डितः ॥ इति ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—दीनेत्यादि। दीनान् वा भीतान् वा दुतान् वा त्रस्तान् वा मिल-नान् वा द्तान् मुम्पतामातुराणां विद्यात्। असतीं स्त्रियं दृतीं मुम्पतां विद्यात्। त्रीन् जनान् दृतान् मुम्पतां विद्यात्। व्याकृतीन् विकृताकारान् दृतान् मुम्पतां विद्यात्। पण्डान् नषु सकान् दृतान् मुम्पतां विद्यादित्यर्थः। सुश्रुतेऽप्यक्तम्— पापण्डाश्रमवर्णानां स्वपक्षाः कम्मेसिद्धये। त एव विपरीताः स्युद्देताः कम्मे-विपत्तये। नषु सकं स्ती-वहवे। नैककाय्यां अस्पकाः। गर्द्धभोप्ट्रथमाप्ताः प्राप्ता वा स्युः परम्पराः। वैदंत्र य उपसपिन्त दृतास्ते चापि गर्द्धिताः॥ इति॥ १४॥

गङ्गाधरः—अङ्गठपसनिनिमत्यादि। अङ्गेन व्यसनिनं छिन्ननासादिकं दृतं लिङ्गिनं पापण्डधम्मीश्रमं सन्त्यासिममृतिकचिद्वयुक्तं तथा व्याधितं वा दृतं तथा उप्रक्रम्भीणम् उप्रक्षम्भे कुव्यनायाति यस्तं दृतं संप्रक्ष्य वैद्यो गन्तुं नाहिति॥ १५॥

गङ्गाधरः—आतुरेत्यादि । खरोष्ट्ररथवाहनमातुरार्थं वैद्यमनुमाप्तं दृतं दृष्टा

आतुरस्य पराभवं रोगाट् ब्रूयाट् भिपक् ॥ १६ ॥

गङ्काथरः—पलालेत्यादि । पलालं धान्योज्झिततृणविज्ञेषः पोयाल इति चक्कपाणिः—ज्ञीनिति त्रिसंख्या एव दूता अप्रशस्ताः । पण्डा नपुंसकाः । अङ्गव्यसनी

^{*} पण्डांश्च इति चक्रपाणिष्टतः पाठः ।

तत्पूर्वदर्शने दूता व्याहरन्ति मुसूर्षताम् । यस्मिश्च दूते ब्रुवित वाश्यमातुरसंश्रयम् । पश्यन् निमित्तमशुभं तश्च नानुबजेद्धिपक् ॥ १८॥ तथा व्यसनिनं प्रतं प्रतालङ्कारमेव वा । स्टिन्नं दर्भं विनष्टं वा तहादीनि वचांसि वा ॥

लोके । युरं तण्डुलहीनधान्यम् । द्विना दन्ताः । मार्ष्कनी गृहसमगार्जनी । सूर्व कुला इति लोके । मुपलं प्रसिद्धम् । उपानचम्प्रपादुका तस्या भन्नविच्युते चम्मेणी तृणादीनि लोप्ट्राश्मनी च स्पृशन्तं दृतं दृष्ट्रा भिषग् ब्र्यादातुरस्य परा-वून्वणान्वयः। सुश्र्तेऽप्युक्तम्-पाज्ञदण्डायुध्धसः पाण्डरेतर-आर्द्रजीर्णोपसम्यैक-मलिनध्वस्तवाससः। न्यनाधिकाङ्गा उद्दिशा विकृता रौद्ररूपिणः। रुक्षनिष्टुरवादाश्चाष्यमाङ्गल्याभिधायिनः। छिन्दन्त-स्तृणकाष्टानि स्पृशन्तो नासिकां वस्त्रान्तानामिकाकेश-स्तनम्। नखरोपद्शास्पृशः। स्रोतोऽनरोधहृद्गण्ड-मूद्धौरःकुक्षिपाणयः। पलभस्मास्थि-तुपाङ्गारकराश्च ये। विलिखन्तो महीं किश्चित् मुश्चन्तो लोप्ट्भेदिनः। तैलकद्देगदिग्धाङ्गा रक्तसगनुलेपनाः। फलं पक्रमसारं वा गृहीलान्यच तद्विधम्। नखैनीखान्तरं वापि करेण चरणं तथा। उपानचम्भी-हस्ता वा विकृतव्याधिपीड़िताः। वामाचारा रुदन्तश्च श्वासिनो विकृतेक्षणाः। याम्यां दिशं पाञ्जलयो विषमैकपदे स्थिताः। वैद्यं य उपसपंनित दृतास्ते चापि गहिताः॥ इति ॥ १७॥

गङ्गाधरः—तत्पूर्वदर्शने इत्यादिना द्तम्भाषां दर्शयति । तत्पूर्व्दर्शने पूर्व्व वैद्यदर्शने मुम्पेतामातुराणां द्ता इति व्याहरन्ति भाषन्ते । किं व्याहरन्ति तदाह—यस्मिन्नित्यादि । यस्मिन् दृते आतुरसंश्रयं वाक्यं ब्रुवित सिति तत्कालपशुभं निषित्तं पश्यन् भिभक् तमातुरं नानुव्रजेत् ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—तत्कालमशुभं निमित्तं किं किमित्यतस्तदाह—तथेत्यादि। व्यसनिनं मेतं वा मृतं वा मेतालङ्कारं वा भिन्नं वा किमपि दग्धं वा किमपि

छिन्ननासादिः । उप्रकश्मी मारणाद्यकारयंप्रवृत्तः । पलालेत्यादौ तृणकाष्टादिपरिस्पृशो दूताः । तत्पृब्वदर्शन इति वैद्यपृब्वदर्शने पलालद्यपादीनि स्पृशन्तो व्याहरन्तीति योजना । प्रेतालङ्कारम् रसो वा कटुकस्तीब्रो गन्धो वा कौग्रियो महान्। स्पर्शो वा विपुलः क्रूरो यद्वान्यदशुमं भवेत् ॥ तत्पूर्व्वमिसतो वावयं वावयकालेऽथवा पुनः। दूतानां व्याहृतं श्रुत्वा धीरो मरग्रामादिशेत् ॥ १६ ॥ इति दूतिधिकारोऽयमुक्तः कृत्स्रो मुसूर्वताम्। पथ्यातुरकुलानाश्च वद्यास्योत्पातिकं पुनः॥ २०॥

विनष्टं वा किमपि किंवा व्यसनादिवाचकानि वचांसि। कहुको वा रसः तीत्रो गन्धो महान कौणपो वा गन्धः। विषुलो वा स्पर्शो विह्नक्षत्रवाद्यादिः करो वा रपर्शः सर्पादिस्पर्शः। अन्यद्वा यदशुभं किश्चिद्धवेत्। नतु दृते व्याधितसंवादं वदित सित किं पूर्वं किं परमेवमशुभं पश्यन् अनुत्रजेत् इत्यत आह—तत्पूर्व्वमित्यादि।वैद्यस्य प्रथमतो दर्शने दृता आतुरार्थं यद् वदित तत्-पूर्वं तस्यात् पूर्व्वमन्यविहतपाक्कालमेवमशुभं यदि भवेत् किंवा तद्वावयमभितः पूर्वं पश्चाच भवेत्, अथवा तद्वावयकाले एवमशुभं भवेच्वेत्, तदा तद् दृतानां वाक्यं श्रुला धीरो भिषक् तस्यातुरस्य मरणमादिशेत्।। १९।।

गृङ्गाधरः—द्तारिष्टाधिकारं समापयित—इतीत्यादि। शुभद्तोऽपि सुश्रुतेनोक्तः—स्वस्यां जातो स्वगोत्रो वा द्तः कम्मिकरः समृतः। गोयाने नागतरतुष्टः पादाभ्यां शुभचेष्टितः। धृतिमान् विधिकालकः स्वतत्रः प्रति-पित्तमान्। अलङ्कतो मङ्गल्वान् दृतः कार्य्यकरः समृतः। स्वस्थ प्राडम्रुस्वमासीनं समे देशे शुचौ शुचिम्। उपसपिति यो वैद्यं स च कम्मिकरः समृतः॥ इति। दृताधिकारमुक्तवा पिथ चौत्पातिकम् आतुरक्कलानाञ्चौत्पातिक वक्ष्यामि। तथा च सुश्रुतः—मांसोदक्रम्भातपत्र-विभवारणगोष्टपाः। शुक्कः वर्णाश्च पूज्यन्ते प्रस्थाने दर्शनं गताः। स्त्री पुत्रिणी सवत्सा गौर्वर्द्धमानमः लङ्गताः। कन्या मत्स्याः फलञ्चामं स्वस्तिका मोदका दिध। हिरण्याक्षतः पात्रं वा स्वानि सुननो तथः। अप्रशान्तोऽनलो वाजी हंसश्चापः शिखो तथा। ब्रह्मदुन्दुभिजीमृत-शङ्खवेणुस्थस्वनाः। सिंहगोष्टपनादाश्च हेपित एव न्यस्तं पश्चेत् यिसंस्त्रव नानुवजेदिति सम्बन्धः। तद्वादीनि भिनादिवादीनि। तीव

एव न्यस्तं परयेत् यस्मिंस्तज्ञ नानुवजेदिति सम्बन्धः। तद्वादीनि भिन्नादिवादीनि। तीत्र इति इन्द्रियोहे जकः। स्पर्शो विपुलो यथा तीवोब्रादिस्पर्शः। तत्प्व्वैमिति दूतवचनात् पूर्वम् अभिनो वाक्यमिति सर्व्वभतकालवचनम्। ज्याहतमिति आतुरावस्थाकथनम्॥ १४—१९॥ अवजुतं तथोत्कु ण्टं रखलनं पतनं तथा । आक्रोशः संप्रहारो वा प्रतिषेधो विगर्हणम् ॥

गज्रष्टं हितम् । शस्तं इंसरुतं नृणां कौशिकक्ष्मैव वामतः। प्रस्थान यायिनः श्रेष्ठा वाचश्र हृद्यङ्गमाः। पत्रपुष्पफलोपेतान् सक्षीरान् नीरुनो द्रुमान्। आश्रिता वा नभोवेदम-ध्यजतोरणवेदिकाः । दिक्ष शान्तासु वक्तारो मधुरं पृष्ठतोऽनुगाः । वामा वा दक्षिणा वापि शक्तनाः कम्मीसिद्धये।। इति। सुश्रुतोक्तं यथा-पांशुषु। चैत्यवरमीकविषम-स्थिता दीप्तखरस्वराः। पुरतो दिक्षु दीप्तासु वक्तारो नार्थसाथकाः । पुत्रामानः खगा वामाः स्त्रीसंबा दक्षिणाः शुभाः । दक्षि-णाद् वामगमनं मशस्तं श्वशृगालयोः । वामं नकुलचापाणां नोभयं शशसर्पयोः । भासकौशिकयोक्चैव न प्रशस्तं किलोभयम्। दर्जनं वा रुतं वापि न गोधाः कुंकंलासयोः। द्तैरनिष्टैस्तुल्यानामशस्तं दर्जनं नृणाम्। कुलत्थंतिलं-कापीस-तुपपापाणभस्मनाम्। पात्रं नेष्टं तथाङ्गार-तैलकदमपूरितम्। प्रसन्नेतरसद्मानां पूर्णं वा रक्तसर्पपैः। शवकाष्ठपलाशानां शुष्काणां पथि संङ्गमाः। नेष्यन्ते पतितान्तस्थ-दीनान्धरिपवस्तथा। मृदुः शीतोऽनुङ्गलश्च सुगन्यिश्वानिलः शुभः। सरोप्णोऽनिष्टगन्धश्च प्रतिलोमश्च गर्हितः। ग्रन्थ्य-च्चु दादिषु सद। च्छेदशब्दश्च पूजितः। विद्रध्युदरगुल्मेषु भेदशब्दस्तथैव च। रक्तिवित्तातिसारेषु रुद्धशब्दः प्रशस्यते। एवं व्याधिविशेषेणं निमित्तमुप-धारयेत्। तथैवाकुष्टहाकष्ट-माक्रन्दरुदितस्वनाः। छद्देशं वातपुरीपाणां शब्दो वै गर्दभोष्ट्रयोः। मतिषिद्धं तथा भग्नं क्षुतं स्वलितमाहतम्। दौर्म्मनस्यश्च वैद्यस्य यात्रायां न पशस्यते ॥ इति ॥ २०॥

गङ्गाधरः—वैद्यस्य गच्छतः पथि यात्राश्चभमातुरार्थमाह—अवश्चतमित्यादि। यात्राकालेऽनक्षृतं छिक् हाँचि इति लोके। उत्कृष्टं व्यय्नतो रुतं वैद्यस्य स्वलनं पादस्खलनम् आक्रोश उच्चैध्वनिः प्रहार आघात प्रतिषेधो निषेधकरणम्

चक्रपाणिः—औःपातिकमिति अरिष्टसूचकनिमित्तम् । अवशुतं छिका । उत्क्रप्टं सन्तरंतरुन

वस्त्रोष्णि। घोत्तरासङ्ग-च्छत्रोपानद्युगाश्रयम् । पतनं क दर्शनं वापि सृतं व्यसनिनं † तथा ॥ चैत्यध्वजपताकानां पूर्णानां पतनानि च । हतानिष्ठप्रवादांश्च दूपणं ‡ सस्मपांशुभिः ॥ पथरछेदो विडालेन शुना सपेण वा पुनः । सृगद्विजानां क्रूराणां गिरो दोष्तां दिशं प्रति ॥ वजतां दशनःचैवमुत्तानानाश्च दर्शनम् । इत्येतान्यप्रशस्तानि सर्व्वाग्याहुर्मनोपिणः ॥ एतानि पथि वैद्येन पश्यतातुरवर्त्मनि १ । शृगवतापि न मन्तःयं तदागाः विपश्चिता ॥ २१ ॥

विगर्हणं निन्दाकरणं वस्त्रं परिधानवसनम् उप्णीपं शिरावन्धनवस्त्रम् उत्तर्ध्य उत्तरीयवस्त्रं तेष्वासङ्गः। छत्रमुपानद्युगं तेपामाश्रयः। पतनं तेपां पतनमेव तेपां दर्शनं वा मृतं जन्तुं व्यसनिनं छेद्वस्त्रादिविपयकव्यसनं पूर्णानां चैत्यादीनां पतनानि हतप्रवादान् अनिष्टप्रवादान् तथा भस्मपांशुभिद् पणं व्याक्कुळीभवनम्। विद्राञ्चेन पथक्छेदो विद्राञ्चे गमनपथस्य तिर्ध्यग् यद् गच्छति तद् गमनं छेदः पथः। एवं शुना वा पथक्छेदः सर्पण वा पथक्छेदः। क्रराणां मृगद्दिजानां मृगाणां व्याघादीनां द्विजानां क्षेनादीनां पिक्षणां गिरो नादान दीप्तां स्पर्यावस्थानेन सप्तकाक्षां नानाविधकोलाहरूध्वनिभिर्वा रफुटां नानाविध-स्फुटकरभावेवां रफुटां दक्षिणां वा दिशं प्रति ताद्दशदिग्भागे। क्र्राणां मृगपक्षिणां व्रजतां गच्छतां दर्शनम्। एवमुत्तानानां क्र्राणां मृगपक्षिणां वा दर्शनम्। इत्येतानि सर्वाणि अप्रक्षस्तानि मनीपिण आहुः। पिथ एतान्यप्रशस्तानि पक्ष्यता वैदेनन विपश्चिता तदागारं न गन्तव्यम्। आतुरवर्त्मनि

प्रतिपेधो मा गच्छ द्त्येवंरूपः। व्यसनं वस्तादीनां यत् स्फुटनादि। व्यसनीति व्यङ्गः, कळहवान् वा। पूर्णाः पूर्णकुम्भादयः। मूपणं भस्मपांशुभिरिति भस्मपांश्वविकरणम्। पिथच्छेद

^{* -} व्यसनम् इति वा पाठः ।

[†] मृतव्यसनिनां इति चकः।

[🖐] भूपणमिति चक्रसम्मतः पाठः।

[§] वेश्मनि इति च प्रस्यते।

इत्यौत्पातिकमाख्यातं पथि वैद्यविगिहितम्।
इमामपि च वृद्येत गृहावस्थां मुसूर्वताम्॥ २२॥
प्रवेशे पूर्णक्रम्भाग्नि मृद्दीजफलसिर्पपम्।
वृपत्राह्मण्रत्नानां देवतानाञ्च निर्गतिम्॥
श्रिप्तपूर्णानि पात्राणि भिन्नानि विशिखानि च।
भिपग् मुमूर्पतां वेश्म प्रविशन्नेव पश्यित॥ २३॥
छिन्नभिन्नावभन्नानि दश्यानि मृदितानि च।
दुर्ज्यलानि च सेवन्ते मुमूर्पीवेशिमका जनाः॥ २४॥
श्र्यनं वसनं यानं गमनं भोजनं रुतम्।
श्रूग्तेऽमङ्गलं यस्य नास्ति तस्य चिकित्सितम्॥ २३॥

आतुरायं गच्छता वर्त्मनि एतान्यपरास्तानि शृण्वतापि तदागारं न गन्त-च्यम् ॥ २१।२२ ॥

गृङ्गाघरः—पथि चौत्पातिकम्रस्तत्रा आतुरक्तञानामौत्पातिकमाह—प्रवेशे इत्यादि । आतुरभवनभवेशकाले वैद्यः पूणेक्रम्भादीनां निर्मितम् आतुरभवनान्निःसरणं, तथाप्तिपूर्णानि पात्राणि भिन्नानि भग्नानि विशिखानि मुम्पैतायातुराणां वेदम् प्रविश्वन् पद्यत्येव ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः — छिन्नेत्यादि । आतुरस्य वैदिमका गृहनियता जना यदि छिन्नभिन्नादीनि वस्तूनि सेवन्ते, तदां तमातुरं मुमपु विद्यादिति भावः । मुमुपौरातुरस्य हि वैदिमका जनाविछन्नादीनि वस्तूनि सेवन्ते ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः – शयनमित्यादि । यस्य शयनादिकममङ्ग्लं श्रूयते तस्य चिकित्-सितं नास्ति ॥ २५ ॥

हति विद्यालादिभिर्मार्गलहनम् । स्पादिजाः क्रूराः श्रमालगृप्रादयः । दीप्ता दिक्, यस्यो सूर्यो वर्त्तते, किंवा दक्षिणा दिक् दीप्तोच्यते । शयनं खट्टादि । आसनं पीठादि ॥ २०—२२ ॥ चक्रपाणिः—विशिखानीति खण्डितानि । किंवा विशिकानीति पाठः, तदा शून्यानीत्यर्थः । श्यनं दसनं यानमन्यद्वापि परिच्छदम् । प्रोतवद्व यस्य कुट्वेन्ति सुहृदः प्रोत एव सः ॥ २६ ॥ श्रन्नं ध्यापद्यतेऽत्यर्थं उयोतिरचेव प्रशाभ्यति । निवाते सेन्धनं यस्य नास्ति तस्य चिकित्सितम् ॥ २७ ॥ श्रातुरस्य गृहे यस्य भिद्यन्ते वा पतन्ति वा । श्रातिमात्रममत्राणि दुर्लभं तस्य जावितम् ॥ २८ ॥

गङ्गाधरः—शयनमित्यादि । यस्यातुरस्य सहदः मेतवच्छयनवसनादिकं इन्दिन्ति, स मेतो मृत एव ॥ २६ ॥

गृक्षाथरः—अन्निमित्यादि । आतुरस्य यस्य भोजनाय पच्यमानमन्नमत्यर्थं च्यापयते निष्पत्नं न भवति । निवाते स्थाने सेन्धनं सकाष्टं ज्योतिरिष्ठः मशास्यति तस्य चिकित्सितं नास्ति ॥ २७ ॥

गङ्गाधरः—आतुरस्येत्यादि। यस्यातुरस्य गृहे वासगृहे अमत्राणि पात्राणि अतिमात्रं चूर्णचूर्णीभूय भिद्यन्तेऽतिश्वव्देन वा पतन्ति तस्य जीवितं दुर्छभं, कश्चिज्ञीवति। सुश्रुतेऽप्युक्तं—प्रवेशेऽप्येतदुदेशादवेक्ष्यश्च तथा-तुरे। प्रति द्वारं गृहे वास्य पुनरेतन्त गण्यते। केशभस्मास्थिकाष्टाश्म-तुपकार्पास-कण्टकाः। खट्टोर्ज् पादा मद्यापो वसा तैलं तिलास्तृणम्। नपुंसकव्यङ्ग-भग्न-नग्रमुण्डासिताम्बराः। प्रस्थाने वा प्रवेशे वा नेप्यन्ते दर्शनं गताः। भाण्डानां सङ्करस्थानात् स्थानात् सञ्चरणं तथा। निखात्तोत्पादनं भङ्गः पतनं निर्ममस्तथा। वैद्यासनावसादो वा रोगी वा स्थादधोमुखः। वदंग सम्भाप-माणोऽङ्गं कुड्यमास्तरणानि वा। प्रमृद्याद्वा धुनीयाद्वा करो पृष्ठं शिरस्तथा। हस्तश्चाकृष्य वैद्यस्य न्यसेज्ञिरसि वोरसि। यो वैद्यमुन्मुखः पृच्छेदुन्माष्टिं स्वाङ्गमातुरः। न स सिध्यति वैद्यो वा गृहे यस्य न पूज्यते। भवने पूज्यते वापि यस्य वैद्यः स सिध्यति। शुभं शुभेषु दृतादिष्वशुभं ह्यशुभेषु च। आतुरस्य ध्रवं तस्माद् दृतादीन लक्षयेद्धिपग्॥ इति॥ २८॥

वैदिमका जना इति गृहप्रतिष्ठिता जनाः । प्रेतवत् मृतस्य यथा क्रियते तथा । 'सुहृदः' इति वचनेनासुहृद्रिह्र् पादमङ्गलार्थं कृतं प्रेतवत् शयनादि निषेधयति । ज्योतिरग्निः निवाते सेन्धनश्च समू यदि निर्वाति, ततो रिष्टम् । अमञाणीति शरावस्थाल्यादीनि ॥ २३—२८ ॥

वायुः प्रकोपमायचते। स प्रकृपितो वायुर्महास्रोतोऽनु-प्रविश्य रौच्यात् कठिनीभृतमाष्तुरय पिण्डितोऽवस्थानं कुरुते, हृदि वस्तौ पार्श्वयोन्भयां वा। स शृत्तमुपजनयति यन्थीं-श्चानेकविधान्। पिण्डितश्चावतिष्ठते, स पिण्डितत्वाद् गुल्म इत्यभिधीयते॥ ४॥

तत्तदपचारात्। स वायुः। महास्रोत इति कोष्ठगतग्रहण्यादिकं ग्रहिद्वर-सिराम्। रौक्ष्यात् किटनीभूतिमिति निरवयवोऽपि वायुरुक्तहेतुसेवनेन रौक्ष्य-ग्रणतः किटनीभूतं दृदीभूतं महास्रोत आष्छत्य आग्रतीकृत्यार्थात् तदाष्छत्य तत्स्रोतसा मिश्रितः पिण्डितः पिण्डाकारः सन्नवस्थानं स्रोतोमध्येऽवस्थितं करते।

नमु स्रोतोमध्ये कुत्रावस्थानं कुरुते, इत्यत आह—हदीत्यादि। नाभ्यामिति च्छेदः। नमु हृदादाववस्थानं कुत्रा किं कुरुते इत्यत आह—स इत्यादि। स हृदाद्यन्यतमस्थानावस्थितः पिण्डितो वायुः शूळं वातोत्पन्नमनेक-विशं वेदनाविशेषं तोदभेदादिरूपमुपजनयति करोति। ग्रन्थीं श्रानेकविधानुप-जनयतीत्यन्वयः। नन्येवं कुत्रा पिण्डितभावं किं त्यजतीत्यत आह—पिण्डितश्रावतिष्ठते इति न तु पिण्डितभावं मुश्चतीति भावः। इति वातगुल्मस्य विधिरूपा सम्माप्तिः।

नतु कथं गुल्म इत्युच्यते इत्यत आह—स इत्यादि। स ज्वरादि-कर्पणान्यतमादिकिपितादेवीतलाहारादुप्रपसेवनेन कुपितो महास्रोतोऽनुप्रविष्टो रोक्ष्यात् कठिनीभूतो महास्रोत-आष्ठावी पिण्डितीभूतो हृदाद्यन्यतमस्थानाव-स्थितः शुलकारी ग्रन्थिकारी च पिण्डितो वायुः पिण्डितलात् पिण्डाकारलाद्

लक्षयित । रोक्ष्यात् किटनीभृतिमिति महास्रोतोविशोपणम् ; तच प्रकृपितस्य वायो रोक्ष्येण यथोक्ष-ज्वरकर्पणादिहेतुकृताच रोक्ष्यात् कोष्टस्य किठनत्वमुपपन्नम् । आप्लुत्येति व्याप्य कोष्टमेव ; अन्यत्राप्युक्तम्—आल्पुतं मारुतेनेह शारीरं यस्य केवलम् इति ; आप्लुतं व्याप्तमित्यर्थः ; यदा तु, 'रोक्ष्यात् किठनीभृतः' इति पाठः, तदा वातविशोपणम्, वातस्य किठनत्वमप्यत्र प्रकोपेण घनत्वमेव वोद्वत्यम् ; पिण्डित इति कुण्डलीभृतः ; पिण्डितश्चेति द्वितीय-'पिण्डित'-शब्देन मांसाद्यतुण्डनेन गुल्मप्रदेशस्यापि पिण्डितत्वमुच्यते ; तेन पूर्वोक्त-'पिण्डित'शब्देन वायोः पिण्डितत्वेन न पोनरुक्त्यम् । अनेकविधानिति च्छेदः । ग्रन्थोश्चानेकविधानिति 'दीर्घ'-'वृत्त'-

भवन्ति चात्र।

यद्ध द्वादशभिरध्यायैर्व्यासतः परिकित्तितम् । सुमूर्षतां मनुष्याणां लच्चणं जोवितान्तकृत् ॥ तत् समासेन वच्यामि पर्थ्यायान्तरमाश्रितम् । पर्ध्यायवचनं श्रुत्वा विज्ञाना-अ-योपकल्पते ॥ २६ ॥ अल्रर्थं पुनरेवेयं विवच्चा नोपपद्यते । तिस्मन्नेवाधिकरणे यत् पूर्व्वमभिदर्शितम् ॥ ३० ॥

गङ्गाधरः—शिष्यान् पत्यनुग्रहेण धारणार्थम् अर्थदार्ह्यार्थञ्च संक्षेपेण विस्तरेण द्वादशाध्यायमोक्तारिष्टलक्षणान्याह—भवन्तीत्यादि । यद् द्वादशभि-रित्यादि । समूर्पतां मनुष्याणां जीवितान्तकृद् यल्लक्षणं वर्णस्वरीया-दिभिरेतदन्तद्वीदशभिरध्यायैव्यस्ति विस्तरतः परिकी त्तितं, तत् सर्व्व मनुष्याणां समूर्पतां जीवितान्तकृष्टक्षणं पर्यायान्तरमाश्रितं तद्रथंवाचकसंस्कृतान्तरेण समासेन संक्षेपेण वक्ष्यामि । ननु कस्मादित्यत आह—पर्यायवचनमित्यादि । यस्मात् पर्यायवचनं तद्रथवाचकसंस्कृतान्तरवचनं श्रुता विद्यानाय प्रव्वीक्ताथे-द्यानिश्रयाय संक्षेपतो बुद्धा बुद्धा कण्डेन धृता च स्वरपकालेनातुराणां सर्व्वीरिष्टलङ्ग्जानाय च उपकल्पते अध्येता ॥ २९ ॥

गुङ्गाधरः—ननु कथं पुनरपि विस्तरेण विवक्षते इत्यत आह—अत्यर्थ-मित्यादि। इयमेवारिष्टलक्षणस्य विवक्षा पुनर्व्वारम् अत्यर्थमतिशयेन नोप-पद्यते। कस्मादित्यत आह—तस्मिन्नित्यादि। यर् यस्मात् पूर्व्वमेव तस्मिन् तस्मिन् वर्णस्वरीयादावधिकरणेऽभिद्यितं विस्तरेण द्यितमिति॥ ३०॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति द्वादशाध्यायोक्तं रिष्टं दुर्शधग्रधार्थं संग्रहेण स्पष्टीकरणार्थमाह्—यद् द्वादशभिरित्यादि । पर्यायान्तरमाश्रितमिति संज्ञान्तरेण कीर्त्तितम् । अर्थविज्ञानायेति पूर्व्वाभि-धानात् शब्दस्यानेकार्थोभिधायित्वादिना यत्र सन्देहो मिध्याज्ञानं वा भवति, तस्य शब्दान्तरेण अभिधानादुकार्थो भवतीति ॥ २९ । ३० ॥

अ हार्थविज्ञानाय इति च पाठः।

वसतां चरमे काले श्रीरेषु श्रीरिणाम् ।

श्रभ्यश्राणां छ विनाशाय देहेभ्यः प्रविवत्तताम् ॥

इष्टांस्तितिच्तां प्राणान् कान्तं वासं जिहासताम् ।

तन्त्रयन्त्रेषु भिन्नेषु तमोऽन्त्यं प्रविविच्ताम् ॥

विनाशायेह रूपाणि यान्यवस्थान्तराणि च ।

भवन्ति तानि वच्यामि यथोहेशं यथागमम् ॥ ३१ ॥

प्राणाः समुपरुध्यन्ते विज्ञानमुपरुध्यते ।

वमन्ति वलमङ्गानि चेष्टा हुप्परमन्ति च ॥

इन्द्रियाणि विनश्यन्ति खिलीभवति वेदना ।

श्रीरुप्तवयं अजते सत्त्वं चेतो भीराविश्रस्थि ॥

गृङ्गाधरः—इति पेत्यभावाय जावितान्तकृष्ठक्षणसंक्षेपोक्तिं पतिष्ठाय अपुनर्भवाय जीवितान्तकृष्ठक्षणोक्तिं प्रतिजानीते—वसतामित्यादि । शरीरेषु वसतां शरीरिणां सक्ष्मदेहवताम् अभ्यग्राणाम् आकुलानां नित्यानुबन्धानां विनाशाय देहेभ्यः पविवत्सतां देहं त्यत्तवा प्रवासमिच्छताम्, इष्टान् प्राणान् तितिक्षतां क्षन्तीकुर्व्वताम्, कान्तं वासं स्थूलदेहे वासं जिहासतां हातुमिच्छिताम्, तन्त्रयन्त्रेषु स्थूलदेहेषु भिन्नेषु सत्सु अन्त्यं तमो मृत्युं प्रविविक्षतां प्रवेष्टुम् इच्छताम्, विनाशाय इह शरीरे यानि रूपाणि यानि चावस्थान्तराणि भवन्ति तानि वक्ष्यामि यथोहेशं यथागमं यथाशास्त्रमित्यथं: ॥ ३१ ॥

गङ्गाधरः—प्राणा इत्यादि । येषां प्राणाः श्वासोच्छ्वासाः समुपरुध्यन्ते, तेषां कस्में चिकित्सा न सिध्यति । येषां विज्ञानं ज्ञानेन्द्रियमुपरुध्यत तेषाम् । येषामङ्गानि वलं वमन्ति त्यजन्ति तेषाम् । येषां चेष्टाश्चोपरमन्ति नश्यन्ति वाग्देहमनसां चेष्टाः तेषाम् । येषामिन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि विनश्यन्ति चक्कपाणिः—अभ्युमाणामिति अभ्युद्गतानाम् । प्रविवत्सतामिति प्रवस्तुमुद्यतानाम् । 'कान्तं वासम्' इत्यनेन सर्वप्राणिनामेव सर्व्यवस्थासु शरीरं काम्यं भवतीति दर्शयित । स्वकान्तमि श्रित्रस्यं वासं जीवितं वा वलादेव कर्मणा त्यज्यमानमि इहोपचारात् 'इव'शब्दलोपाद् वा स्वतन्त्रेण निर्दिश्यते, यथा जिहासंतामिति तथा तितिक्षतामिति । तन्त्रं शरीरम्, तस्य यन्त्रं शिरास्नाव्वादिरूपं तन्त्रयन्त्रम् । तमोऽन्त्यमिति मरणरूपं तमः । विनाशायेह रूपाणीति

^{*} अभ्युप्राणाम् एवं पाठोऽपि वर्त्तते ।

स्मृतिस्त्यज्ञित मेधा च हीश्रियो चापसर्पतः।
उपप्रवन्ते पाप्मानः क्रोधस्तेजश्च नश्यति॥
श्रीलं व्यावर्ततेऽत्यर्थं शक्तिश्च परिवर्त्तते।
विक्रियन्ते प्रतिच्छायाश्छायाश्च विकृतिं प्रति॥
शुक्तं प्रच्यवते स्थानादुन्मार्गं भजतेऽनिलः।
चयं मांसानि गच्छन्ति गच्छत्यस्रगपि चयम्॥
उप्मागाः प्रल्यं यान्ति विलयं यान्ति सन्धयः।
गन्या विकृतिमायान्ति भेदं वर्णस्वरौ तथा॥
ववग्यं भजते कायः कायच्छिद्रं विशुज्यति।
धूमः संजायते मृद्ध्रि दाहगास्यश्च चूर्णकः॥

तेपाम्। येपां वेदना खिलीभवति अथग्राहिणी सती कीलवद्भवति तेपाम्। येपां सत्त्वं मन औत्सुक्यं भजते भीर्भयश्च चेतो मन आविशति तेपाम्। यान् स्पृतिस्त्यज्ञित तेपाम्। यान् मेधा त्यज्ञित तेपाम्। येभ्यो हीश्रियौ लज्जा श्रीश्रापसर्पतः अपगच्छतस्तेपाम्। येपां पाप्मानो दुःखसंज्ञा न्याध्य रपष्ठवन्ते नश्यन्ति हटात् तेपाम्। येपां क्रोधो नश्यति तेजश्च नश्यति तेपाम्। येपामत्यर्थं व्यावर्त्तते शीलं शीलता तेपाम्। येपां शक्तिश्रात्यर्थं परि-वर्त्ततेऽशक्तिरायाति शक्तिगेच्छतीति शक्तः परिवर्त्तनं तेपाम् । येपां प्रतिच्छायाः विक्रियन्ते विकृतिमापद्यन्ते तेपाम् । येपां छायाश्च विकृतिं प्रति भवन्ति तेपाम् । येपां शुक्रं स्थानात् पच्यवतेऽकारणात् तेपाम्। येपामनिलो वायुरुन्मार्गमूखं -मार्ग भजते तेपाम्। येषां मांसानि क्षयं गच्छन्ति तेपाम्। येषामसगपि क्षयं गच्छति तेपाम् । येपामुष्माणो नित्योष्मवत्सु शरीरावयवेषूष्माणः प्रलयं क्षयं यान्ति तेपाम् । येषां सन्धयः शरीरे विलयं नाशं यान्ति तेपाम् । येषां देहगन्धा विकृतिं यान्ति तेपाम्। येषां वर्णस्वरौ वर्णश्च स्वरश्च भेदमन्यथालं यातः, येपां कायश्च वैरूप्यं भजते तेपाम्। येपां कायच्छिद्रं विवरवद्धमनीजातं प्राणसमुपतापादीनि । खिलीभवतीति अपथग्राहिणी भवति । पाप्मान हित पापजनितरोगाः, कंपरमीश्र कियाः। छायाश्र विकृतिं प्रतीति गच्छन्तीति शेषः। तेनं प्रत्येकं छाया विकृतिं गच्छतीत्यर्थः। धूमः संजायते मूर्झृति प्रकृतं वाप्पनिर्गमं विना बहलो धूम इति । दारुणाल्यश्च

सततस्पन्दना देशाः श्रारे येऽभिलिचताः ।
ते स्तम्भानुगताः सन्वे न चलित कथश्चन ॥
ग्रगाः श्रारदेशानां श्रीतोष्णाष्टदुदारुणाः ।
विषय्यसिन वर्तन्ते स्थानेष्वन्येषु तिद्धधाः ॥
नखेषु जायते पुष्पं पङ्को दन्तेषु जायते ।
जटाः पद्मसु जायन्ते सीमन्ताश्चापि मूर्छिनि ॥
भेषजानि न संवृत्तिं प्राप्नुवन्ति तथा रुचिम् छ ।
यानि वाष्युपपचन्ते तेषां कम्म न सिध्यति ॥ ३२ ॥
नानाप्रकृतयः क्रूरा विकारा विविधौषधाः ।
जिप्रं समभिवर्त्तन्ते प्रतिहत्य वलोजसी ॥

विशुष्यित तेपाम्। येपां मृद्धि धमो वाष्पिनगमो जायते तेपाम्। येपां सूद्धि दारुणाख्यो गोमयचूर्णाभरचूर्णको जायते तेपाम्। येपां सर्व्वेपामेव सततस्पन्दना ये शरीरपदेशा अभिलक्षितास्ते शरीरपदेशाः स्तम्भानुगताः स्तव्धा भवन्ति न च चलन्ति कथित्रत् तेपाम्। येपां शरीरपदेशाः शतित्वेन गृद्धारुणा विषय्यीसेन विषय्ययक्ष्पण शीतम् उष्णत्वेन उष्णः शीतत्वेन गृदुर्वारुणत्वेन दारुणो गृदुत्वेन शुक्तः कृष्णत्वेन कृष्णः शुक्तत्वेन रक्तोऽरक्तत्वेनारक्तो रक्तत्वेन स्थिरश्चलत्वेन चलः स्थिरत्वेन अथान्यानि यान्युपपद्यन्ते पृथुः संक्षिप्तः त्वेन संक्षिप्तः पृथुत्वेन दीघौ इस्तत्वेन इस्तो दीघत्वेन अपतनधम्मीणां पतनधम्मित्वं पतनधम्मिणाम् अपतनधम्मित्वमित्येवमादीनि यान्युपपद्यन्ते येषां तेपां कम्मे न सिध्यति॥ ३२॥

गङ्गाधरः—येपां न सिध्यति तानाह—नानेत्यादि । येपां विकारा व्याधयो नानापकृतयो वातादिनानापकृतिकाः क्रूराः क्रूरगतयो विविधीपधाः प्रतिकारार्थस्यचारितनानौपधाः, तेषां कम्मे न सिध्यति । क्षिप्रमित्यादि ।

चूर्णक इति ''यस्य गोमयचूर्णभम्'' इत्यादिग्रन्थोक्तरचूर्णकः । स्थानेप्वन्येषु तद्विधा इति शारीरान्तरदेशेषु, बहुवचनेन स्नेहादयो विषय्यीसेन वर्त्तन्त इत्यर्थः । संवृत्तिमिति निष्पत्तिम् ।

^{. *.} यथारुचि इत्यपि पाठः ।

शब्दः स्पर्शो रसो रूपं गन्धरचेष्टाश्च क चेष्टितम्।
उत्पचन्तेऽशुभान्येव प्रतिकर्मप्रवृत्तिषु ॥
दृश्यन्ते दारुणाः स्वप्ना दौरात्मग्रमुपजायते ।
प्रो व्याः प्रतीपतां यान्ति प्रो ताकृतिरुदोर्थ्यते ॥
प्रकृतिर्हीयतेऽत्यर्थं विकृतिश्चाभिवर्छते ।
कृत्समौत्पातिकं घोरमनिष्टमुपलभ्यते ।
इत्येतानि मनुष्याणां भवन्ति विनशिष्यताम् ॥ ३३ ॥
लच्णानि यथोद्देशं यान्युक्तानि यथागमम् ।
मरणायेह रूपाणि पश्यतापि भिषिवदा ॥
श्रप्टेन न वक्तव्यं मरणं प्रत्युपस्थितम् ।
पृष्टेनापि न वक्तव्यं तत्र यचोपघातुकम् † ॥

येपां शब्दादयो वलानसी प्रतिहत्य क्षिपं समिभवत्तन्ते सम्यगेव सम्पद्यन्ते, चेष्ठा क्रिया चेष्ठितं कम्म, शब्दादीनि तेषां तत्तद्वप्राधेः प्रतिक्रम्भेपष्टित्तव्यश्भान्युत्पद्यन्ते इति। अपराण्याह—हश्यन्ते इत्यादि। यद्रौरुणाः स्वमा दश्यन्ते, येपां दौरात्म्यमुपायते, येपां प्रव्याः प्रतीपतां विरोधितां यान्ति, येपां प्रताकृतिमृताकार उदीय्यंते, येपां प्रकृतिरत्यर्थं हीयते, येपां विकृतिश्वाभि सर्वतोभावेन वहते, यस्मै वैद्यस्य यात्रायां पिथ कृत्सनं घोरं भयानकमित्रायमौत्पातिकं भवति, येपां सर्व्वपामिष्टमुपलभ्यते, तेपामित्येतानि उक्तानि लक्षणानि विनशिष्यतां मिर्व्यतां ममुव्यणां भवन्ति॥ ३३॥

गुङ्गाधरः—लक्षणानीत्यादि । लक्षणानि यानि यथोक्तानि यथागमञ्चेहः मरणाय रूपाणि पश्यतापि भिषम्बिदा वैदेशन अपृष्टेन तदातुरामात्य-

उपपद्यन्ते सिध्यन्ति । नानाप्रकृतय इति परस्परं विरुद्धस्वभावाः । क्रिया इति प्रतिक्रियाः । प्रतिकर्म्मप्रवृत्तिश्चिकित्साप्रवृत्तिः । भौत्पातिकमिति आकस्मिकम्, तस्य विशेषणमिर्ष्टिमिति, तेन अरिष्टमौत्पातिकमिति फलति ॥ ३१– ३३ ॥

क्रियाइचेति चकः।

[†] यत्रोपघातकम् इति च पाठः।

ञ्चातुरस्य भवेद दुःखमथवान्यस्य कस्यचित् । ञ्चब्रु वंस्तस्य मरगां नैनिमच्छेचिकित्तितुम् * ॥ ३४ ॥ लिङ्गेश्यो मरगाख्येभ्यो विपरीतानि परयता । लिङ्गान्यारोग्यमागन्तु वक्तव्यं भिषजा घ्रु वम् ॥ दृतेरौरपातिकैर्भावैः पथ्यातुरक्रलाश्रयैः । ञ्चातुराचारशीलैस्तु द्रव्यसम्पत्तिलच्गोः ॥ ३५ ॥

खजनादिभिरजिङ्गासितेन परणं प्रति उपस्थितं न वक्तव्यम्। यदि वा आतुरादिभिरस्थिन् रोगे जीवनं किं न वेति पृष्टेनापि भिपग्विदा तत्र यदुपघातुकं तदातुरामात्यादीनां हटादुपघातकरं तन्न वक्तव्यम्। कस्मादित्यत आह—आतुरस्येत्यादि। तस्य मरणमद्भुवन् न वदन् तमेनं चिकित्सितं नेच्चेत्॥ ३४॥

गङ्गाधरः—तर्हि किं ब्र्यादित्यत आह—लिङ्गेभ्य इत्यादि। भिपजा मरणाख्येभ्यो नियतमरणाख्येभ्यो लिङ्गेभ्यो विपरीतानि लिङ्गानि स्फ्टारोग्य-स्चकानि द्तादि लिङ्गानि पश्यता दर्शयता आगन्त आरोग्यं ध्रुवं वक्तव्यमिति। नमु कानि लिङ्गानि दृष्टागन्तारोग्यं वक्तव्यमित्यत आह—द्तेरित्यादि। दृतैः पथि चौत्पातिर्केभावैरातुरकुलाश्रयभावैरातुराचारशीलैश्च द्रव्याणां सम्पत्ति-लक्षणैः करणैनियतमरणाख्येभ्यो लिङ्गेभ्यो विपरीतानि तदातुराद्यमुप्यातु-कानि लिङ्गानि पश्यता आगन्तु आपातत आरोग्यं वक्तव्यमिति भावः॥ ३५॥

चक्कपाणिः—सम्प्रति ज्ञातस्य रिष्टस्य यथाईप्रकाइयत्वम् । तदाह—मरणायेत्यादि । आतुरस्य अपघातकमिति योज्यम् । भवेद् इःखमन्यस्येति सम्बन्धः । हन्त मरणं चेदातुरस्य भावि नोच्यते, तत् किमारोग्यमपि भावि न वक्तव्यमेवेत्याह—लिङ्गेभ्य । हत्यादि । मरणमाख्यान्तीति मरणाख्याः, तेभ्यो विपरीतानि आरोग्यसूचकानि । आगन्त्विति पश्चात्कालभावि । दृतेरोत्पातिकेरिति औत्पातिकेर्मावैः शुभाशुभसूचनार्थमकस्माद्रत्वत्रेर्मावैः । सामान्येन शुभाशुभसूचनार्थमकस्माद्रत्वत्रेर्मावैः । सामान्येन शुभाशुभसूचकं यदकस्माद्रद्भवित तद्रोत्पातिकमुच्यते । द्रव्यसम्पत्तिलक्षणेरित्यन्ते आरोग्यमागन्तु वक्तव्यमिति योजना ॥ ३४ । ३५ ॥

^{🚸 -} हृतःपरं "यस्य पश्येद्विनाशाय लिङ्गानि कुशलो भिपक" इत्यिषकः कचन पट्यते ।

खाचारं हृष्टमव्यङ्गं यशस्यं शुक्कवाससम् । श्रमुगडजिटलं दूतं जातिवेशिक्वयासमम् ॥ श्रमुखरयानस्थमसन्ध्याखप्रहेषु च । श्रदारुगेषु नच्चत्रेष्वनुप्रेष्वध्रुवेषु ७ च ॥ विना चतुर्थीं नवमीं विना रिक्तां चतुर्दशीम् । मध्याहमर्द्धरात्रञ्च स्कम्पं राहुदर्शनम् ॥ विना देशमशस्तञ्चाशस्तौत्पातिकलच्गाम् † । दूतं प्रशस्तमव्ययं निर्दिशेदागतं सिषक् ॥ ३६ ॥

गृहाधरः—नतु किं लक्षणं शुभमागन्तुकारोग्यख्यापकिमत्यतो द्तादिशुभलक्षणमाह—स्वाचारिमत्यादि। अन्यहं सन्बिङ्गसम्पूर्णम् अप्रण्डनिटलं
प्रण्डनजटाभ्यां रहितमातुरस्य जातिवेशिक्रियाभिः समम् उप्ट्रादियानानविस्थितम्
असन्ध्यास्र सन्ध्याकालातिरिक्तकालेप्वागतम् अग्रहेषु क्रूरग्रहस्रक्तभिन्नेषु
अदारुणेषु भरण्यादिभिन्नेषु अनुग्रेषु लग्नाः पूर्विम्यान्तका इत्युग्रसंबक्तनक्षत्रभिन्नेषु अध्रवेषु च ध्रुवसंबक्तनक्षत्रभिन्नेषु च नक्षत्रेषु आगतम् रिक्तां विना
तिथिप्वागतं रिक्तां विद्यणोति चतुर्थीं नवभीं चतुर्दशीं विना मध्याद्वादि विना
अश्चर्तं देशं विना अश्चरतीत्पातिकलक्षणं विना आगतमन्धग्रं व्यग्रताशुन्यं
द्तं मश्चरतमन्धः भिषगादिशेदिति। सुश्चते चोक्तम्। शुक्तवासाः शुचिगौ रः
ग्यामो वा मियदर्शनः। स्वस्यां जातौ स्वगोत्रो वा दृतः कार्यकरः स्मृतः।
गोयानेनागतस्तुष्टः पादाभ्यां शुभचेष्टितः। धृतिमानिष काल्बः स्वतन्त्रः
प्रतिपत्तिमान्। अलङ्कृतो मङ्गलवान् दृतः कार्यकरः स्मृतः। स्वस्थं प्राङ्गसुत्व-

चक्रपाणिः—शुभलक्षणं स्वाचारमित्यादिना मृते । अमुण्डमिति सिश्त्यकृतवपनोऽभिमेतः । जात्यादिभिरातुरेण सह समो जात्विशक्तियासमः । अमहेष्विति अपशस्त्रस्थानस्थितकृत्महानिधिष्ठितेषु इत्यर्थः । अदारुणेषु नक्षत्रेषु अनुमेषु भ्रवेषु चेति, दारुणानीति तीक्ष्णानि । यदुवाच वराहः — "मूलाशिवाशकभुजगाधिपानि तीक्ष्णानि" इति शिवा आर्द्रा, शको ज्येष्टा, भुजगाधिपमञ्लेषा । वम्राणि च वराहोक्तानि यथा,—"उम्राणि पूर्व्वभरणीपित्रमाणि" इति । पूर्व्वाण पूर्व्वभावगुनी, पूर्व्वापाद्वा, पूर्व्वभाद्वपदम् । पित्रं मघा । वराहोक्तदारुणादीनि नक्षत्राणि वर्ज्वायित्वान्येषु मक्षत्रेषु दूता आगताः शुभा भवन्ति । रिकामिति चतुर्थादिविशेषणम्, चतुर्थी नवमी चतुर्दशी

^{*} ध्रुवेपु इति वा पाठः।

[†] शस्तौत्पाविकलंशणम् इति चकः।

दध्यचतिह्रजातीनाष्ट्रवभागां नृपस्य च।
रत्नानां पूर्णकुम्भानां सित्रिय तुरगस्य च।।
सुरध्वजपताकानां फलानां पावकस्य च।
कत्यानां वर्द्धमानानां क बद्धस्यैकपशोस्तथा।।
पृथिव्या उद्धृतायाश्च वहः प्रज्वितस्य च।
मोदकानां सुमनसां शुक्कानां चन्द्रनस्य च॥
मनोज्ञस्याञ्चपानस्य पूर्णस्य शकटस्य च।
नृभिर्धन्त्राः सवत्साया वड्वायाः स्त्रियास्तथा।।

मासीनं समे देशे शुचौ शुचिम्। उपसर्पति यो वैदंत्र स च कार्य्यकरः स्मृतः॥ इति॥ ३६॥

गङ्गाधरः—प्रशस्तदृतमुक्तवा पथि चात्ररवेश्मपवेशे च प्रशस्तमाह— दथीत्यादि। ऋषभो दृषः। सितस्य श्वेतवर्णस्य तुरगस्य। फलानामित्या-मानाम्, पकानामशस्तवेनोक्तलात्। पावकस्य पवित्रकरवस्तृनः। कन्यानां वर्ष्णमानानां कन्यानामन्दृत्नामङ्कुरितयौवनानाम्। एकस्य वद्धपशोर्दर्शनं शुभं न लनेकस्य। उद्धृताया हलादिनोद्धृतमृत्तिकायाः पृथिव्याः। शुक्तानां सुमनसां भुष्पाणाम्। चन्दनस्य शुक्तस्य, रक्तानुलेपनस्याप्रशस्तत्वेन एकत्वात्। नृभिः पूणस्य शकटस्य सवत्साया धन्या वडवायाश्च सवत्सायाः

रिक्तोच्यते, तथा रिक्तिति विशेषणेन चतुर्ध्यादीनां निष्कलत्वसूचनेन कर्मारम्भं प्रत्यनुपादेयतोष-दिश्यते । शस्तमीत्पातिकमाकस्मिकं लक्षणं यस्य तत् शस्तीत्पातिकलक्षणम् ॥ ३६ ॥

चक्रपाणिः—दध्यक्षतेत्यादिना मार्गादिषु प्रशस्तदर्शनान्याह । सुरध्वजः शक्रध्वजः । कन्या-पु वर्द्धमानानामिति अङ्कारोपिताः कुमार्य्यः कुमाराश्च वर्द्धमानाः, पुरुषोत्तमवत् समासः । अन्ये तु वर्द्धमानाः शरावा इत्याहुः, ते चालेपनादिना मण्डिता इति घोद्धव्यम् । एकपशुः श्रेष्ठपशुः

127

जीवञ्जीवकसिद्धार्थ-सारसित्रयवादिनाम् ।
हंसानां शतपत्राणां चाषाणां शिखिनां तथा ॥
मत्स्याजद्विजशङ्खानां मांसस्य च ७ घृतस्य च ।
स्वकादर्शसिद्धार्थ-रोचनानाञ्च दर्शनम् ॥
गन्धः सुगन्धो वर्णश्च सुशुङ्को मधुरो रसः ।
मृगपित्तमनुष्याणां प्रशस्तानां गिरः शुभाः ॥
छत्रध्वजपताकानामुत्चेपणमभिष्लुतिः ।
भेरीमृदङ्गशङ्खानां शब्दाः पुगयाहनिस्वनः ॥
वेदाध्ययनशब्दाश्च सुखो वायुः प्रदिज्याः ।
पथि वेश्मप्रवेशे च विद्यादारोग्यलच्णम् ॥ ३७ ॥
मङ्गलाचारसम्पन्नः सातुरो वैश्मिको जनः ।
श्रद्धानोऽनुकूलश्च प्रभूतद्रव्यसंग्रहः ॥

स्त्रियाश्च सवत्सायाः। जीवज्ञीवकश्चकोरः। अजङ्गागः। मांसस्य सद्यस्कस्य न तु पर्युंपितस्य। रुचकं लवणिवशेषः। आदशे दपणम्। सिद्धार्थः श्चेतसपपः। रोचना गोरोचना। सुगन्धो गन्धः। सुशुक्कश्च वर्णः। रसो मधुर इत्येव। प्रशस्तानां सृगाणां हरिणशृगालादीनां पिक्षणां जीवज्ञीवकादीनां मसु- ध्याणां पुण्यशीलसाधुदात्प्रभृतीनां शुभा गिरः। छत्रादीनामुत्क्षेपणमुङ्गीनता। अभिष्लुतिरितस्ततो दोलनमाच्छादनश्च। पुण्याहनिस्वनः पुण्याहेतिशव्दो नादः। सुखो वायुः शैत्यमान्यसौगन्ध्यवहः। प्रदक्षिणो दाक्षिण्यगुणसुक्तः।।३७॥

गङ्गाधरः—पथि चातुरकुलमवेशे च शुभलक्षणमुत्तवा अथातुरकुले मशस्त-माह—मङ्गलाचारेत्यादि। मभूतद्रव्यसंग्रहो नानाविधौषधस्वस्त्ययन।दि-इत्यर्थः। शकटस्य पूर्णस्य नृभिरिति सम्बन्धः। बंडवायाः खियाश्च सवत्साया इति योजना । जीवञ्जीवकः पक्षी प्रसिद्धः। प्रियवादी चातकः॥ ३७॥

^{*} त्रियङ्गणामिःयन्यः पाठः ।

धनैश्वर्यसुखात्रातिरिष्टलाभः छ सुखेन च।
दृश्याणां तत्र योग्यानां योजना सिद्धिरेव च॥ ३८॥
यहप्रासादशैलानां नागानां वृषभस्य च।
दृयानां पुरुषाणाश्च खप्ने समिधरोहणम्॥
त्र्रणांवानां प्रतरणां वृद्धिः सम्वाधिनःस्तिः।
खप्ने देवैः सिपितृभिः प्रसन्तेश्चाभिभाषणम्॥
सोमार्काधिद्विजातीनां गवां नृणां यशिखनाम्।
दर्शनं शुक्कवस्त्राणां हृदस्य विमलस्य च॥
मांसमरस्यविषामेध्य-च्छत्रादर्शप्रतिप्रहः।
खप्ने सुमनसाःचेव शुक्काणां दर्शनं शुभम्॥
त्राश्वगोरथयानश्च यानं पूर्वात्तरेण च।
रोदनं पतितोत्थानं द्विषताश्चाभिमईनम्॥ ३६॥

सस्मीयद्रव्यसम्पन्नः। धनाचनाप्तिर्विचिमकजनानामात् रस्य च। इष्टलाभश्च सुखेन, न लिन्दं किश्चिद्वत्ते। इति। चिकित्साभगस्तिमाह— द्रव्याणामित्यादि। चिकित्सार्थं यद् द्रव्यं याद्दशगुणेन सम्पन्नं तत्र योग्यं भवति, तस्य तद्दव्यस्य तत्रीपधपथ्यादौ योजना योजनार्थं लाभश्च। योजनायां सत्यां तत्क्रियायाः संशोधनादिरूपायाः सिद्धिङ्चैवेत्यारोग्यलक्षणम्।। ३८।।

गङ्गाधरः—अथ प्रशस्तस्वमानाह—गृहेत्यादि। नागानां हस्तिनां स्वप्ने गृहाद्यारोहणं प्रशस्तम्। अणवानां प्रतरणं सन्तरणेनोत्तीणत्वं, प्रसरणमिति पाठे विस्तीणत्वम्। दृद्धिरणवानां पूर्णत्वम्। सम्बाधनिःसृतिः सङ्कटान्मुक्तिः। प्रसन्नदेविपतृभिः सह भाषणम्। सोमश्चन्द्रः। यशस्विनां नृणां विमलहदस्यमांस-मत्स्यानां विषाणां सविपपाणिनां प्रतिग्रहः, अमेध्यानां विष्ठादीनां छत्राद्रशेयोश्च प्रतिग्रहो ग्रहणम्। शुक्तानां सुमनसां पुष्पाणां स्वप्ने दर्शनम्। स्वप्नेऽक्वादियानं शुभम्। एवं पूर्वात्तरेण च दिग्भागेन यानं गमनं शुभं स्वप्ने रोदनं शुभम्।

चक्रपाणिः—योजनायां सत्यां सिद्धिः योजनासिद्धिः। संवाधनिःसृतिः सङ्कटनिस्तरणम्।

इष्टालम्भः सुरोन च इति चक्रधतः पाठः ।

स सुहुराध्माति है, सुहुरत्वपत्वमापद्यते ऽनियतविषुलाणुवेद-नश्च भवति चलत्वाद्वायोश्च, सुहुः विषीलिकासंप्रचार इवाङ्गेषु तोद्भेदरफुरणायामसङ्गोचसिहर्षप्रलयोदयवहुलः, तदातुरश्च सूच्येव शङ्क्रनेवातिसंविद्धमात्मानं मन्यते । श्रपि च दिवसान्ते जीय्येति शुष्यति चास्यास्यमुच्छ्वासश्चोपरुध्यते हृष्यन्ति चास्य रोमाणि । वेदनायाश्च प्रादुर्भावे प्रीहाटोपान्त्रकूजना-विषाकोदावत्तीङ्गमईमन्याशिरःशङ्क्षश्चलत्रधरोगार्चैनसुपद्ववन्ति । गुष्म इत्यभिधीयते । सुश्रुतेऽप्युक्तम् । कुपितानिलम्लतार् गृद्मूलोदयादि । गुष्मवद्वा विशालताद् गुल्म इत्यभिधीयते ।। इति । अत्र गुल्मवदिति पिण्डित-विद्यर्थः । इति वातग्रस्मे निरुक्तिकथनात् सामान्यग्रस्मनिरुक्तिवीध्या ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः — वातगुरुमरूपाण्याह — स इत्यादि । स इति वातगुरुमः । मुहु-राध्माति मुहुरुपचीयते मुहुरुपलमापद्यते मुहुरपचीयते । अनियता विपुलाणुवी वेदना यत्र स तथा कदाचित् विपुलवेदनः कदाचिदणुवेदन इत्यर्थः। नन्वेवं-वेदनः कुत इत्यत आह—चललार् वायोरिति। ननु केवलमनियतविपुलाणु-वेदनो वायोश्रललादुतान्यलिङ्गो भवति न वेत्यत आह—वायोइचेत्यादि। चकारात् वायोश्रललात् पिपीलिकासंप्रचार इवाक्षेषु तोदादीनां हर्पान्तानाम् अन्यतमस्य प्रलयोदयौ विनाशोत्पादौ वहुलौ यत्र स तथा। एवश्च भवति तदातुरक्चेत्यादि । दिवसान्तेऽपराह्णे , शुष्यति चास्यास्यं वायोः शोषकलात् । उच्चासश्चोपरुध्यते वातारतस्रोतस्सात् । वेदनायादचेत्यादि प्रादुर्भावे, वाहुल्येन स्रोतोऽन्तराले वेदनायाः शुलस्य जनने ष्रीहाटोपाद्यक्वैनं वातग्रलिमनमुप-द्रवन्ति । इत्यमी वातगुल्मोपद्रवा अपि वातगुल्मलिङ्गान्युच्यन्ते लिङ्गान्तगंतलेन पाठात् 🖫 न तु लिङ्गातिरिक्ताः, परन्तपरलिङ्गापेक्षयाधिकवलवत्तया रोगोत्-पादानन्तरमतिपीड़ाकरलादुपद्रवा उच्यन्ते, इत्यभिषायेणाचाय्यौ नोपद्रवान 'स्थूला'दिभेदेन भिज्ञान् ; 'पिण्डितत्वात् गुल्मः इत्युच्यते' इत्यनेन लतादिगुल्मसादस्यनिवन्धनां गुरमसंज्ञां दर्शयति । आधमति विस्तारीभवति ; अनियतविपुळाणुवेदन इति कदाचित् विपुळ-वेदनः कदाचिद्रपवेदनश्रानियतमेव भवति ; अत्रैव हेतुमाह—चल्रवाद् वायोरिति । आयामो विस्तरणम् ; हर्षो रोमहर्षः ; प्रख्यो नाशः, उदयो जन्म, स्फुरणादीनां जन्मनाशौ वहुधा भवत

अध्मतीति पाठः साधुः ।

सत्त्वलच्णसंयोगो भक्तित्रें देर द्विजातिषु । साध्यत्वं न च निव्वेदस्तदारोग्यस्य लच्चणम् ॥ ४०॥ श्रारोग्याद् चलमायुश्च सुखञ्च लभते महत् । इष्टांश्चान्यपरान् भावान् पुरुषः शुभलच्चाः ॥ ४१॥

तत्र श्लोको ।

उक्तं गोमयचूर्णीये मरणारोग्यलच्राम् । दृतस्वनातुरोत्पातसिद्धियुक्तिव्यपाश्रयम् ॥ ४२ ॥

पतितोत्थानं स्वप्ने स्वस्य पतिस्रोत्थानदशनं शुभम्। द्विपतां शत्रूणानभि-मईनं स्ववछेन मदीकरणम्। इति स्वमाः मशस्ताः। ॥ ३९ ॥

गङ्गाधरः—आतुरलक्षणमशस्तिमाह—सत्त्वेत्यादि । सत्त्वं मनस्तस्य स्वाभाविकलक्षणेन संयोगः न तु सत्त्वगुणस्य, राजसतामसयोः सत्त्वगुणोद्धेके सित स्वभावान्यथात्वेनारिष्टलात् । साध्यत्वं रोगस्य न तसाध्यरोगे सत्त्वादि-मत्त्वे । न च निर्व्वेदः । विवेकिनी युद्धिर्यदि न वर्तते । वैराग्यादेर्मनःखेदो निर्वेद एक्तः ॥ ४०॥

गङ्गाधरः—आरोग्यस्य फलमाह—आरोग्यादित्यादि । इष्टांश्चाप्यपरान् तपोनिर्व्याणादीन् ॥ ४१ ॥

गङ्गाधरः—अथास्याध्यायस्यार्थं संग्रहीतुमाह—तत्रेत्यादि। दूतादि-व्यपाश्रयं मरणलक्षणमारोग्यलक्षणश्च ॥ ४२ ॥

द्विपताञ्चावमद्दैनमिस्यन्तं स्वप्नेन ज्ञेयम् । सत्त्वस्य गुणस्य लक्षणेः सह संयोगः सरवलक्षणसंयोगः । न च निष्वद इत्यात्मन्यनवज्ञा इत्यर्थः ॥ ३८—४९ ॥

चक्रपाणिः— उक्तमित्याद्यध्यायसंग्रहः । दूतादिषु पृथक् हारणारोग्यलक्षणमिह नोक्तं न्यक्तमेव । युक्तनाश्रयं मरणलक्षणं यथा—'यमुद्दिश्यातुरं वैद्यः सम्पाद्यितुमोपक्षम्' इत्यादिग्रन्थोक्तम् । सिद्रनाश्रयं मरणलक्षणं यथा—'विज्ञातम्' इत्यादिग्रन्थोक्तम् । नशरोग्यलक्षणं युक्तनाश्रयं इतीद्मुक्तं निखिलं यथातथं क तद्नवेद्वयं सततं भिषिवदा। तथा हि सिद्धिश्च यशश्च शाश्वतं स सिद्धकर्मा सभते धनानि च॥ ४३॥

इत्यिग्नवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने गोमय-चूर्णीयसिन्द्रियं नास द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

श्होकसङ्ख्या ॥ ४०५ ॥

गृहाधरः—अथैतदिन्द्रियस्थानस्य हाने वैद्यानां फलमाह—इतीदिमित्यादि । सिद्धिं क्रियासिद्धिम् ॥ ४३ ॥

अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि । इतीन्द्रियस्थानं सम्पूर्णम् ।

इति वैद्यश्रीगङ्गाधरकित्रस्तिवरिचते चरकजलपकलपतराविन्द्रियस्थानजल्पे पञ्चमस्कन्धं गोमयचूणीयद्वादशाध्यायजलपाख्या द्वादशी शाखा ॥ १२ ॥

सिद्रमाश्रयाञ्च यथा—'हष्टालम्भः सुखेन च' इति प्रन्थोक्तम् । इतीत्यादिनान्द्रयस्थानोक्तं प्रमेय-जातं सहाफलत्वेनावश्यवोध्यतयोपदर्शयनुपसंहरति ॥ ४२ । ४३ ॥

हति महामहोपाध्यायचरकचतुराननश्रीमचकपाणिदत्तविरचितायामायुन्वददीपिकायां चरकतात्परयंटीकायाम् हन्द्रियस्थाने गोमयचूर्णायेन्द्रियं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

्रेटः समाप्तिदिमिन्द्रियस्थानम् । ॥ श्रीः ॥ कृष्णारुणपरुवत्वङ्नखनयनवद्नमूत्रपुरीपश्च अवति । निदान्नोक्तानि चास्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरते ॥ ५ ॥ (इति वातग्रुल्मः ।)

तरेव तु कर्पणैः कर्षितस्यास्त्तत्वग्यकटुचारोप्णतीच्ण-शुक्तव्यापत्रमयहरितफलाम्लानां विदाहिनाश्च शाकधान्व-मांसादीनाम् उपयोगादजीर्णाध्यशनात् रौच्यानुगते चामा-श्ये वसनविरेचनमतिवेलं सन्धारणं वातातपौ चातिसेवमानस्य पित्तं सह मास्तेन प्रकोपमापयते। तत् प्रकृपितं मास्त श्रामाश्यकदेशे संवर्त्ता तानेव वेदनाप्रकारानुपजनयति, य

निदानादिभ्यः पृथगुवाच । कृष्णारुणेति कृष्णत्वं वाऽरुणत्वं वा परुपत्वश्च तङ्नखादिषु तादृशानि त्यगादीनि यत्र स तथा । निदानोक्तानीत्यादि सुगमम् ॥ ५ ॥ ' (इति वातगुल्मः ।)

गृङ्गाधरः—पित्तगुरुमनिदानमाह—तैरेवेत्यादि । तैरिति वातगुरुमोक्त-ज्वरादिभिः कर्षणैः किपंतस्येति अम्लल्यणादिवचनेन वातलमाहार-माहरतीत्यस्य प्रतिषेधः कृतः । विदाहिनाश्च शाकादीनामुपयोगान्न तु सन्वेषां शाकादीनामिति पित्तप्रकोपहेतवः । अजीर्णाध्यशनादयो वातकोप-हेतवः । आतपश्च वातपित्तकोपहेतुः । अत एव पित्तं सह मास्तेन प्रकोपमाप्यते ।

न्तु पित्तमारुतौ प्रकृपितौ द्वावेव किं गुरुमं क्ररुतः ? इत्यतः पित्त-गुरुमस्य विधिरूपां सम्प्राप्तिमाह—तदित्यादि। तत् पित्तं प्रकृपितं कम्में, मारुत इति कत्तो प्रकृपित एव आमाशयैकदेशे संवर्त्य संपिण्डा

इत्यर्थः ; अत्रापि चलत्वमेव वायोर्हेतुर्वोद्धन्यः ; हृष्यान्त चास्य रोमाणीति वेदनापादुर्भावे प्रतिनियमेन, स्फुरणादौ तु हपौं विनापि वेदनामिति ज्ञेयम् ॥ ४१५ ॥

चक्रपाणिः—रोक्ष्यानुगते चामाशय इति रोक्ष्येण हेतुनाऽतीवरुक्षीकृत इत्यर्थः ; किंवा, रोक्ष्यानुगते चामाशये सति वमर्ग सेवमानस्येति योजनीयम्, आमाशयैकदेशे संमूच्छेंपति- उक्ता वातगुलमे। वित्तन्त्वेनं विद्द्वित कुचौ हृदुग्रसि कग्ठे वा विद्यसानः सधूमिमवोद्गारमुद्गिरत्यम्लान्वितम्। गुल्माव-काशश्चास्य द्यते दूयते धूप्यत्युष्मायते स्विद्यति क्लिद्यति मृदु-शिथिल इव स्पर्शासहोऽल्पलोमाञ्चो भवति। ज्वरभ्रमद्वथु-पिपासागलतालुमुखशोषप्रमोहविद्भोदाश्चैनमुपद्रवन्ति।हरित-हारिद्रत्वङ्नखनयनवद्नमूत्रपुरीषश्च भवति। निद्रानोक्तानि चास्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरत ॥ ६॥

(इति पित्तगुल्मः।)

तरेव तु कषगैः किषतस्यात्यश्नादितिक्षिण्यग्रहमधुर-शीताश्नात् पिष्टेचुचीरितलमाषगुड़िवक्वितिसेवनात्, मद्याति-पानाद्धरितकाति अन्यायनादान् पौदक-प्राम्य-मांसातिभचगात् तानेवेति मुहुराध्मातीत्याद्वाक्तरूपृत् । नन्नु तत्सर्व्यं मारुतकार्य्यं, पित्तन्तु किं करोतीत्यत आह—पित्तन्त्वेनिमत्यादि । विदहित विशेषेण ज्वालां करोति कुक्ष्यादिषु । पित्तेन कुक्ष्यादिषु विदह्यमानः पुरुषः सधूमं धूमेन सहित-मिव गन्धवदम्लान्वतमुद्वारमुद्विरति । गुल्मावकाश इत्यस्य दह्यते द्यते इत्या-दिभिरन्वयः । गुल्मावकाशो गुल्मपदेशः । ज्वरादय उपद्रवाः । एनं पित्तगुल्मिन पुरुषम् । हरितो वर्णः हरिद्वणः पालाशवणं इति यावत् । हारिद्रो हरिद्रावत् पीतवणः । शेषं मुगमम् ।। ६ ।। (इति पित्तगुल्मः ।)

गङ्गाधरः—कफगुल्मिनदानमाह—तैरेवेत्यादि। तैरेवेति वातगुल्मोक्त-ज्वरादिभिः कपणैः। अतिस्त्रिग्धादीनां यथायोग्यं केवलकफकरतं वात-वचनात् पित्तगुल्मस्य कफगुल्मस्य च वितः स्थानं न भवतीति दर्शयितः वचनं हि— "नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय इति स्मृतः" इति । वातगुल्मस्य तु वित्तरिप स्थानं भवितः । अत एव तत्र सामान्येन 'महास्रोतः' इति कृतम् ; 'ग्रहास्रोतोग्रहणेन च वित्तरिप गृह्यते, तथा वातगुल्म एव "हदि वस्तो" इत्यादि कृतम् ; दाहदूयनादयः पित्तवेदनाविशेषा असकृद्व-व्याख्याताः ; दवथुर्धक्षकितेति लोके कथ्यते ॥ ६ ॥

चक्रपाणिः—इलेप्मगुल्मेऽतिसुक्षस्येति अतिसुक्षितस्य ; अतिसुहितस्येति वा पाठः ;

^{*} मन्द्रस्यातिपानात् इति वा पाठः ।

सन्धारणाङ्तिसुहितस्य चातिप्रगाङ्मुद्कपानात् संचोभाद्या शरीरस्य र्लेप्मा सह मारुतेन प्रकोपसापद्यते ।

तं प्रकृषितं मास्त श्रामाश्यैकदेशे संवर्त्ता तानेव वेदना-प्रकारानुपजनयतिः, य उक्ता वातगुल्मे। श्लेष्मा त्वस्य शीत-ज्वरारोचकाविषाकाङ्गमदं-हर्ष-हृद्रोग-च्छिदिनिद्रालस्य-स्तैमित्य-गौरविश्ररोऽभिताषानुपजनयति, श्रिष च गुल्मस्य स्थैर्घ्य-गौरवकािठन्यावगादृसुप्तताश्च तथा कासश्वासप्रतिश्यायान् राजयन्म। एश्वातिवृद्धः श्वेत्यश्च त्वङ्नखनयनवदनमूत्रपुरीपेषु उपजनयति। निदानोक्तानि चास्य नोपशेरते विपरीतानि चोपशेरते॥ ७॥ इति श्लेष्मगुल्मः।

त्रिद्रोपहेतुलिङ्गसन्निपाने तु सान्निपातिकं गुल्ममुपइलेप्मकरत्वश्च बोध्यम्। तं कफं प्रकृपितं प्राग्नकहेतुभिः। मारुतः कर्ता।
इलेप्मा तस्यिति। तत्र गुल्मे यं इलेप्माणं मारुत आमाशयैकदेशे संवर्त्तेत्र
तानेव वेदनाप्रकारान् उपजनयित, स इलेप्मा, तस्य गुल्मिनः।
अपि चेत्पादि गुल्मस्य ग्रन्थिरूपस्य स्थैर्यादीनुपजनयित इलेप्मा।
तथेत्यादि अतिष्टद्धोऽयं इलेप्मा कासादीन् राजयक्ष्माणञ्चोपजनयित,
त्रगादिषु इवैत्यञ्चोपजनयित, इत्येते कासादयः कफगुल्मानामुपद्रवा बोध्याः।
अतिष्टद्ध इति इलेप्मणः कर्त्तृ तवचनेन सर्वित्रवेषेपद्रवाणां तत्तद्द्रग्राधिकरहेतूपष्ट'हितदोपवलेन उपष्ट'हितवलच्याधिजन्यतं न तु तत्तद्द्रग्रध्यारम्भकदोपजन्यतमित्युक्तं प्रत्याख्यातम्॥ ७॥

गङ्गायरः—त्रिदोपेत्यादि । इहैवमेकैकदोपस्य ये हेतवो यानि च लिङ्गानि उक्तानि तेपां त्रयाणां दोपाणां तेषां हेतूनां लिङ्गानाश्च सन्निपाते परस्पर-मिलने । तुशव्दादिधकिलिङ्गानाश्च सन्निपातो विक्वतिविपमसमवायारव्धलात् । चिकित्सिते महारुजं दाहपरीतमञ्मवदित्यादिलक्षणेन त्रिदोपजगुल्मस्य ययि राजयक्ष्मा त्रिदोपजः, तथापि कफगुल्म एव रोगमहिन्ना अजनितदोपत्रयेण जन्यत हति बोह्यस् ॥ ७ ॥

चेदनाप्रकाशनिःयत्र गाढ्वेदनाप्रकारांन् इति द्वितीयः पाठः ।

दिशन्ति कुश्लाः। स्न विरुद्धोपक्रमस्वादसाध्यो निचय-गुल्मः॥ =॥

शोगितगुल्मस्तु खलु स्त्रिया एव भवति न पुरुषस्य, गर्भकोष्ठार्त्तवागमनवैशेष्यात्। पारतन्त्रग्रादवैशारचात् सततम्

वश्यमाणलात्। तथा तत्रैव निमित्तलिङ्गान्युपलभ्य गुल्मे इत्यादिना चिकित्सा-विशेषाथमेव द्वन्द्वजानां त्रयाणां वश्यमाणलेऽपि संख्यायां गणनाभावेन प्रकृति-समसमवायारव्यलख्यापनात् त्रिदोषजस्य संख्यायां गणितलेन विकृतिविषम-समवायारव्यलं प्रकृतिसमसमवायारव्यलञ्च ख्यापितवान्। विरुद्धोपक्रम-लादिति तुल्यवलविरुद्ध उपक्रम आरम्भो यस्य तस्मात्। न ह्यस्ति सान्नि-पातिकज्वरादेरिव विकृतिविषमसमवायारव्यलेऽपि पञ्चकपायकल्पनैः कल्पित-संशमनौष्यसत्त्वेऽपि षड्पक्रमाणां वातादियोग्यानां परस्परविरुद्धलेन त्रिद्दोप-हरतया यौगिकलं निचयग्रलमे व्याधिस्त्रभावादिति ॥ ८॥

गङ्गाधरः—शोणितग्रन्मस्तिति उद्दिष्टः शोणितग्रन्मः। स्त्रिया एवेति न तु पुरुषस्येति। शिश्वादिचिद्धस्य प्राणिमात्रस्यैव पुरुषपदेनोक्तत्वेन तल्लाभापत्तेः। नतु कुतो न पुरुषस्य शोणितग्रन्मः स्यादित्यत आह—गर्भेत्यादि। गर्भात् गर्भाशयरूपकोष्ठादात्तंवस्य रजइत्याख्यरक्तस्यागमनेन स्त्रीतः पुरुषस्य वैशेष्यात् तद्रक्ताभावात्। प्रसादरक्तन्तु न्याधिस्त्रभावान्न गुल्ममार्भते।

आत्तंवशोणितगुल्मस्य निदानान्याह—पारतन्त्रग्रादित्यादि। पारतन्त्रंग्र प्रायण पराधीनत्वम्। अवैशारद्यादिति स्त्रीजातीनां स्वभावत एव प्रायो

चक्रपाणिः—विप्रतिपिद्धोपक्रमत्वादिति परस्परं वातादिविरुद्धोपक्रमत्वात् । इह च विप्रति-पिद्धोपक्रमत्वं विकृतिविषमसित्रपातेन बोद्धन्यम् ; तेन साध्यित्रद्धोपन्वरादौ वातादिविरुद्धोप-क्रमत्वं सदिप नासाध्यतामापादयति ॥ ८ ॥

चक्रपाणिः —शोणितगुरुमे 'स्त्रिया एव' इतिवचनादेव 'न पुरुपस्य' इति छड्धे पुनः 'न पुरुपस्य' इतिवचनं स्पष्टार्थम् । गर्भात्मकः कोष्टो गर्भकोष्ठस्तिसम्, गर्भकोष्ठे य आर्त्तवस्य आगमनरूपो विशेषो रक्तगुरुमकारणम्, स स्त्रिया एव भवति ; तेन एवंरूप आर्त्तवप्रतिवन्धजनयः शोणितगुरुमः पुरुपस्य न भवति । सामान्यशोणितदुष्टिजन्यस्तु पुरुपस्यापि भवति ; तथाहि वक्ष्यति—"कफे वाते जितप्राये पित्तं शोणितमेव वा । यदि कुष्यति वा तस्य क्रियमाणे चिकित्सिते ॥" इति ; तथा "गुरुमोपकुशवीसर्पा इत्यादयो रक्तजगद्दाः" इत्युक्तम् । पारतन्त्रनादि

उपचारानुरोधाद्व वेगानुदीर्णानुपहन्धत्याः श्रामगर्भे वाप्य-चिरपतिते अथाव्यचिरप्रजाताया ऋतौ वा वातप्रकोपगानि द्यानेवमानायाः चित्रं वातः प्रकोपमापचते । स प्रकृपितो योन्या मुखमनुप्रविश्यात्त्वमुपरुणिद्ध। मासे मासे तदात्त्वमुपरुध्यमानं कृचिमभिवर्द्धयति, तस्याः शूलकासातिसारच्छर्द्गरोचका-विषाकाङ्गमईनिद्रालस्यस्तैभित्यकफप्रसेकाः समुपजायन्ते । स्तनयोश्च स्तन्यम्, छोण्ठयोः स्तनमग्डलयोश्च काप्गर्यमत्यर्थ ग्लानिश्चनुपोर्म्चर्छा हृह्वासो दोहदः श्वयथुश्च पादयोः, ईप-विशारद्वाभावः। सततप्रुपचारानुरोधादिति प्रायेण गृहकम्मानुरोधः न्त्रीणामस्ति तेपामन्यतमात् पुरीपादीनां वेगानुदीर्णानप्युपरुणद्धि इति उदीर्ण-वेगानुपरुन्यत्याः क्षिप्रं वातः प्रकोपमापद्यते। अपि च। अचिरपतिते अभिनवपतिते आमगर्भे आसप्तममासिकगर्भे अल्पकालातीतपतिते सति या स्त्री वातप्रकोपणान्यासेवते, तस्याः क्षिपं वातः प्रकोपमापद्यते। अथवा या स्त्री अचिरंमल्पकाळातीतं प्रजाता प्रस्ता वातपकोपणान्यासेवते, तस्या वायुः क्षिपं प्रकोपमापचते। अथवा या स्त्री ऋतो सति वातप्रकोपणानि आसंवते तस्याः क्षिपं वातः प्रकोपमापद्यते।

विधिसम्प्राप्तिमाह—स इत्यदि। स इति वायुः। योन्या मुखम् अन्तयोनौ रजःक्षरणस्त्रोतोमुखं मासे मासे तेन वायुनोपरुध्यमानमक्षरत् तदात्तेवं कर्त्तुं। तिद्वज्ञानार्थं लिङ्गान्याह—तस्या इत्यदि। ओष्ठयोः स्तनमण्डलयोश्च काप्णेत्र कृप्णवर्णत्वं, स्तनमण्डलं चूचुकं परितः कृप्णमण्डलम्। अत्यर्थं ग्लानिश्चक्षुपोरिति चक्षुपोरालस्यातिशयः। दोहदः सन्वेरसाहारादिषु हेतुत्रयं वेगविधारणे, पारतन्त्रगदेव खियो वेगं विधारयन्ति। अवैशारयमज्ञानम्; तेन वेगविधारणेन महान् व्याधिमंवत्येव, अज्ञा एव वेगं विधारयन्ति। उपचारादिति भर्ताद्वरपचारपरवात्; योनिमुखमितिं गर्माशयद्वारम्। स्तनयोः स्तन्यमिति रोगप्रभावादेव चोद्वन्यम्; आर्त्तवरोगलक्षणस्य व्याधेरयं प्रभाव, यतः स्तन्यं करोति, दृश्त्वात्; तेन, यद्वन्यते—"स्त्रिया हुनत्पत्रगर्भायान्तिया रसः सम्पयते स्वशरीरपुष्टये, स्तन्याय, गर्माभिवृद्धये च" इति वचनात् 'गर्म एव स्तन्यं भवति,' तिन्तरस्तं मन्तव्यम्; दोह्दशक्तेनेह नाय्यो उच्चावचताविद्व्छायोगो दोहदाभिधानो होयः; यद्कः क्षारपाणिना—

चोहमो रोमराज्या योन्याश्चाटालत्वमि च योन्यां दौगन्ध -मास्रावश्चोपजायते। केवलश्चास्या गुल्मः पिरिडत एव स्पन्दते, तामगर्भा गर्भिगोमित्याहुमूँ हाः ॥ १ ॥

काङ्का। श्वरथुश्च पाद्योः। ईषद्रोमराज्या योन्याश्चाटालत्त्रं विस्तृतत्त्रम्। केवलश्चास्या इति। अस्या आत्तेवगुल्मिन्याः केवलः कृत्स्तः पिण्डितरूप एव गुल्मः स्पन्दते इति गर्भाद् भेदः, गर्भौ हि करचरणाद्यवयवेन स्पन्दते निःश्लश्च। तामात्त्वगुल्मिनीमगर्भां मृदा आत्तेवगुल्मलक्षणान्यविद्वांसो गर्भिणी-माहुः॥९॥

"दोहिंदिनी वा स्यान्नारी शोणितगुल्मिनीं। न त्विह हुँ हृद्यस्य कृतो भेदोऽभिप्रोतः; स हि गर्भहृदयस्य मातृहृद्येन हि सम्बन्धो भवतीति ; वचनं हि—'मातृजन्त्वस्य हृद्यं मातृहद्येन सम्बद्धं भवति रसवाहिनीभिः संवाहिनीभिः ; तस्मात् तयोर्भक्तिः सम्पद्यते इति ; शोणितगुल्मे च चेतना नास्ति ; तेन नैबंरूपिमद् हुँ हृद्यं दोहद्म ; तेन गर्भभ्रान्त्या यत्-किञ्चिद्भयवहारेच्छादिलक्षणं दोहदं तस्या भवति ; असत्यिप विपसम्बन्धे यथा शङ्काविपात् विपलिङ्गानि भवन्ति ; वचनं हि—"शङ्काविपेणोपहताः कुर्व्वन्ति विपलक्षणम्" इति । चाटालत्वं विस्तृतत्वम् : योनिविस्तारेण च रोमराज्या अपि विस्तरणं वितन्यमानचर्मरोरणा चैवापपन्नम् : केवलः स्पन्दत इति नैकदेशेन ; गर्भो ह्योकदेशेनापि स्पन्दते ; तेन एतल्लक्षणं गर्भशङ्का-व्यावर्त्तकम् ; ननु यदुक्तं रक्तगुर्को—'समगर्भलिङ्गः" इति, तथा 'मासे व्यतीते दशमे चिकित्सः" इति तद्नुपपन्नम् ; यतः गर्भाद् विशिष्टं पिण्डितस्पन्दनं विद्यत एव, तथा नवत्वं सुख-साध्यताहेतुत्वेनोक्तम् ; इह च कथं कालातिक्रमेणोपक्रमणीयत्वमुच्यते ? अत्र व्रमः—समगर्भ-लिङ्गसावत् भूरिगर्भसमलिङ्गताभिप्रायेणोक्तः : किंवा समस्यावैकारिकस्य दशममासिकगर्भस्य लिङ्गानि यस स समगर्भलिङ्गः ; तेन वैकारिकसुप्तनागोद्रादेर्लक्षणं नेह भवतीति दर्शयति ; दशममासिचिकित्स्यत्वञ्चेह न्याधिमहिम्ना वोद्वन्यम्, दशममास एवायं शिथिलीभूतः सन् चिकित्स्यो भवतीति व्याधिप्रभावः ; दृष्टा च व्याधिप्रभावकृता कालापेक्षा—"ज्वरे पेयाः कपायाश्च सर्पिः क्षीरं विरेचनम्। पड्हे पड्हे देयम्" इंत्यादिषु, यत् तु समगर्भिलङ्गत्वेन गर्भशङ्कानिरासार्थे रक्तगुरुमस्य दशममासापेक्षणम्, तन्नः, दशममासादव्वीगपि पिण्डित-स्पन्दनेन रक्तगुलमस्यावधारणात्, तथा दशममासादूर्द्धु मपि गर्भावस्थानस्य दृष्टत्वेन गर्भशङ्का-नपगमाच ; वक्ष्यति हि दशममासाादूर्द्व मवस्थानं गर्भस्य, 'वैकारिकमत ऊर्द्धु मवस्थानम्" इति वचनात्॥ ९॥ :

एपान्तु खलु पञ्चानां ग्रह्मानां प्रागिभिनिव्वृ त्तेंरिमानि पृट्वेन्द्रपारिए भवन्ति । तद् यथा—अनन्नाभिलपण्मरोचकाविपाकाविववेपम्यं विदाहो भुक्तस्य पाककाले चायुक्ता।
च्छ्रद्र्यहारों, वातमूत्रपुरीपवेगाणां प्रादुर्भावः प्रादुर्भूतानाञ्च अप्रवृत्तिरीपद्रागमनं वा, शूलाटोपान्त्रकूजनपरिहर्षणातिवृत्तपुरीपताः. अयुभुचा दोव्वेन्यं सोहित्यस्य चासहत्विमिति
गुलसपूर्वेरूपाणि भवन्ति ॥ ०॥

सर्व्यंषु खल्वेतेषु गुल्मेषु कश्चिन्न वाताहने भवति गुल्मः। नेपां सान्निपातिकमसाव्यं ज्ञात्वा नेवोपक्रसेत। एकदोपजे

गङ्गायरः—गुल्मानां पञ्चानामव सामान्यतः पून्वरूपाण्याह—एपान्तु इत्यदि। अनन्नाभिल्पणं सत्यामिष श्रुधायागिशतुमिनिन्छा। अरोचकस्तु सत्यप्यभिलापेऽभ्यवहारासामर्थप्रम्। विदाहो ग्रुक्तस्याद्धेपरिपाकः। भ्रुक्तस्य पाककालेऽग्रुक्तया च्छद्दुं प्रवृगारो। वातादिवेगानां प्रादुर्भाव उपस्थितः, किन्तु पादुर्भू तानां उत्सप्दुं प्रवित्तं तानां तेपां वातादिवेगानामप्रवृत्तिः सङ्गः। आटोपो गृङ् गुङ्गाध्वनिः तनतिनवा। परिहपेणं रोमाञ्चः। अतिवृत्तपुरीपता कोष्टमभितो दृत्तं पुरीपं यस्य तत् तम्। अवुभुक्षा श्रुधाभावः। सौहित्यस्य आ तृप्तितो भ्रक्तरेसहत्वं दौन्वंल्यात् ग्लानिकरत्वाच सौहित्यस्य ॥ १०॥

गङ्गाधरः—नमु वातगुलमे यथा वातस्य गुल्मारम्भकत्वं तथा पित्तादि-गुल्मेष्वप्युक्तं, ततः किं पित्तादिगुल्मो द्वन्द्वज इत्याशङ्कायामाह—सन्वें प्वित्यादि। चल्रत्वेन वातस्य पिण्डाकारकच्नेत्वे पित्तकफरक्तानाश्च पङ्ग्त्वेन पिण्डा-काराकच्नेत्वाद् वातं विना न कश्चित् गुल्मो भवतीति भाव इति सन्वेंप्वेच गुल्मेषु वाताविरुद्धा क्रिया विहिता। अपि च पित्तादिगुल्मेषु पित्तादिवद् वातप्रकोपसत्त्वेऽपि वातस्योत्सिगिकत्वान्न द्वन्द्वं जत्वेन व्यपदेशः। चिकित्सा सूत्राण्याह—तेषामित्यादि। तेषां पञ्चानां गुल्मानां मध्ये सान्निपातिकं गुल्मं ज्ञाला नोपक्रमेत, वातजादिकमप्यसाध्यं ज्ञाला नोपक्रमेत। एक-

चक्रपाणिः—तद् यथेत्यादिना पूर्वक्षपाण्याह । अयुक्तेत्रति छर्दुत्रद्वारकारणमन्तरेण व्याधि-प्रभावादेवेत्यर्थः । अतिवृत्तपुरीपता उदावर्तः ॥ १०॥ तु यथास्वमारम्भं प्रग्रायेत्, संख्रष्टांस्तु साधारगोन कर्मगोप-चरेत्। यद्यान्यद्प्यविरुद्धं मन्येत, तद्प्यवचारयेद्विभज्य ग्रुर-लाघवपुपद्रवागां समीच्य। गुरूनुपद्रवांस्त्वरमागंश्चिकित्सेत् जघन्यमितरांस्त्वरमाग्रश्च। विशेषमनुपलभमानो गुल्मेषु

दोषजे लिति। तुशब्दो भिन्नक्रमे तेन साध्ये तु एकदोपजे यथास्वं स्वारम्भकदोषहरमारम्मं कम्मे पणयेत् कुर्य्यादित्यर्थः। संस्रष्टांस्लिति। स्वकारणकुपितवातिपत्तजं तथा वातकक्षजं पित्तकष्णञ्च साधारणेन वातिपत्तिदिद्वन्द्वदोषहरेण कम्मेणा विरेचनादि-स्वेदादिना च। एतेन द्वन्द्वजानां परिसङ्ख्यया
गणनाभावेन च प्रकृतिसमसमवायारब्यत्वं ख्यापितम्। आचार्य्याणामियं हि
रीतिः—प्रायेण विकृतिविषमसमवायारब्यान् द्वन्द्वसन्निपातजान् व्याधीन्
परिसङ्क्षया गणियत्वा तेषां लिङ्गानि साक्षात् पिटत्वा प्रकृतिसमसमवायारव्धान् न गणियत्वा अतिदेशेन लिङ्गान्युपदेश्य क्रियाभिधीयत इति। यचान्यदिति। तदारम्भकदोषहरमपरदोषाविरुद्धं तदिष ग्रुरुलाववं विभज्य ग्रुरुलेन रुद्धे
दोपे लघुद्रव्यं लघुलेन रुद्धे ग्रुरुद्वयमिति विभज्य अवचारयेत्। एतदुपदर्शनमात्रं, तेन स्निग्धलादिगुणैरिष रुद्धे रौक्ष्यादिगुणविभागः कत्तंव्यः। नन्वत्र
यदुप्रपद्रवा वलवन्तः सन्ति, तत्र किं व्याधिहरणमादौ कत्तंव्यं तत्प्रशमने
चोपद्रवाः प्रशाम्यन्ति, किम्रुतोपद्रवान् प्रश्मयेदित्यत् आह—उपद्रवाणामित्यादि।

नन्पद्रवाणां गुरु लाघवं समीक्ष्य किं कुर्यादित्यत आह— गुरूनित्यादि। उपद्रवाणां वातजे पादुर्भू ते वेदनाष्टीहाटोपादीनां मध्ये, पित्तजे ज्वरश्चमादीनां मध्ये, कफजे कासश्वासादीनां मध्ये, गुरूनितपीड़ाकरानुप-द्रवान समीक्ष्य लरमाणः जीघः सन् तान् चिकित्सेत्। ननु किं लघन् न चिकित्सेदित्यत आह—जघन्यमित्यादि। जघन्यं पश्चात् इतरान् लघनुप-द्रवान्। ननु व्याधेविज्ञेषोपलव्धिविधानं न लरया भवति, यदि च गुल्मो-ऽतिरुद्ध आत्यियकं कम्मे कुरुते तदा लरमाणः किं कुर्यादित्यत आह—

चक्रपाणिः—पित्तादिकृतेष्विप तु गुल्मेपु सम्प्राप्तिसिद्धस्य वातस्य प्राधान्यमाह—सर्वेषविप

<

आत्यिके कर्मणि वातिचिकित्सितं प्रणयेत्। स्नेहस्वेदौ वातहरौ स्नेहोपसंहितश्च सृदु विरेचनं वस्तींश्चाम्बलवण-नष्टुरांश्च रसान् युत्तयावचारयेत्। सास्ते द्वापशान्ते खल्पेनापि यत्नेन श्वयोऽन्योऽपि दोपो नियन्तुं गुल्मेष्विति॥ ११॥ भवति चात्र।

गुल्मिनामनिलशान्तिरुपायैः सर्व्वशो विधिवदाचरितव्या । मारुतं ह्यवजितेऽन्यमुदीर्णं दोवमल्पमपि कर्म्भ निहन्यात्॥१२॥

ह्मर्गाणञ्चेत्यादि । गुरुमेषु सब्वेध्वेचात्ययिके क्षिप्रं प्राणहरणकारिणि कम्मेणि सति तरमाणश्च चिकित्सां कर्तुं शीव्रं प्रवत्तेमानश्च भिषक् विशेषं वातजलादि-रूपेण गुरुमं प्रभेदमनुपलभ्यमानमुपलव्धिविषयमकुर्वन् वातचिकित्सितं प्रणयेत । नन्न करूपक्रमीरित्यत आह—स्नेहेत्यादि । स्नेहोपसंहितं स्नेहद्रव्य-चटितं वस्तींश्र स्नेहोपसंहितान् युक्तया व्याधिपुरुपवलाचनुरूपेण। नन् क्समान सन्वें देवेव गुल्मेषु वातचिकित्सितं प्रणयेदित्यत आह—मारुत इत्यादि । अत्र न हि कश्चिद् वाताहते भवति गुल्म इति पूर्वेमुक्तहेतुरुन्नेयः ॥११ तद्विद्यन्यवसायाय श्लोकेनाह—भवतीत्यादि। गुल्मिना-मित्यादि । उपायैरुक्तैः स्नेहस्वेदादिभिः । सन्त्रेशः संशोधनसंशमनाहारा-चारादिसन्बरूपेण। विधिवदिति तत्तत्तर्नहादिप्रयोगविधानेन। अन्यमुदीर्णं दोषं पित्तादिकम् अल्पमपि कम्मे पित्तादिहरणशीतादि-क्रम्मोलपरूपेण प्रयुक्तमपि निहन्यादित्यर्थः। अत्रेद्मवधातन्यम्—सन्वेध्वेद गुरुमेषु बातकोपात शुलो वर्त्तते, स च केवलवातजे गुरुमे केवलबातज एव स्चीवेधवदादिनानाप्रकारः। पित्तजादौ तु वातजनानाप्रकारोऽपि पित्तादि-.सम्बन्धेन तीव्रज्वालादिसहित एव थवति, इति शुलोऽपि तत्र वातजादि-रूपेण वपपदिष्टो भवति पश्चविधः सह द्वन्द्वजैरष्टविधश्च कफजे लामशुलस्यान्त-एतेन गुल्मातिरिक्तः कश्चिद्दन्यः शूछरोगो भोवेणाधिकलाभावादिति । गस्ति यश्च शुल्ल आपातत एव दृश्यते स वातकम्मं विशेषो न च चिरस्थ-ाकर एतटभिषायेणाचारथेंणानेनान्यः शुलो रोगो नोक्तः। सुश्रुतेनाप्येतद[ि]

प्रायेण गुल्याधिकारे गुल्मोपद्रवलेन श्लमुत्तवा गुल्मोक्तस्थानजः पृथक् श्ल उक्तः ; तद् यथा-अथास्योपद्रवः शूलः कथश्चिदुपजायते । शुळं निखानितमिव सुखं येन न वेत्त्यसौ। तत्र विष्मृत्रसंरोधः कुच्छोच्छ्वासः स्थिराङ्गता। तृष्णा दाहो भ्रमोऽन्नस्य विदग्धपरिवृद्धता। रोमहपौऽरुचिक्छिस्भक्त-द्यद्धिजेड़ाङ्गता। वाय्वादिभियंथासंह्यां मिश्रीर्वा वीक्ष्य योजयेत्। पथ्या-त्रिलवणं क्षारिमत्यादिचिकित्सावचनानन्तरं—विना गुरुमेन यच्छूळं गुरुम-स्थानेषु जायते। निदानं तस्य वक्ष्यामि रूपश्च सचिकित्सितम्। वात-मूत्रपुरीपाणां निग्रहादतिभोजनात्। अजीर्णाध्यशनायास विरुद्धान्नोप-पानीयपानात् क्षुत्काले विरूढ़ानाश्च सेवनात्। पिष्टान्न-शुष्कमांसानामुपयोगात् तथैव च । एवंविधानां द्रव्याणामन्येषाञ्चोपसेवनात् । वायुः प्रकुपितः कोष्ठे श्लं संजनयेद्भृशम्। निरुच्चासो भवेत् तेन वेदनापी इतो नरः। शङ्कुस्फोटनवत् तस्य यस्मात् तीत्राश्च वेदनाः। शुलासक्तस्य लक्ष्यन्ते तस्माच्छूलमिहोच्यते। निराहारस्य यस्यैव तीत्रं शूलमुदीय्यते। पस्तन्य-गात्रो भवति कुच्छ्रेणोच्छ्रसितीव च। वातमूत्रपुरीषाणि कुच्छ्रेण कुरुते एतृै छिंङ्गैविजानीयाच्चूळं वातसमुद्भवम् ॥ १॥ 🕝 तृष्णा दाहो मदो मुर्च्छा तीव शुळं तथैव च। शीताभिकामो भवति शीतेनैव प्रशास्यति । एतै-लिङ्गैविजानीयाच्चूळं पित्तसमुद्भवम् ॥ २ ॥ । शुलेनोत्पीड्यमानस्य ह्लास अतीवपूर्णकोष्टलं तथैव गुरुगात्रता। एतच्छ्रेष्मसमुत्यस्य उपजायते । शुलस्योक्तं निदर्शनम् ॥ ३॥ सन्वीणि दण्टा रूपाणि निहिशेत् सान्नि-पातिकम्। सन्निपातसमुत्थानमसाध्यं तं विनिद्दिशेत्। शुलानां लक्षणं प्रोक्तं चिकित्साञ्च नियोध मे ॥ ४ ॥ इत्यादिना वातजशूलादिचिकित्सा-वचनानन्तरं—रुणद्धि मारुतं रुछेष्मा कुक्षिपारवे व्यवस्थितः। करोत्याशु ध्मानं गुइगुइायनम् । स्चीभिरिव निस्तोदः कुच्छ्रोच्छ्रासी तदा नान्नं वाञ्छति नो निद्रामुपैत्यत्तिनिपीड़ितः। पाइवेश्लः स विज्ञेयः ककानिलसमुद्भवः ॥५॥ इत्थत ऊढ्धेमस्य चिकित्सामुक्तवा ; प्रकुप्यति यदा कुक्षी विद्विमाक्रम्य मारुतः। तदास्य भोजनं भुक्तं सोपप्टमभं न पच्यते। उच्छृसित्यामशकृता श्लेनाहन्यते मुहुः। नैवासने न शयन निप्नन् न लभते सुखम्। कुक्षिश्ल इति खारतो वातादामसमुद्भवः॥६॥ चक्रपार्लिः मस्य चिकित्सामुत्तवा ; कफपित्तावरुद्धस्तु मारुतो रसमूच्छितः। निति इपद्रवाणां गुरूणामविरुद्धम्। विभाग्येति गुरुलाघवं विभाग्यः तेन,

हृदिस्थः क्रुरुने शृत्रप्रुच्छ्यासरोयकं परम् । स हृच्चूल इति खप्रातो रसमारुतः सम्भवः। तत्रापि कम्भीभिहितं यदुक्तं हृद्विकारिणाम्॥७॥ कुपिनो वायुवंस्तिमाष्ट्रत्य तिष्ठति। वस्तिवङ्गणनाभीपु ततः जायने। विष्मृत्रवातसंरोधी वस्तिशृष्ठः स मारुतात्।। ८।। नाभ्यां वङ्घण-पाञ्चेषु क्यसी मेट्टान्त्रमहेंकः । मृत्रमाष्ट्रय युद्धाति मृत्रशुलः स मारुतात् ॥ ९॥ वायुः प्रज्ञपिनो यस्य रुक्षाहारस्य देहिनः। मलं रुणद्धि कोष्टस्थं मन्दीकृत्य तु पावकम् । शृङं संजनयंस्तीत्रं स्रोतांस्याद्यतय तस्य हि । दक्षिणं यदि दा वामं कुक्षिनादाय जायते। सन्वेत्र वद्धेते क्षिपं शुटं तत्र सघोपवत्। पिपासा बद्धेते तीत्रा भ्रमो मूर्च्छा च जायते। उचारितो मूत्रितश्च न शान्तिमधिगच्छति । विद्शृलमेतज्जानीयाद् भिषक् परमदारुणम् ॥ १०॥ अत ऊड़ मस्य चिकित्सामुत्तवा, अतिमात्रं यदा भुक्तं पावके मृदुतां गते। स्थिरीभृतन्तु तत् कोप्ठे वायुराष्ट्रत्य तिष्टति । अविपाकगतं ह्यन्नं शृखं तीव्रं करोत्यति । मूर्च्छाभ्मानं विदाहञ्च हृदुत्वलेशं विलिम्बकाम् । च्छद्देयति कम्पतेऽतो विमुह्यति ॥ ११ ॥ इति । अथ तन्त्रान्तरेऽपि । दोपैः पृथक् समस्ताम-हुन्हुः शुलोऽष्ट्या भवेत्। सन्वेष्वेतेषु शुलेषु प्रायशः पवनः प्रभुः॥ व्यायामयानाद्तिमैथुनाच प्रजागराच्छीतजलातिपानात्। कलायमुद्गादृकि-कोरदृपादत्यर्थरुक्षाध्यश्चनाभिघातात्। कपायतिक्तातिविरूढ्जान्न-विरुद्ध-विद्शुक्रमूत्रानिलवेगरोधाच्छोकोपवासादतिहास्य-वल्ळ्रकशुष्कशाकात्। भाष्यात्। वायुः प्रद्रद्धो जनयेद्धि शूलं हृतपृष्ठपाश्वेत्रिकवस्तिदेशे। जीणे पदोपे च घनागमे च शीते प्रकोपं समुपैति गाइम्। मुहुम्मु हुश्रोपशमप्रकोपौ विद्वातसंम्भनतोदभेदैः। संस्वेदनाभ्यञ्जनमहेनादैगः स्त्रिग्धोष्णभोज्यैः प्रश्नमं प्रयाति ॥ १ ॥ भारादितीक्ष्णोष्णविदाहितैल निष्पाविषयाककुलत्थयूपैः । कट्रम्लसौवीरसुराविकारैः क्रोधानलायासरविषतापैः। ग्राम्यातियोगादशनै-विंदग्धैः पित्तं प्रकुप्याशु करोति शुलम् । तृड्दाहमोहात्तिकरं हि नाभ्यां संस्वेद-मुर्च्छाभ्रमचोपयुक्तम् । मध्यन्दिने कुप्यति चार्छरात्रे विदाहकाले जलदात्यये च। शीते च शीतैः समुपैति शान्तिं सुस्वादुशीतैरपि भोजनैश्र।।२॥ आनूपवारिजिकलाटपयोविकारैमीं सेक्षुपृष्टकुशरातिलशष्कुलीभिः। वंलाशजनकरिप हेतुभिश्च क्लेप्पा प्रकोपमुपगम्य करोति शुलम् । हृङ्लासकास-

एकदोपप्रशामनमिष तदेव कर्त्तव्यम्, यद् गुरूपद्रवप्रशमं भवतीति भावः। एतदेवाह—गुरून् १६३

सदनारुचिसंप्रसेकैरामाशये स्तिमितकोष्टशिरोगुरुत्वैः। अक्ते सदैव हि रुजं कुरुतेऽतिमात्रं सुर्योद्ये च शिशिरे कुसुमागमे च ॥ ३॥ सन्वेषु दोपेषु च सर्व्विलक्षं विद्याद् भिपक् सर्व्वभवं हि शूलम् । सुकप्टमेनं विपवजुकरपं विवर्ज्जः नीयं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥४॥ आटोपह्छासवमीगुरुल-स्तैमित्यमानाहकफप्रसेकैः। कफस्य लिङ्गेन समानलिङ्गमामोद्भवं शूलमुदाहरिनत ॥ ५ ॥ वस्तौ हृत्पाइर्व-पृथ्वेषु स शुलः कफवातिकः ॥ ६ ॥ कुक्षौ हन्नाभिमध्येषु स शुलः कफ-पैत्तिकः ॥ ७ ॥ दाहज्वरकरो घोरो विज्ञेयो वातपैत्तिकः ॥८॥ एकदोपोत्थितः साध्यः कुच्चुसाध्यो द्विदोपजः । सन्वेदोपोत्थितो घोरस्त्रसाध्यो भूरगुपद्रवः ॥ वेदना च तृपा मूर्च्छा आनाहो गौरवारुची। कासक्वासौ च हिका च शुलस्योपद्रवाः स्पृताः ॥ अस्यैवावस्थान्तरम् । स्वैनिदानैः प्रकुपितो वायुः सन्निहितस्तदा। कफपित्ते समाष्टत्य शूलकारी भवेद्रली। भुक्ते जीट्यंति यच्छू छं तदेव परिणायजम् । तस्य लक्षणमप्येतत् समासेनाभिधीयते । आध्मानाटोप-विण्सूत्र-विवन्धारतिवेपनैः । स्तिग्धोप्णोपश्यमप्रायं वातिकं तद् वदंद्भिपक् ॥१॥ वृष्णादाहारतिस्वेदाः कट्म्ळळवणाशिनः। शूळं शीतशमप्रायं पैत्तिकं लक्षयेद् भिषक् ॥ २ ॥ छिईह्छाससम्मोहं खल्परुदीर्घसन्तति । कडुतिक्तोप-शान्तश्च तच हो यं कफात्मकम् ॥ ३ ॥ संस्रष्टलक्षणं बुद्धा द्विदोपं परिकल्पयेत् । त्रिदोषजमसाध्यन्तु क्षीणमांसवलानलम् ॥ ४ ॥ जीर्णे जीर्यत्यजीर्णे वा यच्छ्लमुपजायते। पथ्यापथ्यप्रयोगेण भोजनाभोजनेन च। न शमं याति नियमात् सोऽन्नद्रव उदाहृतः ॥ इति । तन्नान्तरे च । वलाशः प्रच्युतः स्थानात् पित्तेन सह सूर्च्छितः। वायुमादाय कुरुते शुरुं जीय्येति भाजने। कुक्षौ जठरपाइवें च नाभ्यां वस्तौ स्तनान्तरे । पृष्ठमूलपदेशे च सव्वेंध्वेतेषु वा पुनः । भुक्तमात्रेऽथवा वान्ते जीणेंऽन्ने वा प्रशाम्यति । पष्टिकत्रीहिशालीनामोदनेन विवर्द्धते। तत् परिणामजं शुळं दुर्विक्षेयं महागदम्। तमाह् रसवाहानां स्रोतसां दुष्टिहेतुकम्। केचिदन्नद्रवं प्राहुरन्ये तत् पक्तिदोपतः। पक्तिशूळं वदन्त्येके केचिदन्नविदाहजम् ॥ इति । शुलस्य प्राग्रत्पत्तिमुवाच हारीतः । अनङ्गनाञाय हरस्त्रशूळं ग्रुमोच कोपान्मकरध्वजश्च। तमापतन्तं सहसा निरीक्ष्य भयादितो विष्णुतनु प्रविष्टः। स विष्णुह्ङारविमोहितात्मा पपात भूमौ प्रथितः सशुलः । स पञ्चभूतानुगतं शरीरं पद्षयत्यस्य हि पूर्वेष्टष्टिः । इति ॥ १२ ॥ १

ष्ट्ररयादि । सर्व्वगुल्मानां वातमूलस्वेन वातनिरपेक्षचिकित्साविद्योपानुपलम्भे वातिकचिकित्सा

तत्र श्लोकः।

संख्या निमित्तं रूपाणि पूर्व्वरूपमथापि च। दृष्टं निदाने गुल्मानामेकदेशश्च कर्म्मणाम्॥ १३॥ इत्पन्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते निदानस्थाने गुल्मनिदानं नाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

गङ्गायरः—अथाध्यायार्थम्रपसंहरति—तत्रेत्यादि । इह खळु पश्च गुल्मा इत्यादिना सह्या । एवंवादिनिम्त्यारभ्य प्रकोपमापद्यते इत्यन्तेन वात-गुल्मस्य निह्नित्तम् । स प्रकुपित इत्यादिना तस्य सम्प्राप्तिः । स मुहुरित्यादिना तस्य रूपाणि । निदानोक्तत्यादिनानुपश्योपश्यौ । तैरेवेत्यादिना पित्त-गुल्मस्य निमित्तम् । तत् प्रकुपितिमत्यादिना तस्य सम्प्राप्तिः । तानेव वेदना-प्रकारान इत्यादिना रूपाणि । निदानोक्तानीत्यादिनानुपश्योपश्यौ । प्रनस्तरेव इत्यादिना कफगुल्मस्य निमित्तम् । तं प्रकुपितिमत्यादिना तस्य सम्प्राप्तः । तानेवेत्यादिना रूपाणि । निदानोक्तानीत्यादिनानुपश्योपश्यौ । जिद्योपहित्यादिना निचयगुल्मस्य निमित्तं रूपाणि सम्प्राप्तिरपश्याश्चातिन्द्रोतः । शोणितगुल्मस्य निमित्तम् । स प्रकुपित इत्यादिना तस्य सम्प्राप्तः । तस्याः शूल इत्यादिना रूपाणि शोणितगुल्मस्य । एपान्तु इत्यादिना सर्व्यगुल्मानां पूर्विरूपाणि । अथापि चेति चकारात् सम्प्राप्तुप्रयश्चौ यथाव्यास्यातं वोध्यौ । सर्व्यप्तित्यादिना सर्व्यगुल्मेषु अव्यभिचारिदोपसम्बन्धश्च । तेपामित्यादिना यावद्ध्यायसमाप्तं कम्प्रणामेक-देश एतत्सन्वं गुल्मानां निदाने दृष्टिमत्यर्थः ॥ १३ ॥

अध्यायं समापयति—अमीत्यादि ॥

इति श्रीगङ्गाधरकविरवकविराजकृते चरकजलपकलपतरौ द्वितीयस्कन्धे निदानस्थानजलपे निदानस्थानीयगुल्मनिदानाखार-तृतीयाध्यायजलपाखा तृतीया शाखा ॥ ३ ॥

एव स्वरयां कर्त्तन्येत्याह —स्वरमागस्त्वित्यादि । आत्ययिके कर्माण कियमाण इति शेषः । अन्यमपीति कर्मिविशेषणम् । संप्रहे "एकदेशथ कर्मणा"मिति चिकित्सितानाम् ॥ ११ — १३ ॥ इति चरकचतुराननश्रीमचक्रपाणिदत्तविरचितायाम् आयुर्वेददीपिकायां

गुरुमनिदानं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः।

अथातः प्रमेहनिदानं व्याख्यास्यामः, इतिह स्माह भगवानात्रेयः॥ १॥

त्रिदोषप्रकोपनिमित्ता विंशतिः प्रमेहा भवन्ति, विकाराश्चा-परेऽपरिसंख्येयाः । तत्र यथा त्रिदोषप्रकोपस्तु प्रमेहानिस-निटर्वर्त्तयति, तथानुट्याख्यास्यामः ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—रक्तपित्ते पित्तस्याव्यभिचारितं गुरुमे वातस्याव्यभिचारि-तश्चोक्तम्, पारिशेष्यात् इछेष्मणोऽव्यभिचारितस्य वक्तुमुचितत्वे सर्व्वप्रमेहेषु इछेष्माव्यभिचारात् गुरुमनिदानानन्तरं प्रमेहनिदानमाह—अथात इत्यादि। सर्व्व प्राग्वत् व्याखेत्रयम्॥१॥

गङ्गाधरः—त्रिदोपेत्यादि। पदार्थाख्यतत्र युक्तया विंशतावेव प्रमेहेषु मिलितत्रिदोपनिमित्तकलं वोध्यं न तु वातादेग्रकेकदोपजलभेदेन विंशतिः प्रमेहा भवनतीति वोध्यम्। प्रमेहचिकित्सिते हि वक्ष्यते—या वातमेहान् प्रति पूर्व्यमुक्ता
वातोल्वणानां विहिता क्रिया सा इत्यादि। ननु त्रिदोपजा एव प्रमेहा
विंशतिरेव भवन्ति किमेकेकदोपादिजा न भवन्तीत्यत आह—विकाराश्च
इत्यादि। त्रिदोपनिमित्ताः प्रमेहा विंशतिरेव भवन्ति न तु प्रमेहा विंशतिरेव
भवन्ति ; परन्त्वपरे एकदोपजादयः प्रमेहविकाराः अपरिसंखेग्रया भवन्ति।
दोपविकल्पेन वृद्धदाषेद्ध्यादिसंयोगेनापरिसंखेग्रयभेदात्। तत्रेत्यादि। तत्र
एकादिदोपप्रकोपेषु अपरिसंखेग्रयेषु प्रमेहेषु मध्ये प्रमेहान् विंशतिम्। अथवा
तत्र एकादिदोपप्रकोपेषु मध्ये त्रिदोषप्रकोपस्तु ॥ २ ॥

चक्रपाणिः—दक्षाध्वरे गुल्ममनु प्रमेहोत्पादात् प्रमेहाभिधानम्, वचनं हि—'हविःप्राशान्मेहकुष्ठयोर्जन्म" इति । त्रिदोपप्रकोपनिमित्ता इति, सर्व्वमेहेप्वेव त्रिदोपाः कारणम्,
अधिकत्वाच्च इलैप्मिकादिव्यपदेश इति दर्शयति ; सुश्रुतेऽप्युक्तम्—"सर्व्व एव मेहाः सर्व्वदोपजाः" इति । विकारा इति प्रमेहलिङ्गोपद्गवरूपाः ; किंवा अन्येऽपि ये केचन त्रिदोपजास्तेऽपि प्राह्माः ॥ १।२ ॥

इह ख्लु निदानद्रोपहृष्यविशेषभ्यो विकाराणां विघात-भावाभावभावप्रतिविशेषा भवन्ति । यदा हेरते त्रयो निदानादिविशेषाः परस्परं नानुवधन्तिः न तदा विकृाराभि-

गङ्गायरः—इहेत्यादि । इह मनुष्यदेहे निदानं दोपकोपनं द्रञ्यादि, दोपा वात्रिपत्तककाः, दृष्या रसरक्ताद्यो धातृपधातुमलधातवः । विकाराणां नव्वेपामेव रोगाणां विघातस्य भावो विकाराणामनुत्पत्तिविधातस्याभावोः, दिकाराणां जननं तयोविधातस्य भावाभावयोभीवस्य प्रतिविशेषाः प्रत्येकं विशेषाः । तत्र विकाराणां विघाताभावविशेषा विकारजननं चिरेण विकार-जननं ननुष्कित्रारजननं सर्व्येलक्विकारजननश्च । पूच्यं वस्यन्ते । विघात-भावप्रतिविशेषास्तु तिह्याताभावविषय्ययेण वस्यन्ते इति कश्चित्, तन्न, यतो यदा द्वेत्र द्त्यादिना विकाराणामवश्याभिनिक्यं त्तिविधातवचनस्यासङ्गतिः । तन्मात् विकाराणां विघातश्च भावाभावश्च भावश्च तेषां विशेषा विशेषा इति प्रतिविशेषा भवन्ति ।

कस्मादित्यत आह—यदा हेत्रत इत्यादि। हि यस्मात्, एते निदानादिविशेषा विकाराणां ज्वरादीनां प्रतिरोगं ये निदानदोपदृष्य-विशेषास्ते यदा परस्परं नानुबधन्ति न तदा तत्तज्वरादिविकाराणामभि-

चक्रपाणिः—इहेत्यादो निदानादीनां विशेषाः परस्परानुबन्धित्वादयोऽग्रे वक्ष्यमाणा श्रेयाः ; विकाराणां विद्यातस्य भावोऽभावइचेति विकारविद्यातभावाभावा तयोः प्रतिविशेषा विकार-विद्यातभावाभावप्रतिविशेषाः ; तत्र विकाराणां विद्याताभावस्य प्रतिविशेषाः—विकाराजननम्, तथा चिरेण च जननम्, तनुविकारजननं वा, असन्बेलिङ्गविकारजननं वाग्रे वश्यमाणाः । विद्यात-भावप्रतिविशेषास्तु विकाराजननादिविष्ययंथेणाग्रे वश्यमाणाः ।

उक्तफिकार्थं व्याकरोति—यदेत्यादि । परस्परं नानुवधिन्त परस्परं प्रतिकृष्ठा भवन्ति, अनुवन्धो छनुक्छेऽभिष्ठोतः ; तत्र तदेव निदानं दोपमनुवधिति, यद् भूयः
सामान्यात् विरोधेन दोपं दूपयित ; दोपस्य दृष्यानुविध्यम्—यद्—दृष्यं व्याधिकरणं
सामान्यगुणत्वादिधम्मेयोगाद्विरोधेन दृपयित ; तथा दृष्यस्य च दोपानुविध्यम्—यद्—
दोपस्य दूपणं प्रति शिथिळत्वसमानगुणत्वादिनानुकृल्येनावस्थानम् ; तथा दोपस्य चेदमेव
निदानानुविध्यम्—यद्—निदानस्य व्याधिजननं प्रति समानगुणत्वम् ; समानगुणतया हि
दोपो निदानस्य व्याधिजननं प्रति अनुकृलो भवति ; एतददाहरणानाञ्च विपर्ययेगाननुवन्धो

^{*} इतः परम् अयथा वा कालप्रकर्पीदिति पाठः कचित् दृश्यते ।

निव्यं त्तिभवति । अथाप्रकर्षाद्वलीयांसो वानुवधन्ति, न तदा विकाराभिनिद्वं त्तिभवति । चिराद्वाप्यभिनिद्वं त्तन्ते, तनवो वा भवन्यथवाऽयथोक्तसद्वं लिङ्गाः, विपर्यये विपरीताः ।

निन्हे तिर्भवति । इत्येकान्तेन विघातो न्याख्यातः । अथापकर्पाद् यदि ते निदानादयोऽवलीयांसोऽनुवधन्ति तदाप्यवञ्यं न तत्तज्ज्वरादिविकाराणामभि-निन्द्र तिभंवति । इत्यनेकान्तेन ज्वरादिन्याधीनां भावश्राभावक्चेत्येकविध-भावाभाव उक्तः। अपरस्तु अथ कथमनेकान्तेन विघातः स्यादित्यतो विघातस्यानैकान्तिकलपदशेनेन विकाराणां भावविशेषा उच्युन्ते। चिराट् वाष्यभिनिव्वत्तेन्त इति। यदा खल्वप्रकर्पान्निद्रानाद्यस्र्यंस्लवलीयांसः परस्परमनुबध्य विकारं नारभन्ते ततः कारणान्तरेण क्रमेण यावता कालेन वर्छं 'लभनते वलञ्च लभमानास्तावत्कालानन्तरं विकारगारभनते इति चिराद्वा विकारा अभिनिव्वर्त्तन्ते इति विकाराणामपरो भावाभावविशेषः। यदि कारणान्तरयोगेण वलतः प्रकर्षं न लभन्ते तदा तद् यत्किश्चित्कारण-योगेन किञ्चिद्वलं लभमानास्तनून् सूक्ष्मान् विकारानारभन्त इति तनवो विकारा भवन्ति। इत्यपरो विकाराणां भावविशेषः। अथवा तनवो विकारा न भूला भवन्त्ययथोक्तसन्बेलिङ्गा यथोक्तसन्बेलिङ्गादन्पलिङ्गन्यक्ततापन्ना विकारा इति विकाराणां चतुर्थो भावाभावविशेषः। इति विकाराणां चतुर्विधा भावाभावस्य विशेषाः। यदा निदानोपसेवनं नास्ति न तदा वातादयः कुप्यन्ति रसादयश्च न दूष्यन्ते तैरित्यतो विकाराणामेकान्तेन

वोद्धन्यः ; निदानस्य च दोपाननुबन्धः समानासमानगुणयोगात् किञ्चिद्दोपजनने वोद्धन्यः, सर्व्वथा दोपवेपरीत्ये तदा दोपजननं प्रति उदासीनत्वे न च निदानस्य निदानत्वमेव स्यात् ; जनकं हि निदानमुच्यते ; अथवा कालप्रकर्पादिति अनुवन्नन्तीत्यनेन सम्बन्धः ; कालप्रकर्पात् अनुवन्नन्तीति कालप्रकर्पात् परस्परं निदानाद्योऽनुगुणा भवन्ति यदा, तदा विकारा अमिनवर्वत्तेन्त इति ज्ञेयम् ; यदा परस्परं नानुबध्नन्ति न तदा विकाराभिनिर्व्यु त्तिर्भवतीति योजनीयम् । कालप्रकर्पाचानुबन्धो निदानस्य दोपेण तदा भवति, यदा हेतुर्विच्छेदं कृत्वा पुनः सेव्यते, काल एव वा चिरेण समानगुणतया हेतुरूपः प्राप्यते इत्यादि तन्यम् ; अवलीयांसोऽथवाऽनुबध्नन्तीति निदानं ययवपं भवति, तदा स्तोकदोपं करोति ; दोपश्च स्तोकः स्तोकञ्च दृष्यं दूपयतीत्यादि ज्ञेयम् ; यदा चावलीयांसोऽनुबध्नन्ति, तदा तनवो वा विकारा भवन्ति, अयथोक्तसर्विङ्का वा भवन्तीति योज्यम् ; तनवोऽन्यमात्राः । अयथोक्तसन्वेलिङ्का इति येन

इति सर्व्यविकारविद्यातभावासावसावप्रतिविशेषाभिनिद्ये ति-देतुर्भवस्युक्तः ॥ ३ ॥

त्रेस त्रयो निदान। दिविश्पाः एलेप्सिनिस्तानां प्रसेहाणासार्यभिनिट्यं त्तिकरा भयन्ति । तद् यथा — हायनक-अभावोऽनुत्पत्तिरित्येको न विधातविशेषो निदानादित्रयसद्भावे हि विधात-द्याच्यानवचनम् । अथावळीयसां निदानादीनामप्रकर्पाद्पयुवन्यविप्रययेऽषि विकाराणामभावोऽनुत्पत्तिरिति दितीयो विकाराणां भावस्य विशेषः । तेषां कालेऽषि कारणान्तरेण वळळाभाभावे चिराद्षि न विकाराभिनिच्यं तिः भवि । एवं देवामेवावळीयसां निदानादीनां परस्परानुवन्धानां कारणान्तरे लाभाभावे च तमुरूपेणापि विकारानुत्पत्तिर्गाप्ययोक्तसर्व्विङ्गतया विकारोत्पत्तिति भावाभावो विकाराणामिति । अधैकान्तेन विकारोत्पत्तिन्दित्तमाद्वानां विधातभावा भावयोविषय्यये खल्वेकान्तेन विकारोत्पत्तिभवित । तद् यथा—निदानादीनां चळवतां यदा परस्परानुवन्यो भवति तदावच्यं विकाराभिनिद्यं त्तिभवति । इति । अधैषां विकाराणां निदानादित्रयसद्भावेऽपि तेपामुत्पत्तो विधातस्य भावाभावस्य भावस्य च देतुवचनमुपसंहरति—इतित्यादि ॥ ३ ॥

गङ्गायरः—नसु प्रमेहरोगे निदानाद्यः कीद्दशा इत्यत आह—
तत्रेम इत्यदि । इमे वक्ष्यमाणा हायनकाद्यः । यातिपत्तकोपने स्वरुपयलवत्त्वेन इलेप्मकोपने सम्पूर्णवल्रेन सम्पूर्णवलेन कुपितइलेप्मणो
दूप्यदूपणे क्षिप्रक्रियावत्त्वेन सम्पूर्णवल्रेन सम्पूर्णवलेन कुपितइलेप्मणे
दूप्यदूपणे क्षिप्रक्रियावत्त्वेन सम्पूर्णवल्रेनात् इलेप्मनिमित्तानां इलेप्मोलवणानां त्रिदोपनिमित्तानाम् । आश्विमिनिन्द्यंत्तिकरा न तु चिरात् ।
प्रकारण लिङ्गान्युक्तानि, न तेन प्रकारेणापि सर्व्यलिङ्गानि भवन्तीत्यर्थः ; एवमेते निदानादीनाम्
अननुवन्धविशेषकृता विकारविवाताभावस्य प्रतिविशेषा वक्ताः । सम्प्रति निदानादीनां परस्परानुवन्धविशेषकृतान् विकाराणां विवातभावविशेषानाह—विषय्यये विषरीता इति । विषर्यय
इति निदानादीनामनुवन्धे तथा शीघानुवन्धे तथा बलवताज्ञानुवन्धे ; विषरीता इति निर्वर्त्तमाना
विकाराः, तथा शीघं निर्वर्त्तमानास्तथा महान्तो यथोक्तसर्व्यलिङ्गाइवेति यथासंस्यं वोध्यम् ।
उपसंहरति—हतीत्यादि । एतत्त्व प्रकरणं सर्व्वविकारसाधारणमिष प्रमेहस्य परस्परानुवन्धिभिरेव
निदानादिभिर्जन्म भवतीति ख्यापयितुं प्रमेहनिदाने कृतम् ॥ ३॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति प्रकृते कफजादिमेहे परस्परांनुबन्धिनो निदानादिविशेपानाह—

यवक-चीन-कोद्दालक नेषधेत्कटमुकुन्दकमहात्रीहिप्रमोदकानां
सुगन्धकानाश्च नवान्नानामितवेलमितप्रमाणेन चोषयोगः, तथा
सिर्णिष्मतां नवहरेणुमाषसूष्यानां व्राध्यानूषीटकानाश्च मांसानां
शाकितलपललिष्टान्नपायसङ्घरिवलेपीचुविकाराणां चीरमन्दकद्धिद्रवमधुरतकणप्रायाणामप्युपयोगः, वृजाव्यायामवर्जनं स्वप्तश्यनासनप्रसङ्गो यः कश्चिद्धिधरन्योऽपि श्लेष्ममेदोसूत्रजननः स सर्व्यो निद्दानिवशेषः। बहुद्रवः श्लेष्मा
दोषविशेषः। बहुवद्धं मेदो मांसं श्ररीरजवलेदः शुक्तं शोणितं
वसा मजा लसीका रसश्चीज इति संख्याता दृष्यविशेषाः॥ १॥

नतु के ते निदानादिविशेषा इत्यत आह—तद् यथेत्यादि। हायनकेत्यादि। हायनकादीनां देशिवशेषे खनाम्ना ख्यातप्रसिद्धानामितवेलमितशयं सिर्पेष्मतां वहुसिर्पियुक्तानां नवानां चृतनानां हरेणुमापाणां वर्त्तुं लकलायमापाणां सूप्यानां, तिलपललेति तिलकलकः। कृशरं तिलमापयविष्पृक्तता यवागः। मन्दकद्धीति मन्दजातद्धि च द्रवश्च मधुरं तरुणश्च यद् द्रव्यमन्यत् तद्दिष प्रायं वहुलं यत्र तेषाम्। मृजा गात्रमाज्जेनं मृजाव्यायामयोवेज्जेनं त्यागः। खम्नो दिवानिद्रा खमादीनां प्रसङ्गः सततम्रपसेवा। अन्योऽपीत्यिचन्तादिः। इलेष्मेति इलेष्मप्रधानदोपत्रयम्। बहुद्रवो न तलपद्रवः। इलेष्मा इलेष्मोल्वण-दोपत्रयम्। सन्वेषां प्रमेहाणां त्रिदोपजलात्। सुश्रुतेऽप्युक्तं प्रमेहनिदाने। तत्राविलपभूतमूत्रलक्षणाः सर्व्यं एव प्रमेहाः सन्वे एव सन्वेदोपसम्रत्थाः सह पिड्काभिरिति। अत्र सन्वे एव प्रमेहाः इति वक्ष्यमाणा विशितिरेव न लपरे। बहुवद्धमित्यस्य मेदोमांसाभ्यामन्वयः। मेदो मांसोक्तर्थातः। श्रुतेरुक्वे मूत्रादिद्रवः। वसा मांसस्य स्नेहः सर्व्यधातुस्नेहो वा।

तत्रेत्यादि । इह कफ एवाम्रे रिमधीयते सूरिममेहकर्तृ त्वात् । हायनको धान्यविशेषः ; अति-वेलमिति पुनःपुनः ; हरेणुर्वहलकलायः ; तिलतण्डुलमापकृतः कृशरः ; मृजा उद्वर्त्तनम् ; सर्वः स निदानविशेष इति, एवम्भूतमेव निदानं प्रमेहकर्तुः क्लेप्मणः कारणमित्यर्थः । यहुद्भवः क्लेप्मा दोषविशेष इति वहुद्भव एव कफो मेहजनकः, नाल्पद्भव इति । अवद्धमिति असंहतम् ; अत्र तु बहुत्वमधनत्वच्च यथायोग्यतया बोद्यस् ; तेन मेदिस मांसे ् पुनदृ पयन् मृत्रत्वेन परिण्मयित । मृत्रवहाणाश्च र्लेक्सं वङ्ज्णवस्तिष्ठभवाणां मेदःवलेदोपहितानि गुरुणि मेव श्रासाय प्रतिरुथते । ततश्च तेषां स्थेर्य्यमसाध्यतां वा श्रातित प्रकृतिविकृतिभृतत्वात् । श्रारिक्लेद्स्तु र्लेष्म-मेदोमिश्रः प्रविश्न् सूत्राश्यं सूत्रत्वमापयमानः र्लेष्मिकैः एभिर्व्शिसिर्ग्णेरुपस्टब्यते वैपम्ययुक्तैः । तद् यथा—र्वेतशात-

नतु गरीरक्लेद्रवृपणेन किं करोतीत्यत आह—ग्रिश्वरुद्धित्यादि। स इत्यनुक्तेते। स्वित्रेष्ट्रिणा स्वेन मिश्रीयमाणं ग्रिश्वरुद्धेन्तु दृपयन् मूत्रक्षेन परिणमित मूत्रक्षपो भवन् ग्रिशे तिष्ठति। ततः किं कुरुते इत्यत आह— मृत्रवहाणाञ्चत्यादि। चकारेण मूत्रक्षेन परिणतः उठेप्मानुक्तेते। बङ्धणः दस्तिप्रभवाणां मृत्रवहाणां स्रोतसां ग्रुक्षणि ग्रुस्थानि आसाद्य प्रतिरुध्यते। कुतो गुरुणि भवन्तीत्यत आह—हेतुगर्भविशेषणं मुखानीत्यस्य। मेदःक्छेदोपः हितानीति मेदःक्छेदोपहितलाद् गुरूणि। नन्नु मूत्रवहवस्तिबङ्खणप्रभवस्रोतसां ग्रुम्युस्पतिरोधेन किं करोतीत्यत आह—तत्रक्षेत्यादि। स्थैर्ट्यं चिरानु-विश्वदं साद्यतं वार्थात् स्वजनितप्रमेहाणां जनयति। कुतः स्थैर्ट्यं साध्यतं वा जनयतीत्यत आह—प्रकृतीत्यादि। प्रकृतिविकृतिभूतलादिति प्रकृत्या हेतुना प्रकृत्यनुरूपेण विकृतिभूतलात् विकृत्या विकृतभूतलाभावात् दृष्यहर-कियासाध्यतेन :समिक्रयलाच। इति इछेष्मकम्माण्युक्तवा शरीरक्छेदकम्मां-ण्याह—ग्रिरक्छेदस्तित्यादि। मूत्रलमापद्यमान इति मूत्रक्षो भवन्, एभिरिति वक्ष्यमाणैः श्वेतादिभिर्दशिभः किं स्वाभाविकैरित्यत आह—

तेन, अप्रकृतभूतत्वादितिवचनं हि विशेषार्थात्वात्र पुनरुक्तम् ; आसाय प्रतिरुप्यत इति गरवाव-विष्ठते ; प्रकृतिविकृतिभूतत्वादिति प्रकृतिभूतेर्गुणैः सर्व्येचे विकृतत्वात् ; सन्वै एव यस्मात् इत्रेप्मणी गुणा विकृताद्धसमात् प्रकोषप्रकर्षात् स्थिरो भवति, अतिप्रकर्षात् सु असाध्य इत्यर्थः ; प्रकृतिभूतः इलेप्मा समाने दृष्ये मेदोवसादौ, विकृतिभूतश्चासमाने शोणितादौ, तेन समाना-रवादित्यर्थः ; तथाच समानदृष्यप्राप्या बल्हिक्समसमानदृष्यप्राप्या विस्ह्रोपक्रमस्यं रूफस्य

🏒 ते ; ततश्च स्थेर्य्यमसाध्यतां चा युग्त्येति मन्तन्यम्।

र् सम्प्रति ्यथा कफमेहाः कफगुणयोगाद् दश भवन्ति, तथा प्राह—शरीरेखादि। गम्यमिह वृद्धिकृतमेव वेदितन्यम्; क्षयरूपवैपम्यस्य पृवंरूपक्याभ्यजनकत्यात्; वैपम्य पृव मृत्तिपिच्छिलाच्छिलिग्धग्रह्मधुरसान्द्रप्रसादगन्धैः *। तत्र येन येन ग्रेगोनैकेनानेकेन वा सूयसा समुपग्रद्धाते तत्समारूपं गौगां नामिवशेषं प्राप्तोति। ते तु खिल्वमे दश प्रमेहा नाम-विशेषेगा भवन्ति। तद् यथा—उदकमेहश्चे जुबालिकारस-मेहश्च सान्द्रमेहश्च सान्द्रप्रसादमेहश्च शुक्कमेहश्च शुक्रमेहश्च

वैषम्ययुक्तैः। कैरित्यत आह—गुणैः इवेतशीतमूर्त्तस्त्रिग्धपिच्छिलाच्छगुरु-मधुरसान्द्रपसादगन्धैरुपष्टज्यते समानलात्, स्वगुणानां वैषम्ययुक्तीरिति वृद्धैः। नतु कैः इलैष्मिकेर् णैरित्यतस्तान् गुणानाह—तद् यथेत्यादि 🍃 सान्द्रप्रसादः सान्द्रसेऽपि किञ्चिद्विशदः सान्द्रपसादो गन्धोऽत्र विस्नगन्धः। । अत्र इलेष्मणः कत्तु लेन प्राधान्यात् तद्धस्मेणीव नामविशेषः कत्तुं युज्यते न लप्रधानमेदः-क्ळेदादिधम्मेणेत्यत आह—तत्र येनेत्यादि। समुपगृहाते इछेष्ममेदोमिश्रो सूत्राशयप्रविष्टो मूत्रलमापन्नः शरीरक्छेदः। स नामविशेषं गौणमेव प्रामीति मुख्यनाम हि शरीरक्लेदः। ते खिति। इलेष्मा मेदोमिश्रो मूत्राशयपविष्टो इलैष्मिकइवेतादेग्रकानेकभूयोऽन्यतमगुणोपगृहीतः द्श प्रमेहाः नामविशेषेण भवन्ति । तन्नामान्याह—तद् यथेत्यादि । इवेत-शीताच्छगुणैरुपगृहीतलेन शरीरक्छेदस्योदकनिभलादुदकमेह इति संज्ञा। इक्षु-वालिकारसमेहइचेति शीतपिच्छिलाच्छाभावमधुरगुणैरुपगृहीतलेन काण्डेक्षु-खरंसवर् द्रवलेन मूत्रस्य इक्षुवालिकारसमेह इति संजा। सुशुते इक्षुमेह इति संबा इक्षुरसतुल्यलात्। सान्द्रमेहक्चेति सान्द्रगुणेन गृहीतलात् सान्द्रमेह इति संद्या । सान्द्रमसादमेहरुचेति सान्द्राच्छगुणाभ्यां सान्द्रमसादमेह इति संद्या ।

वृद्धवृद्धतरत्वादिना हानिवृद्धी वोद्धव्ये ; तेन इवेतादिगुणवृद्धा ये शुक्रमेहादय उक्ताः, तेष्वपीतरे इलेप्सगुणा हानिवृद्धिरूपवैपम्ययुक्ताः सन्तीत्यर्थः ; किंवा वैपम्ये सित कवित् द्वयोश्च कवित् व्रयोश्च कवित् व्रयाणां कविच्च चतुणां गुणानां वृद्धिभवतीति दर्शयति ; तेन गुणसंख्योत्कर्पापकपीद् हानिवृद्धी होये ; न चेह इवेतादिदशगुणयोगात् यथासंख्यं दश प्रमेहाः, किन्तु व्यस्तसमस्तगुणयोगाच, अत एवाह—"येन गुणेन एकैकेनानेकेन वा" इत्यादि । सान्द्रप्रसादशब्देनेक एव गुणो गणनीयः । सान्द्रमेहच्यपदेशस्तु सान्द्रप्रसादगुणेकदेशोद्धतत्वेन होयः ; तत्समाख्यमित्यादौ तत्समाख्यं वा तहोणं वा नाम्विशेपं प्राप्नोतीति योजनीयम् ; तद्गुणस्य समा आख्या यस्य तत्समाख्यं

[🔭] गन्धेरित्यन्न मन्दैरिति वा पाठः।

शीतमेहश्च सिकतामेहश्च शनेर्महश्चालालमेहरचेति । ते दश प्रमेहाः सान्याः समानग्रगमेदःस्थानकत्वात् कफस्य प्राधान्यात् समक्रियत्वाच ॥ ५ ॥

तत्र न्होकाः रलेष्मप्रमेहविशेषविज्ञानार्था भवन्ति— इत्रच्छं वहु सितं शीतं निर्गन्धमुद्कोष्मम् । रलेष्मकोषान्नरो सृत्रमुद्दमेही प्रमेहति ॥

च्येनगुणेन शृह्यिन इति संगा। मुश्र्ने तु ह्एरोमा पिष्टरसतुरयं पिष्टमेही मेहतीस्युक्तम्। शृक्ष्येह्इचेनि च्येनम् त्तं ताभ्यां शृक्षयोगेण च शृक्षमेह इति संगा।
ग्रीतमेह्इचेति ग्रीतमधुराभ्यां ग्रीनमेह् इति संगा। च्येनादिगुणेः शनैमेहं इति
संगा। आलालमेह्इचेति पिच्लिलसान्द्राभ्यामालालमेह इति संगा। सिकतामेह्इचेति च्येनम्त्तं ताभ्यां सिकतामेह् इति संगा। ग्रुणान्तराणान्तु नियमो
नास्ति, परन्तु उक्तगुणानामनिरिक्तगुणं मृत्रं दृष्ट्रा तृत्रगुणयोग उन्नेयः।
सुश्र्ते तु सान्द्रमसाद्मेह्गीतमेह्नालालमेह्ना न पिटला सुरामेही सुरातुल्यं
विश्वः लवणतुल्यं लवणमेही स्तोकं स्तोकं सफेनच्य फेनमेही मेहतीत्युक्तम्।
अन्यत्रापि सुरामेही सुरातुल्यसुपय्य ल्लम्योयनित्युक्तं, तत्सव्य मेदोमांसादिदृष्यायिक्येऽमीपामेवोन्नेयम्। न हेत्रता दश संगा मेदोमांसादिवाहुल्यादिले
कृताः परन्तु शरीरक्लेदस्य मूत्रतापत्रते इत्रेष्मणो दश्गुणान्यतमेकादिगुणान्वयेन कृतास्तद्गुणानुरूषाणि लिङ्गानि च वक्ष्यन्ते, न तु मेदोमांसादिदृष्यकृतलक्ष्मणानि इति ॥ ५॥

गङ्गाधरः—तानि लक्षणान्याह—तत्र इलोका इत्यादि। अच्छमित्यादि।

नाम, यथा—शीतमेहशुक्रमेहसान्द्रमेहेषु। अत्र हि श्रीतादिगुणाख्ययेव मेहा व्यपदिश्यन्ते; इतरेषु तु उदक्षमेहादिषु न इवेतादिगुणसंज्ञातुल्यं नाम, किं तर्हि इलेप्मण एव गुणयुक्तोदफादितुत्यत्वेन गुणयोगप्रवृत्तत्वात् गोणमुदक्षमेह इति; अच्छिसितशीतादिकफगुणयोगाट् गोणमुदकमेह इति नाम भवति; एवमन्यत्राप्यनुसरणीयम्; उदकाद्यस्त्विह कफगुणमेलकलक्षणार्थाः
तत्तत्कफगुणयुक्ता उपात्ताः संज्ञाकरणार्थे विशेषविज्ञानार्था भवन्तीति परस्परभिज्ञलक्षणप्रतिपादका इत्यर्थः॥ ५॥

चक्रपाणिः—उदकोपमिति उदक्वणीदितुल्यम्। ननु इक्षुवालिकातुल्ये मेहे काण्डेक्षु-

अस्यर्थमधुरं शीतमीपत् पिच्छिलमाविलम्। कागडेचुरससङ्काशं श्लेष्मकोपात् प्रमेहति ॥ यस्य पर्यु पितं सूत्रं सान्द्रीभवति भाजने । पुरुषं कफकोपेन तसाहुः सान्द्रमेहिनम् ॥ यस्य संहन्यते सूत्रं किञ्चित् किञ्चित् प्रसीद्ति। सान्द्रप्रसादसेहीति तमाहुः र्लेप्सकोपतः ॥ शुक्लं पिष्टनिभं सूत्रमभी च्यां यः प्रमेहति । पुरुषं कफकोपेन तमाहुः शुक्लमेहिनम्॥ शुक्रामं शुक्रमिश्रं वा मुहुर्मेहति यो नरः। शुक्रमेहिनमाहुस्तं पुरुषं श्लेष्मको५तः ॥ अत्यर्थमधुरं शीतं सूत्रं मेहति यो शृशस्। शीतमेहिनमाहुस्तं पुरुषं श्लेष्मकोपतः ॥ सूर्तान् सूत्रगतान् दोषानगुन् मेहति यो नरः। सिकतामेहिनं विद्यात् तं नरं श्लेष्मकोपतः ॥ सन्दं सन्दमवेगन्तु कृच्छ्रं यो सूत्रयेच्छ्नैः। शनैमें हिनमाहुस्तं पुरुषं श्लेष्मकोपतः ॥ तन्तुबद्धिमवालालं पिच्छिलं यः प्रमेहति। **ञ्चालालमेहिनं विद्यात् तं नरं शेष्मकोपतः ॥**

इत्येते दश प्रमेहाः रलेष्मकोपितिमित्ता व्याख्याता भवन्ति ॥ ६॥ उदमेहीत्युद्कमेही। काण्डेक्ष इक्षुवालिका। संहन्यते मूत्रं भाजने धृतमधस्तात् संघातीभवति। किश्चित् किश्चित् प्रसीदतीति उपरिष्टादच्छं भवति। रससङ्काशमिति किमित्युच्यते, इक्षुवालिकाकाण्डेक्ष्वोर्थान्तरस्वातः नैवम, इक्षुवालिकारसस्य

तथा इधुवालिकारसतुरयश्चेधुवालिकामेहो भवतीत्युभयोषादानाद दर्शयति । संहन्यते स्यानी-

उष्णाम्ललवया नास्करुका जीर्णभो जनोवसे विनः तथा ति-ती च्णातपाग्निसन्दापश्रमको धविषमा हारोपसे विनश्च, तथा विध-श्रारेरस्यैव पित्तमाशु प्रकोषमापद्यते । तत् प्रकृषितं तये वानु-पूठन्तर्रः प्रमेहा निमान् षट् चित्रतरमि भिनिवर्श्वर्त्तयति । तेषामिष अन्यत्राष्युक्तं—स्रामेही स्ररातुल्य सुप्ययं च्छमधो धनिषित । अणून सिकतावत् सुस्मान मूर्त्तान मृत्तिमतो मत्रगतान दोषान महिता ॥ ६॥

गङ्गाधरः-अथ पित्तमहान् वक्ति-उप्णाम्छत्यादि। म्लाद्यो विषमाहारान्ता निदानविशेषा इत्युक्तम् । तथाविधशरीरस्यैवेट्यनेन वहुवद्धमेदोदुष्टमांसशरीरक्लेदशुक्रशोणितवसामज्जलसीकारसोजांसि विशेषा इत्युक्तम् । पित्तमित्यनेन पित्तोल्वणास्त्रयो दोषा दोषविशेषा इत्युक्तम् । आशु प्रकोपमापचते इत्यनेन त्रयाणामेपां निदानादिविशेषाणां सिविपाते प्रागतिभूयस्तात् वातककातुगं पित्तमाशु प्रकोपमापचते इत्युक्तम्। ऽध्युक्तं-"वातकफ्रशोणितमेदोभिरन्वितं पित्तं पित्तमेहान् जनयतीति।" तत तयैवातुपूर्व्याति क्षिप्रमेव शरीरस्टिष्तं लभते शरीर-वातकफानुपित्तं शैथिल्यात तत् विसपेत् शरीरे मेदसैवादितो मिश्रोमावं गच्छति मेदसश्चैव वहुवद्धलात्। मेदसश्च गुणानां स्नेहद्रवादीनां समानगुणभूयिष्टलात्। तत् मेदसा मिश्रीभवत् सन्द्षयत्येनं विकृतलात्। विकृतन्तु तत् तेन च दुष्टेन मेदसोपहतं शरीरक्लेदमांसाभ्यां संसर्गमेति। क्लेदमांसयोरतिप्रगणाभि-दृद्धतात्। तत् तु मांसे मांसपदोषात् पूतिमांसपिड्काः शराविकाकच्छिपिकाद्याः संजनयत्यपकृतिभूतलात्। शरीरक्छेदं पुनद् पयत् तत् पित्तं मूत्रलेन परिणमति। मूत्रवहाणाश्च वङ्कणवस्तिप्रभवाणां स्रोतसां भेदः क्लेदोपहितानि गुरूणि मुखान्यासाच प्रतिरुध्यते, ततः प्रमेहानिमान् पट् क्षिप्रतरमभिनिन्वेत्तेयति । भवति । मूर्त्तीनिति कठिनान् ; दोपानिति जातौ बहुवचनम् ; येन, दोपोऽत्रैक एव प्रभूतः कपः। तन्तुवद्दं तन्तुवद्दीर्घमित्यर्थः। लालामिवालालं समन्तालालारूपमित्यर्थः। प्रति प्रति मेहज्ञ इरुप्मकोपत इत्यादिवचनं सुखप्रहणार्थम्। न चेह वाच्यम्—यद्—यथा इरुप्म-गुणा दश प्रमेहान् जनयन्ति, न तथा किमित्यपरानिप गुणसंसर्गविकरपान्तरेण कुर्व्यन्तीति ; यतः, भावस्वमावोऽयम्—यथा दृष्ट एव परं कल्प्यते नादृष्टे च ; न हि सत्यिप भूतसंसर्ग-भूयस्त्वे रसभूयस्त्वं भवतीति व्यवस्थितमेव ॥ ६ ॥

चंक्रपाणिः—उप्णेत्यादिना पित्तमेहनिदानम् । पट क्षिप्रतरमिति क्लेप्ममेहापेक्षया ;

तु खलु पित्तग्रग्विशेषेगीव नामविशेषा भर्गन्त । तद् यथा— चारमेहश्च कालमेहश्च नीलमेहश्च लोहितसेइश्च माञ्जिष्टमेहश्च हारिद्रमेहश्चेति । ते पड़्मिरेतैः चाराम्लज्वग्गकटुविछोण्गैः पित्तग्रगीरेव पूठ्यत् समन्त्रिता भवन्ति । ते सर्व्व एव च याष्याः ज्ञेयाः संस्टष्टदोजमेदःस्थानकत्वात् विरुद्धोपक्रमत्वाच इति ॥ ७॥

तेषामिष तिति। तुशब्दात् शरीरक्छेदस्तु पित्तमेदोमिश्रः प्रतिशन् मूत्राशयं मूत्रतमापद्यमानः पैत्तिकैर्गन्धरसरूपस्पशः वैपम्ययुक्तिरेभिवेक्ष्यमाणैः क्षाराम्छछवणकद्कविस्रोप्णंरूपगृह्यते। तत्र येन येन गुणंनैकेनानेकेन वा भूयसा वा समुपगृह्यते तेन तेन खछु विकृतेन पित्तगुणविशेषेण तेषां पण्णां पित्तप्रमेहाणां तत्समाख्या नामविशेषा भवन्तीत्यथेः।

तदाह—तद् यथेत्यादि । क्षारमेहइचेति वैपस्यमापन्नैः क्षारस्येव पित्तस्य गन्धरसरूपस्पर्शेः क्षारमेह इति संजा । कालमेहइचेति पित्तस्य मसीतुल्य-वणवत् वैपस्यमापन्नवर्णेन उप्णेन च कालमेह इति संजा । नीलमेहइचेति चापपिक्षणो नीलवर्णवत् पित्तस्य वैपस्यमापनस्य नीलवर्णेनास्लरसेन च नीलमेह इति संजा । लोहितमेहइचेति वैपस्यमापन्नैः पित्तस्य विस्त्रन्थ-लवणरसरक्तवर्णोप्णस्पर्शेलोहितमेह इति संजा । माज्जिष्ठमेहइचेति वेपस्य-मापन्नाभ्यामामगन्धमाज्जिष्ठोदकतुल्यरक्तवर्णाभ्यां माज्जिष्ठमेह इति संजा । हारिद्रमेहइचेति कटुरसहारिद्रवर्णाभ्यां पित्तस्य हारिद्रमेह इति संजा । ते पट् पित्तप्रमेहाः कथं क्षारमेहादिसंजां लभन्ते इत्यतआह—ते पट् भिरित्यादि । पित्तगुणैः पित्तस्य गन्धरसङ्पद्पर्याविकृतिभूतगुणैः । पूर्वविदिति इलेप्य-प्रमेहोक्तगरीरक्वलेदस्तु इत्यादिना पदर्शनवत् । ते सन्वं एवति पट् ते पित्तोख्वणजाः । कस्मात् याप्या इत्यत आह—संस्र प्टेत्यादि । सन्वेत्रव प्रमेहेषु त्रिदोपजलेऽपि कफस्य प्राधान्ये संसर्गात् पित्तप्रमेहेषु पित्तवत् कफोऽपि

इलेप्सणो ह्यक्षिप्रकारित्वेन क्षिप्रतरोत्पादो नोक्तः । पूर्विवद्युक्ता भवन्तीति इलेप्सवट् वृद्धिहानि-युक्ता एवेत्यर्थः । संस्टदोपमेदःस्थानत्वादिति सिन्नकृष्टं दोपस्य पित्तस्य मेदस्थ स्थानम् ; यस्मात् पित्तस्य हि आमाशयः स्थानम्, तथा मेदसोऽपि यत् स्थानं वसावहुलम्, तदिपि आमाशयैकदेश एव ; तेन दोपदृष्ययोः स्थानप्रत्यासत्या दृषणं नित्यं प्रत्यासन्तत्वात् दुर्ज्यप्रमिति तत्र श्टोकाः पित्तप्रमहित्रशेष-विज्ञानार्था भवन्ति ।
गन्धवर्णरत्तस्पर्शेषया ज्ञारम्तथाविधम् ।
पित्तकोपान्नरो मृत्रं ज्ञारमेही प्रमहित ॥
मसीवर्णमजस्त्रं यो मृत्रमुख्यां प्रमहित ।
पित्तस्य परिकोषेण तं विद्यात् कालमहिनम् ॥
चाषपज्ञिमं मृत्रमम्लं मेहित यो नरः ।
पित्तस्य परिकोषेण तं विद्यान्नीलमेहिनम् ॥
विस्तं लवणमुख्यश्च रक्तं मेहित यो नरः ।
पित्तस्य परिकोषेण तं विद्यान्नीलमेहिनम् ॥
मित्तस्य परिकोषेण तं विद्यान् रक्तमेहिनम् ॥
मित्तस्य परिकोषात् तं विद्यान्माक्षिण्ठमेहिनम् ॥
हरिद्रोदकसङ्काशं कटुकं यः प्रमहित ।
दित्तस्य परिकोषात् तं विद्यान्माक्षिण्ठमेहिनम् ॥
हरिद्रोदकसङ्काशं कटुकं यः प्रमहित ।

इत्येते पट् प्रमेहाः पित्तप्रकोपनिमित्ता व्याख्याता भवन्ति॥८॥

मधानस्तेन कफेन संस्रष्टस्य दोपस्य पकरणात् पित्तस्य मेदःस्थानलात् तेन मेदःमभृतिदृष्यहरणिकयया पुनश्च चिकित्सायां विरुद्धोपक्रमलाच । चिकित्-सिते वक्ष्यते प्रमेहहेतुः कफकुच सन्वमिति । यदा पित्तं मेदःस्थानं न गला प्रमेहकरं भवति तदा पित्तजा अपि प्रमेहाः साध्या भवन्तीति वोध्यम् ॥ ७॥

गङ्गाधरः—पट् पित्तप्रमेहविकानार्थान् इलोकानाह—तत्र श्लोका इत्यादि। गन्धेत्यादि। क्षारो भस्मपस्नुतोदकम्। सुश्रुतेऽप्युक्तं स्नुतक्षारप्रतिमं क्षारमेही मेहतीति। मसीत्यादि सुगमम्। चापत्यादि चापः पिक्षविशेषः। नस्र सुश्रुते नीलमेहोऽन्यथा पिठतः सफेनमच्छं नीलं नीलमेही मेहतीति। कालमेहस्तु न पिठतः, अम्लमेहश्च पिठतः, अम्लरसगन्धमम्लमेही मेहतीति,

भावः ; किंवा संस्छदोपं मेदोरूपं स्थानं यस्य स तथा, एप विरुद्घोपकमत्वे हेतुः ; तेन यस्मात् पित्तरूपेण दोपेण सम्बद्धं मेदोरूपं स्थानम्, तस्माद् विरुद्घोपकमता ; यद्धि पित्तस्य कषायकटुतिक्तकहचलघुशीतव्यवायव्यायामवमनविरेचना-स्थापन-शिरोविरेचनातियोग-सन्धारणानशनाभिघातातपोद्देग-शोकशोणिताभिषेकजागरणविषमशरीरन्यासान् उपसेवमानस्य तथाविधशरीरस्येव चित्रं वातः प्रकोपमापद्यते। स प्रकुपितस्तथाविधशरीरे विसर्पन् यदा वसामादाय मूत्र-विरोधो नाश्रद्धाः। तत्रोक्ताम्लमेहोऽत्र नीलमेहमंग्र्या पिटतः। तत्रोक्त-नीलमेहस्तत्र कालमेहसंग्र्यापिटतः। लक्षणातिरेकाल्पताया मेदोमांसादि-दृष्यकाय्येत्वेनोन्नेयम्।। ८।।

गङ्गाधरः—अथ वातोल्वणप्रमेहान् वक्ति—कपायेत्यादिः। कपाया-दीनामितयोगः। सन्धारणं वेगानाम्। अनशनमुपवासः। उद्देगः क्रियासु मनस उपस्थितप्रदृत्तिः। शोकोऽभीष्टिविरहणं दुःखम्। शोणि-तामिषेकः शोणितमोक्षः। जागरणं निशायाम्। विपमशरीरन्यासो-ऽयथावच्छरीरप्रदृत्तिः। एते कपायाद्यो निदानिवशेषाः। तथाविध-शरीरस्यैवेति। कपायादिनिदानसेवनेन वहुवद्धमेदोदुष्टमांसशरीरक्टेदशुक्त-शोणितवसामज्जलसीकारसौजांसीति इत्येके, न तु वहुवद्धं मेदो मांसश्च शरीर-क्टेदः शुक्रं शोणितं वसा मज्जा लसीका रसश्चौज इत्येते दूष्यविशेषाः। ज्वरा-दिषु होषां सन्वेषां न दूष्यत्वमतः सन्वेष्वेव प्रमेहेषु चैपां दृष्यत्वाविशेषेऽपि ज्वराद्यपेक्षया प्रमेहे दृष्यविशेषत्वम्। वात इति पित्तककानुगवायुरिति दोप-विशेषः। एपां त्रयाणां निदानादीनां सन्निपाते प्रागितभूयस्त्वात् वातः क्षिपं प्रकोपमापद्यते इत्यथः।

स प्रकृपित इत्यादि। स वायुः प्रकृपितस्तथाविधशरीरे कपाया-दुप्रपसेवनेन वहुवद्धमेदोमांसादिमित शरीरे विस्टिप्तं लभते। वहुवद्ध-मेदोमांसादित्वेन शरीरस्य शैथिल्यात् तल शरीरे विसर्पस्तु स वायुमेदसैवादितो मिश्रीभावमुच्छिति मेदसश्च वहुवद्धलात्, मेदसश्च शैत्यवैशद्यादिगुणानां समानगुणलात्। स च मेदसा मिश्रीभवन् सन्दृषयत्येनं विकृतलात्। स यदा विकृतो दुष्टेन मेदसोपहतः शरीरक्लेदमांसाभ्यां संसर्गमेति क्लेदमांस-

मधुरक्षीतादि पथ्यम्, तदपथ्यं मेदसः, यन्च मेदसः कटुकादि पथ्यम्, पित्तस्य तदपथ्यम् ; चकारन्याधिप्रभावाच्चाद् थाप्यत्वमिति दर्शयति ॥ ७।८॥ वहाि स्रोतांसि प्रतिपद्यते, तदा वसामेहमिमिनिर्व्वत्यति । यदा पुनर्भज्ञानं मूत्रस्थानवस्तावाकर्षति, तदा मज्जमेहमिभ-निर्व्वर्त्तयति । यदा तु लसीकां मूत्राश्येऽभिवहन् मूत्रमनुवन्धं श्योतयति लसीकातिवहुत्वात् विचेपणाच्च वायोः खल्वस्याति-सृत्रप्रवृत्तिसङ्गं करोति, तदा स मत्त इव गजः चरस्यजस्रं

भमाणातिदृद्धलात, स मांसभदोपान्मांसे शराविकाद्याः पिड्काः संजनयति । ·यदा तु तथाविधशरीरे विसर्पस्तु स वायुर्वसां सर्वेशरीरस्नेहमादाय दृषयन् प्रविच्य मूत्राशयं मूत्रत्वेन परिणतः सन् मूत्रवहाणि स्रोतांसि वङ्घणवस्ति-प्रभवाणि मेर्दे हे दवसाद्वापहितानि स्रोतांसि प्रतिपद्यते, तदा वसामेहमभि-निन्वेत्तेयति वसामेहरूपेण भवति । एवं सर्व्दरोगाभिनिन्द्रेतौ तत्तद्रपेण स स दोपो भवतीति व्याख्येयम्। यदा पुनिस्त्यादि। यदा पुनम्जानं म् त्रस्थाने वस्तावाकर्पति चललात्. तदा मज्जमेहमभिनिव्वेत्तेयति। यदा तित्यादि। यदा तु लसीकां मांसलगन्तरस्थमुदकं मूत्राशये वस्तौ अभिवहन् अभिनयन् मूत्रमनुवन्धं सावशेषं मूत्रं इच्योतयति। वन्धे हेतुमाह—लसीकातिवहुलात्। लसीका हि पिच्छिला, पैछिल्यात् तु न निःशेषेण मूत्रं इच्छुतं भवति । नतु पैच्छिल्याहृद्धमेव मूत्रं भवतु न किञ्चिदपि इच्योतत् इत्यत आह—विक्षेपणाच वायोः। वायोश्रलत्वेन विक्षेपणाच मुत्रं पैच्छित्यात् सर्व्वेशोवद्धं न भवति किन्तु सानुवन्धं ब्च्योतति। चकारात् लसीकाख्योदकस्यातिवहुलात् वायोविक्षेपणाच खल्वस्य पुंसो मूत्रातिमष्टत्ति-सङ्गं मूत्रस्यातिप्रष्टित्रश्च सङ्गश्च तयोः समाहारः तत् तथा समाहारकरणात् निःशे-पेण न मूत्रातिप्रष्टितं करोति, किन्तु सङ्गपूच्यकमूत्रातिपष्टितं करोति, सावशेषं मुत्रातिक्षरणं करोतीत्यथेः। स कीद्यः क्षरयतीत्यत आह—तदा मत्त इव गज

चकपाणिः—रुक्षेत्यादि वातमेहस्य निदानम् । मूत्रवस्तावाकपैति मूत्रवस्तो स्थित आकपैति, अर्थात् मूत्रवस्तिमेव नयित ; लसीका मांसत्वगन्तरे उदकभागः, वक्ष्यिति हि शारीरे—"यन्मांसत्वगन्तरे उदकं, तल्लसीकाशन्दं लभते" इत्यादि ; अनुवन्धमित्यविच्छेदेन । च्योतयतीति
पातयित । अथ ।वायोविक्षेपकारित्वेन प्रवत्तंकत्वेन कथं मूत्रप्रवृत्तेरन्तरा सङ्गः १ यतः,
मूत्राशयं रोक्ष्यात् हेदियःवा रक्षञ्च कृत्वा नयस्योजः, स्वमहिग्ना च वायुरोजः कपायं करोति ;

सूत्रसवेगं, तं हस्तिमहिनिमत्याचन्ते । श्रोजः पुनर्मधुरस्वभावं तद्रौच्याद् वायुश्च कषायत्वेनाभिसंस्टच्य सूत्राश्येऽभिवहन् सधुमेहं करोति । इसांश्रतुरः प्रमेहान् वातजानसाध्यानाचन्ते भिषजो महात्ययिकत्वात् विरुद्धोपक्रमत्व।च्चेति । तेषामपि

इत्यादि। अजस्रमित्यनेन निःशेपाभावः ख्यापितः। अवेगमित्यनेन मूत्रातिप्रवृत्तिः ख्यापिता। हस्तिमेहिनमिति हस्ती मत्त इवाजस्ममवेगश्च मूत्रस्य क्षरणात् हस्तिमेह इति संजा।

ओज इत्यादि। यदा तु स वायुः ओजः पुनर्पधुरस्वभावं तदोजो रौक्ष्यात् कपायसेन चाभिसंसुच्य संसर्गं कुला मूत्राशये वस्तौ स्ट्रैः रूपाचलसाच अभिवहन् नयन् सन् पिश्रीभवन् स्त्रलेन परिणमन् कपायं मधुर् पाण्डरुसञ्च मूत्रं इच्योतयति तदा तं मधुमेहं करोति, इति मधुमेह इत्याचझते।

वसामेहमज्जमेहहस्तिमेहमघुमेहान्। हेतु-माह—महात्ययिकलादिति। वसामज्जलसीकौजसां गम्भीरधातूनाम् अपकर्षणोत्पत्त्याशु मारकत्वात्। हेत्वन्तरश्चाह—विरुद्धेत्यादि। सव्वजैव भमेहेषु कफप्राधान्येन तेन कफोन संस्रष्टवातस्य मेदःस्थानत्वात् बहुबद्धमेदो-मांसादिद्ष्योपक्रमैः रुक्षोष्णादिभिः सह वातस्य स्नेहोष्णादुप्रपक्रमाणां विरुद्धत्वात्। अत्र चकारः उक्तानुक्तसमुचये व्यवस्थायाश्च। समुचयोऽयं दिशतो महात्ययिकत्वेन सहैव विरुद्धोपक्रमत्वस्य। समुच्चयस्त संसप्टदोपमेदःस्थानत्वादित्यनेन विरुद्धोपक्रमत्वस्य वोध्यस्तत्र च व्यवस्थापीयम्। यदा तु कपायादिभिनिदानैः प्रकुपितो वायुर्वहृवद्ध-मेदोमांसादिमति शरीरे सपेन् वसाद्याकर्षणेन वसामेहादिकान् जनयति तदा ते वसामेहादयो महात्ययिकत्वात् संसृष्टदोपमेदःस्थानत्वात् विरुद्धोपक्रमत्वाच असाध्याः प्रत्याख्येया भवन्ति । यदा तु वसादीन् नाकुष्य शरीरक्रेदादि-धात्नाकुष्य यान् मेहान् वातजान् जनयति ते पुनर्याप्याः संसृष्ट्दोपमेदः-स्थानत्वाद्विरुद्धोपक्रमत्वाच्च। गम्भीरधातुवसाद्याकर्पणाभावात् तु प्रत्याख्येयाः। वक्ष्यते च प्रमेहचिकित्सिते। या वातमेहान् प्रति पूर्व-

वातो हिःवृद्धः प्रभावात् कपायरसं करोति । महात्ययिकत्वादिति मजप्रभृतिसारभूतधातुक्षय-करत्वात् ;ं विरुद्धोपक्रमत्वन्तु वायोः स्निग्धादि पथ्यम्, तन्मेद्सोऽपथ्यमित्यादि ज्ञेयम् ॥ ९ ॥

वातगुग्विशेष्यंव नामविशेषा भवन्ति। तद् यथा—वसामेहश्च नजनेहश्च हरितमेहश्च मधुमेहरचेति॥ ८॥ तत्र श्लोका वातप्रमेहविशेषविज्ञानार्था भवन्ति।

वसामिश्रं वसाभश्च मुहुर्मेहित यो नरः। वसामिहिनमाहुस्तमसाध्यं वातकोपतः॥ मजानं सह सूत्रेण पृत्रं मेहित यो नरः। मजमेहिनमाहुस्तमसाध्यं वातकोपतः॥ हस्ती सत्त इवाजस्तं सृत्रं च्रग्ति यो नरः। हस्तिमेहिनमाहुस्तमसाध्यं वातकोपतः॥ कपायनधुरं पाग्डु रुचं मेहित यो नरः। वातकापादसाध्यं तं प्रतीयान्मधुमेहिनम्॥

मुक्ता वातां व्यणानां विहिता क्रिया सा। वायुहिं मेहेप्ववक्षितानां क्रुप्य-त्यसाध्यान् अति नास्ति चिन्ता।। इति। सुश्रुते च—कफिपत्तवसामज्जन्मेदोभिरिन्वतो दायुदोतजान् ममेहान् जनयति इत्युक्तम्। एपां वसामेहादि-संजायां हेतुमाह—तेपामित्यादि। वसामेहक्ष्वेति कपायमधुरपाष्ट्रस्क्षगुणिवशेषेण वसामेह इति संबा, कपायमधुराभ्यां संस्प्टेऽपि दसाभायाः प्राधान्यात्। मज्जमेहक्ष्वेति वायोर्भधुरगुणसंसर्गेऽपि सिपेवेणेमज्जप्रधान्यात् मज्जमेह इति संबा। सुश्रुते तु मज्जमेहस्य सिपेमेई इति संबा कृता। सिपेंभकाशं सिपेमेई। मेहतीत्युक्तम्। हस्तिमेहक्षेति वायोर्नीरसरूपत्वेऽपि विकृतीभूत-रौक्ष्यादिगुणपरिणामे कपायादिगुणसंसर्गेऽपि मत्तहस्तिवद्जसावेगाभ्यां मूत्रक्षरणप्रधान्यात् हस्तिमेहसंबा। मधुमेहक्षेति मधुरकपायपाण्ड्रौक्ष्यगुण-वन्त्वेऽपि ओजःप्रधान्येनाकपीत् तद्गुणेन मधुरस्तेन मधुमेह इति संबा॥ ९॥

गङ्गाधरः—एपां चतुर्णां वातममेहाणां विशेपणानार्थान् श्लोकानाह— तत्रेत्यादि । सुगमम् । कपायिमत्यादि । यद्यपि वायोनीरसत्वं मधुरत्वमेव तु ओजसो न तु कपायत्वं तथापि वायो रौह्यात् ओजसो मधुरस्वभावस्य कपायत्वेन परिणमयितृत्वात् कपायमधुरत्वं मृत्रस्य रौह्यं पाण्डलश्च वोध्यम् । इत्येते चत्वारः प्रसेहा वातप्रकोपनिमित्ता व्याख्याता भवन्ति । एवं द्विषप्रकोपनिमित्ता विंश्तिः प्रसेहा व्याख्याता भवन्ति ॥ १०॥

त्रयस्त खलु दोषाः प्रक्रिपिताः प्रमेहानभिनिद्वर्त्तियिष्यन्त इमानि पूर्व्वरूपाणि दर्शयन्ति ; तद् यथा—जिटलीभावं केशेषु, माधुर्यमास्यस्य, करपादयोः सुप्ततादाहौ, मुखतालु-कगठशोषं, पिपासाम्, त्रालस्यं, मलञ्ज काये, कायच्छिद्रेषु चोपदेहं, परिदाहं सुप्तताञ्चाङ्गेषु, षट्यदपिपीलिकाभिश्च शरीरसूत्राभिसरगां, सूत्रे च सूत्रदोषान् विस्तञ्च शरीरगन्धं, निद्रां तन्द्राञ्च सर्व्वकालिमिति ॥ १९॥

उपद्रवास्तु खलु प्रमेहिणां तृष्णाज्वरातिसारदाहदौर्घ्यत्या-रोचकाविपाकाः, पूतिमांसपिड्कालजीविद्रध्याद्यश्च तत्-प्रसङ्गाह् भवन्ति ॥ १२ ॥

अस्य मधुमेहस्य सुश्रुते क्षौद्रमेह इति संज्ञा कृता। सर्व्वेषामेव प्रमेहाणां कालेनापतीकारात् मधुररसत्वमापन्नत्वे या मधुमेहसंज्ञा सा नेयमिति। एवमित्यादि सुगमम्॥ १०॥

गङ्गाधरः—तद् यथेत्यादि । जिटलीभावः केशेषु । करपादयोः स्रप्तादाहौ, इति विशेषेण वोध्यौ । परिदाहं स्रप्ताञ्चाङ्गेष्वितिवचनेन करपादयोरपि स्रप्तादाहलाभात् । पट्पदेति मक्षिका, शरीरे मूत्रे च मक्षिकापिपीलिकानाम् अभिसरणमित्यथेः । मूत्रे मूत्रदोषान् कफादिसंसर्गजमाधुर्य्योदिदोपान् । विस्नमामं शरीरगन्यं सन्वेकालं निद्रां वा तन्द्रां वा दश्यन्तीत्यन्वयः ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—प्रमेहाणां विंशतेरुपद्रवान् सामान्यत आह—उपद्रवास्त्रित्यादि। प्रतिमांसिपड्काः कियन्तःशिरसीये माधूमेहिकी या या उक्ता सैव सैवात्र बोध्या। तत्पसङ्गात् प्रमेहोपेक्षया चिरावस्थनात्। सुश्रुते इङीष्मिकादि-

चक्रपाणिः—त्रयस्त्विति त्रयोऽपीत्यर्थः ; तेन सर्व्यमेहाणामप्येतदेव समानं पूर्वरूपमिति इर्शयति । तत्प्रसङ्गात् भवन्तीति प्रमेहाद्यनुवन्धाद् भवन्तीत्यर्थः । यादशे पुरुपे प्रमेहो

त साध्यान् प्रमेहान् नंशोधनोषश्मनेर्यथाहमुपपाद्यन् चिकित दिति ॥ १३॥

भवन्ति चात्र।

ग्रन्तुसभ्यवहार्थ्येषु स्नानचंद्रमणाद्विपम् ।

प्रमेहः चिप्रमभ्येति नीड्द्रु मिनवाग्डजः ॥

सन्दोत्साहमतिस्थूलमितिस्त्रभ्यं महाश्वनम् ।

सृत्युः प्रमेहरूपेण चिप्रमादाय गच्छिति ॥

यस्त्वाहारं श्रीरस्य धातुसाम्यकरं नरः ।

सेवते विविधाश्चान्याश्चेष्टाः स सुखमश्नुते ॥ १४ ॥

तत्र श्लोकाः ।

हेतुदर्याधिविश्पाणां प्रमेहाणाश्च कारणम् ।

दोपधातुसमायोगो रूपं विविधमेव च ॥

प्रमहीयतभेदेन उपद्रवा उक्तास्तद् यथा—मिक्षकोपसपणमालस्यं मांसोपचयः मित्रयायः शैथिल्यारोचकाविषाकाः कफप्रसेकच्छितिद्राकासम्वासादचिति इन्छेप्मजानामुपद्रवाः। ष्टपणयोरवदरणं वस्तिभेदो मेदृतोदो हृद्धि शुल्लम्लीका- ज्वरातिसारारोचका वमथुः परिधूमायनं दाहो मूर्च्छो पिपासा निद्रानाशः पाण्डरोगः पीतविण्यूत्रनेत्रतन्त्रचेति पैत्तिकानाम्। हृदग्रहो लौल्यमनिद्रा स्तम्भः कम्पः शूळं वद्धपुरीपलञ्चेति वातजानामिति ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—उपशयकानार्थं चिकित्सास्त्राण्याह—तत्रेत्यादि ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—अथ संग्रहेण प्रमेहकारणमाह—भवन्तीत्यादि । गृध्तुं लोभवन्तप्

अण्डजः पक्षी । मन्दोत्साहादीन्यपि प्रमेहस्यासाध्यत्नेन भावित्ते कारणानि
न त्त्पन्ने प्रमेहे मन्दोत्साहादीनि असाध्यत्तलिङ्गानि । सन्वेत्र व्याध्यतुत्पादेऽव्यभिचारिकारणान्याह—यस्तित्यादि । स्रगमम् ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थमुपसंहरति—तत्र श्लोका इत्यादि । व्याधिविशेषाणां भवति प्रायः, तमाह—गृध्तुमित्यादि ।—गृध्तुं छुव्धम् ; नीइद्रुमः पक्षिणां वासञ्चक्षः ; मृत्युः प्रमेहरूपेणेति मन्दोत्साहादियुक्ते प्रमेहोः जातोऽसाध्यो भवतीति दर्शयति । विविधाधान्याञ्चेषा इति धातुसाम्यकरा इत्यर्थः ॥ १०—१४ ॥

हेतुर्निदानदोषदृष्यिवशेषेभ्यो विकाराणां विघातभावाभावभावमितिवशेषाणां हेतुयेदा हेत्रते इत्यादिना । तत्रेमे इत्यादिना ममेहाणां कारणम् । स मक्रिपत इत्यादिना दोपधातुसमायोगः सम्माप्तिविधिरूषा । तत्र येन येनेत्यादिना दश क्रेष्मकृता प्रमेहा यस्माद्धेतोभेवन्ति तत्कारणम् । तत्र श्लोका इत्यादिना प्रमेहाणां दशानां विविधरूषम् । साध्यत्वश्च कफप्रमेहाणां स्थैय्यंमित्यादिना । तत्सतु पित्तमेहानाम् उष्णाम्लेत्यादिकारणम् । तत् प्रकृपितिमत्यादिना दोपधातुसमायोगः । तेपामित्यादिना यस्मात् पद् पित्तजाः प्रमेहास्तत्कारणम् । ते सन्व एवेत्यादिना याप्यासाध्यत्म । तत्र श्लोका इत्यादिना पण्णां पित्तमेहाणां विविधं रूपम् । ततः कपायेत्यादिना वातप्रमेहाणां कारणम् । स प्रकृपित इत्यादिना वातप्रमेहाणां दोपधातुसमायोगः । इमांक्वेत्यादिना वातप्रमेहाणां साध्ययाप्यत्ववचनम् । तेपामित्यादिना यथा वायुश्चतुरो मेहान् कुस्ते तत्पृकरणम् । तत्र श्लोका इत्यादिना वातप्रमेहाणां विविधं रूपम् । त्रापिकामित्रयादिना सर्विधामित्रयादिना स्विधामित्रयादिना सर्विधामित्रयादिना सर्विधामित्रयादिना सर्विधामित्रयादिना सर्विधामित्रयादिना सर्विधामित्रयादिना सर्विधामित्रयादिना सर्विधामित्रयादिना सर्वेष्याप्रयादिना सर्विधामित्रयादिना सर्विधामित्य

अध्यायं समापयति – अग्रीत्वादि । स्पष्टम् ॥

इति श्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजलपकल्पतरौ निदानस्थान-जलपे द्वितीयस्कन्धे प्रमेहनिदानाध्यायजलपश्चतुर्थी ज्ञाखा ॥ ४ ॥

चक्रपाणिः—संग्रहे न्याधिनिशेपाणामिति "इह खलु" इत्यादि ग्रन्थं गृह्णाति ; साध्यासाध्य-विशेषा इत्यत्रासाध्यनिशेपत्वेन पित्तजानां याप्यानां ग्रहणम् ॥ १५ ॥

इति चरकचतुरानन-श्रीमच्चकपाणिदत्तविरचितायाम् आयुर्वेददीपिकायां निदानस्थान-ब्याख्यायां प्रमेहनिदानं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः।

अथातः कुप्ठनिदानं व्याख्यास्यामः, इतिह स्माह भगवानात्रेयः॥ १॥

सत द्रव्याणि कुष्ठानां प्रकृतिविक्वतिमायन्तानि भवन्ति। तद्यथा—त्रयो दोषा वातिषत्तरलेष्माणः प्रकोषणिविक्वताः, दृष्याश्च श्रीरधातवस्त्वङ्मांसशोणितलसीकाश्चतुर्झा दोषोष-

गङ्गायरः — अथाव्यभिचरितैकैकदोपत्रिदोपव्याधीनुत्तवा त्रैदोपिकत्रप्रसङ्ग-संगत्या ममेहनिदानानन्तरं कुष्टनिदानमाह — अथात इत्यादि ॥ १॥

गृहाधरः—सप्त द्रव्याणीति समवायिकारणानि, कुष्टानां सर्व्वेपामेव सप्तेव मकृतिविकृतिमापन्नानि मकृत्या स्वभावेन सप्तव न तु व्यस्तानि विकृति-मापन्नानि। तद् यथेति। त्रय इत्यादि। मकोपणिवकृताः कुष्टकरत्नेन वश्यमाण-स्वस्विनदानाद् दृद्धिमापन्नाः न तु सयमापन्नाः। दृष्टाः खळ लङ्गांसाद्यः दोषोपघातेन दोपेरुपघातेन विकृताः। एवं सर्व्वेषु दृष्याणां विकृतिः स्वकारणेन दृद्धानां सीणानां वा यथास्विनदानकृषितदोषोपघातेन वोध्या, अन्यथा मित-

चक्रपाणिः—प्रमेहमनु प्रागुरपत्ती कुष्टिनदानमुन्यते; वचनं हि—"हिवःप्राधान्महङ्कृष्टगाः" इति । सम द्रव्याणीति—प्रयो दोपाश्चरवारि दृष्याणि; प्रकृतिरिति कारणिमत्यर्थः; सस्द्रव्याणां विदेषणं—'प्रकृतिमापलानि' इति ; किंवा प्रकृतिविकृतिमापलानीति पाटः; तदा प्रकृत्या कुष्टकारणेन विकृतिमापलानीत्यर्थः; एतेन च यदा कुष्टजनकहेतुष्यिविरेकेण वातादीनां विकृतिमंवति, न गदा कुष्टोत्यादो भवति, किन्तु निसर्पोत्पाद इति दर्शयितः विसर्पे दि "र्कं किंवा त्रक्यांसं दृष्यं दोपाश्चयो मलाः। स्ववं एव प्रकृष्यन्ति चीसर्पाणां समुद्धवे।" इति वचनादेत एव सस् विकृताः कारणिमस्युक्तम्; यद्यपि कुष्टिवसर्पयोद्देषदृष्यकृतं साम्यमस्ति, तथापि विसर्पणशोलिन एकप्रधानदोपेण विसर्पजनम्, मन्यथा तु कुष्ठजन्मति ध्याधिमेदोत्पत्तिः । अत एव "विविधं सर्पति बेन विसर्परतेन संज्ञितः"; तथा विश्विष्यशोणितवशादेव विसर्पे प्रवला वेदना भवति, तथा रक्तिकिरसायाः प्राधान्येनोपदेशाच्च रक्तप्रधान्यं विसर्पं क्षेयम् ; वचनं हि—"प्रवत्यानि सर्व्याणि स्क्रमोक्षणमेकतः" इति ; अन्ये तु स्रुवते—विसर्पे नावश्यं दोपदृष्यस्य सहकृद्धान्ति सर्वान स्वतानियमेन दृष्टिरित,

प्रकृतिमापनानि इति पाठान्तरम् ।

घातिक ताः। इत्येतत् क सप्तधातुक मेवं गतमाजननं कुष्ठानाम्। अतः प्रभवाद †भिनिर्व्वर्त्तमानानि केवलं श्ररीरमुपतपन्ति॥ २॥ न च किश्चिद्दस्ति कुष्ठमेकदोषप्रकोपनिमित्तम्, अस्ति तु

रोगं निदानवचनवैयथर्रापत्तिश्च। तेन दृष्याद्रचेति प्रकोपणविक्रता दोपोपघात-विकृताश्च। इत्येतत् वातिपत्तकफलङ्गांसशोणितलसीका इति सप्तधातुककुष्ठरोगे प्रकोपणविकृता दोपास्तत्स्वभावदोपोपघातिवकृता न च दृष्या इति सप्तकं कुष्टानामाजननं प्रकृतिभूतकारणम्। तन्मयानि हि कुष्टानि न च समुदायलेन तेभ्यो विशिष्टान्यपि न तद्विरिक्तानि। अतः सप्तधातुकात् प्रभवात् प्रभवन-कारणात्। अभिनिन्वीसेमानानि कुष्टानि केवलमित्वलं शरीरम्॥ २॥

गुङ्गाधरः—ननु किं वाताचन्यतमात् प्रभवात् उत मिलितात् सप्तकादित्याशक्षां निरसितुमाह—न च किश्चिदिति । किमपि कुष्टम् एकदोपप्रकोपो निमित्तं यस्य व्यथा कुष्टारम्भका दोषाः कुष्यन्ति, तथा च टूप्याणि ; तदाह—तद् यथेस्यादि । प्रकोषण-विकृता इति कुष्ठनिदानप्रकोणणविकृताः, अन्यथा प्रकोपणवचनमनथंकं स्वात्, विना प्रकोपणं न्याधिजनक्विकृत्यभावाद । दोषोपघात इत्यनेन दोषोपघातादेव धातूनां विकृतिर्भवतीति दर्शयति, न दोपमन्तरा धातवो दृष्यन्तीत्यर्थः । किंवा कुष्टकारणानां क्षयवृद्धिमात्ररूपधातूनां विकृतिं निराकृत्य दोपाभिसम्बन्धरूपां दृष्टिं ब्राह्यन्ति ; सप्तधातुकं सप्तधातुमेलकः ; एवं-गतमित्युक्तक्रमेण विकृतिं गतम् ; आजननं कारणम् ; अतः प्रभावाणीत्येतत्कारणभूतानि ; अभि-निव्वत्तमानानीति अतिप्रसर्पमाणानि ; केवलं कृत्सनं दृष्यचतुर्ययातिरिक्तमपीत्यर्थः ; एतेन प्रथमोत्पत्ती कुष्ठे तु चतुर्द्धातुद्दिशिनयमः, उत्पन्नस्य अस्थिशिरादिद्वपणमपि भवतीति दर्शयति ; तत्र सुश्रुते कुष्टस प्रथमं स्वगाश्रयस्य पश्चादत्तरोत्तरधातूनामनुगमनमुक्तम्—"एवं कुष्टं समुत्पन्नं त्वचि फालप्रकर्पतः। क्रमेण धात्न् व्याप्नोति इत्यादिना प्रन्थेन ; तदिहापि अविरुद्धमेव । येन सर्वेकुष्ठेषु प्रथमं स्वच्यवश्यं वैकृतं भवति विशेषेण, पश्चाद वैशेषिको दृष्टिः कालप्रकर्पाद्रकादिषु भवति ; चतुर्द्वातुर्धिश्चेह कुष्ठोत्पादे सामान्यदृष्ट्यभित्रायेणोक्ता, वैशेषिके तु दुष्टिस्तेषां क्रमेणैव भवति ; वैशेषिकदुष्टिश्चेह "शरीरसुपतपन्ति" इति वचनाद व्याख्येया ; अत एव सुश्रुते वैशेषिकदुच्याभिषायेणैव—"कण्डूवि पूयकद्वेव कुष्ठे शोणितसंश्रये" इत्यादिना ंविशिष्टलक्षणमुक्तम् ; इह तु या सामान्येन चतुर्द्वीतुर्दिरुक्तां, न सा तल्लक्षणयुक्तां, किन्तु ्कुछोत्पादमात्रज्ञेया ; तेन न विरोधः ॥ ११२ ॥ 🔧

चक्रपाणिः—सम्प्रति त्रिदोपजन्यत्वेऽपि सर्व्वकुष्टानां यथा वातिकादिव्यपदेशो भवति, चदाह्—न च किञ्जिदित्यादि। समानप्रकृतीनामिति अवान्तरविकल्परहिततुल्यवातादिसस-

^{*} इतः परं 'सप्तभातृनाम्' इत्यिभिकः पाठो दृश्यते । † प्रभवादित्यत्र प्रभावाणीति पाठः ।

च्ह् समानप्रकृतीनामिष कुष्ठानां दोषांशांशविकल्पानु-इन्धन्थानविभागेन वेदनावणंसंस्थानप्रभावनामचिकित्सित-विशेदः ॥ ३ ॥

स सप्तविधोऽष्टादश्विधोऽपरिसंख्येयविधो वा भवति।

नद् नया। तेनैकदृष्यनिमित्तमिष नेति ख्यापितं, न वा द्विदोपदृष्यनिमित्तम् इति च। नन्न मिलितसप्तथातुकले कथं सप्तथा प्रसरो भवतीत्यत आह— अस्ति लित्यादि। समानप्रकृतींनां वातिपत्तककलङ्गांसरक्तलसीकेति-सप्तथानुप्रकृतिकलेऽपि चास्ति क्रष्टानां तत्तद्वातादिदोपाणामेकादुप्रख्योऽ शांकाविकत्य इति एकद्वित्रप्रदंप्रशविकल्पेन विभागस्तथा दोपाणामनुवन्येन स्थानेन लङ्गांसादिरूपेण च विभागस्तेन वेदनाविशेषो यातनाविशेषो वर्णविशेषश्च। संस्थानिवशेष इति मण्डलाद्याकारभेदः। प्रभावविशेष इति अचिनत्यक्तियाविशेषः। नामविशेष इति काषालादिनामभेदः। चिकित्सितविशेषः क्रियाविशेषः। तस्मात् नामविशेषादेव सम्पद्यते। इति विशेषशब्दस्य वेदनादि-प्रत्येकेनान्वयाद्व्यस्यं, तन्न, परन्तु वेदनादिभिविशेषः प्रभेद इत्यर्थः॥ ३॥

गृहायरः—ननु वेदनावणसंस्थानप्रभावनामचिकित्सितैः समानप्रकृतीनां कृष्टानां कितविधो विशेष इत्यत आह—स इत्यादि। स वेदनादिभिर्विशेषः। ननु दोषांशांशविकल्पनैः किं कुष्टानां साध्यसाद्यो विकल्पनते, किमथ

कारणानाम्, अवान्तरभेदाभावे हि कारणानां कार्य्यस्याप्यनेकरूपस्वमय स्यात् ; दोपांशांशविकल्पस्य तथा स्थानस्य च विभागेन च वेदनाविशेषः कुष्ठे भवतीति वाक्यार्थः ; दोपाणाम्
अंशमंशं प्रति विकल्पोऽ शांशिविकल्पः ; किचिद्वायुः स्वस्य रुक्षांशेन प्रकुपितो भवति किचित्
शैत्यांशेनेत्यादि ; तथा दोपदृष्यरूपस्थानविभागेन च वेदनाविशेषो भवति ; वचनं हि—
"तत्र रसादिस्थानेषु प्रकुपितानां दोषाणां यस्मिन् यस्मिन् स्थाने ये ये व्याधयो सम्भवन्ति"
हत्यादि ; स्थानञ्च यद्यपि चतुर्विष्यदूष्यरूपिनयतम्, तथाप्येप दोपस्येव दृष्ये व्याप्तपादिकृतः
स्थानविभागो श्रेयः । तत्र वेदनाविशेषः—"काषालं तोद्यहुल्स्" इत्यादि । वर्णविशेषः—
"काकणिन्तकावर्णम्" इत्यादि । संस्थानविशेषः—"श्वष्टप्यितद्वसंस्थानम्" इत्यादि ; प्रभावविशेषः—"साध्यताऽसाध्यतादि: । नामविशेषः—"काषालः" इत्यादि ; यत्रश्च समानेऽपि कारणे
दोषांशांशिविकल्पस्थानविभागेन वेदनाविशेषः कुष्ठभेदकोऽस्ति, अतः सप्तविभ इत्यादि योजनीयम् ;
सप्तविभः इत्यत्रैव, वस्यमाणमहाकुष्ठभेदेनाष्टादश्वविषस्तु चिक्तित्सावक्ष्यमाणभेदेन, अपरि-

दोषा हि विकल्पनैर्विकल्पामाना विकल्पयन्ति विकारानन्यत्र असाध्यभावात । तेषां विकल्पविकारसंख्यानेऽतिप्रसङ्गमभि-समीच्य सप्तविधमेव कुष्ठविशेषमुपदेच्यामः॥ १॥

सप्तविधलादिमात्रम् १ इत्यत आइ—दोषा इत्यादि । विकल्पनैरंशांशकरूपनैः विकल्प्यमाना दोपा विकारान् विकल्पयन्ति रोगाणां प्रकारान् कुर्व्वन्ति, तेन कुष्टविसर्पयोः समसप्त्रधातुकलेऽपि निदानवैशेष्यात पकृतिसामान्याभावाच विशेषरूपता। एवमसाध्यतं पुनरचिन्त्यं न विकरपयन्ति यतस्त्रिदोपजग्ररमोऽसाध्यो नं चासाध्यं सर्व्यं क्रप्टं त्रिदोपजभ अपीति नास्त्यसाध्यतां प्रति चिन्ता। नन्न सप्तविधलादिकं कैविकल्पनैः शेयमित्यतः सूत्ररूपलादस्य निदानस्थानस्य सप्तविधे सर्व्वविधानामन्तर्भावम् अभिम त्यं सप्तविधवोपटेशार्थमाह—तेपामित्यादि। तेपां वातिपत्तकफानां विकरपेन विकारमकारपरिसंख्याने परिसंख्याकरणेऽतिप्रसङ्गं तन्त्रस्याति-वाहुल्यमसङ्गं कुष्टानां समानमकृतीनामपि दोपांशांशविकल्पस्थानभेदेन वेदना-दिभिविशेषं सप्तविधमेवोपदेश्याम इत्यन्वयः ॥ ४ ॥

संख्येयस्त वेदनाचवान्तरभेदेन ; कुतोऽपरिसंख्याता पुवेविकत्पा भवन्तीःयाह—दोपा हीत्यादि । विकल्पनैरिति विविधभेदविकल्पनैरंशांशविकल्पादिभिविकल्पमाना विकल्पयन्ति भेदयन्ति, व्याधिकारणदोपभेदात् कार्य्यसापि व्याधेभेदो यहविधो भवतीति भावः। सोऽयं दोपभेदकृतो भेदोऽसाध्ये व्याधो नेह क्रियते इत्याह अन्यत्रेत्यादि। असाध्यमिह प्रत्याख्येयमभिप्रतम् ; याप्यस्य भेदोऽसाध्यस्य क्रियत एव यापनार्थम् ; एवं मन्यते—प्रत्याख्येये च्याधी सन्नपि दीपकृती भेदोऽचिकित्स्यत्वेन चिकित्साविशेपाप्रवर्त्तकत्वान्नेह क्रियते, साध्ये नु चिकित्साभेदार्थं कियत इति युक्तम् । सम्प्रतीतरप्रकारत्यागं सहेतुकं दर्शयन् सप्तविधाभिधानं प्रतिजानीते—तेपामित्यादि । विकरपेः सर्व्वेविकारकथनं विकरपविकारसंख्यानम् ; अति-ः प्रसङ्गमिति अत्यभिधानप्रसङ्गम् । नन् यदि सप्तविधकुष्टे अपरैकादशचिकित्सावक्ष्यमाणकुष्ठान्त-भीवो भवति, तदा सप्तविधत्वं तथाशादशविधत्वन्वेति विधाद्वयं भवति, यथा ज्वराणामेकविषत्व-द्विविधत्वादि, तत्र सन्वत्विव विधास सन्वीन्तर्भावीऽस्ति । न चेह सप्तमहाकुष्ठे श्रुद्रकुष्टप्रवेशोऽस्ति, किन्चैवं शुद्राप्रवेशे कथमिहाचारयों निदाने सप्तकृष्ठाभिधानेन कृती स्यात् ; इह तु सप्तविध-कुष्ठाभिधानेन एकदोपजद्विदोपजिव्रदोपजकुष्ठाभिधानं कृतम्—''वातेऽधिकतरे कापालकुष्ठम्" इत्यादिना ; न चैतत्पकारत्रयात् प्रकारान्तरं क्षुद्रकुष्टानामप्यस्ति ; तेन क्षुद्रकुष्टेषु यत् कुष्टम्, तहोपजं वक्त्यम् ; तस्योक्ततहोपलक्षण्युक्तवेन।वरोधो न्याख्येयः, परं शुद्रकुष्ठे महाकुष्ठोक-दोपलक्षणेनात्परवं भवतीति चेयम्; अत्र "चर्माख्यमेककुष्टन्तु किटिमं सविपादिकम्।

इह वातादिषु त्रिषु प्रकृषितेषु त्वगादींश्रतुरः प्रदूषयत्सु वातंऽियकतरं काषालकुष्ठमभिनिवर्वत्ते, पित्ते त्वौडुम्बरं, रलेष्मिणा मण्डलं कुष्ठं, वातिषत्तयोः ऋष्यजिह्नं, पित्त-रलेष्मणाः पुण्डरीकं, रलेष्ममास्तयोः सिध्म, सर्वदोषाभिनिवर्वत्तौ काकण्मभिनिवर्वत्ते । एवमेष सप्तविधः कुष्ठिवरोषो भवति । स एव खलु भ्यस्तरतमतः प्रकृतौ विकल्प्यमानायां भ्यसीं विकारिवकल्पसंख्यासापद्यते ॥ ४ ॥

तत्रेदं सर्व्वकुप्ठिनदानं पुनः समासेनोपदेच्यामः। शीतोष्ण्वयत्यासं मलानुपूट्योपसेवमानस्य तथा

गृहाधरः—तन्तु विशेषं दशेषित—इहेत्यादि। त्रिषु मध्ये वातेऽधिक-तरे इत्यधिकतम इत्यर्थः, द्वयोरुत्कपे तरस्य च्छन्द्सि नियमाभावात्। एवं पित्ते सित्यादिषु अधिकतरे इति पदमन्वेतन्यम्। सन्वंदोपाभिनिच्छ त्ताविति सर्व्यदोपाणां समाभिवृद्धौ। स एवेति स एव सप्तविधः कुष्टविशेष एव भूयस्तर-तमत इति भूयिष्टदोपस्यैकस्थानेकस्य च तरतमतस्तारतम्यात् उल्वणदोपस्य रौक्ष्यशैत्याद्येकद्वित्रप्रादिधम्मेतो दृद्धाः, प्रकृतौ स्वारम्भकदोपे विकल्प्य-मानायां विशेषेण कल्प्यमाने भूयसीमष्टादशादिरूषां विकारिवकल्पसंख्यां दृद्दकिटिमादिविकाररूपेण विकल्पतः सङ्क्ष्याम्॥ ५॥

गृङ्गाधरः—तत्रेदमित्यादि । इदमत ऊर्द्ध वक्ष्यमाणशीतोष्णव्यत्या-सादिकम् । समासेन नातिविस्तरेण । शीतोष्णव्यत्यासमिति शीतोष्ण-कृष्ठन्त्वलसकं शेयं प्रायो वातककात्मकम् इत्यादि चिकित्सिते वक्ष्यमाणप्रन्थानुरोधात् क्षुद्र-कृष्ठान्तर्मावो व्याख्येयः ॥ ३।४॥

चक्रपाणिः—कुष्ठानां कापालादिसंज्ञाः कपालादिसादृश्यप्रयुक्तास्त्रथा शास्त्रव्यवहारसिद्धाश्य बोद्धव्याः ; न हि सिध्मसंज्ञायामन्वयोऽस्ति ; तेन शास्त्रव्यवहारसिद्धेव सिध्मसंज्ञा ; प्रकृतौ विकल्प्यमानायामिति कुष्ठजनककारणे भिद्यमाने ; विकल्पसंख्या भेद्रूपा संख्या ; इह शुद्र-कुष्ठाभिधानमुक्तन्यायेन महाकुष्ठान्तर्गतस्वादेवेति बोद्धन्यम् ॥ ५॥

चक्रपाणिः—श्वीतोष्णव्यायासं शीतोष्णपरिवर्त्तनम् ; अनानुप्रव्येति यथोक्तकमत्यागेन ; कमायागश्चीष्णं निषेष्य सहसा शीतसेवा, तहिपर्ययथः, तथा अनुचिते काले शीतोष्णसेवा।

सन्तर्पगापतर्पगाभ्यवहार्य्यव्यासञ्च, मधुफाणितमत्स्य-सूलककाकमाचीः सततमतिमात्रमजीर्णे समक्षतश्चिलिचिमञ्च पयसा, हायनकयवकचीनकोद्दालकोरदूपप्रायाणि चीरद्धितक्रकोलकुलत्थमाषातसीकुसुम्भपरुषस्नेहवन्ति, एतै-रेवातिसात्रं सुहितस्य 🏽 च व्यवायव्यायामसन्तापानत्युपसेव-मानस्य, भयश्रमसन्तापोपहतस्य च सहसा शीतोदक-मवतरतो, विद्ग्धञ्चाहारजातमनुह्निख्य विदाहीन्यभ्यवहरतः वाताद्यानुपूच्च्या । शीतस्य वोष्णस्य मलानुपूव्च्या वा व्यत्यासं क्रमपरित्यागम्। क्रमस्तु शीते वाते कफे चोष्ण उपयोगः, उप्णे च पित्ते शीत उपयोगस्तस्य विषय्र्ययः शीते वाते कफे च शीत उपयोगः, उच्णे पित्ते उच्ण उपयोगः। तथा। एवं सन्तर्पणापतर्पणाभ्यव-हार्घ्याणां व्यत्यासं क्रमत्यागम्रपसेवमानस्येत्यनेनान्वयः। यदा सन्तर्पणं कत्तीच्यं यदा चापतपेणं काय्यें, तत् तत् तदा तदा न कृता यदा सन्तपेणं विहितं तदा सपतपेणं क्रियते, यदापतपेणं विहितं तदा सन्तपेणं क्रियते, इति सन्तर्पणापतपणव्यत्यासः। अत्र सन्तर्पणशब्देन दृंहणीयस्नेहनीयानां द्रव्याणां ग्रहणम् । अपतर्पणशब्देन पुनलेङ्गनीयरुक्षणीयस्वेदनीयस्तम्भनीयानां द्रच्याणां ग्रहणम् अभ्यवहार्य्यसात् तथानज्ञनादिदज्ञविधलङ्गनानाम्। पश्चकम्मीपचारित्वमुक्तं भवतीति। अभ्यवहार्घ्यस्य व्यत्यासो विमानस्थाने वक्ष्यमाणप्रकृतिकरणाद्याहारविधिविशेषायतनानां विष्जेनेनाहारस्योपयोगः। मधुफाणितादीनामतिशयेन सततमशनमजीणेंऽप्यशनं तथा पयसा चिलि-चिममत्स्यानां विरुद्धाशनम्। हायनकादिवहुलात्रभोजनमपि। एतैरित्युक्तैः सुहितस्यातिशयतृप्तस्य क्षीरादुप्रपहितहायनकादिप्रायाणीत्यन्तैरतिमात्रं व्यवायादित्रयात्युपसेवमानस्य तथाविधसुहितः सन् व्यवायादीन् यः सेवतेऽतिमात्रं तस्य। भयेत्यादि। यो भयादेग्रकानेकोपहतचेताः सन् सहसा तत्क्षणं शीतोदकमवतरति अवगाहते तस्य। विदुग्धमित्यादि।

एवं सन्तपेणापतपेणाभ्यवहादर्गन्यत्यासमपि अनानुप्त्वोपसेन्यमानस्येति ज्यम्। चिलिचिमः

^{*} सुहितभक्षितस्येति चक्रसम्मतः पाठः।

इंडिंश्व प्रतिव्रतः, स्नेहांश्रातिचरतो युगपत् त्रयो दोषाः शैथिल्यमापद्यन्ते । इकोपसापग्रन्ते. त्वगादयश्चत्वारः नेषु शिथिलेषु दोषाः प्रकृषिताः स्थानमधिगम्य सन्तिष्ठ-सानास्तानेव खगादीन् दूषयन्तः कुष्ठान्यभिनिव्वर्त्तयन्ति ॥६॥ आहारजानं भुक्तमन्न जाठरामिना विदुग्धमद्भैपरिपक्तमनुरुळेख्य उछ्चेखनं वमनं न कुता पुनर्यो विदाहीन्यन्नानि भुङ्क्तं तस्य। छिइञ्चोपस्थितां यः प्रतिहन्ति तस्य । चकारात् मलादीनां वेगान् यः प्रतिहन्ति तस्य । यथ दिदानिहां भजित तस्य, यथ विमगुरुहद्धसिद्धादीन धर्षयति तस्य। युग-पदेशदा न त एतैहेंत्भिरेकः प्रकोषमापद्यापरी प्रकोषमापादयतः । प्रकोषमिति हृद्धिम्। लगादय इति प्रकोपमापचन्ते इत्यन्वयः। आदिपदेन सप्त-वालादिवारणाय मांसशोणितलसीकानां क्रष्टद्रव्यलेनोक्तानां त्रयाणां ग्रहणाथं-माह—चलार इति। चकारात् शैथिल्यमापयन्ते। तत्तदुक्तनिदानंरेव रृद्धतात्।

नचु तत्तदुक्तनिदानिष्टे छा वातादयस्वगादयश्च रोगान्तरमण्यारव्धुं किं नाहिन्त इत्यत आह—तेष्वित्यादि। तेषृक्तनिदानिष्टे छा य चलारस्त्रङ्मांसग्नोणितल्सीकाथातवस्तेषु चतुषु न लेकग्नः शिथिलेषु तैरेव निदानिः
ग्रुगपत्मकुपिता दोषा वातादयस्त्रयस्तान् लगादीन् चतुरो छ्छलेन शिथिलान्
थात्निथगम्य तेषां मध्ये गला तेष्वेव लगादिषु सन्तिष्टमानाः सन्तस्तानेव
लगादीश्वतुरो धातून् न लन्यान् धातून् दृषयन्तः सन्तः कुष्टान्यभिनिव्वत्तेयन्ति
न लन्यान् रोगान्। न हेप्रतादशसम्माप्तिका इतरे केचिद्रोगाः ईदशाश्च कुपिता
दोषा ईद्दशाश्च कुपितिशिथिलास्त्रगादयो धातवो यदि भवन्ति न तदान्यान्
धात्निधगच्छन्ति नाष्यन्यत्राविष्ठिन्ते नान्यान् वाधातून् दृपयन्ति तस्मात्
नान्यान् रोगानभिनिव्वत्तेयन्ति। एवं सव्वेत्र व्याख्येयम्। स्वभावो हि
दोपाणां कुष्टविसपीदियुक्तस्त्रस्वस्वित्वानाद् भवति, किश्च कुष्ठेषु गुरुविमादिधपणस्त्रणस्त्रेयादिकारणानि सन्ति न तु विसपे। विसपे हि सामान्यनिदानम्
उत्तवा प्रत्येकश्च निदानमुक्तं, तेन विसपेनिदानकुपितानां त्रयाणां दोषाणां
पुना रक्षादिभिर्वातादीनां प्रत्येकं विशेषकारणैरुव्वणतया प्रकोपो भवति,

तन्त्रकृता आन्नेयभद्रकाष्यीये दिशतो रोहितभेदः ; स्थानमधिगम्येति कुष्टजननानुगुणं श्चिभिक- »

तेषां कुष्ठानामिमानि खलु पूर्वस्पाणि भवन्ति।
तद् यथा — अस्वेदनमितस्वेदनं पारुष्यमितिश्लच्णता वैवर्णंग्र
कग्रह्रिनस्तोदः सुप्तता परिदाहः परिहर्पो रोमहर्षश्च खरत्त्रम्
उष्णायनं गौरवं श्वयथुर्विसर्पागमनमभीच्णं कायच्छिद्रेषु
चापदेहः पक्षदम्धदष्टच्तोपस्खलितेष्वितमात्रं वेदना, खल्पानाम्

कुछे तु कुष्ठसामान्यकारणैरेवैकादुग्रस्वणादितया त्रिदोपकोषो युगपट् भवतीति भेदः। सुश्रुते चोक्तम्। मिथ्याहाराचारस्येत्यारभ्य, छिर्दं वा प्रतिहन्ति तस्य पित्तक्षेट्पाणौ प्रकुपितौ परिग्रह्यानिछः प्रदृद्धस्त्र्य्यंगाः सिराः प्रतिपद्य समुद्ध्य वाहंग्र मार्गं प्रतिसमन्ताद्विक्षपिति। यत्र यत्र च दोपो विक्षिप्तो निःसरित तत्र तत्र मण्डलानि प्रादुर्भवन्त्येवमुत्पन्नस्ति। नमु विसर्पचिकित्सिते वक्ष्यते—रक्तं लसीका सङ्मांसं दृष्यं दोपास्त्रयो मलाः। विसर्पाणां समुत्पतौ विज्ञेयाः सप्त धातवः। स च सप्तविधो दोपैविज्ञेयः सप्तधातुकः। इति। तत् कथमन्यान् रोगान् नाभिनिन्वत्तेयति १ कुष्टविसपेयोर्वा को भेद इति १ अत्रोच्यते केनचित्—विसर्पा वातादेग्रकैक-दृन्द्वसङ्घातदोषेभ्यो भवन्ति, न तथा कुष्टानि। वक्ष्यते च। पृथक् त्रय-स्त्रिभिक्षचेको विसर्पा इन्द्वजास्त्रयः इति। तन्न साधु ; कुष्टवद् द्वुग्रस्वणैकैकद्वन्द्व-सन्निपत्तिविसर्पस्य सप्तधातुकतात्। अपरस्तु। क्षिपविसर्पणज्ञीलपवल-रक्तिपत्तिकेन्यते विसर्पः, कुष्टन्तु चिरक्रियस्थिराप्तवलरक्तिपत्ति।। ६॥

गृङ्गाधरः—पूर्व्वरूपाण्याह—तेपामित्यादि । अस्वेदनमितस्वेदनं वेति व्याख्याय पुरुषभेदेन तद् द्वयं वोध्यम् । अतिश्वहरूणता गात्रस्य, परिहर्षो- इङ्गानां, रोमहर्षो रोमाञ्चः, खरत्वञ्चाङ्गानाम्, उष्णायनं शरीरत एवोष्णस्य आगमनम्, उष्णायमानता वा शरीरस्य । विसर्पोगमनं शरीरेऽभीक्षणं विसर्पोद्यगमः । कायच्छिद्रेषु रोमक्षेषु, इन्द्रियविवरेषु चोपदेहो मळैरुपलेपः । पकादिषु

त्वगादिस्थानं प्राप्य ; किंवा स्थानमपि जनयितन्यकुष्टशरीरदेशं प्राप्येत्यर्थः । अविविष्टमाना इति वचनेन स्थिरा एव दोपाः कुष्टकरा भवान्त, न हि सरणशीलास्त इति दर्शयति ॥ ६ ॥ चक्रपाणिः—अस्वेदनादि पृट्वेरूपं प्रभावान् ; परिहर्षा ज्ञिनिज्ञिनिका ॥ ७ ॥

ग्रिप च त्रणानां दुष्टिरसंरोह्णञ्चेति कुष्ठपूर्व्यस्पाणि भवन्ति ॥ ७ ॥

तेभ्योऽनन्तरं कुष्ठान्यभिनिवर्वर्त्तन्ते । तेषामिदं वेदनावर्ण-संस्थाननामप्रभावविशेषविज्ञानं भवति । तद् यथा —हज्ञाहण-परुषाणि विषमविख्तानि खापर्थ्यन्तानि तनून्युद्दवृत्तविह-स्तनृनि सुससुसानि क हृषितलोमाचितानि निस्तोदबहुलाि इप्रत्यकगडूदाहपूयलसीकान्याशुगतिसमुत्थानानि आशुभेई

गरीरावयवेषु खल्पानामपि चेति अपिकारात् महताश्च त्रणानां दुष्टिरु पन्नैवास्ति दुष्टियोग्यलात् खल्पानां द्रष्टुमयोग्यानामपि लगादिशैथिल्याः दुष्टिरहेनि इति स्चितम्। असंरोहणमिति न सम्यग्रोहः स्यात् लगादिहाथिल्प्रादेव, ततः शीघ्रोत्पादश्चिरस्थितिर्प्रणानां गात्रे भवतीति ख्यापितम्। चकारादितमात्रश्च वेदना त्रणानामिति। समापयति—३ति कुष्ठपूक्वं-रूपाणीति॥ ७॥

गङ्गाधरः—तेभ्योऽनन्तरिमिति पूर्विरूपेभ्योऽनन्तरम् । कुष्टानां रूपाणप्राह—तेपामित्यादि । तेपामिति सप्तानां कुष्टानाम् इदं वक्ष्यमाणमत ऊद्धृमेव । अय विशेषविद्यानं भवतीति नोत्तवा वेदनादिविद्यानं भवतीति यदुक्तं तेनैवं गमयति—वेदनादिविशेषा एव व्याधीनां लिङ्गान्युच्यन्ते, तिद्वद्यानिषदं वक्ष्यमाणरुक्षारुणेत्यादि । तद् यथेत्यादि । रुक्षाणि च तानि अरुणानि च तानि परुपाणि च तानि विषमविस्तानि असमतया सरणशीलानि चेति तानि तथा । खरपर्यन्तानीति अन्तदेशे खराणि । तत्तृनि अवहलानि । उद्वत्तविद्यत्त्वित्तवि च्याप्तानि । सप्तस्त्रानि अतिमात्रं स्पर्शाद्यानि । हिपतलोमिभराचितानि सव्वेदा रोमहप्वद् वहुलोमव्याप्तानि । आशु गितः प्रसरणं समुत्थानमृत्पत्तिश्च येपां तानि तथा, वायोराशुगलात् । आशु-

चक्रपाणिः— उद्वृत्तविहस्तनूनीति उच्छलीकृतवाद्यदेहानि ; सुसवत्सुसानि अत्यर्थस्पूर्शाज्ञानि

^{*} सुप्तवत् सुप्तानीति पाठान्तरम् ।

१३३०

जन्तुमन्ति ऋष्णारु एकपालवर्णानि च कपालकुष्ठानीति विचात्॥ =॥

ताब्राणि ताब्ररोमराजिभिः * अवनद्धानि वहलानि वह-वहलपूयरक्तलसीकानि कग्हूक्लेदकोथपाकदाहवन्ति आशु-गतिसमुत्थानभेदीनि ससन्तापिकमीणि पकोडुम्बरफल-कुण्डे णानि + उडुम्बरकुष्ठानीति विद्यात्॥ स॥ भवती

क्षिग्धानि गुरूग्युत्सेधवन्ति श्वदण्स्थिरपीनपर्यन्तानि सिराः क्लरक्तावभासानि ‡ शुक्लराजीसन्तानानि वहुवहलशुक्लरक्त-दोषो विञ्जलासावीणि वहुकग्हूकिसीणि सक्तगतिसमुत्थान-वीपस्भेदीनि परिमग्डलानि मग्डलकुष्ठानीति विद्यात् ॥ १० ॥ नन्

मल भेदजन्तुमन्तीति आशुलङ्मांसादिभेदकरिक्रमियुक्तानि। कृष्णारुणकपाल-दे वत् खपरवद्दणेयुक्तानि । तस्मादेव कपालाख्यानि कुष्टानि इति विचात्। स्रप्तसिनस्तोदादिवेदनाविशेषः, कृष्णारुणकपालवर्णादिवेणिविशेषः रुक्षारुणादिखरपय्येन्तादिः संस्थानविशेषः, तत्रापि विषमविसृतस्त्रंवरः पर्य्यन्तलादिः प्रभावविशेषः, कपालेति नामविशेषः। एवं पर्त्रापि सर्व्वाणि कुष्टानि च्याख्यातच्यानि ॥ ८॥

गङ्गाधरः—ताम्राणीत्यादि । ताम्ररोमराजीभिः पिञ्जराकारतया अवनद्धानि । वहलानि घनानि। वहुवहलेति वहुगो घनाश्र पूयरक्तलसीका यत्र तानि आशुगतिसमुत्थानभेदिलञ्चैषां पित्तस्य सुरुलेन तद्गतवातस्य चललात्। ससन्तापत्वं क्रिमीणां पित्तदृषितरक्तस्थानजलात्। पकोड्रम्बर-फलवंर्णसादुड्रस्वराखप्राणीति विद्यात् ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—स्त्रिग्धानीत्यादि। उत्सेधवन्तीत्युचानि अन्तदेशे इलक्ष्णानि Ļ स्थिराणि पीनानि च। तेन न चलन्ति। वहुकण्डूक्रिमीणीति कफदूषित-इस्यर्थः ; कपालः स्थात्यादिखण्डः । सक्तानि चिरभावीणि गत्यादीनि येपां ते तथा । ऋष्यजिह्न-

ताम्रखररोमराजीभिरिति चक्रधतः पाठः । † पक्रोडुम्बरफलानीति द्वितीयपाठः । 🗓 शुक्करोमराजीसन्तानानि तथा बहुलबहलशुक्किपिच्छिलसावीणि तथा बहुक्लेदकण्डकिमी-

परुपाग्यरुण्वर्णानि वहिः अन्तः श्यावानि नीलपीतताम्राव-भासान्याशुगतिसमुत्थानान्यल्पकग्रह्मलेदिक्रमीणि दाहभेद-निस्तोदवहुलानि श्रूकोपहतोपमवेदनानि उत्सन्नमध्यानि तनुपय्यन्तानि दीर्घपरिमग्डलानि कर्कश्पिड्काचितानि ऋष्यजिह्वाकृतीनि ऋष्यजिह्वानीति विद्यात्॥ ११॥

शुक्करक्तावभासानि रक्तपर्ध्यन्तानि रक्तसिराराजी-सन्तानानि उत्सेधवन्ति वहुवहलरक्तपूयलसीकानि कराडू-क्रिमिदाहपाक- वन्ति आशुगतिसमुत्थानभेदीनि पुराडरीक-पलाशसङ्काशानि पुराडरीकाणीति विद्यात्॥ १२॥

परुषारुणविशीर्णवहिस्तनूनि अन्तःस्त्रिःधानि शुक्लरक्ताव-

रक्तजत्वेनात्र क्रिमीणां वहुकण्ड्करत्वम् । सक्तगतीत्यादि । सक्तं चिरं संसक्तं गत्यादिकं यत्र तानि तथा परिमण्डलाकारत्वात् मण्डलाख्यानि ॥ १० ॥

गुङ्गाधरः—परुपेत्यादि । वहिः पय्यंन्तदेशे परुपारुणवर्णानि । अन्तर्मध्य-देशे श्यावानि किन्तु नीलाद्यवभासानि । आशुगत्यादीनि वातिषत्त-सम्बन्धात् । ततश्चालप्रुष्णुदीनि च । दाहवहुलानि निस्तोदभेदबहुलानि च । शूको धान्यशूकादि, उपहतवन्वदनाशालीनि । उत्सन्नमध्यानि मध्यदेशे उचानि पर्यन्तदेशे निम्नानि, तथा तनुप्रयेन्तानि पर्यन्तदेशेऽघनानि । दीर्घ-परिमण्डलानीति विद्यणोति ऋष्यजिद्याकृतीनीति । ऋष्यो हरिणभेदः ॥ ११ ॥

गृङ्गाधरः—शुक्करक्तेत्यादि । रक्तसिराराजीसन्तानानीति रक्तवर्णसूक्ष्म-सिराससूहैः सन्तानं व्याप्तियेपां तानि तथा । आशुगत्यादिकतं वातानुपित्त-सम्बन्धात् । कफस्य द्रवांशेन पित्ततुल्यातेऽपि ताभ्यामवजयात् ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—परुपारुणेत्यादि । वाह्ये पर्यन्तदेशे परुपारुणवर्णेविशीर्णा-कक्षणे व्यक्ति कुष्टपर्यन्ते, अन्तरिति विकृतमध्यमुच्यते । ऋष्यो हरिणविशेषः । पुण्डरीक-पलाशबन्देन पञ्चपुष्पदलमिह ॥ ८—१२ ॥

चकपाणिः— वशीर्णवहिस्तनूनि इत्यत्र 'तनु'शब्दः प्रदेशे वर्त्तते ; तेन विशीर्णपर्यन्त-

^{*} दाहमेदपाकनिस्तोदबहुलानीत्यन्यः पाठः।

भासानि बहून्यलपवेदनानि अलपकगडूद।हपूयलसीकानि लघु-समुत्थानानि अलपभेदिकिसीणि अलावूपुष्पसङ्काशानि सिध्म-कुष्ठानीति विद्यात् ॥ १३॥

काकग्गन्तिकावर्गानि त्रादौ पश्चात् तु सर्वकुष्ठ-समन्वितानि पापीयसां सर्व्वकुष्ठितिङ्गसम्भवेनानेकवर्णानि काकग्गकानीति विद्यात्॥ १४॥

तान्यसाध्यानि, साध्यानि पुनिरतराणि भवन्ति, तत्र यदसाध्यं तदसाध्यतां नातिवर्त्तते । साध्यं पुनः किश्चित् साध्यताम् अतिवर्त्तते कदाचिदपचारात् । साध्यानि हि षट् काकणवर्ज्ञानि

अल्पवेदनादित्वं कफसस्वन्धार् वायोः। लघुसमुत्थानानि क्षिमजन्मानि अलावूपुष्पनिभलात् सिध्मा-ख्यानि ॥ १३ ॥

गुङ्गाधरः—काकणन्तिकेत्यादि । काकणन्तिकेति गुङ्जाफलम् । सन्ब-कृष्टे ति कपालकृष्टादिसन्बेकुष्टयुक्तानि । पापीयसामितव्यपापिनां, स्वल्प-पापिनान्तु न सन्बेकुष्टयुक्तानि ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—तान्यसाध्यानीत्यादि। तानीति काकणानि, इतराणीति कापालादीनि पट् कुष्टानि। तत्रेत्यादि। साध्यं पुनः किश्चित् कापालाद्यन्यतमं, कुतः साध्यतामतिवत्तेते इत्यत आह—कदाचिदित्यादि। ननु कुतः कथं देशानीत्यर्थः। सिध्मकुष्टं यथोक्तलक्षणं सिध्मपुष्पिकान्यतिरिक्तमेव गुवते ; एतितसध्मपुष्पिकाभि-प्रायेण च सुश्रुते सिध्मकुष्टं क्षुद्रकुष्टेपु पिटतम् ; दद्ग तु सुश्रुते महाकुष्टे पिटतमपीह क्षुद्रकुष्टे पिटतम् सावत्यात्वनुप्रवेशाभावात् तथात्यर्थपीदारिहतत्वाच्च, सुश्रुते तु तदनुवन्धित्वप्रकर्पात् महाकुष्टे पिटतम् ॥ १३॥

चक्रपाणिः— सर्व्वकुष्टलिङ्गस्मिन्वतानीत्येतेनार्थे छन्चे पुनः पापीयसा सर्व्कुष्टलिङ्गस्मिन्नेन इतिवचनाद् यदेव पापीयःकुष्टलिङ्गम्, तदेव काकणके भवति, नान्यंत्रेति दर्शयति; पापीयसा इत्यितिपीडाकृता; किंवा, पापीयसेत्यादिपुनर्व्चनेन सर्व्वकुष्टलिङ्गानां पापारन्थत्वेनासाध्यता-मत्यर्थपीडाकृत्वे ताद्य दर्शयति॥ १४॥

चक्रपाणिः - कदाचिदपचारादिति, कदाचिदित्यनेनाशे वक्ष्यमाणचिकित्समानतापक्षान्तरं

श्रचिकित्रयमानानि । श्रपचारतो वा दोषेरिभिष्यन्दमानानि श्रसाध्यतामुपयान्ति । साध्यानामपि हुर्येच्यमाणानामेषां त्वङ्मांस-शोणित-लसीका-कोथ-वलेद-संस्वेद्रजाः किमयोऽभि-मूच्छन्ति । ते भच्चयन्तस्त्वगादीन् दोपान् पुनदूषयन्तः इमानुपद्रवत् पृथक् पृथगुत्पाद्यन्ति । तत्र वातः श्यावारुण-वर्णं परुरतामपि च रौच्यशूलशोषतोद्वेपशुक्षसङ्कोचहर्षायास-स्तम्भसुप्तिभेदभङ्गान्, पित्तं पुनदीहस्वेद्वलेदकोथस्रावपाक-रागान्, श्लेष्मा त्वस्य शैत्यश्वैत्यकगडू स्थेट्यंगौरवोत्सेधस्नेहोप-लेपान् । किमयस्तु त्वगादींश्चतुरः सिराः स्नायूनि चास्थीन्यपि च तरुणानि खादन्ति ; श्रस्याञ्चैवावस्थायां कुष्ठिनमुपद्रवाः स्पृशन्ति । तद् यथा—प्रस्ववणमङ्गभेदः पतनान्यङ्गावयवानां

साध्यताम् अतिवर्त्तते इत्यत आह—साध्यानि हीत्यादि। ननु किं केवल-मचिकित्सया वापचारतो ना दोपैष्ट छैः पुनरिभष्यन्दमानानि भूता साध्यता-मतिवर्त्तन्ते उतान्यथा वा इत्यत आह—साध्यानामित्यादि। ते इति क्रिमयः। पृथक् पृथक् इति दोपाः, क्रिमयश्च। तत्र वातः इत्यादि। तत्र क्रिमिकुपित-वातिपत्तकफिक्रिमिषु मध्ये वातः क्रिमिभिः पुनद् पित एवं पित्तक्रेष्माणाविष वोध्यो। क्यावारुणलादीनर्थाद् अङ्गानामुत्पादयतीत्यर्थः। अस्यामिति क्रिमि-दृषितवातादिक्रिमिकृतोक्तोपद्रवशालितायामवस्थायां पुनरिमे चोपद्रवाः कुष्टवतां भवन्ति। प्रस्ववणं गलितत्वेन स्नावस्ववणम्। अङ्गभेदोऽङ्गभङ्गः। पतनान्यङ्गावय-

द्रशयति ; अप्चारतो वेति उत्पन्नेऽपि कुछे निदानं सेवन्ते । अभिष्यन्दमानानीत्यापूर्यमाणानि ।

^{· 🔸} वेपध्वित्यत्र इयथेति वा पाठः ।

तृष्णाज्ञरातिसारदाहदौर्ज्ञक्यारोचकाविषाकाश्च, असाध्यं विद्यादिति ॥ १५ ॥ तथाविधम्

भवन्ति चात्र।

साध्योऽयमिति यः पूर्वं नरो रोगमुपेन्तते । स किञ्चित्कालमासाद्य मृत एवावबुध्यते ॥ यस्तु प्रागेव रोगेभ्यो रोगेषु तहणोषु वा । भेषजं कुरुते सम्यक् स चिरं सुखमश्नुते ॥ यथा द्यल्पेन यत्नेन व्छिद्यते तहणस्तहः । स चैवातिप्रवृद्धस्तु यत्नात् कृच्छ्रेण छिद्यते ॥ एवमेव विकारोऽपि तहणः साध्यते सुखम् । विवृद्धः साध्यते कृच्छादसाध्यो वापि जायते ॥ १६ ॥

वानामहुव्यादीनाम्, तथाविधमुक्तरूपं सन्वें कुष्टमसाध्यं विद्यादि-त्यर्थः ॥ १५ ॥

गङ्गाधरः अथोपेक्षायां हेतुं बुढिं प्रदश्ये तत् परिहाराधेम्रपदिशति।
भवन्तीत्यादि। साध्योऽयमित्यादि। अयं न्याधिः साध्यः स्वयं निवित्तिः च्यति किंवा प्रतिकरिष्यतेऽनन्तरिमिति बुद्ध्या यो नरः पूर्विमुत्पन्नमात्रं न चिकित्सिता उपेक्षते, स किश्चित्कालमासाच तद्रोगे दृद्धे गादृमूले सित अहं मृत एवेति अवबुध्यते। तेन रोगोपेक्षा न कार्येति ख्यापियतुमाह—यस्त्रित्यादि। प्रागेवेति उत्पत्तेः पूर्विमेव चयप्रकोपप्रसर्पूर्विख्यावस्थासु तरुणेष्वत्युत्पन्नमात्रं सम्यगित्यनेनायथावचिकित्सयापि साध्यतामितवर्त्तते इति ख्यापितम्। ननु कस्मात् चयाद्यवस्थासूत्पन्नमात्रा-वस्थायां वा सम्यग्भेषजकरणे साध्यता स्यादुपेक्षया वा कस्मान्न साध्यता स्थादित्यत आह—यथेत्यादि। असाध्यत्वे तु नायं दृष्टान्तः, किन्तु कुच्छूत्व-दृष्टान्तेनैवातिविद्यद्धतेऽच्छे छ्तोःनयेनासाध्यत्वे दृष्टान्तः उन्नेयः॥ १६॥

द्वोषाः पुनर्ष् पयन्त इति त्वगादीनेव । तरुणानीति कोमलानि नासास्थ्यादीन्याददते भक्षयन्ति ।

तत्र श्लोकः।

संख्या द्रव्याणि दोषाश्च हेतवः पूर्व्वलच्याम् । रूपाण्युपद्रवाश्चोक्ताः कुष्ठानां कौष्ठिके पृथक् ॥ १७॥

इत्यिश्ववेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते निदानस्थाने कुष्ठिनदानं नाम पश्चमोऽध्यायः॥ ५॥

गृङ्गाधरः—अथाध्यायार्थमुपसंहरति—तत्र क्लोका इत्यादि। कौष्टिके कुष्टनिदानाध्याये। अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि॥ १७॥

इति श्रीगङ्गाधरकविराजकविरव्वविरचिते चरकजन्पकन्पतरौ द्वितीयस्कन्धे निदानस्थानजन्पे पश्चमाध्यायकुष्टनिदानजन्पाख्या पश्चमी शाखा ॥ ५ ॥

किञ्चित्कालमिति असाध्यव्याधिकालम् ; मृत एवेति मरणोपकण्ठगतः ; अवबुध्यत इत्यत्र साध्यत्याध्यपेक्षाफलं मृत्युमिति शेषः ॥ १५—१७ ॥

इति चरकचतुरानन-श्रीमञ्चक्रपाणिदत्तविरचितायाम् आयुर्वेददीपिकायां निदानस्थान- . व्याख्यायां कुष्टनिदानं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

पष्ठोऽध्यायः।

अथातः शोषनिदानं व्याख्यास्यामः, इतिह स्माह भगवानात्रेयः॥१॥

इहं खलु चत्वारि शोषस्यायतनानि भवन्ति । तद् यथा—ं साहसं सन्धारगं चयो विषमाशनमिति ॥ २ ॥

तत्र साहसं शोषस्यायतनिमति यदुक्तं, तदनुच्याख्या-स्यामः। यदा पुरुषो दुर्व्यलः सन् वलवता सह विग्रह्णाति,

गङ्गाधरः—अथो एकद्वित्रिदोपोल्यणत्रैदोपिकं कुष्टमुत्तवा त्रैदोपिकल-साधम्म्येणैककार्य्यलसंगत्या कुष्टनिदानानन्तरं शोपनिदानमाह—अथात इत्यादि ॥ १॥

गङ्गाधरः—इहेत्यादि। चलारि अत ऊर्द्ध वक्ष्यमाणसाहसादीनि। शोपस्य रसादीनां शारीरधातूनां शोपेण शरीरशोपणात् शोपाच्यस्य। सुश्रुतेऽप्युक्तं संशोपणाद् रसादीनां शोप इत्यभिशीयते। क्रियाक्षयकरताच क्षय इत्युच्यते पुनः। राज्ञश्चन्द्रमसो यस्मादभूदेप किलामयः। तस्मात् तं राज्यक्ष्मेति केचिदाहुमेनीपिणः। इति। आयतनानि निदानानि। चलारीति विद्यणोति, तद् यथेत्यादि। साहसमिति दुर्व्यलानां वलवता सह विग्रहादिव्यीयामः साहसम्। सुश्रुतेऽप्युक्तं—क्षयाद् वेगमतीयाताद्व्यायामाद्विपमाश्चनादिति। तेन च। सन्धारणं पुरीषादीनां वेगधारणं नवेगान्धारणीयोक्तम्। क्षयो रस-शुक्रयोः क्षयः। पदार्थोख्यतन्त्रयुक्तया निदाने तद्दर्शनात्। विषममशनं विषमाश्चम् अर्थात् शोपस्थायतनिमत्यर्थः॥ २॥

गङ्गाधरः—साहसादिमत्येकनिदानतः शोषं दर्शयितुमाह—तत्रेत्यादि। तत्र साहसादिषु चतुषु शोषस्यायतनेषु मध्ये। यदेत्यादि। वलवतेति वलवत्

चक्रपाणिः—उवरनिदानोक्तसम्बन्धादाजयक्ष्मनिदानमुच्यते । भायतनानीति कारणानि ; संख्येयसाहसादिनिर्देशादेव संख्यायां लब्धायां 'चत्वारि' इति पुनर्वचनं साहसादीनामवान्तर-यलवाद्यद्वाहिभेदेऽप्येकजातीयताप्रतिपादनार्थम् ॥ १।२ ॥ महता वा धनुषा व्यायच्छति, जल्पति चाप्यतिमात्रम्, ञ्रति-मात्रं वा भारमुद्रहति, ञ्रप्सु वा प्रवते चातिदूरम्, उत्सादन-पदाघातने वातिप्रगादृमुपसेवते ञ्रतिविष्रऋष्टं वाध्वानं,द्रुतमभि-पतित, ञ्रभिहन्यते वान्यद्वा किश्चिदेवंविधं विषममितमात्रं वा व्यायामजातमारभते, तस्यातिमात्रेण कर्मणोरः च्रायते। तस्योरः चतमुपप्रवते वायुः। स तत्रावस्थितः रुलेष्माणमुरःस्थम् उपसंग्रह्म पित्तञ्च दूषयन् * विहरत्यूष्ट्वं मधिश्चतर्य्यक् च।

तस्य योऽंशः श्ररीरसन्धीन् आविश्वित तेनास्य जुम्भाङ्गमहीं ज्वरश्चोपजायते। यस्त्वामाश्यमभ्युपैति तेनास्य च वच्चीं पुरुपेण सह युढं करोति। अप्षु अतिदृरं प्रवते सन्तरित स्रोतोऽभिष्ठसं वेति वाच्यम्। उत्सादनष्ठद्वत्तेनं, पदाघातनं पद्भ्यामाहननम्, अतिप्रगाढ्म् अतिश्यमितप्रकृष्टं वा यथा स्यात् तथा सेवते यः। यो वाध्वानं पन्थानं वाति-प्रगाढ्मितप्रकृष्टं वा सेवते। यो वा द्वतमिपपतित विपमोचतः। यो वाभिहन्यते शिलाकाष्टाशमादिभिः। अन्यद्वा तूर्णं विपमन्त्रत्यादिकम्, तस्य निरुक्तविपम्वयायामजातं कुव्वेतः तेनातिमात्रेण व्यायामरूपेण कम्मणा उरः क्षण्यते वक्षःक्षतं भवति। तस्योरः क्षतं क्षतं वक्षो वायुस्तद्व्यायामतो द्वद्वो वायुरुपप्लवते उपगच्छित। स इति व्यायामक्रपितो वायुस्तद्व्यायामतो द्वद्वो वायुरुपप्लवते उपगच्छित। स इति व्यायामक्रपितो वायुस्तद्व्यायामतो द्वद्वो वायुरुपप्लवते उपगच्छित। स इति व्यायामक्रपितो वायुस्तद्व्यायामतो द्विते वरःस्थं श्लेष्माणं पित्तश्चोपमंगृह्य दृपयन् ऊर्ढ्याधिस्तय्यंग् विहरित। इति विद्वोपकोपः ख्यापितः।

तस्येत्यादि । तस्येति पित्तक्षेष्मसहितस्य वातस्य योऽ शो यो भाग इत्यर्थात् त्रयाणां दोपाणां मिलितानां यो भागः शरीरसन्धीन् सर्व्वान् एवाविशति वहुवचनादृद्धुं धिस्तिय्यंगमनाच । तेन मिलितित्रदोपीयांशेन जुम्भाङ्गमदेज्वरा भवन्ति वातपावल्यात् । तत्र जुम्भा हनुसन्धिन्थेनांशेन । अङ्गमदेज्वरौ सर्व्वसन्धिस्थेनांशेन । यस्तामाशयमित्युत्तरगुदं, वक्ष्यते हि

चक्रपाणिः—पदाघातनं पद्मतामुद्धत्तंनम् ; भितप्रकृष्टमित्यति दूरम् । उरः क्षतमुपण्ठवते प्राप्नोतीत्यर्थः ; उरःस्थमिति स्वभावादेवोरःस्थम् ; उरस्या द्दत्युरोगता हृद्ववञ्चलादयः ;

^{*} उपसंसुज्य शोपयन् इति पाठश्रकसम्मतः।

भिद्यते। यस्तु हृदयमाविश्वति तेन रोगा भवन्त्युरस्याः। यो रसनां तेनास्यारोचकश्च। यः कग्ठमभित्रपद्यते कग्ठस्तैनोद्द-ध्वंसते खरश्चावसीद्वति। यः प्राणवहानि स्रोतांस्यन्वेति तेन श्वासः प्रतिश्यायश्च जायते। यः शिरस्यवतिष्ठते शिरस्तैनोप-हन्यते। ततः ज्ञ्णानाच्चेवोरसो विषमगतित्वाच्च वायोः कग्ठस्य चोद्धंसनात् कासः सततमस्य संजायते। स कालप्रसङ्गादुरसि चते सशोणितं निष्ठीविति शोणित-गमनाचास्य दौर्गन्ध्यमुपजायते।

एवमेते साहसप्रभवाः साहसिकमुपद्रवाः स्पृश्नित, ततः स

चिकित्सिते, वर्चाभेदं गुदे स्थित इति । उरस्या इति वक्षोरुजा वहाः । वह्यते चोरःस्थश्रोरसो रुजिपिति । अरोचकः कण्डह्दयस्थदोषदुण्टेभेवतीति हृद्यग्तांशेनापि अरोचकश्च । कण्डमभिप्रपद्यते योऽ शः कण्डस्तेन कण्डस्थेन त्रिदोपांशेन उद्ध्वंसते उत्कासेन युज्यते । स्वरश्चावसीदित स्वरभङ्गो भवति अरोचकश्च भवति चकारात् । प्राणवहस्रोतःस्थेन तद्दोपांशेन श्वासः प्रतिद्यायश्च भवति । श्वासप्रतिद्यायथोः सम्प्राप्तौ प्राणवहस्रोतोगतदोपजन्यत्वेनोक्ततात् । शिर उपहन्यते शिरःशुळं भवति । क्षणनादिति उरिक्त क्षतकरणात् तत्रस्थवायोश्च विपमगतित्वाच कण्डस्य चोद्ध्वंसनाच प्राक्त कासात् गळकण्ड्यनाकरणात् कासः संजायते । स पुरुषः पुनस्तत्कासप्रसङ्गात् पूर्व्वं क्षते वक्षति पुनःक्षते सित शोणितं निष्ठीवित मुखेन उद्गिरति । इत्येवंदिशा सर्व्वरिमन्नेव व्याधौ लिङ्गोत्पत्तौ दोषांशपवेशो व्याख्यातव्यः । तथाच—ये ये रोगा यद्द्रप्रधिलिङ्गितया निर्दिश्यन्ते तेषां तेषां व्याधीनां सम्प्राप्तौ दोषस्य यद्यत् स्थानसंश्चय-द्यसंयोगादयो दश्यन्ते तद्रप्राध्यारम्भकतद्दोपांशस्य तत्तत्स्थानसंश्चय-द्यसंयोगादिवशात् ते रोगास्तद्वप्राधेलिङ्गरूष्ण भवन्तीति वोध्यम् ।

्ष्वमेते इति। जुम्भाङ्गमदौँ ज्वरो वचौँभेदो वक्षोरुक् अरोचकः कण्ठोद्ध्वंसः स्वरभङ्गः श्वासः प्रतिक्यायः शिरःशूळं कासो रक्तनिष्ठीवनमित्येते

आमाश्चयगतत्वेन चोरस्यरोगकरणादुरसोऽप्यामाशयपत्यासन्नत्वमुक्तम् ; बलेन सम्यगाधीयते

उपशोषगौरेतैरुपद्गुतः शनैः शनैरेवोपशुष्यति । तस्मात् पुरुषो मतिमान् वलमात्मनः समीद्य तद्नुरूपाणि सर्व्वकर्माणि आरभेत कर्त्तुम् । वलसमाधानं हि शरीरम्, शरीरसूलश्च पुरुष इति ॥ ३ ॥

त्रयोदशोपद्रवाः साहसप्रभवाः साहसिकं पुरुषं स्पृशन्ति। नन्वेते साहस-प्रभवा उपद्रवाः किं समुदाय एव शोष उच्यते, इत्यत आह—ततः स इत्यादि । ततः साहसिकोपद्रवजन्मानन्तरं स साहसिकोपद्रववान् पुरुप एतैरुक्तेजु म्भाङ्ग-मद्ज्वरादिभिः साहसिकोपद्रवैरुपशोपणैः शरीरशोपकरैरुपद्रतः पीड़ितः सन् शनैः शनैरुपशुष्यति शरीरशोपमापद्यते । एवमत ऊर्दुं वक्ष्यमाणप्रकारेण वेगसन्धारणक्षयविषमाशनोत्थशिरःशूलादिपाश्वरुजादिशिरःशूलादिभिः शोपणै रसादिदेहधातुशोषात् शुष्यति । इत्येकादशरूपवान् राजयक्ष्मा सम्पूर्ण-वलत्रिदोपतः स्यात्। दोपवलानुरूपणैव न्याधिषु लिङ्गाधिक्याल्पलसम्भवात् साहसादिचतुःकारणतस्त्वेकविधैकादशादिरूपसद्भावाचात्र स्वयमेव पूर्णवल-द्वोपाभिप्रायेण शिरसः परिपूर्णत्वं कासः इवासः खरभेदः इलेष्मणइछद्देनं शोणितनिष्ठीवनं पाद्यसंरोजनगंसावमही ज्वरोऽतिसारोऽरोचकद्वेत्येतानि वक्ष्यन्ते । चिकित्सिते तु पूर्णमध्यावरवलदोपाभिप्रायेणैकादश पट्त्रीणि च रूपाणि वक्ष्यन्ते ; तद् यथा-कासोऽ सतापो वैखर्यं ज्वरः पार्श्विशिरो-रुजा। छईनं रक्तकफयोः श्वासो वचौँगदोऽरुचिः। रूपाण्येकादशैतानि यक्ष्मिणः पहिमानि तु । कासो ज्वरः पार्क्यशूळं खरवचौगदारुचिः। सन्वे रकैं स्त्रिभिर्वापि छिङ्गैमीं सवलक्षये। युक्तो वन्न्यिश्विकतस्यस्तु सर्व्वरूपोऽप्यतो-<u>ऽन्यंथा। इत्यादि। सुश्रुतेऽपि—"भक्तद्वेषो ज्वरः श्वासः कासः शोणित-</u> दर्शनम्। स्वरभेदश्च जायन्ते पड्रूष्पे राजयक्ष्मणि। स्वरभेदोऽनिलाच्छ्छं । सङ्घोचश्रांसपार्श्वयोः। ज्वरो दाहोऽतिसारश्र पित्ताद् रक्तस्य चागमः। शिरसः परिपूर्णेलमभक्तच्छन्द एव च। कासः कण्ठस्य चोद्ध्वंसो विक्षेयः कफ-कीपतः। एकादशभिरतेवी पङ्भिर्वापि समन्वितम्। कासातीसारपार्वित-स्वरभेदारुचिज्वरैः। त्रिभिवा पीड़ितं लिङ्गैः कासश्वासास्गामयैः। जहातं शोषाहितं जन्तमिच्छन् सुविपुछं यशः ॥" इति । साहसिककम्मेभिरेवं दोषाद धार्यंत इति बलसमाधानं शरीरम्; शरीरमूलश्च पुरुप इति संयोगपुरुप इत्यर्थः ॥ ३ ॥

भवति चात्र।

साहसं वर्ज्येत् कर्म्म रचन् जीवितमात्मनः। जीवन् हि पुरुषस्तिष्टं कर्म्मणः फलमश्नुतै॥ १॥ अथ सन्धारणं शोषस्यायतनमिति यदुक्तं तद्नुट्याख्या-

अय सन्वारण शावस्यायतनामात यदुक्त तदनुव्याख्या-स्यामः। यदा पुरुषो राजसमीपे भक्तुः समीपे वा ग्रुरोर्वा पाद-मूलेऽन्यतमं क सतां वा समाजं स्त्रीमध्यं वानुप्रविश्य, यानैः वाप्युचावचैर्गच्छन् भयात् प्रसङ्गात् हीमस्वाद् पृणित्वाद्

तद्वज्जनमुपदिशति तस्मादित्यादि । तस्मादुक्तरूपेण साहसिककर्म, जुम्भाङ्ग-महेज्वरादीनां देहोपशोपकराणां व्याधीनामुत्पित्तिहेतुलात् । तद्वुरूपाणीति वलानुरूपाणि न तु वलातिक्रमकराणि । ननु कृतो वलानुरूपाणीत्यत आह— वलसमाधानं हि शरीरिमिति बलेन सम्यगाधीयते आधार्यते यत् तत् तथा । ननु कृतः शरीराधारणं वलेनेष्टमित्यत आह—शरीरमूलक्ष्वेत्यादि । पुरुप इति राशिपुरुपो न लात्ममात्रम् । राशिपुरुपस्य हि शरीरं मूळं न लात्मनः । शरीरश्च विना न राशिपुरुपस्थितिः शरीराभावे मरणप्रसङ्गात् ॥ ३॥

गङ्गाधरः—नतु वलानुरूपाणि कम्मीप्यारभमाणानां साहसिक-कम्मीणि किं न कार्याणि कार्याणि वेत्यत आह—भवतीत्यादि। साहसं वज्जेयेदित्यादि। ननु कुतो जीवितं रक्ष्यं मृलापि पुनर्जनिष्यते जातोऽपि पुनर्मरिष्यतीत्येवं चक्रवव्श्चमणं स्वाभाविकम् एवेत्यत आह— जीविन्तत्यादि! मृतो हि पुरुपोऽस्मिन् लोके कृतकम्मणः फलमुपभुङ्को जीवंस्तु पुरुषोऽस्मिन् लोके कम्म कुरुते तत्फलञ्चाञ्चते इति जीवनस्य प्राधान्यं वोध्यम्।। ४।।

गङ्गाधरः—अथक्रमप्राप्तमुक्तं सन्धारणं शोषायतनं व्याचध्टे—अथ सन्धारणिमत्यादि। तत्र साहसमित्यादौ यत् तत्रेतिपदं तस्यानेनान्वयः। पुरुष इति राशिपुरुषः। भक्तुंरिति दासादिप्रतिपालकस्य समीपे दासादिः पुरुषः, अन्यतममेषामन्यतमं समाजं सतां वा समाजं प्रविश्य, भयादितः

चकपाणिः—समाजिम्ति सभाम् ; उच्चावचैरिति उच्चनीचैः ; अभियानिति गच्छन् ;

^{*} अन्यतममित्यत्र दूत्रतसभिमिति द्वितीयः पाठः।

वा निरुण्छागतान् वातमूत्रपुरीषवेगान्, ततस्तस्य सन्धारणाद् वायुः प्रकोपमापद्यते । स प्रकुपितः पित्त- श्लेष्माणो समुदीर्थ्योद्ध्वं मधिस्तय्यक् च विहरति । ततश्च अंश्विशेषेण पूर्व्ववत् श्ररीरावयविशेषं प्रविश्य क शूलं जनयित, भिनत्ति पुरीषमुच्छोषयित वा पार्श्वे चातिरुजति अंसाववमृद्धाति कर्ग्यूमुरश्चावधमिति शिरश्चोपहन्ति कासं श्वासं ज्वरं खरभेदं प्रतिश्यायञ्चोपजनयित । ततः स उपशोषणोः एतैरुपद्ववेरुपद्वुतः शनः शनैरुपशुष्यित । तस्मात् पुरुशे मितिमानासमनः शरीरेष्वेवं योगच्चेमकरेषु प्रयत्तेत विशेषेण । शरीरं ह्यस्य मूलम्, शरीरमूलश्च पुरुषो भवतीति ॥ ५ ॥

उचावचैर्यानैर्वा गच्छन् पुरुषो भयादितो यदाभ्यागतान् वातादिवेगान् निरुणद्धीत्यन्वयः। प्रसङ्गादिति राजादिभिः समागमात्। तत इत्यादि। भिनत्तीति पित्तसम्बन्धाधिक्येन रीक्ष्यगुणेन कुपितो वायुश्वलतेन पुरीषं भिनत्ति। अलपपित्तसम्बन्धे तथा रुक्षतगुणेन कुपितो वायुः पुरीपमुच्छोषयति। कण्डावधमनं कण्डोद्ध्वंसः। उरोऽवधमनं वक्षोरुजा। शिरुपघातः शिरोरुजा शिरसि कफपूर्णतेन। ततः स इत्यादि सर्व्वं पूर्विद्वग्राख्येयम्। योगक्षेमकरेषु यैः कम्मोभिः शरीरात्मयोगः क्रियते तत्सव्वंषु कम्मेसु आत्मनः शरीरेष्वेव योगकरेषु प्रयतेत इत्यथः॥ ५॥

भयादित्यादि राजसमीपादिषु यथायोग्यतया बोह्रन्यम्। योगेन ये क्षेमकरास्ते योग-क्षेमकराः, ते चेह भूत्रपुरीपाविधारणादयः; विशेषेणेतिवचनात् शरीरेप्वेव विशेषेण यत्नं कुर्यात् मानसयोगक्षेमापेक्षयेति दर्शयति; आत्मन इति पदं परशरीरयोग-क्षेमापेक्षया स्वशरीरयोगक्षेमकरणस्योपादेयतादर्शनार्थम्। अथ कथं मानसयोगक्षेमा-पेक्षया तथा परशरीरयोगक्षेमकरणस्योपादेयतादर्शनार्थम्। अथ कथं मानसयोगक्षेमा-पेक्षया तथा परशरीरयोगक्षेमापेक्षया खशरीरयोगक्षेमः श्रेष्ट इत्याह—शरीरमित्यादि। स्वशरीरे हुउपहते परशरीरोपकारस्तथाध्यात्मिकशुभित्तन्ता च व्याकुळा भवतीति भावः; किंवा योगाः शरीरस्य वळवणीदुउत्कर्षयोगाः, क्षेमाश्चानागत।वाधप्रतिपेधास्तेषु; ननु यदेउवम् आध्यात्मिकेऽपि भावे शरीरं सूळम्, तत् किं पुरुषोऽप्रधानमेव; नेत्याह—शरीरमूळश्च पुरुष

पित्तद्छेप्माणावित्यादि—प्रविद्येत्यन्तः पाठो ग्रन्थान्तरेषु न दृश्यते ।

भवति चात्र।

सर्व्यमन्यत् परित्यज्य श्ररीरमनुपालयेत् । तद्भावे हि भावानां सर्व्वाभावः श्ररीरिगाम् ॥ ६ ॥

च्यः शोषस्यायतनिमिति यदुक्तं तदनुव्याख्यास्यामः।
यदा पुरुषोऽतिसात्रं शोकचिन्तापरिगतहृद्यो सवतीष्येतिकण्ठासयकोधादिभिर्वा समाविश्यते, कृशो वा सन् रुचान्नपानसेवी भवति, दुर्व्वलप्रकृतिरनाहारो वाष्यल्पाहारो वा
भवति, तदा तस्य हृद्यस्थायी रसः च्यमुपैति, स तस्योपच्यात् शोषं प्राप्तोति, अप्रतीकाराचानुवध्यते यद्मणा
यथोपदेच्यमाणेन।

गङ्गाधरः—भवति चात्रेत्यादि। सन्वीपन्यदिति आत्मश्रारियोगकरणे क्षेमं यद् यत् कम्मे तत् सन्वीय्।। ६।।

गङ्गाधरः—क्रिमकलात् क्षयस्य शोपायतनलं विवरीतुगाह—क्षय इत्यदि । यदेत्यादि । हृदयं मनस्तात्स्थ्यात् । दुव्यं लप्पकृतिः आ जन्मन एव दुव्यं लन्ध्यादः । स चेदनाहारोऽल्पाहारो वा भवति । स पुरुपस्तस्य हृदयस्थरसस्य कारणस्य उपक्षयादुत्तरोत्तरधातुशोणितादीनां कार्य्याणां पुष्ट्यभावात् शोषं देहशोषं प्राप्नोति । एतेनानुलोमधातुशोपः प्रदर्शितः । अप्रतीकाराचानुवध्यते यक्ष्मणा यथोपदेक्ष्यमाणेनेतिवचनेन । साहसादिजनितै कृम्भादिभिः शरीरोपशोषणैविना शरीरशोषे शोषमात्रसं न तु राजयक्ष्मा न वा तत् पर्यायश्च शोष इति ख्यापितम् ।

इति । शारीरस्याद्वारपत्तौ धर्माधार्मसहायो भोक्ता सुखदःखानामात्मा मूळं कारणमित्यर्थः ; "मूळ'शब्दश्रायं भावप्रधानः ; तेन शारीरमूळत्वं यस्यात्मनः 'शारीरमूळः' इति पुं लिङ्गनिर्देश उपपनः । सर्व्योभाव इति धरमोदिचतुर्व्वर्गाभाव इत्यर्थः ॥ ४—६ ॥

चक्रपाणिः—हृदयस्थायी रस इति धातुस्वरूपोऽन्नरसपोपक इत्यर्थः ; अन्ये तु, हृदयस्थायी रस इत्योजो त्रुवते ; यथोपदेश्यमाणरूपेणेति "सन्धयः शिथिलीभवन्ति" इत्यादिग्रनथवश्यमाण-

यद। व। पुरुषोऽतिप्रहर्पाद् तिप्रसक्तभावात् स्त्रोप्वति-प्रयोगक्षमारभते, तस्यातिप्रयोगाद् रेतः च्यमेति । च्यमिष चोषगच्छिति रेतिस मनः स्त्रीभ्यो नैवास्य निवत्तेते, † तस्य चातिप्रणीतसङ्कल्पस्य मैथुनमापद्यमानस्य न शुक्रं प्रवर्तते उपचीणरेतस्त्वात् । अथास्य वायुव्याय व्छमानस्यैव धमनोरनुप्रविश्य शोणितवाहिनीस्ताभ्यः शोणितं प्रच्यावयित । तत् शुक्रच्यादस्य पुनः शुक्रमार्गेण शोणितं प्रवर्त्तते वातानु-स्त्रतिङ्गम् ।

मतिलोमतः क्षयमाह—यदा वेत्यादि। मसक्तभावः मेमातिश्ये-नात्यासक्तचित्तः सन् अतिप्रयोगं मैथूनमतिशयेनारभते। शुक्रस्य पुंसः स्त्रीभ्यो मैथने मनो न निवत्तंतेऽर्थात् पुनर्पि स्त्रीपु मैथुनाय तस्य क्षीणशुक्रपुरुषस्यातिमणीतसङ्करपस्य स्त्रीप्नतिमणय-भवत्ते। शीलतया सङ्करपो मैथुनाय मनःभवर्त्तनं यस्य तस्य तथा। तस्य चातीत्यादि । तथाभूतस्य मैथुनमापद्यमानस्य क्रियमाणमैथनस्य शुक्र-च्यवनकाले शुक्रं न प्रवर्तते न सर्ति उपक्षीणरेतस्वात । तदा कि भवतीत्यत आह—अथास्येत्यादि। अथ श्लीणशुक्रस्य क्रियमाण-मैथुनस्य शुक्रक्षयात् शुक्रस्यापवर्त्तनानन्तरं यस्य क्षीणशुक्रस्य मेथुनं कुर्व्वतः पुरुपस्य व्यायच्छमानस्य शुक्रच्यवनार्थं मैथुनकरणात्मकव्यायामं कुव्वेतो वायुः शोणितवाहिनीधेमनीरसुप्रविदयं ताभ्यः शोणितवाहिनीभ्यो धमनीभ्यः शोणितं प्रच्यावयति। नन्वेवं प्रच्युतं शोणितं किं लिङ्गमुले वस्तौ वा तिष्ठति वहिरूच्यवते वा इत्यत आह—तच्छुक्रक्षयादिति । तत् प्रच्युतं शोणितं शुक्रक्षयाद्धेतोः शुक्रं विना शुक्रमार्गेण शुक्रक्षरणस्रोतसा प्रवत्ते च्यवते, तच च्युतं शोणितं वातानुसृतिलङ्गं वातानुगतचिहं लक्षणेन । सम्प्रति शोपेषु क्षयकारणेषु प्रायः शोपजनकरवेन प्रधानं शुक्रक्षयं शोपकारणं 'यदा वा' इत्यादिना प्राह ; अतिप्रणीतसङ्करपस्येति अतिमहता प्रयत्नेन कृतध्वजोच्छायस्य ; व्यायच्छमानस्येति व्यायाममाचरतः ; वातानुस्रतिलङ्गमिति वातलिङ्गपुक्तं दृष्टवातलिङ्गयुक्तमिति

^{- *} शसङ्गमिति वा पाठः।

^{. †} इतः परम् अतिवर्त्तते इत्यधिकः पाठः क्रचित्।

श्रथास्य शुक्रच्यात् शोणितप्रवर्त्तमानत्वाच्च सन्धयः शिथिलीभवन्ति, रौच्यमपि चास्योपजायते, भूयः शरीरं दौर्व्वल्यमाविशतीति वायुः प्रकोपमापद्यते । स प्रकृपितोऽरित्तकं * शरीरमनुस्तर्पन् उदीर्व्य † श्लेष्मिपत्ते, परिशोपयित मांस-शोणिते, प्रच्यावयित श्लेष्मिपत्ते, संस्जति पार्श्वे, चावयुद्धाति श्रंसो, कण्ठमुद्ध्वंसयित, शिरः श्लेष्माणमुपक्किश्य परिपूरयित श्लेष्मणा, सन्धींश्च प्रपीड्यन् करोत्यङ्गमद्दीरोचकाविपाकान्, पित्तश्लेष्मोत्वलेशात् प्रतिलोमगत्वाच्च वायुर्व्वरं कासं श्वासं स्वरभेदं प्रतिश्यायञ्चोपजनयित । ‡ स कासप्रसङ्गादुरित चते शोणितं निष्ठीवित शोणितगमनाच्चास्य दौर्व्वल्यमुपजायते । ततः सोऽप्युपशोषणैरेतेरुपद्वरेरुपद्वतः शनैः शनैः उपशुप्यति ।

रूपम्। अथास्पेत्यादिना द्विविधक्षीणस्य रसक्षय-शुक्रक्षयाभ्यां राज-यक्ष्मणः सम्माप्तिमाह—अथास्पेत्यादि। अथ अतिमात्रशोकचिन्तादिभिः हृदयस्थरसक्षये तथातिमहर्पादित्यादुम्तरूपेणातिमैथुनात् शुक्रक्षये वा तत्-क्षयद्वयस्यामितकारादनन्तरमस्य रसक्षयजक्षीणरक्तादिधातुकस्य शुक्रक्षयज-क्षीणरसरक्तादिधातुकस्य वा पुरुपस्य शुक्रक्षयात्। अतिमैथुनेन क्षीणशुक्रस्य पुनमैथुनमापद्यमानस्य शुक्रक्षयादेव शुक्रच्यवनं न भूता शोणितमवत्तेमानताच, सन्धयः शरीरस्य सर्व्वसन्धयः, भूयो वाहुलेम्ना। स मक्कपित इत्यादि। परि-शोपयतीत्यादि। मांसशोणितशोपः श्लेष्मिपत्तच्यवनश्च लिङ्गतया न गण्यं तत्कार्याणामेव पाद्यवरुजादीनां तिल्किन्नतादतः पार्श्वरुजा अंसग्रहः कण्डोट्-ध्वंसः शिरसः परिपूणेत्वेन शुलं सन्धिमपीड्नाङ्गमई अरोचकोऽविपाकः

यावत् ; शरीरं कर्माभूतं दौर्व्वल्यं कर्त्तृ भूतमाविशतीत्यादि योजना ; विशक्तिमिति शून्यं शुक्र-घोणितक्षयात् कृतमित्यर्थः ; एतच हेतुगर्भविशेषणम् ; एतेन, यस्माद्वशिकं शरीरम्, तस्मात्

विश्वकिमित्यन्यः पाठः । " † 'उदीर्घ्यं इलेप्मिपत्ते' इति कचित् न दृश्यते ।

[ा] इतः परं 'स इत्यादि--उपजायते' इत्यन्तः केपुचित् प्रन्थान्तरेपु न दृइयते।

तस्मात् पुरुषो मतिमानात्मनः शरीरमनुरचन् शुक्रमनुरचेत्।
परा हेग्पा फलनिर्व्यु त्तिराहारस्येति ॥ ७ ॥

भवति चात्र।

ञाहारस्य परं धाम शुक्रं तद् रच्यमात्मनः।
चयो ह्यस्य वहून् रोगान् मरणं वा नियच्छति॥ =॥
विपमाशनं शोपस्यायतनमिति यदुक्तं तद्दनुच्याख्यास्यामः। यदा पुरुषः पानाशनभच्यलेह्योपयोगान् प्रकृतिकरणराशिसंयोगदेशकालोपयोगसंस्थोपश्यविपमान् उपसेवते,
तदा तस्य तैभ्यो वातिपत्तश्लेष्माणो वैषम्यमापद्यन्ते। ते
विपमाः शरीरमनुस्दस्य यदा स्रोतसां मुखानि प्रतिवार्य्यावतिष्ठन्ते, तदा जन्तुर्यद्यदाहारजातमाहरित तत्तन्मूत्रपुरीप-

मेवोपजायते भूषिष्ठं नान्यस्तथा श्ररीरधातुः, स पुरीपोप-ष्वरः कासः श्वासः स्वरभङ्गः मित्रयायश्चेत्येतान्येकादश रूपाणि क्षयमभवाणि । परा हेम्पेत्यादि । एपा शुक्ररूपा । परं धामेति चरमस्थानम् ॥ ७।८ ॥ गङ्गाधरः—क्रमिकलाद्विपमाशनस्य शोपायतनतं विवरीतुमाह—विप-

गृहाधरः—क्रामकलाद्दिपाशनस्य शापायतनस्य विवसतुमाह—विष-माशनिमत्यादि । यदेलादि । पानं पेयद्रव्यम्, अशनमन्नादिरूपमुपकार्यद्रव्यम्, भस्यमन्नादुप्रपक्तरणरूपपूपिष्टकादि द्रव्यम्, लेहंग्र घनक्षीरादिकम, तेपामुपयोगान् पानादिरूपे प्रयोगान् पकृत्यादिभिराहारविधिविशेषायतनैविषमान् यथावद्-रूपान्। वातपित्तकलेष्माण इत्यनेन युगपत्त्रिदोपकोषो विषमाशनेन ख्यापितः। वैषम्यमिति दृद्धम्। ते विषमा इति। ते वातपित्तकका दृद्धाः स्रोतसां रसरक्तादि-धातुवहानामभिम्रुखानि भूयिष्ठं मूत्रपुरीषं रसश्चात्यव्यः नान्यः शोणितादिः

अनुसर्पतीत्यर्थः ; परा फलनिव्धं तिरिति श्रोष्टा भाहारफलसम्पत्तिर्त्यर्थः । परं धामोत्क्रष्ट-सारम् ; उत्कृष्टत्वञ्च शुक्रस्यातिष्रसादरूपत्वात् ; एतच शोपकारणेषु केवलशुक्रक्षयोपसंहरणं प्राधान्यादस्य शोपहेतुमावादिति वोद्धव्यम् ; रुक्षायन्नपानसेवाजनितोऽपि रक्तादिक्षयो राजयहम-करणत्वेनोक्तः ॥ ७८ ॥

क्षपाणिः—प्रकृतिकरणादयो रसविमाने प्रपञ्चनीयाः ; अत्र च 'उपश्चय'शब्देन, उपयोक्ता यो रसविमाने वक्तव्यः, स एव गृह्यते ; व्यतः, तत्रोक्तम्—'उपयोक्ता पुनर्यस्तमाहारमाहरति, १६९ ष्टमाद् वर्त्तयति । तस्मात् शुष्यतो विशेषेण पुरीपमनुरद्यं तथा सन्वेषामतिकृशदुर्व्वलानाम् । तस्यानाज्याय्यमानस्य विषमाशनोपचितदोषाः पृथक् पृथगुपद्रवैर्धुञ्जन्तो भूयः शरीरमुपशोपयन्ति ॥ ८ ॥

तत्र वातो ह्यस्य शिरःश्रुलम् छ अङ्गमई कगठोद्ध्वंसनं पार्श्वसंरोजनसंसावमई खरभेदं प्रतिश्यायञ्च उपजनयति, पित्तं पुनर्ज्वरमतिसारमन्तर्दाहञ्च, श्लेष्मा तु प्रतिश्यायं शिरसो गुरुत्वमरोचकं कासञ्च। स कासप्रसङ्गादुरसि चते शोणितं

उपजायते, तस्मात् स पुरुषः पुरीषोषप्टम्भात् वत्तेयति वर्तते जीवन्नेय तस्मात् शुष्यत इति । विषमाश्चनात् शृष्यत इति अक्षीणवलमांसपुरुषस्य विषमाश्चनज्ञोषे पुरीषरक्षणावञ्यलं दशेयिला स्वभावतो वा रोगान्तरेण वा कृशदुर्व्यल-स्यापि पुरीषरक्षणावञ्यलं दशेयति—तथा सन्वेपामित्यादि ।

विषमाशनतः किं स्यादित्यत आह—तस्येत्यादि। तस्य विषममश्रतः पुरुषस्य प्रकृषितदोषत्रयग्रत्तरसादिवहस्रोतोम्रखलेन रसादिधातुपुष्ट्रभावेन अनाप्याय्यमानस्य अपुष्टशरीरस्य विषमाशनोपचितदोषा वातिषत्तककाः पृथक् पृथक् प्रत्येकं न मिलिला स्वकृतैरुपद्रवैलिङ्गैः शूलाङ्गमद्दीदिभिरत उद्धं वक्ष्यमाणैः ॥ ९॥

गङ्गाधरः पृथक् पृथगुपद्रवानाह तत्रेत्यादि। तत्र विपमाञ्चोपचितेषु वातादिषु मध्ये वातः शिरःशुलक्ष अङ्गमदेश्च कण्ठोद्ध्वंसनश्च पाद्यवसंरोजनश्च अंसावमदेश्च स्वरमेदश्च प्रतिद्यायश्च जनयति। प्रतिद्यायस्य कफकाद्यं खेन वक्ष्यमाणलाद् वातकफात्मकलेन एक एव गण्यः। पित्तं पुनिरत्यत्र तत्रेत्यन्वयः। शिरःशुलस्य वातकाद्यंतात् शिरसो गुरुतस्य कफकाद्यंतादेक एव गण्यः शिरःपीड्नसामान्यात्। नतु रुधिरण्ठीवनमत्र कासप्रसङ्गादुक्तं

यदायत्तमोकसात्यम् इति ; अनेन हि तत्रोपयोक्तृपरीक्षया सात्यमेव परीक्ष्यत इत्युक्तम् ; अयनमुखानीति गतिद्वाराणि ; अयितिहीं गतिः ; परिवार्येत्यवरुष्य ; तथा सम्बेपामत्यर्थ-

^{. *} ज्ञिरःशुलमित्यत्र शुलमिति वा पाठः।

निष्ठीवति, शोणितगमनाचास्य दौर्वल्यमुपजायते । एवमेते विपमाशनोपचितास्त्रयो दोषा राजयच्माणमभिनिवर्वर्त्तयन्ति । स तैरुपंशोषणौरुपद्रवैरुपद्रुतः शनैः शनैः शुज्यति । तस्मात् पुरुषो मतिमान् प्रकृतिकरणराशिसंयोगदेशकालोपयोग-संस्थोपश्यात् अविषममाहारमाहरेदिति ॥ १०॥

भवति चात्र।

हिताशी स्यान्मिताशी स्यात् कालभोजी जितेन्द्रियः।
पश्यन् रोगान् वहून् कष्टान् वृद्धिमान् विषमाशनात्॥११॥
एवमेतैश्चतुर्भिः शोषस्यायतनैरुपसेवितैः जन्तोर्वातपित्त-

चिकित्सिते पित्तकाय्यं मुक्तमिति स्ववचनित्रोध इति चेन्न पित्तकार्यमेव रक्तनिष्ठीवनं तस्य प्रष्टित्तस्तु कासप्रसङ्गादिति वोध्यम् । एवं साहसादिजेषु शोपेषु दोपभेदेन लिङ्गानि व्याख्यातव्यानि । नन्वन्तर्द्दाहोऽतिसारश्चात्र पित्तकार्यतया पिठतः चिकित्सिते तु न पिठतः प्रसेकश्चाधिकः पिठत इति स्व-वचनित्रोध इति चेन्न दोपाणां वला मुख्याणि हि लिङ्गाधिकयमध्यतालपत्तानि भवन्ति तस्मादत्राधिकवलदोपाभिप्रायेणाधिकलिङ्गानि व्याख्यातानि वस्तु- तस्मादत्राधिकवलदोपाभिप्रायेणाधिकलिङ्गानि व्याख्यातानि वस्तु- तस्मादत्राधिकवलदोपाभिप्रायेणाधिकलिङ्गानि व्याख्यातानि वस्तु- तस्तु एकादश्चपतोऽल्पलिङ्गले मध्यवलत्तमेकादश्चप्रतिकाधिकच्पत्ते पूर्ण- वलतं पङ्ख्यनूत्रन्द्धपत्तेऽल्पवलत्त्रमिति ख्यापनार्थमेकादशपट्त्रिक्षपात्मकत्या यक्ष्मा व्याख्यातः, न त्रेकादश्चल्पाधिकरूपव्यवच्छेदाथेमिति वोध्यम् ॥ १०॥

गङ्गाधरः—भवति चेत्यादि । जितेन्द्रिय इति जितसत्त्वः ॥ ११ ॥
गङ्गाधरः—अथ साहसादि प्रत्येकहेतुतः शोपोत्पत्तिमुपदशंप्र
अन्यहेतुतः शोपोत्पत्तिपतिपेधं दर्शयति । एवमेतैरित्यादि । एवमुक्तप्रकारेण एतैः साहससन्यारणक्षयविषमाशनैश्चतुर्भिरेकैकशो द्विशस्त्रिशः
समस्तैश्च, न तु समस्तैरेव नैकश एव न वा द्विश एव नैव च त्रिशः
एवेति, साहसादिपत्येकेन त्रिदोषकोपवचनात् व्यवायादिजशोपदर्शनाच ।
कृश्चाद्वर्ष्यानीतं पुशेषमनुरक्ष्यमिति योजना ; एवमेव चार्थं वश्यति—"शोषी मुद्धित गात्राणि पुरोपलस्तनादिति । सर्वधानुक्षयात्तस्य वलं तस्य हि विद्वलम् ॥" कासप्रसङ्गादिति कासातिसम्बन्धादित्यर्थः ॥ ९—११ ॥

र्लेष्माराः प्रकोषमापद्यन्ते । ते प्रकृपिता नानाविधोपद्रवैः

तत्र साहसादिषु चतुष्वीप साहसादीनामेकैकस्य वहुपभेदात् तत्-मभेदादप्येकशो द्विशस्त्रिश इत्यादिरूपात् वलवद्विग्रहादिसाहसादितो वातपित्त-इलेप्मफोपजो राजयक्ष्मा वोध्यः। एवमेव साहसाद्रेत्रकानेकोपसेवनेनालपमध्या-धिकवलवत्त्रया दोपकोपो भवति तथा चारपवलैदोपैस्निचतुःपञ्चरूपो राजयक्ष्मा स्यात्। मध्यवलदोपैर्यथावलं पट्सप्ताष्टनवदशान्यतमरूपो भवति। दोपैयंथावलमेकादशादिरूपो भवति । एतेन साहसायन्तर्गतैर्वणोरः सतादिभिः हेतुभिः शोपो यैवेत्राख्यातस्तन्मतमसमग्रवचनान्निरस्तमपि चैतेषु चतुर्वन्त-र्गतलात् अमितपेधादनुमतम्, सुश्रुतेनाप्येतद्भिमायेणामितिपिध्य मोक्तम् । व्यवायशोकवार्द्धवय-व्यायामाध्वोपसेवनात्। त्रणोरःक्षतपीड्राभ्यां शोपानन्ये वदन्ति हि ।। व्यावायशोपी शुक्रस्य क्षयिङ्किरुपद्भतः। पाष्डुदेहो यथापूर्व्य क्षीयन्ते चास्य धातवः। १। प्रध्यानशीलः स्रस्ताङ्गः शोकशोष्यपि तादशः। विना शुक्रक्षयकुतैर्विकारैरभिलक्षितः। २। जराशोपी कुशो मन्दः खल्पबुद्धि-वलेन्द्रियः। श्वसनोऽरुचिमान् भिन्न-कांस्यपात्रहतस्वरः। ष्ठीवृति इलेष्मणा हीनं तथैवारतिपीड़ितः। सम्प्रस्तुतास्यनासाक्षः शुष्करक्षमल्ख्विः।३। अध्वमशोपी सस्ताङ्गः सम्भृष्टपरूपच्छविः। प्रसुप्तगात्रावयवः शुष्तक्रोम-गलाननः। ४। व्यायामशोषी भूयिष्टमेभिरेव समन्वितः। लिङ्गैरुरःक्षतकृतैः संयुक्तश्च क्षतं विना । ५ । रक्तक्षयाद् वेदनाभिस्तथैवाहारयत्रणात् । व्रणि-तस्य भवेच्छोपः स चासाध्यतमो मतः । ६ । व्यायामभाराध्ययनैरभिघाताति-मैथुनैः। कम्मणा चाप्युरस्येन वक्षो यस्य विदारितम्। तस्योरिस क्षते रक्तं पूयः इलेप्मा च गच्छति । कासमानइछईयेच पीतरक्तसितारुणम् । सन्तप्तवक्षाः सोऽत्यर्थं दूयनात् परिताम्यति । दुर्गन्धवदनोच्छ्वासो भिन्नवर्णस्वरो नरः ।७। इति । अत्र व्यावायशोपः शुक्रक्षयजः शोकशोपस्थाविय्यशोपौ तु तथा व्रण-शोपश्च रसक्षयजा इति क्षयजशोषेषु न्यवायशोकवार्छक्यव्रणशोषा लब्धा भवन्ति । व्यायामाध्वोरःक्षतजास्तु साहसजाः साहसजेषु लब्धाः दुक्ति साहसादिजाः शोषास्तेषां मते न लभ्यन्ते इति नूप्रनलात् तन्मतं हेयम् तिन्नरस्तं, यत् तूक्तव्यवायादिजाः सप्त शोषा न राजयक्ष्माणः केवला मात्रतया व्याख्याय राजयक्ष्मतं तेषां न व्याच्छे। केषाश्चिदेव गुल्यर्थः कारणैभेदमागतः। न तत्र दौषिङ्गानां समस्तानां निपातनम्।

हि ते घे याः मत्येकं धातुसंधिताः । इति सुश्रुतवचनादित्येतद्व्याख्यातुः ममादाच तन्न ग्राह्म । सुश्रुतो हि स्वमते शोपं पह्रूपमेकादशरूपञ्च व्याख्याया-नन्तरं तदसाध्यलक्षणमुक्तवा-च्यावायशोकस्थाविय्ये-च्यायामाध्वोपसेवनात्। त्रणोरःक्षतपीड़ाभ्यां शोपानन्ये वदन्ति हि। इति वचनेन व्यवायादिजान् शोपान् निर्द्धित्य तेषां शोपाणां परस्परं भेदविषापनार्थं स्वस्बहेत्व्यवायादिजानि व्यवायशोषी शुक्रस्य क्षयलिङ्गैरुपद्रत इत्यादीनि लक्षणान्युक्तवान, न तु तत्र तत्र त्रिदोपाणां वलविशेपजानि त्रप्रादिपड़ादेप्रकादशादीनि लक्षणानि प्रतिपिद्धवान् । केपाश्चिदेव शोपो हीत्यादिवचनेन पुनर्येपां केपाश्चित् शोपाणां केवलं रसादिधातुक्षयहेतुन्यवायादिजनितानि लक्षणानि भवन्ति न तु दोपाणां समस्तलिङ्गानि, ते हि तत्तद्व्यवायादिमात्रहेतुजलक्षणैः भेदमात्र-मापन्नाः शारीररसादिधातुशोपा दोपत्रयस्य समस्तलक्षणाभावात् मत्येकं धातुसं शिताः क्षया एव शेयाः, रसक्षयरक्तक्षयेत्येवमादिसंबाः क्षयरोगाः क्षेया नंतु राजयक्ष्माण इति कापितवान्। शोपानत्यान् वदन्ति हीति पाठो हि न तत्र साधुश्र भवति, न्यवायशोपी शुक्रस्य क्षयलिङ्गैरुपद्रत इत्यादिभिः वचनैः प्रत्येकं व्यवायादिहेतुजलक्षणोपदर्शनेनैव दोपलक्षणाभावेन राज-यक्ष्मत्वनिरासे लब्धे तेपां संबाकथनार्थं क्षया एव हि ते प्रेयाः प्रत्येकं धातु-संक्षिता इत्येव वचनेन चरितत्वे केपाश्चिदेव शोपो हीत्यादिवचनस्य वैयध्यापत्तेः।

वातिपत्तद्रछ्णाणः प्रकोपमापद्यन्ते इति एविमत्यनेनान्वयात् उक्त-प्रकारेण साहसकम्मेणा वायुः प्रकुपित उरःस्थद्रछ्णाणं पित्तञ्चोदीरयेदिति साहसकम्मेणा त्रिदोपप्रकोपः। तथा सन्धारणेन प्रकुपितोऽपि वायुः पित्त-इर्छेष्माणाद्यदीरयतीति सन्धारणेनापि त्रयो दोपाः कुप्यन्ति। एवं शोका-दितो रसक्षयात् अतिव्यवायाच शुक्रक्षयात् प्रकुपितो वायुररसिकं शरीरम् अनुसपेन् पित्तदर्छक्ष्माणाद्यदीरयेदिति क्षयादिष त्रयो दोपाः कुप्यन्ति। एवं विष्याभागत् तु युगपदेव त्रयो दोषाः कुप्यन्ति इत्यर्थः। एतेन पृथक् द्वन्द्वः राजयक्ष्मा भवतीति ख्यापितमेकैकदोषद्विदोषप्रकोपणानां राजप्रवेति, नामभावात्। सुश्रुतेनाप्यक्तम्—स व्यस्तैर्जायते दोषैरिति केचिद् श्रुतेनाप्यक्तम्—स व्यस्तैर्जायते दोषैरिति केचिद् श्रुतेनाप्यक्तम्—स व्यस्तैर्जायते दोषैरिति केचिद् श्रुतेनाप्यक्तम् सान्निध्यात् तन्त्रयुक्तितः।। क्रियाणाश्चा- प्रतेपक्षंतना गेवोत्पादनेन च। एक एव मतः शोषः सन्निपातात्मको ह्यतः। स्वरंबन्धादित छिङ्गानि दोषाणां निपतन्ति हि।। क्षयाद् वेगप्रतीघाताद्

शरीरमुपशोषयन्ति । तं सर्व्वरोगाणां कप्टतमत्वात् राज-यदमाणमाचत्तते भिषजः । यस्माद्वा पूर्व्वमातीद् भगवतः सोमस्योडुराजस्य, तस्माद्राजयदमेति ॥ १२ ॥

तस्येमानि पूर्वस्पाणि भवन्ति। तद् यथा—
प्रतिश्यायः ज्वथुरभी च्णां श्लेष्मप्रसेको मुखमाधुर्यम्
प्रमन्नाभिलाषः प्रज्ञकाले चायासो दोषद्श्निश्च ग्रद्रोषेष्वलपच्यायामाद् विषमाश्चात्। जायते कुषितद्शेषेच्याप्तदेहस्य देहिनः। कफप्रधानैः
दोषेहि रुद्धेषु रसवर्तमेषु। अतिच्यवायिनो वापि श्लीणे रेतस्यनन्तराः। श्लीयन्ते
धातवः सच्वे ततः शुष्यित मानवः। इति। नानाविधेरुपद्रवैरिति वहुभी रोगैः।
सुश्रुतेऽप्युक्तम्। अनेकरोगानुगतो वहुरोगपुरोगमः। दुर्विष्ठेयो दुर्निवारः
शोपो च्याधिमहावलः। इति। अत्र कफप्रधानित्रदोपवचनं विषमाश्चनले वोध्यं
साहसादिलेषु साहसादितो वायुकोपाद्विमान्देश्न कफिपत्तदृद्धेः। वक्ष्यते च।
विविधान्यन्नपानानि वैषम्येण समक्षताम्। जनयन्त्यामयान् घोरान् विषमा
मारुताद्यः। स्रोतांसि रुधिरादीनां वैषम्याद् विषमं गताः। रुद्धा रोगाय
करपन्ते पुष्यन्ति न च धातवः। इति। ते इत्यादि स्पष्टम्।

अथ शोपस्यास्य राजयक्ष्माख्यत्वे निरुक्तिमाह—तं सर्वरोगाणामित्यादि । यक्ष्मणां रोगाणां राजा इति राजदन्तादिलात् पूर्व्विनपाते रूपसिद्धिः । पक्षान्तरेणापि निरुक्तिमाह—यस्माद् वेत्यादि । सुश्रुतेनाप्येतन्मतं केपाश्चिन्मततयोपन्यस्याप्रतिपेधादनुमतं ख्यापितम्, तद् यथा । राज्ञञ्चन्द्रमसो यस्मादभूदेप किलामयः । तस्मात् तं राजयक्ष्मेति केचिदाहुमेनीपिणः ॥ इति । तेन राज्ञ उद्धराजस्य सोमस्य रोगोऽग्रमासीदिति राजयक्ष्मा ॥ १२ ॥ गङ्गाधरः—अथास्य पूर्वेक्षपाण्याह—तस्येमानीत्यादि । तद्यथा प्रतिक्रयाय इत्यादि । अन्नकाले चायासः भोजनव्यापारे श्रमः । एवमन्नकाले भ लक्षान्यान

चक्रपाणिः—कष्टतमत्वादित्यत्र 'च'कारो लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टद्यः ; तेन, कष्ट्रस् । जिन्पानः चन्द्रमसः प्रागुत्पन्नत्वाच्चेति हेतुद्वयं योज्यम् ; यदा कष्टतमत्वात्, तदा 'राजेव तमत्वाच तथा यक्ष्मेति निरुक्तिर्योध्या ; उज्रराजस्येति राजसंज्ञत्वं सोमस्य दर्शयति, ततश्च राइ । यक्ष्मा' राजयक्ष्मेति निरुक्तिर्भवति ॥ १२ ॥ विद्यायादिष्रायः क्ष्मयुक्तपृद्वेक्ष्पोत्पादो वायु

नापि ः प्रधानेन

दोषेष पात्रोदकान्नसूपापूरोपदंशपरिवेश-भावेष वा केषु । **भुक्तवतोऽ**प्यस्य हृज्ञामस्तथोल्लेखनम्प्याहास्य अन्तरान्तरा, मुखस्य पादयोश्च शोषः, पागयोश्चावेत्त्ग्यसत्वर्धम् अच्णोः श्वेतावभासत। चातिमात्रं बाह्वोश्च प्रमाण्जिज्ञासा, स्त्रीकामता, निर्वृ शित्वं, बीभत्सदर्शनता चास्य काये। खप्ने दर्शनमनुदकानामुदकस्थानानां, शन्यानाञ्च यामनगरनिगमजनपदानां, शुष्कदग्धभग्नानाञ्च क्रकलासमयूरवानरशुकसर्पकाकोलूकादिभिः स्पर्शनमधिरोहगां वा यानं वा वराहोष्ट्रखरैः, केशास्थिभस्मतुषाङ्गारराशीनाञ्चाधि-रोहणमिति शोषपूठबंरूपाणि भवन्ति ॥ १३ ॥

सनपात्रादिषु चादोषवत्सु अल्पदोपयुक्तेषु वा दोपदर्शनम्। इदं भोजनपात्रं मिलनमन्यादृशं वेत्येवमादिदूषणपदर्शनम्। हृद्धास इति हृदयस्थदोषस्योप-स्थितवमनत्तिम् अक्तवत एव न त्रअक्तवतः। तथान्तरान्तरा—अन्तरा अन्तरा मध्ये मध्ये कदाचित् कदाचित् अक्तवतस्तस्याहारस्योल्छेखनं वमनं भवति। मुखस्य पादृद्वयस्य च शोषः शुष्कता। पाण्योः कराग्रद्वयस्यात्यर्थमवेक्षणं प्रायेण स्वकरद्वयस्य भद्राभद्ररूपतया दर्शनमकारणम्। वाह्वोर्वाहृद्वयस्य प्रमाणस्य स्थूलादिपरिमाणस्य प्रायेण जिल्लासा। स्वीकामता स्वीरिरंस्रता। निष्टु णित्वं घृणाशून्यता। वीभत्सदर्शनता च काये स्वश्रीरे निन्दनीयरूपतया दर्शनम् अनिन्दनीयत्वे। स्वप्ने च उदकस्थानानां नदीनदसरस्तङ्गविधिकाक्क्पपुष्करिण्यखातादीनामनुदकानामुदकशून्यत्वेन दर्शनम्। तिगमो नगरस्य पुट्येद्धरः। ग्रामनगरादीनां शुन्यानां जनरहितत्वेन दर्शनम्। तथा स्वप्ने वनानां भुक्तवादिरूपदर्शनम्। तथा कृकलासादिकच् कस्वकम्मेकस्य स्पर्शनस्य अधिरोहणस्य वा स्वप्ने दर्शनम्। एवं स्वप्ने वराहोष्ट्रस्वरैः करणैर्यानं गमनम्, चकारात् चिकित्सास्थानोक्तमक्षकाघुणादिपतनादीन्यपि समुचीयन्ते।

कियमाणे शोपे उरास्थश्लेष्मसंसर्गाट् बोह्रव्यः ; यतश्च प्रायेण कफोऽत्र स्थानमहिम्ना प्रकुपितो भवति ; तेन शोपं कफप्रधानलिङ्गत्वेन श्लेष्मरोग इति च ब्रुवते । अदोपेष्विति पात्रादि-- विशेषणम् ; पाण्योश्चावेक्षणादि पूर्वारूपं प्रभावात् ; वीभत्सदर्शनता काय इति विवर्णविगन्धत्वा- श्रत ऊर्ज्व मेकादश रूपाणि तस्य भवन्ति । तद् यथा— शिरसः प्रतिपूर्णत्वं कासः श्वासः स्वरभेदः श्लेष्मगणश्रुद्देनं शोणितष्ठीवनं पार्श्वसंरोजनमंसावमदो ज्वरोऽतिसारोऽरोचकश्र इत्येकादश रूपाणि भवन्ति ॥ १४ ॥

सुश्रुते तु—श्वासाङ्गसादकफसंस्रवताछशोष-वम्यग्निसादमदपीनसकासनिद्राः।
शोषे भविष्यति भवन्ति स चापि जन्तुः शुक्छेक्षणो भवति मांसपरो रिरंसः॥
स्वप्नेषु काकशुक्रसछिकनीछकण्ठ-गृधास्तथैव कपयः क्रकलासकाश्च। तं
वाहयन्ति स नदीविजलाश्च पश्येच्छुष्कांस्तरून् पवनधूमदवाहितांश्च। इति।
अत्र स्वप्ने काकादिकत्तृ कारोहणादिकं दोषजमेव मिक्षकाष्ठणतृणादिपतनन्तु
प्रायोऽन्नेऽदृष्टाधिष्ठितदोषजमेवेति वोध्यम्॥ १३॥

गङ्गाधरः -- नतु पूर्व्वेरूपोत्पत्त्यनन्तरं व्याध्युत्पत्तिः, तदानीन्तु रूपाण्युत्-पद्यन्ते तत् कथमत्र पूर्व्यमेव रूपाण्युत्तवा पूर्व्वरूपाण्युक्तानि, तेन किं शिरः-शुलादीनि यान्युक्तानि तानि न रूपाणि, किश्च साहसादिहेतुतो भिन्नभिन्न-लिङ्गानि भवन्तीत्याशङ्कायां सन्वेभ्य एव साहसादिभ्यो निदानेभ्यः कुपित-त्रिदोषत एकविधान्येव लिङ्गानि भवन्तीति ख्यापनार्थं पूर्णव्लदोषाभिप्रायेण एकादश रूपाण्याह—अत् ऊर्द्धु मित्यादि । अतः पूर्व्यरूपानन्तरम् एकादश रूपाणीति दोषाणां पूर्णवले न्यूनसंख्याकरपे एकादश रूपाण्येव न सतो न्यूनरूपाणि, वलाधिक्ये अधिककल्पे तु द्वादशादीनि भवन्तीति बोध्यम् । अस्य स्थानस्य सूत्ररूपलात् दोषाणां वलाल्पत्वे न्यूनसंख्याकल्पे त्रिरूपाणि, तद्धिककरपे चतुःपश्च रूपाणि, वलमध्यमत्वे न्यूनसं ख्याकरपे पड् रूपाणि, दिना ; निगमनं नगरिनशेपो वहुवसितजनपदं मण्डलम् । अधिरोहणज्वेति क्रुकलासादीनाम् एव शरीराधिरोहणम् ; स्वष्ने श्वीष्ट्रखरगमनञ्चेहादिङ्नियमेन वोद्धन्यम् ; तेन रिष्टं न भवति ; यत् तु वक्ष्यति—"श्रमिरुष्ट्रैः खरैर्वापि याति यो दक्षिणां दिशम्" इत्यादि ; तद्क्षिणदिङ्नियतः स्वाद् रिप्टत्वं झेयम्, यत्र रूपं खप्नरूपमस्ति राजयक्ष्मोन्मादादो, तत्रोच्यते, ज्वरादी त्वविद्य-मानत्वाज्ञोच्यते ; यत् तु रिण्टं रिष्टाधिकारे ज्वरादीनां खप्नरूपं पूर्वेरूपं वक्ष्यति—"प्रेतैः सह पिवन् मधम्" इत्यादिना, तट् रिप्टमेव ॥ १३ ॥

चक्रपाणिः—एकादशरूपाणीतिवचनेन एकादश रूपाण्येव सम्पूर्णराजयक्षमणि भवन्तीति दर्शयति ; कासश्वासादयश्च ये एकादशरूपा उदाहरणार्थं व्याख्याताः, न ते प्रतिनियतत्वार्थम् ; तेन, चिकित्सिते वक्ष्यमाणमेकादशरूपचतुष्टयं भिन्नस्थां न विरोधि ॥ १४॥

तत्रापरिचीणवलमांसशोणितो वलवानजात।रिष्टः सर्व्वेर्रपि शोषिलिङ्गेरुपद्रुतः साध्यो ज्ञेषः । वलवानुपचितो छ हि सहत्वाद् व्याध्योषधवलस्य कामं सुवहुलिङ्गोऽपि स्वल्पिलङ्ग एव मन्तव्यः । दुर्व्वलन्तु अतिचीणवलमांसशोणितमल्पिलङ्गमजातारिष्टमिप वहुलिङ्गं जातारिष्टश्च विद्यादसहत्वाद् व्याध्योपधवलस्य, तं परिवर्ज्यत् । चणेनैव हि प्रादुर्भवन्त्यरिष्टानि अनिमित्ततश्च अस्यारिष्टप्रादुर्भाव इति ॥ १५ ॥

तद्धिककल्पे सप्ताष्ट नव दश रूपाणि व्याख्यातव्यानि । चिकित्सिते तु त्रिषड् रूपाणि तेषां तद्भिमायेण वक्ष्यन्ते ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—अथास्य साध्यतासाध्यतादिकमाह—तत्रेत्यादि। सर्वैः अपीत्यिपशब्दात् असम्पूर्णिलक्षेः स्रुत्वसाध्यः। कुतः साध्य इत्यत आह—वल्वानित्यादि। उपित्रतो मांसशोणिताभ्यामक्षीणः कामं यथाभिलापं व्याध्योपथयोर्वलस्य वीर्व्यस्य सहतात् सहने क्षमतात्। ननु कुतो दुर्व्यलं क्षीणमांसरक्तमजातारिष्टमिप जातारिष्टं विद्यादित्यत आह—क्षणेनेव हीत्यादि। अस्य राजयिक्ष्मणो जनस्य दुर्व्यलस्य क्षीणमांसशोणितस्य क्षणमात्रमरिष्टं भवति कारणाभावतश्चारिष्टं स्यात्। अरिष्टन्तु सुश्रुतेऽप्युक्तम्— महाशनं क्षीयमाणमतीसारिनपीडितम्। श्रूनसुष्कोदरञ्चैव यिक्षमणं परिवज्जयेत्। श्रूहाक्षमन्नद्देष्टारम् द्वृंश्वासनिपीडितम्। कृष्कोदरञ्चैव यिक्षमणं परिवज्जयेत्। श्रूहाक्षमन्नद्देष्टारम् द्वृंश्वासनिपीडितम्। कृष्कुंण वहु मेहन्तं यक्षमा हन्तीह मानवम्। ज्वरानुवन्धरिहतं वलवन्तं क्रियासहम्। उपक्रमेदात्मवन्तं दीप्ताग्रिम् अकृशं नवम्। अन्यत्र च—परं दिनसहस्रन्तु यदि जीवित मानवः। सद्धिपग्भिः उपक्रान्तस्तरुणः शोपपीडितः। इति। अत्र महाशनं क्षीयमाणमित्येकमसाध्य-लक्षणम्, अतीसारिनपीडितिमत्यपरं, यिक्षमणो मलायत्तजीवितलात्। श्रून-

चक्रपाणिः—अपिरक्षीणवलाभिधानेऽपि वलवानिति पदं सहजवलयुक्तत्वोपदर्शनार्थम् ; सहजवलो द्यनु पिरक्षीणवलोऽपि वंलवद्भवतीति भावः ; सहत्वाद् व्याध्योपधस्येति यसमाद् व्याधिवलं तथोपधवलक्क सहते ; तेन न साभ्यामभिभूयते इत्यर्थः ; अल्पलिङ्ग एवेति अल्प-लिङ्ग इव सुखसाव्य इत्यर्थः । बहुलिङ्गं जातारिष्ट्य विद्यादिति बहुलिङ्गमिवासाध्यं तथा जाता-रिष्टमिव मारकं विद्यादित्यर्थः ; ननु रिष्टं विना मरणं नास्ति ; वचनं हि—"अरिष्टक्कापि तलास्ति

^{*} बलवणीपचयोपचित इति पांठान्तरम् ।

तत्र श्लोकः।

समुत्थानञ्च लिङ्गञ्च यः शोषस्यावबुध्यते । पूर्व्यरूपञ्च तत्त्वेन स राज्ञः कर्त्तुमर्हति ॥ १६ ॥

इत्यिविश्वकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते निदानस्थाने शोषनिदानं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६॥

मुष्कोद्रमिति तृतीयं, मुष्कोद्रशोथस्य विरेकसाध्यतेन विरुद्धोपक्रमसात्। श्काक्षसादीन्येकेकशोऽसाध्यचिहानि ॥ १५॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थम् पसंहरति—तत्र क्लोक इति। अध्यायार्थीप-संहारच्छलेन वैद्यपशंसनिषदं वचनम्। यो वैद्यः स राज्ञः कत्तुं प्रति-कत्तुं म्।। १६।।

गङ्गाधरः-अध्यायं समापयति अग्नीत्यादि ॥

इति श्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ, द्वितीयस्कन्धे निदानस्थानजल्पे पष्टाध्यायशोप-निदानजल्पाख्या पष्टी शाखा ॥ ६ ॥

यद् विना मरणं भवेत् ' इति ; तत् कथं अजातारिष्टो जातारिष्ट इवाद्रमरणत्वेनेह ज्ञातव्य इत्याह—क्षणेन हीत्यादि । असाध्ये हि रिष्टं भवित ; असाध्यता च वलमांसक्षयकृतास्त्येव ; तेन अवश्यं रिष्टेन भवितव्यम् ; अजातारिष्टे कारणासेवयारिष्टं भविष्यत्येवाह—अनि-मित्ततश्चारिष्टप्राइभीव इति ; न हि रिष्टं दृष्टं किञ्चित् कारणमपेक्षते, किन्त्वनिमित्तत एव भवित ; तेन, रिष्टानुत्पादे सित नाश्वासः कर्त्तव्य इत्यर्थः ॥ १५ । १६ ॥

इति चरकचतुरानन-श्रीमचक्रपाणिदत्तविरचितायाम् भायुर्व्वेददीपिकायां निदानस्थानं-व्याख्यायां शोपनिदानं नाम पष्टोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सत्तमोऽध्यायः।

अथात उन्माद्निदानं व्याख्यायामः, इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

इह खंतु पञ्चोन्मादा भवन्ति : तद् यथा—वात-पित्त-कफ-सन्निपातागन्तुनिमित्ताः ॥ २ ॥

तत्र दोपनिमित्ताश्चत्वारः पुरुपाणामेवंविधानां चित्र-मभिनिर्वर्त्तन्ते। तद् यथा —भीरूणामुपक्किष्टसत्त्वानाम्,

गङ्गाधरः—अथ त्रैदोपिकव्याधीतुत्तवा भयपूर्विकलादुन्माद्स्य भयकामज-लाच शोपानन्तरम्रन्माद्माह—अथात इत्यादि ॥ १॥

गङ्गाधरः-पञ्चोन्मादा इति विष्टणोति-वातिपत्तेत्यादि। नतु सुश्रुते एकैकशः समस्तैश्र दोपैरत्यर्थमृच्छितैः। मानसेन च दुःखेन स च पञ्चविधो यतः। विषाद् भवति पष्टश्च यथास्वं तत्र भेपजम्। चापरृद्धस्तरुणो भदसंबां विभक्ति च। इत्युक्तमुक्तश्च भूतोन्मादः पृथक् तत् कथमत्र च दोपजाश्रतार इति न विरुध्यते ? उच्यते, कामादीनां वात-करलेनोन्मादनिदानानां वातजोन्मादनिदानेषु वातजोनमाद्लं पाठात् मानसदुःखोन्माद्स्य ख्यापितम्। विषजोन्माद्स्य च विषेण त्रिदोपकोपात् त्रैदोपिकोन्मादत्वान्न पृथक् पाउः कृतो न च विपस्य यथास्वचिकित्सा-विधानार्थं त्रैदोपिकाञ्चिन्नतयां पाठ उचितः पूगकोद्रवधुस्त्रादिजानाम् अप्युन्मादानां पृथक्चिकित्साविधानात् पृथक्पाठापत्तेः। तत्रेत्यादि पुरुपाणा-मेर्वेविधानां भीरूणामित्यादिभिवंक्ष्यमाणानाम् । किम्भूतानामित्यत आह— तद् यथेत्यादि। यद्यपि चिकित्सिते वातजादुप्रन्मादानां पृथक् पृथक् निदानानि वक्ष्यन्ते तथाप्यत्र सुत्ररूपत्नेन सामान्यत एव त्रयाणां दोषाणां कोपनाः न्याह—भीरुणामित्यादि। उपिकृष्टसत्त्वानामिति रजस्तमोभ्यामुद्रिक्ताभ्यामभि-

चक्रपाणिः—औत्पातिकं शोपमिभधाय दक्षयज्ञे कुष्टानन्तरोत्पन्नमुन्माउं ब्रूते ; वचनं हि— 'त्योहीसशोगे रुग्मादापरमाराणाम्" इति । उपिक्किप्टसःचानामिति रक्तसःमोग्यामुपहतसःचानाम ; उत्सन्नदोषाणां, समलविक्ठतोपहितान्यनुचितान्याहारजातानि वैषम्ययुक्तेन उपयोगविधिनोपयुञ्जानानाम्, तन्त्रप्रयोगमपि विषममाचरताम्, अन्याश्च श्रारचेष्ठा विषमाः समाचरताम्, अरयुपचीणदेहानां, व्याधिवेगसमुद्धामितोपहतमनसां वा, काम-राग-क्रोध-लोभ-हर्षभयमोहायासशोकचिन्तोद्धेगादिभि-र्भूयोऽभिघाताभ्याहतानां वा मनसुप्रवहते वुद्धौ च प्रचितता-याम्, अत्युदीर्णत्वाद् दोषाः प्रकृपिता हृदयमुपसंस्त्य मनो-

उत्सन्नदोपाणाम्, उन्मार्गमाश्रितातिप्रंदृद्धवातादि-भूतसत्त्वगुणानाम् दोपवताम् । समलेत्यादि । समलानि मलिनानि विकृतानि अपाकृतानि च यानि तैद्रेव्यैरुपहितानि उपस्कृतानि अनुचितान्यसात्म्यानि आहारजातानि विषमेणोपयोगविधिना प्रकृतिकरणाद्यष्टविधानामाहारविधिविशेपायतनानां वैषम्येण हीनाधिकप्रकारेण उपयुद्धानाइचेद्भवन्ति भीरुप्रभृतयः पुरुपास्तदा तेषां तन्त्रप्रयोगं वेदादिशास्त्रोक्तं स्वाभीष्टदेवसिद्धिराजादिवशीकरणो-चाटनादिनिमित्तं प्रयोगं शवारोहणादिकम्मे ये विषमं यथाविधि न कुला विधिविपन्ययेणाचरन्ति तेषाम्। अन्याश्र शरीरस्य विषमाइचेष्टा विषमाः इमाशा-निकपथादिना निश्चि सन्ध्यादिषु गमनादि ये आचर्नित तेषां व्याधिवेगेन समुद्भामितानां सततोचिलितचित्तानाम् । उपहतमनसां वा कामादिभिभू यः पुनरपि कामिन्याद्यपाप्तिप्रभृत्यभिघातैरभि सन्वेतोभावेनाहतमनसां बुद्धौ भचलितायां चश्चलायां सत्याम् अत्युदीणेलादुन्मार्गाश्रितलेनातिरुद्धलात्, मनोवहानि स्रोतांसि हृदयाश्रिता दश सिराः।

उत्सन्नदोपाणामिति प्रमुद्धोद्भान्तदोपाणाम् ; समलेरशुचिभिर्विकृतैश्चेति वैरोधिकैरपिहतानि मिश्रीकृतानीति समलविकृतोपिहतानि ; किंवा, समलेमेलिनैर्विकृतैः कुष्टव्यङ्गादिभिः परिजनैः उपिहतानि उपढाँकितानीति समलविकृतोपिहतानि , वैपम्ययुक्ते नोपयोगिविधिनेति यः प्रकृति-करणादिराहारोपयोगिविधिर्वक्तव्यस्तेन वैपम्ययुक्ते न, दैपम्यञ्च प्रकृत्यादीनामशस्तत्वं प्रकृति-गुरुत्वादिभिः कृतं इत्यम् । तन्त्रं शरीरम्, तस्य परिपालनार्थं सद्वृत्तोक्तः प्रयोगः । 'शरीर-वेप्टा'शब्देन तु गमनादि गृद्यते, तेन न पौनरुक्त्यम् । 'तन्त्र'शब्दः शरीरे वर्त्तते ; यदक्तम्— 'तन्त्रयन्त्रे पु भिन्नेपु तमोदन्त्यं प्रविविक्षताम्" इति । व्याधिवेगसमुद्भामितानामिति व्याधिन

वहानि स्रोतांस्यावृत्य जनयन्त्युन्मादम् । उन्मादं पुनर्मनोबुद्धि-संज्ञाज्ञानस्मृतिभक्तिशीलचेष्टाचारविश्रमं विद्यात् ॥ ३ ॥

तस्येमानि पूर्व्वरूपाणि भवन्ति। तद् यथा—शिरसः शून्यता चत्तुषोश्चास्वच्छता स्वनश्च कर्णयोः उच्छ्वासाधिवयम् ज्ञास्यसंस्रवणम्, ज्ञनन्नाभिलाषारोचकाविपाकाश्च हृद्यहो ध्यानायाससम्मोहोद्देगाश्चास्थाने, सततश्च लोमहर्षो

निदानपूर्विकां सम्प्राप्तिम्रुक्तवा उन्मादस्य निरुक्तिं स्वरूपलक्षणलेनाह— उन्मादिमत्यादि । भक्तिः श्रद्धया भजनम् । मनःत्रभृतीनां विश्वममयथावद्-भावम् । सुश्रुतेऽप्युक्तं—मदयन्त्युद्धता दोषा यस्मात् उन्मार्गमाश्रिताः । मानसोऽयमतो व्याधिरुन्माद इति कीर्त्तितः । इति । अत्र मदयन्ति मनः-प्रभृतीनां विश्वमं कुव्वेन्ति इत्यर्थः । उद्धता अत्युदीर्णाः । उन्मार्गमाश्रिता ऊर्द्धं हृदयं मार्गान् हृदयमूला मनोवहा दश्च धमनीः प्राप्ता इत्यर्थः । मानस इति न कामक्रोधादिवन्मानसो व्याधिः, किन्तु शारीरदोपद्षितमनःपाधान्यात् शरीरस्थते चाप्राधान्यात् मानस इति व्यपदेशः ॥ २।३ ॥

गङ्गाधरः—सामान्यतः सम्प्राप्तिम्रुक्तवा सामान्यपूर्व्वरूपाणप्राह—तस्ये-मानीत्यादि। तद् यथेत्यादि। शिरसः शून्यता शिरसो छघुतया शिरो-मध्ये शून्यभावः, अस्थाने अविषये ध्यानं चिन्ता, आयासकारणाभावे

बलेनाप्रकृतिस्थितानाम् ; उपहतमनसामिति कामादिभिः सम्वध्यते ; भूय इति पुनःपुनः ; उपस्रयेति उपगम्य प्रदृष्येति यावत् ।

उन्माद्मत्यात्मलक्षणमाह—उन्मादं पुनित्यादि। विश्रममिति मनःप्रभृतिभिः प्रत्येकं सम्बध्यते; अत्र मनोविश्रमाचिन्त्यानर्थान् न चिन्तयते, अचिन्त्यांश्च चिन्तयते; उक्तं हि—"मनसश्च चिन्त्यमर्थः" इति ; बुद्धिविश्रमात् तु नित्यमित्यम्, प्रियञ्चाप्रियं पश्यति ; वचनं हि—"विपमाभिनिवेशो यो नित्यानित्ये प्रियाप्रिये । ज्ञेयः स बुद्धिविश्रंशः समं बुद्धिर्द्धं पश्यति ॥" इति । संज्ञा ज्ञानम्, तद्विश्रमादग्न्यादिदाहं न युध्यते ; किंवा, संज्ञा नामोल्लेखज्ञानम् ; स्मृति-चिश्रमात् तु न समरति, अयथावद्वा समरति ; भक्तिरिच्छा, तद्विश्रमाच यत्रेच्छा पृथ्यंमासीत्, तत्रानिच्छा भवति ; शीलविश्रमात् कोधनोऽकोधनो वा भवतीति ; चेध्यविश्रमादनुचित-चेष्टो भवति ; आचारः शास्त्रशिक्षाकृतो व्यवहारः, तद्विश्रमादशीचाद्याद्वाते ॥ १—३ ॥

चक्रपाणिः—अस्थाने इत्यविषये : तेन अध्यानविषये ध्यानम्, असंमोहविषये च मोह

ज्वरश्वाभी च्यामभी च्यामुन्मत्तचित्तत्वमिहताकृतिकरण्यमुन्मिहित-त्वश्च व्याधेः, स्वप्ने चाभी च्यां दर्शनं भ्रान्तचितानवस्थिता-नाश्च रूपाणामप्रशस्तानाम्, तिलपी इकचका धिरोहण्ं, वातकुण्डिलका भिश्चोन्मथनं, मज्जनश्च कलुषास्भसामावर्त्ते, चजुषोश्चापसर्पणम्। इति दोपनिमित्ताना मुन्मादानां पूर्व्यरूपाणि भवन्ति ॥ ४॥

ततोऽनन्तरमुन्मादाभिनिव्वृ त्तिरेव । तत्रेद्मुन्माद्विशेष-विज्ञानं भवति । तद् यथा—परिसरणमजसम्चिभ्रुवौष्ठांस-हन्वमहस्तपादाङ्गविचोपश्चाकस्मात्, सततम् अनियतानाश्चः

आयासः, सम्मोहाविषये संग्रुष्वता, अनुद्दे गविषये उद्दिग्रता, सततमनवरतम् ; अमीक्ष्णग्रुन्मत्तिचत्तसुन्मादिनामिव चित्तं न तून्मत्तिचत्तम्, अदिताकृतिः हनुवक्रीभावस्तत्करणं, ज्याधेः व्रणशोधादिरूपस्य उन्मद्दितसग्रुन्महेनम्, भ्रान्तादिरूपाणां वस्तूनामभीक्षणं स्वप्ने दर्शनम्, अमशस्तानाश्च रूपाणां मूर्त्तीनां स्वप्ने दर्शनम्, तिल्पीङ्कचक्रं घानियन्त्रस्य चक्रम्, वातकुण्डलिभिः कुण्डलीभूतवहिश्चरवायुना उन्मथनमाकुलीकरणम्, आवत्ते जललभ्रमे, अपसर्पणमितस्ततश्चालनम् । सुश्रुते च—मोहोद्वेगौ स्वनः श्रोत्रे गात्राणामप-क्षणम् । अत्युत्साहोऽरुचिश्चान्ने स्वप्ने कल्रुपभोजनम् । वायुनोन्मथनश्चापि भ्रमश्चकस्थितस्तथा। यस्य स्यादचिरेणैव उन्मादं सोऽधिगच्छित । इति ॥ ४ ॥

किमित्यत आह—तद् यथेति। परिसरणमजस् सन्वदा परिभ्रमणम्। अक्षिभ्रु वौष्ठांसहन्वग्रादिविक्षेपणमितस्ततश्रालनम्। हनोरग्रम् ओष्ठाधो-इत्यादि ज्ञेयम्। उन्मत्तवित्तत्वमिति उद्भान्ताकृष्टवित्तत्वम्। उद्दित्तत्वमिति जङ्काये पोड्तित्वम्; अर्हिताकृतिषरणमिति अर्हितस्य आकृतिर्वकार्धवक्रीभावादिलक्षणं तत्करणम्। ज्याधिरिति ज्याधेवु द्वादिश्रमरूपस्य उन्मादस्य यथोक्तानि पूर्व्वरूपाणीति योजनाः, चक्षुपीश्रोप-सर्पणमिति चक्षुपोर्ज्यपगम इत्यर्थः॥ ४॥

गङ्गाधरः-ततोऽनन्तरमित्यादि । ततोऽनन्तरं पूर्व्वेरूपानन्तरम् । इदं

चक्रपाणिः—ततोऽनन्तरमेवेतिवचनात् पूर्विरूपानन्तरं शीघ्रमेवोन्मादो भवतीति दर्शयति , अन्ये रोगा यथा पूर्वेरूपे भूते चिरेण भवन्ति, न तथा उपमाद इत्यर्थः । उपमादिवशेरविज्ञारम् गिरामुत्सर्गः * फनागमश्चास्यात् । स्रभीच्णं स्मितहस्तितनृत्य-गीतवादित्रसंप्रयोगाश्चास्थाने, वीणावंशशङ्खशूष्प † ताल-श्व्दानुकरणमसाम्ना, यानश्चायानरलङ्करणञ्चानलङ्कारिकैः द्रव्यैः, लोभश्चाभ्यवहार्थ्यंष्वल्व्घेषु लव्घेषु चावमानः । तीव्रत्वं मात्सर्य्यं ‡ काश्यं पारुष्यमुत्षिण्डतारुणाच्नता वातोप-श्यविपर्यासादनुषश्यता चेति वातोन्मादलिङ्कानि भवन्ति ॥ ५॥

श्रमर्पः क्रोधः संरम्भर्चास्थाने, श्रस्त्रलोष्ट्रकषाकोष्ठ-मुष्टिभिरच।भिहननं स्वेषां परेषां वा, श्रभिद्रवणं, प्रस्छाय-भागः। अनियतानां गिरां वचनानाम्रत्सर्गः प्रयोगः प्रछाप इति यावत्। आस्यात् फेनागमः। अस्थाने अविषये स्मितादिकं, शप्पं तृणघासादिकम्, अतालः संगीतिवधौ तालः कालक्रियामानं तद्विषय्ययेण शब्दस्तताल-शब्दः, वीणादीनां शब्दानुकरणशब्दकरणम्, असाम्नाऽभीत्या, अवमानस्तवन्ना, मात्सर्यं दम्भः। उत्पिण्डितमुच्कूनिण्डाकारमरुणश्चाक्षि यस्य तस्य भावः। वातोषशयविषय्ययाद् वातानुषशयात्॥ ५॥

गृङ्गाधरः—पित्तोन्माद् लिङ्गान्याह — अमर्प इत्यादि । अमर्पोऽसहिष्णुता । क्रोधः कोषः । संरम्भ आरभटी । अस्थानेऽविषयेऽसहिष्णुतादयः । कपा रज्जुवद्श्वपहरणम्, शस्त्रादिभिः स्वेषां परेषां वाभिहननम् । अभिद्रवणं इति वातादुप्रन्माद् लिङ्गमित्यर्थः । परिसरणं अमणम् ; शम्या दक्षिणहस्तेन वादनम् ; तालस्तु वामहस्तेन वादनम् ; यदकं विशाखिनेना— "शम्या दक्षिणहस्तेन वामहस्तेन तालकः । उभाग्यां वादनं यत् तु सिन्निपातः स उच्यते दित । असाम्नेत्युच्चैः ; अयानिरिति हस्त्यादियानव्यतिरिक्तैः । लव्यते चावमान इति प्राप्तेप्वकार्ययेष्ववधीरणञ्च, न केवलमवमानः किन्तु तीर्वं मात्सर्यञ्च, अभ्यवहार्यं ल्ल्ब्या न किञ्चत् दातुमिच्छतीत्यर्थः । वाते उपशय उपशयहेतुस्नेहादिः धातोपशयः, तस्य विपर्यासो स्थादः, तेनानुपशयिता असुखिता इत्यर्थः ; 'च'काराद् वातानु गुणस्नेहाद्वपशयिता च ग्रह्यते ॥ ५ ॥

[🔹] सततं गिरामुस्सर्ग इति पाठान्तरम् ।

[†] शब्पेत्यत्र शस्या इति चक्रः पठति ।

[🕸] तीवं मात्सर्यमिति वा पाठः 📭

शीतोदकाननाभिलाषश्च, सन्तापश्चातिवेलं, ताम्रहरित-हारिद्रस्तब्धाचता, पित्तोपशयविपर्य्यासात् अनुपश्यता चेति पित्तोनमादलिङ्गानि भवन्ति ॥ ६ ॥

स्थानसकदेशे, तृष्णीम्भावोऽल्पश्र्चंक्रमगां, लाला-सिंघाणस्वरणम्*, अनन्नाभिलाषो रहःकामता च, वीभत्सत्वं शौचह्रेषः, खप्निन्धिता, श्वयथुश्चानने, शुक्लस्तिमित-मलोपदिग्धाच्त्वं, श्लेष्मोपश्यविपर्यासादनुपश्यता चिति श्लेष्मोन्मादलिङ्गानि भवन्ति॥ ७॥

त्रिदोषितङ्गसन्निपाते तु सान्निपातिकं विद्यात्। तम् असाध्यमित्य।चचते कुश्लाः॥ ८॥

पलायनम्। पञ्जायस्य शीतयोख्दकान्नयोश्वाभिलाषः। सन्तापो गात्रस्य उष्णतं, चकाराद्दिनम्नतं, ताम्रं वा हरितं वा हास्द्रि वा स्तव्धश्चाक्षि यस्य तस्य भावः॥६॥

गृङ्गाधरः—कफोन्मादिलङ्गान्याह—स्थानिमत्यादि। एकदेशे गृहैककोणे स्थितिः, तूष्णीम्भावो मौनलम्, अल्पशक्षंक्रमणम्, सिंघाणकं नासिकास्थकफ-क्लेदः तयोः प्रस्रवणम्। रहःकामता गोप्यावस्थानाभिलापिता। वीभत्ससं देहस्य निन्दनीयभावः। स्वमनित्यता सततिनद्रारितः, आनने श्वयथुः। शुक्तश्र्वाश्रुपिचिटादिना स्तिमितश्च मलेन पिचिटेन उपदिग्धश्चाक्षि यस्य तस्य भावः॥ ७॥

गङ्गाधरः—त्रिदोषेत्यादि। त्रिदोपिछङ्गसन्निपाते तु त्रिदोपाणां यानि खखिछङ्गान्युक्तानि तेषां सम्यक् साकल्येनाधिक्येन च निपाते सित् सान्निपातिकमुन्मादं विद्यादिति। विकृतिविषमसमवायार्व्यक्षात् चतुर्थे- मिममुन्मादमुक्तवान्, प्रकृतिसमसमवायार्व्यांस्तु द्वन्द्वसर्वनपातजान् नोक्तवान्,

चक्रपाणिः — अमर्प इत्यादि पित्तोन्मादिलङ्गम् ; संरम्भश्रारभटी ; स्वेपां स्वीयानाम् । कफोन्मादे रहो विजनम् ॥ ६—८॥

^{*} लालासिंघाणकासस्ववणमिति पाठान्तरम्।

साध्यानान्तु त्रयाणां साधनानि स्नेहस्वेदवमनविरेचना-स्थापनानुवासननस्तःकर्म-धूमधूपनाञ्जनावपीड्प्रधमनाभ्यञ्जन-प्रदेह-परिषेकानुलेपन-वधवन्धनावबोधन्न वित्रासन-विस्मापन-विस्मारणादत्र्पणिसराज्यधनानि । भोजनविधानञ्च यथास्वं युक्ता । यद्यान्यद्पि किञ्चिन्निदानविपरीतमौषधं कार्यं तत् स्यादिति ॥ ८ ॥

तेपां_दोपभेदविकरपैः पृथग् दोपैर्छंब्धलात्। अत एवाह तमसाध्यमित्या-चक्षते कुशला इति । सुश्रुते तु—रुक्षन्छविः परुपवाग् धमनीततो वा श्वासातुरः र्कुशतद्भः स्फ्ररिताङ्गसन्धिः। आस्फोटयन् पटति गायति दृत्यशीलो विक्रोशित भ्रमति चाप्यनिलमकोपात्।१। तृट्सवेददाहवहुलो वहुभुग विनिद्रक्लायाहिमानिलजलान्नविहारसेवी। तींक्ष्णो हिमाम्बुनिचयेऽपि स विहिंशद्धी पित्ताव दिवा नभिस पश्यित तारकाश्च। २। छद्देशिसादसदना-रुचिकासयुक्तो योपिद्विविक्तरतिरुपमितिपचारः। निद्रापरोऽल्पकथनोऽल्प-भुगुष्णसेवी रात्रौ भृशं भवति चापि कफनकोपात् । ३। सर्व्वात्मके त्रिभिरपि व्यतिमिश्रितानि रूपाणि वातकफपित्तकृतानि विद्यात्। सम्प्रणेलक्षण-मसाध्यमुदाहरन्ति सन्वीत्मकं कचिदपि प्रवदन्ति साध्यम् । ४ । चौरैनेरेन्द्र-पुरुषेरिरिभिस्तथान्यैर्वित्रासितस्य धनवान्धवसंक्षयाद्वा। गाढ्ं क्षते मनसि च प्रियया रिंरसोर्जायेत चोतुकटतरो मनसो विकारः। ५। चित्रं ब्रवीति च मनोऽज्ञुगतं विसंबो गायत्यथो हसति रोदिति चापि मूहः। रक्तेक्षणो हतवलेन्द्रियभाः सुदीनः क्यावाननो विषक्तते च भवेद् विसंबः । ६ । इति ॥ ंगङ्गाधरः—अथ चिकित्सायाः सुत्राणप्राह—साध्यानान्त्रित्यादि । त्रयाणाम् इति वातजिप्तजक्रजानामुन्मादानाम् । भूमेति धूमपानम् । अवपीङ्मधमने हुं नस्तःकर्माविशेषौ पुनरुक्तौ विशेषेण प्रयोगशापनार्थम्, वधौ वधसूचन-त्रासनम् । अववोधनं ताङ्नादिकं सान्तनवचनादिकश्च, विस्मापनं विस्मय-जननिक्रया, विस्मारणं विस्मृतिकरिक्रया ॥ ९ ॥

^{*} अवरोधनमित्यन्यः पाठः ।

भवति चात्र।

उन्मादान् दोषजान् साध्यान् साधयेद् भिषग्रत्तमः ।

श्रनेन विधियुक्तेन कर्मणा यत् प्रकीर्त्तितम् ॥ इति ॥१०॥

यस्तु दोषिनिमित्तेभ्य उन्मादेभ्यः समुत्थानपूर्व्वरूपिलङ्गवेदनोपश्यविशेषसमन्वितो भवत्युन्मादः, तमागन्तुकमाच
चते । केचित् पुनः पूर्व्वक्वतं कर्माप्रशस्तमिच्छन्ति तस्य निमित्तं,

तत्र च हेतुः प्रज्ञापराध एवेति भगवान् पुनर्व्वसुरात्रेय उवाच ।

प्रज्ञापराध। द्वार्षे देविषिपितृगन्धर्व्वयच्राच्यसिष्शाचग्रुरुवृद्ध
सिद्धाचार्यपूज्यानवमस्याहितान्याचरित । श्रन्यद्वा किश्चित्

गङ्गाधरः—भवति चात्रेति। विधियुक्तेनानेन कम्मेणा उक्तस्नेहादिना कम्मेणा॥ १०॥

गङ्गाधरः—परिशिष्टमागन्तुमुन्मादं लक्षयित—तत्रागन्तून्मादस्य दोषो-न्मादेभ्यो विशेषं दर्शयित—यस्तित्यादि। दोपनिमित्तेभ्य इति दोपा व्यस्ताः समस्ता वा निमित्तानि येषां तेभ्यस्तथा दोपजेभ्य इत्यर्थः। वेदना यातना उपशय इति वेदनोपशयौ वेदनापदसान्निध्यात्। न सर्व्वथोप-शमन सर्व्वथापशमने। कस्य विज्ञानं विधेयं स्यादिति सर्व्वश्रैवापातत उप-शमनमेवोपशयकार्यमवलोक्य व्याधीन् परीक्षेतेति ख्यापितम्।

सम्रत्थानविशेषं दशेयति—केचिदित्यादि। प्रकापराध एवत्येव शब्देन पूर्विकृतापशस्तकम्मेमात्रस्य हेतुलव्यवच्छेदः। नतु किं पूर्विकृतम् अपशस्तं कम्मे नागन्तूनमादस्य हेतुरित्याशङ्कायामाह—प्रकापराधाद्ध्रयमित्यादि। अयमागन्तूनमादिलेन भावी देवादीन् अवमत्येत्यवन्नाय एवंविधमन्यद्पशस्तं कम्मे

चक्रवाणिः—अवरोधनं तमोगृहावरोधनादि ; विधियुक्तेनेत्युन्माद्विकित्सिते प्रपञ्चवस्यमाण-विधियुक्तेनेत्यर्थः ॥ ९।१० ॥

चक्रपाणिः किचित् पुनिरित्यादौ 'तस्य निमित्तम्' इति पदमावृत्य पूर्वेण परेण च योज-मीयम् ; तत्र प्रज्ञापराध एव तस्य निमित्तमिति ब्रुवता अप्रशस्त्रपातनकर्माजन्यत्वं न क्षिप्यते ;

समुत्थानपूर्व्वरूपिलङ्गविशेषसमिन्वत इति चक्रधतः पाठः ।

एवंविधं कम्माप्रशस्तमारभते । तमात्मनोपहतमुपद्मन्तो देवा-दयः कुटर्वन्खुन्मत्तम् ॥ ११ ॥

तत्र देवादिप्रकोपनिमित्तेनागन्तुकोन्मादेन पुरस्कृतस्य इमानि पूर्विरूपाणि भवन्ति । तद् यथा—देवगोत्राह्मण्-तपिस्तनां हिंसारुचित्वं कोपनत्वं नृशंसाभिप्रायतारितरोजो-वर्णेच्छायावलवपुषाञ्चोपतितः । खप्ने च देवादिभिरभिभर्त्सनं प्रवर्त्तनञ्चेत्यागन्तुनिमित्तस्योनमादस्य पूर्विरूपाणि भवन्ति । ततोऽनन्तरमुन्मादाभिनिवर्श्वाः ॥ १२ ॥

पुराणवेदादिपाठश्रवणादिकमवमत्यान्यद् वा कर्म्मारभते इति पूच्चक्रताप्रशस्त-कर्म्मणोऽपि निमित्तं प्रधापराधः, इत्यतः पूच्चेक्रताप्रशस्तकर्म्ममात्रमागन्तून्मादस्य कारणिमिति यत् तन्नासमग्रवचनादिति भावः । नन्नु देवादयोऽमी जन्मादयन्ति ते च हेतव इति तवाष्यसमग्रवचनित्यत आह—तमात्मनोपहतिमत्यादि । तं प्रधापराधात् पूर्व्वं कृताप्रशस्तकर्म्भणामात्मना कृतेन कर्म्मणा स्वेनीवोपहतं देवादय उपन्नत्त जन्मत्तं कुव्वेन्ति न तु पूर्व्वं प्रधासमयोगात् कृतप्रशस्त-कर्माणमकृताप्रशस्तकर्माणं वात्मनानुपहतं पुरुपमिति । तत्र देवादयोऽपि पूर्व्वकृताप्रशस्तकर्मीभः कृपिता हेतव इति भावः ॥ ११ ॥

गृहाधरः—तत्रेति। तथाविधागन्तृन्मादाभिनिन्वंत्तेने पुरस्कृतस्य जन्मनः भाक्कालिकस्येमानि रूपणि अर्थात् आगन्तुन्मादस्येमानि पूर्विरूपणि भवन्तीत्यथः। इमानि कानीत्यत आह—तद् यथेत्यादि। देवादिहिंसायां रुचित्रमभिलापिता पीतिरिति यावत्, कोपनतं क्रोधनत्वम्, नृशंसायां सतां निन्दनेऽभिमायो यस्य तस्य भावस्तथा, अरितरनवस्थिचत्तता, ओजो वल्रहेतुर्धातुरेपामुपतिप्तरुपतापः। देवादिभिर्भर्त्सनं देवादिकत्तृकं निन्दनं स्वप्ने स्वप्ने यस्य। प्रभत्सनश्च स्वस्मिन् देवादिकत्तृकं स्वप्ने स्वप्ने त्वादेकत्तृकं स्वपने स्वपने स्वपने त्वादिकत्तृकं समेव

यतः, प्राक्तनमृति हि कर्म्म प्रज्ञापराधजमेव ; किंवा तस्य निमित्तं प्रज्ञापराध एवेत्यनेन, तस्येति अप्रयस्त्रकर्माणः प्रज्ञापराध एव कारणमिति दृश्येते ; तेन कर्मजस्य प्रज्ञापराधान्तर्निविद्यत्वम् उच्यते । आत्मना हृतमित्यात्मना कृतेनाशुभकर्मणा हृतम् ; उपनन्त इत्यावेशं कुर्वन्तः ॥ ११ ॥ चक्रपाणिः—पुरस्कृतस्येति अभिश्रपनीयतया व्यवस्थापितस्य । नृशंसाभिप्रायता पराप-

तत्रायमुन्मादकराणां भूतानामुन्मादियव्यतामारम्भविशेषो भवति, तद् यथा—अवलोकयन्तो देवा जनयन्खन्मादं, ग्रुहिद्धसिद्धमहर्षयोऽभिश्यवन्तः, पितरस्तु धर्षयन्तः ; स्पृशन्तो गन्धर्वाः, प्रतिशन्तो यचाः, राच्सास्त्रात्मगन्धम् * आधा-पयन्तः, पिशाचाः पुनराहह्य वाहयन्तः ॥ १३ ॥

तस्येमानि रूपाणि भवन्ति। तद् यथा—श्रमर्त्यः + - वल-वीर्य्य-पौरुष-पराक्रम-ग्रहण-धारण-स्मरणवचनज्ञान-विज्ञानानि श्रनियतश्चोन्मादकालः॥ १४॥

गङ्गाधरः—तत्रायमित्यादि। तत्रागन्त्नमादाभिनिन्वत्तने उन्मादकराणां देवा-दीनां भूतानां तं पुरुपप्रन्माद्यिष्यताम् उन्मत्तं करिष्यताम्नन्मकरणेऽयमारम्भ-विशेष उन्माद्जनकन्यापारस्य विशेषः देवादिविशेषे न्यापारिवशेषो न तु न्यापारसामान्यमस्ति। अयं को न्यापारिवशेष इत्यत आह—तद् यथेत्यादि। अवलोकयन्त इत्यादि। देवानां नरोन्मादकरणे नरं प्रत्यवलोकनम्। उन्मादं जनयन्तीत्यस्य परत्र सम्बेत्रान्वयः। गुरुष्टद्धसिद्धपीणामभिशापः, पितृणां धर्षणं, गन्धन्वाणां स्पर्शनं, यक्षाणां शरीरे समावेशः, राक्षसानामात्मगन्धव्रापणं, पिशाचानामारोहणपूर्वकवाहनम् उन्मादकरणे न्यापारिवशेषः॥ १३॥

गृङ्गाधरः—तस्यागन्तून्मादस्य रूपाणि सामान्यतो रूपाणि। इमानि कानी-त्यत आह—तद् यथेति। अमत्त्रेत्यादि। अमत्त्र्यानां मनुष्यभिन्नानां देवादीनां वलवीय्योदिवद् वलवीय्योदिकम्, अनियतश्चोन्मादकालः कदाचित् प्रातः कदाचित् सायं कदाचिन्मध्याह एवमन्यत्र जन्मत्तताधिक्यमित्यर्थः। इत्येतानि सामान्यरूपाणि भूतोन्मादानां, विशेषरूपाणि देवादिजानि चिकित्सिते वक्ष्यन्ते। सुश्रुतेऽप्युक्तं—गुह्यानागतिव्ह्यानमनवस्थासहिष्णुता। क्रिया वाऽमान्नुषी यस्मिन् स ग्रहः परिकीत्त्रेते॥ इति॥ १४॥

काररुचित्वम् । भनोजा इत्योजःकार्य्ययलादिरहितः ; अवर्त्तनं प्रेरणम्, दशंयन्त इत्यन्नात्मानम् इति शेषः । 'भत्यात्म'शब्दो यलादिभिः प्रत्येकमभिसम्बध्यते ; आत्मानमिति चैति अत्यात्मानेमति येति अत्यात्मानेमति योति अत्यात्मानेमति योति अत्यात्मानेमति योति अत्यात्मानेमति योति अत्यात्मानेमति । १२—१४॥

^{*} आत्मगन्धमित्यत्र आमगन्धमिति वा पाठः । । अमन्येत्यत्र अत्यात्मेति चक्रपाणिः ।

उन्माद्यिष्यतामिष तु खलु देविषिपितृगन्धर्वयत्तरात्त्तरात्ति । प्रश्वास्य कर्मणः समारम्भे, पूर्वकृतस्य कर्मणः परिणामकाले, एकस्य वा शून्यगृहिनवासे, चतु-प्रथाधिष्ठाने, सन्ध्यावेलायाम, अप्रयतभावे वा पर्वसन्धिषु वा मिथुनीभावे, रजस्वलाभिगगने वा, विग्रणे वाध्ययनविलमङ्गलहोमप्रयोगे, नियमवतब्रह्मचर्यभङ्गे वा, महाहवे वा, देशकुलपुरविनाशे वा, महाग्रहोपगमने वा, स्त्रया वा प्रजननकाले, विविधभृताशुभाशुचिसंस्पर्शने वा, वमनविरेचनरुधिरस्रावे वा, अशुचरप्रयतस्य वा, चैत्यदेवतायतनाभिगमने वा, मांसमधुतिलग्रहमद्योच्छिष्टे वा, दिग्वासिस वा, निश्चि

गृहायरः—ननु देवादिषु कः किसान् किसान् काले पुरुपमभिगच्छतीत्यत आह—उन्मादियण्यतामित्यादि। एप्वन्तरेषु अभ्यन्तरसमयेषु।
तद् यथेत्यादि। पापस्येत्यादि। एकस्य एकािकपुरुपस्य शृन्यगृहे
पलाियतगृहे निवासकाले, अमयतभावे असंयतभावे, पर्व्वसन्धिषु पञ्चपर्व्वणां पौणेमास्यादीनां सन्धिसमयेषुः अध्ययनादीनां प्रयोगे विगुणे
वैपम्येणाचरणे, नियमः सत्कम्मेषु नियमः, माजापत्यादि वतं, व्रह्मचय्यमुपस्यसंयमः महाहवे महायुद्धे महाग्रहोपगमने, दीर्घकालमेकरािशिस्थितिशीलो
ग्रहो दृहस्पत्यादिस्तस्य राज्ञ्यन्तरगमने, मजननकाले मसवकाले, विविधानां
भूतानां श्वश्वगालादीनाम्, अशुभानां गोधूल्यादीनाम्, अशुचीनां भस्मकेशास्थ्यादीनां संस्पर्शने, रुधिरस्रावः सिराव्यधादिना क्षताद्वान्यस्माव् वा निमित्तात्।
अशुचेः पुरुपस्य अमयतस्यासंयतस्य पुरुषस्य वा चैत्ये ग्राम्यदेवायतनप्रधानदृक्षे
देवायतने तद्गृहस्थभवनस्थदेवालये मांसाद्वग्रच्छर्टं मांसादिभक्षणानन्तरम्

चक्रपाणिः-पर्वसन्धिरमावस्या पौर्णमासी च। दिग्वाससीति नग्ने। 'निशि' इत्यादौ

^{*} गुरुबृद्धसिद्धानामिति पाठो न दश्यते केपुचित् पुस्तकेषु ।

नगरनिगमचतुष्पथोपवनरमशानायतन।भिगमने वा, द्विज-गुरुसुरपूज्याभिधर्षणे वा, धर्माख्यानव्यतिक्रमे वा, अन्यस्य वा कर्मणोऽप्रशस्तस्यारम्भे । इति अभिघातकाला व्याख्याता भवन्ति ॥ १५॥

त्रिविधन्तु खलून्मादकराणां भूतानामुन्मादने प्रयोजनं भवति। तद यथा—हिंसा रितरभ्यच्चनञ्चेति। तेषां तं प्रयोजनिवशेषमुन्मत्ताचारिवशेषलच्याविद्यात्। तत्र हिंसार्थ-मुन्मायमानोऽग्निं प्रविश्रत्यसमु वा मज्जित स्थलात् श्वस्त्रे वा पतित, श्रस्त्रकषाकाष्ठलोष्ट्रमृष्टिभिः हन्त्यात्मानम् अन्यच्य प्राणवधार्थमारभने किश्चित्, तमसाध्यं विद्यात्। साध्यौ पुनर्द्वावितरौ। तयोः साधनानि मन्त्रौषधिमणिमङ्गलबलुग्पहार-होम-नियमवतप्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्रयनप्रणिपातगमनादीनि। इत्येवमेते पञ्चोन्माद्। व्याख्याता भवन्ति॥ १६॥

अनाचमने, दिग्वासिस दिगम्बरमावे। निशि चतुष्पथोपगमनस्य विशेषेणाभि-घातकाललं वोध्यं पुनरुक्तलात्। अभिघातकाल इति देवादीनामुन्मादकरण-कालः॥ १५॥

गङ्गाधरः—नतु देवादयः किमधेम्रन्मादयन्ति इत्यत आह—त्रिविधन्तु इत्यादि । रतिविहारः । स्रुश्रतेऽप्युक्तम्—अशुचिं भिन्नमर्यादं क्षतं वा यदि वाक्षतम् । हिंस्प्रहिंसाविहाराथं सत्काराथंमथापि च ॥ इति । नतु हिंसाद्यथं-ग्रहणं देवादीनां कुतो ज्ञायत इत्यत आह—तत्रेत्यादि । तत्र त्रिविधमयोजनेषु । तमसाध्यमिति हिंसार्थं ग्रहणमसाध्यम् । इतरौ विषय्यंयलक्षणौ ॥ १६ ॥

पुनश्रतुष्पथवचनं, निश्चि पुनश्रतुष्पथगमनप्रदर्शनार्थम् । एकस्थेत्यादौ तु दिवाप्येकस्य चतुष्पथ-गमनं ब्रुवते । धरमो व्यानव्यतिक्रम इत्यविधिना धरमेप्रकाशने ॥ १५ ॥

चक्रपाणिः—रतिः क्रीड़ा ; अभ्यर्चनं पूजा ; उन्मादाचारविशेषलक्षणैर्विद्यादिति उन्मत्तस्य आचारविशेषरूपैर्लक्षणैः हिंसार्थिनोन्मादितं विद्यात्, तत्र हिंसार्थिनोन्मादितो हिंसानुगुणमिन-प्रवेशाद्याचरित । रत्यर्थिना चोन्मादितः क्रीड़ार्थं प्रचरित । पूजार्थिना गृहीतो पूजां चेरदते ; ते तु खलु निजागंन्तुविशेषेगा साध्यासाध्यविशेषेगा च विभज्यसानाः पश्च सन्तो द्वावेव भवतः । तौ च परस्परमनु-वध्नीतः कदाचिद् यथोक्तहेतुसंसर्गात् । तयोः संस्ट्रप्रमेव पूर्विरूपं भवति संस्ट्रमेव लिङ्गश्च । तत्रासाध्यसंयोगं साध्या-साध्यसंयोगं वा श्रसाध्यं विद्यात्, साध्यन्तु साध्यसंयोगम् । तस्य साधनं साधनसंयोगमेव विद्यादिति ॥ १७॥

गङ्गाधरः-पश्चविधोनमादानां भेदान्तरमाह-ते लित्यादि । तें वातादि-भेदेन पश्च सन्तोऽपि निजागन्तुभेदेन द्वौ भवतः। साध्यासाध्यभेदेन च द्वौ भवतः। तौ निजागन्त् साध्यासाध्यौ चोन्मादौ परस्परमञ्जवश्लीतः। निजम् आगन्तुरनुवधाति आगन्तुश्च निजोऽनुवधाति । तत्र साध्यासाध्यौ च परस्परम् अनुवन्नीत इति साध्योऽसाध्यमनुवन्नाति असाध्यः साध्यमनुवन्नाति असाध्यश्वासाध्यं साध्यश्व साध्यमिति तात्पय्यंम्। नजु निजागन्तोः परस्पराजु-वन्यः कैर्षोयते इत्यत आह—तयोरित्यादि। तयोर्निजागन्त्वोः साध्या-साध्ययोश्व। इति संसृष्टैः पूर्विक्षैष्ठिहैश्व निजागन्तुसंसञ्जेनं तयोश्व साध्याः साध्यसंसज्जेनं क्षेयमित्यथेः। एतेन निदानसंसर्गात् संस्पृ एव निजागन्तु-न्मादो भवतीति म्चितम्। असंस्पृपनिदानादसंस्पृतया तु जातो निजो चागन्तुर्वाभिषष्टद्धो यदि स्यात् तदा तु मिथोऽनुवन्धितं पूर्व्वमेव न्याख्यातं, सर्वें व्याधिन्याख्याने आगन्तुरन्वेति निजं विकारं निजस्तथागन्तुमति प्रदृद्धः इति वचनेन । नसु साध्यासाध्यसंसगे साध्यमसाध्यं वा कृष्छुं वा कथं विजा-नीम इत्यत आह—तत्रेत्यादि । असाध्ययोद्दे योनिजागन्तोः परस्परं संयोग-मसाध्यं विद्यात् । साध्यस्य निजस्यासाध्येनागन्तुना संयोगं साध्यस्यागन्तोः इह च देवादिवचनेन देवायनुचरा देवादिसधरमाणो आहाः , देवादयस्त न मानुपानाविशन्ति ; डक्तं हि सुश्रुते—"न ते मनुष्येः सह संविशन्ति न वा मनुष्यान् कचिदाविशन्ति । वे त्वाविशन्तीति वदन्ति मोहात् ते भूतविद्याविषयादपोद्याः॥" इत्यादि । हिंसार्थिगृहीतस्य असाध्यत्वेन तद्विज्ञानार्थं सामान्योक्तान्यपि लक्षणानि श्रङ्गग्राहिकतया ग्रुवते ।

चक्रपाणिः—ताविति तो निजागन्तः , परस्परमनुवश्नीतः कदाचिदिति न सर्वदा । यथोकः हेतुसंसर्गादिति निजागन्तुहेतुमेलकात् । तश्नोति निजागन्तुसंसर्गे ; असाध्यसंयोगमिति यदा

'गमनम्' देवतीर्थोदिगमनम् ॥ १६ ॥

भवन्ति चात्र।

नैव देवा न गन्धवर्वा न पिशाचा न राच्ताः। न चान्ये स्वयमुत्किलष्टमुपिक्लश्यन्ति मानवम्॥ ये त्वेनमनुवर्त्तन्ते क्लिश्यमानं स्वकर्मणा। न तिव्विमित्तः क्लेशोऽसो न ह्यस्ति क्रतकृत्यता॥ प्रज्ञापराधात् सम्भूते व्याधौ कर्म्मज आत्मनः। नाभिश्ंसेद् बुधो देवान् न पितृन् नापि राच्तान्॥

असाध्येन निजेन संयोगं वा असाध्यं विद्यात्। इति वाशव्दव्यवस्था। साध्ययोः निजागन्तोर्मिथः संयोगन्तु साध्यं विद्यादिति। तस्य निजागन्तु-संसगस्य साधनसंयोगं निजस्य साधनानां स्नेहस्वेदादीनामागन्तोः साधनै-मंज्ञौषधिमण्यादिभिः सह संयोगम्।। १७।।

गृङ्गाधरः—ननु देवादयः कि पुरुपमुन्मादयन्ति तेपामनिष्टमकुर्वन्तमनिष्ट-करं हि हिंस्यादित्याशङ्कायामाह—भवन्तीत्यादि। नवेत्यादि। देवादयो न मानवमुपक्टिश्यन्ति क्लेशयन्ति । यतस्तु मानवं स्वयं महापराधात् पूर्विकृता-मशस्तकम्मणा स्वतः क्रिष्टं। ननु तत् कथमुन्मादयन्तीत्यत आह—ये लेनिमिति। ये तु देवादयः स्वकम्मणा क्रिश्यमानमेनं पुरुपमनुवर्त्तन्ते तस्य पुरुपस्यासौ क्लेशो न तन्निमित्तस्तत्तदेवादिनिमित्तो न होयः। ननु देवादय एव जन्मादयन्ति इति दश्यते तत्ति हिङ्गदर्शनात् कथं तत्तदेवादिनिमित्तो नासौ क्लेश इत्यत आह—न ह्यस्तीत्यादि। आत्मनः महापराधात् कृतकम्मजे व्याधौ

विदोपजोन्मादे हिंसार्थिना देवादिनानुबन्धो भवति, तदा असाध्यसंयोगो भवति; असाध्यस्यायस्योगास्तु एकदोपोन्मादे हिंसार्थिनोन्मादयोगात् तथा हिंसार्थिनोन्मादे हि दोपोन्मादानु-बन्धाच्चेत्यादिश्चेयः; साध्यसंयोगस्य साध्यरूपतयेव साध्यतायां सिद्धायां पुनः 'साध्यम्' इति वचनं साध्यरूपविकारान्तरसम्बन्धे विकारभूयस्वेनासाध्यशङ्काप्रतिपेधार्थम्; साधन-संयोगमेवेति निजागन्तुसाधनमेलकमित्यर्थः॥ १७॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति देवाद्यन्मादहेतुपरिग्रहार्थं देवेष्विप क्रुतमेव कर्म कारणं दर्शयित— मैंबेत्यादि । 'अनुवर्त्तन्ते' इतिवचनात् दृष्कृतकर्माप्र रिता एव देवादयोऽश्चमकर्माणमिनि निविद्यन्तीति दर्शयित ; यदि हि एवमेव देवादयः कर्मानिरपेक्षा छन्मत्तं कुर्युः, तदा सर्ध्वानेव कुर्युरिति भावः ; स तद्वेतुकः क्रेश इति नासौ देवादिकृत जन्माद इत्यर्थः । अध कर्थ श्रात्मानमेव मन्येत कर्तारं सुखदुःखयोः । तस्माच्ह्रे यस्करं मार्गं प्रतिपद्येत नोत्त्रसेत् छ ॥ देवादीनामुपचितिर्हितानाञ्चोपसेवनम् । ते च तेभ्यो विरोधाश्च सर्व्वमायत्तमात्मनि ॥ १८॥

सम्भूते सित स्वकृतकर्मणा कृतस्य तस्य क्छेशस्य परेण कृत्यता कर्त्तं यता यतो नास्ति, तस्मात् तन्निमित्तो नासौ क्छेशः। नन्वस्तेप्रवं, देवादयश्च निन्दाहा भवन्ति, इति चेदुच्यते नाभीत्यादि। व्रधस्तत्वहा देवादीन् सकृता-भशस्तकरमणा उन्मादाय प्रष्टत्तान् नाभिशंसेत् न निन्देत्। यतो व्रधः सुख्दुःख्योः कर्त्तारमात्मानमेव मन्येत न त्यरमिति, तस्मादात्मन एव सुखदुःख-कर्त्तृत्वात् श्रेयस्करं शुभकरं मागं वृधः प्रतिपद्येत नोत्वत्रसेत् नोछङ्गयेत्। नसु कृतो नोत्वत्रसेदित्यत आह—देवादीनामित्यादि। उपचित्तिः प्रीणनं, तेभ्यश्च देवादिभ्यश्च ते विरोधा उपचितिवरोधहितसेवनिवरोधा एवमन्यच सर्व्यम् आत्मिन आयत्तमधीनं चिकीप इचेद्रवित कर्त्तु श्चालं भवति न चेन्नभवति। १८।।

देवाचावेदाजिततोऽप्ययं न देवादिकृत इत्याह—न हास्ति कृतकृत्यतेति ; न यस्माद्शुभकर्मणा कृते उन्मादे पुनर्देवादिकृत्यत्वमस्ति, न हि कृतं पुनः कियते, देवाद्यश्च कर्मपराधीना एवेति भावः। किंवा 'न हास्य कृतकृत्यता' इति पाठः, तत्र कृतेनेव प्राक्तनकर्मणा उन्मादितो न कृत्यः करणीयः पुरुषो भवित ; अन्यथा, सर्व्यथा सर्व्यथा सर्व्यपोमेवाविद्योपेण देवाद्वन्मादः स्यात् ; तस्यैव उन्मादः स्यात्, येनैवोन्माद्फलजनकं कर्म कृतम्, स एव देवादिभिः कर्मपराधीनेरिभगग्यते। अनेनाभिप्रायेणाह—न हास्य कृतकृत्यता इति ; अकृतपापकर्मणो न देवादिभगमनीयतास्तित्यर्थः। यहमाद् देवाद्योऽत्र पराधीनास्तरमाद् देवाद्यो नोपलभ्याः। न च देवादिभ्यो भेतव्या इत्याह—प्रमापराधादित्यादि । नाभिद्यसेदिति नोपलभेत । आत्मानमित्यादी आत्मैव शुभाशुभकर्मा-करणात् सुखदःखयोर्यथासंख्यं कारणं भवतीति वाक्यार्थः ; नो त्रसेदिति देवादिभ्यः, एवमेवामी शुभकर्माणमपि गृहन्तीति कृत्वा नो त्रसेत् । अपिवितिः पूजा ; ते चेत्यादो ते चेति देवापितिः हितोपसेवनच्च ; तेभ्यो विरोधद्येति तेभ्यो देवादिभ्यो विरोधो यथा भवति

^{*} नो त्रसेदित्यपि पाठः ।

तत्र श्लोकः।

सङ्ख्या निमित्तं प्रायपं लच्यां साध्यता न च। उन्मादानां निदानेऽस्मिन् क्रियासूत्रञ्च भाषितम् ॥ १८ ॥

इत्यिभिवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते निदानस्थाने । उन्मादिनदानं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थमुपसंहरति—तत्र श्लोक इति। सङ्घोत्यादि। चकाराद् असाध्यं मिथोऽनुवन्धश्च। जन्मादानामिति निजानामागन्तोश्च। अस्मिन् जन्मादनिदानेऽध्याये॥ १९॥

अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि ।

इति श्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजलपकलपतरौ द्वितीयस्कन्धे । निदानस्थानजलपे जन्मादिनदानजलपाख्या सप्तमी शाखा ॥ ७ ॥

अंशुभक्रम्भभ्यः, तत्सर्विमात्मन्यायत्तम् ; एतेन, आत्माधीनमेचेद्मुन्माद्कारणस्य परिवर्जने परिपेवणञ्च दर्शयति ॥ १८।१९ ॥

इति चरकचतुरानन-श्रीमचकपाणिद्त्तिवरचितायाम् आयुर्वेददीपिकायां निदानस्थानस्य

अप्रमोऽध्यायः।

अथातोऽपस्मारनिदानं व्याख्यास्यामः, इतिह स्माह भगवानात्रेयः॥ १॥

इह खलु चत्वारोऽपस्मारा भवन्ति वातिपत्तकफ-सन्निपतिनिमित्ताः। त एवंविधानां प्राग्णभृतां चिप्रमिन-निद्यर्त्तन्ते; सद् यथा—रजस्तमोभ्यामुपहतचेतसाम्, उद्भान्त-विपमवहुदोपाणां, समलविकृतोपहितान्यशुचीन्यभ्यवहार-जातानि वैषम्ययुक्तेनोपयोगिविधिनोपयुक्षानानां, तन्त्रप्रयोगमिप च विपममाचरतामन्याश्च श्ररीरचेष्ठा विषमाः समाचरतामत्युप-चीणदेहानां वा दोषाः प्रकृपिता रजस्तमोभ्यामुपहतचेतसाम् अन्तरात्मनः श्रेष्ठतममायतनं हृदयमुपसंग्रह्योपरि तिष्ठन्ते,

्रिः <u>गङ्गाधरः</u>—अथ मानसविकारत्नसाधम्म्यद्विकविधकारणत्नाचोन्मादानन्तरम् .अपस्मारनिदानमाह—अथात इत्यादि ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—इहेत्यादि । चलार इति संख्यानिदेशः । तद्विवरणं वातेत्यादि । त इति चलारोऽपस्माराः । किंविधानामित्यत आह—तद् यथेति । रजस्तमो-भ्यामुपहतं शीणीभूतं सत्त्वं यत्र तादृशं चेतो येपां तेपां तथा । रजश्च तमश्च द्रौ मानसदोपौ । उद्भान्ता उद्धता हृद्यादृष्टं भ्रमणशीला विपमा दृद्धा वहवो-ऽधिकमानेन सिश्चता दोपाः शारीरदोपा वातादयः येपां तेपां तथा । समलेत्यादि पूर्विवद् व्याख्येयम् ; दोपा वातादयः ; रजस्तमोभ्यामुपहतं चेतः शीणसत्त्वं मनो येपां तेपां तथा । अन्तरात्मनः आभ्यन्तरेन्द्रियस्य मनसः श्रेष्टतममन्य- चक्कपाणः—उन्मादानन्तरं प्रागुःपत्तो अपस्मारोध्याद्वादपस्मारनिद्वानमुत्र्यते । चत्वार हित वचनमागन्तुसम्बन्धेऽप्यपस्माराणां चतुष्टयत्वप्रतिपादनार्थम् ; अपस्मारो हि नोन्माद्वत् स्वतन्त्रेणागन्तुना क्रियते । उद्भान्तविषमबहुदोपाणामित्यत्रोद्भान्तत्वेनोन्मादित्वम् , विपमत्वेन कदाचिदपस्मारवेगभर्चां द्वं दश्यते ; समलेत्यादि उन्माद्व्याख्यानतुत्वम् ; अत्युपक्षीण-वेद्यानं वेति अत्युपक्षीणवेद्दत्वादित्वर्थः ; उन्मादनिदानेऽपि समलविक्वतादिग्रन्थे 'अत्युपक्षीण-वेद्यानं वेति अत्युपक्षीणवेद्दत्वादिरवर्थः ; उन्मादनिदानेऽपि समलविक्वतादिग्रन्थे 'अत्युपक्षीण-

तथेन्द्रियायतनानि । तत्र तत्र चावस्थिताः सन्तो यदा हृदय-मिन्द्रियायतनानि चेरिताः कामक्रोधलोभमोहह्वभयशोक-चिन्तोद्वेगादिसिः भूयः सहसाभिषूरयन्ति तदा जन्तुः अपस्मरति॥ २॥

अपस्मारं पुनः स्पृतिबुद्धिसत्त्वसंप्नवाद् बीभरसचेष्टमार्व-स्थिकं तमःप्रवेशमाचचते ॥ ३ ॥

स्थानापेक्षयातिश्येन श्रेष्ठतमाधिष्ठानस्नात्। तथेन्द्रियायतनानि श्रोत्रादीनां स्थानानि चोपगृह्य उपिर तिष्ठन्ते, तत्र तत्र मनःस्थाने हृद्ये श्रोत्रादिस्थाने च कर्णादौ अवस्थिताः सन्तो वातादयः भूयः पुनरिप कामादिभिरीरिता यदा हृदयम् इन्द्रियायतनानि च कर्णादीनि सहसा पूरयन्ति, तदा प्राणी अपस्मरित । रजस्तमोभ्याम्रपहतसत्त्वमात्रे पुरुषो नापस्मरित पुनर्वातादिद्षितत्वेऽपस्मर्-तीति मानसोऽपि शारीरः॥ २॥

नन्वपस्मरणं किं वाविद्तयत आह—अपस्मारिमत्यादि। स्मृतिबुद्धिसत्त्वसंप्छवात् दोपजन्यस्मृतिबुद्धिमनःसमाद्यतिजन्यां, वीभत्सा नेत्रमुखादिबैक्ठतफेनोद्दमनादिरूपा चेष्टा यत्र तं, तथा आवस्थिकं न सान्वंकाछिकं
तमःभवेशमन्धकारे मशोऽहमिति स्वस्थस्यामावस्यारात्रप्रादिषु यस्तमःभवेशो
जातान्धस्य वा यस्तस्य वारणायावस्थिकपदं, मूर्च्छोबतामन्धकारभवेशस्य
वारणाय वीभत्सचेष्टपदं, कस्यचिन्निद्वितस्य निद्रावस्थायां वीभत्सचेष्टा
हि दृश्यते तस्य निद्रावस्थिकतमःभवेशवारणाय स्मृत्यादिसंप्छवपदम्। अत्र
सत्त्वं मनः स्मृत्यादित्रयप्छवनं स्वरूपछक्षणम्। तमःभवेशपदेन उन्मादस्य
व्यवच्छेदः उन्मादश्योक्तः मनोबुद्धप्रादिविश्वमः। सुश्रुतेऽपि स्मृतिभूतार्थं
विज्ञानमपस्तत्परिवज्जेने। अपस्मार इति भोक्तस्ततोऽयं व्याधिरन्तकृत्।।
इति। नन्नन्मादे भक्तिशीछाचारचेष्टाविश्वमोऽप्यधिकोऽित तेम तद्द्रग्रहिनः

देहानाम्' इत्युक्तम् ; श्रोष्ठतमायतनिमिति, अन्योऽिष शरीरदेशोऽन्तरात्मनः स्थानम्, हृदयन्तुः श्रोष्ठतमम्, तत्रैव चेतना ; विशेषेण प्रयन्ति यदा, तदा अपस्मरित अपस्मारवेगयुक्तो भवतीित वाक्यार्थः॥ १—२॥

चक्रपाणिः—अपस्मारप्रत्यात्मलक्षणमाह—अपस्मारं पुनिरत्यादि। संष्ठवादिति विकृति-गमनात् ; बीभासा पेनवरानाङ्गभङ्गादिरूपा चेच्टा यस्मिन्, तद बीभत्सचेच्टम् ; आवस्थिकं तस्येमानि पूर्विक्षपाणि भवन्ति । तद् यथा—भ्रूट्युदासः सततमच्णोवैक्वतमश्रःदश्रवणं लालासिंघाणकस्रवणम्, श्रनन्नाभिलवणमरोचकाविषाकौ हृदयप्रहः कुचेराटोपो द्रौर्व्वल्यमङ्गमद्दों मोहस्तमसो दर्शनम् मूर्च्छा भ्रमश्राभीच्णां स्वप्ने च मद्रनर्त्तनद्यधनद्यथनवेषनपतनाद्गीनि, इस्यपस्मार-पूर्विकंषाणि भवन्ति ॥ ४॥

ततोऽनन्तरमपस्माराभिनिव्वृ त्तिरेव । तत्रेदमपस्मारविशेष-विज्ञानं भवति । तद् यथा—अभी च्यामपस्मरन्तं च्यो च्यो संज्ञां प्रतिलभमानसुत्पिणिडताच्मसाम्ना विलपन्तमुद्दमन्तं फेनम्

भवति इति चेन्न, भक्तिशीलचेष्टाचारविभ्रमस्य वीभत्सचेष्टान्तर्गतत्वेन लाभात् ॥ ३॥

गङ्गाथरः—सम्माप्तिष्ठत्तवा पूर्व्वक्षपाण्याह—तस्येमानीत्यादि । तद् यथेति । भ्रूच्युदासः भ्रूभङ्गः । अक्ष्णोः सततं वैकृतं कुटिलता । अशब्दश्रवणं शब्दा-भावेऽपि शब्दस्येव श्रवणम् । कुक्षेराटोपो गुड्गुड्गशब्दस्तनतिश्च । मोहो मन्इित्यमोहः । तमोदशेनमकस्माद्न्धकारदर्शनं न च पतनम् । मूर्च्छो इन्द्रियमोहः । भ्रमश्रकस्थितस्येव गात्रभ्रमणं ग्रहादिभ्रमणश्च । मदो मत्तता पूगकोद्रवादिभक्षणेन यथा स्यात् तथा । स्वप्ने च मदादीनि ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—ततोऽनन्तरमिति । ततोऽनन्तरं पूर्व्वरूपानन्तरम् । तत्रा-पस्माराभिनिन्द्यं से सत्याम् । इदं किमत आह—तद् यथेत्यादि । अभीक्षणं वारंवारमपस्मरन्तं समृत्यादिसंष्ठवात् भूमिपतनपूर्वेकवीभत्स-चेष्टावस्थिकतमः प्रवेशवन्तम्, संज्ञां चैतन्यं क्षणे क्षणे प्रतिलभमानम् अथात् क्षणे क्षणे च संज्ञाहीनम्, उत्पिण्डताक्षम् ऊद्धीभृतपिण्डाकाराक्षम्, असाम्ना

त्यमःप्रवेशमिति कादाधित्कं तमःप्रवेशम् ; तमःप्रवेश इति तमःप्रवेशोऽज्ञानसाधग्ग्यात् ; अपस्मारवेगवान् हि तमःप्रवेश इव न किञ्चिद् वुध्यते । अशब्दश्रवणमिति शब्दविशेपो घात-जन्यः श्रूयत इत्यर्थः ॥ ३।४ ॥

चक्रपाणिः तत्रेदिमित्यादि । विशेपविज्ञानं वाताद्यपस्मारिङक्षमित्यर्थः ; क्षणेन संज्ञां

श्रति श्राखात-*-योवमाविद्धशिरस्कं विषमविनत।ङ्गलिमनव-स्थितसक्थिपाणिपादम् श्ररुणपरुषश्यावनखनयनवदनत्वचम् श्रनवस्थितचपलपरुषरूपदर्शिनं वातलानुपश्यं विपरीतोपश्यं वातेनापस्मारितं विद्यात् ॥ ५ ॥

अभी च्यासपस्मरन्तं च्यो च्यो संज्ञां प्रतिलभमानमव-कूजन्तम् आस्फालयन्तं सूमिम्, हरितहारिद्रताष्ट्रनखनयन-वदनत्वचं रुधिरोचितोप्रसैरवप्रदीहरुषितरूपदर्शिनं पित्तलानुप-श्यं विपरीतोषश्यश्च पित्तेनापस्मारितं विद्यात् ॥ ६ ॥

चिराद्यस्मरन्तं चिराच्च संज्ञां प्रतिलभमानं पतन्तम् अनितिविकृतचेष्टं लालामुद्रमन्तं शुक्लनखनयनयदनस्वचं विल्पन्तमपीत्या रुद्न्तम् अति चाखातग्रीविमिति ग्रावाभङ्गण खननिमव ग्रीवायाः, आविद्धिशरस्कं स्च्यादिभिरिव, विपमविनता वैपम्ये नम्रा अङ्गलयो यस्य तं तथा। अनवस्थितमवस्थातुमशक्यं सिव्धिपाणिपादं यस्य तं तथा। अनवस्थितं चपलं विद्युदिव परुपश्च रूपं मृत्तिर्यस्य सन्दर्शिनम् अपस्मारकाले वातल्वैवीतवद्धनैभिवैरनुपश्यो यस्य तं तथा। विपरीतं वात- हरणैरुपश्यो यस्य तं तथा। अपस्मारितिमत्यपस्मारेः कम्भीण क्तः॥ ५॥

गङ्गाधरः—अभीक्ष्णमित्यादि । रुधिरोक्षितं शोणितोपसिक्तगात्रश्चोग्रश्च कुद्धश्च भैरवं भयजनकश्च दीप्तं ज्वलितं रुपितं गृदकुद्धश्च द्रष्टुं शीलं यस्य तं तथा ॥ ६ ॥

प्रतिलभमानमिति वातापस्मारे शीव्रं प्रवोधो भवतीति द्शंयति ; आध्मातश्रीविमिति प्रित-स्तव्धश्रीवम् ; आविद्धशिरस्कमिति वकशिरस्कम् ; अनवस्थितचपलरूपदर्शनञ्च पतनकाले ज्ञेयम् ; पतितस्तु न बुध्यत एव ; एवमन्यत्रापि रूपदर्शनं ज्ञेयम् ; सुश्रुतेऽपि पतनकाल एव रूपदर्शनमुक्तम्, यथा—"यो ब्रूयात् विकृतं सत्वं कृष्णं मामनुधावति । ततो मे चित्तनाशः स्यात् सोऽपस्मारोऽनिलात्मकः" ॥ इत्यादि ॥ ५॥

चक्रपाणिः—पित्तापस्मारे यद्यपि विशेषलक्षणे क्षणेन संज्ञां प्रतिलभमानमित्युक्तम्, तथापि वातापेक्षया कालप्रकर्षोऽत्र ज्ञेयः, पित्तादपि हि वायुः शीघकारी भवति । उग्रं हिंसकमिव ;

^{🏸 💌} आखातेत्यत्र आध्मातेति चक्रः पठित ।

शुक्लगुरुस्निग्धरूपसन्दर्शिनं क रलेप्मलानुपश्यं विपरीतोप-शयश्च रलेप्मगापस्म।रितं विद्यात् ॥ ७॥

समवेतसर्व्विङ्गमपस्मारं सान्निपातिकं विद्यात्, तम् असाध्यम् आचन्ते । इति चत्वारोऽपस्मारा व्याख्याताः ॥८॥ तेपामागन्तुरनुवन्धो भवत्येव कदाचित्, स उत्तरकालम्

गङ्गाधरः —चिरादित्यादि । पतन्तं अवि पतन्तम् ॥ ७॥

गङ्गायरः—अथ सिन्नपातजापस्मारस्य प्रकृतिसमसम्वायारव्यस्य द्वन्द्वजानाञ्च प्रकृतिसमसम्वेतानां दोपभेदिविकल्पैलांभेऽपि यत् सिन्नपातजस्य गणनं कृतं तेन विकृतिविषमसम्वायारव्यत्वं सिन्नपातजस्य लभ्यते तिन्नरासाय पृथग्जलिङ्गातिदेशेन सान्निपातिकापस्मारपाह—समवेतसव्वं-लिङ्गिमिल्यादि।वातादिजानां सर्व्वेपां त्रयाणामपस्माराणां लिङ्गानि समवेतानि मिलितानि यत्र तं तथा। एतेन प्रकृतिसमसमवेतद्वन्द्वजानां विकृत्यारव्य-सिन्नपातस्य च निरासः। तमसाध्यं प्रभावात्। केचित् तु व्याधिप्रभावात् द्वन्द्वजान भवन्ति सिन्निपातजस्तु प्रकृतिसमसमवायाद् भवित तस्यासाध्यताद् गणनमाचार्य्येण क्रियते यत्र साध्यत्वं तत्र न गणनिमत्यतः पृथग्वातादि-लिङ्गानि समवेतानि मिलितानि यत्र तं तथेत्येवं द्वन्द्वजानामनुक्तौ सिन्निपातस्य उक्तौ व्याचक्षते॥ ८॥

गङ्गाधरः—नन्वपस्मारोऽप्युन्मादवदशुचिभोजनविषमतन्त्रप्रयोगादितो भवति देवादयथ भूता दोपजमुन्मादमजुवध्नन्ति न कथमस्मारमित्यत आह—तेपामित्यादि। तेपां चतुणां दोपजानामपस्माराणामजुवन्य आगन्तु-देवादिग्रहो भवत्येव कदाचित् न तु सर्वदा न वागन्तून्मादवदेवादिभ्यो-ऽपस्मारः पृथक् पश्चमो भवति। अत एव सुश्रुते भूतिवद्याख्येऽङ्गेऽपस्मारः पठितिश्विकित्सा चोन्मादीयातिदिष्टा। तस्य काय्यो विधिः सर्व्वो य भैरवन्तु अहिंसकमि भयजनकं इमज्ञानादि; आदीष्तं ज्वलितम्। चिरादपस्मरन्तमिति भूयसा कालेनापस्मारवेगवन्तम्॥ ६—८॥

चक्रपाणिः—भवत्येवेत्यत्र 'एव'कारोऽत्यन्तायोगध्यवच्छेदः ; यथा—नीलं सरोजं भवत्येव, न च न भवति । 'कदाचित्'पदन्त्वत्यन्तायोगव्यवच्छेदार्थतामेव द्योतयति ; एतेन सर्व्वापस्मारे

^{*} शुक्रगुरुह्रपद^{ि।मंत्य}ःचि वा पाठः ।

उपदेच्यते । तस्य विशेषविज्ञानं यथोक्तैर्लिङ्गर्लिङ्गाधिवयं दोषलिङ्गाननुरूपं किञ्चित् ॥ ६ ॥

उन्मादेषु वक्ष्यते इति । न च केवळं हेतुसामान्यात् दोषदृष्यसामान्याच अयम् अतिदेश आगन्त्रनुवन्धादपि च। नन्वागन्त्रनुवन्धमपरमारे कुतो जानीम इत्यत आह—स इत्यादि । विज्ञानैरिति शेषः। नन्वागन्तनुवन्धस्य किं विज्ञानम् इत्यत आह—तस्येत्यादि। किश्चिछिङ्गमिति शेषः। चतुर्णामपस्माराणां सामान्यलक्षणं चिकिरिसते वस्यते। सुश्रुतेऽपि सनिदानं सामान्यविशेष-मिध्यादियोगेन्द्रियार्थ-कम्मेणामतिसेवनात्। विरुद्धमलिना-हार-विहारें: कुपितैर्मछैः। वेगनिग्रहशीलानामहिताशुचिभोजिनाम्। रज-स्तमोऽभिभूतानां गच्छताश्च रजखलाम्। तथा कामभयोद्देग-क्रोधशोकादिभिः भृशम्। चेतस्यभिहते पुंसामपस्मारोऽभिजायते। संज्ञावहेषु स्रोतः सु दोप-व्याप्तेषु मानवः। रजस्तमःपरीतेषु मूढ़ो भ्रान्तेन चेतसा। हस्तपादौ च विजिह्मभ्र विलोचनः। दन्तान् खादन् वमन् फेनं विष्टताक्षः पतेत क्षितौ। अल्पकाळान्तरश्चापि पुनः संदां लभेत सः। सोऽपस्पार इति प्रोक्तः स च दृष्टश्चतु विवेधः। वाति पत्तक फैनूं णां चतुर्थः सन्निपाततः। हत्कस्पः शुन्यता स्वेदो ध्यानं मूर्च्छा प्रमूढ्ता। निद्रानाशश्च तस्मिंस्तु भविष्यति भवत्यथ। वेपमानो दशेर दन्तान श्वसन फेनं वमन्नपि। यो व्याद्विकृतं सत्त्वं कृष्णं मामनुधावति । ततो मे चित्तनाशः स्यात् सोऽपंस्मारोः **ऽ**निलात्मकः ॥ तृट्तापस्वेदमूच्छीत्तौ धुनवन्नङ्गानि विह्नलः । यो ब्रूयाद विकृतं सत्त्वं पीतं मामनुधावति। ततो मे चित्तनाशः स्यात् स पित्तभव उच्यते।। ज्ञीतह्ळासनिद्रात्तंः पतन् भूमौ वमन् कफम्। यो न्यात् विकृतं सत्त्वं शुक्लं मामनुधावति । ततो मे चित्तनाशः स्यात् सोऽपस्मारः कफात्मकः ॥ हृदि तोदस्तृडुत्क्लेशस्त्रिष्वप्येतेषु सङ्ख्यया। मलापः क्लनं क्लेशः प्रत्येकन्तु भवेदिह। सन्वेलिङ्गसमावायः सन्वेदोपप्रकोपजे।। अनिमित्तागमाद् न्याधेः भूतसम्बन्धो भवति, न च स्वतन्त्रापरमारो भौतिको भवतीति दर्शयति। उत्तरकालमिति चिकित्सिते। यद्यपि चापस्मारचिकित्सितेऽपि प्रपञ्चो न वक्तवः, तथापि तत्रोन्मादविध्यति-देशात् उनमादोक्तविस्तार एवेति कृत्वा इहोक्तम्, — 'तमुत्तरकालमुपदेश्यामः' इति ; उक्तं हि— "यस्यानुबन्धन्तवागन्तुं दोपलिङ्गाधिकाकृतिम्। पश्येत् तस्य भिपक् कुर्यात् आगन्तूनमादः भेपजम्"॥ इति । यथोक्तिङ्कौरिति पञ्चमीस्थाने नृतीया ; तेन यथोक्तिङ्कभ्यो लिङ्काधिक्यं किङ्गातिरिक्तत्वम् : तचादोपलिङ्गानुरूपं दोपलिङ्गासदशिमत्यर्थः ; रि ेति न सर्व्वम्, किन्त

 हितान्यपस्म।रिभ्यस्तीच्णानि चैव संशोधनान्युपशम-न।नि यथास्वं मन्त्रादीनि चागन्तुसंयोगे ॥ १० ॥

तिस्मन् हि दचाध्वरध्वंसे देहिनां नानादिनु विद्रवताम् अभिद्रवण्तरण्धावनलङ्गप्रवनादैगर्देहिविचोभणैः पुरा गुल्मोत्-

गमनादक्तेऽपि च। आगमाचाप्यपस्पारं वदन्त्यन्ये न दोपजम्। क्रमोप-योगादोपाणां क्षणिकलात् तथैव च। आगमाद् वैश्वरूपाच स तु निच्वेणंत्रते चुपैः। देवे वपंत्यपि यथा भूमो वीजानि कानिचित्। शरदि मितरोहन्ति तथा व्याधिसमुच्छ्रयाः। स्थायिनः केचिदन्येन कालेनापि मबद्धिताः। दशेयन्ति विकारांस्तु विक्वरूपान् निसर्गतः। अपस्मारो महाव्याधिस्तस्माद् दोपज एव तु। इति॥९॥

गृङ्गाधरः — लिङ्गान्युक्तवा चिकित्सासूत्राण्याह — हितानीत्यादि । तीक्ष्णानि तीक्ष्णवीय्येद्रव्यकृतानि संशोधनानि वमनादीनि उपशमनानि च तीक्ष्णानि यथास्वं यथादोपं तीक्ष्णानि सन्ति संशोधनानि संशमनानि च यथादोपं तीक्ष्णान्येवेत्यर्थः । मन्त्रादीनि चेति आदिना वलिमङ्गलादीनि चकारात् तीक्ष्णासंशोधनोपशमनानि च । आगन्तुसंयोगे देवादिग्रहानुवन्धे ॥ १०॥

गङ्गाधरः—अथ गुल्मादीनाश्चास्य च ज्वररक्तिपत्तवत् प्रागुत्पत्तिमाह—
तिस्मिन् हीत्यादि । तिस्मिन् शास्त्रे प्रसिद्धत्वेन श्रुते द्क्षाध्वरध्वंसे । ज्वराख्यवाणभयाद् विद्रवतां नानाविधविध्वस्तलादिविद्रवशालिनां दशस्र दिक्षु अभिद्रवणं पलायनं तरणं नद्यादिषु सन्तरणं धावनमध्वादिना द्रुतगमनं लङ्घनम्
-स्तोकम् । दोपलिङ्गविलक्षणिलङ्गागन्तुरनुबन्धो भवतीत्यभिष्रायः । एतेन स्वातन्त्रेपणागन्तवपस्मारसम्भवो न भवतीति दर्शयित । यदि हि स्वतन्त्र एवागन्तुः स्थात्, तदा न स्तोकमागन्तुलिङ्गं स्थात् । 'स्व्वंमेवं हितम्' इत्यादिना चिकित्सास्त्रमाह । उपशमनानि च हितानीति
थोजना ॥ ९—१०॥

चक्रपाणिः—सम्प्रत्युक्तानां गदानामुत्पित्तमाह—तिस्मिन्नित्यादि । यसपि च उत्तर एव तत्र प्रथम उत्पन्नस्तपाप्यसौ प्रथमेव बहुकोधरूप उत्पन्न इति कृत्वा पश्चादुत्यते ; गुल्माद्यस्तु यज्ञ-ध्वंसानन्तरकालभूता एकसामग्रीजांतत्वेन प्रथममुच्यन्ते ; ज्वरस्य तु सर्वेप्रथमोत्पित्तिर्ज्वरिनिदान

^{*} अत्र सर्व्यमेव हितमित्यधिकः पाठः कचित् ।

पत्तिरभूत्। हिनःप्राशत् प्रमेहकुष्टानाम्, भयोत्त्रासशोकैः उन्मादानाम्, नानाविधभूताशुचितंस्पर्शादपस्माराणाम्। ज्वरस्तु खलु महेश्वरललाटप्रभवः, तत्सन्तापात् तु रक्तपित्तम्, अतिव्यवायान्नचत्रराजस्य राजयच्मेति॥ ११॥

तत्र इलोकाः।

श्रपस्मरित वातेन पित्तेन च कफेन च।
चतुर्थः सन्निपातेन प्रत्याख्येयस्तथाविधः॥
साध्यांस्तु भिषजः प्राज्ञाः साधयन्ति समाहिताः।
तीच्णैः संशोधनैश्चैव यथास्वं शमनैरिप॥
यदा दोषनिमित्तस्य भवत्यागन्तुरन्वयः।
तदा साधारणं कर्म प्रवदन्ति भिषग्वराः॥
सर्व्वरोगविशेषज्ञः सर्व्वीषधिवशेषित्।
भिषक् सर्व्वामयान् हन्ति न च मोहं समृच्छति।
इत्येतद्खिलेनोक्तं निदानस्थानमुत्तमम्॥ १२॥

उपवासः प्रवनं जले उत्प्रवनम् । आद्यपदेन पतनादिदेहविक्षोभणदेईक्षोभकरैः। प्ररा कृतयुगे। तस्मिन्नेव दक्षाध्वरध्वसेऽतिज्ञयहविःभाज्ञात्।। ११ ॥

गङ्गाधरः—अस्य चोपसंहारार्थमाह—अपस्मरतीत्यादि। तथाविधः सान्निपातिकोऽपस्मारः। साधारणं मन्त्रादितीक्ष्णसंशोधनसंशमनकृषम्। इत्येतदित्यादिना प्रतिज्ञाताष्ट्रव्याधिनिदानादिन्याख्यानोपसंहारः॥ १२॥

एवोक्त ति भावः । पुरा इत्याद्मरपत्तो ; ललाटप्रभव इति क्रोधाग्निप्रभव इत्यर्थः । अन्वयो-ऽनुबन्धः ; साधारणमिति दोषप्रत्यगीकं रसायनादि, देवादिप्रत्यनीकं वलिमङ्गलादि । निदान-स्थानोक्तसर्वरोगज्ञानफलगाह—सर्वेत्यादि । न च मोहं निगच्छतीति निदानस्थानायनुक्तेऽपि प्रमेये सूक्ष्मेऽपि बहुद्र एव्यत्वेन न मोहं गच्छति, किन्तु तद्श्यूद्यत इत्यर्थः । अखिलेनेति याविद्यानस्थानतया व्याध्यप्टकं प्रतिज्ञातम्, तावदिखलेनोक्तम् ; तेन विकित्सास्थान-वक्तव्यनिदानाभिधानात् न न्यूत्रवम् ; यच ज्वरादिनिदानमपि पुनर्वक्तव्यम्, तदस्यैव प्रपञ्च निदानार्थकरो रोगो रोगस्याय्युपलभ्यते । तद्ग यथा ज्वरसन्तापाड् रक्तपित्तमुदीर्यगते । रक्तिपत्ताञ्ज्वरस्ताभ्यां शोपश्चाप्युपजायते ॥

गृहाधरः—नम्र असात्म्येन्द्रियाथेसंयोगप्रजापराधपरिणामा इति त्रिविधा रोगहेतव उक्ता न चोक्ता दृश्यन्ते रोगा ये रोगहेतव इत्यसम्प्रवचनित्याशृद्धाया-माह—निद्दानार्थत्यादि। निदानस्यार्थः प्रयोजनं रोगाभिनिन्द्रं त्तिस्तं करोतीति निदानार्थकरो रोगोऽपि रोगकर इत्यकरणादिदं ज्ञापितं प्रजापराधादिना लन्ध्यन्तः सन् रोगोऽपि रोगान्तरस्याप्यभिनिन्द्र्यं त्तिकर उपलभ्यते न तु सन्बर्गे रोगः सन्वरेगेगकर इति। अत्र रोगोऽसात्म्येन्द्रियार्थयोगादिनिद्दानसम्भूतवातादि-वैपम्यनिमित्तो वाताद्यात्मको विशिष्टो ज्वरादिनं तु धातुवैपम्यमात्रम्, तस्य सन्वरेगेगप्रकृतित्वेनोक्ततात्। यथा प्रजापराधादिना वातादयः ज्वराद्यक्तिनदान् वा सिक्षताः प्रकृपिताश्च ज्वरादिक्ष्पेण परिणम्यन्ते तथा ज्वरादिक्ष्पे-णोत्पन्नाः पुनः प्रजापराधादिक्षैरेव रक्तपित्ताद्युक्तिनदानेलेन्ध्यन्तः सन्वर्वाशेन कियदंशेन वा रक्तपित्तादिनानारूपेण परिणम्यन्ते इति दोपवद्दिशिष्ट्ररोगा अपि रोगान्तरहेतवो न दोपातिरिक्ता हेतवो वल्यस्यर्णकृतकुण्डलवत् ज्वरादयो हि यावदसात्म्येन्द्रियार्थादिनिदानैलेन्ध्यन्ता न भवन्ति तावन्न रक्तपित्तादि-करा भवन्ति इति।

एके तु मजापराधादिकं यत् त्रिविधनिदानमुक्तं तत् सर्विच्याधि-विषयम्, इदन्तु प्रतिनियतरोगविषयम्। सर्व्वे हि रोगा रोगान्न जायन्ते किन्तु कश्चित् रोगः कुतिश्चित् रोगाद्धवतीति रोगार्ख्यं चतुर्धनिदान-मिदम् चुः। तन्न मनोरमम् ; उक्तयुक्तमा त्रिविधनिदानादितिरिक्तनिदानाभावात् नवद्रव्यवत्। नवैव द्रव्याणि, तत्र पाश्चभौतिकानि ताम्रसीसादीनि। तन्मयानि च कांस्यपित्तलादीनि न तु नवातिरिक्तानि। अस्योदाहरणं दर्शयति—तव् यथेत्यादि। रक्तपित्ताज्वरक्ष्मेति ज्वररक्तिपत्तयोः परस्पर-

चक्रपाणः—सम्प्रात निद्दानप्रकरणाद् रागाणामपि केपाछिद् व्याधि प्रांत कारणत्व यत् सम्भवति, तद्युक्तमाह—निद्दानार्थेत्यादि। निद्दानस्यार्थः प्रयोजनं व्याधिजननम्, तत् करोतीति निद्दानार्थकरो व्याधिजनक इति भावः; निद्दानरूप इति वक्तव्ये यन्निद्दानार्थकर इति युवते तेन, व्याधिना व्याध्यन्तरे क्रियमाणेऽपि मूलभूतव्याधिजनक एव हेतुः, व्याधि-जन्येऽपि व्याधौ मूलव्याधिजननारमभकापरं निद्दानमिति दर्शयति; तेन रोगजन्येऽपि रोगे ब्रीहाभिवृद्धा जठरं जठराच्छोफ एव च।
अश्रीभ्यो जठरं दुःखं ग्रुत्मश्राप्युपजायते ॥
प्रतिश्यायादथो कासः कासात् संजायते च्रयः।
च्रयोरोगस्य हेतुत्वे शोषश्राप्युपजायते ।
ते पूर्वं केवला रोगाः पश्राद्धेत्वर्थकारिणः।
उभयार्थकरा दृष्टास्तथैवैकार्थकारिणः॥

कार्यकारणभावः। ताभ्यां रक्तिपत्ताज्ज्वराच शोपो राजयक्ष्मा। जटरमिति छीहाख्यजटरमन्यज्जटरं वा। शोफः श्वयथुः। अशोभ्यो जटरम् अशोभ्यश्व गुल्मः। क्षय इति ओजःप्रभृतीनां क्षयः। क्षयोरोगस्य क्षयो रसक्षयः शुक्रक्षयश्च, छरोग छरःक्षतं तयोः समाहारख्तस्य, तथा शोपो राजयक्ष्मा। नज्ज रोगो रोगान्तरस्य यन्निदानं भवति तत् किमुत्पन्नमात्रं किमुतोत्तरकाळं, तदा कि रोगलेन गृह्यते कि हेलथेकरलेन इति १ आह—ते पूर्व्वमित्यादि। ते इति ज्वरादयः पूर्व्व प्रज्ञापराधादुप्पष्टं हककारणलाभात् पूर्व्व केवला रोगा रोगाख्य-मात्राणि पश्चादक्तिपत्तादिजनकरूपोपष्टं हकहेतुतो लब्धका हिलथेकारिणः तत्तव्यक्तिपत्तादिख्यखवाह्यनिदानाद् विपमित्तादिवत्त्वर्यरक्तिपत्तादिरूप काय्येकारिणः स्युनं त् तत्तद्रक्तिपत्तादिजनकवाह्यहेलथेकारिणः। असात्म्ये-न्द्रियार्थसंयोगादयो हि वाह्यहेतवो ज्वरादिव्याधिजनकवातादिवेपम्यजननम् अन्तरेण न ज्वरादीनुत्पादियतुं शक्तुवन्ति।

नतु ज्वरादिकरलखभाववत्तया तु दोपान् कोपयिलैव ज्वरादीन् जनयन्ति यथा वाह्यहेतवः, तथात्रापि रक्तपित्तादिजनकलख्यभाववत्तया

मूलभूतासास्येन्द्रियार्थादि कारणत्रयमेव कारणं भवतीति ; न च चतुर्थकारणापत्तिरिति प्रसङ्गो वाच्यः ; ज्वरकारणान्येव हि उप्णादीन्यतिमात्राणि ज्वरमभिनिर्ध्वत्यं रक्षपित्तमपि कारणान्तर-वर्द्धितशक्तीनि जनयन्तीस्यायनुसरणीयम् । गुल्मश्राप्युपजायते इति भशोंभ्य एव । कासात् सञ्जायते क्षय इति कासाद्वानुक्षयो जायते, स च धानुक्षयो रोगः शोपाभिधानस्य हेनुरुपलभ्यत इति योजना ।

नजु यत्र रोगस्य कारणं रोगो भवति, तत्र किं कारणभूतरोगोऽप्रधानमेधेद-माशङ्कपाह—ते पृथ्वीमत्यादि । ते ज्वरादयो रक्तपित्तादुपत्पादात् प्राक् पृथ्वं केवलाः सन्तः

क्षयो रोगस्य हेतुःवे शोपस्यापुत्रपजायते इति द्वितीयः पाठः ।

कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भृत्वा प्रशाम्यति । न प्रशाम्यति चाय्यन्यो हेतुत्वं कुरुनेऽपि च ॥

ज्वरादीनुपृष्टं य रक्तिपित्तादिकरा वाखहेतवो रक्तिपित्तादिकं जनयन्तीति। ज्बरादौ चातादिवैपम्यबद्धक्तपित्तादौ ज्बरादिसन्तापो योनिः हेलर्थकारिणो भवन्तीति चेत् १ न, ज्वरादयो हि यत्किश्चिद्रपट हक-हेतुलाभगात्रे रक्तपित्तादिकरा न भवेषः किन्त वृद्धिभाष्त्रवन्ति । सर्वेदयाध्यारम्भक्ष प्रतिनियतरोगारम्भानुपपत्तिः स्यात् भिवासहीति। इत्थश्च यथा यह्याधिजनकनिदानमासेवते ज्वरी तदा तेन निदानेनोपट हितवलः सन् ज्वरस्तद्वप्राधिमेवारभते नान्यं रोगम्। न च तदा रक्तिपत्तारम्याय व्वरारम्भदोपकोपो भवति। यो हि दोपो रक्तिपत्तादिकं कर्यादिति ज्वरादिः कार्येरूपो व्याधिन हेत्रूपो व्याधिरित्यतो रोगान्तर-कारी। नन रोगो ज्वरादिव्यध्यिन्तरहेतुर्भवत तच व्याध्यन्तरं खकार्यं हेतरूपश्च ज्वरादिः किं रक्तपित्तरूपकाय्येकरः, करोत देहेन्द्रियमनस्तापकरादिनं स्यादित्यत आह—जभयार्थेत्यादि । व्याध्यन्तरारम्भमर्थं स्वं स्वं काय्यञ्चार्थ कुव्वन्तीत्युभयार्थकराः रक्तिपत्तादि-व्याधिरूपं देहेन्द्रियमनस्तापादिरूपञ्च ते ज्वराद्यः कुव्वन्तीत्युभयार्थकरा दृश्यन्ते केचिद् व्याध्यः। तथैव तेन प्रकारेण एकपर्ध व्याध्यन्तरारम्भमेवार्ध कुर्व्वन्ति इत्येकार्यकारिणो दृश्यन्ते। तत्र स्वस्वकार्य्यकरा व्याख्याताः स्वस्वाधिकारे ये त एव वोध्याः।

प्रतिलोमतन्त्रयुत्तया हेलर्धकारिणो द्वयार्थकारिणश्चोपद्र्येन्ते—कश्चिद्धी-त्यादि। हि यस्मात् कश्चित् रोगो न सर्व्यं एव रोगो रोगान्तरस्य हेतुर्भूला मज्ञाम्यतीति हेतुमात्रार्थकरलक्ष्पैकार्थकरलपद्र्शनं, न प्रज्ञाम्यतीत्यनेन

रोगा एव रुजाकर्नु रिवेन स्वयमेव प्रधाना इति, पश्चाव्येकारिण इति पश्चाव्यक्तिपत्ताद्वार्यादका भवन्तीरयर्थः । प्रकारान्तरमाह—सर्थेवेकार्थकारिण इति, एकस्येव हेतोर्थं कुर्व्यन्ति एकार्थ-कारिणः । एतदेव पश्चव्यं प्रातिछोन्येन विद्युणीति—कश्चिद्वीरयादि । अत्र यो हेत्वर्थं स्वाधिजननं कृत्वा प्रशास्यित, स एकार्थकारी ; यस्तु हेत्वर्थं स्वाध्यन्तरज्ञननं कृत्वापि स्वयमप्यज्ञ-वर्त्तते, स उभयार्थकारी ; यदा कासं समारभ्यापि स्वयमज्ञवर्त्तते, तदा प्रतिस्थायः स्वयञ्च रुजा-कर्त्तृ त्वेन रोगार्थकरः, कासजनकत्वेन च हेत्वर्थंकरश्च भवति ; यदा तु कासं जनयित्वा स्वयं

एवं कृच्छ्तमा नृगां दृश्यन्ते व्याधिसङ्कराः।
प्रयोगापरिशुद्धतात् तथा चान्योन्यसम्भवात्॥
प्रयोगः शमयेद् व्याधि योऽन्यमन्यमुद्धिरयेत्।
नासौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेद् यो न कोपयेत्॥ १३॥
एको हेतुरनेकस्य तथैकस्यैक एव हि।
व्याधेरेकस्य चानेको वहूनां वहवोऽपि च॥

उभयार्थकरतोपदर्शनम्। एवमनेन प्रकारेण ग्याधिसङ्क छे स पुरुषः कीदृश्याधित उच्यते, इत्यत आह—एविमत्यादि । नन्वेतं ग्याधिसङ्कराः क्रुतो भवन्तीत्यत आह—प्रयोगापरीत्यादि । प्रयोगाणामौपधयोगानाम् अपरिशुद्धलात् तथोक्तः प्रकारेण ग्याधीनामन्योन्यसम्भवाच ग्याधिसङ्करा भवन्तीति । ननु प्रयोगस्यापरिशुद्धलं किं ताविद्दयत आह—प्रयोग इत्यादि । यः प्रयोग औपयान्निहारदेशकालादीनामुपयोग एकं ग्याधि शमयेदन्यमन्यं ग्याधिमुदीरयेत् सोऽसौ प्रयोगो न विशुद्धो न परिशुद्धः । ननु कः प्रयोगः परिशुद्ध इत्यत आह—शुद्धस्तित्यादि । यस्तु प्रयोग एकमुदीण दोषं शमयेदपरमुदीणमनुदीण दोषं न कोपयेत् सोऽसौ प्रयोगः शुद्धः परिशुद्धः उच्यते । एतेनैककशो द्विश्य दोषां न कोपयेत् सोऽसौ प्रयोगः शुद्धः परिशुद्धः उच्यते । एतेनैककशो द्विश्य दोषां न कोपयेत् सोऽसौ प्रयोगः शुद्धः परिशुद्धः उच्यते । एतेनैककशो द्विश्य दोषां न कोपयेत् सोऽसौ प्रयोगः शुद्धः परिशुद्धः उच्यते । एतेनैककशो द्विश्य ख्यापितं भवति, न च केवलं हेत्पृष्टं हित्वलल्याधिजन्याधिमश्रणैर्व्याधि साङ्कर्यमिति ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—नतु कुतो रोगा उभयार्थकरा एकाथकरा निदानार्थकरा वा भवन्ति, येन व्याधिसाङ्कर्यं भवत्यन्योन्यसम्भवाद्ग्राधीनामित्यत आह—

निवर्त्तते, तदा फासफाले निवृत्तत्वात् हेत्वर्थमात्रं करोतीत्युदाहार्यम्। व्याधिसद्वरा व्याधिमेल्फाः। कृतः पुनरेवं भवतीत्याह—प्रयोगेत्यादि। प्रयोगापरिशुद्धत्वात्, यथा— आमातीसारे स्तम्भनं कृतं दोपं संस्तभ्य शूलानाहाध्मानादि जनयति। हेत्वन्तरमाह— अन्योन्यसम्भवादिति परस्परकारणस्वरूपत्वादित्यर्थः; प्रतिश्यायो हि स्वरूपेणैव कासकारणम्, स च राजयक्ष्मण इत्यादि ज्ञेयम्। प्रयोगापरिशुद्धिं विवृणोति – प्रयोग इत्यादि। न प्रकोपय- तीति व्याध्यन्तरं न कुर्यादित्यर्थः; अन्योन्यसम्भवश्च ज्वरसन्तापाद् रक्तिपत्तसुदीर्य्तत इत्यादिनैवोक्तो न विवियते॥ १३॥

चक्रपाणिः—हेतुप्रकरणाङेतुधम्मीन्तरमाह—एको हेतुरित्यादि । एतत्पक्षचतुष्टयोदाहरणानि

ज्वरस्रमप्रलापाद्या दृश्यन्ते रुच्हेतुजाः।
रुचेणैकृत चाप्येको ज्वर एवोपजायते॥
हेतुभिर्वेहुभिश्चेको ज्वरो रुच्चादिभिर्भवेत्।
रुचादिभिज्वराद्याश्च व्याधयः सम्भवन्ति हि॥
लिङ्गञ्चेकमनेकस्य तथैकस्यैकमुच्यते।
हेतुभ्वेकस्य च व्याधेर्वहुनां स्युर्वहृति च॥

एको हेरुरित्यादि । अनेकस्य व्याधेरेको हेतुहि यस्मादस्ति यथा ज्वर-भ्रमम्बापाद्या रुक्षादेकस्माद्धेतोर्जायन्ते इति दृश्यते । अत्रेदपव्यातव्यं, ज्वरभ्रमप्रलापादिजनने विनिगमनाभावस्तु रुक्षस्य भ्रमप्रलापादिकानां यदग यदीयकारणान्तरसहकारः स्यात् तदा तत्तद्व्याधिजनकलं स्यादित्यनुगमवचनेन निरसनीयः, कारणान्तरसहकाराभावे तु ब्वर एव स्यादित्यभिषायेण । तथैकस्ट एक एव व्याधेहेंतुरिति सूत्रस्योदाहरणं दशंयति—रुक्षेणैकेन 'चेलादि । एकेन चापि अपिशन्दस्याल्पार्थलेन तत्तद्व्याधिजनककारणान्तरसहकाराः लेकेन तु रुक्षेण एक एव ज्वर उपजायते न तु भ्रमादिः। व्याधेरेकस्य चा हेतुरस्ति यथा हेतुभिवंहुभिरेव रुझादिभिरिति रुझशीतादिभिरेको भवेत्। वहूनां व्याधीनां वहवोऽपि हेतवः सन्ति यथा-रुक्षादिभिज्वेर पित्तगुरमादुगक्तैः स्वैः स्वैर्वहुभिहेंतुभिज्वररक्तपित्तादयो वहवो व्याधयः स अत एवात्रायं भावः - यस्पात् तु यो जायते तच्चेदन्यस्यापि कारणं स्यात् यद्यपरहेतुसहकारः स्थात् तद्वप्राधिस्तस्मान्निदानाञ्चवेत् तस्य चोत्पन्नव्य र्यने द्रुद्धिः स्यात् तस्माद् यद्परव्याधिसम्भवः स्यात् स व्याधिस्तेने व्या जन्यते स्वयश्च न पशम्यते । यदा स्वयश्मनहेलपरजननहेतूभयसेवनं स्यात् तदा स न्याधिरम्यं न्याधि जनयिला स्वयं शाम्यति इति । यद्यन्यन्याधिहेतुसेवनं न स्यात् तदा व्याध्यन्तरं न जनयति खयं केवळं वर्द्धते इति वोध्यः।

एवं व्यवस्थिते सति लिङ्गञ्चैकमनेकस्य व्याधेभवति, यथा हि आह—ज्वर इत्यादि । यद्यपि रक्षं बहुनां कारणम्, तथापि देशकालादिवशात् कदाचिदेकस्य एव ज्वरस्य कारणं भवतीति शेयम् ; रक्षादिभिरिति रक्षोष्णादिभिर्लवणादिभिः ; ज्वराद्याः इति ज्वरस्कापत्तगुल्माद्याः ।

लिङ्गस्यापि हेतोरिव चातुर्विदेशमाह -लिङ्गमित्यादि । तथेवैकस्य लक्ष्यत इति एक

विषमारम्भमूलानां लिङ्गमेकं ज्वरो मतः। ज्वरस्यैकस्य चाप्येकः सन्तापो लिङ्गमुच्यते॥ विषमारम्भमूलैश्च ज्वर एको निरुच्यते। लिङ्गेरैतैर्ज्वरश्वास-हिक्काद्याः सन्ति चामयाः॥

समानं यन्निदानं तन्निदानेन प्रतिनियतकारणान्तरसहकारेण यो रोगो जन्यते तिस्मिन् व्याप्रौ समानकारणकुषितदोपजानि लिङ्गानि, तानि च तत्समानिदानजान्यरोगेऽषि भवन्ति, इति समानिदानलेन समानिल्ङ्गले, यथा विषमारस्भमूलारां व्याप्रीनां सर्व्यपापेव लिङ्गं ज्वर एकः स्यात्, तथा निय क्रारेण एकस्य व्याप्रेरेकमेव लिङ्गमुच्यते विभिन्निन्दानलात्; यथा व्यास्यैकस्याप्येकः सन्तापो लिङ्गमुच्यते। न सन्येपां व्याप्रीनां सन्तापोऽस्ति लङ्गं तज्ज्वरनिदाने व्याख्यातम्। एवमेकस्य व्याध्येवहृनि लिङ्गानि भवन्ति वृभिन्नवहृहेतुल्लात्, यथा विषमारस्भम् लविपमारस्भविसर्गादिलिङ्गं ज्वरे एको विभन्नवहृहेतुल्लात्, यथा विषमारस्भम् लविपमारस्भविसर्गादिलिङ्गं ज्वरे एको लिङ्गरेतिविपमारस्भम् लविपमारस्भम् विसर्गादिभिः वहृभिलिङ्गे ज्वरेश्वास् वोपं शा आमयाः सन्ति। नन्वेवं चेदेकस्य ज्वरस्य कथं विषमारस्भम् ति विषमारस्भम् ति विषमारस्भम् ति विषमारस्भम् ति विषमारस्भम् ति विषमारस्भम् ति विषमारस्भम् ति विषमारस्भम् ति विषमारस्भम् ति विषमारस्भम् ति विषमारस्भम् ति विषमारस्भम् ति विषमारस्भम् ति विषमारस्भम् ति विषमारस्भम् ति विषमारस्भविसर्गमात्राणि स्ति विषमारस्भकवायुमात्रजानि भवन्ति नातो विषमारस्भविसर्गमात्राणि स्ति विषमारस्भकवायुमात्रजानि भवन्ति श्वासादिषु श्वासादीनां कार

रसहकारेण तु वायोः करूरय च कोपे श्वासादयः स्युस्तत्र तिल्कान्तर-सिहा विषयारम्भविसर्गादीनि विषयारम्भकवातजानि लिङ्गानि भवन्ति। ज्वरे तु केवलक्क्षादिसेवनेन चललगुणेन कुपितवातात् ज्वरीयकारणान्तर सहकाराभावेऽपि ज्वरो भवति, तत्र च वातलिङ्गातिरिक्तलिङ्गव्यतिरेकेण विष-यारम्भविसर्गादिवातलिङ्गानि भवन्तीति विनिगमनयोपपत्तेः।

लिङ्गमिति सम्बन्धः। विषमारम्भम्लानामिति विषमारम्भप्रमाणानां विषमारम्भ-विसर्गित्वमुष्मणो वैषम्यमित्याद्यक्तव्वरलिङ्गानामित्यर्थः। ज्वरमेकं सन्तापात्मकं दृष्टा विषमा-रम्भविस्गित्वादयोऽस्य भूता भविष्यन्ति वर्त्तन्त दृति लिङ्गयते। ज्वर एको निरुच्यत दृति ज्ञायत इत्यर्थः। लिङ्गेरेतैरित्यादि। एतैर्विषमारमभिवसर्गित्वादेग्प्रवेरादयः सन्ति शुक्ता दृति शेषः। अभिवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते । द्वितीयन्तु निदानस्य स्थानमेतत् समन्त्रितम् ॥ १७ ॥

इति निदानस्थानेऽपस्मारनिदानं नामाष्टमोऽध्यायः॥ 🗕॥

निदानस्थानार्थसंग्रहः । अध्यायसमापनच्छछेन स्थानं समापयति इतीत्यादि । स्थानमेतिचिदानस्य श्लोकपञ्चशती मतम् ॥ १७॥

उति श्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजलपकलपतरौ द्वितीयस्कन्धे निदानस्थानजलपेऽपस्मारनिदानजलपाख्याष्ट्रमी शाखा॥ ८॥

पञ्चकमनेनात निदानमिति 'निदान'शब्द-युत्पत्तिं कुर्व्वन्ति ; 'निदान'शब्देन च गवां दोहनकाळ-निवन्धनरबजुरुच्यते ; ज्वरनिदाने च निदानशब्दो ब्याकृत एव ॥ १७ ॥

इति चरकचतुरानन-श्रीमचक्रपाणिद्त्त-विरचितायाम् आयुर्व्वेददीपिकायां निदानस्थानस्य व्याख्यायाम् अपस्मारनिदानं नाम अष्टमोऽप्यायः॥ ८॥

समाप्तिमदं निदानस्थानम्।

॥ श्रीः ॥

चरक-संहिता।

विमानस्थानम् ।

प्रथमोऽध्यायः।

अथातो रसविमानं वााख्यास्यामः, इतिह स्माह भगवानात्रेयः॥ १ ॥

गङ्गाधरः—अथ स्थानोद्देशक्रमाट् विमानस्थानमारभते—अधात इत्यादि। विशेषण यथायोग्यता मीयतेऽनेनेति विमानं, रसस्य विमानं रसविमानमधिकृत्य कृतोऽध्यायस्तं तथा। शेषं सर्व्वं पूर्व्ववट् व्याख्येयम् ॥१॥

चक्रपाणिः—निदानज्ञातहेत्वादिपञ्चकस्य विकित्सोपयोगिताया दोषभेपज्ञादिविशेषज्ञानमपेक्षितं भवत्यतो वस्यमाणदोपभेपज्ञादिविशेषज्ञापकं विमानं वृते । तत्रापि च दोषभेपज्ञयोः प्राधान्यात् तिद्देशेपज्ञापकं रसविमानं प्रथमं वृते । तत्रापि इमञ्ज स्थानसम्बन्धमध्यायसम्पन्धञ्च दर्शयिष्यति ;—विशेषेण मीयते ज्ञायते दोषभेपज्ञाद्यनेनेति विमानं, दोषभेपज्ञादीनां प्रभावादिविशेषः इत्यर्थः । एवम्भूतं विमानमभिद्येयतया यत्र तिष्ठति तिद्वमानस्थानम् । रसविमानमभिद्यत्य कृतोइत्यर्थः । एवम्भूतं विमानमभिद्येयतया यत्र तिष्ठति तिद्वमानस्थानम् । रसविमानमभिद्यत्या कृतो-

. यानां निमित्तपूर्व्वरूपरूपोपश्यसंख्याप्राधान्य-अकालविशेषानभिनिविश्य, रसद्वादोषविकार®-

्रशकालबलश्रीरसाराहारसात्म्यसस्वप्रकृतिवयसां, मानम् अवहितमनसा यथावज्ज्ञे यं भवति भिषजा दोषादि †मान-ज्ञानायत्तत्वात् क्रियायाः। न ह्यमानज्ञो दोषादीनां ‡ भिषग् व्याधिनियहसमर्थो भवति, तस्माद् दोषादिमानज्ञानार्थं ह विसानस्थानमुपदेच्यामोऽधिवेश ॥ २ ॥

गङ्गाधरः -- ननु किमर्थं विमानं व्याख्यातव्यिमत्यत आह -- इहेत्यादि । संख्यादयः सम्प्राप्तिभेदाः पृथगुक्ताः स्फुटतया ज्ञापनार्थम् । व्याधीनां निमित्ता-दीन सन्दोनशेषविशेषेण न्याधिशानार्थमभिनिविश्य विविचय, अनन्तरमवहित-मनसा भिषजा तद्व्याध्यारम्भकदोषादीनां मानं यथावत् क्षेयं भवति। कस्मात् १ दोपादियानज्ञानायत्तलात् क्रियायाः। तद्व्याधिप्रतिकारिकयायाः तद्व्याध्यारम्भकदोपस्य तस्य विकारस्य तद्व्याधिमश्रमार्थं भेपजस्य तद्-व्याध्युत्पत्तेदेशस्य कालस्य च तद्व्याधिमतः पुरुषस्य वलस्य शरीरस्य लगादि-साराणागाहारद्रव्याणामाहारविहाराभ्यां सात्स्यानां सत्त्वस्य ब्राह्मादियनोभेद-वलावलतो मनसः, प्रकृतेः समिपत्तानिलकफप्रकृतिवातलादिपकृतेः वाल्यादि-वयसश्च मानज्ञानाधीनलात्। ननु कस्मात् क्रियाया दोषादिमानज्ञानायत्तलम् इत्यत आह—न हीत्यादि। हि यस्मात्। दोपादीनाम् अमानको मानानभिक्षो भिषक् व्याधिनिग्रहसमथौं न भवति। 'स हि दोषाल्पाधिकादिमाने तद्-भेषजादीनामन सुरूपेण प्रयोगं करोति। तस्माद् दोषभेषजादीनां मानजानार्थं विमानस्थानं व्याख्यास्याम इति ॥ २॥

चक्रपाणिः—इह सम्प्राप्तिभेदसंख्याप्राधान्यादिग्रहणेनैव सम्प्राप्तिसुपदिशन् संख्यादिभेदेन सर्वेव सम्प्राप्तिः कथिता भवतीति दर्शयति । निमित्तादीनान्तु न तादशोऽल्पग्रन्थो वक्त्योऽस्ति, येन नेदेन तेऽपीह कथ्यन्ते, अतस्ते सामान्येनोकाः। अनुप्रविश्येति बुद्धाः दोपादयः सूत्रस्थान एव प्रपश्चिताः। मानमिति प्रभावविशेषः। एतज्ज्ञाने हेतुमाह—दोपादीत्यादि। क्रियाया इति चिकित्सायाः ॥ २ ॥

अनुप्रविद्यानन्तरं दोपभेपजेत्यादिपाठः चक्रसम्मतः ।

[†] रसादीति वा पाठः।

[‡] रसादीनाामत्यपरः पाठः । · · · · · ं § रसादिमानज्ञानार्थमिति पाठान्तरम् । ·

तत्रादो रसद्रव्यदोषविकारप्रभावान् वच्यामः । रसास्तावत् खलु पट् मधुराम्ललवगाकटुवभवक्षक्रषायाः । ते सम्यग्रपयुज्य-मानाः शरीरं यापयन्ति मिथ्यमानः यमानास्तु खलु दोष-प्रकोषायोपकल्पन्ते । दोषाः पुनस्मान्यात्रातिषत्तरलेष्मागाः । ते प्रकृतिभूताः शरीरोपकारका भवनि ते रमं विकृतिमापन्नाः खलु नानाविधैविकारैः शरीरमुपतापयन्ति त् गुणम् नेषमेकैकं त्रयस्त्रयो

ग्रीति विमानोपदेशे कर्त्तव्ये ला गां वा प्रभाव शान विद्याम इति प्रति विद्यान स्वाप्त विमानोपदेशे कर्त्तव्ये ला गां वा प्रभाव शान विद्याम इति प्रति विद्यान स्वाप्त विद्यादि । प्रभवन्ति प्रहुरसदोपप्रभाव विद्यादयः, ते सम्यग्रपयुज्यमानास्त त्रद्रसद्रव्याण्युपयुज्यमाना समस्मावाये आ उपयुज्यमानाः शरीरमारोग्येण कार्छ यापयन्ति गमयन्ति । त्रानां विद्यानास्त ते स्साः तत्त्रसद्रव्याण्युपयुज्यमानाः शरीरमारोग्येण कार्छ यापयन्ति गमयन्ति । त्रानां विद्यानास्त ते स्साः तत्त्रसवन्ति द्रव्याणि खळु असम्यग्रपयुक्तानि प्रविधि कोपायोपकत्यन्ते प्रकट्ट मानि भवन्ति । दोपविकारमभावानाह—दोप इत्यापि क्रित्रम् अपन्तिभूता इत्यविपमाः । शरीरोपकारकाः आरोग्याय व्रह्माभवन्ति । विकृतिम् अपन्तास्तु विपमा वातिपत्त्रकेष्टमाणः खळु नानाविधैक्वरादिभिविकारैः शरीरम् उपनापयन्ति । कथमेवं स्साः क्रुव्यन्तीत्यत आह—तत्रेत्यादि । तत्र वातादीनां त्रयाणां शरीरस्य यापनायामुपतापने च खल्वेकैकं दोपं वाताद्यन्य तमं परणां मधुरादीनां स्सानामन्यतमास्त्रयस्त्रयो स्सास्त्रित्रस्वदृब्याणि

च्छपाणिः—अध्यायार्थं वक्तुं प्रतिजानाति—तत्रादावित्यादि । यद्यपि च दोपभेपजेत्यादौ दोपापेक्षत्वाद् भेपजस्य, दोप आदौ कृतः, तथापीह रसदृव्यस्पभेपजस्यापेक्षितरोगप्रशमकत्वेन तथा दोपस्थापि रसदृव्ययोरेव कारणत्वेन भेपजशब्दसूचितेन रसदृव्ये एवाग्रे कृते, पश्चात् तु दोप- प्रहणगृहीतौ दोपविकारो; प्रकृष्टो भावः प्रभावः शक्तिरित्यर्थः, स चेहाचित्त्यश्चित्त्यश्च प्राहः । येन, "तत्र खल्वनेकरसेषु" इत्यादिना दृव्यविकारयोः प्रभावं रसदोपद्वारा च चित्त्यमपि वक्ष्यति । यापयन्तीति साम्येनावस्थापयन्ति । 'मिथ्या'शब्द इहातियोगायोग्गिय्यायोगेषु वक्तते । दोपा इति शारीरदोपाः । 'पुनः'शब्दो मानसदोपं व्यावक्तयति ।

रसानामसंसुप्टानां कर्माह—तत्रेत्यादि । अनेन च रसकर्माप्देशेन दोपाणाम्

रला जनयन्ति, त्रयस्त्रयश्चोपश्मयन्ति । तद् यथा—कटुतिक्त-कषाया वातं जनयन्ति मधुराम्लोवश्यास्तं श्मयन्ति, कटुम्ललवर्णाः पित्तं जनयन्ति, मधुरितक्तक्सातः पुनरेनत् श्मयन्ति । मधुराम्ल-लवर्णाः रलेक्माणं जनयर्षे भक्षट्तिककषायास्त्वेनश्च श्मयन्ति ।

नर्ते रसंजनयन्ति, त्रास्तत्तित्रित्रसवद्द्द्याणि तस्ते रसेश्रोपशमयन्ति। तत् उपित्रित्रेश्चां प्रभावाः, एवम्प्रभावाश्च वातिपत्त्रद्रेष्णणः
प्रभावसामान्यात् तेष्मर्थ विमानं ववैशेष्यात् तेषां प्रशान्तः। तद् यथा—कटुतिक्तकषाया रसाद्दाः पृथगुक्ताः उः तादशप्रभाव एव वायुः, ते रसेः जन्यते
वायोर्ष्ट द्धिः ः मचेण व्याधिज्ञानाः यादशप्रभावा न तादशप्रभावो वायुः,
अतः प्रभाववैशेः व्याध्यारम्भकद्यातस्य द्वासः क्रियते। एवं कट्म्छलवणा
यादशप्रभावास्ताहः व्यानायस्त्रातां, प्रभावसामान्यात् ते रसेः पित्तं
वर्द्धरते। मथुरतिक्तकषास्य विभादशप्रभावास्तादशप्रभावं न पित्तमतः प्रभाववैशेष्यात् पित्तस्य ते रय् तद्द क्रियते। एवं मथुराम्छलवणा यादशप्रभावाः
तादशप्रभावा न तादशप्रभावः इलेष्मा, ततः प्रभाववैशेष्यात् ते रसाः इलेष्णणो हासं
इर्ज्वन्ति। न हि कटुरसस्य गुणा लघूष्णस्थलानि, तिक्तस्य रक्षशीतलघुन्दानि।
कषायस्य रोक्ष्यतेत्यगौरवाणि। मधुरस्य स्त्रिग्धलागुरुलकौत्यानि। अम्लस्य
लघुन्नोष्णवस्त्रिग्धलानि। लवणस्य गुरुन्वस्त्रिग्धलोष्णवानि। कार्यगुणे
गुणाभावात्। तत्तद्रसाश्रयाणान्तु द्रव्याणां ते गुणाः । अतो न गुणसामान्यविशेषो वातादीनां कट्दादिरसेः सह विदेतते, न वा कम्मसामान्यविशेषो

अपि तत्तव्रसापशमनीयत्वविशेष उक्तो भवति । कटुतिक्तकपाया वातं जनयन्तिति असिति परिपान्थनीति ज्ञेयम् ; तेन अकीगुरगुट्ट्रच्यादीनां तिक्तानामिष वाताजनकःवे न दोषः । तत्रोष्ण-वीर्यातां परिपन्थिनी विद्यते, तेन न ते वातं जनयन्तीत्याद्यनुसरणीयम् । एनिमितिपदेन, यश्च कट्रादिजो वायुक्तमेव मधुराद्यः सन्वीतमवेपरीत्यविशेषेण शमयन्तीति दर्शयति । जागरणादिजे हि वायौ जागरणादिविपरीताः स्वप्नाद्यं एव पथ्याः । एवं पित्तश्लेष्मणोरिपं 'एनदेनं'-शब्द्यो-स्तापर्धं दर्शयति ।

रसदोपसन्निपति तु ये रसा यद्देपिः समानग्रणाः समानग्रणा-मृयिण्डा वा भवन्ति ते तानिभवर्ष्वयन्ति, विपरीतग्रणास्तु विपरीत-ग्रणभूयिण्डा वा श्रमयन्त्यभ्यस्यमाना इति । एतद्ध्यवस्थाहेतोः ग्रणपु कर्म्याभावात् । तस्मात् मभावसामान्यविशेपाभ्यां रसा द्रव्यमाश्रिताः बातादीनां दृद्धिहासौ कुर्व्वन्तीति, द्रव्याणि ते रसौः कुर्व्वन्तीत्युच्यते । द्रव्याणि हि स्वप्रभावात् किञ्चित् कुर्व्वन्ति, किञ्चित् ग्रणप्रभावात्, किञ्चित् कर्मा-प्रभावाच । प्रभावो ह्यचिन्त्य उक्तः । स स्रष्ठु भावानामुत्पत्तिकाले तद्भावान्यभकद्भव्यसंयोगे तद्द्व्यनिष्ठकर्मिभर्यद्विज्ञातीयं कर्मारभ्यते तद्विन्त्यं कर्मा, तस्य कार्यस्य द्रव्यस्य ग्रणस्य कर्म्यणो वा प्रभाव उच्यते सा शक्तिनं तु कर्मातिरिक्तेति ।

इति पृथग् रसदोपप्रभावानुत्तवा संस्पृरसदोपप्रभावान वक्ति-रस-दोपसन्त्रिपाते तित्यादि। रससन्त्रिपाते दोपसन्त्रिपाते च। पण्णामन्यतमहित्रिचतुःपञ्चानां संसगेः प्रकृतिसमसमवाये आत्रेयभद्रकाप्यीयोक्ते पट्पश्चाशिद्धे, दोपाणां वातिपत्तकफानां द्वित्रिदोपसंसर्गे समसमवाये कियन्तःशिरसीयोक्ते चैकोनपष्टिविधे। ये रसा द्विकास्त्रिका-अतुष्काः पश्चका वा येद्धिदेवेस्त्रिकेची सह समानगुणाः समानप्रभावाः कार्यगुणे गुणाभावात् समानगुणभूयिष्ठा वा समाननभावभूयिष्ठा वा भवन्ति ते रसास्तान समानप्रभावान दोपान क्षीणान वा समान वा द्रद्धान वाभि-वर्द्धयन्ति। समपरिमाणेन रसानां दोपाणाश्च मेलने हि विरोधिनां नास्ति विरोधः समवललात्। विषममानेन मेलने तु विरोधिनां रसानां दोपाणाश्च वलीयसा यावर्वलेनाल्पवलस्यावजये न्यूनमध्यादंत्रशावशेषे हीनमध्यादि-रूपेण मेलनं भवति, तत्रापि हीनमध्यादिदोपाणां समानमभावाः समान-प्रभावभूयिष्ठा वा हीनमध्यादिरसास्तान् हीनमध्यादिदोपान् वर्द्धयन्ति। विपरीतगुणास्तिति। ये रसा द्विकास्त्रिकाश्रत्णकाः पञ्चका वा यदौषिद्विकैः त्रिकैर्वा विपरीतमभावा विपरीतमभावभू यिष्टा वा ते रसा अभ्यस्यमानास्तान् दोपान शमयन्ति । तत्रापि हीनमध्यादिदोपाणां प्रभावविपरीता हीनमध्यादि-

ं अथ क्या युक्त्या रसा दोपान् जनयन्ति शमयन्ति चेत्याह,—रसदोपेत्यादि । सिन्नपात इत्यन्तंःशरीरमेलके। 'तु'शब्दो विशेषे, तेन विपरीतगुणा एव विशेषेण विपरीतगुण-भूथिष्ठापेक्षया शमयन्तीति दर्शयति । रसानान्तु यथा उपचारात् गुणा भवन्ति तदिभिहितं षद्त्वमुपिदश्यते रसानां परस्परेगासंस्रष्टानाम्, त्रित्वञ्चेव दोषागाम्। संसर्गविकल्पविस्तरो हेग्रषामपिरसंख्येयभेदो भवति विकल्पभेदापिरसंख्येयत्वात्।

रसास्तान् हीनमध्यादिदोवान् शमयन्त्रभ्यस्यमाना इत्येतद्व्यवस्थाहेतोः षट्त्वं रसानां मधुरादीनां परस्यरेणासंस्रष्टानां तथा परस्परेणासंस्रष्टानां दोपाणां त्रिलञ्जोपदिश्यते।

नतु संसर्गस्तु किमात्रेयभद्रकाष्यीयोक्त एव रसानां पट्पश्चाशिष्ध एव कियन्तःशिरसीयोक्त एकोनपिष्टिविध एव दोपाणां नातिरिक्तो भवतित्यत आह—संसर्गत्यादि। हि यस्मादेषां रसानां पण्णां त्रयाणाश्च दोषाणां संसर्गविकल्पस्य विस्तरोऽपिरसङ्घायो भवति। कस्मात् १ तेषां विकल्पभेदस्यापिरसङ्घायतात् परिसङ्घातुमशक्यतात्। रसस्य रसान्तरेण दोपस्य दोषान्तरेण संसर्गेऽ शांशतः परिमाणिवशेषतश्च कर्म्मविशेषतश्च विकल्पभेदपिरसङ्घा नास्ति । ननु एवञ्चेत् रसदोपसंसर्गेविकल्पभेदपिरसङ्घा नास्ति ति। ननु एवञ्चेत् रसदोपसंसर्गेविकल्पभेदपिरसङ्घा नास्ति ति। ननु एवञ्चेत् रसदोपसंसर्गेविकल्पभेदपिरसङ्घा नास्ति ति कथं रसानां पट्तस्य दोषाणां त्रिलस्योपदेशेन रसदोपसंसर्ग विकल्पभेदे व्यवसायवुद्धिः स्यादित्यत आह—तत्र खिल्वत्यादि। तत्र रसदोपसंसर्गविकल्पभेदानामपिरसङ्घायामिप अनेकरसेषु द्रव्येषु तथैवानेकदोपात्मकेषु विकारेषु प्रकृतिसमसमवेतेषु रसदोपम्पावस्, अनेकरसद्भव्येषु रसानामेकक्षक्रयेन प्रभावप्रभिसमीक्ष्य सर्व्येष पर्यान्त्रेष्ठ दोपाणाञ्चेकक्षक्रयेन प्रभावप्रभिसमीक्ष्य ततोऽनन्तरं तत्तव्रसवद्द्वणाणां तत्तव्दोपप्रकृतिकल्वरादिविकाराणां प्रभावस्य शक्तिविशेषस्य तत्त्वं याथार्थ्यं व्यवस्येत् क्रुशलः।

"गुणा गुणाश्रया नोक्ताः" इत्यादिस्त्रेण । अभ्यस्यमाना इति न सक्तदुपयुज्यमानाः । अथ कस्मात् रसदोपसंसर्गभूयस्त्वं परित्यज्य रसपट्ष्वं दोपत्रित्वज्ञ उच्यते १ इत्याह—इत्येतदित्यादि । व्यवस्थेति रसदोपसंसर्गप्रपञ्चसंक्षेपः । परस्परेणासंस्टानामितिपदं दोपाणामित्यनेनापि योज्यम् ।

रसदोपसंसर्गप्रपञ्चानभिधाने हेतुमाह—संसर्गेत्यादि। यस्मात् संसर्गभेदिविस्तरो-ऽपित्संख्येयस्तरमात् पट्षं त्रित्वञ्चोच्यते। विकल्पभेदापिरसंख्येयत्वादिति संसर्गस्य विकल्पस्य भेदो विजातीयप्रकारस्तस्यापिरसंख्येयत्वात्। एतेन, यथा रसानामवान्तरस्यिक-भेदेऽपि मधुरत्वादिसामान्ययोगात् मधुरादिन्यपदेशेन पट्ष्वमुच्यते, तथा मधुराम्लमधुरलवणादि-

- 7

तत्र खल्वनेकरसेपु द्रव्येष्वनेकदोषात्मकेषु च विकारेषु रसदोपप्रभावमेकेकरयेन ७ अभिसमीच्य ततो द्रव्यविकारयोः प्रभावतत्त्वं व्यवस्येत्। न त्वेवं खलु सर्वत्र। न हि विकृतिविषमसमवेतानां नानात्मकानां परस्परेण चोषहतप्रकृति-

नमु रसदोपसिवातः खळु रसानां संसगी दोपाणाञ्च संसर्गः, तत्र किं कारणसमानरूपेणैव कार्यं कारणसमवायः स्यान गुणकरमंबैपर्येण भवतीत्यत आह—न त्वेवं खल सन्वेत्रेति। रससंसगें सर्वत्र दोपसंसगें च खळू नैवमुक्तप्रकारेण व्यवस्येत्। कस्मात् ? न हीत्यादि । हि यस्मात् विकृतिविषमसमवेतानां नानात्मकानां नानारसात्मकानां रसानां नानादोषात्प्रकानां व्वरादिविकाराणां परस्परेणोष-हतानां नानारसानागारम्भकाणां कार्यारम्भे तद्वाश्रयद्गव्यस्थकम्मीणि काल्डेशादिवशात् प्रकृतिस्थान् रसान् विकृत्य परस्परेणोपहृत्य तत्तद्रस-प्रभावतो विषमरूपेणापूर्व्वविशिष्टस्वरूपेण कार्य्यरसेषु समवायिनः कुर्व्वन्तीरयेवं परस्परेणोपहतरसजानां, तथा नानादोपाणामारम्भकाणां ज्वरादिकाय्या-रम्भे तत्तदोपस्थकम्मीणि कालदेशनिदानविशेषवशार् विकृत्य प्रकृतिस्थस्वरूपं विद्याय परस्परेणोपहत्य विषमकरमेरूपेणापुर्व्वविशिष्टस्वरूपेण परिणम्य क्रिय-माणे ज्वरादौ समवायीनि भवन्तीति परस्परेणोपहतकरमीवातादिद्योपजानां संसर्गाणामपि सत्यप्यवान्तरभेदे सामान्येनोपसंग्रहं कृत्वा त्रिपष्टित्वसंख्यानियमो भविष्यवीति निरखते । यतः, मधुराम्छादिसंसर्गोऽपि विजातीयो मधुरतरमधुरतमादिभेदक्रतभेदोऽपरिसंख्येयो भवति । वचनं हि—"रसाखरतमाभ्यस्ताः संख्यामतिपतन्ति हि" इति ।

अथ क्यं 'तिहं रसानां 'संस्प्यानं दोपाणाच प्रभावो होय इत्याह ;—तत्र खिल्वत्यादि । तत्र चानेकरसद्रव्यस्यानेकदोपिवकारस्य च प्रत्येकरसदोपप्रभावमेळकेन प्रभावं कथयन् रससंसर्गदोपसंसर्गयोरिप तादशमेव प्रभावं कथयित, यतः रसदोपसंसर्गप्रभावावद्य द्रप्यविकारप्रभावाश्रयित्वात् रसदोपजद्रव्यविकारप्रभावत्वेनोच्येते । अनेन न्यायेन साक्षाद्नुक्तोऽिप एकरसद्वयेकदोपविकारयोरिप प्रभावः संस्प्यदोपप्रभावकथनाइक एव ज्ञेयः । एक्षेकत्वेनािस-समीक्ष्येति प्रत्येकयुक्तरसादिप्रभावेणानेकरसं द्रव्यम् अनेकदोपञ्च विकारं समुदितप्रभावमिन-समीक्ष्य ।

ं अयद्य रसदोपप्रभावद्वारा द्रव्यविकारप्रभावनिश्चयो न सर्वत्र द्रव्ये विकारे चेत्याह—

[•] एक्रेकत्वेनेति हितीयः पाठः । . :

कानाम्छ, अन्येश्च विकल्पनैर्विकल्पितानामवयवप्रभावानुमानेनैव

अनैप्रविकल्पनैरेकैकरसमभावकर्म्मविकल्पनैरेकैकदोपमभाव-ज्वरादीनाश्च भिन्न विकल्पने ग्रीणकृतगुणविकल्पने विकल्पतानां कार्य-रसानां कार्य्यञ्चरादीनामवयवप्रभावानुमानेन तदारस्भकरसाश्रयद्रव्यस्थकृतैः गुणैरवयवैस्तद्रारम्भकद्रोपस्थगुणकृतेर्गुणैश्रावयवैर्तुमानेन समुद्रायस्यं विकृति-विषमसमवेतस्य नानारसात्मकरसस्य विकृतिविषमसमवेतस्य नानाद्रोपात्मकस्य ज्वरादेश प्रभावाणामार्म्भकद्रव्याणां कर्मातिरिक्तकर्मणां तत्त्वं भिषग्भिः अध्यवसातुं शक्यं न भवतीति। सन्वे हि भावा द्विविधमारभ्यन्ते समवायिभिः कारणैदेशकालकारणविशेषवशात् प्रकृतिसमसमवायेन विकृति-विषयसमवायेन च। यैद्रैन्यैयौँ भाव आरभ्यते तद्भावमारभमाणानि द्रव्याणि चेतनप्रयुक्तानि स्वस्वकर्माभिः परस्परं संयुज्यमानानि पुनःपुनः विभव्यमानानि खलु संयोगविभागाभ्यामावर्त्त्रयानानि देशकालकारणादि-वज्ञात् स्वाश्रयद्रव्यतद्गुणान् स्वानि चानुरूपेण मेलयित्वैकीकृत्य प्रकृत्यैव जायमाने भावे समवायीनि कुर्वन्तीति प्रकृतिसमसमवेतः स भावो जायते । तत्र द्रव्याणि सजातीयानि द्रव्यान्तराण्यारभन्ते गुणाश्च सजातीयानि

न त्वेवं खलु सर्वत्रेति। अत्रैव हेतुमाह—न हीत्यादिना अध्यवसातुं शक्यमित्यन्तेनः। विकृतिविषमसमवेतानामिति विकृतिसमवेतानां तथा विषमसमवेतानाम्; समवेतानामिति मिलितानां रसानां दोपाणाञ्च । तत्र रसस्य विक्तंतिसमवायो यथा ;—मधुरे तण्डुलीयके, मधुरो हि प्रकृत्या स्तेहवृष्यत्वादिकरः, तण्डुरुीयके विकृतिसमवेतत्वेन तन्न करोति । विपमसमवेतारत तिले कपायकटुतिकमधुराः । यदि हीमे रसाः अमात्रया समवेता न रयुस्ततिस्तिलोऽपि पित्तइलेप्स-हरसिदोपहरो वा स्यात्, पित्तकफकरस्त्वयं, तेन, अत्र रसानां कचित्, कर्तुत्वमकर्तुत्वज्ञ "नानात्मकानाम्" इत्यादि हेतुत्रयन्तु विकृतिसमवायविपम-कचिदिति चेपम्यमुक्रीयते। ,सम्वाययोरेवोपलम्भकम् ; तेन "नानात्मकत्वाद्" इत्यादिभिर्विकृतिसमवायविषमसमवायौ , भवंतः । 🕐 नातात्मकानामिति नानारूपहेतुजनितानां, तेन हेतुवलादेव रसदोपयोर्विङ्गतो -विपमो वा मेलको भवतीत्यर्थः। किंवा, नानात्मकानामिति नानाप्रमाणानाम्। एवञ्च नाना-- प्रमाणत्वं विपमसमवाये हेतुः । परस्परेण चोपहतानामित्यन्योन्यमुपघातितगुणानाम् । परस्पर-गुणोपघातस्तु यद्यपि दोपाणां प्रायो नास्त्येव, तथाप्यदृष्टवशात् क्विद्भवतीति ज्ञेयम् । रसानान्तु प्रवलेनान्योपघातो भवत्येव। अन्येश्च विकल्पनैरिति अन्येश्च भेदकैः। तत्र रसस्य भेदकाः

[🔹] उपहतप्रकृतिकानामित्यत्र उपहतानासिति वा पाठः ।

गुणान्तराणि आरभन्ते कम्मीणि च सजातीयानि कम्मीन्तराण्यारभन्ते विरोधीनि च। यैस्तु द्रव्यैयोऽपरो भाव आरभ्यते तानि द्रव्याणि चेतन-प्रयुक्तानि ख्रस्थकम्मीभर्दे शकालकारणिवशेपवशेनैकीभूतैर्विजातीयरूपमापद्य-मानैः संयुज्यमानानि विभज्यमानानि च पुनःपुनरावर्त्तप्रमानानि कारणानु-रूपद्रव्यान्तररूपेण परिणम्य कारणानुरूपगुणान्तररूपेण गुणाश्च परिणम्य ख्रस्याननुरूपविशिष्टापूर्व्वविजातीयाचिन्त्यरूपेण च ख्रयं ख्रयं परिणम्य जायमाने काय्ये समवायीनि भवन्ति सन्ति द्रव्याणि गुणांश्च समवायिनः कुर्व्वन्तीति विकृतिविपमसमवेतः स भावो जायते। तत्र द्रव्याणि सजातीय-द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरं सजातीयमेवारभन्ते कारणगुणपूर्व्वको हि कार्ययेगुणो भवति। कम्मीणि तु सजातीयविजातीयं विरोधि कम्मे आरभन्ते। तत् तु कम्मीभावाणां संहतरूपाणां प्रभाव उच्यते। इति।

नतु च भो द्रव्याणि यदि विकृतिवियमसमवेतानि ज्वरादीनि गुणाश्च रसा-द्यो विकृतिवियमसमवेताः कर्म्माणि च विकृतिवियमसमवेतानि प्रभावा उच्यन्ते, तर्हि कथं सजातीयारम्भकत्वं द्रव्यगुणयोर्न कम्मेण इति चेन्न। यतः कार्य्य-द्रव्यारम्भे तत्कार्य्यस्य कारणानां द्रव्याणां पृथिवी पृथिव्यन्तरं मूर्त्तिविशेषम् आरभते न तु जलादिकम्, आपश्च शारीररसादि जलान्तरमारभन्ते, तथा तेजः शारीरतेजोऽन्तरमारभते, इत्येवं सजातीयद्रव्यान्तरमारभन्ते द्रव्याणि न तु विजातीयद्रव्यान्तरम्। तथा गुणाश्च रसाद्यस्तत्तव द्रव्यस्थाः सजातीय-

स्वरसकल्काद्यः। एकस्यव हि द्रन्यस्य विकल्पनिविशेषेण गुणान्तराणि भवन्ति। दोपस्य तु दृष्यान्तराण्येव गुणान्तरयोगाद् भेदकानि भवन्ति। यदक्तं,—"स एव कुपितो दोपः समुत्थान-विशेषतः। स्थानान्तरगृतद्येव विकारान् कुरुते वहून्॥" अस्मिन् व्याख्याने रसानां दोपाणाद्य यदक्तपीपकर्षकृतो विपमसमवायः पृथगुच्यते, स न युज्यते, यतः विपमसमवाये उत्कृष्टस्य् रसस्य तथा दोपस्य चोत्कृष्टा गुणाः अपकृष्टस्य चापकृष्टा गुणा भवन्तीति कृत्वा अवयवप्रभावानुमाने नेव समुदायप्रभावानुमानं शक्यम्। अथोच्येत —विपममेलके रसस्य दोपस्य च न त एव गुणा उत्कृष्टा अपकृष्टा वा भवन्ति, किन्तु गुणान्तरमेव भवति। तत् तिहं विकृत एवायं समवायो विसदशकाष्यंकारणत्वात्। तदेवं दूपणदर्शनादन्यथोच्यते। यत्र द्विविधो मेलको भवति रसानां दोपाणाद्य प्रकृत्यनुगुणः प्रकृत्यननुगुणश्र, तत्र यो मिलितानां प्रकृतिगुणानुपमदेन मेलको भवति, स प्रकृतिसमसमवायो-इत्यनुगुणः प्रकृत्यननुगुणश्र, तत्र यो मिलितानां प्रकृतिगुणानुपमदेन मेलको भवति, स प्रकृतिसमसमवायो-इत्यन्ति, विकृत्वविपमसमवायो-इत्यन्ति, विकृत्वविपमसमवायो-इत्यन्ति, विकृत्वविपमसमवायो विकृतिविपमसमवायो इत्यथः। विकृतिविपमसमवायो विकृतिविपमसमवायो इत्यथः। विकृतिविपमसमवायो विकृतिविपमसमवायो विकृतिविपमसमवायो विकृतिविपमसमवायो विकृतिविपमसमवायो विकृतिविपमसमवायो विकृतिविपमसमवायो विकृतिविपमसमवायो विकृतिविपमसमवायो विकृतिविपमसमवायो विकृतिविपमसमवायो विकृतिविपमसमवायो विकृतिविपमसमवायो वानात्मकर्वादिहेतुत्रयं यथाविवृत्तमेव योजनीयम्। यत् तु विकृतिविपमस्

६४०२

समुदायप्रभावतत्त्वमध्यवसातुं शक्यम् । तथायुक्ते हि समुदाये समुदायप्रभावतत्त्वमेवोपलभ्य ततो द्रव्यविकारप्रभावतस्यं ग्रुणान्तरमारभन्ते न तु विजातीयगुणान्तरम्। यथा साधारणो रसोऽप्स पृथिव्याश्च भूतान्तरमंयोगेऽभिव्यज्यमानो मधुरादिरसान् सजातीयानारभते। मधुरादिरसवर्द्रच्यारभ्यमाणे पुनरन्यस्मिन् द्रच्ये प्रकृतिसमसमवेते विकृति-विषमसमवेते वा ते मधुरादयो रसाः सजातीयमेव प्रकृतिसमसमवेतं रसान्तरं विकृतिविषमसमवेतं वा रसान्तरमारभन्ते, न तु रूपान्तरं गन्धान्तरं वा विजातीयगुणान्तरम् । एवं रूपादयो गुणा व्याख्येयाः । कम्मीणि तु खळूत्-क्षेपणावक्षेपणादीनि द्रव्यस्थानि सजातीयं कम्मीन्तरं प्रकृतिसमसमवेतमारभन्ते सर्च्वाणि चैकीभूय विकृतिविषमसमवेतं विजातीयमचिन्त्यं कम्मीरभन्ते विजातीयेन कम्मणा सह मिलिला कर्म्म यथा यदुच्यते प्रभाव इति। विशिष्टापूच्वेविजातीयकम्मीण्यारभते न तथा द्रव्याणि गुणा वा विजातीय-द्रव्यान्तरेण विजातीयगुणान्तरेण वा मिलिला विजातीयं द्रव्यान्तरं गुणान्तरं वारभन्ते इति।

नन्वेवञ्चेत् तर्हि नानारसात्मकं विकृतिविषमसमवेतं रसं नाना-दोपात्मकं ज्वरादिकश्चावयवेनानुमाय तत्समुदायरूपरसविकारयोः प्रभावतत्त्वम् अध्यवस्येत्। कस्मादिति १ अत आह—तथायुक्ते हीत्यादि। तथा कारणिवशेपाद् विकृतिविशेषेण परस्परोपघातादारम्भकप्रकृतिभूतकारणानां विकृत्या स्वकम्मी-ननुरूपकम्मवत्त्वया समवायेन युक्ते रसे विकारसमुदाये एकीभूतरूपे समुदाय-प्रभावतत्त्वं तथाविधमिलिततयैकीभूतरूपस्येव प्रभावतत्त्वं तत्त्वननुरूपकम्मी-प्रभावतत्त्वमुपलभ्य ततोऽनन्तरं समुदायप्रभावतत्त्वोपलम्भाद् द्रव्यविकारप्रभाव-समवायो प्रथाव कृत्वंन्ति, विषमसमवायस्य वैषम्यतारतम्येनातिवहुप्रपञ्चितत्वात् विषमावयव-गुणानुमानं दश्यक्यमिति कृत्वा तदिष द्रव्यविकारप्रभावेणेव व्यवदिशन्ति।

अथ कथं तिहाँ विकृतिविषमसमवायशभावज्ञानिमत्याह—तथायुक्ते हीत्यादि तथायुक्ते समुदाय इति विकृतिविषमसमवाये। समुदायशभावतत्वमिति मेळकप्रभावतत्त्र समध्ते हि मधुसिपिधी सूर्य्यावर्त्तां वा व्याधी दोषसमुदाये न संयुक्त्यमानमधुष्टृतगुण्यः मारकत्वं, न च वातादिदोषशभावगतं सूर्य्यवृद्ध्या विद्धिष्णुत्वं किन्तु संयोगमहिमकृतमे रस्पर्थः यच गतिद्वयं दोषरसमेळकस्य, तेन, प्रकृतिसमसमवायरूपं सिन्नपातं ज्वरनिदाने दो स्तानान्तु। नैवोक्तवान् ;—यद्कः "पृथक् लक्षणसंसर्गात् द्वान्द्विकं सान्निपातिकम् ज्वरं विद्याद् स्तानान्तु। विकृतिविषमसमवेतो ज्वरस्तस्य, चिकित्सिते—"क्षणे दाहः क्षणे शीतम्" इत्यादिन। व्यवस्येत् । तस्माद् रसप्रभावतश्च द्रव्यप्रभावतश्च दोषप्रभावतश्च विकारप्रभावतश्च तत्त्वमुपदेच्यामः । तत्रैष रसप्रभाव उपदिष्टो भवति ॥ ३ ॥

तत्त्वं तत्समुद्दायकार्यरूपद्रव्यविकारयोः प्रभावस्य ख्यस्करम्भेकरतस्यभावस्य तत्त्वं याथार्थ्यं व्यवस्येत्। तस्मादुक्तरूपेण विना द्रव्यविकारयोर्जानाभावात् प्रकृतिसमसमवेतद्रव्यमानज्ञानार्थं रसमभावतश्च विकृतिविषमसमवेतभूतार्व्यद्रव्यमानज्ञानार्थन्तु द्रव्यमभावतश्च प्रकृतिसमसमवेतदोषार्व्यविकारमानज्ञानार्थं दोषप्रभावतश्च विकृतिविषमसमवेतदोषार्व्यरोगमानज्ञानार्थं विकारमभावतश्च तत्त्वं द्रव्यविकारयोर्थार्थार्यप्रमुपदेक्ष्याम इत्यर्थः। नत्रैष इति उक्तरूपो रसम्भाव इति। यो रसो यत् कम्भं करोति तस्य रसस्य तत्कम्भंकरत्वेन प्रभावः शक्तिरूपदिष्टो भवति॥ ३॥

न हिं श्यावरक्तकोठोत्पर्यादि तत्रोक्तं वातादिः वरे कचिद्रस्ति । एवं रसेऽपि यत्राम्राते मधुरत्वं प्रकृतिसमसमवेतम्, तत्राम्रातं मधुरमेतन्मात्रमेवोक्तं, तेन मधुरसामान्यगुणागतं तस्य वातहरत्वं पित्तहरत्वमपि रुभ्यते । यत्र वार्ताके कटुतिकत्वेन वातकरत्वं प्राप्तमपि च विकृतिविषम-समवायात् तन्न भवति । तत्राचार्य्येण, 'वार्ताकं वातप्तम्' इत्युक्तमेव । एवमित्यादि तत्तद्वद्वाहरणशास्त्रप्रसूत्तमनुसरणीयम् । यत् तु प्रकृतिसमसमवायकृतरसदोषगुणद्वारा प्राप्तमपि इच्यगुणं विकाररुक्षणञ्च ब्रूते, तत् प्रकर्पार्थं स्पष्टार्थञ्चेति ज्ञेयम् ।

उपसंहरति तस्मादित्यादि । तत्विमिति प्रभावतत्वम् । यत् तु पूर्वं "तत्रादौ रसद्वयदोपविकारप्रभावानुपदेक्ष्यामः" इत्यनेन रसादिप्रभावव्याख्यानप्रतिज्ञानं कृतम्, तत्र रसप्रभावानुमानेनेव द्रव्यप्रभावकथनात्, तथा दोपप्रभावेण च विकारप्रभावकथनाचरितार्थम् । इह तु विकृतिविष्मसमवायात्मके द्रव्ये विकारे वा रसदोपप्रभावानुमानेन न द्रव्यविकारप्रभावानुमानम्तिति कृत्वा पृथक् पृथग् रसादिप्रभावतत्वाभिधानप्रतिज्ञानमिति न पौनरुक्त्यम् ; इह द्रव्याणां वीर्व्यप्रभावविषाकप्रभावो च द्रव्यप्रभावे रसप्रभावे चान्तर्भावनीयो । तत्र यो रसातु-गुणो वोर्व्यविषाकप्रभावो, तो रसे, यो तु रसक्रमोक्तवीर्थ्यविषाकविषयी । तत्र यो रसातु-प्रभावो वोद्वविषाकप्रभावो, तो रसे, यो तु रसक्रमोक्तवीर्थ्यविषाकविषयीते वोर्व्यविषाको, तो द्रव्यप्रभावो वोद्वविषा । उपदेक्ष्यामो निष्विलेन तन्त्रेण रसादिप्रभावतत्त्वं पृथगुपदेक्ष्याम इति रसादि-प्रभावः प्रपत्नेन निष्विले तन्त्र एव वक्तव्य इत्यर्थः । सङ्खेषानिधानमेतदेवेति दर्शयकाह—तत्रेष इत्यादि । एप इति "रसाः पड्" इत्यादिना "तत्त्वमुपदेक्ष्यामः" इत्यन्तेन प्रन्थनोक्त इत्यर्थः । उपदिष्टो भवतीति सङ्क्षेणेण कथितो भवति । अन्ये तु 'तत्रेष रसप्रभाव उद्दिष्टो भवति' इति पठन्ति । अस्मिन् पक्षे द्रव्यदोपविकारप्रभावोऽपि योऽत्रानुहिष्टः सोऽपि रसद्वारा, तेन, रसस्येव प्रपद्धाभिदितस्वात् हस्येव अभिधानमुपरुद्धित न दृश्यादीनामिति क्रेयम् ॥ ३ ॥

रसविमानम्

द्रव्यप्रभावं पुनस्पदे च्यामः। तैलसर्पिर्मधृनि वातिपत्त-रलेष्मप्रशमनानि द्रव्यागि। तत्र तेलं स्नेहीष्ण्यगौरवोष-पन्नत्वाद्वातं शसयति सततसभ्यस्यमानम् । वातो हि रौद्यशैत्य-लाघवोषपन्नो विरुद्धगुणो भवति, विरुद्धगुणसन्निपाते हि भूयसा अल्पमवजीयते। तस्मात् तैलं वातं जयति सततमभ्यस्यमानम्।

गङ्गाधरः - द्रव्यप्रभाविमिति यद् द्रव्यं यत् कर्मा कर्त्तुं यथा प्रभवित तत्-कस्मेकरत्वेन तस्य प्रभुत्वं प्रभावस्तम् । तैलेत्यादि । तैलादीनि त्रीणि द्रव्याणि वातादीनां त्रयाणां क्रमेण प्रशमनानि समुदायप्रभावेण न त्वेकेकरसादि-भभावेण। तद् विष्टणोति—तत्रेत्यादि। तत्र तैलसपिंमधुषु मध्ये तैलं तिल-मभवं स्नेहरूपं द्रव्यं पाञ्चभौतिकमपि तिलमकृतिकलात् यत् स्नेहौष्णाः-गौरवोपपन्नत्वं स्वप्रभावस्तस्मादेव वातं शमयति। ननु कस्माद् वातं शमयतीत्यत आह—वातो हीत्यादि। रौक्ष्यशैत्यलाघवोपपन्नलपभावो हि वातस्तस्मात् स्नेहादिस्वभावात् तैलाः विरुद्धगुण इति वातमभावात् तैल-मभावो विजेपो हासहेतुश्च विजेपस्तस्मात् तैलं वातं शमयति। ननु रुक्षः शीतो लघुः सहमञ्जलोऽथ विशदः खर इत्यनेन वातस्यापि सहमत्वं कपायानुरसं स्वादु सूक्ष्ममुष्णं व्यवायि चेत्यनेन तैल्स्यापि कपायानुस्वादुरसत्वं मूक्ष्मलञ्चोक्तम् इत्यतो वातस्य सुक्ष्मग्रणस्य सौक्ष्मग्रगुणेन च तैलेन समानलात् कपायरसेन च तलस्य वातवद्धंकत्वं कथं न स्यादित्यत आह—विरुद्धेत्यादि। येन गुणेन यो या गुणो विरुध्यते ते ते गुणास्तत्तव्गुणविरुद्धगुणास्तेषां गुणानां सिन्निपाते ससग तदन्तर्गतेन भूयसा वहुतमेन मानाधिकतमेन च गुणेनाहपं गुणरूपम् अवजायते। इति न पाटः इति कश्चित्। न हेप्रकस्मिन् द्रव्ये विरुद्धगुणाः

चकपाणिः—इन्यप्रभावमित्यादौ पुनरिति सामान्येन द्रन्यप्रभावकथनात् पुनः शृङ्गप्राहिकतया . तैलादिद्रन्यप्रभावं कथयिप्याम इत्यर्थः । प्रशमनार्थानि इति प्रशमनप्रयोजनानि ।

संतत्तमभ्यस्यमानमित्यविच्छेदेनोपयुज्यमानं, विरुद्धगुण इति तैलगुणेभ्यो विपरीतगुणः। विरुद्ध गुणसन्निपात इति विरुद्ध गुणयोर्मेलके। ननु विरुद्ध गुणयोर्मध्ये भूयसारुपं जीयते, तत् कथं तैलं वातं जयति १ न हि अस्य वातं प्रति भूयस्त्वं युक्तमित्याह—सततमभ्यस्यमानमिति । सततोपयोगेन हि तैलं वाताद्धिकं भवति, तेन वातं जयतीत्यर्थः ।

सिं खल्वेवमेव पित्तं जयित माधुर्यात् शैत्यान्मन्द्वीर्य्यत्वाच, पित्तं ह्यमधुरमुण्णं तीच्णञ्च । मधु च श्लेप्माणं जयित रीच्यात्

सम्भवन्ति—यत्र च शैत्यं न तत्रीरणंत्र, यत्र गुरुत्वं न तत्र लघुत्वं, यत्र स्निग्धत्वं न तत्र रुक्षलिमत्येवमादि हि दृज्यते तस्मात् यस्यैकस्य द्रव्यस्य र्यगु णैयेदपरद्रव्यस्य ये गुणा विरुध्यन्ते ते विरुद्धगुणा ये च गुणा न विरुध्यन्ते तेऽविरुद्धगुणा इति। तेपां विरुद्धाविरुद्धगुणानां सन्निपाते सम्यगकस्मिन् द्रव्ये निपतनेऽर्धात पकृत्या चोत्तरकालं वा वर्त्तने तद्नतगेतेन विरुद्धाविरुद्धान्यतरेण भूयसा मानतो वा संख्यया वाऽधिकतमेन गुणेनाल्पं तदन्तगेतं विरुद्धाविरुद्धान्यतस्त संख्यया वा मानतोऽल्पं गुणात्मकं वस्तु अवजीयते इति । विरुद्धाविरुद्धगुण-सनिपाते हि भ्रयसाल्पमवजीयते इति पाटः साधूरिति तन्न । जैमिनिनाप्युक्तस्य विरुद्धथम्मसमवाये भूयसां स्यात् सथम्भीकलमिति सूत्रस्य दर्शनेन यदि गुणानां विरुद्धत्वं यस्य द्रव्यस्य यो यः समानोऽसमानश्च गुणो यत्रापरद्रव्ये वर्त्तते ते समानासमाना गुणा एव तेपां गुणविरुद्धगुणास्तेपां सन्तिपाते तयोर्भध्ये भ्रयसाल्पमवजीयते इति च्याख्यानाट् विरुद्धगुणसन्निपाते हीत्येव पाटस्य साधुता। भूयसा इतीयसुना यत्किञ्चित् वाहुत्ये तु जयावजयत्वं न कल्पते इति शापितं, तस्मात् तैलं सततमभ्यस्यमानं न तु कदाचिदुपसेव्यमानं वातं जयित न त अनुरसकपायेण सोक्ष्म्येण च वातं वर्द्धयति, पित्तस्य स्नेहद्रवलीष्णप्रगौरव-समानानां तेलस्य स्नेहीज्णांगीरवाणाश्च मानतः संख्यया च भ्रयस्त्वेन कपाय-स्रक्ष्मत्वयोरवजये तैळं .पित्तं वर्द्धयतीति तैलद्रव्यप्रभावः। वातस्य दोपस्य च प्रभाव उपदिष्टो भवति।

सिपिरत्यादि । अमधुरमिति मधुरविपरीतं तिक्तं विद्ग्धमम्लं तीक्ष्णञ्चेति विरुद्धगुणम् । सम्नेहमपि द्रवमपि च सिपिस्तुल्यमिति समाना-समानतया विरुद्धगुणसिन्निपातात् सिपिभूयसा माधुर्यशैत्यमान्द्यगुणत्रयेण पित्तस्य । माधुर्य्यौष्णप्रतिक्षणप्रविरोधिना समानमप्यल्पं सङ्घ्या स्वीयं स्नेहद्रवगुणद्वयमवित्यं न वर्द्धयिता । तस्मात् सिपिः पित्तं जयति । इति सिपिषः स्वप्रभावः पित्तस्य च दोषस्य प्रभाव उपदिष्टो भवति ।

सर्पिः खल्वेवमेवेति । सर्पिरपि सततमभ्यस्यमानमित्यर्थः । अमधुरमिति रोध्य-लाववावृष्यत्वादिना मधुरविपरीतं कदुरसमित्यर्थः । इह च प्रभावशब्देन सामान्येन द्रव्यशक्ति-रुद्यते, तेनात्राचिन्त्यशक्तिः, तेनं तेलादीनां स्नेहीध्यादिगुणादपि वातादिशमनं द्रव्यप्रभावादेव 3089

तैच्यात् कषायत्वाच, श्लेष्मा हि क्षिग्धो मन्दो मधुरश्चेति विपरीतग्रगाः। यज्ञान्यद्षि किञ्चिद् द्रव्यमेवं वातपित्तकफेभ्यो गुगतो विपरीतं स्यात् तच्चैतान् जयसभ्यस्यमानम् ॥ ४ ॥ अथ खलु त्रीणि द्रव्याणि नाभ्युपयुञ्जीताधिकमन्येभ्यो

मधु चेत्यादि। रौक्ष्यादिकस्तु मधुनः प्रभावः। स्त्रिग्धादिकस्तु क्लेष्मदोपस्य प्रभाव इति क्लेष्मगुणेभ्यो विपरीतगुणं मधु। ज्ञीतं गुरु मधुरञ्चेति इलेष्मसमानमप् पुरातनं चेद् भवति तदातितीक्ष्णरोक्ष्यकपाय-त्वेनाल्पं गुरुलशीतलमाधुर्यमाद्यत् भूयसा रौक्ष्यादिनाल्पं स्वगुरुलादिकम् अवजित्य इलेष्मगुरुलादिकं न वर्द्धयति। तस्मात् मधु च इलेष्माणं जयतीति मधुप्रभावः इलेष्मद्रोपप्रभावश्चोपदिष्टो भवति ।

तैलादिद्रव्यत्रयप्रभावान् दोपत्रयप्रभावांश्च दर्जियता यावद्-⁻⁻यमभावमुपद्रजनार्थमुपसंहरति—यज्ञान्यदित्यादि । एतेन विकाराणास् ारेसङ्खप्रयत्वेन सर्व्वत्र शारीरव्याधिषु निजागन्तुषु पूर्व्वोत्तरकालौ दोपा-णामन्यभिचारेण सम्बन्धात् तदात्मकत्वेन संग्रह्य दोपप्रभावोपदेशेनैव सन्ब-विकारमभावोऽपुत्रपितृष्टो भवतीति वोध्यम् ॥ ४ ॥

ग<u>ङ्गाधरः</u>—रसद्रव्यदोपविकारप्रभावानुपदिञ्य द्रव्यप्रभावप्रसङ्गात् प्रभावोप-दर्शनार्थं केपाश्चिट् द्रव्याणामतिमात्रोपयोगे दोपमाह द्रव्याणां समुद्रायमभावोप-देशमसङ्गेन-अथेत्यादि। अधिकमिति क्रियाविशेपणं, तेन सततमित्यर्थो

भवति । सर्पिपि च यद्यपि मधुरो रसः पित्तप्रशमे व्याप्रियते, तथापि माधुर्य्यशैत्यमन्दत्वैः पित्त-शमनं सर्पिःकार्य्यमेव, तेन द्रव्यप्रभाव एव वाच्यः। यदा तु रसद्वारा कार्य्यं द्रव्यस्य चिन्त्यते, तदा रसप्रभाव इति व्यपदेशो भवति । एवं कपायानुरसे मधुनि समाधानं वाच्यम् । अन्ये तु ब्रुवते—यत् तैलादीनां वातादिशमनत्वं प्रत्यचिन्त्य एव प्रभावोऽयमुच्यते, तत्र च तैल-वातयोर्विरुद्धं गुणयोर्मेलके तेलमेव वातं जयति, न तु वातस्तेलमिति तेलस्याचिन्त्यप्रभावः। एवं सर्पिर्मधुनोरपि पित्तइलेप्महरणे प्रभावाज् ज्ञेये। एतचान्ये नेच्छन्ति। यतस्तैलादीनां "सततमभ्यस्यमानम्" इति पदेनाधिक्यमेव वातादिजयकारणमुक्तम्, तथा, "यचान्यदिष किञ्चिद द्रव्यम्" इत्यादिग्रनथेन द्रव्याचिन्त्यप्रभावं परित्यज्य सामान्येन गुणवेपरीत्यमेवाभ्यासात् वातादिजयहेतुरुच्यते ॥ ४ ॥

खक पाणि:- अभ्यस्य द्वव्यं प्रभावीदाहरणार्धमिभिधायानभ्यस्यानाह- अशेखादि । अधिकं म्

द्रध्येभ्यः। तद् यथा—पिण्पलीः चारं लग्गणिमिति। पिण्पल्यो हि कटुकाः सत्यो मधुरिवपाका गुट्वर्मे नात्यर्थं स्तिग्धोष्णाः प्रक्ले-दिन्यो भेपजाभिमताश्च, ताः सद्य एव शुभाशुभकारिण्यो भवन्ति द्यापातभद्राः प्रयोगसमसाद्गुण्याद् दोषसञ्चयानुवन्धाः। सततम् उपगुज्यमाना हि गुरुप्रक्लेदित्वात् श्लेष्माण्मुत्क्लेश-यन्ति, त्रोष्ण्यात् पित्तम्। न च वातप्रशमनाय कल्पन्ते अल्प-स्नेहोण्णभावात् योगवाहिन्यस्तु खलु भवन्ति, तस्मात् पिप्पली-र्नाभ्युपयुक्षीत ॥ ५ ॥

न तिथकपरिमितिमत्यर्थः। त्रयाणां द्रन्याणामुदाहरणमाह —तद् यथेत्यादि। पिप्पलीरित्यादेनांभुप्रपुद्धतित्यादिनानुष्ट्यंनान्वयः। कटुका इत्यारभ्य दोप-सञ्चयानुवन्धा इत्यन्तेन प्रभावपदर्शनम्। प्रयोगस्य समं साद्गुणंप्र यस्य तत्त्वात् आपातभद्राः, दोपसञ्चयोऽनुवन्धो याभिः, कस्मादाभिः किं दोपसञ्चयानुवन्धो भवतीत्यत एवंपभावाणां पिप्पलीनां सततोपयोगतः प्रभावमाह—सततमित्यादि। ग्रह्वलेदिलादिति ग्रह्लात् प्रकलेदिलाच। औष्णप्रात् पित्तमुत्वलेशयन्तीत्यन्वयः। न चेत्यादि। अल्पस्नेहोष्णभावान्न च वात-प्रशमनायोपकल्पन्ते इत्यन्वयः। नन्वेवञ्चेत् सततोपयोगार्थमौपधेऽपि पिष्पलीनौपयुद्धीतेत्याशङ्कायामाह—योगवाहिन्य इत्यादि। तस्मादित्यादि। अत्राधिकमन्येभ्यो द्रव्येभ्य इत्यनुसार्यम्॥ ५॥।

अन्येभ्य इति वचनादन्यदिष चित्रकभङ्कातकादेववंजातीयं नात्युपयोक्तवम्, पिरपल्यादिव्वव्यन्तु अन्येभ्योऽप्यधिकमत्युपयोगे वर्ज्ञनीयमिति दश्येति। "कदुकाः सत्यो मधुरविपाकाः" इत्यादि पिप्पलीगुणकथनम् । अनभ्यासप्रयोगे दोपवेपरीत्येन दोपप्रशमनोपदर्शनार्थं तथा अत्यभ्यासाद "गुरुप्रक्ते दित्वात् इलेप्माणमुद्धि शयन्ति" इत्यादिप्रनथवक्तव्यदोपकरणयोग्यतोपदर्शनार्थञ्च "भेपजाभिमताः" इति । सद्य इति च्छेदः, सद्य इत्यनभ्यासे शुभकारिण्यः, अत्यभ्यासप्रयोगे गु अशुभकारिण्यः । एतदेव शुभाशुभकारित्वं दर्शयति "आपातभद्राः" इत्यादिना । प्रयोग-समसाद्गुण्यादिति समस्य प्रयोगस्य सद्गुणत्वात्, समेऽल्यकाले अल्पमात्रे च पिप्पल्याः प्रयोगे सद्गुणा भवन्तोत्यर्थः । दोपसञ्चयानुवन्धाः । एतदेव दोप-सञ्चयानुवन्धाः । पत्रिक्षानि —सत्ततिसत्यादि । पिप्पलीधम्मकथनप्रस्तावात् गुणान्तरमाह—योग-वाहिन्यस्त्वि । योगवाहित्वेन करुकानामपि विष्यलोनां वृत्यग्रयोगेषु योगः, तथा ज्वरगुल्पक्षः

चारः पुनरौष्णयतैच्णयलवणोपपन्नः क्लेदयति त्वादौ पश्चादुपशोषयति दहित पचिति भिनत्ति सङ्घातम् । स पचन-दहनभेदनार्थमुवयुज्यते । सोऽतिप्रयुज्यमानः केशाचिहृदय-पुंस्त्वोपघातकरः सम्पद्यते । ये हेप्रनन्तु वामनगरनिगमजन-पदाः सततमुपयुञ्जते, तेऽप्यान्ध्यषाग्रहामानित्यभाजो हृदयाप-कर्त्तिनश्च भवन्ति । तद् यथा—प्रायः प्राच्याश्चीनाश्च । तस्मात् चारं नाभ्युपयुञ्जीत 🛭 ॥ ६ ॥

गुङ्गाधरः-क्षार इत्यादि । क्षार इति भस्मप्रस्नु तोदक्निय्योसः सारभागः। औष्णारतिक्ष्णारलवणास्त्रयो गुणाः मभावाः, क्लेट्यत्यादौ पश्चात् शोपयतीति क्रियारूपः प्रभावः क्षारद्रव्यस्य स्वस्यैव न तु तद्गुणौष्णप्रादेः। औष्णप्रादि-गुणप्रभावजिक्रयारूपान् प्रभावानाह—दहतीत्यादि । पचनदहनभेदनानि त्रीणि गुणप्रभावजानि कम्माणि क्षारस्य प्रभावाः। तदुपयोगार्थमाह—स इत्यादि । तस्य सततोपयोगे दोप उक्तः, स यतः स्यात् तत्प्रभावमाहः सोऽतीत्यादि'। केशोपघातोऽकालपालित्यं खालित्यश्च, अक्ष्युपघात आन्ध्यं, हृदयोपघातो वक्षसि कत्तनवत्पीड़ा पुंस्तोपघातः पाण्ड्यम्। एतस्य सततोप-योगे केशोपघातादिष्वच्यभिचारं दर्शयति—ये हेर्रनमित्यादि । जनपदा जन-समूहाः ग्रामीणा जनपदा वा नागरिका जनपदा वा निगमवासिनो जनपदा वा ये त्वेनं क्षारं सततमुपयुक्तते तेऽपीत्यिपशब्दात् ग्रामादिवासिनः सब्वे वा अरुपे वा ये सततं क्षारमुपयुद्धते ते सततोपयोजितक्षाराः सन्वे वारुपे वाप्यान्ध्यादिभाजो भवन्ति हृदयोपकत्तिंनश्च भवन्ति। खालित्यमिन्द्रलुप्तरोगः केशस्य च्यवनाद्युनर्भावः। पालित्यमकाले केशपकता। हरादिप्रयोगेषु ज्वरादीन् हन्ति पिप्पली । अयञ्च पिप्पल्यतियोगनिपेधोऽपवादं परित्यज्य ज्ञेयः। तेन, न पिप्पलीरसायनप्रयोगस्तथा गुल्मादिषु वर्द्धमानिपपलीप्रयोगो विरोधमावहतीति । उक्ते हि विषये यथोक्तविधानेन निर्दोषा एव पिप्पल्य इति ऋषिवचनादुत्तीयते। अन्ये तु, अन्न-संस्करणे पिप्पल्यादीनामतिप्रयोगो निपिध्यते, न तु स्वातन्त्रेपणेति ब्रुवते । स हुपपयोगोऽति-मात्रत्वेन तथा सततप्रयोगेण चेति ज्ञेयम् ॥ ५ ॥

चिक्रपाणिः—हदयापकर्त्तिन इति हदयपरिकर्त्तनरूपवेदनायुक्ताः ।

* नात्युपयुक्षीतेति चकः ।

जवगां पुनरोप्ययतेच्ययोपप्रममनितग्रव्वनितिस्तिग्धम् ७ उपवलेदि विस्नं सनसमर्थमस्त्रव्यस्चिकस्मात्रातमद्दः प्रयोगसमसाद्दग्रुप्याद्व दोषसञ्चयानुबन्धं, तद्रोचनपचनोपक्लेदनिवस्नं सनार्थमुपग्रुच्यो। तदस्यर्थमु ग्रुच्यमानं ग्लानिशेथिल्यदौ बैल्याभिवि वृ तिकरं श्रिस्य भवति। ये ह्ये नद् प्रामनगरिनगमजनः दाः
सततम् ग्रुञ्जो, ते भूयिष्ठं ग्लास्तवः श्रिथिलमांसशोणिता
स्त्र स्विलेशसहाश्च भवन्ति। तद् यथा—बाह्योकसोग्रिकसन्धवसोवीकाः, ते हि पयसाि सह सदा लवग्रमश्चन्ति। येऽपीह
भूमेरत्यूपरा देशास्त्रिकोपधिवीरुद्धनस्यतिवानस्यत्या न जायन्ते,

नतु कस्मिन् देशे तथा स्यादित्यत उदाहरणार्थमाह—तद् यथेत्यादि । प्राच्याः कामरूपादिवासिनः ॥ ६ ॥

औष्णप्रतिक्षणप्रानितगौरवानितिस्त्रग्यसानि गङ्गाधरः-लवणित्यादि। गुणाः प्रभावाः। उपक्लेदिलादीनि तत्तद्गुणजानि कम्शीण प्रभावाः। आष्णारज तुपक छेदिसं तैक्ष्णप्रजं विस्न सनसामध्यं लवणस्सजमन्नद्रव्य-रुचिकरतम्। मध्यगुरुस्नहत्नाभ्यां मध्यमवातहरत्वं मध्यमकपकरतम् । आयातभद्रत्वं प्रयोगसनसाद्गुणारतो दोपसञ्चयानुबन्धसञ्च लवणद्रव्यस्य प्रयोगकत्तंच्यतायां प्रयोजनकरफलमाह-तद्रोचने-स्वमभावाः लवणस्य अस्य सततोषयोगे दोपजनकप्रभावानाह—तद्दयर्थेत्यादि। त्यादि । क्रैथिल्यभिति शरीरे मांसादिश्क्यभावः। अव्यभिचारेण दोषोपदर्जनार्थ-भाह—ये हत्रनदित्यादि । ग्रामः प्रसिद्धः, नगरं महावस्तिः भूपालाद्याढ्य-समूहवासस्थानं, निगमो नगरपुरोवत्तिग्रामः। ग्लास्तवो ग्लानिशीलाः, दोव्वरयाद् देहजैथिरयाच सुतराम् अपरिक्लेशसहाः। उदाहरणाथं देश-वासिनामुपद्भनमाह—तद् यथेति। वाहीका वाहीकदेशवासिनो जनपदाः। वाहीकादीनां लगणाशनऽतिशयतमाह ने हीत्यादि। लगणस्यातिमात्र-सम्बन्धे दोगान्तरमपि दर्शयति-परिहारप्रष्टत्तये येऽपीत्यादि। इह भूलोंके 💯 ग्छानिमांसापचयो हर्पहानिर्वा । न केवर्छ लवणातियोगः दारीरोपघातकरः, किन्तु मृमेरप्युपघात-कर इन्याह—येऽपीह इस्यादि । ऊपरा इति छवणप्रधानाः । छवणं नात्युपयुक्षीतेति नातिमात्रं छवणं सततमुपयुद्धात, अन्नवृष्यसंस्कारकन्तु स्तोकमात्रमभ्यासेनाप्युपयोजनीयमेव । वाह्वीकादिव्यतिरिक्ते -

अतिस्निग्धमिति चकः ।

अल्पतेजसो वा भवन्ति लवगोपहतत्वात् । तस्माल्लवगां नाभ्युप-युञ्जोत । ये ह्यतिलवगासात्म्याः पुरुषास्तेषामपि खालित्य-प्रालित्यानि ७ तथा वलयश्चाकाले भवन्ति । तस्मात् तेषां तत्-सात्म्यतः क्रमेगापगसनं श्रेयः । सात्म्यमपि हि क्रमाम्निवर्त्तर-सानमदोषमल्पदोषं वा भवति ॥ ७॥

सात्स्यन्तु नास तत् यदात्मन्युपशेते, सात्म्यार्थो हुप्रपश्चार्थः।
तत् त्रिविधं प्रवरावरमध्यविभागेन, सप्तिविधन्तु रसेकेकत्वेन स-र्वरसोपयोगाच । तत्र स-र्वरसं प्रवरम्, अवरमेकरसम्, मध्यमन्तु
भूमेर्यं देशाः प्रदेशा अत्यूपराः जायन्ते चेत् तदा अल्पतेजस इति वोध्यम्।
अतिलवणसात्म्यत्वे ग्लानिकरदौक्वंल्यदेहशैथिल्यवदपरेऽपि रोगा भवन्ति,
तदाह—ये द्यतिलवणेत्यादि । तस्मादिति इलेप्पोत्चलेशादिपाण्ड्यान्ध्यादिदेहशैथिल्यदौक्वल्याकाललालित्यवलिपलितरोगप्रवत्तनात् तेषां पिप्पलीक्षारलवणसात्म्यानां तत्सात्मतः पिप्पलीक्षारलवणसात्म्यतः क्रमेणापगमनं
निष्टत्तिः श्रेयः, न तु हठात् निष्टत्तिः । ननु हठात् सात्म्यतो निवत्तेन वहवो
दोपा द्वयन्ते कथं तन्निष्टत्तिः श्रेयसी भवतीत्यत आह—सात्म्यपपीत्यादि॥।।।।

गङ्गाधरः—ननु सात्म्यतं किं ताविद्रयत आह—सात्म्यन्तित्यादि। तदिति सात्म्यम्। त्रिविधमिति विष्टणोति प्रवर्तेत्यादि। सप्तिविधन्तिति। सप्तधासं विष्टणोति रसैकैकत्वेनत्यादि। रसानामेकैकत्वेन पड्विधं सर्व्वरसोपयोगात् तु एकिमिति सप्तिविधं सात्म्यम्। प्रवरादित्वं विष्टणोति, तत्रेत्यादि। सर्व्वरसं सर्व्व-ऽपि देशे येऽतिलवणमक्षान्त तेपामि दोपानाह—ये हीत्यादि। एतेन चान्यत्रापि देशेऽतिमात्र-लवणसात्म्यानां लवणाद्वरपयोगकृत एव शैथिल्यादिदोप उन्नीयते, न देशस्वभावकृतः। तेपामिति अतिक्षारलवणसात्म्यानां, ततः सात्म्यत इति अतिमात्रक्षारादितमात्रलवणाच सात्म्यात्। क्रमेणेति नवेगान्धारणीयोक्तसात्म्यपरित्यागक्रमेण। इह च सात्म्यग्रव्वेन ओकसात्म्यमिमेप्रेतम्। अल्यदोपमदोषं वेति पक्षद्ववेऽत्यर्थसात्म्यमत्यदोषं भवति, अन्यत् त्वदोपमिति व्यवस्था॥ ६१७॥

चक्रपाणिः—सात्म्यं नामेति ओकसात्म्यं नामेत्यर्थः, उपशयार्थः इति उपशयशब्दाभिषेय इत्यर्थः । सदिन्योकसात्म्यम्, त्रिविधमिति प्रवरावरमध्यभेदेन । सप्तिविधन्तु—एकैकरसेन षट्, संसुष्ट्रसोप-योगात् एकमेवं सप्तिविधम् । संसुष्टशब्देन द्विरसादयः पद्रुसपर्य्यन्ता गृह्यन्ते । प्रवरावरमध्यस्यम्

^{💌 🛎} खालिन्येन्द्रलुप्तपालित्यानीत्यन्यः पाउः ।

प्रवरावरमध्यस्थम् । तत्रावरमध्याभ्यां सात्न्याभ्यां सेविताभ्यां क्रमेरोव प्रवरमुपपादयेत् सात्म्यम् । सर्व्वरसमपि द्रव्यं सात्म्यम् उपपन्नं ७ सर्वारयाहारविधिविशेषायतनानि अभिसमीच्य हितमेवानुरुध्येत ॥ = ॥

तत्र खल्विमान्यष्टात्राहारिवधिविशेषायतनानि भवन्ति । तद्दः यथा—प्रकृतिकरणसंयोगराशिदेशकालोपयोगसंस्थोप-योक्तृष्टमानि भवन्ति ॥ ६ ॥

रससात्म्यं प्रवरम्, एकैकरससात्म्यमवरं, मध्यन्तु द्वित्रिचतुःपश्चरससात्म्यम् । प्रवरावरमध्यस्थं मध्यमसात्म्यं तचाप्टमं नाशद्वं मिश्रलात् । सर्वरसमिश्रत्वं सप्तमत्वं पट्लानितिरक्तत्वेऽपि प्रवरार्थं सप्तमोपदेशः । नन्वेवमस्तु कथं सात्म्यीकुर्यादित्यत आह—तत्रावरमध्याभ्यामित्यादि । क्रमेणेति यस्य यो रसो नोपशेते स च तं रसं पूर्व्यमल्पाल्पम्रुपसेवेत । तस्य रसस्य सात्म्यीभावे सत्यपरो रसः सात्म्यीकार्यः, क्रमेण तस्मिन् सात्म्यीकुर्यात् । एवं द्वी रसो त्रयो वा रसाश्चलारो वा पश्च वा रसाः क्रमेण सात्म्यीकार्याः, ततः सर्व्यरससात्म्यं कुर्यात् । नन्वेवमेव सर्व्यरसे सात्म्यीभूते किं श्रममृत्यवत एवाद्वारजं न लशुभित्यत आह—सन्वेरसमपीत्यादि । आहारविधिविशेषायतनसाकल्यानुसारेणाभ्यवहतं सन्वेरससात्म्यं हितमेवानुरुध्येत न तु अहितमन्यथात्वे हितमेवानुरुध्येत ॥ ८॥

गङ्गाधरः तानि सर्व्याप्याहारविधिविशेषायतनानि विद्यणोति तत्रित्यादि । इमानि अत ऊर्जु वश्यमाणानि आहारविधेर्विशेषस्यायतनानि कारणानि । मकृतीत्यादि । उपयोक्ता चासौ अष्टमञ्चेत्युपयोक्रप्टमः । प्रकृति व्वेत्यादिद्वन्द्वः ॥ ९ ॥

इति हिरसादिपद्धारसपर्यन्तम् । अवरमध्यमाभ्यां रुक्षितः पुरुषः । प्रवरमिति सर्व्वरसम्, सात्म्यम् उपपादयेदभ्यस्येदित्यर्थः । क्रमेणेति यथोक्ताभ्यासक्रमेण । उपपादितसर्व्वरससात्म्येनापि चाहारः प्रशस्त्रप्रकृत्यादिसम्पन्नः कर्त्तन्य इत्याह—सर्व्वरसमित्यादि । अभिसमीक्ष्येति हिताहितत्वेन विचार्य्य । हितमेवित पदेन यदेव प्रकृत्यादिना हितम्, तदेवानुरुष्येत सेवेतेत्यर्थः ॥ ८ ॥

^{&#}x27; * प्रकृत्याइपयोक्रप्टमानि इत्यधिकः पाठो **इ**श्यते क्र**चित् ।**

तत्र प्रकृतिरुच्यते खभावो यः, स पुनराहारोपधद्रःयाणां खासाविको गुर्वादिगुणयोगः। तद् यथा—माषमुहयोः शूक-रेणयोश्च। करणां पुनः खामाविकद्रवाणामिभसंस्कारः। संस्कारो हि गुणाधानमुच्यते। ते गुणास्तोयाग्निसन्निकर्षशौचमन्थनदेश-

गङ्गाधरः—तत्राष्ट्रसु प्रकृत्यादिषु मध्ये स्वभावो य इति यो भावो यादूष्येण भवति स खः तस्य ताद्रूप्येण भवनं भाव इति खभावः। नतु किं ताद्रूप्यं विना तत्र भवन्मात्रं स्वभावः किमथ ताद्रूप्यश्च तद्भवनश्च स्वभाव इत्यत आह—स पुनः इत्यादि। स च स्त्रभावः पुनराहाराणामौपधानाश्च द्रव्याणां स्त्राभाविकः स्वं-भावात् स्वस्यैव तदसाधारणभवनाज्ञातो गुर्चादिगुणयोगः । समुदायत्वेऽपूर्वे ये गुन्भीदयोऽसाधारणा गुणा आनुलोमिकादीनि च यानि कर्म्माणि युज्यन्ते यत् स गुरुगीदिगुणयोग इति । तत्तदसाधारणं भवनं प्रभावः स्वभावो गुख्यस्तज्जास्तु कम्भीगुणाइच तद्वरतुनिष्ठाः स्वभावा इष्यन्ते। तद्वस्तुना तु क्रियन्ते तैः करमेशुणैः स्त्रभावैर्यानि विरेचनदहनादीनि कर्माणि तानि कत्तंव्यस्य निष्ठानि न तस्य वस्तुनः स्वभावा इति, तत् तद्वस्तुनः काय्यस्थकस्मेवारणाय गुणशब्दोऽत्र निश्चेष्टकारणानां गुणीभूतानां गुर्व्यादीनाम् योग इति पद्यु। मापसुद्धयोरिति यथा ब्रीहेर्गुरोलंघवो लाजा इति सुर्व्वादि-लह्वादि-यथास्वगुणयोग इत्यर्थः । एवं शुक्ररैणयोरित्यत्रापि वोध्यम् । प्रकृतिम् उत्तवा करणमाह—करणं पुनिरत्यादि। स्वाभाविकानां स्वभावसिद्धगुणानां न तु कृत्रिमाणां तेपां पुनःसंस्काराद् यद् गुणान्तराधानं कथितकृतासवादिषु भवति तद्पि स्वाभाविकद्रव्याव्यतिरिक्तानामैवेति न दोपः। गुणाधानमिति ये गुणा न स्वाभाविकारतेषां योग आधानमित्युत्तरकाळं गुणयोगः करणम्। गुणानामाधानमाह—ते गुणाश्चेत्यादि । तोयादिन्यस्तसमस्तानां वर्शन यथासम्भवं वोध्यम्। तोयसन्निकपंवज्ञेन कठिनखरादिगुणवतां द्रव्याणां

चक्रपाणिः—आहारस्य विधिः प्रकारो विधानं वा इत्याहारविधिः, तस्य विशेषो हितत्वः महितत्वञ्च, तस्यायतनानि हेत्न् इत्याहारविधिविशेषायतनानि, आहारप्रकारस्य हितत्वमहितत्वञ्च प्रकृत्यादिहेतुकमित्यर्थः । उपयोक्ता अप्टमो येषां तान्युपयोक्त्रप्रमानि । उक्तानि प्रकृत्यादिनि विभाजते—तन्नेत्यादिना । स्वाभाविक इति संस्काराद्यकृतः । मापमुद्रयोरिति प्रकृत्या मापे गुरुत्वं, मद्गे छह्नत्वं, ग्रुकरे गुरुत्वं, एणे च छद्युत्वम् । द्रव्याणामिति वक्तव्ये स्वाभाविकानामिति यत् करोति,

कालवरोन भावनादिभिः ७ कालप्रकर्पभाजनादि निश्राधीयन्ते । सदुम्सणादिगुणाधानं स्यात्। अधिस्तिकषेत्रशेन शीतमृदुद्रवम्सणादि-गुणवतामुष्णकठिनसान्द्रखरलादिग्रणाधानं यथा त्री, ग्रे रोलघवो लाजाभञ्जना-दिति। शौचवशेन त द्रव्याणां शोधनेन यथा विप ल्यग्रणानां ताम्रादीनां गुणान्तराधानम् अशुचिद्रव्यवरबादीनां धौतादिना शौवगुणाधानप् । मन्थन-वशेन द्यादीनां मन्यनन तक्रादिरूपेण परिणामे स्वाद्सौगन्ध्यादिगुणाधानम्। देशवशेन तु जाङ्गला दूपसाधारणादिनै शवशेन शरीराहारौपधिद्रव्याणां काठिन्याद्रं-सान्द्रतीक्ष्मलादिगुणाधानं भवति। कालवशेन पुनः संगत्सरावयवत् दिन-रात्रग्रादिवशेन स्थावरजङ्गमानां गुणविशेशः फलादीनामा पकादीनाम न्ट-मधुरादिगुणायानं भवति । एवं वाल्ययौवनवाद्वेवया स्थाकालव्दोन रूपप्रवाण-बुद्रादिगुगानामाधिक्यादि मनागादि गुणायानश्च भवति। भावतादिविः गुणा आधीयन्ते । द्रव्याणां द्रवेणालोङ्नात् दिवा दिवातपे शोपणं निशि निशि स्थाननित्नेवंविधानं भारता तया गुणान्तगधानं स्यादेव गदि ग क्यनका द्योतीकरणादि नेन्त्रादिना च गर्भाधानादि किया कित तत्कम गिधिन कारयोग्यतादि गुणायानं भवति। ययोगनयनन वेद ध्ययनादिक धिकार-योग्यता स्यात्। विवाहेन गृहाश्रतकममेशोग्यताधीयते। बामादिदाना-घष्टविषः स्त्रीविवाहः, पुंविवाहस्तव्यहणपूच्यकसप्तादोगमनान्तव्यापारः। ताभ्यामाधीयते यहस्याश्र रोक्तिकपाधिकारो दगरपोः इति। भाजनन चित्र-कादि लिप्तोदः कुम्यादि गत्रेणारिष्टानां गुणायनं दारात्रं कार्य गत्रस्थ घृतस्य विषयन्गुणाधानं मरकतनद्रपाधाः मेवनादिः। आदिषा धान्यरा त्यादिष स्थापनादिभिश्च गुणिवशे गाधानमेवम्ननयम् ।

तेन उरपित्तकाले जनकभूतेः स्वगुणारोपणम्, संस्कारः कि सूप्यतस्यै र तेथादिना गुणान्तराधानमिति दर्शयति, तथ प्राकृतगुणोपमद्देनेव कियते । यतो तोयाग्निसिशकपंशांचेस्तण्डलस्यं गौरवमुपहत्य लाववमन्ने कियते । यदक्तम् —"सुधातः प्रस्तुतः स्वितः सन्तस्यादनो लघुः" । भावनया च स्व-रसादिकृतया स्थितस्यैवामलकादेर्गुणोक्कपे भवति, तथा रक्तराल्यादेलंबोरपि अग्निसंयोगादिना लाववं वर्दते । मन्यनाद् गुणाधानं यथा—शोधकृत् द्वि शोधम्नं सस्नेहमपि मन्यनादिति । वेशेन यथा—भस्तराशेरधः स्थापयेद् इत्यादौ । वासनेन गुणाधानं यथा—अपामुत्पलादिवासनेव सुगन्धानुकरणम् । कालप्रकर्पाद् यथा—"पक्षाजातर्सं पिथेत्" इत्यादि । भाजनेन यथा — श्रीफलेनायसीं पार्थीं कल्केनालेपयेत्" इत्यादो । आदिग्रहणात् पेपणाभिमन्त्रणादि गुक्रते । मुन

संयोगस्तु पुनर्द्ध योर्वहूनां वा द्रवाणां संहतीभावः। स विशेषमारभते, यं पुनर्नेकैकद्रवाण्यारभन्ते। तद् यथा—मधु-सर्पिषोर्मधुमत्स्यप्यसाञ्च संयोगः।

्राशिस्तु सर्व्ववहपरियहौ मात्रामात्राफलविनिश्चयार्थः।

क्रिमकं संयोगमाह—संयोगस्वित्यादि। द्रव्याणामित्यनेन समवायेनापि द्रव्याणामां संहतत्वं स्यात् तद्वारणम् न स संयोगः। विशेषं विष्टणोति—यमित्यादि। उदाहरणान्याह—तद् यथेत्यादि। मधुसपिपोः सयोगस्त विषवद् ग्रुणकम्माण्यारभते तानि च न मधु न वा सपिरारभते एवं मधुमत्स्यादीनां संयोग इत्यादि व्याख्यातव्यम्। एवं सर्व्वत्रापि यथायथं वोध्यम्।

क्रिमिकं राशिमाह—राशिस्तित्यादि। द्विचनात् सर्वेग्रहपरिग्रहौ राशिने तु राशी, सर्वेग्रहश्च राशिः परिग्रहश्च राशिरिति नाथेः। स च किमर्थः प्रक्रियते इत्यत आह—मात्रेत्यादि। मात्रा चामात्रा च तयोः फलस्य प्रयोजनस्य, विनिश्चयोऽर्थः प्रयोजनं चरमफल्ं यस्य स तथा।

संस्काराधेयेन गुणेन कथं स्वाभाविकगुणनाशः क्रियताम्, यतः "स्वभावो निष्प्रतिक्रियः" इत्युक्तम् । यदि संस्कारेण स्वाभाविकगुणत्वं प्रतिक्रियते, तदा "स्वभावो निष्प्रतिक्रियः" इति कथं १ म्र मः ;— "स्वभावो निष्प्रतिक्रियः" इति स्वभावो भावोत्पत्तो नान्यथा क्रियते । तेन जातिसम्बन्धं मापा-दीनां गुरुत्वं न जातो स्कोटियतुं पार्यते, संस्कारेण तु तदन्यथाकरणमनुमतमेव दृष्टत्वात् । क्षित्र तु गुणो दृष्याणां संस्कारादिनापि नान्यथा क्रियते, यथा—वह्ने रीण्ण्यं वायोक्षरुत्वं तेलस्य स्नेष्टं इत्यादि । एते ष्टि यावद्वंच्यभाविनं एव गुणाः । गौरवादयस्तु पुराणधान्यादिष्वप्यपगम-दर्शनान्न यावद्वच्यभाविनः । उक्तं ष्टि "गुणो द्रव्यविनाशाहा विनाशमुपगंच्छति । गुणान्तरोप- घाताद् वा" इति । यत्र तु संस्कारेण बीहेर्लोजलक्षणं द्रव्यान्तरमेव जन्यते, तत्र गुणान्तरोत्पदः सुष्टेव ।

संयोगमाह—संयोगस्वित्यादि। स विशेषमारभत इति संयुज्यमानद्रव्येकदेशेऽदृष्टं कार्ष्यमारभत इत्यर्थः। यज्ञैकैकश इति यं विशेषं प्रत्येकमसंयुज्यमानानि द्रव्याणि नारभन्त इत्यर्थः;—मधुसिष्पी हि प्रत्येकममारके, मिलिते तु मारके भवतः, क्षीरमत्यादिसंयोगश्च इंग्राविकरो भवति। संयोगस्विद्धः प्राधान्येनैवोपलभ्यमानद्रव्यमेलको विवक्षितः। तेन भावनादिष्यपि यद्यपि संयोगोऽस्ति, तथापि तत्र भावनाद्रव्याणां प्राधान्येनानुपलक्षेने संयोगोत ग्रहणम्।

राशिः प्रमाणम् । मान्नामान्नाफलनिश्चयार्थः इति मान्नावदाहारस्यौपपस्यः च यत्

तत्र सर्व्वस्याहारस्य प्रमाण्यहण्म् एकिएराडेन सर्व्वब्रहः। परियहश्च पुनः प्रमाण्यहण्मेकैकत्वेनाहारद्रव्याणाम्। सर्व्वस्य यहः सर्व्वयहः सर्वतो यहः परियह उच्यते।

देशः पुनः स्थानं, द्रव्याणामुत्पत्तिप्रचारौ देशसात्म्यश्च श्राचप्टे।

राशेः मयोजनं मात्रामात्रयोः फलविनिश्चय इति। राशिः प्रकृतः। नतुः सन्वेग्रहः परिग्रहश्च कस्तावानित्यत आह—तत्रेत्यादि। तत्र सन्वेग्रहपरिग्रह्योमध्ये सन्वेस्य मूर्त्ताम् ततावदाहारस्य एकपिण्डेन समुद्रायरूपेण भमाणग्रहणं परिमाणग्रहणं सन्वेग्रहः। परिग्रहश्चेति पुनस्तस्यैकपिण्डेन यहीतस्याहारस्य द्रव्याणां मूर्त्ताम् त्रीमृर्त्तानामेककत्वेन प्रत्येकेन प्रमाणग्रहणं परिमाणगानं परिग्रहः। नतु कथमयमर्था न लभ्यते सन्वग्रहपरिग्रहपद्राभ्यां ? किं सन्वेतो ग्रहो हि सर्विग्रहः स एव परिग्रह इत्यर्थाभेद इत्यत आह—सन्वस्येत्यादि। सन्वेस्य ग्रह इत्यनेन सन्वेतो ग्रह इति सर्विग्रह इति नात्र विवक्षित-मिति स्थापितं सन्वेतोग्रह इत्यर्थे परिग्रहशन्दो विवक्षित इति भेदः।

क्रमिकं देशमाह—देशः पुनित्यादि । स्थानं तचाहारद्रव्याणां कि-मयोजनकिमत्यत आह—द्रव्याणामित्यादि । स्थानन्तु द्रव्याणामुत्पत्तिमाच्छे मचारञ्चाचण्टे देशसात्म्यञ्चाचण्टे इति शापयत्येतानि द्रव्याणां स्थानम् इत्ययः । आनूपजाङ्गलादिस्थानं तत्तत्स्थानजोपधीनां मृदुतीक्ष्णादिकं शापयति उत्पत्त्या । मचारेण पुनद्शान्तरं द्रव्याणां कालविमकर्पात् गुणान्तरं शापयति । जाङ्गलदेशीयस्तु वहुभुक् पाच्या मत्स्यसात्म्या इत्यादि । तज्ञानेन बलावलादिकं देहदोपादीनां बुध्यते ।

फलं शुभम्, अमात्रस्य होनमात्रस्यातिरिक्तस्य च यत् फलमशुभम् । यद्गक्तम्—"तस्य ज्ञानार्थमुचितप्रमाणमनुचितप्रमाणञ्च राशिसंज्ञं भवति" । सन्वंग्रहं विवृणोति—तत्रेत्यादि । सन्वंस्येति
मिश्रीकृतस्यालमांसम्पादेरेकपिण्डेन । परिग्रहं विवृणोति—परिग्रहः पुनरित्यादि । एक्षेक्रत्येनेति
अश्वस्य कृद्धः, सूपस्य पुलं, मांसस्य द्विप्रलमित्याद्यवयवमानपूर्व्यकं समुदायमानम् । सन्वंग्रहे
प्रस्यवयवमाननियमो नास्ति । तेन येन केनचिदाहारेणास्यानियतमानेन सम्पूर्णाहारमात्रानियमनं सर्व्यः

अहः । पुत्रदेव शुद्धव्युप्पत्रमा दुर्शयति—"सर्व्यस्य हि" इत्यादि। सर्व्यत इति प्रत्येकावयवतः ।

वेदः विभजते—देश इत्यादि । स्थानग्रहणेन चाहारद्वश्यस्य तथा भोक्षुश्च स्थानं दुर्शयति ।
आक्यः इति द्वन्यस्योत्पत्तिप्रचारद्विद्यानहेतुभवित । तत्रोध्यत्वया—हिमवति स्थाने जातं गुरु भवति।

कालो हि नित्यगश्चावस्थिकश्च । तत्रावस्थिको विकारम् श्चपेचते, नित्यगस्तु खल्वृतुसात्म्यापेचः । उपयोगसंस्था उपयोगनियमः, स जीर्णलच्यापेचः ।

क्रिकं कालगह—काल इत्यादि। नित्यगः प्रातरादिः खस्यस्य आवस्थिको रोगिणां कालादोनाञ्च तत्र प्रतिलोमतन्त्रयुक्तया काल- द्वयं विष्टणोत—त्रेत्यादि। तत्र ित्यगावस्थिकयोमेध्य आवस्थिकः कालः प्रातमध्याद्वादिक्षपञ्चाहादित्व, आर्य्य विना हि नावस्था भवति तेनाः राणां ज्वरि ।दानां विकारज्वशादिक्षमपेक्षते। यथा नवज्वरी नार्नायात्। आमे ह्र स्तम्भनं नाचरेत् इत्यवमादि काराणामवस्थाविशेषापेक्षित्वमावस्थिक- कालविमित। संवत्सरस्य नित्यगस्यावस्थिककालस्य ज्वराद्यात्तेतावस्था- सम्वन्धिनः प्रयोजनहुक्तमाहारोपयोगे। नित्यगस्य तु प्रयोजनमाह—निन्यग्रित्याद्व। नित्यगः सवत्सरक्षः कालो हि स्वस्थस्यर्जुसात्म्यं यहिम् कृतो यत् सात्म्यं तिस्म कृतौ स्वरथेन तदाहाय्यांमत्यपेक्षा यस्य स तथा। इति सवत्सरक्षकालस्याहारो होगे प्रयोजनमुक्तम्।

क्रीमकलादुपयोगसं स्थामाह — उपत्यादि । उपयोगीत प्रकरणादाहारोप-योगे नियमस्त दतराभावः । तस्य प्रयोजनमाह — स इत्यादि । स उपयोग-नियमो जीणलक्षणापेकः, जीणलक्षणा न — उद्गारशिद्धस्त्साहो वेगोत्सगी यथोचितः । लघुता क्षत् पिपासा च जीणीहारस्य लक्षणम् ॥ इत्यपेक्षते यः स तथा । वक्ष्यते चात्र उप्णे स्लिग्धामत्या दना, तस्माज्जीणं अशीयादिति ।

मरी जातं लघु भवति इत्यादि । प्रचारेण लघुभक्ष्याणां प्राणिनां तथा धन्वप्रचारिणाञ्च बहुक्रियाणाञ्च लाघवं, विपच्यये च गाँरवं गृष्ठते । वेशसाम्येन च वेशविपरीतगुणं सास्यं गृष्ठते । यथा— आनूपे उण्णदक्षादि, धन्वनि तु शीतस्निग्धादि । ओकसास्यन्तु उपयोक्त्यहणेन गृहीतम् ।

नित्यगं इत्यहोरात्रादिरूपः। आवस्थिक इति रोगिन्वबाल्याद्यवस्थाविशेषित इत्यर्थः। विकारमपेक्षत इति वाल्यादिकृतन्तु इलेप्मादिविकारं ज्वरादिकञ्चाहारनियमार्थमपेक्षत इत्यर्थः। श्रृहेतसाल्यं हि श्रह्वपेक्षितमिति श्रह्तसाल्यापेक्षः।

एउमाहारोपयोगः कत्तेच्य एवं न कर्त्तेच्य इत्युपयोगनियमः, सं जीर्णलक्षणापेक इति धाधान्येनोकः। तेनेष्ठ "अजल्पनातिद्वतं नातिविलम्बतम्" इत्याद्यपि उपयोगनियममपेक्षत गुन्न, अजीर्णभोजने तु महाभिन्नोपकोपलक्षणों दोषो भवतीत्ययमेवोदाहतः।

उपयोक्ता पुनर्यस्तमाहारमुपयुङ्क्ते, यदायत्तमोकसात्मग्रम् । इत्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति । एषां विशेषाः शुभा-शुभफ्लाः परस्परोपकारका भवन्ति, तान् बुभुत्सेत, बुद्धा च

क्रमिकमुपयोक्तारमाह—उपयोक्तित्यादि । यः पुरुपस्तमाहारं प्रवरसात्म्यमृत्पाद्य प्रकृत्याभिगम्य द्रव्याणि पुरुपप्रकृत्यग्निवलाद्यनुरूपेण करणेन तत्पुरुपपृकृत्यनुरूपमुत्पाद्य संयोगेन विरुद्धाविरुद्धत्वं विचार्य्य राशिना परिमाय
मात्रां देशेन द्रव्याणामुत्पत्तिमचारदेशसात्म्यान्यनुगम्य कालेनावस्थिकेनावस्थां
विचार्य्य तद्दनुरूपमण्डादिकमुपकल्प्य नित्यगेन तृ ग्रीष्मादिसमुचितत्वेनाभिसमीक्ष्य उपयोगमंस्थया जीर्णाजीणलक्षणमभिसमीक्ष्य यस्य यदुचिततया
मुज्यते तस्य तत्तद्द्व्यं योग्यतया विकल्पितमाहारमुपयुङ्क्ते स उपयोक्ता ।
ननु तस्य किं प्रयोजनमाहारोपयोगं इत्यत आह—यदायत्तमित्यादि ।
ओकसात्म्यं यस्य यदुचिततया सहात्मना युज्यते तद्दोकसात्म्यं, तत् तृ यो
विचारयति तस्यायत्तं तदिति प्रकृत्यादीनामप्टानां व्याख्यानमुपसंहरति
इत्यप्टावित्यादि ।

नन्वेपां प्रकृत्यादीनां व्यस्तानां किमाहारोपयोगित्वं किमथ समस्तानाम्? फल्ट्य किं शुभमेव न चाशुभित्यत आह—एपािमत्यादि। एपां प्रकृत्यादीना-मृष्टानाम् आहारविधिविशेपकारणानां विशेपाः प्रकृत्याद्यन्यतमानां स्वाभाविक-गुव्यादिगुणादीनां शुभाशुभानां शुभञ्चाशुभञ्च फलं स्वजन्यं येपां ते तथा, पुरुपाणां देहािमदोपरोगवलमकृत्याद्यनुरूपेण गुरुलाववादिगुत्पाद्य प्रयोगात् शुभं फलं स्वास्थ्यारोग्यलक्षणं जनयन्ति। अन्यथा त्रशुभमातुर्ध्यं जनयन्तीत्यतो न केवलं शुभफलाः, न वा व्यस्ताः शुभाशुभफलाः परन्तु परस्परोपकारकाः परस्परं प्रकृतिः करणस्य करणञ्च प्रकृतेित्वेवमादि परस्परोकारं कुव्वन्तीति तान् प्रकृतिः करणस्य करणञ्च प्रकृतेविशेपान् गुरुलाववादीनां प्रत्येकं करणस्य विशेपान् प्रकृतिविशेपान् गुरुलाववादीनां प्रत्येकं करणस्य विशेपान् तोयाग्न्यादिपत्येकेन गुणविशेपान् नानारूपान्। संयोगस्य विशेपान् मधु-सर्णिपोः संयोग इत्येवमादि विरुद्धं तदितरम् अविरुद्धमित्येवमादीन्। राशेविशेपान् शरावमस्थादिकान्। देशस्य विशेपान् जाङ्गलान्यसाधारणो-

यदायत्तमोकसात्म्यमिति भोत्तृपुरुषांपेक्षं हाभ्याससात्म्यं भवति । कस्यचिद्धि किञ्चिदेवाभ्यासान् पन्यमपन्त्रं वा सात्म्यं भवति । पुपामित्यादी शुभफला विशेषा शशुभफलाश्च परस्परोपकारका भवन्तिसि हितेप्सुः स्यात् । न च मोहात् प्रमादाद्वा प्रियमहितमसुखोदर्कम् उपसेव्यं किञ्चिदाहारजातमन्यद्वा ॥ १०।११ ॥ तत्रेदमाहारविधिविधानमरोगाणामातुराणाञ्च केषाञ्चित् काले प्रकृत्येव हिततमं भुञ्जानानां भवति ।

पत्यकादीन्। कालस्य विशेषान् हेमन्तादीन् ज्वरितलाद्यवस्थाश्रयांश्व। उप-योगसंस्थाया विशेषान् जीर्णाजीर्णलक्षणान् मण्डादिकांश्व उपयोक्तृविशेषान् माणाभिसरवैद्यमभेदान् बुभ्रत्सेत वोद्धुमिच्छेत्। तद्बुभ्रत्सया किं स्यादित्यत-स्तत्र हेतुमाह—बुद्धा चेत्यादि। हितेष्मुरेव स्यान्न च मोहात् प्रमादाद्वा, मोहो-ऽत्र प्रकृत्याद्यप्टकान्नानं, प्रमादोऽत्र प्रकृत्याद्यप्टकानवधानं तदन्यतरस्मात् प्रियम् आपाततः स्वादनादिना पियम्, असुखोदकम् औत्तरकालिकं फलमसुखं दुःखं यस्य तत् तथाभूतमहितमाहारजातमन्यद्वा विहारजातमुपसेव्यं, तेषां विशेषबुद्ध्या तत्पकृत्यादिषु मोहममादसम्भवाभावात्। दोषादीनां मानविन्नानहेतुलम्प्टानां प्रकृत्यादिषु मोहममादसम्भवाभावात्। दोषादीनां मानविन्नानहेतुलम्प्टानां प्रकृत्यादीनां विमानत्वं वोध्यम्।। १०११।।

गङ्गाधरः—नन्वाहारविधिरत्रपानचतुष्के उक्तः, उक्तान्यत्राहारविधिविशे-पायतनानि कस्तत्र ताबदाहारविधिविशेष इत्यत आह—तत्रेदमित्यादि । इदं वक्ष्यमाणमुण्णमित्यादिना आहारस्य विधेरत्रपानादिकोक्तगुरुलाघवादि-विधिभिविधानं करणप्रकारोऽरोगाणां स्वस्थानामातुराणामपि व्याधितानाश्च केपाश्चित् सम्भवादसम्भवात् तु न सन्वेपामातुराणां स्वस्थानां वा काले आहार-काले प्रकृत्यैव स्वभावनेव हिततमं हितातिश्यम्।

होयम्, तत्र प्रकृत्या लाववादिः शुभफलो गुर्बादिश्राशुभफलः । करणाद्यभिधयोऽपि विशेषः शास्त्रोकः शुभो निषिद्धस्त्वशुभः । देशासात्म्यं निन्दितदेशजादेश्च द्रव्यस्याशुभं फलम् । एवं कालासात्म्यम् अशुभफलज्ञाजोणभोजनादि, तथा ओकसात्म्यज्ञाशुभफलमिति होयम्, विपरीतन्तु शुभफलम् । मोहादित्यज्ञानतः, प्रमादादिति ज्ञात्वा रागादित्यर्थः । प्रियमिति तदात्वमात्रप्रियम् । अहितम् इत्यस्य विवरणम्—असुखोदकीमिति असुखं दुःखरूपम् उदकीमुत्तरकालीनं फलं यस्य स तथा । अन्यद्वे ति भेषजविहारादि ॥ १—११॥

चक्रपाणिः—तन्नेत्यादाविदमिति वक्ष्यमाणम् । आहारविधिविधीयते थेनोष्णस्निग्धादिना वक्ष्यमाणेन तदाहारविधिविधानम् । आतुराणाञ्च केपाञ्चिदितिपदेन रक्तपित्तिनां शीतमेव, कफ-रोगिणाञ्चष्णमेव हितमित्यादि विषक्षयेयं दर्शयति । केपाञ्चिक भुक्षानानामिदमाहारविधिविधाणं उप्णं स्निम्धं मात्रावज्जीर्णं वीर्घ्याविरुद्धमिष्टे देशे इष्ट-सञ्जीपकरणं नातिहुतं नातिविलम्बितमजल्पन्नहसंस्तन्मना भुर्जीत ग्रात्मानमभिसमीच्य सम्यक्। तस्य च साद्गुण्यमुप-देच्यामः॥ १२॥

उप्णमश्रीयात् । उप्णं हि भुज्यमानं खदते भुक्तश्राप्तिमनु-दीर्णमुदीरयति चित्रं जरां गच्छति वातश्रानुलोमयति र्लेप्माण्श्र परिशोपयति*, तस्मात् उप्णमश्रीयात् ॥ १३ ॥

क्तिग्धमश्रीयात् । क्तिग्धं हि भुज्यमानं खदते भुक्तञ्चानु-दीर्णम् † अग्निमुदीरयति चित्रं जरां गच्छति वातमनुलोमयति हिंदीकरोति शरीरोपचयं वलाभिवृद्धिञ्चोपजनयति वर्णप्रसाद-ञ्चाभिनिर्वर्त्तयति । तस्मात् क्तिग्धमश्रीयात् ॥ १४ ॥

कस्तावदन्यपानविध्युक्तविधिभिराहारस्य करणप्रकार इत्यत आह— उप्णिमित्यादि । इण्टे स्वमनोऽनुक्ते । वीर्ध्याविरुद्धं संयोक्तुं यद्द्रव्यं यद्द्रव्यस्य वीर्ध्येण स्ववीर्ध्यतो न विपरीतं भवति, तेन द्रव्येण तद्द्रव्यं संयुक्तम् । तन्मनाः भोजन्मनाः । एपामुण्णादीनामन्यतमैकादिकमन्तरेण न भुद्धीत । भुङ्को चेत् तदा किं स्यादित्यत आह—तस्येत्यादि । तस्याहारविधि-विधानस्य सादगुण्यं सदगुणत्वं व्यतिरेकेणासदगुणत्वञ्च वोध्यम् ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—संद्गुणमाह—उष्णमश्रीयादित्यादि। तत्र हेतुमाह—उष्णं हीत्यादि। उष्णं नात्युष्णम्, शीतश्चात्युष्णश्च ग्रुज्यमानं न स्वदते भक्तम्, अग्निमुदीर्व्यं नोदीरयति इत्येवमादि उन्नयेत्॥१३॥

गङ्गाधरः—स्त्रिग्धमश्रीयादिति।स्त्रिग्धं नातिस्त्रिग्धम्।अतिस्त्रिग्धमस्त्रिग्धश्च भुज्यमानं हि न स्वदते। भुक्तमित्येवमादि उन्नेयम् ॥ १४॥

हिततमं भवतीति योजना । प्रकृत्येवेति स्वभावेनेव हिततमं वक्ष्याम इति भावः । उष्णमित्यादौ सम्यगिति च्छेदः । तस्येत्युष्णादिगुणयुक्तस्यात्रस्य । साद्गुण्यमिति प्रशेर्त्वगुणयोगिताम् । परिद्वासयतीति, भिन्नसङ्घातं करोति । उद्दीकरोति शरीरोपचयमिति शरीरोपचयं स्थायिनं करोति ॥ १२—१४ ॥

^{ं *} परिद्योपयतीस्यत्र परिहासयतीति चक्रसम्मतः पाटः । 📑 भुक्तसुदीर्थ्यमिस्यन्यः पाठः ।

सात्रावदश्रीयात् । सात्राविद्धं भुक्तं वातिपत्तकपानप्रपी-इयदायुरेव विवर्क्षयति केवलम् । सुखं गुदमनु पर्य्ये ति नोप्मागा-सुपहन्त्यव्यथञ्च परिपाकमेति । तस्मान्मात्रावदश्रीयात् ॥ १५ ॥

जीर्गोऽश्वीयात् । अजीर्गो हि भुञ्जानस्याभ्यवहृतमाहारजातं पूर्व्यस्याहारस्य रसमपरिणतमुत्तरेणाहाररसेनोपस्जत् सःवीन् दोषान् प्रकोपयत्याशु । जीर्गो भुञ्जानस्य खस्थानस्थेषु दोषेषु अंश्वी चोदीर्गो जातायाञ्च बुभुजायां विवृतेषु च स्रोतसां मुखेषूद्गारे विशुद्धे हृदये विशुद्धे वातानुलोम्ये विस्ट्रष्टेषु च वातमूत्रपुरीषवेगेषु अभ्यवहृतमाहारजातं सर्व्वश्ररीरधातृन् अप्रदूषयदायुरेवाभिवर्द्वयति केवलम् । तस्माजीर्गोऽश्वीयात् ॥१६॥

गृङ्गाधरः—मात्रावदश्रीयादिति। मात्रावद् भुक्तं हि वातिपत्तकपान् अप-पीइयत् न प्रपीइयत् सदायुरेव केवळं कृत्सनं विवद्धयिति। सुखं यथा स्यात् तथा गुद्मनुष्योति सम्यक्षववं विङ्भूतं सुखे गुद्मनु लक्ष्यीकृत्य पर्योति न चोष्माणं जाठराग्निम् उपहन्ति समञ्चानुवर्तते। यतोऽव्यथं सुखं परिपाकमेति। अमात्रावद् भुक्तं वातादीन प्रपीइयदायुने वर्द्धयतीत्येवमादि उन्नयेत।। १५॥

गङ्गाधरः—जीणेंऽश्लीयादिति। अजीणें हीत्यादि। व्यतिरेकेण साद्गुण्यं मुक्तकण्ठेनोक्तम् अपरिणतम् ईपत्परिणतं सशोपं परिणतमित्यर्थः। अन्वयमुखेन साद्गुण्यमाह—जीणें इत्यादि। जीणें सत्याहारे स्वस्थानस्थदोपादीनि भवन्ति। तेषु सव्वेषु सत्मु ज्ञाते जीणें भुज्ञानस्य प्रकरणाद्धितं भुज्ञानस्य पुंसोऽभ्यवहतं भुक्तं ताबदाहारजातं सर्व्वश्रीरधातून् वातादीन् मलधातून् रसादीन् प्रसादधातून् वसादीनुपधात्ंश्चाप्रदृषयत् दृषितान् न कुर्वत् ॥ १६॥

चक्रपाणिः—मात्रावदिति प्रशंसायां मतुप्, तेन प्रशस्तमात्रमित्यर्थः ; अपीड्यदिति अनित-मात्रत्वेन स्वस्थानस्थितं सत् वातादीन् स्थानापीड्नाद्यकोपयत् । गुदमनु पर्येतीति परिणतं सदनुरूपतया निःसरतीत्यर्थः । उपमाणं विह्नम् ॥ १५ ॥

चक्रपाणिः—पूर्वस्थेति दिनान्तरकृतस्य, अपरिणतमित्यसम्यगजातम्, आहाररसेनेत्याहार-

वीर्याविरुद्धसंशीयात्। अविरुद्धवीर्यमश्चन् हि विरुद्ध-वीर्याहारजैर्विकारैनीयमुपस्टब्यते। तस्माद् वीर्याविरुद्धम् अशीयात्॥ १७॥

इप्टे देशे चेष्टसर्व्वापकरणञ्चाश्रीयात्। इप्टे हि देशे भुजानो नानिष्टदेशजैर्मनोविधातकरेभिक्षैमनोविधातं प्राप्नोति। तथेष्टेः सन्वापकरणेस्तस्मादिष्टे देशे तथेष्टसन्वीपकरणञ्चाश्रीयात्॥१८ नातिद्रुतमश्रीयात्। अतिद्रुतं हि भुज्ञानस्य तत्स्नेहन क खादनभोजनस्याप्रतिष्ठानं भोज्यदोषसाहु ग्योधनन्धिश्च न

नियता । तस्मान्नातिद्रु तसश्चीयात् ॥ १६ ॥

गृङ्गाधरः—वीर्याविरुद्धमश्चीयादिति । अविरुद्धवीय्यमाहारं विरुद्धवीर्याः

हारजे रक्तिपत्तिः । विरुद्धवीर्यमश्चन पुनस्तैरुपसृज्यतेऽयं पुरुप इति ॥१७

गृङ्गाधरः—इष्टे देशेऽश्चीयादिति । मनोवियातकरैवीभत्सादिभिनं मनोवियातं मामोति, अनिष्टदेशे तु मामोति । तथेष्टसन्वीपकरणमश्चीयादित्यत्रापि

तथाशब्देन अनिष्टोपंकरणजैर्मनोविधातं न प्रामोति अनिष्टसब्बीपकरणैस्तु प्रामोति इत्पर्धः ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः नातिद्रुतमश्रीयादिति। तत्स्नेहनस्य भुक्तद्रव्याणां स्वाभाविक-स्नेहस्य स्वादस्य भोजनस्य च यथावस्थानं न भवति। अतिद्रुतं भुक्तमाहार-जातं न यथावत् स्तिहाति न च यथावत् स्वदते न वा यथावत् प्रतितिष्ठते कोष्ठे। भोज्यानां द्रव्याणां दोपस्य तत्रासत्पाकजमन्द्रसगन्धादिकस्य परिणामगतेन मधुरादिना, किंवा आहारजेन रसेन। स्वस्थानस्थेषु दोपेषु इत्यादि जीर्णाहारस्य छक्षणम्। विरुद्धवीर्याहारजेरिति कुष्टान्ध्यविसर्पादैनरात्रेयभद्रकाष्यीयोक्तैः॥ १६१९०॥

चक्रपाणिः—मनोविघातकरें भीवेंरिति त्रिविधकुक्षीये वक्ष्यमाणैः कामादिभिश्चित्तोपतापकरैः वित्तविकारेंरित्यर्थः । तथेप्टेश्च सद्वोपकरणें भुक्षानो मनोविघातं न प्राप्नोतीति योजना, अनिष्टभोजनादेर्भनोविघातो भवति ॥ १८ ॥

.. चक्रपाणिः जत्स्नेहनसुन्मार्गगमनम्, अवसदनमवसादः, अप्रतिष्ठानं हृदयस्थत्वेन कोष्ठा-

^{*} उत्स्नेहनेति चक्रयतः पाठः।

नातिविलस्वितमक्षीयात् । अतिविलम्वितं हि भुझानो न ितृप्तिमधिगच्छति वहु भुङ्क्ते शीतीभवत्याहारजातं विपमपाकश्च भवति । तस्मान्नातिविलम्वितमक्षीयात् ॥ २०॥

अजल्पन्नहसन् तन्मना भुञ्जीत । जल्पतो हसतोऽन्यमनसो वा भुञ्जानस्य त एव हि दोषा भवन्ति, य एवातिद्रुतमश्नतः । तस्मादजल्पन्नहसंस्तन्मना भुञ्जीत ॥ २१ ॥

श्रात्मानसभिसमीच्य भुञ्जीत सम्यक् । इदं समोपश्ते इदं

साद्गुण्यमनिष्टभावरूपं नियतं नोपलभ्यते तदुपलब्ध्यनियमेन। असत्-पक्षमाहारजातं भुक्तं मन्दरसगन्धादिजन्यरोगान जनयतीति भावः। नाति-द्रुतं भुङ्जानस्य भुक्तं यथावत् स्नेहयति स्वदते यथावदाशये च प्रति-तिष्ठते॥ १९॥

गङ्गाधरः—नातिविलम्बितमश्रीयादिति। कालप्रकर्पात् किञ्चित् पक्तुमार-भ्यते किञ्चदाशयमापद्यते एवंविधमपाकतं स्यात्। नातिविलम्बितं भुज्जानन्तु तृप्तिमधिगच्छति न वहु भुङ्क्ते न च शीतीभवत्याहारजातं समपाकञ्च भवति॥ २०॥

गङ्गाधरः—अजल्पिन्नित्यादि । य एवातिष्ठुतमश्नतो जल्पतो भुङ्जानस्य हसतो भुङ्जानस्य च अतन्मनसो भुङ्जानस्य चापि तत्स्नेहनास्वादन-भोजनस्याप्रतिष्ठानं न च नियता भोज्यदोषसाद्गु∘योपलव्धिरित्येते ये दोपास्त एव हि भवन्ति ॥ २१ ॥

गुङ्गाधरः - आत्मानमभिसमीक्ष्य भुङ्जीत सम्यगिति। इदं ममोपशेते इदं

प्रवेशः, भोज्यगतानां दोपाणां केशादीनां साद्गुण्यस्य च स्वाद्स्वादेश्पलन्धिनं नियता भवति कदाचिद्रपलभ्यते कदाचिन्नेति । तत्र दोपानुपलब्ध्या सदोपस्येव भक्षणं, साद्गुण्यानुपलब्ध्या च प्रीत्यभावः । विपमञ्च पच्यत इति चिरकालभोजनेनाग्निसम्बन्धस्य वैपम्यादिति भावः । ये हि इतमक्षतो दोपा इति अस्नेहनाद्यः ॥ १९—२१॥

नोपश्ते इत्येवं विदितं ह्यस्यात्मन त्रात्मसात्मंग्र भवति। तस्मादात्मानमभिसमीच्य भुञ्जीत सम्यगिति॥ २२॥

भवति चात्र।

रसान् द्रवाणि दोषांश्च विकारांश्च प्रभावतः। वेद यो देशकालौ च शरीरश्च स ना ७ भिपक्॥ २३॥

तत्र श्लोकौ।

विमानार्थो रसद्रवा-दोषरोगाः प्रभावतः । द्रवाणि नातिसेवानि त्रिविधं सात्मामेव च ॥

नोपग्नेते इति विदितमाहारजातं भुज्ञानस्यास्य पुंसस्तदाहारजातम् आत्मनः स्यूल्देहिनो यथाययं शरीरसत्त्वात्मनामात्मसात्मंत्र स्वस्वसात्मंत्र स्वेन स्वेन सहात्मतां सरूपतामितं भवति। इति आहारस्य विधिभिर्विधानस्य दोप-भेपजादिमानधानं हतुसात् यथासम्भवं विमानसं वोध्यम्। इति॥ २२॥

गङ्गाथरः अथ रसद्रव्यदोपविकाराणां प्रभावकानं प्रशंसति भवती-त्यादि ॥ २३ ॥

गृङ्गायरः—अध्यायार्थमुपसंहरति—विमानार्थ इत्यादि। विमानार्थ इति इह खिल्वित्यारभ्याप्रिवेशेत्यन्तेन विमानार्थ उक्तः। तत्रेत्याहारस्य त्रीणी-त्यस्मात् पाक् रसद्रव्यदोपरोगाः प्रभावत उक्ताः। नातिसेव्यानि त्रीणि द्रव्याणि। अथ त्रीणीत्यारभ्योक्तानि ततस्तरमात् तेपामित्यारभ्य सात्म्य-मित्यन्तेन त्रिविधं सारम्यमुक्तं सर्व्वरसमपि चेत्यारभ्य तत्रेदमित्यस्मात् पूर्व्वम्

चमपाणिः नोपशेत इतीत्यत्र 'इति'शन्देन सात्म्यासात्म्यविधानोपदर्शकेन विचारफलम् ओकसात्म्यसेयनं दुर्शयति । आत्मन इतिपदेनात्मनेवात्मसात्म्यं प्रतिपुरुपं ज्ञायते, न शास्त्रोप-देशेनेति दर्शयति ॥ २२ ॥

चक्रपाणिः—अध्यायोक्तरसप्रभावादिकानं स्तोति—रसानित्यादि । स नो भिपगिति नोऽस्माकं सम्मत इत्यर्थः । दोपविकारो च यद्यपि त्रिविधकुक्षीये प्रभावविस्तारेण वक्तव्यो तथापीह

[#] स नां इति चक्रसम्मतः पाठः।

[रसविमानम्

त्राहारायतनान्यष्टो भोज्यसाद्गु गयमेव च । विमाने रससंख्याते सर्व्वमेतत् प्रकाशितम् ॥ २४ ॥

इत्यित्रवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते विमानस्थाने रसविमानं नाम प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

आहारायतनान्यष्टौ उक्तानि । तत्रेदमित्यारभ्य यावदन्तं भोज्यसाद्गुण्यमुक्तम् । रसमंख्याते रसाख्ये विमाने रसविमाने इत्यर्थः ॥ २४ ॥ अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि ।

इति श्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ तृतीयस्कन्धे विमानस्थानजल्पे रसविमानजल्पाख्या प्रथमशाखा ॥ १॥

संक्षेपेणोक्तावेव । तेन, दोपविकारप्रभावावप्युक्ताविति यद्च्यते, तत् साधु । तेलादिद्वन्यत्रय-कथनञ्च द्रव्यप्रभाव इति कृत्वा न संग्रहे पठितम् ॥ २२।२४ ॥

इति घरकचतुरानन-श्रीमचक्रपाणिदत्तविरचितायाम् आयुर्वेददीपिकायां विमानस्थान-व्याख्यायां रसविमानं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

हिताय। अध्यायः।

अथाति हे बियकु चीयं विमानं व्याख्यास्यामः, इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

त्रिविधं कृत्ते। स्थापयेदवकाशां शमाहारस्याहारमुपयुक्षानः । तद् यथा—एकमवकाशांशं मूर्त्तानामाहारिवकारा गामेकं द्रवाणामेकं पुनर्वातिपत्तरलेष्म गाम् । एतावतीं ह्याहारमात्रामुप-युक्षाने। नामात्राहारजं किश्विदशुभं प्राप्तोति । न च केवलं

गङ्गा<u>धरः</u>—अधाहारविधिविधाने मात्रावदश्रीयादिति यदुक्तं, तदाहारमात्रा-मानविज्ञातार्थं त्रिविधक्तक्षीयं विमानमारभते—अथात इत्यादि। अध्यायादौ त्रिविधं क्तरो स्थापयेदित्यादिवाक्यार्थमधिकृत्य त्रिविधक्तक्षीयोऽध्यायः कृतः॥१॥

गङ्गायरः -त्रिविधमित्यादि । क्वःश्री आमाश्येऽवकाशांशमाहारस्य सम्बन्धः त्रिविधं स्थापयत् करूपयेदाहारमुपयुद्धानः पुरुषः । नृन्याहारुस्य त्रिविधं क्वःयवकाशांशं कृतः स्थापयदित्यतः आह—तद् यथेत्यः ्रिविधं कृत्यवकाशांशं कृतः स्थापयदित्यतः आह—तद् यथेत्यः ्रिविधं कृत्यवकाशांशं कृतः स्थापयदित्यतः आह—तद् यथेत्यः ्रिविधं कृत्यादीनाम् । वातादिसञ्चरणायैकमवकाशांशस्थापनं विक्रिनं वोध्यम् । ननु मात्रावदाहारमात्रेणैव किमाहारफरुसौष्ठवं भवति,

चक्रपागिः—रसिविमाने राशिरुक्तस्तस्य राशेमीत्रा । स्वामात्रावस्त्वसः । फलप्रपञ्चदोपविकारप्रपञ्चं दर्शियनुं त्रिविधकुक्षीयोऽभिधीरते । त्रिविधमिति त्रिप्रकारम् । अवकाशांशमिति कोष्ठावकाशमागम् । आहारस्येत्याहारिविमक्तिमित्तयर्थः । तेन, द्वाववकाशावाहारस्य वक्तव्यो, एकस्तु दोपाणामिति विविधं वस्यमाणम् । उक्तं दोपावकाशस्थानं हि आहारोपकारकत्वादाहारस्येत्युच्यते, दोपावकाशस्थानं हि आहारायावकाशांशमामाशयरूपं कृत्रो वस्यमाणिवभागेन त्रिविधं स्थापयेदित्यर्थः । कृत्यंशमागं यथा कर्त्तव्यमाह—तद् यथेत्यादि । मूर्त्तांनामित्याश्यखाद्यानाम्, द्वाणामिति लेह्यपेयानाम् । इह चांशशब्दो न समित्वभागे वक्तंते, किन्तु यथोचितविभागे । तेन मूर्त्तांनां वहुभागो भवतीति श्रेयम् । वातिपत्त-श्रेष्टप्मणां यद्यि भिन्नानि स्थानानि, तद्यि मूर्त्तांहारादिभागापेक्षया मिलितानां किञ्चित् स्थानं भवतीत्येकःवेनाध्यारोप्यात्र "एकम्" इति कृतम् । ननु कुत्व्यंशिवभागेन कृतेऽप्याहारे प्रकृति-गुष्वीदिद्वप्रद्वय्यत्रदोपो इश्यत इत्याह—नामात्राहारजिति । प्रकृत्यादिदोपकृतन्तु प्राप्नोत्येध

सात्रावत्त्वादेव आहारस्य कृत्स्त्रमाहारफलसोष्ठवमवाप्तुं शक्यम् । अकृत्यादीनाम् अष्टानामाहारविधिविशेषायतनानां प्रविभक्तफलक-त्वात्। तत्रायं तावदाहारराशिमधिकृत्य मात्रामात्राफलविनिश्चयार्थः प्रकृतः। एतावानेव ह्याहारराशिविधिविकल्पो यावन्मात्रावत्त्वम् असात्रावत्त्वश्च ॥ २ ॥

तत्र मात्रावत्त्वं पूर्व्वमुहिष्टं क्रुच्यंशिवभागेन, तद् भूयो विस्तरेणानुव्याख्यास्यामः। तद् यथा—क्रुच्तेरप्रपीड़नम् आहारेण, हृद्यस्यानवरोधः, पार्श्वयोरिवपाटनम्, नातिगौरवम् उद्दरस्य, प्रीणनिमिन्द्रयाणाम्, चुत्पिपासोपरमः, स्थानासन-श्यनगमनोच्छास- क्ष-हास्यसंकथासु सुखानुवृत्तिः, सायं प्रातश्च

इत्याकाङ्कायामाह—न चेत्यादि। विभक्तफलतात् विभिन्नफलतात् न त्वेकेकशः सर्व्यफलतात्। तत्र प्रकृत्यादिष्वपृस्वाहारविधिविशेषायतनेषु मध्ये आहारस्य राश्चिमित्रकार्ते। तत्र प्रकृताः शुभाशुभुफलविनिश्चयाथोऽयं त्रिविधकुक्षीयाव-कार्णश्चिम् तेन, दोपामात्रयोः शुभाशुभुफलविनिश्चयाथोऽयं त्रिविधकुक्षीयाव-कार्णश्चिम् त्रित्यः। प्रकृतः करणारम्भः प्रशब्दस्यारम्भः प्रशब्दस्यारम्भः प्रशब्दस्यारम्भः प्रश्चित्रकात्। न्तुं राशिः सर्व्यप्रहावुक्तः कथं मात्रामात्रा चात्रोच्यते, इत्यत आह— एतावानेव इत्यादि। हि यस्मादाहारस्य राशिक्षपविधिविकल्प एतावानेव मात्रावत्त्वम् अमात्रावत्त्वक्चेति न स्रिधकः॥ २॥

गृङ्गाधरः—तत्रेत्यादि । तन्मात्रावत्त्वम् अप्रपोडनमाहारेण कुक्षिपीडना-भावः । स्थानं स्थितिरासनमुपवेशनं शयनं स्पष्टं संकथा संस्थाः सम्यग्वह-

इत्यर्थः। तदेव स्फारयति—न चेत्यादि । सीष्टवं सुपुत्वं भाद्रवयमित्यर्थः। विभवः-फलत्वादिति विभिन्नफलत्वात्। कुक्ष्यंशविभागेनेति "एकमवकाशांशं मूर्त्तानाम्" इत्यादिना। उद्दिष्टमिति सङ्क्षोपकथितम्। सायं प्रातद्येति वचनात् सायं भोजने कृते यदि प्रातः, प्रातश्च

^{*} प्रश्वासेत्यधिकः पाठः क्रचित्।

सुखेन परिण्मनम्, वलवर्णोपचयकरत्वञ्चेति सात्रावतो लच्णमाहारस्य भवति ॥ ३ ॥

श्रमाश्रवत्त्वं पुनिहि विधमाचन्ते होनमधिकञ्चेति । तत्र होनमात्रमाहारराशिं वलवणोंपचयन्त्रयकरम् श्रतृप्ति-करमुदावर्त्तकरम् श्रनायुष्यमवृष्यमनौजस्यं मनोबुद्धीन्द्रियोप-घातकरं * सारविधमनमलच्म्यावहम् श्रशीतेश्च वानजानां विकाराणामायतनमाचन्ते ॥ ४ ॥

अतिमात्रं पुनः सर्व्वदोषप्रकोषण्मिच्छन्ति कुश्लाः। यो हि सूर्तानामाहारजातानां सोहित्यं गत्वा द्रवेस्तृतिमापचते, भूयस्तस्या-माश्यगता वातिपत्तरलेष्माणोऽभ्यवहारेणातिमात्रेणातिप्रपीडरमानाः सर्व्वं युगपत् प्रकोषमापचन्ते । ते प्रकृपितास्तमेवाहार-राशिम् अपरिणतमाविश्य कुच्येकदेशमाश्रिताः विष्टस्भयन्तः

व्याख्यानं वा सुखानुगृत्तिन तु क्वेशः परिणप्तनं विष्म्त्रोत्सर्गानुमेय आहारस्य परिणाकः ॥ ३॥

गङ्गाधरः—अमात्रावेत्त्वं व्योख्यातुमाह्—अमात्रेत्यादि । सारविधमनं वक्ष्य-माणाष्ट्रविधसारस्य समस्तस्य व्यस्तस्य वा विधमनं हासकरम्, अलक्ष्यावर्हं लक्ष्मया अनावहम् ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—अतिमात्रमित्याहारराशिमित्यनुवर्त्तमानेनान्वितम्। अति-मात्राया लक्षणमाह—यो हीत्यादि। सौहित्यमुदरपरिपूर्णतां तृप्तिमभ्यव-हारायानिच्छां सर्वदोपप्रकोपणमिति यदुक्तं तद् विष्टणोति—भूयस्तस्येत्यादि। ते अतिमात्राहारमपीडिता चातपित्तरलेष्माणः सञ्चरणायावकाशांशाभावात् कुक्षेरेकदेशमाविश्य तमेवातिमात्रं भुक्तमाहारराशिमपरिणतमपववं विष्टमभयन्तः कृते यदि सायं मुखेन परिणमनं तथा स्थानासनादिषु मुखानुवृत्तिभवति, तदा मात्रावद् सोजनं कृतमिति शेयम्॥ १—३॥

चक्रपाणिः —सारविधमनमिति रोगभिपग्जितीये वक्ष्यमाणत्वक्सारादिविधमनम् । आहार-

^{*} शरीरमन्रेबुद्धीन्द्रियोपघातकरमिति चकः।

सहसा वाष्युत्तराधराभ्यां मार्गाभ्यां प्रच्यावयन्तः पृथक् पृथिगमान् विकारान् अभिनिव्वर्त्तयन्त्यतिमात्रभोक्तुः । तत्र वातः शृला-नाहाङ्गमईभुखशोष-मृच्छीभ्रमाग्निवैषम्यसिराकुश्चनसंस्तम्भनानि करोति, पित्तं पुनर्ज्वरातिसारान्तर्दाहतृष्णामदभ्रमप्रलपनानि, श्लेष्मा तु च्छईग्ररोचकाविषाकशीतज्वरालस्यगात्रगौरवाणि ॥ ५

न खलु केवलमितमात्रमेवाहारराशिमामप्रदोषकारगा-मिच्छन्ति। अपि तु खलु गुरुरुच्शीतशुष्क श्विष्टिम्भिविदाह्य-शुचिविरुद्धानाम् अकाले असपानानामुषसेवनम्, कामकोधलोभ-मोहेष्योह्योशोकमानोद्दे गभयोपतप्तमनसा वा यदन्नपानमुपयुज्यते तद्प्याममेव प्रदूषयति॥ ६॥

सहसा वापीत्यपिशन्दात् क्रमेण वा उत्तराधराभ्यां मार्गाभ्यां मुखगुदाभ्यां प्रच्यावयन्तः पृथक् पृथक् दोपा अतिभोक्तुः पुरुपस्य, इमान् वक्ष्यमाणान्। नतु को दोषः कं विकारमिभिनिन्वेत्तंयतीत्यत आह—तत्रेत्यादि। तत्र त्रिषु दोषेषु मध्ये करोतीत्यस्य परत्रापि द्वाभ्यामन्वयः।। ५।।

गङ्गाधरः—ननु केवलमेवातिमात्राहारेणामपदोपो जन्यते किमधान्यैरपीत्यतं आह—न खिल्वत्यादि। आमप्रदोपेकि आमप्रदेपेकि आमप्रदेपेकि किमधान्ये होन कुतः महोश इत्यामप्रदोप् प्रहावक्तः कर्णः प्रदूष्यतीति, अनेनाति-सात्राहारं विनापि मात्रावदाहारजातमपि गुरुह आदिरूपं वा कामक्रोधादुप्रपत्तप्तमनसा वोपयुक्तं पथ्यमपि न जीणं भूला आममेव सत् प्रदूषयति देहिमित्या- ख्यातम् ॥ ६॥

विकाराणामिति करणे सौहित्ययोगात् पष्टी । द्रवैस्तृतिं 'भूयः'पद्विशेषणात् अतितृतिम् इत्यर्थः । आमाशयगता इत्यनेन अग्निसहायसमानस्प्रैव वायोः कोपो भवति, न पकाशयगतस्य इति दर्शयति । कुक्ष्येकदेशमन्नाश्रिताः सह दूपितेनाहारेणेत्यर्थः ॥ ४१५ ॥

चक्रपाणिः—अतिमात्राशनजन्यत्वेनामप्रदोपे वक्तव्ये अन्यतश्च यत आमप्रदोपो भवति तमाह— न खिंद्यत्यादि । कामादिभिर्मनस उपवातः प्रभावादेवानं दूपयति । एवमशु च्यप्यन्नम् अशुचित्वेन ज्ञातं मनस उपवातकत्वादामदूपकं भवति । आमस्यापकस्याहारस्य प्रदोपः आम-

इतः परं द्विष्टेति चक्रः पठित ।

भवति चात्र।

मात्रयाप्यभ्यवहृतं पथ्यञ्चान्नं न जीर्यं ति । चिन्ताशोकभयक्रोध-दुःखमोहप्रजागरैः ॥ ७ ॥

तं द्विविधमामप्रदोषमाचन्ते भिषजो विसूचिकामलसञ्च।
तत्र विसूचिकासूद्धे आधश्च प्रवृत्तामदोषां यथोक्तरूषां विद्यात्।
अलसकमुपदेच्यामः। दुर्व्वलस्याल्याग्नेर्वेद्दुरलेष्मणो वातमूत्रपुरोषवेगविधारिणः स्थिरगुरुवहुरुनशीतशुष्कान्नसेविनः तदन्नपानमिनलप्रपीड़ितं श्लेष्मणा च विवद्धमार्गमितमात्रप्रलीनम् अलसत्वान्न वहिर्म्सृष्टि भवति। ततश्चई्रग्तीसार-

गृङ्गाधरः—तदेवार्थं श्लोकेनाह—भवति चात्रेत्यादि। मात्रयापीत्यपि-शव्दादमात्रया वा। पथ्यञ्चेति चकारेणापथ्यम्। तेनातिमात्रयाभ्यवहृतं पथ्यं न जीट्यति मात्रया चाभ्यवहृतमपथ्यमुक्तगुरुदक्षादिकं न जीट्यति, पथ्यमप्यन्नमभ्यवहृतं चिन्ताशोकादिभिनं जीट्यति। तमितमात्राहारजं मात्रया च गुरुदक्षाद्याहारजं चिन्तादिभिरजीणीभूतपथ्याञ्च ॥ ७॥

गङ्गाधरः—तं द्विविधित्यादि । तमामप्रदोषम् । प्रष्टुत आममन्नं दोषः यत्र तां तथा । यथोक्तरूषां तत्र वातः श्रूञानाहाङ्गमदृत्यादिभिरुक्तित्रित्येष-छिङ्गां विस्विकां वायुना सूचीभिरिवं तोदवती भवतीति विस्विकासंग्रां विद्यात् । सुश्रुते हि विस्विकासंग्रांथे उक्तः—सूचीभिरिवं गात्राणि तुद्न् सिन्तिष्ठतेऽनिलः । यस्पाजीणेन सा वैदेशिवस्चीति निगद्यते ॥ इति । तदन्त्रपान् स्थिरगुर्वादिकमन्नपानम् अनिलमपीद्वतं विवद्धौ मागौ यस्य तत् तथा इलेष्यग्रां वद्धमागलात् । अतिमात्रमलीनलाचालसत्वं तस्माच न वहिम्मुलि प्रदोपः, आममेव प्रदूपयतीति अत्र कामंकर्तृत्वे 'अच्' तेन इष्टं भवतीत्यर्थः । किंवा, आमम् अपकं सद् इष्टं दोपसम्पर्कात् शरीरं दूपयतीति ज्ञेयम् ॥ ६।०॥

चुक्रपाणिः —द्विविधमित्यादो अलसक एव दण्डालसकामविषयोरवरोधः । तयोरि हि दोषो विवद्गमार्गःखादलसीभूतो भवति "अलसकसुपदेक्ष्यामः" इस्यादिना पुनर्विशेषहेतुः प्रायोऽभिनिवर्वर्त्तक उच्यते, सामान्येन त्वतिमात्राहाररूप उक्त एवेति ज्ञयम् । अनिलप्रपीदितं इलेप्मणा च विवद्गमार्गमिति दोषद्वयन्यापारवचनात् वातइलेप्मणोरलसके प्राधान्यसुच्यते, पिक्तन्तु सामान्य-

वर्जान्यामप्रदोषितङ्गानि * अभिसंदर्शयत्यतिमात्राणि । अति-मात्रप्रदुष्टाश्च दोषाः प्रदुष्टामवद्धमार्गास्तिय्येग् गच्छन्तः कदाचि-देव केवलमस्य शरीरं दण्डवत् स्तम्भयन्ति, अतस्तमलसक-मसाध्यं त्रुवते । विरुद्धाध्यशनाजीर्णाशनशीलिनः पुनरेवं दोषम्

ऊर्द्धमधो वा मार्गं न पवर्तते। इत्यतोऽलसकसंबा। उक्तं हान्यत्र—पीड़िनं मारुतेनान्नं इलेष्मणा रुद्धमन्तरा। अलसं क्षोभितं दोपैः शल्यत्वेनैव संस्थितम्। शुलादीन कुरुते तीत्रान् छर्देत्रतीसारविजेतानिति। तन्त्रान्तरेऽपि-प्रयाति नोर्र्षं नाधस्तानाहारोऽपि विपच्यते। आमाश्येऽलसीभूतस्तेन सोऽलसकः रमृतः, इति । अलसकलक्षणान्याह्—तत्र इत्यादि । तत्र वातः श्लानाहाङ्ग-मदेत्यादिनोक्तामपदोपलिङ्गानि तत्र कफलिङ्गं छिद्दे पिचलिङ्गमतीसारं वर्जियला शेपाणि लिङ्गानि विस्च्यपेक्षयाऽतिमात्राणि दर्शयत्यलसकः। सुश्रुतेऽप्युक्तं - कुक्षिरानहातेऽत्यर्थं प्रताम्यति च क्र्जति । निरुद्धो मारुत इचैव कुक्षाबुपरि धावति। वातवचौनिरोधश्च यस्यात्यर्थं भवेदपि। लसकमांचप्टे हिकोदगारो च यस्य तु ॥ इत्यलसकमुत्तवा अलसकात् तीव्र-श्लादिषरवात् भेदमाद्।यालसकतुल्यलक्षणामतीत्रश्लादिमरवात् विलम्बिकापि अतिरिक्तेवोक्ता। तद यथा—दुष्टन्तु धुक्तं कफमारुताभ्यां प्रवर्त्तते नोर्द्धमध्य विलिम्बकां तां भृशदुश्चिकित्स्यामाचक्षते शास्त्रविदः पुराणाः। यत्रस्थमामं विरुजेत् तमेव देशं विशेषेण विकारजातैः। दोषेण येनावततं शरीरं तल्लक्षणैरामसमुद्भवैश्व।। इति। तन्त्रे लिस्सन् शुलादीनां तीत्रला-तीत्रलयोद्भैपवलापेक्षलाच ताभ्यां व्याध्यन्तरं विलम्बिकेति मनसि कुला नोक्ता विलिध्वका। सा चालसकस्यैव नामान्तरमिति वोध्यम्।

अथालसं कस्यासाध्यत्नमाह—अतिमात्रेत्यादि । केवल कृत्रनम् । अपरम् असाध्यत्नमाह—विरुद्धाध्यक्षनेत्यादि । एवं दोपमतिभदुष्टभदुष्टामविवद्धमार्ग-

वचनसिद्धमप्रधानम् अस्येव तृष्णामद्भ्यमादिलिङ्गमिति ज्ञेयम्। प्रदुष्टामयद्धमार्गा इत्यत्रापकाहारो-ऽज्ञरसो वा अपक आम उच्यते । केवलं कृत्स्नम् । विरुद्धाध्यशनाजीर्णाशनमिति — विरुद्धाशानम्, अध्यशनम्, अजीर्णाशनञ्च, अजीर्णस्यापकस्याशनमजीर्णाशनम्, अजीर्णे भोजनस्याध्यशनशब्देन

^{ः 🔹} यथोंकानीत्यधिकः पाठः क्रचित्।

ञ्रामिवपिमत्याचन्ते भिषजो विषसदृश्लिङ्गत्वात् । तत् परम् ञ्रसाध्यमाशुकारित्वात् विरुद्धोपक्रमत्वाच्चेति ॥ ⊏॥

तत्र साध्यमामं प्रदुष्टमलसीभूतमुल्लेखयेदादौ पायित्वा सलवणमुष्णं वारि। ततश्चेदन- *-वर्त्तिप्रणिधानाभ्यामुपा-चरेत् उपवासयेच्चैनम् ॥ ६॥

विसूचिकायान्तु लङ्घनमेवाय्रे विरिक्तवच्चानुपूर्व्यो । श्राम-

तिर्धिग्गतकृतस्नदेहदण्डवत्स्तम्भकरदोपमलसकमामविषमाचक्षते ; विषसद्दा-मारकलिङ्गलादित्यथः। एपोऽन्नविपाख्य आमप्रदोपोऽलसकस्यैव प्रभेदो न-लितिरक्तः। तस्मादेव तत्तथाविधमलसकं परमुत्कृष्टमसाध्यमाशुकारिलादाशु-कारित्वं व्याधिस्त्रभावात्। विरुद्धोपक्रमलाच विरुद्धोपक्रमलमतिपदुष्टदोपाणां तिर्ध्यग्गतलात्। सुश्रुते लसाध्यलक्षणान्तरमुक्तं—यः ज्यावदन्तौष्टनखोऽल्पसंको वम्यदितोऽभ्यन्तरयातनेत्रः। क्षामस्तरः सर्व्वविमुक्तसन्ध्यर्थयान्तरः सोऽपुन-रागमाय। इति ॥ ८॥

गुङ्गाधरः—तयोः क्रियास्त्राण्याह—तत्रेत्यादि । उल्लेखयेत् वामयेत् । ततो लवणोष्णोदकेन वमनानन्तरं छेदनं इलेष्मच्छेदनीयरसकद्वादिना इलेष्मच्छेदनं वर्त्तिरुदावत्तोक्तफलवर्त्तिस्तत्पणिधानं गुदे प्रवेशनं पूर्व्वमाभ्यां दोपनिर्हरणं कृता तत उपवासयेच । एनमलसिनम् ॥ ९॥

गङ्गाधरः—विस्चिकायामित्यादि। छङ्घनमेवाग्रे ततो विरिक्तवदानुपूर्वीः, तर् यथा विस्च्यान्तु छङ्घनमग्रे ततः परं विरेचनं ततः सायाह्रे परे वाह्रि सुखो-दक्षपरिषेकं बुद्धा दोपगतिमातुरस्य विधाय पुराणानां छोहितशाछितण्डुछानां

लब्धत्वात् । आमदोपमामविषमाचक्षतः इत्यत्र विषसदश्चित्रः एवामदोषोऽभिष्नेतः । अत एव 'विषसदशिल्क्षरवात्' इत्युक्तम् । विरुद्धोपकमत्वादिति आमापेक्षया यदुष्णं क्रियते तद्दिपविरुद्धम्, यच विषापेक्षया शीतं क्रियते तदामविरुद्धम् । विषसदशता चामस्यामजननहेतुप्रभावाद् भवति मध्धतयोग इव विषत्वम् । वर्त्तिः इति फलवित्तिः ॥ ८।९ ॥

चक्रपाणिः — आनुपूर्व्वाति पेयादिकम इत्यर्थः । जीर्णाहारमिति विसूचिकालसकयोरिव

^{*} स्वेदनेति चकः।

प्रदोषेषु त्वन्नकाले जीर्णाहारं पुनदीचावित्तासाश्यं स्तिमितग्रह-कोष्ठम् अनन्नाभिलापिणमभिस्तमीच्य पाययेद् दोषशेषपाचना-र्थमोषधम् अग्निस्तन्युच्णार्थञ्च। न त्वेवाजीर्णाशनम्। आम-प्रदोषदुर्चेतो ह्यमिनं युगपदोषमोषधमाहारजातञ्च शक्तः पक्तुम्। अपि च आमप्रदोषाहारोषधविष्त्रमोऽतिवलत्वादुपरतकायाग्नि

स्वविक्त मां मण्डपूर्वां सुखोषणां यवाग् पाययेद्धिवलमभिसमीक्ष्य चैवं द्वितीये तृतीये चानकाले। चतुर्थ चानकाले तथाविधानामेव शालितप्डुलानाम् उत्स्विनां विलेपीमुष्णोदकद्वितीयामस्नेहलवणामरूपस्नेहलवणां वा भोजयेत्। एवं पञ्चमे पण्डे चानकाले। सप्तमे लनकाले तथाविधानामेव शालितण्डुलानाम् द्विः प्रस्तं सुरिवन्नमोदनम् उष्णोदकानुपानं तनुना तनुरनेहरुवणोपपन्नेन सुद्ग-यूपेण भोजयेत्। एवमप्टमे नवमे चान्नकाले। दशमे लन्नकाले लावकपिञ्जला-दीनाम् अन्यतममांसरसेनौदकलावणिकेनातिसारवता भोजयेदुण्णोदकानुपानम् एवमेकाद्रो द्वाद्रशे चानकाले। अत ऊर्जु मनगुणान् क्रमेणोपयुद्धानं सप्तरात्रेण प्रकृतिभोजनमागच्छेदिति। अत्रान्तरे पुनरामप्रदोपेषु सत्सु द्वितीयाद्यन्नकाले जीर्णाहारं विस्विकात्तं पुरुप दोषाविष्ठप्तामात्रयं स्तिपितगुरुकोष्टमन्नाभिलापन रहितमिसमीक्ष्य शेपदोपपाचनार्थमित्रसन्धुक्षणार्थञ्चौपधं पाययेत्। न तु अजीर्णाशनम् अजीर्णाहारम्। ननु कस्मादनकाले जीर्णाहारमेवं तं तादशार्थम् औषधं पाययेदित्यत आह—आमप्रदोपदुव्वेल इत्यादि । अजीणे पूर्व्वाहारे सति यदि दोपशेषपाचनार्थममिसन्ध्रभणार्थञ्चौपधं पायितं भवति, तदा तं दोपशेषं तचौषधं तदेवाजीणीभूतमाहारजातश्च युगपदेव पक्तुं न शक्तः स्यादाषपदोष-दुब्वेलाग्निस्तस्मादनकाले जीर्णाहारमेवीपधं पाययेत्। तदा हि शेपदोपं तत्पाचनार्थमित्रसन्धुक्षणार्थञ्चौपधं पक्तुं शक्तः स्याद् दुब्बलोऽप्यग्निः। अजीर्णाहारे तु दोपशेपे च पीते च तदीपथे किं स्यादित्यत आह—अपि च

आहारस्याजीर्णतां दर्शयति । दोपावित्रप्तामाशयस्य स्तिमितकोष्टत्वादि पुरुपविशेषणमपि लक्षणं श्रेयम् । न त्वजीर्णाशनमिति पुर्नार्नपेधकरणेनाजीर्णाशनेन प्रमादादजीर्णप्रशमनाभिप्रायेण क्रिय-माणभेषजस्य महात्ययतां "दुर्व्वलो ह्यन्तिः" इत्यादिना वक्ष्यमाणां दर्शयति । कृतापत्रपेणानामित्यनेन दोषाणामामताक्षयं सूचयति । सम्यक्कृते ह्यपत्रपेणे न आमानुबन्धोऽस्ति । तत्रश्च निरामदोषारुधे सहसैवातुरमवलमितपातयेत्। आमप्रदोषंजानां पुनर्विकाराणाम् अपतर्पणेनैवोपरमो भवति। सित त्वनुवन्धे कृतापतर्पणानां व्याधीनां निष्रहे निमित्तविपरीतमपास्यौपधमातङ्कविपरीत-मेशवचारयेद् यथास्त्रम्। सर्व्वविकाराणामिप च निष्रहे हेतु-व्याधिविपरीतमहौषधमिव्छन्ति कृशलास्तदःर्थकारि वा। अनुद्रिक्तामप्रदोषस्य ६ पुनः परिपकदोषस्य दीप्ते चायौ अभ्यञ्जनास्थापनानुशसनं विधिवत् स्नेह्यानञ्च युक्तप्र प्रयोज्यं आमेत्यादि। आमप्रदोषस्याजीर्णाहारस्य तत्कालपीतौपधस्य च परस्परं मेलनेनावर्त्तनं विभ्रमः अतिवललात् प्रवल्लात् तेन च विभ्रमेणोपरतकायाप्रम् अवल्ञातुरं सहसैवातिपातयेत्।

नन्त्रकाले जीर्णाहारं दोपाविल्प्तामाशयं पुरुपं न भोजियला दोपशेपपाचनार्थमित्रसन्धुक्षणार्थञ्चोपथपाने तस्याभोजनेन देहक्षयः स्यादित्यत आह—आमप्रदोपजानामित्यादि । नन्दामदोपशालिनं सम्यग लङ्कितं दोपाविल्प्तामाशयं दोपशेपपाचनार्थमित्रसन्धुक्षणार्थञ्चोपथं पायियला दोपशोप पक्षे सन्धुक्षिते चाग्रौ पुनक्ष्चेत् तदामप्रदोपानुवन्धस्तिष्ठति तदा किमोपधं पाययेदित्यत आह—सति तित्यादि । अनुवन्धेऽर्थादामदोपस्यावशेषे सित कृतापतर्पणानां सम्यग् लङ्कितानां पुंसां व्याधिनिग्रहे व्याधिप्रशमने निमित्तविपरीतमित्रमात्राहारविपरीतं तत्कुपितदोपविपरीतश्चौषधमपास्य त्यत्वार्थान्त्र दत्त्वा यथास्वमातङ्कविपरीतं शुलाङ्गमदीदिवातजाद्यातङ्कविपरीत-मेवौषधमवचारयेत् भक्षयेत् । प्राङ्गातिसश्चितो हि तत्रासिश्चतो वा वातादि-दोषः।

ननु किमस्मिन्नेव विस् चिकारोगे एवमीपधं किमन्यस्मिन् सर्व्य-विकारे वेत्यत आह—सर्व्यदि। सर्व्यविकाराणामिप चेति प्रागेव दोप-सश्चयात् जातानां दोपजानां व्याधीनाम्। तदर्थकारि वेति हेतुव्याधि-विस् चिकालसकव्यवस्थितश्चलज्वरादौ आतङ्कविपरीतं निरामश्चलज्वरहरमेव युज्यते। यथास्वमिति यद् यस्य श्चलादेरातङ्कविपरीतं तत् तत्र कार्व्यमित्यर्थः। आतङ्कविपरीतशब्देन च 'तदर्थकारि' गृहीतं मन्तव्यम्। अत एवोत्तरत्र "तदर्थकारि वा" इति सर्व्यविकारभेपजकथने उपपन्नं भवति।

[•] विमुक्तामप्रदोपस्येति पाठान्तरम् ।

प्रसमीच्य दोषदेशभेषजकालवलशरीराहारसात्मासत्त्वप्रकृति-वयसामवस्थान्तराणि विकारांश्च सम्यगिति ॥ १०॥

भवित चात्र।
श्रिशितं खादितं पीतं लीढञ्च क विपच्यते।
एतत् त्वां धीर पृच्छामस्तन्न श्राचच्व बुद्धिमन्॥
इत्यित्रवेशप्रमुखेः शिष्येः पृष्टः पुनर्व्वसुः।
श्राचचचे ततस्तैभ्यो यत्राहारो विपच्यते॥
नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाश्य इति स्टृतः।
श्रिशितं खादितं पीतं लीढञ्चात्र प्रपच्यते॥
श्रामाश्यगतः पाकमाहारः प्राप्य केवलम्।
पक्षः सर्व्वश्यं ७ पश्चाद् धमनीभिः प्रपद्यते॥ ११॥

विपरीतार्थकारि वा औपधम्। अनुद्रिक्तामदोपस्याप्रवलामदोपस्य परिपक् दोपस्य पकतावस्थायाम्॥ १०॥

गङ्गाधरः—अथामदोपप्रतिक्रियार्थं क्रियाक्रममुक्तवाहारस्य पाकस्थानमाह—भवतीत्यादि। क कस्मिन् शारीरस्थाने, हे धीर पुनर्व्वसो गरो, नोऽस्मान्। इतीत्यादि। इति अश्वितादिचतुर्व्विधाहारपाकस्थानम्, तेभ्यः शिष्पेभ्यः। किम् आचचक्षे तदाह—नाभीत्यादि।अत्रामाशयेऽशितिमित्यादिकं प्रपच्यते जाठराप्रिना पक्तुमारभ्यते। ननु कथं तत्र विपच्यते इत्यत आह—आमाशयगत इत्यादि। आमाशयगत आहारः पाकं प्राप्य पक्तुमारच्यः सन् पश्चात् पच्यमानाशये केवलं कृत्सनं परिसमाप्तं पाकं प्राप्य पश्चात् पकः किष्टम्त्रपुरीपयोः पृथग्भावेन पकाशये गमनात् पृथग् भूला सार्भूतो रसाख्यो द्रवरूपः सन् रसादिवाहिनीभिः धमनीभिः स्रोतोभिः पश्चात् सर्व्वाशयं रसरक्तादिधालाशयं प्रपद्यते॥ ११॥ अन्यथा कथमिहानभिहितं 'तदर्थकारि' तत्राप्रस्तुतम् उच्यते। विमुक्तमदोपस्थत्यादिनाभ्यङ्गादि-विधानं व्याधिजन्यातिदौद्वंव्यादिदोपप्रशमनार्थम्॥ १०॥

चक्रपाणिः—आमाशयप्रमाणोपदर्शनार्थञ्च पुच्छोत्तरग्रन्थमाह—अशितमित्यादि । सर्वाश्रयम्

सन्बिश्रयमिति चक्रः पठित ।

तत्र श्होकौ।

तस्य मात्रावतो लिङ्गं फलञ्चोक्तं यथायथम् । श्रमात्रस्य तथा लिङ्गं फलञ्चोक्तं विभागशः ॥ श्राहारविध्यायतनानि चाष्टो सम्यक् परीच्यात्महितं विदध्यात् । श्रन्यश्च यः कश्चिदिहास्ति मार्गो हितोषयोगेषु भजेत तञ्च॥ १२

इत्यक्षिवेश्कृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते विमानस्थाने त्रिविध-कुचीयविमानं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

गृङ्गाधरः—अध्यायार्थमाह—तस्येत्यादि । तस्येत्याहारस्य त्रिविधं कुक्षा-वित्यादिना कुक्षेरप्रपीडनमाहारेणेत्यादिना च मात्रावत आहारस्य लिङ्गं तस्य च फल्रश्च एतावतीम् आहारमात्रेत्यादिना उक्तम् । अमात्रस्य हीनमात्रस्याति-मात्रस्य च अमात्रावत्त्विमत्यादिना चिङ्गं फल्रञ्चोक्तम् । विभागश इति । तत्रापि तत्र हीनमात्रमाहारराशिमित्यादिना फलरूषं लिङ्गं हीनमात्रस्याहार-स्योक्तम् । अतिमात्रं पुनिर्त्यादिनातिमात्रस्याहारस्य प्रागिभिहितं लिङ्गं फल्रञ्चेति विभागं विभागं कृत्वोक्तमिति । अध्यायार्थसंग्रहश्लोक एकः । प्रकृत्यादीनाम् अन्यश्च य इत्यनुक्तो यदि कश्चिद्धितोपयोगे मार्गो वर्त्तते तमिप मार्गं भजेतेति आहारविधिविशेपाणामुपसंहारः ।। १२ ।।

अध्यायं समापयति—अमीत्यादि ।

. . इति श्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरिचते चरकजल्पकल्पतरौ हतीय-स्कन्धे विमानस्थानजल्पे त्रिविधक्कक्षीयविमाननाम-द्वितीयाध्यायजल्पाख्या द्वितीया शाखा ॥ २ ॥

इति संर्वशरीरम् । अनुक्तविध्युपम्रहार्थमाह—अन्यश्चेत्यादि । अन्यश्चेति, म्रहण्यतिसारादि-वक्ष्यमाणामदोपक्षयकरो भेपजरूपो मार्ग इहामम्रदोपे हित इति सम्बन्धः ॥ १९।१२ ॥

इति चरकचतुरानन-श्रीमचक्रपाणिदत्तविरचितायाम् आयुर्वेददीपिकायां विमानस्थान-ब्याख्यायां त्रिविधकुक्षीयविमानं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

ं तृतीयोऽध्यायः ।

अथातो जनपदोद्धंसनीयं विमानं व्याख्यास्यामः, इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

जनपद्सग्डले पञ्चालचेत्रे द्विजातिवराध्युपिते काम्पिल्य-राजधान्यां भगवान् पुनर्व्वसुरात्रेयोऽन्तेवासिगग्पपिवृतः पश्चिमे घर्ममासे गङ्गातीरे वनविचारमनुविचरन् शिष्यमित्रवेशम् अब्रवीत्। दृश्यन्ते हि खलु सौम्य नचत्रप्रहगग्यचन्द्रसूर्य्या-निलानलानां दिशाञ्च प्रकृतिभूतानाम् ॥ चतुवैकारिका भावाः।

गृङ्गाधरः—अथ विभिन्नप्रकृत्यादोनां विभिन्नरूपव्यायोनां क्रियाविधानार्थं रसिवमानित्रविधकुक्षीयविमानं उत्तवा विभिन्नप्रकृत्यादीनां जनपदानामुह्- ध्वंसकराणामेकविधविकाराणां क्रियाविधानार्थं तेपाश्च दोपभेपजादिमान- विकानाय जनपदोद्ध्वंसनीयं विमानमाह—अथात इत्यादि। जनपदानां जनसमूहानामुद्ध्वंसनमधिकृत्य कृतं विमानं तं तथा। विमीयतेऽनेनित विमानम्। रसादीनां मानकानहेत्रिति तत्त्वद्भिगनमस्त्यस्मिन्नध्याये इत्य-ध्यायाथे छस्य छुक् अध्यायानुवाकयोरिति॥१॥

गङ्गाधरः — जनपदेत्यादि । अन्तेवासिगणैः शिष्यगणैः परिष्टतः । पश्चिमे घम्मेमासे ग्रीष्मन्तेवशेषमासे आपादे, वनविचारं वनविहारं विचरन विहरन । किमन्नवीदित्यत आह — दृश्यन्ते हीत्यादि । सौम्य हे वत्स हि यस्मात नक्षत्रादीनामृतुवैकारिका भावास्तव्ग्रीष्मचु लक्षणविपरीतलक्षणम् चका भावा

चक्रपाणिः—हिविधो हेतुव्योधिजनकः प्राणिनां भवति साधारणोऽसाधारणश्च । तत्र साधारणे प्रतिपुरुपनियतं वातादिजननमाहाराद्यभिधाय बहुजनसाधारणवानजलदेशकालरूपमसाधारणरोग-कारणमभिधातुं जनपदोद्दंसनीयोऽभिधीयते ॥ १॥

चक्रपाणिः जनपदोपलक्षितं मण्डलं जनपदमण्डलं, पञ्चालक्षेत्र इति तस्य विशेषणम्। द्विजातिभिरध्युपित इति वचनेन महाजनसेवितेऽपि देशे अधर्म्मवशाजनपदोद्ध्वंसो वक्ष्यमाणो भवतीति दर्शयति । पश्चिमे धर्ममास इति ज्येष्टे । वनविचारमनुविचरन्निति वनं विचर्य्य विचर्यानु-

अप्रकृतिस्तानामिति चकः ।

श्रचिरादितो भूरिष न यथाबद्धसबीर्घ्यविपाकप्रभावमोषधीनां प्रतिविधास्यति, तद्वियोगाचातङ्कप्रायता नियता। तस्मात् प्रागुद्ध्वंसात् प्राक् च भूमेर्विरसीभाबादुद्धर क सौम्य भेषच्यानि याबन्नोपहतरसबीर्घ्यविपाकप्रभावाणि भवन्ति। वयञ्चेषां

अत्र प्राह्मास्ते दृश्यन्ते । अचिरात क्षिप्रमितो नक्षत्राद्दीनामृतुविकारकरभावाद् हेतोरियं भूरपीदं भूखण्डं तहोपदृपिता सती यथावद्रसवीर्य्यविपाकमभावं निधास्यति चकारात तेन च भूरियं ओपधीनां तद्भूम्यां जातानां रस-वीर्व्यादिकं यथावत् यस्या ओपधेर्यद्यद्रसादिकं प्रसिद्धं तत् तथाविधं न प्रतिविधास्यति न स्वानुरूपेण विधास्यति। नन्न ततः किं स्यादित्यत आह्—तर्वियोगाचेत्यादि। तेपाम् ओपधीनां स्वाभाविकरसादीनामोपिधपु वियोगाच यस्मादातङ्कपायता रोगवहुलता नियता अवधारिता तस्मात नसत्रादीनामृत्वैकारिकथावैभू मेविरसीभाविले नौपधीनां **भागुद्ध्वंसात्** स्वानुरूपेण विधानाभावेनातङ्कवहलता भावितावधारणात्। जनपदानामुद्ध्वंसात् पूर्वे भूमेश्च विरसीभावात् पूर्वेश्च भैपज्यानि उद्धर है सौम्याग्निवेश। नजु कस्माट् भूमेर्चिरसीभावात् पूर्व्विमित्यत आह--यावन्नोपत्यादि । भैपज्यानि भूमेरुत्पत्त्याकरस्य विरसीभावादुपहतरसादीनि भवन्ति ततो यावझोपहतरसादीनि तावान् कालस्तु भूमेर्विरसीभावात् पूर्व-काल इति भावः। नन्वस्माकं कि प्रयोजनमोपधीनामुद्धरणिमत्यत आह— विचरित्रत्यर्थः। ऋतुविकाराय भूता ऋतुवैकारिकाः। ऋतुविकारश्चोपलक्षणम्। तेन जन-पटदेशवातविकाराय मृता इति मन्तव्यम् । यतौ मृम्यादीनामपि विकृति वक्ष्यति । किंवा,

पट्देशवातिविकाराय मृता इतिं मन्तज्यम् । यतो मृम्यादीनामि विकृतिं वक्ष्यति । किंवा, ऋत्वननुरूपा ऋतुवेकारिकाः । तेन ऋत्वननुरूपलक्षणमेव नक्षत्रादीनां विकृतिरित्युक्त भवति ;—ग्रीप्में हि नक्षत्राणि निम्मंलानि भवन्ति, तानि यदि तु तुपारच्छत्रानि ग्रीप्में भवन्ति, तदा विकृतानि भवन्ति। मृर्पि चेति 'अपि' वचनात् जलानिली च ग्राह्यन्ति । तेन भूस्तावद्रोपधीनां प्रधानकारणम्, सा रसादीन् न प्रतिविधास्यति, जलवातावि चौपधीनां रसादीन् न प्रतिविधास्यति, जलवातावि चौपधीनां रसादीन् न प्रतिविधास्यति जनयिष्यति । उद्धरध्वमिति वर्धुवचनं वह्नन्तेवासियुक्ताग्निदेशाभिग्रायेण । अग्निवेशस्तु प्रधानत्वेनेक एव हि, 'अग्निवेश' इतिपदेन तथा 'सौम्य' इतिपदेन सम्बोध्यते । भेपजोद्धरणन्तु वहुभिरेव कर्त्तव्यमित्यभिग्रायेण वहुवचनम् । भवति हि प्रधानं सम्बोध्य गणसम्पाद्यक्रियायां वहुवचनम् । यथा—पन्ते ।

उद्धरध्वमिति चकः।

रस्त्रीर्थ्यविषाकप्रभावानुषयोच्यामहे । ये चारमाननुकाङ्चन्ति यांश्च वयमनुकाङ्बामः । न हि सम्यगुद्धतेषु सौम्य भेषज्येषु सम्यग्विहिनेषु सम्यक् चावचारितेषु जनपदोद्ध्वंसकराणां विकाराणां किश्चित् प्रतीकारगौरवं भवति ॥ २ ॥

एवंबादिनं भगवन्तमात्रेयभग्निवेश उवाच। उद्धृतानि खलु भगवन् भेपज्यानि सम्यग् विहितानि च सम्यगवचारितानि च।

वयञ्चैपामित्यादि। एपामत ऊर्ज्वं वक्ष्यमाणपुरुपाणाम्। के च ते पुरुपा इत्यत आह—ये चेत्यादि। ये च पुरुपा अस्मान् अनुकाङ्कान्ति अन्विच्छन्ति यांश्च पुरुपान् वयं अनुकाङ्कामोऽन्विच्छामः। तेपां पुरुपाणां रसादीनुपयोक्ष्या-महे। इति प्रजाहितै पिल्लमात्रमात्मनः ख्यापितम्। नन्वेत्रमस्तु व्याध्युत्पत्तौ सत्यां प्रतिकारस्तेपां विधास्यतेऽस्माभिः, कस्माद्धुना ओपधीनामुद्धरणं कार्य्यमित्यत आह—न हीत्यादि। हि यस्मात् सम्यक् भूमेविरसीभावात् यथा-विधि चौपधिषुद्धारितामु सतीपु सम्यक् च। जनपदोद्ध्वंसकररोगोत्पत्तेः पूर्वं सत्याञ्चोत्पत्तौ तथाविधरसादिमत्सु भेपज्येषु विहितेषु सम्यक् चावचारितेषु आहारविधिना भक्षितेष जनपदोद्ध्वंसकराणामेकविधानां विकाराणां ज्वराती-सारादीनां प्रतीकारगौरवं प्रतीकारभेपजवाहुल्योपयोगकर्त्तव्यता न भवति, स्लल्पेन प्रतीकारेण तेषां प्रज्ञमो भविष्यतीति भावः॥ २॥

गुङ्गाधरः - एवंवादिनियादि । उद्धृतानीत्यादिनामिवेशेनात्मनस्तद्धोधः

युध्यंध्वमिति । अन्ये तु 'सौम्य'पदं भेपजविशेषणं कुर्व्वन्ति । ये चारमाननुकाङ्क्षन्ति ये चारमान् भिपजोऽनुकाङ्क्षन्तित्यर्थः । यांश्च वयमनुकाङ्क्षामिश्चिकित्स्यत्वेन । एतेन, ये वैद्यप्रियत्वेन साध्याः । असाध्या हि वेद्यद्विप उक्ताः । वेद्याश्च यानिच्छन्ति, ते साध्यरोगा एव । असाध्यान् हि वेद्या नेच्छन्ति । एतेन, येऽन्येऽपि भेपजसाध्या रोगास्ते आसामोपधीनां रसादीनुप-युक्षन्तीत्यर्थः । यदि, ये असमद्रताः, र्यांश्च वयं प्रयोजनवशादनुगताः, ते उपयोक्ष्यन्तीति व्याख्यायते, तदा आत्रेयस्य पक्षरागित्वेनाप्तत्वं न सम्भवतीति "सर्व्वत्र प्रजानां पितृवत् शरण्यः" इतिवचनाचास्य नीरागत्वमुक्तम् ॥ २ ॥

चक्रपाणिः— उद्धृतानीति वचनमस्ते भूतवच्चेति प्रयोगाद्वोद्धस्यम्, यथा, अचिरकर्त्तन्ये

त्रिप च खलु जनपदो इध्वंसनमेकेनेव व्याधिना युगपदसमान-प्रकृत्याहारदेहवलसात्मारसन्ववयसां मनुष्याणां कस्माद् भव-तीति॥ ३॥

तमुवाच भगवानात्रेयः। एवमसामान्यवतामध्येभिरिप्तवेश प्रकृत्यादिभिभविभैनुष्याणां येऽन्ये भावाः सामान्यास्त इवैग्रुण्यात् समानकालाः समानिलङ्गाश्च व्याधयाऽभिनिव्वर्त्तमाना जनपदम् उद्ध्वंसयन्ति। ते तु खिलवमे भावाः सामान्या जनपदेषु भवन्ति, तद् यथा—वायुरुदकं देशः काल इति ॥ ४॥

तत्र वातमेवंविधमनारोग्यकरं विद्यात्। तद् यथा— चरतु-विषममतिस्तिमतमतिचलमतिपरुषमितशीतमत्युष्णमित-

रुयापितः। अत्रास्माभिरिति शेषः। स्वगतं जनपद्गेध्वंसनविषये प्रश्नमाह— अपि चेत्यादि। अन्यच्चेत्यर्थः॥३॥

गङ्गाधरः—तिमलादि । तिमलिशिवेशम् । एविमलादि । एवमुक्तमकारेण मक्कलाचितान्यवतां विभिन्नमकुलादिकानामि एभिरुक्तैः मकुलादिभिः मकुलाहारदेहवलसात्म्यसत्त्ववयोभिर्भावैरन्ये ये सामान्या मनुष्याणां भावाः तद्देशुग्यात् तेषां सामान्यानां भावानां वैग्रुग्यात् समानकालाः क्षणमुह्त्ति-संवत्सरादिक्षमकालेन समानकालाः प्रायेण युगपदनेकजनमरणात् । ननु के ते मकुलादिभिनाः सामान्यक्षा भावा इत्यत आह—ते तित्यादि । वायुरिति विह्थरो वायुर्ने तु शारीरः ॥ ४॥

गुङ्गाधरः—तद् यथे त्यादि । अतिस्तिमितमत्याद्रीमेत्र लक्ष्यते अतिज्ञीतं वा

'कृतम्' इति वदन्ति । न हि वचनकाल एव ओपधीनामुद्धरणं सम्भवतीति । एकेनेत्येक-जातीयेन । असमानप्रकृत्यादीनां समानकारणत्वाभावात्र तुल्यरूपो व्याधिर्भवितुमईर्ताति प्रक्षार्थः ॥ ३ ॥

चक्रपाणिः—समानिकङ्गा इति तुल्यिकङ्गाः । यथर्तु विपममिति ऋत्वननुरुपम् । अपगत-

रुव्सस्यभिष्यन्द्रिनस्तिभैरवारावमतिप्रतिहत-परस्पर-गतिमति-कुण्डलिनमसारम्यगन्धवाष्यसिकतापांशुधूमोपहतिमितिं ॥ ५ ॥

उदकन्तु खल्वसर्थविकृतगन्धवर्णरसस्यर्शवत् क्लेदबहुलम् अपकान्त-जलचरविहङ्गमुपचीगाजलाशयमश्रीतिकरमपगत-गुगां विद्यात् ॥ ६ ॥

देशं पुनः प्रकृतिविकृतवर्णगन्धरसस्पर्शं वलेदवहुलमुपस्टष्टं सरीसृप-ठ्याल-मश्क-शलभ-मनिका-सृषिकोलूक-रमाश्रानिक-श्कुनिजम्बूकादिभिः तृगोलुवोपवनवन्तं प्रतानादिवहुलम् अपूर्वि ३ द्वपतितशुष्कनष्टशस्यं धूम्रपवनञ्च प्रध्मातपतित्रगराम् उत्कृष्टर्वगग्मुद्भ्रान्तव्यथितविविधसृगपित्तसङ्म् उत्सृष्ट-

अत्युष्णं वेति विकरण उन्नेयः, अत्यभिष्यन्दिनं वहिर्द्रवाभिस्रावणेन लक्ष्यम्, अतिमैरवारावं झञ्झारूपलात् सुतरां तस्मादेवातिशयेन मतिहता माणिनां परस्परं गतियोंन तं तथा, असात्म्यमसुपशयितं गन्धादिकं सिकतादिकञ्च तैरुपहतम् ॥ ५॥

गङ्गाधरः--उदकन्तित्यादि । अपकान्ता जलचराद्यो यस्मात् तत् तथा । उपक्षीणं प्रायेण शुष्कारपजलाशयम् अपगतगुणम् अनारोग्यकरम् ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः —देशं पुनरित्यादि। प्रकृतितो विकृता वर्णगन्धाद्यो यत्र तं तथा, सरीस्पादिभिरुपस्प्रमुपसर्गीकृतम्, इमाशानिकश्कुनिर्पृ धादिः, आदिना कुक् रादिभिश्व। तृण दृर्वादिकम् उलूपं उलुकम् उलुप इति ख्यातम्। प्रतानं लतातः प्रभवलतासमूहः, आदिना तत्पर्णादिग्रहणं तैवेहुलम्। अपूर्ववत् पूर्वं यथा नावपतितं न शुष्कं न नष्टशस्यं यत्र तत्र पश्चात् तथावपतितं रोपितं शुष्कश्च नष्ट्ञ शस्यं भवतीति भावः। धूम्रवर्णइव पवन उपलक्ष्यते यत्र तं, तथा। प्रध्मातं निरन्तरं शब्दितः पतित्रगणो यत्र तं तथा। उत्कृष्ट उच्चैः शब्दं कुर्वन् वनणः

गुणमिति "जीवनं पिपासाहरम्" इत्याद्वयक्तगुणरहितम् । विकृता वर्णोदयो यस देशस्य तं विकृतवर्णगन्धरसस्पर्शम्, रमाशानिकशकुनिर्गृधः । अपूर्वविदित परिचितमप्युपहतत्वेनापूर्विमव नष्टधर्म-सत्य-लजाचारशीलगुण-जनपदं शश्वत्चुभितोदीण-सिललाशयं प्रततोलकापातिनर्घातभृमिकस्पञ्च प्रतिभयावार-रूपम् क रुचताम्रारुणसिताभ्रजालावृतार्कचन्द्रतारकमभीच्यां सम्भ्रमोद्देगिमव सत्रासरुदितिमिव सत्तमस्किमिव गुह्यकाचरितम् इवाकन्दितशब्दबहुलञ्च अहितं विद्यात् ॥ ७॥

काजन्तु खलु यथर्त्तुजिङ्गाद्दिवपरीतिलङ्गमितिलङ्गं हीन-लिङ्गञ्चाहितमेव व्यवस्येत्॥ = ॥

इमानेवंदोषयुक्तान् चतुरो भावान् जनपदोद्ध्वंस-करान् वदन्ति कुश्लाः । अतोऽन्यथाभृतांस्तु हितानाचच्चते । विग्रुणेष्विप तु खलु जनपदोद्ध्वंसकरेषु भावेषु भेषजेनैवोप-पाद्यमानानामभयं भवति रोगेभ्यः । इति ॥ ६ ॥

कुक्करगणो यत्र तं तथा। उद्भान्त ऊर्इ देशे भ्रमणशीलो व्यथितश्च विविधमृगादिसंघो यत्र तं, तथा। उत्सृष्टाश्च नष्टाश्च धम्मेसत्यलज्जाचारशीलगुणा
येन तदुत्स्रष्टनष्टधम्मेसत्यलज्जाचारशीलगुणं तादृगं जनपदं यत्र तं, तथा।
शक्त निरन्तरं वातादिभिः क्षुभितं तरङ्गवहुलमुदीणं जलाश्यं यत्र तं, तथा।
निर्वातो वजादिपातः। प्रतिभयं भयद्धरमप्यवारं रूपं मृत्तियेत्र तं, तथा।
रुसैस्ताम्न वीऽरुणवर्गं सितविधिभ्रजालिभेधजालिः संद्रता अकेचन्द्रतारका यत्र
तं, तथा। अभीक्षणं सम्भ्रमेण तर्या व्यग्रतया लोकानामुद्धेगो यत्र तिमव
लक्ष्यते। सत्रासं रुदिता लोका यत्र तिमव लक्षितं, सत्तमस्कम् अन्धकारयुक्तमिव गृह्यकराचरितमिव आक्रन्दितशब्दैवहुलमिव च॥ ७॥

गङ्गाधरः—कालन्तित्यादि स्पष्टम् । इमानित्यादि । इमान् वायद्कदेश-कालान्। एवमुक्तप्रकारेण वैगुण्ययुक्तान् अतोऽन्यथाभूतानिति ऋतुसमास्तिमित-मित्यादिरूपान् वायदकदेशकालान् । नतु प्वयमुक्तं प्रागुद्ध्वंसात् प्राक् च भूमे-विरसीभावादुद्धर् सौम्य भैपज्यानीत्यादि । वाट्यादिवैगुण्येन भूमेविरसातात् इश्यते, उत्स्षष्टाश्च नष्टाश्च धर्मसत्यलजागुणा जनैयंत्र स तथा, यत्र ये धर्मादियुक्तास्ते उत्स्जन्ति

अतिभयारावेति वा पाठः ।

भवन्ति चात्र।

वैगुग्यमुपपन्नानां देशकालानिलाम्भसाम्। गरीयस्त्वं विशेषेण हेतुमत्सु प्रचन्ते ॥ वाताज्ञलं जलाहु देशं देशात् कालं खभावतः। विद्याद्परिहार्च्यत्वाद्गरीयः पर-क्र-मार्थवित् ॥

तत्रोद्भूतौपधीनामपि अयथावद्रसादित्वेन कार्याकरलात् वातादिवैगुण्ये जाते किं कर्त्तव्यमित्याकाङ्कायामाह—विगुणेष्वपीत्यादि ॥ ८।९ ॥

गङ्गाधरः — एतदेव वक्तुमाह — भवन्तीत्यादि । स्वभावत इति स्वाभा-विकादपरिहार्य्यसात्। ननु देशादिषु चतुर्णु कुतः कस्य कस्माद् हेतो-र्गरीयस्विमत्यत आह—वाताज्ञलमित्यादि। वाताज्ञलम् अपरिहार्यसात् गरीयो विद्यात्। वायुर्हि निवातगृहेऽवस्थानात् परिहार्थः, जलनतु जीवनं पानाशनादिविधौ प्रायेणापेक्ष्यते, तस्माद्वायुरिव न परिहर्तुं शक्यते जलिपिति भावः।जलादेशमपरिहार्य्यसाद्गरीयांसं विद्यात्। उदकन्तु पानांशनादि-विधाववक्यापेक्ष्यं पानाशनादिकं हिला दुग्धादिकं त्रपुपनारिकेलोद-कादिकञ्च पीला जीवितुमईति यतस्तेन पुंसाप्युदकं परिहर्त्तुं शक्यं यथा न तथा देशः परिहर्त्तुं शक्यते वासार्थं देशस्यावश्यापेश्यलात्। तसादुदकाद्परिहार्घ्यवादंशों गरीयान्। देशात् कालमपरिहाय्यलात् गरीयांसं विद्यात्। देशो हुमक्तरूपः प्रकृतिविकृतवर्णगन्यादिनं सन्बंदेशः सस्भवति तेन यो देशो न तथाविधस्तट्देशे विग्रणदेशं विहाय वासः सम्भवति, कालस्तु ऋतुरूपः स्वलक्षणविपरीतः मायेण वहुदेशे भवतीति देश इव न परिहार्ट्यस्तस्माट् देशादपरिहार्ट्यलात् कालो गरीयान्। गरीय इति . न्पुं सकनिहेंशः प्रथमतो वाताञ्जलमित्यस्य न्पुं सकजलशब्दस्यान्वयातुरोधात्. धम्मोदीनि, सन्वेथा अज्ञा न धम्मोदीन्याचरन्ति, तान् प्रति नष्टान्येव धम्मोदीनि । गुहाकाकान्तो हि देशो यथा ऋन्द्रनशब्द्रबहुलो भवति, तादशम् ॥ ४—९॥

चक्रपाणि:—चैंगुण्यमित्यादिना दुष्टानां चातादीनां यस्य यद्दकर्पी थेन हेतुना तदाह। स्वभावतो विद्यादुष्परिहार्य्यत्वादिति स्वभावादेव वातापेक्षया जलं दुष्परिहरं भवति, जलाश देशः, देशाच कालः । वातो हि निवातदेशसेवया दुष्टः परिहियते, न तथा जलम्, ति हेहवृत्यर्थमवस्यं सेन्यम् । जलमपि च यदि महता प्रयत्नेन परिहर्त्तुं युज्यते, देशस्तु जलापेक्षया इष्परिहरो

^{*} गरीयस्तरमिति पाठान्तरम् ।

वाद्यादिषु यथोक्तानां दोपाणान्तु विशेषवित्। प्रतिकारस्य सौकर्यं विद्याह्माध्यत्वच्याम् ॥ चतुर्ष्यपि तु दुष्टेषु कालान्तेषु यदा नराः। भेपजेनोपपाद्यन्ते न भवन्तगतुरास्तदा ॥ येपां न मृत्युसामान्यं सामान्यं न च कर्म्मणाम्। कर्म पश्चविधं तेषां भेपजं परमुच्यते॥

पश्चाहिङ्गविपरिणामेनान्वेतव्यम्। नन्वेवं रूपेण वातादेरुत्तरोत्तरतो गौरव-वचनेन किं प्रयोजनिम्तित आह—वाट्यादि जित्यादि। प्रतिकारस्य सौक्रयें गुकरत्वे गुरुलाववलक्षणं विद्यात्। हेतुलाववलक्षणविद्धि गुकरतया प्रति-कर्जु क्षमः स्यादिति भावः। कालान्तेषु वायुद्कदेशकालेषु। ननु केन भेपजेनोपपाद्यन्ते इत्यत आह—येपामित्यादि। मृत्युसामान्यं मृत्युजनकदैव-साम्यम्। ननु मृत्युसामान्यं केन वायते इत्यत आह—सामान्यं न च कम्मीणामिति। कम्मेणामिति दैवजनकसदसत्कर्म्मणां न तु पानाशनासन-शयनजागरणविष्मृत्रोत्सञ्जेनादिकानाम्, तेनापिच विधिनाविधिनासदसदूपत्वे-ऽपि कम्मेलेन ग्रहणं वोध्यं; कम्मी पश्चविधं स्नेहस्वेद्यूव्वंकवमनविरेचना-

भवति, तद्वातिरेकेण।वस्थातुमशक्यत्वात् । देशोऽपि यदि देशान्तरगमनेन परिहर्त्तुं युज्यते, कालस्तु सर्व्या त्यत्तुमशक्य इति सर्व्वेप्वेव गरीयान् । गरीयः परिमिति पाठे, यद्यतः परम्, तत् ततो गरीयो विद्यादिति योजना । एतिहप्ययेथे लाववमाह—वास्वादिष्वित्यादि । प्रतीकारस्य सौकर्य इति यथोक्तविधया वातादिपरित्यागस्य सुकरत्वेनेत्ययः । थेपां न मृत्युसामान्यमिति न मृत्युजनकदेवसाम्यं येपामस्तीत्यथः । सामान्यं न च कम्मणामिति न च मारककर्मन्सामान्यं येपामस्तीत्यथः । केचिद्धि सम्भूयेव जन्मान्तरे प्रामदाहादि कुर्व्वते स्म, तत्कम्मवलात् संहतमृत्यव एव भवन्ति । किंवा, पृथगपि मारकं कर्मा कृतं केपाञ्चिदेककालं विषच्य-मानं भवति । तेऽपि समकालमृत्यवो भवन्ति । तत्र 'न मृत्युसामान्यम्', इत्यनेन नोत्पन्न-रिप्टत्वादेव केचित् साध्या इति दर्शयति, 'न कर्मसामान्यम्' इत्यनेन केचिचाजातरिष्टा अपि नियतमारककर्मवशादसाध्या भवन्तीति दर्शयति । किंवा, 'न मृत्युसामान्यम्' इत्यनेन मारकव्याधिः साधारण उच्यते । 'न कर्मसामान्यम्' इत्यनेन च मारकव्याधिजनकं कर्मोच्यते ।

रसायनानां विधिवचोपयोगः प्रशस्यते। शस्यते देहवृत्तिश्च भेषजेः पूर्व्वमुद्धतेः॥ सत्यं भृते द्या दानं वलयो देवतार्च्चनम्। सद्दवृत्तस्यानुवृत्तिश्च प्रश्मो गुप्तिरात्मनः॥ हितं जनपदानाञ्च शिवानामुपसेवनम्। सेवनं ब्रह्मचर्यस्य तथेव ब्रह्मचारिगाम्॥ संकथा धर्मशास्त्राणां महर्षीणां जितात्मनाम्। धार्मिकैः सात्त्वकैर्नित्यं सहास्या वृद्धसम्मतेः॥ इत्येतद् भेषजं प्रोक्तमायुषः परिपालनम्। येषामनियतो मृत्युस्तिस्मन् काले सुदारुगो॥ १०॥

स्थापनानुवासनिक्षरोविरेचनानीति पञ्चविधम्। ननु ताद्दशविग्रण-वाय्वादिके समये कम्भसामान्येनानुमितमृत्युसामान्यमस्ति येपां तेपां किं भेपजेन नोपपत्तिभवतीत्यत आह—रसायनानामित्यादि। देहप्टत्तिभौजनादिना यापनम्। भेपजेः पूर्वमुद्धतेः, भूमेविरसीभावात् पूर्वमुद्धतेः शालिपभृति-कान्नस्पादियोनिद्रव्यस्तथा वनजलताग्रलमादिकेरोपधिद्रव्येश्व। वलयः पूजोप-हाराः। सद्गृत्तस्य इन्द्रियोपक्रमोक्तस्यानुप्टत्तिरुपसेवनम्, प्रश्नमः शान्तरसाश्रयणम्, आत्मनो गुप्तिदेशान्तरे गमनं, शिवानां मङ्गलकराणां स्वस्त्ययनप्टद्धसिद्धादि-जनपदानां सङ्गादीनामुपसेवनमेतत् सर्व्यं जनपदानामुद्ध्वंसने हितं भवति। संकथा सम्यग् व्याख्यया परस्परमालापः। सहास्या साद्धमुपवेशनं प्रदु-सम्मतेष्टंद्धानामपि मान्येः सहास्या। केषामायुपः परिपालनमित्येतत् भेपजं प्रोक्तमित्यत आह—येपामित्यादि। दैवपुरुपकारयोदैंवस्य पुरुपकारस्य वा माधान्याद् येपां पुरुषाणाम्। तस्मिन् विग्रणवाय्वादिके सुद्दारुणे काले येपां मृत्युनं नियतोऽस्ति तेपामायुषः परिपालनमित्येतद् भेपजं प्रोक्तमित्यर्थः॥१०॥

पूर्वमुद्धृतेरिति ब्यापत्तेः पूर्वं गृहीतेः। गुप्तिर्मन्तादिना रक्षा। अनियत इति वचनेन इर्व्यलकर्मारव्धोऽपि मृत्युः पार्य्वत एवेवं प्रतिकर्त्तुं मिति दर्शयति॥ १०॥ इति श्रुत्वा जनपदोद्ध्यंसने कारणानि * पुनश्चापि भग-वन्तम् आत्रेयमित्रवेश उवाच । अथ भगवन् कृतो मूलमेषां वाय्वा-दोनां वेग्रण्यमुत्पद्यते येनोपपन्ना जनपद्मुद्ध्वंसयन्तीति॥ ११

तमुवाच भगवानात्रेयः। सर्व्वेषामप्यक्षिवेश वाय्वादीनां वैग्रुग्यम् उत्पद्यते यत्, तस्य सूलसधर्मः। तन्सूलञ्चासत् कर्मम् पूव्वकृतम्, तयोयोनिः प्रज्ञापराध एव। तद् यथा—यदा वै देश-नगरनिगमजनपदप्रधाना धर्ममुत्क्रस्याधरमेण प्रजां प्रवर्त्त-यन्ति, तदाश्रितोपाश्रिताः पौरजनददा व्यवहारोपजीविनश्च तम् अधर्मम् अभिवर्ष्वयन्ति। ततः सोऽधर्मः प्रसमं धर्ममन्तर्ष्वते,

गङ्गाधरः—इति श्रुत्तेत्यादि स्पष्टम्। अथेत्यादि । हे भगवन् जनपदोद्-ध्वंसने मूळं कारणमेपां वाय्वादीनां क्रुतो वैगुण्यमुत्पद्यते इत्यन्वयः। येन वैगुण्येनोपपना वाताद्य इत्यर्थः॥ ११॥

गङ्गाधरः—तम्रवाचेत्यादि । सर्व्वपां वाय्वादीनाम् । तद् यथेत्यादि । देश-नगरिनगमेषु वासिनां जनपदानां मध्ये प्रधाना वेदादिशास्त्रोक्तविधिसद्-ष्टत्ताद्यनुशास्तारः प्रज्ञातियोगिमध्यायोगायोगैधेममेमुत्क्रम्यातिक्रम्य प्रजाम् अधम्मण वत्तंयन्ति यदा, तदा आश्रितोपश्रिताः आश्रिता भृत्यादयोऽधीनाः, एपाश्रिताः सामीप्येन वासिनोऽपि धम्मेशासनेनाधीना येपौरजनपदानाधीनाः। किन्तु शास्त्रविज्ञानरिहत्त्वेन सतां व्यवहारानुक्ष्पण व्यवहरन्त उपजीवितुं शीलशालिनः। ततस्तस्माद् व्यवहारात् वर्ष्टितोऽधम्मस्तेभ्यो जनपदेभ्यः

चक्रपाणिः—क्रतोमूलं किंमूलिमत्यर्थः । तस्य मूलमधर्मा इति ऐहिकाधर्मां वर्शयित । अन्मूलं वेति तस्य वातादिवेगुण्यस्य मूलं पूर्वकृतं वा कर्मा । तेन हि, कोऽप्यधर्मो जन्मान्तर- कृतो वातादिवेगुण्यस्य कारणिमिति मुवते । तद्—'यदा देश' इत्यादिना स्वैहिकमेवाधर्मा पद्रस्यति । एतत्त्रया प्रत्यक्षत्वेन स्फुटसिद्धान्तार्थम्, न तु जन्मान्तरकृताधर्मस्याकारणत्वेनेतिः हेयम् । तयोरित्यैहिकजन्मान्तरीययोः । योनिरिति कारणम् । स्पृश्यास्यवहार्य्यदोपादिति

^{*} आत्रेयस्य भगवतः इत्यधिकः पाठः दश्यते कवित् t

ततस्तेऽन्तर्हितधम्मीगा देवताभिरपि व्यज्यन्ते । तेषां तथा-विधान्तर्हितधरमीणामधरभेप्रधानानामप्रज्ञान्तदेवतानाम् ऋतवो व्यापचन्ते। तेनापो यथाकालं देवो वर्षति न वा वर्षति विकृतं वा वर्षति, वाता न सम्यगिसवान्ति, चितिर्वग्रापयते, सिललान्युपशुष्यन्ति, झाषधयः स्वभावं परिहायापयन्ते विकृतिं, तत उद्ध्वंसन्ते जनपदाः स्पर्शाभ्यवहार्य्यदोपात् ॥ १२ ॥

तथा शस्त्रप्रभवस्यापि जनपदोद्धः सस्याधममे एव हेतुर्भवति। येऽतिप्रवृद्धलोभरोषमानास्ते 🕸 दुर्व्यलानवमत्यात्मस्वजनपरोप-घाताय शस्त्रेण परस्परमभिकामन्ति, परान् वाभिकामन्ति,

प्रसमं हटात् धर्ममन्तर्द्धत्ते धर्ममन्तर्द्धापयति, ततोऽधरमति ते जनपदा अन्तर्हितधरमीणः। तेषां जनपदानामन्तर्हितधर्मेखादधरमेपधानलात् अपक्रान्त-देवताकलाच ऋतवो व्यापद्यन्ते। तेन ऋतुव्यापादेन धम्मन्तिद्धनिनाधम्मस्य प्राधान्येन प्रजानां देवतात्यागेन च देवो जलानां देव इन्द्रादिरपो न यथाकाळं वर्पति। स्पर्शाभ्यवहार्य्यदोपादिति ऋतोः स्पर्शदोपात् जलादेः स्पर्जाभ्यवहारदोपात् वातस्य क्षितेश्च स्पर्शदोपात् :ओपधीनां स्पर्जाभ्यवहार-दोषात् ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः-एवं वातादीनां वैगुण्यमुक्तवा युद्धादिप्रष्टित्ततोऽपि जनपदोद-ध्वंसनं दर्जयति—तथेत्यादि। शस्त्राणां प्रभवनमस्मात् स शस्त्रप्रभवस्तत्र अयथावत् शस्त्रचारण्प्रष्टित्तिहेतुशरीरमवर्त्तनस्याप्यधम्मे एव हेतुस्तस्याधम्मेस्य मुलञ्चासत् कम्म पूर्विकृतं तयोयौनिः प्रज्ञापराध एवेति । प्रज्ञापराधासत्कम्मी-ध्रमितोऽतिपृद्धलोभाद्यस्ते दुर्व्वलानवमत्य अवशायं परैर्वाभिक्रस्यन्ते

स्पृंत्यस्य व्यजनादरभ्यवहार्थ्यस्य च कृतस्तस्य दुष्टत्वात्। एतच प्राधान्येन ज्ञेयम्। बुष्टपचनगन्धदोपेऽपि ज्ञेयम्, असात्म्यगन्धोऽपि दुष्टवात उक्तः ॥ ११ । १२ ॥

चक्रपाणिः-शस्त्रप्रभवस्यापीति बहुजनमारकशस्त्रप्रभवस्येत्यर्थः। आत्मस्वजनपरोपघातायेति

^{*} अतिप्रवृद्धलोभरोपमोहमानां इति पाठान्तरम् ।

परेवीभिक्रस्यन्ते रचोगगादिभिर्वा । विविधम्तसंघैस्तमधर्म-मन्यद्व वाप्यपचारान्तरमुपलभ्याभिहन्यन्ते ॥ १३ ॥

तथाभिशापप्रभवस्याप्यधम्मं एव हेतुर्भवति । ये लुप्तधम्मािणो धर्माद्येतास्ते ग्रुरुवृद्धतिद्धर्षिपूज्यानवमत्याहितान्याचरन्ति । ततस्ताः प्रजा गुर्व्वादिभिरभिश्ता भस्मतामुपयान्ति । प्रागप्य-भूदनेकपुरुपकुलविनाशाय । नियतप्रत्ययोपलम्भान्नियताश्च परे-ऽनियतप्रत्ययोपलम्भाद्दित्यताश्च परे । प्रागपि चाधम्माद्दिते नाशुभोत्पत्तिरन्यतोऽभूत् ॥ १४ ॥

रक्षोगणादिभिरित्यन्तरुछेदः। भूतसंघैर्विविधैः कर्त्तृभिर्वा। अन्यद्वेति अशु-च्यादि भावादिकं भूतोन्मादोक्तकारणमिति भूताभिघातेऽप्यथम्मीसत्कर्मणो-चौनिः महापराधो हेतुः॥ १३॥

गृहाधरः—एवमभिशापस्याप्याह—तथेत्यादि। अत्रापि अधर्मस्य मूलम् असत्कर्म पूर्वकृतं तयोयौनिः प्रज्ञापराध एवेति वोध्यम्, ते जनपदाः लुप्त-धर्माण इति धर्माद्रिनप्रत्ययो वाहुल्यात्। अकृतधर्माः धर्माद्रपता धर्माण स्यक्ताः। अभिशापेन प्राक्कालेऽपि पुरुपाणां कुलक्षये पुराष्ट्रित्तमाह—प्रागेवत्यादि। प्राक् अतः पूर्वकालमेवानेकपुरुपाणां कुलविनाशाय। नियताश्च परे केचित् नियतप्रत्ययेनोपलम्भात्। नियतकालायपः कारणोपल्य्यस्तत्र जीवन्ति। अपरे केचिचानियतप्रत्ययोपलम्भादिनयतायुपः कारणोपल्य्येम्हियन्ते। नतु किं धर्मास्यान्तद्धानं देवतानां प्रजात्यागः वाय्वादीनां वैगुण्यं शसादिप्रभवश्च रक्षोगणादिभूतानामभिघातः गुरुद्ध-सिद्धादीनामभिशापाञ्चेति सन्वमेवाधर्मादुपजायते किमन्यस्मादिप किमधु-नैव न च पूर्वकालञ्चेत्यत आह—प्रागपीत्यादि ॥ १४॥

भारमनः स्वजनस्य परस्य चोपद्यातो भवति प्राय इत्यर्थः । राक्षसाद्वात्सादोऽपि जनानामधर्माहृतः एव भवतीत्याह—रक्षोगणेत्यादि । अन्यद्वेत्यधर्माकारणमशौचादीत्यर्थः ॥ १३ ।

चक्रपाणिः—प्रागेवेति झटिति, अनेकपुरुपकुलविनाशायाभिशसा भरमतां यान्तीत्यर्थः।

त्रादिकाले ह्यदितिसुतसमीजसांऽतिविमलविपुत्तप्रभावाः प्रत्यचदेवदेविधिसमयज्ञिविधिविधानाः शैलसारसंहतिस्थरशरीराः प्रसन्नवर्णे न्द्रियाः पवनसमवलजवपराक्रमाः चारुस्प्रचोऽभिरूप-प्रमाणाकृतिप्रसादोपचयवन्तः सत्यार्ज्ञवानृशंस्यदानदमिनयम-तप-उपवासब्रह्मचर्यवतपरा व्यागतभयरागद्वे पमोहलोभक्रोध-शोकमानरोगनिद्यातन्द्राश्रमक्रमालस्यपरिश्रहाश्च पुरुषा वभूवुः श्राकमानरोगनिद्यातन्द्राश्रमक्रमालस्यपरिश्रहाश्च पुरुषा वभूवुः श्रामितायुवः । तेषामुदारसत्त्वग्रणे वर्म्मणां धर्माणामचिन्त्य-त्वात् ॥ रसवीय्यविपाक्रप्रभावग्रणसमुदितानि प्रादुर्व्वभूवुः शस्यानि सर्व्वग्रणसमुदितत्वात् पृथिव्यादीनां कृतग्रग-स्यादो ॥ १५ ॥

गृङ्गाघरः नन्न कदा कथं किमशुभमधम्मां ज्ञातमित्यत आह आदिकाले इत्यादि। हि यस्मादादिकाले कृतयुगेऽष्ट्रचलारिं शच्छतदिव्यवपेमाने कालस्वभावादधम्माभावादि तिस्रताः शकादयो देवास्तत्समीं जांसि येपां ते तथा।
श्रीलः श्रीलेन्द्रः हिमवान तस्येव सारेस्तक्सारादिभिरष्टभिः महतं हृदीभूतं स्थिरं शरीरं येपां ते तथा। कथमीहशा इत्यत आह सत्येत्यादि। आनृश्रंस्यं लोकानामनिन्दा, परिग्रहः मितग्रहः। एवंभूतलात् पुरुषाः कृतयुगे वभूषुः अमितायुपः। नन्न तेपां कस्मादिमतायुष्ट्रभित्यत आह—तेपामित्यादि। तेपामुदारसत्त्वगुणे कम्मधम्मयोरचिन्त्यलात् पृथिव्यादीनां सर्व्यगुणसमुदितलात् रसवीर्यादिसमुदितानि शस्यानि वभूषुः। कृतयुग्स्यादौ एतेन ताहशसत्त्वगुणेऽचिन्त्यकम्मधम्मवत्त्वात् ताहशरसवीर्यादिमत्सम्यगाहाराचामितायुष्ट्रं पुरुपाणां कृतयुगे इति ख्यापितम् तदा चाधम्मौ नासीत्। न च वभूव
अशुभम्।। १५।।

प्रतिनियतपुरुपाभिशापात् प्रतिनियता एव भरमतां यान्ति सन्वे जना इत्यर्थः । आद्याविभीवे रोगाणामधर्ममे एव कारणमित्याह—प्रागपि चेत्यादि ॥ १४ ॥

चक्रपाणिः—यज्ञो यज्ञदेवता । विधियंज्ञविधायको वेदः, विधानं यज्ञकम्मं, जवो वेगः । परिग्रहो ममता । अमितमिवातिबहुत्वेनायुर्येपां ते अमितायुपः । सत्ये हि चतुर्व्वर्पशतायुः । यदुक्तं भगवता

अदारसन्त्रसुणकर्मणामचिन्त्यरस—इति पाठः चक्रसस्मतः ।

भ्रश्यति तु कृतयुगे केषाश्चिद्यादानात् साम्पन्निकानां श्रारगौरवमासीत्। सत्त्वानां गौरवात् श्रमः, श्रमादालस्यम्, श्रालस्यात् सञ्चयः, सञ्चयात् परियहः, परियहाल्लोभः प्रादुरासीत् कृते। ततस्त्रोतायान्तु लोभाद्रभिद्रोहोऽभिद्रोहादनृतवचनम् श्रनृतवचनात् कामक्रोधमानद्र पपारुष्याभिघात-भयतापशोक-चिन्तोद्वे गाद्यः प्रवृत्ताः। ततस्त्रोतायां धर्मपादोऽन्तर्ज्ञानमगमत् । तस्यान्तर्ज्ञानाद् युगवर्षप्रमाणस्य पादह्यासः, पृथिद्यादे-प्रणपाद्रमण्णारोऽभूत्। तत्प्रणाशक्तत्र्वः शस्यानां स्नेहवैमल्य-रस्त्रीर्य्यविपाकप्रभावग्रणपाद्भंशः। ततस्तानि प्रजाशरीराणि हीनग्रणपादेहीयमानग्रणेश्चाहारविकारेरयथापूर्विमुपप्रभ्यमानान्नि-

गृङ्गाधरः—ननु कदा पुनरधर्मः कदा चाशुभमासीदित्यत आह—भ्रश्यित इत्यादि। कृतयुगे तु भ्रश्यित कियत्कालात्यये केपाश्चित् पुंसां न सर्व्विपाम्। अत्यादानेन साम्पित्रका भूला केचिट देहगौरवमापुः। सत्त्वानां देहरूपद्रव्याणां सश्चयो धनानामालस्याददानात् परिग्रहः सर्व्वभावेण ग्रहणम् कृतयुगे गते गमन-मात्रे ततः कृतयुगगमनानन्तरं त्रेतायां प्रयत्तायां सत्याय्। अभिद्रोहो जिघांसा। ततस्त्रेतायाः प्रवत्तनादनन्तरं सम्पक्ष्मयत्तायां त्रेतायां धम्मपादो धम्मस्य चतुर्थांकः। तेन चाधम्मस्य पाद्मवर्त्तनमभूत् ततस्त्र तस्य धम्मपादस्यान्तद्धांनात् कृतयुगस्य तावद्वपेमाणस्य पादहासः पट्त्रिंशच्छतदिव्यवर्षमानमभूत् गुणानां रसादीनां पादस्य प्रणाशः। तस्य पृथिव्यादिग्रणपादस्य प्रणाशेन कृतः। ततः शस्यानां स्नेहवैमल्यरसादिभ्रं शाचानन्तरं हीनग्रणपादैः शस्यैः स्रतरां तद्-योनिकैराहारविकारहिर्यमानगुणैरयथापूर्वं पूर्वं कृतयुगे यथा सम्पूणे-

⁻ इयासेन — "पुरुषाः सर्व्वसिद्धाश्च चतुर्व्वर्षशतायुषः । कृते" इति । साम्पन्निकानामीश्वराणाम् । कृत इति कृतयुगस्य शेपे ।

हीयमानगुणेश्चेति, यथा यथा त्रेतायाः क्षयो भवति, तथा तथा आहारविहारगुणपादहास्रो भवत्रास्त इति दशयति । विहारो हि धम्मेवद्गीनगुणो भवति, तेन न यथावत् शरीरोपप्टरभन करोति । उपप्टभ्यमानानीति धातुसाम्येन पाल्यमानानि ।

मलयं याति।

सारुतपरीतानि ः प्राग् व्याधिभिज्वरादिभिः स्राक्रान्तान्यतः प्राणिनो हासमवापुरायुपः ऋमश् इति ।

युगे युगे धर्म्भपादः ऋमेणानेन हीयते । गुणपादश्च भृतानामेवं लोकः प्रलीयते ॥ संवत्सरशते पूर्णे याति संवत्सरः च्यम्। देहिनासायुवः काले यत्र यन्मानिसप्यते ॥ १६॥

रसादिभिराहारविकारैः तानि प्रजाशरीराणि उपप्रभयमानाश्चिमारुताभ्यां परीतानि न तथाविधानि भवन्ति माक् प्रथममेव। व्याधिभिरित्यादि स्पष्टम्। इममर्थं इलोकाभ्यामाह—भवतश्रात्रेत्यादि । युगे युगे प्रतियुगे। कृते चतुष्पाद्धम्भः त्रेतायां त्रिपाद्धम्भः द्वापरेऽर्द्धं धर्माः कलो पाद-धर्माः एवं क्रमेण धरमेपादविनाशानुरूपेण भूतानां ग्रुगानां भूस्यादीनां मनुष्या-दीनां शस्यादीनाश्च गुणपादो हीयते। एवं कलियुगान्ते धम्मेपादचत्पृयनाशात् भूतानां गुणपादचतुप्टयक्षयादेहिनां निःशेषेणायुःक्षयाच लोको देही प्रलीयते

कथं देहिनां निःशेषेणायुपः क्षयो भवतीत्यत उच्यते—संवतसरेत्यादि। यत्र काले कृतत्रेताद्वापरकलियुगानां यस्मिन् युगे दिन्यमानेन नरमानेन यहपंमानं युगानां देहिनामायुपश्च यद्यन्मानिकप्यते तस्य युगस्य तत्तत्परिमितानां संवत्सराणां शते शतकृत्वो विभक्तानामेकैकभागे सम्पूर्णे जाते तद्युगोत्पन्नानां देहिनां तत्तत्परिभितस्यायुव एक्वेंकः संवत्सरः क्षयं याति । इत्येवं कलियुगावसाने देहिनामायुपो निःशेपेण परिमाणक्षयात् सर्व्वेलोकः प्राणी प्रलीयते। एवं पुनःपुनश्चत्र्यु गावसाने सर्व्वपाणिप्रलयात् लोकः परमात्मलोकपय्येन्तः सन्वौ लोकः प्रलीयते शक्तिब्रह्ममात्रमविश्ववते। कृतयुगस्य मानं स्वभावसिद्धं दिन्यसंवत्सराणामष्ट्रशताधिक-

संवत्सरशते पूर्ण इति संवत्सरेण शततमेऽ शे पूर्ण। यत्र यन्मानमिष्यत इति यत्र युगे यन्मानमिष्यते, तत्र शततमेऽ शे पूर्णे वर्ष एकः क्षयं याति । तेन कलो शतवर्षायुरिति । यदा शततमोऽ शो याति क्षयम्, तदा नवनवति परमायुर्भवतीत्यायनुसरणीयम् ॥ १५।१६ ॥

^{*} उपप्टभ्यमानान्यग्निमारुतपरीतानीत्यपरः पाठः ।

चतुःसहस्रम् । देहिनामायुपश्च कालस्वभावसिद्धं नरमानेन संवत्सराणां चतुः-शतम्। तत्र कृतयुगस्य संवत्सराणां दिव्यानामपृशताधिकचतुःसहस्रमानस्य गतकृतो विभक्तस्यैकैकभागोऽष्ट्रचलारिंगदिग्याः संवत्सरा भवन्ति। कैंकुभागे सम्पूर्णे देहिनां चतुःशतसंवत्सरमितस्यायुरः संवत्सरः क्षयं याति । नेन तद्भागशते सम्पूर्णे देहिनां कृतयुगोत्पन्नानामायुपः संवत्सरशतं क्षयं याति इत्येवं कृतयुगावसाने। अथ प्रवर्त्तमानायां त्रेतायां धर्म्भपादक्षयात् कालस्यभावाच कृतयुगमानस्य पाद्धयो भवति । त्रे तायुगमानश्च दिन्यपट्त्रि शच्छतवर्षं भवति। भूम्यादीनां गुणपादक्षयश्च भवति, तेनायुपः शतवषेक्षये देहिनाश्च त्रेतायुगोत्-पन्नानामायुपः प्रमाणं त्रिशतवर्षं भवति । तत्रापि क्रमेण धर्मक्षयात् त्रेतायुग-मानस्य दिन्यपट्त्रिंशच्छतस्य संवत्सरस्य शतकृत्वो विभक्तस्यैक्षेको भागः खलु दिन्यसंबरसरपट्त्रिंशद्भवति । तत्रैकेकस्मिन् भागे दिन्यपट्त्रिंशत्-मंबत्सरे पूर्णे जाते त्रेतायुगोत्पन्नानां तेपां देहिनां त्रिशतवर्षस्यायुपः एकैक-मंबत्सरः क्षयं यातीत्येवं शतभागे पूर्णे मंबत्सरशतमायुपः क्षयं याति त्रेतावसाने । अथ प्रवर्त्तमाने द्वापरे द्विपाद्धम्भेक्षयात् कालस्वभावाच त्रेतायुग-मानस्य दिव्यपट्त्रि'शच्छतवर्षस्य पाद् अयो भवति। ततो द्वापरयुगमानश्च दिन्यचतुःशताधिकद्विसहस्रवर्षं भवति भूम्यादिगुणपाद्सयश्च भवति तेनायुपः ज्ञतवर्षक्षये देहिनाश्च द्वापरयुगोत्पन्नानामायुपः प्रमाणं द्विज्ञतवर्षे भवति । नत्रापि धर्ममस्य क्रमशः क्षयात् कालस्वभावात् द्वापरयुगमानस्य दिव्य-चतुर्विशतिशतवर्षस्य शतकृतो विभक्तस्यैकेको भागः खलु दिव्यचतुर्विशति-संवत्सरो भवति। तदैकैकस्मिन् भागे दिन्यचतुर्व्विशतिसंवत्सरे पूर्णे जाते तेपां द्वापरयुगोत्पन्नानां देहिनां द्विशतसंवत्सरस्यायुप एकैकसंवत्सरः क्षयं याति, इत्येवं शतभागे पूणें द्वापरयुगस्यावसाने देहिनामायुषः संवत्सरशतं क्षयं याति । ततः पवर्त्तमाने कलियुगे धम्मेस्य पाद्त्रयक्षयात् कालस्वभावात् कृतयुगमानस्य त्रिपादक्षये द्वापरस्यार्द्धसयाट् द्वादशदिव्यवर्पशतं कलियुगस्य मानं भवति। भूम्यादिगुणपादत्रयक्षयश्च भवति, देहिनामायुपश्च त्रिपादक्षये कल्यिुगोत्पन्नानामायुपः प्रमाणं वर्षशतं भवति । तत्रापि धम्मेपाटस्य क्रमेण क्षयात् कालस्वभावाच कलियुगमानस्य दिन्यद्वादशवर्षशतस्य शतकृत्वो विभक्तस्यैकैको भागो द्वांद्श दिव्यसंवत्सरा भवन्ति। तस्मिन् एकैकस्मिन् भागे दिन्यद्वादशसंवत्सरे पूर्णे सति कल्रियुगोत्पन्नानां देहिनामायुषः शत-वर्षस्यैकैकसंवत्सरः क्षयं याति, इत्येवं शतभागे पूणे कलियुगं, संपूर्ण भवति।

तत्र देहिनां शतवपमायुनिःशेषेण क्षयं याति। भूम्यादिगुणपाद्चतुष्ट्यस्य च क्षयो भवति, धर्मपादचतुष्टयक्षयश्च जायते, चतुर्यु गस्य च क्षयो भवति, इत्येवं लोकः मलीयते। मलयस्तु चतुर्विध एक आग्नेयेऽग्निना वसिष्ठाय -नित्यो नै मित्तिकः पाकृत आत्यन्तिक इचेति । तद् यथा — चतु विवेधस्तु प्रलयो नित्यं यः प्राणिनां लयः। सदा विनाशो जातानां ब्राह्मो नैमित्तिको लयः। त्रिविधस्त्रिविधायान्तु प्राकृतः प्रकृतौ लयः। लयस्त्रात्यन्तिको ज्ञानादात्मनः परमात्मिन । नैमित्तिकस्य कल्पान्ते वक्ष्ये रूपं लयस्य ते। चतुर्यु गसहस्रान्ते क्षीणप्रायं महीतले। अनाष्ट्रष्टिरतीबोग्रा जायते शतवार्षिकी। इत्यादिभिः नैमित्तिकः कल्पान्तप्रलयः एक्तः तत्र। आत्मानं वासुदेवाख्यं चिन्तयन् मधुसुद्नः। कर्लं शेते प्रबुद्धोऽथ ब्रह्मरूपी स्जत्यिप। द्विपरार्द्धं ततोऽन्यक्ते प्रकृतौ लीयते द्विज। स्थानात् स्थानं द्शगुणमेकस्माट्गुण्यते मुने। ततो-Sप्टादशमे भागे परार्द्धमभिधीयते। परार्द्धिहुगुणं यत्र प्राकृतः स लयः स्मृतः। एकं द्रा शतञ्चैव सहस्रमयुतं तथा। लक्षश्च नियुतञ्चैव कोटिरव्युद एव च। खर्न्वश्चैव निखर्न्धश्च शङ्गपद्मी च सागरः। अन्त्यं मध्यं परार्द्धश्च द्श-द्यद्व्योत्तरोत्तरम्। अनाद्यप्राप्तिसम्पर्कात् कृत्रने संज्वलिते द्विज। महदादि-विकारस्य विशेषान्तस्य संक्षये। आपो ग्रसन्ति वै पूर्व्व भूमेर्गन्धादिकं गुणम्। भूस्यादीनां लयमुत्तवा उक्तं पुनर्महान्तञ्च इत्यादिना स्वस्वप्रकृती भक्रतिग्रं सति द्विज। व्यक्ताव्यक्ता च भक्रतिवैत्रक्तस्याव्यक्तके लयः। इत्येवं महाप्रलयाख्य एकविधः प्राकृतः प्रलय उक्तः। ततः परं निर्व्वाणाख्यः प्राकृतः प्रलय उक्तो यथा। पुमानेकोऽक्षरः शुद्धः सोऽप्यंशः परमात्मनः। प्रकृतिः प्ररूपश्चेतौ लीयेते परमात्मनि । न तत्र सन्ति सन्वेपां नामजात्यादिकल्पनाः । इति प्रधानक्षेत्रवाद्विदविद्यान्तानां परमात्मनि शिवे लयो निन्वीणाख्यः प्राकृतः प्रलय उक्तः। ततः परं महानिर्वाणाख्यः प्राकृतः प्रलय उक्तो यथा। सत्तामात्रात्मकेऽज्ञे ये ज्ञानात्मन्यात्मनः परे। इति। आत्मन इति परमात्मनः परव्योमरूपस्य चतुष्पाद्वसणश्रतुर्थपाद्गायत्रीसहितत्रिपातुपुरुषस्य शिवस्य सत्तामात्रात्मके ज्ञानात्मनि चेतनास्वरूपे परे ब्रह्मणि शक्तौ लय इति शक्तिमात्रब्रह्मणोऽवशेषो महानिव्याणाख्यः माकृतः प्रख्यस्तृतीयः। इति। विष्णुसंहितायाञ्चोक्तस् । यदुत्तरायणं तदहदेवानां दक्षिणायनन्तु रात्रिः; संवत्सरोऽहोरात्रः, तत्त्रिंशता मासो, मासारते द्वादश वर्षम् । द्वादशवर्पशतानि दिच्यानि तु क्लियुगम्, तद्द्विगुणानि द्वापरं, त्रिगुणानि त्रेता, चगुर्णणानि तु कृतयुगम्, द्वादश वर्षसहस्राणि दिन्यानि चनुर्युगं, चतुर्णां युगानामेक-सप्तित्तिन्वन्तरम्, चतुर्युगसहस्रश्च करपः, स च पितामहस्यैकमहस्तावती चास्य रात्रिः, ते च द्वे अस्याहोरात्रः, एवं विधेनाहोरात्रेण मासवर्षगणनया, सर्व्यस्यैव हि ब्रह्मणो वर्षशतमेव खल्वायुः, ब्रह्मायुपा परिच्छिन्नः, कालः पौरुपो दिवसः, तस्यान्ते महाकर्त्यः, तावत्येव चास्य निज्ञाः, प्रश्चाणामहोरात्राणामतीतानां सङ्कीयव नास्ति न च भविष्याणामनाद्यन्तता कालस्यः, एवमस्मिन् निरालम्ब काले सतत्यायिनि । न तद्भृतं प्रपश्चामि स्थितिर्यस्य भवेद् ध्रुवा । गङ्गायाः सिकता धारास्तथा वर्षति वासवे । शक्या गणियतुं लोके न व्यतीताः पितामहाः । चतुर्दश विनञ्यन्ति कर्षे कर्षे सुरेश्वराः । सर्व्वलोकप्रधानाश्च मनवश्च चतुर्दश । वहनीन्द्रसहस्राणि दैत्येन्द्रनियुतानि च । विनष्टानीह कालेन मनुजेप्वथ का कथा । इति ।

अस्य प्रलयस्य वाद्वितिवाद्दाभ्यामक्षपाद्गौतमेन न्यायशासने स्थापना कृता।
तद् यथा—अवयवावयविष्ठसङ्गश्चैवमा प्रलयात्। न प्रलयोऽणुसद्भावात्। परं वा
तुद्धेः। आकाशव्यितभेदात् तद्जुपपत्तिः। आकाशासर्व्यगतत्वं वा। अन्तर्विह्थ
कार्यस्य कारणान्तरवचनाद्कार्यं तद्भावः। सर्व्वसंयोगशब्द्विभवाच सर्व्वगतम्। अव्यूहाविष्टमभविभुलानि चाकाशध्यमीः। मूर्त्तिमताश्च संस्थानोपपत्तेरवयवसङ्गावः। संयोगोपपत्तेश्च। अनवस्थाकारिलाद्नवस्थानुपपत्तेश्वापतिपेधः।
युद्ध्या विवेचनात्तु भावानां याथात्म्यानुपलव्धेस्तन्त्वपकर्षणे पटसङ्गावानुपपत्तेयद्विशिष्यते। व्याहतलादहेतुः। तदाश्रयलादपृथग्ग्रहणम्। प्रमाणतश्चार्थपतिपत्तेः
प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम्।

इति पोइश्भिः स्त्रैः प्रलयस्थापना वार्त्तिकेन व्याख्याता। तद् यथा—
अवयवावयविपसङ्ग्रेवमा प्रलयादिति। एवमुक्तपकारेणावयविसिद्धौ
सत्याञ्चावयवावयविभावपसक्तिरा प्रलयात् प्रलयपर्यन्तं भवति। प्रलये तु
तिद्दिनाशात्। चतुर्विधो हि प्रलयो नित्य-नैमित्तिक-त्रिविधपाकृत-निव्वीणमोक्षभेदात्। तत्र पाणिनस्त्तेते यदविरतमहरहिष्ट्रियन्ते स नित्यप्रलयः,
सर्वदाविनाशः कल्पान्तो नैमित्तिकः, प्राकृतस्तु महाप्रलयो निर्वाणप्रलयो
महानिर्व्वाणप्रलय इति त्रिविधो निर्व्वाणमोक्ष आत्यन्तिकप्रलयः। तत्र
यावज्जीवित तावद् देवदत्तादिरवयवावयविभावापनो यदा म्रियते तदा नावयवी
इति। १। तत्राह वादी। न प्रलयोऽणुसद्भावात्। २। आ प्रलयादवयवावयविभावप्रसङ्ग इति यदुक्तं तत्र प्रलयो नास्ति, अणुसद्भावात्। प्रा ं मर्णे

स्थूलदेहात्मसंयोगनाशे नित्यानुबन्धपञ्चमहाभूतसहित-मुक्ष्मशरीरि-पुरुप-सञ्चाव एव। तस्मात् नित्यप्रलयो नास्तीति। तत्रोत्तरमाह् प्रलयवादी। कृतादिषु चतुर् युगेषु क्रमेण धर्मिपादसये भूस्यादीनां गुणपादसयस्ततः माणिनामायुः स्वयः कलिशेषे निःशेषेण भवति ततो न माणी जायते इत्येवं ञुटिः स्यात् तस्मादस्ति परुपश्चतुर्युंगान्ते पुनश्च कृतपरृत्तौ बद्मा पूर्विवत् सम्पूर्णायुपं सन्वं सजतीति।२। तत्राह वादी-परं वा तुरेः।३। तथाविध-चतुर्श्व गान्ते प्राणिनां बुटेः परं वाणुसद्भावान्न प्रलयो न हि स्रष्टा सुक्ष्मशरीरिणं स्जिति स च वर्जत एवेति । ३ । तत्राह् प्रलयवादी — आकाशव्यतिभेदात् तद्तुप-पत्तिः। ४। तस्याणोः सद्भावस्यानुपपत्तिराकाश्चयतिभेदात्। तेपामणूनाय् अन्तर्वहिथाकाशेन सम्प्रवेशाद्दिनाशिलात्। तेपामणूनामारम्भकाणामन्त-र्वेहिश्वाकाशोऽस्ति ततस्तेपागवयवानां विभागेन त्रुटिः स्यात् ततः प्रणाश इति । ४। यद्याकाशेनान्तर्वहिश्च व्यतिभेदः समावेशोऽणुनां नेष्यते तदा खलु । । आकाशासर्वेगतलं वा ।५। अणूनायन्तर्वेहिराकाशाभावे ह्याकाशस्य असर्ज्वगतलं वा प्रसज्यते।५। तत्राह् वादी-अन्तर्वहिश्च कार्यस्य कारणान्तर-वचनात् अकार्यं तदभावः ।६। कार्यद्रव्यस्य शरीरेन्द्रियविषयसंबस्य कारणान्त-रस्य पृथिव्यादिभूतवचनादन्तर्वे हिश्चास्त्याकाशः। अकार्ये पाण्यपाणिनां कारण-भूते द्रव्ये पञ्चमहाभूतमनोदिक् कालात्मनि वहिरन्तश्राकाशस्याभाव इति । ६ । न चाकाशस्यासन्वेगतलं ततो भवति, कथम् सर्व्वसंयोगशन्दविभवाच सर्व्वगतत्त्रम्। ७। सर्व्वगतञ्चाकाशं सर्व्वसंयोगशब्द्विभवात्। परमाणुभि-स्तत्कार्य्येश्व सह संयोगा आकाशे विभवन्ति। यंत्र कचिदुत्पन्नाश्च शन्दा आकारो विभवन्ति तदाश्रयाश्च भवन्तीति । ७ । अन्यूहाविष्टम्भविशुसानि चाकाशयम्भीः। ८। अन्यूहादयश्चाकाशयम्भीः। संयुत्रमतिघातिना द्रन्येणाकाशो न च्यू हाते काष्ट्रे नेवोदकं निरवयवलात्। सर्व्वं प्रतिघातिद्रव्यश्च नाकागं विष्टभ्नाति नास्य क्रियाहेतु गुणं शब्दं प्रश्नात्यस्पर्भतात्। अण्ववयवस्य अणुतरतमत्त्रप्रसङ्गादणोः कार्य्यत्वप्रतिपेधः। कार्य्यकारणद्रव्ययोः परियाण-भेददर्शनात्। एवं तर्धि मरणोत्तरकालमणुसन्दावान्न मलयः इति। ८। तत्राह प्रलयवादी ।-कार्यकारणद्रव्ययोः परिमाणभेदादेव । मूर्त्तिमताञ्च संस्थानोप-पत्तेरवयवसञ्चावः। १। कार्य्यकारणद्रव्ययोः परिमाणभेदाद् व्याकृताव्याञ्चत-मृत्तिमतां विकोणादिसंस्थानोपपत्तेरारस्भकावयवसद्भावः । विकोणं चतुष्कोणं परिमण्डलंमित्येवं संस्थीयते यत् तत् संस्थानं सोऽवयवसिववेशः। परि-

मण्डलाञ्चाणवः। तहि चाणवः पारिमाण्डस्यात् काय्ये सावयवा हेतवः स्युस्ततः कार्य्याणां त्रिकोणादिसंस्थानदर्भनाद्वयवसञ्चावः।९। कस्मात् १।०। संयोगोपपत्तेश्च। १०। वहूनामणूणां संयोगमन्तरेण नोत्पद्यते त्रिकोणादि-संस्थानं तसात् संयोगोपपत्तेश्वाण्नामवयवसद्भावः। १०। एवं तर्हि चावयव-संस्थानस्यानवस्था भवतीति। तत्राह—अनवस्थाकारिलादनवस्थानुपपत्तेश्र अमतिषेधः । ११। अनवस्थाकारित्वात् तेपामणूनां संयोगाप्रतिपेधः। यावत् मृत्तिमञ्जोकेऽस्ति तावत् स्वणवः संयुज्यन्ते। अनवस्थानुपपत्तेश्वाणृनां संयोगस्याप्रतिषेधः। यावद्धि मूर्त्तिमत् प्रसिद्धं तावतोऽन्यन्नाभून्न कचिद् वा भावि ।११। इत्येवं वदन्तं प्रलयवादिनं पति पुनराह वादी ।०। एवमपि मरणोत्तर-कालं चतुर्यु गान्तकाल इवाणुसन्दावान्न प्रलयोऽस्तीति। नव हि द्रव्याणि पृथिच्यप्तेजोवाय्वाकाशानि मनोदिक्कालात्मानश्चेति। रूपादीनि च सप्त-्दश गुणा उत्तक्षेपणादीनि पञ्चकर्स्माणि समवायश्रेति चतुष्कं नित्यं मरणादुत्तरं सुक्ष्मदेहिए वर्त्तते। इति । । तत्राप्युत्तरमाह प्रलयवादी । । अवयवावयवि-प्रसङ्गश्चैवमा प्रलयात् । इति । यावत् कल्पान्तपलयं तावदेवावयवावयवि-पसक्तिरेवं भवति। पूर्णे हि कल्पान्तकाले तेपामणुनामसन्दाव आकाशव्यतिग भेदात्। तर् यथायिरुवाच विश्वष्टाय। नैमित्तिकस्य कल्पान्ते वक्ष्ये रूपं लयस्य ते। दैवयुगसहस्रान्ते क्षीणपाये महीतले। अनादृष्टिरतीवोग्रा जायते शतवार्षिकी। ततः सत्त्वक्षयः स्याच्च ततो विष्णुर्जगत्पतिः। स्थिरो जलानि पिवति भानोः सप्तसु रिक्षिषु। भूपातालसमुद्रादि-तोयं नयति संक्षयम्। ततस्तस्यानुभावेन तोयाहारोपष्टं हिताः। त एव रश्मयः सप्त जायन्ते सप्त भास्कराः। दहन्त्यशेपं त्रैलोक्यं सपातालतलं द्विज। कूर्म्भपृष्टसमा भूः ्रयात् ततः कालाप्रिरुद्रकः। शेषाहिश्वाससम्पातात् पातालानि दहत्यधः। पातालेभ्यः परं विष्णुर्भु वं स्वर्ण दहत्यतः । अशरीरिमवाभाति त्रैलोक्यमिखलं तथा। ततस्तापपरीतास्तु लोकद्वयनिवासिनः। गच्छन्ति च महलौकं महोलौकाज्जनं ततः। रुद्ररूपी जगत् दग्ध्वा मुखनिश्वासतो हरेः। उत्तिष्ठन्ति ततो मेघा नानारूपाः सनिदुत्रतः। शतं वर्षाणि वर्षन्तः शमयन्त्यन्निमुत्थितम्। सप्तिषिस्थानमाक्रम्य स्थितेऽम्भिस ततो मरुत्। अथ निश्वासजो विष्णोर्नाजं नयंति तान् घनान्। वायुं पीला हरिः शेते शेषे चैकाणीवे प्रभुः। ब्रह्म-रूपघरः सिद्धैर्जनस्थेर्भुनिभिस्ततः। आत्ममायामयी दिव्यां योगनिद्रां समास्थितः। आत्मानं वासुदेवाख्यं चिन्तयन् मधुसूद्नः। कल्पं शेते प्रपुद्धोऽपि त्रसरूपी सज्तरयथ। इति। इत्येवं करपान्तमलयपर्यन्तमवयवावयविषसक्तिरिति।

ं तत्राह पुनर्वादी। न प्रत्योऽणुसद्भावात् ।०। तथाविधे विनाशे Sप्यणवो हि सन्ति यैः पुनः सुख्यते इति चेत् तत्राह मलयवादी। पूर्ण कल्पान्तकाले तेपामणूनां सन्दावानुपपत्तिराकाशव्यतिभेदात्। यदि तेपामन्त र्वेहिश्वाकाशसमावेशो नास्ति तदाकाशस्यासर्व्वगतसं प्रसज्यते। व्यतिभेदात् तु तेपां विनाशिलमतः प्रख्यावसाने तेपां सक्ष्मभूतानां प्रन सर्ग उक्तः। तद यथा मनुना। अप्वयो मात्रा विनाशिनयो दशाद्धीनाञ्च याः स्मृताः । ताभिः सार्द्धिमिद्ं सर्व्वं सम्भवत्यनुपूर्व्वशः । तस्य सोऽहनिशस्यानं प्रसुप्तः प्रतिवृध्यते। प्रतिवृद्धश्च स्जिति मनः सद्सद्।त्मकम्। मनःस्रष्टि विक्रुरुते चोद्यमानं सिस्क्षया। आकार्ण जायते तस्मात् तस्य शब्दं गुण विदुः। आकाशात् तु विकुर्वाणात् सर्वगन्यवहः शुचिः। वलवान् जायतं वायुः स वै स्पर्जगुणो मतः। वायोरिप विकुर्व्याणाद् विरोचिष्णु तमोनुदम्। ज्योतिरूत्पद्यते भास्वत् तद्रूपगुणमुच्यते । ज्योतिपश्च विकुव्बीणादापो रसगुणा स्मृताः। अद्भग्रो गन्धगुणा भूमिरित्येपा सृष्टिरादितः। इति। यथा पुनः लोकसर्गे पश्चमहाभूतसर्गः कल्पान्ते तेपां नाशात् तथा पुरुपेऽपि पुनज्जेन्मनि पञ्चमहाभूतानां पुनः सगौँ वक्ष्यते शारीरे। यथा-प्रख्यात्यये सिसृक्षुः भूतान्यक्षरभूतः पूर्वितरमाकार्गं सजित । ततः भव्यक्ततरगुणांश्रतुरो वायवादीन भावान्। तथा देहपग्रहणेऽपि सत्त्वकरणो गर्भाशयमनुप्रविक्य सत्त्वोपादानः पूर्वितरमाकार्गं स्जिति ततः भन्यक्ततरगुणान् वाय्वादींश्रतुरो भावानिति। कल्पान्तेऽणूनां त्रुटिभवति लोके मरणे तु पुरुषे च। तस्मादस्ति मलयः।०। तंत्राह पुनवादी। परं वा त्रुटेरिति।०। कल्पान्ते पूर्व्वपूर्वानुपविष्टानां वाय्वादीनामणूनां त्रुटेः परश्चाकाय्याणामणूनां गन्धतन्मात्रादीनां पृथिव्यादीनां सद्भावान्न प्रलयः। ०। तत्राह प्रलयवादी। आकाशन्यतिभेदात् तद्जुपपत्तिः आकाशासर्विगतलं वा। इति। तत्राप्याह वादी। अन्तर्वहिश्राकाशः कार्यस्य कारणान्तरवचनांदकार्थे तदभावः। नव हि द्रव्याणि गन्धमात्रादीनि।०। रूपादयः सप्तदश गुणाः पश्च चोत्क्षेपणादीनि कम्मीण्येतत् सन्वे सन्नित्यम् अद्रव्यवत् कारणं सामान्यविशेषवचेति नैषामन्तराकाशव्यतिभेदो वहिस्त तत्राकार्गं सन्वसंयोगशब्दविभवाच्च सन्वेगतम्। अन्यूहाविष्टम्भविभुलानि चाकाशधम्माः। अण्ववयवस्याज्ञतरतमलम्सङ्गादणोः कार्य्यतमतिषेधः। कार्य-कारणद्रव्ययोः परिमाणभेददर्जनात्।०। तत्राह प्रलयवादी। कार्य्यद्रव्याणां कारणद्रव्यतः परिमाणभेददर्जनादेव। सूर्चिमताश्च संस्थानोपपचेः कारण-

द्रव्यत्यावयवसञ्जावः। स चावयवो व्याकृतोऽव्याकृतो वास्ति यमन्तरेण काटयेद्रव्याणामवयवारमभो न सम्भवति। संयोगोपपत्तेश्च। वहुनामणुनां संयोगमन्तरेण कार्यद्रव्याणां त्रिकोणाद्यवयवादिसंस्थानं नापपद्यते तस्मात संयोगोपपत्तेरणुनामवयवसद्भावः। तथा चावयवसंस्थानस्यानवस्था। अनन्तं हि वस्तु तत्तद्वस्तुनश्चावयवसंस्थानमनन्तं प्रत्येकभेदात्। तथा चावयवानाम् अनवस्थाकारिलादणुनामनवस्थानुपपत्तिस्ततस्तेपां संयोगप्रतिपेधो भवतीत्यत उक्तं द्रव्यगुणकर्म्भाणीति सर्वे सन्नित्यमद्रव्यवत् कार्यं कार्णं सामान्यविशेषवचेति कार्य्यवादाकाशव्यतिभेदोऽस्ति । तसादस्ति प्रलय इति । तत्राह वादी। सत्यं तावद् द्रव्यं गुणाः कर्म्भाणीत्येतत् सर्व्यं सन्नित्यमद-द्रव्यवत् कार्यं कारणञ्चेति तत्राहङ्कारस्य कार्यं तत् सर्व्वमद्रव्यार्व्यं ततो नित्यमिति तेपामणूनां सद्भावानन प्रलय इति। । तत्राह प्रलयवादी च। -अन्यवाव्यविभसङ्थैवमा प्रल्यात् । इति । यावत् पाकृतप्रलयं तदेवाव्यवा-वयविशसक्तिरेवंशकारेण भवति। शाकृतश्लये हि तेषां नवानां द्रव्याणां गुणानां कम्मेणां विनाशात्। तर् यथा मनुनोक्तम्। युगपत् तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन् महात्मिन। तदाय सर्व्वभूतात्मा सुखं स्विपिति , निन्दे तः। तमोऽयन्तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेन्द्रियः। न च स्वं कुरुते कम्मं तदोत्कामित मूर्त्तितः। यदाणुमात्रिको भूला वीजं स्थास्तु चरिष्णु च। समाविशति संग्रष्टस्तदा मूर्त्ति विमुश्चिति । इति । इत्येवं महाब्रह्मणि नारायणे-ऽस्मिन्नादित्ये स्थावरजङ्गमपरमाणुलये द्विपराद्धेऽयं नारायणो ब्रह्मादित्यो मृत्तिं मुश्रति चतुर्म्धुलश्रतुर्धु जश्र पश्चाननश्रेत्येवं यावती मृत्तिमती सर्व्ध मृत्ति विमुश्चति, तदा यथा भवति तदुक्तमिना वशिष्टाय। द्विपराद्धे तती-्रव्यक्ते प्रकृतौ लीयते दिज। परार्द्धदिगुणं यत्र प्राकृतः स लयः स्मृतः। अनारुष्ट्याग्रिसंपर्कात् कृते संज्विलते द्विज। महदादिविकारस्य विशेषान्तस्य संक्षये। ईशेन्छ।कारिते तस्मिन् सम्नाप्ते पतिसञ्चरे। आपो ग्रसन्ति वै पूर्व्य भूमेर्गन्धादिकं गुणम्। आत्तगन्धा ततो भूमिः मलयायैव कल्पते। रसात्मिकाश्च तिष्टन्ति ह्यापस्तासां रसो गुणः। पीयते ज्योतिषा तासु नष्टास्विश्व दीप्यते। च्योतिषोऽपि गुणं रूपं वायुर्गसति भास्तरम्। नव्धे ज्योतिषि वायुश्च वली दोघ्यते महान्। वायोरिप गुणं स्पर्शमाकाशो ग्रसते ततः। वायौ नष्टे खस्य शब्दं भूतादिश्र सते ततः। अभिमानात्मकं तश्च भूतादिं ग्रसते महान् । भूमि-र्याति लयश्चाप्स आपो ज्योतिषि यान्ति तत्। वायौ वायुः खे च खञ्च

ह्यहङ्कारे लयं स च। महत्तत्त्वं महान्तश्च प्रकृतिग्रं सते द्विज। व्यक्ताव्यक्ता च प्रकृतिव्यक्तस्याव्यक्तके लयः। अव्यक्तं स्यात् तमोलीनं रजसि स्याद्रजस्ततः। सत्त्वे लीनमेवमेव गुणसाम्यात्मकनतु तत्। अन्यक्तं स्यात् प्रधानाख्यं तत्रस्थाः पुमानेकोऽक्षरः शब्दः सोऽप्यंशः परमात्मनः। पुरुपास्तदा । इत्येवं द्विपराद्धसंवत्सरेषु पूर्णेषु खल्वेतदाद्यन्यक्तात्मान्तं सन्वं प्रलीयते। काळं सर्व्वं तद्व्याकृताव्याकृतावयवावयवितया प्रसज्यते। इति एप महाकल्पो महाशलयो नाम।

तत्राह वादी। न पलयोऽणुसन्दावात्। इत्येवं भूम्यादीनामन्यक्तान्तानां विनाजेऽपि प्रलयो न भवति तेपामणुसद्भावात्। नैवं गन्धमात्रादिलक्षणा हि भूम्याद्योऽच्यक्तान्ता अणवस्तेषां स्वस्यमकृतो लये त्रुटिभवति नैवाणवः सन्ति।। तत्राह वादी। परं वा त्रुटेरिति। तथैव खखमकृतौ भूम्यादेळेथे चुटेः परं वाणुसद्भावान प्रलयः। यदुपादानं पुनरव्यक्तं भवति अव्यक्तान्महा-नित्यवमादि स्यात् तत्तदुपादानन्वणु वर्त्तत एव।०। तत्राह पलयवादी । आकाश-व्यतिभेदात् तद्नुपपत्तिः। तेपामणूनां सद्घावास्यानुपपत्तिराकाशव्यतिभेदात् परमव्योम्नस्तेपामन्तर्वहिःसमावेशात् तेषां काले प्रलयात् । नैवञ्चेत् तदाका-शस्य असन्वेगतत्वं वा स्यात्। । तत्राह वादी। अन्तर्वहिश्वकार्यस्य कारणान्तरः-वचनादकार्यं तद्भावः। कार्यस्य वस्तुनो ह्यन्तश्च वहिश्चाकाशव्यतिभेदोऽस्ति कारणान्तरवचनात् वहूनामुपादानकारणानां वचनात्। वहुभिरारव्धे वस्तुनि ह्याकाशमन्तर्गतमाविशति। अकारये तु कथमाकाशमन्तरा विशेदतस्तु अकारयें अन्यक्तादीनामुपादानमकारयें तिन्तत्यं न तद्नतराकाशसभावेशस्तस्मात् तत्सद्भावो न प्रलयः। न चाकाशस्यासर्व्यगतलम्। सर्व्यसंयोगशब्दविभावाच सब्वगतलम्। अब्यूहाविष्टम्भविभ्रुलानि चाकाश-धम्मीः। तथाव्ववयवस्याणुतरतमत्वप्रसक्तरेगोः कार्यत्वप्रतिषेधः।

तत्राह पलयवादी। अव्यक्तस्याप्युपादानं भूतो योऽणुस्तस्य मूर्त्तिमताश्च संस्थानोपपत्तेरवयवसञ्चावः। यथा खल्बन्याकृतमूत्तिमद्न्यक्तं यद्णुभिरार्व्धं सद्भवति तेपाम् अणूनामपि पृथक् पृथगव्याकृतम् तिमत्त्वेन संस्थानमुपपद्यते ततोऽवयवसन्दावः तद्वयवावयविषयक्तिरा प्रलयात्। तद्वयवसन्दावस्त संयोगोपपत्तेश्व । नान्तरेणानेकोपादानम् अवयवो भवति ततोऽनेकोपादानानां संयोगोपप्तिश्चावयवसद्भावः। तेषामणूनामन्यक्तस्योपादानानां नैकविधा ह्यवस्था। तत्तत्पृथक्पृथगवस्था लनवस्था तत्कारिलात् तदनवस्थानुपपत्तेश्च तेपामण्नामवयवप्रतिपेधो न भवित इत्युक्तम्। अनवस्थाकारितात् अनवस्थानुपपत्तिश्वाप्रतिपेध इति । तस्माद्द्स्ति प्रलयः । संवत्सराणां द्विपराद्धं प्राकृतसमे स्थितिकालस्ततः परं पाकृतप्रलयस्तावत्कालं वर्तते । इति संवत्सराणां
चतुःपरार्द्धं प्रधानक्षेत्रक्षपुरुपादीनामेकोऽहोरात्रस्तथाविधाहोरात्राणां पष्टुप्रत्तरत्रित्तत्महोरात्राः संवत्सरस्तत्संवत्सरक्षतं तेपामायुरिति संवत्सरपरार्द्धानां
चतुईश शतानि चलारिंशच परार्द्धानि वर्षमेकं भवित, तेपां वर्षाणां शतं संवत्सरापरार्द्धानां चतुश्रतारिंशत्सहसाधिकलक्षमेकं भवित, तेन पट्त्रिंशत्सहसाणि
ब्रह्मणो भवित् । तावित काले सम्पूर्णे प्रकृतिपुरुपकालाश्रवारो वेदा विद्याश्वापराः पराविद्या च वेदान्तपुरुपः सदाशिवश्चेत्येते परमात्मिन परच्योन्नि
च्योमकेशे शिवे लीयन्ते । स निर्व्धाणाख्यः प्राकृतः प्रलयः । तदुक्तमिन्ना विशहाय । प्रकृतिः पुरुपश्चेतौ लीयेते परमात्मिन । न तत्र सन्ति सन्वेपां नामजात्यादिकल्पना । इति । इवेताश्वतरोपनिषदि मन्नश्च । यदा तमस्तान्न दिवा न
रात्रिः न सन्न चासच्छिव एव केवलः। तद्भरं तत् सविन्वरेण्यं प्रजा च तस्मात्
प्रस्ता पूराणी । इति ।०। इत्यवयवावयविषसिक्तिक्षवैत्रमा प्रलयादित्युक्तम् ।

तत्राप्याह वादी। न प्रलयोऽणुसद्भावादिति।तत्र परमात्मिन सर्व्वेपां विना-शेऽपि न प्रलयो भवति तेपामारभ्मकाणुसद्भावात् ।०। नैवं ते ह्यणवस्तेपां विनाशे पार्थिवादिपरमाणुवदणुसद्भावाभावात् । । तत्राह वादी । परं वा त्रुटेरिति । तेषां बुटेः परं वा तदुपादानानामणूनां सद्भावान प्रलय इति ।०। तत्राह प्रलयवादी। आकाशव्यतिभेदात् तद्तुपपत्तिः। प्रधानपुरुपादीनामुपादान-भूता येऽणवस्तेषां सद्भावानुपपत्तिः परमाकाशव्यतिभेदात्। यदि परमाकाश-समावेशस्तेषामन्तर्वहिर्ने स्यात् तदा आकाशासन्वेगतत्वं वा १०। तत्राप्याह वादी। अन्तर्वहिश्च कार्यस्य कारणान्तरवचनादकार्यं तदभावः। कार्यस्य वस्तुनो-ऽनेककारणान्तरवचनात् तैः कारणान्तरैरारभ्यमाणे कार्यः लाकाशमन्तगतं वहिश्र भवति। न चैपां प्रधानपुरुपादीनामुपादानस्य कारणान्तरवचनयस्ति प्रसिद्धबादकार्यत्वं ततस्तदणुनामन्तराकाणं परव्योमापि नास्ति ततो न सद्भावानुपपत्तिः। परव्योम्नश्चाकाशस्य नासर्व्वगतंत्रम्। सन्वसंयोगशब्द-विभवाच्च सर्व्यगतम्। अन्यृहाविष्टम्भविभुतानि चाकाशधम्र्याः। वयवस्याणुतरतमत्त्रप्रसक्तिरणोः काय्येतप्रतिषेधः कार्य्यकारणवस्तुनोः परिमाण-भेददर्शनात्। इति चेन्न कार्य्यकारणयोः परिमाणभेदादेव हि। मूर्त्तिमताञ्च संस्थानोपपत्तेरवयवासद्भावः। परमविद्यादिमधानान्तानामुपादानं गायत्री- स्थानि तेजोऽवञ्चानि तेपापच्याकृतमूर्त्तिमतां संस्थानस्य विभिन्नस्योपपत्तेरवयव-सद्भावः। संयोगोपपत्तेश्च। तेषां त्रयाणां संयोगद्योपपद्यते ततस्तद्वयव-सद्भावः। अनवस्थाकारिलादंनवस्थानुपपत्तेश्वाप्रतिषेधः। तैस्तेजोऽवन्नैस्त्रिष्टत्-त्रिष्टर्भूतैः परमविद्यादीनामवस्थाविभिन्नताकारित्वादन्यथा परमविद्यादीना-मवस्थाभेदानुपपत्तिः स्यात् तस्माच्च तेपां तेजोऽवन्नानां संयोगप्रतिपेधो न भवतीति । यावान् संवत्सराणां पराद्धेकालः प्रधानादिपरमविद्यान्तानामायुरुक्त-स्तावद्वर्षं परमात्मनः शिवस्यैकमहस्तावती रात्रिरित्येवमहोरात्राणां पष्ट्रात्तर-शतत्रयं वर्षमेकं तथाविधवर्षाणां शतमायुः परमात्मनः शिवस्य तावत्काळं शिवस्य परमन्योमलक्षणावयवावयविमसक्तिः शिवायाश्च गायत्रग्ना लोहितशुक्रकृष्ण-बहुक्षणाया अवयवावयविषयक्तिरा प्रलयात्। महानिर्वाणाख्यशाकृत-प्रलयपर्यन्तम् । पूर्णे च तथाविधवर्पशते पूर्व्यमेतदादिपरमविद्यासदाशिवानतं परमात्मनि लीयते तत्परमात्मा शिवो गायत्रगां शिवायां लीयते गायत्री-स्थानां तेजोऽवन्नानामन्नमप्सु लीयते आपस्तेजिस लीयन्ते तेजः परमाकाश-रूपायां शक्तौ ब्रह्मणि लीयते इति गायत्री तेजोऽवन्नलक्षणहीना शक्तिरूपा अवितिष्ठते । इति महानिन्वीणाख्यः प्राकृतः प्रख्यः । इत्येतदुक्तं इवेताश्वतरोप-निषदि मन्त्रे। यत्रकोऽवर्णो वहुधा शक्तियोगाद् वर्णानंनेकान् विहितार्थो दधाति। विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु। इति। अग्निना चोक्तं विश्वष्टाय। सत्तामात्रात्मकेऽले ये लानात्मन्यात्मनः परे। आत्यन्तिकं लयं वक्ष्ये ज्ञानादात्यन्तिको लयः। इति। सत्तामात्रे ज्ञानात्मके परे ब्रह्मणि खल्वक्षेये शक्तिमात्रे परमस्यात्मनः शिवगायब्र्य-भयात्मकस्य लय इति प्रकरणात्। ज्ञानात् तत्त्वज्ञानाद्व्वागेभ्यः प्रलयेभ्यो निन्वीणमुक्तिरात्यन्तिकः प्रलयो भवतीति।

तत्राह वादी—न प्रलयोऽणसद्भावात्। नैवं प्रलयो भवत्यणुसद्भावात्। एत-दादीनामणवो हि शक्तौ वर्त्तनते। इति। श्रा तत्राह प्रलयवादी। एतदादीनां येऽणवस्तेषां तदा त्रुटिः स्यात् ततो नाणुसद्भावः। शत्राह वादी। परं वा त्रुटे-रिति। तेपाम् अणुनां त्रुटेर्वापरमसद्ख्पाणामणुनां सद्भावात्। तदुक्तं तैक्तिरी-योपनिपदि। असद् वा इद्मग्र आसीदिति। शत्राह प्रलयवादी। आकाशव्यति-भेदात् तदनुपपक्तिः। परममहाकाशरूपायाः शक्तेस्तेपामणुनामन्तर्विहिश्च समा-वेशात् सद्भावानुपपक्तिः। आकाशासर्व्वगतत्वं वा। शत्राह वादी। अन्तर्विहिश्च कार्यस्य कारणान्तरवचनादकार्यो तदभावः। न हि तेऽसद्ख्पा अणवः इति विकाराणां प्राग्रत्यत्तिहेतुरुक्तो भवति । एवंवादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच, किं नु खलु भगवन् नियतकाल-प्रमाणमायुः सर्व्वं न वेति ॥ १७॥

कार्यास्तेपामन्तर्न शक्तिराकाशरूपास्ति। न चासर्व्यगततं शक्तेराकाशरूपायाः। सर्व्यसंयोगशब्द्विभवाच्च सर्व्यगतत्वम्। अन्यहाविष्टम्भविश्वतानि चा. धर्म्मास्तेन तेपामणूनां कार्यत्वपतिपेधः।०। तत्राह मळयवादी। मूर्त्तिमताश्च संस्थानोपपत्तेरवयवसद्भावः। तैरणुभिर्द्धि कार्य्ये मूर्त्तिरारभ्यते ततस्ते मूर्त्तिमन्तस्तस्मात् तेपामवयवाः सन्ति। संयोगोपपत्तेश्च। तैरनेकैमिलिला यतः कार्य्ये मूर्त्तिरारभ्यते ततः संयोग उपपद्यते तस्मात् तेपामवयवाः सन्ति। अनवस्थाकारिलाद्मवस्थानुपपत्तेश्चापतिपेधः। तेपां परस्परमेलनेन कार्य्येषु अवस्थाविभिन्नतकारिलम्। न चेदवस्थाभेदस्य कार्येष्वनुपपत्तिस्तस्मात् संयोगस्य प्रतिपेधो न भवतीति प्रलयोऽस्त्येव न नास्तीति। ११।

तत्राप्याह वादी। बुद्ध्या विवेचनात् तु भावानां याथात्म्यानुपल्ट्येस्तन्त्वपकर्षणे पटसद्भावानुपल्टिय्वत् तद्नुपल्टियः । १२ । बुद्ध्या विवेचनात् तु
गायत्र्यन्तानां पल्ये भावानां याथात्म्यस्यानुपल्टिय्यद्विष्ठिप्यते। यथा—पटस्य
तन्त्नामपकर्षणे पटस्य यद्विशिष्यते तस्यानुपल्टियः, परन्तु किमपि वर्तत एवं।
तस्मादणुसद्भावान्य प्रलयः । उक्तश्च । असद् वा इदम्य आसीदिति।
तत्राह प्रलयवादी । व्याहतत्वादहेतुः । तन्त्वपकर्पणे पटसद्भावानुपल्टियवदुक्तरूपण प्रलये यद्विशिष्यते तस्यानुपल्टियित्वहेतुः । व्याहतत्वात् । पटस्य
तन्त्वपकर्पणेऽवशेषाभावात् ततोऽविशिष्टं वर्त्तते इत्युक्तं व्याहतस् । १३ । तदाश्रयवादपृथग्यहणम् । १४ । कार्यं कारणाश्रितं तन्त्वाश्रितः पटस्तन्त्वपकर्पणे
पटो नास्ति । यतः कार्य्यकारणयोर्ने पृथग्यहणम् । कस्मात् १ प्रमाणतश्चार्थपत्युपपित्तिभ्याम् । १६ । भावानामस्तित्वं नास्तित्वं प्रमाणिश्चोपपद्यते प्रमाणिश्च
नापपद्यते इति । इत्येवं महानिव्वाणे या शक्तिन् ह्म वर्तते सा मूला प्रकृतिः ।
सा तु न सर्गावस्था । येषां सर्गस्तेषां प्रलय इति ॥ १६ ॥

गुक्ताधरः इतीत्यादिः। एवंवादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाचः किन्तु खिल्वित्यादि । नु भो भगवन् नियतकालप्रमाणमायुः किमनियतकाल-भमाणम् १-इति संशयः ॥ १७॥

तं भगवानुवाच— इहासिवेश भूतानामायुर्य्क्तिमपेचते । दैवे पुरुषकारे च स्थितं ह्यस्य वलावलम् ॥ दैवसात्मकृतं विद्यात् कर्स्म यत् पूर्व्वदैहिकम् । ^{भवता} स्मृतः पुरुषकारस्तु क्रियते यदिहापरम् ॥ वलाबलविशेषोऽस्ति तयोरपि च कर्म्मणोः। दृष्टं हि त्रिविधं कर्स्स होनं मध्यसमुत्तमस् ॥

गङ्गाधरः -तं भगवानात्रेय उवाच - इहेत्यादि। इह कम्मक्षेत्रे भूलीके भूतानामायुर्य क्तिं तर्कमपेक्षते। यौक्तिककालप्रमाणमायुः। युक्तिमाह—दैव इत्यादि। दैविमिति पूर्विदैहिकं पूर्विजन्मिन देहवता खल्वात्मना यच्छूभमशुभं वा कम्मे कृतं तत्फलं धर्माधरमेरूपं दैवस्। इह तु जन्मनि यच शुभमशुभं वा कर्मो क्रियते तत्करमेफलं धरमीधरमेरूपं पुरुषकारः स्मृतः। ननु दैवपुरुषकारौ सन्वे कुन्वेन्ति न कथं सन्वेषां समानमायुः प्रमाणं भवतीत्यत आह—वलावहेत्यादि। तयोः शुभाशुभरूपदैवपुरुपकारयोर्वलावलविशेषोऽप्यस्ति। कुतो वलावलमित्यत

चक्रपाणिः—युक्तिमपेक्षत इति. देवपुरुपकारयोर्युक्तिमपेक्षते नियतत्वेऽनियतत्वे वेत्यर्थः। यलञ्चावलञ्च वलावलम्, तत्रायुपो नियतत्वेन वलंमनियतत्वेनाऽवलं ज्ञेयम्। यद्यपि पौर्व्व-दैहिकं कर्मास्थिरत्वेन गतम्, तथापि तज्जनितादृष्टस्य विद्यमानत्वात्, तदद्वारा तत् कंमी कारणं भवत्येवेहजनमन्यपि। पुरुपकारस्त्विह जन्मन्यपि कृतं कर्मा सामान्येनोच्यते। तंत्र विलमङ्गलादि अदृष्टजननत्वाद् व्याप्रियते, तथा भेपजादि रसरुधिरादिद्वारा । उदारयो-.दीर्घस्येति रसायनादिना शतादप्रि दीर्घस्य। सुखस्येति रिति प्रशस्तत्वेनोत्तमयोः। युगनियतस्य, कलो वर्पशतप्रमाणस्येत्यर्थः । शतादन्वीङ नीरोगत्वेन। नियतस्येति नियतमपीह नियतशब्देनोच्यते, तेन न तत्र तस्य देवपुरुपकार्जन्यत्वं घटते, तथापि, तस्याऽप्रशस्तदैवपुरुपकारजन्यत्वात् दैवपुरुपकारजन्यत्वं भवतीति युक्तम् ; किञ्च अनियतायुप एव पुरुषा रसायनाधिकारिणो भवन्ति नियतायुपं प्रति रसायनसाकिञ्चित्करत्वात्। रसायनादिकृतज्ञायुरनियतं प्रशस्तत्वेन प्रशस्तदेवपुरुपकारजन्यं भवतीति युक्तम् । किंवा, दीर्घत्वे सित नियतस्यायुपो हेतुरिति योजना । तेन, युगनियतञ्च शतवर्षम्, तथा तद्धिकञ्चानियतं महता कर्माणैव क्रियते । पुरुपकारेण तु महतास्य सुखित्वं रोगोपवातात् क्रियते । रसायनेन च जरादिन्याधिप्रतिघातः क्रियते। रसायनलभ्यमप्यायुर्वलवत् कर्मानियतमेवेति भावः।

तयोरुदारयोर्युक्तिर्दीर्धस्य ससुखस्य च।
नियतस्यायुषो हेतुर्विपरीतस्य चेतरा॥
मध्यमा मध्यमस्येष्टा———।
——कारगां शृगु चापरम्॥
देवं पुरुषकारेगा दुर्ज्वतं हुग्पहन्यते॥
देवेन चेतरत् कर्म्म विशिष्टेनोपहन्यते।
हण्टा यदेके मन्यन्ते नियतं मानमायुषः॥

आह—दृष्टिमत्यादि। तयोश्र का युक्तिरित्यत आह—तयोरित्यादि। तयोर्द्वपुरुपकारयोरुत्तमयोर्धम्भयोर्द्वपुरुपकारयोर्धु क्तियौगो दीर्घस्य सुखा-न्वितस्य नियतस्यहितस्य चायुपो हेतुर्भवति। धम्मौ हि सर्वेत्र शुभस्य हेतुरथम्भौ नाशस्य चेति । यथाधममञ्ज दृद्धिहासावायुपः सर्व्वत्र । विपरीतस्य हस्यस्य दुःखान्वितस्यानियतस्य चायुपो हेतुरितरा हीनयोर्देवपुरुपकारयोः पुण्ययोः पापयोश्चोत्तमयोर्ग्धक्तियौगः। एवं मध्यमस्यादीर्घाहस्यस्य सुख-. दुःखान्वितस्य नियतानियतस्य चायुपो हेतुमध्यमामध्यमयोद्दैवपुरुपकारयोः पुण्ययोर्यु क्तिः पापयोश्च मध्यमयोः पुण्यहीनयोर्यु क्तिस्तन्मध्यमाद्रलपमध्य-मस्यायुपो हेत्रित। नतु दैवपुरुपकारयोः पुण्यपापयोक्तिविधयोमिश्रणे कीदशम् आयुः स्यादित्यत आह—कारणं शृणु चापरिमति। तद् यथा। दैविमत्यादि। दुव्वेलं देवं पुण्यं पापं वा पुरुपकारेण प्रवलेन विरोधिना यत उपहन्यते। दुर्ब्वळं दैवं पुण्यं प्रवलेन पुरुपकारेण पापेनोपहन्यते पापश्च दैवं दुर्ब्वळं प्रवलेन पुण्येन पुरुपकारेणोपहन्यते। तस्मादुभयं दृश्यते इति। इह जन्मिन पाप-कारी स्वल्पायुद्धः खान्वितोऽनियतायुष्कश्च दुर्व्वेलद्वैवाख्यपुण्योपघातात्। इंह जन्मनि पापकारी-दीर्घायुश्र सुखान्वितश्च नियतायुष्कश्च दैवाख्यप्रवल-पुण्येन दुर्व्वेलपुरुपकारपापोपघातादिति। एवं दैवेन विशिष्टेन मवलेन विषरीतस्य दीर्घत्रेनानियृतस्य तथा रोगयुक्तत्वेनासुखस्य। इतरेति हीनयोदेवपुरुपकारयोयुं किः इत्पर्थः। मध्यमा मध्यमस्य दीर्घत्वेनादीर्घत्वेनानियतस्य, तथा सुखासुखत्वेनानियतस्यायुपो मध्यमयोः कामीणोर्यु किरित्यर्थः। 'कारणिमति देवपुरुपकारगोः परस्परवाधने उपपत्तिम् इत्यर्थः ।

दैवमित्यादि । दुर्बलमायुर्जननं देवं बलवता मारकेण दृष्टाऽपथ्यसोजनादिना विपरीत-

कम्म किञ्चित् कचित् काले त्रिपाके नियतं महत्। किञ्चित्त्वकालियतं प्रत्ययैः प्रतिबोध्यते ॥ १८ ॥

पुण्येन पापेन वा तदितरत् पुरुपकाराख्यं कर्म्म पापं पुण्यं वा विरोधिनोपहन्यते। तस्माचोभयं दृश्यते। इह जन्मनि विषुलपापकारी दीर्घायुः सुखान्वितो नियतायुष्कश्च। प्रवलदैवेन पुण्येनेह कर्म्मकृतपापोपयातात्। इह जन्मनि प्रण्यकारी स्वल्पायुद्धः खान्वितोऽनियतायुष्कश्च । प्रवलेन दैवेन पापेनेह जन्मनि कृतकम्मीपुण्योपघातात् इति । अत्रापरम्निमतमाह—दृष्ट्वेत्यादि । इत्येवमुक्त-मकारां युक्तिं हृष्ट्वा खल्वेके मुनयो यदायुपो नियतं मानं मन्यन्ते, तत् खलु किञ्चित किमपि कर्म्म महत् महांफलं कचित् काले विपाके परिणामे नियतं भवति। तस्मान्नियतमायुः स्यादिति। किञ्चित्तु महत् कर्म्म विपाके परि-णामे अकालनियतं कालनियतं न भवति तस्यादनियतंकालप्रमाणमायुरिति द्वयं प्रत्ययैः प्रतीतिहेतुभिरुपदेशपत्यक्षानुमानयुक्तिभिः प्रतिबोध्यते इति॥ १८॥

सर्गकार्य्यजननादुपहन्यते । विशिष्टेन बलवता, इतरत् कम्मे दृष्टं पुरुपकाराख्यम्, 'उपहन्यंते परामृयते । एतद्देवकच् कहप्रपराभवदर्शनाद् देवनियतमेव सर्वमायुरिति ग्रुरयाह—इ.ट्रे त्यादि । यदि दृष्टमायुः कारणं स्यात्, न तदा भेपजेः सम्यगुपपादितानां मृत्युः यतथ्य सत्यपि चिकित्सिते कार्मवशात् तु मृत्युर्भवति । तेन यत्रापि चिकित्सा . जीवयतीति मन्यन्ते, तत्रापि कम्मेवास्ति जीवनकारणमिति दृष्टशक्तित्वाद्वधारयाम इति भावः ।

देवपुरुपकारयोरभयोरिप वाध्यत्वं दर्शयन्नेकान्तेन नियतायुःपक्षं व्युदस्यति—कर्मोत्यादि । न कचित् कर्मा न भवति। यदुच्यते—''नाभुक्तं क्षीयते कर्मा कल्पकोटिशतैराप। अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्मा शुभाशुभम्॥" इति। किञ्चित्त्वकालनियतमिति, यथा—इदं · भारकं कम्मे न तु कचित् काले पञ्चविंशवर्षाद्दो नियतम्, तेन यस्मिन् काले पुरुपकाराख्यं हुट-कम्मीनुगुणं प्राप्नोति, तस्मिन् काले सहकारिसान्निध्योपनु हितवलं मारयति, यदा तु इष्टमपथ्य-सेवादि, न प्राप्नोति, न तदा मारयति । प्रत्ययैः प्रतिबोध्यत इति दृष्टकारणेस्द्रिक्तं क्रियते । थे तु ब्रुवते—किञ्चित् कर्मा कालनियतम्, यदा पच्यते, तस्मिन् काले पच्यत एवेति काल-नियमः। विपाकनियतन्तु—इदं कर्मा विपच्यत एव, न तु विपच्यत इति न। कालविपाक-नियतन्तु यथा — इदं कामं अस्मिन्नेच काले विपच्यत एवेति। एतच कालविपाकनियतत्वात् बलवंदुच्यते। एतदेव दशवाधनीयमिति। तेपां मते अभुक्तमपि क्षीयते दुर्घ्वलकम्मं प्राय-श्चित्तादिनेति वोद्धव्यम्, परं विपर्व्ययेऽपि तदा किञ्चित्त्वकालविपाकनियतमिति वक्तव्यं स्यात् । किञ्चित्त्वकालनियतवचनात् तु अकालनियतिमिति ॥ १७।१८ ॥

तस्मादुभयदृष्टत्वात् तदेकान्तप्रहण्मसाधु, निदर्शनमपि चात्रोदाहरिष्यामः।

यदि हि नियतकालप्रमाणमायुः सर्व्वं स्यात्, तदायु-फामाणां न मन्त्रीषधिमणिमङ्गलवल्युपहारहोमनियमप्रायश्चित्तो-पवासस्वस्त्ययनप्रणिपतनगमनाद्याः क्रिया इष्टयश्च प्रयुज्येरन् । नोद्भ्यान्तचण्डचपलगोगजोष्ट्रखरतुरङ्गमहिषादयः पवनादयश्च दुष्टाः परिहार्थ्याः स्युः, न प्रपातगिरिविषमदुर्गाम्युवेगास्तथा न प्रमत्तोनमत्तोद्भ्यान्तचण्डचपलमोहलोभाकुलमतयः, नारयो न प्रवृद्धोऽग्निनं च विविधविषाश्रयाः सरीस्ट्रपोरगादयः, न साहसम्, नादेशकालचर्या, न च नरेन्द्रप्रकोपः ; इत्येवमादयो भावा नाभावकराः स्युः, आयुषः सर्व्वस्य नियतकालप्रमाणत्वात् ।

गङ्गाधरः —अत्र नियतकालमपाणमायुरिति मतं दूपियतुमाह —तस्मा-दित्यादि । तस्मात् कस्यचित् कर्मणो महतो विपाके कचित् काले नियमात् । कस्यचिन्महतः कर्मणो विपाके कालानियमादुभयदृष्टलादुभयस्य नियतकाल-प्रमाणस्यानियतकालमपाणस्य चायुवो दृष्टलात् तदेकान्तग्रहणं तन्नियतकाल-प्रमाणमेवायुरित्यवधारणेन ग्रहणमसाधु । तदुभयस्यायुवो निदर्शनमपि चोदाहरिष्यामः ।

नमु कस्मादुभयथायुभवतीत्यत आह—यदि हीत्यादि । हि यसाद् यदि नियतकालप्रमाणमेव सन्वेमायुः स्यात् तदायुष्कामाणां सम्बन्धे मन्त्राद्याः क्रिया इष्ट्रयश्च याक्षिकादिभिने प्रयुष्येरन् । उद्भान्तचण्डचपलगवादयश्च परिहार्याः न स्युः । इत्येवमाद्यो भावाः उद्भान्तचण्डचपलगवादयो भावाः सन्निहित-स्यापि पुरुषस्याभावकरा न स्युः, सन्वेस्यैवायुषो नियतकालप्रमाणसात् ।

चक्रपाणिः—अतः परमुत्तरमुपसंहरति, —तस्मादित्यादि । उभयदृष्टत्वादिति देवस्य पुरुप-कारेण तथा पुरुपकारस्य देवेन बाधदृशंनात् । एकान्तग्रहणमिति नियतमेवायुः सर्व्वमिति चेत्यर्थः । निह्र्यतेऽभिमतः पक्षः साध्यतेऽनेनेति निदर्शनं युक्तिरित्यर्थः । अत्रत्यनेकान्तिक-पक्षे : यदीत्यादिनां प्रकरणेनायुक्तंनकस्य दृष्टस्य हेतोः सेवा, तथा आयुर्ध्वरोधकस्य हेतोरसेवा न चानभ्यस्ताकालमरणभयनिवारकाणामकालमरणभयमागच्छेत् एव प्राणिनाम् । व्यथिश्वारम्भकथाप्रयोगबुद्धयः स्युः सव्वेषां सहर्षीणां रसायनाधिकारे ।

नापीन्द्रो नियतायुष्कं शत्रुं वज्रे गाभिहन्यात्राश्विनावेनं भेषजेनोपचरेताम् छ, न वर्षयो यथेष्टमायुस्तपसा प्राप्नुयुनं च विदितवेदितव्या महर्षयः ससुरेशाः पश्येयुरुपदिशेयुराचरेयुर्वा, अपरश्चाह—न चेत्यादि। यः पुरुपैरकालमरणभयनिवारकाः प्रयोगा नाभ्यस्तास्तेपामकालमरणभयं नागच्छत्। नैवागच्छेदिति चेत्, तदा महर्पीणी रसायनाधिकारे खल्वकालमरणवारणार्थं चिकित्सादिकियारम्भकथाप्रयोगन् बुद्धयश्च व्यर्थाः स्युरिति।

नापीत्यादि स्पष्टाथेम्। व्यथा एव चेति चेत् तदोच्यते। इन्द्रोऽपि नियतायुष्कं वज्रेण नाभिहन्तुं शक्तुयान्नियतायुष्कतात् सन्वेपाम्। अश्विनौ चानियतायुष्कमायुष्टें द्वर्र्यं भेपजेन नोपचरेताम्। ऋपयश्च तपसा यथेष्ट-मायुयदापुस्तन्नाप्नुयुः । विदितवेदितव्या महर्पयः सुरेशश्रायुर्वेद्धनानि रसायना-दीनि विदिला सम्यक् दृष्ट्वा चोपदिश्योपचेरुने तानि सम्यक् पश्येगुरुप-दिशोयुराचरेयुर्वा इति । अत्र एके लाहुः । चतुष्पात् सकलो धम्मः सत्यञ्चीव कृते युगे। नाधम्मणागमः कश्चित् पुरुषं प्रतिवत्तेते। अरोगाः सञ्च-सिद्धार्थाश्च तुवेपशतायुषः। कृते त्रेतादिषु हेत्रपामायुहेसति पादशः। इति मन्ना प्रतियुगं धम्मेपादहासाच्चतुवेषेशतायुपः पादपादहासः प्रतियुगमुत्तवा पुननियतानियतायुर्वेचनेनानेन विरुध्यते नियतप्रमाणमायुरुक्तं, तत् तत्रोच्यते मनुनापि प्रतियुगं धम्मेपादहासादायुपश्च चतुर्वर्षशतस्य पादहासवचनेनैवानियतायुरुक्तं प्रतियुगमायुःप्रमाणभेदात्। तत्रापि प्रतियुगं य आयुवः प्रमाणनियमः स खलु धर्म्मपादनिवन्धन एव सामान्यत उक्तस्तेनैव यो यथा धम्माधम्मावाचरेत् तस्य तथायुर्भवेदिति च शापितमिति सन्वप्रामाणिकजनानामविवादसिद्धस्वाद् दर्श्यते, सा च, यदि नियतमायुः स्वात्, तदा अकिञ्चित्कंरी स्यात् अनियते चायुपि किञ्चिकरी च स्यात्। तस्मादनियतमप्यायुर्भवतीति भावः। न च सर्वित्रवाहष्टमेव कारणम्, दृष्टस्यापि तृवृतादेविरेकादिकर्तृत्वं व्यक्तमेव। अदृष्टस्येव कारणत्वं

नाक्ष्यिमादार्त्तं भेपजेनोपपाद्येतामिति चक्रः।

अपि च सर्व्वचनुषामेतत् परं यद्दिव्यचनुः * इद-श्चाप्यस्माकं तैन प्रत्यच्म्। यथा पुरुषसहस्राणा-मुत्थायोत्थायाहारं कुर्व्वतामकुर्व्वताश्चातुल्यायुष्टम् । जातमात्राणामप्रतिकारात् प्रतीकाराचाविषविषप्राणिनाञ्चापि अतुल्यायुष्ट्रमेव। न च तुल्यो योगः चोमः ैचित्रघटानाञ्चोत्सीदताम् । तस्माद्धितोपचारमूलं जीवितम्, अतो विष्ययंयानमृत्यः। अपि च देशकालात्मग्रणविषरीतानाञ्च कर्म्म-णाम् 🕇 स्राहारविकाराणाञ्च क्रमोपयोगः सम्यक्। त्यागः सर्व्यस्य चायोगमिथ्यायोगातियोगानां सन्धारणमनुदीर्णानामसन्धारणम् उदीर्णानाश्च गतिमताम्। साहसानाश्च वर्जनमारोग्यानुवृत्तौ हेतुमुप्लभामहे सम्यगुपदिशामः सम्यक् पश्यामश्चेति ॥ १६ ॥ न विरोध इति। न हीन्द्राश्विनमहर्पयो मन्वादयो वा नासम्यक् पश्यन्ति कस्मादित्यत अह-अपि चेत्यादि। सर्व्वचक्षुपां ज्ञानानां मध्ये यदिदं दिव्यं चक्षुयौगसिद्धावाविभू तं दिवः परमव्योन्नः परमात्मतस्तत् तु परं चक्षुः तेन दिव्यचक्षुपेन्द्रादयो मन्वादयश्च दृष्ट्वा नियतानियतमायुरुपदिदिशुः। तथा-स्माकञ्च मत्यक्षमपीदमित्यादि स्पष्टार्थम्। न च तुरुययोगः क्षेमः सन्वेपाम् उदपानघटानां यथोत्सीदतां योगः क्षेमो न तथा योगश्चित्रघटानां क्षेम इति। तस्मादित्यादि स्पष्टम् ॥ १९ ॥

दृष्टकारयोनुपपत्तेः करुपनीयम् । तेनादृष्टस्य कारणत्वं दृष्टकारणम् लिमत्यर्थः । तेन, न च दृष्टकारणोच्छेदः करुपयितुमपि पार्य्यते । इष्ट्यो यज्ञाः । उरसा अत्यर्थसर्पणशीला उरगाः । आचरेयुभेपजिमति शेपः । चक्षुपां परिमति अत्यर्थाभ्रान्तत्वेन । अतुल्यायुद्धमिति, ये आह्वं कुर्व्वते, ते शस्त्रेण भ्रियन्ते ये तु न कुर्व्वते, ते शस्त्रेण भ्रायो न न्नियन्ते । प्रती-काराद्यतीकाराचातुल्यायुद्धमिति योजना । न च तुल्यमित्यादौ चित्रघटोऽयं चित्रित एव स्थाप्यते, स हि पानीयवहनादिभत्यवायहेत्वभावात् चिरं तिष्ठति । उदपानघटस्तु जलसम्बन्धात् तथा वहनसमये पतनादिना च शीधमुत्सीदिति । हितोपचारमूलमिप क्रियोपयोगं सम्यगिति योजना । सम्बीतियोगसन्धारणं सर्व्वतियोगानां वर्जनम् ॥ १९॥

* ऐन्द्रं चक्षुरिति पाठान्तरम् ।

[ी] आहारविहाराणाञ्च क्रियोपयोगं सम्यक् सःवीतियोगरःन्धार्णगरःन्धारणमिति पारश्चनसम्मतः।

ञ्जतः परमित्रवेश उवाच—एवं सत्यनियतकालप्रमाणायुषा भगवन् कथं कालमृत्युरकालमृत्युर्वा भवतीति ॥ २० ॥ अथ तमुवाच भगवानात्रेयः—श्रूयतामग्निवेश, यथा यान-

गङ्गाधरः - एवं गुरुणायुपो नियतकालप्रमाणलानियतकालप्रमाणले हे स्थापिते अला अतः परं संज्ञयानोऽग्निवेज्ञ उवाच-अतः परमित्यादि। एवं सतीति नियतकालपमाणायुपां कालसम्पूरणे मृत्युः कालमृत्युभ्वति अनियत-कालमगणायुपां कथं कालाकालमृत्युभवतीति ॥ २०॥

गङ्गाधरः - तं पृष्टवन्तमुवाचात्रेयः - श्रूयतामित्यादि । अत्र शरीरविचय-शारीरे वक्ष्यमाणं समर्तेव्यम्। तद् यथा-यः कश्चित् म्रियते स सर्वः काल एव म्रियते। न हि कालच्छिद्रमस्तीत्येके भाषन्ते। तच्चासम्यक् न हाच्छिद्रता च्छिद्रता वा कालस्योपपचते, कालस्वलक्षणभावात्। तथाहुरपरे। यो यदा मियते, स तस्य नियतो मृत्युकालः। सर्व्वभूतानां हि कालः सत्यः समिक्रयलादिति। तद्पि चान्यथार्थेग्रहणम्। न हि कश्चिन्न म्रियत इति समक्रियः कालस्लायुपः प्रमाणमधिकृत्योच्यते। यो यदा म्रियते स तस्य नियतो मृत्युकाल इति यस्येष्टं तस्य सन्वें भावां यथास्वं नियंत-काला भविष्यन्ति, तच्च नोपपद्यते। प्रत्यक्षं ह्यकालाहारव्चनकम्भणां फलम्निष्टं निपर्यये चेष्टम्। प्रत्यक्षतश्चोपलभ्यते खलु कालाकालयुक्ति-स्तासु तास्ववस्थासु तं तमर्थमभिसमीक्ष्य। तद् यथा—कालोऽयमस्य व्याधे-राहारस्यौपधस्य प्रतिकम्भेणो विसर्गस्य चाकाले वा। लोकेऽप्येतद्-भवति। काले देवो वर्षत्यकाले च वर्षति। काले शीतमकाले च शीतम्। काले तपत्यकाले च तपति। काले पुष्पफलमकाले च पुष्पफलमिति तस्माट् उभयमस्ति काले मृत्युरकाले च नैकान्तिकमत्र । यदि सकालमृत्युन स्यान्नियंत-कालप्रमाणमायुः सर्वं स्यादेवं गते हिताहितज्ञानमकारणं स्यादित्युक्तम्।

चक्रपाणिः—एवं सतीत्यादि। यत् तावत् कालनियतम्, तस्याकाले मरणाभावादेव नाकालमृत्युरस्ति । यत्वकालनियतम्, तस्यानियतत्वात् कथं कालमृत्युः अकालमृत्युर्वा भवति ? अनियते ह्यायुपि कालनियमो नास्ति, नियमाचान्वौक् अकालमृत्युरिति तु पृच्छार्थः॥ २०॥

चक्रपाणिः—यशकालमिति यावता कालेन प्रत्यवायशून्यस्याक्षस्य क्षयो भवति, तस्मिन्

समायुक्तोऽचः प्रकृत्येवाच्युग्रीरुपेतः स्यात्, स च सर्व्ययुग्रोप-पन्नो वाह्यमानो यथाकालं स्वप्रमाण्चयादेवावसानं गच्छेत्, तथायुः शरीरोपगतं वलवत्प्रकृत्या यथावदुपचर्य्यमाणं स्व-प्रमाण्च्यादेवावसानं गच्छिति, स मृत्युः काले। यथा च स एवाच्रोऽतिभाराधिष्ठितत्वात् विषमपथादपथादचचक्रभङ्गाद् वाह्यवाहकदोषादिणिमोचादनुषाङ्गात् पर्य्यासनात् ६ चान्तराव-सानं गच्छिति, तथायुरप्ययथावलमारम्भाद् अयथाग्रम्यवहाराद् विधार्य्यवेगाविधारणाद् † विषमश्ररीरन्यासान् असत्संश्रयाद् भूतविषवाद्यन्तुरपतापात् अभिधातात् आहारश्रतीकारवर्ज्ञना-चान्तरा अवसानमेवापद्यते, स मृत्युरकाले। तथा ज्वरादीनप्या-तङ्कान् मिथ्योपचिरतान् अकालमृत्यून् एश्याम इति॥ २१॥ अथाग्निवेशः एप्रच्छ—किं नु खलु भगवन् उवरितेभ्यः

यथा हीत्यादि कालमृत्योर्द प्टान्तः। अक्षो धुरीति लोके। प्रकृत्या स्फुटितत्रुटितिक्रिमिभक्षणादिदोषाभावेन वर्त्तु लत्तददृतादिभिरक्षगुणैः। यथा
चेत्यादिना लकालमृत्योर्द प्टान्तः। अणिमोक्षात् चक्रस्थापनकीलमोक्षात्।
उपाङ्गानामङ्गसमीपस्थानामङ्गानाम्। पर्य्यासनाद्विपर्य्यासात्। अन्तरा तर्व्वाग्
यथाकालात्॥ २१॥

गुङ्गाधरः-अथ ज्वरादीनां मिध्योपचारादकालमरणप्रसङ्गेन ज्वरितेभ्य

प्रवेत्यर्थः । स्वप्नमाणक्षयादेवेति युगानुरूपवर्षशतक्षयादित्यर्थः । अपथादिति सर्व्वया अमार्ग-गमनात् । अणिमोक्षादिति कीलमोक्षात् । पर्य्यसनं परिक्षेपः, अनुपाङ्गादिति स्नेहादानात् । मिथ्योपचारितानित्यसम्यक्विकित्सितान् । अकालमृत्युनिति अकालमृत्युकरान् ॥ २१॥

. वक्रपाणिः— सम्प्रति मिथ्योपचारश्र्या उप्णतीयं व्वरेऽप्याग्नेये मिथ्योपचारः स्यादिति

पर्व्यसनादिति चंकः ।

[†] विपमाभ्यवहरणात् अतिमेथुनात् उदीर्णवेगविनिग्रहात् इत्यधिकपाठो इश्यते प्रन्थान्तरेषु ।

पानीयमुष्णां प्रयच्छन्ति भिषजा भूयिष्ठं न तथा शीतम्? अस्ति च शीतसाध्योऽपि धातुर्ज्ञरकर इति ।

तमुवाच भगवानात्रेयः। ज्वरितस्य कायसमुत्थानदेश्कालानिमतमीच्य पाचनार्थं पानीयमुष्णां प्रयच्छन्ति भिषजः।
ज्वरो ह्यामाश्यसमुत्थः, प्रायशो भेषजानि चामाश्यसमुत्थानां
विकाराणां विरेचनवमना तर्पणसंश्मनान्येव ६ भवन्ति। पाचनाथञ्च पानीयमुष्णां तस्मादेतज्ज्वरितेभ्यः प्रयच्छन्ति भिषजो भूयिष्ठम्। तद्धि तेषां पीतं वातमनुलोमयत्यिश्चानुदीर्थ्यमुदीरयित चिप्रञ्च जरां गच्छति श्लेष्माणां परिशोवयित खल्पमपि च पोतं तृष्णाप्रशमनायोपकल्पते। तथा युक्तमपि चैतत् नात्यर्थोत्-सन्नपित्ते ज्वरे सदाहश्चमप्रलापातिसारे वा देयम्। उष्णोन हि दाहश्चमप्रलापातिसारा भूयोऽभिवर्द्धन्ते, शीतेन चोपशाम्य-न्तीति॥ २२॥

उष्णपानीयदानं मिथ्योपचारं संशयानः पमच्छ। तदाह—अथेत्यादि। यत् पमच्छ तद् यथा किं नु खल्वित्यादि।

तम्रवाचेति तमशिवेशम्। ज्वरितस्येत्यादि। ज्वरितस्य नवज्वरिणः। सम्रत्थानं निदानम्। पाचनार्थं रसदोपपाचनार्थम्। पानीयमुष्णं न तु श्वतशीतम्। तद्धीत्यादि। तदुष्णं पानीयं पीतं तेषां नवज्वरिणाम्। तथायुक्तमित्यादि। तथा वातानुस्रोमनादिगुणयुक्तमप्येतदुष्णं पानीय-मत्यर्थोत्सन्नपित्ते ज्वरे सदाहादिके वा न देगं भवति। कस्मात् १ उष्णेन हीत्यादि। अत्यर्थोत्सन्नपित्तं इति वचनादर्पोत्सन्नपित्ते देयम्, तेन दाहादयो न भूयोऽभिवर्द्धन्ते इति ख्यापितम्।। २२।।

आशङ्कपाह—िकं निवत्यादि । शीतसाध्योऽपि धातुः पित्तमुष्णरूपित्यर्थः । पानीयं यस्मात् सर्ध्वज्वरेभ्यो दीयते । तरमात् पानीयमेवात्र पृच्छति । उत्सन्नपित्ते प्रवृद्धपित्ते :

^{*} पाचनवम्नापतर्पंगसम्थीनीति पाठान्तरम् ।

भवति चात्र।

शितेनोष्णकृतान् रोगान् शमयन्ति भिषग्विदः।
ये तु शोतकृता रोगास्तैषामुष्णं भिपग्जितम्॥ २३॥
एविमतरेषामिष व्याधीनां निदानिवपरीतं भेषजं भवति।
यथापतर्पणिनिमित्तानां वााधीनां नान्तरेण पूरणमस्ति शान्तिः,
तथा पूरणिनिमित्तानां व्याधीनां नान्तरेणापतर्पणिमिति। अपतर्पणमिष च त्रिविधं लङ्घनं लङ्घन-।चनं दोषावसेचनञ्चेति।
तत्र लङ्घनमल्पवलदोषाणाम्, लङ्घनेन द्याप्रमास्तवृद्ध्या वातातपपरीतिमवाल्पमुदकमल्भो दोषः प्रशोषमापद्यते। लङ्घन्।चनं
तु मध्यवलदोषाणाम् लङ्घनपाचनाभ्यां हि सूर्य्यसन्तापमारुताभ्यां पांशुभस्मावकीणेरिव चानितवहृदकं मध्यवलदोषः

गुङ्गाधरः—भवंतीत्यादि । शीतेनोष्णकृतानित्यादि । भिपग्विदो वैद्याः । उष्णकृतान् वाह्यहेतुना हृष्णेन कृतान् रोगान् शीतेन भेपजेन शमयन्ति । एवं शेपार्द्धं व्याख्येयम् ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—एतिन्द्रशंनेन सर्विच्याधिवृपसंहरति—एविमतरेपामित्यादि। निदानिवपरीतमसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगप्रज्ञापराधपरिणामानां यस्मात् निदाना-ज्ञायते यो च्याधिस्तस्य शान्त्यर्थं तिन्तदानिवपरीतं भेपजं भवति। तद् उदाहरति—तथापतपेणेत्यादि। पूरणं सन्तपेणम्। किं तु खटवपतपेणिमत्यत आह्—अपतपेणमपीत्यादि। अट्यवटदोपाणां लङ्घनमपतपेणम्। तत्र हेतुर्लङ्घनेनेत्यादि। लङ्घनपाचनन्त्रिति मध्यवलदोपाणां लङ्घनपाचने अप-

न केवलं ज्वर एव शीतोष्णसमुत्थत्वभेदेन उष्णशीतोषचारः, किन्तु सन्वंत्रैव व्याधावेव-मित्याह—शीतेनेत्यादि । भिषजश्च ते ज्ञानवन्तरुचेति भिषग्विदः ॥ २२ । २३ ॥

चक्रपाणिः—न केवलं शीतोष्णसमुक्षयोरेव परं हेतुविपय्येयेण चिकित्सा, किन्त्वपतर्पणादिजेऽपि हेतुविपरीतेनेत्याह —एविमत्यादि । अपतर्पणसन्तर्पणाभ्याद्य सर्व्वचिकित्सितं गृहीतम् ।
न हापतर्पणसन्तपणाभ्यां विना अन्यद्विधानान्तरमस्ति चिकित्सायाः, येन सर्व्व एवोपक्रमाः
सन्तर्पणापतर्पणभेदा एव । अत एव विशेपज्ञानार्धमपत्रप्णभेदानाह—अपतर्पणमित्यादि ।
सन्तर्पणापत्रपितवचनेन यत्र पाचनं क्रियते तत्रावद्यं स्तोकमाक्ष्म लद्धनं क्रियत इति दशंयति,

प्रशोषसापयते । वहुदोषाणां पुनदोषावसेचनमेव कार्यं, न ह्यभिन्ने केदारसेतौ पल्वलाप्रसेकोऽस्ति तद्वद्दोषावसेचनम् ॥ २४

दोषावसेचनन्त्वन्यद्वा भेषजं प्राप्तकालमप्यातुरस्य नैवं-विधस्य कुर्यात् । तद् यथा अल्पवाद- अतिकारस्याधनस्या-परिचारकस्य वैद्यमानिनश्चराडस्यासूयकस्य तीव्रधम्मीरुचेरति-चीणवलमांसशोणितस्यासाध्यरोगोपहतस्य मुमूर्षुलिङ्गान्वितस्य

तपणम् । तत्र हेतुळेङ्घनेत्यादि । वहुदोपाणामित्यादि वहुदोपाणां वलक्ष्-च्याधीनामपतर्पणं दोषावसेचनं चयनविरेचनादिकम्। तत्र हेतुर्ने ह्यभिन्न इत्यादि । यथा हि भिन्ने केदारे परवलस्यारपसरसः प्रसेको भवति न सभिन्ने, तदृद्रोपावसेचनम् । वयनविरेचनादिना दोपे भिन्ने वहिनिः सते शेपः प्रशोप-मापद्यते ॥ २४ ॥

गङ्गाधरः -- ननु तद्दोषावसेचनमन्यद् वा भेपजं सर्व्वेपां किं कुर्यादित्यत आह—दोपावसेचनन्तित्यादि। दोपावसेचनमन्यद् वा किमपि भेपनं प्राप्त-कालमपि कर्त्तव्यकालमाप्तमपि खल्वेवं विध्रस्य वश्यमाणरूपस्यातुरस्य न क्रुर्यात्। कस्य कस्येत्यत आह—तद् यथेति। अल्पवाद्रमतिकारस्य यो जनो जनैः सहाल्पवादे प्रतिकारानहें स्वभावात् तस्य प्रकारो यस्य स चेदातुरः स्यात् तदा तस्यौपधं दोषावसेचनमन्यद् वा न कुर्यात्। स हि चिकित्सायां छलं गृहीता वैद्यस्यायशःकीर्त्तनं करोति। चापचारकस्य च वैद्यमानिनश्च। यः स्वयं चिकित्सकाभिमानी स वैदंत्र प्रत्येवमाह - नेदं भेषजमत्रोपयुक्तं नेदं पथ्यमित्येवमादिदृषणवाक्यम् । तथा चण्डस्य क्रोधनस्यभावस्य च वैद्यानामस्यकस्य च तीव्रधम्मीरुचिजनस्य। तथैवासाध्यरोगोपहतस्य सुमूर्षु लिङ्गान्वितस्य च अतिशीणवलमांसाद्थ पाचनकाले हि यदि वृंहगं क्रियते तदा वृंहगेनाग्नेः प्रतिकूलेन पाचनं न स्यादित्यर्थः।

कीर्णेरिवेत्यत्र 'इव'शब्दोऽनितवहुदकिमवेत्येवं रूपो ज्ञेयः । अन्यदवेति लङ्घनादि वृंहणादि च ॥ २४ चक्रपाणिः—अनपवादप्रतीकारो वाच्यप्रतीकारः, अधनस्यानुपकरणत्वेन नं चिकित्सा पार्ध्यतेः कर्तुं मित्यर्थः, वैद्यमानीत्यभिमानाद् वैद्योपदेशं न करोति ; तीव्रधर्मारुचेः प्रतिक्रियायामधरमी

^{*} अनपवादेति वा पाठः ।

चेति। एवंविधं ह्यातुरमुदचरन् भिपक् पापीयसाऽयश्सा योगम् ऋच्छतीति॥ २५॥

भवति चात्र ।

तदात्वे चानुवन्धे वा यस्य स्यादशुभं फलम् । कर्म्भग्रस्तन्न कर्त्तव्यमेतद् वुद्धिमतां मतम् ॥ २६ ॥

तत्र श्लोकाः।

पूर्विरूपाणि सामान्या हेतवः सस्वज्ञच्गाः। देशोद्धवंसस्य भेषव्यं हेतृनां सूलमेव च॥

भेपनं न कुर्यादिति। कस्मादिति? अत आह—एवं विधिमत्यादि। हि यस्मात् एवं विधमल्पवाद्यतिकारस्यभावादिकमुक्तमातुरम्रपचरन् चिकित्सन् भिपक पापीयसा लोके निन्दाननकेनायशसा युक्तो भवति॥ २५॥

गङ्गाधरः—भवतीत्यादि । तदाले चत्यादि । तदाले तत् कम्मेकरणकाले । अथातुवन्धे उत्तरकालं वा यस्य कम्मेणः फलमशुमं स्यात् तत् कम्मे न कर्त्तव्य-मिति बुद्धिमतां मतमिति ॥ २६ ॥

गृङ्गाधरः—अध्यायार्थम्रपसंहरति—तत्र श्लोका इति। पूर्विरूपाणीति मथमावध्यपक्रमं कृता दृश्यन्ते हीत्यादिना जनपदोद्ध्वंसनस्य पूर्विरूपाणि। अपि तित्यारभ्य देशोवध्वंसस्य सामान्या हेतवस्तेषां लक्षणानि च। विगुणे- िवत्यारभ्य देशध्वंसस्य भेपजम्। अथ खिल्वत्यादिना हेतूनां वाय्वादीनां भवति, न च चिकि ता सिध्यत्यधर्मात्रतियन्धात् मुमुपु लिङ्गान्वितस्येति रिष्ट्युक्तस्य, पापीयसेति पापहेतुना पापजनकेनायशसा॥ २५॥

चक्रपाणिः—अनुबन्धे वेत्युत्तरको प्रम् । संब्रहे पृब्वंरूपाणीति नक्षत्रादिविकारः, सस्बलक्षणाः

अधिकिमिदं श्लोकद्वयं चक्रपाणिसम्प्रतं यथा—
 अल्पोदकद्वुमो यस्तु प्रवातः प्रचुरातपः ।
 ज्ञेयः स जाङ्गळो देशः स्वल्परोगतमोऽपि च ॥
 प्रचुरोदकवृक्षो यो निवातो दुर्लभातपः ।
 अनूपो यहुदोपश्च समः साधारणो मतः ॥
 चक्रपाणिकृता टीका यथा—केचिदल्पोदकद्वुमो यस्त्विस्यादिग्रन्थमत्र पठन्ति ।

प्राग्विकारसमुत्पत्तिरायुषश्च च्यक्रमः। मरणं प्रति सूतानां कालाकालविनिश्चयः ॥ यथा चाकालमरगां यथा युक्तञ्च भेवजम् । सिद्धिं यात्यीषधं येषां न क्रुर्याद्व येन हेतुना ॥ तदात्रेयोऽग्निवेशाय निखिलं सर्व्यमुक्तवान्। देशोद्ध्यंसिनिमित्तीये विमाने मुनिसत्तमः॥ २७॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते विसानस्थाने जनपदोद्ध-ध्वंसनीयविसानं नाम तृतीयोऽध्यायः॥३॥

भूलम्। प्रागेवानेकेत्यादिना सर्व्वविकाराणां प्रागुत्पत्तिरायुपः क्षयक्रमश्च। किं हु खिल्वत्यादिना भूतानां मरणं पति कालाकालविनिश्चयः। ततः परिमत्यादिना भूतानां कालाकालमरणम्। चकाराज्ज्वरे चोष्णजळं शीतेनोष्णेत्यादिना भेषजं यथायुक्तं सिद्धं याति तत्पकारः। दोपावसेचनन्त्रित्यादिना येषां भेषजं न कुटर्यात् तत्। एवं विधिमत्यादिना येन हेतुना तेषां भेषजं न कुर्यात् तत् ॥ २७ ॥

अध्यायं समापयति । अग्नीत्यादि ।

इति श्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजलपकलपतरौ तृतीय-स्कन्धे विमानस्थानजल्पे जनपदोद्ध्वंसनीयविमान-जन्पाच्या तृतीया शाखा ॥ ३॥

सस्वविकृतिलक्षणाः, तच लक्षणम् ''तत्र वातमेवंविधम्'' इत्यादिना प्रोक्तम् । भेपजं सिद्धिं याति' इस्यनेनोस्णपानीयदानोपपत्त्या सर्व्वं संगृहीतम् ॥ २६।२७ ॥

इति चरकचतुरानन-श्रीमचक्रपाणिदत्तविरचितायाम् आयुर्व्वेददीपिकायां विमानस्थान-व्याख्यायां जनपदोद्ध्वंसनीयविमानं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः।

त्रथातस्त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीयं विमानं व्याख्यास्यामः इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति, तद् यथा—उपदेशः प्रत्यचमनुमानञ्चेति ॥ २ ॥

तत्रोपदेशो नामाप्तवचनम्। आप्ता ह्यवितर्कस्मृतिविभाग-

गृङ्गाधरः—अथैवं रसादिविमानजनपदोद्ध्वंसिवमाने उनता व्याधिक्वान-हेतुप्रमाणरूपं त्रिविधं रोगविशेपविक्वानीयं विमानमाह—अथेत्यादि । अध्यायस्य आदौ निहिष्टे त्रिविध रोगविशेषविक्वानं भवतीति वाक्यार्थे त्रिविधं रोग-विशेषविक्वानिमत्यर्थमधिकृत्य कृतो विमानाध्यायः । इति ग्रन्थेऽथे छः ॥ १॥

गुङ्गाधरः—त्रिविधमित्यादि । रोगेति विषमधातवो रोगास्तज्जाश्च ज्वरा-दयो देहादिकार्य्यद्रव्यवत् । रोगाणां ज्वरादीनां विशेषा वातादिजलादिना जातानां रूपाणि, तेषां विश्वानं विशेषेण शायन्ते प्रमीयन्तेऽनेन तिद्द्शानं प्रमाणम् । तद् द्विविधमप्राप्यार्थग्रहणलक्षणं प्राप्यार्थग्रहणलक्षणञ्चिति । तत्पुन-स्त्रिविधं तदाह तद् यथेति ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—तत्रेति। आप्ता हीत्यादि। हि यस्मात्। अवितर्केण वितर्क ऊहापोहात्मकस्तं वितर्के विना सदैवाविच्छेदेन युक्तज्ञानेन त्रैकालिकानां

चक्रपाणिः—जनपदोद्ध्वंसनीयेऽविशेषेण सन्वेंऽपि रोगा उक्ताः, तेषां विशेषो यथा ज्ञातन्य-स्तरुपदेष्टुं त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीयोऽभिधीयते ॥ ९ ॥

चक्रपाणिः —रोगाणां विशेषो यथा वक्ष्यमाणो ज्ञायते येन, तद्दोगविशेषविज्ञानमुपदेश-प्रत्यक्षानुमानरूपं प्रमाणत्रयम् । अत्र तु युक्तेरनुमानान्तर्गतत्वादेव न पृथक्क्रणम् । एतच्य प्रमाणत्रयं क्षचिद्दोगे मिलितम्, क्षचिद्द्वयम् कचिदेकं परीक्षायां वर्त्तते । येन, नान्तरे विद्व-मान्दादौ प्रत्यक्षमवश्यं व्याप्रियते ॥ २ ॥

चक्रपाणिः—तिस्ते पणीये प्रथममनुमानादिलक्षणान्युक्तानि, पुनिरह "तत्रोपदेशो नाम" इत्यादिना आप्तोपदेशादिलक्षणाभिधानं प्रकरणागतत्वात् क्रियते। प्राकरणिको हार्थोऽनुच्यमानो

विदो निष्प्रीखुपतापदर्शिनः। तेषासेवंग्रग्योगाद् यद्दचनं तत् प्रमाण्यम्, अप्रमाणां पुनर्मत्तोन्मत्तमूर्खवक्तृदृष्टादृष्टवचनमिति 🕸 । सन्वेपायेव भावानां तत्त्वेन समृत्या विभागं सदसद्रपतं विदन्ति ये ते अवितर्कः-स्मृतिविभागविद् आप्ता इति चेत् तदा देवग्रहजुष्टा अप्यवितकस्मृतिविभाग-विदः किमाप्ता इत्यत आह—निष्पीत्युपतापद्ञिन इति। **मीत्युपतापाभ्यां** निगंता निष्पीत्युपतापा ये द्रष्टुं शीलवन्तस्ते लाप्ताः। देवग्रहजुष्टा उपतप्ता देवग्रहेण यदुच्यते त्रैकालिक़ं ते तद्ददन्ति । ये चावितकेस्पृतिभ्यां भीत्या वदन्ति ते च नाप्ताः। ईदशास्तु पुरुषास्ते भवन्ति ये तपोज्ञानवछेन रज-स्तर्गोभ्यां निस्धुक्तास्त्रैकालिकाव्याहतनिस्मीलज्ञानवन्तः स्युः। एवमुक्तरूप-गुणयोगात् तेषां वाङ्गनसाभ्यां त्रैकालिकार्थस्य प्राप्यग्रहणाट् यद्वचनं तत् भगाणमेव न लमगाणम्। रजस्तमोत्रिनिरुष्ठेक्तत्वेनानृतवक्तृलाभावात्। वाङ्मनसा-भ्यास् अलौकिकार्थस्याप्राप्यग्रहणादलौकिकार्थवचनमात्रमर्थपाप्त्यभावात् सत्य-मपि न ममाणं लौकिकाथौपदेशो हि ममाणस् अत ईश्वरादिरममेय उक्तः। ननु कस्य वचनमप्रमाणमित्यत आह—अप्रमाणं पुनरित्यादि । मत्ता आसवमद्यादि-कृतमदाभिहताः। उन्मत्ता उन्मादादिव्याधिभिरुन्मत्ताः। मूर्खा वेदादिशास्त्रा-ध्ययनादिभिजनितावितर्कस्मृतिविभागज्ञानाद्धीनास्ते च ते वक्तारवचेति मत्तोन्मत्तमूर्खवक्तारस्तेपां दृष्टादृष्ट्योवेस्तुनोविंपये यद्वचनं तद्शमाणं तेपां दृष्टिविषये वचनमपि न प्रमाणं यद्धि तैर्द्धः तदुपदेशे तत्त्वतो वक्तुमशक्तलात् एतच्चाप्तवचनमलौकिकार्थानामप्राप्यार्थग्रहण-यत्त्वादुन्यत्त्वान्यूखंबाच । न्यूना भवति । अवितर्केत्यादि । वितर्कः कथन्ताऽनिश्चितज्ञानमिति यावत् । स्मृतिः स्मरण-ज्ञानम्। विभाग एकदेशः। एतद्विपर्य्यानिश्चयेनानुभवेन च कात्स्येन च ये भावान् जानते, तेऽवितर्कस्मृतिविभागविदः : वितर्कवेदी तु नाप्तः प्रतिपाद्यवस्वरोपविशेपाविज्ञानात् । ज्ञानञ्च यद्यपि प्रमाणमूलमेव, तथापि वर्त्तमानलक्षणे स्मृतिज्ञानविषयार्थस्य नावर्यविद्यमानतेति न तत् प्रमाणिमिति भावः। किंवा, रष्ट्रतिज्ञानं रष्ट्रतिशास्त्रजं ज्ञानं गणितज्ञानछ। ज्ञानद्वयं साक्षाद्वीद्र्रीकं दुरवयोधेन मिथ्याज्ञानत्वसम्भवाद्व्रमाणमपीति नोपादेयम् । सम्यग्ज्ञानवन्तोऽपि रागादिवशादन्यथा व्याहरन्तीःयाह—निष्पीत्युपतापदर्शिन इति, निष्प्रीत्या निरुपतापेन च द्रप्टुं शीलं येपां ते तथा। एतेन यथार्थदर्शी निर्होपधासो भवतीति उक्तं भवति । एवम्भृतद्यासत्वं कस्रचिद् ब्रह्माढेः सर्व्वत्रैव भवति । छौकिकस्य तु यस्मिन्नेव तु विपये वितकादि न भवति, तर्त्रैवोपटेशः प्रमाणमिति ज्ञेयम् । अप्रमाणं नावश्यं प्रमाणतयाऽव-

[ः] रक्तदुष्टादुष्टवचनमितीति चकसम्मतः पाठः।

प्रत्यचन्तु नाम खलु तद् यत् स्वयमिन्द्रियेरात्मना @ चोप-लभ्यते।

लक्षणमलौकिकेषु न प्रमाणम्। योगिभिहि योगे प्रज्ञया प्राप्यालौकिकार्थं उपदिश्यते वाग्भिरः । तस्मादलौकिकार्थवचनं तेषां सत्यमपि न प्रमाणम्, प्राप्याथेष्रहणलक्षणं हि झानं प्रमाणम्। लौकिकार्थोनान्तु योगेन प्रज्ञया प्राप्य पुनर्वाङ्गनसाभ्याञ्च प्राप्य योगिभिवेचनं प्रमाणमिति। अलौकिकार्थप्रत्यक्षन्तु योगजं प्रज्ञया प्राप्येव तदलौकिकप्रमाणमेवेति गौतमादिभिन्लौ किकप्रमाणवक्तृभिः प्रमाणेषु योगजप्रत्यक्षं नोक्तमिति। विस्तरेण तिस्त्रीपणीये व्याख्यातम्।

क्रमिकं प्रत्यक्षं लक्षयति—प्रत्यक्षन्त्रित्यादि। तिस्र पणीये प्रागुक्तम्। आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्पात् पवत्तेते। व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते।। इति । तदिह व्याख्यानपसङ्गेन पुनरुच्यते। प्रत्यक्षन्तु खलु तद यत् स्वयमिन्द्रियरात्मना चोपलभ्यते। अत्र तु इन्द्रियरिति पृथग्वचनात् ख्यापितं श्रवणादिपञ्चबुद्धीन्द्रियमत्यक्षं प्रमाणम् स्वतन्त्रे पञ्चबुद्धीन्द्रिया-णीत्यक्तेः। आत्मनेति आत्मज्ञव्देन वृद्धिः वृद्ध्याश्रयसान्मनक्चेति दृयं विविक्षितम्। स्वयमितिपदेन त्रिधा आत्मा विविक्षतः। आत्मनो नित्यं बुद्धियोगाद् बुद्धिरिप त्रिविधा । यतुपदेन शब्दाद्यः पञ्चेन्द्रियार्थाश्चिन्त्य-विचारयों हाधिकं मनोऽर्थः। वोद्धन्यं सुखादिकं युद्धेरथेक्चेति सर्न्व विवक्षितम्। तत्र स्वयं खलुं जागरितस्थानेन वैश्वानरेणात्मना स्वप्नस्थानेन तैजसेनात्मना सुपुप्तिस्थानन प्राज्ञेनात्मना पश्चिभिरिन्द्रियैर्यत् सन्निकृष्टं वस्तूपलभ्यते मनसा यदुपलभ्यते बुद्धाा च यदुपलभ्यते तदुपलिध-र्कोनं मत्यक्षम् । तेन सप्तविधं मत्यक्षं भवति । रोगभिषग् जितीयेऽपि वक्ष्यते । आत्मना चेन्द्रियेश्व यत् स्वयग्रुपलभ्यते तत् प्रत्यक्षं तत्रात्मप्रत्यक्षाः मुख-दुःखेच्छादयः शव्दादयः पुनरिन्द्रियमत्यक्षा इति । कणादेनापुत्रक्तम् आत्म-धारयंते रागादिदुष्टत्वादित्यर्थः। दुष्टक्षायमदुष्ट्रचेति दुष्टादुष्टः। तेन पिता हि पुत्रस्य दुष्टोदुपि अदुष्टत्वादाप्त एव भवति । किंवा दुष्टो वद्यकः ।

स्वयमिन्द्रियमेनसा चेत्यनेन यदात्मनेन्द्रियेश्वश्चरादिभिरव्यवधानेन गृद्यते रूपादि, तत् प्रत्यक्षमिति वाह्यप्रत्यक्षं गृह्णाति । मनसा चेत्यनेन मनसाऽन्यवधानेन यदुपलभ्यते सुखादि,

मनसेति वा पाठः ।

गुणानां मुखादीनामात्मपत्यक्षं न मनःपत्यक्षम्। तद् यथा वैशेपिके स्त्रे हे। परत्र समवायात् प्रत्यक्षलाच नात्मगुणा मनसो गुणाः। अप्रत्यक्षलाच। व्याख्यातश्च। बुद्धीच्छादयो ये प्रत्यगात्मग्रुणा न ते मनसो गुणाः। कस्मात् ? परस्याव्यक्ताख्यस्य परत्र समवायात्। प्रत्यगात्मनः परत्र समवायात्। क्षेत्रबस्यात्मनो गुणा एव मुखादयः प्रत्यगात्मन्यभिव्यक्ताः करणानां चुद्धिमनः-प्रभृतीनां योगात् प्रत्यगात्मनः परत्राच्यक्ते समवायात् । अस्तु तर्हि मन आत्म-संयोगान्मनस एव गुणास्तेऽभिव्यव्यन्ते इति चेन्न प्रत्यक्षताचा । प्रत्यगात्म-मत्यक्षा हि बुद्धिसुखाद्य इति। अस्त्वेत्रं मनःमत्यक्षा बुद्धिसुखाद्य इति चेत् न, अमत्यक्षलात्। मनो हि चुद्धप्रादीन् गुणान् न जानातीति मनः-मत्यक्षताभावाचात्मगुणा मनसो गुणा इति। गौतमेनापि सुखादेरात्ममत्यक्षम् उक्त फलपरीक्षायाम्। तत्र मूत्रम्। प्रीतेरात्माश्रयसाद्पतिपेध इति। तत्र वात्स्यायनभाष्यम्। प्रीतिरात्मप्रत्यक्षलादात्माश्रयेति। तस्मात् प्रीतेरात्म-गुणलामतिषेध इति। तथा च। सुपुप्तिस्थान आत्मा मुझया सुद्धग्रोपाहितः खल्बन्यक्तारूयः स खलु स्वयं सुपुप्ती समाधौ जीवन्मुक्तौ च प्रज्ञया शुद्ध-सत्त्वात्मकमहत्तत्त्वारूयबुद्ध्या परमात्मानं तुरीयं शिवं रसं लब्धानन्द्भुप-लभते। तदुपलव्धिस्तत्र तत्रात्मप्रत्यक्षम्। सा प्रज्ञा वुद्धिस्त्रिगुणात्मकस्तु महान् तस्यात्मनो मन उक्तं साह्न्ये किपलेन। तन्मनः। इति सूत्रम्। तच न देवदत्तादिपुरुपाणां मनस्तस्मान्न मानसप्रत्यक्षम्। तेनोपलव्धिनानेन प्रत्यक्षेण सा च प्रज्ञा प्रत्यक्षा भवति। एवं तद्व्यक्तात्मना त्रिगुणात्मकेन महत्तत्त्वेत मनसाहिमति मन्यत इति तन्महान्तं विकुर्व्वाण आत्माहङ्कारम् अविद्याख्यां बुद्धिं सर्जात। तस्मादहङ्काराज्जातानि महाभूतानि पञ्चातु-प्रविक्य तैजस आत्मांक्षेन भवति । तदाहङ्कारिकद्शेन्द्रियमनोऽर्थपश्चकपश्च-प्राणयुक्तः स्वमस्थानः स्वप्ने सुखदुःखादिकसुपलभते तयाहङ्कारबुद्ध्या तदुप-लिव्यः खप्ने प्रत्यक्षम्। स चैव तैजस आत्मा देवनरादियोनिषु शुक्रशोणितादि-वीजसंयोगमुपेत्य पश्चमहाभूतानि सृष्ट्वा तदुपाहितः सन् वैश्वानरो नाम जागरितस्थान आत्मा भवति तैर्भू तैराहङ्कारिकदशेन्द्रियानुप्रविष्टे रेकैकाधिकै-जीतानि भौतिकानि गृहीला तथा त्रीन् गुणान् सप्ट्वाहङ्कारिकमनोऽनुपविष्ट-तत्तिगुणात्मकं सत्त्वगुणवहुळं स्थूलमनो गृहीला तथार्थान शन्दादीन् पश्च स्थूलान् प्राणांश्च पश्च गृहीला चतुर्विशतिको भवति । स तु जागरणावस्थायां

स्थूलान विषयान सुखादीन स्थूलयाहङ्कारिनया बुद्धैप्रवोपलभते। इत्यात्म-भत्यक्षा द्वद्धिसुखदुःखेच्छाद्यः। अत्रादिशब्दे मनःभत्यक्षाश्चिन्त्याद्योऽर्थाः। तत्र सुपुप्तिस्वमयोः सन्धौ लात्मा महत्तत्त्वेन मनसा यच्चिन्तनीयं तक्य विचार्य-श्चोपलभते, तन्मनः प्रत्यक्षम् । स्वमस्थानस्तैजसो यदाहृङ्कारिकेण मनसोपलभते चिन्तनीयादिकं तन्मनः प्रत्यक्षम्। जागरितस्थानो वैश्वानरोऽप्यात्मा स्वयम् आत्मकृतसत्त्वादिगुणमयेन स्थूलमनसा यचिन्तनीयादिकमुपलभते तल्लोके मनः-मत्यक्षमिति । स्वमसुपुष्त्योः सन्धौ चाह्द्वारिकपञ्चेन्द्रियपञ्चार्थाभावानास्ति चेन्द्रियमत्यक्षम् । अथ स्वमस्थानस्तैजसो यद्यदाहङ्कारिकेण श्रोत्रादिना खप्ने शब्दादी तुपलभते तदिन्द्रियमत्यक्षं खप्ने। जागरितस्थानो वैश्वानर आत्मा स्वयं वाहा लोके सन्तिकृष्टं यन्छन्दादिकं भौतिकेन श्रोत्रादिनेन्द्रियेण उपलभते तदिन्द्रियमत्यक्षम्। तत्रेन्द्रियाथयोः सन्निकपं उक्तस्तिस्रीपणीये। अतिविभक्षपीतिसन्निकपेमनोऽनवस्थानकरणदौव्वंत्यातिसोक्ष्म्याभिभवावरण-समानाभिहारवज्जं साम्निध्यमिति। तत्र श्रोत्रेन्द्रियेण समानयोनिमर्थं शब्दं तद्विपरीतश्च शब्दस्य निष्टस्याख्यं गुणमुपलभते न तु शब्द्वद्द्व्यं तत्स्वभावात् । स्पर्ञनेन्द्रियेणात्मा समानयोनिमर्थं स्पर्जं शीतोष्णिस्त्रग्यरुक्षखरमस्णिविशद-पिच्छिलस्थलस्भसान्द्रद्वमृद्कितनादिकं तद्विपरीतश्चास्पर्भमतीघातमुप-लभते तत् समवायात्तद्वच द्रव्यमाकाशादिकमिति। चक्षुरिन्द्रियेणात्मा स्वयं समानयोनिकमर्थं रूपं लोहितशुक्रकृष्णादिकं तद्विपरीतश्चारूपमाकाशस्य तदूपारूपसमवायात् तद्दद्दन्यमरूपमाकाशमुपलभते न तरूपं वायुं स्वभावात इति। सङ्गापरिमाणपृथक्तमंयोगविभागपरतापरतकम्माणि रूपवर्द्रव्यसमवायाचाश्चपाणीति रूपहीनेष्यचाश्चपाणीति कणादः। रसनेन्द्रियेणात्मा खर्यं समानयोनिकमर्थं रसं मधुरादिकं सविपरीतमुपलभते, तत्समवायाच तह्द्इव्यं घ्राणेन्द्रियेणात्मा खर्य समानयोनिकमर्थं गन्धं सौरभा-दिकं सिवपरीतमुपलभते, तत्समवायाच तद्वद्रव्यमिति साक्षात् परम्परया पञ्चेन्द्रियमत्यक्षं च्याख्यातं यत् ममाणग्रुच्यते। इत्येतदात्ममत्यक्षादिकं सप्तविधं भत्यक्षं भाष्यार्थे ग्रहणलक्षणं द्विविधं क्षणिकं निश्चयात्मकञ्च। तत्र क्षणिकमममाणं निश्रयात्मकन्तु प्रमाणम्। तत्र यत् पञ्चेन्द्रियार्थसन्निकपौत्पन्नमात्ममनः-संयोगजपूच्यं कमच्यपदेश्यमच्यभिचारि च्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षप्रमाणं पञ्चविधमिन्द्रियज्ञानम् । आत्मप्रत्यक्षनतु यदपाप्य ग्रहणमाप्तोपदेशाद् भवति तङ्घीकिकप्रमाणमप्यङोकिकेषु नः प्रमाणमपाप्त्यर्थलात्। मानसप्रत्यक्षनतुः

अनुसानं खलु तकों युत्तयपेनः।

त्रिविधेन खल्वनेन ज्ञानसमुद्येन पूर्वं परीच्य रोगं सर्विथा सर्विनेचोत्तरकालमध्यवसानसदोषं भवति। न हि ज्ञानावयवेन कृत्स्ने ज्ञे ज्ञानमुत्पद्यते। त्रिविधे त्रस्मिन् ज्ञान-समुद्ये पूर्विभाषोपदेशाद्धि ज्ञानम्। ततः प्रत्यचानुमानाभ्यां सर्वं न प्रमाणं तस्माद् यत् प्रमाणं तस्य प्रत्यक्षमं ज्ञामुत्रस्वाप्यदत्यनुमान-मं जाम्।

अनुमानं खिल्वत्यादि । तत्रापबादिविषये किचिद्वत्सगींऽपि प्रवर्तते । तेन प्रत्यक्षपूर्वं त्रिविधं त्रिकालञ्चानुमीयत इत्यत्र प्रत्यक्षपदेन सन्वंप्रमाणं विव-सितिमिति । तदेवेह पुनः प्रकारान्तरेण भाष्यते । तकौ युक्त्यपेक्ष इति । युक्त्यपेक्षस्तकौंऽनुमानं तकीपेक्षस्तकस्तिस्त पणीये युक्तिरेव तकं उक्तः, बुद्धः पश्यतीत्यादिना । गौतमेनाप्युक्तस् । अविद्यातत्तत्त्वेऽथे कारणोपपित्ततः तत्त्वद्यानाथम्हस्तके इति । व्याख्यातञ्चेतत् पूर्व्यम् । तकीपेक्षतर्कस्यानुमानसव्यचनात् । केवलतकस्यान्नोपदेशे लाप्तस्यवानुमाननान्तरीयकलेन प्रामाण्ये सिद्धे प्रमाणान्तरत्वं न भवति न चाप्रामाण्यम् । उपमानसम्भवार्यापत्त्य-भावानामत्रानुमानेऽन्तर्भावान्नासमग्रवचनस्यैतिह्यस्यान्नोपदेशेऽन्तर्भावान्न ।

नसु त्रिविधविकानेनात्र रोगविशेषकानं किमथेमुक्तमुक्तश्च निदानादिभि-र्यजकानं ततो निर्वाहादित्यत आह—त्रिविधेनेत्यादि। कानसमुद्येन न सन्यतमन्यतिरेकेण। सन्व ग्रुक्तमुखाद् सन्वया सन्वरोगं काला कम्मकाले पत्यक्षानुमानाभ्यां सन्वया सन्व रोगं निदानादिभिः परीक्ष्य चर्य-कालमध्यवसानमदोपं थवति। कस्मात् ? न हीत्यादि। किश्चिदेव प्रत्यक्षेण किश्चिदेवानुमानेन कायते न तु कृत्स्तमेकेन कातुं शक्यते। त्रिविधे तु कान-समुद्ये खलु कृत्सनं साध्यलादिवातजलादिवलवदादिक्ष्पण कानं भवति, न तु प्रत्यक्षेणान्येवां। आप्तोपदेशेन पूर्व्व हि रोगनत्त्वं बुद्धा ततः क्रियाकाले

तच मानसं प्रत्यक्षं गृह्णाति । तकों प्रात्यक्षज्ञानम् । युक्तिः सम्बन्धो प्रविनाभाव इत्यर्थः । तेनाविनाभावजं परोक्षज्ञानमनुमानमित्यर्थः ।

· ज्ञानसमुदायेनेति । ज्ञानसमुदायः प्रमाणसङ्घातस्तेन समुदायेन 'अयमेव रोगः' एवम्मूत-निश्चयोऽभ्यवसानम् । त्रिविधे स्वित्यदि । ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं प्रमाणस् । प्रथममासोप- परांचोपपचते। किं ह्यनुपदिष्टं ७ पूर्वं यत्तत् प्रत्यचानुमानाभ्यां परीचमाणो विद्यात्। तस्मादु द्विविधा परीचा ज्ञानवतां प्रत्यचम् अनुमानञ्च। त्रिविधां वा सहोपदेशेनेच्छन्ति बुद्धिमन्तः॥ ३॥ † रोगमेकैकमेवंप्रकोपणमेवंयोनिम् ‡ एवमात्मानमेवमधि-

पुनरातुरगतानां शब्दादीनां प्रत्यक्षेण रसानान्तु अनुमानेन जाठराग्न्यादीनाश्रानुमानेन परीक्षोपपद्यते, तत् कथमाप्तोपदेशाद्यक्रैकेन कृत्स्त्रणानं भवतीति
भावः। ननु कस्मादाप्तोपदेशस्य ज्ञानहेतुत्वं क्रियाकाले हि प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेव
परीक्ष्यते इत्यत आह—क्रिमित्यादि। हि यस्मात् पूर्व्वमाप्तोपदेशेनानुपदिष्टं
भावं ततः परं प्रत्यक्षानुमानाभ्यां कि विद्यादिष तु न विद्यात्। तस्मात् पूर्व्वम्
आप्तोपदेशाज्ज्ञानं ततः प्रत्यक्षानुमानाभ्यां परीक्षोपपद्यते। तस्माद् द्विविधा
परीक्षा क्रियाकाले आतुराणां व्याधेर्जानवतां प्रत्यक्षमनुमानश्च। तयोराप्तोपदेशपूर्व्वकतात् क्रियाकालिकत्ताच पृथगुपादानम्। आप्तोपदेशस्य तु तयोरादितात् क्रियाकालिकत्ताच पृथगुपादानम्। आप्तोपदेशस्य तु तयोरादितात् क्रियाकाले स्मृतरूपताच पृथगुपादानम्। आप्तोपदेशस्य तु तयोरादितात् क्रियाकाले स्मृतरूपताच पृथगुपादानम्। त्रिविधा वेत्यादिना कृतम्।।३

गङ्गाधरः—नन्वाप्तोपदेशात् कीदृणं ज्ञायते इत्यत आह—रोगमेकैकमित्यादि।
एकैकं प्रत्येकं रोगं ज्वरादिकम् एवंपकोपणिमत्येवं निदानम् एवंपोनिं
वाताद्येकद्वित्रग्रादिपकृतिम् एवमात्मानं शीतात्मकं वोष्णात्मकमेवमादि।

देशो ब्याधि वोधयित, ततश्चासोपिदण्डं व्याधि प्रत्यक्षानुमानाभ्यां यथोक्तिलङ्गादिपरीक्षा निश्चिनोति, क्षागमानुपिदण्डे च व्याधी अवैद्य इव न प्रत्यक्षेणानुमानेन च व्याधिमुपल्सत इत्याह—िर्क् सनुपिद्द इत्यादि । एवं मन्यते—व्याधिविशेपास्तावद् दरिधगमनीया नोप्देशमन्तरेण शक्या विज्ञानुम् । येन अधिगतवैद्यकशास्ताः प्रतिपादयन्त्येव व्याधिविशेपान् । तस्मादागमेन ये क्याधीनां हेत्वादिविशेपाः प्रतिपादितास्तान् प्रत्यक्षानुमानाभ्यामुपल्समानो व्याधि निश्चिनोति, अनुपदेशवांस्तानुपल्समानोऽपि हेत्वादिविशेपानशिक्षितवत्कुपरीक्षको यथा रतानां विशेषं पश्यत्रपि नावधारयित विशेपमिति भावः । ज्ञानवतामित्यासोपदेशवताम् । त्रिविधां वेत्यनेन, व्याधिपरीक्षासमये साप्तोपदेशोऽपि व्याप्रियते तथा दरिधगमस्थानसंश्रयादिप्रतिपत्ती कोष्टमुद दारुणत्वादिपरीक्षायाञ्चानुरवचनरूपाप्तोपदेशोऽपि व्याप्रियते इति दर्शयित ॥ ३॥

चक्रपाणिः—तन्नेत्यादिना आसोपदेशमाह । प्रकोपणं वायो एक्षत्वादिहेतुः । योनिर्वातादयः ।

[🖖] अनुपदिष्टे इति वा पाठः । 🧪 🕂 तंत्रेद्मुपदिशन्तीत्यधिकः पाठः चकसम्मतः ।

¹ एवम्स्थानमित्यधिकः पाठो इत्यते कवित् ।

ष्ठानमेवंवेदनमेवंसंस्थानम् एवंशव्दस्पर्शरूपरसगन्धमेवमुपद्रवमेवं वृद्धिस्थानचयान्वितमेवमुदर्कमेवंनामानमेवंयोगं विद्यात्। तिस्मन् इय प्रतीकारार्था प्रवृत्तिरथवा निवृत्तिरित्युपदेशाज्ज्ञायते॥ ४॥

प्रसन्तु खलु रोगतत्त्वं वुभुत्तमानः सद्वै रिन्द्रियैः सद्वीन् इन्द्रियार्थानातुरश्रीरगतान् परीन्तेतान्यत्र रसज्ञानात् । तद्वः यथा—अन्त्रकूजनं सन्धिस्फुटनमङ्गलीपद्वीणां खरिवशेषांश्च ये चान्येऽपि केचिच्छरीरोपगताः शब्दाः स्युस्तान् श्रोत्रेणीव परीन्तेत ।

वर्णसंस्थानप्रमाणच्छायाश्ररीरप्रकृतिविकारौ चजुवैषिय-काणि यानि चान्यानि कानि च, तानि चजुपैव परीजेत। रसन्तु खल्वातुरश्ररीरगतिमन्द्रियवैषियकमप्यनुमानादवगच्छेत्। न ह्यस्य प्रत्यजेण शहणमुपपचते। तस्मादातुरपरिप्रश्नेनैव आतुरमुखरसं विद्यात्। यूकोपसर्पणेन त्यस्य श्ररीरवैरस्यम् एवमिष्ठानं वारीरं वा मानसं वा तत्रापि शरीरावयविकोपािष्ठानमेवं-स्थानं वाह। एवं शब्दादिकमेवसुदक्षेमेवं विधात्रक्षात्रिकफलकम् एवं योगम् एवं विध्यमयोगयोग्यम्। इत्याप्तवचनाज ज्ञानोपदर्जनम् ॥ ४॥

गङ्गाधरः—प्रत्यक्ष निवत्यादि । प्रत्यक्षं परीक्षेतेत्यन्वयः । वणेत्यादि । यद्यपि रूपमेव चक्षुरथेस्तथापि वर्णाश्रितत्वेन तदुपलक्षितत्वात् संस्थानादीनाम् अपि चक्षुरथेत्वं वोध्यम् एवं रसगन्धस्पर्शाश्रयाणामपि वोध्यम् । चक्षुपो वहु- विषयत्वात् प्राक्ष स्पर्णनोपदेशादित उपदेशः । न ह्यस्य प्रत्यक्षग्रहणग्रुपपद्यते- ऽनौचित्यादिति शेषः । ननु कुतोऽनुमीयेत कस्य रस इत्यत आह— आत्मा स्वभावः ; यथा—रोहिण्या दारुणत्वं, सन्त्यासस्य शीष्ठोपक्रमणीयत्वादि । अधिष्ठानं शरीरमवयवा मनश्च । इयं प्रतीकारार्था प्रवृत्तिः । यथा—ज्वरे लङ्कनपाचनाद्यर्था प्रवृत्तिः । निवृत्तिः प्रतीकारार्थाः यथा—नवज्वरे दिवास्वप्नस्नानादी निवृत्तिरित्यादि मन्तव्यम् ॥ ४ ॥

चक्रपाणिः—अङ्गुरुपिर्व्यणाञ्च स्फोटनिमिति सम्बन्धः । अन्येऽपि चेति कासिहक्काशब्दाद्यः । 'यानि चान्यानि' इत्यनेन लक्षणप्रभादीनि गृह्यन्ते । 'यूकापसर्पणेन शरीरवैरस्यमिति, विरसाद्धि

मिन्निवसर्वणेन श्रारमाधुर्यम् लोहितपित्तसन्देहे तु किं धारि-लोहितं लोहितपित्तं वेति, श्रकाकमन्त्रणाद् धारिलोहितम् श्रमन्गाल्लोहितपित्तमित्यनुमातव्यम्। एवमन्यानप्यातुरश्रीर-गतान् रसाननुमिमीत। गन्धांस्तु खलु सर्व्वश्रीरगतानातुरस्य प्रकृतिवैका रेकान् घाणेन परीन्तेत। स्पर्शश्च पाणिना प्रकृति-विकृतियुक्तमिति प्रस्चत्रश्चानुमानैकदेशतश्च परीन्गामक्तम् ॥५

इमे तु खल्वन्येऽप्येवसेव भ्यश्चानुमानज्ञे या भवन्ति भावाः । तद् यथा—ग्रन्तं जरणशत्तया परीक्ते वलं व्यायामशत्त्या श्रोत्रादीनि च शब्दाद्यर्थयहणेन मनोऽर्थाव्यभिचारेण विज्ञानं क्ष व्यवसायेन रजः सङ्गेन मोहमविज्ञानेन क्रोधमभिद्रोहेण शोकं तस्मादित्यादि । यूको वाह्यमलिक्रिमिः । धारिलोहितमिति जीवितरक्तं येन रक्तेन जीव्यते लोकैः । अनुमानैकदेशत इति आतुरशरीरगतरसस्यानु-मानतः ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—प्रत्यक्षतः परीक्षणमुपद्दर्यानुमानेन परीक्षणमुपद्र्जयति—इमे लित्यादि । इमे इत्यत ऊर्ज्यु वक्ष्यमाणाः अन्येऽपीत्यनुक्ता अपि चात्र ज्वरा-द्यः । अग्निं जरणशक्तेत्रति सर्व्य वक्ष्यमाणं विद्यादित्यनेनान्वीयते । कैश्चित् प्रामुक्तं परीक्षेतेत्यनेन । जरणशक्तिभ्रं क्तजीणकरी शक्तः । अर्थाव्यभिचारेणेति अर्व्यभिचरितसमृत्यादिना व्यवसायेन शास्त्रादिषु विकल्पबुद्ध्या । शरीराद् यूका अपसर्पन्ति । एवं यूकाद्यनपसर्पणेन प्राकृतरसयुक्तशरीरमनुमातव्यम् । धारिलोहितमिति जीवनलोहितमित्यर्थः । श्वकाकमक्षणादिन्यं यत्, तत् पित्तादृष्ट्रवेनाविरसात् श्वाद्यो भक्षयन्ति, न तु पित्तदृष्टरक्तमिति भावः । अत्र शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा इत्युपदेशं कृत्वा श्वद्यो मक्षयन्ति, न तु पित्तदृष्टरक्तमिति भावः । अत्र शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा इत्युपदेशं कृत्वा शब्दानन्तरं चक्षुश्रीष्टं रूपं दर्शयन् शब्दादिपरीक्षायाश्च क्रमनियमाभावं सूच्यति ॥ ५॥

चक्रपाणिः—मृयोऽनुमानज्ञेया इत्यनेनानुमानगम्यतया वक्ष्यमाणाः केचिद्गिनवलादय आनुरोप-देशगम्या भवन्तीति सूचयति। मनोऽर्थान्यभिचरणेनेति सतीन्द्रियाणामर्थनिवन्धे यदिदं कदाचिच्छव्दं प्रत्येति, कदाचिद्रसमित्याद्ययोगपद्येन सन्वीर्थान् प्रत्येति। तेन तु इन्द्रियार्थ-संयोगानन्तरमिन्द्रियार्थश्राहकं मन इत्यनुमीयते। ज्ञानं व्यवसायेनेति व्यवसायः प्रवृत्तिः।

[🚜] ज्ञानमिति वा पाठः ।

दैन्येन हर्षसासादेन प्रीतिं तोषेण भयं विषादेन धैर्य्यम् अविषादेन वीर्थ्यमुत्साहेन ः अवस्थानमविश्रमेगा अद्यामिन-प्रायेगा सेधां बहुगोन संज्ञां नासबहुगोन स्वृतिं स्मर्गोन हियम् अपत्रपेश शीलमनुशीलनेन होष' प्रतिपेधेनोपाधि † मनुबन्धेन धृतिम् अलौल्येन वश्यतां विधेयतया वयोभक्तिसात्मग्रद्याधिसमु-त्थानानि कालदेशोपश्यवेदनाविशेषेगा गृहलिङ्गं व्याधिमुप-सङ्गेन प्राप्तार्थे पीत्यसम्पूर्णलतदासक्त्रभयरूपेण। मोहमविधानेनेति वचनेन तमो मोहेनेत्युक्तं भवति मोहस्य तमोजलात्। मेधां ग्रह्णेन मनसा धारणेन। स्मृतिं स्मर्णेन समृतार्थानां प्रकाशनेन। अपत्रपेण लज्जाजनकपर्कीय-व्यापारेण। शीलं तच्छीलता सतताभ्यसनमनुशीलनेन पश्चात् शीलनव्यापा-रेण। प्रतिषेधेन निषेधेन। उपाधिमनुवन्धेनेति उपाधिराधुनिकसङ्कोतः सङ्कोतकर्तुभाः कृतः. अनुवन्धेनोत्तरकालमनुवत्तंनेन। धृतिर्नियमात्मिका वृद्धिः। अलौल्यमं चञ्चलत्वम् । विधेयतया यद्यस्मिनाकात्यते तस्य तत्कर्त्तव्यत्वेन । वय इत्यादि वयः कालेन भक्ति देशेन सातम्यमुपशयेन सुखावह्व्यापारेण व्याधिसमुत्थानं वेदनाविशेषेण इत्येवं यथाक्रमं नान्वयः परन्तु यथायोगं यथा—पेयजले पानाथी प्रवृत्तिः । तेनानुमीयते जलज्ञानमस्य जातम्, कथमन्यथा ज्ञानकारयीथ-क्रियायां प्रवर्त्तत इति । रजः सङ्गेनेति नार्यादिसङ्गेन, तत्कारणरजोऽज्ञमीयते । अभिद्रोहः परपीड़ार्थप्रवृत्तिः। देन्यं रोदनादि। आमोदो गीतवादित्रादुवत्सवकरणम्। तोपो मुखनयन-प्रसादादिः। तेन प्रीतिस्तोपमात्रम्, हर्पस्तु प्रीतिविशोपो मनउद्देककारक इत्युक्तं भवति। धैर्यं विपद्यपि सनसोऽदेन्यम्। वीर्यमारव्धदुष्करकार्येप्वव्यावृत्तिर्मनसः। क्रियारम्भेण। अवस्थानं स्थिरमतित्वम्। अविभ्रमेणेत्यभ्रान्त्या। शायेणेति अभ्यर्थनेन । शहणेनेति अन्थादिधारणेन । स्मृतिमिति स्मृतिजनकं संस्कारम् । स्मरणेनेति ताकारणं संस्कारोऽनुमीयते । हियमिति लजाम् । अपत्रपेणेति लजिताकारेण । शीलमिति सहजं वस्तुषु रागम्। अनुशीलनेनेति अनुशीलनं सततशीलनम् ; तेन सततं यमर्थं सेवते तच्छीलोऽयमित्यनुमीयते । प्रतिपेधेनेति व्यावृत्या । उपेत्य भीयते इति उपिः छम्म इत्यर्थः, अनुबन्धेनेत्युत्तरकालं हि आन्नादिवधेन फलेन ज्ञायते,— यदयसुन्मत्तच्छम्रंत्रचारी चन्द्रगुप्त इति । विधेयतयेति विधेयप्रचारेण । वयःप्रभृतीनि व्याधिसमुत्थानान्तानि चत्वारि यथासंख्यं कालादिविशेषेण ज्ञायन्ते । तत्र कालविशेषेण पोड्शवपीदिना वयो वाल्यादि ज्ञायते ।

^{*} उत्थानेनेति पाठान्तरम् ।

^{· † ·} उपिधिसिति चकः।

श्यानुपश्याभ्यां दोषप्रमाण्विशेषमपचारविशेषण्। चयमरिष्टेरेपस्थितश्रेयस्तः कल्याणाभिनिवेशेन अमलं सत्त्वम् अविकारेगा। यहगयास्तु मृदुत्वं दारुग्तवश्च खप्नदर्शनमभिप्रायं द्विष्टेष्टेष्वसुखसुखानि 🕸 चातुरपरिप्रश्नेनैव विद्यादिति ॥ ६ ॥ च्यस्तसमस्तकालादिभिर्वयःमभृतीन् विद्यादित्यर्थः। अपर्लं सत्त्वं मनसो नैम्मेल्यमविकारेण मनसो विकाराभावेन अद्वैधेनेत्यर्थः। आतुरस्य स्वमदर्शनं आतुरस्यैवाभिपायं आतुरस्यैव द्विष्टेषु चेष्टेषु चाभिमतेषु सुखदुःखानि। अत एव सुश्रुतेनाप्युंक्तं विशिखांनुमवेशनीयेऽध्याये। अधिगततन्त्रेणोपासित-तन्त्रार्थेन दृष्टकमंभेणा कृतयोग्येन शास्त्रार्थं निगदता राष्ट्रानुषातेन नीच-नखरोम्णा श्रुचिना शुक्रवस्त्रपरिहितेन च्छत्रवता दण्डहस्तेन सोपानोतकेन अनुद्धतवेशेन सुमनसा कल्याणाभिन्याहारेणाक्तहकेन वन्धुभूतेन भूतानां मुसहायवता वैदेरन विशिखाऽनुभवेष्टव्या। ततो दूर्तनिमित्तशक्तनमङ्गलानु-लोम्येनातुरगृहमभिगम्योपविष्यातुरमभिपभ्येत स्पृशेत पृच्छेच। त्रिभिरेतै-विकानोपायैः पायशो रोगा वेदितन्या इत्येके। तत्तु न सम्यक्। पद्विधो हि रोगाणां विकानोपायः। तर्यथा-पश्चभिः श्रोत्रादिभिः परनेन चेति। तत्र श्रोत्रेन्द्रियविक्षे या विशेषा रोगेषु त्रणासावविकानीयादिषु वक्ष्यन्ते सफेनं रक्तमीरयन्ननिलः सशब्दो निर्गन्छतीत्येवमादयः। स्पर्शनेन्द्रियविशेयाः शीतोष्ण-श्लाहणकर्कशामृदुकितत्वादयो स्पर्भविशेषा ज्वरशोफादिप्। चक्षुरिन्द्रियविशेयाः शरीरोपचयापचयायुर्छक्षणवलवर्णविकारादयः। रसनेन्द्रियविशेयाः प्रमेहा-देशेन तु भक्तिरिच्छा ज्ञायते, यथा त्वयं मध्यदेशीयस्तेनास्य गौधूममापादिषु इच्छानुमीयते । यस्मारचेदमस्योपशेते, तेनेदमस्य सात्म्यमिति ज्ञायते, वेदनाविशेपेण व्याधिसमुत्थानं ज्ञायते, यथा--यस्मादयं सन्तापवेदनावान्, तस्मादस्य ज्वरच्याधिससुत्यानं भृतमित्यादि ज्ञेयम् । गृदु-किङ्गमिति विशेषेण गृहिलङ्गन्याधी लिङ्गेरेवानवधारिते तु उपशयानुपशयाभ्यां परीक्षा करणीयेति दशंयति । अपचारविशेषेणेति महतापचारेण भूरिदोपा भवन्ति, स्वल्पेन स्वस्प इति । कल्याणाभि-निवेशेनेति श्रेयस्करमागीनुष्टानेन ;-- एतदाचरतो निःश्रेयस एव भवति । सरविमिति सरवगुणी-द्रेकमविकारेण। परिप्रश्नेन वेतिवचनेन, यंद्यपि अहणीमाईवाद्यनुमानादपि पार्व्यते ज्ञातुम्, तथाप्यनुमानस्य बाह्मयासबहुत्वेनातुरपृच्छयेव सुखोपचाररूपतया विद्याद ग्रहणीमाहेवाहीनीति दर्शयति । सृद्धियादि । अभिप्रायो भोजनादीच्छा । द्विप्टेष्टशब्देन तु द्विप्टेप्सितप्रेप्यादिग्रहणम् ॥६॥

हिप्टेष्टसुंखदुःखानीति पाठान्तरम् ।

भवन्ति चात्र।

श्राप्ततश्चोपदेशेन प्रत्यचकरणेन च।
श्रनुमानेन च व्याधीन सम्यग्विद्याद्विच्चणः।
सर्विथा सर्व्वमालोच्य यथासम्भवमर्थवित्।।
श्रथाध्यवस्येत् तत्त्वे च कार्य्ये च तदनन्तरम्।
कार्य्यतत्त्वविशेषज्ञः प्रतिपत्तौ न मुद्यति॥
श्रमूढः फलमाप्नोति यदमोहनिमित्तजम्॥
ज्ञानबुद्धिप्रदीपेन यो नाविश्ति योगवित् ।।
श्रातुरस्यान्तरात्मानं न स रोगांश्चिकत्सति॥७॥

दिषु रसिवशेषाः। व्राणेन्द्रियविशेषा अरिष्टलिङ्गादिषु व्रणानामव्रणानाश्च गन्धविशेषाः। प्रश्नेन च विजानीयादेशं कालं जातिं सात्म्यमातद्वसमृत्-पत्तिं वेदनासमुच्छायं वलं दीप्ताग्नितां वातम्त्रपुरीपरजसां प्रष्टत्त्यपष्टत्ती काल-प्रकर्पादीश्च विशेषान्। आत्मसदृशेषु विशानाभ्युषायेषु तत्स्थानीयौर्जानी-यात्। भवति चात्र। मिथ्यादृष्टा विकारा हि दुराख्यातास्तथैव च। तथा दुष्परिमृष्टाश्च मोहयेषुश्चिकित्सकम्।। इति। अत्र प्रश्नेनेत्युपलक्षणादनुमानमिष शापितं तथा रसनेन्द्रियविशेषाः प्रमेहादिषु रसिवशेषा मिक्षकाषिषी लिकादिभिः इति शेषः। तेन न विरोधः।। ६।।

गङ्गाधरः—अथैवं परीक्ष्य चिकित्सायां फलमाह—भवन्तीत्यादि। आप्तत इत्यादि। यथासम्भवमर्थविदित्यन्त एकउछेदः सार्छश्लोकेन। न मुह्यतीति च्छेदो द्वितीयः। अमूढ़ो मोहाभाववान् अमोहनिमित्तजम् अङ्गानाभावजं सम्यग्-

यथासम्भविमत्यनेन सर्वत्र परीक्षणीये सर्व्वत्रमाणासम्भव इति दर्शयति—अयेत्यादि। अथ प्रत्येकश्चव्दादिविपयप्ररीक्षानन्तरम्। तत्त्वे व्याधितत्त्वे, तथा कार्य्ये व तत्र साध्ये व्याधीः कर्त्तव्यलक्षणे। तदनन्तरम् अध्यवस्येत्, यदुक्तम्—''तत्त्वं भवति यद्य कार्य्ये युक्तम्,'' तत्तावद्यं निश्चयं कुर्य्योदित्यर्थः, अनन्तरिमिति अविद्यमानान्तरयोग्यमित्यर्थः। कार्य्ये-तत्त्वविद्योपाध्यवसायफलमाह—कार्येत्यादि। प्रतिपत्तिः कर्म्मणां यथाईतयाऽनुष्टानम्। अमूद

[•] तत्त्वविदिति वा पाठः।

तत्र श्लोकौ ।

सर्व्वरोगविशेषाणां त्रिविधं ज्ञानसंग्रहम् । यथा चोपदिशन्त्याताः प्रत्यच्चं गृह्यते यथा ॥ ये यथा चानुमानेन ज्ञे यास्तांश्चाप्युदारधीः । भावांस्त्रिरोगविज्ञाने विमाने मुनिरुक्तवान् ॥ = ॥

इत्यिप्तवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते विमानस्थाने त्रिविधरोगविशेषविज्ञानीयं विमानं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

शानादेव जातम् इति तृतीयश्छेदः। अज्ञानजं फलमयशःप्रभृतिकं फल नाप्नो-तीति भावार्थं व्याकरोति ज्ञानेत्यादि इति चतुर्थश्छेदः॥ ७॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थम्रपसंहरति—तत्र श्लोकावित्यादि । त्रिविधमित्या-रभ्य बुद्धिमन्त इत्यन्तेन सर्व्वरोगिवशेषाणां त्रिविधं ज्ञानसग्रहम् । रोग-मेकैकमित्यारभ्य ज्ञायते इत्यन्तेनाप्ता यथोपिदशन्ति तत्पकारम् । ततः प्रत्य-क्षन्तित्यारभ्य परीक्षण्मुक्तमित्यन्तेन यथा प्रत्यक्षं यहाते तत्पकारम् । इमे तित्यारभ्य चिकित्सतीत्यन्तेन ये यथानुमानेन ज्ञे यास्तान् भावान् उदार्धी-म्रीनरात्रेयपुनर्वम्रस्तिरोगिवज्ञाने त्रिविधरोगिवशोपिवज्ञाने विमाने उक्त-वानित्यर्थः ॥ ८॥

गृङ्गाधरः-अध्यायं समापयति-अप्नीत्यादि ।

इति श्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ तृतीयस्कन्धे विमानस्थानजल्पे त्रिविधरोगविशेपविशानीयजल्पाख्या चतुर्थी शाखा ॥ ४ ॥

इति प्रतिपत्तावसृद् इत्यर्थः । ज्ञानं शास्त्रं, तत्कृता बुद्धिज्ञांनबुद्धिः । आविशति बुद्ध्याव-गाहत इत्यर्थः । अन्तरात्मानमिति वैद्यपक्षे अन्तःशारीरम् ॥ ७/८ ॥

इति चरकचतुरानन-श्रीमज्ञकपाणिदत्तविरचितायाम् आयुर्वेददीपिकायां विमानस्थान-च्याख्यायां त्रिविधरोगविशोषविज्ञानीयं विमानं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

पञ्चमोऽध्यायः।

अथातः सोतसां विमानं व्याख्यास्यामः, इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

यावन्त एव पुरुषे सूर्त्तिमन्तो भावविशेषास्तावन्त एव ग्रस्मिन् स्रोतसां प्रकारविशेषाः । सर्व्वभावा हि पुरुषे नान्तरेण स्रोतांस्यभिनिर्वर्त्तन्ते चयं वाप्यधिगच्छन्ति । स्रोतांसि खलु परिगाममापद्यमानानां धातूनामभिवाहीनि भवन्त्ययनार्थेन ।

गृ<u>ङ्गाधरः</u>—अथ शारीरभावाणां मानविज्ञानार्थं स्रोतोविमानमाह—अथात इत्यादि ॥ १॥

गङ्गाधरः —यावन्त इत्यादि मूर्त्तिमन्त इत्यनेन वातादिवहस्रोतसां प्रकारविशेषो नास्तीति ख्यापितं सन्वेपामेव हि स्रोतसां वाताकाशवहलात्। नन्न
कुतो यावन्तो मूर्त्तिमन्तो भावविशेषाः पुरुषे तावन्तः प्रकारविशेषाः स्रोतसामस्मिन् पुरुषे इत्यत आह—सन्वेभावा हीत्यादि। पुरुषे हि यस्मात्
स्रोतांसि अन्तरेण विना सन्वेभावा मूर्त्तिमन्तः सन्वेभावा रसरक्तादयः
स्वेदादयः इलेष्मिषत्तपुरीपमूत्रादयश्च नाभिनिर्वर्त्तने न वा क्षयमधिगच्छन्ति। नन्न कुतो न सन्वेभावाः पुरुषे स्रोतांसि विनाभिनिर्वर्त्तने
न वा क्षयन्तीत्यत आह—स्रोतांसीत्यादि। धातूनामिति रसादीनाम्
अयनाथेन गमनहेतुना। आहारपरिणामरसो हि स्रोतसां छिद्ररूषं पन्थानं
विना गन्तुं न शक्तोति, न च स्रोतिरुछद्रपथेन गमनं विना तदुत्तरोत्तरधातुलेन
परिणमित। उत्तरोत्तरधातवो हि विभिन्नरूपास्तसान्यावन्तो मूर्त्तिमन्तो
भावाः पुरुषे तावन्तः स्रोतसामस्मिन् प्रकारविशेषा इति भावः।

चक्कपाणः—पूर्विस्मिन्नध्याये परीक्षामिभधाय तत्परीक्षणीयं शरीरं इष्टाइष्टलोतोविभागेन वक्तुं स्रोतसां विमानमुच्यते ॥ १ ॥

चक्रपाणिः—मूर्त्तिमन्त इत्यसर्व्वगतद्रव्यपरिमाणवन्तः, असर्व्वगतपरिमाणं हि मूर्त्तिरुच्यते। भावविशेषा इत्युत्पत्तिमन्तो विशेषाः। अत्र हेतुमाह—स्रोतांसीत्यादि। सलुशब्दो हेतो। परिणाममापद्यमानानामिति पूर्व्वपूर्व्वरसादिरूपतापरित्यागेनोत्तरोत्तरं रक्तादिरूपतामापद्यमानानाम्। अयनाश्रन' इतिवचनात्र स्थिराणां धातूनामभिवाहोनि भवान्त स्रोतांसि, किन्तु देशान्तरपापणेन

भा अध्यायः निम्ह मानस्थानम् । १४६६ श्रिप चैके महर्ष प्रोतसामेव समुद्रयं पुरुषिमच्छन्ति सर्विगतत्वात् सर्वि च दोपप्रकोपगप्रशमनानाम् । न त्वेत-देवम् । यस्य च नां स्रो नां स्रो नां स्रो त्विश्रोह

मतभेदं द्वेतमर् अपीत्यादि। एके मुनयः। स्रोतसामेव समुदायं पुरुपिमच्छिन्ति गितांस्कोपणप्रश्नमनानामाहारपिरणामेन रसरूपाणां सर्व्वगततात् सर्व्वशरीर् सोत्प्यातुमल्यातुदृष्टिकराणां दोपाणां सव्वदेह-सर्णात्। आत्ममन्स्पर्भननः स्रोतांसि सन्तीति स्रोतःसम्रदायात्मकः पुरुष इति भावः। मतमाभूतर्मायति—न लेतदेविमत्यादि। एतदिति पुरुष-लक्षणमेवं स्रोतसामेव स्मामतीखिरुप इति न तु । कस्मादित्यत आह—यस्ये-त्यादि। हि यस्मात् यस्त्रीपम्यैनोर्नमतो भावस्य स्रोतांसि यानि यच वहन्ति तद् यथा वह नित तत्पकारिरपस्डयावस्थितानि तच स्थानं तदेवत् सर्व्वं तेभ्यः

भभिवाहीनि भवन्ति । एवं याख्यायते ने वृद्धिः शोणितरूपतया परिणमता रसेन मिलितेन कर्तस्या । स च स्थानान्तरस्थहस्रोतश्च सही समं मेलको न गमनमार्ग स्रोतःसंज्ञकमन्तरा भवति । एवं ताववंभिनिन्धुं हि व्याख्यानं को धातूनां प्रायो रक्तस्योत्तरधातुपोपकभागपरि-णामो भवति । तचाप्युत्तरधाक्त्रान्तरेण स्तोतो भवति । यश्च रक्तो न्यायः, स सर्वत्र शारीरे भावे । न चान्यस्रोतसा चान्यधातुपुष्टिः सम्भवति, सर्व्वपोप्याणां भिन्नदेशत्वात् । न द्यभिन्नेन न्त्रोतसा भिन्नदेशवृक्षयोः सेचनमस्ति । मनस्तु यद्यपि नित्यत्वेन न पोप्यं, तथापि तस्येन्द्रियप्रदेशगमनार्थं स्रोतोऽस्त्येव। तच मनःप्रश्वतीनामतोन्द्रियाणां कृत्स्नमेव शरीरं स्रोतोरूपं यस्यति । दोपाणान्तु सर्व्वशरीरचरत्वेन यथास्थूलस्रोतोऽभिधानेऽपि सर्व्वस्रोतांस्येव र्गमनार्थं वक्ष्यन्ते । सूक्ष्मजिज्ञासायान्तु वातादीनामपि प्रधानभूताः धमन्यः सन्त्येव । यदक्तं सुश्रुते—"तासां वातवाहिन्यो दश सिरा भवन्ति" इत्यादि । न च चरके सुश्रुत इव धमनीसिरा- ' स्रोतसां भेदो विवक्षितः।

सर्वेशरीरावयवगतत्वादिस्यर्थः । सर्वसरत्वादित्युत्तरेण सर्बगतत्वादिति स्रोतसां सम्बध्यते । दोपप्रकोपणमपथ्यं दोषप्रशमनं वा पथ्यं सर्व्वस्मिन् शरीरप्रदेशे दोपरूपं सत् तथा भेपजरूपं सद् गच्छति। तेन सर्वित्र स्रोतो विद्यते। तेन स्रोतोमयः पुरुप इति प्रविषक्षं निषेधयति—न त्विस्यादि । यस्य हि स्रोतांति यद्घटितानीस्यर्थः, यच वहन्तीति श्रतिबहुत्वात् तु खलु केचिदपरि । न्याचन्ते स्रोतांसि परिसंख्येयानीत्यन्ये । तैषान्तु खलु स्रं । यथास्थूलं कितिचित् प्रकारान् सृलतश्च प्रकोपविज्ञानतश्चार् ख्यास्य ग्रास्यामः, ये भविष्यन्यलसनुक्तज्ञानाय ज्ञानवतां विज्ञान्यः ॥ १ ज्ञानवताम् । तद्वय्या—प्राणोदकान्नरसरुधिर-मांसमेतो भाषमज्ञ-शुक्रमूत्रपुरीष-स्वेदवहानि । वातिपक्तश्लेष्मणां वित्रभा सर्व्वशरीरचराणां सर्व्वशिण स्रोतांस्ययनभूतानि । तक्षाच्छिन्द्रियाणां पुनः सक्त्वान्यान् वाहीनि

स्रोतोभ्योऽन्यत् न तु स्रोतांस्येव तस्मात् तानार्थं त्रीतःसमुदाय एव पुरुप इत्यर्थः ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—मतान्तरमाह—अतिवहुल्युन् इत्यनेनः। मतान्तरमाह—परि-संख्येयानीत्यादि। तन्मतह्यमप्रतिपिद्धा क्षे स्रोत्तसांकात् स्न्यादपरिसंख्येयानि स्थूलतः परिसङ्घरेयानि इत्यभिप्रायाः कृषे तावन्व न तु सर्वान्। नतु के प्रकारा व्याख्यास्यन्ते इत्यत आत्रिक्तः मृत्तिमन्तः स्रोत्तसां प्रकारा ज्ञानवतां ज्ञानवतामनुक्तज्ञानाय पुनर्ज्ञानाग्रकेतः मृत्तिमन्तः स्रोत्तसां प्रकारा ज्ञानवतां विज्ञानाय चालं समर्था भवा किल्ले मृत्तिमन्तः स्रोत्तसां प्रकारा ज्ञानवतां विज्ञानाय चालं समर्था भवा किल्ले मृत्तिमन्तः स्रोत्तसां प्रकारा ज्ञानवतां विज्ञानाय चालं समर्था भवा किल्ले मृत्तिमन्तः स्रोत्तसां प्रकारा व्यास्थ्यं तथा मृत्रतथ तत्प्रकाषावज्ञाक्षे क्षेत्रविव्याख्यास्याम इत्यर्थः। तद्गाख्यायते। तद् यथेत्यादि। प्राणोदकादिकानामसर्व्वशरीरचराणां वहानि सन्वस्रोतांसि अयनभूतानि सन्विद्धाणि पथिख्यवात् तथा सर्व्वशरीरचराणां वातिपक्तव्येष्ठाणां वहानि सन्वस्रोतांसि चायनभूतानि सन्बिद्धाणि वर्स्वप्यात्। न विधिष्ठानादिभूतानि। तत्तदतीन्द्रियाणामिन्द्रियागोचराणान्तु सत्त्वा-

यच पुष्यन्तीत्यर्थः, यत्र चावस्थितानीति यत्र मांसादो सम्बद्धानीत्यर्थः, तत् सन्वं धमनीभ्यो-हन्यत् । तस्मान स्रोतोरूप एव पुरुप इत्यर्थः ॥ २ ॥

चक्रपाणिः—प्रकोपविज्ञानतञ्चेति यथा स्रोतसां प्रकोपो विज्ञायते तथा व्याख्यास्याम इति योजना । अनुक्तार्थज्ञानायेत्यनुक्तस्रोतोज्ञानाय । ज्ञानवतामित्यनुक्तार्थज्ञानसमर्थानाम् । ज्ञान-वन्तो हानुक्तमपि स्रोतोऽनुमीमते । विज्ञानाय चाज्ञानवतामिति यथोक्तमानज्ञानाय च मन्दबुद्धी- दीनां केवलं चेतनावच्छरीरमयनभूतमधिष्ठानभूतश्च । तदेतत् स्रोतसां प्रकृतिभूतत्वात् न विकारेरुपख्टच्यते श्रीरम् ॥ ३ ॥

तत्र प्राण्वहानां स्रोतसां हृदयं यूलं महास्रोतश्च । प्रदृष्टा-नान्तु खल्वेपामिदं विशेषविज्ञानं भवति ; तद् यथा—श्रति-स्टष्टं प्रतिवद्धं प्रकुपितमल्पाल्पमभीद्यां वा सशब्दशूलमुच्छ्वसन्तं हृष्टु प्राण्वहानि स्रोतांस्यस्य प्रदृष्टानीति विद्यात् ।

उद्कवहानाञ्च स्रोतसां तालु मूलं क्लोम च। प्रदुष्टानाञ्च दीनां मन आत्मश्रोत्रस्पर्धननयनरसम्प्राणगुद्धग्रहद्धारादीनां केवळं चेतनावत् सनीवं शरीरस्रोतः अयनभूतमधिष्ठानभूतञ्च। तदेतत् स्रोतसां तेपां प्राणादि-वहानाम् एपां सत्त्वादीनामतीन्द्रियाणामभिवाहिस्रोतसां प्रकृतिभूतताद्विकारा-भावादिदं शरीरं विकारैवें पम्यैनौष्म् ज्यते। एतेन प्राणादिसत्त्वादिवहस्रोतसां विकृतिभूतते शरीरं विकारैक्षमुज्यत इति ख्यापितम्। इति प्रकारव्याख्या-नम्॥३॥

गङ्गाधरः—मूलतो व्याख्यायते—तत्रेत्यादि। तत्र माणादिवहेषु स्रोतः स्र मध्ये हृद्यं वद्गः, महास्रोतश्च महासरणं महाच्छिद्रमित्यर्थः। माणवहानां स्रोतसां प्रकोपविद्यानस्तु व्याख्यानं करोति। मदुष्टानान्तित्यादि। एपां प्राणादिवहानाम्। तद् यथेत्यादि। अतिस्रष्टमित्यादि। सर्व्यमुच्छ्वासित्रया-विशेषणम्। यः प्रमानति आयत्या दीर्घमुच्छ्वसिति नि पतिवद्धमुच्छ्वि । सर्व्यमुच्छ्वि । सर्विद्धमुच्छ्वि । सर्विद्धानि । स्रित्वेवहानां मूलं वृक्षो कटी च" इत्युच्य स्रोतां सि मूलतश्च मकोपविद्यान् । स्राविद्यादि। स्राविद्यादि। सर्विद्धानितः। अस्थ्यिष द्वक्ष्पमस्येव स्रोतो-मूलं तालु क्लोम च।क्लोम कण्ठोरस्युक्तम्। यद्यपि विविधाशितपीतीये दूसादीनां दृष्टिलक्षणण्याम् इत्यर्थः। तहिद्दावादि। चेतन या रसादिवहधमनीनामिष दृष्टेः ह तम्ब्रुवि नोक्तं— स्रोतो-निपेधयति, दोपास्तु तन्नापि यान्तीति। ये तु ब्रुवते—रसादिद्धिर्गि विहाणां क्षित्रसां विद्धाः स्पावि । विद्विद्यादि । स्रोतो-ति । स्रोतो विद्यादि । स्रोता विद्यादि । स्रोतो विद्यादि । स्रोता विद्यादि । स्रोतो विद्यादि । स्रोता विद्याद

- चक्रपाणिः—प्राणवहानामिति प्राण्यस्वस्यं भवतीति कृत्वा धा ने छताप्रपञ्चः । प्राणोदकः विशिष्टक्रोतः । सामान्येन तु वायोः सनीदृष्टिलक्षणम् "श्रतिप्रर । खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति ; तद् यथा—जिह्वाताल्वोष्ठ-कराठक्कोमशोषं पिपासाञ्चातिप्रवृद्धां दृष्ट्या भिपगुद्कवहान्यस्य स्रोतांति प्रदुष्टानीति विद्यात् ।

अन्नवहानां स्रोतसामामाश्यो मूलं वामश्च पार्श्वम्। प्रदुष्टा-. नान्तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति ; तद् यथा— अनन्नाभिलषणमरोचकाविषाको च्छिद्धि दृष्ट्वान्नवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्।

रसवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं दश् धमन्यश्च।शोणितवहानां स्रोतसां यक्रन्मूलं भ्रीहा च। मांसवहानां स्रोतसां स्नायुर्मूलं त्वक् च। मेदोवहानां स्रोतसां बुक्कौ मूलं वणवहनश्च। श्रस्थिवहानां स्रोतसां मेदो मूलं जघनश्च।मजवहानां स्रोतसामस्थीनि मूलं सन्धयश्च। शुक्रवहाणां स्रोतसां वृपणो मूलं शेफश्च। प्रदुष्टानान्तु खल्वेषां रसादिवहस्रोतसां विज्ञानान्युक्तानि विविधा-शीतपीतीये। यान्येव हि धातूनां प्रदोषविज्ञानानि, तान्येव हि

्यथास्यं दुष्टानां धातुस्रोतसाम् ।

सब्बंसः भूतानि

वातिपत्तरेत । तिहोहानि सर्विस्त्रम् । क्रमलादन्तवहानां व्याख्यानमाह—अन-लात् । न लिष्धानादिभूतानि । तत्तदत्तपादविश्च मूलमित्यर्थः । प्रकोपविद्यान-द्यानि व्याख्यायन्ते । रसवहानाम्

पच पुष्यन्तीत्यर्थः, यत्र चावस्थितानीति यत्र मांसादो ंवहनं वसावहनं मूलम्। मेदो हन्यत्। तस्मान कोतोरूप एव पुरुप इत्यर्थः॥ २॥ चक्रपणिः—प्रकोपविज्ञानतरुचेति यथा कोतसां प्रकोपो नां मूलम्। वृपणावण्डकोपो पोजना। अनुक्तार्थज्ञानायेत्यनुक्तकोतोज्ञानाय। ज्ञानवत् मायेण पुंसः शुक्रप्रधानतात्। वन्तो ह्यनुक्तमपि कोतोऽनुमीमते। विज्ञानाय चाज्ञानवतािम हित्यादि। धातूनां प्रदोप-

मूत्रवहाणां स्रोतसां वस्तिर्मूलं वङ्चराौ च। प्रदुष्टानान्तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति ; तद् यथा—अतिस्टष्टं प्रतिवद्धं वा कुपितमल्पाल्यमभीच्णं वा वहलं सशूलं मूत्रयन्तं हष्ट्रा मूत्रवहाण्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात्।

पुरीषवहाणां स्रोतसां पकाशयो मूलं स्थूलगुदश्च।प्रदुष्टानान्तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति ; तद् यथा—क्रच्छ्रेणाल्पाल्पं सशब्दश्लमतिद्रवमतिप्रथितमतिवहु जोपविशन्तं दृष्ट्या पुरीष-वहाण्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति स्विवात्।

स्वेदवहानां स्रोतसां मेद्रो मूंलं लोमकूपाश्च । प्रदृष्टानान्तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति ; तद् यथा—अस्वेदमित-स्वेदनं वा पारुज्यमितिश्च च्यातामङ्गस्य परिदाहं लोमहर्षश्च दृष्ट्या स्वेदवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदृष्टानीति विद्यात् ॥ ४ ॥

विकानानि विविधाशितपीतीयोक्तानि । क्रमिकलान्म् त्रवहाणि व्याख्यायन्ते— मूत्रेत्यादि । वस्तिवङ्कणौ च मूलं प्रकोपविकानमितस्ष्टिमित्यादि । संवव मृत्रणिक्रयाविशेषणम् । पुरीपेत्यादि स्पष्टम् । पकाशयो नाभेरधः स्थूलगुदं त्रिविल्हिपम् । प्रकोपविकाने अल्पालपित्यादि उपवेशिक्रयाविशेषणम् ।

"अतिस्प्टं वा अतिबद्धं वा" इति विकल्पेन बोद्धन्यम्, अतिस्प्टातिबद्धयोरेकत्रासम्भवात् । अल्पाल्पं वा तथाभीक्ष्णं वेति विकल्पः । क्षोम हृदयस्थिपपासास्थानम् । वपावहनं, वपा उदरस्था स्निरधवित्तंका यामाहुर्जनाः "तैलविर्त्तिका" इति । सुश्चते तु "मेदोवहानां मूलं बुक्षो कटी च" इत्युक्तम् । तद्व्यातीन्द्रियार्थदिशिगम्ये नास्मद्धिधानां बुद्धयः प्रभवन्ति । अस्थिपि द्रवरूपमस्येव स्रोतो-वाह्मम् इति कृत्वा 'अस्थिवहानाम्' इत्युक्तम् । यद्यपि विविधाशितपीतीये स्सादीनां इष्टिलक्षणण्य स्सादिस्रोतसाम्, तथापि स्सादिद्धा स्सादिवहधमनीनामिष इप्टेः र त्रिप्रवृत्विनोक्तं— "स्रोतो-स्रोतसां विज्ञानान्युक्तानि" इति । ये तु ब्रुवते—स्सादिद्धार्थः विहाणां इध्यस्तं वित्तः तेषां मते, पृथग्धमनीदृष्ट्या धातुद्धिं वस्यति "तेषां प्रकोपात तद्गुपपत्रम्, धमनीदृष्ट्या तु तद्वाबद्धिरचव्यं भवतीति कृत्वा धा ने लताप्रपञ्चः । प्राणोदकः कृता, भातुदृष्टमनितिरक्तन्तु धमनीदृष्टिलक्षणम् "अतिप्रसं।

स्रोतांसि तिरा धमन्यो रसायन्यो रसवाहिन्यो नाड्यः पन्थानो सार्गाः श्ररीरच्छिद्राणि संवृतासंवृतानि स्थानान्याश्याः चया निकेताश्चेति श्रारीरधात्ववकाशानां लच्यालच्याणां नामानि भवन्ति । तैषां प्रकोपात् स्थानस्थाश्चैव मार्गगाश्च श्ररीरधातवः प्रकोपमापचन्ते इतरेषाञ्च प्रकोपादितराणि च। स्रोतांसि च स्रोतांस्येव धातवश्च सर्व्वधातूनेव प्रदूषयन्ति च प्रदुष्टाः। तैषां उपविशन्तं विङ्विस्जनतम् । द्वेदेत्यादि । मेदो लोमक्षाश्च स्वेदवहानां मृलम् ।

प्रकोपलक्षणं स्पष्टम् । अस्वेद् िगादि ॥ ४॥ गुष्टाधरः वातादीनां स्रोतोमूलः न न सन्ति सर्व्वशरीरचरतात् उक्तानि वायोः पकाशयः पित्तस्यामाशयः कफस्य हृदयं स्थानं तदेव तद्दह-स्रोतसां मूळं पदोपलक्षणानि च तेपां प्रकोपलक्षणानीत्यतस्तानि नोत्तवा स्रोतसां पर्यायानाह—स्रोतांसीत्यादि। रसादिकलात् सर्व्वेपां रसायनीति रसावाहिनीति च संबा संद्यतासंद्यतेत्येकं नाम। शरीरधालवकाशानां शरीरधातूनां प्राणादीनां चलनार्थमवकाशा आकाशाशिखद्राणि च तेपां तथा। लक्ष्यालक्ष्याणामिति केचिद्धात्ववकाशा लक्ष्यन्ते केचिन्न लक्तयन्ते इति लक्ष्या-लक्ष्यास्तेषां तथा। नन्वेषां स्रोतसां प्रकोषात् किं स्यादित्यत आह—तेषा-मित्यादि । स्थानस्थाः स्वमानस्था मार्गगाः स्वस्रोतोगा अपि शरीरधातवः प्राणाद्यो रसादयश्च। इतरेपां प्राणाद्यन्यतमस्य स्रोतसां प्रकोपात् तदितरेपां स्रोतांसि प्रकुप्यन्ति । स्रोतांसि प्रकुपितानि स्रोतांस्येवान्यवहानि प्रदूपयन्ति, न तु तद्वाह्यान् धातून्। धातवश्च प्रकुपिताः सर्व्वधात्नेव दृपयन्ति न लन्यधातुवहानि

कुष्टपृद्वंरूपेऽप्यस्ति । .अस्वेदनादिकं स्वेदवहदुष्टिलक्षणं द्रश्नं भवति, तत्र कुष्टपूर्वरूपता निश्चेतन्या, एतावन्मात्रलक्षणोद्ये तु स्वेदवहधमनीनाम् । म्लज्ञानं यद्यपि साक्षात्प्रयोजनं नोक्तं, तथापि मूलोपवाताद् वृक्षाणामिव धमनीनां महानुप-यच पवतीति ज्ञेया एव सुश्रुते स्रोतोमूलविद्धलक्षणान्युक्तानि ॥ ४॥ ६न्यत् । पा प्यायानाह—स्रोतांसीत्यादि । संवृतासंवृतानीत्येका संज्ञा, तत्राग्रे

च्छ्रपाण - अन्तर्पापन् प्रधानानि' पर्य्यायान् केचिद्धमनीमू छस्य पर्यायानाचक्षते । अन्ये तु योजना । अनुक्तार्थज्ञानायेरं जन्योऽपि हि रसादिस्थानं भवन्त्येवेति कृत्वा । स्थानस्था इति वन्तो ह्यनुक्तमपि स्रोतोऽनुमीमते प्रमनीभिर्गच्छन्तः, इतरेपाञ्चेत्यादिना विवृणोति । स्रोतांसि

सर्व्वेषामेव वातिपत्तर्लेष्माणो दूषियतारो भवन्ति दोष-स्वभावादिति ॥ ५॥

भवन्ति चात्र।

चयात् सन्धारणाद् रौच्याद् व्यायामात् चुधितस्य च। प्राणवाहीनि दुन्यन्ति स्रोतांस्यन्येश्च दारुगोः॥ **अौष्णयादामान्त्रयात् पानादतिशुष्कान्नसेवनात् ।** अम्बुवाहीनि दुष्यन्ति तृष्णायाश्चातिपीड्नात् ॥ श्रतिमात्रस्य चाकाले चाहितस्य च भोजनात्। अस्रवाहीनि दुष्यन्ति वैग्रुगयात् पावकस्य च॥ गुरुशीतमतिक्षिग्धमतिमात्रं समक्षताम् । रसवाहीनि दुष्यन्ति चिन्सानाञ्चातिचिन्तनात्॥ विदाहीन्यन्नपानानि स्निग्धोष्णानि द्रवाणि च। रक्तवाहीनि दुष्यन्ति भजताञ्चातपानलौ ॥

स्रोतांसि । (नतु कस्कस्तेषां दूपयिता)। तेपामित्यादि। प्रदुष्टवातिपत्तक्षेष्माणः तु तेपां स्रोतसां धातूनाश्च सन्वेपामेव दूपियतारो भवन्ति, न तु सोतांसि धातूनां न वा धातवः स्रोतसामिति। कस्मादित्यत आह—दोषस्वभावात इतीति ॥ ५॥ **ारानु**त्तवा

गुङ्गाधरः-अथैषां दूषणे प्रकोपनिदानान्याह-भवन्तीत्यादि 'म द्रारुणैर्वातवद्धनैरित्यर्थः। औष्ण्यादित्यादि। अम्बुवहस्रोतःव व विषरीतगुणो धातु-आममपक अक्तम्। अतिमात्रस्य भोजनात् अकाले च मात्राकिकाः॥ ६॥

त्तप्रद्वात्तारह स्राताः भातवश्च दृष्टाः प्रत्यासम्नानि स्रोतांसि धार् हिन्द्वापसंक्रान्त्या हिन्हाणां स्रोतसां वस्तिः स्वभावादिति द्रोपाणामेवायं स्वभावो यद् दृह्यो हिन्द्वात्तराणाम् । धीतुगतदोषकृतेव सेया ॥ ५॥ किल्ताप्रपञ्चः । प्राणोदकः चक्रपाणिः—यथाकमस्रोतसां इष्टिकारण हुन्हिः त्यादित्यादि । गे लताप्रपञ्चः। प्राणोदकः

अभिष्यन्दीनि भोज्यानि स्थूलानि च गुरूणि च। मांसवाहीनि दुष्यन्ति भुत्तवा च स्वपतां दिवा ॥ श्रव्यायामादिवाखप्नान्मेध्यानाश्चातिसेवनात् । मेदोवाहीनि दुष्यन्ति वारुगयाश्चातिसेवनात् ॥ व्यायासाद्तिसंचोभादस्थनामतिविघद्दनात् । अस्थिवाहीनि दुष्यन्ति वातलानाश्च सेवनात् ॥ उत्पेषादत्यभिष्यन्दाद्भिघातात् प्रवीड़नात्। मज्जवाहीनि दुष्यन्ति विरुद्धानाश्च सेवनात्॥ श्रकालयोनिगमनान्नियहादतिमेथुनात् । शुक्रवाहीगि दुष्यन्ति शस्त्रचाराग्निभिस्तथा ॥ स्त्रितोदकभद्यस्त्री-सेवनान्स्त्रनियहात्। सूत्रवाहीिंग दुष्यन्ति चीगास्यातिकृशस्य 🕸 च ॥ विधारणादत्यश्नादजीर्णाध्यश्नात् तथा । वर्चोवाहीनि दुष्यन्ति दुर्ज्जलाग्नेः क्रशस्य च॥ व्यायामाद्तिसंचोभाच्छीतोष्णाक्रमसेवनात्। स्वेदवाहीनि दुष्यन्ति क्रोधशोकभयेस्तथा ॥

त्रोतिसि प्रकुष्याः पुरुपीयोक्तस्य। मांसवहस्रोतः प्रकोपनिदानं स्थूलानि संहतानि तृ तहाह्यान् धात्न् नि। मेदोवहस्रोतः प्रकोपनिदानं मेध्यानां स्तिग्धसात्। अकालयोनिवलागमनात्। निग्रहादिति शुक्रवेगनिग्रहात्। मृत्रितस्य अस्वेदनादिकं स्वेदवहद्धाः स्थ्यस्त्रीणां सेवनात्। विधारणादिति वच्चोवेगविधारणात्। दर्जनं भवति, तत्र कृष्टपूर्व्वरूपः तस्य तथा। श्रीतोष्णाक्रमसेवनादिति अक्रमेण शीतोष्णमूलज्ञानं यद्यपि साक्षात्। तस्य तथा। श्रीतोष्णाक्रमसेवनादिति अक्रमेण शीतोष्णप्रकार्यात् स्थाताद्र प्रवजतामिति प्रवोक्तेन सम्यन्धः। मेध्यानां मेदराणाम्। अकालयोनिः प्रवत्ति। ज्यारनात् तथारज्ञित्वयोनी गमनात्। निग्रहादिति शुक्रवेगनिग्रहात्।

पोजना। अनुक्तार्थज्ञानायेतः

योजना । अनुक्तार्थज्ञानायस्य प्रकार पाठः। वन्तो ह्यनुक्तमपि स्रोतोऽनुमीमते वमनी। श्राहारश्च विहारश्च यः स्याद् दोवग्रणैः समः।
चातुमि-७-विग्रणश्चापि स्रोतसां स प्रदूषकः॥ ६॥
श्रातप्रवृत्तिः सङ्गा वा सिराणां प्रन्थयोऽपि वा।
विमार्गगमनश्चापि स्रोतसां दुष्टिलच्चणम्॥ ७॥
स्वधातुसमवणीनि वृत्तस्थूलान्यणूनि च।
स्रोतांसि दीर्घाणयाञ्चल्या प्रतानसदृशानि च॥
प्राणोदकाञ्चवाहानां दुष्टानां श्वासिक्री क्रिया।
कार्य्या तृष्णोपश्मनी तथैवामप्रदोषिकी॥

सेवनात्। दोपगुणैर्वातादीनां रुक्षादिभिग्नुणैः। ऋतुभिर्विग्रणश्चाहारो विहारश्च यस्मिन्नृतौ यद्विहितं तद्विपरीत आहारश्च विहारश्च ऋतुभिर्विग्रणः स्यात्। स्रोतसामिति दोपवहाणां स आहारो विहारश्च॥ ६॥

गङ्गाधरः -दोपस्रोतोदुष्टिलक्षणमाह - अतीत्यादि । सिराणामितप्रविर्वा सिराणां सङ्गो वा सिराणां ग्रन्थयोऽपि वा सिराणां विमार्गगमनञ्चापि । स्रोतसां वातादिदोपवहस्रोतसाम् ॥ ७॥

गङ्गाधरः—अथ स्रोतसामाकारमाह—स्वयासित्यादि। यानि स्रोतांसि यं धातु वहन्ति स धातुस्तेषां स्रोतसां स्वधातुस्तस्य धातोयोवणस्तत्समवर्णानि तद्धातुवहानि तानि स्रोतांसि। द्यत्तानि च तानि स्थूलानि चेति द्यत्तस्थूलानि। अणूनि च द्यत्तस्थाणि च। दीर्घाणि लम्बानि। लतानां प्रतानं अग्रलता तत् सद्दशानि। स्रोतसां प्राणादिवहानां प्रकारमूलप्रकोपप्रकोपणाकारानुत्वा

आहारइचेत्यादिना सामान्येन सर्व्यस्तोतोदृष्टिमाह । दोपगुणैः सम इत्यमेन दोपातिवर्द्धकं दर्शयति । क्षीणाश्च दोपा नान्यदृष्टिं कुर्व्वन्ति, किन्तु स्वयमेव क्षीणिलङ्गा भवन्ति रित्यादि वेदिवन्यमेव । धातुभिर्विगुण इति धातुविगुणस्वभाव इत्यर्थः न तु विपरीतगुणो धातु-भिवेगुणः । दिवास्वप्नमेध्यादयो हि मेदसा सामान्यगुणा एव मेदोदूपका एवोक्ताः ॥ ६ ॥

चक्रपाणिः—अतिप्रवृत्तिरित्यादिना सामान्यस्रोतोदृष्टिलक्षणमाह । अतिप्रवृत्तिरिह स्रोतो-बाह्यस्य रसादेबोद्धन्य । एवं सङ्गोऽपि रसादेविंमार्गगमनञ्ज, यथा—मूत्रवहाणां स्रोतसां वस्तिः भूलमित्यादो ॥ ७॥

. चक्रपाणिः—स्वधातुसमवर्णानीति वाद्यधातुतुल्यवर्णानि । प्रतानो लताप्रपञ्चः । प्राणोद्कः

^{*} भातुभिरिति चक्रसम्मतः पाठः ।

विविधाशितपीतीये रसादीनां यदौषधम् । रसादिखोतसां कुर्यात् तद् यथास्त्रमुपक्रमम् ॥ सूत्रविट्स्वेदवाहानां चिकित्सा मौत्रकृच्छ्रिकी । तथातिसारिकी कार्या तथा ज्वरचिकित्सिकी ॥ = ॥

तत्र श्लोकाः।

त्रयोदशानां मूलानि स्नोतसां दुष्टिलच्चणम्। सामान्यं नामपर्यायाः कोपनानि परस्परम्॥ दोषहेतुः पृथक्तवेन भेषजोद्देश एव च। स्नोतोविमाने निर्दिष्टं तथा चादौ विनिश्चयः॥

तेषां दुष्टिमतिक्रियासूत्राण्याह—माणोदकेत्यादि। श्वासिकी श्वासराने, विहिता या क्रिया सा कार्या। तथा तृष्णारोगोपश्चमनी या क्रिया विहिता तत्राध्याये सा कार्या। आममदोपिकी विस्विचकालसकयोविहिता या च क्रिया सा च कार्ये ति माणोदकान्त्रवहस्रोतोदुष्टिमतिक्रिया वोध्या। विविधा-शितपीतीयेऽध्याये यद्रसादीनामौपध्युक्तं रसादिवहस्रोतसामपि तदौषधं तश्च यथास्ययुपक्रमं कुर्यात्। आदिपदेनात्र रक्तमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणां ग्रहणम्। मौत्रकृच्छिकी मृत्रकृच्छ्वाध्यायोक्ता क्रिया या, या चातिसारिकी अतीसाररोगे विहिता, तथा या क्रिया ज्वरचिकित्सिकी ज्वररोगे विहिता सा सा क्रिया मृत्रविद्वदवहानां दुष्टौ कार्येत्यर्थः। वातादिवहस्रोतोदुष्टि-प्रतिक्रिया तु निखलेन तन्त्रेण वाच्या।। ८।।

गङ्गाधरः—अध्यायार्थम् पसंहरति—तत्रेत्यादि। त्रयोदशानां प्राणो-

इत्यादिना चिकित्सामाह — प्राणवहानां श्वासिकी, उदकवहानां तृष्णोपशमनी, अञ्चवहानामाम-प्रदोपिकी इति बोहन्यम् । मूत्रादिवहानामपि त्रयाणां मूत्रकृच्छादयो यथासंख्यं तिस्तश्चिकित्सा श्चेयाः ॥ ८ ॥

चक्रपाणिः—संग्रहे दृष्टिळक्षणं सामान्यं वाताद्यविशेषितं दृष्टिळक्षणित्यर्थः। स्रोतोदृष्टि-ळक्षणानीह वातादिदोपभेदेन नोक्तानीत्यर्थः। वातादिविशेषेण चेह विस्तरभयाद् दृष्टिनीक्ताः , तेन्र वातादिविशेषिकङ्गाधिनयात् दृष्टिनिर्णेतन्याः। आदौ विनिश्चय इत्यध्यायादौ पुरुषस्य भग ३ केवलं विदितं यस्य शरीरं सर्व्वभावतः। शारीराः सर्व्वरोगाश्च स कर्म्मसु न मुद्यति॥ ६॥ इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते विमानस्थाने स्रोतसां विमानं नाम पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

दकान्नादिवहानां भकाराविष्ठिनानाम्। स्रोतः प्रभृतिशारीरकानफलमाह— केवलिपत्यादि। केवलं कृत्सनं शरीरं शरीरतत्त्वं शारीराः शरीरावयवाः सर्व्यरोगाश्च। एतत् केवलं कृत्सनं यस्य विदितं, छन्द्रसि वहुलसात् पष्टी, स कम्मेसु चिकित्साक्रियासु न सुस्ति॥ ९॥

अध्यायं समापयति—अमीत्यादि ।

ं इंति श्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ तृतीय-स्कन्धे विमानस्थानजल्पे स्रोतसांविमाननाम-पञ्चमाध्यायजल्पाख्या पञ्चमी शाखा॥ ५॥

मयत्वादिवादनिश्चय इत्यर्थः। केवलमित्यादिना अत्रोक्तधमन्यादिभेदेन दारीरज्ञानस्योपा-देयतामाह ॥ ९ ॥

इति चरकचतुराननःश्रीमचकपाणिदत्तविरचितायाम् आयुर्वेददीपिकायां विमानस्थान-ब्याख्यायां स्रोतोविमानं नाम पद्ममोऽध्यायः ॥ ५॥

षष्ठोऽध्यायः ।

अथातो रोगानीकं विसानं व्याख्यास्यामः, इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

हे रोगानीके अवतः प्रभावभेदेन साध्यमलाध्यश्च, हो रोगानीके वलभेदेन मृदु दारुगाञ्च । हो रोगानीके अधिष्ठान-भेदेन मनोऽधिष्ठानं शरीराधिष्ठानश्च, हो रोगानीके निमित्त-भेदेन धातुवैषस्यनिमित्तश्चागन्तुजश्च, हो रोगानीके आशय-भेदेन आमाश्यसमुख्य पकाश्यसमुख्यन्च ॥ २॥

एवमेतत् प्रभाववलाधिष्ठाननिमित्ताशयभेदात् है धं सद् भेद-प्रकृत्यन्तरेण भिद्यमानं वा सन्धीयमानं स्यादेकत्वं वहुत्वं वा।

गुप्ताधरः—अथ रोगमानविज्ञानार्थं स्रोतोविमानानन्तरं रोगानीकं विमानम् आर्भते—अथात इत्यादि । रोगाणामनीकं समूहस्तमधिकृत्य कृतं विमानम् इति रोगानीकं तत् तथा ॥ १॥

गृङ्गाधरः—हे रोगानीके हिविधं रोगानीकमित्यर्थः। प्रभावः प्रभवनं भवनमुत्पत्तियंद्रूपं यस्य तत्र येन भवनेन यत् द्रव्यं स्वकम्मणि प्रभुभेवति तत् प्रभवनं प्रभावः। प्रभावं विद्यणोति। साध्यमसाध्यञ्चेति। साध्यत्रमसाध्यञ्चेति। साध्यत्रमसाध्यञ्चेति। साध्यत्रमसाध्यत्रञ्चेति ह स्वप्रभावजे। मृदुत्वं दारुणत्वं हे वले। अकष्टकारित्वं मृदुत्वम् आशुकारित्वादि-रूपत्वं दारुणत्वम् ॥ २॥

गुजाधरः नन्वेवमेव भेदो रोगानीकस्य न खिषकोऽस्तीत्यत आह—एव-मित्यादि। द्वैधं द्विविधं सत् भेदमकुत्यन्तरेण एभ्यः प्रभावादिभ्योऽप्यधि-

चक्रपाणिः—पूर्वाध्याये स्रोतोरूपाधिष्ठानभेदेन रोगानभिषाय प्रभावादिभेदेन रोगानभिषातुं रोगानीकं विमानमुस्यते । रोगानीकमिति रोगससूहः । बळभेदेनेत्यत्र मृहत्पबळम्, दारुणन्तु महाबळं होयम् । दारुणं किञ्चित्काळानुपातादेव बळवरवान्मारयति । यदक्तम्—"सन्ति ए। वंविधा रोगाः साध्या दारुणसम्मताः । ये हन्युरनुपकान्ता मिथ्याचारेण वा पुनः ॥" इति । आमाशयसमुत्थस्वेन आमाशयाश्रयिकफपित्तजाः सर्व्वे गदा गृह्यन्ते । पक्ताश्यसमुत्थमहणेन सर्व्वे वातजाः । एवं सर्व्वविकारावरोधः । द्वे संदिति है विध्यं सत् । भेदप्रकृत्यन्तरेणित

एकत्वं तावदेकमेव रोगानीकं स्क्सामान्याद क वहुत्वन्तु दश् रोगानीकानि प्रभावभेदादिना भवन्ति । वहुत्वमि संख्येयं स्यादसंख्येयं वा स्यात् । तत्र संख्येयं तावद् यथोक्तमष्टोदरीये । अपिरसंख्येयं पुनर्यथा महारोगाध्याये—स्वर्णसमुत्थानादीनाम् अपिरसंख्येयत्वात् । न च संख्येयाय्रे प्रपु भेदप्रकृत्यन्तरीयेषु विगीतिरित्यतो दोपवती स्यादत्र प्रतिज्ञा काचित्, न चाविगीतिः

काभिरपराभिभेदस्य प्रकृतिभिभेदक्यम्मेभिद्यमानमपि सन्धीयमानं संक्षिप्य-माणमेकलं स्याद्रोगानीकस्य अथवा व्यस्यमानं वहुलं स्यात्। तत्र केन भेद्पकृत्यन्तरेण भिद्यमानमपि सन्धीयमानमेकलं स्याद्थवा व्यस्यमानं वहुलं स्यादित्यत आह-एकत्विमत्यादि । रुक्सामान्यात् रोगत्वसामान्यात् । प्रभाव-भेदादिनेति साध्यासाध्य-मृदुदारुण-मानसञ्चारीर-धातुवैपम्यजागन्तुजामाञ्चय-समुत्थपकाशयसमुत्थानीत्यर्थः। ननु वहुत्वं किं त्रिलादिकमपरिसङ्क्ष्येयं वेत्यत आह—वहुत्वमपीत्यादि । द्विविधं वहुत्वं सङ्क्षरे यमसङ्करे यश्च । अष्टोदरीये अष्टाबुदराणीत्यादिरूपेण संख्येयं वहुत्तमुक्तम्। महारोगाध्याये इति वात-विकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्क्रततमत्वेनाशीतिर्वातविकारा भवन्तीति वातविकारस्यैवमेव पित्तकफविकारयोश्रलारिंशत्त्वविंशतित्वे उत्तवा अप्यपरिसंख्येयं वहुत्तमुक्तं रुज्वणीदीनां भेदपकुत्यन्तराणामपरिसंख्येयतात । न चेत्यादि। नतु संख्येयानां भेदकधर्मभेदैः परिसंख्यातुं विषयाणां रोगानीक-स्यैकलादीनां संख्यानां मध्येऽग्रे त्रपु श्रेष्ठेषु भेदकधम्मीन्तरेणाग्नेयत्वसौम्यतः वायव्यवराजसवतामसववातिकवादिना कृतेषु रोगानीकस्यैकवादिप संख्या-नेपु विगीतिविरुद्धा गीतिरैकान्तिकवचनं न भवतीत्यतो हेतोरत्र सर्व्वपतिका एकलादिरूपा दोपवती स्यात भेदकधम्मास्थैर्ट्यादित्येव सर्व्वेव प्रतिहा अत्रा-स्थिरतया न च व्यभिचार दोषवती स्यात् । कस्मादित्यतस्तद्दोषं परिहरति—

भेदकारणान्तरेण । तथापि सन्धीयमाने सति एकीकियमाणे एकबुद्धिकारकानुगतधर्मान्तरेणेति बोद्धव्येर्द् : इःखसामान्यादिति इःखकत्तृंत्वेन सर्व्वरोगानुगतेन साधारणेन ऋषेण सर्व्वरोगा एकः

 ^{*} दःखसामान्यादिति चकः ।

इत्यतो दोषवती स्यात्, भेता हि भेद्यमन्यथा भिनत्ति । अन्यथा पुरस्तात् क भिन्नं भेदप्रकृत्यन्तरेण भिन्दन् भेदसंख्याविशेष-मापादयत्यनेकधा, न च पूट्यं भेदाग्रामुपहन्ति ॥ ३ ॥

न चाविगीतिरित्यादि।भेद्कश्रेष्टधम्मीन्तरेण वायव्यतादिना रोगानीकस्य भेदान्नाश्चाविगीतिरिवरुद्धा गीतिरित्यतः काचिद्धि द्वित्रप्रादिमतिद्धा न च दोपवती स्यात् सर्व्यां हि साध्वी प्रतिद्धा। नमु कुतोऽसौ सर्व्यां प्रतिद्धा साध्वीत्यत आह—भेत्ता हीत्यादि। हि यस्यात् भेत्ता भावानां भेदोपदेष्टा भेद्यं भेदविषयंभावमन्यथा मिन्नमन्यप्रकारेण भिनत्ति। कथं भिनत्तीति भेदकरणं विष्टणोति—अन्यथेति। पुरस्तात् पूर्व्यमन्यथा धर्मिविशेषण। पूर्व्यक्तभेदक-धर्मातिरिक्तधर्मण भिन्दन्नपरभेदं कुर्व्यन् भेदसंख्याविशेषं भेदेन सङ्गाविशेषं पूर्व्यक्तभेदादपरभेदेन सङ्गाप्रभेदं पूर्व्यक्षित्रातोऽपरसङ्गामनेकथापादयति। न च पूर्व्यं कृतं भेदाग्रां भेदश्रेष्टमुपहन्ति व्याहतं न करोति। एकानेक-दोपभेदेन द्विधा राजसतामसभेदेन द्विधा शीतोष्णभेदेन द्वी ज्वरावित्येवं स्थाभवन्ति। वहुत्वमणीत्युक्तं प्रभावभेदादिकृतत्वादिण वहुत्वमित्यर्थः। संख्येयत्वमष्टीदरीयं अष्टचत्वारिश्वदोगाधिकरणान्यस्मिन संग्रहे" इत्यादिनोक्तम्। असंख्येयत्वं महारोगाध्याये त्र "तत्र तत्र वापरिसंख्येया भवन्ति रज्ञावर्णस्थानसंस्थाननामिनः" इत्यनेनोक्तम्।

ननु संख्येयत्वमसंख्येयत्वज्ञ विरुद्धावेती धर्मों, तथेकत्वमनेकत्वज्वेति विरुद्धों।
तत् कथं विरुद्धत्वेन ख्यातो धर्माविकस्मिन् रोगे घटेतामित्याह—न चेत्यादि । संख्येयाप्रेष्विति
संख्येयरोगपिरमाणेपु, अग्रशब्दः पिरमाणे वर्तते । तथेकैकस्य भेदाग्रमपिरसंख्येयं भवित, भेदसंख्यारूपं पिरमाणिमित्यर्थः । भेद्रमकृत्यन्तरीयेष्वित भेद्रकारणान्तरभवेपु । विरुद्धा गोतिः
विगीतिः, यथा—एकञ्चानेकञ्च तद् इत्यादिका विरुद्धा गोतिः । अत इति यथोक्तविगीतियोगात्,
न दोपवती काचित् प्रतिज्ञा, यथा—'अनेकरूपा ग्रह्परूपा' । अन्नोक्ता स्यादिति योजना ।
विगीतो दोपाभावं दर्शयित्वा भेदकारणान्तरकृतायामिवगीताविप दोपो भवतीति दर्शयत्वाह—न
चाविगीतिरित्यादि । यदि ग्रं रोगानीकं रुजासामान्यादित्यिभधाय पुनरेकं रोगानीकं प्रभावभेदोन रोगाणामेकत्वमुपपन्नम्, किन्तु द्वेधमेवेति भावः । विगीतो दोपाभावे हेतुमाह—भेता
दीत्यादि । भेता पुरुपः, भेद्यं रोगम् । अन्यथा त्वेकत्वादिना भिनत्ति, अन्यथा एकत्वेन पुरुपः
तावत् भेद्यञ्च अन्यथा भिनत्तीति । अस्यार्थं व्याकरोति भेदमकृत्यन्तरेणेत्यादिना । अनेकधेतिः

^{*} पुरुपास्तावदिति चकसम्मतः पाठः ।

समानायामिषतु भेदप्रकृतौ प्रकृत्यनु ध्रयोगान्तरमपेच्यम् । सन्ति ह्यर्थान्तराणि समानश्द्याभिहितानि, सन्ति चानर्थान्त-राणि पर्य्यायश्द्याभिहितानि । समानो हि रोगश्द्यो दोषेषु दित्तमुक्तं पुनः प्रभावादिभेदेन दित्वं यत् कृतं तच तत्पूर्व्यकृतं तद्दित्वं न च्याहन्तीत्यर्थः ॥ ३॥

गृङ्गाधरः नन्न द्वे रोगानीके इति प्रतिकाय त्रीणि रोगानीकानीति पुनर्वचने प्रतिकाहानिरेच भवति न चाविगीतिः स्यादित्यत आह—समानाया-मित्यादि। समानायामपि संमानायामसमानायाश्च भेदमकृतौ रोगादौ भिद्य-माने प्रकृतेरनुप्रयोगान्तरमपेक्ष्यं तद्र्थवोधकानुप्रयोगोऽपेक्ष्यते। यथा द्वे रोगानीके प्रभावभेदेनेत्युक्त्वा पुनद्वे रोगानीके इत्युक्तौ त्रीणि रोगानीकानी-त्युक्तौ च तद्भेदकथम्मस्य प्रकृतेरनुप्रयोगान्तरं मृदुदारुणवलभेदेन निजागन्तु-मानसभेदेनेत्यनुप्रयोगापक्षा स्यात्।

नत् क्रतः प्रकृत्यतुप्रयोगान्तरमपेक्ष्यमित्यत आह—सन्तीत्यादि। एक-शब्दाभिहिता अनेकार्थाः सन्ति । सन्ति च एकविधार्था अनेकशब्दवाच्याः । उदाहरणमाह—समानो हीत्यादि । एको रोगशब्दो दोपवाचको व्याधिवाचक-द्वे रोगानीके तथा दश रोगानीकानीत्यादि। न च पूर्व्य भेदाग्रं भेदप्रमाणसुपहन्ति। एवं मन्यते—यद्ममयोगविवक्षया एकत्वमुक्तं, तद्ममयोगविवक्षयैव यदि बहुत्वमप्युच्यते रोगाणाम्. ततो विरोधो भवति। न हि तदेवैकज्ञानेकञ्चेत्युपपन्नम्। यदा तु धर्म्मान्तरयोगविवक्षया बहुत्वमुच्यते, न तदा विरोधः ; बहुत्वाभिधानकाले बहुनामेव रोगधम्मीणां विवक्षितत्वात् । रोगाणामेकत्वमेकधम्मंविपयम्, वहुत्वञ्च बहुधम्मंविपयमिति न विरोधः। ननु यत्रासमानभेद-कारणं तत्र कारणान्तरकृतत्वादुक्तन्यायेन विगीतिः साध्वी भवतु, यत्र तु दश रोगानीकानि प्रभा-.बादिहें विध्यादुच्यन्ते, तंत्र कथं हे रोगानीके इति द्वित्वं कृतम्, हे विध्यमभिषाय पुनर्दित्वादृ भेदेनैव दशत्वमुच्यते । सामान्यो हायं द्विधाशब्दो द्वित्वे दशत्वे च रोगाणां हेतुरित्याह—समा-नायामपीति, समानशब्दाभिधयत्वेनापाततः समानायाभित्यर्थः। प्रकृतानुप्रयोगान्तरमपेक्ष्यमिति, . अकृतस्य समानशब्देनाभिंहितस्य यद्गे दुख्यापकं पश्चात् प्रयोगान्तरम्, तदपेक्षणीयं विगीति-समानार्थमित्यर्थः । एतेनैतद् दर्शयति—यद्यपि द्विशब्दो रोगप्रभावे तथा रोगवलादौ च समानः तथाप्येकत्र प्रभावभेदानुप्रयोगान्तरमपेक्ष्यं प्रभावद्वे विध्ये वर्त्तते, तथा बरुभेदानुप्रयोगान्तरमपेक्ष्य च द्विशन्दो बल्हे विध्ये वर्त्तत इत्यादि । तदेवोपपादयति सन्तीत्यादिना । अर्थान्तराणि पर्य्याय-

1 19 1 20 1 20 1

प्रकृतानुप्रयोगान्तरमिति पाठान्तरम् ।

च व्याधिषु च। दोषा ह्यपि रोगश्ब्दमातङ्गश्ब्दं यदमशब्दं दोषप्रकृतिशब्दं विकारशब्दञ्च लभन्ते। व्याध्यश्च रोगशब्दमातङ्गश्ब्दं यदमशब्दं दोषप्रकृतिशब्दं विकारशब्दञ्च
लभन्ते। तत्र दोषेषु च व्याधिषु च रोगशब्दः समानः शेषेषु तु
विशेषवान्। तत्र व्याधयोऽपरिसंख्येया भवन्त्यतिवहुत्वात्
दोषास्तु खलु परिसंख्येया भवन्त्यनित्वाहुल्यात्। तस्माद्
यथोचितं क्ष विकारानुदाहरणार्थमनवशेषेण च दोषान् यथावदनुव्याख्यास्यामः॥ ४॥

इचेति रोगशब्दाभिहिता अनेकार्थाः। दोपा अपि रोगादिनानाशब्दाभिहिता अर्था इति। व्याध्यश्चापि रोगादिनानाशब्दाभिहिता अर्थाः। तेन द्वे रोगानीके इत्युक्तो व्वरादिवोधने दोपवोधने च प्रकृत्यनुप्रयोगान्तरमपेक्षते। तत्रेत्यादि। शेषेषु व्वरादिषु विशेषवानित्यसमान इति। तत्रेत्यादि। तत्र रोगशब्देन व्याधावभिधेये प्रकृतौ रोगा अपिरसङ्के या अतिवहुत्वात्। दोपेऽभिधेये रोगाः पिरसंद्वे याश्चानितवहुत्वात् इति। प्रकृते रोगस्य पूर्विप्योगस्य प्रकृत्यनुप्रयोगान्तरं व्याध्य इत्यादि। दोपास्तित्यादिकश्च। तस्माद्व्याधीनामपरिसङ्के प्रयत्वात् दोपाणां पिरसङ्के यत्वाच। उदाहरणार्थे-मिति विकाराणां यथोचितमुदाहरणार्थम्। यथोचितमिति प्रायोभाविनो रोगस्य। सशेषेणेति अनिःशेषेण कियदवशेषं विकाराननुव्याख्यास्यामः। दोपाणामुदाहरणार्थमनवशेषेण च निःशेषण च दोपाननुव्याख्यास्यामः। दोपाणामुदाहरणार्थमनवशेषेण च निःशेषण च दोपाननुव्याख्यास्यामः। दोपाणानुत्वात्र पार्थमनवशेषेण च निःशेषण च दोपाननुव्याख्यास्यामः। दोपानानीत।। ४।।

शान्दानिभिद्दिता अर्थाः । तत्रोदाहरणमाह—समानो हीत्यादि । दोषेषु च्याधिषु च समान उभय-वाचकत्वेन तुल्यो रोगशब्दः, तेन रोगदोपसमानत्वेनाभिधेयसमानानां रोगातङ्कयक्ष्मादिशब्दानां सर्व्वेपामेव वक्ष्यमाणानां प्रहणम् । शेषेष्विति हेत्वादिषु, विशेषवानित्यभिधानरूपविशेष-पानित्यर्थः । तत्रापि रोगशब्दाभिधेयतासमानेऽपि दोषे ठथा विकारे च परिसंख्येयाऽपरि-संख्येयरूपा विगीतिरस्त्यथ चादोप इत्यभिप्रायेणाह—सत्रेत्यादि । एक्षेकस्मिन् दोपे बहवो विकारा भवन्तीत्यभिष्मयेण विकारापेक्षया दोपाणामनतिबहुत्वं शेयम् । यथाचित्रमिति यथा-विन्यासम्, तेन यानेव पूर्वाचार्या विकारानिषकतमत्वेनोक्तवन्तस्तानेव ब्याख्यास्यामः, न मु

^{*} वधाचित्रसिप्ति चक्रः ।

रजस्तमश्च मानतौ दोषौ, तयोर्विकाराः कामक्रोधलोभ-मोहमानमदशोकचिन्तोद्वं गभयहर्पादयः । वातिपत्तश्लेष्माणस्तु खलु शारीरा दोषास्त्रैपामिष विकारा ज्वरातिसारशोधशोषश्चास-मेहकुष्ठादय इति । दोषाः केवला व्याख्याता विकारेकदेशश्च । तत्र तु खल्वेषां द्वयानामिष दोषाणां त्रिविधं प्रकोपणम् । असात्मेगन्द्रियार्थसंयोगः प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति । प्रकृपितास्तु खलु प्रकोपणविशेषाहूष्यिवशेषाच विकारिवशेषानिभिनिव्वर्त्त-यन्त्यपरिसंख्येयान् । ते खलु विकाराः परस्परमनुवर्त्तमानाः कदाचिदनुवशन्ति कामादयो ज्वरादयश्च । नियतस्त्वनुवन्धो

गृङ्गाधरः—तत्रादौ प्रतिलोमतन्त्रयुक्तया दोपान निःशेषेण व्याख्यानयात— रजस्तमश्चेत्यादि । आदिना द्वेपादयश्च । वातेत्यादि आदिना कासा-दयश्च । दोपाः केवला इति कृत्स्नाः । तत्र तित्यादि । प्रकोपणिमिति वैपम्य-कारणम् । परिणामश्चेत्यतोऽनन्तरमुक्तं प्रागिति शेपस्तेन न पुनरुक्तम् । अनु-वादोऽयं विकारापरिसंख्येयत्वकथने हेतूपदेशाथम् । प्रकुपितास्त्विति दोपा इत्यनुवक्तते । अपरिसद्ध्येयान विकारविशेपानित्यन्वयः । ते च शारीरदोपजा ज्वरादयो विकारा मानसदोपजाः कामादयश्च विकारा अनुवक्तमाना जातोत्तर-मधिककालं वक्तमानाः परस्परमनुवध्ननित कदाचिन्नैकान्ततः । नियतस्तु

सर्वान् अशक्यत्वात् । किंवा यथोचितमिति पाठः । अनवशेषेण च दोपा इत्यनेन दोपा अनित-बहुत्वेनानवशेषेणाप्यभिधातुं शक्यन्त इति प्रकाशयति ॥ १—४ ॥

चक्रपाणिः—तत्र मानसदोपविकारयोरनल्पवक्तव्यतयाऽग्रेऽभिधानम् । ननु परिमिताहोपरूपात् कारणात् कथमपरिमिता विकारा भवन्तीत्याह—प्रकृपितास्वित्यादि । हेतुविशेपदृष्टो हि स एव दोपो दूप्यान्तरगतश्च विभिन्नशक्तियोगाद् वहून् विकारान् करोतीति युक्तमेव । उक्तब्य— "स एव कृपितो दोपः समुत्थानविशेपतः । स्थानान्तरगतश्चेव विकारान् कुरुते वहून् ॥" इति ।

विकाराणां शारीरमानसानां परस्परं संसर्गमाह—ते खलु विकारा इत्यादि। अनुवर्त्तमाना इत्यानेन यदैव ज्वरादयः कामादयो वाऽवलत्वेन च चिरकालमनुवर्त्तन्ते, तदैवानुवधनन्ति प्रायः। यदा त स्तेक्ष्रकालावस्थायिनो भवन्ति, न तदा प्रायोऽनुवधनन्तीत्यर्थः। किंवा अनुभ

रजस्तमसोः परस्परम्, न हारजस्कं तमः। प्रायः शारीरदोषा-गाम् एकाधिष्ठानीयानां सन्निपातः संसर्गो वा समानग्रणत्वात्।

ऐकान्तिकस्त्रनुवन्धः। रजस्तमसोमानसदोपयोः क्रुतो नियतोऽनुवन्धस्तयो-रित्यत आह—न हीत्यादि। अरजस्कं रजो विना तमो वर्त्तते न, तमो विना रजो न वर्त्तते इत्यर्थात्। रागेण हि प्राप्याप्राप्त्या मोहो भवति तमसा च रागटुद्धिः स्यादिति । शारीरदोपाणां वातपित्तकफानामेकाथिष्टानानां समान-गुणलात् वातिपत्तकफानां यावन्तो गुणाः समानास्तावद्गुणैः प्रायः सनिपातस्वयाणां समवायः। पायः संसर्गो वा तेपामन्यतमयोद्धेयोः। प्राय इति पदेन कचित् पृथक् दोपाणामप्यभिपातः स्यादिति स्चितं तेन च न रोगोऽप्येकदोपज इति मतमनाद्दतं कृतमिति। तथा हि ईपत्सिग्धलेऽपि वित्तस्य यत्किश्चिद्रौक्ष्यं वातस्य च रौक्ष्यं वित्तस्य मध्यलंबुलं वात-स्यातिलघुतं पित्तस्य च सूक्ष्मत्वं वातस्य च चलत्वं वातस्य पित्तस्य सरत्वं कडुत्वं पित्तस्य तेन रौक्ष्यं वातस्य सयोनिकं वातस्य दारुणत्वं पित्तस्य तीक्ष्णत्वं सयोनिकमिति पित्तगुणसामान्यं वातस्य। वातस्य शीतत्वं कफस्य च वातकफयो-गु णसामान्यम्। पित्तस्येपत् स्निग्धत्वं कफस्य स्निग्धत्वं पित्तस्य मध्यगुरुत्वं कफस्य गुरुत्वं पित्तस्य द्रवत्वं कफस्य द्रवत्वं पित्तस्य किश्चित् पैच्छिल्यं कंफस्य पैछिल्यं पित्तस्याम्छत्वे मध्यस्निग्धलं कफस्य मधुरत्वेन स्निग्धलमिति पित्त-कफयोगु णसामान्यमिति। नतु वातस्य शीतत्वं पित्तस्योष्णत्वं शीतविरोधि, वातस्य रुक्षत्वं पित्तस्येपत् स्निग्धत्वं रुक्षविरोधि, वातस्य लघुत्वं पित्तस्यावरलघु-सम् अम्लत्वे मध्यलपुरवं कड्त्वे ततो विद्ग्धिपत्तस्य व्याधिकत्तृ त्वेनाल्पलघुत-मेवालपगुरुत्वं तछ्युसविरोधिवातस्यामूर्त्तत्वं पित्तस्य द्रवमूर्त्तंसममूत्तंसविरोधि तत् कथं मिथो नोपघातः ? तथा वातस्य रुक्षत्वं तद्विरोधि स्निग्धत्वं कफस्य, लघुत्वं वातस्य गुरुत्वं कफस्य स्र्ध्मत्वं वातस्य स्थूलत्वं सान्द्रत्वं कफस्य चलत्वं वातस्य स्थिरत्वं कफस्य वैशद्यं वातस्य पैच्छिल्यं कफस्य खरत्वं वातस्य

वर्त्तमानाः परस्परं वलमभिवर्द्धयन्तः । अत्र च परस्परशब्देन शारीराणां शारीरेण, मानसानां भानसेन, शारीराणां मानसेन, मानसानां शारीरेण चानुवन्धो ज्ञेयः ।

विकारानुवन्धं, दुर्शयित्वा दोपानुवन्धमाह—नियतस्त्वत्यादि। शारीरदोपानुवन्ध-भाह—शारीरेत्यादि। एकाधिष्ठानीयानामित्यनेनैकशरीराधिष्ठानप्रत्यासस्या संसम्। दोपाणां ्या हि दूपगोः समानाः। तत्रानुबन्धग्रानुबन्धकृतो विशेषः। स्वतन्त्रो व्यक्तलिङ्गो यथोक्तसमुत्थानप्रशमो भवत्यनुबन्ध्यः,

मस्रणत्वं कफस्य दारुणत्वं वातस्य मृदुत्वं कफस्यामृर्त्तत्वं वातस्य द्रवमृर्त्तत्वं कफस्य नीरसत्वं वातस्य मधुरत्वं कफस्येति वातकफयोने कथं मिथो भवत्युप-घातः। पित्तस्येपत्स्निग्धत्वेनैवेषद्रुक्षत्वं कफस्य स्निग्धत्वं पित्तस्योष्णत्वं कफ़स्य शीतत्वं पित्तस्य तीक्ष्णत्वं कफस्य मृदुत्वं पित्तस्याम्लत्वे हीनगुरुत्वं हीनलेगुत्वं वा कटुत्वेन मध्यलघुत्वं कफस्य गुरुत्वं पित्तस्याम्लत्वं कटुत्वं वा कफस्य लेवणत्वं मधुरत्वं वा पित्तस्य सरत्वं कफस्य स्थिरत्वं पित्तस्येपत्पिच्छिल-त्वेनेपट्वैशच' कफस्य पैच्छिल्यमिति तत् कथं पित्तकफयोने मिथो भवत्युप-घात इत्याशक्का दृढ्वलेन निरस्तव्या। विरुद्धैरपि न त्वेते गुणैद्र्नेन्ति परस्परम्। दोपाः सहजसात्मप्रत्वाद्घोरं विषमहीनिवेति वचनेन सर्व्वथोच्छेदकत्वाभावाथ-केन / तद्दचनेन सर्व्वगुणतो दोपाणां सन्निपातसंसर्गासम्भवमाशङ्काह—दोपा हीत्यादि। वातिपत्तकफास्त्रिशो दूपणैईव्यविशेपैः पाटलधान्यादिभिः स्वमभावात् मिद्रोपकरैस्तथा दिशो निष्पावादिभिद्रेन्यविशेषैः स्वप्रभावाद्वातिपत्तादिदिदि-दीपकरैः प्रकोप सन्वंगुणतः समाना इत्यर्थः, एतेन पूर्व्वाशङ्का निरस्ता । नचु तथाविधे सन्निपाते संसगे वा दोपाणां किं तुल्यवलसमतुल्यवलसं वेत्यत आह—तत्रानुवन्ध्येत्यादि । तत्र दोपाणां सन्निपाते संसन्धं वा । अनु अल्पवलेन येन यो वलवान् वध्यते सोऽल्पवलोऽनुवन्धः भवलस्त नुवन्ध्यस्ताभ्यां कृतो विशेषो वर्तते। ननु कस्त्रनुवन्ध्यः को वानुवन्ध इत्यत आह—स्वतन्त्र इत्यादि । त्रयाणां दोषाणां सिन्निपाते तेषां मध्ये यो दोषः स्वतन्त्रः स्वेतर-दोपयोः प्रयोजको न च प्रयुज्यः, सोऽनुवन्ध्यः। कृतोऽयं शायते इत्यत आह—

भवन्तीति दर्शयित । समानगुणत्वादिति हेतुं विवृणोति—दोपा हीत्यादि । दूपणैरिति हेतुभिः । प्रायो हि शारीराणां वातादीनां समानो हेतुभैवति । तथा ग्रम्छं छवणं कटु च पित्तं कर्फं वातज्ञ क्तोति, तन्नाम्छं सककं पित्तं करोति, छवणज्ञ सिपत्तं कर्फं करोति, कटु तु सवातं पित्तं करोति ;— तथा वसन्तः इछेप्मकारकोऽप्यादानत्वेन वातिपत्ते च करोति, तथा वर्पास्विप पित्तं चीयमानं शरिद प्रकुप्य कफानुगतमेव कुप्यति । तथा ब्रीप्मो वातचयं रुक्षत्वेन कुर्वन् उप्णत्वेन मनाक् पित्त- चयमिष करोतीत्यनुसरणीयम् ।

एवमेव दोपानुबन्धमनुबन्ध्यानुबन्धभेदेन दर्शयितुमनुबन्ध्यानुबन्धलक्षणमेवाह— तन्नेरंगादि। अनुबन्ध्यस्य अनुबन्धस्य च विशेषोऽनुबन्ध्यानुबन्धविशोपः। स्वतन्त्र इति ति विपरीतलच्गारचानुबन्धः। अनुबन्ध्यानुबन्धलच्गासमिन्दिरोपा-यदि तत्र दोषा अवन्ति तत् त्रिकं सिन्निपातमाचचते द्वयं ६। संसर्गम्। अनुबन्ध्यानुबन्धविशेषक्रतस्तु बहुविधो दोषभेदः

च्यक्तिलिङ्ग इति। व्यक्तानि लिङ्गानि यस्य स व्यक्तिलिङ्ग इति व्यक्तिरिङ्गेरनुमीयतेऽनुवन्ध्यः। तानि लिङ्गानि यदि गृहानि भवन्ति तदा कथं वायते इत्यत
आह—यथोक्तसम्रत्थानप्रशम इति। यस्य व्याधेयेद्यत् समुत्थानमुत्पिक्तारणमुक्तं यश्च यस्य व्याधेः प्रशमनहेतुरुपशय उक्तस्तत् समुत्थानं तदुपश्चयैः प्रशमश्च यस्य
स यथोक्तसमुत्थानपश्म इत्यर्थः। तद्विपरीतलक्षणः परतन्नोऽनुवन्ध्यसमुत्थानपश्माभ्यामेव समुत्थानपश्मश्चानुवन्ध इति। नन्वेवं किं सिन्नपातो वहुविधः
संसर्गश्चानेकविधः स्यादित्यत आह—अनुवन्ध्यत्यादि। अनुवन्ध्यानुवन्धरूपत्रिदोपसमन्वये सिन्नपातमाचक्षते न तनुवन्ध्यमात्ररूपत्रिदोपसिन्निपाते, तत्र
पुनयों यो दोपोऽनुवन्ध्यरूप एको भवति तदा एकदोपमाचक्षतेऽनुवन्ध्यपात्रामव्येन तद्द्रपदेशामावात्। पृथव पृथगेकदोपाभिपाते तु एकदोपो न व्याहन्यते
तेन। न च पूर्व्वं भेदाग्रमुपहन्तीति वचनात्। द्वयं वा संसर्गम् अनुवन्ध्यानुवन्धलक्षणो द्वौ दोपौ यदि तत्र समन्वितौ भवतस्तदा तद् द्वयं वा संसर्गमाचक्षते
इत्यर्थः। ननु तथाविधस्त्वेकदोपद्विदोपाश्च कतिधा भवन्तीत्यत आह—अनुवन्ध्यानुवन्धविशेपेत्यादि।वहुविधो दोपभेद इति द्वावस्थायां त्रयाणां सन्निपाते

यथोक्तो दोपो लक्षणीयः, दस्तन्त्र इत्यस्येव विवरणम्—व्यक्तलिङ्ग इत्यादि। यथोक्तसमुत्थानप्रशम इति स्वहेतुसमुत्थितः स्विचिक्त्सयेव प्रशमनीयः। किंवा, स्वतन्त्र इत्यनेनापि
स्विकारकरणे प्राधान्यमुच्यते, स्वतन्त्रो हि दोपः प्रकोपकाले विकारान् करोति। अस्वतन्त्रस्त्वप्रकोपकाल एव विकारं ज्वरातिसारादिरूपं तथाऽनुवन्ध्यानुवन्धाकारं प्रधानदोपेरितः सन्
करोति। तद्विपरीतलक्षण इत्यनेनाव्यक्तलिङ्गोऽस्वहेतुप्रकृपितः परचिकित्साशमनीयश्चानुवन्ध
इति लभ्यते, अनुवन्धो एवलवन्त्वेन न लिङ्गं व्यक्तं करोति, तथा परहेतुना किञ्चिदनुगुणेन
प्रकृपितः परचिकित्सयेव किञ्चिदनुगुणतया शाम्यति। यथा—शरिद इलेप्मा पित्तहेतुना जलायम्लविपादेन जन्यते, स च पित्तचिकित्सयेव तिक्तसिर्परादिकया कफोऽप्यनुगुणतया शाम्यति।
द्वयं वानुगुणलक्षणं प्राप्तं संसर्गमाचक्षत इति योजना। अनुवन्ध्यशब्दश्चायं व्यक्तलिङ्गतादिधम्मंयक्ते दोपे वर्त्तते। तेनाप्रधानानुगमनीये सिन्नपाते अनुबन्धाभावेऽप्यनुवन्ध इति व्यपदेशो

^{*} अनुवन्ध्यलक्षणसमन्वितेति चकसम्मतः पाठः।

मिप संज्ञाप्रकृतो भिषजां दोषेषु चैव व्याधिषु च नाना-।त्रकृति।वशेषाद् व्यूहः॥ ५॥

अप्तिषु तु शारीरेषु चतुर्विधो विशेषो वलभेदेन भवति। ल्तद् यथा—तीच्णो मन्दः समो विपमश्चेति । तत्र तीच्णोऽग्निः एकोल्वणास्त्रिविधा एकदोपा हीनमध्याधिकाः पङ् विधा एकदोपाः द्विदोपसम-न्वये पड़ विधा एकटोपा इति पश्चट्यविधोऽनुबन्ध्यानुबन्धविशेपकृतो भेदः। तथा त्रिद्रोपदृद्धी दृरुल्वणा द्विकाः त्रिविधा इत्यनुवन्ध्यानुवन्धविशेषकृतस्त्रिविधो भेद इति अष्टाद्श्विय एवानुबन्ध्यानुबन्धविशेषकृतो भेदः। द्विदोपाभिषाते त्रिविधाश्र द्विका अनुवन्ध्यरूपकृतो भेद्सिविधः। पृथक् दोपाभिपाते एकदोपास्चय इति अनुवन्ध्यकृतस्त्रिविधो भेदः। समित्रदोपसिन्नपाते एकः सिन्नपातः इत्यनुवन्ध्य-कृत एकविधो भेट इति पञ्चविंशतिविधो रुद्ध्यवस्थायां भेटः। अनुवन्ध्यानु-वन्धाभ्यां व्यपदिश्यते भेद इति । एवं क्षयावस्थायां पञ्चविंशतिविधो भेदः । क्षयस्थानदृद्ध्यवस्थायान्तु द्वादशविधो भेद् इति द्विपष्टिविधेषु भेदेषु मध्ये द्वाचलारिंगद्विधो भेदोऽनुबन्ध्यानुबन्धविशेषकृतः, शेपास्तु अनुबन्ध्यकृता अष्टौ द्वादश्या च मिश्ररूपाः। उपसंहरति—एवमेप इत्यादि। एवं प्रकारेण दोषेषु चैव भिपजां एप वहुविधो भेदः संशापकृतः, न तु व्याधिप् । व्याधिप् च पुनः नानाप्रकृतिविशेपात् दोपागन्तुरूपनानाप्रकृतिप्रभेदात् भिपजां संशा प्रकृतो व्यूहः समूह इत्यर्थः ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः — अथ प्राणिनां कायाप्रिजीवितलात् दोपप्रभवलाच कायाप्रिषु भिपजां संज्ञाप्रकृतो भेदः कीद्दश इत्यत आह — अप्रिषु लित्यादि । शारीरेषु इत्यनेन भौताप्रिधालग्रीनां निरासः । चतु व्विधो विशेपोऽप्रिषु तु भिपजां संज्ञा-प्रकृत इत्यन्वयः । वलभेदेनेति वलं समं विषमं तीक्षणं मन्दञ्चेति । तद्भेदेन कीद्दशश्चतु व्विध इत्यत आह — सम इत्यादि । तत्र प्रतिलोमतन्नयुक्तया लक्षयित भवत्येव अनुवन्ध्यानुवन्धस्पसंसगंविशेषेण कृतः । संज्ञाप्रकृत इत्यनुवन्ध्यानुवन्धसन्निपातसंसगंव्वरातिसारादिसंज्ञाकृत इत्यर्थः । नानाप्रकृतिविशेषच्यूह इति यथोकनानाकारणविशेषकृतो व्वरातिसारादिस्या ध्याधीनां दोपाणाञ्च समृह इत्यर्थः । भिपजामितिपदेन च वैद्यानामध्येवं समयसिद्धाऽनुवन्ध्यादिसंज्ञेति दर्शयित ॥ ५॥

चक्रपाणिः—दोपभेदविकारभेदमभिधाय शरीरस्थितेः प्रधानकारणस्याग्नेभेदमाह—अग्निपु इस्यादि । शारीरेष्विति सामान्यवचनेन सर्व्वशरीरगतानग्नीन् ब्राहयित, विवरणे तु जठराग्निः सर्व्यापचारसहस्तद्विपरीतलच्चास्तु मन्दः, समस्तु खल्वपचाषा-विक्वतिमापद्यते अनपचारतस्तु प्रकृतावेवावतिष्ठते। सम्ब्। लच्चगविपरीतलच्चगस्तु विषयः॥ ६॥

अनुमानार्थं प्रागभिहितम् अग्नि जरणशक्तयेति । सर्व्वापचारसहः सदसद्भोजन मात्रामात्रातिक्रायसहः। एतेन प्रभूतमप्युपयुक्तमाहारं शीघ्रं पचतीति रूयापितम्, स एवातिवर्द्धमानोऽत्यग्निराख्यायते इति परैः। स एव भस्मक इत्यन्यैराख्या-यते इति। तद्दिपरीतलक्षणस्तु अल्पापचारस्याप्यसहः। पक्तावेवावतिष्ठते। एतेन यथाकाळं मात्रावदुपयुक्तमाहारं सम्यक् पचतीति ख्यापितम्। समलक्षणविपरीतलक्षणिस्तिति अपचारानपचाराभ्यां न वा प्रकृतिं न वा विकृतिं भजते, कदाचित् सम्यक् पचित कदाचिदाध्मानादिकं कुला पचतीति भावः। सुश्रुतेऽप्युक्तम् - प्रागभिहितोऽग्निरन्तस्य पाचकः। स चतुर्विधो भवति, दोपानभिपन्न एको विक्रियामापन्नस्त्रिविधो भवति। विषमो वातेन, तीक्ष्णः पित्तेन, मन्दः श्लोष्मणा, चतुर्थः समः सन्वसाम्यादिति। तत्र यो यथाकालमन्त्रमुपयुक्तं सम्यक् पचित स समः समैदोंपैः। कदाचित् सम्यक् पचित कदाचिदाध्मानशृलोदावर्त्तातिसारजठरगौरवात्र-क्जनमवाहणानि कुला स विपमः। यः प्रभूतमप्युपयुक्तम्नमाशु पचित स तीक्ष्णः, स एवाभिवर्द्धमानोऽत्यग्निरित्याभाष्यते ; स मुहम्मुहुः प्रभूतमप्युप-युक्तमाशुतरं पचित, पाकान्ते च गलताल्वोष्टशोपदाहसन्तापान् जनयति। स्वल्पमप्युपयुक्तमुद्रशिरोगौरवकासश्वासप्रसेकच्छद्दिगात्रसद्नानि दृत्वा महता कालेन पचित स मन्दः। विषमो वातजान् रोगान् तीक्ष्णः पित्त-निमित्तजान्। करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान् कफसम्भवान्।। इति। अत्र वातजानिति महारोगाध्याये उक्तानशीतिर्वातविकारान्। एवं चलारिंशतः पित्तविकारान् विंशतिं कफविकारान्। अन्यत्रातितीक्ष्णाग्निः पठितः। अतिमात्र-एव ''तीक्ष्णः सर्व्वापचारसहः" इत्यादिना यचातुर्व्विध्यमुक्तम्, तज्जठराग्नितीक्ष्णतादिमूलत्वग-गन्यादितीक्ष्णत्वादिरेवेति ज्ञेयम्। वचनं हि—''तन्मूलास्ते हि तदवृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मकाः'' इति । यद्यपि समोऽग्निः शस्तःवेनाग्रेऽभिधातुं युज्यते, तथापि समतश्च तीक्ष्णस्यैव प्राधान्योप-दर्शनार्थमिहामेऽभिधानम् । समस्य हि प्राधान्यं निर्व्विकारत्वेनेव सुस्थितम्, तीक्षणः सर्व्वाप-चारसहरवेन प्रधानम् । तेन तद्विपरीतलक्षणं सिध्यति,—स्वरूपापंचारमपि यो न सहते, स मन्द ्रहत्यर्थः। समलक्षणविपरीतलक्षण इति कदाचिद्विपमोऽपचाराद्पि न विक्रियते, कदाचिद

इत्येते चतुर्विधा भवन्त्यय्यश्चतुर्विधानासेव पुरुषाणाम् । ।त्र समवातिपत्तश्लेष्मणां प्रकृतिस्थानां समा भवन्त्यय्यः । वात-लानान्तु वातािभभूतेऽग्न्यिष्ठाने विषमा भवन्त्यययः । पित्त-लानान्तु वित्तािभभूते ह्यग्न्यिष्ठाने तीच्णा भवन्त्यययः । श्लेष्मलानान्तु श्लेष्मािभभूते ह्यग्न्यिष्ठाने मन्दा भव-न्त्यययः ॥ ७॥

मजीणे ऽपि गुरु चान्नमथाश्रतः। दिवापि स्वपतो यस्य पच्यते सोऽग्निरुत्तमः॥ इति। अस्यातिष्टद्धौ भस्मकसंका तल्लक्षणञ्च तन्नान्तरेऽष्युक्तम्—नरे श्लीण-कफे पित्तं कुपितं मारुतानुगम्। स्वोष्मणा पावकस्थाने वलमग्नेः प्रयल्जति। तदा लव्यवलो देहं विरुक्षेत् सानिलोऽनलः। अभिभूय पचत्यनं तैक्ष्णादाशु महम्प्रेतुः। पत्तवान्नं सततो धातून् शोणितादीन् पचत्यपि। ततो दौर्व्वरय-मातिक्षान् मृत्युञ्चोपनयेन्नरम्। भुक्तेऽन्ने लभते शान्तिं जीर्णमात्रे प्रतास्यति। तृद्कासदाहम् स्वाः स्युव्योधयोऽत्यग्निसम्भवाः॥ इति। नैतावत्यग्निभस्मकौ विपमात्रग्रादिवत् सहजौ, किन्तु जातोत्तरकालं जातौ व्याधिविशेषौ॥ ६॥

गुङ्गाधरः—नन्वते चतुर्विधा अग्रयः केपां भवन्तीत्यत आह—इत्येत इत्यादि। नन्नु केषां चतुर्विधानामित्यत आह—तत्रेत्यादि। प्रकृतिस्थानां वातादीनां साम्ये समा भवन्त्यग्रय इति न कृता समवातेत्यादिकरणात् प्रकृतिस्थानां गर्भात् प्रभृति येषां समा वातिषक्त स्रेष्णाणस्ते प्रकृतिस्थाः पुरुषाः, तेषां समा भवन्त्यग्रय इत्यर्थः। न तु गर्भारम्भे दृद्धा वा क्षीणा वा वात-पिक्त स्रेष्णाणो येषां तेषां भवन्ति समा अग्रय इति विकृतलात्। गर्भात् प्रभृति वातादीनां समत्यं याद्रूप्येण तद्विस्तरेण समिषक्तानिलक्षमा इत्यादि वचनव्याख्यानेनोक्तम्। वातलानान्तिति गर्भात् प्रभृति वातवहुलानां अग्रय-धिष्ठाने ग्रहणीनाङ्यां गर्भात् प्रभृति वाताभिभूतलात् वातलानां विषमा भवन्त्यग्रयः। एवं पिक्तलानां इलेष्मलानाञ्च व्याख्येयम्॥ ७॥

विक्रियते । समवातिषत्तरुष्टेष्मणामित्युक्तेऽपि 'प्रकृतिस्थानाम्' इतिपद्म्, वृद्धानां समवातिषत्त-इलेष्मणां प्रतिपेधार्थम् । 'प्रकृति'शब्दस्य कारणाद्यनेकार्थतान्युदासार्थं समवातिषत्तरुलेष्मणाम् इति इतम् । वाताभिभृतेऽग्न्यिधान इतिवचनेन वातलानामिष यदेवाग्न्यिधानोपघातो वातेन कियते, तदेव वैषम्यं भवति । एवं पित्ताभिभूत इत्यादाविष व्याख्येयम् ॥ ६१७ ॥

केचिदाहुर्न समगतिपत्तरलेष्माणो जन्तवः सन्ति विषमाहारोपयोगित्वान्मनुष्यागाम्। तस्माच वातप्रकृतयः केचित् केचित् पित्तप्रकृतयः, केचित् पुनः रलेष्मप्रकृतयश्च भवन्तीति । तद्यानुपपन्नम्, कस्मात् कारगात् ? समवातपित्तरलेष्मागां ह्यरोगम् इच्छन्ति भिषजः। यतः प्रकृतिश्चारोग्यमारोग्यार्था च भेषज-प्रवृत्तिः, सा चेष्टरूपा। तस्मात् सन्ति समवाति तर्लेष्मप्रकु-तयः ; न तु खलु सन्ति वातप्रकृतयः पित्तप्रकृतयः श्लेष्मप्रकृतयो वा। तस्य तस्य हि दोषस्याधिकभावात् सा सा दोषप्रकृतिः

गङ्गाधरः--मतान्तरमत्राह--तत्रेत्यादि । केचिन्मुनयस्तत्र चतुर्वियेषु अग्निषु इदमाहुः ; तद् यथा-विषमाहाराणां समसन्वरसद्रव्याणामसम्भवाद् विषम-रसद्रच्याणामाहाराणामुपयोगशीललात् गर्भात् प्रभृति समवातिपत्तक्लेष्माणो जन्तचो न सन्ति। तस्मात् समा अग्नयोऽपि न सन्ति इति भावस्तस्माच वातप्रकृतिकादयिस्तिविधा एव पुरुषाः सन्ति वह्नयश्च विषमास्तीक्ष्णा मन्दाइचेति त्रिविधा इति भावः। अत्राप्येके वातादिप्रकृतय इव द्वन्द्वप्रकृतयस्त्रिधा अपि पुरुषा भवन्ति, वह्नयश्च तेषां दोपानुरूपाः, तद् यथा-वातिपत्तप्रकृतीनां वह्नयो-ऽतितीक्ष्णा वातक्लेष्मप्रकृतीनां न विषमा न च मन्दा मन्दविषमाः। कदाचित खल्पमपि भुक्तं न सम्यक् पचन्ति कदाचिदाध्मानादिकं कुला खल्पं भुक्तं सस्यक् पचन्ति। पित्तकृतेष्मप्रकृतीनान्तु वह्नयो न तीक्ष्णा न यन्दाः, मध्यमा एव भवन्ति। मध्यममात्रमन्नं सुखं पचन्ति इति भापन्ते। मतमेतत् सर्व्यतन्त्रेषु चतुर्व्विधायिन्यतिरेकेण दर्शनाभावादितरेषामयीनामस्वीकाराद् अमूलकलमभिमत्य नोपन्यस्य वातादिमकृतिवादं दृपयित—तच्चेत्यादि। स्पष्टम्। तस्य तस्य हीत्यादि। हि यस्मात् तस्य तस्य दोषस्य वातमकृतिषु पुरुषेषु गर्भात् प्रभृति वातस्य पित्तमकृतिषु पित्तस्य कफ-प्रकृतिषु कफस्य दोपस्याधिकलादितरदोषापेक्षया मानाधिकयात्। सा सा

चक्रपाणिः—विपमाहारोपयोगित्वादिति, नायं पुरुपस्तुलाधारधतमिवाहारमुपयुङ्क्ते, तेना-वर्यमत्र चातादिष्वन्यतमोऽपि दोपो विकृतो भवतीति भावः। "समवातपित्तर्छेप्माणम्" इस्यादिना, अस्ति तावदारोग्यं पुरुपेषु वैद्यव्यवहारसिद्धमिति दर्शयित । तेन याद्दगिर्व दोपाणां एवोच्यते मनुष्याणाम्। न च विक्रतेषु दोषेषु प्रकृतिस्थत्वमुप-पद्यते तस्मान्नेताः प्रकृतयः सन्ति। सन्ति तु खलु वातलाः पित्तलाः रलेष्मलाश्चाप्रकृतिस्थास्तु तं ज्ञेयाः॥ =॥

तेपान्तु खलु चतुर्विधानां पुरुपाणां चत्वार्य्यनुप्रणिधानानि श्रेयस्कराणि भवन्ति। तत्र समसर्व्वधातूनां सर्व्वाकार-सममधिकदोषाणान्तु त्रयाणां यथास्त्रं दोषाधिक्यमभिसमीच्य

वातादिदोपस्याधिक्यरूपा विकृतिः प्रकृतिरुच्यते, उक्तश्च प्रागेतत्—दोपानुशयिता हो पां देहपकृतिरुच्यते। नन्वस्तु तथाविधा दोपविकृतिरूपेव प्रकृतिः
का हानिस्तेनेत्यत आह—न चेत्यादि। गर्भात् प्रशृति विकारेप प्रकृतिस्थलं
नोपपचते स्फुटितकरचरणादिविकारकत्वात्। समास्तु यथा यथा मानेन
वातिपक्तरुष्टेप्पाणो येपां भवन्ति तथा तथा मानेन दृहन्मध्यह्स्वादिरूपाः पुरुषाः
सन्तस्तथा तथा वलवत्समाययो भवन्तीति मानाधिक्याल्पलाभ्यां सम्मानले
वातादीनां न क्षतिरिति भावः। तस्मात् विकृतित्वेन प्रकृतिस्थलानुपपत्या
एता वाताचाधिक्यरूपा न प्रकृतयः सन्ति, सन्ति तु खळ् वातला इत्यादि।
ननु ते किं नारोगाः इत्यत आह—अपकृतिस्थास्तु ते केयाः न तु स्वस्था
कोयाः॥ ८॥

गङ्गाधरः — नन्वेवञ्चेत् तदा उत्तरकार्छं तत्मतिक्रियया विषमा वा तीक्ष्ण वा मन्दा वाग्नयः किं समा न भवन्ति भवन्ति वा। समाश्च गर्भात् मस्रति कि विषमा वा तीक्ष्णा वा मन्दा वा भवन्ति किं न वेत्यत आह—तेषान्तु खिवत्यादि । अनुप्रणिधानानि अनु उत्तरकार्छं प्रकर्पण प्रकृतिरूपेण निधीयन्ते वाताद्याधिवयसाम्यानि यैस्तान्यनुप्रणिधानानि । तानि कीद्दशानि इत्यत आह—तत्रेत्यादि । सर्व्याकारसमं रसतो ग्रुणतो वीर्यतो विषाकतः प्रभावतश्च मात्रातश्च कालतश्च देशतश्च सत्त्वतश्च सात्म्यतश्च समवातिषत्त- कलेष्मिः समं यत् प्रतिकम्भ तद्विधानं श्रेयस्करम् । सयाग्ने रक्षणकरम् । वातन्त्राचननुप्रणिधानननु न श्रेयस्करं किन्तु वैषम्यादिकरमिति भावः । अधिकः

कलांकाष्ठादिवैपम्यं परित्यज्याविर्मू तिविकाराकारित्वेनादूरान्तरं साम्यमिष्यते, ताह्रगेव प्रकृताविष साम्यमस्ययेवेति भावः । अन्ये तु वैषम्यं नाद्वियन्त एव व्यपदेश्यरोगाजनकःवात् । दोषप्रकृतिः

दोषप्रतिकूलयोगीनि त्रीगयनुप्रणिधानानि श्रेयस्कराणि भवन्ति, यावदग्नेः समीभावात् । समे तु सममेव कार्यम्, एवञ्चेष्टा भेषजप्रयोगाश्चापरे । तानि * विस्तरेगानुव्याख्यास्यामः ॥ ६ ॥ दोपाणां त्रयाणां वातलानां पित्तलानां इलेप्गलानाश्च यथास्वं वातलस्य वाताधित्रयं पित्तलस्य पित्ताधित्रयं इलेष्मलस्य इलेष्माधित्रयमभिसमीक्ष्यः। दोपपतिक्रूलयोगीनीति चातलस्य चातपतिक्रूलयोगीनि मधुराम्ललवणा-दीनि। पित्तलस्य पित्तपतिकूलयोगीनि मधुरतिक्तकपायादीनि। इलेप्सलस्य इलेप्प्रतिकूलयोगीनि कडुतिक्तकपायादीनि । यावद्गनेः समीभावात् समल-मातुर्भावपर्यन्तम् । ततस्तेन तेन समे तु वहौ सममेव समसन्बीकारमनुप्रणि-धानं कार्य्यमित्यर्थः। ननु सुश्रुते-प्रकोषो वान्यथाभावः क्षयो वा नोप-जायते। प्रकृतीनां स्वभावेन जायते तु गतायुपीति वचनं वचनेनानेन विरुध्यते 'वातलादीनां विषमाद्यशीनां साम्यकरवचनेन। समाग्नेर्वातलाद्याहारादिना वैपम्याद्याशङ्कायां पालनवचनेन चेति चेत्र। अपकृतिभूतानां कालपकपेण दृद्धिक्षयान्ययाभावा यथा जायन्ते तथा गर्भात् प्रभृति प्रकृतिभूतानां काले-नापि न क्षयरुद्ध्यन्यथाभावा भवन्ति इत्यभिषायेण सुश्रुतवचनम्, न च कारणोप-सेवनेन तु क्षयरुद्धान्यथाभावास्तेन प्रतिपिद्धा इत्यविरोधात्। अथ वातला-दीनां धातुसाम्यापादनेन विवमाद्यग्रीनां सुत्ररूपेण समलकरणातुरक्षणोपायान् उत्तवा निःशेपेण तदुपार्य वक्तमाह—एवञ्चेष्टा इत्यादि। एवश्च वातलादीनां विषमाद्यक्षिसाम्यकरणार्थं दोषप्रतिक्र्लयोगीन्यसुप्रणिधानानि श्रेयस्कराणि निषेच्य समाग्निमापन्नस्य समसन्वरससात्म्यं अयस्करं तथा परे च वातला-दीनां विषमाद्यक्षिसास्यकरणानन्तरं समाग्रिपालका रसायनविशेषा भेषज-प्रयोगा इष्टाः प्रभावात् । वातलादीनां विषमाचित्रसास्यकरणोपायं वक्तुमभि-मेत्याह—तानीत्यादि । दोषप्रतिकूलयोगीनि त्रीण्यतुप्रणिधानानि ॥ ९ ॥ इति इष्टदोपभाविता प्रकृतिरित्यर्थः । दोपे प्रवृद्धे प्रतिकृष्ठतया योगीनि दोपप्रतिकृष्ठयोगीनि श्रीणि वातिपत्तक्षेप्मप्रतिकूलानि च । समे त्विति समतां गते वह्नो । यथोचितविधानेन वात-प्रकृत्यादीनां सममेवानुप्रणिधानं कर्त्तव्यम् । एविमत्यनेन प्रकारेण चेष्टाभेपजयोरिप प्रयोगा वातादीनां भवन्ति । ये तु एवमित्यनेन चतुर्व्विधेनोक्तेन प्रकारेणेति वदन्ति, ते समप्रकृतीनाञ्च

^{. 🧩} तान् इति चक्रः। 🕛

त्रयः पुरुषा भवन्त्यातुरास्ने त्वनातुरास्तन्त्रान्तरीयाणां भिपजाम्। तद् यथा—वातलश्च पित्तलश्च रलेष्मलश्चेति ॥१० तेषामिदं विशेषविज्ञानम्।वातलस्य वातनिमित्ताः पित्तलस्य पित्तिनिमित्ताः रलेष्मलस्य रलेष्मिनिमित्ताः व्याधयः स्युर्वल-वन्तर्च। तत्र वातलस्य वातप्रकोषणोक्तान्यासेवमानस्य चित्रं वातः प्रकोषमापद्यते। न तथेतरौ दोषौ। स तस्य प्रकोष-मापन्नो यथोक्तेविकारैः शरीरमुपतपति। वलवर्णसुखायुपामुष-घाताय। तस्यावज्यनं रनेहरवेदौ विधियुक्तौ, मृद्रनि च

गङ्गाथरः-त्रय इत्यादि । भिषजामिति मते इति शेषः ॥ १०॥

संशोधनानि स्नेहोष्णमधुराम्ललवण्युक्तानि । तद्वद्भयवहार्याणि

गङ्गाधरः—विशेषस्य विज्ञानं लिङ्गम्। वातलस्येत्यादि वलवन्तश्च भवन्ती-त्यन्तमेकं लिङ्गम्, अत एवोक्तं न दोषभक्वतिभवदिति सुखसाध्यलक्षणम्। तत्र वातलस्येत्यादिना द्वितीयं लिङ्गं वातलादीनां वातप्रकोषणोपसेवनेन क्षिप्रं वातादिप्रकोषवचनेन तत् दृषितं येन तु विषजातो यथा कीटो न विषेण विषद्यते। तद्दत् पक्वतिभिर्वद्दस्तज्जातलाच वाध्यते इति सुश्रुतवचनात् पक्वतिरपथ्यसेवनेन नात्यर्थं वाधते इत्युक्तं तद्युक्तम्। सुश्रुतस्य कुपथ्यसेवनेनातिवाधकलाभावाभि-पायाभावात्। परन्तु वाताद्याधिक्येऽपि पक्वतिभूतदोषिरपक्वतिभूतदोषाधिकये वाधावच वाधा भवतीत्यभिप्रायात्। न तथेतरौ दोषाविति अपक्वतिभूतावपरौ द्वौ दोषौ तयोः प्रकोषणोपसेवनेन पक्वतिभूतदोषवत् क्षिप्गं न पक्वत्यत् इति नतीयलक्षणम्। स तस्येत्यादिना शरीरसुपतपतीत्यन्तेन चतुर्थं लिङ्गम्, यथोक्ते-विकारैरशीतिविधादिवातविकारैः। वलादुप्रपद्यातायेति पञ्चमं लिङ्गम्। तस्य वातलस्य वाताधिक्यावज्यनं स्नेहादिकं मृद्नि स्नेहादिगुक्तानि च संशोधनानि वसनविरेचनास्थापनिश्चरोविरेचनानीति चलारि। तद्ददिति स्नेहोष्ण-

समन्यायामादिचेष्टा भेपजञ्ज ऋतुचर्याविधेयं वमनादिकारकं सूच्यतेऽनेनेति ब्याख्या-

बक्रपाणिः—न तथेतरो दोपाविति सत्यापि हेतुसेवयेत्यर्थः, अन्यथा वातप्रकोपणसेवया पित्त-

अभ्यज्यानुप्रपनाहोद्दे ष्टनोन्मईन-परिषेकावगाह-संवाहनावपीड़न-वित्रासनविस्मापनविस्मारणानि च सुरासविधानं रनेहा-श्चानेकयोनयो दीपनीयपाचनीयवातहरवैरेचनीयोपहिताः। तथा श्तपाकाः सहस्रपाकाः सर्व्वश्रश्च प्रयोगार्था वस्तयो वस्तिनियमः सुखशीलता चेति॥ ११॥

पित्तलस्यापि पित्तप्रकोपणोक्तान्यासेवमानस्य पित्तं चिप्रं प्रकोपमाप्यते । न तथेतरौ दोषौ । तदस्य प्रकोपमापन्नं यथोक्तैर्विकारैः शरीरमुपतपति । वलवर्णसुखायुषामुपघाताय । तस्यावजयनं सपिष्पाणं सपिषा च स्नेहनमधश्च दोषहरगां

मधुराम्ललवणयुक्तान्यभ्यवहार्याणि तथा स्नेहादियुक्तान्यभ्यज्यानि तैला-दीनि। तथा स्नेहादियुक्तानुप्रपनाहादीनि स्नेहादियोगेन संवाहनवित्रा-सनयोवातहन्तृतं नानुपपन्नम्। स्नेहाश्चानकयोनय इति स्थावरतिलसर्पपातसी-कुसुम्भादियोनिका दुग्धसम्भवा एवं देहसम्भवा वसा अस्थिसम्भवो मज्जा च ते च स्नेहा दीपनीयादिद्रच्योपहिताः तथा शतपाकाः स्नेहाः सहस्रपाकाश्च स्नेहाः शतवारपाकैः संस्कृता इत्यर्थः। सन्वेशश्च अमकृतिभूतानामिवरोधेन प्रयोगार्था वस्तयोऽनुवासनवस्तयः। वस्तिनियमो दिनद्वयादिप्रतिनियमेन वस्तेः प्रयोगः। सुखशीलता प्रायेण सुखानुशीलनम् ॥ ११॥

गङ्गाधरः—पित्तलस्यापीत्यादिकं पूर्विवत् व्याख्येयम्। तदस्येति तत् पित्तमस्य पित्तस्य यथोक्तैश्रलारिंशता पित्तविकारैः। सपिपा स्नेहनं स्नेहन-

इलेप्मणोर्ग् द्विरेव नास्ति । वित्रासनादयो यद्यपि वातकारकास्तथापि वातजिनतोन्मादिवनाद्यकन्त्रकन्त्रेन चोक्ता इति ज्ञेयम् । उन्मादे हि वित्रासनादि भेपजमिभधायोक्तम्—''तेन याति हामं तस्य सर्व्वतो विष्कुतं मन इति । सर्व्वहाः प्रयोगार्था इति पानाभ्यङ्गवस्त्यादिभिः प्रयोजनीया इत्यर्थः । विस्तिनियम इति वस्तौ यथोक्तियमसेवेत्यर्थः । किंवा 'वस्तिनियम'शब्देन सिद्धौ वक्ष्यमाण-कर्म्मकालयोगरूपं वस्तिसंख्यानियमं कर्त्तव्यतया दर्शयति । वक्ष्यति हि—' 'हान्मताः कर्म्मसु विद्योगाः कालास्ततोऽर्द्धेन'' इति । सुखशीलता सततसुखसेवित्वम् ॥ ११॥

मधुरतिक्तकपायशोतानामौपधाभ्यवहार्य्याणामुपयोगः। मृद्ध-मधुरसुरिमशीतहृद्यानां गन्धानाञ्चोपसेवा, मुक्तामणिहारा-वलीनाञ्च पवनशिशिरवारिसंस्थितानां धारणमुरसा, चृणे चृणे सक्चन्द्रन-७-प्रियङ्गु कालीयमृणालशीतवातवारिभिरूत्पलकुमुद्द-कोकनदसौगन्धिकपद्मानुगतेश्च वारिभिरिमप्रोचणम्, श्रुतिसुख-मृदुमधुरमनोऽनुगानाञ्च गीतवादित्राणां श्रवणं, श्रवणञ्चाभ्यु-द्यानाम्, सुहृद्धिश्च संयोगः, संयोगश्चेष्टाभिः स्त्रीभिः शीतोपहितांशुकस्रादामहारधारिणीभिः, निशाकरांशुशीतलप्रवात-हम्म्यवासः शैलान्तरपुलिनशिशिरसदनवसनव्यजनपवनसेवा, रम्याणाञ्चोपवनानां सुखिशिशिरसुरिभमारुतोपवातानामुपसेवनम्,

कम्म, न तु तैलादिना। अध्वचीत विरेचनेन। हारावली हारश्रेणिः। मुक्तादीनां विशेषणं पवनादिस्थितानामिति जैत्यार्थम्। धारणमुरसा वक्षसि धारणम् इत्यर्थः। क्षणे क्षणे प्रतिक्षणे सकचन्द्रनादीनां योगेन शीतैर्वारिभिरभि-मोक्षणमभ्यक्षणमुत्पलाचनुगतैश्च वारिभिरभ्यक्षणम्। श्रुतिस्रलानि श्रवणस्रलानि मृद्नि मधुराणि हृदयङ्गमानि मनोऽनुगानि च न हि मधुरमपि सर्व्वपां सर्व्व मनोऽनुगमतोऽस्य मधुरस्य वारणाय मनोऽनुगेतिपदम्, स्वस्यमनोऽनुक्लानी-त्यर्थः। अभ्युद्यानां परममङ्गल्यानां वेदादीनाम् इष्टाभिरभिमताभिः स्वमनो-शाभिः शीतोपहितानामंशुकादीनां धारिणीभिः, अंशुकं चीनवसनं स्वय्दाम् मालावाहुल्यम्। निशाकरांशुभिः शीतलं प्रवातश्च वात्तमसृष्टश्च हम्भीत्र तत्र वासः। जैलान्तरं पुलिनं तोयोत्थवालुकामयद्वीपं शिशिरं सदनं शिशिरं वसनं शिशिरं व्यजनं शिशिरं प्रवनस्तेषां सेवा भजनम्। स्रुखानां स्रुखजनकानां शिशिराणाश्च

सेवनश्च पद्मोत्पलनलिनकुमुदसौगन्धिकपुग्डरीकश्तपत्रहस्तानां सौस्यानां सर्व्वभावाणामिति ॥ १२ ॥

श्लेष्मलस्य श्लेष्मप्रकोपणोक्तान्यासेवमानस्य चित्रं श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते । न तथेतरौ दोषौ । स तु तस्य प्रकोप-मापन्नो यथोक्तैर्विकारैः शरीरमुपतपति । वलवर्णसुखायुषाम् उपघाताय । तस्यावजयनं विधियुक्तानि छ संशोधनानि रुचप्रायाणि चाभ्यवहार्य्याणि कटुतिक्तकषायोपहितानि । तथैव धावन-लङ्घनप्रवनपरिसरण-जागरण-युद्धव्यवाय-व्यायामोन्मईन-स्नानोत्सादनानि विशेषतस्तीच्णानाञ्च दीर्घकालस्थितानां

सुरभीणाश्च मारुते उपवातानाम् उपगतानाश्चोपवनानां रम्याणां सेवनश्च, सेवनश्च पद्मादिहस्तानां पुरुषाणाम्, सौम्यानाम् उदकगुणवहुलानाम् ॥ १२॥

गृङ्गाधरः—इलेष्मलस्येत्यादि । पूर्विवद्वग्राख्येयम् । यथोक्तिर्विव्यत्या कफ-विकारैः । संशोधनानि चलारि रुक्षप्रायाणि तथा रुक्षवहुलानि चाभ्यव-हार्य्याणि कट्वादुप्रपहितानि चाभ्यवहार्य्याणि तथा कट्वादुप्रपहितानि यथा-सम्भवं धावणादीनि । धावनं दोलाश्वादिभिः । प्रवनं जलेषु सन्तरणं परिसरणं

चक्रपाणिः -यथोक्तैरिति महारोगाध्यायोक्तैः । अध्य दोपहरणमिति विरेचनादित्यर्थः । अग्रं चन्दनं धवलचन्दनम् । इस्तानामिति कलापानाम् ॥ १२ ॥

चक्रपाणिः—इलेप्मविजयार्थं रुक्षस्यैव हितत्वेन रुक्षाणीति वक्तव्ये यद्रुक्षप्रायाणीति करोति, तेवात्यर्थरुक्षान्नस्य वातानुगुणत्वेन तथा धात्वपोपकत्वेन चासेव्यत्वं दर्शयति । उक्तं हि रस-विमाने—"स्निग्धमश्रीयात् स्निग्धभुक्तं हि स्वद्ते भक्तज्ञाग्निमुदीरयति" इत्यादि । लक्षनमुत् प्लुत्य गमनम् । परिसरणं कुण्डलरूपअमणम् । सर्व्वशक्षोपवास इति सर्व्वलक्षमानि । यदुक्तम्— "चतुष्प्रकारा संशुद्धिः पिपासा मारुतातपौ । पाचनान्युपवासश्च व्यायामञ्चेति लक्षनम् ॥" इति । मद्यानामुपयोगः। सधूमपानः सर्व्वश्रश्चोपवासस्तथोष्णं वासः सुखप्रतिषेधरच सुखार्थमेवेति ॥ १३ ॥

भवति चात्र।

सर्व्वरोगविशेषज्ञः सर्व्वकार्य्यविशेषवित् । सर्व्वभेषजतस्वज्ञो राज्ञः प्राण्यतिर्भवेत् ॥ १४ ॥

तत्र श्लोकाः।

प्रकृत्यन्तरभेदेन रोगानीकविकल्पनम् । परस्पराविरोधश्च सामान्यं रोगदोषयोः ॥ दोषसंख्याविकाराणामेकदोषप्रकोपणम् । जरणं प्रति चिन्ता च देहाग्ने रच्नणानि च ॥

सर्व्वतोगमनम् । तीक्ष्णानां गवादिम्त्राणां पुराणानाम् । सधूमपान इति धूप-पानञ्चेत्यर्थः । उष्णं वासो वस्त्रं सुखार्थमेव न दुःखार्थं सुखपतिषेधः । क्लेशकरश्रमादिकं नातिदुःखकरं यथा स्यात् तथा सेवेत ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः— एतद्विकानफलमाह—भवन्तीत्यादि । सर्व्यगेनेत्यादि ॥ १४ ॥
गङ्गाधरः—अध्यायार्थमुपसंहरति । तत्र श्लोका इत्यादि । द्वे रोगानीके
भवत इत्यारभ्य दशपकृत्यन्तरभेदेन दशरोगानीकस्य विकल्पना । संख्येयाग्रा िव्ययारभ्य पूर्व्यपकृत्यन्तरेण परपकृत्यन्तरस्य परस्परमविरोधः । समानो
हीत्यादिना रोगदोषयोः सामान्यं विशेषश्च । दोपसंख्या विकाराणाश्च संख्या
रजस्तमञ्चेत्यादिना मानसदोपसंख्या। कामेत्यादिना मानसविकाराणां संख्या।
वातिपत्तेत्यादिना शारीरदोपसंख्या। ज्वरातिसारेत्यादिना शारीरविकाराणां
संख्या। तत्र हीत्यादिना दोषप्रकोपणम् । अग्निष्वत्यादिना जरणं जाठरान्नि
पति चिन्ता चतुर्विधवलेन । तेषान्तित्यादिना देहान्ने रक्षणं समाग्निकरणं

उपवासशन्दो हात्र रुङ्घने वर्त्तते । सुखार्थमित्यायतिसुखार्थम् । सुखप्रतिपेधाद्वि इरोप्मक्षये भूते इरोप्मविकाराभावरुक्षणं सुखं भवति ॥ १३ ॥

चुक्रपाणिः-यथोक्ताध्यायज्ञानादेव स्वयं सन्तरोगाभिज्ञं स्तौति-सन्त इस्यादिना । प्राणान्

नराणां वातलादीनां प्रकृतिस्थापनानि च । रोगानीकविमानेऽस्मिन् व्याहृतानि महर्षिणा ॥ १५ ॥

इत्यमिवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते विमानस्थाने रोगानीकं विमानं नाम षण्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

रक्षणञ्चेति चकारात्। तानीत्यादिना वातलादीनां प्रकृतिस्थापनं विकृत्यात्मकप्रकृतिप्रशमनेन समवातिपत्तक्षेष्परूपप्रकृतिकरणम् ॥ १५॥ अध्यायं समापयति—अग्रीत्यादि।

इति श्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ तृतीय-स्कन्धे विमानस्थानजल्पे रोगानीकविमाननामपष्ठाध्याय-जल्पाख्या पष्टी शाखा ॥ ६ ॥

पाति रक्षतीति प्राणपितः । संग्रहे जरयतीति जरणो विह्नस्तं प्रति चिन्ता "अग्निपु" इत्यादिना हृता । प्रकृतिस्थापनानीति भेषजानि ॥ १४ । १५ ॥

हृति चरकचतुरानन-श्रीमचक्रपाणिदत्तविरचितायाम् आयुर्वेददीपिकायां विमानस्थान-व्याख्यायां रोगानीकविमानं नाम षष्टोऽध्यायः ॥ ६ ॥

सप्तमोऽध्यायः ।

अथातो व्याधितरूपीयं दिमानं व्याख्यास्यामः, इतिह स्माह भगवानात्रेयः॥ १ ॥

इह खलु द्यौ पुरुषो व्याधितरूपो भवतः, गुरुव्याधितो लघुव्याधितश्च । तत्र गुरुव्याधित एकः सत्त्ववलश्रीरसम्प-दुपेतत्वाञ्चघुव्याधित इत्र दृश्यते । लघुव्याधितोऽपरः सत्त्वादीनामत्पत्वाद-७-गुरुव्याधित इत्र दृश्यते । तयोरकुशलाः केत्रलं चनुषेत्र रूपं दृष्ट्याध्यतस्यन्तो व्याधिगुरुलाघवे विप्रति-

<u>गङ्गाधरः</u>—अथ 'पुरुपाणां प्रकृतिमानविद्यानार्थं व्याधितरूपीयविमान-मारभते—अथात इत्यादि । व्याधितरूपौ भवत इत्यस्यार्थं व्याधितरूपमधिकृत्य कृतं विमानम् तत् ॥ १॥

गृहाधरः—इहेत्यादि। व्याधितस्यान्योन्यस्येव रूपं ययोर्वप्राधितयोस्तौ व्याधितरूपौ। तत्रेत्यादि। गुरूव्याधितस्तु वस्तुतः स च सत्त्वादुप्रयेतताल्लघु-व्याधित इव दृश्यते इति। लघुव्याधितरूपो गुरूव्याधितः सत्त्वस्य मनसो वृद्धं शरीरस्य सम्पत् ताभ्यामुपततात्। लघुव्याधितोऽपरो वास्तविकः, स च सत्त्ववलशरीरसम्पद्भावाल्लघुव्याधितोऽपि गुरूव्याधित इव दृश्यते। इति गुरूव्याधितरूपो लघुव्याधितरूपो। नन्वेवस्रपदेशस्य किं प्रयोजनिवत्यत आह—तयोरित्यादि। चक्षुपैवति

चक्रपाणिः —पूर्व्वाध्याये व्याधि प्रतिपाद्य व्याधितस्य पुरुषस्य भेदं चिकित्सोपयोगितया प्रति-पाद्यितं तथा तत्प्रसङ्गाच किमीन् प्रतिपाद्यितुं व्याधितरूपीयोऽभिधीयते । हावित्यादौ व्याधिरितो जातो यस्य स व्याधितस्तरिये रूपं यथोस्तो व्याधितरूपो व्याधितसद्द्यावित्ययं । यो हि गुरुव्याधिः सम्पन्नसत्त्वादिना छघुव्याधिर्दश्यते, नासाविष छघुना व्याधिना व्याधितः, किन्तु गुरुव्याधित एवासौ । तेन व्याधितरूपावित्यनेन छघुव्याधियुक्तसद्द्यो बोह्य्या, स तु गुरुणेव व्याधिना व्याधितो गुरुव्याधिरद्रदर्शिना छघुव्याधिरिव दश्यते । एवं विपर्यासाहघुव्याधिती-ऽपर इत्यादाविष व्याख्येयम् । अधमत्वादिति ह्यवरत्वादित्यर्थः । चक्षुणैवैति एत्तरज्ञानसाधिन

^{*} अधमत्वादिति चकः।

* अतिहत्यवैति पाठान्तरम्।

पद्यन्ते। न हि ज्ञानावयवेन कृत्स्ने ज्ञेये विज्ञानमृत्पद्यते। विप्रतिपन्नास्तु खलु रोगज्ञाने चोपक्रमयुक्तिज्ञाने चापि विप्रतिपद्यन्ते । ते यदा गुरुःयाधितं लघुट्याधितरूपमाला-दयन्ति तमल्पदोषं मत्वा संशोधनकालेऽसमे मृदुसंशोधनं प्रयच्छन्तो भूय एवास्य दोषानुदीरयन्ति। यदा तु लघु-व्याधितं गुरुव्याधितरूपमासाद्यन्ति तं महादोषं मत्वाः संशोधनकालेऽस्मे तीच्यां संशोधनं प्रयच्छन्तो दोषानति-निहु त्येव ६ शरीरमस्य चिग्वन्ति । एवमवयवेन ज्ञानस्य कृत्स्ने ज्ञे ये ज्ञानमभिमन्यमानाः परिस्खलन्ति । विदितवेदिवञ्यास्तु भिषजः सर्व्यं सःर्वथा यथासम्भवं परीच्यं परीच्याध्यवस्यन्तो रूपं पुरुषस्य गुरुव्याधितं लघुव्याधितवदूषं लघुव्याधितं गुरुव्याधितवदूषं केवलं चक्षुपैव दृष्ट्वा सत्त्वादिवलं न दृष्ट्वा व्याधेगौ रवे लाघवे च विप्रतिपद्यन्ते प्रतिपत्तिं न लभनते। नन् चक्षुरादेशकैकेनैव रोगवानं भवति कथं विप्रतिपद्यन्ते इत्यत आह्—न हीत्यादि । ज्ञानावयवेन प्रत्यक्षेणानुमानेन वा विना ज्ञानन संधुद्देयेन कातव्ये कृत्सने भावे विकानं नोत्पद्यते। तस्मात् सत्त्ववळशरीरसम्पत्ती विकातुमवर्यं भवतः व्याधिगुरुलाघवकानार्थमिति भावः। ननु किमर्थं व्याधिः कात्रस्येन ज्ञातव्यः स्वरूपतो ज्ञानमात्रेणैव उपक्रान्तुमहिति इत्यत आह— विमितिपनास्तित्यादि। रोगकाने च विमितिपना वैद्या रोगस्योपक्रमस्य युक्तेश्व बाने च विपतिपद्यन्ते प्रतिपत्तिं न लभनते। नतु तथाविप्रतिपत्तौ का च हानिरित्यत आह-ते यदेत्यादि । स्पष्टम् । ज्ञानावयवतो ज्ञानवादिनं मोपलक्षणम् । तेन स्पर्शोदिनापि विशेषानवगाहकेनेति वोद्वच्यम् । रूपमिति विरूपम् । अध्यवस्थन्त इति निश्चयं कुर्वन्तः । गुरुरुायवे विप्रतिपद्यन्त इति गुरुरुपुत्वे न प्रतिपद्यन्ते । ं अत्रैंव विरुद्धप्रतिपंत्ती हेर्तुमाह—न हीत्यादि । ज्ञानावयवेनेति एकदेशज्ञानेन । विप्रति-पत्तिफोर्लमाह — विप्रतिपद्मास्त्वित्यादि । उपक्रमस्य भेपज्ञयोगस्य विकारेण समं योजना इपक्रसंयुक्तिः, तस्या ज्ञाने विरुद्धप्रतिपत्तिमन्तो भवन्ति । प्तदेव झ्याकरोति —ते यदेत्यादि । आसादियन्तीति बुध्दन्ते । उँदीरयन्तीति प्रकीपयन्त्येव पूरं न स्वरूपबलत्वाद् हरन्तीत्यर्थः । अति-

न कचिद्रपि विप्रतिपद्यन्ते, यथेष्टमर्थम्भिनिर्व्वर्त्तयन्ति जेति॥२॥

भवन्ति चात्र।

सत्त्वादीनां विकल्पेन व्याधीनां रूप-छ-मातुरे।

हष्ट्रा विप्रतिपद्मन्ते वाला व्याधिवलावले॥

ते भेषजमयोगेन कुर्व्वन्त्यज्ञानमोहिताः।

व्याधितानां विनाशाय क्लेशाय महतेऽपि वा॥

प्रज्ञास्तु सर्व्वमाज्ञाय परीच्यमिह सर्व्वथा।

न स्वलन्ति प्रयोगेषु भेषजानां कदाचन॥ ३॥

इति व्याधितरूपाधिकारे श्रुत्वा व्याधितरूपसंख्यायसभ्भवं

द्रुपयति—एविमत्यादि । एवमनेन प्रकारेण । विदितेत्यादि । विदिताः सर्व्यथा विकाता वेदितव्या कोया यस्ते तथा—यथेष्टमर्थं अभिमतप्रयोजनम् ॥ २॥

गुङ्गाधरः-पूर्व्यक्तिमर्थं तद्विद्यव्यवसायार्थं प्रदेशनाह्-भवन्ति चात्रेत्यादि।

सत्त्वादीनामित्यादि श्लोकत्रयं स्पष्टम् ॥ ३॥

गुर्हाधरः अत उद्ध् क्रिम्युपदेशस्य सङ्गतिमाह — च्याधितरूपाधिकारे श्रुतत्यादि । च्याधितरूपसंख्याग्रसम्भविमिति च्याधितरूपस्य पुरुपस्य मंद्रुग्राया अग्रस्याधिवयस्य गुरुव्याधिते लघुच्याधितरूपत्वं लघुच्याधितस्य गुरुव्याधितरूपत्विम्यादश्च्याधितरूपत्वस्य सम्भवं श्रुता । अग्रं पुरुस्तादुपरि परिमाणं परस्य च । आलम्बने समूहे च पानतरे स्यात् नपुंसइत्येति अतियोगेन हत्वेत्यर्थः । ज्ञानस्येति ज्ञानसाधनस्य । यथासम्भविमिति यानि यत्रं ज्ञानसाधनानि भवन्ति, तैसत्र । परीक्ष्यं सत्त्वादि । न कचिदपीति गौरवलाघवादौ ॥ ११२ ॥

क्रिपणिः — एतदेव सत्त्वम्रहणार्थं श्रोकेनाह — सत्त्वेत्यदि । ज्याफिल्पमिति । व्याफिल्पमिति । व्याफिल्पमिति । व्याफिल्पमिति । व्याफिल्पमिति । व्याफिल्पमिति । व्याफिल्पमिति ।

चक्रपाणिः—एतदेव सुखग्रहणार्थं श्लोकेनाह—सुत्त्वेत्यादि । ज्याभिरूपमिति ज्याभेर्गति-रूपमित्यर्थः । ज्याधितरूपमिति तु पाठः सुगमः । जाला दृत्यलपद्याः, अयोगेनेत्यसम्यग्-जोगेन । तेनातियोगमिध्यायोगयोर्थहणं भवति ॥ ३,॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति व्याधिगुरुलाघवस्य इत्त्रैयताप्रसङ्ग न इत्त्रैयक्रिमिस्यापकमप् प्रकर्ण-मारभते—व्यापित इत्यादि । संख्याप्रसम्भवमिति संख्याप्रमाणसम्भवमित्यर्थः । अप्रशब्दो

क्याभिक्पमिति चक्रधतः पादः ।

व्याधितरूपहेत्विप्रतिपत्तौ कारणं सापवादं संप्रतिपत्तिकारणञ्च अनपवादं भगवन्तमात्रेयमधिवेशोऽतःपरं सर्विक्रमीणां पुरुष-संश्रयाणां समुत्थानस्थानसंस्थानवर्णनामप्रभावचिकित्सितिशे-षान् पत्रच्छोपसंग्रह्म पादौ ॥ ४ ॥

अथास्मे प्रोवाच भगवानात्रेयः। इह खंल्वसिवेश, विंशतिविधाः क्रिमयः पूर्व्यमुद्दिष्टा नानाविधेन प्रविभागेनान्यत्र सहजभ्यः। ते पुनः प्रकृतिभिर्विभज्यमानाश्चतुर्विधा भवन्ति। तदु यथा—पुरीषजाः श्लेष्मजाः शोणितजा मलजाश्चेति । तत्र मलो वाह्यश्चाभ्यन्तरश्च। तत्र वाह्यमलजातान् मलजान् कम्। अधिके च प्रधाने च प्रथमे चाभिष्यवत्। असकोणे कचे पु'सि ह्रीव-मश्रणि शोणिते। इत्यभिधानादधिकार्थे अत्रश्चरः। एवं पूर्विपरस्मिश्च व्याख्या-तम् । व्याधितरूपस्य हेतोविंपतिपत्तौ प्रतिपत्त्यभावे कारणं कानावयवरूपं साप-वादं सदोषं श्रुला व्याधितरूपस्य हेतोः सम्प्रतिपत्तिकारणं ज्ञानसमुदायमनप्वादं निर्दोषं अला अग्निवेशोऽतः परं द्विविधव्याधितरूपस्योपदेशानन्तरं पुरुपाणां क्रिमिच्याधितानामक्रिमिच्याधितरूपत्नेन विज्ञानं सदोषं क्रिमिमतीकाराकरणेन रोगानुच्छेदात् क्रिमिच्याधितहेतुकानन्तु निरपवादं तत्पतिकारेण क्रिम्यु-च्छेदादतः पुरुषसंश्रयाणां सर्व्विक्रमीणां समुत्थानादिविशेषान् पप्रच्छ ॥ ४॥

गङ्गाधरः-अथास्मा इत्यादि। इहेत्यादि उत्तरमाह-पूर्व्वमष्टोदरीये। नानाविधेन युकादिनामभेदेन वाह्यमलजलेन द्विधा शोणितजलेन केशादादिनाम्ना षट्कफजलेनाच्चादादिनाम्ना सप्त पुरीपजलेन ककेरुकादिनाम्ना पश्चपविभागेन विंशतिः क्रिमिजातय उक्ता अत्र तन्त्रे सहजिक्रिमिभ्योऽन्यत्र सहजाः क्रिमियस्त तत्र नोक्ता अवैकारिकलात् । ते पुनश्रतुर्विधेति स्पष्टम् । तत्रेत्यादि । वाह्यमलः परिमाणवाची । व्याधितरूपस्य हेतुः सत्त्वादिवलवत्त्वाबलवत्त्वे, तत्कृतो विप्रतिपत्तिव्योधितरूपं-हेतुविप्रतिपत्तिस्तत्र । कारणं एकदेशेन ज्ञानम् । सापवादमिति सदोपम् । सम्यक् प्रतिपत्तिः संप्रतिपत्तिः॥ ४॥

खातपाणिः—पूर्वमुद्दिष्टा इत्यष्टोदशीये मंज्ञामात्रकथिताः । अन्यन्न सहजेभ्य इत्यनेन शरीर-सहजास्त्ववैकारिकाः किमयो विंशतेरप्यधिका भवन्तीति दर्शयति । प्रकृतिभिरिति कारणैः । मरुजा व्याचदमहे। तेषां समुत्थानं मृजावर्ज्जनं स्थानं केशश्मश्रुलोम-पदमवासांसि। संस्थानमण्यक्तिलाकृतयो बहुपादाश्च। वर्णस्तु कृष्णः शुक्कश्च। नामानि चैषां यूकाः पिशीलिकाश्च। प्रभावः कण्डूजननं कोठिपड़काभिनिट्वर्त्तनञ्च। चिकित्सितन्तु खल्वेषा-मपकर्षणं मलोपघातो मलकराणाञ्च भावानामनुपसेवन-मिति॥ ५॥

शोणितजानान्तु कुष्ठैः समानं समुत्थानम् । स्थानं रक्त-वाहिन्यो धमन्यः । संस्थानम् अग्रावो वृत्ताश्चापादाश्च । सूच्मत्वाच्चैके भवन्त्यदृश्याः । वर्णस्तेषां ताम्रः । नामानि केशादां लोमादा लोमद्वीपाः सौरसा श्रीडुम्चरा जन्तुमातरश्चेति । प्रभावः केशश्मश्रुलोमपच्मापध्वंसो त्रणगतानाश्च हर्षकण्डूतोदः संसर्थणानि । अतिप्रवृद्धानाश्च । त्वक्तिरास्त्रायुमांसतरुणास्थि-भच्नणमिति । चिकित्सितमप्येषां कुष्ठैः समानम्, तदुत्तरकालम् उपदेच्यामः ॥ ६ ॥

शरीरकेशादिस्थः, आभ्यन्तरः पुरीषादिः, मृजावर्जनं गात्रमार्जनाविधानम् स्थानं केशादि स्पष्टम् । संस्थानमाकारः । अणवः सह्माः । पिपीलिकास्तन्यै- र्लिख्या उच्यन्ते । अपकर्षणमाकर्षणं कङ्कत्यादिभिः । मलोपघातो मलाप- इरणविधानम् ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—शोणितेत्यादि । कुष्टैः समानं सम्रत्थानं निदानं कुष्टाधिकारे कुष्टानां यद्यनिदानमुक्तं तत्तनिदानं तत्कुष्टकरिक्रमीणां निदानिमत्यथेः । संस्थानं शरीरस्याकारः । दृत्ता वर्त्तु लाः । सूक्ष्मलादेके भवन्त्यदृश्या इत्यनेनान्ये केचिद् दृश्याश्च भवन्त्यनितस्रक्षलात् । नामानि स्पष्टानि । व्रणगतानां प्रभावो हर्षादीनि, अतिपद्दद्धानाश्च प्रभावस्लगादिभक्षणम् । कुष्टैः समानं सम्रत्थान-

इति वाद्यमलजाः । पिपीलिकां लिक्षां केचिदाहुः । क्रिमीणां संज्ञा खशास्त्रव्यवहारसिद्रा देशान्तर-

श्लेष्मजाः चीरगुड्तिलमत्स्यानूपमां तिपष्टान्नपरमान्नकुसुस्मस्नेहाजीर्गा-पृति-क्लिन्न-संकीर्गा-विरुद्धासात्मप्रभोजन-समुत्थानाः। तैषामामाशयः स्थानम्। प्रभावस्तु ते प्रवर्द्धमानास्तृर्द्धसंघो वा विसर्पन्त्युभयतो वा। संस्थानवर्गाविशेषास्तु श्वेताः
पृथुव्यक्तसंस्थानाः केचित्, केचिद् वृत्तपरिगाहा गण्डूपदाकृतयः
श्वेतास्ताम्रावभासाश्च। केचिदग्वो दीर्घास्तन्त्वाकृतयः श्वेताः,
तेषां त्रिविधानां श्लेष्मिनिमत्तानां किमीगां नामानि—
मन्त्रादा उदरादा हृदयचराश्चुरवो दर्भपुष्पाः सौगन्धिका महागुदाश्चेति। प्रभावो हृत्लास आस्यसंस्ववणमरोचकाविपाको
ज्वरो मूर्च्छा जृम्भा चवथुरानाहोऽङ्गमईश्लुर्द्धः कार्श्य पारुष्यम्
इति॥ ७॥

पुरीषजास्तुल्यसमुत्थानाः श्लेष्मजैः। तेषां पकाश्य एव

मिति वचनेन एपां कुष्ठकरलं कुष्ठेष्वेव सर्भावश्च न पृथगिति रूपापितम्। कुष्ठेः समानं कुष्ठोक्तं चिकित्सितं तदुत्तरकालं कुष्ठाधिकारे उपदेक्ष्यामः॥ ६ ॥

गृह्मधरः—इल्लेज्जा इत्यादिना इल्लेज्जिक्षिणां निदानम्। अजीणादिभिः प्रत्येकं भोजनेतिपदं योज्यम् वर्णोपदेशसहिताकृतिवचनात् पृथ्वाद्याकाराः इतिता नान्ये वर्णाः। परीणाहेन दृत्ताश्च गः दृष्दाकृतयश्च ये. ते इवेता एकदेशे ताम्रावभासा अपरदेशे। ये च केचित् तन्तुसमाकृतयः दीर्घा अणवश्च, ते इवेता एवेति त्रिविधा आमाश्चये कफाद् भवन्ति। ते त्रिविधाः सप्तनामानः। उदरादा इत्यादि। उदरमदन्ति इत्युदरादा इत्येवमादिकम्भकरतेन संशा। प्रभाव इति प्रभावजकार्यमित्यर्थः कारणे कार्य्योपचारात् एवं पूर्व्य परे च बोध्यम्। एषां चिकित्सितं वक्ष्यति॥ ७॥

गुर्भाधरः पुरीपजास्तित्यादि । पुरीपजास्तु तुल्यसम्रत्थानाः इलेष्मजैः

प्रसिद्धा च बोद्धया । प्रभावमिति स्वशक्तिसम्पाद्यमित्यर्थः । हर्पकण्डादयो त्रणदेश एव झेयाः, परमानं पायसम् । संकीर्णभोजने हृणाविषयमिश्रितस्यक्षनादिभोजनम् । हानो मांसपेशी ॥५ - ७॥ स्थानम् । प्रमावस्तु प्रवर्द्धमानास्तेऽघो विसर्पन्ति, यस्य पुन-रामाश्योन्मुखाश्च स्युर्यदन्ताम्, तदन्तरं तस्योद्वारिनिश्वासाः पुरीषगन्धिनः स्युः । संस्थानवर्णाविशेषास्तु सूच्मवृत्तपरीगाहाः श्वेता दीर्घोगाशुसङ्काशाः क, केचित्, केचित् पुनः स्थूलवृत्त-परीगाहाः श्यावनीलहरितपीताः । तेषां नामानि ककेस्का भके-रुका लेलिहाः सश्रूलकाः सौसुरादाश्चेति । प्रभावः पुरीषभेदः काश्यं पारुष्यं रोमहर्षाभिनिर्वर्त्तनञ्च । त एव चास्य गुद्मुखं परितुदन्तः कराङ्क्ष्वोपजनयन्तो गुद्मुखं पर्य्यासते । ते जातहर्षा गुद्दनिष्क्रमण्मतिवेलं कुर्व्वन्ति । इत्येवमेष श्लेष्मजानां पुरीषजानाञ्च समुत्थानादिविशेषः ॥ = ॥

इति। पकाशयो नाभरधः। प्रभाव इति पूर्व्वत् प्रभावकार्ध्यमित्यथः। यस्य पुनः प्रवर्द्धमानास्तु ते यद्नतरं यन्मध्ये आमाशयोन्मुखाः स्युस्तदन्तरं तस्य पुरुषस्य उद्गारनिश्वासाः। संस्थानेत्यादि। स्थ्मा हत्ताः परीणाहाः चतुः- प्यार्था येपां ते तथा। दीर्घोणांशुसङ्काशाः दीर्घमेषलोमसहशाः। स्थूला हत्ताः परीणाहा येपां ते तथा। श्यावनीलहरितपीता एकदेशे श्यावा अपरदेशे नीला अन्यदेशे हरिता इतरदेशे पीता इति चतुर्वणाः। तेषां दिविधानां नामानि ककेरुकादीनि पश्च प्रभावः प्रभावजं कार्यं पुरीपभेदादिकम्। त एव ककेरुकाद्याः पर्यासते परिवसन्ति। ते इति पुरीपजिक्तमयः गुदनिष्क्रमणं गुद्निःसरणमितवेलमितागां समुत्थानादेः सम्माप्तगादेविशेषो भेदः, न तु निदानादिविशेषः। सुश्रुते तु—असात्मग्राध्यशनाजीर्णविरुद्धमिलनाशनः। अञ्यायामदिवास्त्रम-गुर्वितिम्त्रग्यशीतलैः। मापिष्टान्नविदल-विस्त्राालूकसे-रुकैः। पर्णशाकसुराशुक्त-दिधिशीरगुरुक्षिभः। पलालान्पपिशित-पिण्याक-पृथुकादिभिः। स्वाद्वम्लद्रवपानैश्च इलेप्मा पित्तश्च कुप्यति। क्रिमीन वहु-

चक्रपाणिः यदन्तरमिति यस्मिन् काले, तदन्तरं तत्कालमेव। जणांशुसंकाशा इति मेपलोमतुल्याः। पर्व्यासत इति क्षिपन्ति किंवा गुरं परिवारयौसते। अतिबेलमिति पुनःपुनः॥ ८॥

^{*} दीर्घा जर्णाशुसंद्वाशा इति पाठान्तरम् ।

चिकित्सितन्तु खल्वेषां समासेनोपदिश्य पञ्चादिस्तरेण उपदेच्यामः। तत्र किमीणामपकर्षणमेवादितः कर्त्तव्यम् ; ततः

विधाकारान् करोति विविधाश्रयान्। आमपकाशये तेपां प्रसवः पायशः स्मृतः। विंशतेः क्रिमिजातीनां त्रिविधः सम्भवः स्मृतः। पुरीपकफरक्तानि तेषां वक्ष्यामि छक्षणम् । अथवा वियवाः किष्याश्चिष्या गण्डूपदास्तथा । चुरवो द्विग्रुखाइचैव सप्तैवैते पुरीपजाः। इवेताः सूक्ष्मास्तुदन्त्येते गुदं प्रति सरन्ति च। तेषामेवापरे पुच्छैः पृथवश्र भवन्ति हि। शुलाग्निमान्यपाष्ड्रत-विष्टम्भवल-संक्षयाः। प्रसेकारुचिह्द्रोग-विङ्भेदास्तु पुरीपजैः। रक्ता गण्डूपदा दीर्घा गुद-कण्डूनिपातिनः। शुलाटोप्शकृद्भेद-पक्तिनाशकराश्च ते। दर्भपुष्पाः महापुष्पाः पळ्नाश्चिपिटास्तथा। पिपीलिका दारुणाश्च कफकोपसमुद्भवाः। रोमशा रोम-मूर्द्धानः सपुच्छाः इयावमण्डलाः। रूढ्धान्याङ्कुराकाराः शुक्कास्ते तनवस्तथा ! मज्जादा नेत्रलेट्रारस्तालुश्रोत्रभुजस्तथा। शिरोह्द्रोगवमथु-प्रतिश्यायकराश्च ते। केशलोमनखादाश्च दन्तादाः किविकशास्तथा। कुष्टुजाश्च परीसर्पा होयाः शोणितसम्भवाः। ते सरक्ताश्च कृष्णाश्च स्त्रिग्धाश्च पृथवस्तथा। रक्ताधिष्टान-जान् प्रायो विकारान् जनयन्ति ते। मापपिष्टान्नलवण-गुङ्शाकैः पुरीप्जाः। मांसमापगुड्क्षीर-द्धिशुक्तैः कफोज्जवाः। विरुद्धाजीर्णशाकादैगः शोणितोत्था भवन्ति हि। ज्वरो विवर्णता शूलं हृद्रोगः सदनं भ्रमः। भक्तद्वेषोऽतिसारक्च सञ्जातक्रिमिलक्षणम् । दश्यास्त्रयोदशाद्यास्तु क्रिमीणां परिकीर्त्तिताः । केशा-दाचास्त्रदश्यास्ते द्वावाद्यौ परिवर्ज्जयेत्।।इति। अत्र पुरीपशब्देन मला उच्यन्ते। तत्र मला द्विविधा वाह्या आभ्यन्तराश्च चरकेणोक्ताः, तदाभ्यन्तरमलजास्तु पश्च ककेरुकादय जक्ता वाह्यमलजा द्विविधा यूकाः पिपीलिकाश्चेति सप्त । सुश्रुते मलत्तसामान्येन पुरीपपदेन मलद्वयम् श्रिभेत्य सप्त पुरीपजा उक्ता इत्यविरोधः। कफजास्तु सप्तान्त्रादादयभ्चरकेणोक्ताः। सुश्रुते तु दर्भपुष्पादयः पट् कफजा उक्ताः परन्तु शोणितजाः सप्त चोक्ता मज्जादा नेत्रलेदारः तालुश्रोत्रभुजः केश-लोमनखादा दन्तादाः किविकशाः क्रष्टजाञ्चेति। चरके तु षट् शोणितजाः केशादादयः उक्ता इति विंशतिखव्याघातो नोभयमते किन्तु नामभेदः। अपि चैषां नामानि कानिचित् सान्वयानि कानिचिन्निरन्वयानि जानीयात् ॥ ८॥ गङ्गाधरः—चिकित्सितिमत्यादि। तत्र क्रिमिीणामित्यादिना सूत्ररूपतया

प्रकृतिविघातोऽनन्तरं निदानोक्तानां भावानामनुषसेवनिमिति।
तत्रापकर्षणं हस्तैनाभिण्ह्य विस्र्रथोपकरण्यता वाप्यपनयनम्
अनुपकरण्यता वा। स्थानगतानान्तु क्रिमीणां भेषजेनापकर्षण्म्।
न्यायतस्तचतुर्व्विधम्; तद् यथा—शिरोविरेचनं वमनं विरेच्छ्काआस्थापनिमत्यपकर्पणविधिः। प्रकृतिविघातस्त्वेषां कटुक्मर्पपकषायचारोष्णानां द्रव्याणामुपयोगः। यचान्यदपि विन्तनश्लेष्मपुरीषप्रत्यनीकभृतं तत् स्यादिति प्रकृतिविघातः। अनन्तर
निदानोक्तानां भावानामनुषसेवनं यदुक्तं निदानविधौ, तस्य
वर्जनं तथाविधप्रयोगाणाश्चापरेषां द्रव्याणाम्। इति लच्चणतः
चिकित्सितमनुव्याख्यातमेतदेव पुनर्विस्तरेणोपदेच्यते॥६॥

अथैनं क्रिमिकोष्ठमये पड़्रात्रं सप्तरात्रं वा स्नेहस्वेदाभ्याम् उपपाद्य श्वोभृते एनं संशोधनं पायियतास्मीति चीरगुड़-

समासेन चिकित्सितम्। प्रकृतिविद्यात इति मलकफशोणितपुरीपाणां प्रकृतीनां निर्हरणादिना प्रतीकारः। तत्रापकपणित्यादिना भाष्यरूपतया च सङ्घेष-चिकित्सितम्। हस्तेनेति उद्धेमध्यच किश्चिन्निःस्रताभिपायेण उपकरणं हस्त-लग्नवस्तु विशेष आहरणार्थं ग्रहणयोग्यः। स्थानगतानामिति मलादुप्रक्तस्वस्थान-स्थितानाम्। न्यायत इति यथाविधितः। अपकर्पणं विद्यणोति। तच्चेत्यादि। अनन्तरमिति अपकर्पणानन्तरं प्रकृतिविद्यातस्ततः परम्।। ९।।

गुङ्गाधरः-अथैनमित्यादि । पङ्रात्रं सप्तरात्रं वा स्नेहस्वेदाभ्यामुपपाद्या-

चक्रपाणिः—अपकर्षणं हस्तादि संशोधनानि च, प्रकृतेः कारणस्य इलेप्सरूपस्य । विघातः प्रकृतेरित्यर्थः । उपकरणवतेति सन्दंशादुप्रकरणयुक्तेन । तत् स्यादिति विघातः स्यादिति योजना । निदानोक्तानां भावानामनुपसेवनिमति विवरणानुवादः । अस्य विवरणम्—'यदुक्तम्' हत्यादि । तथाप्रायाणामिति इलेप्सजपुरीपजिक्तिमिनिदानसदृशानामित्यर्थः । लक्षणत इति संक्षेपतः । संक्षेपो हि विस्तरस्य ग्राहकं लक्षणं भवति ॥ ९॥

द्धि-तिल-मत्स्यानूप-मांस-पिष्टान्नपरमान्नकुसुम्भरनेहसंप्रयुक्तेः भोज्येः सायं प्रातश्चोपपाद्येत्, समुद्रीरगार्थञ्च किमीगां कोन्ठाभिसरणार्थञ्च भिषक्। ज्रथ न्युष्टायां रात्रगं सुखोषितं भे नीर्ग्यभक्तश्च विज्ञायास्थापनवमनविरेचनैस्तद्हरेवोपपाद्येत् तेषां दिनी धरचेत् स्यात्, सर्व्वान् परीच्य विशेषान् परीच्य द्विम्धक् ॥ १०॥

अथाहरेति ब्र्यात् म्लकसर्वपलशुनकरञ्जशियु मधुशियु -खरपुष्पाभूस्तृगासुसुखसुरसकुठेरकगगडीरकालमालपर्गासच्दक-फिंगिज्भकानि । सर्वागयथवा यथालाभं तान्याहृतान्यभि-सभीच्य खराडश्रञ्द्रियत्वा प्रचाल्य पानीयेन, सुप्रचालितायां स्थाल्यां समावाप्य गोमूत्रेणार्द्वोदकेनाभिषिच्य साधयेत्, सततम्

नन्तरमष्टमे दिने क्षीरगुड़ादिसंप्रयुक्तैभींच्यैः सायं पातरिति पात्ने चापरात्ने च तादशानिभोज्यानि भोजियला रात्रग्रां च्युष्टायां वासं कारियला ततो नवमे दिने सुपजीर्णभक्तं सुखोपितश्च ज्ञाला सर्व्यानास्थापनादियोग्यलादिकान् सस्यक् परीक्ष्य विशेषान् सुकुमारलादीन् सम्यक् परीक्ष्य चेद् यदि स पुरुप आस्थापना-दिभिः उपपादियनुमर्हः स्यात्, तदास्थापनवयनविरेचनैस्तदहरेव तस्मिन् नवमे एव दिने उपपाद येदिति ॥ १०॥

गङ्गाधरः--नन्वास्थापनादिकं कथमुपकरुपयेदित्यत आह-अथाहरेत्यादि । आहर आहरणं कुर्व्धित ब्रूयात्। कानीत्यत आह—मूलकेत्यादि। करङ्जो गोकरञ्जः, शिप्रः शोभाञ्जनः, मधुशिप्रः रक्तशोभाञ्जनः, खरपुष्पा यमानी,सुमुखः शाकभेदः, गण्डीरं दृर्घाभेदः। सन्वीणि यथालाभं वा मूलकादीनि कुट्टियला

चक्रपाणिः - कोष्टाभिसरणार्थमिति क्षीरगुड़ादिलोभेन देशान्तरं परित्यज्य कोष्टगमनार्थम् । तदहरेवेत्येकस्मिन् दिने, एतच्चेंकदिन एव भूरिकार्मकरणं स्याधिप्रभावाद् योद्धस्यम् । एतच्चेंकाहेन सर्व्वकरणं यदि शरीरवलादिसम्पद्युक्तः पुरुपो भवति, तदेवं परं कर्तव्यम्, नान्यथेत्याह— उपपादनीयञ्चेत् स्यादित्यादिना ॥ १० ॥

चक्रपाणिर—मधुशियुः शोभाञ्जनम्, अत्र क्राध्यद्गव्यज्ञलादिमानं क्राधपरिभापया कर्त्तव्यम्।

अवघटयन् द्रव्यो । तिसम् शीतीमृते तृपयुक्तभृयिष्ठेऽम्भिस् गतरसेष्वीपधेषु स्थालीमवतार्य्य सुपरिपृतं कषायं सुखोष्णं मदनफलिपप्पलीविङ्क्षकल्कतेलोपिहतं खिर्ज्जिकालविण्तिमभ्या-सिच्य वस्तौ विधिवदास्थापयेदेनम् । तथार्कालर्ककुटजाढ्की-कृष्ठकेटर्य्यकपायेण् वा, तथा शियुपीलुकु तुम्बुरुकटुकासपप-कषायेण्, तथामलकश्रृङ्गवेरदारुहरिद्रापिचुमईकषायेण् मदन-फलादिसंयोगयोजितेन त्रिरात्रं सप्तरात्रं वा क्ष स्थापयेत् । प्रत्या-गतै च पश्चिमे वस्तौ प्रत्याश्वस्तं तदहरेवोभयतोभागहरं

अप्राणेऽद्धीद्कराम् त्रे सततमेव द्विपा घट्टयन् उत्तोलनिवारणाय पत्तवा कल्केषु तेषु मूलकादिषु औपधेषु सत्मु उपयुक्तभूत्रिष्टेऽम्भसि चतुर्थावशेषे तिस्मन् काथेऽप्टांशशेषे वा सति स्थालीमवताय्यं तं मुलोष्णं कपायं मुपूतं मदनफलवीजविद्धः कल्कतेल्युक्तं स्विजिंकालवणयुक्तं वस्तौ अभ्यासिच्य पूर्यिता आस्थापयेत् निरूहयेत्। एवं त्रिरात्रं सप्तरात्रं वास्थापयेत्। आस्थापनान्तरयोगमाह—तथाकित्यादि। अर्को रक्ताकः अलको धवलाकः कैटर्पं कट्फलम्। एपां काथो द्वितीयमास्थापनम्। तथा ततीयास्थापनयोगमाह—तथा शिष्टिवत्यादि। चतुर्थास्थापनयोगमाह—तथामलकेत्यादि। मदनफलन्त्वललकितलक्षाजिकालवणयुक्तेनेपामन्यतमेन काथेन काथविधः पूर्ववत्याः उपयोगः सम्भवतीत्यत आह—मत्यागते च पश्चिमे वस्तावित्यादि। शेप्वविचे उपयोजितवस्तौ प्रत्यागते गुद्दतो निःस्ते सति पुनस्तं पुरुपं मत्याश्वस्तं मत्याश्वतेन सम्पाद्य तद्हरेव च यमनिवरेचनायेन सम्पाद्य तद्हरेव उभयतोऽध्य अद्धुश्च भागहरं वमनिवरेचनोभय-

उपयुक्तम्य्यिष्ठे प्रक्षीणम्यिष्ठे इत्यर्थः। गतरसेष्वौषधेष्विति जले संक्रान्तरसेषु। अनेन कपायसिद्धि-लक्षणेन यावता जलेन पाकेन चौषधानि गतरसानि भवन्ति तावदेव जलं देयम्, तावांश्च पाकः कर्त्तारमः, नावद्यं परिभाषया सर्व्वत्र क्रमं दर्शयति। परिपृतमिति वस्त्रगालितम्। वस्तौ देमानं सिद्धौ वक्ष्यमाणेन ज्ञेयम्। अलकों मन्दारः।

त्रिरात्रं सप्तरात्रं वेत्यत्र त्रिवार्मिति चक्रधतः पाठः।

संशोधनं पाययेत् युत्तया। तस्य विधिहैंपदेचयते—मदनफल-पिप्पलीकषायस्यार्द्धाञ्जलिमात्रेण त्रिवृताकलकाचमात्रमालोड्य अनुपातुमस्मै प्रयच्छेत्, तदस्य दोषमुभयतो निर्हरति साधु। एयमेव कल्पोक्तानि वसनविरेचनानि प्रतिसंख्ड्य पाययेदेनं बुद्ध्या सर्व्वविशेषानवेच्यमाणो भिषक् ॥ ११ ॥

अथैनं सस्यग्विरिक्तं विज्ञायापराह्णे शैखरिककषायेण सुखो-णोन परिषेचयेत्। तैन चैव कषायेण वाद्याभ्यन्तरान् सर्व्वोद-कार्थान् कारयेत् शश्वत्। तदभावे कटुतिक्तकषायाणामोषधानां कार्थम् त्रचारेवां परिषेचयेत्। परिषिक्तञ्चेनं निर्धातमागारमनु-प्रवेश्य पिप्पलीपिप्पलीमूलचन्यचित्रकश्चक्तवेरैः सह सिद्धेन यवाग्वादिना क्रमेणोपचरेत्। विलेप्याः क्रममागतञ्चेनमनु-वासयेद्विङ्क्षतैलेनैकान्तरं द्विस्त्रिवां। यदि पुनरस्याभिवृद्धान्

करमौषधं पाययेत्। उभयतोभागहरमौषधमाह—मदनफलेत्यादि। पिप्पलीशब्दो वीजवाची, न तु ऊपणावाची अत्र वोध्या। उभयतोभागहरणयोगकल्पनार्थं युक्तिं दर्शयता शोपानुभयतोभागहरयोगान् कल्पयितुमाह—एवमेवेत्यादि। प्रतिसंस्डय संस्ष्टानि कृता।। ११।।

गङ्गाधरः—अथेत्यादि। सम्यग्विरिक्तं वान्तश्च विकायेत्यर्थः। जैखिरिको-त्र ऽपामार्गः। सन्विदेकार्थान् रनानाचमनादिविधानायोदकार्थान्, न त्वन्यदुद-कम्। तद्दभावे अपामार्गाभावे कट्टादिरसद्रन्याणां (काथैः)। मूत्रक्षारै रिति मूत्रमिश्र-क्षारैः यवक्षारादेत्रः। सह सिद्धेनेति पिष्पल्यादिकल्कसिद्धेन पेयादिना क्रमे-णोपाचरणतस्तु विलेपीक्रमं पाप्तमेनं विङ्क्ततैलेनासुवासयेत्। एकान्तरं द्वौ वारौ त्रीन् वारान् वासुवासयेदित्यन्वयः। त्रिविधसंशोधनिद्यस्त्वा शिरो- शीर्षादान् किमीन् मन्येत, शिरस्येवाभिसर्पतः कदाचित्, ततः रनेहस्वेदाभ्यां शिर उपपाद्य विरेचयेदपामार्गतगडुलादिना शिरोविरेचनेन ॥ १२॥

यस्वभ्यवहाय्यो विधिः प्रकृतिविधातायोक्तः क्रिमीणाम्, अथ तमनुध्याख्यास्यामः। मृषिकपणी क्ष समूलायप्रताना-माहृत्य खराडश्रहेदियत्वा उद्खले चोद्धित्वा पारिणभ्यां पीड़ियत्वा ससं यह्णीयात्। तैन रसेन लोहितशालितराडुलिपप्टमालोड्य पूपिलकां कृत्वा विधूमेष्वङ्गारेषु विधाच्य † विड्ङ्गतेललवणोपहितां किमिकोष्ठाय भच्चितुं प्रयच्छेत्। तदनन्तरश्चाम्लकाञ्जिकमुद-श्वित्विप्पल्यादिपञ्चवर्गसंस्रष्टं सलवणमनुषाययेत्। तां खलु एतेन कल्पेन मार्कवार्कसहचरनीपनिर्ग्र राडीसुमुखसुरसक्ठेरक-गर्गडीरकालमालपर्णासन्ववकपरिण्यक्मकवक्रलक्टनसुवर्णचीरी-स्वरसानामन्यतमे कारयेत्। तथा किणिहीकिरातिकसुवहा-

विरेचनविषयक्रिभिव्याधितमाह—यदीत्यादि । शीर्पादान् शिरोजातान् शिरो-भक्षकान् स्नेहस्वेदाभ्यां शिर उपपाद्य शिरसि स्नेहस्वेदौ कृता ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः – आकर्षणमुक्तवा ततोऽस्य प्रकृतिमलादि विधातायोक्तो यो विधिः तम्। अभ्यवहार्थ्यमाह — मूपिकपणीमित्यादि। पूपिलकां शष्कुलीं निर्द्धमेषु अङ्गारामिषु उद्धित् अद्धौदकतक्रं (उदकीकृत्य उदकत्या करपियता) पिष्प- ल्यादिपश्चवर्गसंसृष्टं पश्चकोलचूणसंयुक्तं सलवणं ससैन्धवमनुपाययेत्। शेषं भक्ष्यविधिमाह — ताम् इत्यादि। एतेन उक्तेन। मार्कवं भृङ्गराजः, अर्कः दवेतः, सुमुखः शाकविशेषः, कालमालः कासमहैः। तथेत्यादिना शेषानाह — किणिहीत्यादि।

हि वैद्यकन्यवहारात् शैखरिककपाय उच्यते । विलेप्याः क्रमागतिमति कृतयवाग्वादिकमित्यर्थः । अपामार्गतण्डुलादिनेत्यपामार्गतण्डुलीयोक्तेन ॥ ११।१२ ॥

चकपाणिः—मूं रुकपणीं शोभाक्षनम् । उपकुडेयति पाचियत्वा, 'कुड दाहे' इति धातुः प्रस्यते ।

मूलकपणीमिति चक्रः ।

[🕆] उपकुड्य ेति वा पाठः ।

मलकहरीतकीविभीतकस्वरसेषु कारयेत् पूपलिकाः स्वरसांश्च एषामेकेकशो द्रन्द्रशः सर्व्वशो वा मधुविलुलितान् प्रातरनन्नाय पातुं प्रयच्छेत् ॥ १३ ॥

अथाश्वश्कदाहृत्य महति किलिञ्जके प्रस्तीर्घ्यातपे शोष-यित्वोदूखले चोदयित्वा दशदि पुनः सूच्सचूर्णानि कारियत्वा विड़ङ्गकषायेण त्रिफलाकषायेण वाष्टकृत्वो दशकृत्वो वातपे सुपरि-भावितानि दशदि पुनः सूद्रमचूर्णानि कारियत्वा नवे कलसे समाग्राप्यानुगुप्तं निधाययेत् । तैषान्तु खलु, चूर्णानां पाणितलं चूर्णं यावद्या साधु मन्येत, तत् चौद्रेण संख्ड्य क्रिमिकोष्ठिने लेंदुं प्रयच्हेत्। तथा भल्लातकास्थीन्याहृत्य कलसप्रमाणेन चापोध्य स्नेहभाविते दृढ़े कलसे सूच्सानेकच्छंद्रब्रध्ने † खृदाव-

किणिही अपामार्गः, सुवहा जेफालिका, पूपलिका इति कारयेदिति पूर्व्वेणापि चान्वेतव्यम्। भक्ष्यविधिमुत्तवा भक्षणविधिना औषधविधिमाह—स्वरसांइचैपा-मित्यादि। एपां सूपकपर्धादीनाम् अननाय अभुक्तवते शृन्यकोष्टायेत्यर्थः ॥१३

गङ्गाधरः — अथाश्वशकृदित्यादि । किलिङ्गकः पिटोटोकः, चुव्डीति लोके । अष्टकुलो अष्टवारान् दशकुलो दशवारान् वा आतपे सुपरिभावितानि यावता विङ्ङ्गकपायेण त्रिफलाकपायेण वा तानि चूर्णान्याद्रीभूयैकतां त्रजेत् तावता तेन कपायेण भावियला शुष्कीकृतानि पुनराद्रीकृत्य शोपणं भावना अनुगुप्तं तं कलससुखमाच्छाच वातादीन् निवाय्ये निधापयेत्। पाणितलं कर्पमात्रम्। व्याध्यादिवलानुसारेणात्पाधिकाभ्यास् । योगान्तरमाह—तथा भछातकेत्यादि । कलसममाणेन द्वात्रिंशच्छरावमानेन आपोथ्य कुट्टियला

पिप्पल्यादिपञ्चवर्गोऽत्रेव पेयादिक्रमोक्तपञ्चकोलम् । सहचरो झिण्टिकी । मधुविलिखितानिति मधुनालोड्तान् ॥ १३ ॥

चक्रपाणिः--सुपरीत्यादि । यथा सुपरिभावितानि भवन्ति, तथा भावियत्वेत्यर्थः । अनुगुप्त-मिति वाताद्यननुगमनीयं कृतरक्षञ्च यथा भवति । व्यक्षो गुदः, इह तु करुशाधोभांगे । शरीरसुप-

^{*} मधुविलिखितानिति वा पाठः।

[†] शरीरसुपवेष्टेयत्यधिकः पाठः क्रचित् ।

लिप्तै समात्राप्योड़ पेन पिधाय भूमावाकगठं निखातस्य स्नेह-भावितस्यैवान्यस्य दृद्ध्य कुम्भस्योपिर समारोप्य समन्ताइ गोमयौरुपचित्य दृद्धित्। स यदा जानीयात् साधु दृग्धानि गोमयानि, गलितस्नेहानि भल्लातकास्थीनि ततस्तं कुम्भम् उद्धरेत्। अथ तस्माद द्वितीयादेव कुम्भात् तं स्नेहमादाय विड़ङ्गतगडुलचूर्गोः स्नेहार्द्धमात्रेः प्रतिसंख्ज्यातपे सर्व्धमहः स्थापियता ततोऽस्मे मात्रां प्रयच्छेत् पानाय। तेन साधु विश्चित्यते, विश्क्तिस्य चानुपूर्व्श यथोक्ता। एवमेव भद्रदारु-सरलकाष्ठस्नेहानुपकल्प्य पातुं प्रयच्छेत्॥ १४॥

अनुवासयेच्चेनमनुवासनकाले । अथाहरेति ब्र्यात् शाखान् नवांस्तिलान् सम्पदुवेतान् आहृत्य सुनिष्पूतान् ७ शोधियत्वा

उद्खेले स्नेहभाविते तैलादिभाविते कलसे स्र्भाणि अनेकच्छिद्राणि व्रक्षे गुद्देनेऽर्थात् तलदेने यस्य तिस्मिन् तथा। मृदा सन्वतो लिप्ते तानि कुहितभल्लातकास्थीनि समारोप्य उडुपेन कदलीष्टक्षपटलेन न्नारावाचाच्छादनेन मुख्यस्य पिधाय धूमो यथा न निगेलेत्। भूमौ गर्न कुला स्नेहभावितदद्वसभान्तरमाकण्डं निखातीकृत्य तस्य कुम्भस्योपित् तं भल्लातकास्थिपूरित-कुम्भारोप्य समन्तात् चतुद्दिश्च गोमयैः कारीपैरूपचित्य आचितं कुला दहत्। द्वितीयादिति तलस्थकुम्भात्। स्नेहः स एव भल्लातकस्नेहोऽद्धमात्रं यत्र तैविङ्क चूर्णैः विङ्क चूर्णस्य द्वौ भागौ भल्लातकस्नेहस्य चैकभाग इत्यंवं मिश्रयिला सर्वं चनुः महत्त्वनं स्थापिला यथोक्तेऽपि उपकल्पनीये विरेचनाधिकारोक्ता। योगान्तरमाह—एवमेवेत्यादि। स्पष्टम् ॥ १४॥

गङ्गाधरः -- अनुवासयेदित्यादि । शारदानित्यादिना योगान्तरम् । सम्पर्-उपतान् जन्तुजग्धलादिदोपरहितान् निष्पूय धौतादिकं कुला निस्तुपीकृत्य वेप्टेनित वेष्टयित्वा । उल्लुपः पिधानम् । स इति भञ्जातकस्नेहसाधकः । द्वितीयादिति अधः-

निष्प्य सुशुद्धानिति पाठान्तरं क्वित् दृश्यते ।

विङ्क्षकषाये सुखोष्णे निःर्वापयेदा दोवगमनात्। गतदोषानिस-समीच्य सुप्रशूनान् प्रलुच्य पुनरेव निष्पूतान् शोधयित्वा विङ्क्षकषायेगा त्रिःसतकृत्वः सुभावितानातपे शोषयित्वोदृखले संचुच दशदि पुनः श्रुच्णिष्ष्टान् कारियत्वा द्रोग्यामभ्यवधाय विड़ङ्गकषाये ॥ मुहुम्मु हुरवसिञ्चन् पाणिमईमेव तस्मिंस्तु खलु प्रशिड्यमाने यत् तैलमुदियात् तत् पाणिभ्यां पर्य्यादाय शुचौ दृह् कलसे न्यस्यानुगुप्तं निधापयेत्।

अथाहरेति ब्रूयात् तिल्वकोदालकयोद्धी विल्वमात्री ५िगडी श्लचणिष्टौ विड़ङ्गकषायेण तदर्छमात्रौ श्यामात्रिवृतयोरतोऽर्छ्-मात्रौ दन्तीद्रवन्तगोरतोऽर्द्धमात्रौ चःयचित्रकयोरित्येतं सम्भारं विङ्क्षकषाय यादकमात्रेग प्रतिसंग्रह्म, तत्तेलप्रस्थं समावाप्य सर्व्यमालोड्य महति पर्य्यगे समाित च्यायाविधिश्रत्य आसने सुखोपविष्टः सर्व्यतः स्नेहमवलोकयन्नजस्नं मृद्वित्रना साध्येत् निर्वापितान् शीतीकृतान् आ दोपगमनात् तिलानां दोपगमनप्रयन्तं सुप्रशुनान् सुप्रस्भीतान् प्रलुच्य अपनीय त्रिःसप्तकुल एकविंशतिवारान्। एवंप्रकारेण निष्पन्नतिलतैलं पस्थमितम्। तिल्वकं लोघम् उदालको वहुवारः ; अनयोः मत्येकं द्विपलं विङ्क्षकपायेण पिष्टाविति तद्धेमात्रावित्यादी सर्वेत्र योज्यम्। तेन तिरवकस्य पलद्वयम् उदालकस्य पलद्वयं इयाममूलत्रिष्टन्मूलस्य पलम् अरुण-म्लत्रिष्टनम्लस्य पलं दन्तीम्लस्याद्धेपल नागदन्तीम्लस्याद्धेपलं कपेश्चित्रकम् लस्य कपे इत्येतत्सम्भारं कलकं विङ्क्षकपायेणाद्धीद्कमात्रेण प्रतिसंगृह्य पेषियता तस्मिन पूर्वोक्तिविङ्क्षकाथितिलसम्पीडिते पस्थे तैले गर्भ दत्त्वा तद्विङ्क्षकपायस्याष्ट्रशरावैः प्रतिसंगृह्य समालोड्य सर्व्व महति स्थात् घटात् । निष्प्येति मृत्तिकाद्यवकरान्निचित्य । शोधियत्वेति प्रक्षाल्य । आ दोपगमनादित्यन्न तिलदोपगमनं तिलत्यग्लग्नमलादिगमनं ज्ञेयम्। प्रलुच्य निस्तूपीकृत्य। अभ्यवधायेति आरोप्य। पाणिभ्यां पर्य्यादायेति पाणिलग्नं पुनःपुनर्गृ हीत्वा।

उदालको बहुवारः। विल्वमात्रो पलप्रमाणौ। पर्स्यगः कटाहः। यथास्वमिति दर्व्या सततमवघट्टयन् । स यदा जानीयात् विरमित शब्दः प्रशाम्यति च फेनः प्रसादमापयते स्नेहो यथास्त्रश्च गन्धवर्णा-रसोत्पत्तिः संवर्षते च भेषज्यमङ्गुलीभ्यां मृद्यमानमनितमृद्वनित-दारुणमनङ्गुलियाहि चेति स कालस्तस्यावतारणाय । ततस्तम् अवहृत्य ६ शीतीभृतमहृतेन वाससा परिपृय शुचौ दृढे कलसे समासिच्य पिधानेन पिधाय शुक्लेन वस्त्रपट्टे नाच्छाद्य सूत्रेण सुवद्धं सुनिग्रसं निधापयेत् । ततोऽस्मै मात्रां प्रयच्छेत् पानाय, तैन साधु विरिच्यते । सम्यगपहृतदोषस्य चानुपूर्व्या यथोक्ता । ततश्चैनमनुवासयेत् तु काले ।

प्तेनेव च पाकविधिना सर्पपातसीकरञ्जकोषातकीस्नेहान् उपकल्प्य पाययेत् सर्व्वविशेषानवेत्तमाणस्तैनागदो भवति। एवं द्वयानां श्लेष्मपुरीषसम्भवानां किमीणां समुत्थानसंस्थान-स्थानवर्णनामप्रभाविचिकित्तितविशेषा व्याख्याताः सामान्यतः। विशेषतस्तु खल्वल्पमात्रमास्थापनानुवासनानुलोमहरणभू यिष्ठं तेष्वीषधेषु किमीणां पुरीषसम्भवानां चिकित्तितं कार्य्यम्। कटाहे समासिच्य पचेत्। ततस्त्ववतारणार्थं स्नेहपाकसिद्धिविशानमाह—विरमतीत्यादि। संवत्तेते वित्तेतो वित्तः स्यात्। सम्यगपहतदोपस्य तत्तैल्पानेन विरेकानन्तरं विरेचनोक्तानुपूर्वी विहाराहारयोरिति। ततो विरेकात् परमनुवासनस्य कालेऽनुवासयेत्।

तिलतैलक्ष्मेन सपंपादिस्नेहानतिदिशति—एतेनैवेत्यादि। तेनागदो निष्क्रिमिरोगो भवतीत्यर्थः। एविमत्यादि। सम्रुत्थानं निदानं संस्थानमाकृतिः चिकित्सितं निदानोक्तानां भावानामनुपसेवनं प्रकृतिविधातश्च अपकर्ष-णादि। विशेषतस्तित्यादि। अल्पमात्रमित्यादि तेपूक्तेषु औपधेषु मध्ये यावन्मात्रं यदद्रव्यं तैलसंस्कारकम्, तदानुरूप्येण वर्णादिसम्पत्तिरित्यर्थः। संवर्षते इति

^{*} अवतीर्णमिति चक्रः।

सात्राधिकं पुनः शिरोविरेचनवमनोपशमनभू यिष्ठं तैष्वीधधेषु क्रिसीगां रलेष्मजानां चिकित्तितं कार्य्यम् । इत्येष क्रिमिन्नो भेषजविधिरनुठ्याख्यातो भवति । तमनुतिष्ठता यथास्वं हेतु-वर्जने प्रयतित्वयम् । यथोद्दे शमेविमदं क्रिमिकोष्ठचिकित्तितं यथावदनुठ्याख्यातं भवतीति ॥ १५॥

भवन्ति चात्र।

ऋषकर्षग्रमेवादौ किमीगां भेषजं भवेत्।

ततो विघातः प्रकृतेर्निदानस्य च वर्जनम्॥

एष एव विकारागां सर्व्वेषामपि निम्रहे।
विधिद्ध हिरुधा योऽयं किमीनुद्दिश्य कीर्त्तितः॥

संशोधनं संशमनं निदानस्य च वर्जनम्।

एतावद्भिषजा कार्यं रोगे रोगे यथाविधि॥ १६॥

यदौपधमास्थापनानुवासनानुलोमहरणभूयिष्ठं तदौपधमलपमात्रमलपपरिमाणं पुरीपजानां क्रिमीणां चिकित्सितं कार्य्यम्। तेपूक्तेपु औपधेपु मध्ये यदौपधं शिरोविरेचनवमनोपशमनभूयिष्ठं तदौपधम् अधिकमात्रमधिकमानं इलेष्मजानां क्रिमीणां चिकित्सितं कार्य्यमिति पुरीपज्ञ लेष्मजयोश्चिकित्सिनं तस्य विशेषः॥१५॥

गङ्गाधरः—सूत्रार्थं व्यवसायाय श्लोकेनाह—भवन्तीत्यादि। अपकर्षणपित्यादि। सन्वेरोगाणाभिदं चिकित्सितयितिदिशति। एप एवेत्यादि।
भिपजां सङ्घोषण करमाण्याह—संशोधनिमत्यादि। संशोधनिमपकर्पणमेव
व्याख्यातं चतुर्व्विधम्। संश्मननन्तु, न शोधयित यद्दोषान् समान् नोदीरयत्यिषि। समीकरोति च क्रुद्धांस्तत् संश्मनग्रुच्यते॥ स च प्रकृतिविधात
एव। नतु संशोधनसंशमनाभ्यामेव रोगजयो भवति, व्याधीनामपुनभेवश्च कथं स्यादित्यत आह—निदानस्य च वज्जनिमिति। निदानवज्जनस्य
प्रयोजनद्दयं व्याधौ सति क्रियालाधवं विनष्टे चापुनभेव इति॥ १६॥

वर्त्तिवद भवति । अल्पमात्रमिति आस्थापनानुलोमहरणद्वातिरिक्तं भेपजमल्पमात्रं कर्त्तव्यम्

तत्र श्लोकौ।

व्याधितौ पुरुषौ ज्ञाज्ञौ भिषज्ञौ सप्रयोजनौ। विंश्तिः क्रिमयस्तैषां हेत्वादिः सप्तको गगाः॥ उक्तो व्याधितरूपीये विमाने परमर्षिगा। शिष्यसम्बोधनार्थाय व्याधिप्रशमनाय च॥ १७॥

्रइत्यित्रवेशकृते तन्त्रं चरकप्रतिसंस्कृते विमानस्थाने व्याधितरूपीयं विमानं नाम सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थेम्रपमंहरति—तत्रेत्यादि । सप्तको गण इति सप्त योगाः ॥ १७ ॥

अध्यायं समापयति । अग्रीत्यादि ।

इति श्रीगङ्गाधरकविरत्वकविराजविरचिते चरकजन्यकल्पतरौ तृतीय-स्कन्धे विमानस्थानजल्पे व्याधितरूपीयविमान-जल्पाख्या सप्तमी शाखा ॥ ७॥

इत्यर्थः । प्तदेवापकर्पणादित्रयं रोगान्तरे शब्दान्तरेणोच्यत इत्याह—अयमेवेत्यादि । अत्र .संशोधनमपहरणम्, संशमनं विधातः । निदानवर्ज्ञनन्तु शब्देनापि समानम् ॥ १४—१७॥

र . इति चरकचतुरानन-श्रीमचक्रपाणिदत्तविरचितायाम् आयुर्व्वेददीपिकायां विमानस्थान-- व्याख्यायां व्याधितरूपीयविमानं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अप्टमोऽध्यायः ।

अथातो रोगसिषग्जितीयं विमानं व्याख्यास्यामः, इतिह स्साह भगवानात्रेयः॥ १॥

बुद्धिमानात्मनः कार्य्यग्रह्णाघवे कर्म्मफलमनुवन्धं देश-कालो च विदित्वा युक्तिदर्शनाच भिषग्बुभूषुः शास्त्रमेवादितः

गङ्गाधरः—अथ व्याधिविज्ञाने रसादि विमानानां दोपादिमानज्ञानहेतुत्वेऽपि विना भिषग्भावं न तैर्व्याधिविज्ञानं भवतीत्यतः शेषं रोगभिषग्जितीयं विमान-माह—अथात इत्यादि। रोगाणां भिषग्जितं भेषजं युक्तियुक्तं चतुष्पाद-माह स्म। तत्र भिषक् प्रधानतया उक्त इत्यत एवात्र भिषग्जितशब्देन भिषगेवोच्यते तद्धिकृत्य कृतं विमानमिति।। १।।

गृङ्गाधरः— बुद्धिमानित्यादि । बुद्धिमान पुरुषः आत्मनः स्वस्य कार्य्याणां त्रिविधेपणीयानां गुरुलाघवे वहायासालपायासाध्यां क्रियानिष्पत्तौ दृत्तिकरं लोकानां यद्यत् कर्म्म राजसेवादिकमस्ति तस्य तस्य कर्म्मणः फलनिष्पत्तिः किं वहायासतः किमलपायासतः सिध्यतीति कार्यगुरुलाघवे विदिला तस्य च कर्मणः फलं किं धर्ममात्रं किमथेमात्रं किं काममात्रं किं गुक्तिमात्रं किं दिफलं त्रिफलं चतुःफलं वा तद्दिदिला अनुवन्धं तस्य कर्मणः फलस्य उत्तरकालं कियन्त सस्वन्धस्तश्च विदिला देशकालौ च कस्मिन दशे कस्मिन

चक्रपाणिः—पृथ्वीध्याये व्याधितरूपञ्चान्तिङ्ग्तमुत्तम्, तच बुद्धिदोषाट् भवति, सेन विशुद्धबुद्धु प्रत्पादहेतूनामध्ययनाध्यापनतिद्वधसम्भाषाणां रोगभिषग् जितीयोऽभिधीयते । रोग-भिषग् जितं चिकित्सितमधिकृत्य कृतोऽध्यायो रोगभिषग् जितीयः । रोगचिकित्साकारित्वज्ञास्य, चिकित्सोषयुत्तस्य सम्यग् ज्ञानसाधनसाध्यस्याध्ययनविध्यादेः तथा करणकारणप्देधाभिधानाद ज्ञेयम् ॥ १ ॥

चक्रपाणिः— इहाध्ययनविध्यादिषु कर्त्तस्येषु यादक् शास्त्रसध्येयम्, तदेवायुर्व्वदार्थिपुरुपमुपद्दर्यं दर्शयन्नाह— बुद्धिमानित्यादि । कार्य्यं कर्त्तस्यम्, तस्य गौरवञ्च वहुप्रयाससाध्यत्वेन लाघवं वा स्वरुप्रयाससाध्यत्वेनेति कार्य्यगुरुलाघवम् । कर्म्मफलमिति कार्य्यफलम्, एतच्च तादात्यिकं फलमीित्तस् । अनुदन्धिमिति कार्यस्येवायतीयं फलम् । देशकालाविति कर्त्तत्यकार्यानुगुणी देशकालावित्यर्थः । एतत् सर्वे विदित्वा। युक्तिदर्शनादुपपत्तिदर्शनात् । यदि भिषग-

परीचेत । विविधानि हि शास्त्राणि भिषजां प्रचरन्ति लोकेषु । तत्र यन्मन्येत महद्यश्खिधीरपुरुषासेवितमर्थवहुलमासजन-पूजितं त्रिविधशिष्यबुद्धिहितमपगतपुनरुक्तदोषमार्षं सुप्रग्गीत-सूत्रभाष्यसंग्रहक्रमं स्वाधारमनवपतितशःदमकष्टशब्दम् काले च टुत्तिकर कि कर्मा युक्त कि कर्म न युक्त पूजितमपूजित वा तद्विदिला युक्तिदर्शनात् यद्ष्रचेस्तद्देशकालोचितत्वेन श्रेष्ठतमत्वं मन्यते तद् दृष्टा भिषग्-र्जुभूषुभिंपग्भवितुमिच्छुः सन्नादितः शास्त्रमायुव्वेदीयेषु वहुषु तन्त्रेषु मध्ये किं तत्रमध्येतव्यं मयेति परीक्षेत। नन्वायुव्वेदं एक एव तस्य कस्मात हेतोः परीक्षा कार्य्येत्यत आह—विविधानि हीत्यादि । भिपजां शास्त्राणि आयु-च्चेंदीयानि । तत्र तेषु तन्त्रेषु मध्ये यत् तन्त्रं महदादिकं मन्येत तच्छास्त्रं तन्त्र-मभिप्रपदेवतत्यथः। यशस्त्रिभिधं रैः पुरुपैरासेवितिमत्यनेन तत्तत्र्रसेविनां तत्पुरुपवर्यशस्त्रिलादयः रूयापिताः। अर्थवहुलमित्यनेनाल्पकालेनाध्येयत्वेन सम्पूर्णविद्याजनकत्वं ख्यांपितम् । आप्तजनपूजितमित्यनेन निर्द्शेषं सिद्धान्त-वचनशालि च तत् तत्रमासेवितवतः श्रुतपर्य्यवदातता स्यादिति ख्यापितम्। त्रिविधशिष्यवुद्धिहितमित्यनेन सर्व्यजनाध्येयसमुक्तम्। अपगतपुनरुक्तदोष-मित्यनेनाध्ययने पुनरुक्तार्थाध्ययनाय यः श्रमस्तस्य दृथात्वं तस्याभावः ख्यापितः। आपं मित्यनेनाध्ययनेऽपि धम्मीदिफलं ख्यापितम्। सुप्रणीतं सुष्ठु रचितं सूत्रस्य भाष्यसंग्रहस्य च क्रमो यत्र तत् तथा। सूत्रं सङ्घेषण भवितुमिन्छुः स्यात्, तदा शास्त्रं तावदादितः परीक्षेत । एवं मन्यते—य आयुर्व्वेदाध्ययन-छक्षणे कार्य्ये स्वशक्तप्रपेक्षया गौरवं मन्यते, स न वर्त्तते, यश्चायुर्वेदफलेनारोग्यादिना अर्थो न भवति, स च, तथा यश्चानुपादेयायुर्वेदज्ञाने देशे स्थितः, स च, तथा यस्य च वपुपो वार्द्धवय-छक्षणः कालः, स चायुर्वेदाध्ययनान्तगमनाशक्तत्वादेव यथोक्तानुपपत्तिदर्शनाद् भिपग्भवितु नेष्छति । अतो न तान् प्रति आयुर्वेदशास्त्रपरीक्षा अप्युपदिशामः । यस्तु यथोक्तविपरीत-धर्मायोगी, स चायुर्वेदाध्ययनोपादानाद् भिपग्बुसूषुः शास्त्रं परीक्षेत । विविधानीत्यगुणवन्ति । सुमहर् यशस्ति च धीरपुरुपासेवितञ्च। किंवा, सुमहर्यशस्त्रिधीरपुरुपैरासेवितमिति विग्रहः। आप्तजनप्जितमिति बहुविधैराप्तैर्यथार्हमनुमतम्। उत्कृष्टमध्यारपबुद्धयः त्रिविधाः शिष्याः। अनपगृतपुनरक्तमिति कर्त्तध्ये यद् दोपपाठं करोति, तेनाधिकरणवशप्राप्तं यत् करोति, तेनापि पुनस्तमदोपं भवति । वचनं हि—''अधिकरणवशाद् दीर्घाट् गुणदोपप्राप्तितोऽर्थसम्बन्धात् । स्तुत्यर्थ

संशयतः शिष्यधियाञ्चातिवृद्धपर्यञ्च। अस्पतोद्गतरितत्वात् विशेषणेष्विप च तन्तकृद्धिरतु । वत्-

पुष्कलाभिधानं ऋसागतार्थमर्थतत्त्वविनिश्चयप्रधानं संगतार्थ-मसङ्गुलप्रकरणमाशुप्रवोधकं लच्गावचोदाहरगावच तदिभप्रप-देग्त शास्त्रम् । शास्त्रं ह्ये वंविधममल इवादित्यस्तमो विध्य अकाश्यति सर्व्यम् ॥ २ ॥

तत्तदर्थानां ग्रन्थनं येन तत्। भाष्यं तेन सूत्रेण यत् अभिधेयं मुक्तकण्ठेन विस्तरेण पुनस्तद्वचनं भाष्यम्। तद्पि संक्षेपेणातिविस्तरेण च कर्तुं सम्भवति । तत्र संग्रहेण यत् तद्भाष्यं भाष्यसंग्रहः तयोः क्रमः पूर्व्वं सूत्र ततः सङ्घेपेण भाष्यं न सितिविस्तरेण सुप्रणीतं यत्र तथाभूतं तन्त्रं म्त्रार्थस्यान्यथा व्याख्यानसामर्थ्यं व्याख्यातुः ख्यापितं येन फलापलापः स्यात्। स्वाधारं सुष्ट्वधिकरणम् अधिकरणं तत्तदर्थाधिकारः परिच्छेद इत्यर्थः। एतेनान्योन्य-मिश्रलाट्दुव्वीधत्वं नास्तीति ख्यापितम्। अनवपतितशब्दिमत्यनेनाधुनिकला-शङ्डानिरासः। अकप्टशब्दं कप्टशब्दं हि श्रुतकटूचारणाभ्यासकष्टम्। तदभावे तु वहुमकारशन्दरूपं अतसुखलाभ्याससुखलार्थं भवति। तत्र चान्यादशशन्द-रूपलवारणायाह—पुष्कलाभियानमिति। पुष्कलेन प्रायेण वर्णाष्ट्रत्याभि-धानम् । क्रमागतार्थं क्रमेण यदर्थादुत्तरं यदर्थ उद्दिष्टस्तदर्थादुत्तरमागतः माप्तस्तद्थों यत्र तत् तथा। एतेन प्रकरणशृह्वलया धारणसुखत्वं सूचितम्। अर्थतत्त्वविनिश्चयप्रधानिमत्यनेन निःसन्दिग्धार्थतत्त्वविद्याजनकत्वं ख्यापितम् । सङ्गतार्थं पूर्वाध्यायव्याख्याने दर्शितपड़ विधसङ्गत्या प्रणीतार्थमसङ्क लपकरणम् अमिश्रितप्रकरणम्, एतेनाधिकारसौष्टवेऽपि तत्र प्रकरणपार्थवयं येनाप्यसन्देहार्थः स्यात्। आशुप्रवोधकं श्रुतमात्रमर्थवोधजनकशब्दवत्। लक्षणवचोदाहरणवच इत्यनेनाध्ययनस्रगमलमथतत्त्वाववोधे ख्यापितम् । तथाविधतन्त्रं कुतो हेतोः ः प्रपदेत्रतेत्यत आइ—शास्त्रं हेत्रवमित्यादि ॥ २ ॥

तुन्त्रे स्यात् पुनरुक्तम् नेप्यते तद् विभाव्य विवरणम्।" स्वाधारमिति शोभनाभिधेयम्। अनव-पिततिमित्यमाम्यशब्दम् । अकष्टशब्दमिति अकृच्छ्रोचार्य्यशब्दम्, किंवा अप्रसिद्धामिधेयशब्दम् । मुष्कलाभिधानमिति सम्यगर्थसमर्पकवानयम् । क्रमागतार्थमिति पारिपाठ्यागतार्थम् । सङ्गतार्थ-् मिति प्रतिपादितार्थम् । असङ्खलप्रकरणमिति मिश्रीमृतप्रकरणम् । लक्षणवदिति आयुर्वेद-- प्रधानार्थहेतुलिङ्गार्थासाधारणधर्म्मकथनवत् । किंवा प्रशस्तशास्त्रलक्षणवत् : उदाहरणविदिति - इप्टान्तवत्।। २॥ :- ...

ततोऽनन्तरमाचार्यं परीचेत । तद् यथा—प्रथमेवदातश्रुतं परिदृष्टकम्मीगां द्वं दिन्गां शुचिं जितहस्तमुपकरगावन्तं सव्वे न्द्रियोपवन्नं प्रकृतिज्ञं प्रतिपत्तिज्ञमुपस्कृतविद्यम् छ अनहङ्कृतम् अनसूयकमकोपनं वलेशन्तमं शिष्यवत्तनलमध्यापकं

गङ्गाधरः—तत्रपरीक्षानन्तरं तत्राध्ययननिमित्तमाचाटर्यपरीक्षणमाह— ततोऽनन्तरमित्यादि । पर्य्यवदातश्रुतमित्यादिकरूपेणाचार्यं जानीयात्। पय्यवदातश्रुनलादिका हि गुणा आयुव्वदाचाय्याभिमायेणोक्ताः मस्तुतलात्, न तु सर्व्वदाचार्ट्याभिमायेण। यः पूर्वि गुरुतोऽधीतायुक्वदीये तत्तन्त्रे पर्य्यवदातः शास्त्रार्थतत्त्वनिश्चये सन्देहश्त्यः। परिदृष्टकम्मीणं सर्व्वतोभावेन गुरोः कृतचिकित्साकम्मे स्वकृतकम्मे च फलाफलतो दृष्टवन्तम्। वमनादिसर्व्विक्रयासु कुशलम् । दक्षिणमनुक्लस्यभावम् । शुचिम् । जितहस्तं इस्तेन यत् कम्में चिकित्सार्थं करोति तत् कम्में झटित सिध्यतीति तं जित-इस्तम्। उपकरणवन्तं वस्तिनेत्रशस्त्रादुप्रपकरणवन्तम्। सर्व्येन्द्रियोपपन्नं न तु हीनेन्द्रियम् हीनेन्द्रियत्वं हि न परीक्षोपपद्यते न वाध्यापनमुपयुज्यते। प्रकृतिविभिति व्याधितानां व्याधिप्रतिकारे स्वस्थानां वा स्वास्थ्यरक्षणे प्रंसां प्रकृतिज्ञानमन्तरेण न क्रियोपयोगः सम्पचते। प्रकृतिर्हि स्वास्थ्ये प्रसां स्वभावः सत्त्वशरीरयोः सात्त्विकादिरूपा समवातपित्तकफात्मकत्वरूपा च। मतिपत्तिश्मिति यस्य स्वस्थस्यातुरस्य वा यादशी मतिपत्तिः क्रियादिप मन्नतिराहारविहारयोः तां हि न ज्ञाला चिकित्सितुं नोपयुज्यते पुमान्। उपस्कृतविद्रं तद्युव्वेदीयतत्रविद्या येन तद्रथपर्यवदातत्वेनोपा जिनेता प्रन-रुपस्कृता शास्त्रान्तरसमृहाध्ययनेन संहतीवृता वा भूपणीकृता वा दृढतायां पुनःपुनः मतियतिता वा तर्कान्वितीकृता वा तश्चाचाय्यंत्यैवोरीकुय्यांत् १इत्युपस्कृतिवद्यमाचार्यं विद्यात् । अनुपस्कृतिवद्यमिति पाटे तु अविकृतीभूता यस्य विद्या तमाचार्यं विद्यात्। अनहं कृतमित्यमत्सरं मात्सर्यम्तु लोके गहितं शिष्याणामध्यापनेऽपि तुच्छत्तसम्भवात्। अनस्यकं परगुणेषु दोपारोपणेन

चक्रपाणिः—अध्येतन्यं शास्त्रं परीक्ष्य यस्मात् तत् शास्त्रमध्येतन्यम्, तत्थाचार्य्यस्य परीक्षा-् माह—तत इत्यादि । दक्षमिति अवामबुद्धिम् उपकरणवन्तमित्यनेनानुपकरणे गुरौ चिकित्सा-

^{*} अनुपस्कृतमिति चकः ।

ज्ञापनसमर्थञ्च । इत्येवंगुगो ह्याचार्यः सुचेत्रमार्त्तवो मेघ इव श्यगुगौराशु सुशिष्यं वैद्यगुगौः सम्पादयति। स्टलारिराधयिषुरुपचरेद्रियचच देववच राजवच भन् वचाप्रमतः। ततस्तत्प्रसादात् इत्स्नं शास्त्रमवगम्य

सततशीलनं यस्य तं नाचार्यं विद्यात् । शिष्याणां गुणेष्वपि दोपारोपण-सम्भवे तत्त्वार्थप्रवचनाकर्णे तत्प्रवृत्तिसम्भवात्। अकोपनमिति कोपशीलस्य शिष्याणामध्यापने दुब्बोधवाक्यप्रवचनार्थवहुवादप्रतिवादे कोपसम्भवे तदर्थ-प्रवचनाभावात । क्लेशक्षमं शिष्याणामध्यापनं हि न क्लेशं विना भवतीति क्रेशक्षममाचार्यं विद्यात्। शिष्यवत्सर्छं शिष्येषु विना वात्सर्खं न गुरो-विद्यातत्त्वं लभ्यते शिष्यैरिति। अध्यापकं प्रागध्यापककरणं पश्चात् तु शिष्याणामध्यापनेनाध्यापकम्, न हि पूर्व्यमेवाध्यापकता सम्भवति । श्रापनसमर्थे शिष्याणां तदर्थज्ञापनेऽशेषविशेषेण व्याख्यानसामध्येवन्तम्। आचार्यैः कि प्रयोजनमन्यादशे चाचार्य्ये को दोष इत्यत आह—एवंगुणो ह्याचार्य्य इत्यादि। यथात्तेवो मेघः सुक्षेत्रं शस्यगुणैः सम्पादयति तथा तथा-विध आचार्यः शिष्यमाशु वैद्यगुणैः पय्येवदातश्रुततादिभिः सम्पादयति ।

नत्न तथाविधत्वेनाचार्य्यं परीक्ष्य किं कुर्यादित्यत तमित्यादि । तम्रुपस्त्य उपगम्य तमाचाय्येमाराध्यितुमिच्छुराराद्धमिच्छु-रित्यर्थः। स्वार्थे णिच् छान्दसलात्। अग्निवदित्यनेन नित्यापेक्षित्वं स्नचितम्। देववचेत्यनेन पूज्यतमत्वं स्नचितम्। राजवचेत्यनेन शासितृत्वं रुयापितम्, तच्छासने सभयं तिष्ठेदिति सूचितम्। पितृवचेत्यनेन वात्सल्यात् पितृवदपरिहार्यरवं ख्यापितम्। भत्त् वच्चेत्यनेन यथा प्रतिपालक-स्याधीनत्वं तद्वद्धीनलमुरीकुर्यादित्यर्थः ख्यापितः। अममत्तः ममादशुस्यः सन्, न तु प्रमादेनान्यथा तमुपाचरेत्। तथा तदुपचरणेन किं स्यादित्यत आह—तत इत्यादि । तत्रसादात् तस्य गुरोः प्रसन्नलात् । कृत्रनं निखिछं तत् तत्रमधिगम्येत्यनेन कुत्तनतत्त्रत्राधिगममात्रलाभः स्यादिति ख्यापितम्। वृत्त्यभावात् कर्म्मदर्शनं न भवति । अनुपरकृतविद्यमिति शास्त्रान्तरज्ञानेन नास्त्येवोपस्कृता विद्या यस स तथा । यश्रायुर्वेद्ज्ञः सन् शास्त्रान्तरेणापि संस्कृतो भवति, स तु नितरामुपादेयः । आर्त्तव इति यथोचितकालभवः। अन्त्यादिवहुद्द द्यान्तदर्शनेन, येन येन भावेनाग्न्यादयः सेन्यन्ते,

शास्त्रस्य दृढतायामभिधानस्य सौष्ठत्रेऽर्थविज्ञाने वचनशक्तौ च भूयोभूयः प्रयतेत सम्यक् ॥ ३ ॥

तत्रोपायाननुव्याख्यास्यामः। अध्ययनमध्यापनं तद्विद्य-सम्भाषेत्युपायाः॥ ४॥

तत्रायमध्ययनविधिः—कल्यकृतच्गाः ६ प्रातस्तथायोपव्युषं वा कृत्वावश्यकमुपस्पृश्योदकं देविधिगोत्राह्मण्युरुसिद्धवृद्धाचाय्येभ्यो नमस्कृत्य समे शुचौ देशो सुखोपविष्टो मनःपुरःसरीभिर्वाभिः सूत्रमनुपरिकामन् पुनःपुनरावर्त्तयेत्। बुद्धा सम्यगनुप्रविश्य न नत्र कृत्सनं तत्रपिगम्य किं कुर्यादित्यत आह—तत्तत्रस्य दृद्तायाम् अच्युत्तथारणे विषये अभिधानस्य प्रवचनस्य सौष्ठवे सौन्द्र्य्ये अथविषाने अध्ययनकाले संश्वितार्थस्य निःसंशयविष्ठाने निःसंश्वार्थस्य स्थिरतायाश्च वचनशक्तौ अनर्गलवचने च ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—नतु कथं प्रयतेत इत्यत आह—तत्रोपायानित्यादि । तत्र भूयो-भूयोऽधीतशास्त्रपत्रो । उपायान् विष्टणोति—अध्ययनिम्लादि ॥ ४ ॥

गङ्गाथरः—नन्वध्ययनाद्यस्तावन्तः कीदृशा इत्यतोऽध्ययनादीस्तीन् क्रमेण विष्टणोति—तत्रायमित्यादि । कल्यः प्रातःकालस्तत्र कृतः नियत्रूष्णः क्षणो येन स कल्यकृतक्षणः । प्रातर्रुणोदयकालप्रपृष्युणं तदुत्तरकालं वा उत्थाय आवश्यकं मलम्त्रोत्सगप्रुखधौतदन्तधावनादिकं कम्मे कृता उदक्षम् उपस्पृश्य स्नाता अशक्तौ वस्त्रं त्यक्तवा पूतो भूता चोदकेनाचम्य वा आचमन-विधिः सद्गृत्तेपूक्तः । देवादिभ्यो नमस्कृत्य समे शुचौ देशे अनीचोचदेशे शुचिक्षपे सुखेन उपविष्टो मनःपुरःसरीभिमेनोयोगप्रविकाभिःस्त्रमनुपरिकामन् स्त्रानुपूर्व्वीकक्रमेण पुनःपुनरावर्त्तयेत् । आवर्त्तनमभ्यासः शीलनं सततिक्रयेति आत्रेयभद्रकाप्यीये प्रोक्तम् । मनःपुरःसरीभिरित्यनेन मनोयोगं विनावर्त्तनेन विधा तथा गुहः सेव्यत इति दर्शयित । ददतायामिति शास्त्रमहणस्य स्थैव्ये । अभिधानस्येति शास्त्रामिधानस्य । वचनशक्तौ अर्थकीर्त्तनसामध्ये ॥ ३ ॥

चक्रपाणिः—तत्रेति शास्त्रदृदतादौ, तद्विद्यसम्भापा तच्छास्त्राध्यायिनां सह उदमाहिकाः। कल्यो नीरोगः। कृतक्षण इत्यनन्यव्यापारत्वेनाध्ययनाय कृतकालपरिमहः। प्रातर्वा उत्थाय,

^{*} कल्यः कृतक्षण इति चक्रसम्मतः पाठः ।

ज्ञिर्थतस्वं खदोषपरिहाराय परदोषप्रमाणार्थम् । एवं मध्य-न्दिनेऽपराह्णे रात्रौ च शश्वदपरिहापयत्रध्ययनमभ्यरयेत् । इत्यध्ययनविधिः ॥ ५ ॥

अथाध्यापनविधिः—अध्यापने कृतबुद्धिराचार्यः शिष्यमेव आदितः परीचेत। तद् यथा-प्रशान्तमार्य्यप्रकृतिकमचुद्रकम्मी-गाम् ऋजुचचुर्भुखनासावंशं तनुरक्तविशदजिह्नमविकृतदन्तीष्ठम्

स्थिरतया धारणं न स्यादित्युक्तम्। ननु किं वर्णाविलवाक्तयोचारणत एवावर्त्तये-दुत किमन्यथेति ? अत आह—चुद्धेत्रत्यादि। अर्थतत्त्वे चुद्ध्रानुभवेशपूर्व्वकावर्त्तन-फलमाह—स्वदोपेत्यादि। ननु केवलं माह्हे एवाध्ययनं कुर्यात् न चात ऊद्धे पित्यत आह—एवं मध्यन्दिने इत्यादि। एवमनेन मकारेण मध्यन्दिनादौ चाध्ययनं शक्षित्तरयमभ्यस्येत्। ननु तत् किं न माह्हे कदाचिदभ्यस्येदित्यत आह—अपरिहापयन्नध्ययनमिति। मातरादिकाले यदध्ययनमुक्तं तदध्ययन-मपरिहापयन् न परित्यजन्। एतेन तत्कालमध्ययनं सन्वदेव, मध्यन्दिनादौ तु कदाचिदनध्ययनेऽपि न क्षतिरिति स्यापितम् ॥ ५॥

गृङ्गाधरः—अथ द्वितीयग्रुपायमध्यापनं विद्यणोति—अथेत्यादि । अध्यापने इति । शिष्यचिद्वमाह—तद् यथेत्यादि । प्रशान्तमचञ्चलरूपम् । आर्य्यमकृतिं ब्राह्मणक्षत्रियवैद्ययोनिं पङ्जातिम् । अक्षुद्रकर्म्भाणं नीचकर्माकर्जारम् । ऋजवः सरलाश्रक्षप्रेषी च ग्रुखञ्च नासावंशश्च ते यस्य तं तथा । ततुरस्थूला रक्त- वर्णा च विशदा चापिच्लिला जिह्ना यस्य तं तथा। अविकृता यथावजाता दन्ता

अपन्युपं वा उत्थायेति योजना । उपन्युपमिति किञ्चिन्छेपायां रात्रो । मनःपुरःसरीभिरिति एकाग्रमनःप्रणीताभिः । स्वदोपपरिहारपरदोपप्रमाणार्धमिति स्वकीयाध्ययनदोपपरिहारार्थं पर्कीयाध्ययनदोपप्रमाणार्थं परकीयाध्ययनदोपप्रमाणार्थं परकीयाध्ययनदोपज्ञानार्थमित्यर्थः । प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणं ज्ञानमात्र-मीप्सितम् । सम्यग् बुद्धार्थतत्त्वं बुद्धा चाधीयानो निर्दोपाध्ययनो भवति, सम्यगध्ययनज्ञानाच परस्य सदोपमध्ययनं प्रतिपद्यते । इत्यध्ययनविधिरिति पूर्वप्रतिज्ञाताध्ययनविधेरपसंहरणम् । यथोक्तेन विधिनाध्ययनं क्रियमाणं सुसंगृहीतं भवति । दृष्टादृष्टसम्पत्त्याध्ययनकालवर्जनम्, चेदाध्ययने निपिद्यमेवात्रापि तज्ज्ञेयम्, इति न विशेषेणोक्तम् ॥ ४।५ ॥

चक्रपाणिः—इह शिष्यगुणेपु ऋजुचक्षुमु खनास्नावंशत्वादयो गुणाः सहजलक्षणत्वेनोपादेयाः।

अमिनिगणम् धृतिमन्तमलङ्गृतं मेधाविनं वितकस्मृतिसम्पन्नम् उदारसत्त्वं तद्वियकुलजमथवा तद्वियवृत्तं तत्त्वाभिनिवेशिनम् अव्यङ्गमव्यापन्नेन्द्रियं निभृतमनुद्धतमर्थतत्त्वभावकम् अव्य-सिनिनमकोपनम् शीलशौचाचारानुरागदाच्यदाचिग्रदोषपन्नम् अध्ययनाभिकाममर्थविज्ञाने कम्मदर्शने चानन्यकार्थ्यमलुब्धम् अनलसं सर्व्वभृतहितेपिणमाचार्थ्यसर्व्वनृशिष्टिप्रतिपत्तिकरम् अनुरक्तम् एवंग्रणसमुदितमध्याप्यमाहुः॥ ६॥

ं ओष्टौ च यस्य तं तथा । .अमिन्मिणं सानुनासिकवाक्यवचनशीलरहितम् । धृतिमन्तं काय्यं मनोनियमात्मिका बुद्धिर्यस्य तम्। अलङ्कृतं भूपायुक्तम् । मेधा-विनं धारणावती बुद्धिर्यस्य तम् । वितकेस्मृतिसम्पन्नं ऊहापोहाभ्यां स्मृत्या च सम्पन्नम् । उद्रारसत्त्वं मनस औदार्यं महत्त्वं यस्य तम् । तिहृचकुलजं तदायु-व्वेदीयतन्त्रव्यवसायिनां कुले जातम्। अथवा तद्विचरृत्तं तस्मिन् तन्त्रेऽधीते जायते या विद्या सा विद्या यस्य स तद्विद्यस्तेन रुत्तम् उपाज्जितार्थेनावर्त्तत यस्तम्, तत्त्वाभिनिवेशिनं यथार्थेतेऽभिनिवेशो मृपार्थे तन्यथातं यस्य तं तथा। अन्यङ्गम् अङ्गेनाहीनम् । अन्यापन्नेन्द्रियम् इन्द्रियन्यापद्रहितं, सुष्टु सन्वेन्द्रिय-मित्यथेः। निभृतं गुप्तरूपम्। अनुद्धतमप्रगल्भुरूपम्। अर्थतत्त्वभावकपर्यतत्त्वस्य स्वभावतिश्वन्ताशीलमन्यसिननं द्रातादिन्यवहाररहितम्। अकोपनम्। शीलं सचरितं दाक्षिण्यं सर्व्वत्रानुकूलकीलता। अर्थविकाने अध्याप्यतन्त्रार्थविकाने अन्यकार्यरहितम्, कर्माद्रशेने चिकित्साक्रियाद्रशेने अन्यकार्यरहितश्च। अलुब्धं भोजनादिपु लोभहीनम् आचार्यसर्वानुशिष्टिमतिपत्तिकरम् आचारयेण यर्-यदनुशिष्यते तत्तत् सन्वेमनुशासनं प्रतिपन्नं करोति यस्तमित्यर्थः। अनुरक्त-माचार्यानुरक्तम् । एवंविधं शिष्यं परीक्षेत । नन्वेतद्गुणान्यतमगुणहीनं किं नाध्यापयेदित्यत आह—एवंगुणसमुदितमिति। अन्यतमगुणाभावे हि न

अतो विपरीतलक्षणो हि जड़ो भवति । तिह्यवृत्तमित्यायुर्वेदज्ञाचारम् । निभृतमिति विनीतम् । अनुद्रतमित्यनहङ्कृतम् । अनुरागदाव्देनाध्ययनानुराग उच्यते । अनुरक्तमित्यनेन च गुरावनु-रक्तत्वमुच्यते । दाक्ष्यं दर्शयित्वाध्यनलसमिति यत् करोति, तेन दाक्ष्यादारव्धेऽपि कार्य्यं बहु-प्रयाससाध्येऽनलसमित्याह । अनुशिष्टिप्रतिकरमित्याज्ञाकरम् ॥ ६ ॥

एवंविधमध्ययनार्थिनसुपस्थितमारिराधियपुमाचार्य्यश्चानु-भाषेत । अथ उदगयने शुक्लपचे प्रशस्तेऽहिन तिष्यहस्त-श्रवणाश्वयुजामन्यतमेन नचत्रेण योगमुपगते भगवति शशिन क़ल्यांगे कल्यांगे च करगो मैत्रे मृहूर्ने मुगडः कृतोपवासः .स्रातः कषायवस्त्रसंवीतः सन् सिमधोऽग्निमाच्यमुपलेपनमुद-कुम्भांश्च सुगन्धिहस्तो साल्यदामदीपहिरएयरजतमणिमुक्ता-विद्रमचौमपरिधींश्च कुश्लाजसर्वपाचतांश्च शुक्नाश्च सुमनसो यथितापथिता मेध्यांश्च भच्यान् गन्धांश्च घृष्टानादायोपतिष्ठस्व अथ सोऽपि तथा क्रुर्यात् ॥ ७ ॥

तसुपस्थितमाज्ञाय समे शुचौ देशे प्राक्प्रवर्णे उदक्षवर्णे वा चतुष्किष्कुमात्रं चतुरश्रं स्थिगडलं गोमयोदकोपलिष्तं

सर्विथा तत्तत्रविद्यालाभः स्याद् यथा यथा गुणः स्यात् तथा तथा विद्यालाभः स्यादिति तु हृदयम् ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः - नतु किमेवस्भूतं शिष्यमन्विष्य परीक्ष्य स्वयमानीयाध्यापये-दित्यत आह—एवं विधमित्यादि। एवं विधं विद्यार्थिनं गुरुमारिराधिपपुं स्वयमुपस्थितमनुभाषेताचार्यः। किं भाषेतेत्यत आह— अथोदगयने इत्यादि। उद्गयने उत्तरायणे माघादिषप्मासाभ्यन्तरे प्रशस्तेऽहनि ज्योतिःशात्रोक्त-तिथियुक्तवारे शिशानि कल्याणे शुभे मुण्डः मुण्डितशिराः उपतिष्ठस्वेति अनु-भाषेत इत्यन्वयः ॥ ७॥

गङ्गाधरः—तमित्यादि। चतुरश्रं चतुष्कोणं चतुष्किष्कुमात्रं तथा चैकैकदिशि

चक्रपाणिः—तिप्यः पुष्यानक्षत्रम् । अश्वयुगिधनी । शशिनि कल्याण इति उक्तनक्षत्रेप्व-ध्ययनार्थिनो यतः शशी कल्याणकरो भवति, उदित एव शशिन्यध्ययनं कर्तन्यम् । मैत्रे मुहुर्त्ते इत्यनुकूले मुहुत्ते, मुहुत्तीदयश्च शिव्भुजगादयः। मुण्डः कृतवापनः। गन्धेन हस्तः पञ्चाङ्ग्लो गन्धहस्तः। हिरण्यशब्देनाघटितं हेम गृह्यते, हेमशब्देन च घटितम्। परिधयो हस्तप्रमाणा होमकुण्डचतुःपाइवें स्थाप्याः पालाशादिदण्डा उच्यन्ते । अत्र चोपार्जितवस्तुसान्निध्यमेष फल-प्रद्मिति ऋपिवचनारुक्षीयते, तेन अन्योपाहतमपीष्टगन्धााद् नोद्गावनीयम् ॥ ७ ॥

कुशास्तीणं स्पिविहितं ७ परिधिमिश्रतुर्दिशं यथोक्तचन्द्नोद कुम्भचौमहेमरजतमणिमुक्ताविद्रुमालङ्कृतम् मेध्यभच्यगम्थ शुक्लपुष्पलाजसर्वपाचतोपशोभितं कृत्वा तत्र पालाशोभिरेङ्गदीभि रौडुम्बरीमिर्माधृकोभिर्वा समिद्धिरित्तमुपसमाधाय प्राङ्मुख शुचिरध्ययनविधिमनुविधाय मधुसिर्पभ्यां त्रिस्त्रिज्ंहुयात् अप्रिम्, आशींःसंप्रयुक्तेर्मन्त्रैर्वं झाणमिनं धन्वन्तरिं प्रजापतिम् अश्विनाविन्द्रमृपींश्च स्त्रकारानिभमन्त्रायमाणः पूर्वं स्वाहेति

हस्तमात्रं मुपविहितं सुष्टुरूपेणोपविहितसप्रस्कृतं भूपितम्। यथोक्तचन्द्रना दिभिः सज्जां विधाय तैथन्द्रनाभिर्गणेशादीन् देवान् पूजियला विपार भिषज्श्रोछिख्याभ्युक्ष्य च दक्षिणतो बाह्मणं स्थापियसा तत्र स्थणिडहै अय्ययनविधियुक्तं पश्चात् कत्तंव्यतया विधायाग्रिमुपसमाधाय पालाशाद्यन्यतम काण्डैरग्निं पञ्चालय सुश्रुतसंवादात् खदिरदेवदारुविल्वन्यग्रोधाश्वत्थान्यतम काष्डेर्वारिनं मज्वाल्य माङ्गुखः शुचिः सन्नाचारयौ ब्राह्मणो ब्राह्मण मूर्ज्याभिषिक्तस्त्रियादीन् उपनेत् मूर्ज्याभिषिक्तो मूर्ज्याभिषिक्तस्त्रियादीन् न र र्त्राह्मणं क्षत्रियोऽम्बष्टक्षत्रियमाहिष्यवैश्यान् अम्बष्टः क्षत्रियाम्बष्टमाहिष्यवैश्यान माहिष्यो माहिष्यवैश्यो वैश्यो वैश्यमिति समानाथमानुपनेतुमर्देति। आपि तु ब्राह्मणादुरत्तमाभावेऽवरश्च द्विजो वरमुपनेतुमर्हित । पूर्व्व द्धिमधुघृताकाभि पूर्वोक्ताभिः समिज्ञिद्विवीहौमिकविधिना हुला श्रुवेण मधुसपिभयों अ भू स्वाहा इति मन्त्रेण त्रिर्जु हुयात् । ततः अ भुवः स्वाहेति त्रिर्जु हुयात् ततः अ स्व स्याहेति त्रिर्ज हुयात् इति । एवं न्याहतिभिस्त्रिस्त्रिर्ज हुयात् । श्रुवेण त्रिस्तिः राज्याहुतिं वा दद्यात् तैर्मन्त्रैः। ततः परम् अग्निमांशीःसम्प्रयुक्तिर्मन्त्रैन्ने ह्याणः मभिमन्नयमाणः स्वाहेति त्रिर्जुहुयात्। ततस्तैरेव मन्त्रैरियमभिमन्नयमाणः स्वाहेति त्रिर्जुहुयात्। ततो धन्वन्तरिं ततः प्रजापतिं ततोऽश्विनौ ततः

चक्रपाणिः—किष्कुरिह हस्तप्रमाणम् । सुपरिहितमिति सुवेष्टितम् । उपधायेत्यारोप्य । जुहुयादित्यध्यापक इत्यभिप्रायः । ब्रह्मादीन् स्ताहेति मन्त्रेण मन्त्रयमाण आचार्यः पृव्वमिन्ति

^{·· *} सुपरिहितमिति चक्रः।

शिष्यश्चैनमन्शलभेत । हुत्व। च प्रदिच्यामियमनुपरिकामेत्-। परिक्रस्य ब्राह्मगान् खस्ति वाचयेत् भिषजश्चाभिषुजयेत् ॥ ८॥ अथैनमिससकाशे व्राह्मणसकाशे भिषक्सक।शे चानु-

शिज्यात्,—ब्रह्मचारिणा रमश्रुधारिणा सत्यवादिन। अमांसादेन मेध्यसेविना निर्मित्सरेणाशस्त्रधारिणा च ते भवितव्यम्।न च ते मद्रचनात् किञ्चिदकार्यं स्याद्न्यत्र राजिद्द्रष्टात् प्राग्रहराद् विपु-लादघरमदिनर्थसंप्रयुक्ताद्याप्यर्थात्। सदर्पग्रेन सत्प्रधानेन मद्धी-नेन मत्त्रियहितानुवर्त्तना च त्वया शश्वद्भवितव्यम्। पुत्रवद्दासव-दर्थिवचोपचरेतानुवस्तव्योऽहम्। अनुत्सुकेनावहितेनानन्य-सनसः विनीतेनावेच्यावेच्यकारिगानसूयकेन चाभ्यनुज्ञातेन प्रविचरितव्यम् । अनुज्ञातैन चाननुज्ञानेन च प्रविचरता पूर्व्यं

सूत्रकारानात्रेयादीन् त्रिसिर्जु हुयात् । शिष्यश्च एनं होमं कुर्यात् । हुला शिष्य-स्तमग्निं पदक्षिणं दक्षिणभागे कृला त्रिः पश्किमोत्। परिक्रमानन्तरं ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचियता भिपजश्च पूजियता ॥ ८॥

गङ्गाधरः-अथेत्यादि। ततः परमेनं वर्त्तमानं शिष्यमनुशिष्यात्। अनुशासनं-माह—ब्रह्मचारिणेत्यादि । निम्मित्सरेण मात्सय्यरहितेन ते भवितव्यमिति कुद्योगेऽनभिहिते कर्त्तरि पष्टी तु न सङ्गच्छते इमश्रुधारिणेति तृतीयान्तविशेषणा-नुपपत्तेः। छन्दसि वहुललात् लयेति। न चेति ते तव मद्वचनात् किञ्चित् अकार्यं न स्यात्। मद्वचनतः सर्वं कर्त्तव्यमेव तवेत्पर्थः। अन्यत्र राजद्विष्टा-दिभ्यः। राजद्विष्टादिषु मद्दचनतो न ते कार्य्यमकर्त्तव्यम्। मद्र्पणेन यत् किञ्चित प्राप्यं भिक्षया तत् पुनर्मेह्यमपितुं शीलवता। अनुत्सुकेन औत्सुक्यवर्जनेन।

जुहुयादिति योजना । तेन ब्रह्मादिऋग्भिराशीः प्रयुक्ताभिर्वाहाणे स्वाहेत्यन्ताभिर्होमः कर्त्तन्यः । शिप्यइचैनमन्वालभेतेति शिप्योऽपि गुरुहोमानन्तरमेव जुहुयांदित्यर्थः ॥ ८ ॥

चक्रपाणिः—ते भवितःयमिति त्वया भवितःयम्। प्रविचरितःयमिति चिकित्सार्थः व्यव-

गुटर्वथोपान्वाहरगो यथाशक्ति प्रयतितव्यम् । कर्म्मसिद्धिमर्थसिद्धिं यशोलाभं प्रोत्य च स्वर्गमिच्छता भिषजा त्वया गोब्राह्मणमादौ कृत्वा सर्विप्राण्भृतां शम्मीशासितव्यम् अहरहरु तिष्ठता चोप-विश्ता च। सर्वात्मना चातुराणामारोग्ये प्रयतितव्यम्, जीवित-हेतोरिव चातुरेभ्यो नाभिद्रोग्धव्यम् । मनसावि च परस्त्रियो ~र्वेवाभिगमनीयास्तथा सर्व्वमेव परस्वम् । परिच्छेंदन भवित्व्यम् अशीएडेनापापेनापापसह।येन श्लुच्याशुक्कधम्मर्थ- क्षेत्रतेवेया र चार्त्तिमतवचता देशकालविचा-रिणा स्मृतिमता ज्ञानेन अनेके विकरणसम्बत्स नित्यं यसवता। न च कदाचिद् राजिह्ह हिष्णां वा महाजनिह्नष्टानां महाजनिह्न विषां वा श्रीप्रधमनुविधारज्ञ्चम्। एवं सक्वेषा-.मत्यर्थविकृतदुष्टदुःखशीलाचारोवचार।गाम्स्मात्ववाद- +-प्रतिकारा मदनुकातेन तथा मदननुकातेन वा तथा पविचरता पूर्वे एउनाण्यार्थाना भी न्वाहरणे प्रयतितन्यं पश्चान्त्रिजार्थौपान्वाहरणे। कम्मेसिद्धिमच्छतार्थसि मिच्छता यशोलाभिम्छता प्रेट्य च मुला च स्वर्गमिन्छता भिषजा लया भिषक्त गतेन अहरहरुत्तिष्टता चोपविशता च आदौ गोत्राह्मणं कृता प्रथमतो गो-बाह्मणयोः शम्भे सुखमाशासितन्यम्, ततः सन्वेपाणभृतां शम्भे चाशासितव्यम्। सन्वीत्मना सन्वीशेनातुराणां रोगिणाम्। अपि च जीवितहेतोरातुरेभ्यो निरायीन वा शत्रुभ्यो वा नाभिद्रोग्धन्यं मनसापि चे इत्यर्थः। परस्यं परस्यामिकं वस्त्र भन्नुशासनानन्तरम्। तेषु देवतादिषु तथा। अशौण्डेनामत्तेन । स्ट^{्हीत्यत्राप्तः सत्यवागुच्यते, अन्यत्रापि सत्यमेवासं वक्ष्यति,} न्वयः। एविमत्यादौ = ॥ ९॥ ्रव होत्यादि । यस्मादायुर्व्वेदोऽपि ज्ञातुं न शक्यते प्रायस्तेनायुर्व्वेद-हर्तन्यम्। गोत्राह्मणः अस्मिन्निति इस्तरे आयुर्वेदे। अनुक्तसद्वृत्तकरणार्थमाह—एतः प्राणिनाम् । उपविशता, अधैनमग्निसकाशे" इत्यादिग्रन्थोक्तमनुष्टेयम् । एवम्पूयश्च वृत्तसीष्टव-प्रवारी । शुक्कमिव श्री अधुवृत्तमित्यर्थः । लोक्यं लोकानुमतम् । 'इति'शब्दोऽवधारणे । तेन · 🗼 श्रहणशक्तधम**्** ७

दीनां मुमूर्षताश्च तथैवासिन्नहितेश्वराणां स्त्रीणामनध्य-चाणां वा। न च कदाचित् स्त्रीदत्तमामिषम् आदातव्य-सननुज्ञातश्च भर्जाथवाध्यचेण। आतुरकुलश्चानुप्रविशता विदितेनानुमतप्रवेशिना सार्ष्वं पुरुषेण सुसंवीतेन अवाक्-शिरसा स्मृतिमता स्तिमितेनावेच्यावेच्य मनसा सर्व्व-माचरता सम्यगनुप्रवेष्टव्यम्। अनुप्रविश्य च वाङ्मनो -बुद्धीन्द्रियाणि न कचित् प्रिण्धातव्यानि अनुप्रविश्य च वाङ्मनो -अत्यत्रातुरात् आतुरोपकारार्थाद्वा आतुरगतेष्वं केण अनुत् विषु। न चातुरकुल-प्रवृत्तयो विद्विश्वीरियतव्याः। रामानस्य आसुरा प्रमाणमानुरस्य जानतापि न त्वया तत्र च क्ष्म आतुर्यात्वर्यम्, यत्रोच्यमान-मातुरस्य अत्यस्य चाण् अप्धाताय स्वव्यते। ज्ञानवतापि च गात्वर्थमात्मनो ज्ञाने विकत्थितव्यम् आसादिष हि विकत्थ-स्व नाद्वर्थमान्त्र अस्त्रान्यनेके॥ ६॥

स्वस्ति शदमितकारस्याधनस्येत्यादुग्रक्तानां न चौषधमनुविधातव्यमित्यस्यान्वयः। न कदाचिदित्यादि। भिष्णभूते मांसादत्वमितपेधाभावेन भर्जाथवाध्यक्षेणाननुक्षातश्च स्नीदत्तमामिषं कदाचिन्नादातव्यं न ग्राह्मम्। आतुरकुलक्ष्वेत्यादिना कृष्णक्तेः। आतुरकुलक्ष्वेत्यादिना कृष्णक्तेः। आतुरकुलक्ष्यद्वत्य इति आतुरपुरुषस्य कुलाचाराः सन्तो नुष्पत्तेः। क्ष्णक्ते न न विश्वव्याय कृष्णित्वयाः गोषितव्या इत्यथः। ननु कुत्र अकार्य्यं न स्यात्। मद्वचनतः सक्ष्यं क्ष्णवित्वयः यत्रोच्यमानमातुरस्यायुषो-दिभ्यः। राजदिष्टादिषु मद्वचनतो न ते कार्य्यमकत्त्रभ्त। यत्र वर्णनेन न कस्योपद्यातः प्राप्यं भिक्षया तत् पुनर्मद्यमिष्तुं शीलवता। अनुत्सुक्ष्ण चात्मनो क्षानवत्त्यात्यर्थं । आप्तपुरुषोऽपि

जुहुयादिति योजना। तेन वहादिऋिभराशीः प्रयुक्ताभिविह्माणे स्वाहेत्यन्त स्योपचरणमाचारोपचारः। शिष्यश्चैनमन्वालभेतेति शिष्योऽपि गुरुहोमानन्तरमेव जुहुयादित्यर्थः॥८॥ तत्रेति न वर्णयितस्य- चक्रपाणिः—ते भवितस्यमिति त्वया भवितस्यम्। प्रविचरितस्यमिति सकथनं यशस्करमेव,

न चैव ह्यस्यायुव्वेदस्य पारम्, तस्माद्यमत्तः शश्वद्भियोग-मस्मिन् गच्छेत्। एतच्चैवंकार्य्यमेवं भूयः प्रवृत्तस्य सौष्ठवम् अनस्यता परेभ्यो वाप्यागमयितव्यम्। कृत्स्रो हि लोको बुद्धिमतामाचार्य्यः, शत्रुश्चाबुद्धिमताम् अतश्चाभिसमीच्य बुद्धिमताऽमित्रस्यापि धन्यं यशस्यमायुष्यं पौष्टिकं लोकिकम् अभ्युपदिशतो वचः श्रोतव्यमनुविधातव्यञ्चेति॥ १०॥

अतः परिमदं व्रयात् । देवताग्निद्विजग्रुरुवृद्धसिद्धाचार्य्येषु ते नित्यं सम्यग् वर्त्तितव्यम् । तेषु ते सम्यग्वर्त्तमानस्यायमग्निः यद्यात्मश्लायां करोति तदा तेन अनेके उद्दिजनते ग्रुतरामनाप्तपुरुपो नात्मश्लायां कुर्यात् ॥ ९ ॥

गृहाधरः ननु क्रुत आप्तोऽपि नात्मश्लाघां क्रय्यात् इति ? अत आह-'।
चैव हीत्यादि । हि यसादायुव्वेदस्य पारं न चैवास्ति सुतरामाप्तोऽपि नार्गे श्लाघां चिकित्सायां कर्नु शक्तोतीति भावः । तस्मादायुव्वेदपाराभावादात्मकानन कानवत्त्या श्लाघां न कृता अममत्तः ममत्तो न भूता शक्त नित्यम्
अममादेनाभियोगमसर्व्ववत्त्यास्मिन्नायुव्वेदे योगं गच्छेत् । एतच उक्तं यद्यदेवं कार्यमुक्तकार्यमुक्तरूपेण भूयः प्रष्टत्तस्य परस्य सौष्टवमनस्यता तथा
परभयो वापि शिष्यभ्य आगमयितव्यमुपदेशो ग्रहीतव्यः । हि यस्मात् कृत्लो
लोकः सव्वो जनो बुद्धिमतामाचार्यः । अबुद्धिमतान्तु सव्वो जनः शत्रुरित्यतो
बुद्धिमता पुरुषेणामित्रस्य शत्रोरपि धन्यादिकं वचः श्रोतव्यमनुविधातव्यमिति ॥ १० ॥

गङ्गाधरः—अतः परमित्यादि । अनुशासनानन्तरम् । तेषु देवतादिषु सत्र क्षाचा कर्त्तस्या । आसादिष हीत्यत्रासः सत्यवागुच्यते, अन्यत्रापि सत्यमेवासं वक्ष्यति, यथाकालप्रासमेव ब्र्यादित्यर्थः ॥ ९ ॥

मक्रपाणिः—न चैन होत्यादि । यस्मादायुर्वेदोऽपि ज्ञातुं न शक्यते प्रायस्तेनायुर्वेद-ज्ञानार्थमुद्यमं गच्छेत् । अस्मिन्निति इस्तरे आयुर्वेदे । अनुक्तसद्वृत्तकरणार्थमाह—एत-च्चेत्यादि । एतच्चेति "अथेनमिन्निसकाशे" इत्यादिग्रन्थोक्तमनुष्टेयम् । एवम्पूयश्च द्वक्तसौष्टव-मिति उक्तसदृशञ्च साधुवृत्तमित्यर्थः । लोक्यं लोकानुमतम् । 'इति'शन्दोऽवधारणे । तेन सर्व्यगन्धरसरत्वीजानि यथेरिताश्च देवताः शिवायं स्युरतो-**ऽ**न्यथा वर्त्तसानस्याशिवाय । इति ।

एवं ब्रुवित चाचाय्ये शिष्यस्तथेति ब्रुयात्। तद्यथोपदेशञ्च कुर्विन्नध्याप्योऽतोऽन्यथात्वनध्याप्यः। ऋध्याप्यमध्यापयन् ह्याचार्थ्यो यथोक्तैश्राध्यापनफलैयोंगमवाप्तोत्यन्येश्रानुक्तैः श्रेयस्करेंग्र गौः शिष्यसात्मानश्च युनक्ति । इत्युक्तावध्ययनाध्यापनविधी ॥ ११ ॥ ते तव अयमग्रिरिति पत्यक्षं वर्त्तमानोऽयमग्निः। तथेति स्वीकाराथें। यथोक्तै-रध्यापनफलैः शास्त्रस्य दृढ्ता अभिधानसोष्टवार्थं विशानवचनशक्तिरूपैरन्यै-र्धमर्मादिभिश्च श्रेयस्करैः फलैः शिष्यमात्मानश्च युनक्तीति । सुश्रुतेऽप्युक्तम्— 🦫 इत्यष्टाङ्गमिदं तत्रमादिदेवप्रकाशितम् । विधिनाधीत्य युञ्जाना भवन्ति प्राणदा जास्वि ।। एतदवश्यमध्येयमधीत्य च कम्मीप्यवश्यमुपासितव्यमुभयज्ञो हि सात्रपूर्गाजाही भवति। भवन्ति चात्र। यस्तु केवलशास्त्रः कर्मास्वपरिनिष्ठितः। ुर्भ मुह्यत्यातुरं पाप्य पाप्य भीरुरिवाहवम् । यस्तु कर्म्ममु निष्णातो याष्ट्रप्रीत् शास्त्रवहिष्कृतः । स सत्सु पूजां नामोति वधश्चाहित राजतः । उभावेताव-निपुणावसमधौ स्वकम्मेणि। अर्द्धवेद्धरावेतावेकपक्षाविव द्विजौ। भयको मतिमान् स समर्थौऽर्थसाधने । आहवे कर्म्म निन्बौहुं द्विचकः स्यन्दनो अत्रायमध्यापनविधिः सङ्घेषेण शिष्योपनयनार्मभविधिरुक्तः पूर्व्य ब्राह्मणादिवर्णविशेपोक्तोपनयनानन्तरं सन्वेपामायुन्वेदाध्ययनसामध्यं ततश्च अध्यापनमकारस्तन्यत्रोक्तस्तन्यथा मनुनोक्तम् । उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षये-च्छीचमादितः। आचारमिश्रकार्यञ्च सन्ध्योपासनमेव च। अध्येष्यमाणस्ता-चान्तो यथा शास्त्रपुदङ्गुखः। ब्रह्माञ्चलिकृतोऽध्याप्यो लघवासा जितेन्द्रियः। ब्रह्मारम्भेऽवसाने तु पादौ ग्राह्मौ गुरोः सदा। संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः। व्यत्यस्तपाणिना कार्य्यमुपसंग्रहणं गुरोः। सन्येन सन्यः स्प्रष्टच्यो दक्षिणेन च दक्षिणः। अध्येष्यमाणन्तु गुरुनित्यकालमतन्द्रितः। अधीष्य भो इति ब्रूयात् विरामोऽस्त्विति चारमेत्। ब्राह्मणः प्रणवं कुर्यात् आदावन्ते च सन्वदा। स्रवत्यनोद्धृतं पूर्न्वं परस्ताच विशीय्यति। प्राक् थदेवाऽमित्रस्य धन्यादिगुणयुक्तं वचस्तदेवानुविधातन्यं श्रोतन्यञ्च । यथोक्तेरिति शास्त्रान्तरेण, न ग्रांबिलशास्त्रें (ध्ययनफलं साक्षात् कचिडक्तम् ॥ १०।११ ॥

सम्भापाविधिमत ऊर्ङ् व्याख्यास्यामः। भिषक् भिषजा सह कुलान् पय्यु पासीनः पित्रत्रैहचैव पावितः। प्राणायामे स्त्रिभिः पूतस्तत ओङ्कारमहंति। अकारश्चाप्यकारश्च मकारश्च प्रजापतिः। निरदुहद्भूर्भुवः खरितीति च। त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पाद्मदुदुहत्। तदि-त्रचोऽस्याः सावित्रत्राः परमेष्टी प्रजापतिः। एतद् क्षरमेताञ्च जपन् व्याहृति-पूर्विकाम्। सन्धयोवेद्विद्विमो वेदपुण्येन युज्यते। सहस्रकृतस्वभ्यस्य वहिरेतत् त्रिकं द्विजः। महतोऽप्येनसो मासात् सचेवाहिविंग्रुच्यते। एतयच्ची विसंयुक्तः काले च क्रियया स्वया। ब्रह्मक्षत्रियविङ्योनिगर्हणां याति साधुपु । ओङ्कारपृर्विकास्तिस्रो महान्याहृतयोऽन्ययाः । त्रिपदा चैव सावित्री विज्यं ब्रह्मणो मुखम्। योऽधीतेऽहन्यहन्येतां त्रीणि वर्षाण्यतिन्द्रतः। स बह्मपरमभ्येति वायुभूतः स्वभूतिमान्। एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामं परन्तपः। सावित्रप्रास्तु परं नास्ति मौनात् सत्यं विशिष्यते। क्षरन्ति सर्व्वा वैदिक्यो जुहोति यजित क्रियाः। अक्षरन्तक्षरं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापितः। इत्यारभ्य वहन्युक्तवा। अनेन क्रमयोगेण संस्कृतात्मा द्विजः शनैः। गुरौ वसन् सिञ्चनुयाद्वसाधिगमिकं तपः। तपोविशेपैविविधैर्वतेश्च विधिचोदितैः। वेदः कृत्स्त्रोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना । वेदमेव सदाभ्यस्येत् तपस्तप्यन् द्विजोत्तमः। वेदाभ्यासो हि विषस्य तपः परिमहोच्यते। आहैव स नखाग्रेभ्यः पर्मं तप्यते तपः। यः स्नग्व्यपि द्विजोऽश्रीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम्। योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शृहसमाशु गच्छति सान्वयः। इत्यादि। सुश्रुते च-अथ शुचये कृतोत्तरासङ्गायाव्याकुलायोप-स्थितायाध्ययनकाले शिष्याय यथाशक्ति गुरुरुपदिशेत्। पदं पादं श्लोकं वा। ते च पट्पादश्लोका भूयः क्रमेणानुसन्धेया एवमेकैकशो घटयेटात्मना चानुपठेत् । अट्रुतमचिल्रम्वितमविशक्कितमननुनासिकं न्यक्ताक्षरमपीडितवणेमक्षिभ्रुवौष्ठ-हस्तैरनभिनीतं सुसंस्कृतं नात्युच्चैर्नातिनीचैश्र खरैः पठेन्न चान्तरेण कश्चिद्-व्रजेत् तयोरधीयानयोः। भवतश्चात्र। शुचिगुरूपरो दक्षस्तन्द्रानिद्रा-विविज्जितः। पटेदेतेन विधिना शिष्यः शास्त्रान्तमाप्तुयात्। वाक्सोष्ठवेऽर्थ-विकाने प्रागल्भ्ये कर्म्भनैषुणे। तद्भ्यासे च सिद्धौ च यतेताध्ययनान्तगः। इति उक्तावित्यादि ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः -- क्रमिकलादत ऊर्डुं सम्भापाविधिन्योख्यायते-भिपिगत्यादि ।

सम्भाषेत : तद्विद्यसम्भाषा हि ज्ञानाभियोगसंहर्षकरी भंवति, वैशारद्यमपि चाभिनिव्वर्त्तयति, वचनशक्तिमपि चाधत्ते, यश-श्चाभिदीपयति, पूर्व्यश्रुतै च सन्देहवतः पुनः श्रवणात् संश्यमप-कर्षति, श्रुते चासन्देहवतो भूयोऽध्यवसायमभिनिदर्वर्त्तयति अश्रुतमपि कञ्चिद्धं श्रोत्रविषयमापाद्यति। शिष्याय शुश्रूषवे प्रसन्नः क्रमेणोपदिशति गुह्याभिमतमर्थजातम् । तत् परस्परेगा सह जल्पन् पगडेन छ विजिगीपुराह संहर्षात् तस्मात् तिद्वयसम्भाषामिभप्रशंसिन्त कुश्लाः ॥ १२॥

सम्भापेतेति परस्परं शास्त्रं भाषेत । भिषक् भिषजा सहेत्यनेन सम्भाषण-मत्र तिह्वस्य तिह्वेत्रन सहेति गम्यते। कस्माद्भिपक् भिपजा सह सम्भापेत इत्यत आह—तद्विदेप्रत्यादि। तिद्विदेप्रति यो येन सह सम्भापते तस्य यस्मिन् शास्त्रे यस्मिन् तन्त्रे वा विद्या तस्मिन् शास्त्रे तन्त्रे वा विद्या यस्य स तद्वियः एकशास्त्रविद्य एकतन्त्रविद्यो वेति यावत्। तयोः सम्भाषा परस्परं तच्छास्त्रस्य तत्तन्त्रस्य वा वादः सम्भापा) शानाभियोगः सर्व्वतो-भावेन बानयोगः संहर्पश्च तौ कर्त्तुं शीलं यस्याः सा तथा। वैशारद्यं पाण्डित्यं तत्त्वाभिनिवेशः। वचनशक्तिः शब्दतश्चार्थतश्चोक्तौ सामर्थ्यम्। पूर्वश्चते च अध्ययनकाले गुरुतः श्रुतेऽथे यदि सन्देहो वर्त्तते तर्हि पुनश्चापरस्मात् तस्य शब्दत्रवार्थत्र अवणात् संशयमपकर्पति । अते चार्थे शब्दतश्चार्थतश्च यदि सन्देहो न वर्त्तते तदा भूयोऽध्यवसायोऽधिकव्यवसायस्तं जनयति। अश्रतं गुरुमुखादश्रुतम्। यश्चार्थं पण्डेन स्वपाण्डित्यप्रकाशनेन विजिगीपुर्विजेतु-मिच्छ्राह, विजयो हि संहर्पकर इत्यत आह संहर्पात्। तस्मात् ज्ञानाभि-योगादिफलकतात् ॥ १२॥

चक्रपाणिः संहर्षः स्पर्दा । ज्ञानार्थमभियोगसंहर्षौ करोतीति ज्ञानाभियोगसंहर्षकरी । वैशारद्यमिति परवचनाभिभवपाण्डित्यम्, एतच सभायामभ्यासाद् भवति । भूयोऽध्यवसाय-मिति दृढ़निश्चयम् । अथ कथं श्रुतत्वमि कस्यचिद् गुद्धास्यार्थस्य स्यात् तदाह—जल्पन् पिण्डनेति । पिण्डेनेति सारोद्धारेण। ननु गुद्धक्चेत् सारतस्तत् कथमयं विजिगीपुस्तमाहेत्याह—संहर्पादिति, स्पर्द्धया तु गुल्लोऽप्यर्थो विजयार्थमिभधीयत इति भावः॥ १२॥

द्विवधा तु खलु तद्विद्यसम्भाषा भवति । सन्धाय-सम्भाषा विग्रह्य-सम्भाषा च । तत्र ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनश्क्तिसम्पन्ने-नाकोपने-नानुपस्कृतविदेत्र-नानसूयके-नानुनेये-नानुनयकोविदेन क्लेश्चमेण प्रियसम्भाष्णेन च सह सन्धाय सम्भाषा विधीयते । तथाविधेन सह संकथयन् विस्रव्धः कथयेत् पृच्छेदपि च विस्रव्धः,

गङ्गाधरः-नन् केन प्रकारेण सम्भापत इत्यत आह-द्विविधेत्यादि। सन्याय सन्धि कुला सम्भाषा सन्धाय-सम्भाषा, विगृह्य विगृहं कुला सम्भाषा विगृह्य-सम्भाषा। तत्र दृयोः सम्भाषयोर्मध्ये ज्ञानविज्ञानादिमता या सम्भाषा विधीयते परेण सह सा सम्भाषा सन्धायसम्भाषा। षानं शास्त्रार्थेषानं विवानं तद्येनिश्चयस्ताभ्यां वचनं पूर्व्यपक्षोक्तिः प्रतिवचनमुक्तरोक्तिस्तयोई योः शक्तया सम्पन्नोऽक्रोधी यः पुमान् तेन सम्भापा च विगृह्यापि सम्भान्यते इति तद्वारणायाहाकोपनेनेति। अंकोप-शालिना इत्यर्थः। शानविशानवचनप्रतिवचनशक्तिसम्पन्नस्त्वकोपनश्च यः पण्डितः स यदि विकृतविद्यो विस्मृतिसंशयादिभिभवित तदा सुतरां विग्रहं कत्त न समर्थः स्यादित्यकोपनोऽपि कोपमापचते इति तादशेन सह विग्रहा-सम्भापावारणायातुपस्कृतविदेगनेति। भ्रमसंशयादिविरहेण स्पृत्यादिभिर्न भूपितीकृता विद्या येन तेन। तथा ज्ञानादिसम्पन्नश्चाकोपनश्चानुपस्कृतविद्य-श्रासूयां कृता यः सम्भापते तत्सम्भापावारणायानस्यकेनेति। अनुनेयेनेति यो हि सम्भाष्यस्तेन कानविकानादितस्तस्य निजस्य विद्यया बुद्धग्रादिभिश्च तुला-तुलाभ्यामनुमेयेन । अनुनये विनये पण्डितस्तेन इति केचिद् व्याख्यानयन्ति तन्न, सन्धायसम्भाषाया हि नेदं लक्षणं, परन्तु येन सह सन्धायसम्भाषा कर्त्तव्या विष्रहासम्भाषा चाकर्त्तव्या तदुपदेशोऽयिमिति। तथा च यस्तु धानं विज्ञानं वचनं प्रतिवचनशक्तिश्चेत्येताभिः सम्पन्नस्तथा च अकोपनः सपृत्या-दिभिभू पितविद्यथ न चास्यकः अनुनेतुमईश्रानुनये कोविदथ क्लेगंसम्भापासु कट्वचनादिजनितं धैर्यगाम्भीर्यादिगुणैः क्षमितुं शीलं यस्य स क्लेशक्षमः भियसम्भाषणश्च भवति तादशेन महाजनेन सह सन्धायसम्भाषा विधीयते क्रुशलेन न त विष्टृ हासम्भाषा कर्त्तव्या। न त तेन सह केन प्रकारेण सन्धाय-

चक्रपाणिः— र.म्धादसम्भाषा, नये 'वादः' इत्युच्यते । विगृह्यसम्भाषा तुल्यस्यतिजल्प-

एच्छंश्रास्मे विस्वन्धाय विश्वदार्थजातं ब्रूयात्। न च निम्रह-भयादुद्विजेत । निगृह्य चैनं न हृष्येत्, न च परेषु विकत्थेत । न च सोहादेकान्तयाही स्यान्न चानुविदितमर्थमनुवर्णयेत् । सम्यक् चानुनयेनानुनीयेत । अनुनयाच परं तत्र चावहितः स्यादित्यनु-लोमसम्भाषाविधिः॥ १३॥

अत ऊर्द्ध मितरेण सह विग्रह्म सम्भाषेत श्रेयसा योगम्

सम्भाषा कार्य्यत्यतः सन्धायसम्भाषाप्रकारग्रुपदिशति—तथाविधेनेत्यादि। तथाविधेन निरुक्तेन ज्ञानादिसम्पन्नादिना महाजनेन सह संकथयन् ज्ञास्त्रार्थं मंलपन् पुरुषः विस्वव्यो विश्वस्तः सन् कथयेत् विस्वव्यक्ष सन् शास्त्रार्थं अथास्मै ज्ञानादिसस्पनादिमहाजनाय विस्रव्याय विश्वस्ताय पृच्छंश्च सम्भापमाणः पुरुषो विशदार्थजातं व्यात् न तविशदार्थम्। न च निग्रहभयादुद्विजेत। अयं महाजनो यदि मां रखिलतार्थवचनेन निग्रह्णीया-दित्युद्देगं न क्रुर्यात् तन्महाजनकत्तुं किनग्रहे हि नायश इति भावः। अयं महाजनो यदि कथञ्चित् स्मृत्यादिविरहेण निग्रहमापद्यमानः स्यात् तथाप्येनं निगृह्य न च हुष्येत्। महाजनो हि प्रथितविद्याकी त्तिपौरुपादिः कथित्रत् स्मृत्याद्यभावेन न निग्रहीतुम्हति तिन्नग्रहं कत्तुभशक्तेन विद्यादिभिरल्पेन कथिञ्जिन्त्रग्रहेऽपि तस्य विद्याद्यतिशयिलेनायशः प्रतिपद्यते। अन्यत्र न विकत्थेत न श्लाघेतेति । मोहादेकान्तग्राही न च स्यात् एकान्तं निरन्तरं तदुत्तराशक्यविषये पुनः पुनर्ग्रहणं न कुर्यात्। अनुविदितमुत्तर-काळं विदितमर्थं नातुवर्णयेत् ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः-विगृह्यसम्भाषाविधिमाह-अत ऊर्द्धु मित्यादि । इतरेण ज्ञान-वितण्डारूपा ज्ञेया । तत्रेत्यादिना सन्धायसम्भापाविधिमाह—विस्रव्धः कथयेदिति जल्पवितण्डोक्त-निग्रहाभीतः। कथयेदिति ब्रूयात्। निगृह्य चैनं न हृप्येदितिं अनुलोमसम्भापारूपवादे च यानि सम्भवन्ति निग्रहस्थानानि तत्त्वविघातीनि हेत्वाभासापसिद्धान्तानि न्यूनाधिकरूपाणि, तैरिप निगृह्य न हृप्येत्। जल्पोक्तनिम्रहस्थानानि त्वत्र माह्याण्येव। अविदितमिति प्रतिवादिनो-ऽविदितम् । अनुनयेच सम्यगनुनयेनेति सम्बन्धः । तेन चात्र च्छलजातिप्रयोगो न कर्त्तन्य इति ेशिक्षयति । तत्र चावहितः स्यादिति सम्यगनुनयेऽवधानं कुर्यात् ॥ १३ ॥

- : इत्रपाणि:- इतरेणेति अविशिष्टेन । वादैस्तु विशिष्टो गुरर्व्यक्षाचारी वाधिकृतः, उक्त

श्रात्मनः पश्यन् । प्रागेव च जल्याजल्यान्तरं परावरान्तरं परिपिद्वशेषांश्च परीचेत सम्यक् । परीचा हि बुद्धिमतां कार्य्यप्रवृत्तिनिवृत्तिकालो शंसित । तस्मात् परीचामिभप्रशंसिन्त कुश्लाः । परीचमाणस्तु खलु परावरान्तरिममान् जल्यकं ग्रणान् श्रेयस्करान् दोषवतश्च परीचेत सम्यक् । तद्वयथा—श्रुतं विज्ञानं धारणं प्रतिभानं वचनशक्तिरित्येतान् ग्रणान् श्रेयस्करान् श्राहुः । इमान् पुनर्दोपवतः । तद्व यथा—कोपनत्वमवैशारद्यं

विधानवचनप्रतिवचनशक्तिभिरसम्पन्नेन कोपनेन उपस्कृतविदेशनास्यकेन अनुनुनेयेनानुनयमुर्खेण क्रेशासहिष्णुना चापियसम्भाषणेन सह विगृह्य सम्भापत विष्वृद्धसम्भाषां विदध्यादिति । आत्मनः श्रेयसा परस्मादुत्कृष्टविद्या-बुद्धप्रदिना योगं पञ्चन कुश्लः। अश्रेयसा योगं पश्यंस्तु न विगृह्य सम्भाषेतेत्वर्थः। कथं श्रेयसा योगायोगी दृश्यी स्यातामित्यत आह—श्रेयसा योगमकारम्। मागेवेत्यादि। स्वेन सह सम्भाष्यपुरुषस्य जलपात पूर्व्यमेव विगृह्य सम्भाष्यपुरुषस्य जल्पान्तरमपरेण सह जल्पस्तेन परस्य विगृह्य सम्भाष्यस्यावान्तरं श्रेष्टलमवरत्वं समत्वं निजात् तेपामन्यतमं परीक्षेत। परिपदां सभानां विशेषांश्च पण्डितसभादिरूपान् परीक्षेत सम्यक्। नन्न कस्मात् परीक्षेतेत्यत आह—परीक्षा हीत्यादि। परीक्षा हि यस्मात् चुद्धिमतां काय्येषु प्रष्टुत्ती अयमेव कालः श्रेयस्करः अयमेव कालस्त्रश्रेयस्कर इत्यतस्तेषु कारयेंपु निष्टत्तौ स कालः श्रेयस्कर इति गंसति व्यनक्ति। नतु केन प्रकारेण तद्द्वयं परीक्षेतेत्यत आह-परीक्षमाणस्त्रित्यादि। परावरान्तरं परीक्षमाणस्तु जल्पके सम्भाष्यपुरुषे इमान् वक्ष्यमाणान् दोपवतः सदोपान्। परीक्षाप्रकारमाह—श्रुतमित्यादि । श्रतमध्ययनं विकानं विकत्वं धारणं शब्दतः शास्त्राभ्यासः प्रतिभानं बुद्धिप्रकाशः परोक्तौ द्रताववोधशक्तिः वचन-शक्तिर्वाचनाशक्तिः। दोषवतो गुणांस्तु कोपनलिपत्यादिकान्। अधारणत्वं

हि न्याये—''तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोऽधिंभिरनस्यिभिरभ्युपेयाद्'' इति । सम्भापेति प्रवृत्तकथोपलक्षणम् । तेन सा वितण्डेति च ज्ञेयम् । परावरान्तरमिति प्रतिवादिन आत्मनश्र

भीरुत्वसधारणत्वसनवहितत्वसिति । एतान् इयानिष ग्रणान् गुरुलाघवतः परस्य चैवात्मनर्च तुलयेत् ॥ १४ ॥

तत्र त्रिविधः परः सम्पद्यते, प्रवरः प्रत्यवरः समो वा गुगा-विनिचेपतः, न त्वेवं कार्त्स्त्येन । परिषत् तु खलु द्विविधा, ज्ञानवती मृद्रा परिषच्य । सैव द्विविधा सती त्रिविधा पुनरनेन कारणविभागेन । सुहृत्परिषदुदासीनपरिषत् प्रतिनिविष्ट-परिषच्चेति ॥ १५।१६ ॥

तत्र प्रतिनिविष्टायां परिषदि ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचन-शक्तिसम्पन्नायां मूढ़ायां वा न कथित्रत् केनचित् सह जल्पो शब्दतोऽभ्यासविरहः। अनवहितलमवधानविरहः। एतानित्यादि। सम्भाष्यस्य आत्मनो निजस्य तुलयेत् तौलं क्रय्यात् ॥ १४ ॥

गुङ्गाधरः-प्रवरः श्रेष्ठः प्रत्यवरः कनिष्ठः। गुणविक्षेपतः परस्य श्रेयस्कर-सदोषान्यतरेषु गुणेषु स्वगुणविनिक्षेपतः श्रुतलादीनां केपाश्चिदाधिक्यन्यून-लाभ्यां न पुनरेवंगुणानां कार्त्रस्येन। परिपत् लित्यादिना सैव परिषत् ज्ञान-वती सृदेति द्विधा सती त्रिविधा पुनर्भवति प्रत्येकस्। अनेककारणभेदात्। तथा च विष्टणोति—सहदित्यादि। ज्ञानवती सहत्परिपत्, ज्ञानवती उदासीनपरिपत्, ज्ञानवती प्रतिनिविष्टपरिषच्चेति त्रिधा ज्ञानवती सभा। मृढ़ा सुहत्परिषत्, सूढ़ोदासीनपरिषत्, मूढ़ा प्रतिनिविष्टपरिषच्चेति त्रिधा मृद्परिषदित्येकीभूय पोदा परिषत्। अत्र उदासीना न सुहस्र च शत्रुर्यत्र सा प्रतिनिविष्टा स्वसौहार्द्याभावेन सभ्या निविष्टा यत्र सा तथा ॥ १५।१६ ॥

गुङ्गाधरः—तत्र कस्यां सभायां कथं सम्भाषेतेत्वत आह—तत्रेत्यादि। तत्र पद्मु परिषत्मु मध्ये ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनशक्तिसम्पन्नायां प्रति-प्रतिभादिविशेपमित्यर्थः। जल्पान्तरमिति सामयिकसञ्बीधीदिविशेपितं जल्पविशेप-मित्यर्थः ॥ १४ ॥

चक्रपाणि:—गुणविनिक्षेपत इति उत्कृष्टगुणत्वेन प्रवर इत्यर्थः, प्रत्यवरों हीनगुणः, समगुणः ा समो वाद्यपेक्षयेत्यर्थः। न त्वेव कार्त्स्न्येनेति न कुलशीलधर्मादिनापि प्रवरादिरिहाभिप्रेत हृत्यर्थः। मृद्परिपदित्यत्र मृद्देव मृद्दा किञ्चित्कृत्ये, सर्व्वथा मृद्दायान्तु न कश्चिद वृते। न

विधीयते । मृहायान्तु सुहृत्परिपदि वोदासीनायां वा ज्ञान-विज्ञानवचनप्रतिवचनशक्तीरन्तरेगापि दीप्तयशसा छ महाजन-विद्विण्टेनापि सह जल्पो विधीयते । तथाविधेन च सह कथयता त्वाविद्वदीर्धसूत्रसङ्गलैर्वाक्यदग्डकैः कथियतव्यम् । अतिहृष्टं सुहुर्म्भ हुरुग्हसता परं निरूपयता च परिषद्माकारैर्व् वतश्चास्य वाक्यावकाशो न देयः । कष्टं शब्दश्च बुवता वक्तव्यो नोच्यते

निविष्टायां परिषदि । मृद्यां वा प्रतिनिविष्टायां परिषदि कथि विक निर्माण केनिचित् सभ्येन सह न जरुषो विधीयते न कार्यं इत्यथं। प्रतिनिविष्टत्वेन सुजल्पतमि सरोपं वर्णेयिला पराजयकरणस्य सम्भवात्। मृद्यां सुह्त्परिषदि मृद्यासुद्दासीनपरिषदि वा स्वस्य ज्ञानविज्ञानादिकं विनापि अपिकारात् ज्ञानादिसद्भावे किं वचनं दीप्तयक्षसा महाजनविद्विष्टेनापि हुरात्मना सह जरुषो विधीयते। सदात्मना तु किं वचनं विग्रदे का कथा। नसु केन प्रकारेण दीप्तयक्षसा महाजनविद्विष्टेन दुरात्मना सह सम्भापेतेति तदुपदिश्चित—तथाविधेनत्यादि। तथाविधेन मृद्यां सुह्त्परिषदि मृद्याम् सुद्यां सम्भापमाणेन पुंसा तु आविद्यद्यां सुह्त्परिषदि मृद्याम् सह कथयता सम्भापमाणेन पुंसा तु आविद्यद्यां सुत्रसङ्घ छैरितरेण ईपद्विद्धं दीर्घ सुत्रं यत् तेन सङ्घ छा मिश्रिता ये वाक्यांशका दण्डास्तैः कथिन तथ्यम्। आकाररेशकृतिभिर्धं हुम्ब्रेह्ररितहण्टं यथा स्यात् तथा परिषदम् उपहसता परमुत्कृष्टं यथा स्यात् तथा परिषदम् उपहसता परमुत्कृष्टं यथा स्यात् तथा परिषद् निर्क्षयता च ब्रुवतश्चास्य परस्य वाक्यावकाशो न देय इत्यावच्छदेनाविद्धदीर्घस्त्रसङ्घ छैर्वाक्यदण्डकैः कथिन तथ्यित्रयेशः। कष्टशब्द् वाक्यावकाशाभावेऽप्यवान्तरं कष्टशब्दात्मकं वाक्यं

कंनचिदिति नाधमेनापीत्यर्थः । आविद्धं वक्रम् । कथयितन्यमिति वक्तव्यम् । उपहसता परमाकारेरिति योजना । तथा परिपदं रूपयता आकारेरिति सम्बन्धः । कष्टराव्दमिति नाति-प्रसिद्धार्थम् । नोच्यत इत्येवं नीच्यत इति वक्तन्यम् । कष्टराव्दस्य हार्थं मृद्धपरिपत् न जानात्येव । तत्रश्च कष्टराव्दस्यानर्थकतायाः परिपदं प्राप्य मुखसाध्यत्वमिति भावः । तथा कष्टराव्दं वदंस्येवं

अदीक्षयक्षसेति चुकः ।

अथवा पुनहींना ते प्रतिज्ञोति । पुनश्चाह्वयमानः प्रतिवक्तव्यः परिसंवत्सरो भवान् शिन् त्व तावद्युह्मुणसितो नूनम्। अथवा पर्याप्तमेतावत् ते। सकुदेव हि परिचेषिकं निहतं निहतमाहरिति न्यासयोगः ७ कर्त्तव्यः कथश्चित् । एत्रमेव श्रेयसा सह विग्रह्म वक्तव्यिसत्याहुरेके। न त्वेवं ज्यायसा सह विग्रहञ्ज प्रशंसन्ति कुश्लाः ॥ १७॥

प्रत्यवरेगा तु सह समानाभिमतेन वा विगृद्य जल्पता सहत्वरिषदि कथयितव्यम्। अथवाप्युदासीनपरिषद्यवधान-श्रवग्रज्ञानविज्ञानोपधारग्यवचनप्रतिवचनशक्तिसम्बन्नायां कथयता

बुवता परः सम्भाष्यमाणः भो भवता नोच्यत इति वक्तव्यः। अथवा पुनश्चाह्वयमानः भोः पुरुपेत्याह्वयमानः आहूयमानः सभोः ते तव प्रतिज्ञा हीनेति प्रतिवक्तव्यः । अथवा परिसंवत्सरः संवत्सरं परिप्राप्तस्तावत् गुरुग्रुपासितो नूनं शिक्षस्वेति वक्तव्यः। अथवा ते तव एतत् सर्व्वं मिय पर्याप्तं परिगतम्। सकृदकवारमेव हि निश्चितम्। परिक्षेपिकमुद्रिक्तसत्त्वगुणेन शान्तो भूला जल्पजन्यक्रेशसाधनात् विरतः सन् आनन्दसाधनेषु भावेषु निरतिर्विक्षेपः स एव परिक्षेपः तदीयं यद्यत् कम्मे तत् तत् परिक्षेपिकं निहतं निहतं तव मतमित्याहुरेवं कचिन्मौनं कचिद्धास्यमित्येवमादि न्यासयोगः कथश्चिदपि कर्त्तव्यः। एवमित्यादि। एवं श्रेयसा श्रेष्टेन ज्यायसा ज्येष्टन। अपतिपिद्ध-लादनुमतमेकेपां मतम्।। १७॥

. गङ्गाधरः-प्रत्यवरेणेत्यादि । सुहत्परिपदीति । ज्ञानवत्यां सुढ़ायां वा प्रत्यवरेण समेन वा सह विगृह्य जरुपता कथियतन्यमुक्तरूपेण। अथवेत्यादि। अवधानादिसम्पन्नायामर्थात् ज्ञानवत्याम् उदासीनपरिपदि परस्परं सम्भाष्य वाच्यम् —हीना ते प्रतिज्ञेति । परिसंवत्सरोऽध्ययनं स्वयमुपसंस्कृत्य पुनरध्येता पर्थ्यासमेतावत् ते इति पक्षावसादायेति शेपः। परिक्षेपिकमिति प्रतिक्षेपिकशब्दम्। नास्य योगः कर्त्तब्य इति न सकृत् परामृतस्य पक्षस्य पुनः प्रतिक्षेपकहेतुना योगः कर्त्तव्य इत्यर्थः। कथञ्चिदित्यादिना श्रेयसा समं विगृह्य सम्भाषायामेकीयमतमाह, न त्रेवेत्यादिना आत्ममतमाह॥ १५-१७॥

^{*} नास्य योग इति वा पाठः ।

चावहितेन परस्परसाद्युग्यदोपवलमवेन्तित्व्यम्। समवेन्य च यत्रैनं श्रेष्ठं मन्येत, नास्य तत्र जल्यं योजयेदनाविष्कृतसयोगं कुठ्वेन्। यत्र त्वेनमवरं मन्येत, तत्रवेनमाशु नियह्णीयात् ॥१८॥ तत्र खिल्वमे प्रत्यवराणामाशुनियहे भवन्त्युपायाः। तद् यथा—श्रुतहीनं महता सूत्रपाठेनाभिभवेत्, विज्ञानहीनं पुनः कष्टशन्देन वावयेन, वाक्यधारणाहीनमाविद्धदीर्धसूत्रसङ्कुलैः वाक्यदगढकैः, प्रतिभाहीनं पुनर्वचनेनानेकविधेनानेकार्थ-वाचिना, वचनशक्तिहीनमर्छोक्तस्य वाक्यस्यान्तेपणेन, अवि-

पुरुपस्यात्मनश्च साद्गुण्यं दोपश्च तयोवलम् । श्रेष्टं साद्गुण्येन श्रेष्टम् न तु दोपवलेन । यत्र तु एनं सम्भाष्यं पुरुपमनाविष्कृतं जल्पेनालपितमप्रजंसितम् अयोगं कुर्वन् अवरं मन्येत, तस्य जल्पेनानुनिग्रहं कुर्यात् ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—तत्रेत्यादि स्पष्टम् । तद् यथेत्यादि । श्रुतहीनं तच्छास्त्रेऽनधीतम् । विज्ञानहीनं तच्छास्त्रोधितस्वज्ञानहीनं कष्ट्रशब्देन दुव्योधार्थकशब्दात्मकेन वाक्येन । वाक्यधारणाहीनमल्पमेधसमाविद्धदीर्धसूत्रसङ्क् लेः । प्रतिभाहीनं श्रुत-मात्रमर्थवोधः प्रतिभा । अनेकविधेन नानार्थकशब्दात्मकवचनेन । अद्धोत्त-वाक्यस्याक्षेपण व्यङ्गरार्थकशब्दात्मकेन वाक्येन । अविशारदं पाण्डित्यहीनम्,

चक्रपाणिः—साद्गुण्यस्य विद्यमानगुणतायास्तथा दोपस्य वस्तं साद्गुण्यदोपवस्म् । श्रेष्ठं मन्येतेतिं यत्र वाद्विपये प्रतिवादिनमधिकं पश्येदित्यर्थः, तत्र परस्य पुरःसरवाद्विपये तथा वादो निवर्त्तनीयः, यथा आविष्कृतः प्रकटीकृतः सभाया नायोगः । तत्र वादो निवृत्तलक्षणो न स्यात् । अनभीष्टविपये तथा वादनिवृत्तिः कर्त्तव्या यथा कोऽपि न जानात्येवं तत्र वक्तुमक्षममित्यर्थः । तत्रैवेति तत्रेवं हीनपक्षे प्रवृत्तं निगृह्णीयादिति योजना । महता सूत्रपाठेनेति श्रुतहीनो ह्यपिर-चयाद्दीक्ष्त्रपाठं कर्त्तुभक्षमः, विज्ञानहीनमिति अज्ञातार्थम् । नानार्थवाचिनत्यनेकार्थवाचिना । पृक्षविधेनेत्येकविधेन शब्देन प्रतिभाहीनो ह्यनेकार्थं नावधारयति—यत्—केनाभिप्रायेणायं प्रयुक्तो-ऽनेन शब्द इति । वक्तशक्तिहीनोऽर्ह्योक्तवाक्याक्षेपात्र पुनर्वक्तुं क्षमो भवतीति दृष्टम् । अवि-

श्रासद्मपत्रपणेन ७, कोपनमायासेन, भीरुं वित्रासनेन, अनव-हितं नियमनेनेति । एवमेतैरुपायैरवरमभिभवेत् ॥ १६ ॥

तत्र श्लोको ।

विग्रह्म कथयेद् युक्तया युक्तञ्च न निवारयेत्। विग्रह्म भाषा तीव्रं हि केषाञ्चिद् द्रोहमावहेत्॥ नाकाय्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यमपि विद्यते। कुशला नाभिनन्दन्ति कलहं समितौ सताम्॥ २०॥ एवं प्रवृत्ते तु वादे †। प्रागेव कार्य्याद्वादात् तावदिदं कर्त्तुं यतेत। सन्धाय परिषद्।ऽयनभूतमात्मनः प्रकरगामादेशिय-

अपत्रपणेन ल्रज्जाजनकवचनेन । कोपनमायासेन क्रशजनकवचनेन । भीरुं वित्रासनेन त्रासजनकवचनेन । अनवहितमवधानहीनं नियमनेन नियत-वचनेन । परं प्रतिपक्षम् । अवरमधमम् ॥ १९ ॥

गङ्गाधरः—श्लोकेनेममर्थमाह—तत्र श्लोकावित्यादि। विगृहेप्रत्यादि। उक्तमकारेण युक्तया विगृह्य अवरं कथयेत् जल्पेत्। युक्तं श्रेष्ठं परं विगृह्य न निवारयेत्। ननु कुतो युक्तं न विगृह्य निवारयेदित्यत आह—विगृहेप्रत्यादि। यतः केपाश्चिद् विगृह्यसम्भापा तीत्रं द्रोहमावहित्। तत् केपामित्यत आह—नाकार्य्यमित्यादि। कुद्धस्य किश्चिद्धपि अभिशाप-कलहादिकमकार्यं नास्ति। सर्व्यमेव कुद्धस्य कार्य्यं भवति तथा कुद्धस्य किश्चिद्धयवान्यं मातापित्रादीनां दुर्व्यचनेन कलहादिवचनादिकं न वर्तते, अपि तु सर्व्यमेव वान्यं भवति। तस्मात् कुश्लाः सज्जनाः पण्डिताः सतां संहिताः कल्रहं नाभिनन्दिन्त तस्माद् युक्तं विगृह्य न निवारयेत्॥ २०

गङ्गाधरः—एवं कत्तेच्ये वादे पूर्वं यत् कत्तंच्यं तदाह—एविमत्यादि। कार्यादिति वादादित्यन्वयः। इदं वध्यमाणं परिपदा पारिषदेन सह सन्धाय शारदिमत्यदृष्टसभम्। अदृष्टसभो हि होपणेनातीव ल्जितः सन् न किञ्चित् प्रतिपद्यते। एवः मिति "तद् यथा श्रुतहीनम्" इत्यादिग्रन्थोक्तम्। प्रवृत्ते वादे कुर्यादिति च्छेदः। तथाऽप्रवृत्ते वादे कि कुर्यादित्याह—प्रागेनेत्यादि। अयनभूतिमिति अभ्यासात्

अपहोपणेनेति वा पाठः । † कुर्यात् । इत्यधिकः पाठः कचित् ।

तव्यम्। यद्दा परस्य भृशदुर्गं स्यात् पन्नं परस्य वा भृशं विमुखम् त्रानयेत्। परिषदि चोषसंहितायामश्वयमस्माभिर्वक्तुम्, एषैव ते परिषत् यथेष्टं यथायोगं यथाभिप्रायं वादं वाद-मर्थ्यादाश्च स्थापिष्यतीत्युक्तवा तृष्णीभासीत ॥ २१ ॥

तत्रेदं वादमर्थ्यादालच्यां भवति । इदं वाच्यमिद्मवाच्यम् एवं सित पराजितो भवतीति। इमानि तु पदानि खलु भिषिभ-वीदमार्गज्ञानार्थमधिगन्तः यानि भवन्ति । तद् यथा—वादो

सिन्धं कृतात्मनो निजस्यायनभूतं परस्य जयार्थं यत् प्रकरणं वत्मरूपं भवति, तत् सम्भाषणात् पूर्व्वमादेशयितव्यमादेशेन बातव्यम्। यः पक्षः परस्य सम्भाष्यस्य दुर्गः स्यात् तं वा पक्षं वादात् पूर्व्व आनयेत्। पूर्व्वपक्षेण कौशहेन वा उपस्थापयेत्। अथवा परस्य यद्तिशयविमुखजनककम्मे तद्दा कम्मानयेत्। परिपदि सभायामुपसंहितायां सिन्धकृष्टायां त्या सहास्माभिः वक्तुं न शवयमिति काल्पनिकवचसा तृष्णीमासीन, एप ते उत्यादुम्तवा च तृष्णीमासीत्।। २१।।

गङ्गाधरः—तत्रेदमित्यादि। वादमर्यादा वादस्य सीमा तस्या लक्षणम्।
नतु वादे कत्तेच्ये कः पन्थाः क्रुतो वा वादस्य वर्त्म ज्ञायते इत्यत आह—
इमानीत्यादि। पदान्यर्थवन्ति वर्णात्मकाः शब्दाः अधिगन्तच्यानि अर्थतो
विधितश्च ज्ञातच्यानि। नतु कानि पदानि इत्यत आह—तट् यथेत्यादि।

मार्गामृतमिव अभ्यस्तमित्यर्थः । परस्य भृदादुर्गमिति प्रतिवादिनोऽविदिततत्त्वेन दुर्गमिव दुर्गम्, तत् पूर्वं सन्धितत्त्वा परिपद्दिशयेत् । पक्षान्तरमाह—पक्षमथवेत्यादि । परस्य प्रति-वादिनः पक्षं भृदामत्यर्थं सभायां यथा विमुखं भवति, तथा वादं प्रवर्त्तयेत् । एतेन नास्ति पर्छोकः, नास्ति कर्म्मफलमित्यादि यदि परस्य पक्षे भवति, तदैतस्य पक्षस्य स्वाभाविकद्विष्टत्वेन यिकञ्चित् स्वपृक्षसाधनमुच्यते, तदेश्व परिपद्पि गृह्णातीत्युक्तं भवति । उपसंहितायामिति संहितादियुक्तायां तृष्णीमासीतेति योजना । उपसंहिता हि परिपत् परोक्षेणाभिमतत्वेन उप-दर्शितमेव सर्वं करिष्दिति, तद्दलमिहात्यर्थवचनेन माहात्म्यखण्डकेनेति भावः ॥ १८—२१ ॥

- चक्रपाणिः—वादमर्यादालक्षणमाह—तत्रेदमित्यादि । वादशब्देन चेह विगृह्य पक्षप्रति-.पक्षवचनमात्रमुच्यते । सन्धायसम्भापभैव तत्त्ववुभुत्सोवीद उक्तः ।

द्रव्यं ग्रुगाः कम्मे सामान्यं विशेषः समवायः प्रतिज्ञा स्थापना प्रतिष्ठापना हेतुर्द्धान्त उपनयो निगमनमुत्तरं सिद्धान्तः श्ब्दः प्रवक्षनुमानमैतिह्यम् ऋौपस्यं संश्यः सव्यभिचारं जिज्ञासा व्यवसायोऽर्थश्राप्तिः सम्भवोऽनुयोज्यम् अननुजोज्यमनुयोगः प्रखनुयोगो दावयदोपो वाक्यप्रशंसा वाद इत्यादि। निग्रहस्थानिमतीत्यन्तेन चतुश्रवारिंशत्पदानि। पोड्शपदान्युक्तानि । तद् यथा-प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयव-तर्कनिर्णयवादजलपवितण्डाहेलाभासच्छलजातिनग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निः-श्रेयसाधिगम इति । तत्र प्रमाणशब्देन चतुश्रवारिंशत्पदानां मध्ये प्रत्यक्षानु-मानोपमानशब्दाः प्रमाणानीति मृत्रेण प्रत्यक्षानुमानोपमानैतिहाप्तोपदेशार्था-पत्तिसम्भवानां संग्रहः कृतः, प्रमेयशब्देनात्मशरीरेन्द्रियार्थयुद्धिमनःप्रष्टित-दोपमेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयमिति सुत्रेण द्रव्यगुणकर्मसामान्य-विशेषसमवायानां संग्रहः कृतस्तत्रोक्तशरीरस्य चेप्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्। घ्राणरसनचक्षुरतक्थ्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः पृथिन्यप्तेजोत्राय्वाकाश्मिति भूतानि । गन्धरसरूपस्पर्जञ्जन्दाः पृथिन्यादिगुणास्तद्र्था इत्येतैः सुत्रै विष्टतसात तेनैवेति। अवयवपदेन प्रतिकाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानां संग्रहः कृतः। परस्परं हि वादे स्वस्वपक्षं स्थापियतुमेव प्रतिज्ञायते। तेन प्रतिज्ञावचनेनैव स्थापनाप्रतिष्ठापनयोः संग्रहः ख्यापितः पृथड्नोक्तेः। गौतमेनावयवेषूदाहर्णोप-देशार्थं दृष्टान्तः पृथगुक्त इह च तथैवेति। शन्द्स्याप्तोपदेशैतिह्यप्रमाण-वचनस्याप्रमाणवचनस्य च सन्वस्यैव वाद्मागज्ञानहेतुत्वेन ग्रहणं कृतम्। गौतमेन त वेदादिशास्त्रात्मकाप्तोपदेशवचनस्य लौकिकैतिस्रवचनस्य च शब्दस्य दृष्टादृष्ट्यार्थस्य सत्यार्थस्य च संग्रहः कृतो नानृतार्थशन्दस्यापामाण्यात् निःश्रेय-साधिगमहेतुताभावाच । व्यवसायस्य निर्णयशब्देन गौतमेनोपादानं कृतम् । निग्रहस्थानपद्नाननुयोज्यानुयोगादीनां ग्रहणश्च कृतम्। तत्र गौतमेन निरनु-योज्यानुयोग्रशब्देनाननुयोज्यानुयोगः संगृहीतः। तत्राननुयोज्यस्य नान्तरीयक-त्वेन सिद्धलान्न पृथग्वचनं कृतम्। एवं पर्यमुयोज्याक्षेपणशब्देनानुयोज्या-नमुयोगस्य संग्रहः। स हि पत्यस्योगं उच्यते। तत्र चावान्तरीयकलादस-

सम्प्रति वादमार्गज्ञानार्थं वादाभिज्ञेयानि दृश्यगुणादीन्युपदर्शयत्राह—इमानीत्यादि । भिषजां

च्छलम् अहेतुरतीतकालमुवालम्मः परिहारः प्रतिज्ञाहानिरभ्यनुज्ञ। हेत्वन्तरमर्थान्तरं नियहस्थानमिति ॥ २२ ॥

तत्र तु वादो नाम स यत् परः परेण सह शास्त्रपूर्व्यकं विग्रह्म कथयति । स च द्विविधः—संप्रहेण जल्पो वितराडा च,

योज्यस्य न पृथग्वचनं कृतिमिति। तन्त्रेऽस्मिन् वाक्यदोपनाम्ना न्यूना-धिकानथेकापाथेकविरुद्धानां पश्चानामुक्तया गोतमोक्तानां न्यूनाधिकपुनरुक्त-निरथेकापार्थकापाप्तकालापसिद्धान्तानां हेलाभासान्तर्गतविरुद्धस्य च संग्रहः कृतः। गोतमेन तु हेलाभासशब्देन सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्य-समातीतकालानामुक्तया प्रकरणसमवण्यंसमसंशयसमानामहेतूनां त्रयाणामतीत-कालस्य सव्यभिचारस्यात्र संग्रहः कृतः। अभ्यनुकाया मतानुकाशब्देन गौतमेन संग्रहः कृतः। अविकातार्थापतिभाननुभाषणाकानिवक्षपाणामत्रोक्त-निग्रहस्थाननाम्ना संग्रहः कृतः। वाक्यदोषाणां निरर्थकादीनां ग्रहणेन वाक्यप्रशंसा नाम न्यूनाधिकार्थवदनपार्थकविदितार्थानां लाभान्न पृथगुक्तिः गौतमेन कृता। कृतश्चार्थापत्तिसम्भवयोरनुमानेऽन्तर्भावः। जिक्षासामन्तरेण वादप्रष्टित्तर्ने स्यादित्यतो जिक्षासा च न पृथगुक्ता तेन। उपालम्भपरिहारयोः गौतमेन जातिशब्देन संग्रहः कृतः॥ २२॥

गङ्गाधरः—अथोि हिष्टानां वादादीनां मध्ये वादस्वरूपकानमन्तरेण न वाद-मार्गकानं सम्भवतीति प्रथमतो वादस्योक्तस्य स्वरूपलक्षणमाह—तत्र वादो नामेत्यादि। तत्र वादादिषु मध्ये स वादो नाम यत् परः परेण सह विग्रह्य कथय-तीति विग्रह्यसम्भाषाया वादिवशेषस्य लक्षणम्, न तु वादस्य सामान्यलक्षणम्। तत् तु सम्भाषाश्वदेनान्वर्थकेन परस्परं प्रमाणतः स्थापना प्रतिपेधाभ्यां पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वाद इति ख्यापितम्। सा सम्भाषा द्विधा सन्धाय-सम्भाषा विग्रह्यसम्भाषा चेत्युक्तम्। गौतमेन तु वादलक्षणमुक्तम्। तद् यथा— प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपननः पक्षप्रतिपक्ष-परिग्रहो वाद इति। व्याख्यातञ्चतिव्वातस्यायनेन तत् प्रतिसंस्कृत्य प्रदर्शते।

वादमार्गी भिषय्वादमार्गः। वादादयः स्वयमेवाचार्य्येणात्रे विवियन्त इति नेह संज्ञाकथने विवि-यन्ते॥ २२॥

चक्रपाणिः—तन्नेत्यादिना वादलक्षणम् । इह 'वाद'शब्देन विगृद्य वादोऽभिन्नेतः, तत्त्व

प्रत्यक्षादिप्रमाणेष्वसुमानघटकत्वेन प्रामाण्यसिद्धावपि तकस्य प्रमाणोप-संगृहीतलाद्गीतमेन प्रमाणान्तरलाभावाच प्रमाणानामनुग्राहकलात् तु पृथगुक्तिः कृता। तेन प्रमाणैस्तकेण च यत्र पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहे साधनोपालम्भौ क्रियेते स प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः सिद्धान्ताविरुद्धः स्वतन्त्र-प्रतितत्राधिकरणाभ्युपगमसिद्धान्तैरविरुद्धः सिद्धान्तमभ्यपत्य तद्विरोधी विरुद्धो न चेद्रवति। पश्चावयवोपपन्नश्च भवति तदा स वाद उच्यते। तत्र सिद्धान्ताविरुद्ध इति वचनेन है लाभासनिग्रहस्थानानामभावो वादे ज्ञापितः। पक्षप्रतिपक्षयोः परिग्रहो ह्यभ्युपगमन्यवस्था। पक्षः प्रतिज्ञा। वादिनोर्द्धयोः पक्षयोरेकाधिकरणयोध्रम्भयोः परस्परोपचातिभावं प्रतिपक्षता। तौ च हौ पक्षौ परस्परं प्रतिपक्षौ। तत्र यः पूर्व्यः पक्षः स खळु वाद्प्रवर्त्तकलात् पक्ष उच्यते, परस्तु पशस्ति हिरोधिलात् प्रतिपक्ष उच्यते। यथा पूर्व्यमेकः प्रतिजानीते। विहरूण इति। अपरः प्रतिजानीते विहर्मुण इति। इत्येवं पक्षप्रति-पक्षयोः परिग्रहे ममाणेन तकेण च साधने स्वपक्षस्थापनापरपक्षस्योपालस्भः प्रतिषेध एवं ताभ्यां विधीयते। तद् यथा—सिद्धान्ताविरोधेन पश्चभिरवयवैश्व न न्यूनाधिकेः पश्चभ्योऽवयवेभ्यः। तत्र पूर्व्वपक्षं विद्वरुष्ण इति स्वमतिकातं वादी हेतूदाहरणोपनयनिगमनैः स्थापयति सिद्धान्तचतुष्ट्याविरोधेन। विक्षरुण इत्यत्राह प्रतिवादी-कस्मात् ? तत्राह वादी-दहनात्। क इवेत्याह प्रतिवादी। तत्राह वादी-आतपवत्। कथिमत्याह प्रतिवादी। तत्राह वादी यथातप उष्णः स च दहति—तथा विहिर्दहित ; तस्मादुष्णो विहिरिति प्रत्यक्षेण प्रमाणेन तकेण च स्वप्यसाधनमतोऽनुष्णत्वपतिषेधो इत्येवं पक्षपरिग्रहः सर्व्वसिद्धान्ताविरुद्धः पश्चावयवोपपन्नश्च। प्रतिवादी तु तत्प्रतिपिध्य स्वयक्षं स्थापयति । न विहरूण इति प्रतिपिध्याह बहिर्तुष्णः। तत्राह् वादी कस्मादिति। रूपमात्रलिङ्गलादित्याह प्रतिवादी। तत्राह वादी क इवेति। तत्र प्रतिवादी चाह यथा वायुः। कथिमत्याह वादी। वायुर्यथा स्पर्भमात्रलिङ्गः सं चानुष्णस्तथा विद्वश्च रूपमात्र-लिङ्गः, तस्माद्मुष्ण इति । आप्तोपदेशप्रमाणेन तर्केण च वहे रूपमात्रलिङ्गस्वं सर्व्वसिद्धान्तसिद्धं निर्णीयातुष्णलमनुमानेन तकेण च स्थापयिला प्रति-पिद्धमुष्णत्वं वहेः प्रतिवादिनेति प्रतिपक्षपरिग्रहोऽपि सर्व्वसिद्धान्ताबिरुद्धः बुभुत्सवादस्तु त् सन्धायसम्भापयैवोक्तः । शास्त्रपृथ्वैकमित्यनेनार्थादिकछहवादं निपेधयति । तत्र वादे विगृह्यं संम्भापारूपत्वादेव च्छलजातिनिग्रहस्थानानां विजिगीपाग्रवृत्तानां ग्रयोगो लभ्यते ।

पन्ताश्रितयोर्वचनं जल्पः, जलगविषर्थ्ययो वितराहा। पञ्चावयवोपपनः । नावयवैहीनोऽधिको वेति । परस्परमप्रतिघातिनौ त्वेकाधि-करणौ धम्मो न प्रतिपक्षौ। तौ हि पक्षौ न प्रमाणतकभ्यां परस्परं स्थापनामतिषेधवन्तौ पञ्चावयवोषपत्तावषि। यथा पूर्व्वमैकः मतिजानीते विहरदव इति। अगरः प्रतिजानीते विहरूण इति। पश्चप्रतिपक्षवचनेन इक्तिपत्यक्तिमतृसंकथाया वादलनिरासः। यथा भो घटमानयेत्यक्त आह— घटमानयामीति। अथैकः मतिजानीते विहर्देव इति। अपरः मतिजानीते विहरद्रव इति । तो हि पक्षी परस्परमुपघातिभावात मतिपक्षी ततः पक्षमति-पक्षभावेऽपि प्रमाणतक्रीभ्यां पश्चावयवैः सिद्धान्ताविरोधेन स्थापनाया अभावात्र तयोः परिग्रहो बाद इति । इत्येवं बादस्य सामान्यलक्षणमन्वर्थ-सम्भाषाशब्देन ख्यापयिला विगृह्यसम्भाषालक्षणप्रक्तम् । नामेखादि। वादो वादविशेषो विष्रुह्मसम्भाषा नाम स यत परः परेण सह विगृह्य कथयति। अत्र विग्रहो वाग्युद्धं छलजातिनिग्रहस्थानैः प्रकरणात तद्विद्यायाम्। पर एकः पुरुषस्तद्विद्यः परेणान्येन तद्विदेतन पुरुषेण सह ं विष्टृह्य तद्विद्यायां योध्यिता प्रमाणतः स्वयक्षं हेतादिभिः स्थापयिता परपक्षं द्पयिता स्वपक्षं न स्थापयिता परपक्षं दूपयित्वैव वा यत् कथयति अभ्यूपगम्य व्यवस्थापयति तत्कथनं वादः, वादिवशेषो विगृह्यसम्भाषाभिधीयते।

तं विभगते—स चेत्यादि । स च विग्रह्य वादः संग्रहेण सङ्घ पेण द्विविशो भेदमकृत्यन्तरवाहुल्येऽपि जल्पलवितण्डालभेदात् जल्पश्च वितण्डा चेति । जल्पं लक्षयित—तत्रेत्यादि । तत्र जल्पवितण्डयोर्मध्ये पक्षाशितयोजेल्प इति । परस्परमुप्यातिनौ खल्वेकाधिकरणौ धम्मौ पक्षौ द्वावाश्रितयोर्वादि- मितवादिनोर्वादः ममाणतः स्थापनामितपेधवत् सिद्धान्ताविरुद्धं हेतुदृष्टान्तोप- नयनिगमनैरन्यनानधिकैरुपपन्नं छल्जातिनिग्रहस्थानैविग्रह्य स्थापनामितपेध- कथनं जल्पः । न तु च्छल्जातिनिग्रहस्थानसाधनोपालमभो जल्पः । न हि च्छल्जातिनिग्रहस्थानैः कस्यचिद्धंस्य साधनं सम्भवति । मितपेधो ह्यर्थस्यैपां सामान्यलक्षणैः श्रयते । वचनविद्यातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या च्छल्मिति साधम्मर्थे- वैधमम्प्रीभ्यां पत्यवस्थानं जातिः । विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् इति । तस्मात् प्रमाणतः साधनोपालम्भवत्सिद्धान्ताविरुद्धं हेलादिभिः

थथैकस्यः पनः पुनर्भवोऽस्ति, नास्तीत्वपरस्य । तौ च खख्यन् -हेतुसिः खखपनं स्थापयतः परपन्मुद्भावयतः, एष जल्पस्तद्दन

अन्यूनानधिकैरुपपन्नं पक्षप्रतिपक्षाश्रितयोश्छलजातिनिग्रहस्थाने विंगृह्य खख-पक्षस्य स्थापनापूच्चेकं परपक्षदृपणकथनं जल्पः। जल्पस्याङ्गानि विग्रहे च्छलजातिनिग्रहस्थानानि । तैहि परपक्षं विहत्य स्वपक्षं स्थापयति । प्रति-पक्षमतिषेधश्च च्छलजातिनिग्रह्स्थानैः परमतिषेधविघातेन स्वपक्षं यह् रक्षति तत्र सहकारीणि भवन्ति च्छलजातिनिग्रहस्थानानीति जल्पे विग्रहस्याङ्गानि च्छलजातिनिग्रहस्थानानि भवन्ति, न तु स्वातन्त्रेग्रण साधनानि भवन्ति।. यथोक्तोपपन्नइछलजातिनिग्रह्स्थानसाधनोपालम्भो गौतमेनाप्यवमुक्तम् । जल्पः। यथोक्तोपपन्न इति वादलक्षणोक्तोपपन्नः। प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पश्चपतिपश्चपरिग्रह्इछलजातिनिग्रहस्थान-साधनोपालम्भो जल्प इति। छलजातिनिग्रहस्थानैः साधनै स्थापनाः उपालम्भः प्रतिषेधः एतौ यत्र क्रियेते स च्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोषालम्भः इति। न तु च्छलजातिनिग्रहस्थानोपालम्भो यथोक्तोपपन्न इति, तथाविधाःतु वितण्डा इति। अनुयवेषु प्रमाणतर्कान्तर्भावेऽपि यत् पुनः प्रमाणतर्कयोः पृथग्ग्रहणं तत् साधनोपालम्भव्यतिपङ्गज्ञापनार्थम्। अन्यथोभावि। पक्षौ स्थापनाहेतुना प्रष्टत्तौ वादः स्यादिह जल्पः स्याच । अवयवसम्बन्धमन्तरेणापि प्रमाणान्यर्थं साध्यन्तीति दृष्टम् । प्रमाणतर्कसाधनोपालस्भो वादः एवेति १ प्रतिपेधार्थं छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालस्भ एव जल्प इति प्रतिपेधार्थश्च पृथक् प्रमाणतकेंग्रहणिमति। एवं निग्रहो जलप इति प्रतिपेधार्थं छलजाति-निग्रहस्थानसाधनोपालम्भ इति वचनमिति वातस्यायनव्याख्यानम्।

जल्पमुदाहरति स्वयम् । यथैकस्येति । पुनर्भवोऽस्तीत्येकस्य पक्षः, नास्ति पुनर्भव इत्यपस्य पक्षः । तो च वादिप्रतिवादिनौ पुनर्भवोऽस्तीति वादीः पुनर्भवो नास्तीति प्रतिवादी स्वस्वपक्षदेतुभिद्देतुदृष्टान्तोपनयनिगमनैः स्वस्वपक्षं स्थापयतः परपक्षमुद्धावयतः प्रतिपेधयत एप जल्पः । तद् यथा— अस्ति पुनर्भव इति वादी न्नूते । अस्ति पुनर्भव आत्मनित्यत्वात् । तिस्त्री प्रणीये स्वस्वात्मनो नित्यत्वं प्रत्यक्षानुमान्युक्तिभिराप्तोपदेशेन च स्थाप-

[ं] खुपक्षोऽस्त्येव, परं स्वमृतं न साधयतीति, भेदः। यथैकस्येत्यादि जल्पोदाहरणम् । परपक्षे ।

विषय्ययो त्रितग्डा। त्रितग्डा नाम परपच्चदोषवचनमात्र-मेव॥२३॥

यिवा नास्ति पुनर्भव इति पक्षप्रतिषेधः कृतः। तत्र दृष्टान्तः। यथापवर्गोऽपाणी घटादिवी। यथा कम्मेफलानुवन्धामावादात्मा दुःखजन्मतो मुच्यते न पुनर्भवित तथा पुनर्भविदे नुकम्भेफलानुवन्धादात्मा पुनर्भवित न दुःखजन्मनो मुच्यते। यथात्महीनो घटादिने पुनर्भवित न तथा सात्मकः पुरुषो न पुनर्भवित। विसादिति पुनर्भव इति, न तु नास्ति पुनर्भव इति। अथ नास्ति पुनर्भव इति, वादी ब्रूते नास्ति पुनर्भव इति। कस्मादिति ? तत्राह प्रत्यक्षमात्रप्रमाण-वादी, परोक्षवात् पुनर्भवस्य। यथा नास्ति मोक्ष इति। अस्ति पुनर्भव आत्मिन्त्यवात्। प्रतिवादी चाह नास्ति पुनर्भवोऽनित्यवादात्मनः। तत्र वादी चाह—अस्ति पुनर्भवो नित्यवादात्मनः, आत्मा हि कम्मेफलेन नित्यानुवन्धः। पुनः प्रतिवादी चाह। नास्ति कम्मेफलमतो नात्मा कम्मेफलानुवन्धः तस्मान्नास्ति पुनर्भवः। तत्र पूनर्वादी ब्रूते। अस्ति कम्मेफलम्, नास्ति हि तत् कम्मे यस्य फलं नास्ति। तस्मात् कम्मेफलानुवन्धादात्मनः पुनर्भवो-ऽस्तित्येवं जल्यः। इति।

वितण्डां लक्षयति। जल्पविषय्ययो वितण्डेति। एतामुदाहरति।
तिद्विपर्ययो वितण्डा। तर्हि कि स्वस्वपक्षस्थापनामात्रं परपक्षापतिष्येन
यत् कथयति सा वितण्डेत्यत आह—वितण्डा नामेत्यादि। परपक्षदोपवचनमेव वितण्डा नाम स्वपक्षस्थापनाहीनिमिति। तथा चोक्तं गौतमेन।
सपितिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा। न्याख्यातिमदं वात्स्यायनेन। पक्षः पक्ष
इति प्रतिपक्षं यो हि समानाधिकरणौ विरुद्धौ धम्मौ पक्षप्रतिपक्षावुक्तो
तयोरेकतरपक्षस्थापनाहीनो जल्पो वितण्डा। तथा च। प्रमाणतकौपालम्भः
सिद्धान्ताविरुद्धः प्रश्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहञ्खलजातिनिग्रहस्थानोपालम्भो वितण्डेति पर्यवसीयते। वैतण्डिको हि स्वपक्षं न स्थापयति परपक्षपतिष्ठेनेव प्रवर्तते। इति। अस्त्वेवं यद्वै तत्परपक्षप्रितिपेधवचनं तदेव वैतण्डिकर्ष्य पक्ष इति न ससौ कश्चिदर्थं साध्यं निद्धित्य स्थापग्रतीति नोध्यमिति।।२३

दोषवचनमात्रमित्यनेन न स्वपक्षसाधनवचनं वैतण्डिकस्येति दर्शयति। प्रविमुक्ता दीर्घ-

द्रव्यग्रग्कर्म्ससामान्यविशेषसमवायाः खलचगौः श्लोक-स्थाने पूर्व्वमुक्ताः॥ २४॥

गङ्गाधरः —वादमुत्तवा वाद्यानाह —द्रव्येत्यादि । द्रव्यगुणकम्मसामान्यविशेष-समवायाः खलक्षणैः श्लोकस्थाने प्रथमाध्याये पूर्व्यमुक्ता इति व्याख्यातास्ते विस्तरेण तत्रैव। शिष्याणां व्यवसायार्थं स्मरणार्थश्चात्र पुनर्द्रव्यादयः स्व-लक्षणैः सङ्घेषेण व्याख्यायन्ते। तद् यथा—पूर्विमुक्तं द्रव्यगुणकम्मेणां लक्षणम्। यत्राश्रिताः कम्मेगुणाः कारणं समवायि तत् । तद् द्रव्यं समवायी तु निक्षेष्टः कारणं गुणः। संयोगे च विभागे च कारणं द्रव्यमाश्रितम्। कर्त्तव्यस्य क्रिया कर्म्म क्रम्भं नान्यदपेक्षते।इति। कारणिमत्युत्तया कार्यस्येत्युक्तं यस्य कार्यस्यारमभे यत्समवायिकारणं विकियमाणं कार्यः वति तत्र विकियमाणे यत्र कारणे कार्यंत्रमापद्यमाने कम्भेगुणा आश्रिताः स्युस्तदेव तस्य कार्य्यस्य समवायि-कारणं तस्य कार्यस्य द्रव्यं भवति। यत्र तु कारणे कार्यारम्भे कम्मग्रुणा आश्रिता न भवन्ति तद्यत् कारणं कार्यं समवायिकार्यं रूपेण परिणमद् एकी-भवति तत् कारणं तस्य कार्यस्य न द्रव्यमिति । तद् यथा - पृथिव्यापस्तेजो-वायुर्मनक्चेति पश्च सिक्रयाणि स्वरूपतः। स्वरूपतश्च निष्क्रियाणि चलारि आत्मा कालो दिगाकाशक्चेति । तत्र कतिधापुरुषीये शारीरे वक्ष्यते । आत्मा निष्क्रियस्तत्र प्रशः। निष्क्रियस्य क्रिया तस्य भगवन् विद्यते कथमिति। तत्रोत्तरमुक्तस्। अचेतनं क्रियावच चेतरचेतियता परंः। युक्तस्य मनसा तस्य निर्दिश्यन्ते विभोः क्रियाः ॥ इति । कार्य्यारमभे पृथिन्यादिभिः सिक्रयैः इतरैश्राक्रियैः सह संयोगेऽन्योन्यानुभवेशादन्योन्यानुग्रहात् पुनःपुनः संयोग-विभागाभ्यामावर्त्तनादन्योन्यस्य क्रियागुणमेलनाद्विक्रियमाणान् क्रियागुणान् आश्रित्यात्मकालदिगाकाशवायुतेजोऽम्बुपृथिन्यः कार्ये समवयन्तीति क्रिया-गुणवत् समवायिकारणान्यात्मादीनि नवैव द्रव्याप्युच्यन्ते । तत्र च तदानीं तेषां क्रियागुणाश्च विक्रियमाणाः क्रियागुणान् विशेषरूपेण जायमानान् गुरुलादीन् गन्धादींश्व. नाश्रित्यैव समवयन्तीति क्रियागुणाश्रयताभावात्र द्रव्याण्युच्यन्ते। तदा हि सङ्क्ष्रापरिमाणपृथक् लगुणाश्रयः सन् समवाय्यपि रूपरसादिभीवो निक्चेष्टः क्रियाहीन् एव रूपरसाद्यन्तरारम्भे कारणं रूपरसाद्यन्तरमारभमाणः समवैति कार्यो इति निक्चेष्टः समवायी सन् कारणं भवति स गुण उच्यते, न द्रव्यं द्रव्यस्य लक्षणे करमीगुणा इति कर्मापदोपादानात्। महाभूतेषु पृथि-

च्यादिषु पूर्व्य गुरुलादयो विशतिर्गुणा अनभिन्यक्ताः पश्चभूतस्थाः कार्य्यकाले संयोगात् तेभ्योऽभिन्यज्यन्ते । तद्गुणाश्रयः सन् रूपरसादिन कार्य्यं समवायी भवति सह्याविशेपपरिमाणविशेपप्रश्कलाश्रयः संस्त कार्य्यं समवायी स्यादिति शापनार्थं निश्चेष्ट इत्युक्तं न निर्गुण इत्युक्तम्। कम्मीण च पृथिव्यादिष्वव-क्षेपणोरक्षेपणपसारणादीनि तत्कार्ट्यारम्भे पुनःपुनः संयोगविभागे नवानां द्रव्याणां कुला तानि द्रव्याणि तांश्च गुणान् परिणमय्य परिणम्यमानान्येकी-भूय खखविरोधीनि कम्मीणि भूला तत्र तत्र कम्मेणि समवयन्तीति विकृतिभूतकम्मीश्रया कर्त्तन्यस्य क्रिया तपां कर्म्मणां कर्म यतोऽन्यत् कर्म्म कर्त्तव्यस्य क्रिया नापेक्षते स्वप्रकृतिकम्मभ्य एव जायते क्रियाहेत्कम्म कर्मवन तु तदा गुणवत्तया जायते। एकसपृथक् सपरिमाणगुणाः प्रकृति-भूता एव सर्व्वत्र वर्त्तन्ते न कार्य्यकाले विक्रियमाणाः कम्मेण्याश्रितास्तस्मान द्रव्यम् । न च गुणः सचेष्ट्रवादिति । एतद्भिमायेण कणादेनाप्युक्तं वैशेपिक-्शास्त्रे । क्रियागुणवत्समवायिकारणिमति द्रव्यलक्षणम् । द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमन्यापेक्षो गुण इति। इह समवायिकारणमित्यनु-वर्तते। उभयत्र गुणशब्देन काय्येकाले जायमानगुणो विवक्षित इति ज्ञापनार्थ पुनक्तं गुणोऽपि विभाव्यते गुणेनापीति। तेन पड्रसास्त्रीणि रूपाणि पञ्च कम्मीण। दुग्यादिक्षोर्मधूरोऽधिकः। आम्रस्य रूपात् पृथग्रसः। इत्येवमादि । कम्मे पुनर्द्रच्याणां संयोगिवभागेषु कार्य्यकाले कम्भीन्तरमन-पेक्ष्यैव कारणं सद् यद्द्रव्याश्रयि चागुणवत्समवायिकारणं तत् कर्मा । तथा चोत्सेपणादीनि पश्चर्कम्मीण तेजःमभृतिद्रव्याश्रयीणि। न च गुरुलादिगुण-वन्ति न भूमिकार्ये समवायीनि भवन्ति सङ्घापरिमाणपृथक् लानि चाश्रित्यै-वेति । त्रिष्टतो विरेचनात् कर्मणो राजद्वेसस्य विरेचनं कर्म न्यूनमिति मृदु-विरेचनपुच्यते राजदृक्षस्य मृदुलात् । स्तुहीक्षीरस्य विरेचनमधिकमिति तीक्ष्णं विरेचनमुच्यते स्तुहास्तीक्ष्णलात्। एवं त्रिष्टतो विरेचनात् पृथक् स्तुही-भीरिविरेचनमिति। एतदर्थकं कम्मेलक्षणमिह तन्त्रे पूर्विमुक्तम्। संयोगे च विभागे च कारणं द्रव्यमाश्रितम् । कर्त्तव्यस्य क्रिया कम्मे कम्मे नान्यद्पेक्षते ॥ इति । कत्तीन्यस्य काय्यस्य द्रव्यमाश्रितं खल्वन्यत् कर्म्म नापेक्ष्य काय्योरमभे द्रव्याणां संयोगे च विभागे च कारणं या क्रिया समवायिकारणं भवति तत् भ्रान्तास्त्वाहुगु णकम्मणी न समवायिकारणे भवतस्ते चासमवायिकारणे इति तदनार्षमयौक्तिकञ्च। द्रग्याणि हि सजातीयं

द्रञ्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरं न विजातीयम् । कुम्मे तु न कुम्मीसाध्यं कचित् सजातीयं कचिद्विजातीयं स्वविरोधि कर्मा यदारभते तत्कारणभूतकर्भप्रकृतिक्रमेव कार्य्यभूतं कर्मा स्यात्। तत्र प्रकृतिभूतं कर्मीच समवेत्य कार्यभूतकम्मेतया निष्पद्यते तथा प्रकृतिभूतद्रव्यस्था गुणाश्र पकृतिभूताः समवेत्य कार्यभूतसजातीयगुणान्तररूपेण निष्पद्यन्त इति कथमसमन्नायिकारणे . गुणकम्मेणी भवत इत्यतस्तद्यौक्तिकमनार्पश्चासाधू इति। सामान्यविशेषौ च पूर्विमुक्तौ। सर्वेदा सर्विभावाणां सामान्यं दृद्धि-कारणस्। हासहेतुर्विशेपश्च पर्वत्तरभयस्य तु। सामान्यमेकलकरं विशेपश्च पृथक् बकृत्। तुल्यार्थता हि सामान्यं विशेषस्तु विषय्येय इति। परस्पर-तुल्यार्थता सामान्यं तद्विपर्ययः परस्परमतुल्यार्थता विशेष इति सामान्य-विशेषौ परस्परचुद्धप्रपेक्षौ। सामान्यचुद्धप्रपेक्षो विशेषो विशेषचुद्धप्रपेक्ष्यं सामान्यम्। तच द्रव्यतं गुणतं कर्मालञ्च सामान्यञ्च विशेपश्चान्यत्रान्त्येभ्यो विशेषेभ्य इति। कार्य्येषु च द्रव्येषु द्रव्यारव्धेषु द्रव्यश्च सामान्यं गुणश्च सामान्यं कर्म्म च सामान्यं विशेषश्च द्रव्यं गुणश्च कर्म्म चेति। सत्ता चास्ति द्रव्यगुणकर्ममु सामान्यश्च विशेषश्च । सदिति यतः सा सत्ता द्रव्यगुणकर्ममु न समवाये। सत्ता हि भावो भावानामनुष्टत्तेरेव हेतुलात्। भावानाम् आरम्भकद्रव्यसंयोगे यावदारम्भकद्रव्यगुणकर्माणां कार्यस्पेण परिणमतां सर्व्यपां मेलनेनैकलकरोऽपृथग्भावः समवायः खल भावानां भावः सत्ता ततो हाजुवर्तते कार्यभूतो भावः। यावन्तं कालं स च समवायो वर्तते, तावन्तं कालमनुत्तरं कालं द्रव्यं गुणः कम्मे च वर्तते। समवायस्य तु वर्त्तनं यत् कार्य्ये तद्पि खरूपेणैव न तु समवायेनेति समवायस्य सत्ता नास्ति। स्वयं हि सत्ता तस्मात् सामान्यविशेषौ न द्रव्यगुणकम्भसमवायेभ्यो-ऽतिरिक्तौ। यैस्तनृपिभिरितरिक्तौ सामान्यविशेपावुच्येतं कथं तैर्द्रव्यगुण-कम्भीस्वेव सत्तास्ति न समवायेऽस्तीत्युच्यते। सदिति यतः सा सत्तेति चेत् तदा समवायोऽप्यस्तीति सदिति कुतश्चिदपि कारणाद्भवति सैव समंवायस्यापि सत्ता सम्भवति। कथं द्रव्यगुणकम्भेस्वेव सत्ता न समवायेsस्तीति वक्तुमर्हिन्त । तस्मात् समवायः सत्ताद्रव्यगुणकम्भेसु न समवाये, समवाये समवायाभावात्। इति। समवायस्तूक्तः समवायोऽपृथग्भाव इति। द्रव्यगुणकरुर्भणामाररभकाणामपृथक्तवं समवायस्तदपृथत्तवक्रच पृथत्तवकृत् तु विशेषः। द्रव्यसामान्यं गुणसामान्यं कम्भसामान्यश्च तेषां

त्रथ प्रतिज्ञा । प्रतिज्ञा नाम साध्यवचनं, यथा—नित्यः पुरुष इति ॥ २५ ॥

मेलनं तु समवायः करोतीति सामान्यमेकलकरियुक्तम्। तत्रैकलमपृथक्तरं, पृथक्तवं स्यादसंयोगो वैलक्षण्यमनेकता न त्वेकता। इति। तथा च समवायो नित्यक्षानित्यश्च। नित्ये द्रव्ये भूम्यादो भूते गुणस्य समवायो नित्यः; द्रव्यारव्यद्रव्ये लिन्त्यो देवनरादौ। तत्र समानानेकेषु सत्ता सामान्यं यथा गोलादिकं तत्तदेकेकेषु सत्ता जन्म सत्ता विशेषः। तत्राकृतिग्रहणा सत्ता जातिः। तत्तदेकेकिस्मिन् जन्म। तदुक्तं—जातिः सामान्यजन्मनोरिति। अनाकृतिग्रहणा तु सत्ता न जातिसंख्या व्यवहियते, सत्तैवोच्यते सामान्यविशेषरूपेति तत्त्वम्॥ २४॥

ं गङ्गाधरः-इति वादेन वाद्यानुत्तवा यैर्वादः कर्त्तव्यस्तान् वक्तुं पथमं भतिकामाह—अथ प्रतिकोति । वादे कर्त्तव्ये प्रथमं प्रतिकायते । सा प्रतिका-अभिधीयते। प्रतिका नाम साध्यवचनमिति। वादिनः प्रजापनीयेन धर्म्मेणः विशिष्टस्यं धर्म्मिणः साध्यस्य परिग्रहवचनं साध्यनिर्देशः प्रतिशा नामोच्यते । गौतमेनाष्युक्तम् । साध्यनिर्देशः प्रतिका इति । वात्स्यायनेन व्याख्यातिवदम् । प्रकापनीयेन धर्माण धर्माणो विशिष्टस्य परिग्रहवचनं प्रतिहा साध्यनिर्देशः। अनित्यः शब्द इति। स्वयश्चोदाहरति। यथा नित्यः प्ररुप इति। अत्रे नित्यत्वेन प्रज्ञापनीयेन धर्माण विशिष्टस्य धर्मिण आत्मनः परिग्रहोऽभ्युपग्रम्य व्यवस्थोक्तिः प्रतिज्ञा। न च निगमनं साध्यवचनम्। यतो हेलपढेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्व्वचनं निगमनम् । प्रथमं साध्यवचनं प्रतिक्षेति । भान्तास्तु व्याचक्षते— प अतावच्छेदकधर्मा विशिष्टे पक्षे साध्यतावच्छेदकधरमे विशिष्ट्रस्य वैशिष्ट्य-वोधकः शब्दः प्रतिक्षेति । अत्र निगमनस्य प्रतिकालपसङ्गवारणाय साध्यांशे साध्यतावच्छेदकातिरिक्तप्रकारकलं वक्तव्यम् । तेन साध्यतावच्छेदकप्रकारता-विलक्षणप्रकारताशन्यसाध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा। इति पर्यवसितम्। पुरुषः प्रमेयवानित्यादौ पुरुषे साध्यस्य प्रमेयस्य द्रव्यगुणादेखन्छेदकद्रव्यतः गुणतादिमकारतातो विलक्षणनीलादिमकारता शुन्यतेन निर्देशानामसिद्धिः। उदासीनवाक्यस्य प्रतिकालवारणाय न्यायान्तगतेले सतीति विशेषणीयम्। न्यायलन्तु पञ्चावयववाक्यात्मकलम् । तथा च । न्यायान्तगेतले सति प्रकृत-ः पक्षतावच्छेदकावचिछन्न-पक्षक-प्रकृत-साध्यतावच्छेदकावचिछन्न-साध्यविधेयता

अथ स्थापना । स्थापना नाम तस्या एव प्रतिज्ञाया हेतु-दृष्टान्तोपनयनिगमनैः स्थापना । पूट्यं हि लोके प्रतिज्ञा, पश्चात् विलक्षणविषयताबवोधाजनकले च सति प्रकृतपक्षकप्रकृतसाध्यवोधजनकलं मतिकात्वम् । तच मतिकालमवयवलश्च परिभापाविशेपविषयलरूपं तद्वमक्तित-रूपं वेति। तदसाधा परुत्ते हि वादे वादिनोरन्यतरः पुमान खल्वेकः पूर्वे मतिजानीते, न लप्रष्टते वादे मतिका भवति। ततो वादे मतिकास्थापना-वाक्यस्यावयवत्वेन प्रतिज्ञाया लाभे कथमुदासीनवाक्यस्य प्रतिज्ञात्वं प्रसञ्यते। निगमनश्च न साध्यनिर्देशः परन्तु हेलपदेशात् प्रतिशायाः पुनव्येचनमिति। एवं साध्यस्य निर्देशो वर्णात्मकेन वाक्येन क्रियते इति तद्वाक्यं न् प्रतिका, तत् कथं तथांविधः शब्दः प्रतिका भवति। प्रतिकेति पुनरन्वर्थसंका। प्रति इत्थम्भावेनं जानीते यत् सा प्रतिका। पक्षश्च वात्स्यायनेनोक्तः। वादिनोः पक्षमतिपक्षौ समानाधिकरणौ विरुद्धौ धम्मौ तयोरन्यतरः पक्षः स च किश्चित् वस्तुनिष्टः प्रशापनीयो धम्में एव न तु तद्धस्मेविशिष्टो धम्मी। अनित्यः पुरुप इत्येकस्य पक्षः। अपरस्य नित्यः पुरुष इति। उभयोः पक्षः किं पुरुषः। नैवं, पन्तापनीयध्ममं विशिष्टः पुरुष इति । तिहै नित्यलधम्मे विशिष्टस्य पुरुपस्य वादिपक्षस्यावच्छेदको धम्मेः किं नित्यलमथवा पुरुपलमनित्यलध्मभेविशिष्टस्य तस्यैव पुरुषस्य प्रतिवादिपक्षस्यावच्छेदको धम्मेः किमनित्यसमथवा पुरुषसम् ? तत्र पुरुपल्यात्रं चेत् पक्षतावच्छेदको धर्म्मस्तदोभौ पक्षौ तुल्यौ भवतो न पक्ष-प्रतिपक्षौ भवत इति। यदि नित्यतं पुरुपस्य पक्षतावच्छेदकमनित्यत्वं प्रति-वादिपक्षस्य पक्षतावच्छेदकं तदा तिन्तरयलानित्यलावच्छेदकधर्माविशिष्टे पक्षे पुरुषे साध्यतावच्छेदकध्ममंविशिष्टं किं पुरुष नित्यत्वं वादिपक्षे, प्रति-वादिपक्षे लिनत्यम्; तत्र नित्यलस्यानित्यलस्य चावच्छेदको ध्रम्भः को भवति। यद्धममं विशिष्टस्य पक्षे पुरुपाविच्छन्ने वैशिष्ट्यं वोधयेच्छव्दः। इति। नित्यत-स्यानित्यसस्यावच्छेदकथ्रमाँस्याप्रसिद्धसात्ता क्षक्षणमसाधु । न हानार्षं सर्व्वं साध् भवति । तथा च तद्वग्राख्यानं भ्रान्तकृतमसाधुलादग्राह्यम् ॥ २५॥

गङ्गाधरः—वादी मतिकाय किं कुर्यादित्यत उक्तम्—अथ स्थापनेति। चादिना प्रतिज्ञाय स्थापना कार्ट्या। का पुनः स्थापनेत्यत आह—स्थापना नामेत्यादि । तस्या एव पूर्व्वकृताया एव प्रतिशाया हेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनैः

चक्कपाणिः—स्थापयति सिद्धमर्थं परं प्रति साधयतीति स्थापना । तच साध्यं परं प्रति

स्थापना, किं ह्यप्रतिज्ञातं स्थापियप्यति ? यथा—नित्यः पुरुष इति प्रतिज्ञा, हेतुः—श्रकृतकत्वादिति । दृष्टान्तो यथाकाश-मिति । उपनयो यथा चाकृतकमाकाशं तथा पुरुष इति, निगमनं तस्मान्नित्य इति ॥ २६ ॥

स्थापना स्थिरीकरणं स्थापना नामेहोच्यते। सा द्विधा, दृष्टान्तसाधम्मर्येण हेतुना वैधम्मर्येण च हेतुना । तत्र तस्या एव पूर्व्वकृतायाः प्रतिषायाः प्रधा-पनेन खळूपळिञ्चिकारणेन प्रत्यक्ष्यानुमानैतिह्यौपम्यान्यतमेन दृष्टान्तसामान्यात् साध्यिता तत्म तिज्ञातार्थसामान्याच दृष्टान्तमुदाहृत्य तदृष्टान्तापेक्षेण तथेत्यप-संहारेणोपनीय हेलपदेशात् तत्पतिकायाः पुनरुक्तिकरणं दृष्टान्तसाधम्म्योप-दर्शनं स्थापना । एवं तस्या एव च प्रतिकायाः प्रकापनेनोपलव्धिकारणेन प्रत्यक्षात्रमानै तिह्यौपम्यान्यतमेन दृष्टान्तविध्मभूणा साध्यवि साध्यवैधम्मर्येण दृष्टान्तमुदाहृत्य तद्दृष्टान्तापेक्षेण साध्यस्य न तथेत्यपसंहारेणोपनीयहेलप-देशात तस्या एव प्रतिनायाः पुनरुक्तिकरणं दृशान्तवैधम्मर्योपदर्शनं स्थापना। कस्मादेवं स्थापयेदित्यत आह—पूर्व्वं हीत्यादि। हि यस्माल्लोके पूर्व्वं प्रतिज्ञा क्रियते पश्चात् तस्याः प्रतिज्ञायाः स्थापना क्रियते, अन्यथा प्रतिज्ञाभ्रं शेन निग्रहस्थाने पतेत्। तर्हि पतिकां कृत्वैव स्थापयेत्। न चेत् स्थापयितुं शक्तोति निग्रहस्थाने च पतेदित्यत आह—िकं हीत्यादि। हि यस्मात्। किमप्रतिज्ञातं स्थापयिष्यतीति परनत् प्रतिज्ञातमेत्रार्थं स्थापयतीति । तत् स्थापनां दर्शयति --यथेत्यादि । नित्यः पुरुष इति वादिनः प्रतिज्ञा । तत्र हेतुरक्रतकत्वात् । अकृतकलं पुरुषस्य मातापितृकृतत्वेन दृष्ट्रत्वेऽप्यैतिह्यप्रमाणेन प्रज्ञापितम् । य एप एप पुरुषो देवनरादियोनिषु जायते स न केनापि कृत इत्यासा उप-दिशन्ति। एप हेतुर्दे ष्टान्तसाधम्मपीत् पुरुपनित्यतसाधकः। कः पुनरिह दृष्टान्त इत्यत आह्—दृष्टान्त इत्यादि । यथाकाश्मिति। आकाशसमान-धम्भवत्त्वेन पुरुषस्य नित्यत्तसाधकोऽकृतकत्विमिति हेतुः। इति दृष्टान्त-साधम्म्योदकतकत्वेन हेतुना 'पुरुषस्य नित्यत्वं साध्यित्वाकाशेन दृष्टान्तेन. उदाहृत्य तदुपनयति—तत्रोपनय इति। दृष्टान्तापेक्षं साध्यसाधम्मर्ययुक्ते दृष्टान्ते तदनुसारेण तथत्युपसंहारो यथा। यथा चाकृतकमाकार्ज नित्ये

हेत्वादिभिश्रतुर्भिः कियते, प्रतिज्ञापि परं प्रति स्थापना भवति । यतः पञ्चावयवमेवानुसानं

ः अथ प्रतिष्ठापना । प्रतिष्ठापना नाम तस्या एव प्रति-ज्ञायाः प्रति विपरीतार्थस्थापना । यथा—अनित्यः पुरुष इति विपरीतार्थप्रतिज्ञा, हेतुरैन्द्रियकत्वादिति । दृष्टान्तो यथा—घट इति, उपनयो यथा—घट ऐन्द्रियकः स चानित्यस्तथा चायमिति, निगमनं तस्साद्रनित्य इति ॥ २७ ॥

तथा पुरुषोऽकृतक इत्युपसंहारः। ततः किमित्यत आह—निगमनमिति। तत्र निगमनं हेतोरपदेशेनानेन कारणेनैविमत्येवमपदेशेन प्रतिषायाः रुक्तिस्तसान्नित्य इति। तसादकृतकत्रहेलाकाशदृपनततदुपनया इति समुदायात् कारणानित्यः पुरुष इति स्थापना दृष्टान्तसाधम्मयौपदर्शना। दृष्टान्तवैधम्म्योपद्र्ञनस्थापना तु प्रदृश्यते। नित्यः पुरुपोऽकृतकलाद्, यथा घटः सकृतकोऽनित्यः इति दृष्टान्तवैध्मम्येणाकृतकलमिति हेतुः। तद्घट-दृष्टान्तापेक्ष उपसंहारस्तूपनय इह। यथा घटः कृतकः स चानित्यो न तथा पुरुषः कृतकः तस्सानित्यः पुरुष इति निगमनं हेत्वपदेशात् प्रतिक्षायाः पुनरुक्तिरिति। इति स्थापना दर्शिता ॥ २६ ॥

गङ्गाधरः—अथ प्रतिष्ठापनेति यदुक्तं तद् दर्श्यते अथ प्रतिष्ठापनेति । एवं-वादिना प्रतिज्ञास्थापनायाः कृताया अनन्तरं प्रतिवादिनः प्रतिष्ठापना कार्य्या। का पुनः मतिष्ठापनेत्यत आह—मतिष्ठापना नामेत्यादि। तस्याः पूर्व्वकृताया एव वादिनः प्रतिकायाः प्रतीति विपरीतार्थस्य प्रतिवादिना स्थापना प्रति-ष्टापना नामोच्यते। सापि पूर्विवद् द्विधा। तदुदाहरति - यथेत्यादि। अनित्यः पुरुप इति वादिकृताया नित्यः पुरुष इति प्रतिकाया विपरीताथौँऽनित्यः पुरुप इति प्रतिका प्रतिवादिनः। तस्याः स्थापना यथा हेलादिभिः क्रियते तदाह—हेतुरैन्द्रियकलादिति। ऐन्द्रियकलिमन्द्रियग्राह्यत्विमिति हेतुर्छ्यान्त-साधस्म्यीत्। प्रत्यक्षः पुरुपानित्यत्वसाधकः। कः पुनरिह तथाविधो दृष्टान्त इत्यत आह—दृष्टान्त इति। यथा घट इति। अनित्यपुरुषस्य साध्यस्य साधम्म्योत् तदनित्यत्वधम्मभावी दृष्टान्तो चटक्वैन्द्रियक इत्युदाहरण-

करोति, सा तिवह स्थाप्यत्वेनैव लब्धेति न स्थापनायामिहोदाहता। 'प्रतिष्ठापना'पदं प्रथमं सम्प्रत्यवसर्प्राप्त्या प्रतिष्ठापना इति दर्शयति, द्वितीयन्तु प्रतिष्ठापना नामेति तस्या प्रव इत्यादिना वर्ध्यमाणस्य लक्षणस्योपदर्शनार्थम् । एवं स्थापना नामेत्यादावि पुनरुक्तस्य प्रयोजनं

अथ हेतुः। हेतुर्नामोपलिधकारणं, तत्प्रत्यचमनुमानम् ऐतिह्यमोपम्यमित्येभिहेतुभियंदुपलभ्यते तत् तत्त्वम् ॥ २८ ॥

साध्यस्यण पुरुपानित्यत्वस्य साधकमैन्द्रियकत्विमिति। कथं साध्यस्य दृष्टान्तसाध्यस्येमित्यत आह—उपनय इत्यादि। यथा घट ऐन्द्रियकः स चानित्यस्तथा चायं पुरुप इति। दृष्टान्तापेक्षस्तथेत्युपसंहारः पुरुपानित्यतः स्योपनयः। ततः किमित्यत आह—निगमनिमिति। किं निगमनिमत्यत आह—तस्मादिनित्यः पुरुप इति निगमनभ्। तस्मादिति देतपदेशात् ऐन्द्रियकता-दिति देतोरनेन कारणेनैविमिति यथा घट इति दृष्टान्तेन यथा घट ऐन्द्रियकः स चानित्यस्तथा पुरुप एन्द्रियक इत्येवमपदेशात् तस्या एव मतिकाया अनित्यस्य पुरुपस्य पुनरुक्तिरिति। इति दृष्टान्ते साध्यसाधम्म्योपदर्शन-मतिष्टापना। साध्यवधम्म्योपदर्शनमतिष्टापना तु द्र्यते। अनित्यः पुरुप ऐन्द्रियकः स च नित्यः; यथा च परमाणुरनेन्द्रियकः स च नित्यः, यथा च परमाणुरनेन्द्रियकः स च नित्यः, वशा च परमाणुरनेन्द्रियकः स च नित्योः, न तथा पुरुपस्तस्मादिनत्यः पुरुप इति। ति ति तत्रकत्रः च न्यूनतेति नाशद्वप्रम्। दृष्टान्तो हि द्विविधः साध्यसाधम्मर्यवैधम्मर्याभ्यां तद्धम्मभाववान्। इति वक्ष्यते॥ २०॥

 अथ दृष्टान्तः । दृष्टान्तो नाम स यत्र सूर्वविदुषां बुद्धिसाम्यं तैनेव यो वर्गयं वर्गायतीति । यथाग्निरुणो द्रवमुद्कं स्थिरा

उपलभेरथस्त प्रमावुंद्धग्रनुकूलगुणदोपविचारादिन्यापारः। हानोपादानोपेक्षा बुद्धिः ममा, फलं तदुपलिब्यकारणं व्यवसायात्मिका निश्चयवुद्धिः मत्यक्षादिः। तस्या निश्रयात्मिकाया बुद्धेर्च्यापारो वस्तूनां च्यवसातच्यानां गुणतो दोपतो विचारस्तर्व्यापारवत्त्वात् प्रत्यक्षादिव्यवसायात्यकद्युद्धीनां करणत्वं तदेव व्यापारवत्त्वं प्रत्यक्षादीनामुपलव्धिकारणलिमिति । तद्विचारादिजनकव्यापार-वत्त्वादात्मा कत्ती। न तु प्रत्यक्षाचन्यतमलमुपलव्धिकारणलं प्रमाणलम्। सन्वेषमाणेष्वसत्त्वात् सामान्यं हि तन्न भवति, प्रमाणत्नं हि सर्वेपमाणनिष्टं सामान्यं न तु विशेषः, प्रत्यक्षाद्यन्यतमत्वनतु विशेष इति। यथा-विहिमान् पर्वतो धूमादिति प्रत्यक्षो हेतुर्धभा अयमातुरो मन्दाप्रिलादिति जरण-शक्तयानुमितो मन्दाग्निहेतुः। नित्यः पुरुषोऽकृतकलादित्यैतिह्यो हेतुरकृतकलम्। अस्य मुखं कान्ततमं चन्द्रोपमलादित्यौपम्येन हेतुरिति। कारणचतृष्ट्यं दृष्टान्तसाधम्म्यवैधम्म्याभ्यां साध्यसाधनमिति। तच गौत-मेनाप्युक्तम्। उदाहरणसाधम्म्यात् साध्यसाधनं हेतुस्तथा वैधम्म्यात्। व्याख्यातञ्च वात्स्यायनेन । उदाहरणेन सामान्यात् साध्यस्य धर्मस्य साधनं प्रकापनं हेतुः। साध्ये प्रतिसन्धाय धर्म्भमुदाहरणे च प्रतिसन्धाय तस्य साधनतावचनं हेतुः। अनित्यः शब्द उत्पत्तिध्ममेकलादिति। उत्पत्ति-ध्रम्भेक्ममित्यं दृष्ट्यिति। किमेतावद्धेतुलक्षणिति नेत्युच्यते। किं तिहें तथा वैधम्म्यात्। उदाहरणवैधम्म्याचि साध्यसाधनं हेतुः। अनित्यः शब्द उत्पत्तिधम्मेकलात्। अनुत्पत्तिधम्मेकं नित्यं यथात्मादिद्रव्य-मिति॥ २८॥

गङ्गाधरः — अथ क्रमिकलाट् दृष्टान्तं लक्षयति । अथ दृष्टान्त इत्यादि । यत्र मूर्खविदुपां बुद्धिसाम्यं यो वर्णंत्र वर्णयति स दृष्टान्तो नामोच्यते । यत्र स्थात् । उपलब्धिकारणमिति व्यापकस्य साध्यस्योपलब्धिकारणम् । तत्तरचिनित तिल्लङ्ग-मित्यर्थः ॥ २८ ॥

चक्रपाणिः—मूर्खविद्रपां बुद्धिसाम्यमित्यनेन लौकिकानां पण्डितानाञ्च योऽथोऽविवाद-सिद्धः, स दृशन्तो भवति, न पण्डितमात्रसिद्धः। योऽपि लोकप्रसिद्धो दृशन्त उच्यते, स यावन्न प्रतिपाद्यपुरुषं प्रति साध्यते, न तावत् दृशन्ततामासाद्यतीति पृथिवी आदित्यः प्रकाशक इति, यथा आदित्यः प्रकाशकस्तथा साङ्क्यं ज्ञानं प्रकाशकमिति ॥ २६ ॥

वर्णनीयेऽथं मूर्खा लोकसाम्यमनतीता नैसर्गिकं वैनयिकं बुद्धप्रतिशयमप्राप्ता लौकिका उच्यन्ते तद्विपरीताः परीक्षकाः प्रमाणैरर्थं परीक्षितुं प्रभवन्ति। ते तु विद्वांसः समं बुध्यन्ते तथाविधं वर्णंत्र यो वर्णयति स दृष्टान्तः सर्व्वत्र युद्धते। तत्र यो दृष्टान्तः साध्यसाधम्मर्पवैधम्मर्याभ्यां तद्धम्मभावी स इह स्थापनाप्रतिष्टापनयोग्रीहाः। तत्र च यः साध्यसाध्रम्म्योत् तद्धम्भभावी स दृष्टान्तो, यस्तु साध्यवैधम्मर्यात् तद्धम्मभावी स व्यतिरेकी दृष्टान्त इति द्विविध स्थापनामतिष्ठापनाभ्यामन्यत्र यथा दृष्टान्तस्तमुदाहरति। यथाप्रिरुष्णः। द्रवम्रदकम्। स्थिरा पृथिवी। आदिर्दयः प्रकाशक इति मूर्खाञ्च बुध्यन्ते विद्वांसञ्च बुध्यन्ते। तत्र यथादित्यः प्रकाशकस्तथा साङ्करं बानिपति। आदित्य इति मूर्खविदुपां बुद्धिसाम्यविशिष्टं वर्णेत्र साह्नारं बानं प्रकाशकिपिति वर्णयतीति दृष्टान्त उच्यते। गौतमेनाप्युक्तम्। लौकिक-परीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः। इति। व्याख्यातश्च वात्स्यायनेन । लोकसाम्यमनतीतालौकिकानैसर्गिकं वैनियकं युद्धप्रतिशयम् अप्राप्तास्तद्विपरीताः परीक्षकास्तर्केण प्रमाणैरर्थं परीक्षितमर्हन्तीति । यथायमर्थं लौकिका बुध्यन्ते तथा तं परीक्षका अपि। सोऽथौँ दृष्टान्तः। दृष्टान्त-विरोधेन हि प्रतिपक्षाः प्रतिपेद्धव्या भवन्तीति । दृष्टान्तसमाधिना च स्वपक्षाः स्थापनीया भवन्तीति । अवयवेषु चोदाहरणाय कल्पते इति । स यथोदा-हरणायावयवेषु कल्पते तथोक्तं पुनस्तत्रैव। साध्यसाधम्म्यात् तद्धम्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् तद्विपर्श्ययाद्वा विपरीतम्। व्याख्यातञ्चैतद्वात्स्यायनेन। साध्येन साधम्मर्यं समानधम्मता। साध्यसाधम्मर्यात् कारणात् तद्धम्म-भावी दृष्टान्त इति । तस्य धर्म्भस्तद्धर्मः तस्य साध्यस्य । साध्यश्च द्विविधम् । धिम्मेविशिष्टो वा धम्मो यथा शब्दस्यानित्यलम्। धम्मेविशिष्टो वा धम्मी, यथा अनित्यः शब्द इति। इहोत्तरं तद्यहणे न यहाते। कस्मात्? पृथग्धम्भवचनात्। तस्य धम्मस्तद्धम्मस्तस्य भावस्तद्भावः, स यस्मिन् दृष्टान्ते वर्त्तते स दृष्टान्तः साध्यसाधम्म्यात् तद्धम्मभावी भवति ; स चोदाहरणम् भावः । अथ बुद्धिसाम्यमात्रे न साध्यसाधर्मात्रभावादिष्टत्वात् दृष्टान्तो भवतीत्याह—यो वर्ण्यं वर्णयति यः साध्यं साधयतीत्यर्थः। प्रसिद्धसाध्यसाधनसम्बन्धश्च द्वष्टान्तः साध्यं साधयतीति भावः।

उपनयो निगमनञ्जोक्तं स्थापनाप्रतिष्ठावनाव्याख्यायाम् ॥३०

इष्यते। तत्र यदुत्पद्यते तदुत्पत्तिधर्मिकस्। तच भूला न भवति, आत्मानं जहाति निरुध्यते इत्यनित्यम् । एवग्रुत्पत्तिधम्भकं साधनम्, अनित्यतं साध्यम् । भौडयमेकस्मिन् द्वयोर्धम्मयोः साध्यसाधनभावः साधम्म्योद्व्यवस्थितम् उपलभ्यते। तं दृष्टान्ते उपलभमानः शब्द्ऽप्यतुमिनोति। शब्दोऽप्युत्पत्ति-धर्म्भकलादिनत्यः, स्थाल्यादिवदित्युदाहियते। तेन धर्मियोः साध्यसाधन-भाव इति । उदाहरणं तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम् । उदाहरणमिति प्रकृतम् । साध्यवैधम्म्यात् तद्धमभावी दृष्टान्तो वा त्रिपरीतमुदाहरणमिति। अनित्यः शब्दः, उत्पत्तिधर्मकलात्। यथाऽनुत्पत्तिधर्मकं नित्यमात्मादि। सोऽयम् आत्मादिद्धिः हान्तः साध्यवैधम्म्योद् नुत्पत्तिधर्मिकलात् तद्धम्मभावी । योऽसौ साध्यस्य ध्रमोर्डिनत्यसं शब्दस्य स्तिस्मन् भवतीति। अत्रात्मादौ दृष्टान्ते उत्पत्तिधम्मेकत्वस्याभावादनित्यलं न भवतीत्युपलभमानः शब्दे विपर्ययम् अतुमिनोति । उत्पत्तिध्रमीकत्वस्य भावादनित्यः शब्द इत्युदाहरणसाध्रम्म्यौ-क्तस्य हेतोः साध्यसाध्मर्म्यात् तद्धम्भेभावी दृष्टान्त उदाहरणम् । उदाहरण-वैधम्मयोक्तस्य हेतोः साध्यवैधम्म्याच तद्धम्मेभावी दृष्टान्त उदाहरणम्। पूर्व्वस्मिन् दृष्टान्ते यौ धम्म्यौ साध्यसाधनभूतौ पश्यति, साध्येऽपि तयोः साध्यसाधनभावमनुमिनोति। उत्तरस्मिन् दृष्टान्ते ययोर्धरर्मयोरेकस्या-भावादितरस्याभावं पश्यति, तयोरेकस्याभावादितरस्याभावं साध्येऽप्यज्ञ-मिनोति, तदेतद्धेलाभासेषु न सभ्भवतीति। अहेतवो हेत्वाभासास्तदिदं हेतृदाहरणयोः सामर्थ्यं परमस्रक्षमं दुःखवोधं पण्डितैरुपवेदनीयमिति ॥ २९ ॥

गङ्गाधरः-क्रमिकत्वादुपनयनिगमने आह-उपनय इत्यादि। स्थापना-व्याख्यायामुपनयो निगमनञ्चोक्तम्। यथा नित्यः पुरुपोऽकृतकत्वात्, यथा-काशम्। उपनयो यथा चाकृतकमाकाजं तच नित्यं तथा पुरुष इति। निगमनं तस्मान्नित्य इति। प्रतिष्ठापनान्याख्यायाञ्चोपनयो निगमनञ्चोक्तम्। यथा अनित्यः पुरुष ऐन्द्रियकत्वात्। दृष्टान्तो यथा घटः । उपनयो यथा घट ऐन्द्रियकः, स चानित्यस्तथाचायमिति । निगमनं तस्मादनित्य इति । इत्येवं व्याख्यानेन शावितमिदं साध्यसाधम्मयात् तद्धममभाविदृष्टान्तापेक्षस्तथेत्युपसंहारः साध्यस्य

अग्नप्रादयश्च लोकप्रसिद्धत्वेनोदाहताः। तेन एतेपामपि साध्यसाधनोदाहरणमादित्यादिवत् कचिद् हुन्ह्रे ऽयमयमिवेति दुर्शयति ॥ २९।३०॥

उपनयः। साध्यवैधमम्यात् तद्धमर्भभाविदृष्टान्तापेक्षो न तथेत्युपसंहारश्च साध्य-स्योपनय इति । गौतमेनाप्युक्तम् । उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनय इति व्याख्यातश्च वात्स्यायनेन । उदारणापेक्ष उदाहरणतन्त्र उदा-हरणवशः। वशः सामर्थ्यम् । साध्यसाधम्मर्थयुक्ते खलूदाहरण स्थाल्यादिद्रन्यम् उत्पत्तिधरमीकलमनित्यलश्च दृष्टम्। तथा शब्द उत्पत्तिधरमीक इति साध्यस्य शब्दस्योतंपत्तिधम्मॅकलमुपसंहियते। साध्यवैधम्मर्ययुक्त पुनरुदाहरणे आत्मादि-द्रव्येऽनुत्पत्तिधर्म्भकलम्। नित्यलञ्च दृष्टम्। न च तथा शब्द इति अनुत्पत्तिधर्म्भ-कलस्य मितपेधेनोत्पत्तिधम्मेकलमुपसंहियते। तदिदमुपसंहारहे तमुदाहरणहे तं भवति । उपसंहियतेऽनेनेत्युपसंहारो वेदितन्य इति । द्विविधस्य हेतोद्वि विध-स्योदांहरंणस्योपसंहारहे तश्च समानिमति । अथ निगमनश्चोक्तं यत् तस्मान्नित्य इति स्थापनायां तस्मादनित्य इति प्रतिष्ठापनायां ताभ्यामेवं शापितम्। यद्धेलप-देशात् मतिकायाः पुनर्व्यचनं तिनगमनमिति । गौतमेनाप्येवमुक्तम् । हेलप-देशात भतिशायाः पुनन्वेचनं निगमनमिति। व्याख्यातश्च वात्स्यायनेन। साधम्मयों ते वैधम्मयों तो वा यथोदाहरणसुपसंहियते। तस्मादुत्पत्तिधरमी-कतादनित्यः शब्दं इति निगमनम्। निगम्यन्तेऽनेनेति प्रतिषाहेतूदाहरणोप-नया एकत्रेति निगमनिमिति। निगम्यन्ते समर्थ्यन्ते संवध्यन्ते। साधम्म्योक्ति ताबद्धेतौ वाक्यम् । अनित्यः शब्दः इति प्रतिशा । उत्पत्तिधर्मा-कलादिति हेतुः। उत्पत्तिधर्मिकं स्थाल्यादिद्रव्यमित्युद्राहरणम्। चोत्पत्तिधर्म्भकः शब्द इत्युपनयः। तस्माद्धत्पत्तिधर्मकत्वाद्नित्यः शब्द इति निगमनम्। वैधम्म्यौक्तेऽपि अनित्यः शब्द उत्पत्तिधम्भकतात्। अनुत्पत्ति-धम्मीकमात्मादिद्रव्यं नित्यं दृष्टं, न च तथानुत्पत्तिधम्मीकः शब्द इत्युपनयः तस्मादुत्पत्तिधर्म्भकतादिनत्यः शब्द इति। अवयवसमुदाये च वाक्ये सम्भूयेतरेतराभिसम्बन्धात् प्रमाणान्यर्थं साधयन्तीति । सम्भवस्तावत् शब्द-विषया मतिका। आप्तोपदेशस्य मत्यक्षानुमानाभ्यां मतिसन्धानात्। अनुपेश्र स्वातन्त्रत्रानुपपत्तेः अनुमानं हेतुः उदाहरणे सादश्यमतिपत्तेः। तत्रोदाहरणं भाष्ये व्याख्यातम्। मत्यक्षविषयमुदाहणम्, दृष्टेनादृष्ट्सिद्धेः। उपमान-मुपनयस्तथेत्युपमंहारात् न च तथेत्युपमानधर्मप्रतिपेधे विपरीतधरमाप-संहारसिद्धेः। सर्व्वेपामेकार्थप्रतिपत्तौ सामध्येपदर्शनं निगमनमिति। इत-रेतराभिसम्बन्धोऽपि। असत्यां हि पतिकायामनाश्रया हेलादयो न पवत्तरेन्। असति हेतौ कस्य साधनभावः पद्दर्यते। उदाहरणे साध्ये च कस्योपसंहारः

स्यात्। कस्य चापदेशात् प्रतिशायाः पुनर्व्यं चनं निगमनं स्यादिति। असत्यु-दाहर्णे केन साध्रम्प्यं वैध्रम्प्यं वा साध्यसाधनमुपादीयेत । कस्य वा साध्रम्प्ये-वैध्रम्प्यवशादुपसंहारः प्रवर्त्तेत । उपनयश्चान्तरेण साध्येऽनुपसंहतः साधको धस्मी नार्थं साध्येत्। निगमनाभावं चानभिन्यक्तसन्धानानां प्रतिकादीना-मेकार्थेन प्रवर्त्तनम् । तथेति प्रतिपादनं कस्येति। अथावयवार्थः साध्यस्य धम्मस्य धुरिमंणा सम्बन्धोपादानं प्रतिकार्थः। उदाहरणेन समानस्य विपरीतस्य वा ध्रमोस्य साध्कभाववचनं हेत्रर्थः। धर्मयोः साध्यसाधनभावपदर्शनमेकत्र उदाहरणार्थः। साधनभूतस्य धम्मेस्य साध्येन धर्म्मण सामानाधिकरण्योप-पादनम्पनयार्थः। उदाहरणस्थयोधेरमीयोः साध्यसाधनभावोपपत्ती साध्ये विपरीतशसङ्गप्रतिषेधार्थं निगमनम्। न चैतस्यां हेतूदाहरणविशुद्धौ सत्यां साध्रम्भर्यवैध्रम्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य विकरणाच । इति निग्रहस्थानवहुत मक्रमते। अव्यवस्थाप्य खळ साध्यसाधनभावमुदाहरणे जातिवादी प्रत्यव-तिष्ठते। व्यवस्थिते तु खळ धम्भयोः साध्यसाधनभावे दृष्टान्तस्थे यृह्यमाणे साधनभूतस्य धर्म्भस्य हेतुलेनोपमानं न साधम्म्यमात्रस्य न वैधम्म्यमात्रस्य वेति। प्रतिज्ञासाध्यवचनमित्युक्तवा अथ स्थापना, स्थापना नाम तस्या एव प्रति-ज्ञाया हेत्रदृष्टान्तोपनयनिगमनैः स्थापनेति वचनेन ज्ञापितं वादिनोर्वोदवाक्यस्य मतिकादयः पञ्चेवावयवा न त्वधिका इति। तत्रैके लाहुर्वादिनोर्वादवाक्यस्य ते च प्रतिहाद्यः पश्च पश्च चापरे जिह्नासासंशयशक्यपाप्तिपयोजनसंशय-च्युदासा दशैतेऽवयवा भवन्ति। जिज्ञासा ह्यप्रतीयमानेऽर्थे संशयिते च प्रवर्त्तिका। योऽर्थस्त्वप्रतीयमानः संश्वितो वा तुमर्थं ज्ञातुमिच्छति तत्त्वतो हि ज्ञाता तमर्थं हास्यति वोपादास्यति वोपेक्षिष्यते वेति। हानोपादानोपेक्षान्यतमा वृद्धिः तत्त्वज्ञानाद्भवति । तदर्थं जिज्ञासते । संशयश्च जिज्ञासाधिष्टानम् । यत्रार्थे संशयः स्यात् तमर्थं जिज्ञासते। शक्यपाप्तिश्च प्रमातुः प्रमेयार्थोधिगमार्थं प्रमाणानि । प्रयोजनं तत्त्वावधारणमधारणतो हि हेयं जहाति वोपादेयमुपादत्ते वोपेक्ष्यं वोपेक्षते। संशयन्युदासः मतिपक्षोपवर्णनं तत् मतिषेधार्थं भवति। इति। अत्र सिद्धान्त उक्तो वात्स्यायनेन। प्रतिज्ञादयः पञ्चैवार्थसाधक-त्वाद् वादिनोर्वादे साधकवाक्यस्यावयवा भागा एकदेशा इत्यनर्थान्तरम् । न तु जिज्ञासाद्यः साधकवाक्यस्यावयवाः अर्थसाधकलाभावात् । जिज्ञास्य ह्यप्रतीय-मानस्यार्थस्य संशयितस्य च पदार्थस्य प्रत्ययार्थं पवर्त्तिका न तु साधिका। तस्मात् साधकवाक्यस्य नावयवः। संशयोऽपि व्याहतध्रम्मौपघातार्थं तत्त्व-

अथोत्तरम्। उत्तरं नाम साधम्मर्गोपिद् पटे हेतौ वैधम्मायचनम्, वधम्मर्गोपिद पटे वा हेतौ साधम्मर्यवचनम्। यथा हेतुसधम्मािणो विकाराः, शीतकस्य हि व्याधेहेतुभिः साधम्मार हिमशिशिरवात-संस्पर्शा इति ब्रुवतः परो ब्रूयात्—हेतुविधम्मािणो विकाराः,

माने प्रत्यासनो न तर्थस्य साधक इति तस्मानावयवः। शक्यपाप्तिः प्रमाणानि प्रमातः प्रमेयाधिगमार्थं न त वादिनोर्वादं साधकस्य वाक्यस्य भागरूपेण युज्यते प्रतिशादिवदिति तस्मात् शक्यपाप्तिर्नावयवः। प्रयोजनञ्च तत्त्वावधारणमर्थसायकस्य वाक्यस्य फलं नैकदेशस्तस्मात् साधकवाक्यस्य नावयव इति। संशयन्युदासञ्च प्रतिपश्चोपवर्णनं वादिना तत्प्रतिपेधेन तत्त्वशानाभ्यमुझाकरणार्थं न त साधकवाक्यार्थसाधनार्थं तस्मान साधकवाक्यस्यैकदेश इत्यतः पञ्चैव प्रतिशाहेत्दाहरणोपनयनिगमनान्यवयवा इति गौतमेनोक्तमिति। इति स्थापना प्रतिष्ठापना च व्याख्याता भवति॥ ३०॥

गृहाधरः—नन्वेवं वादिमितवादिभ्यां हैतादिभिः स्वस्मितिनायां स्थापितायां सत्यां किं कार्यमित्यत उक्तम् उत्तरमिति यत् तदुच्यते—अथोत्तर-मिति। वादिमितवादिभ्यां स्वस्पक्षं हेतादिभिः स्थापियता पुनरुत्तरं कार्यम्। तत् कीदशमित्यत आह—उत्तरं नामेत्यादि। मितवादिना साधम्म्योपिदिण्टे हेतौ कार्यस्य साधम्म्योणोपिदिण्टे हेतौ सति वैधम्म्यवचनं कार्यवैधम्म्योण हेतोर्वचनमुत्तरं नाम। तथा वैधम्म्योपिदिण्टे वा हेतौ कार्यस्य वैधम्म्याणोपिदिण्टे हेतौ सित साधम्म्यवचनं कार्यस्य साधम्म्याण हेतोर्वचनमुत्तरं नामोच्यते। उदाहरित—यथेत्यादि। हेतुसधम्माणो विकारा इति वादिना साधम्म्योक्तो हेतुः मद्द्यते। शीतकस्येत्यादि। हि यसात्। शीतकस्य शीतनिमित्तनस्य व्याधेः शीतलैहैंतुभिः समानधम्मो हिमशिशिर्वातासंस्पर्शा द्रिष्टिहेत्व इति ब्रुवता वादिनः परः प्रतिवादी ब्रूयात्

चक्रपाणिः- उत्तरमित्यादि । 'उत्तर'शब्देनेह जात्युत्तरमुत्तराभासमीप्सितम् । यतो-ऽसाधकसाधम्म्यमात्रप्रत्यवस्थानमेवोत्तरविवरणे दर्शायिष्यति । उत्तञ्च न्याये — 'साधम्म्यंवैधम्म्याभ्याः अत्यवस्थानं जातिः'' इति, एतच साधम्म्यंवैधम्म्योदाहरणार्थम् । तेन न्यायोक्ता जात्युत्तरा उत्कर्षाप-कर्षसमुद्या अन्यनुक्ता इहैवानुबोह्नच्याः । हेतुसधम्मीण इति हेतुसद्याः । शीतकः शीतम् . [इमशिशिरवातगताः संस्पर्शाः । शीतस्य हेतुभिः साधम्म्यमिति कृत्वा योजना । तेन हिमोदीनां यथा शरीरावयवानां दाहोष्गयकोथप्रपचने हेतुभिवैधर्मात्र हिम-शिशिरवातसंस्पर्शा इत्येतत् सविपर्य्ययमुत्तरम् ॥ ३१ ॥

अय सिद्धान्तः। सिद्धान्तो नाम स यः परीचकेर्वहुविधं परीच्य हेतुभिः साधियता स्थाप्यते निर्णयः। स तु चतुर्विधः;

हेत् विधम्माणो विकास इति । कथिमत्यत आह—यथेत्यादि । शरीरावयवानां दाह। प्णप्रादो ये हेत्वस्तै ईतु भिर्वेधम्म्यं प्रष्णिनिमत्तस्य व्याधेष्ट द्धेः प्रश्नमन् हेत्वो हिमशिशिरवातसं स्पर्शा इति । साधम्मयोक्ते हेत्ता बुदाहृत्योत्तरं वैधम्मयोक्ते हेता बुत्ताहृत्योत्तरं वैधम्मयोक्ते हेता बुत्ताहृत्योत्तरं वैधम्मयोक्ते हेता बुत्ताहरित । एतत् सविषय्ययमिति । हेतु विधम्माणो विकास इत्युक्ते हेतुसधम्माणो विकास इत्युक्तरं सविषय्ययमिति । तथा च वादे । नित्यः पुरुषोऽकृतकतादित्युक्ते वादिना परो ब्रद्भात् यथा घटः । यथा घटः कृतकः स चानित्यो न तथा पुरुषस्तसान्नित्य इति ॥ ३१ ॥

गृहाधरः—इत्येवमुत्तरे मोक्ते वादिभ्यां किं कार्य्यमित्यतं उक्तम्—सिद्धान्तः इति यत् तत् मोच्यते—अथ 'सिद्धान्तः इति। उत्तरानन्तरं सिद्धान्तः कार्य इति। कः पुनः सिद्धान्तः इत्यतं आह—सिद्धान्तो नामेत्यादि। परीक्षकें हित्वभिवहु विधं वाद्यमर्थं परीक्ष्य साध्यतुं यो निर्णयः स्थाप्यते सं सिद्धान्तो नामोच्यते। निर्णयश्चोक्तो गौतमेन। विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्याम् अर्थावधारणं निर्णयः इति। स्थापनाप्रतिषधौ यौ तौ साधनोपालम्भा- वुच्यते तौ पक्षप्रतिपक्षाश्रयौ व्यतिषक्तौ परस्परसंसक्तौ खल्ब नुवन्धेन प्रवर्त्तमानौ पक्षप्रतिपक्षाश्चयते। ताभ्यामर्थावधारणं तयोरेकतरस्य निष्टत्ति- हितुपद्भीनेकतरस्यावस्थानं यस्यावश्यम्भावि स्यादवस्थानं सं निर्णय इति।

हेत्नां ये शीतस्पर्शास्ते शीतकेऽपीति, संस्पर्शाः साधम्मर्यं हेतुविकारयोरिति । परो व यादिति प्रतिवादी वदेत् । दाहोष्ण्यकोथप्रपचने विकारे इति शेषः, हेतुवैसादश्यं हेतुवैधमर्यम् । हिमादि-संस्पर्शाः हिमादिजन्यशरीरावयवदाहादिविकारस्पर्शे उप्णे विसदशा इति वाक्यार्थः । एवं तावत् वैधमर्योक्ते हेतौ विपर्य्ययाद् यदा हेतुसाम्यमुत्तरं क्रियते, तदा विपर्य्ययो भवति । एवमेवोदाहरण-ह्यं सविपर्य्ययं सम्पूर्णमुत्तरं भवतीत्यर्थे ॥ ३१॥

वक्रपाणिः— साध्यसाधनोदाहरणेन बहुविधं परीक्षितं हेतुभिः साधियत्वा स्थाप्यत इत्यस्य विवरणम्—निर्णय इति । निर्णीयत इति निर्णयः । एतच सिद्धान्तलक्षणमभ्युपगमसिद्धान्ते नास्ति । तेन तत्र बुद्धिन्यवस्थितत्वेन चोक्तं सिद्धान्तं ज्ञेयम् । सिद्धान्तं विभजते—स चेत्यादि ।

नन्वेप तर्हि कथं निर्णयः स्यात । एको हि स्वमतिकातार्थं हेसादितः स्थापयति परमतिपिद्धश्चोद्धरति। तथैव मतिवादी च स्वमतिवातमर्थं हेलादिभिः स्थागयति वादिभतिपिद्धश्चोद्धरतोति। तत्राह-विग्रुश्येति पक्षपतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं यद्भवति द्वयोरेकतरस्य निष्टत्तरन्यतरस्याव-स्थानमथवोभयस्यावस्थानमथवोभयस्य निवृत्तिः स निर्णयः। तत्रेयं यक्तिः। एकस्य सम्भवोऽपरस्यासम्भवः प्रमाणिर्य उपपद्यते तौ सम्भवासम्भवौ विमर्भ निवर्त्तयतः। सम्भवपक्षोऽवितष्टते, असम्भवपक्षो निवर्त्तते, इति भवति स च सिद्धान्तः। यत्रोभयस्य सम्भवोऽसम्भवो वा तत्र विमशी न निवर्त्तते। तम् पुनर्विमर्शः पञ्जमतिपञ्चाभ्यां चोत्यं न्यायं पुनः मवर्त्तयतीति तथा विमर्शेन धर्मिसामान्यगतौ विरुद्धौ धम्मौ यथा प्ररुपो नित्यश्चानित्यश्च हेतुतः सम्भवति। यः खळु पुरुषो जायते देवनरादिरूपेण स नित्यः। यथ देवनरादिरूपः प्ररुपः सोऽनित्य इति तत्र समुचयः। नित्यश्चानित्यश्च पुरुप इति निर्णयः सिद्धान्तः। यत्रैकथम्मिस्यौ विरुद्धौ धम्मौ सम्भवा-सम्भवी यथा कश्चिदाह घटो नित्यस्ताद्रप्येण सिद्धतादिति। परश्चाह अनित्यो घटस्तत्तद्रपेण जातलात्। तत्र विभर्जेन पक्षपतिपक्षाभ्यामवधाय्येते, योऽयं घटो जायते स पुनर्न जनिष्यते नश्यति च तस्मादनित्यो न नित्य इति। एव-मेकस्य निष्टत्तिरपरस्यावस्थितिर्निर्णयः सिद्धान्तः। एवं क्रियावद् द्रव्यमिति लक्षणवचने कणादोक्ते क्रियागुणवत्समवाचिकारणगिति द्रव्यलक्षणिति वचने। यस्य द्रव्यस्य स्वभावसिद्धस्य पृथिव्यप्तेजोवायुगनसः क्रियायोगो हेतुतः सम्भवति तत् क्रियावद्भवति । यस्यात्मकालदिगाकाशस्य न सम्भवति क्रियायोगस्तदक्रियमिति द्रव्याख्यैकधिम्मस्थयोविरुद्धयोः सिक्रयतिष्क्रिय-त्वयोः अयुगपद्भाविनोः कालविकल्पः। स्वरूपः प्रसिद्धिकाले नवसु द्रव्येषु मनः-पृथिच्यादिपञ्चकं सिक्रयमात्मादिचतुष्कमिक्रयम् । कार्य्यारम्भकाले तु पञ्चानां सिक्रयाणां चतुर्भिरिक्रयैः सह संयोगे तेषां क्रियाभिः पुनःपुनः संयोग-विभागाभ्यां नवानामेव पञ्चानां भूतानामन्योन्यानुप्रवेशादन्योन्यानुप्रहादाकाशः सिक्रयः स्यात् । नित्यमनोऽनुवन्ध आत्मा मनसः क्रिययोपचरितो रथो गच्छ-तीतिवत् सिक्रयः स्यात्। दिक्कालौ च भूतानुपविष्टौ तेषां क्रियाभिरुपचरितौ सक्रियौ भवत इति क्रियागुणवत्समवायिकारणं नवैव द्रव्याणि सम्भवन्तीति कालो विकल्प्यते। अथैक आहुः—विह्नमधुरः पाश्चभौतिकलात्, यथेक्षुः। यथेक्षुः पाञ्चभौतिको मधुरश्च तथा विहः पाञ्चभौतिकस्तस्मान्मध्र इति। सर्व्वतन्त्रसिद्धान्तः प्रतितन्त्रसिद्धान्तोऽधिकरणसिद्धान्तोऽभ्युप-गमसिद्धान्त इति ।

तत्र सर्व्वतन्त्रसिद्धान्तो नाम तस्मिस्तस्मिन् सर्व्वस्मिस्तन्त्रे । श्रीसद्धम् । सन्ति निदानानि, सन्ति ध्याधयः, सन्ति सिद्धुरपायाः

अपरस्ताह—वहिरम्लस्तेजोऽम्युवहुलपश्चभूतात्मकलात्, यथा यथा च तिन्तिङ्गे तेजोऽम्युवहुलपश्चभूतात्मिका सा चाम्ला तथा विहस्तेजोऽम्यु-बहुलपश्चभूतात्मकस्तस्मादम्ल इति। इत्युभाभ्यां पक्षाभ्यां प्रमाणैविधृदयाय-धारयंते विद्वर्न मधुरो नाम्लः इति स निर्णयः सिद्धान्तः। अत्रेद्मवधातव्यं प्रत्यक्षेऽर्थावधारणं निर्णयः परीक्षाविषये तु विमृत्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थाव-धारणं निर्णयः। शास्त्रवादं च विमर्जवर्जं पक्षमितपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णय इति। सिद्धान्तः कतिविध इत्यत आह—स तु चतुर्व्विध इत्यादि। चातुर्व्विध्यं सिद्धान्तस्याह्—सर्व्वेत्यादि। सर्व्वतन्नसिद्धान्तः सिद्धान्तोऽधिकरणसिद्धान्तोऽभ्युपगमसिद्धान्त इतीति। गौतमेनाप्युक्तम्-तन्नाधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्त इति । वात्स्यायनेन व्याख्यातश्चा इद्मित्थम्भूतञ्चेत्यभ्यनुवाय गानमर्थजातं सिद्धम् सिद्धस्य संस्थितिः सिद्धान्तः संस्थितिरित्थम्भावन्यवस्था धम्मेनियमः, स च पश्चप्रतिपश्चाभ्यागवधारणं स खरवयं तज्ञाधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः। तत्रार्थसंस्थितिस्तन्तः-संस्थितिः। तन्नमितरेतराभिसम्बद्धस्यार्थसमृहस्योपदेशः शास्त्रम्। अधि-करणातुपक्तार्थसंस्थितिरधिकरणसंस्थितिः। अभ्युपगमसंस्थितिरनवधारितार्थ-परिग्रहस्तद्विशेषपरीक्षणायाभ्युपगमसिद्धान्तः। तत्रभेदात् तु सं खर्छः चंतु व्विधः। सर्व्वतत्र पतितत्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तराभावात् इति। तज्ञैताश्रतस्रः संस्थितयोऽनर्थान्तरभूता इति ।

अथ क्रमेण तानाह—तत्र सर्व्यतंत्र्रसिद्धान्तो नामेत्यादि। तिरमंस्तस्मिन् सर्व्यदिमंस्तन्त्रे तत् तत् प्रसिद्धं यद् यत् स सर्व्यतंत्र्रसिद्धान्तो न तु एकेकिस्मिन् प्रसिद्धं यद् यदिति। गौतमेनाप्युक्तम्। सर्व्यतंत्राविरुद्धस्तन्त्रे-ऽधिक्ठतोऽर्थः सर्व्यतंत्रसिद्धान्त इति। व्याख्यातं वात्स्यायनेन। यथा व्राणादीनीन्द्रियाणि गन्धादय इन्द्रियार्थाः पृथिव्यादीनि भूतानि प्रमाणिरथंस्य-ग्रहणिमिति। स्वयमुदाहरति। सन्तीत्यादि। सन्ति निदानानि। इत्येवमादिः

साध्यानां व्याधीनामिति । प्रतितन्त्रसिद्धान्तो नाम तस्मिन् तस्मिन्नैकैकस्मिंस्तन्त्रे तत्तत् प्रसिद्धम् । यथा अन्यवाष्टी रसाः षड्त्र रसाः, पञ्चेन्द्रियाएयत्र अन्यत्र षड्निन्द्रयाणि तन्त्रे । वातादिकृताः सद्वे विकारा यथात्रान्यत्र वातादिकृता भूतकृताश्च प्रसिद्धाः। अधिकरणसिद्धान्तो नाम स यस्मिन्नधिकरणे प्रस्तुयमाने सिद्धान्यन्यान्यपि अधिकरणानि भवन्ति । सर्व्वसिन्नायुर्वेदतन्त्रे प्रसिद्धः। इति सर्व्वतञ्जसिद्धान्तः। प्रतितत्रसिद्धान्तो नामेत्यादि । तस्मिंस्तस्मिन्नेकैकस्मिंस्तन्त्रे यद् यत् मसिद्धं तत् तत् पतितत्र-सिद्धान्तः । तदुदाहरति । अन्यत्रायुर्व्वेद्तन्त्रेऽष्टौ रसा मधुराम्ललवणकडुतिक्त-कपायान्यक्तक्षारा इति तत्र सिद्धाः। अत्र तन्त्रे पड्र्सा मधुराम्छलवण-कटुतिक्तकपाया इति सिद्धाः। गौतमेनाप्युक्तम्—समानतत्रसिद्धः तन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्त इति। व्याख्यातश्च वात्स्यायनेन। यथा नासत आत्मलाभः। न सत आत्महानम् निरतिशयादचेतनाः। देहेन्द्रियमनःस्र विषयेषु तत्तत्कारणेषु च विशेषा इति साङ्ग्रानाम्। पुरुषकम्मेनिमित्तो भूतसर्गः, क्मोंहेतवो दोषाः पट्टिश्च स्वगुणविशिष्टाञ्चेतना असदुत्पद्यते उत्पन्नं निरुध्यते इति योगिनामिति । एतचरकतन्त्रसमानतन्त्रसिद्धाः पड्रसाः पञ्चेन्द्रियाणि वातादिकृताः सर्व्वे रोगाः प्रसिद्धाः । परतत्रासिद्धास्तत्र तत्र परतन्त्रेऽष्टौ रसाः पिंडिन्द्रियाणि वातादिकृता भूतकृताश्च सर्व्ये रोगा इति पतितत्रसिद्धान्तः। अथाधिकरणसिद्धान्तो नामेत्यादि। यस्मिन्नधिकरणे प्रस्तूयमानेऽन्यान्यप्य-्धिकरणानि सिद्धानि भवन्ति, सोऽधिकरणसिद्धान्तः। गौतमेनोक्तश्च-यत्-सिद्धावन्यमकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्त इति। व्याख्यातश्च वात्-स्यायनेन । यस्यार्थस्य सिद्धावन्यं अनुपज्यन्ते, न तैर्विना सोऽर्थः सिध्यति, तेऽर्था यद्धिष्ठानाः सोऽधिकरणसिद्धान्तः। यथा देहेन्द्रियव्यतिरिक्तो शाता दर्भनस्पर्भनाभ्यामेकार्थग्रहणादिति । अत्रानुपङ्गिणोऽर्था इन्द्रियनानालं नियत-विषयाणीन्द्रियाणि स्वविषयग्रहणिलङ्गानि बातुक्रीनसाधनानि। गन्धादि-गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं गुणाधिकरणम् नियतविषयाश्चेतना इति पूर्व्वाथेसिद्धावेते-

प्रतितन्त्रसिद्धान्ते पढ़्रसा अष्टौ रसा इति परस्परविरुद्धेऽपि वादे स्वयुक्तिःयवस्थापनवलात् तु सिद्धान्तत्वं स्रेयम् । यस्मिन्नित्यादौ अधिकरणे इत्यभिधेयप्रधानत्वे । अन्यान्यपीति साक्षादन-

मुक्तः कर्मानुबन्धिकं कुरुते निःस्पृहत्वादिति प्रस्तुते सिद्धाः कर्म्मफलमोत्तपुरुषप्रे त्यभावाः स्युः। अभ्युपगमसिद्धान्तो नाम स यमर्थमसिद्धमपरीचितमनुपदिष्टमहेतुकं वा वादकालेऽभ्युप-गच्छन्ति भिषजः। तदु यथा—द्रव्यं प्रधानमिति कृत्वा वच्यासः। गुणः प्रधानसिति कृत्वा वच्यासः, कर्म्स प्रधानसिति कृत्वा वच्यामः, इत्येवमादिश्वतुर्विवधः सिद्धान्तः ॥ ३२ ॥

sथाः सिध्यन्ति। न तैर्विना सोsर्थः सिध्यतीति। स्वयञ्चोदाहरति। यथेत्यादि। मुक्त आनुवन्धिकं कम्मं न कुरुते निःस्पृह्लादिति पूर्व्वं पस्तुते अर्थेऽनुपङ्गिण एते कम्मेफलमोक्षपुरुपप्रेत्यभावाः सिद्धा भवन्ति । न चैतैर्विना मुक्त आनुवन्धिकं कम्मे न कुरुते इत्येपोऽथों न सिध्यतीत्यत्यधिकरण-सिद्धान्तः। अथाभ्युपगमसिद्धान्तो नामेत्यादि। यमर्थमसिद्धमपरीक्षितमतुप-दिष्टं गुरुणाऽथाहेतुकं वा वादकालेऽभ्युपगच्छन्ति भिपजः सोऽथौऽभ्युपगम-सिद्धान्तः। तद्यथेत्यादिनोदाहरति। द्रव्यं प्रधानं कृता वक्ष्याम इत्यादि। गौतमेनाप्युक्तम् —अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः। इति । व्याख्यातश्च वात्स्यायनेन । यत्र किश्चिद्येजातमभ्युपगम्यते, अस्तु द्रच्यं शब्दः। सतु नित्योऽथानित्य इति। द्रव्यस्य सतो नित्यतानित्यता वा तद्विशेषः परीक्ष्यते। सोऽभ्युपगमसिद्धान्तः। स्वबुद्धप्रतिशयचिख्याप-यिषया परबुद्धप्रवद्यानाच्च वादिना यद्श्रुतादिकं तद्वक्तुं पवर्तते इति। इति चतुर्विधः सिद्धान्त उक्तः ॥ ३२॥

भिधीयमानान्यपि । अनुवक्षातीति अनुवन्धिकं जन्मान्तरेऽप्यनुगामीत्यर्थः । मुक्त इति प्रत्या-सन्नमुक्तिः, सर्व्यथा मुक्तस्त्वशरीरत्वात् कर्मा न करोति । किंवा अनुवन्धिकं विशेषेणेति । सिद्धा इत्यादि । यदीह कर्म्मफलं न स्यात्, तदा मुमुक्षुणापि क्रियते कर्म्मफलोदविग्नो ह्ययं न तत् करमं करोति । यदि च मोक्षो न स्यात् तदा 'मुक्तः' इति वचनं न स्यात्, तथा यदि च पुरुपो न स्यात्, तदा कस्य वा वन्धः कस्य वा मोक्षः स्यात्, तदा कर्म्मणो जन्मान्तरानुबन्धित्व-मनुपपन्नं स्वादिति न युक्तमिति वदता अधिकरणवलादेवं सिद्धाः सिद्धान्तत्वेन कर्म्मफलादयः स्वीकृता भवन्ति । असिद्धमित्यस्य विवरणम् अपरीक्षितमित्यादि ॥ ३२ ॥

अथ शब्दः। शब्दो नाम वर्णसमाम्नायः, स चतुर्विनधः,

गङ्गाधरः ननु सिद्धान्ते सति वादिनोः किं काय्येमित्यतो वादो हि शब्दातमकेन वाक्येन क्रियते शब्दस्ति धातव्य इत्यतः शब्द इति यदुक्त तदाह—अथ शब्द इति। अथ वाक्यज्ञानार्थं शब्दो ज्ञातव्यस्तत्र कः पुनः शब्दो ध्वन्यात्मको वर्णात्मको वेत्यत आह—शब्दो नाम वर्णसमाम्नाय इति। शब्दस्तु कणादेनोक्तः। श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः स शब्दः। अनित्यश्रायं कारणतः। अभिन्यक्तौ दोषादिति। अपरे लाहुः। नित्यः शब्दोऽनादिलात् भावस्वभावनित्यसात् स्वभावसंसिद्धरुक्षणसात् इति। तद्यथा-माक्-सर्गादिदमसदेवासीदेकमेवादितीयम् स खद्ध सप्रभावगुणनिगृहा शक्तिरेव मूळं अतिपरमसुक्ष्मातिसुक्ष्मध्वनिप्रभावाद् तिपरमसुक्ष्मातिसुक्ष्मच्योमरूपा शक्तिः स्वगुणप्रभावं परिणम्य तेजोऽवन्नानि लोहितशुक्रकृष्णवदाभासानि सृष्ट्रा लोहितशुक्रकृष्णवद्भासमाना इति सुक्ष्मध्वन्यवरुद्धातिपरमसुक्ष्मव्योगरूपा वाक् सम्वभूव, सा गायत्री भगवती दुर्गा। गायति च त्रायते चेति गायत्री, सा विद्या-शान्तिनिष्टत्तिपतिष्ठेति चतसः शक्तयो भूला मिलिलैकीभूयानन्तशक्तिमान् परव्योमरूपः परमात्मा परः पुरुषः शिवो वभूव। स त्रिपात् पुरुपस्तस्य ज्योतिः-स्वरूपा सा स्वयमजा स सविता नामादिः पुरुपस्तस्य मकाशनार्था सा सावित्री तस्यात्मा तुरीयः पाद इति चतुष्पाद्ब्रह्मगायत्रीदानीं सर्गे। सैव गायत्री तेना-त्मना जीवेन शिवेन तेजोऽननान्यनुप्रविश्य सर्व्यं ससर्जे। तत्रादौ तेजोऽननानि परिणम्य किञ्चित्स्थूलमतिसूक्ष्ममतीन्द्रियं शब्दं स्जमाना तद्विशिष्टा सती परमा विद्या वभूव अकारध्वनिरूपा। तस्माच्चांकारादयो मातृकावर्णा अतिपरमसंक्ष्मा अतीन्द्रिया वभूबुः सा परमा विद्या तद्विशिष्टः परव्योमैव सदा-शिवांख्यः प्रथमो ब्रह्मपुरुषः। ब्रह्मविद्या शास्त्रमयः। ततस्तन्मातृकावर्णानास् अनन्तयोगात् ऋग्यज्ञःसामाथन्वीत्मका माया नाम कलाविद्या वभूव सैवाविद्या विद्याविपर्ययविद्या। तद्विशिष्टा ऋग्वेदयजुर्वेदसामवेदायव्वे-वेदाश्रतारो ब्रह्मपुरुषा अविद्या शास्त्रमया वभूवुः। तत्र सामविद्या ताल-रागमयध्वनिरूपा तालरागोपाहितवाक्यमयध्वनिरूपा च वभूव तद्विशिष्टः सामवेदः। स द्विविधः शब्दो नित्योऽनादितात् स्वभावसंसिद्धलक्षणतान्त्राव-

चक्रपाणिः—'शब्द'शब्देनेह सङ्केतवलादर्थप्रतीकारवर्णमालोच्यते । आसोपवेशशब्दस्तु द्विविधः—परमाप्तवहादिप्रणीतस्तथा लौकिकाप्तप्रणीतश्च । 'ऐतिह्य'शब्देन परमाप्तप्रणीतो-

स्वभावनित्यतात्। स एव द्विविधः शब्दः क्रमेण स्थूलो भूता खल्वव्यक्ते त्रिगुणसाम्यलक्षणेऽनभिन्यक्तरूपे स्थितः। अन्यक्तान्महत्तत्त्वे विद्यात्मक एव द्विविधो न्यवर्त्त । ततोऽहङ्कारे जायमानेऽविद्यात्मको द्विविध एव स्थितः। ततोऽहङ्काराज्जायमाने लाकाशे स एव द्विविधः शब्दोऽनभिव्यक्त एव स्थितः सहजरूपेण स एवाकाशस्यात्मा तद्वियोगादाकाशो नश्यति आकाशस्य नित्यत्वं तत्स्थशब्दस्य तदात्मनो नित्यलादिति नित्यः शब्दः। तच्छब्दवदाकाश-स्यैकादशांजैकांशस्य स्पर्णमात्रे वायावनुप्रवेशादाकाशवाय्वात्मको द्व्यात्मको वायुः शन्दस्पर्शयोयौनिर्वातकलाकलीये प्रोक्तः। यस्त्राकाशस्यात्मा शन्द-स्तस्याकाशतो निःसरणस्वभावाभावाद्वाय्वनुप्रविष्टस्य वायुतो निःसरणस्वभा-वात् । ततो वाय्यादीनां तेजोऽम्बुभूमिषु क्रमेण पूर्विपूर्वस्यानुभवेशे स द्विविधः शब्दः क्रमेण स्थूलोऽप्यनभिव्यक्तरूपेण स्थितः। ततः पश्चभिस्तैभू तैरारच्धेपु द्रव्येष्वभिघातप्रयुक्ताभिव्यक्तिस्वभावः स्थूलः शब्दो वत्ते । स एव द्विविधः शब्दस्तत्रीवीणाङ्गप्टाङ्ग्र्ल्याद्यभिघातकण्ठताल्वाद्यभिघातात् कारणतो वाय्वादि-भूतेभ्य एव जायते न लाकाशाज्जायत इत्यतस्त्वनित्यः श्रोत्रेणेन्द्रियेण च युखते इत्येवमभिघातात् कारणादाकाशाद्भिन्यक्तावाकाशस्यानित्यत्नश्वर-लदोपात्। अथवा शब्दस्याभिव्यक्तिमते वक्ष्यमाणदोषात्। इति कणादादीनां सर्वेपामभिपायः। अत एवाभिपायाद् गौतमेनापि शब्दः परीक्षितः। विमर्श-हेलतुयोगे च विमतिपत्तेः संशयः। आदिमत्त्वादैन्द्रियकलात् कृतकवदुप-चाराच्च। न घटाभावसामान्यनिंत्यतान्नित्येष्वप्यनित्यवद्वपचाराच्च। तत्त्व-भाक्तयोर्नानात्वविभागादव्यभिचारः । सन्तानातुमानविशेषणात् । कारणद्रव्यस्य भदेशशब्देनाभिधानान्नित्येष्वष्यव्यभिचार इति । व्याख्यातश्च वात्स्यायनेनैतत् सर्वं तट् यथा। आप्तोपदेशः शन्द इति प्रमाणभावे विशेषणमुत्तवा तं प्रमाण-शब्दम् ; स च द्विविधो दृष्टार्थोऽदृष्टार्थक्चिति विभज्य पुनः शब्दो नानाप्रकार इति क्षाप्यते। तस्मिन् नानापकारे सत्यानृतदृष्टार्थोदृष्टार्थे सामान्येन विचारः क्रियते। शब्दः किं नित्योऽधानित्य इति। विमर्श्रहेलनुयोगे च विमति-पत्तेः संशयः। आकाशगुणः शब्दोऽनभिव्यक्तोऽभिव्यक्तिधम्मेक इत्येके। गन्धादिसहष्टत्तिईच्येषु सन्निविष्टो गन्धादिवदवस्थितोऽभिन्यक्तिधम्मेक इत्य-परे शब्दस्य नित्यतवादिनः। आकाशगुणः शब्द उत्पत्तिनिरोधधम्मेको

्ऽवस्द्रः, लौकिकासप्रणीतश्च शब्दैकवेशरूपः सत्यप्रकारविहितो सेयः। वर्णसमाम्नाय **इति**

बुद्धिवदित्यपरे शब्दस्यानित्यलवादिनः। महाभूतसंक्षोभजः शब्दोऽनाश्रित उत्पत्तिधम्मेको निरोधधम्मेक इत्यन्ये चानित्यलवादिन आहुः। अतो विमर्जन हेतोर्विरुद्धसमालोचनहेतोरनुयोगे च विप्रतिपत्तेविभिन्नप्रतिपत्तितः संशयः किं नित्यः शब्दोऽथानित्य इति। किमत्र तत्त्वमिति। तत्रोत्तरमनित्यः शब्द इति । कुतः ? आदिमत्त्रादैन्द्रियकलात् कृतकवदुपचाराच । आदियौनिः कारणम् । आद्यिते यस्मादिति कारणबदनित्यं दृष्टम् । संयोगविभागजश्र शब्दः कारणवत्त्वादनित्यः। का पुनरियमर्थदेशना कारणवदिति। उत्पत्ति-धुम्में कलाद्नित्यः शब्द इत्यथदेशना । भूला न भवति विनाशधमें क इति । सांश्यिकमेतत्। किम्रत्पत्तिकारणं संयोगविभागौ शब्दस्य किमभिव्यक्ति-कारणिमति। अत आह ऐन्द्रियकलादिति। इन्द्रियमत्यासत्तिग्राह्य ऐन्द्रियकः। किमयं व्यञ्जकेन समानदेशोऽभिव्यव्यते रूपादिवत्। संयोगजाच्छव्दाच्छव्दसन्ताने सति श्रोत्रमत्यासन्नो युह्यते इति । निष्टत्तौ दरेऽपि शन्दग्रहणान व्यञ्जकेन समानदेशस्य ग्रहणं शन्दस्येति। दारुत्रश्चने दारुपरशुसंयोगनिष्टतौ दूरस्थेन शब्दो युह्यते। न च व्यञ्जकाभावे व्यव्यस्य ग्रहणं भवति । तस्मान व्यञ्जकः संयोगः । उत्पादके त संयोगे संयोगजाच्छव्दाच्छव्दसन्ताने सति श्रोत्रप्रत्यासन्नस्य ज्ञव्दस्य ग्रहणमिति युक्तं संयोगनिष्टत्तौ शब्दस्य दुरस्थेन ग्रहणिमति। इतश्च शब्द उत्पचते नाभि-व्यज्यते। कृतकवदुपचारात्। तीत्रं मन्दमिति कृतकप्रपचर्यते। सुखं मन्दं सुखं तीत्रं दुःखं मन्दं दुःखिपति तीत्रबादेरपचारो यथा सुखादौ तथोपचर्यते, तीत्रः शब्दो मन्दः शब्द इति शब्दे तीत्रलादुप्रपचारः। अथ व्यञ्जकस्य तथाभावाद् ग्रहणस्य तीत्रमन्दतारूपविदिति चेन्न। अभिभन्नोप-पत्तेः। संयोगस्य व्यञ्जकस्य तीत्रमन्दतया शब्दग्रहणस्य तीत्रमन्दता भवति। न त शब्दो भिद्यते। यथा प्रकाशस्य तीत्रमन्दतया रूपग्रहणस्येति। तच्च नैवमभिभवोषपत्तेः। तीत्रो भेरीशब्दो मन्दं तत्रीशब्दमभिभवति न मन्द-स्तीव्रम् । न च शब्दग्रहणमभिभावकं शब्दश्च न भिद्यते । शब्दे त भिद्यमाने युक्तोऽभिभवः । तस्मादुत्पद्यते शब्दो नाभिन्यन्यते । अपाप्तेऽभिभव इति चेत् बाद्यमात्राभिभवनसङ्घः। अथ मन्यते, असत्यां प्राप्तावभिभवो भवतीति। एवं

वर्णमेलक इत्यर्थः। वर्णानां यद्यपि अत्र सहस्थायिनां मेलको नास्ति, तथाप्येकस्मृतिसमान-रूपित्वेन। किंवा, पूर्वयूर्वानुभवजनितसंस्कारसहितान्स्यवर्णानुभवारोहेण मेलको ज्ञेयः।

सति यथा भेरीशब्दः कश्चित् तत्त्रीशब्द्मभिभवति । एवमन्तिकस्थोपादानमिव किं द्वीयःस्थोपादानमपि तन्त्रीस्वनं नाभिभवेत्। अपाप्तरिवशेपात्। तत्र कैश्चिदेव भेर्यां मणादितायां सर्व्यलोकेषु समानकालास्तत्रीस्वना न श्र्ये-रिन्ति। नानाभूतेषु शब्दसन्तानेषु सत्सु श्रोत्रमत्यासिन्तभावेन कस्यचि-च्छव्दस्य तीत्रलन मन्दस्याभिभवो युक्त इति। कः पुनरयमभिभवो नाम। ग्राह्यसमानजातीयग्रहणकृतमग्रहणमभिभवः। यथोल्काप्रकाशस्य ग्रहणाहिस्य आदित्यमकाशेनेति। तत्राह् वादी। न घटाभावसामान्यनित्यत्वाचित्येष्त्रध्य-नित्यवदुपचाराच । न खल्वादिमच्वादनित्यः शब्दः । कस्मात् ? व्यभि-चारात्। आदिमतः खळू घटाभावस्य दृष्टं नित्यतम्। कथमादिमान्। कारणविभागेभ्यो हि घटो न भवति। कथमस्य नित्यतम् ? योऽसौ शब्द-कारणविभागेभ्यो न भवति तस्याभावो न कदाचिद्धावन निर्वर्त्तेगते इति। यद्प्यैन्द्रियकलात् तद्पि व्यभिचरति । ऐन्द्रियकलं सामान्यं नित्यव्चेति । यदिष कृतकवदुपचारादिति तदिष व्यभिचरति । नित्येष्वप्यनित्यवदुपचारो दृष्टः। यथा हि भवति वृक्षस्य प्रदेशः कम्बलस्य प्रदेश एवमाकाशस्य प्रदेश आत्मनः प्रदेश इति भवतीति। तत्र नित्यवादिनं प्रत्याह। तत्त्वभाक्तयो-नीनालविभागाद्व्यभिचारः। नित्यः शब्द इति तत्र नित्यलित्यत्र कि आत्मान्तरस्यानुत्पत्तिधम्मेकस्यात्महानानुपपत्तिनित्यत्यम् । तावित्रत्यसम्। तचाभावे नोपपद्यते। भाक्तन्तु भवति। यत् तत्रात्मा न महानासीत्। यद्भूला न भवति न जातु तत् पुनर्भवति । तत्रानित्य इव नित्यो घटाभाव इत्ययं पदार्थः। तत्र यथाजातीयः शब्दो न तथाजातीयकं कार्यं कि श्चित इश्यते इति व्यभिचारः। यद्पि सामान्यनित्यतादिति इन्द्रियमत्यासत्ति-ग्राह्यमैन्द्रियकमिति सन्तानानुमानविशेषणात्। नित्ये व्यभिचार इति मक्कतम् । नेन्द्रियग्रहणसामथ्यांच्छन्दस्यानित्यत्वं किं तर्हि ? इन्द्रियमत्यासत्ति-ग्राह्यसात् सन्तानानुमानम्, तेनानित्यसमिति। यद्पि नित्येष्वप्यनित्यस-वदुपचारादिति, न । कारणद्रव्यस्य प्रदेशशब्देनाभिधानान्त्रित्येष्वप्यव्यभिचार इति। एवमाकाशस्य प्रदेश आत्मनः प्रदेश इति नात्राकाशात्मनोः कारण-द्रव्यमभिधीयते यथा कृतकस्य । कथं हाविद्यमानमभिधीयते । अविद्यमानता च प्रमाणतोऽनुपलन्धेः। किं तर्हि तत्राभिधीयते। संयोगस्यान्याप्यरुत्तितम्। परिच्छिन्नेन द्रव्येणाकाशस्य संयोगो नाकाजं व्यामोति। अव्याप्य हि वत्तेते इति। तदस्य कृतकेन द्रव्येण सामान्यम्। न ह्यामलकयोः संयोगः

आश्रयं व्यामोति। सामान्यकृता च भक्तिराकाशस्य प्रकाश इति। अनेनात्म-पदेशो व्याख्यातः। संयोगवच शब्दबुद्धप्रादीनामव्याप्यष्टत्तिसमिति। मैन्द्रियकशब्दस्यानित्यत्वे सिद्धे पुनर्वादी भापते। अथ तर्हि निरुपादानकः शब्दः । कस्मात् ? प्रागुत्पत्तेरनुपलब्धः । शब्दस्योत्पपत्तेः पूर्विमुपलब्ध्यभावात् निरुपादानकत्वपसङ्गः। नावरणादिभ्यः। आवरणादिभ्यः कारणेभ्यो न प्रागुत्पत्तेरुपलव्यः । नैवम्, तेपामनुपलव्यः । आवरणादीनामनुपलव्यि-कारणानामुपलब्धेर्नावरणादिभ्योऽनुपलब्धिः। आवरणसन्निकर्पव्यवधाना-दिकं शब्दानुपलव्यिकारणं नोपलभ्यते । तस्मात् माक् शब्दोत्पत्तेः शब्दारम्भकः शब्दो नास्ति । न हि विजातीयगुणेन विजातीयगुण आरभ्यते । तस्मादयं शब्दो निरुपादानक इति। तत्रोत्तरम्। तदनुपलब्धेरनुपलम्भादावरणोप-पत्तिः। यदि शब्दस्यानुपलव्धिकारणानामावरणादीनामनुपलम्भान्नास्तिलम् आवरणाद्यनुपल्लियरप्यनुपलम्भात् तर्हि नास्तीति। आवरणोपलन्ध्यभाव-पतिषेधादस्त्यावरणादिकं शब्दानुपलव्यिकारणमिति। तत्राह पुनर्वादी। अनुपलम्भादृष्यनुपलन्धिसद्भाववन्नावरणानुपपत्तिरनुपलम्भात् । आवरणानुप-लिव्यस्तुपलभ्यमानापि यथास्ति तथानुपलभ्यमानमप्यावरणमस्तीति यद्यभ्यनु-जानाति भवान् तदानुपरुभ्यमानाप्यावरणानुपरुव्धिरस्ति। तस्मान्नास्त्या-वरणम्जुपलम्भादिति । तर्हि च । अजुपलम्भात्मकलाद्जुपलब्धेरहेतुः । यदुप-लभ्यते तद्स्ति यन्नोपलभ्यते तन्नास्तीति । अनुपलम्भात्मकमसद्िति व्यव-स्थितम्। उपलब्ध्यभावश्रानुपलिब्धः, सा पुनरभावतानोपलभ्यते। सच खल्वावरणं तस्योपलब्ध्या भवितव्यम्। न चोपलभ्यते तदावरणमित्यतो नास्तीति तच यदुक्तं नावरणानुपपित्तरनुपलम्भादिति तद्युक्तम्। तस्माद् अस्त्यस्य शब्दस्योपादानं नित्यः शब्दः। कस्मात् ? अस्पर्शलात्। यथा आकाशम्। यथा चाकाशमस्पर्शं तच्च नित्यं तस्मान्नित्य इति। न कम्मी-नित्यतात्। अस्पर्जलादाकाशवन्न शब्दोऽस्य शब्दस्योपादानं नित्यः (शब्दः)। कस्मात् ? कम्मीनित्यलात् । कम्मी चास्पर्शेमनित्यम् । दृष्टं स्पर्शवांश्राणुनित्य इत्युभयतः सन्यभिचारो हेतुश्र दृष्टान्तश्चेति 'साधम्म्यण दृष्टान्तो न साधः। साध्यवैधम्मयेण दृष्टान्तश्च। नाणुर्नित्यसात्। नित्यः शब्दोऽस्पर्श-लात्। यथा घटः। यथा च घटः स्पृत्यः स चनित्यो न तथास्पृत्रयः शब्दस्तस्मान्नित्य इति साध्यवैधम्मर्येण हृष्टान्तोऽपि न भवति। कस्मात् ? अणुनित्यलात्। अणुर्हि स्पृत्रयः स च नित्यः सन्त्रौ हि स्पृत्रयो

नानित्यो न नित्य इति व्यभिचारादिति । एदेनोक्तं भवति । योऽसावस्य श्रुटद्स्योपादानभूतः श्रुट्दोऽनभिव्यक्त आक्षाशेऽरिमन्नणुः नित्य इति. स एव वाटवादिष्वनुप्रविध्य क्रमेण स्थृतः सन्तपि नेन्द्रियग्राद्यः सोऽपि नित्यः। पाञ्चभौतिके द्रव्ये सभिव्यञ्यने स इत्यत उत्पद्यते इत्युच्यते ततो नानुपादानो न नित्यः परन्वनित्य इति स्थिरवादिनि नास्थिरः शब्दो वर्णात्मको हि शब्दः स्थिरः। कस्मान ? सम्प्रदानान्। अध्यापकोऽध्याप्यमानाय शिष्याय यद्ध्ययनं द्दाति तस्मात् वर्णात्मकः शब्दः स्थिरो न तस्थरः। तत्रोच्यते। तद्नतरालानुपलब्धेरहेतुः। सम्प-दानादित्ययं हेतुने हेतुः। अध्यापनाध्ययनयोरन्तराले शब्दोपलब्ध्यभावात्। तत्राह् स्थिरत्ववादी। अध्यापनाद्मतिषेधः। असति सम्भदानेऽध्यापनं न स्यात् तद्ध्यापनलिङ्गेन तयोरध्यापनाध्ययनयोरन्तरालेऽवस्थानग्रुपलभ्यते। सम्प्रदातुः सम्प्रदीयमानो व्यवस्थितः। तस्मात् स्थिर्वस्याप्रतिषेधः। तत्राह् प्रतिवादी । उभयोः पक्षयोरन्यतरस्याध्यापनादप्रतिषेधः । अध्यापकस्थः शन्दः शिष्यं प्रपद्यते यत् तद्ध्यापनम् ? अथ नृत्यस्योपदेशवत् । नृत्यशिक्षको यथा नृत्यति तथानुकरोति नर्त्तक इत्येवगध्यापकोचारिनशन्दानुकरणग-ध्यापनितर्येतयोरुभयोः पक्षयोरन्यतरस्याध्यापनलादन्तरालेऽनुपलन्धेरस्थिरल-मतिषेधाभावः शब्दस्यास्थिरत्यमेव। अथाह—स्थिरः शब्दो नास्थिरः। अभ्यासात्। अभ्यस्यमानो हि शब्दः स्थिरो दृज्यते। पश्चकृतः पटति दृश-कुलः पटतीति तद्रूप एवाचिस्थतो दृश्यते। तस्माद्वस्थितस्य शब्दस्य पुनः-पुनरुचारणमभ्यास इति । तत्राह्—नान्यत्वेऽप्यभ्यासस्योपचारात् । अवस्थिता-दन्यत्वेऽपि खल्वनवस्थितेऽभ्यासाभिधानान स्थिरत्वं शब्दस्य । यथा द्विन् त्यत् भवान् त्रिन्देत्यतु भवान् त्रिरनृत्यद्द्विरनृत्यदिति भविष्यद्तीतयोर्नेत्तेनयो-रनवस्थितयोराष्ट्रस्यभिधानमिति । तत्राप्याह्-अन्यद्न्यस्माद्नन्यसाद्नन्य-दिंत्यन्यथाभावः। यदिद्मेकस्मादन्यदित्युच्यते तत् पुनः स्वस्मादनन्यलादन्यन भवति। एवमन्यताया अभावः। तत्र यदुक्तमन्यत्वेऽप्यभ्यासस्योपचारादिति तद-युक्तमिति। तत्राह प्रतिवादी-तद्भावेनास्त्यनन्यता तयोरितरेतरापेक्षसिद्धेः। अनन्यदिति। न अन्यदित्यनन्यत्। तत्रानन्यदिति कस्यात् ? अन्यशन्दस्य प्रति-पेधार्थकनवा सह समासः। यदि चात्रोत्तरपदं नास्ति कस्यायं प्रतिपेधेन सह समासः। यस्मादन्यो यः स खलु तदभावस्तत्रानन्यता नास्ति। तयोईयोः परस्परापेक्षान्यतायाः सिद्धेः। यो यस्मादन्यस्तस्मादन्यः स इति भवत्यनन्यः।

न तु या यस्मादन्यः सोऽनन्य इति । अत्रायमभिसन्धः, एकस्माद्यसादन्यो-<u> ५५२स्तस्माद्परस्माद्न्यः स एकः। यथा घटशब्दादन्यः पटशब्दः पट-</u> शब्दादन्यो घटशब्दः खल्वनन्य इति चेत् तद्यभ्यासो न स्यात्। घटो घटो घट इत्येवं हि भवत्यभ्यासस्तत्र पूर्वो यो घटशब्दः स द्वितीयादेरन्यो दितीयादिस्तस्मादन्य इत्यनन्य इत्यत्रान्यलं तावत् किमुच्यते। तत् तदानु-पूर्वीकत्वेन तद्नन्यतं न लन्यत्वं तर्हि कि द्वितीयकालादुरचरितलम्। तथात्वे च येनैकविधगायत्रप्रादियन्त्रेण पूर्व्योचिरितेनाचाय्येण दीक्षितस्तस्य गायत्रप्रादेभेत्रस्य तथैव पुनरुचरितस्यान्यत्वे ज्ञिक्षितत्वदीक्षितत्वाभावनसङ्गः स्यात् स्वरवर्णव्यतिक्रमे तु न तत् तन्मन्नत्वं यथा स्यात् तथा ताद्रूत्येणापि तनमञ्जत्वं न स्यादिति न मातृकावणेव्यतिरिक्तानां वर्णानामुत्पादनेन शन्दान्तरं कथं कुर्यात् तस्मात् स्थिरो वर्णात्मकः शन्दोऽभिन्यक्तिनिरोध-धर्माकः। कारणाद्भिव्यज्यते कारणात् तिरोधत्ते। न च कारणान्नश्यति। कस्मात् ? विनाशकारणानुपलच्येः। यदनित्यं तस्य विनाशः कारणाद भवति तच्चोपलभ्यते। यथा लोप्ट्रस्य कारणद्रव्यविभागाद्विनाज्ञः स च विभाग उपलभ्यते शब्दक्षेचेद्नित्यस्तदा तस्य विनाशो यस्मात कारणाद्भवति तदुपलभ्येत न च पुनरूपलभ्यते तस्मान्नित्यः शब्द इति । तत्राह—अश्रवण-कारणाजुपलब्धेः सततश्रवणप्रसङ्गः । यथा विनाशकारणातुपलब्धेर-विनाशान्त्रित्यस्तथा खल्वश्रवणकारणात्रुपछन्धेः सततश्रवणप्रसङ्गो न च सततं श्रूयते शब्द इति। व्यञ्जकाभावादश्रवणमिति चेत् प्रसिद्धं व्यञ्जकम्। अथ विद्यमानस्य शब्दस्य निर्नियत्तमश्रवणमिति विद्यमानस्य निर्नियत्तो विनाशरूचेति समानश्च दृष्ट्विरोधो निमित्तमन्तरेण विनाशे चाश्रवणे चेति। उपलभ्यमाने चातुपलब्धेरसत्त्वादपदेशः। अतुमानाच्चोपलभ्यमाने शब्दस्य विनाशकारणे विनाशकारणातुपलन्धेरसत्त्वादित्यनपदेशः। अनेन कारणेनैव-मित्यपदेशः। अथ यस्मादविषाणी तस्मादश्व इति किमनुमानमिति चेत सन्तानोपपत्तिः । उपपादितः शब्दसन्तानः । संयोगविभागजाच्छव्दाच्छव्दान्तरं जायते ततोऽप्यन्यत् ततोऽप्यन्यदित्येवं हि शब्दसन्तानस्तेनातुमानमिति । तत्र कार्य्यशब्दः कारणशब्दं निरुणि । प्रतिघातिद्रव्यसंयोगस्त्रन्तिकस्य शब्दस्य निरोधकः। दृष्टं हि तिरःमतिकुड्यमन्तिकस्थेनाप्यश्रवणं शब्दस्य श्रवणं दूरस्थेनाप्यसित व्यवधाने इति । घण्टायामभिहन्यमानायां तारस्तारतरो मन्दो मन्दतर इति श्रतिभेदाःनानाश्चदसन्तानोऽविच्छेदेन श्र्यते तस्न नित्ये

शब्दे। घण्टास्थमन्यगतं वा अवस्थितं सन्ताननिष्टत्तौ कारणं वाच्यम्। येन श्रतिसन्तानो भवतीति। शब्दभेदश्च सति श्रुतिभेदे उपपादियतव्य इति। अनित्ये तु शब्दे घण्टास्थं सन्ताननिष्टत्तिसंयोगसहकारिकारणान्तरं संस्कार-भूतं मतिघातजवेगाख्यं प्ट्मन्दमनुवर्त्तते। तस्यानुष्टत्या शब्दसन्तानानुष्टत्तिः पडुमन्दभावाच्च तीत्रमन्दता शब्दस्य तत्कृतश्च श्रुतिभेद इति। न वै निमित्तान्तरं संस्कार उपलभ्यते। अनुपलन्धेर्हेतोनिमित्तान्तरं नास्तीति। पाणिनिमित्तप्रकेषाच्छव्दाभावेनानुपल्रव्धिः। पाणिकम्प्रेणा पाणिप्रक्लेपो भवति। तस्मिंश्च सति शब्दसन्तानो नोपलभ्यते। ततः श्रवणानुपपत्तिः। तत्प्रतिघातिद्रव्यसंयोगः शब्दस्य निमित्तान्तरं संस्कारभूतं प्रतिघातजवेगाख्यं निरुणद्धीत्यतोऽनुमीयते। तस्य च निरोधाच्छब्दसन्तानो नोत्पद्यते। अनुत्-पत्तौ श्रुतिविच्छेदः। यथा प्रतिघातिद्रव्यसंयोगादिपोः क्रियाहेतौ संस्कारे निरुद्धे गमनाभाव इति । कम्पस्नतानस्य स्पर्शनेन्द्रियग्राह्यस्य चोपरमः। कांस्यपात्रादिषु पाणिसंइलेपो लिङ्गं संस्कारसन्तानस्येति। तस्मान्निमित्ता-न्तरस्य संस्कारभूतस्य प्रतिघातजवेगस्य नानुपलव्धिरिति। कारणानुपलब्धेश्वावस्थाने तन्नित्यत्वमसङ्गः। यदि यस्य विनाशकारणं नोपलभ्यते तदवतिष्ठते, अवस्थानाच्च तस्य नित्यत्वं प्रसाज्यते। एवं यानि खल्विमानि शब्दश्रवणानि शब्दाभिव्यक्तय इति मतं न तेषां विनाश-कारणं भवतोपलभ्यते। अनुपपादनादवस्थानमवस्थानान्नित्यत्वं प्रसज्यते। इति । अथ नैवं, तर्हि विनाशकारणानुपलब्धेः शब्दस्यावस्थानान्नित्यसमिति । कम्पसमानाश्रयस्य नादस्य पाणिप्रक्लेपात् कम्पवत्कारणोपरमादभावः। वैयधिकरण्ये हि प्रतिघातिद्रव्यप्रश्लेपादसमानाधिकरणस्यैवोपरमः स्यादिति । अस्पर्जलादमितषेषः। आकाशगुणः शब्द इतीदं यत् मितिषिध्यते अय-मनुपपन्नः प्रतिषेधः। अस्पर्जलाच्छब्दाश्रयस्य। रूपादिसमानदेशस्य ग्रहणे शब्दसन्तानोपपत्तेः। स्पर्भव्यापिद्रव्याश्रयः शब्द इति ज्ञायते न च कम्पसमानाश्रय इति । प्रतिद्रव्यं रूपादिभिः सह सन्निविष्टः शब्दः समान-देशो व्यज्यत इति नोपपद्यते इति । कथम् ? विभक्तयन्तरोपपत्तेश्च समासे । सन्तानोपपत्तेश्चति चार्थः। तद्व्यारूयातम्। यदि रूपादयः शब्दश्च प्रति-द्रव्यं समस्ताः समुदितास्तस्मिन् समासे समुदाये यो यथाजातीयकः सन्निविष्टः तस्य तथाजातीयस्यैव ग्रहणं न भवितन्यं शन्दे रूपादिवत्। अत्र योऽयं विभागः एकद्रव्ये नानारूपा भिन्नश्रुतयो विधम्मीणः शब्दा अभिव्यज्यमानाः

दृष्टार्थश्चादृष्टार्थश्च सत्यश्चातृतश्चेति । तत्र दृष्टार्थो नाम त्रिभि-हेतुभिदोषाः प्रकोपमापद्यन्ते ७, षड्भिरुपक्रमेरुपशाम्यन्ति,

श्रयन्ते। यच विभागान्तरं सरूपाः समानश्रतयः सधम्मीणः शब्दास्तीव्रमन्द-धरमितया भिन्नाः श्र्यन्ते तदुभयं नोपपचते। नानाभूतानामुत्पचमानानामयं धम्मौ नैकस्य व्यव्यमानस्येति । अस्ति चार्यं विभागो विभागान्तरश्च । तेन विभागोपपत्तेमेन्यामहे। न प्रतिदृब्यं रूपादिभिः सह शब्दः सन्निविष्टो ब्यब्यत इति । द्विविधश्रायं शब्दो वर्णात्मको ध्वनिमात्रश्च । तत्र वर्ण एव शब्दः कि वर्णोपाहितः शब्दो वर्णात्मकः ? आद्रेग वर्णस्यानित्यत्वप्रसङ्गः। वर्णोपाधिको ध्वनिश्चेच्छब्दस्ति च वर्णः किं नित्योऽनित्यो वा १ न तावद्ध्वनिवद्नित्यः अक्षराभिधानातः यन क्षरति तद्वरं वर्णमित्यनर्थान्तरम्। न चाक्षरमित्ययं शब्दः परिभापितोऽकारादिषु । मातृकावर्णभ्योऽतिरिक्ता वर्णा न मातृका-वर्णभ्यो जायन्ते शब्दाच्छब्दान्तरवत् । कण्डताल्वाद्यभिघातादिशयत्रविशेषेण ध्वनिरेव सिद्धवर्णेनोपाहितः प्रव्यव्यतेऽकारादिरूपेण श्रयते। तदकारोपाहित-ध्वनिरेव प्ळतक्षेणश्र्यते, स खल्वकारोपाहितध्वनिसन्तानो न सकारसन्तानः। ढकादिध्वनिवन्न प्छताद्धिकोऽकारादिध्वनिसन्तानश्च श्रुयते। न च मातृका-वर्णोद्धिकाश्च श्रयन्ते तस्माद्वर्णौ नित्यः। तिह किं मात्कावर्णसमसङ्ख्यक एव वर्णात्मकः शब्दो नाधिक इत्यत आह—शब्दो नाम वर्णसमाम्नाय इति । म्ना अभ्यासे। वर्णानां समानासमानानाम् आ सम्यङ् म्नाय इति वर्णसमाम्नायः इति। सम्यगभ्यासो वर्णानां समानासमानामनन्तयोगादनन्तः। स चैकः संपुर्वते वाक्यरूपेण। अकारादेशकैकवर्णस्त न वाक्यरूपेण पुर्वते, तसाद्वाक्यवटकानां पदानां पदघटकानां प्रकृतिप्रत्ययागमानाश्च वर्णानां ध्वनिरूपेणाभिव्यक्तानां शब्दत्वेऽपि खल्विह वादमागेपदतया विवक्षापवत्तेमाने हि बादे बादिनोरुक्तिमत्युक्तिभ्यामर्थेबोधकलाभावात । न हेर्रकेन पट्न तद्-घटकघातमातिपदिकादिमात्रेणचा विवक्षितोऽथौं वादिना शक्यते ज्ञापयितुम् इति, तस्माद्वाक्यमेवाथेस्फोटः। इति ज्ञापयितुमाह—स चतुव्विध इति। तं विभ-जते। दृष्टार्थरुचेत्यादि। यस्यार्थ इह दृश्यते स दृष्टार्थौ दृष्टुफलः शन्दः। स दृष्टाथौ नाम यथा।

तदुदाहरति—तत्रेत्यादि । त्रिभिद्देतुभिद्भेषाः प्रकोपमापद्यन्ते । इत्येकं

^{*} प्रकुप्यन्तीति बहुप्रनथेपु पठ्यते।

श्रोत्रादिसद्भावे शब्दादिग्रहण्मिति। श्रदृष्टार्थः स्रति पुनरस्ति घे त्यभावोऽस्ति मोच् इति । सत्यो नाम यथार्थ-भूतः। सन्यायुव्वेदोपदेशाः, सन्ति सिद्ध्रपायाः साध्यानां व्याधीनाम्, सन्त्यारम्भफलानीति । सत्यविषर्ययाचानृतः ॥३३॥ दृष्टफलम्। असात्मेप्रनिद्रयार्थसंयोगादिभिस्त्रिभिद्देत्थिः वातादयो वोषाः प्रकुष्यन्तीति दृश्यते। एवमुदाहरणान्तरं हितार्थं दर्भयति। पङ्भिरुपक्रमैरुपशास्यन्ति। लङ्गनष्ट हणीयादिभिः सर्चे कुपिता दोषाः प्रशाम्यन्तीति दृश्यते। अपरमुदाहरणमाह—श्रोत्रादि-सम्भवे शन्दादिग्रहणिवति । एप हि ममाणशन्दः । अथादृष्टार्थंमाह—अदृष्टार्थः पुनरस्ति मेत्यभावोऽस्ति मोक्ष इति । यस्यार्थ इह न दृश्यते सोऽदृष्टार्थः ज्ञव्दः, स खल्बदृष्ट्रकलं वाक्यम्। अस्ति प्रत्यभाव इत्येकमपरमस्ति मोक्ष इति। एपोऽपि ममाणशब्दः। यद्यपि दृष्टार्थोदृष्टार्थो शब्दौ सत्यार्थो यथार्थभूतलात् तथापि दृष्टार्थादृष्टार्थव्यतिरिक्तोऽपि सत्यः शब्दोऽस्तीति पृथगुच्यते सत्यो नाम यथार्थभूत इति। स च यथार्थो द्विविधः—अलोके सत्यो लोके सत्यश्चानृत इति। अन्यक्तादुर्छं प्रधानं क्षेत्रकः कालो विद्याविद्याविशिष्टपश्च ब्रह्म पुरुषा ऋग्वेदादयः सत्याः परमार्थतः । लोके पुनरव्यक्तात्मादयश्रतु व्विश्वतिस्तत्त्वानि तन्मयदेवनरादयश्च सङ्घाताः सत्यानृताः परमार्थेऽनृतलात् लोके सत्यलाच । तदुदाहरति—सन्त्यायुर्वेदोपदेशाः। इति परमार्थसत्यसात् सत्यशब्दः ; सन्ति सिद्धप्रपायाः साध्यानां विकाराणामिति लोके सत्यः परमार्थेऽनृत इति सत्या-नृतार्थः सत्यशब्दः। एवं सन्त्यारम्भकलानीति सत्यानृतार्थशब्दः। एपोऽपि प्रमाणशब्दः । अथानृतशब्दमाह—सत्यविषय्ययाचानृत इति । यथा नास्तीश्वरः नास्त्यात्मा नास्ति कस्मेफलं नास्ति पुनर्भवः, एवं यावन्मिश्यावाक्यमिति।

मिथ्यार्थेशन्दस्यापि वादं प्रयोगादुपदेश इति।

वर्णसमास्त्रायो वाक्यन्तु विश्वष्टाय अग्निनोक्तमाग्नेयपुराणेऽलङ्कारे।
सङ्क्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यविक्विना पद्वावली। तत्र च वर्णप्टन्दं स्यात्
पदं सुप्तिङमभेदवत्। सङ्क्षेपात् समासत इष्टार्थव्यविक्विना पद्वावली वाक्यं

इष्टाथ इति प्रमाणान्तरोपलिक्वयोग्यार्थः। त्रिभिईतिभिरिति प्रज्ञापराधादिभिः। पद्वक्रमा
लङ्कनादयो लङ्कनवृ हणीयोक्ताः। एतेषां वाक्यानाभिहेव दश्यतेऽर्थं इति दृष्टार्थस्वम्। सविपर्य्ययः—'न सन्त्यायुर्वेदोपदेशाः' इत्यादिर्ज्ञेयः॥ ३३॥

भवति । इष्टार्थेन व्यवच्छिना पदावली सम्भवति नानार्थकवाक्यं यत्रार्थे विवक्षा त्रयोक्तर्वर्त्तते तत्रार्थे यावतपदाभिधानेन विवक्षणीयार्थेसमाप्ति-स्तावदथौंऽपीष्टः। सा पदावली वाक्यं न लविवक्षितेन अर्थेन। हरिर्धावति वेगेन जिवांसन्नरिक्क जरिमिति। येनाथन व्यवच्छियते स एवार्थ इह पदावल्यभिधीयते। हरिर्विष्णुर्वा सिंहो बान्यो वेति तदन्याथ तु न वाक्यम् । तत्र पदं वर्णद्यन्दं यत् सुवन्तं तिङन्तश्च तत् पद्म् । सुवन्तं देवो देवीत्यादि, तिङन्तं भवति गच्छतीत्यादि। नन्न तत्र भवतीति भूधातुः ततस्तिप् अप् भुव उकारस्य गुण ओकारः संहितायामोकारस्याव् ततः सिथाति इति। गच्छतीति गमेगेच्छादेशे सिध्यतीति वर्णो विकारी किमादेशीति ? तत्रोक्तं गौतमेन। विकारादेशोपदेशात संशयः। दध्यत्रेति केचिदिकार इसं हिला यसमापद्यते इति चणस्य विकारं मन्यन्ते, केचित् तत्र प्रनिरकारस्य मयोगे विषये यदिकारस्य स्थानमिकारस्ततस्थानं जहाति यकारस्ततस्थान-मापद्यते इत्यादेशं व वते ; उभयमिद्युपदिश्यते, तत्र न ज्ञायते किं तत्त्वमिति संशयः। न ताबद्वणेविकाराः सन्ति, पक्ततिविद्यद्धौ विकारद्यदेः ; न सन्ति ं वर्णविकाराः प्रकृतिविष्टद्धौ हि विकारो विवर्द्धते। द्रव्यविकारेषु प्रकृत्यनु-विधानं दृष्ट्या दृष्यत्रेति यकारे दृद्धिद्वीर्घविधानं नास्ति प्रकृतौ पुनरिकारे दृद्धिश्च दीर्घश्च विधीयते। वैकारिक इत्यादी दृद्धिः, वीसपे इत्यादी दीर्घः । तद्तुविधानाभावानानुमेयो वर्णविकार इति । तत्राह विकारवादी । न्यूनसमाधिकोपलब्धेविकाराणामहेतुः। वर्णविकारमतिपेधे मकृतिविद्यद्वौ विकारविद्यद्धेरिति हेतुरहेतुः। कस्मात् ? विकाराणां न्यूनसमाधिकोप-लञ्चेरिति । द्रव्यविकारः प्रकृतेन्यू नाश्च समाश्चाधिकाश्च दृश्यन्ते । द्रव्यविकार-दृष्टान्तश्च। नात्र्रत्यमकृतीनां विकारविकल्पात्। अतुल्यानां द्रव्याणां प्रकृतिभावो हि विकल्प्यते विकारश्च प्रकृतीरनुविधीयते। न लिवर्णमनु-🕽 विधीयते यकारस्तस्माद् द्रव्यविकारो न दृष्टान्तः। तत्राह। द्रव्यविकार-वैपम्यवद्वर्णविकारः। यथा द्रव्यत्वेन तुल्यायाः प्रकृतेविकारवैपम्यं पृथिवी-विकार एकविधो जलविकारस्त्रन्यविधस्तथा वर्णलेन तुल्यायाः प्रकृतेविकार-विकल्पः। इकारस्य यकारो यकारस्य पुनरिकार इति। न विकारधम्मा-नुपपत्तेः। नैवं सामान्येन विकारविकल्पः। विकारधम्मानुपपत्तेः। अयं हि विकारधम्मौ द्रव्यसामान्येऽपि यदात्मकं द्रव्यं मृद्रा सुवर्ण वा तस्यात्मनोsन्वये पूर्व्वच्यूहो निवर्त्तते च्यूहान्तरश्चोपजायते, तं विकारगाचक्ष्महे।

यथा सुवर्ण कुण्डलं भवति. मृत्तिका घटो भवति, न तथा विकारो यकारो यकारो वा इकारः। तदात्मान्वयाभावात्। विकाराभावे हेलन्तरश्चाह। विकारमाप्तानामपुनराष्ट्रतेः। न वर्णविकाराः सन्ति विकारमाप्तानाम् अपुनराष्ट्रतेः। यथा काष्ट्रस्य भस्मले पुनर्ने काष्ट्ररूपेणाष्ट्रतिरिकारस्य यत्वे पुनयंकारस्येत्वं दश्यते। दृध्यत्र, विच्यथे, अथैपः। सुक्णोदीनां प्रन-राष्ट्रचेरहेतुः। विकारमाप्तानाम् अपुनराष्ट्रचेरिति हेतुरहेतुः। प्रनराष्ट्रचेः। कटकः सुवर्णात्मकः कुण्डलं जायते कुण्डलत्वं विहाय पुनः कटकत्वं प्रामोति । कथं पुनराष्ट्रितः ? तद्विकाराणां सुवर्णभावाव्यतिरेकात् । स्रवर्णादीनां विकाराणां स्रवर्णभावेनैव प्रकृत्यसुच्छेदेनैव विकारप्राप्तानां पुनः आष्टतेः। विकारमाप्तानामपुनराष्टत्तेरिति हेतुरहेतुः। नन्ववस्थितं सुवर्णे हीय-मानेन कुण्डलत्वेन चोपजायमानेन च धममेण धमिमे भवति। नैवं कश्चिद्वणं इति। तस्मात् सुवर्णदृष्टान्तो नोपपद्यते। तत्राह विकारवादी। वर्णसाव्यतिरेकार् वर्णविकाराणामप्रतिषेधः। वर्णत्वेनावस्थित इकारादिः हीयमानेन खल्ल इकारलधम्मेणोपजायमानेन च यलधम्मेण धम्मी भवति, तस्माद्वण विकाराः सन्ति न तेपां प्रतिषेधः। तत्राह प्रतिषेधवादी। सामान्यवतो ध्रम्भयोगो न सामान्यस्य। सुवर्णतसामान्यवतो हि सुवर्णस्य कुण्डलस्वकटकस्वधम्भयोगो न सुवर्णलस्य सामान्यस्य। न तथा वर्णलसामान्यवतो वर्णस्य निखिलस्य इकारलयकारलध्रमियोगः। न वा वर्णलस्य सामान्यस्य तद्धममयोग इति न वर्णविकाराः सन्ति। इतश्च वर्णविकारानुपपत्तिः। नित्यले विकारात् अनित्यत्वे चानवस्थानात् नित्या वर्णा इति पक्षे इकारयकारौ वणौ तदुभयो-नित्यत्वे विकारानुपपत्तिरनित्यत्वे च विनाशिलात् कः कस्य विकार इति। अनित्या वर्णा इति पक्षेऽनवस्थानं वर्णानाम्। स चोत्पत्तिनिरोधः। उत्पद्य-निरुद्धे लिकारे यकार उत्पद्यते। यकारे चोत्पद्यनिरुद्धे इकार उत्पद्यते। इति कः कस्य विकारः ? तदेतद्वगृह्य सन्धाने सन्धाय चावग्रहे इत्यमिति। नास्ति च सुवर्णस्य स्वरूपं किमपि रूपं यद्रूपं सदुत्पद्यते तदेव विकारभूतं तदेव कटकः स्यात् कटकः पुनः कुण्डलं कुण्डलं पुनः कटक इति। एवं वर्णेऽपि, स्वरूपं किमपि रूपं नास्ति यदिकारादिरूपेणोत्पद्यते स च विकारभूतस्तस्य विकारो यकारस्तस्य पुनरिकार इति समाधिः। नित्यलपन्ने च समाधिः।

ः नित्यानाम् अतीन्द्रियलात् तद्धमाविकरपाच वर्णविकाराणामप्रतिषेधः। नित्या वर्णा न विक्रियन्ते इति प्रतिषेधो युक्तः। कस्मात् १ नित्यानामतीन्द्रिय- लात् तद्धम्मीविकल्पाच, नित्यानां सञ्चपामतीन्द्रियतात्। तत्र सञ्चपां नित्यानाम् अतीन्द्रियत्वेऽपि हो धम्मो विकल्प्यते, परिणामी चैकोऽ शोऽपरिणामी चापरोऽ शस्तयोः अपरिणामी योऽ शः स मुख्यः, परिणामी तु योऽ शस्तदंशे कारणतः मञ्चक्तः सन् कार्य्य रूपेण जायते, स तस्य विकारः। अन्यथा सिन्तर्य-मद्रञ्यवत् कार्यं कारणं सामान्यविशेषविति द्रञ्यगुणकम्मेणामविशेषः कथमुप्प्यते, यिन्तर्यं तत् कथं कारणं स्यात् १ परिणाम्यंशो यदि न वर्त्तते परिणम्य हि कार्य्यमारभते। द्रञ्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वश्च कथं स्यात् १ आकाशः आकाशान्तरमारभते तथात्मात्मानं कालः कालान्तरं दिग्दिगन्तरं मनो मनो-ऽन्तरमिति। तस्माद्वं परिणामापरिणामो हो धम्मो विकल्पेते। तद्विकल्पान्न दोपः। अन्यथाविकल्पे तु दोपः स्यात्। तद् यथा। नित्यं किश्चिद्वतीन्द्रयं किश्चिद्वैन्द्रियकम्। किश्चिद्विक्रियते किश्चिन्न विक्रियते। उत्येवं विकल्पो विक्रते हेलाभासो भवति। ऐन्द्रियकं चेन्नित्यं स्याद्विकारो न स्याद् विकार-क्वेत्रित्यं न स्यादिति। तस्मान्तेवं विकल्पते।

अनित्यतपक्षे तु समाधीयते। अनवस्थायित्वे वर्णोपलव्धिवद्विकारोपपत्तिः। यथाऽनवस्थायिनां वर्णानां श्रवणं भवति, एवमेपां विकारो भवति। इत्य-सम्बन्धादसम्थी। अर्थेमतिपादिका वर्णोपल्डियः न विकारेण सम्बन्धादसम्थी, या यु समाणा वर्ण विकारसप्पादयेदिति । तत्र याद्दिगर्यं गन्धगुणा पृथिवी एवं शब्दस्पर्शादिगुणापि। तादृगेतद्भवतीति। न च वर्णोपळि व्यर्वेणंनिष्ट्रत्ती वर्णान्तरमयोगस्य निवर्त्तिका योऽयमिवर्णनिवृत्तौ यकारस्य प्रयोगः यद्ययं वर्णोपलब्द्या निवर्त्तते तदा तत्रोपलभ्यमान इवर्णो यत्नमापद्यत इति पृत्तते। तसाद्वणौपलञ्चिरहेतुर्वेण विकारस्येति । तत्राह—विकारधम्भित्वे नित्यता-भावात कालान्तरे विकारोपपत्तेश्च अप्रतिपेधः। तद्धमभेविकल्पादिति न युक्तः प्रतिपेधः। न खळु विकारधर्म्भकं किञ्चिन्नित्यमुपलभ्यते। इति वर्णोपलब्धिवत इति न युक्तः प्रतिपेधः। वर्णविघाते हि दिध अत्रेति प्रयुज्य चिरं स्थित्वा ततः संहितायां प्रयुक्ति दध्यत्रेति चिरनिष्टत्ते चायमिवणे यकारः प्रयुक्यमानः कस्य विकार इति मतीयते। कारणाभावात् कार्य्याभाव इत्यनुयोगः मसज्यते इति। इतश्र वर्णविकारान्चपपत्तिः । प्रकृत्यनियमाद्वर्णविकाराणाम् । वर्णविकाराभाव-प्रतिषेधो न युक्तः। वर्णविकाराणां प्रकृत्यनियमात्। इकारस्थाने यकारः श्रूयते यकारस्थाने चेकारो विधीयते। दृष्टो हि विकारधिर्मित्वे पकुतिनियमः। अनियमे नियमान्नानियमः। योऽयं प्रकृतेरनियम उक्तः स नियतो यथाविषयं व्यवस्थितः । नियतत्वान्त्रियम इति भवति । एवं सत्यनियमो नास्ति । यदुक्तं प्रकृत्यनियमादित्ययुक्तमिति। नियमानियमविरोधादनियमे निय-साचाप्रतिपेधः। नियम इत्यत्राभ्यनुज्ञा। अनियम इति तस्य प्रतिपेधः। अनुज्ञातनिषिद्धयोश्च व्याघातादनर्थान्तरत्वं न भवति । अनियमश्च नियतत्वात नियमो न भवतीति। यदेवं परिणागात् कार्य्यकारणभावाद्वा वर्णविकारोप-पत्तिभवित तर्हि कि स्थान्यादेशभावात् प्रयोगे विकारशब्दपयोग इति ; स च भिद्यते । गुणान्तरापत्त्युपमद्देहासदृद्धिलेशक्लेपेभ्यस्तु विकारोपपत्तेर्यणेविकारः । गुणान्तरापत्तिरुदात्तस्यानुदात्त इत्येवमादिः, उपमद्दी नाम एकरूपनिष्टत्तौ रूपान्तरोत्पत्तिः, हासो दीर्घस्य हस्तः, दृद्धिईस्तस्य दीर्घः, गुणदृद्धिप्छ्ता वा तयोः, छेशो लाघवम्, अस्तेः स्त इति, इलेप आगमः प्रकृतेः प्रत्ययस्य वा। एत एव विशेषा विकाराः, एत एवादेशा इति। एते चेद्विकारा उपपचन्ते तहिं वर्णविकारा इति। ते विभक्तयन्ताः पदम्। यथादर्जनं विकृता वर्णा विभक्तयन्ताः पदसंज्ञा भवन्ति। विभक्तिद्वेयी सुप्च तिङ्च। सुप्नामिकी तिङाख्यातिकी। उपसर्गेनिपाताव्ययास्तर्हि न पद्संबाः स्युः ? नैवम्, अन्ययाङ्घोप इति शिष्यते। पदसंज्ञाप्रयोजनं पदेनार्थसम्प्रत्ययः। नतु धातुनाम्नां प्रत्यययोगेन पदं भवति तेन एकेन पदेन कथमर्थसम्बत्ययो भवति, धातुनामप्रत्ययेभ्य एवार्थसम्ब्रत्ययो यथा पचतीति पदम्। तत्र डु पच प् पाके लः कर्त्तरीति। वर्त्तमाने लिइति लटस्तिष्। नाम्नि प्रथमो युष्मदि मध्यमोऽम्मदुत्रत्तम इति, एकस्मिन् एकवचनमिति नाम्न्येकस्मिन्नेकवचनं तिए। तथा च एकाश्रयो वर्त्तमानः पाक इति पचतीति पदार्थों न भवति, पचेः पाकार्थस्तिप् एकार्थों नाम योगी धातुयोगी तु वत्तमानोऽथेः इति । वर्ण एवार्थस्फोट इति चेन्न । न ह्यन्तरेण पदावयवभावं प्रकृतिप्रत्ययौ मिथोऽन्वयमापदेशते न चानापन्नान्वयौ स्वस्वार्थं सम्प्रत्याययतः । सर्वादेशाश्च वस्मसादयो न पकृतिप्रत्ययविभागनिदेशाः सन्ति। तस्मात् पदमेवार्थस्फोट इति । नैवं ; पद्मपि नान्तरेण वाक्यावयवभावं सम्पूर्णार्थ प्रत्याययति नान्तरेण च पदान्तरार्थसान्निध्यं सम्पूर्णार्थप्रत्यायने मिथो-न च पचतेऽयं ब्रूतेऽसावित्यादिषु यमिति साविति च पद्म् । तत्र इद्मद्सोरर्थसम्प्रत्ययेनान्तरेण विहितसंहिताप्रतिसन्धानं पद्ज्ञानं भवति, न च वाक्यज्ञानमन्तरेण तथाविधपद्ज्ञानं भवतीति वाक्यमेवार्थ-स्फोटः। तद्धि परस्परमन्वितानां स्वावयवभूतानां पदानामर्थसमुदायं स्फोटयति वर्णानामानुषुच्या वावयस्य श्रवणेन तद्वयवस्मृत्या तत्तद्वयवार्थवोधात् ततः

पदानां सव्वपामथान्वयं योग्यतयावधारयें सव्वार्थानामेकपिण्डेन वोधो वाक्याद् भवति । तत्रान्वयो द्विविधः । भयोक्तरन्विताथपद्भयोगे कर्त्तन्ये-ऽन्वितार्थाभिधानं पदानां वाक्यार्थेवोद्धः पदाभिहितार्थान्वय इति । वाक्यश्च उक्तम्, संक्षपाद् वाक्यमिष्टार्थ-व्यविक्विना पदावलीति । इष्टो हार्थः स भवति नानार्थीनां योऽयों विवक्षितो यावद्भिः पदानामर्थेश्च समाप्यतेऽभीष्टार्थ-**धापनं तदिष्टायन व्यवच्छियते भियते या पदानामाविलः स इष्टार्थव्यवच्छिना** पदावलिर्वाक्यं सङ्घेपात् सामान्याद्भवति । तस्य वाक्यस्य तद्वाक्यावयवानां पदानां तत्तत्पदावयवानाश्च धातुपातिपदिकपत्ययानामर्थाभिधाने सामर्थ्य-मक्तमंत्रिपुराणेऽलङ्कारमकरणेऽमिना विशाष्टाय। तद् यथा-शब्दार्थोभयाल-द्धारेषु पशस्तकान्त्यौचित्यसंक्षेपयावद्र्थताभिव्यक्तिभेदेन पद्विधेषु मध्ये-ऽभिव्यक्तिर्नाम योऽलङ्कारस्त्रह्रक्षणमुक्तम् । प्रकटलमभिन्यक्तिः श्रुतिराक्षेप इत्यपि। तस्या भेदौ श्रतिस्तत्र जान्दं स्वार्थसमर्पणम्। पारि-भाषिकी द्विविधैव सा। निमित्तं त्रिविधं तत्र स्यात तु जातिगुणः क्रिया। सङ्कोतः परिभापेति ततः स्यात् पारिभापिकी। मुख्यौपचारिकी चैति सा च सा च द्विधा द्विधा । स्वाभिधेयस्खलदृष्टित्तरमुख्यार्थस्य वाचकः । यया शब्दो निमित्तेन केनचित सौपचारिकी। सा च लाक्षणिकी गौणी लक्षणागुणयोगतः। अभिधेयाविनाभृत-प्रतीतिलक्षणोच्यते। सम्बन्धात सामीप्यात समनायतः। वैपरीत्यात् क्रियायोगालक्षणा पश्चधा मता। गौणी गुणानामानन्त्याद्नन्ता तद्विवक्षया। अन्यधम्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना। सम्यगाधीयते यत्र स समाधिरिह स्मृतः। रलभ्यमानोऽथौ यस्माद्धाति सचेतनः। स आक्षेपो ध्वनिः स्याच ध्वनिना व्यज्यते यतः। शब्देनार्थेन यत्रार्थः कृला स्वयमुपार्जनम्। प्रतिपेध इवेष्टस्य यो विशेपोऽभिधित्सया। तमाक्षपं व्यवन्त्यत्र स्तुतं स्तोत्रमिदं पुनः। 🕽 अधिकाराद्पेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः। यत्रोक्तं गम्यते नार्थस्तत्-समानविशेपणम् । सा समासोक्तिरुदिता सङ्घोपार्थतया बुधैः । अपह तिरपह त्य किञ्चिद्दन्यार्थस्चनम्। पर्यायोक्तं यद्द्येन प्रकारेणाभिधीयते। एपामेकत्र संबा च समाख्या ध्वनिरित्यतः। इति। व्याख्यातञ्चेतत् सर्व्वं तिस्र पणीये सङ्ख पेण पुनरिह विस्तरेण व्याख्यायते।

तद् यथा-अकटलमभिन्यक्तिः श्रुतिराक्षप इत्याप। तस्या भदो श्रुतिस्तत्र शान्दं स्वाथसमपेणमिति। अकटत्वं स्फुटलमर्थस्य प्रन्यक्तीकरणसामध्यमभि-

व्यक्तिरुच्यते। तस्या अभिव्यक्तेः द्दौ भेदौ श्रुतिराक्षेप इत्यपि। तत्र तयोर्मध्ये श्रुतिन्भाभिव्यक्तिः शाब्दं शब्दकृतं स्वस्यार्थस्य समर्पणमुच्यते । शब्देन योऽर्थः समर्प्यते तदर्थसमर्पणं अतिनीमाभिव्यक्तिरुच्यते। तत्-श्रुतिग्रहस्त व्याकरणा-दिभ्यः स्यात्। तदुक्तम्। शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोपाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च। वाक्यस्य शेषाट् विष्टतेर्वेदन्ति सान्धिध्यतः सिद्धपदस्य ष्टद्धाः। इति। तत्र नानाश्रुतीनामर्थभेदग्रहणमर्थादिभ्यो भवति । तदुक्तम् । अर्थात् प्रकरणाहिङ्गात् औचित्याद् देशकालतः। शब्दार्थास्तु विभिद्यन्ते न रूपादेव केवलमिति। शब्दानां शक्तिव्यक्तिरणाद् गृह्यते। इ पच प्पाके। पचेः पाके श्रुतिः। लः करमीण च भावे चाकम्भकेभ्य इत्यादिना तिङां कत्तीर कर्माण भावे च श्रुविः तद्विशेषग्रहणं शप्रयनादि-यगादिभ्यः स्यादिति ।०। जपमानात् । गौरिव गवय इति गोसाद्याद् गवयज्ञानम् । । कोपात् । अस्त्री पद्धं पुमान् पाप्मा पापं किल्विपकलमपमित्यादि । । आप्तवावयादाप्तवचनात् । लोके यथायं घटोऽयं पट इत्येवमादिः ।०। व्यवहारतस्तु । यवशब्देन याज्ञिका याज्ञिकदेशे शुक-धान्यविशेषं व्यवहरन्ति। म्हेच्छाः कङ्ग्म्।०। वाक्यशेषात्। पदिमिति वाक्ये विभक्तिशब्दस्य सुप्तिङ्विभक्तिरिति शेषवचनात् । विद्यते-र्यथा। इहन श्रुतिस्तत्र शान्दं स्वार्थसमर्पणमिति, तस्मान्नेह श्रुतिर्चेदः।। सिद्ध-पदसानिध्यात्। रामलक्ष्मणौ पदयेति लक्ष्मणसानिध्यान् दाशरथौ रामशन्द-ग्रहः। रामकृष्णौ पश्येति कृष्णपदसान्निध्याद् वासुदेवे रामशब्दग्रहः। इति। तथा शब्दार्थसंशये विशेषो यृह्यतेऽर्थात् । । द्रव्याणां शक्तिरित्यत्रार्थात् सामध्यै न तु शक्तिर्देवता। । प्रकरणात्। रामायणे रामशब्दो दाशरथौ। । लिङ्गात्। मित्रं नास्ति ममात्र तु । इह क्षीवाद् वान्धवे, मित्रो भातीति पुं लिङ्गात् सुर्घे ।०। औचित्यात् । कृष्णो नमति देवकीमित्यत्र वासुदेवे कृष्णशब्दो न पाराशर्घ्ये ।०। देशाद् यथा। गर्चे रौति हरिरिति भेके हरिशब्दः । । कालतः। वर्षासु रौति हरिः इति भेके हरिशब्दग्रहः। इति।

तां श्रुतिं विभजते-भवेन्नैमित्तिकी पारि-भाषिकी द्विविधैव सा। इति। निमित्तेन विशिष्टे अतिर्निमित्तिकी, परिभाषया अतिः पारिभाषिकी, इति द्विधा श्रुतिः। तत्र निमित्तमाह—निमित्तं त्रिविधं तत्र स्यात् तु जातिगुणः क्रियेति। जातिः गुणश्च क्रिया चेति त्रिविधं शब्दार्भश्रुतौ निमित्तम्। प्राक्सर्गे यस्य वस्तुनो यन्नाम परमेश्वरेण बुद्धिशक्तयाध्यवस्य यहुच्छ्या शक्तया नियमितम्, -तत्र तत्र वस्तुनि तस्य तस्य शब्दस्य पृष्टतिनिमित्तं प्रसिद्धमिति। तच कस्यचित

शब्दस्य जातौ कस्यचिद् गुणे कस्यचित् कियायां मिसद्भग्रत्ते जातिशब्दो गौरि-त्यादिः, गुणशब्दो नील इत्यादिः, कियाशब्दश्रल इत्यादिः। पारिभापिकी-माह—सङ्केतः परिभापिति ततः स्यात् पारिभापिकी। नामकृद्धिः कृतः सङ्केतः परिभापा। इत्यतः परिभाषया शब्दस्य मद्यत्तिः पारिभापिकी नाम श्रुतिः। यथा शिवदुर्गोहरिमश्रुतिषु शिवादयः शब्दाः यद्दन्छ।सङ्कोताद् याद्दन्छिका इति।

पातज्ञलभाण्ये चोक्तम्। जातिशन्दो गुणशन्दः क्रियाशन्दो यहन्छा-शन्दश्चतुर्थः। गौः शुक्तश्रलो डित्थ इति शन्दानां चतुष्ट्यो प्रष्टिति। सङ्केतस्तु द्विविधः—पाक् पसिद्धः शायादिः। ते द्वे विभजते। मुख्यौपचारिकी चेति सा च सा च द्विधा द्विधा। इति। मुख्या चौपचारिकी चेति सा श्रुतिः पुनद्विधा। सा च नैमित्तिकी सा च पारिभापिकी द्विधा द्विधा भवति। मुख्या चौप-चारिकी चेति। मुख्या नैमित्तिकी औपचारिकी नैमित्तिकी, मुख्या पारि-भापिकी औपचारिकी च पारिभापिकीति। मुख्या पसिद्धा, यस्य योऽर्थः तस्यैवाभिधोच्यते। इति। लोके वदे च यस्य योऽर्थस्तस्य तस्मिन्नर्थेऽभिधा-नाम श्रुतिर्म्व ख्या पसिद्धा। यथा गाः शुक्तश्रल इत्यादिः। नैमित्तिकी। शिक्दुर्गोदः पारिभापिकी च इति मुख्या।

अयोपचारिकीं लक्षयित। स्वाभिश्येषस्तल्य् हित्तरमुख्यार्थस्य वाचकः।
यया शन्दो निभित्तेन केनचित् सौपचारिकीति। शन्दः केनचिन्निमित्तेन
स्वाभिश्यादर्थात् स्तल्यन्ती हित्तर्यस्य स स्वाभिश्येषस्त्ल्य् हृत्तिः सन्
अम्रुख्यार्थस्य वाचको यया श्रुत्या स्यात् सा श्रुतिः औपचारिकी
नैभित्तिकी पारिभापिकी च। नैभित्तिकी यथा। नदीपु वसतां श्रेष्ठो
गङ्गावासी नरः स्मृतः। गङ्गावासीति गङ्गासमीपे वासी लक्षणात्र पारिभापिकी। गौमिहिपीति गौणी नैमित्तिकी, यमुना गङ्गा गङ्गेवेति
पारिभापिकी गौणीति द्विधा औपचारिकी। औपचारिकीं विभजते। सा च
लाक्षणिकी गौणी लक्षणागुणयोगतः। इति। सा नैमित्तिकी पारिभापिकी
चौपचारिकी द्विधा, लाक्षणिकी च गौणी च। तत्र लाक्षणिकी लक्षणायोगतः, गौणी गुणयोगतः स्यात्। तत्र लक्षणां लक्षयित। अभिध्याविनाभूत-प्रतीतिल्लेक्षणोच्यते। अभिध्योऽभिध्या योऽर्थः शल्देनाभिधीयते तस्याभिध्यस्यार्थस्याविनाभूतस्तदर्थस्यापरित्यागेनामुख्यो योऽर्थस्तस्य प्रतीतिर्यया
स्यात् सा लक्षणोच्यते इति। तत्राभिध्यार्थाविनाभावो यथा स्यात् तद्वचनेन

लक्षणां विभजते। अभिधेयेन सम्बन्धात् सातीप्यात् समवायतः। वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्कषणा पश्चधा मता। इति। अभिधेयेन सम्बन्धादेका लक्षणा—कुन्ताः मिवशन्ति, पुण्यतम् आयुर्न्वदः। अभिधेयेन सामीप्याद् द्वितीया लक्षणा—नद्यां ग्रामः, गङ्गायां घोपः। समवायतस्तृतीया—इमाः क्षत्रियजातयो द्यपलत्वं गताः। इति। क्षत्रियजातिशव्दस्य तज्जातियद्वप्रक्तिपु लक्षणा। तच्छ्वेतः शङ्घ इति वैपरीत्यात्। असमवायतः यथा—मधुरो सुरुः स्निग्धः शीतश्च। मधुरे स्निग्धः शीतश्च। मधुरे स्निग्धः शीतश्च। मधुरे स्निग्धः त्रीतश्च। मधुरे स्निग्धः त्रीतश्च। कक्षणा। अम्लो रुचिकृत्, रुचिजननिक्रयायोगादम्लग्बद्धान्यल्याक्ष्याम्लद्भव्ये लक्षणा। अम्लो रुचिकृत्, रुचिजननिक्रयायोगादम्लगब्दस्याम्लद्भव्ये लक्षणा। समवायस्य सम्बन्धस्यत्वे-ऽपि पृथग्वचनं तद्दे परीत्यालक्षणाकरणार्थे सम्बन्धसामन्यवैपरीत्यालक्षणा-प्रतिपेधार्थक्चेति। तेनाभिधेयार्थसम्बन्धादेव ये लक्षणां वद्नित तिवरस्तम्।

लक्षणां विभव्य गौणीं विभजते। गौणी गुणानामानन्त्यादनन्ता तद्विव-गौणी नामौपचारिकी नैमित्तिकपारिभापिकार्थाविनाभूतार्थ-प्रतीतिहेतुरनन्ता गुणानामानन्त्यात्। तत्तद्गुणचिवक्षया तत्तद्गौणी नामौपचारिकी। यथाशिर्माणवक इत्यमिवज्ज्योतिष्मत्त्वाद्मिः सिंह इति सिंहबद्दिक्रमगुणवत्त्वात् सिंहः, पुरुपोऽयं गद्दंभ इति गद्दंभ-वदलपगुद्धादिगुणयोगाद् गर्दभ इत्येवमादिः। अस्य संगान्तरमाह-अन्यधम्मी-स्ततोऽन्यत्र लोके साम्यानुरोधिना। सम्यगाधीयते यत्र सं समाधिरिति स्मृतः। इति। अन्यस्यैकस्य ध्रम्भे यत् ततोऽन्यत्र यत्र लोके साम्यानु-रोधिना पुंसा सम्यगाधीयते स समाधिरुच्यते। अग्निर्माणवक इत्यग्निगुण-समाधानान्माणवकः समाधिरिति। अथात्र जिज्ञास्यम्। - जातिनिमित्तेन यया श्रुत्यार्थे जञ्दः प्रवर्त्ततं सा श्रुतिर्निमित्तिकीति, यथा गौरिति यदुक्तं तत्र कः पुनगौपदार्थः ? किं गोलं गवाकृतिर्वा गोव्यक्तिर्वति संशयान आह— यत् तद् गौतमेनोक्तम् । तदर्थे व्यक्तयाकृतिजातिसन्निधावपचारात् संशय इति । व्याख्यातं वात्स्यायनेन ।—अविनाभावष्टत्तिः सन्निधिः। वर्त्तमानासु व्यक्तयाकृतिजातिषु गौरिति प्रयुज्यते। तत्र न ज्ञायतेऽन्यतमः पदार्थः किस्, उत सन्व इति । शन्दस्य प्रयोगसामथ्यति पदार्थावधारणम् । तस्मात्—या-शब्दसमूहत्यागपरिग्रह-सङ्घारुद्धप्रपचयापचयवर्णसमासानुवन्धानां व्यक्तावुपचाराद् व्यक्तिः। व्यक्तिः पदार्थः। कस्मात् ? याशब्दशभृतीनां व्यक्तावुपचारात् उपचारतः मयोगः। या गौस्तिष्ठति या गौर्निपण्णेति।

नेदं वाक्यं जातेरिभधायकम् अभेदाद्, भेदात् तु द्रव्याभिधायकम् । गवां समृह् इति भेदाद् द्रव्याभिधायकम् । न जातेरभेदात् । गोलजातिर्द्धं नानेका—वैद्याय गां ददातीति द्रव्यस्य त्यागो न जातेरमृत्तंतात् प्रतिक्रमानुक्रमानुपपत्तेश्च । दाने ग्रहीतुर्यः क्रमः स प्रतिक्रमः, दातुर्यो दानेतिकत्तंव्यताक्रमः सोऽनुक्रमः । परिग्रहः स्वत्वेनाभिसम्बन्धः । कौण्डिन्यस्य गोर्बाह्मणस्य गौरिति । द्रव्याभिधाने द्रव्यभेदात् सम्बन्धभेदः । कौण्डिन्यस्य या गौर्वाह्मणस्यान्यस्यापरा गौनं सा गौरिति परिग्रहे भवत्युपपत्रः । जातिस्तिभन्ना । या कौण्डिन्यस्य गौः सान्यस्य वाह्मणस्य गौरिति । सङ्गा दश गावो विश्वतिर्णाव इति भिन्नं द्रव्यं सङ्गायते न जातिरभेदादिति । द्रद्धः कारणतो द्रव्यस्योपचयः । अवर्द्धत गौरिति । निरवयवा तु जातिर्न वर्द्धते । एतेनापचयो व्याख्यातः । वर्णः शुक्ता गौः किपला गौरिति, द्रव्यस्य गुणयोगो न सामान्यस्य जातेः । समासः गौहितं गोमुखिमिति द्रव्यस्य हित्तमुखादियोगो न जातेरिति । अनुवन्धः सरूपप्रजननसन्तानः । गौर्गां जनयतीति तदुत्पत्तिधम्भैताद् द्रव्ये युक्तं न जातौ विपर्ययादिति ।

द्रव्यं व्यक्तिरिति हानर्थान्तरम् । अस्य प्रतिषेधः । न तद्नवस्थानात् । न व्यक्तिः पदार्थः। कंस्मात् ? अनवस्थानात् । याशव्दमभृतिभिर्यो विशिष्यते स गोपदार्थः। या गौस्तिष्ठति या निपण्णेति न द्रव्यमात्रमविशिष्टं जात्या विनाऽभिधीयते। किं तर्हि ? जातिविशिष्टं, तस्मान व्यक्तिः पदार्थः। एवं समृहादिषु द्रष्ट्रच्यम् । । यदि न न्यक्तिः पदार्थः, कथं तहि न्यक्ताबुपचारः इति । निमित्तादतद्भावे तदुपचारो दश्यते खलु । सहचरणस्थानताद्रथ्य-ब्राह्मणपुरुपवीरणराजसक्तु-**ट्टत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो** चन्द्नदेशशाटकान्नपुरुपेष्त्रतद्भावेऽपि तदुपचारः। अतद्भावेऽपि तदुपचार इति, अतन्छन्दस्य तेन शन्देनाभिधानमिति। सहचरणात्। यष्टिकां भोजयेति यष्टिकासहचरितो ब्राह्मणोऽभिधीयते। स्थानात्। मश्चाः क्रोशन्तीति मश्चस्थाः पुरुषा अभिधीयन्ते। ताद्रथीत्। कटार्थं व्यूह्यमानेषु वीरणेषु कटं करोतीति। ष्टतात्। यमो राजा कुवेरो राजेति तद्वद् वर्त्तते इति राजशब्दे राजबद्द्यत्तोऽभिधीयते। मानात्। आद्केन इत्यादकसक्तवः । धारणात् । तुलया धृतं चन्दनं तुलाचन्दनमिति । सामीप्यात् । गङ्गायां गावश्चरन्तीति देशोऽभिधीयते सन्निकृष्ट इति। योगात्। कृष्णेन रागेण युक्तः शाटकः कृष्ण इति । साधनात् । अन्नं प्राणा इति । आधिपत्यात् ।

अयं पुरुषः कुलम्, अयं गोत्रमिति। इत्येवं व्यक्तौ 'तृपचारदर्शनाट् व्यक्तिः पदार्थः।

तत्राह वादी-तत्रायं सहचरणाद् योगाद् वा जातिशन्दो व्यक्ता-बुपचारात् प्रयुक्यते इति। तत्र चोत्तरमाह—यदि गौरित्यस्यार्थौ न व्यक्तिरस्तु तहि — आकृतिस्तद्पेक्षसात् सत्त्वव्यवस्थानसिद्धेः । यदि व्यक्ति-नोंस्तु पदार्थस्तिर्धि चाक्नितः पदार्थः। कस्मात् ? तदपेक्षलात् सच्वन्यवस्थान-सिद्धेः। सत्त्वावयवानां हस्तादीनां तदवयवानाश्च नियतो व्यूह आकृतिः। तस्यां गृह्यमाणायां सत्त्वस्य द्रव्यस्य व्यवस्थानं सिध्यति। इयं गौरयमन्व नागृह्यमाणायाम्। यस्य ग्रहणात् सत्त्वच्यवस्थानं सिधाति तं शब्दोऽभिधातुमहिति, सोऽस्यार्थः। नैतदुपपद्यते। यस्य जात्या योगस्तद्त्रः जातिविशिष्टमभिधीयते गौरिति। न चावयवन्यहस्य जात्या योगः। कस्य तर्हि जात्या योगः ? नियतावयवस्य व्यूहस्य द्रव्यस्य जात्या योगः। तस्मान्नाकृतिः पदार्थः। अस्तु तहिं जातिः पदार्थः। तत्राह—व्यक्तयाकृति-युक्ते मृद्भवकेऽपि जातिरस्ति सा किं तर्हि गोपदार्थ इति ? तत्राह । व्यक्तपाकृति-युक्तेऽप्यमसङ्गात् मोक्षणादीनां मृह्रवकेऽजातेः। जातिः पदार्थः। कस्मात् ? व्यक्तयाकृतियुक्तेऽपि मृह्रवके मोक्षणादीनाममसङ्गादिति । गां मोक्षय गामानय गां देहीत्येतानि न मृद्रवके प्रयुज्यन्ते। कस्मात्? अजातेरिति जातेः अभावात्। अस्ति हि तत्र व्यक्तिरस्त्याकृतियेदभावात् तत्रासम्प्रत्ययः स पदार्थस्तस्माज्जातिः पदार्थे इति। तत्राह—नाकृतिन्यत्तयपेक्षलाज्जात्यिभ-व्यक्तेः। न जातिः पदार्थः। जातेर्ह्यभिव्यक्तिराकृतिव्यक्ती अपेक्षते। नायृह्यमाणायामाकृतौ व्यक्तौ च शुद्धं जातिमात्रं यहाते। आकृतिग्रहणा हि जातिस्तस्मान जातिः पदार्थे इति । न वै चेदासु पदार्थेन भवितुं शक्यम् इति कस्तहीँदानीं पदार्थ इत्यत आह—व्यक्ताकृतिजातयस्तु पदार्थः। तु-श्रव्दो विशेषणार्थः। किं विशिष्यते ? प्रधानाङ्गभावस्यानियमेन पदार्थेलम् इति । यदा हि भेदविवक्षा विशेषगतिश्च तदा प्रधानं व्यक्तिः, अङ्गनतु जात्या-कृती। यदा तु न भेदो विवक्षितः सामान्यगतिश्च तदा जातिः प्रधानमङ्गनतु व्यक्तयाकृती स्वीकृते। तदेतव्वहुलं प्रयोगेषु। आकृतेस्तु प्रधानभाव उत्-मेक्षितच्य इति। यथा सरूपाणामेकशेषे गावौ गाव इत्यादौ द्रव्यं प्रधानमङ्गं जात्याकृती। जातिवचनात् स्त्रियां ङीप् व्राह्मणी महिषीत्येवमादिः सामान्य-गतेर्भेदाविवक्षया जातिः प्रधानमङ्गनतु व्यत्तयाकृती । जात्याख्यायामेकस्मिन्

वहुवचनमन्यतस्यामिति सम्पन्ना यवाः सम्पन्नो यव इत्याकृतिर्जात्याख्य मधानं जातिव्यक्ती तु अङ्गमिति। अथ कथं विद्यायते नानाव्यक्तयाकृति जातय इति ? लक्षणभेदात्। तत्र तावत्। व्यक्तिग्रेणविशेपाश्रयो मूक्तिः व्यक्यत इति व्यक्तिः इन्द्रियग्राह्या, इति न सर्व्व द्रव्यं व्यक्तिम् र्च्यभावात् यो ग्रुणविशेपाणां गन्धरसरूपस्पश्रेशव्दानां गुरुखलघुखादीनामव्यापिनश्र्ष परिमाणस्याश्रयो यथासम्भवं तद् द्रव्यम् मूक्तिः मूर्च्छितावयवदात्। एतेन द्रव्यग्रणकम्मेणां लिङ्गस्य च संग्रहः कृतः। तत्र कचिद् द्रव्यं प्रधानम्, यथ डित्यो देवद्ताः शिवो दुर्गत्यादिः। कचिद् गुणः प्रधानम्। उतो गुणवचनात स्त्रयां ङीप्। पट्टी पट्टः, मृदी मृदुः, गुव्वी गुरुः, लद्वी लघुरिति। कचित् कम्मे प्रधानम्, करिष्टः प्रमान्। कचित् लिङ्गं प्रधानम्, कोरकः प्रमान्। स्त्रियामण्सरसः। अस्ती पङ्गमित्यवमादिः। कचित् परिमाणं प्रधानम् ; द्रोणः पयसः, आदृको ब्रोहेरित्यादिः। कचित् परिमाणं प्रधानम् ; द्रोणः पयसः, आदृको ब्रोहेरित्यादिः। कचित् सङ्गा प्रधानम् ; द्रो ब्राह्मणो, ब्राह्मणानां पञ्च। कचित् कर्जादिकारकं प्रधानम् ; गां नयति गोपः, गौर्गच्छतोत्येवमादिः। कचित् शव्दस्य स्वरूपमि पदार्थः। सान्तमहतोदींघी न्नि, महानित्येवमादिः।

अथाकृतिलक्षणमाह—आंकृतिर्जातिलिङ्गाख्या। जातिलिङ्गे आख्यायेते यया सा जातिलिङ्गाख्या। यया जातिश्च जातिलिङ्गानि च प्रख्यायन्ते तामाकृतिं विद्यात्। सा च नानासत्त्वानां तद्वययानाश्च नियताद् व्यूहादिति। नियतावयवव्यूहाः खल्ल सत्त्वावयवा जातिलिङ्गम्। शिरसापदेन गामनुमिन्वन्ति, नियते च सत्त्वावयवानां व्यूहे सित गोलं प्रख्यायते इति। अनाकृतिव्यङ्गप्रायां जातौ मृत् सुवणं रजतिनत्येवमादिष्वाकृतिर्निवत्तते। जहाति पदार्थत्वमिति। समानप्रसवात्मिका जातिः। या समानां चुद्धं जनयति भिन्नेष्वधिकरणेषु, यया वहूनीतरेतरतो न व्यावत्तन्ते, योऽथोऽनेकार्थप्रत्ययानुदृत्तिनिमत्तं तत् सामान्यम् ; यच्च केपाश्चिद् भेदं करोति तत् सामान्यविशेषो जातिरिति।

अथ श्रुतिमभिन्यक्तिं निरूप्याक्षयो नामाभिन्यक्तिर्निरूप्यते। श्रुतेरलभ्य-मानोऽथौ यस्माद् भाति स चेतरः। य आक्षेपो ध्वनिः स्याच ध्वनिना न्यज्यते यतः। इति। श्रुतिर्निरुक्ता या मुख्या नैमिक्ति मुख्या पारिभापिकी, औप-चारिकी नैमिक्तिकी औपचारिकी पारिभापिकी, लाक्षणिकी गौणी च तैमि-क्तिकी लाक्षणिकी गौणी च पारिभापिकी; ततः श्रुतितोऽभिन्यक्तितो न लभ्यते योऽर्थः स श्रुतेरलभ्यमानोऽर्थो यस्माद् भाति प्रकाशते स तदर्थमकाश-हेतः श्रुतेरितर आक्षेपो नामाभिन्यक्तिभैवति। सा न्यञ्जना नाम प्रक्तिः, स

चाक्षेपो ध्वनिश्च उच्यते। कस्मात् ? यतो ध्वनिना वर्णात्मकेन क्रव्हेनाभि-च्यज्यते ध्वनिच्यङ्गालाद् ध्वनिः। तया च्यञ्जनया योऽथोऽभिच्यज्यते स च्यङ्ग्रार्थः चोत्योऽर्थ एव भवति। ननु श्रृयते हि भू सत्तायामित्यादिरर्थो मुख्यया श्रुत्या धातृनाम्, कत्तीरि कम्मणि भावे च छः श्रूयते, वर्त्तमानादिषु लड़ाद्यः श्रयन्ते, तिवादीनि त्रीणि त्रीणि चैकादिपु श्रूयन्ते, तत्र मथममध्यमोत्त-मानि त्रीणि त्रीणि नामयुष्मद्स्मद्न्त्रयीनि। तथा च पचति गच्छतीत्युक्ते, एकः कर्त्ता वर्त्तमानः पाकः, एकः कर्त्ता वर्त्तमानं गमनमिति श्रतितो लभ्यते। कत्तों क्रियाश्रयः। एकाश्रयेण सह वर्त्तमानपाकस्याभेदः किमाक्षेपेण व्यज्यते ? नैवं ; स हि पदस्यार्थः श्रृतितो लभ्यते । देवदत्तः पचतीति देवदत्तो नाम पुरुपः श्रुत्या लभ्यते पारिभापिक्या, सु-विभक्तया तिङ्थेकसङ्घान्वयो वोध्यते। तत्रैकसङ्काकदेवदत्तपाकाश्रययोरभेदः कस्यार्थः ? एकदेवदत्ताभिनाश्रय इति वोधात्। सोऽभेदोऽथः किमाक्षेपेण लभ्यते इति ? नैवं; स हि पद्स्यार्थः। कथं तिह्ङानम् ? उच्यते। अर्थवद्धातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकमित्यनेन ज्ञापितम्। धातुरर्थवान् प्रत्ययश्चार्थवान् पातिपदिकञ्चार्थवदिति। तर्हि विभक्तयन्तं पदं नार्थवत् ? नैवम्, उक्तं हि। पत्ययः। पर इत्यनेन प्रकृत्युत्तरमन्तरेण मत्ययस्यासम्भवात्। प्रत्ययान्तावयवभूतः प्रत्ययोऽर्थवानिति ख्यापितः । तथापि नाथेवत पदं शापितं भवति ? नैवं, प्रकृतेः परो यः प्रत्ययो विहितः स न निरन्वयेन विहितः प्रकृत्यर्थान्वयेनैव हि विहितस्ततो यः प्रत्ययार्थी येन सम्बन्धेनान्वयी भवितुमर्हति तत्सम्बन्धेनान्वयितया स प्रत्ययस्तस्याः प्रकृतेः परो विहित इति मकुत्यर्थमत्ययाथी परस्परान्वितौ मकुतिमत्ययौ ब्रतः। तत्र प्रत्ययान्तेषु सुवन्तं तिङन्तश्च प्रत्ययान्तं पद्म् अप्रत्यय इति विशेषणेनं व्याष्ट्रत्तमातिपदिकसंबं भवतु। तत् मकृतिमत्ययार्थयोः सम्बन्धश्च पद-स्यार्थौ भवतु । कृत्तिद्धितसमासानां यः प्रकृतिपत्ययार्थयोः सम्बन्धः स कस्यार्थः पदलाभावात्र पदस्यार्थौ न वा प्रातिपदिकार्थौ न धालर्थौ न प्रत्ययार्थ इति ; उच्यते, स भातिपदिकार्थः। कथं विशायते ? कुत्तिद्धितसमासक्चेति मातिपदिक्सं काविधानेन विकायते । मत्ययान्तावयवमत्ययवर्जनात् । कुत्ति द्वित-समासानां पातिपदिकलपतिषेषे प्राप्ते पुनः समुदायैकार्थवत्त्वात् समुदायस्य प्रातिपदिकसंबाविधानात्। अन्यथा नीलोत्पलादीनामसमासान्तप्रत्ययानां प्रातिपदिकसंबायां पृथग्यहणानथंक्थात् समासावयवभूतानां पदानामथेवरद्न समुदायस्य धातुप्रत्ययवञ्जीलादर्थवत्त्वाभावाच प्रातिपदिकसंबापाप्तिर्न स्यात्

तस्मात् समासग्रहणं कृतमाचाय्यण सूत्रे । नन्वेत्रं चेत् तर्हि काप्तैः स्थाल्यां तण्डूलान् देवदत्तः पचतीत्यादिषु काष्टाभिन्नकरणं स्थाल्यभिनाधिकरणं तण्डुलाभिन्नं कम्मे देवदत्ताभिन्नाश्रयः वर्त्तमानाभिन्नपाक इत्येवं वोधो भवति न च परस्परमन्वय एपां श्रुतितो छभ्यते, तत्र तत्र यो यः सम्बन्धः स स किमाक्षेपेण व्यज्यते। भवत्याक्षिप्योऽर्थ इति चेन्न। स हि वाक्यार्थः। कथं विकायते ? उच्यते । कारके इति सूत्रेण ज्ञापितम् । कथं क्ञापितम् ? उच्यते, महाभाष्ये तत् सूत्रं व्याख्यातम्। करोतीति कारकं, तच क्रियासाधकं क्रियैव। द्विभा हि धातर्थः, फलश्च तत्साधको न्यापारञ्चेति। धातर्थ-व्यापारः कारकं, स च व्यापारः पड्विधः। पड्विधव्यापाराश्रयाः पट् च कारकाणि भवन्ति, एतद्भिपायेण महाभाष्ये प्रोक्तम्। अथवा कारक इति याबद्दक्ष्यति तावत् क्रियायामिति । ततो ध्रुवमपायेऽपादानमित्यादिषु वस्य-माणेषु कारकेऽपाये यर्धुवं तद्पादानं नाम कारकित्येवं व्याख्यानं, तेन क्रियात्मकेषु पड़ विधेषु व्यापारेषु यथायथमन्वये पट् कारकाणि विहितानि अपादानादीनि । तस्मात् स्वस्वन्यापारे कारकाणामन्वयो येन येन सम्बन्धेन भवति स स सम्बन्धो वाक्यार्थः श्रुत्यैव मुख्ययाऽभिव्यक्तया भवतीति। नाक्षेपेण स सोऽथौ व्यव्यते। तर्हि श्रुतेरलभ्यमानः कोऽथे आक्षेपात् मकागत इति। उच्यते, स चाक्षेपः स्तुतं स्तोत्रं समासोक्तिरपह तिः। पर्य्यायोक्तं समाख्या च पड़ ्विधो शापितोऽग्निना। तृद् यथा—शब्देनार्थन यत्रार्थ कुला स्वयमुपार्जनम्। प्रतिपेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया। तमाक्षेपं ब्रुवन्त्यत्र स्तुतं स्तोत्रमिदं पुनः। अधिकाराद्पतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिरिति । यत्राक्षेपे शब्देन स्वयं मुख्ययाभिष्यया श्रुत्यार्थेन द्वाराऽर्थमुपाञ्जेनं कुला खल्विष्टुस्याभिमतस्यार्थस्य विशेषमभिधातु वक्तुमिच्छया प्रतिषेध इव क्रियते, तमाक्षेपमत्र स्तुतं ब्रुवन्ति । यथा-निःशेपच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्म्छिष्टरागोऽधरो नेत्रे दूरमनञ्जने पुलिकता तन्त्री तवेयं तनुः। मिथ्यावादिनि दृति वान्धवजनस्याज्ञातपीड़ागमे वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्या-धमस्यान्तिकमिति इह तावच्छव्दे गुख्यया श्रुत्या प्रत्येकशव्दार्थः सग्रदाय-श्लोकार्थमुपाञ्जेनं कृता स्वकान्तस्यानयनार्थं प्रेपितां दृतीं प्रति स्वाभी-प्टस्य सम्भोगार्थे कान्तानयनार्थं कान्तसन्निधाने गमनस्य विशेषं तस्य स्वकान्तस्य दृत्या सह सम्भोगमभिधातुमिच्छया सम्भोगचिहानि स्नानचिह्नतया दर्शियता वार्षी स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकमित्यनेन स्वेष्टस्य

कान्तनिकटे गमनस्य फुतस्यापि पतिषेध इव क्रियते इति स्तुतम्। एतेनदं व्यक्तितम्। रे दृति कान्तसम्भोगार्थिन्या मया मत्कान्तसमीपे आनयनाथं मेपिता लमेव तेन सम्भुक्ता वान्धवजनस्य मम पीड़ां न जानासि लां किं ब्रुवे स हि पुरुपोऽधम इति।०। अथ स्तोत्रं लक्षयति। स्तोत्रमिदं पुनः। अधिकाराद्वेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः। इति। इदन्तु स्तोत्रं नामाक्षेपः। यत्राक्षेपेऽधिकाराद्पेतस्य व्यपगतस्यान्यस्य वस्तुनो या स्तुतिः 🖯 वर्त्तते तत्स्तुतिकरणमाक्षेपः रतोत्रमिति । यथा-धन्यासि या कथयसि पिय-सङ्गमेषु विस्रव्धचाडुकशतानि स्तान्तरेषु । नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण सख्यः ज्ञपामि यदि किञ्चिद्पि स्मरामि ॥ इति । इह सुरतिबद्याधिकारांद्प-ताया अन्यस्या नार्थ्याः स्नुतिरियं धन्यासीत्यादि । एतेनाक्षिप्यते ; सुरतिवद्या-हीनासि न तत्मुखानुभवनिषुणासि यतः वियसङ्गमेषु रतान्तरेषु तत्मुखानु-भवभङ्गहेत्चादक्वतानि कथयसि, नैवमहमस्मि, यतः किश्चिद्पि न स्मरामि मनो नान्यत्र निवेशयामि, तस्मात् लमधन्याहं धन्येति व्यव्यते। । अथ समासोक्तिं लक्षयति । यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः । सा समासोक्ति-रुदिता सङ्घोपार्थतया गुधौरिति। यत्रार्थे खलूक्ते सति यदि तत् समानविशेषणो- ः ऽन्योऽथौँ गम्यते तदा सङ्घोपार्थतया स आक्षेपो बुधैः समासोक्तिरुदिना। यथा - क्षिप्तो इस्तावलयः प्रसममभिहतोऽप्याददानोऽ'शुकान्तं गृहन् केशे-ष्वपास्तश्ररणनिपतिनो नेक्षितः सम्भ्रमेण। आलिङ्गन् योऽवध्तत्रिषुरयुवतिभिः साश्रनेत्रोत्पलाभिः कामीबाद्रीपराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निरिति। इह कामीवाद्रीपराध इति शाम्भवशराग्निसमानविशेपणः क्षिप्तोहस्तावलग इत्यादिरूपः इति समासोक्तिराक्षेपः। अथापह्न तिमाक्षेपं लक्षयति। अपह तिरपह त्य कि। अदन्याथे स्चनस्। यत्राक्षेपे कि अति वस्त अपह त्य चोर्यिता अन्यार्थस्चनं क्रियते स आक्षेपोऽपह् तिनीमोच्यते। तद् यथा — कस्य न वा रोपः स्यात् सत्रणमध्रं पियायाः समीक्ष्य। सभुक्षपद्माद्यायिणि । वारितवामेऽधुना सहस्व। इति। अत्र नायकान्तरेणाधरदंशनमपह्नत्य सभ्रमरपद्माद्राणे तद्भ्रमरकृतदंशोऽधरे दृश्यते इति संचितं कयाचित् सख्या। इत्यपह्न तिः । । अथ पर्यायोक्तं लक्षयति । पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभि-यत्राक्षेपे एकविधेऽर्धे प्रस्तुतेऽन्येन प्रकारेणान्योऽथौऽभिधीयते स आक्षेपः पर्यायोक्ताख्य उच्यते। यथा-कान्ते कंत्यपि वासराणि गमय लं मीलियबा हशौ. स्वस्ति स्वस्ति निभीलयामि नयने यावन शून्या दिशः।

अथ प्रत्यचम्। प्रत्यचं नाम तद् यदात्मना चेन्द्रियेश

आयाता वयमागमिष्यथ सुहृद्दुर्गस्य भाग्योद्ये, सन्देशो वद कस्तवाभि-लिपतस्तीर्थेषु तोयाञ्जलिरिति। भत्री प्रवासं गच्छता यद्यदुक्तं तस्य तस्योत्तरमन्येन प्रकारेणोक्तं प्रियया। इति विषय्ययोक्त पर्य्यायोक्तम् ुउच्यते। । अथ समाख्यामाक्षपं लक्षयति। एषामेकत्र सङ्ग च समाख्या यत्राक्षेपे खल्वेषां पञ्चानां स्तुतस्तोत्रसमासोत्तयपह् ति-ध्वनि रित्यतः। पर्यायोक्तानामेकत्र सङ्गः स्यात् तत्र सङ्गं सति स ध्वनिराक्षेपः, इत्यतः सन्वे-ध्यनिसङ्गलात समाख्यानामोच्यते। यथा-हन्तालि सन्तापनिष्टत्तयेऽस्याः किं तालग्रन्तं तरलीकरोपि। सन्ताप एषोऽन्तरदाहहतुर्नतभ्रवो नव्य-जनोपनोद्य इति। इह वैदेन्न स्वेष्टस्य कामिन्याः कामजसन्तापकथनस्य तद्भिशेषं विजने विकापनीय इति विवक्षणा किं तालवृन्तं तरलीकरोपीति मतिषेध इव कृत इति स्तुतम्। कामिन्याः शान्त्यधिकारादपेतस्य कामोत्-कण्ठितचित्तस्य स्तुतिः सन्ताप एपोऽन्तरदाहहतुरिति वचनन कृता, तत् एतत् स्तोत्रमाक्षेपः, न व्यजनोपनोद्य इति समासोक्तिः। व्यजनोपनोद्यो नैप सन्ताप र्इति तत्समानविशेषणोऽन्योऽर्थो नन्यजनोपनोद्यो युवजननोपनोद्य इति गम्यते, इति समासोक्तिः। अपह तिश्चात्र कामजमनोन्याकुलतां कामिन्या अपद्गृत्य अन्तरदाहज एप सन्ताप इति सूचितः। इत्यपह तिराक्षपः। पर्यायोक्तश्चात्र एकविधोऽत्र प्रस्तुतः कोऽयमस्या व्याधिस्तत्रान्यपकारेण अन्तरदाहजसन्तापाभिधानमिति विषर्ययेणोक्तिः पर्यायोक्तिः। इत्येपां पश्चा-नाम् एकत्र सङ्गलात् समाख्या नामाक्षेप इति । इत्येप पित्वयं आक्षेपः खल् शन्दस्याभिन्यक्तिस्तयाक्षिण्योऽथंः शान्दोऽपि तद्घोधरचेदुपदेशाद्भवति तथापि नैप उपदेश आप्तोपदेशो नाम प्रमाणं वेदलोकयोरुपदेशरूपाभावात्। यस्तु ेत्रेंदे स च नायं यश्च लोके पारम्पर्योषदेश ऐतिहा तच नैप उपदेशस्तस्मादेप र्आक्षेपेणोपदेशोऽर्थापत्तिरञ्जमानेऽन्तभ्रंतो गौतमादिभिः कृतः। तदर्थापत्ति-व्याख्याने दर्शयिष्यते। इति शब्दो व्याख्यातः॥ ३३॥

गङ्गाधरः — अथोद्देशक्रमात् प्रत्यक्षं लक्षयति । वादं शब्दत उक्तिप्रत्युक्ति-वाक्यानन्तरं प्रत्यक्षेणोपलिष्यः कार्य्येत्यत आह्, अथ प्रत्यक्षमिति । तच लक्षयति—प्रत्यक्षं नाम् तदित्यादि । आत्मनेति सन्वेत्रैवात्मानमन्तरेण

चक्रपाणिः—आत्मनेति मनसा, तेन, अनेन मानसप्रत्यक्षसुखाद्यमवरुध्यते, इंन्द्रियेरचेत्यनेन

खयमुपलभ्यते । तत्रात्मप्रस्वचाः सुखदुःखेच्छाद्वे षादयः, श्रद्धा-दयस्तिन्द्रयप्रसन्ताः॥ ३४॥

को अपि नेन्द्रियाणामन्यतमो भावः स्वस्यार्थे प्रवर्त्तने प्रभवति, तेनात्मनः साधारणहेतुलेन हेतूपदेशे पायो नाचार्यणात्मा निर्दिश्यते, तस्माद्त्रात्मशब्दो-पादानेनात्मभवसेऽपि वुद्धेः सुखादीनाश्चात्मनैव पत्यक्षं न मानसप्रत्यक्षं मनसा जाताया बुद्धेमेनोबुद्धिग्राह्यलाभावादात्मप्रत्यक्षमिति बापितम्। रोगविशेषविज्ञानीयेऽप्यात्मना चेन्द्रियैरित्युक्तेः। इन्द्रियैरिति श्रोत्रादिभिः पश्चिमिर्यु द्वीन्द्रिये बुं द्वापदेशे तेपां हेतुलात् ; न तु कर्म्मेन्द्रियेः पश्चिमः। परतन्त्रसिद्धमतीनिद्रयं मनक्चेन्द्रियमनुमतं न प्रतिपिद्धम्। तेन मनक्चेन्द्रियं स्वयं जागरितस्थानस्वनस्थानश्वात्मा। मनसा च युक्तैः पश्चिमिः श्रोत्रा-दिभिः इन्द्रियंरात्मना यदुपलभ्यते तत् प्रत्यक्षं पड्विधं मानसञ्चीद्रिय-पञ्चेन्द्रियाणीत्यादि पञ्चपञ्चकमुक्तं कश्च। तन्त्रे ऽस्मिन प्रत्यक्षाभिपायेण। परमतसिद्धश्चातीन्द्रियं सत्त्वसंबद्धं मनोऽप्यप्रतिपेधात अनुमतं मानसप्रत्यक्षम् । आत्मप्रत्यक्षञ्चेह प्रत्यक्षमात्रस्योपदेशार्थमुक्तं ततो न पूर्वेण विरोधः। विस्तरेण पूर्वं व्याख्यातम्। तान्युदाहरति—तत्रात्रेत्यादि। आत्मप्रत्यक्षा इति प्रत्यगात्मप्रत्यक्षज्ञानविषयाः सुखाद्यः। शब्दाद्यः पट् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धचिन्त्यानीति पुनरिन्द्रियप्रत्यक्षशानविषया इति। स्वयम् आत्मा बुद्धा युक्तेन स्वेन यदुपलभते तत् स्वप्रत्यक्षमात्मप्रत्यक्षं मनोयुक्तीरिनिद्रयैः यदुपलभते तदिन्द्रियमत्पक्षं तत्रात्मा केवलेन मनसा यत् किञ्चिदुपलभते तन्मानस-प्रत्यक्षमुच्यते। भ्रान्ता आत्मप्रत्यक्षं न विदन्ति। वैशेषिके च कणादेनोक्तम्। परत्र समवायात् प्रत्यक्षलाच नात्मगुणा मनसो गुणाः। अप्रत्यक्षलात् इति। नुद्धीच्छाद्देषसुखदुःखपयनाः। परत्र समवायात्। परस्मिन् अव्यक्तात्मनि को समवायात् प्रत्यगात्मनि जागरितस्थानादौ तदात्मगुणानां तेपामभिव्यक्तेः प्रत्यगात्मजागरितस्थानादेः प्रत्यक्षलाच । न तु मनसो गुणाः । अप्रत्यक्षलात्। मनसः प्रत्यक्षाभावाद् बुद्ध्यादीनामिति। गौतमेनाप्युक्तं फल-परीक्षायाम् भीतेरात्माश्रयलादमितपेध इति । सूत्रमिदं वात्स्यायनेन व्याख्यातं मीतिरात्मप्रत्यक्षसादात्माश्रयेति ॥ ३४ ॥

वाद्यं प्रत्यक्षं गृह्यते । स्वयमुपलभ्यत इति साक्षादुपलभ्यते इति चेन्द्रियन्यापारे सत्यपि यद्नु-मानविज्ञानम्, तदसाक्षात्कारित्वान प्रत्यक्षमिति दुर्शयति ॥ ३४॥

अथानुमानम् । अनुमानं नाम तको युत्तयपेदाः । यथोक्तम् अग्निं जरग्रशत्तया, वलं व्यायामशत्तया, श्रोत्रादीनि शब्दादि-यहगोनेति ॥ ३५ ॥

अर्थेतिह्म । ऐतिह्यं नाम आप्तोपदेशो वेदादिः॥ ३६॥

गृहायरः—अत्रात्मशत्यक्षस्य तावन्मानसः । नत्वे यदि प्रामाण्यं तर्हि किमेकमेत्र प्रत्यक्षं प्रमाणं, नान्तरेण मनो न किमिष ज्ञानमृत्यवते तत्रापि निद्देशार्थपिन्द्रियार्थसन्निकपंजं पश्चिवधं ज्ञानमिति भेदकरणार्थमिन्द्रियार्थसिन्निकपंधीनतः । पश्चिवधं प्रत्यक्षमुक्तमित्याश्येन मानसेषु ज्ञानेषु यस्य
यस्य प्रामाण्यं तदुपदेशार्थं मानसं पञ्चिन्द्रियज्ञानं प्रत्यक्षं प्रमाणमुक्तवा शेषं
यद् यन्मानसं ज्ञानं प्रमाणं तत्तन्नामान्तरेणाह—अथानुमानम् । प्रत्यक्षानन्तरम्
अनुमानं लोके भवित । तद् यथा । अनुमानं नामेत्यादि । युक्तपपेक्षस्तको
नाम युक्तिरेवानुमानं नामोच्यते । युक्तिः पूर्व्यमुक्ता । चुद्धिः पश्यति या
भावान् वहुकारणयोगजान् । युक्तिस्तिकाला सा ज्ञेया त्रिवर्णं साध्यते ययेति ।
सैत्र युक्तिस्तकं उक्तो गौतमेन । अविज्ञाततत्त्वेऽधं कारणोपपित्तरस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तकं इति । तथा च तर्कापेक्षस्तकोऽनुमानम् । तर्कस्यानुमानावान्तरीयकलादाप्तस्येव प्रामाण्यं न तु प्रमाणान्तरलमिति । व्याख्यातं विस्तरेण
तिस्त्रैपणीये । उदाहरति—यथेत्यादि । इद्देव स्थाने पूर्व्वमुक्तं यथा अग्निं
जरणशक्तया वलं व्यायामशक्तपेत्येवमादि । इत्येवमनुमानमेकं मानसं प्रत्यक्षज्ञानं
प्रमाणम् ॥ ३५ ॥

गङ्गाधरः—तत्र कः पुनरिषः का जरणशक्तिरित्येवमादिविषानं नान्तरेणोप-देशं भवतीत्युक्तमैतिह्यमिति यत् तदाह—अथैतिह्यमिति। अनन्तरमैतिह्यं वाद-प्रष्टतौ क्षेयम्। किं पुनरैतिह्यमित्यत आह—ऐतिह्यं नामाप्तोपदेशो वेदादिः। इहादिपदेन वेदार्थाविपरीतः परीक्षकैः प्रणीतः परीक्षकैश्च परीक्षितो यः कश्चिन्छास्त्रवादः सोऽप्याप्तोपदेशः। एवं लोकेऽपि यः कश्चित् पारम्पर्योप-देशः सोऽप्याप्तोपदेशः। वालो यथा जानाति—एप ते पिता माता चैषा

चक्रपाणिः—तर्को युक्तप्रपेक्ष इत्यनुमानलक्षणं विविधरोगविज्ञानीय एव व्याकृतम् । अनु-मानोदाहरणमाह—'अग्निं जरणशक्त्रा' इत्यादिना । अलौकिकासोपदेश 'एतिहा'पदेनोच्यत इत्याह—चेदादिरिति ॥ ३५।३६ ॥

अथौपस्यम् । औपस्यं नाम तदु यद्न्येनान्यस्य सादृश्य-सधिकृत्य प्रकाशनम् । यथा दगडेन दगडकस्य, धनुषा धनुः-स्तम्भस्य, इन्त्रासिनारोग्यदस्येति ॥ ३७ ॥

लमेतद्गोत्र एतत्पवर एतद्वंशज इत्येवमादिनोपदेशेन युध्यते इति। एतत अवान्तरीयकलेनाप्तोऽपि प्रमाणसिति द्वितीयं मानसं ज्ञानं प्रमाणमाप्तोपदेशः। यदाप्तेनोपदिश्यते वाक्येन स एवमिदमिदं नैवमित्येतद्र्पस्तदभिधायकवाक्यं श्रवणप्रत्यक्षं तद्वाक्यार्थोदवगम्यते यत् तदवगमनं ज्ञानमेव मानसं न तु श्रावणम् इति प्रत्यक्षादन्य आप्तोपदेश इति ॥ ३६ ॥

गङ्गाधरः—अथोदिष्टमौपम्यमिति यत् तदाह—अथौपम्यमिति। वादे प्रतिज्ञा-स्थापनायां दृष्टान्तकरणार्थमनन्तरमौपम्यं क्रेयित्यतस्त्रनुमानेऽन्तर्भूतमिष केनचिद्विशेषेण पृथगिह वादमार्गपद्ञाने प्रोच्यते। तच्चौपम्यं लक्षयति— औपस्यं नामेत्यादि। यदन्येन वस्तुनान्यस्य वस्तुनः साद्द्यं साधस्मर्धं प्रत्यक्षातु-मानाप्तोपदेजैः प्रमाणैः पूर्व्यं प्रमाय यत् प्रकाशते तत् प्रकाशनमौपम्यं नामोच्यते। यथा कश्चिद्भिषक् कश्च पुरुषं दण्डसमस्तब्धगात्रं पश्यन् मनसा तर्कयति दण्ड-तुल्यस्तव्धगात्रलादस्य दंण्डको नाम वातव्याधिः, ध्रनुस्तुल्यस्तव्धगात्रं पश्यन् मनसा तर्कयति धनुःस्तम्भोऽस्य वातन्याधिः। प्राणाभिसरं वैद्यं पश्यन् मनसा तर्क्वयति यथा खल्विष्वासी ध्रमुरादायेषुं संयोज्य स्थूलेऽनतिविषकुष्टेऽनति-सन्निकुट्टे लक्ष्ये क्षिपन् कार्यं साध्यति तथायं भिषक् साध्यरोगाथैमात्मवन्तं सोपचारकं सद्रव्यं चिकित्सन् तस्यारोग्यदो भवतीति मानसज्ञानविशेप औपस्यमञ्जमानविशोषः ततोऽनन्तरं तद्भुव्यवस्यति । देण्डमिव गात्रं स्तम्भ-यतीत्ययं दण्डकः। धनुर्वन्नमयेद् यद् गात्रं स धनुःस्तम्भसं ज्ञित इत्येवमादि। परीक्षितिमदं गौतमेन लक्षणग्रुत्तवा, तद्यथा-प्रसिद्धसाधम्म्यात् साध्यसाधन-मुपमानम् । अत्यन्तवायैकदेशसाधम्म्यादुपमानासिद्धिः । प्रसिद्धसाधम्मर्यादुप-मानसिद्धेः यथोक्तदोषानुपपत्तिः। प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षसिद्धेः। नाप्रत्यक्षे गवये प्रमाणार्थम् उपमानस्य पश्याम इति । तथेत्युपसंहारादुपमानसिद्धेर्नीविज्ञषः। इति । व्याख्यातञ्चैतत् सर्व्वं वात्स्यायनेन । प्रसिद्धसाधम्म्यात् साध्यसाधनम्

· चक्रपाणिः—यदन्येनेत्यादौ अन्येनेति प्रसिद्धेन । अन्यस्येत्यप्रसिद्धस्य । कृत्येति साद्दयं प्रतिपादां संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रति कारणतया अधिकृत्य, यदा तु भट्टनयेन उपमानिमिति। प्रज्ञातेन सामान्यात् प्रज्ञापनीयस्य प्रज्ञापनमुपमानिमिति।
यथा गौरेवं गवय इति। किं पुनरत्रोपमानेन क्रियते? यदा खल्वयं गवा समानधर्मे प्रतिपद्यते, तदा प्रत्यक्षतस्तमर्थं प्रतिपद्यत इति। समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थं इत्याह, यथा गौरेवं गवय इत्युपमाने प्रयुक्ते गवा समानधर्मम्
अर्थमिन्द्रियार्थसन्तिकर्भादुपलभमानोऽस्य गवयशब्दः संज्ञेति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यत इति। यथा मुद्दस्तथा मुद्दपणीं, यथा मापस्तथा मापपणीं
इत्युपमाने प्रयुक्ते उपमानात् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यमानस्तामोपिधं भैपज्याय
आहरति। एवमन्योऽप्युपमानस्य लोके विषयो द्वभुत्सितव्य इति।

तत्राह वादी। अत्यन्तपायैकदेशसाधम्म्याद्वपमानासिद्धिरिति, अत्यन्त-साधम्म्योद्रपमानं न सिध्यति। न चैवं भवति यथा गौरेवं गौरिति। प्राय-साधम्म्योद्धपमानं न सिध्यति। न हि भवति यथानडानेवं महिप इति। एकदेश-साथम्म्योद्वपमानं न सिध्यति। न हि सन्वण सन्वेग्रुपमीयते इति सन्वेमेव हि खल्वेकदेशसाधम्म्य्येयुक्तं भवति सन्वेत्र सन्वेग्रुपमानं भवतु न हि तथा भवतीति, तस्मादुपमानासिद्धिरिति। तत्र सिद्धान्तमाह। प्रसिद्धसाधस्म्योदुपमानसिद्धः यथोक्तदोपानुपपत्तिरिति। न साध्यस्य कृत्सनप्रायालपभावपाश्चित्योपमानं भवर्तते। किं ति ? प्रसिद्धसाधम्मर्यात् साध्यसाधनभावमाश्रित्य प्रवर्तते। यत्र चैतद्स्ति न तत्रोपमानं प्रतिपेखुं शक्यम्। तस्माद् यथोक्तदोषो नोप-पचते इति। एवम्रुपमानसिद्धौ पुनराह वादी। अस्तु तहु प्रपमानं परन्तु तद्तुमानं नातिरिक्तमिति। कस्मात् ? प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षसिद्धेः। यथा धूमेन प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य वह्ने ग्र^९हणम् जुमानमेवं गवा प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य गवयस्य ग्रहणिवति नेदमनुमानाद्विशिष्यते । तत्राह सिद्धान्तम् । अनुमानाद्विशिष्यते उपमानं यया युत्तया। नामत्यक्षे गवये प्रमाणार्थम्यपानस्य पश्याम इति। यदा ह्ययमुपयुक्तोपमानो गोदशीं गवयं समानमर्थं पश्यति तदायं गवय इत्यस्य संकाशब्दस्य व्यवस्थां प्रतिपद्यते। न चैवपतुमानमिति परार्थञ्चोपमानम्। यस्य ह्रापमानमप्रसिद्धं तदर्थं प्रसिद्धोभयेन क्रियते इति। परार्थमपमानमिति चेन्न स्वयमध्यनसायात् ? भवति च भोः स्वयमध्यनसायः। यथा गौरेवं गवय इति । नाध्यवसायः प्रतिषिध्यते । उपमाने त्र तन्न भवति प्रसिद्धसाध्म्म्यति साध्यसाधनमुपमानमिति। न च यस्योभयं प्रसिद्धं तं प्रति साध्यसाधनभावो उपमानं व्याख्येयम्, तदा साद्द्यं प्रतिपाद्यतया अधिकृत्येति योजनीयम्, तेषां 'साद्द्यप्रतिपत्तिः' उपमानार्थः । न्याये च 'संज्ञासंज्ञ्ञिसम्बन्धप्रतीतिः' उपमानफलम्, तच प्रथमन्याख्यानाद् भवंति,

विद्यते। यथा वलिवासवयोयुं द्धं वलिवासवयोरिवेति। एवमनुमाने अन्त-भू तमपि विशेपान्तरमस्ति तदाह्। तथेत्युपसंहारादुपमानसिद्धेर्नाविशेपः। इति। वादे प्रतिशास्थापनायां दृष्टान्ते तथेत्युपसंहारात् तथेति शब्देन समानधम्मौपसंहारादुपमानं सिध्यति नानुमानम्, अयञ्चानयोर्विज्ञेप इति। गौतममतेन कपिलपतञ्जलिपभृतीनामुपमानस्यानुमानेऽन्तर्भावमतं न विरुद्धम् अभिप्रायभेदात प्रामाण्यनतूपमानस्य सन्वेषां सम्मतमिति।

अथोपम्यमिदं न सादश्यमात्रमन्निपुराणेऽन्निनार्थालङ्कारे मोक्तम्—सादश्यं धम्मसामान्यमुपमा रूपकं तथा। सहोत्तयर्थान्तरन्यासाविति तचतु विवेधमिति। तच विष्टतं तत्रैव। उपमा नाम सा या स्यादुप-मानोपमेययोः। सद्भावान्तरसामान्य-योगिलेऽपि विवक्षितम्। सद्भावान्तर-सामान्याभावाद् यथा गौस्तथा गौरिति न स्यात्। स्यात त तव गौरिव मम गौरिति, तावकलमामकलसद्भावान्तरवत्त्वात्-किञ्चिदादाय सारूप्यं लोकयात्रा भवत्तते। समासेनासमासेन सा द्विधा प्रतियोगिनः। पितयोगिन उपमेयस्य समासेनासमासेन सा द्विधा। विग्रहादभिधानस्य स उपमाद्योतकपदेनोपमेयपदेन च। ताभ्याश्च विग्रहात तमासोऽन्यथोत्तरा। त्रधा सा समासान्तिमा त्रिधा इति । यथा चन्द्रतृल्यमुखमिति । उपमाद्योत-र्फन पदेन सह समासः। चन्द्रेण समकान्ति तवाननमित्युपमेयेन सह समासः चन्द्रसमानकान्ति। इहोभाभ्यां सह समास इति त्रिधा। चन्द्रेण तुल्यं मुख-मिति, चन्द्रतुल्यं मुखमिति, चन्द्रेण तुल्यमुखमिति द्वयोः समासलमसमासलञ्च अथ धम्मभेदेनोपमा चाष्टांदशधा । विजेष्यमाणा उपमा भवन्त्यष्टा-दश स्फुटाः। यत्र साधारणो धर्माः कथ्यते गम्यतेऽपि वा। ते धर्म-वस्तुप्राधान्याधमभयोस्तूपमे उभे। इति धम्मप्रधाना वस्तुप्रधाना चेति हो धम्मौपमे भवतः। सत्यं वचोऽमृतमिव। इति धम्मौपमा धम्मैप्रधाना। राजीवमिव ते वक्तमिति वस्तुप्रधाना धम्मोपमा । ०। अथ परस्परोपमा । तुल्य-मेवोपमीयेते यथान्योन्येन धर्मिणौ। परस्परोपमा सा स्यात् प्रसिद्धेरन्यथा तयोः। विपरीतोपमा यस्माद्र्याष्ट्रतेर्नियमोपमा। अन्यत्राप्यनुष्टत्तेरतु भवेच नियमोपमा। तवाननिमवाम्भोजमम्भोजिमव ते मुखम्। इति परस्परोपमा। तवाननमिवोन्निद्रमरविन्दमभूदिदमिति विपरीतोपमा। पद्म सर्व्वत्रोप-ं उक्तं हि तत्र—"प्रसिद्धसाधम्मर्थात् साध्यसाधनसुपमानम्" इति । दण्डेन दण्डकस्येति दण्डेन प्रसिद्धेनाप्रसिद्धस्य दण्डकस्य साधरमर्थमाप्तात् श्रुतवान् कुम्भकारकदण्डवद् विकारदर्शने सत्ययम्

-मानमिह तपमेयमिति विपरीतम् । अन्यस्माद्वप्राष्ट्रत्ते नियमोपमा यथा । स्तनौ विरुवफलसमी स्थलो सुकठिनो तव। न तु तालफलसमी न पद्मकोरकोपमाविति अन्यत्राप्यनुष्टत्तेश्र भवेच नियमोपमा । काठिन्याभावात् । कमलेनेव तुल्यं ते मुखं तुल्यो स्तनो मम। इति नियमोपमा द्विधां०। असमुचयोपमा । समुच्चयोपमाऽतोऽन्य-धर्मवाहुल्यकीत्तनात् । स्तनावस्भोज-सद्दशौ मालुरफलसन्तिभौ इति।०। व्यतिरेकोपमा यथा। रहोधम्पेस्य साम्ये-ऽपि वैलक्षण्यं विवक्षता । यदुच्यतेऽतिरिक्तलं व्यतिरेकोपमा तु सा । आहुर्मुखं चन्द्रसममन्ये नाढं शशी क्षयात् इति । अथ वहूपमा । यत्रोपमा स्याद् वहूभिः सद्ञैः सा वहूपमा । धम्भाः प्रत्युपमानं चेदन्ये मालोपमैव सा । चन्दनोदक-शीतांश-चन्द्रकान्तादिभिः समा। स्पर्शेन लं सरोजाक्षि वीणाकोकिलभाषिण। इति वहपमा।। प्रत्युपमानं चेदन्ये धर्मास्तदा सा मालोपमा। कुचौ लक्कच-सनिभोः रुचिरविल्वतल्यौ शुभौ सदाङ्गिफलाकृती ज्वलयतो मनः कामिनाम् इति। अथ विक्रियोपमा। उपमानविकारेण तुलना विक्रियोपमा। यथा। पकविम्बफलाभासाबोष्टौ ताम्बलविर्जतौ। इति ।०। अथाद्भुतोपमा । त्रैकाल्या-सम्भवि किमप्यारोप्य प्रतियोगिनि । कविनोपमीयते या प्रथ्यते सार्भुतोपमा । यथा—राकाचन्द्रमसो विधिः प्रतिदिनं कान्तां कलामुद्धरन्नैकैकां तव वक्तः चार्च्वयवान् संघट्य संनिम्ममौ। इति।०। अथ मोहोपमा। प्रतियोगिन-मारोप्य तद्भेदेन कीर्त्तनम्। उपमेयस्य सा मोहोपमाऽसौ आन्तिमद्दचः। यथा-पूर्णचन्द्रानने पूर्ण-चन्द्रं बुद्धा तवाननम्। चकोराः परिधावन्ति युवानः कामरूपिण इति।०। अथ संशयोपमा। उभयोधिर्म्भणोस्तथ्यानिश्रयात् संश्योपमा। यथा-कर्णिकालमभृतं किं चश्चलेन्दीवरद्वयम्। किमीक्षणद्वयं लोलं तव वक्तसरोवरे। इति।०। अथ निश्चयोपमा। उपमेयस्य संशय्य निश्रयान्निश्रयोपमा। यथा-पद्ममेव विधुम्लानं फुल्लुं कान्तोदये दिने। -वितनोति तनोर्छेक्ष्मीं लीनभृङ्गयुगं मुखमिति ।०। अथ वाक्यार्थोपमा । वाक्यार्थे-नैव वाक्यार्थोपमाऽन्यस्योपमा मता। वाक्यार्थेनान्यस्योपमा वाक्यार्थोपमा। ्यथा-नैकस्मिन् कमले भृद्ग-द्वयं पिवति माक्षिकम्। खझरीटद्वयं नूनं नृत्यतीहः स्मितानने । इति । ० । अथात्मोपमा । स्वात्मनोपमात्मोपमा साधा-

असौ दण्डसंज्ञो विकार इति प्रत्येति । किंवा भटनयेन, प्रसिद्धं दण्डगतं साधम्म्यमप्रसिद्धदण्ड-काल्यविकारसम्बन्धितया प्रत्येतीत्येवमन्यत्राप्युदाहरणे ज्ञेयम् । इप्वासिनेति इपुमोक्षकेण, यथा इपुमोक्षकेण लक्ष्येऽनतिविष्रकृष्टे नापराध्यते, तथाऽरोग्यदेन वैद्योन वैद्यगुणेरातुरं साधयता ॥ ३७ ॥

रणातिशायिनी। यथा—रामरावणयोर्यु द्धं रामरावणयोरिवेति।०। अथा-न्योपमा । उपमेयं यदन्यस्य तदन्यस्योपमा मता । यथा—दिवाकरेण संफुछमिव पद्मं मुखं तव। इति। अथ गमनोपमा। यदुत्रत्तरोत्तरं याति तदासौ गमनो-पमां। यथा—नखानि विधुशङ्कया विरहिणी करेणाष्टणोत् ततः किशलय-भ्रमात् करमतोऽक्षिपद् दूरतः। ततो वलयशिक्षितं भ्रमरगुक्षितं शङ्या उह्रिति कुह्कुह्ध्विनिभयापतनम् च्छिता। इति।०। इत्यष्टादशधा स्फुटो-पमा व्याख्याताः।

अथ स्फुटास्फुटपञ्चविधोपमागाह—प्रजंसा चंव निन्दा च कल्पिता सदशी तथा। किश्चिच्च सद्दशी होया उपमा पश्चधा पुनः। अन्यस्य प्रशंसया यदुप-मीयते सा प्रजंसोपमा । मृणालाङ्कुरमत्तुं यन्न त्यजन्ति सरो मृगाः । तत्राञ्ज-कुमायार्थी गला न स्यात् प्रविच्चितः । एवमन्यस्य निन्दया यदुपमीयते सा निन्दोपमा। पद्म वहुरजश्चन्द्र-क्षयद्वदी दिने दिने। ताभ्यां समं तव मुखं न तत् तत्त्वविदो विदुरिति। ०। कविना या तूपमा कल्प्यते सा कल्पितोपमा। मुखाव्जं दन्तिक अल्कमोष्ठ च्छद्मलीक्षणम् । सौरभेणाकर्पति ते यूनां चित्तमिछं द्रतिमिति । अपमानस्य सर्व्धभर्मोण यदुपमेषे स्मदृश्यं सा सदृश्युपमा । यथा— पद्मात्मिके तवाम्भोज-समं स्तनयुगं मुखस् । करद्वयं पाद्युगं नेत्रयुगं मनोहरम्। इति। एपा पूर्णोपमा परैकच्यते। या तूपमा पुनक्पमानगतानां धम्मीणां किञ्चिद्धर्मोण साद्रक्यं स्यात् सा किञ्चित्सद्शी उपमा परैस्त्वेपा छप्तोपमाभि-धीयते। कान्त्या चन्द्रमसं धान्ना सूर्य्यं धैर्येण वारिधम्। राजन्ननुकरोपि सं जवेन मनसा ध्रवमिति। किञ्चिदंशेन सादश्यात् किञ्चित्सदशीति। एपा त्रयोविंशतिधामिनोपमा प्रोक्ता। तेनान्योपमा नास्ति। यत्र कचिद्न्या चोक्ता साऽनापंतादग्राह्या। आभ्य उपमाभ्यो भिन्नं साद्दश्यं रूपकादित्रयं नौपस्यमिति। तदुक्तश्च। उपमानेन यत् तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते। गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद् विदुः। यथा — ताम्राङ्गुलिदलश्रेणि नखदीधीति-केशरम्। ध्रियते मूर्द्धि भूपार्छभेवचरणपङ्गमिति। उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमेत्र वा। उपमानोपमेययोर्जातिमात्रभेदे गुणक्रियाभ्यामभेद इति तिरोभूतभेदा तूपमैव रूपकमिति तुल्यं लक्षणद्व्यम्। सहोक्तिस्तु सादृश्यम्। सहोक्तिः सहभावेन कथनं तुल्यधम्भिणामिति। यथा-उभौ मध्वासव-क्षीरावुभौ चन्दनरूपिताविति, दृष्णाज्जु नयोः समधम्मिणोः सहभावेन कथनं सहोक्तिः। अथ अर्थान्तर्न्यासः साइश्यम्। भवेदर्थान्तरन्यासः साइश्ये-

अय संश्यः। संश्यो नामः सन्दिग्वेष्वर्थेष्वनिश्रयः। यथा

नोत्तरेण सः। इति। किंन्छपाद् विशिष्टं काटर्यं तत्राह—कारणसदृशं काटर्य-मिति। इति व्याख्यातमीपस्यमिति॥ ३७॥

गङ्गाधरः-एवं वादे पवत्तिते यः संशेते इति संशय उदिष्टस्तमाह-अथ संशय इति। कः पुनः संशयो नामोच्यत इत्यत आह—संशयो नामेत्यादि । सन्दिग्धेषु समानानेकधम्मौपपत्तेविपतिपत्तेरपलन्ध्यनुपलन्ध्य-व्यवस्थातश्च विमृष्टेष्वर्थेषु अनिश्चयो विशेषापेक्षो विमर्जः संशयो नामाभि-धीयते । उक्तञ्चैतर् गौतमेन । समानेकधम्भौपपत्तेविशतिपत्तेरपलव्ध्यनुपलब्ध्य-व्यवस्थातथ विशेपापेक्षो विमर्शः संशय इति । व्याख्यातञ्चैतद् वातस्यायनेन । समानध्रम्मीपपत्तेविशेषापेक्षो विमर्जः संशय इति स्थाणुपुरुपयोः समानं पुरुवेदृष्टुञ्च धुम्मेमारोहपरिणाही पश्यन तयोविशेषं किं स्विटित्यन्यतरन्नावधारयति । तदनवधारणं नानं संशयः। समानमनयोधंस्मेम् उपलभे, विशेषमन्यतरस्य नोपलभे ; इत्येषा बुद्धिरपेक्ष्या संशयस्य प्रवित्तंका वर्तत । तेन विशेपापेक्षो विमर्शः संशयः। अनेकथम्मौपपत्तेरिति समान-जातीयमसमानजातीयश्चानेकम्, तस्यानेकस्य धम्मेस्योपपत्तेविशेपस्योभयथा दृष्ट्वात् । समानजातीयेभ्योऽसमानजातीयेभ्यश्चार्था विशिष्यन्ते । गन्धवत्त्वात् पृथिवी अवादिभ्यो विशिष्यते, गुणकम्मेभ्यश्च । अस्ति च शब्दे विभागजे खळ संयोगजे लविशेपस्तस्थिन् द्रव्यं गुणः कम्में वेति सन्देहः। न हि शब्दो वैशेषिके नवसु द्रव्येषु विभक्तः कृतो न रूपादिषु सप्तदशसु गुणेषु न पञ्चसु उत्क्षेपणादिषु कर्म्मसु । विशेषस्य चोभयथा दृष्टलात् । किं द्रव्यस्य सतो गुणकम्मेभ्यो विशेषः ? आहोस्विद् गुणस्य सत इति, अथ कम्मेणः सतः ? इति विशेपापेक्षान्यतमस्य व्यवस्थापकं धम्म नोपलभे इति बुद्धिरपेक्ष्या संशयस्य। 🤌 विमतिपत्तेरिति। व्याहतमेकार्थदर्शनं विमतिपत्तिः। व्याघातो विरोधो-ऽसहभाव इति। अस्त्यात्मेत्येकं दर्शनम् नास्त्यात्मेत्यपरं, न च सन्द्रावा-भावौ सहैकत्र सम्भवतः। न चान्यतरसाधको हेतुरुपलभ्यते। तत्र तत्त्वानव-

चक्रपाणिः—सन्देहलक्षणानुसन्दिग्धेष्वथेष्वित्यनेन सन्देहयोग्यं विषयं दर्शयति, अनेन च, न्यायोक्तात् "समानानेकधम्मोपपक्तः" इति वचनात् विषयं संशयस्य च दर्शयति । संशय-

^{*} सन्देहरुभ्रणानुसन्दिग्धेष्विति चक्रप्रतः पारः ।

धारणं संशयः। इति। उपलब्ध्यव्यवस्थातः खल्वपि सच्चोदकमुपलभ्यते तङ्गगदिपु मरीचिषु वा अविद्यमानमुद्कमिति । ततः कचिदुपलभ्यमाने तत्त्व-व्यवस्थापकस्य प्रमाणस्यानुपलच्धेः किं सदुपलभ्यते उत असदिति संशयो अनुपलब्ध्यव्यवस्थातः सच्च नोपलभ्यते मूलकीलकोदकादि । असच्चानुपपन्नं विरुद्धं वा। ततः कचिदनुपलभ्यमाने तत्त्वन्यवस्थापकस्य भमाणस्यानुपलब्धेः किं सन्नोपलभ्यते उतासदिति संशयो भवति। विशेपा-पेक्षा अत्र पूर्वितत् । पूर्विः समानोऽनेकश्च धम्मौ हो यस्थः । उपलब्ध्यनुपलब्धी पुनर्कातस्थे। एतावता विशेषेण पुनर्व्वचनम्। समानधम्मीधिगमात् समान-धम्मोपपत्तेर्विशेपसमृत्यपेक्षो विम् इति। लक्षणितः परीक्षितं स्वयमेव। तद् यथा-समानानेकधम्मीध्यवसायाद्न्यतरधम्मीध्यवसायाद् वा न संशयः। विमतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायाच्च। विमतिपत्तौ च सम्प्रतिपत्तेः। अव्यव-स्थात्मनि व्यवस्थितत्वाच्चाव्यवस्थायाः। तथात्यन्तसंशयस्तद्धम्मसातत्योप-पत्तेः। यथोक्ताध्यवसायादेव तद्विशेपापेक्षात् संशयेनासंशयो नात्यन्तसंशयो वा। यत्र संशयस्तत्रैवोत्तरोत्तरप्रसङ्ग इति। व्याख्यातञ्चैतत् सर्व्वं वात्स्याय-नेन। तद् यथा-समानानेकध्रम्मध्यवसायाद्न्यतर्ध्रम्भध्यवसायाद् वा न संशय इति। समानस्य धर्मस्याध्यवसायात् संशयः स्यात् न धर्ममात्रात्। अथवा समानमनयोर्थद् धम्में सुपलभते इति धम्में धम्मिं ग्रहणे संशयाभावः। इति । अथवा समानध्रम्मध्यवसायाद्धीन्तरभूते ध्रिम्भिण संशयोऽनुपपन्न इति। न जातु रूपस्यार्थान्तरभूतस्याध्यवसायादर्थान्तरभूते स्पर्जे संशय इति। अथवा नाध्यवसायादर्थावधारणादनवधारणज्ञानं संशय उपपद्यते, कार्य्यकारणयोः सारूप्याभावादिति । एतेनानेकध्मर्भाध्यवसायादिति व्याख्यातम् । अन्यतर-धम्मीध्यवसायाच्च संशयो न भवति। ततो ह्यन्यतरावधारणमेवेति। विमति-पत्त्यव्यवस्थाध्यवसायाच न संशयः। विप्रतिपत्तिमात्राद्व्यवस्थामात्राद् वा न संशयो भवति। किं तर्हि, विमतिपत्तिमुपलभगानस्य संशयः। मन्यवस्थायामपीति । अथवाऽस्त्यात्मेत्येके नास्त्यात्मेत्यपरे मन्यन्त इत्यप-लब्धेः कथं संशयः स्यादिति। तथोपलब्धिः अन्यवस्थिताऽनुपलब्धि-श्रान्यवस्थितेति विभागेनाध्यवसिते संशयोऽतो नोपपद्यत इति। विप्रतिपत्तौ च सम्प्रतिपत्तेः। याञ्च विप्रतिपत्तिं भवान् संशयहेतुं मन्यते, सा सम्प्रतिपत्तिः। सा हि द्वयोः प्रत्यनीकधुमीविषया, तत्र यदि लक्षणम्—'अनिश्रयः' इति ज्ञेयम् । अनिश्रयः पाक्षिकविरुद्धधरमीवमर्पकरं ज्ञानम्, यथा—

विमतिपत्तेः संशयः, सम्प्रतिपत्तेरेव संशय इति। व्यवस्थितताच्चाव्यवस्थायाः न संशयः। यदि तावदियमव्यवस्थात्मन्येव व्यवस्थिता, व्यवस्थानाद्व्यवस्था न भवतीत्यनुपपन्नः संशय इति। अन्यवस्थात्मनि न न्यवस्थिता । एवमतादात्म्यादन्यवस्था न भवतीति संगया-तथात्यन्तसंशयस्तद्धर्म्भसातत्योपपत्तेः। येन करपेन भवान समानधम्मौपपत्तेः संशय इति मन्यते, तेन खल्वत्यन्तसंशयः प्रसच्यते । समान-धम्मीपपत्तेरनुच्छेदात् संशयानुच्छेदः। नायमतद्भम्भी धम्भी विमृश्यमानो शृह्यते । सततन्तु तद्धमर्गा भवतीति ।०। अस्य प्रतिषेधपपञ्चस्य सङ्घ पेणोद्धारः । यथोक्ताध्यवसायादेव तद्विशेषापेक्षात् संशये नासंशयो नात्यन्तसंशयो वा। संशयातुपपत्तिः संशयातुच्छेदश्च न पसज्यते। कथम् ? यत् तावत् समान-धम्मीध्यवसायः संशयहतुर्ने समानधम्मीमात्रमिति। एवमेतत्। कस्मादेवं नोच्यते इति ? विशेषापेक्ष इति वचनात् सिद्धेः। विशेषस्यापेक्षाकाङ्का, सा चानुपलभ्यमाने विशेषे समर्था। न चोक्तं समानथम्मापेक्ष इति। समाने च धर्मो कथमाकाङ्घा न भवेत्। यद्ययं प्रत्यक्षः स्यात्। एतेन सामध्येन बायते समानधम्मीध्यवसायादिति। उपपत्तिवचनार् वा समानधम्मीपपत्तेः इत्युच्यते । न चान्या सद्भावसंवेदनाहते संगानधम्मौपपत्तिरस्ति । अनुपलभ्य-मानसञ्ज्ञावो हि विजेषो धम्पौऽविद्यमानवद् भवतीति। विषयशब्देन बा विषयिणः प्रत्ययस्याभिधानम्। यथा लोके धूमेनाधिरतुमीयते इत्युक्ती धूम-दर्भनेनाग्निरतुमीयते इति ज्ञायते। कथम् ? दृष्ट्वा हि धृपमित्रमतुमिनोति नादृष्ट्वा। न च वाक्ये दर्भनशब्दः श्रूयते। अनुजानाति च वाक्यार्थ-प्रत्यायकत्तम्। तेन मन्यामहेः विषयशब्देन विषयिणः प्रत्ययाभिधानं वोद्धानुजानाति। एविमहापि समानधम्भीशब्देन समानधम्मीध्यवसायम् आहेति। यदुक्तम् समानमनयोर्धमभैग्रपलभत इति धर्माधरिमोग्रहणे संश्याभाव इति । पूर्व्वदृष्टविषयमेतत् । यावहमथौ पूर्व्वमद्राक्षं तयोः समानं धरमीमुपलभे, विजेषं नोपलभे इति। कथनतु विजेषं पश्येयं येनान्यतरमव-धारयेयमिति। न चैतत् समानधम्मौपलब्धौ धर्मीधर्मित्रग्रहणमात्रेण निवर्त्तत इति । यचोक्तं-नार्थान्तराध्यवसायादन्यत्र संशय इति । यो हार्थान्तराध्यव-सायमात्रं संशयहेतुमुपाददीत स एवं वाच्य इति। यत् पुनरेतत् काय्येकारणयोः सारूप्याभावादिति। कारणस्य भावाभावयोः कार्य्यस्य भावाभावौ कार्य-कारणयोः सारूप्यम् । यस्योत्पादाद् यदुत्पद्यते यस्य चानुत्पादाद् यन्नोत्पद्यते

किमकालमृत्युरस्ति नास्तीति। दृष्टाश्रायुष्मल्लच्यौरुपेताश्च

तत् कारणं, कार्यमितरत् इत्येतत् सारूप्यम्। अस्ति च संशयकारणे संशये चैतत् इति। एतेनानेकधम्मीध्यवसायादिति मतिषेधः परिहत इति। यत् पुनरेतत् उक्तं विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायाच न संशय इति। पृथक्पवादयोव्योहतम् अर्थमुपलभे विशेपश्च नोपलभे येनान्यतरमवधारयेयमिति। संशयो विमतिपत्तिजनितोऽयं न विजेषः स्याद् येनैकतरमवधारयेयमिति। शक्यो विप्रतिपत्तिसम्प्रतिपत्तिमात्रेण निवर्त्तियतुमिति। एवमुपलब्ध्यसुप-लव्ध्यव्यवस्थाकृते वेदितव्यमिति । यत् पुनरेतत् विमतिपत्ताविति । विमति-पत्तिशब्दस्य योऽर्थस्तद्ध्यवसायो विशेषापेक्षः संशयहेतुस्तस्य च समाख्यान्तरेण न निष्टत्तिः। समानेऽधिकरणे व्याहताथो^९ प्रवादौ विप्रतिपत्तिशब्दस्यार्थः। तदध्यवसायश्च विशेपापेक्षः संशयहेतुर्न चास्य सम्प्रतिपत्तिशब्दे समाख्यान्तरे योज्यमाने संशयहेतुलं निवर्त्तते। तदिदमकुतयुद्धिसम्मोहनमिति। पुनरच्यवस्थात्मनि च्यवस्थितलाचाच्यवस्थाया इति। मंशयहेतोरथस्य अप्रतिपेधादच्यवस्थाभ्यनुद्यानाच निमित्तान्तरेण शब्दान्तरकरपना व्यर्था। अन्यवस्था खळू न्यवस्था न भवति। अन्यवस्थात्मनि न्यवस्थिततादिति अनयोर्पलब्ध्यनुपलब्ध्योः सदसद्विपयलं विशेपापेक्षं संशयहेतुने भवतीति प्रतिपिध्यते। यावता चान्यवस्थात्मनि व्यवस्थिता तावदात्मानं जहाति । तावता ह्यनुहाता भवत्यव्यवस्था। एवमियं क्रिय-माणापि शब्दान्तरकल्पना नार्थान्तरं साध्यतीति। यत् पुनरेतत्। तथात्यन्त-संशयस्तद्धम्मेसातत्योपपत्तेरिति। नायं समानधम्मीदिभ्य एव संशयः। किं तर्हि ? तत्तद्विषयाध्यवसायार् विजेपस्मृतिसंहितादित्यतो नात्यन्तसंशय इति । अन्यतरधम्मीध्यवसायाद्वा न संशय इति, यदुक्तं विशेपापेक्षो विमशेः संशय इति वचनात्। विशेपश्चान्यतर्धर्माः, न च तस्मिन्नध्यवसीयमाने विशेषा-पेक्षा सम्भवतीति। यत्र संशयस्तत्रैवमुत्तरोत्तरमसङ्गः। यत्र यत्र संशयपूर्विका परीक्षा शास्त्रे कथायां वा, तत्र तत्रैवं संशये परेण प्रतिपिद्धे समाधिर्वाच्यः इति । इति सन्वेपरीक्षाव्यापिलात् संशयः परीक्षित इति । स्वयमुद्राहरति— यथेत्यादि। अकालमृत्युरस्ति किं नास्तीति संशयः। कथमित्यत आह—

^{&#}x27;स्थाणुर्वो पुरुषो वा'' इति । इष्टा हीत्यादिना संदायोत्पत्तिसामग्रीमाह, तत्रायुप्यलक्षणोपेतानाम्

अनुपेताश्च तथाकियाः सिकयाश्च पुरुषाः शीव्रभङ्गाश्चिरजीवि-नश्च । तदुभयदृष्टत्वात् संशयः किमस्ति खल्वकालमृत्युस्त नास्तीति ॥ ३८॥

अथ प्रयोजनम् । प्रयोजनं नाम यद्र्थमारभ्यन्ते आरम्भाः। तद् यथा यद्यकालमुत्युरस्ति ततोऽहमात्मानमायुष्यैरुप-चरिष्यामि, अनायुष्याणि च परिहरिष्यामि, कथं माम् अकालमृत्युः प्रसहेतेति प्रयोजनम् ॥ ३६॥

अथ सन्यभिचारम्। सन्यभिचारं नाम यद् व्यभि-

दृष्टाइचेत्यादि। तदुभयदृष्टलाद् विमितिपत्तितोऽयं संशयः किमस्ती-त्यादि॥ ३८॥

गृहाघरः—अथ संशये सित वादे प्रवर्तते न चासंशयवानित्यतः पुनर्जयाद्यर्थं चासंशयवानि वादे प्रवर्तते ततः प्रयोजनिम्त्युक्तं यत् तदाह—अथ प्रयोजनम्। वादे प्रवृत्तौ संशयवद्यरमि प्रयोजनमस्तीति तत् किमित्यत आह—प्रयोजनं नामत्यादि। यदर्थं यत्कलायारम्भाः क्रिया आरभ्यन्ते तत् फलं प्रयोजनं नामोच्यते, तदुदाहरति—यद्यकालमृत्युरित्यादि। गौतमेनाप्युक्तम्। यमर्थमिष्टिकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनिमिति। व्याख्यातश्च वात्स्यायनेन। यमर्थमाप्तव्यं हातव्यं वाध्यवसाय तदाप्तिहानोपायमज्जतिष्ठति तत् प्रयोजनं वेदितव्यम्, प्रवृत्तिहेतुलात्। इममर्थमाप्त्यामि हास्यामि वेति व्यवसायोऽर्थस्याधिकारः। एवं व्यवसीयमानोऽर्थोऽधिक्रियते इति।। ३९।।

गङ्गाधरः—अथ वादे पवर्त्तमाने यद् वाक्यं तस्य दोपविशेषात् सन्यभिचारं श्रेयं भवतीत्युद्दिण्डं सन्यभिचारमिति यत् तदाह—अथ सन्यभिचारमिति। अनन्तरं सन्यभिचारं यत् किं नु खळु तदुच्यते इत्यत आह—सन्यभिचारं

अिकयाणां शीव्रमङ्गे तथा सिकयाणाञ्च चिरजीवने दृष्टे अकालमृत्युरस्तीति बुद्धिः, एतद्विपर्यये चाकाले मृत्युनीस्तीति बुद्धिः ॥ ३८ ॥

चक्रपाणिः — यदर्थमिति यन्निमित्तम् । प्रसहेतेति मारयेदित्यर्थः । सन्यभिचारमित्यनैकान्तिकम्

चरणस्। यथा भवेदिद्सीपधं तिस्मन् व्याधी यौगिकमथवा नेति॥ ४०॥

अथ जिज्ञासा । जिज्ञासा नाम परीचा । यथा भेपज-परीचोत्तरकालमुपदेच्यते ॥ ४१ ॥

नामेत्यादि। यर्व्यभिचरणमनेकान्तवचनं कचित् तथा कचिदन्यथेति तत् सन्यभिचारं न्यभिचारेण सहितं वर्त्तमानम्। गौतमेनोक्तश्च। अनैकान्तिकः सन्यभिचारः। न्याख्यातञ्चैतत् न्यभिचार एकत्रान्यवस्था, सह न्यभिचारेण वर्त्तते इति सन्यभिचारः। नित्यः शन्दोऽस्पर्शतात्, स्पर्शवान् कुम्भोऽनित्यो दृष्टः। न च तथा स्पर्भवान् शब्दस्तस्मादस्पर्भतान्त्रित्यः शब्द इति दृष्टान्ते स्पर्भवत्त्वमनित्यत्वश्च धम्मो^०न साध्यसाधनभूतौ दृश्येते स्पर्भवांश्वाणुर्नित्यश्चेति। स्व्यभिचारस्तरपर्जलनित्यते। आत्मादौ च दृष्टान्ते उदाहरणसाध्मर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुरिति । अस्पर्भतादिति हेतुन्धीभचरति । अस्पर्शो चुद्धिरनित्या चेति। एवं. द्विविधेऽपि दृष्टान्ते व्यभिचारात् साध्यसाधनभावो नास्तीति ते तु लक्षणलक्ष्यलाभावादहेतुरिति। नित्यलमप्येकोऽन्त अनित्यलमप्यनेकोऽन्तः। एकस्मिन्नन्ते विद्यते इत्यैकान्तिकः। विषय्पयादनै-कान्तिकः उभयान्तव्यापकलादिति। हेतोद्रीपतया गौतमेन हेलाभासेपूक्तः। इह तन्त्रे हेतुदोपलेऽपि हेतुमात्रदोपलाभावात् हेतुदोपलवदन्यस्यापि दोप इत्यभिमायेण पृथगुक्त इति ख्यापनायोदाहरणं दर्भयति। यथेत्यादि। तस्मिन् व्याघी ज्वरादी खिलवदमीपधं भवेदथ न वा भवेदिति त्वेकानतला-भावादनेकान्तमिति ॥ ४०॥

गङ्गाधरः—सन्यभिचारज्ञानमुत्तवा वादं कर्त्तन्ये जिज्ञासा कर्त्तन्येति पूर्विमुद्दिष्टं जिज्ञासेति, तामाह—अथ जिज्ञासेति। अनन्तरं जिज्ञासा वादं कर्त्तन्या का पुनः सा जिज्ञासा इत्यत आह—जिज्ञासा नामेत्यादि। परीक्षा तु जिज्ञासाभिधीयते। न हि प्रश्नमात्रे जिज्ञासाभवति प्रश्ने कृतेऽकृते वा प्रमाणैस्तदुत्तरं सदसदूषेण ज्ञातुमिच्छा परीक्षेव जिज्ञासाशब्दस्यार्थः। यथा भेषजपरीक्षोत्तरकालमुपदेक्ष्यते इति।। ४१।।

इस्यर्थः । अथवा नेति न भवति । अनैकान्तिकज्ञात्रीपधं यौगिकत्वायौगिकत्वाभ्यां संशय-जनक्रमेव । तेन, संशयेन सममेकताःन शङ्कनीयाऽनैकान्तिकस्य । उत्तरकाल्मिति इहैव परीक्षा- अथ व्यवसायः। व्यवसायो नाम निश्चयः। यथा वातिक एवायं व्याधिरिदमेवात्र भेपजञ्च ॥ ४२ ॥

अथार्थप्राप्तिः। अर्थप्राप्तिर्नाम यत्रैकेनार्थेनोक्तेन।परस्य चार्थ-रयानुक्तस्य तिद्धिः। यथा नायं सन्तर्पणसाध्यो व्याधिरित्युक्ते भवत्यर्थप्राप्तिरपतर्पणसाध्योऽयमिति। नानेन दिवा भोक्तव्यम् इत्युक्ते भव अर्थप्राप्तिर्निशि भोक्तव्यमिति॥ ५३॥

गङ्गाधरः—परीक्षानन्तरं व्यवसायः कार्य्य इत्यत उद्दिष्टं व्यवसाय इति।
स उच्यते—अथ व्यवसाय इति। गुणतो दोपतो बातुमिच्छताऽनन्तरं
व्यवसायः कर्त्तव्यः। कः पुनर्व्यवसाय इत्यत आह—व्यवसायो नाम निश्चय
इति। गुणतो दोपतोऽथो निश्चीयते येन बानेन तन्निश्चयो बानम्, तेन हि
बानेन योधपूर्व्वकं कर्तुं वक्तुं वा पुमान् व्यवस्यतीति सा व्यवसायादिनका बुद्धिः। यथा—वातिक एवायं व्याधिरिति निश्चयः, इह तु व्याधाविदमेव भेपजिमति निश्चयो व्यवसायः॥ ४२॥

गङ्गाधरः—अथैप निश्चयः प्रत्यक्षानुमानै तिह्यौपम्यैरेव किं स्यादित्यत उक्तम्—अर्थमाप्तिरिति । न खलु प्रत्यक्षानुमानै तिह्यौपम्यमात्रेण निश्चयः स्याद्र्यप्राप्तितश्च स्यात् तस्मादाह — अथार्थमाप्तिरिति । अथानन्तरमर्थमाप्तिः । सा च कीद्दशीत्यत आह — अर्थमाप्तिनीमेत्यादि । यत्र वाक्ये खल्वेकेनार्थेन उक्तेनापरस्यानुक्तस्य श्रुतिभिरनभिहितस्यार्थस्य सिद्धिर्भवति यया साऽये-पाप्तिनीम । तदुदाहरति — यथेत्यादि । तिस्तीपणीये विस्तरेण व्याख्यातेयमर्थ-प्राप्तिर्यापितिरित्युच्यतेऽन्यैरिति ॥ ४३ ॥

प्रकरणे। किंवा रसायने ''भेपजं द्विविधम्'' इत्यादिना। अर्थशाप्तिरित्यर्थापत्तिरित्यर्थः। इ 'इत्तेन' इति वचनात् श्रुतार्थापत्तिरेव विवक्षिता, दृष्टार्थापत्तिरिप तु एतत्सामान्यत्वेनैव । इयञ्चार्थापत्तिरन्यथोपपत्त्या न प्रमाणमिति न प्रमाणप्रकरणे पठिता, या तु दोपरिहता ।। इत्यञ्चार्थापत्तिनेवित भावः। यो द्वपत्रपणसाध्योऽपि न स्यात्, तं प्रति 'नायं सन्तर्पणसाध्यः' इति वचनमेवासमर्थविद्योपणतया न स्यादित्यर्थापत्तिनेत्यभिप्रायः, उभयासाध्यो हि 'असाध्यः' इत्येतावदेव वक्तव्यं स्यात्। एवमन्यत्राप्युदाहरणे होयम् ॥ ३९—४३॥

अथ सम्भवः। सम्भवो नाम यो यतः सम्भवति, स तस्य सम्भवः। यथा षड् धातवो हि गर्भस्य, व्याधेरहितम्, हितमारोग्यस्य ॥ ४४ ॥

अथानुयोज्यस् । अनुयोज्यं नाम यद् वाक्यं वाक्यदोपयुक्तं तद्नुयोज्यमिख्च्यते । सामान्यव्याहृतेष्वर्थेषु वा विशेषप्रहृगार्थं

गङ्गाधरः - नमु तर्हि भत्यक्षानुमानै तिह्यौपम्यार्थमाप्तिभिरेव कि निश्चयः स्यादित्याकाङ्कायामुहिष्टं सम्भव इति। न खलु प्रत्यक्षादिभिरेव केवलैः निश्चयः स्यात् सम्भवेनापि निश्चयो भवतीत्यत आह—अथ सम्भव इति। कः पुनः सम्भव इत्यत आह—सम्भवो नामेत्यादि । यो यतः सम्भवति स तस्य सम्भव उत्पत्तप्रादिषु सम्भावनाहेतुरिति। अविनाभावष्टत्तप्रा संवद्धयोः समुदायसमुदायिनोः समुदायेनेतरस्य ग्रहणं सम्भवस्तद्प्यनुमानमेव। यथा द्रोणस्य सम्भावना प्रस्थादिमन्तरेण न स्यादिति प्रस्थादिमानं द्रोणस्य सम्भवः। एवमेवाभिनेत्य खयमुदाहरति। यथा पड् धातवो गर्भस्य, व्याधेरहितं हितमारोग्यस्येति। पङ्धातुः पुरुषः इह न केवलो गर्शस्य सम्भावनाहेतुः अदुष्टशुक्रशोणितगर्भाशयपुष्पकालाश्च हेतव इत्यतः पड् धातव इति वहु-वचनान्तमुक्तम् । इदं गर्भस्योत्पत्तिसम्भावनाहेतुसम्भवोदाहरणम् । अहिता-चरणं व्याधिसम्भावनाहेतुहितसेवनमारोग्यसम्भावनाहेतुः तिस्र पणीयेऽस्य प्रामाण्यं व्याख्यातं विस्तरेण ॥ ४४ ॥

गङ्गाधरः - इत्येवं प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैः कृते निश्चये वादे यद्वाक्यं दुष्टं तदाह। अनुयोज्यमित्युद्दिण्टं यत् तदाह—अथानुयोज्यमिति। वादे यद्वाक्य-मनुयोज्यं तज्को यमित्यत आह—अनुयोज्यं नामेत्यादि। यद्वाक्यं वाक्य-दोषयुक्तं तद्दाक्यमनुयोज्यमनुयोक्तुमहेति शक्यते च वादिना। अनुयोगो हि दूपणवचनम्। वाक्यदोपा इहैव वक्ष्यन्ते न्यूनादयः। उदाहरिष्यन्ते द्वितीयमनुयोज्यमाह—सामान्येत्यादि। सामान्येनोक्तेषु खल्वर्थेषु

चक्रपाणिः—सम्भवति विद्यते अस्मिन्निति सम्भवः, कारणं हि अन्यक्तस्वजन्मकार्य्यमुक्तम्। यथा—सम्भवति खार्च्यां द्रोण इत्यादि, तत्समानमेतद्प्युदाहरणं भवति ॥ ४४ ॥

चक्रपाणिः—अनुयोज्यान्तरमाह्—सामान्येनेत्यादि । अननुयोज्यमाह अतो विपर्य्ययेणेति ।

तद्दाक्यमनुयोज्यम् । यथा संशोधनसाध्योऽयं व्याधिरित्युक्ते किं वमनसाध्योऽयं किं विरेचनसाध्य इत्यनुयुज्यते ॥ ४५ ॥

अथाननुयोज्यम् । अननुयोज्यं नाम अतो विपर्य्ययेण । यथा अयमसाध्यः ॥ ४६॥

अथानुयोगः । अनुयोगो नाम स यत् तिह्यानां तिह्रदेगरेव सार्ह्मं तन्त्रे तन्त्रेकदेशे वा प्रक्षः प्रश्नेकदेशो वा ज्ञानिवज्ञान-वचनप्रतिवचनपरीचार्थमादिश्यते । अथवा निस्रः पुरुष इति प्रतिज्ञाते, परो यत् को हेतुरित्याह सोऽनुयोगः ॥ ४९॥

यद्दाक्यं विशेषार्थग्रहणार्थं तद्दाक्यमनुयोज्यमनुयोगार्धं भवति, तद् यथा—संशोधनसाध्योऽयं व्याधिरिति वाक्यं सामान्येन संशोधनेनोक्तं तद्नुयोज्यं भवति। किमयं व्याधिर्वमनसाध्योऽथवा विरेचनसाध्य इति विशेषग्रहणार्थमनुयुज्यते। इति ॥ ४५॥

गङ्गाधरः—तर्धि कीदृशवाक्यमनतुयोज्यिमत्यत उदृष्टमनतुयोज्यं दर्भयति, अथानतुयोज्यिमिति। अनुयोज्यं नामेत्यादि। अतोऽनुयोज्याद् ज्याक्याद् विषय्येयेण न्यूनादिदोपाभावेन सविशेषवचनेन युक्तं यद् वाक्यं तद्नतुयोज्यं नाम। अनुयोगाहं न भवति। यथा वमनसाध्योऽयं ज्याधिरिति। वाक्य-प्रशंसायाम् अनुयोज्यं दर्शयिष्यते॥ ४६॥

गङ्गाधरः—तर्हि कः पुनरनुयोग इत्यत उद्दिष्टमनुयोगमाह—अथानुयोग इति। अनुयोगः कीद्दश इत्यत आह—अनुयोगो नामेत्यादि। तिद्द्धानां तत्तच्छास्त्रं विद्वांसो ये तेषां विदुषां तिद्दिग्ररेष सार्ष्कं तिस्मंस्तन्त्रे कृत्सने प्रश्नः। अथवा तत्तन्त्रैकदेशे कुत्रचित् स्थाने प्रश्नैकदेशो ज्ञानार्थं विज्ञानार्थं वचनप्रतिवचनार्थं परीक्षार्थं वा यः पूर्व्यमादिश्यते स प्रश्नादेशः पश्नैकदेशस्या-देशोऽनुयोगः। तत्रोत्तरं यद्वावयं न्यूनादिदोषयुक्तं सामान्योक्तं वा तत्र च यः प्रश्नः पश्निकदेशो वादिश्यते सोऽप्यनुयोग इति। अथवा परेणोक्ते यत्परेण तत्र हेतुः पृच्छाते सोऽप्यनुयोगः। यथा नित्यः पुरुष इत्युक्ते परः पृच्छिति को हेत्रिति॥ ४७॥

यधोक्तांनुयोज्यप्रकरणस्योदाहरणविषर्ययेण ज्ञेयम् । अनुयोगमाह—प्रश्न इति, 'प्रश्नः'इतिशब्देन

अथ प्रत्यंत्योगः। प्रत्यतुयोगो नास अनुयोगस्यानुयोगः। यथा ऋस्यानुयोगस्य पुनः को हेतुरिति ॥ ४८ ॥

अथ वाक्यदोवः। वावयदोवो नाम यथा खल्बस्मन्नर्थे नूग्रनमधिकसनर्थकसपार्थकं विरुद्धश्च । नतानि विना प्रकृतोऽर्थः प्रगार्येत् ॥ ४६ ॥

तत्र न्यूनम् । प्रतिज्ञाहेतृदाइरणोपनयंनिगमनानाम् अन्य-तसेनापि न्यूनं न्यूनं भवतीति । यदा वहूपदिष्टहेतुकमेकेन हेतुना साध्यते तच्च नूरनम् ॥ ५० ॥

गङ्गाधर:-एवयनुयोक्ता यदि दुष्टं वाक्यं सामान्यार्थवाक्यं वा ब्रूते तदा पूर्विपक्षवादी किं कुर्यादित्यत उद्दिष्टं प्रत्यनुयोगमाह—अथ प्रत्यनुयोग इति। कः मत्यनुयोग इत्यत आह—मत्यनुयोगो नामेत्यादि। अनुयोगस्य अनुयोगः मत्यनुयोग उच्यते। यथास्यानुयोगस्य नित्यः पुरुप इति प्रति-शातें अनुयोगः को हेतुरिति प्रश्नः। तत्र पुनः को हेतुरिति वचनं प्रति विपरीत-प्रशः प्रत्यन्योगः। पुरुपनित्यत्वपतिकायां यो भवान् पृच्छति को हेतुस्तत्-मझने कि कारणं भवत इति॥ ४८॥

गङ्गाधरः—ननु तत्र के वाक्यदोपा इत्यत उद्दिष्टो वाक्यदोप उच्यते—अथ वाक्यदोप इति। वाक्यदोपो नामेत्यादि। स वाक्यदोपो नाम यथा वाक्यमस्मिन्नर्थे न्यूनमस्मिन्नर्थेऽधिकमस्मिन्नर्थेऽनर्थकमस्मिन्नर्थेऽपार्थक-मस्सिन्नथ विरुद्धिमत्येतन्न्यून्तादयो दोषाः। कस्मादेते दोषा इत्यत आह— नैतानीत्यादि। हि यस्पादेतानि न्यूनलादीनि अन्तरेण वाक्यस्य प्रकृतोऽथौं न मणश्येदंतैः मकुतार्थमणाज्ञादंते वाक्यस्य दोषा उच्यन्ते ॥ ४९ ॥

गङ्गाधरः—तत्र कि न्यूनिमत्यत आह—प्रतिक त्यादि। पश्चानां वाक्यावयवानामन्यतमेनापि न्यूनं वाक्यं न्यूनं भवति। गौतमेन यथोक्तशास्त्रेण पूर्णप्रक्षो गृहाते, यथा अत्रैव "तत्र चेद् भिपक् भिपजं पृच्छेद्" इत्यादिना याव-इक्तम्, तत् संपूर्ण ज्ञेयम्, अत्रैव चैकदेशोऽपि प्रश्नस्य ज्ञेयः ॥ ४५-४८ ॥

चक्रपाणिः—वाक्यदोपानुदाहरति—वाक्येत्यादि । 'अस्मिन्नर्थं' इति वचनेन च्छलहेत्वा-भासादिपदगृहीतानिष वानयदोपत्वेन दर्शयति । छलादयो हि वानयदोषा एव, परं पृथग्गृहीत-

अथाधिकम्। अधिकं नाम नूरनिवपरीतम्। यहायुव्वेदे भाज्यमाणे वार्हस्परयमीशनसमन्यद्वा यत्किश्चिदप्रतिसम्बद्धार्थ-मुच्यते। यद्वा प्रतिसम्बद्धार्थमपि द्विरिभधीयते, तत् पुनरुक्तत्वा-दिधकम्। तच पुनरुक्तं द्विविधम् ; अर्थपुनरुक्तं शब्दपुनरुक्तश्च। तत्रार्थपुनरुक्तं यथा भेषजमीषधं साधनिवित । शब्दपुनरुक्तश्च भेषजं भेषजमिति ॥ ५१॥

चोक्तम्। हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनमिति। प्रतिबादीनामवयवानामन्य-तमेन हीनं न्यूनं निग्रहस्थानं साधनाभावे साध्यासिद्धेरिति। अपरश्चाह— यद्देत्यादि। वहूपदिष्ट्देतुकमर्थं यद्देकेन हेतुना साध्यते तदपि न्यन-मिति॥ ५०॥

गृह्मधरः—अथाधिकं नाम न्यूनिवपरीतमधिकम्, समन्तु प्रकृतपदोपं ततो न न्यूनपर्यायेण गृह्यते साम्यमिति । गौतमेन चोक्तम् । हेत्दाहरणाधिक-मधिकमिति । एकेन कृतकलादित्यनेन होत्ना सिद्धौ पुनरिनत्यः पुरुषः कृतकलादुत्पत्तियम्मकलात् इत्यादिषु द्वितीयहेलादरानथेन्यमिति । एवं यद्वक्तव्यं तत्रामितसम्बद्धाथेवचनं मितसम्बद्धाथेस्य वा द्विरिभधानं तद्व्यधिक-मिति त्रिविधमधिकम् । तदुदाहरित—यद्वायुर्व्वदं भाष्यमाणे तद्मितसम्बद्धार्थं वार्हस्यत्यमौशनमं वा शास्त्राक्तमुच्यते तद्धिकम् । यचायुर्व्वदं भाष्यमाणे यत् तत्र मितसम्बद्धार्थं द्विरूच्यते तत् । पुनरुक्तं द्विविधम् । अथेषुनरुक्तं शब्द-पुनरुक्तश्च । तत्राथेपुनरुक्तं भेषजभौषधं साधनमिति, शब्दपुनरुक्तश्च भेषजं भेषजभिति । एतचानुवादादन्यत्र दोषाख्यं भवति । गौतमेनोक्तिवदम्

त्वादिह नोच्यन्ते तथा शास्त्रान्तरोक्ताश्चापसिद्धान्तादयोऽनया भाषया सूच्यन्ते वाक्यदोषाः ।
यद्वेत्यादो यदा पुरुषस्य नित्यत्वेऽिष हेतव उक्ता अनादित्वादकृतकत्वान्निर्विकारत्वादिति च, तेषु
यदि सकलहेत्वभिधानं प्रतिज्ञाय एकं हेतुं ब्रुवते, तदा प्रतिज्ञातार्थस्य न्यूनार्थत्वात् न्यूनं भवतीति
ज्ञेयम्, यदा हेतुर्वक्तव्यः, तदा एक एव वक्तव्यो युज्यते, एकस्यापि हेतोः साध्यसाधनसम्बन्धात् ।
तेन, तत्र बहुहेतुकथनमेवाधिकत्वाद् दोष एव भवतीति । प्रकृत इति साध्यत्वेन प्रतिज्ञातः ।
वार्हस्पत्यमौशनसञ्च नीतिशास्त्रम् । अप्रतिसम्बद्धार्थमित्यनेन, वार्हस्पत्यमिष यदि धनैपणाभिधानप्रसङ्गेन प्रसङ्गागतं भवति, तदा स्तोकक्रमेणोच्यमानमायुर्वेदोपकारकत्वेन नाधिकमिति
दर्शयति । पुनरुकदोपादिति दोपवतः पुनरुक्तादित्यर्थः । दोपवत्त्वञ्च यथा पुनरुक्तस्य, तथोक्तमेय ।

अथानर्थकम्। अनर्थकं नाम यहचनमच्रायाममात्रमेव स्यात् पञ्चवर्गवन्न चार्थतो गृह्यते ॥ ५२ ॥

अथावार्थकम् । अपार्थकं नाम यद्र्थवच परस्परेगा असंयुज्यमानार्थकम्। यथा तकचक्रवंशरक्तनिशाकरा इति ॥५३

अधिकात् पृथक्। शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रान्वादात्। इति व्याख्यातञ्चैतत्। अन्यत्रानुवादात् शब्दपुनरुक्तमथेपुनरुक्तं वा, नित्यः शब्दो नित्यः शब्द इति शब्दपुनरुक्तम्। अर्थपुनरुक्तन्तु अनित्यः शब्दो निरुद्धधरमंको ध्वान इति। अनुवादे लपुनरुक्तं शब्दाभ्यासाद्धंविकोषोप-पंत्रः। यथा हेलपदेशात् प्रतिकायाः पुनर्व्यचनं निगमनिमति । अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्व्वचनम् पुनरुक्तम्। उत्पत्तिधरमेकलाद्नित्यमनुत्पत्तिधरमेकं इहोत्पत्तिधम्मेकलाद्नित्य इत्युक्तयार्थोदापद्यतेऽनुत्पत्तिधम्मेकं नित्यमिति तस्यार्थोदापन्नस्यार्थस्याभिशायको योऽनुत्पत्तिधम्मकं नित्यमिति शब्दस्तेन स्वेन शब्देन पुनस्तदर्थस्य वचनमनुत्पत्तिधम्मंकं नित्यमिति तच्च अथेसम्प्रत्ययार्थं शन्द्रयोगे स सर्थोऽर्थापत्या प्रनरुक्तम्। इति॥ ५१॥

गङ्गाधरः—अनर्थकन्तु वाक्यदोपमाह—अथानर्थकमिति। तद्नर्थकं नामै वाक्यं यद् वाक्यं पश्चवर्गवदक्षरग्राममात्रमेव स्यात्। कखगघङा इत्याद्यक्षर-ग्राममात्रमेव यथानर्थकं नाथेतो गृह्यते तथा भद कद सद लिद निदेत्येवमादि-बाक्यमनर्थकं न चार्थतो गृह्यते। इति। गौतमेनाप्युक्तम्। वर्णक्रमनिर्देश-वित्ररथेकम्। थथा नित्यः शब्दः कचटतपा जङ्गवदशलात् झभन-घढधप्-वदिति। एवंपकारं निरर्थकम्। अभिधानाभिधेयातुपपत्तावर्थावगतेरभावाद् वर्णा एव क्रमेण निद्दिश्यन्त इति ॥ ५२ ॥

<u>्र गङ्गाधरः</u>—अपार्थकञ्च वाक्यदोपमाह—अथापार्थकमिति । अपार्थकं नामे-स्यादि। तद् वानयमपार्थकं नाम यद् वानयमर्थवच्च परस्परेणासंयुज्यमानार्थकम्, परस्परेणान्वयहीनार्थकपदम्। यथा - तक्रचक्रवंशरक्तनिशाकरा इति। गौत-मेनाप्युक्तम् । पौर्वापर्यायोगादप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम् । यत्रानेकस्य पदस्य

पञ्चवर्गवदिति क ख ग घ ङादिवर्गसमुद्यवत्, अत्र स्वभिषेयोऽथौ न प्रतिभाति। प्रत्येकं पद्रूपतया प्रसिद्धार्थम् । परस्परेणासंयुज्यमानमिति वाक्यरूपत्याऽर्थाप्रस्विकम् । • चक्र- अथ विरुद्धम् । विरुद्धं नाम यद् दृष्टान्तसिद्धान्तसमयै-विरुद्धम् । तत्र पूर्व्वं दृष्टान्तसिद्धान्तावुक्तौ । समयः पुनस्त्रिधा भवति । यथायुवै दिकसमयो याज्ञिकसमयो मोज्ञ्शास्त्रिकसमय

वाक्यस्य वा पौर्वापय्यणान्वययोगो नास्तीत्यसम्बद्धार्थतं गृह्यते तत्-समुद्दायोऽर्थस्यापायादपार्थकमिति। यथा दशदाङ्मिं पङ्पूपाः कुण्डमिननं पल्लं पिण्डः। अथवा उरुकमेतत् कुमार्याः पार्यं तस्याः पिता अप्रतिशील इति ॥ ५३ ॥

गुङ्गाधरः-विरुद्धश्च वाक्यमाह-अथ विरुद्धम्। विरुद्धं नामेत्यादि। तद्विरुद्धं नाम वाक्यं यद् वाक्यं दृष्टान्तसिद्धान्तसमयैर्विरुद्धं भवति । दृष्टान्त-विरुद्धं सिद्धान्तविरुद्धं समयविरुद्धञ्चेति त्रिविधं विरुद्धवाक्यम् । तत्रेत्यादि । तत्र तेषु मध्ये दृष्टान्तसिद्धान्तावुक्ताविति इहैव पूर्व्यमुक्तौ यथा मूर्खविदुपां बुद्धिसाम्यं यो वर्ण्यं वर्णयति स दृष्टान्तः। यथाग्निरूण इत्यादि। तद्-दृष्टान्तविपरीतमुच्यमानं वाक्यं दृष्टान्तविरुद्धम्। यथा विहरूष्णः सिलल-वदिति दृष्टान्तविरुद्धम्। सिद्धान्तश्चोक्तः-यः परीक्षकैर्वहुविधं परीक्ष्य हेतुभिः साध्यिता स्थाप्यते निर्णयः स सिद्धान्तश्रतु विषेधः। सर्वितन्त्रं-प्रतितन्त्रसिद्धान्तोऽधिकरणसिद्धान्तोऽभ्युपगमसिद्धान्तश्चेति । तचतुर्विधसिद्धान्तविपरीतवचनं यद्वाक्यं तत् सिद्धान्तविरुद्धं वाक्यमिति। यथा नास्ति निदानं व्याधीनामिति सर्व्वतन्त्रविरुद्धं वाक्यम् । सप्तेन्द्रियाणीति प्रतितन्त्रसिद्धान्तविरुद्धं न कापि तन्त्रे सप्तेन्द्रियाण्युक्तानि । तम्रविरुद्धं तथापि कचित् पञ्चेन्द्रियाणि कचित् पडिन्द्रियाणि तत्र तत्र स्वे स्वे तन्त्रे सिद्धानि न विरुद्धानि, सप्तेन्द्रियाणि न कापि प्रतितन्त्र सिद्धानि तस्मात् प्रतितन्नसिद्धान्तविरुद्धत्तेनेष्यते तद्वाक्यमेवं नास्ति निदानं व्याधीनामित्यपि वोध्यम्। आनुवन्धिकं कम्मे मुक्तः कुरुते इति अधिकरण-सिद्धान्तविरुद्धम् । कार्य्येद्रन्यं प्रधानमिति वाक्यमभ्युपगमसिद्धान्तविरुद्धम् । अथ समयविरुद्धमाह—समयः पुनिरित्यादि। समयो नियमकरणम्। स च शास्त्रार्थवादे त्रिधा भवति । यथा आर्युव्वैदिकादिभेदात् । तत्रायुर्वेदिकसमयो

इत्यादयो हि शब्दाः क्रियां विना वानयरूपार्थानभिधायका इत्यर्थः । विरुद्धे द्रष्टान्तविरुद्धं यथा-

्इति । तत्रायुवैदिकसमयश्चतुष्पादं भेषजमिति । याज्ञिकसमयः ञ्रालभ्या यजमानैः पश्व इति । मोचशास्त्रिकसमयः सर्व-भूतेष्वहिंसेति । तत्र खसमयविपरीतमुच्यमानं विरुद्धं भवति । इति वाक्यदोषाः॥ ५४॥

यथा चतुष्पादं भेपजमिति। तत्राह दैवयुक्तिव्यपाश्रयमेव भेपजमिति। आयुर्वेदिकसमयविरुद्धं यद्यप्यत्रापि पूर्विमुक्तम्-प्रशाम्यत्यौपधैः पूर्वो दैवयुक्तिन्यपाश्रयेरिति तन्न, कृत्स्रभेपजवचनं वातादिशारीरदोपप्रशमनौपध-वचनलात्। याज्ञिकसमयः—आलभ्याः पशव इति, तद्विरुद्धन्तु न यज्ञे पशव आलभ्या इति। मोक्षशास्त्रिकसमयस्तु सन्वंभूतेष्विहंसेति तत्र विरुद्धं यहीषु हिंसा कार्य्येति। स्वर्गोदिसाधनत्वेन वन्धहेतुसात् इति। तत्र तत्र स्वसमय-विपरीतम्रच्यमानं समयविरुद्धं भवतीति । साधारणविरुद्धमिहोक्तं गौतमेन विरुद्धतं हेतृदोप उक्तः स चाभ्युपगमसिद्धान्तविरुद्धः। तद् यथा-सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः। इति यो हेतुः सिद्धान्तमभ्युपेत्य तं सिद्धान्तं विरुणिद्धं सं तद्विरोधी हेतुर्विरुद्धं उच्यते। अभ्युपेतं हि सिद्धान्तं व्याहन्तीति। यथा-सोऽयं विकारो व्यक्तरपैति नित्यत्वप्रतिपेधात्। अपेतो-ऽप्यस्ति विनाशप्रतिपेधात् न नित्यो विकार इत्युपपद्यते। इत्येवं हेतु-वर्यक्तरपेतोऽपि विकारोऽस्तीत्यनेन स्वसिद्धान्तेन विरुधप्रते। व्यक्तिरात्मलाभः। अपायः प्रच्युतिः। यद्यात्मलाभात् प्रच्युतो विकारोऽस्ति, नित्यलप्रतिषेधो नोपपद्यते। यद्व्यक्तेर्पेतस्यापि विकारस्यास्तिलं तत् खळ नित्यत्वमिति। नित्यत्वप्रतिषेशो नाम विकारस्यात्मलाभात् प्रच्युतेरुपपत्तिः। यदात्मलाभात् प्रच्यवते तदनित्यं दृष्टम्। यदस्ति न तदात्मलाभात् प्रच्यवते। अस्तिलञ्चात्मलाभात् प्रच्युतिरिति विरुद्धावेतौ सह सम्भवतः। इति। सोऽयं हेतुर्यत्सिद्धान्तमाश्रित्य प्रवत्तेते, तमेव व्याहन्तीति विरुद्धो हेतुरिति। नैतद्विरुद्ध छक्षणं साधारणविषयं केव छहेतु विषयतयैव हेलाभासे गौतमेनोक्त-मिति। इति वाक्यदोषा व्याख्याताः॥ ५४॥

यथा शीतं जलं तापकं तथा ज्वरोऽपीति। सिद्धान्तविरुद्धं यथा—वैद्यो ह्रते—न च भेपजं तथा यद्यायुर्वेदे चतुष्पादमेव भेषजमिति सिद्धान्त एव, तथापि 'चतुष्पाद'-रोगहरमिति ।

अथ वाक्यप्रशंसा। वाक्यप्रशंसा नाम यथा खल्वस्मिन्नर्थे त्वनूरनमनिषकमर्थः दनदार्थकमिक्छमिषगतददार्थञ्चेति यत् तद्वाक्यमननुयोज्यमिति प्रशस्यते॥ ५५॥

त्रथ च्छलम् । छलं नाम परिशठमर्थाभासमनर्थकं * वाग्वस्तुमात्रमेव । तद्द द्विविधं वाक्छलं सामान्यच्छलञ्च । तत्र

गृहाधरः—अथ वानयं कीदशमदुष्टिमित्यत आह—अथ वान्यप्रशंसेति। वान्यप्रशंसा नामेत्यादि। अस्मिन्नर्थे खिल्वदं वान्यपन्यनं निरुक्तन्यन्ति-दोपरिहतमस्मिन्नेवार्थेऽनिधिकमधिकलदोपहीनम् अस्मिन्नेवार्थेऽयेवदानथेन्य-हीनम् तथास्मिन्नेवार्थेऽनपाथेकमपाथेकलदोपहीनम्। तथेवास्मिन्नथेऽविरुद्धं द्ष्टान्तविरुद्धादिविरुद्धदोपरिहतम्। न त्वेतावन्मात्रं वान्यं प्रशंसन्ति पण्डिताः। ति कीदशं वान्यमित्यत आह—अधिगतपदार्थेञ्चेति। अधिगताः सम्यग्ज्ञातुमहीः पदार्था यत्र वान्ये तत्। वान्यमननुयोज्यमित्यस्मात् प्रशस्यते कुश्लेनं लन्यनादिकमपि गृहार्थेकं वान्यमननुयोज्यमपि प्रशस्यते दुव्वीधलात्।। ५५।।

गङ्गाधरः—तथा सित प्रशस्तवाक्येऽपि वादी च्छछं करोतीत्यतश्छलमुहिष्टं यत् तदाह—अथ च्छलमिति। किं पुनश्छलमुच्यते इत्यत आह—छछं नामत्यादि। छछं नाम तद् यत् परिशठमधीभासमनथेकं वाग्वस्तुमात्रमेवेत्येतैः शब्दैयीऽथीऽभिधीयते। उक्तश्च गौतमेन। वचनविघातोऽथिविकत्पोप-पत्त्या च्छलमिति। व्याख्यातश्च वात्स्यायनेन—न सामान्यलक्षणे च्छळं शक्यमुदाह पुम, विभागे तूदाहरणानि भवन्ति। विभागश्च। तत् त्रिविधं वाकच्छळं सामान्यच्छलमुपचारच्छलक्चेति। तेषां मध्ये—अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्। तद् यथेहापि विभव्योदाहरति। तद् द्विविधमिति। वाक्छलं सामान्यच्छलक्चेति। वाक्छलं हुप्रपचारच्छलस्य अविशेषाद् द्विविधं छळं वाक्छलं सामान्यच्छलक्चेति। तत्र गौतमेनोक्तं संशा समयक्तता श्चेषा। एवं याज्ञिकानाम् 'आलभ्य'संज्ञा समयक्रता, तत्र यदि स्वसमयविषदी भवति। अन्तुयोज्यमिति नानुयोगार्हम् ॥ ४९—५५॥

चक्रपाणिः—छलमित्यादि । परिशठमिति वक्कनात्रवृत्तम् । अर्थवदिवाभासोऽर्थाभासः । पुतदेव विवृणोति—अपार्थकमित्यादि । अपगतसमीचीनार्थत्वेन वाग्वस्तुमात्रमित्यर्थः । छलं

अनर्थकमित्यत्र अपार्थकमिति चक्रः ।

वाक्छलं नाम यथा कश्चिद् व्रू याच्चवतन्त्रोऽयं भिपगिति । ऋथ भिषक् ब्रूयान्नाहं नवतन्त्र एकतन्त्रोऽहमिति। परो ब्रूयान्नाहं ब्रवीसि नव तन्त्राणि तवेति, अपि तु नवाभ्यस्तं ते तन्त्रसिति।

वाक्छलमेवोपचारच्छलं तद्विशेपात्। इति। न वाक्छलादुपचारच्छलं भिद्यते, तस्या अप्यर्थान्तरकल्पनाया अविशेषात्। यतः, धम्मेविकल्प-निर्देशेऽर्थसञ्जावमतिषेध उपचारच्छलम्। अभिधानस्य धम्मौ यथायमयोगः। धर्मिविकल्पोऽन्यत्र दृष्टस्य धर्मिस्यान्यत्र प्रयोगः। तस्य निर्देशे धर्मिविकल्प-निद्देशऽर्थसन्द्रावपतिपेध उपचारच्छलम्। यथा मश्चाः क्रोशन्तीति मश्चस्थेपु पुरुपेपूपचारस्तेनार्थसन्दावेन प्रतिपेधः क्रियते। मञ्चस्थाः पुरुपाः क्रोशन्ति न मश्चा इति । का पुनरत्रार्थविकल्पोपपत्तिः ? अन्यथाप्रयुक्तस्यान्यथार्थ-कल्पनं भत्तया खळ लक्षणया प्रयोगे मञ्चाः क्रोशन्तीत्यत्र प्रधानेन मुख्यया वृत्त्याभिषया शक्तया कल्पनं न मञ्जाः क्रोशन्ति मञ्जस्थाः क्रोशन्तीति। उपचारविपयं छलप्रपचारच्छलप्रपचारान्नीतार्थः। चरणादिनिमित्तेनातद्भावे तद्ददिभधानग्रुपचार इति। इहापि खल्वविज्ञेपाभि-हितेऽथे वक्त्रभिपायादर्थान्तरकरपना भवतीति वाक्छलमेव। क्रोशन्तीत्युक्ते वक्तरभिमेतोऽथौँ मश्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्तीत्युपचारातु। तद्विजेषेण पदेन मञ्चा इत्यनेनाभिहितेऽथै वक्तुरभिपायविषयमश्चस्यपुरुपात् अर्थान्तरकरुपना मुख्यार्थमञ्चकरुपना वाक्छलमेव भवतीत्युपचारच्छलं वाक-छलमेव नातिरिक्तमिति।

तत्र वाक्छलमुदाहरति—तत्र वाक्छलं नामेत्यादि । कश्चिद् ब्र्यानवतन्नो-उयं भिपगिति। तत्र नवतन्त्र इति पदेन नवाभ्यस्तं तन्त्रं यस्येति वक्तरभि-प्रायविषयार्थोदर्थान्तरं करुपयिला भिषग् ब्रूयात्—नाहं नवतन्त्रः, एकतन्त्रो-उहिमिति। एकमेव तन्त्रं ममेति। तत्रापि परः स्पष्टं तदर्थं ब्रूयात्। नाहं व्रवीमि नव तज्ञाणि तवेति, अपि तु नवाभ्यस्तं ते तन्नमित्यव्रवम् । तत्रापि भिपक् अभिमेतादर्थादन्यार्थं कल्पयिला ब्रूयात्, न मया नवाभ्यस्तं

क्यभिष्रेताद्थीद्थीन्तरं परिकल्प्य परवचनोपघाताय प्रतिकल्प्यते । यदुक्तं न्याये—"वचनविघातो-८र्थविकरप उपचारच्छलम्" इति । अत्र वाक्छलमेवोपचारच्छलं न्यायोक्तं सम्भवति । सामान्य-शब्दोक्ते हार्थे वक्तुरभिष्ठायादर्थान्तरकरपना वानग्रलं, तेन, मञ्जाः क्रोशन्तीति अन्नापि 'मञ्च'- भिषग् ब्र्यात्र मया नवाभ्यस्तं तन्त्रम्, छनेकधाभ्यस्तं तन्त्रम्। इति वाक्छलम्। सामान्यच्छलं नाम यथा—व्याधि-प्रशमनायौषधमित्युक्ते परो ब्र्यात् सत् सत्प्रशमनायेति किं नु भवानाह ? सद्रोगः सद्रौषधं यदि च सत् सत्प्रशमनाय भवति तत्र सत्कासः सत्च्यः सत्सामान्यात् कासः च्यप्रशम-नाय भविष्यतीति। एतत् सामान्यच्छलम्॥ ५६॥

तश्रमनेकधाभ्यस्तं तत्रम्। इति वाक्छलम्। अत्र समासेन नाथेविजीपो विग्रहे
तु भवति विजेपः। नवाभ्यस्ते उपचारो नवशब्दस्य, तेन नवं नूतनमभ्यस्तं
तन्त्रं यस्पेति विग्रहः। तत्रोपचिरतेऽर्थेऽर्थान्तरकल्पना मुख्यया दृत्त्या नवशब्देन नवसह्या। तत आह—एकतन्नोऽहम्। इत्युपचारच्छलं वाक्छलमेवोदाहरणेनानेन शापितम्। तत्राप्युपचिरतार्थं नवाभ्यस्ते नवशब्दस्यार्थान्तरं
कल्पियता भिषगव्रवीत्। न नवाभ्यस्तं मे तन्नमपि त्वनेकधाभ्यस्तमिति
वाक्छलमित्रोपे शब्दे वाचि च्छलं वाक्छलमिति। एविमह विनोपचारादिप
वाक्छलं विद्यते। नवतन्नोऽयं भिषागिति नूतनतन्नोऽयमिति वक्तुरभिनायार्थः।
तत्र भिषगर्थान्तरं कल्पियताह नाहं नवतन्न एकतन्नोऽहमेकसंहितामधीतवान्।
तत्र परो ब्रूयात् नाहं नव ते तन्नाणीत्यव्यवं नूतनतन्नो भवानिति त्वव्यम्
इति। तत्रापि भिषगर्थान्तरं कल्पियताह—न मे तन्त्रं नृतनं परन्तार्पं प्राचीनम्।
इति वाक्छलम्।

अथ सामान्यच्छलमाह—सामान्यच्छलं नामेत्यादि। सम्भवदर्थस्याति-सामान्ययोगादसम्भूतार्थकल्पना। तद् यथा—यथेत्यादि। व्याध्यिशमन् नायौपधमित्युक्ते परः सम्भवदर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थं कल्पयिला त्रू यात् सत्सत्पशमनायेति भवानाहेति। सर्व्यं खळु सत् सत्तावत्त्वादित्यति-सामान्यं सत्ता तत्र सत्पदार्थः सम्भवति व्याधिषु चौषधेषु च। तदाह— सद्रोगः सदौपधमिति, तथाविधोऽधः खळु सत्पशमनाय सदित्येष चैदिष्ट-स्तदा सत्कासः सत्क्षयः सत्सामान्यात्। तहि किं कासस्ते क्षयमश्रमाय शब्दो मुख्यः सन् मन्चे वर्तते, उपचारात् तु मञ्जस्त्रेषु पुरुषेषु, 'मञ्च'शब्दप्रयोगे सित कथमचेतवा मजाः क्रोशन्तीति आक्षेपो वाक्छल एव प्रविश्वतीति भावः। अत्र वाक्छलमित्यादि वाक्यं स्नामान्यच्छललक्षणसंयुक्तं न्यायोक्तलक्षणमेव चेयम्, यथासम्भवं सामान्यशब्दोक्तेऽथं द्वर्थान्तरस्वापि

अथ अहेतुः। अहेतुर्नाम प्रकरणसमः संशयसमो वर्णातमः

भविष्यतीत्यसम्भूताथकल्पना सामान्यच्छलमिति। गौतमेनाप्युक्तम्। सम्भवतोsर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थकल्पना सामान्यच्छलमिति। च्याख्यात-ञ्चैतद् वात्स्यायनेन । अहो खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसम्पन्न इत्युक्ते कश्चिदाह—सम्भवति हि ब्राह्मणे साधारणे विद्याचरणसम्पत् इत्यस्य वचनस्य विघातोऽथेविकरपोपपत्त्या असम्भूताथंकरपनया क्रियते। यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पत् सम्भवति तदा त्रात्येऽपि सम्भवत् ; त्रात्योऽपि त्राह्मणो ब्राह्मणलस्यातिसामान्यस्य योगात्। ततो ब्रात्योऽप्यस्त विद्याचरणसम्पन्न इति । यद्विवक्षितमथंमामोति चातिशयमेति च तद्पि सामान्यम्। यथा ब्राह्मणत्वं विद्याचरणसम्पदं कचिदाम।ति कचिद्तिशयञ्चैति, तस्मात् सामान्यनिभित्तं छलं सामान्यच्छलमिति। एपां परिहारेण प्रत्यवस्थानमुन्नेयमिति। इति च्छलं व्याख्यातम् ॥ ५६ ॥

गङ्गाधरः-एवं वादे च्छलवचने हेतुरप्यहेतुर्भवति ततोऽहेतुर्विक्य इत्यत उद्दिष्टमहंतुरिति यत् तदाह—अथाहेतुरिति। अहेतुर्नामेत्यादि। हेतुलक्षणाभावात हितुसामान्यात् हेतुवद्भासमानो हेतुरहंतुरुच्यते। स च भिद्यते। अहेतुर्नामे-त्यादि। प्रकरणसमः संशयसमो वर्ण्यसम इति त्रिविधोऽहेतुर्नाम। गौतमेन त पश्चविधो हेलाभास उक्तः। सन्यभिचारविरुद्धमकरणसमसाध्यसमातीतकाला हेलाभासाः इति। तेपां सन्यभिचारस्य हेतुदोपलवदन्यत्र च दोपलाद्धेतु-मात्रदोपलाभावाच तथा विरुद्धस्य चातीतकालस्य च साधारणदोपलात् पृथगिहोक्तिः। वर्ण्यसमस्तु साध्यसम एव। इहोक्तः संशयसमस्तु न गौतमेनोक्त इति विरोधो नाशङ्काः मितपेध्हतुषु जातिसंशेषु चतुर्विशतौ संशयसमवण्येसमयोगो^९तमेनाप्युक्तलात् । वात्स्थायनस्तु प्रकरणसमव्याख्याने भोवाच। यत्र समानो ध्रम्भेः संशयकारणं हेतुलेनोपादीयते स संशयसमः सन्यभिचार एवेति ततो न विरोधः। सन्वं तद्व्याख्यातमुत्तरन्याख्याने।०।

सामान्ययोगादर्थान्तरकल्पना सामान्यच्छलमिति । सत्संत्प्रशमायेति सता सतः प्रशमः क्रियते इति । त इति तव मत इति कृत्वा वादी पूर्व्वपक्षं करोति, तेन, अविवक्षितेन सत्त्वसामान्येन प्रत्यवस्थानात् सामान्यच्छलं भवति ॥ ५६॥

चक्रपाणिः - अहेतुरसाधकहेतुरित्यर्थः । प्रक्रियते साध्यत्वेनाधिक्रियत इति इयुत्पत्त्या प्रकरणं

इति । तत्र प्रकरणसमो नामाहेतुः, यथान्यः श्रीरादात्मा नित्य इति । परो त्रू याद् यस्मादन्यः श्रिरादात्मा तस्मान्नित्यः । श्रीरं ह्यनित्यमतो विधम्मिणा चानेन भिवतव्यमित्येष चाहेतुः, न हि य एव पद्यः स एव हेतुरिति । संश्यतमो नामाहेतुः पुनर्य एव संश्यहेतुः स एव संश्यच्छेदहेतुः । यथाऽयमायुव्वेदेकदेशम्

अथ पकरणसमं हेतुं दर्शयति । तत्र पकरणसमो नामाहेतुरिति । यस्माद्धेतुतः प्रकरणं चिन्त्यते निर्णयार्थमनेन कारणेनैविमद्मित्युपदिव्यते, पकरणसमो हेतुरहेतुरुच्यते साधकलाभावात्। उक्तश्च गौतमेन। यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्धमपदिष्टः प्रकरणसमः इति । व्याख्यातश्च वात्स्या-यनेन । विमर्शाधिष्टानौ पक्षप्रतिपक्षावनवसितौ पकरणम् । तस्य चिन्ता विमर्शात् मभृति पाङ्निणयात् यत् समीक्षणं सा जिज्ञासा यत्कृते स निणयार्थ प्रयुक्त उभयसाम्यात् प्रकरणमतिवर्त्तमानः प्रकरणसमो निणयाय न प्रकल्पते। विज्ञानन्त अनित्यः शब्दो नित्यधम्मीनुपलब्धेरिति। अत्रानुपलभ्यमान-नित्यधम्मेकमनित्यं दृष्टं स्थाल्यादि। या तु विमर्शस्य विशेपापेक्षिता। उभयाविशेषानुपलव्यिश्च सा न प्रकरणं प्रवर्त्तयति। कथं ? विपर्यये हि मकरणनिष्टत्तेः। यदि नित्यधम्माः शब्दे पृत्तते न स्यात् प्रकरणसमम्। यदि चानित्यधम्भौ गृह्योत एवमपि निवर्त्तेत प्रकरणसमम्। सोऽयं हेतुरुभौ पक्षी मवत्तं यन्नन्यतरस्य निणेयाय न मकल्पते। इति। इह तूदाहरति— यथेत्यादि। अन्यः शरीरादात्मा नित्य इति पक्षे परो व्रयात्। इह खलु अस्मात् प्रकरणं चिन्त्यते। यस्मादित्यादि। शरीराद्न्यतान्नित्य आत्मा। तत्र मकरणिवं शरीरं हानित्यमतः शरीराद् वैधम्म्यवानन्य इति शरीरान्यतं नित्य-समेव ततः प्रकरणसमो हेतुने हेतुभेवति । कस्मादित्यत आह-न हीत्यादि । हि यतो य एव पक्षः स एव हेतुर्भवति । आत्मनित्यतं पक्षस्तदेव शरीरान्यतं हेतुरिति स्वस्म स्थापनायां स्वस्य कारणत्वं न भवतीति। ०। अथ संशय-सममाह—संशयसमो नामाहेतुरिति। य एव संशयहेतुः स एव संशयच्छेदः-

पक्षः, तेन समः प्रकरणसमः । अन्यः शरीरादातमा नित्य इति प्रतिज्ञायां शरीरादन्यत्वं वोध्यं म्, अतो विविधिमंगेति शरीरादिनित्याद् विधिममंगा नित्येनेत्यर्थः । य एव पक्ष इत्यनेनान्यत्वञ्च शरीरादात्मन इति सिद्धमिति दर्शयति, सित हि नित्यत्वे चेतनाधारस्य शरीरादन्यत्वमि छाह, किं न्वयं चिकित्सकः स्यान्न वेति संश्ये परो ब्र्यात् यस्माद्यमायुव्वेद्वैकदेशमाह तस्माचिकत्सकोऽयमिति, न च संश्यच्छेदहेतं क विशेषयति। एव चाहेतुर्न हि य एव संश्यहेतुः स एव संश्यच्छेदहेतुर्भवति। स वर्ण्यसमो नामाहेतुर्यो हेतुर्वर्गा-बिशिष्टः, यथा कश्चिद् ब्रू यादस्पर्शत्वाद बुद्धिरनित्या शब्दवदिति।

हेतुरिति समानध्मम एव हेतुत्वेन यत्र शृह्यते स संशयसमी हेतुरहेतुर्भवति। तदुद्द्रित—यथेत्यादि। कश्चिद्वद्ति अयमायुर्व्वेदैकदेशमाह कि न्वयं चिकित्सकः स्यान्न वेति संशयः। कस्मात् ? कोऽप्यचिकित्सक आयुव्वदैक-दर्जं क्रियन्तमंश्रमायुर्वेदस्य जानाति चिकित्सकोऽपि जानातीत्यतः संशयः। तत्र परो ब्रूयात् यस्मादित्यादि । आयुव्वदैकदेशवक्तृताद्यं चिकित्सक इति। एवं व्रवाणः परस्त् संशयच्छेदहेतुं न विशेषयति विशेषा-भावात् संशयो नापैति। तस्मादेप हेतुरहेतुः। कस्मादित्यत आह— न हीत्यादि । गौतमेनाप्युक्तं जातिषु । सामान्यदृष्टान्तयोरैन्द्रियकत्वे समाने नित्यानित्यसाध्म्म्यात् संशयसमः इति। व्याख्यातश्च वात्स्यायनेन। अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकलात् घटवदित्युक्ते हेतौ संशये न प्रत्यव-तिष्ठते। सति प्रयत्नानन्तरीयकत्वे अस्त्येवास्य नित्येन सामान्ये साधम्मर्यम् ऐन्द्रियक्खमस्ति च घटेनानित्येन। अतो नित्यानित्यसाधम्मर्यादनिष्टत्तः संशय इति संशयसमस्योदाहरणं गौतमेन दिर्शितंन तु संशयसमस्य लक्षणमिद्म तस्मादिहोक्तोदाहरणेन सह विरोधो नाशङ्काः। एवं वहन्युदा-हरणानि द्रष्टव्यानि समानानेकधम्मौपपत्यादिहेतुभ्यः संशये। इति।०। नन्दन्यः शरीरादातमा नित्य इति प्रकरणसमो हेतुः साध्यसम एव कथं पृथक् उक्त इत्यत आह—स वर्ष्यंसमो नामाहेतुरित्यादि। यो हेतुर्वर्ण्याविशिष्टः

सिध्यति । चार्च्याकपक्षे तु शरीरमेव चेतनमनित्यञ्जोति, तं प्रत्युभयमपि साध्यम्, न साध्यं साधनं भवति, असिद्धत्वादिति भावः। अयमायुर्वेदैकदेशमाहेति आयुर्वेदैकदेशाभिधानं चिकित्सकाचिकित्सकगमकत्वेन संशयहेतुः, एकदेशकथनं हि शास्त्रानभ्यासेऽपि कुतश्चित् श्रवणादिप भवतीति भावः। न विशेषयतीति न संशयच्छेदहेतुं विशिष्टं दर्शयतीत्यर्थः, एप चाहेतुरिति यथोक्तो हेतुरहेतुः संशयाच्छेदक इत्यर्थः । वर्ण्येन साध्येन दृष्टान्तोऽप्यसिद्ध्येन सम इति वर्ण्य-

[ः] सं शयहेतुमिति चकः।

तत्र वर्ण्यः शञ्दो बुद्धिरपि वर्ण्या, तदुभयवर्ण्याविशिष्टत्वाद्वर्ण्य-समोऽप्यहेतुः ॥ ५७ ॥

अथातीतकालम्। अतीतकालं नाम यत् पूर्वं वाच्यं तत् पश्चात् उच्यते, तत्कालातीतत्वाद्याद्यं भवतीति। परं वा नियहप्राप्तमनिष्ट्य परिष्ट्य पन्नान्तरितं पश्चान्निष्ट्यते तत् तस्यातीतकाल्वान्निप्रहवचनमसमर्थं भवतीति॥ ५८॥

स वर्ण्यसमा नामाहेतुः। वर्ण्यस्तु साध्यधममेण धममी दृष्टान्तश्च तयोरविजेपो हेत्रविण्यसमो हेत्रहेत्भवति। तदुदाहरति - यथेत्यादि । बुद्धिरनित्या शब्दवदिति। इहानित्यखधरमेण वर्षो दृष्टान्तः शब्दस्तथा नित्यत्वेनैव धुम्मेण वर्णा बुद्धिश्च तदुभयवर्णाविशिष्टतात खल्वस्पर्भत्वं हेतुः वर्ग्यंसमः। अस्पर्जलमप्यनित्यमिति। गौतमेनाप्युक्तम्। साध्यदृष्टान्तयोः साधम्मर्याद् वर्ण्यसम् इति । साध्यसमश्चोक्तः । हेसाद्यवयवसामर्थ्ययोगी धर्माः साध्यः। तं दृष्टान्ते प्रसजतः साध्यसमः इति जातिषु, हेताभासेष् च साध्याविशिष्टः साध्यसात् साध्यसमः। द्रव्यं छायेति साध्यम्। गतिमत्त्वादिति हेतुः। साध्येनाविशिष्टः साधनीयलात् साध्यसमः। अयमण्य-सिद्धतात् साध्यवत् मञ्चापियतन्यः। साध्यं तावदेतत् किं पुरुपवच्छायापि गच्छति आहोस्विदावरकद्रव्ये संसर्पति ? आवरणसन्तानादसन्निधिसन्तानोsयं तेजसो गृह्यते इति सर्पता खलु द्रव्येण यो यस्तेजोभाग आत्रियते तस्य तस्य सिचिधिरेवावच्छको युत्तते इति। आवरणन्तु प्राप्तिपतिपेध इति। एप साध्यसमोऽपि वर्ण्यसम इत्यविरोधः। इति त्रयोऽहेतव एव हेतुमात्रदोपलाद हेलाभासा इष्यन्ते एभ्यस्त्रपरे दोपा नं हेतुमात्रस्येति पृथगुच्यते ॥ ५७ ॥

गङ्गाधरः—अतीतकालिमित्युद्दिष्टं यत् तदाह—अथातीतकालिमिति। अतीत-काल नाम तत् यत् पूर्वं वाच्यं तत्पश्चादुच्यते। तदुक्तं कालातीतलादग्राह्यं भवतीति साधारणदोषः। एवं परं वा मितवादिनं वादिनं वा निग्रहमासं समः, वण्यः शब्द इति अस्पर्शत्वयोगादिनत्यत्वेन शब्दोऽपि साध्यः। न च साध्यो दृष्टान्तो भवति। वभयवण्यीविशिष्टत्वादित्युभयत्र दृष्टान्ते वण्यें च वण्यंस्य साध्यस्य साध्यत्वेनाविशिष्ट-त्वादित्यर्थः॥ ५७॥

चक्रपाणिः — यत् पृथ्वं वाच्यं तत् पश्चाद्च्यते इति, यथा — निगमनमिधाय पश्चात् प्रतिज्ञा

अथोपालम्भः। उपालम्भो नाम हेतोर्दोषवचनम्। यथा पूर्विमहेतवो हेत्वाभासा व्याख्याताः॥ ५६॥

निग्रहस्थानमाप्तं न नियु पक्षान्तरितं परियु पश्चानियहीते ति पान् परे तस्य कालातीतलात् तत् निग्रहवचनं न समर्थं भवतीति । गौतमेनाप्युक्तं हेलाभासेषु । कालात्ययापदिष्टः कालातीतः। इति। व्याख्यातञ्चीतद् वात्स्यायनेन। कालात्य-येन युक्तो यस्यार्थस्यैकदेशोऽपदिश्यमानस्य स कालात्ययापदिष्टः कालातीत उच्यते। निदर्शनञ्च। नित्यः शब्दः संयोगव्यङ्गप्रलात् रूपवत्। ऊर्दुश्च व्यक्तरवस्थितं रूपं पदीपघटसंयोगेन व्यव्यते। तथा च शब्दोऽप्यव-स्थितो वीणादण्डसंयोगेन व्यव्यते, दारुपरशुसंयोगेन वा। तस्मात् संयोग-**च्यङ्गातानित्यः शब्द** इत्ययमहेतुः, कालात्ययापदेशात् । च्यञ्जकस्य संयोगस्य कालं न न्यङ्गास्य रूपस्य न्यक्तिरत्येति । सति पदीपघटसंयोगे रूपस्य ग्रहणं भवति । न निष्टत्ते संयोगे रूपं युद्यते । निष्टत्ते दारुपरशुसंयोगे दूरस्थेन शब्दः श्रूयते। विभागकाले सेयं शब्दव्यक्तिः, संयोगकालमत्येति। संयोगनिमित्ता भवति। कस्मात्? कारणाभावाद्धि कार्य्याभाव इति। एवसुदाहरणसाधम्म्यस्याभावादसाधनमयं हेतुर्हेलाभास इति। विपर्यासवचनं न सूत्रार्थः। कस्मात् ? विपर्यासेनोक्तो हेतुरुदाहरण-साधम्म्यात् तथा वैधम्म्यात् साधनं हेतुलक्षणं न जहाति। अजहद्धेतुलक्षणं न हेलाभासो भवति। अवयवविषय्यासवचनमप्राप्तकालमिति निग्रहस्थान-मुक्तम्। तदेवेदं किं पुनरुच्यते। इत्यतस्तन्न सूत्रार्थः। इति। हेतुमात्रविषयो यः कालातीतः स एवेह हेलाभासेऽभिहितः। साधारणविषयस्त तन्त्रेऽस्मिन् पृथगुक्तं कालातीतमिति न विरोधः ॥ ५८॥

गुङ्गाधरः—एवं कालातीतानन्तरमुपालम्भो ज्ञेय इति तदुद्देशः कृतः उपालम्भः। अथोपालम्भ इति। उपालम्भो नाम स यद्यत् खल् हेतोद्गेष-वचनं प्रत्यक्षादिहितुरुपलिधकारणमुक्तं हेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनानि स्थापनायां यश्रावण्यसमश्च विकल्पसमश्च साध्यसमश्च स चोपालम्भो वहुविधः। तद् यथा— प्रकरणसमश्च संशयसमश्च वर्णप्रसमश्चावण्यसमश्च तर्पसमश्च

बच्यते । निम्रहमाप्तमिति निम्रहणीयं ज्ञातम् । हेतोदोपवचनमित्यनेन कालात्ययापदिष्टा-सिद्धयोरपीहानुक्तयोर्म्रहणं कर्त्तत्यम् । उदाहरणार्थन्तु अहेतव वक्ताः । हेतुवदाभासन्त इति अथ परिहारः। परिहारो नाम तस्यैव दोपवचनस्य परि-हरणम्। यथा नित्यसात्मनि शरीरस्थे जीविज्ञान्युपलभ्यन्ते तस्यापगसान्नोएलभ्यन्ते तस्मादन्यः शरीरादात्मा निस्थश्च ॥६०॥

विकल्पसम्थ साध्यसम्थ साधम्म्यसम्थ वैधम्म्यसम्थ प्राप्तिसम्थाप्तिः सम्थ प्रसङ्गसम्थ प्रतिदृष्टान्तसम्थानुत्पित्तसम्थादेतुसम्थार्थापत्तिसम्था-विज्ञपसम्थोपपत्तिसम्थोपलिध्यसम्थानुपलिध्यसम्थानित्यसम्थ कार्यसमञ्चित । तत्र यथा—पृद्वे हेसाभासा अहेतवस्त्रयो व्याख्यातास्त इहोदाहर्त्तव्या अपरे च ॥ ५९॥

गङ्गाधरः-तेयां दोपाणाश्च परिहारः कत्तंव्य इति तदनन्तरं परिहार उदिष्टस्तमाह—अथ परिहार इति । परिहारो नामेति । तस्यैव दोपवचनस्य परिहरणग्रद्धारः प्रत्यवस्थानमित्यनर्थान्तरमिति । इत्युपालम्भपरिहारौ जाति-शब्देन गौतमेनोक्तौ। तत्र परिहारश्चोत्तरिविशेषः। तद् यथा-गौतमोक्ता जातिः। साधम्म्यंवैधम्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिरिति। प्रयुक्ते हि हेती यः प्रसङ्गो जायते सा जातिः। स च प्रसङ्गः। साधम्मर्यवैधम्मर्याभ्यां प्रत्यवस्थानम् डपालम्भः मतिषेधकचेति इयी जातिः। उदाहरणसाधम्म्यात् साध्यसाधनं हेतुरित्यस्योदाहरणसाधम्म्येण प्रत्यवस्थानम् । यत्रोदाहरणवैधम्म्यात् साध्य-साधनं हेतुस्तस्योदाहरणवैधर्मोत्रण पत्यवस्थानम्। प्रत्यनीकभावाज्ञायमानोऽर्थ इत्यतो जातिरित्युच्यते। तद्विकल्पाज्जातिवहुत्तम्। तस्य वैधम्मर्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य विकल्पाज्ञातिवहुत्वम् । तद् विभञ्यते । साधम्मर्य-वैधम्म्योत्कर्पापकपंवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यपाप्तप्रमाप्तिमसङ्गपतिदृष्टान्तानुत्पत्ति-संशय-प्रकरणहेलर्थापत्त्यविशेषोपपत्तुत्रपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकाय्येसमाः। ताः खिल्वमा जातयः स्थापनाहेतौ प्रयुक्ते चतुर्व्विशतिः प्रतिपेधहेतव उपा-लम्भाः। एपां क्रमेण लक्षणान्युक्तानि गौतमेन तानि प्रकर्णसमादिक्रमेण दुरुर्यन्ते। तद् यथा-उभयसाधम्म्यात् प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमो हेतुरुपा-लभ्यते । उभयस्य पक्षद्वयस्य साधम्म्यीत् पक्षप्रतिपक्षयोः प्रष्ट्तौ प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमो हेतुः। यथा पूर्व्यपश्चवादी भाषते। अन्यः शरीरादात्मा नित्य इति । तत्र प्रक्रिया यस्मादन्यः शरीरादात्मा तस्मान्नित्यः । शरीरं हानित्यम् हेत्वाभासाः। यथा—'नित्यमात्मनि' इत्यादिना प्रकरणसम्वनेशेक्तहेतौ दोपमुद्धरति। नित्यम् इति सर्चदा। जीवलिङ्गानि प्रतिसन्धानस्मरणादीनि। तस्यापगमान्नोपलभ्यन्त इत्यनेन

अतो विधम्मणा चानेन भवितव्यमित्वेष प्रकरणसमहेतुरिति हेतौ दृपणवचन-माह प्रतिपक्षवादी। तत्र तं दोपं परिहरति पूर्व्यपक्षवादी। यथेत्यादि। शरीरस्थे सत्यात्मनि जीवलिङ्गानि पाणापानादीन्युपलभ्यन्ते। तस्यात्मनः शरीराद्पगमान्न जीवलिङ्गान्युपलभ्यन्ते तस्माच्छरीराद्नय आत्मा नित्य इति, न तु यस्माद्न्यः श्रीरादात्मा तस्मान्नित्य इति प्रकरणसमलदोपो हेतोः परिहृतः । इति । वात्स्यायनेनोदाहृतम् । उभयस्य पक्षद्वयस्य साधम्म्यात् पक्षमतिपक्षयोः महत्तौ मिक्रया। अनित्यः शब्दः मयवानन्तरीयकलार् घट-वदिति पूर्व्यपक्षवादी स्वपक्षं प्रवर्त्तयति । द्वितीयस्तु तत्राह अनित्यः शब्दः प्रयतानन्तरीयकलादिति प्रयतानन्तरीयकत्वं कष्ठाद्यभिघातप्रयत्नानन्तरमभि-व्यक्तत्वं शब्दस्य यस्य प्रयत्नानन्तरीयत्वाभावः स नित्यः। नित्यवैथम्म्यात् अनित्य इति प्रकरणानतिष्टत्या प्रत्यवस्थानम् । समानइचैतद्दे धस्मर्येऽपि साधम्म्योदनित्यलसाधनप्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसम इति। तत्र पूर्विपक्षवादी तं दोषं परिहरति। प्रतिपक्षात् प्रकरणसिद्धेः प्रतिपेधानुप-पत्तिः प्रतिपक्षोपपत्तेः। उभयसाधम्म्यात् प्रक्रियासिद्धिं न् वता प्रतिपक्षात् मिक्रयासिद्धिरुक्ता भवति। यदुरभयसाध्रम्हर्यं तत्रैकतरः मितपक्षः इत्येवं सत्युपपन्नः मतिपक्षो भवति। मतिपक्षोपपत्तेर तुपपन्नः मतिपेशो यतः मति-पक्षोपपत्तिः प्रतिपेधोपपत्तिइचेति विप्रतिपिद्धमिति। तत्त्वानवधारणाच मिक्रयासिद्धिविपर्यये मकरणावसानात्। तत्त्वावधारणे ह्यवसितं मकरणं भवतीति परिहार उक्तः। अथ संशयसंगरतु पूर्व्यं यो दर्जितः। अय-मायुर्व्वेदैकदेशमाह कि न्वयं चिकित्सको न वेति संशये परो ब्रूयात्-यस्मात् अयमायुर्वेदैकदेशमाह तस्माचिकित्सक इति। अत्र हेतौ दूपणवचनमुक्तं न हि य एव संश्वयहेतुः स एव संश्वयच्छेदहेतुर्भवतीति संश्वयसम इति। तत्रायं परिहारः उक्तो गौतमेन। साध्म्म्यात् संशये न संशयो वैध्म्स्यादुभयथा वा संज्ञयोऽत्यन्तसंज्ञयप्रसङ्गो नित्यलानभ्युपगमाच सामान्यस्याप्रतिषेध इति। विशेषाद्वैधम्म्यीद्वधार्यमाणेऽर्थे पुरुष इति न स्थाणुपुरुषसाधम्मयीत् संशयो-ऽवकार्जं लभते। एवं वैधम्म्योद्विशेषात् अनित्यः शब्दः पयत्रानन्तरीयकलात् अवधार्च्यमाणे शब्दस्यानित्यत्वे नित्यानित्यसाधम्मर्यात् संशयोऽवकाशं न लभते। यदि वै लभेत, ततः स्थाण्युरुपसाधमम्यानुच्छेदादत्यन्तं संशयः प्रसज्यते। यृह्यमाणे च विशेषे नित्यसाधम्म्यं संशयहित्रिति नाभ्युपगम्यते। न हि यहामाणे पुरुषस्य विशेषे स्थाणुपुरुषसाध्मम् संशयहेतुर्भवतीति

वातस्यायनेन व्याख्यातमिति। तथैवात्र यस्मादायुर्व्वदैकद्शमाह तस्माद्यं चिकित्सक इति संशयसमो हेत्रने भवति। नाचिकित्सको ह्यायुर्वेदैक-देशमाह यरचापरः कश्चिदंकश्लोकादिकमाह स चायुर्वेदैकदेशोऽपि नाशेप-विशेषेण तेन व्याख्यातं शक्यते, तस्मात् स आयुर्वेदैकदेशमाहेति नेष्यते। यसादयमायुर्वेदैकदेशमशेपविशेषण व्याख्यायाह तसादयमायुर्वेदैकदेश-माहेतीष्यते तस्मादयं चिचित्ताक इति नास्त्यत्र संशय इति कथं संशयसमः स्याद्धेतरिति परिहारः। अथ वर्ष्यसमस्त यो दर्शितः। अनित्या वृद्धिः अस्पजलाच्छव्दवदिति। वर्ण्यः ज्ञव्दोऽस्पर्जा बुद्धिश्च वर्ण्या तयोः सम एव हेतुरिति वर्ण्यसमो हेतुरहेतुस्तत्रायमुपालम्भ उक्तो गौतमेन। साध्यदृष्टान्तयोः धर्मीविकल्पादुभयसाध्यताचोत्कपीपकपैवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसमा तत्र स्थापनीयो वण्यो विषय्ययादवण्यः। तावेतौ साध्यदृष्टान्तधम्मी विषय्ययस्य च तो वर्ण्यावर्ण्यसमी भवत इति अनित्या बुद्धिरिति बुद्धिर्वर्ण्या तस्यास्त धम्मीऽस्पर्शत्वं दृष्टान्तश्च शुब्दो वर्ण्यस्तस्य धुम्मीऽप्यस्पर्शत्वं तयोवंपर्ययोः समो हेत्रस्पर्भवधम्मैकमस्पर्भवमिति वर्ण्याभ्यां समलाद्वर्ण्यसम इति। तत्र परिहारश्चायमुक्तो गौतमेन । किश्चित साथम्म्योद्वपसंहारसिद्धेवधम्म्योदपति-पेधः। इति। अनित्या बुद्धिरस्पर्भलाद् यथा शब्द इत्पत्र यथा शब्दः स्पर्शाभाव-रूपेण स्पर्शनेन्द्रियग्राह्योऽप्यस्पर्शो न तथा स्पर्शनेन्द्रियग्राह्या चास्पर्शा बुद्धिरित्यतस्त्वस्पर्भत्वमात्रसाध्मर्स्याद्वैधम्मर्याद्वपसंहारसिद्धेर्न वर्ण्यसमतया प्रति-पेधः स्यात् । किञ्चित् साधम्मर्योद्धप्रपमानं यथा शब्द इति । अथावर्ण्यसमश्र असाध्यदृष्टान्तयोर्धममेविकल्पादुभयसाध्यताच भवति। यथा अनित्या बुद्धिः अस्पर्जलाट् यथा शब्द इति । अत्र बुद्धिरनित्यत्वेन वर्ण्यो शब्दश्वानित्यत्वेन वर्षः। तदुभयमस्पर्शमस्पर्शत्रश्चास्पर्शमिति वर्ष्यासमः। गन्धादिरिहावप्रश्चा-स्पर्जेश्च तथाचास्पर्जेखमप्यस्पर्जे दृष्टान्तश्चास्पर्जो रस इति। तदुभयसाध्यता-, दवर्ण्यसमो हेतुरस्पर्जेलादिति। तस्य परिहारश्च। किश्चित्साधमर्म्यादुप-मानाद्वैधम्म्योद्धपसंहारसिद्धेरमतिषेध् इति । अवर्ण्यस्त गन्धादिग्रीणस्तत्र दृष्टान्तो रसः केवलस्पर्शगुणाभावेन किञ्चिद्धमर्मेणोपमानं तत्र वैधम्मर्या-दुपसंहारः। रसो रसनेन्द्रियग्राह्योऽस्पर्शो न तथा गन्ध इति सिध्यति मृतशरीरे चेतनाद्यभावादन्यदेव तःकारणमुन्नीयते, यदपगमान्न चेतयते मृतशरीरम् । तस्मात् अन्यत्वमारमनः सिद्धम् । ततश्च शरीराद्भयत्वात् शरीरविधम्मीत्वेन पूर्व्वव्युत्पादितेन नित्यत्वमिप सिध्यतीत्याह—नित्यइचेति ॥ ५८ ६१ ॥

तस्यान्तावर्णप्रसम इति । अथोत्कर्षसमस्तु साध्यदृष्टान्तयोध्मेमिकल्पादुभय-साध्यलाच भवति। दृष्टान्तधरमी साध्येन समासक्तं कुन्वेन् हेतुरुत्कपंसमो भवति। यथा क्रियावानात्मा क्रियाहेतुगुणयोगाङ्घोष्ट्रवदिति। लोष्ट्रवदंव स्पर्भवानिष भवति । अथ न स्पर्भवानात्मा लोप्ट्रवत् । क्रियावानिष् लोप्ट्रवत् रूपर्जं न प्रामोतीति विपय्येये वा विशेषो वक्तव्यः। इत्युत्कर्षसमे क्रियाहेतु-गुणयोगन्तु दृष्टान्तस्य लोष्ट्रस्यापकषेगुणगुरुलादिधम्भै क्रियावदात्मना साध्येन सह समासक्तं कुव्वेन द्वयोः क्रियाहेतुगुणेव्वात्मग्रणश्चेतन्यमृत्कर्षस्तद् योगसम इति। तस्य परिहारश्च किश्चित्साधम्मर्योदुपमाने वैधम्मर्योदुपसंहारसिद्धेनी प्रतिषेध इति क्रियाहेतुगुणयोगे दृष्टान्तो लोप्ट्रवदिति किश्चित्साधम्म्यात्। पाञ्चभौतिकं हि लोप्ट्रं तत्र वाय्वादीनि सक्रियाणि तद्वत्त्वात् सिक्रियम्। आत्मा च सिक्रयो मनसा सिक्रयेण सह योगादिति वैधम्मर्याद् यथा लोप्ट्रं क्रियाहेतुगुणयुक्तं न तथात्मेति उपसंहारसिद्धेरुत्कर्पसमतया हेतोः प्रतिषेधो न युक्त इति। अथापकर्षसमश्च साध्यदृष्टान्तयोधंममेविकल्पादुभयसाध्यलाच भवति । साध्ये हि धम्मीमावं दृष्टान्तात् प्रसक्तं कुर्विन् हेतूरपक्षसमो भवति । क्रियावान् आत्मा क्रियाहेतगुणयोगाल्लोप्ट्रवदिति लोप्ट्रः क्रियावान् न तु विभुद्दि प्टान्तः। आत्मा तु क्रियावान् विभुश्चाविभुर्भवतु । अपकर्षे ह्यविभुतं लोप्ट्रचेति साध्ये क्रियावत्यात्मनि विभ्रत्यमर्गाभावं दृष्टान्तालोप्ट्रात् पसक्तं करोति क्रियाहेत्गुणयोग इत्येष हेत्स्तस्यादपकर्षसमः। तस्य परिहारश्र किञ्चत् साधम्मयीदुपगाने वैधम्मयीदुपसंहारसिद्धेरपतिषेध इति। आत्मनः क्रियावरवे किञ्चित्साधम्म्याङ्कोष्ट्र उपमानं सिध्यति गुरुलादिभिगु णैरुष्ट्रिः इलेश्मवर्द्धनादिकम्मेकृत्। आत्मा च चैतन्यादिगुणयोगाचेतनलादिकम्मेकृदिति वैधम्मर्याद्विभुत्वविभुतार् यथा लोप्ट्रो न विभुनं साधस्म्योद्धपमानात्। तथात्मा भवत्यविश्वरित्यूपसंहारसिद्धेरपक्षपसमतया हेतोः प्रतिषेधो न युक्त इति। अथ विकलपसमोऽपि साध्यदृष्टान्तयोधेममिविकलपादुभयसाध्यलाच भवतीति। यथा—साधनधरमेयुक्ते दृष्टान्ते धर्मान्तरविकल्पात् साध्यधर्म-विकल्पं प्रसक्तं कुर्वन् हेतु विंकल्पसमो भवति । यथा क्रियानात्मा क्रिया-हेत्गुणयोगाङ्घोष्ट्रविदिति । क्रियाहेतुगुणयुक्तं किञ्चिन् गुरुद्रन्यं यथा छोष्ट्रः । किञ्चि लघुद्रव्यं यथा वायुः। एवं क्रियाहेतुगुणयुक्तं किञ्चित् क्रियावत् यथा लोष्ट्रः। किञ्चिदक्रियं यथात्मा। इति विकल्पसमलपरिहारे विशेषो वाच्यः। किञ्चित् साधम्म्योद्वपमाने वैधम्म्योद्वपसंहारसिछेरप्रतिषेध इति।

किञ्चित्सांयम्म्योदुपमाने वैधम्म्यादुपसंहारसिद्धरपनिषध इति। क्रिया-वानात्मा क्रियाहेतुगुणयोगाङ्घोष्ट्रवदिति। लोष्ट्रो गुरुः क्रियाहेतुगुणवान् वायुळेघुः कियाहेत्गुणवात् भवत्। आत्मा मनसा युक्तत्वेन सकियस्तदंशे लोप्ट्रस्य गुरुवादिगुणयोगेन साधम्म्यीदुपमानत्वे सिद्धे यथा लोप्ट्रो यद-गुणेन कियावान् न तथा तद्गुणेन कियावानात्मेति वैधम्मर्यादुपसंहारसिद्धे-विकल्पसमतया हेतोः मतिपेधो न युक्त इति परिहारः। एवं साध्यसमोऽपि साध्यदृष्टान्तयोधेमोविकरुपादुभयसाध्यताच भवति । हेलाद्यवयवसामध्ययोगी धर्माः साध्यः। तं साध्यं दृष्टान्ते प्रसजन् हेतुः साध्यसमी भवति। यथा क्रियांबानात्मा क्रियाहेत्गुणयोगाङ्घोष्ट्रवदित्पत्र यदि यथा लोप्ट्रस्तथा प्राप्त-स्तर्हि यथात्मा तथा लोप्ट्र इति। साध्यश्चायं क्रियावानिति लोप्ट्रोऽपि साध्य इति। अथ नैवम्। न तिहैं यथा लोप्ट्रस्तथात्मेति साध्यसमो हेतुः। तत्र परिहारः। किञ्चित्साधम्म्यीदुपमाने वैधम्म्यीदुपसंहारसिद्धेः अमितपेधः। साध्यातिदेशाच दृष्टान्तोपपत्तेः। यथा लोप्ट इति किश्चित-साध्रम्भ्योद्वपमानं क्रियाहेतुगुरुतादिगुणवच्चेन क्रियावच्चात्। न तथा आत्मा गुरुतादिगुणयोगात् क्रियावान् परन्तु मनसा संयुक्ततात् क्रियावानिति वैधम्मर्वादुपसंहारसिद्धेः। एवं यथा लोप्ट्रस्तथात्मेति साध्यातिदेशेन यथात्मा तथा लोप्ट्र इत्यनेन दृष्टान्तेऽप्युपपद्यमाने साध्यतम् प्रपन्नं लोप्ट्रस्य मतिशा-भावादित्यतो न साध्यसमतं दोषो हेतोरिति। साधममर्थवैधममर्थाभ्यामुप-संहारे तद्धमीविष्यययोष्पत्तेः साध्मम्यवैधम्मर्यसमौ। साधम्मीरणोपसंहारे साध्यधमीविष्टर्ययोषपत्तेः साधमर्पेत्रणैव मत्यवस्थानमविशेष्यमाणं स्थापना-हेत्तः साधम्मीरसमी हेतुः प्रतिषेधः। यथा-क्रियावानात्मा क्रियाहेतुगुण-योगाङ्कोप्ट्रवत्। क्रियाहेत्गुणयुक्तो छोप्ट्रो यथा क्रियावान् तथा चात्मा तस्मात् क्रियावान्। एवमुपसंहते परः साधम्मीर्राणैव पत्यवतिष्ठते। निष्क्रिय आत्मा ें विभ्रुनो द्रव्यस्य निष्क्रियलात् । यथाकाशम् । यथा विभ्रु चाकार्गं निष्क्रियञ्च तथा चात्मा विभुस्तसानिष्क्रियः। न चास्ति विशेषहेतुः। क्रियावत साधम्म्यात् क्रियावता भवितव्यम्, न पुनरक्रियसाधम्म्यानिष्क्रियेण भवितव्यमिति विशेषहे सभावात् साध्मम्प्रसम्। हेतः प्रतिषेधः उपालम्भः इति । एवं वैधम्मीत्रणीपसंहारे साध्यधम्मीविषद्ययोषपत्तेवैधम्मीत्रणीव प्रत्यवे स्थानमविशेष्यमाणं प्रतिष्ठापनाहेत्त्ते वैधम्म्यसम् प्रतिषेध उपालम्भाः यथा कियावानात्मा क्रियाहेतुगुणयोगाङ्कोष्टेवदिति। इह क्रियाहेतु-

गुण्युक्तो लोप्ट्रः परिच्छित्रो दृष्टः, न च तथात्मा परिच्छित्रः क्रियाहेतूगुण-युक्तस्तस्यान छोप्ट्रवत् क्रियावानिति। न चास्ति विशेषो हेतुः। क्रियावत्-साथम्म्यात् क्रियावता भवितन्यं, न क्रियावद्वेधम्म्येण निष्क्रियेण भवितन्यं विशेषहेत्त्वभावाद्वैधम्मर्यसमः। वैधम्मर्येण चोपसंहारे निष्क्रिय विश्वलात्। यथा लोप्ट्रः। क्रियावद् द्रव्यमविशु दृष्टम् न च तथात्मा भवत्यविश्रस्तस्मानिष्क्रिय इति वैधम्मर्येण प्रत्यवस्थानम्। निष्क्रियं द्रव्यम् आकार्गं क्रियाहेत्गुणरहितं दृष्टं तथात्मा तस्मानिष्क्रिय इति। न चास्ति विश्लेषहेतुः। क्रियावद्वेधम्मेत्रण निष्क्रियेण भवितव्यम्, न पुनरक्रिय-वैधर्मोत्रण क्रियावता भवितव्यमात्मनेति विशेषहेत्रभावाद्वैधर्मेत्रसमः। अन्योः परिहारः। गोलाट् गोसिद्धिवत् तित्सिद्धिः। साधर्म्मेत्रमात्रेण वैधर्म्भेत-मात्रेण च साध्यसाधने प्रतिशायमाने स्यादव्यवस्था सा तु धम्मविशेषेणोप-पद्यते। गोसाधम्म्यीद् गोलाज्जातिविजेपाद् गौः सिध्यति न तु सास्नादि-सम्बन्धात्। ततो न साधम्मीरासमो हेत्रिति, न च वैधम्मीरासमोऽपि। निष्क्रिय आत्मा विभुतात् क्रियावद् द्रव्यमविभु दृष्ट् यथा लोप्ट्र इति वैधम्म्य-मात्रेण साध्यसाधने प्रतिज्ञायमाने स्याद्व्यवस्था सा तु धर्मः विजेषेणोप-पद्यते गोलाद् गोसिद्धिवत्। अश्वादिवैधम्मर्याद् गोलादेव गोसिद्धिः, न तु गुणादिभेदात्। इति।

अथ प्राप्त्यप्राप्तिसमौ । प्राप्य साध्यमप्राप्य वा हेतोः प्राप्त्या अविशिष्ट-लादमाप्त्या असाधकलाच माप्त्यमाप्तिसमौ। हेतुः माप्य वा साध्यं साध्येदपाप्य वा साधयेदिति। न तावत् साध्यं प्राप्य साध्येत्। हेतोः प्राप्तामविशिष्टलादसाधकः स्यात्। द्योविंद्यमानयोः प्राप्तौ सत्यां कि कस्य साधकं साध्यं वा भवति। अथापाप्य साध्यं साधको न भवति नामाप्तः पदीपः प्रकाशयतीति। प्राप्त्याः प्रत्यवस्थानं प्राप्तिसमः। अप्राप्त्याः प्रत्यवस्थानमप्राप्तिसमः। यथायं व्वरः सन्तापादिति । सन्तापो हतुर्ज्वरं प्राप्य न साधको भवति द्वयोरिवशिष्टलात्। द्वाविप हि वर्त्तमान-त्वेनाविशिष्टी किं ज्वरः साध्यः सन्तापः साधकः किं सन्तापः साध्यो ज्वरः साधकः। अयं सन्तापो ज्वरताद्यं ज्वरो वा सन्तापादिति प्राप्तिसमः। अमाप्तिसमस्तु पूर्व्वरूपेण उवरो भविष्यतीति साध्यते। तत्र उवरमप्राप्य पूर्व-रूपाणि कथं भाविज्वरं साधयन्ति। न ह्यपाप्तो दीपस्तमो हन्ति। ऽपाप्तिसमो हेतुर्ज्वरो भविष्यति श्रमारतिप्रभृतिभ्य इति । अथानयोः परिहारः ।

घटादिनिष्पत्तिद्ञनात् पीड्ने चाभिचारादप्रतिषेधः। हेतुदूपणमुभयथा न कत्त्रं करणाधिकरणानि पाष्य मृदं घटादिकार्य्यं निष्पादयन्ति। तथा हेतुः साध्यं प्राप्य साध्यति । तस्मात् प्राप्तिसमतया हेतोर्द्र्षणमसाधु । एवमप्राप्य साधकत्वेऽपि दूपणमसाधु । आभिचारिककम्मणा पीइने सति दृष्ट्रमुप्राप्य साध्कलिमिति तस्माद्पाप्तिसमतया हेतोद् पणमसाधु । अथ प्रसङ्ग-सममतिदृष्टान्तसमौ तु। दृष्टान्तस्य कारणानपदेशात् प्रत्यवस्थानाच प्रति-दृष्टान्तेन प्रसङ्गपतिदृष्टान्तसमौ। साधनस्यापि साधनं वक्तव्यमिति प्रसङ्गे प्रत्यवस्थानं हेतौ दृपणं प्रसङ्गसमः। क्रियाहेतुगुणयोगी क्रियावान् लोप्ट्र इति हेतुर्नापदिश्यते। अनेन कारणेनैविमिति नोपदिश्यते। इति दृष्टान्तस्य कारणानपदेशात् प्रसक्तिसमो हेतुः। न च हेतुमन्तरेण सिद्धिरस्तीति।०। प्रति-दृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानाच प्रतिदृष्टान्तसमः। क्रियावानात्मा क्रियाहेतुगुणयोगात् लोप्ट्रविद्रयुक्ते प्रतिदृष्टान्त उपादीयते । क्रियाहेत्गुणयुक्तमाकार्जं निष्क्रियम् इति। कः पुनराकाशस्य क्रियाहेत्गु णः। वायुना संयोगः संस्कारापेक्षः। वायुवनस्पतिसंयोगवदिति प्रतिदृष्टान्तसमः । तत्राद्यस्य परिहारः। पदीपा-दानप्रसङ्गनिष्टत्तिवत् तद्दिनिष्टत्तिः। तयोः प्रसङ्गसम-प्रतिदृष्टान्तसमयो(र्वानदृत्तिः पदीपादानप्रसङ्गनिष्टित्तिवत् । अथ के पदीपमुपाददते किमर्थं वेति पृष्टः खल्वयं वक्तम् अहीत । दिद्दसमाणाः पदीपमुपाददते दृश्यद्शेनार्थमिति । कस्मात् ते पदीपान्तरं नोपाददते अन्तरेणापि पदीपान्तरं दृश्यते पदीपः। तत्र यथा पदीप-दर्शनार्थं प्रदीपान्तरप्रहणं निर्थकं तथा क्रियाहेत्गुणयोगी क्रियावान् लोप्ट्र इत्यत्र दृष्टान्तस्य कारणापदेशो न्यथेः। इति । । अथ दृष्टान्तः किमर्थमुच्यते। अपनातस्य नापनार्थमिति । अथ दृष्टान्ते कारणापदेशः किमर्थं दृश्यते । यदि प्रज्ञापनार्थं प्रज्ञातो दृष्टान्तः स खळ लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नथें बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्त इति। तस्य प्रज्ञापनार्थः कारणापदेशो निरर्थक इति प्रसङ्गसमतया हेतुदृपणमयुक्तमिति । । प्रतिदृष्टान्तसमस्य परिहारोऽयम् । प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे च नाहेतुर प्रान्तः। प्रतिदृष्टान्तं त्रुवता न विशेषहेत्रपदिश्यते। प्रकारेण प्रतिदृष्टान्तः साधको न दृष्टान्त इति। एवं प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे सति नाहेतुर्देष्टास्त इत्युपपद्यते । स च कथमहेतुर्ने स्यात् ? यद्यप्रतिपिद्धः साधकः स्यादिति। इति प्रतिदृष्टान्तसमतया हेतुदृष्णमयुक्तम् । । अथानुत्पत्तिसमः। प्राग्रत्पत्तेः कारणाभावादनुत्पत्तिसम इति । उत्पत्तेः पूर्व्वं कारणाभावादनुत्पत्ति-समः। अतित्यः शुद्धः प्रयत्नानन्तरीयकलाट् घटवदिः युक्तेऽपर आह—प्राग्रत्पत्तेः

अनुत्पन्ने चाव्दे प्रयत्नानन्तरीयकलम् नित्यले कारणं नास्ति । तद्भावान्नित्यत्वं प्राप्तं नित्यस्य चोत्पत्तिनास्ति । इत्यनुत्पत्त्या प्रत्यवस्थानं हेतोदौपवचनम् जपालम्भोऽनुत्पत्तिसम इति ।०। अस्य परिहारस्त् । तथाभावादुत्पनस्य कारणोपपत्तेनं कारणप्रतिषेध इति। तथाभावादुत्पन्नस्येति। उत्पन्नः खटवयं शब्द इति भवति । प्राग्रुत्पत्तेः शब्द एव नास्ति । उत्पन्नस्य शब्दभावात्, शब्दस्य सतः प्रयत्नानन्तरीयकलमनित्यलकारणमुपपचते कारणोपपत्तेश्रायुक्तोऽयं दोपः, भागुत्पत्तेः कारणाभावादिति ।०। अथाहेतुसमः। त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोर्हेतुसमः। इति। हेतुः साधनं, तत् साध्यात् पूर्व्वं पश्चात् सह वा भवेत्, यदि पूर्व्वं साधनम् असति साध्ये कस्य साधनं स्यात्, अथ पश्चात् तदा चासति साधने कस्येदं साध्यमिति, अथ युगपत् साध्यसाधने द्वयोविंद्यमानयोः किं कस्य साधनं किं कस्य साध्यमिति हेत्ना न विशिष्यते। अहेत्ना साधम्म्यात प्रत्यवस्थानमुपालम्भः खल हेतोद्भिपवचनमिदमहेतुसमाख्यं भवति। अस्य परिहारः। न हेतूतः साध्यसिद्धेस्त्रैकाल्यासिद्धिः। इति । न त्रैकाल्यासिद्धिः, कस्मात् ? हेतुतः साध्यसिद्धेरिति । निर्व्वत्तेनीयस्य निर्व्धत्तः । विज्ञेयस्य विकानम्। उभयं कारणतो दृश्यते। सोऽयं महान् प्रत्यक्षविषय इति। हेतुतो हि साध्यसिद्धिर्न हि हेतुमन्तरेण किमपि सिधप्रति । यत्सिद्धौ यस्य साधनयोग्यता यस्य साध्ययोग्यता तत्तस्य साधनेन तत्साध्यं साध्यते। यदा येन यत् साध्यते तदा तत् तस्य साध्यमुच्यते तत् तस्य साधनश्च । द्वयन्तु विद्यमानमपि खरूपेणैव वर्त्तते। न तु प्राक् साधनारम्भात् साध्यसाधनरूपेण द्वर्य यहाते। यदा साध्यित्मारभते तदा यत् साध्यते तत् साध्यत्वेन यहाते येन साध्यते तत् साधनत्वेन गृह्यते, इति हेत्तः साध्यसिद्धिस्ततस्त्रैकाल्यासिद्धेः मंतिषेधानुपपत्तिरिति। यत् तु खळूक्तमसति साध्ये किं कस्य साधनमिति। यत् त् निन्देत्तते यच विषायते तस्येति । प्रतिषेधानुपपत्तेश्च प्रतिषेद्धव्याप्रति-षेधः। पूर्वि पश्चाद् युगपद्वा प्रतिषेध इति नोपपद्यते। प्रतिषेधानुपपत्तेः स्थापनाहेतुः सिद्ध इति । अथार्थापत्तिसमः। अर्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेः अर्थापत्तिसम इति । अनित्यः शब्दः पयनानन्तरीयकत्वाद् घटवदिति स्थापिते पक्षे अर्थापत्त्या प्रतिपक्षं साधयतोऽर्थापत्तिसमः स्यात् । यदि प्रयत्नानन्तरीयक-लादनित्यसाधम्म्योदनित्यः शब्द इति, अत्रार्थोदापचते नित्यसाधम्म्योत् नित्य इति । अस्ति ह्यस्य नित्येन साधम्मर्यमस्पर्शति। अथास्य परि-हारः। अनुक्तस्यार्थापत्तेः पक्षहानेरुपपित्रस्तुक्त्वाद्वनैकान्तिकवाचार्था-

पत्तेः। इति। अनुपपाद्यसामध्यमनुक्तमधीदापद्यते इति द्वावतः पक्षहानेः उपपत्तिरनुक्ततात्। अनित्यपक्षसिद्धावर्थादापन्नस्य नित्यपक्षस्य हानिरिति। अनैकान्तिकलाचार्थापत्तेः, उभयपक्षसमा चेयमर्थापत्तिः। यदि नित्यसाधम्म्यात् अस्पर्शतादाकाशवच नित्यः शब्दः अर्थादापन्नमनित्यसाधम्मर्यात् प्रयत्ना-नन्तरीयकलादनित्य इति। न चेयं विषय्र्ययमात्रादेकान्तेनार्थापत्तिः। न खळ वै घनस्य ग्रान्णः पतनिमत्यर्थोदापचते द्रवाणामपां पतनाभाव इति ।ं। अथाविशेषसमः। एकधम्मीपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषमसङ्गत् सन्दावोप-पत्तरविजेपसम इति। एको धर्माः प्रयत्नान्तरीयकत्वं शब्दघटयोरुपपद्यते। इत्यविज्ञेषे. उभयोरनित्यत्वे सर्व्यस्याविज्ञेषः मसज्यते। कथम् १ सञ्चावोप-पत्तेः। एको धर्माः सञ्ज्ञावः सर्व्वस्योपपद्यते, सञ्ज्ञावोपपत्तेः सर्व्वस्याविजेप-भसङ्गात् भत्यवस्थानमविजेपसमः। इत्युपालम्भः। तस्य परिहारः। कचित् धम्मां जुपपत्तेः कचिचोपपत्तेः प्रतिपेधाभावः । इति । यथा साध्यदृष्टान्तयोः एकथम्मंस्य प्रयत्नानन्तरीयकलस्योपपत्तरनित्यलथम्मीन्तरमविजेपः, सन्वंभावाणां सद्भावोपपत्तिनिमित्तधम्मान्तरमस्ति येनाविज्ञेषः स्यात । अनित्यलमेव धर्मान्तरं सञ्ज्ञावोपपत्तिनिमित्तं भावानां सर्व्वत्र स्यादित्येवं खल्वेव कल्प्यमाने अनित्याः सर्व्वे भावाः सद्भावोपपत्तेरिति पक्षः प्रामोति। तत्र प्रतिकार्थन्यतिरिक्तमन्यदुदाहरणं नास्ति, अनुदाहरणश्च हेतुर्नास्ति इति प्रतिज्ञ कदेशस्योदाहरणत्रमुपपन्नम् । न हि साध्यमुदाहरणं भवति । ततश्र नित्यानित्यभावाद्नित्यलानुपपत्तिः। तस्मात् सद्भावोपपत्तेः सर्व्वाविज्ञेप-प्रसङ्ग इति निर्भिधेयमेतद्वाक्यमिति। सन्बंभावाणां सद्भावोपपत्तेरनित्यत-मिति ब्रुवताऽनुकातं शन्दस्यानित्यत्वं तत्रानुपपन्नपतिषेध उपालम्भ इति ।ं। अथोपपत्तिसमः। उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमः। यद्यनित्यत्वकारणतं भयवानन्तरीयकलग्रुपपद्यते ... शब्दस्येत्यनित्यः शब्द इति, कारणम्प्युप्रपद्यतेऽस्यास्पर्जलमिति नित्यः ज्ञब्द इत्युपपद्यते। अनित्यसनित्यसस्य कारणोपपत्त्या प्रत्यवस्थानं दूपणवचनमुपपत्तिसम इति। तस्य परिहारः। उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानाद्मतिषेधः। इति । उभयकारणोपं-पत्तेरिति ब्र.वता नानित्यलकारणोपपत्तेरनित्यलं प्रतिपिध्यते। यदि प्रति-पिध्यते, नोभयकारणोपपत्तिः स्यात्। उभयकारणोपपत्तिवचनाद् नित्यत-कारणोपपत्तिरभ्यनुकायते। तदभ्यनुकानादनुपपन्नः प्रतिषेधः। व्याघातात मतिष्य इति चेत् ? समानो व्याघातः। ं एकस्यः नित्यसानित्यसमसङ्गं व्याहतं

ब्र्वतोक्तः प्रतिषेध इति चेत् स्वपक्षपरपक्षयोः समानो व्याघातः। स च नैकतरस्य साधक इति । अथोपलव्धिसमः। निद्दिष्टकारणाभावेऽप्युप-लम्भादुपलिधसमः। इति। निर्दिष्टस्य प्रयत्नानन्तरीयकलस्यानित्यल-कारणस्याभावेऽपि वायुनोदनाद् दृक्षशाखाभङ्गजस्य श॰दस्यानित्यखमुपलभ्यते ; निहिंष्टस्य साधनस्यायावेऽपि साध्यध्रमापळब्ध्या प्रत्यवस्थानमुपाळम्भ उप-लिव्यसमः इति । तस्य परिहारः । कारणान्तराद्पि तद्धम्भौपपत्तरप्रिष् इति। पयनानन्तरीयकलादिति ब्रुवता कारणत उपपत्तिरभिधीयते। न कार्यस्य कारणनियमः। यदि च कारणान्तराद्प्युपपद्यमानस्य शब्दस्य तदनित्यत्रप्रपद्यते। किमत्र प्रतिषिध्यते ? न पागुचारणाद् विद्यमानस्य शब्दस्यानुपलब्यः। कस्मात् ? आवरणाद्यनुपलब्धेः। यथा विद्यमानस्योद-कादेरर्थस्यावरणादेरनुपलियः। नैवं शब्दस्याग्रहणकारणेनावरणादिनानुप-छिन्यः। गृह्यते चैतद्स्याग्रहणकारणमुद्कादिवन्न गृह्यते। तस्मादुदकादिविपरीतः शन्दोऽनुपलभ्यमान इति । अथानुपलन्धिसमः। तद्नुपलन्धेरनुपलम्भाद् अभावसिद्धौ तद्विपरीतोपपत्तरेनुपल्चियसमः इति । तेपामावरणादीनामनुप-लिधनौपलभ्यते। अनुपलम्भान्नास्तीत्यभावोऽस्याः सिधप्रति। अभावसिद्धौ हेलभावात् तद्विपरीतमस्तिलमावरणादीनामवधार्यते। तद्विपरीतोपपत्तेर्यत् प्रतिज्ञातं न प्रागुचारणाद् विद्यमानस्य शब्दस्यानुपलब्धिरित्येतन् सिध्यति । सोऽयं हेतुरावरणातुपलब्धेरित्यावरणादिषु चावरणाद्यतुपलब्धे च समयातुप-लब्ध्या प्रत्यवस्थितोऽनुपलिधसमो भवति। तस्य परिहारः। अनुप-लम्भात्मकलाद्नुपलन्धेरहेतुः। आवरणाद्यनुपलन्धेरूपलन्धिर्नास्ति, लम्भादित्यहेतुः। कस्मात् ? अनुपलम्भात्मकलादनुपलब्धेः। उपलम्भाभाव-मात्रलादनुपलब्धेः। यद्स्ति तदुपलब्धेविपयः। अनुपलभ्यमानं नास्तीति सोऽयमावरणाद्यनुपलब्धेरुपलस्भाभावोऽनुपलब्धौ स्वविषये मवर्त्तमानो न स्वविषयं प्रतिषेधति । अप्रतिषिद्धा चावरणादुरपलिधहतुद्धाय कल्प्यते। आवरणादीनि तु विद्यमानलादुपलञ्धेविषयास्तेषामुपलञ्ध्या भवि-यत् तानि नोपलभ्यन्ते तदुपलब्धेः स्वविषयप्रतिपादिकाया अभावाद्तुपलम्भाद्तुपलब्धेर्विषयो गम्यते। न सन्त्यावरणादीनि शब्दस्य अग्रहणकारणानि । इति अनुपलम्भादनुपलिष्धः सिध्यति, विपयः स तस्येति । कथं तर्हे प्रवस्तु स्याद्विषय इति ? हानविकल्पानाश्च भावाभावसंवेदनादध्यात्मम्। अहेतुरित्यनुवर्त्तते। शारीरे शरीरिणां ज्ञानविकल्पानां भावाभावौ संवेदनीयौ।

अस्ति मे संशयज्ञानं नास्ति मे संशयज्ञानमिति । एवं प्रत्यक्षानुमानागमस्मृति-ज्ञानेषु सेयमावरणाद्यमुपलव्धिरुपलव्ध्यभावः स्वसंवेद्यः, नास्ति मे ज्ञव्दस्य आवरणादुप्रपलन्धिरितं नोपलभ्यन्ते शब्दस्याग्रहणकारणान्यावरणादीनीति। तत्र यदुक्तं तदुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धिरिति, एतन्नोपपद्यते। इति ।०। अथ नित्यसमः। नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यसोपपत्तेर्नित्यसमः। अनित्यः शब्द इति मतिज्ञायते । तद्नित्यलं किं शब्दे नित्यम् अथानित्यम् ? यदि तावत् सदा भवति धर्मस्य सदाभावाद्धिमिणोऽपि सदाभाव इति नित्यः स्याच्छव्द इति । अथ न सर्वेदा भवति, अनित्यत्तस्याभावान्नित्यः शब्दः । एवं नित्यत्वेन पत्यवस्थानान्नित्यसम इति। तस्य परिहारः। प्रतिषेध्ये नित्यमनित्य-भावाद् नित्येऽनित्यत्वोपपत्तेः प्रतिपेधाभावः। इति। प्रतिपेध्ये शब्दे नित्यम् अनित्यभावादित्युच्यमानेऽनुज्ञातं शब्दस्यानित्यत्तम् । अनित्ये चानित्यत्रोप-पत्तेश्च नानित्यः शब्द इति प्रतिषेधो नोपपद्यते। अथ नाभ्युपगम्यते। नित्यमनित्यभावादिति हेतुने भवति । इति हेलभावात् प्रतिषेधानुपपत्तिरिति । उत्पन्नस्य निरोधादभावः शब्दस्यानित्यत्वं तत्र परिप्रशान्तपपत्तिः। सोऽयं प्रशः-तदा नित्यत्वं किं शब्दं सन्वदा भवति अथ न ? इत्यनुपपनः। कस्मात्? जत्पन्नस्य यो निरोधादभावः शब्दस्य तदनित्यत्मम्। एवं सत्यधिकरणाधेय-विभागो व्याघातान्नास्तीत्यभावो वस्तुभूतः। नित्यमिति विरोधाचानित्यलम् अनित्यतालञ्चैकस्य धम्मिणो धम्मो विरुध्येते। न सम्भवतः। तत्र यदुक्तं नित्यमनित्यभावान्नित्य एव, तद्वत्तंमानार्थमुक्तमिति ।०। अथानित्यसमः। साध्रम्म्यीत् तुल्यध्रम्मीपपत्तेः सर्व्वानित्यत्तप्रसङ्गाद्नित्यसम् इति । अनित्येन घटेन साधम्म्यीदनित्यः शब्द इति ब्रुवतोऽस्ति घटेनानित्येन सर्वभावाणां साध्मम्यीमिति सन्वेस्यानित्यसमिनष्टं सम्पद्यते। सोऽयमनित्येन प्रत्यव-स्थानादुपलम्भादनित्यसम् इति । तस्य परिहारः। साधमम्यदिसिद्धेः प्रतिषेधासिद्धिः प्रतिषेध्यसाधम्मेप्रात् । इति । प्रतिशाद्यवयवयुक्तं वाक्यं पक्षनिव्वेत्तिकम्। प्रतिपक्षलक्षणः प्रतिषेधः। तस्य पक्षेण प्रतिषेध्येन साधर्मेत्र प्रतिकायोगः। तद् यद्यनित्यसाधम्मीत्रादनित्यतस्यासिद्धिः, साधम्मीत्रादसिद्धेः। प्रतिषेधस्याप्यसिद्धिः प्रतिषेध्येन साधम्मीप्रादिति । दृष्टान्ते च साध्यसाधन-भावेन प्रवातस्य धम्मस्य हेतुलात् तस्य चोभयथाभावान्त्राविशेषः इति । दृष्टान्ते यः खळु धर्माः साध्यसाधनभावेन प्रज्ञायते, स हेतुत्वेनाभिधीयते ; स चोभयथा भवति । केनचित् समानः कुतिश्चिद्विशिष्टः । सामान्यात् साधर्म्भंग्र विशेषाच

वैधम्मात्रम् । एवं साधम्मात्रविशेषो हेतुनीविशेषेण साधम्मीत्रमात्रं वैधम्मीत्रमात्रं वा, साधम्म्यमात्रं वैधम्मेत्रमात्रञ्चाश्रित्य भवानाह—साधम्मेत्रात् तुल्यधम्मेरपपत्तेः सर्व्वावित्यत्र प्रसङ्गाद् नित्यसमः इति । एतद्युक्तमिति । अविशेषसमप्रतिषेधे च यदुक्तं तदपि वेदितव्यमिति । अथं कार्य्यसमः। प्रयत्नकार्यानेकलात् कार्यसमः इति । प्रयत्नानन्तरीयकलाद् नित्यः शब्द इति, यस्य प्रयत्नानन्तरम् आत्मलाभस्तत् खल्वभूला भवति। यथा—घटादिकार्य्यम्, अनित्यमिति न भूला भवतीत्येतद् विज्ञायते। एवं व्यवस्थिते मयत्नकार्यानेकलादिति प्रतिपेध उच्यते। प्रयतानन्तर्मात्मलाभश्च दृष्टो घटादीनाम्। व्यवधानापोहाचाभिव्यक्तिः व्यवहितानाम् । तत् किं प्रयत्नानन्तरमात्मलाभः शब्दस्याहो अभिव्यक्तिः ? इति कार्याविकेषेण प्रत्यवस्थानमुपालम्भः कार्यसमः इति। तस्य परिहारः। काटर्यान्यत्वं प्रयत्नाहेतुलम्तुपल्रव्धिकारणोपलब्धेः। सति कार्यान्यत्वे अनुपल्रिक्षकारणोपपत्तेः प्रयत्नस्याहेतुलं शब्दस्याभिव्यक्तौ। यत्र प्रयत्नानन्तरमभिन्यक्तिस्तत्रातुपलब्धेः कार्णं व्यवधानमुपपद्यते, व्यवधाना-पोहाच्च प्रयत्नानन्तरभाविणोऽर्थस्योपलब्धिलक्षणाभिन्यक्तिभैवतीति। त तु शब्दस्यानुपलव्यिकारणं किञ्चिदुपपद्यते। यस्य प्रयत्नानन्तरं व्यवधाना-पोहाच्छब्दस्योपलब्धिलक्षणाभिन्यक्तिभेवतीति, तस्मादुत्पद्यते शब्दो नाभि-व्यज्यते। हेतोश्चेदनैकान्तिकत्तमुपपद्यते अनैकान्तिकतादसाधकः स्यादिति। यदि चानैकान्तिकलादसाधकम्, प्रतिषेधेऽपि समानो दोषः। प्रतिषेधो-ऽप्यनैकान्तिकः, किश्चित् पतिषेधति किश्चित्र पतिषेधति। तदनैकान्तिक-लान साधकः प्रतिषेधः। अथवा शब्दस्यानित्यलपक्षे पयतानन्तरमुत्पादः, नाभिन्यक्तिरिति विशेषहेलभावः। नित्यलपक्षेऽपि प्रयत्नानंनतरमभिन्यक्तिः, नोत्पाद इति विशेषहैलभावः। सोऽयग्रुभयपक्षसमो विशेषहैलभाव इत्युभयमप्य-सर्वत्र प्रकरणसंगादिषु नैकान्तिकमिति। सन्वत्रीवम्। यत्राविशेषो हश्यते तत्रोभयोः पक्षयोः समः प्रसन्यते इति। प्रतिषेधदोषवद् दोषः। योऽयं प्रतिषेधेऽपि समानो दोषो **ऽनैकान्तिकलमापद्यते, सोऽयं विमृतिषेधे मित्रिधेस्य मित्रिधे** षेधवत् समानो दोषोऽनैकान्तिकलमापद्यते । तत्रानित्यः शब्दः पयत्नान्तरीयक-लादिति साधनवादिनः स्थापना प्रथमः पक्षः। प्रयत्नकारयीनेककारयीतात् कार्यसम इति दूषणवादिनः प्रतिषेधहेतुना द्वितीयः पक्षः, स च प्रतिषेध इत्युच्यते। तस्मिन् प्रतिषेधे पुनस्तस्य प्रतिषेधेऽपि समानो दोषोऽनैकान्तिकतं अथ प्रतिज्ञाहानिः । प्रतिज्ञाहानिर्नाम सा प्राक् परिग्रहीतां प्रतिज्ञां पर्य्यनुयुक्तो यत् परित्यजित । यथा प्राक् प्रतिज्ञां कृत्वा नित्यः पुरुष इति, पर्य्यनुयुक्तस्त्वाह अनित्य इति ॥ ६१ ॥

तृतीयः पक्ष इति । एपा मतानुषा वक्ष्यते । इति चतुर्व्विशतिधा सपरिहारा उपालम्भा व्याख्याताः ॥ ६०॥

गङ्गाधरः – नन्वेवं वादं वर्त्तमाने कस्य जयः कस्य पराजयो वा कथं भवतीत्यत आह-अथ प्रतिकाहानिरित्यादि। यस्य प्रतिकाहान्यादयो भवन्ति स पराजितो भवन् निग्रहं मामोतीति मतिबाहान्यादीनि निग्रहस्थानानि भवन्ति। तानि वहून्यपि कतिचित् प्रतिशाहान्यादीनि निर्दिश्य शेपाणि निग्रहस्थान-पदेनोच्यन्ते। तत्र का पुनः प्रतिबाहानिरित्यत उच्यते-प्रतिबाहानिः यत् पूर्व्यं परिगृहीतां प्रतिकां साध्यवचनं पर्व्यनुगुक्तः खळ मत्यनुयुक्तः स्वानुयुक्तेन वादिना पुनरनुयुक्तः सन् परित्यजति स पूच्चे-प्रतिकातार्थपरित्यागः प्रतिकाहानिर्नाम भवति । तामुदाहरति - यथेत्यादि । माक् मितना कृता नित्यः पुरुप इति । तस्याः स्थापनायां वादिना पच्येतु-योगेनानुत्तरसमर्थः संस्तां प्रतिकां परित्यजन्नाहानित्यः पुरुप इति। इति पूर्विमतिकात्यागात् विरोधिमतिकान्तरभद्जैनेन कापितम्। मतिकाहानिरेव चतुर्द्धेति-प्रतिशहानिः प्रतिशन्तरं प्रतिशविरोधः प्रतिशसंन्यासञ्चेति । उक्तञ्च गौतमेन। प्रतिदृष्टान्तथम्माभ्यनुका स्वदृष्टान्ते प्रतिकाहानिरिति। साध्यधम्मीपत्यनीकेन धम्मीण प्रत्यवस्थिते खळूपाळम्भे सति प्रतिदृष्टान्तध्ममी स्वदृष्टान्ते अभ्यतुजानन् प्रतिकां जहातीति प्रतिकाहानिः। यथा - ऐन्द्रियक-सादनित्यः शब्दो घटवदिति प्रतिज्ञातेऽथापर आह—दृष्टमैन्द्रियकलं नित्ये सामान्ये लाकृतौ, कस्माच्छन्दो न नित्यः स्यादिति पत्यवस्थिते पूर्विवादी पुनराह, यदि नित्यं सामान्यमैन्द्रियकं तर्ध्यस्तु घटो नित्य इति प्रतिदृष्टान्त-धमम नित्यसामान्यस्य नित्यलं खद्दष्टान्ते घटेऽभ्यनुत्रां कृता साधकस्य दृष्टान्तस्य नित्यतं प्रसक्तं कुर्व्वन्ननित्यः शब्द ऐन्द्रियकताद् यथा घटः। यथा घट ऐन्द्रियकस्तथा शब्दस्तस्माद्नित्य इत्यन्तं पक्षं जहत् प्रतिक्षां जहातीति प्रतिज्ञाहानिमात्रमुच्यते पक्षस्य प्रतिज्ञाश्रयसात् । । स एवं प्रतिज्ञां हिसा यद्यपरां प्रतिकां करोति तदा प्रतिकान्तरमुच्यते। तदुक्तं गौतमेन।

अथाभ्यनुज्ञा । अभ्यनुज्ञा नाम सा य इष्टानिष्टाभ्युप-गमः ॥ ६२ ॥

मतिज्ञातार्थमतिपंधे धस्मे विकल्पात् तदर्थनिद्रैशः प्रतिशान्तरमिति। मतिज्ञाताथौँऽनित्यः शब्द ऐन्द्रियकलान् घटवदिति। तत्र यः मतिषेधः मतिदृष्टान्तेन हेतुन्यभिचारो यथा—सामान्यं नित्यमैन्द्रियकमिति तस्मिश्च मतिकातार्थे मतिपिद्धे धर्मोविकलपादिति दृष्टान्तमतिदृष्टान्तयोः साध्रम्मर्थ-योंगे धम्मभेदात् सामान्यमैन्द्रियकं सर्विगतम्, ऐन्द्रियकस्त्रसन्वंगतो घट इति धम्मंविकल्पात्। तदर्थं निद्देश इति साध्यसिद्ध्यथम्। यथा घटोऽसन्वंगत एवं शब्दोऽप्यसर्व्यगतो घटवदेवानित्य इति ; तत्रानित्यः शब्द इति पूर्विपतिका। असर्विगत इति द्वितीया प्रतिका प्रतिकान्तरमेतद्पि प्रतिका-हानिविशेषः। अनित्यः शब्द इतिमात्रप्रतिज्ञात्यागो हि शब्दोऽसब्बेगतो-अनित्य इत्युक्ते भवति। ति कथं निग्रहस्थानमिदं पतिकान्तरमिति ? मतिकायाः साधनं न मतिकान्तरं, किन्तु हेतुदृष्टान्तौ प्रतिकायाः साधनम्। तदेतदसाधनोपादानमनथेकमित्यानथेक्यानिग्रहस्थानमिति। अथ हेतुप्रतिज्ञयो-विरोधे सति प्रतिज्ञायाः स्थापना न भवतीति तां प्रतिज्ञां जहातीति प्रतिज्ञा-विरोधोऽपि प्रतिश्वाहानिविशेषः। उक्तश्च गौतमेन। प्रतिश्वाहेलोविरोधः प्रतिज्ञाविरोध इति । गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यमिति प्रतिज्ञा । रूपादितोऽर्थान्तरस्य अनुपलन्धेरिति हेतुः। द्वयोः परस्परं विरोधः। गुणन्यतिरिक्तं द्रन्यं तच्चोप-लभ्यते कथं रूपादिव्यतिरिक्तस्यानुपलिधिरिति रूपादिगुणव्यतिरिक्तस्यानुप-लिब्धइचेत् तर्हि कथं गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं भवतीति विरोधाद् गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यमिति प्रतिकां जहातीति प्रतिकाहानिविशेष एव। तत्र यदि प्रतिकातार्थं निह ते तदा प्रतिकानिहवात् प्रतिकात्यागो भवतीति प्रतिकासन्त्रास उच्यते। उक्तश्च गौतमेन। पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यास इति। अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकलादित्युक्ते परो ब्रूयात् सामान्यमैन्द्रियकं न चानित्यम्, एवं शब्दोऽप्यैन्द्रियको न चानित्य इत्येवं प्रतिपिद्धेऽनित्यत्वपक्षे यदि ब्रूयात् कः खल्वाहानित्यः शब्द इति। सोऽयं प्रतिज्ञाताथेनिह्नवः। मितनासंन्यास इति मितनात्यागविशेषः मितनाहानिरेवेति न विरोधः ॥ ६१॥ गङ्गाधरः—नन्वेवं वादः क उच्यते इत्यत उद्दिष्टमभ्यतुके ति। क्रोत्यादि। का पुनरभ्यनुक्रोत्यत आह—अभ्यनुका नाम सेत्यादि।

अथ हेत्वन्तरम्। हेत्वन्तरं नाम प्रकृतिहेतौ वक्तव्ये यद्-विकृतिहेतुमाह ॥ ६३ ॥

इष्टानिष्टाभ्युपगमः साभ्यनुजा नामोच्यते। य इण्टं स्वपक्षं परेण प्रदर्शितदोपलादनिष्टं कृला परमतमभ्युपगच्छित साभ्यनुजा मतानुजा। तहुक्तं
गौतमेन। स्वपक्षदोपाभ्युपगमात् परपक्षदोपप्रसङ्गो मतानुजा। प्रतिपेधं
सदोपमभ्युपेत्य प्रतिपेध्यतिपेधे समानो दोपप्रसङ्गो मतानुजा। यः परेण
चोदितं दोषं स्वपक्षेऽभ्युपगम्य नोद्धत्य वद्ति भवत्पक्षे समानो दोप
इति, स स्वपक्षदोपाभ्युपगमात् परपक्षदोपं प्रसक्तं कुन्वेन परमतमनुजानातीति
मतानुजा नाम निग्रहस्थानमापद्यते इति॥ ६२॥

गङ्गाधरः—ततो इलन्तरमाश्रवेदित्युक्तम्। इलन्तरमिति तत् कीद्य-मिल्यत आह—अथ हेलन्तरमिति । हेलन्तरं नामेल्यादि । प्रकृतिहेतौ वाच्ये यद्विकृतिहेतुमाह तद्धेवन्तरं नामोच्यते। उक्तश्च गौतमेन। अविशेपोक्त हेतौ प्रतिपिद्धे विशेपिमञ्जतो हे सन्तरमिति। एकपकृतीदं व्यक्तमिति प्रतिज्ञा। कस्मात् ? एकपकृतीनां विकाराणां परिमाणात्, मृत्पूर्व्यकाणां शरावादीनां दृष्टं परिमाणं यावान् प्रकृतेन्यू हो भवति तावान् विकार इति। दृष्ट्य प्रतिविकारं परिमाणम्। अस्ति चेदं परिमाणं प्रव्यक्तम्। तदेक-प्रकृतीनां विकाराणां परिमाणात् पदयामो न्यक्तमिदमेकपकृतीति। अस्य व्यभिचारेण परिहारः। नानापकृतीनामेकपकृतीनाश्च विकाराणां दृष्टं परिमाणमिति ; एवं प्रत्यवस्थिते स आह—एकप्रकृतिसमन्वये सित शरावादि-विकाराणां परिमाणदर्भनात् । सुखदुःखमोहसमन्वितं हीदं व्यक्तं परिमितं गृह्यते । तत्र प्रकृत्यन्तर्समन्वयाभावे सत्येकप्रकृतिलमिति । तदिदमविजेपोक्ते हितौ प्रतिपिद्धे विकोपं ब्रुवतो हेलन्तरं भवतीति। सति च हेलन्तराभावे पूर्वस्य हेतोरसाधकलानिग्रहस्थानम्। हेलन्तरवचने सति यदि हेलथं-निद्र्ञनो दृष्टान्त उपादीयते, नेदं व्यक्तमेकपक्रतिकं भवति पक्रत्यन्तरोपा-दानात । अथ नोपादीयते हेत्वर्थस्यानिद्जितस्य साधकभावानुपपत्तेरानर्थवया-द्धेतोरनिष्टत्तं निग्रहस्थानमिति ॥ ६३॥

चक्रपाणिः—इष्टानिष्टाभ्युपगमः, यथा—भवान् चौर इत्युक्तमा दोषं न परिहत्यः भवानिष

अथार्थान्तरम् । अर्थान्तरं नाम एकस्मिन् वक्तव्येऽपरं यदाह । यथा ज्वरलच्गो वाच्ये प्रमेहलच्ग्गमाह ॥ ६४ ॥ अथ निम्रहस्थानम् । निम्रहस्थानं नाम पराजय-प्राप्तिः, तच्च त्रिरुक्तस्य वाक्यस्याविज्ञानं परिपदि विज्ञान-

गङ्गाधरः—अर्थान्तरमुहिष्टं तदाह—अथार्थान्तरमिति। अर्थान्तरं नाम इत्यादि। एकस्मिन् वक्तन्येऽपरं यदाह तदर्थान्तरम्। यथा व्वरलक्षणे वाच्ये प्रमेहलक्षणमाहिति। गौतमेनाप्युक्तम्। पकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम् इति। यथोक्तलक्षणे पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहे हेतुतः साध्यसिद्धौ प्रकृतायां व्रूयात्। नित्यः शन्दोऽस्पर्शन्तादिति हेतुः। हेतुर्नाम हिनोतेर्धातोस्तुनि-पत्यये कृदन्तपदम्। पद्भ नामाख्यातोपसर्गनिपाताः। अभिध्यस्य क्रियान्तरयोगाद्विशिष्यमाणरूपः शन्दो नाम क्रियाकारकसमुदायः, कारकसङ्ग्राविशिष्टक्रियाकालयोगाभिधायि आख्यातम्। धालर्थमात्रश्च कालाभिधानविशिष्टम्। योगेष्वर्थादभिद्यमानरूपा निपाताः। उपस्लयमानाः क्रियानविशिष्टम्। योगेष्वर्थादभिद्यमानिक्षपित्तरं वेदितन्यमिति।। ६४।।

गङ्गाधरः—यदुद्दिण्टं निग्रहस्थानं तदाह—अथ निग्रहस्थानमिति। किं पुनिग्रहस्थानमुच्यते तत् आह—निग्रहस्थानं नामेत्यादि। पराजयः प्राप्यते येन सा पराजयमाप्तिनिग्रहस्थानं नामोच्यते। तस्य विभागोऽविज्ञानार्थादिकस्। तदन्याह त्रिरुक्तस्येत्यादि। उक्तश्च गौतमेन सामान्य- लक्षणस्। विमतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानमिति। विपरीता वा कुत्सिता वा प्रतिपत्तिविमतिपत्तिः। विमतिपद्यमानः पराजयमाप्तोति, निग्रहस्थानं खळ पराजयमाप्तिः। अप्रतिपत्तिस्तारम्भविपये न प्रारम्भः। परेण स्थापितं वा न प्रतिपेधति, प्रतिपेधं वा नोद्धरति। असमासाच नैता एव निग्रहस्थानं इति। । तदिकल्पानिग्रहस्थानवहुत्वमिति। तयोविमतिपत्त्यमितप्त्याः विकल्पानिग्रहस्थानवहुत्वमिति। नानाकल्पो विकल्पो विविधो वा कल्पो

चौर इति । एतद्धि वचनं स्वीयमनिष्टचौरत्वं परस्य चेष्टचौरत्वमप्यभ्यनुजानाति । तदेवं वचनं न्याये 'मतानुज्ञा'शब्देनोच्यते ॥ ६१—६४ ॥

चक्रपाणिः — नियहस्याभिभवस्य स्थानमिव स्थानं कारणमिति नियहस्थानम्, परिपदि विज्ञान-

वलाम् । यद्दा अननुयोज्यस्यानुयोगोऽनुयोज्यस्य चाननुयोगः । प्रतिज्ञाहानिरभ्यनुज्ञा कालातीतवचनमहेतुन्यू नमधिकं व्यर्थम् अनर्थकं पुनरुक्तं विरुद्धं हेत्वन्तरमर्थान्तरं निप्रहस्थानम् ।

विकल्प इति । तत्राविकानमन्तुभाषणममितभाविक्षेषो मतानुका पर्यमु-योज्योपेक्षणमित्येतदमितपत्तिनिगृहस्थानम् । शेषस्तु विमितपत्तिरिति ।

तद् विमतिपत्तिविकल्पानिग्रहस्थानम्विभागोऽयं त्रिरुक्तस्येत्यादिक-मर्थान्तरान्तम् । तत्र त्रिरुक्तस्येति । विद्यानवत्यां परिपदि न तु सूढ़ायां वादे भवर्त्तमानयोद्दे योरेकेण वादिना पारिपदेन वा श्लिप्टशन्दगृदार्थशन्दापतीतप्रयोग-दुर्व्योयार्थातिद्वतोचारितादिशब्दै स्त्रिरुक्तस्य वाक्यस्याथेतोऽपरस्य वादिनो यन विवानं भवति तत् खल्वविवातार्थमुच्यते निग्रहस्थानम्। गौतमेन चोक्तम्। परिपत्मतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थमिति । यद्वाक्यं परिपदा प्रतिवादिना च त्रिरभिहितमपि न विकायते, श्लिष्टशब्दमप्रतीतप्रयोगमित-तद्विज्ञातमविज्ञातार्थमसामर्थ्य-इतोचारित मित्येवमादिना कारणेन, संवरणाय प्रयुक्तिमिति निग्रहस्थानमिति। अन्यचाह—यद्देत्यादि। अनतु-योज्यानुयोगः। प्रागुक्तं यद्वावयं वाक्यद्येपयुक्तं तद्नुयोज्यमननुयोज्यं नामातो विषय्यीयेण तस्यानुयोगस्तद्विद्यैरः सह दोपवत्तया भाषणमित्यननु-योज्यानुयोगः। गौतमेन चोक्तम्। निरनुयोज्यानुयोग इति। अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरतुयोज्यातुयोग इति। निग्रहस्थानलक्षणस्य मिथ्या अध्यवसायाद्निग्रहस्थाने निगृहीतोऽसीति परो ब्रुवन् निरनुयोज्यानुयोगात् निगृहीतो वेदितन्य इति । अनुयोज्यस्याननुयोगः । सदोपवाक्यं ब्रुवन्ननु-योज्यो यो भवति तस्यान तुयोगो दोपवद्वाक्यवादितया तुयोगोपेक्षाकरणं तत्-कर्त्ता नियाह्यो भवति। गौतमेन चोक्तम्। निग्रहस्थानपाप्तस्यानिग्रहः पर्यमुयोज्योपेक्षणिति। पर्यानुयोज्यो नाम निग्रहोपपत्त्या चोदनीयः, तस्य **उपे<u>क</u>्षणं निग्रहस्थानं प्राप्तोऽसीति अन**नुयोगः। एतच कस्य पराजयः? इत्यनु-युक्तया परिपदा वचनीयमिति ।०। पतिबाहानिश्रतुर्विधा व्याख्याता। कालातीतवचनं व्याख्यातम् । अहेतवो हेलाभासा व्याख्याताः । न्यूनादयः

वत्यामित्यनेन, यदि परिपत् तस्य त्रिरभिहितस्यार्थं विज्ञानाति, प्रतिवादी च न जानाति, तदा तस्य निम्रहस्थानं भवति । अन्यानप्युक्तानेव निम्रहस्थानःवेनाह—अननुयोज्यस्यानुयोग इत्यादि । एते च ब्याकृता एव । अत्र चाप्रतिभादयो न्यायोक्ता अन्तर्भावनीया बुद्धिमद्भिः, आयुर्वेदे पङ्दोपा वाक्यस्य व्याख्याताः। हेलन्तर व्याख्यातमर्थान्तरश्च। स्थानमिति। शेपश्च निग्रहस्थानं वेदितन्यम्। तद्यथा। सिद्धान्तोऽननुभाषणमञानमप्रतिभाविक्षेषो मतानुका चेति। तत्राप्राप्तकाला-दिकमुक्तं गौतमेन। अवयवविषय्यासवचनमप्राप्तकालमिति। प्रतिबादीनाम् अवयवानां यथालक्षणमर्थवशात् क्रमः। तत्रावयवविषय्यसिन व्यतिक्रमेण वचनमप्राप्तकालम्। असम्बद्धार्थकालं निग्रहस्थानमिति। सिद्धान्तमभ्यु-पेत्यानियमात् कथाप्रसङ्गोऽपितद्धान्तः। कस्यचिद्धंस्य तथाभावं प्रतिषाय पतिकातार्थविषय्यैयाद्नियमात् कथां पसञ्जयतोऽपसिद्धान्तो वेदितन्यः। यथा न सदात्मानं जहाति न सतो विनाशो नासदात्मानं लभते नासत् जत्पचत इति सिद्धान्तमभ्युपेत्य स्वपक्षं व्यवस्थापयति। इति। अथानतु-भाषणियति । विज्ञातस्य परिपदा त्रिरभिहितस्याप्यनुचारणमननुभाषणिमिति । विज्ञातस्य वाक्यार्थस्य परिपदा प्रतिवादिना च त्रिरभिहितस्य यदप्रत्युचारणं तदनजुभाषणं नाम निग्रहस्थानम् । अपत्युचारयन् किमाश्रयं परपक्षमितिपेथं ब्रूयात्। इति। अविज्ञातश्चाज्ञानम्। विज्ञातार्थस्य परिपदा प्रतिवादिना च त्रिरभिहितस्य यद्विज्ञानं तद्ज्ञानं निग्रहस्थानमिति, यन विज्ञातं तस्य प्रति-पेधं कथं कुटर्यादिति । इत्यनुभाषणञ्चाहानञ्चाविहातार्थञ्चेति त्रयं त्रिरुक्त-स्येत्यादिना प्रथमोक्तं निग्रहस्थाने न संगृहीतं वोध्यम् । । उत्तरस्याप्रतिपत्तिः अमितभा इति । मितपक्षमितिपेध उत्तरम् । तद् यदा न मितपद्यते तदा न गृहीतो भवति। यतानुका चोक्ताभ्यनुका नाम। इति निग्रहस्थानम्। विक्षेपश्च। काय्यव्यासङ्गत् कथाविच्छेदो विक्षेप इति। यत्र कत्तेव्यं व्यासच्य कथां व्यवच्छिनत्ति—इदं मे करणीयं विद्यात् तस्मिन्नवसिते करिष्यामीति विक्षेपो नाम निग्रहस्थानम्। एकनिग्रहावसानायां कथायां स्वयमेव कथान्तरं प्रतिपद्यत इति । । अयं वादस्ति द्विसम्भाषा नाम गौतमेन चोक्ता । ज्ञान-ग्रहणाभ्यासस्तद्विदैगः सह संवादः इति। तद्थंमिति। प्रकृतं शायतेऽनेन इति ज्ञानमात्मविद्याशास्त्रं, तस्य ग्रहणमध्ययनधारणे, अभ्यासः सततिक्रया अध्ययनश्रवणचिन्तनानि। तद्विदेत्रश्च सह संवाद इति प्रज्ञापरिपाकार्थम्। परि-पाकरतः संशयच्छेदनमविकातार्थाववोधोऽध्यवसिताभ्यनुकानमिति। सन्धाय वादः संवादः। तद्विदैगः सह यैः संलापः कार्य्यस्तदुच्यते। तं शिष्यगुरु-सब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोऽर्थिभिरनस्यिभिरभ्युपेयात्। एतन्निगदेनैव नीतार्थम् इति। एप संवादः सन्धायसम्भाषा प्रागिहवाध्याये व्याख्याता। यदिदं

इति वादमार्गपदानि यथोद्देशमिभ निर्दिष्टानि भवन्ति॥६५॥ खलु भिपजां वर्त्तमानो वर्त्तेतायुद्वेद एव न लन्यत्र । तत्र हि वाक्यप्रतिशक्यविस्तराः केवलाश्चोपपत्तयः सर्व्वाधिकरणेषु च । ताः सर्व्वाः सम्यगवेद्यावेद्य सर्व्वं वाक्यं न्यात् । नाप्रकृतकमशास्त्रमपरीचितमसाधकमाकुलमज्ञापकं ® वा। सर्व्वश्च हेतुमद् ब्रूयात्, हेतुमन्तो ह्यकलुवाः सर्व्व एव मन्येत । पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः प्रतिकूलः परस्येति । तत्राह । प्रतिपक्षहीनगपि वा मयोजनार्थमर्थिते इति । तमभ्युपेयादित्यन्वत्तते । परतः मशामुपादित्स-मानस्तत्त्ववुभुत्साप्रकाशनेन स्वपक्षमनवस्थापयन् स्वदर्शनं परिशोधयेदिति। अन्योन्यप्रत्यनीकानि च प्रावादुकानां दर्जनानि, स्वपक्षरागेण चैके न्याय्यमति-तत्र। तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं वत्तंन्ते। जरुपवितष्डे वीजप्ररोह-संरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत् इति । अनुत्पन्नतत्त्वशानानामपहीणदोपाणां तदर्थं घटमानानामेतदिति । विद्यानिर्वेदादिभिश्च परेणाविज्ञायमानस्य ताभ्यां विगृह्य कथनम्। विगृह्यति विजिगीपया न तत्त्वव्युभुत्सयेति। विद्यापालनार्थं, न लाभपूजाख्यात्यर्थेमिति । उद्दिष्टानां व्याख्यानं समापयित । इति वादमार्गेपदानि यथो दिष्टमभि लक्षीकृत्य निद्दिष्टानि भवन्तीति ॥ ६५ ॥

गङ्गाधरः—ननु य एव वाद उक्तः स खळु भिपजां कि सन्वेस्सिन्नेव शास्त्रे वर्त्तते न वेति, तत्राह—वादस्तित्यादि । भिपनामायुर्वेदशास्त्र एव वत्तमानो वर्त्तेत नान्यत्र वर्त्तेतेति । कस्मात् १ तत्र हीत्यादि । तत्रायुर्वेदे भिपजां चिकित्साक्रियासिद्धिप्रयोजनाय वाक्यप्रतिवाक्यविस्तरा वादमार्गपदार्थैः कृत्स्ताश्चोपपत्तयो भवन्ति न चान्यत्र शास्त्रे । कुतः १ सर्व्वाधिकरणेष्वायुर्वेद् शो भिपक् । ताः सर्व्वाः प्रतिपत्तीः समीक्ष्य वाक्यं ब्रूयात् । न चापकृतम् अशास्त्रमपरीक्षितमसाधकमाकुलम्बापकं वा ब्रूयादिति । सन्वेश्च हेतुमद् ब्रूयात् ।

तथाविधोपकारकत्वाभावात् तत्त् पञ्चितपयमिष न प्रपञ्चितम्, न्यायविदान्तु एतदनुक्तमिष सुगम-मेवः, तत्त्ववेदिनाञ्च मनाक् प्रपञ्चोक्तमिष नालं ज्ञानायेत्यलं प्रपञ्चेनेति ॥ ६५ ॥

चक्रपाणिः – इदानीं यथोक्तवाद एवायुर्वेद आयुर्वेदाध्यायिभिः कर्तव्यः, एवम्मृतस्यैव वादस्य विवक्षितत्वं सम्यग्ज्ञानजनकत्वादित्याह—चाद इत्यादि i अथ किमत्र वादविपयाः सन्तीत्याह—

^{*} अन्यापकमिति चक्रसम्मतः पाठः।

वादिवयहाश्चिकित्सिते कारगासृताः, प्रशस्तवुद्धिवर्द्धकत्वात् सर्व्वारम्भतिद्धिं ह्यावहत्यनुपहता वुद्धिः ॥ ६६।३७ ॥

इमानि खलु तावदिह कानिचित् प्रकरणानि भिपजां ज्ञानार्थमुपदेच्यामः । ज्ञानपूर्व्वकं कम्मेणां समारम्भं प्रशंसन्ति क्रशलाः । ज्ञात्वा हि कारणकरणकार्य्ययोनिकार्य्यकार्यप्रलानु-वन्धदेशकालप्रवृत्त्युवायान् सम्यगिभनिर्वर्त्तमानः कार्य्याभि-निर्वृत्ताविष्टफलानुबन्धं कार्य्यमभिनिर्वर्त्त्रयत्यनितमहता यत्नेन कर्त्ता ॥ ६८१६ ॥

हेतुमन्तो ह्यकछुपा विश्वदाः। चिकित्सिते सर्व्यं एव वाद्विग्रहाः कारण-भूताः। सर्व्यारम्भसिद्धिमित्यादि। हि यस्माद् तुपहता प्रशस्ता द्यद्धिः सर्व्यारम्भसिद्धिमावहति तस्मात् प्रशस्तद्यद्धिवद्धिकत्वाद् हेतुमन्तोऽकछुपा वाद-विग्रहाश्चिकित्सिते कारणभूता भवन्तीत्यर्थः। इति तद्विद्यसम्भापा प्रदिशेता।। ६६।६७॥

गङ्गाधरः—अथानुपहतवुद्धेः सर्वारम्भसिद्धिहेतुत्वप्रसङ्गात् ज्ञानपूर्व्यककम्मीरम्भार्थं प्रकरणमाह—इमानीत्यादि । खलु पुनिरमानि तावदिह
कानिचित् कारणादीनां ज्ञानपकरणानि कम्मेणां चिकित्सादीनां सर्व्वपामेव
ज्ञानपूर्विकं समारम्भं कुज्ञलाः प्रजंसित । कुत इत्यत आह—ज्ञाला हीत्यादि ।
हि यस्मात् कत्तां कारणादीन् ज्ञाला सम्यगभिनिवंत्तेमानः कार्य्याभिनिव्देत्तौ
सम्यक्षित्रयमाणकार्य्यनिष्पत्तौ इष्टफलानुवन्धं कार्यमनतिमहता मध्यमाअत्र हीत्यादि । सर्व्वाधिकरणेषु सन्तीति शेषः । अन्यापकं ब्रूयादिति प्रवेण सम्बन्धः ।
बादो विब्रहः शरीरमेव येषां ते वादविब्रहाः जल्पभेदा वितण्डाभेदाश्च । प्रशस्तवृद्धिकर्तृत्वेन
कथं वादिश्विकत्सायां भवतीत्याह—सर्वेत्यादिना । न केवलं चिकित्सासिद्धिं करोत्यनुपहता बुद्धिः,
किन्तु सर्वारम्भसिद्धिं करोतीत्यर्थः ॥ ६६।६७ ॥

चक्रपाणिः —सम्प्रति वुद्धेर्वर्द्धनकारणतिद्वयसम्भाषाविध्यभिधानप्रसङ्गेनायुर्वेदोपयुक्तकारण-करणाद्यभिधायकान्यपि प्रकरणानि वुद्धिवर्द्धनान्यभिधातुं प्रतिजानीते—इमानीत्यादि । ज्ञान-पृद्वेकमिति कर्त्तृं कार्य्यानुगुणपदार्थज्ञानपृर्वकमित्यर्थः । यानि ज्ञात्वा क्रियमाणं कार्य्यं साधु भवति, तान्याह—ज्ञात्वेति । अभिनिवर्त्तमान इत्याभिमुख्येन वर्त्तमानः । इष्टमतादात्विकं फल-मनुवन्धश्च यस्य तदिष्टफलानुवन्धम् ॥ ६८।६९ ॥ तत्र कारणं नाम तद् यः ७ करोति, स एव हेतुः स कर्ता । ऽल्पान्यतरेण प्रयत्नेनाभिनिर्व्वर्त्तेयित सम्पाद्यति, तस्मात् ज्ञानपूर्व्वकं कर्म्मणां समारम्भं प्रशंसन्ति कुशलाः ॥ ६८।६९ ॥

गङ्गाधरः--ननु कारणादिकं किं तावदित्यत आह--तत्रेत्यादि। तत्र कारणादिषु मध्ये कारणं नाम तत् यः करोति, स एव हेतुः स कत्तति पर्यायः। कारकं प्रयोजक इत्यपि पर्यायान्तरं वाच्यम्। भगवान् पाणिनि-रप्युवाच—कारके स्वतन्त्रः कत्ती प्रयोजको हेतुक्ष्चेति। करोतीति तत्-क्रियां फलरूपां निष्पादयति या क्रिया तत् कारकं, तदाश्रयो मुख्यं यत् तत् कारणं, स एव इतुः स कत्ती। क्रिया पुनः प्रयोजनहितवः फलं न्यापारश्च पयोजनं मुख्यं चर्मफलं तच्च न धातुनोच्यते गम्यमानत्वात्। फलन्त प्रयोजनदेतुर्व्यापार्निष्पादंत्र धातुनोच्यते। व्यापारस्तु प्रयत्नजनिता चेष्टा, सा च धातुनोच्यते पश्चविधा सम्भवत्यतो न हि सन्वेण धातुना पश्चधा व्यापारो-ऽभिधातुं सम्भाव्यते। पश्चधातिरिक्तस्तु व्यापारो नास्ति। प्रयत्नोऽपि व्यापारेणोपलक्ष्यते । उक्तं हि —आत्मजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या भवेत् कृतिः। कृतिजन्या भवेचेष्टा चेष्टाजन्यं भवेत् फलिमिति। तदा प्रयत्न-श्रेन्छाप्युपलक्ष्यते व्यापारपदेन, तस्मात् साधारणत्वादिच्छापयत्रौ न धातुना अभिधातुमिष्येते परन्तु कारणत्वात् गम्येते। तथा च एपिता यदिच्छन् क्रियायां प्रवर्त्तते तदीष्सिततमं कम्में, तच व्यापारनिष्पादंग्र, पचनादौ विक्रित्त्यादि, फलं तदाश्रयः। एपिता प्रयतमानस्तत्क्रियायां प्रवत्तेमानस्तत्फलमन्यवधानेन येन व्यापारेण साधयति तत् साधकतमं करणं, पाकादौ काष्टाग्रादिव्यापारः। तत्कियेपितृप्रयतमानप्रवत्तमानकत्त्रेकम्पादिक आधारयति व्यापारवान् स आधारोऽधिकरणम्, पाकादौ स्थाल्यादिस्तण्ड्लादेः धारणाच्यापारेणाधारः। एपिता प्रयतमानस्तत्क्रियाकम्मेणा यद्व्यापारेण यमभिप्रैति तद्नुपतिपकाशस्वीकारादिव्यापारवत् सम्प्रदानम्, दानादो विपादेरत्नमतिप्रकाशस्वीकारादिन्यापारः। यद्यद्न्यापारेण भवमपाये तद-व्यापारवत् तदपादानम्, पतनादो पर्णादेष्टं क्षादिरविधवव्यापारवानपादानम्।

<u>धक्रपाणिः</u>— उक्तानि कारणादीनि व्याकरोति तत्रेत्यादिना । 'यद्' इति 'कारण'शत्यवमर्पात् नपुं सकं, भवतीति करोति । तेन इह 'कारण'शब्देन स्वतन्त्रकारणं 'कर्जु' लक्षणं श्रुवते ।

^{# &#}x27;यत्' इति चकः।

करणं पुनस्तद् यदुपकरणायोपकल्पते कर्त्तः कार्याभि-निव्व त्तौ प्रयतमानस्य ।

कार्थ्योनिस्तु सा या विक्रियमाणा कार्य्यत्वमेवापचते । कार्यन्त तद यस्याभिनिव्यं त्तिं कर्त्ताभिसन्याय प्रवर्त्ते ।

इत्येवमुक्तफलादिपञ्चविधधात्वर्थावशिष्टव्यापारवानः कर्त्तृ संग्र एव नान्यसंग्रः। एतेन निष्पत्तिमात्रे कर्त्तृ लं सन्येत्रैवास्ति कारके—व्यापोरभेदापेक्षायां करणलादिसम्भवः - इति ख्यापितम् । इति कारणपटकमपि करणादेः पृथग्-

ग्रहणादत्र कारणं कर्त्तव न करणादिकम्।

क्रमिकं करणं लक्षयति—करणं पुनस्तदित्यादि। कार्व्याभिनिन्धे तौ प्रयतमानस्य कर्त्तु स्तत्कार्ट्याभिनिन्द्यं तो यदुपकरणाय उपकाराय करपते तत् करणं साधकतमम् । वातादायुपयुक्तस्य मधुराद्यचेतनद्रव्यस्य वातादिहरणे तद्दुच्यसम्पत्तिरुपकरणायोपकलपते तस्याः करणतवारणाय प्रयतमानस्येति। प्रयत्नस्तु चेतनाथातुलिङ्गं नाचेतने वर्त्तते, तेन भिष्गादेः कर्तु श्रिकित्साभि-निन्धं तो प्रयतमानस्य भेपजशसादिकमुपकरणायोपकल्पते, इति भेपजशसा-दिकं करणम्।

काय्ययोनिं लक्षयति—कार्य्ययोनिस्तित्यादि। या क्रमिकलात विक्रियमाणा विकृतिमापद्यमाना कार्य्यसमापद्यते सा कार्य्यमोनिः। यथा-मधुरादिरसद्रव्याणि भुक्तानि पकानि रसरक्तादिरूपमापचन्ते, इति रस-रक्तादिकारयीणां योनिर्मधुरादिः। एवं वातादिः वर्रादिकारयीणां योनिः इत्येवमादि ।

कार्यमाह – कार्यन्तु तदित्यादि । यस्याभिनिन्द्रं त्तिम्रत्-पत्तिं बुद्ध्यादिसमिवगमयोगैरिभसन्धाय कर्त्ता पवर्तते, वाचा मनसा वा

करणं विवृणोति—करणं पुनिरित्यादि । उपकरणायेति कर्त्तुः सम्पाद्यकार्य्यं सिन्नहितं सहकारि-तया व्याप्रियते । कार्य्याभिनिव्यु ताविति कार्य्यनिव्यु तिमुह्दिय । यतमानस्येति यस्नं कुर्व्यतः । पुतेन यः कारयें कारणान्तरप्रेरकः, स चात्र कर्त्ता 'कारण'शब्देनोच्यते, यत् तुः कर्त्तूभीनव्यापारं साधकतमम्, तत् करणम् । कर्नृत्वद्य वै तस्यैव मुख्यम्, यो हि बुद्धिप्रयत्वयुक्तत्वादितरकारण-भेरको भवति, अचेतने तु कर्नु त्वन्यपदेशः स्वातन्त्र्यविवक्षया भाक्तः ।

कार्य्यस्य योनिः समवायिकारणं कार्य्ययोनिः । येत्यादि । या योनिः कारणत्येऽपि विकिय-

शरीरेण वा चेष्टते तत् कार्यम्, कर्त्तु रीष्सिततमम्। यथा तण्डलान् ओदनं पचित देवदत्त इत्यादि। अत्र तण्डूलाः काय्येयोनय ओदनस्तु कार्ये तस्य ह्यभिनिन्द्र त्तिमवयवर्गेथिल्यरूपामभिसन्धाय देवदत्तः काष्टाग्निस्थाल्यारोपणा-दियु मवत्तेते। नतु ग्रामं गच्छति देवदत्त इत्यादौ न ग्रामो विक्रियमाणः किश्चित् कार्य्यत्वमापद्यते तेन न कार्य्ययोनिः न वा ग्रामस्याभिनिन्द्ये त्तिमभिसन्धाय देवदत्तः पादस्पन्दनादौ प्रवर्त्तते तेन ग्रामः कार्य्यं नास्त्र, कार्यं हि कम्म-कारकम्, तत्र द्वितीया स्यात् , तत् कथं ग्रामस्य कर्म्मत्विमिति चेन्न देवदत्तो हि पूर्वदेशसंयोगध्वं सपूर्विकोत्तरदेशसंयोगस्याभिनिन्दं त्तिमभिसन्धाय पाद-स्पन्दनादौ प्रवर्त्तते, इति स ग्रामसंयोगः कार्य्यं तदाश्रयलात् तु ग्रामस्य कर्म्मत्विमिति। पथि तु यः संयोगस्तस्याभिनिन्द त्ताविप सिद्धायां तदाश्रयत्वात्र पथः कर्मात्वं न हाभिसन्धिर्वेवदत्तस्य पथिसंयोगे परनतु ग्रामसंयोगे एव ; अभिसन्धि प्रयोजनसिद्धौ चरमहेतुतया तद्वस्तुशानम् । तण्डुलानोदनं पचित देवदत्त इत्यादौ तु तण्डुलानां शिथिलावयवरूपस्यौदनस्याभिनिव्हे तिम् अवयवजीथिल्यस्य चाभिनिच्छे त्तिमभिसन्धाय कर्त्ता पचने पवत्तेते इत्योदनः कारमंगवयवजीथिलयञ्च कारमंगिति कारमंद्रगं तेन शिथिलावयवत्त्वात् तु तण्डुलानां कम्मोत्वमवयवजीथिल्यवत्त्वादोदनस्य च कम्मेत्विमिति काय्येद्वयं वोध्यम् । विकार्य्यस्थले विकृतिर्द्धिमा । मकृत्युच्छेदसम्भवरूपान्तरं गुणान्तरोत्-पत्तिनिमित्तरूपान्तरञ्च। यथा—काष्टं भस्स करोति। सुवर्ण कुण्डलं करोति । निर्व्वर्त्तेत्र चैकमेव कार्य्यं यथा पुत्रं प्रसूते । तेन रूपान्तरतं विकार्य्यत्वं धातुवैपम्य विकार इति च स्वयमुक्तम्। निव्वं त्रीम्तू तद् यनिव्वं तंते पूर्विमसज्जनमना च प्रकाशते यत् तदित्यथेः। आभ्यां परं प्राप्यं ग्रामं गच्छति चन्द्रं पञ्यतीत्यादि। न च निन्वंत्त्रप्राप्ययोः कार्ययोगेनिरस्ति विकारयंसाभावात्। परन्तु विकारयंस्यैव कार्यस्य योनिरस्तीति निष्कर्पः। नु पयसाननं भुङ्क्ते इत्यादौ पयसोऽपि गलाधः करणरूपामभिनिन्द्रं त्तिमभि-सन्धाय कर्त्ता जिह्वादिस्पन्दनाधःकरणजनकाकपणादिन्यापारे पवर्त्तते कथं पयसो न कार्य्यतमिति चेन्न कर्त्तु हिं तदन्नाधः करणस्याभिनिन्द्र तावभिसन्धिन पयोऽघःकरणाभिनिव्येत्तौ परन्त्वन्नाधःकरणाभिनिव्येत्रयुपकरणायोपकल्पते . पयःसाहित्यमिति पयः करणमिति ।

माणा रूपान्तरमापद्यमाना कार्य्यत्वमापद्यते कार्य्यरूपा भवतीत्यर्थः। तत्र घटस्य मृत्तिका कार्य्ययोनिः मृदेव हावस्थान्तरप्राप्त्या घटो भवति ।

कार्य्यफलं पुनस्तद् यत्प्रयोजनकार्याभिनिवर्शे त्तिरिष्यते ।

क्रमिकलात् कार्येफलमाह—कार्यफलमित्यादि , यत्पयोजनकार्याभि-निन्द्रं तिः। यत् प्रयोजनं यस्य तत् यत् प्रयोजनम्। यत् प्रयोजनश्च तत् काय्येञ्चेति, यत्पयोजनकार्यं तस्याभिनिन्द्रित्तः यत्पयोजनकार्याभि-तत्पयोजनन्तु तत् काय्येफलम्। प्रयोजनन्तु निन्धे तिरिष्यते कर्जा स्वयमुक्तमग्रे। यथा कार्यं धातुसाम्यं तस्य फलं मुखावाप्तिः प्रयोजनम्। एतदुदाहरणमदर्शनमात्रं न तु कुरस्नफलनिर्देशः। तेन बुद्धग्रादिसमयोगनिमित्तसमप्रष्टित्तजनितं धातुसाम्यं धम्मंश्च शुभम् एवमशुभ-कार्यं बुद्धप्रादि विषमयोगनिमित्तविषमप्रद्यत्तिजनितं धातुवैषम्यमधममञ्जाशुभ-मिति । प्रयोजनन्तु तयोः फलं सुखदुःखावाप्तिः । उक्तश्च गौतमेन । प्रदृत्तिदोप-जनितोऽथेः फलमिति। सुखदुःखसंवेदनं फलं, सुखविपाकं कम्मं दुःख-विपाकश्च कर्मा। तत् पुनदेहिन्द्रियविपयष्टुद्धिपु सतीषु भवति ततो देहादिभिः सहातुवद्धं फलं भवति। तथा हि प्रवृत्तिदोपजनितोऽर्थः फलमेतत् सर्व्व भवति । तदेतत् फलग्रुपात्तं द्वेय' त्यक्तग्रुपादेयगिति । नास्याहानोपादानयो-निष्ठापर्यवसानं वास्ति। न खल्वयं फलस्य हानोपादानस्रोतसो ह्यन्ते लोकोऽस्ति। तदात्वेऽपवर्गमाप्तेरिति। तदेतत् सुखदुःखं दुःखसंघयैव मन्यमान आह—वाधनालक्षणं दुःखमिति। वाधना पीड़ा ताप इति। तयातुविद्यमतुपक्तमविनिर्भागेण वर्त्तमानं दुःखयोगाद् दुःखं जन्म। सोऽयं जन्मवान् सन्वं लोकं दुःखेनानुविद्धं रहन्तमिति पश्यन् दुःखं जिहासुः जन्मनि दुःखदशीं निर्विद्यते, निर्विण्णो विरुच्यते, विरक्तो विमुच्यते। इति। प्रष्टित्तर्वाग्युद्धिशरीरारम्भः। मनोऽत्र बुद्धिरित्यभिषेतं, बुध्यतेऽनेनेति बुद्धिः। सोऽयमारम्भः शरीरेण वाचा मनसा च पुण्यः पापश्च दशनिधः। सेयं प्रवृत्तिः कम्मोंच्यते। तदुक्तं तिस्रीपणीये। कम्मे वाङ्गनःशरीरपष्टितिरिति। तस्या हेतवस्तु प्रवर्त्तनालक्षणा दोषाः। प्रवर्त्तना प्रष्टित्तहेतुत्वम्। ज्ञातारं हि रागादयः प्रवर्त्तयन्ति पुण्ये पापे वा यत्र मिथ्या। तत् त्रैराइयं रागद्वे पमोहार्थान्तरभावात्। तेपां दोपाणां त्रयो राशयः, त्रयः पक्षाः रागो रजोगुणात्मकस्तस्य पक्षाः कामो मत्सरः स्पृहा लोभ इति। द्वेपश्च रजोगुणात्मकस्तस्य पक्षाः क्रोध ईर्ष्यासुया द्रोहोऽमर्षे इति। मोहस्तमोगुणात्मकस्तस्य पक्षा मिथ्याज्ञानं

अभानव्यं त्तिमभिसन्धायेति कर्त्तव्यताबुद्धिं स्थिरीकृत्य । ु'कार्य्यफल'शब्देनेह तादात्विकं

विचिकित्सा मानः प्रमाद इति त्रैराज्यान्नोपसङ्घ्यायन्ते । लक्षणस्य तर्द्धप्रभेदात् त्रिलमनुपपन्नं, नानुपपन्नं रागद्द पमोहार्थान्तरभावात् । आसक्तिलक्षणो रागः, अमर्पलक्षणो द्देपः, मिथ्याप्रदृत्तिलक्षणो मोह इत्यर्थान्तरलात् । यत्र रागद्दे पमोहास्तत्र कामाद्य उपनिपतन्ति तस्मान्नोपसंद्व्यायन्ते ।

तत्राह वादी। नैकप्रत्यनीकभावात्। न खल्वर्थान्तरं रागादिकम्। कस्मात् ? एकप्रत्यनीकभावात्। तत्त्वज्ञानं सम्यङ्गतिराय्येश्वा सम्बोध इत्येक-मिदं त्रयाणां प्रत्यनीकं स्यात् । तत्रोत्तरम् । व्यभिचाराद्हेतुः । सति ह्यर्थान्तर-भावे पृथिच्यां इयामलोहितादय एकप्रत्यनीका एकेनैवाग्निसंयोगेन रूपैक-योनयः पाकजा इति व्यभिचारदर्शनादेकपत्यनीकभावादित्यहेतुः। । तेपां मोहः पापीयान् नाभृद्स्येतरोत्पत्तेरिति । मोहः पापः पापतरो वेति द्वावभि-मेत्य पापीयानित्युक्तम् । कस्मात् ? नामृद्स्येतरोत्पत्तेः । अमृद्स्य राग-द्वेषौ नोत्पदेरते। मृद्स्य यथासङ्कर्षं तयोरुत्पत्तः। विषयेषु रञ्जनीयाः सङ्खल्पा रागहेतवः। कोपनीयाः सङ्खल्पा द्वेषहेतवः। उभये च सङ्खल्पा न मिथ्यामतिपत्तिलक्षणलान्मोहादन्ये। ताविमौ मोहयोनी रागद्वेपाविति। तत्त्वकानाच मोहनिष्टत्तौ रागद्दे पानुत्पत्तिरित्येकप्रत्यनीकभावानुपपत्तिः। एवं कृता तत्त्वज्ञानाद् दुःखजन्मपष्टित्तदोपिमध्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदन्तरा-पायाद्ववर्ग इति गौतमेनोक्तं न्याख्यातमिति। प्राप्तस्तिह निमित्तनैमित्तिक-भावाद्र्यान्तरभावो द्रोपेभ्य इति । अन्यच निमित्तम् अन्यच नैमित्तिकमिति दोपनिमित्तताददोपो मोह इति प्राप्यते। न दोपलक्षणावरोधान्मोहस्य। पवर्त्तनालक्षणा दोपा इत्यनेन दोपलक्षणेनावरुध्यते दोपेषु मोहः। मृत्निमित्तो घटो मार्त्तिके मृदेवेतिवत्, तस्मान्नादोपो मोह इति। निमित्तनैमित्तिकोप-पत्तेश्च तुरुयजातीयानामप्रतिपेधः । द्रव्याणां गुणानां वा अनेकविध्विकरपो निमित्तनैमित्तिकभावे तुल्यजातीयानां दृष्ट इति । तत्र तत्त्वज्ञानं तस्मिंस्तज्-कानम्। तच दिविधं सत्यं सत्यानृतश्च। तत्र सत्यं सन्दं सदनुप्रविष्टतात् सत्यमपि तदेकं सदेव सत् सन्वैमिद्मसदिति ज्ञानं सत्यं तत्त्वज्ञानम्। अन्यक्ताख्यात्मादेगतदन्तं प्रमेयं सर्वं सत्यश्चानृतञ्चेति सत्यानृतं तत्त्वज्ञानम् अपि मिथ्यानानं चरमफले मिथ्यालात् । आत्मन्यात्मबुद्धिर्घटे घटबुद्धिरित्येव-मादिवुद्धिस्तत्त्ववुद्धिलोंके न तु परमार्थतः। एतल्लोकविषये तत्त्वज्ञानस्य कारणं रजोऽनुवन्धं सत्त्वम्। तथाविधा वृद्धिविषये समयोगेन पवर्त्तयति मनः शरीरं वाचञ्च। तया लौकिकतत्त्वबुद्ध्या पवर्त्तमानं मनः समयोगात्

श्रद्धां दयामस्पृहाश्चाशुमे कुन्वत् सद्वृत्ते पुरुषं प्रवर्त्तयति। वाक् च प्रवर्त्त-माना समयोगात् सत्यं हितं प्रियं स्वाध्यायश्च कृष्वंती तथाविधं वाक्यं भवत्तंयति वक्तं पुरुपमिति। शरीरश्च तया समयोगयुक्तया प्रवत्तेमानं दानं परित्राणं तीथादिपरिचरणादिकं करोति। इत्येवं वाङ्गनः शरीरप्रष्टि भियंजन-याजनादिभिः सद्वृत्तकममेभिर्धातुसाम्यमुत्पद्यते ध्रमीश्च। यन्तरेण या बुद्धिस्तामसी राजसी वा भवति सा मिथ्याबुद्धिरतत्त्वक्षानं अतस्यं स्तद्बुद्धः। स्थाणौ पुरुषः शुक्तौ रजतं रज्ज्वां सर्प इत्येवमादिस्तया बुद्धप्रा मिथ्यायोगायोगातियोगयुक्तया वाङ्मनःशरीराणि मिथ्यायोगा-योगातियोगैः प्रवर्त्तन्ते काय्येषु । ततस्तु मनः परद्रोहं परद्रव्याभिलापं नास्ति-क्यश्च एवमादीनि कार्याणि करोति । वाक् च परुपानृतसूचनासस्यन्धवचना-दीनि करोति । शरीरं हिंसास्तेयपतिपिद्धमैथूनादीनि करोति इत्येवमसद्ग्रस-कर्मिभिधीतुर्वेपस्यमध्रमिश्चोत्पद्यते। तदिदं शुभश्च धातुसाम्यं पुण्यश्च अशुभं पुनर्धातुवैपम्यं पापञ्चेति द्विविधं द्वयमभिसन्धाय कत्तो तद्भिनिन्द्र त्रये वाङ्मनःशरीरैः पवर्त्तत इत्यस्मात् कार्य्यं तदुभयं द्विविधमुच्यते। एतव्द्वयं द्विविधं प्रष्टित्रक्षपिक्रयानिष्पन्नयशादि भाष्यजातध्रम्भध्रम् जनितं फलगुवाच गौतमः। प्रष्टित्तदोपजनितोऽर्थः फलमिति। इह तु तत् काय्येमुच्यते। तत् त् वाङ्गनः शरीरप्रष्टितिमित्तं शुभश्चाशुभश्च कम्मे द्विविधं – सद्यः फळं कालान्तरफलञ्ज । तत्र सद्यःफलं शुभं पानाशनं क्षुत्पिपासाहरं खस्थस्य धातु-साम्यकरं परिणामेन, न तत् कालान्तरमुच्यते । अशुभनतु शरत्रास्त्राद्यभिघाता-दिकं कस्मे सदाः फलं धात्वैपस्यकरं सद्य एव धात्वैपस्यं भवतीति। तथाः यागादिकं प्रवित्तिमित्तं कस्मे शुभं कालान्तरेण ध्रम्भं फलति। दुष्प्रवृत्ति-निमित्तं नित्यनीयित्तिककाम्यक्रियात्यागादवैधकम्मे कालान्तरेण पापं फल-तीति व्यवस्थितौ । गौतम उवाच । सद्यः कालान्तरे च फलनिष्पत्तेः संशयः । पचित दोग्धीत सदः फले ओदनपयसी। कर्पति वपतीति कालान्तरफलं श्चाधिगम इति। अस्ति चेयं क्रिया अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वगेकाम इति। एतस्याः फले संशयः। किं सद्यः फलति कालान्तरे वेति ? तत्रोत्तरम् । न सद्यः, कालान्तरोपभोग्यसात्। आंग्रहोत्रादिकार्यं न सद्यः फलति, कालान्तरो-पभाग्यलात्। स्वर्धः अपलं श्रूयते, तचास्तिन् देहे भिनने देहभेदादुत्पद्यते इति, न सद्यः फलति। ग्रामादिकामानामारम्भफलिमवेति। तत्राह वादी। कालान्तरेणानिष्पत्तिहीतुनाशात्। ध्वस्तायां प्रष्टतौ प्रष्टतोः फळं न कारणम्

अन्तरेणोत्पत्तमहित। न खलु वै विनष्टात् कारणात् किश्चिदुत्पग्रत इति। तत्रोत्तरम्। पाङ्निष्पत्तेष्ट क्षफलवत् तत् स्यात्। यथा फलार्थिना एक्षमूळे सेवादिपरिकर्म क्रियते, तरिमंश्र प्रध्वस्ते पृथिवीधातुरव्धातुना संगृहीत आभ्यन्तरेण तेजसा पच्यमानो रसद्रव्यं निवर्वत्तंयति। स द्रव्यभूतो रसो ्ष्टक्षातुगतः पाकविशिष्टो व्यूहविशेषेण सन्धिविश्मानः पर्णादिकलं निर्वेत्तेयति। एवं परिषेकादिकम्मं चाथेवत्। न च विनष्टात् फलनिप्पत्तिः। प्रवृत्त्या संस्कारो धर्माधर्मे छक्षणो जन्यते। स जातो निमित्तान्तरानुसंगृहीतः कालान्तरे फलं सुखदुःखं निष्पाद्यतीति । उक्तन्यैतत् पूर्व्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिरिति। तथा च पचतीत्यादौ व्यापाररूपपार्केण विक्वित्तिमानोदनः फर्डं निष्पाद्यते तत्रीटनस्थविक्वेदः फलरूपः पाकः पाककार्यः। यागादौ तत्तदितिकत्तेन्यतारूपन्यापारेण जन्यते परमपुरुपाराधनं स्वेष्ट्रकल-साधिनी सिद्धिः पुरुषदेहें संस्कारविशेषो धम्भी वैधिक्रिया कर्ं कार्य्याख्य धालर्थः फलमवैधिकयाकलमपि परमपुरुपानाराधनमनिष्टसाधिनी सिद्धिः पुरुपदेहें संस्कार विशेष एवाधम्मेः कार्य्याख्यं धात्वर्थः फलपिति तद्वर्तत एव विक्तित्तिवदोदने यजमानदेहै। तत्फलरूपं काय्यं कालान्तरे सुखदुःखं प्रकृतं फलं परलोके जनयति। यथा खल्बोदनस्था विक्वित्तिरोदनभोक्तुस्तृप्तिं जनयति सुख-रूपाम् । एवमुक्तं पुष्पदन्तेन —क कम्मे पश्चस्तं फलति पुरुपाराधनमृते इति पुरुपा-राधनमेत स्वर्गादिसुखासुखं फलति न तु प्रध्वस्तं कर्मिति। अत्र जिल्लास्यम्। तदिदं धम्मीधम्मीख्यं फलं पाङ्निष्पत्ते निष्पद्यमानं किमसदेव निष्पद्यतेऽथ माकः सत् ? तदेव निष्पचतेऽथवा माक् सदसत्। तदेव निष्पचते मष्टित्तत इत्यत उत्तं गौतमेन। नासन सन सदसत् सदसतोर्नेधम्म्योदिति। प्राङ्निष्यत्ते निष्यत्तिध्रमिकं ध्रमाधिममेरूपेण यत्तनासत् ; उपादाननियमात् । कस्यचिद्युत्पत्तये किश्चिदेवोषादेयं नाद्यपादाय किश्चित्। न वा सर्व्य सर्व्वस्येति । प्रागसद्भावे नियमो नोपपद्यते । न हुत्रपादानमञ्जुपगृद्य प्राहुर्भावः कस्यचिद्धवति। तहि कि सत्? न सत्, प्रागुत्पत्तेविद्यमानस्योत्पत्तिः अनुपपना । तद्धारत्येवेति । तर्हि पागुत्पत्तेः सदसत् ? न सदसत्, सदसतो-सदित्यर्थाभ्यतुका। असदित्यर्थप्रतिषेधः। एतयोर्व्याघातो वैधम्मर्यं यदस्ति तन्नास्तीति विभिन्नधर्मा तस्माद्भाघातादव्यतिरेकानुपपत्ति-रेकभावासम्भव इति। तिहैं किमित्यत आह—उत्पादन्ययदर्शनावसुद्धि-सिद्धन्तु तदसत्। इति। यत् खळूक्तं प्रागुत्पत्तेः कार्यं नासदुपादाननियमात

इति तस्मादुपादानभूतं किमप्यस्ति पागुत्पत्तेः कार्य्यस्योत्पादव्ययदर्भनात्। त्ति तत् किं सदित्यत उक्तं—बुद्धिसिद्धन्तु तदसदिति। इद्मस्योत्पत्तये समर्थं न सन्वीमिति प्रागुत्पत्तेनियतकारणं कार्यं बुद्ध्या सिद्ध्युत्पत्तिनियम-दर्शनात्। तस्मादुपादाननियमस्योपपत्तिः। तस्मादुपादानं यद् यस्य तत माक् कार्योत्पत्तेः स्वेन रूपेण सदिष कार्यरूपेणासदिति भाष्यते तत्तत्-कार्यीयक्रियागुणन्यपदेशाभावात्। यथा मृदेव घटो भवति पाग् घटोत्पत्ते-घंटीयक्रियागुणन्यपदेशाभावानमृदः। सती च मृनमृद्रपेण घटरूपेणासदिति। तच धम्मीधम्मेरूपेण वेदा एव नियतिर्वधावधकम्मेभिनिष्ववते। हि तस्मान्नियतिरुच्यते। इति। तत्राह वादी। आश्रयन्यतिरेकाद् द्वस-फलोत्पत्तिवदित्यहेतुः इति। दृक्षस्य भूलसेकादिपरिकर्म तज्जातश्च रस-रूपद्रव्यं तत्काय्यफलं पत्रादिकमित्युभयमेव दक्षाश्रयम्। कम्मे चेह शरीरे फलश्च स्वर्गादिकमधुत्रेत्याश्रयस्य व्यतिरेकाद् भेदादहेतु हे प्रान्त इति । तत्राह भीतेरात्याश्रयसाद्मतिषेध इति। भीतिरात्ममत्यक्षसाद आत्याश्रया तदाश्रयमेव कम्मे धम्मीधम्मेसंबकं धम्मीधम्मेस्यात्मगुणलात् तस्या-दाश्रयन्यतिरेकानुपपत्तिरिति। अत्रेदं मतिसन्धेयं यदिहात्याश्रया मीतिरुक्ता तदात्माश्रयमेव कम्मी धम्मीधम्मसं ज्ञितमुक्तं स खल्वात्मा न खळ केवलः क्षेत्रज्ञः क्षेत्रज्ञाधिष्टितमन्यक्तं वा महदुपाहितं मज्ञारूयं सुप्रप्तिस्थानं वा स्वमस्थानं वा सुर्मपश्चमहाश्रूतोपाहितस्तैजसाख्यः। स्थूलपश्चभूतोपाहितो वा नराख्यः। वृहदारण्यके च्छान्दोग्योपनिपदि च खिल्वष्टापूर्त्तादिकम्भं कृत-वतो मृतस्य शरीराद्दिष्टपुरूपस्य थास्वररूपेणोत्थाय धूमादिक्रमेण सोम-लोके सोमभावापनसञ्जतः शरीराश्रयसाद्धम्मीधर्मस्य। तस्मादात्मान्नमयः स्थूलपुरुष इव्यते। भौतिश्च स्थूलपुरुषे धन्मीधन्मीरूपं कर्म च स्थूलपुरुषे। सूक्ष्मशरीरी हि पुरुपो श्रियमाणो देहान्तरमातिवाहिकसादाय शरीरिमदं त्यत्तवा परलोकं गन्छति। तदुक्तं शारीरे। सुक्ष्मश्चत्रभिः सहितः स आत्या मनोजवीः देहसुपति देहादिति। ततः पूर्व्वदेहवदेहं पाष्य तथैव स्थूलदेही भूला परलोके सुखं वा दुःखं वा सुङक्ते। तत्रास्ति सोमलोकस्थस्य दिष्टस्य सम्बन्धप्रवाहः उयोतिवंत्। पुत्रादिषु सम्बन्धवत्। स्थूले हि पुरुषे सर्वं प्रतिष्ठितप्रक्तमग्रे। शक्तिब्रीस गायत्रीरूपेण तथा परमपुरुषः परमात्मा पश्च ब्रह्मपुरुषा विद्याविद्या-रूपेण धम्मोधम्मेरूपेण परिणामिनियतिरूपेण कालश्च परिणामरूपेण क्षेत्रज्ञा-ध्यत्तयादिपश्चविंशतिस्तत्त्वानि च सर्व्वमतो वैधावधकमीणा सैव शरीरस्थान-

भिन्यक्ता नियतिर्देवसंबकदिष्टरूपेणाभिनिन्वर्तते शरीर इति नातुपादानौ धम्मीधम्मीविति । नतु तर्हि कार्यस्य धातुसाम्यस्य फळं सुखावाप्तिरारोग्यम्, धातुवैपम्यस्य फलं दुःखावाप्तिरनारोग्यं विकारः। तदुक्तं प्राक् । विकारो धातुवैपम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते। सुखसंबक्तमारोग्यं विकारो दुःखमेव तु। इति। एवं वैधकम्मीजकाय्यंस्य धम्मीस्य फलं स्वर्गादिसुखावासिः। अवैध-कम्मं नकार्यस्याधम्मेस्य फलं दुःखावाप्तिः। कथं तर्हि धम्मीधम्पैकृत-पुत्रादियनबान्धवादैयश्वरुपीनैश्वरुपीकादिलाभः स्पादिति। तत्राहानुबन्ध-स्तित्यादि । यो भावः कार्य्यनिभित्त एव कार्य्यवशात् कार्य्यादुत्तरकालम् अवश्यम्भावितया तत्कार्यस्य कत्तीरमनुबन्नाति शुभो वाप्यशुभो वा सोऽनु-वन्धः। उदाहरिष्यते। अनुवन्धस्तु खल्वायुरिति। धानुसाम्यस्य कार्य्यस्य फर्ळं सुखानाप्तिस्तत्फलाजुनन्थस्तन्थातुसाम्यनिमित्तमेव धातुसाम्यादु त्तरकालम् अवश्यम्भावितया तं पुरुषं दीघीयुर्नुवञ्चाति । तथा धातुवैपम्यस्य कार्यस्य फलं दुःखावाप्तिस्तत्फलानुबन्धस्य तद्धात्वैपम्यनिमित्तमेव धात्वैपम्यात उत्तरकालमवश्यम्भावितया तं पुरुषमयथावदायुरनुवधातीत्यनुवन्ध आयुः शुभं दीर्घं सुरवञ्च । अशुभमयथावत्त्रमाणमायुद्ःखञ्चेति । तथेह कृतकर्म-जनितधभाधिममेंस्य कार्यस्य फलं परलोके सुखदुःखावाप्तिस्तदुत्तरकाल-मवश्यम्भावितया तद्धम्मीधम्मीनिषित्तानि शुभुप्रवृदारादैग्रन्वय्योद्यशुभुप्रवृ दाराद्यनैश्वर्यादीनि भवन्त्यद्भवन्या इति। एतदुक्तं गौतमेन। ब्यतिरेकाद् रक्षकलवदिति द्यान्तोऽहेतुरिति प्रतिषेधो न भवति पीतेरात्माश्रय-लादिति यदुक्तं तत्। न पुत्रशत्रुस्तीपरिच्छदहिरण्यानादि अलनिर्देशादिति। स्वर्गीदिशीतिवत् पुत्रादिकामनया यागादिकरणे स्वर्गीदिवत् फलनिर्देशात् आश्रयसाभावात् फलस्य तन्न युक्तमिति । तत्राह सिद्धान्तम् । तत्सम्बन्धात् फलनिष्पत्तेस्तेषु फलवदुपचार इति । पुत्रादिसम्बन्धात् फलं मीत्यमीतिलक्षण-मुत्पचते ततः पुत्रादिषु फलवदुपचारः। यथान्ने प्राणशब्दोऽन्नं वै प्राणा इति। तद्धम्मीधमीनिमित्तमेव भवरावरमध्यजातिकुलादिषु पुनर्जन्म सदसत्पुत्र-शत्रूदारादैप्रभर्यानैश्वर्यादिकलाभादिकश्च फलबदुपचारः फलानुबन्ध उक्तः। पूच्वेंकृतफलानुवन्धात् तदुत्पत्तिरिति – पूच्वेकृतधम्मीधममीनिमित्तात् तत्-फलसुखदुःखयोरनुबन्धात् तदुत्पत्तिरित्यनुबन्ध एव पुत्रादिफलमुच्यते इति।

अनुबन्धः खलु सः, यः कर्त्तारमक्यमनुवध्नाति कार्या-दुत्तरकालं का र्यनिमित्तः शुभो वाप्यशुभो वा भावः।

देशस्वधिष्ठाः म् ।

कालः पुनः ५ रिगामः।

प्रवृत्तिस्तु खलु चेष्टा का र्यार्था, सैव क्रिया कर्म्म यलः कार्यसमारस्भश्च।

तथा च कः पुनरनुवन्ध इत्यत आह—अनुवन्धः खल्वित्यादि । दृष्टाध-कर्मणः कार्यस्य फलमिह लोके भोग्यमनुवन्धश्चेह लोके भोग्यः, अदृष्टार्थ-कर्म्भणस्तु कार्य्यस्य फर्लं परलोके भोगावसानमनुवन्धस्तु जन्मान्तरभोग्यः। अथ वैद्यानां व्याष्ट्रस्पर्थमृतिगादीनाश्च व्याष्ट्रस्पर्थं कत्तीरमिति पदम्। व्यभिचारप्रतिषेधार्थमवश्यमिति पदम्। कार्यादुत्तरकालमित्यनेनावैगु॰येन समाप्तस्य काय्येस्येत्यर्थात् । व्यभिचारिकारणं व्यवच्छित्रम् । अवलीयांसो निदानादयो यदि परस्परमप्रकर्पादनुवधन्ति न तदा विकाराभिनिव्यक्तिः भवतीत्युक्तेः। काय्येनिमित्त'इत्यनेन कार्य्यजन्यौ फलानुवन्धाविति ज्ञापितम्, न तु फलजन्योऽनुवन्ध इति।

देशं निरूपयति—देशस्त्रत्यादि । अधिष्ठानमिति । अधितिष्ठत्यस्मिन् इत्यर्थेऽधिष्ठीयते यत् तद्धिष्ठानं स देशः कम्मणि ल्युट्। स चातुर आतुर-शरीरपदेशमनोरूपः । भूमिश्र । सा चानूपजाङ्गलसाधारणभेदात् त्रिधा ।

क्रमिकं कालमाह—कालः पुनः परिणामः। परिणामो व्याख्यात-स्तिस्र पणीये।

क्रमिकलात् प्रष्टितं लक्षयति-प्रष्टित्तिरत्यादि। चेष्टेति वाङ्मनः-्वारीराणां प्रवत्तेनस्। कार्यार्थिति कार्यमर्थः फलं यस्याः सा कार्यार्था।

कार्च्यफलं ज्ञेयम्, यथा—कुम्भकारस्य घटकरणे तन्मूल्यप्राप्तिः। अनुवन्धस्त्वायतीयं फलम्, यथा—घटमूल्येन विनियोगः कुदुम्बपोपणादो । अनुबन्नातीत्युत्तरकालं कर्त्तारमुपतिष्टते शुभो ्वाप्यशुभो वेति, शुभस्य कार्य्यस्य शुभः, अशुभस्य कार्य्यस्याशुभः।

् 🕾 ्वेशस्त्वधिष्ठानमिति कार्यानुगुणोऽननुगुणो वा आधाररूपो देशः । परिणाम इति परिणामी ऋत्वादिरूपः कालः । तेन नित्यगं कालं निरस्यति, अस्य पृट्वमसाधारणं कार्य्यं प्रत्यनपेक्षणीय-त्वात् । प्रवृत्तेरचेष्टादिशब्दाः पर्य्याया एव लक्षणम् ।

उपायः पुनस्त्रयागां कारगाद्दीनां सौष्ठवसिभसन्धानश्च क्ष सम्यक् कार्य्यकार्यफलानुवन्धोपाय वर्जानां तेषां। तिष्ठं कार्यमुक्तम्। सैव क्रियति भावकृद्दन्तलात् करणम्, कर्म्मेति च भावकृद्दन्तलात्। एकश्च पूर्व्वाध्याये संयोगे च विभागे चेत्यादिना। यत्न इति यतनं न मयतः। स इच्छासमयोगान्मनस्थात्मप्रदृत्तिरूपः, तस्य समयोगात् तु वाङ्मनःशरीरप्रदृत्तिरूपोऽयं यतः। अतप्वोक्तं पूर्व्वाध्याये। मयत्नादि कर्म्म चेष्टितमुच्यते इति। कार्य्यसमारम्भव्चति कार्याणां समारम्भः। गौतमेनाप्युक्तम्। मद्दत्तिर्वागुद्धक्षशरीरारम्भः इति। व्याख्यातञ्चेदम्।

क्रमिकलादुपायं लक्षयित—उपायः पुनिरत्यादि । कारणादीनां कारण-करणकार्ययोनीनां सौष्उत्रं सुष्टुतं साधुत्वित्यर्थः। तेपामभिसन्धानश्च। ननु कुत एतदृद्यप्रुपाय उच्यते इत्यत आह—कार्येत्यादि। कारणा-दीनां कार्यकारयंकलानुबन्धोपायवर्जानां सौष्टवं सम्यगभिसन्धानश्च। कार्याणां धातुसाम्यानां सम्यगभिनिन्वेर्त्तक इत्यतोऽपि। सम्यगभिनिन्वेर्त्तकलादुपाय उच्यते। कारणं हि भिषग् धातुसाम्यं काय्येमभि-निव्येत्तंयति न सर्वे । यस्य तु सौष्टवं स्वगुणसम्पत्तिनीस्ति स कथं व्याधि सम्यक् प्रज्ञमयेत्। इति भिषजः सौष्ठवसुपायः। एवंसम्पदुपेतो भिषम् यद्यभिसन्धानं न कुरुते व्याधिप्रश्नमनाय, तत् कथं सुष्टु वैद्योऽपि धातुसाम्यं कुर्यादिति भिपजस्तत्तत्कम्मैकरणेऽभिसन्यानमुपायः। करणन्तु भेपजं शसादिकम् । तच कार्यं कार्यकलम् वन्ध्य । धातुसाम्यं सुलानाप्ति जीवितश्च निर्वर्त्तेयति। यदि तु तत् सौष्ठवं स्वगुणसम्पत्तिनं वर्त्तते तदा कथमात्रस्याक्टेशप्रव्वकं धातुसाम्यादिकं कुर्यात्। यथा शस्त्रस्य सुधारला-भावे च्छेदनसुखाभावः सुधारते च्छेदनसुखमित्येवमादि । एवं भेषजानामभि-सन्धानं वोध्यम् । वातादिवैषम्याणां कार्य्याणां योनिश्वायोगातियोगमिथ्या-योगयुक्तकदृादिः, ज्वरादीनां कार्य्याणां योनिर्धातुवैपम्यम्, धातुसाम्यादि-

उपायमाह—उपायः पुनिरत्यादि । सोष्टवमिति सुष्टुत्वं कत्तीदीनां कार्य्यानुगुणयोगित्वमित्यर्थः । अभिविधानञ्च सम्यगिति कारणादीनां कार्यानुगुण्येनावस्थानम्, यथा—भेपजस्य शिरोविरेचनकार- कस्य, तस्य पुनर्नसि च दानं कस्यचित्, कस्यचित् पुनः शिरसि च दानमित्यादि, यथा च —पटकारणानां तन्त्वादीनां पटवापनयोग्यतयावस्थानम् । पुतचोपायरूपं सोष्टवमिनिविधानञ्च कार्योदित्रिकरिहता

अभिविधानक्ष्वेति चकः ।

कार्यागामिभिनिदर्वर्त्तकिसत्यतस्तूपायः। कृते नोपायार्थोऽित, न च विद्यते तदात्वे, कृत.चोत्तरक हां फलम्, फलाचानुवन्य इति।

कार्यादिकं नाभिनिन्वत्तंयति । धातुवैपम्यस्य सौष्ठवमदारुणलादिकं तद्भि-सन्धानश्च । सुखसाध्यत्नेन च्याधेः प्रश्नमने कर्त्तच्ये तथात्नेनाभिसन्धानसुपायः, तच भिषगादीनामभिसन्धानं भिषजा कार्य्यं न कार्य्योनेः। चिकित्सायान्त भिषजां कार्यस्य धातुसाम्यस्य योनिर्हेतुसाम्यं तस्य सौष्ठवं तद्भिसन्धानञ्च। तद्व्याधेद्वेत्विपरीतसेवनम्, स्वस्थरृत्तसेवनश्च धातुसाम्यादिकपभिनिव्वर्त्तयति। इति कार्य्यस्य धातुसास्यस्य सौष्टवं विकारमशान्त्यादि। कार्य्यफलस्य सुखाबाप्तेः सौष्ठवं मनोबुद्धप्रादितुष्टिः। अनुवन्धस्यायुषः सौष्ठवं प्राण-संयोग इत्यतोऽप्युपायः। अनुवन्धस्यायुपः सौष्ठवमभिसन्धानञ्च। चिरन्याधेश्चिर-चिकित्सया शान्तिं निर्व्वत्तेयतीत्यायुषः सौष्ठवयभिसन्धानश्चोपायः। एवं देशकालक्रियाणां सौष्टवं तद्भिसन्धानश्च सुखेनारोग्यमभिनिर्व्यत्तेयतीत्युपायः। षपायानामपि सौष्ठवमभिसन्धानञ्चारोग्यसुखमभिनिव्वेर्त्तयति। न चोपाय-शौष्टवस्योपायलेन तत्सौष्टवरूपस्योपायस्यापि सौष्टवम्रुपायः स्यात्। तथा सत्सौष्ठवमण्युपायः स्यादित्येवमनवस्थानं वाच्यम् । सर्वत्र सन्वौपायसौष्ठव-श्यानुपायलात्। यथासम्भवं हि कारणादीनां सौष्टवाभिसन्धानयोरुपायल-मिति षो यस्। नतु उपायविषयः क इत्यत आह्—कृत इत्यादि। कृते निष्पादिते स्रति नोपायार्थ उपायस्य मयोजनं नास्ति। नतु तदाखे क उपायोऽस्तीत्यत् आह—न च विचते तदाले इति। तदाले तत् क्रियानिष्पत्त्यस्ययकाले तु नोपायाथी विद्यते। निष्पद्यते हि क्रिया तदुपायपूर्व्वकमेव। नतु कृते सति कृतो नोपायार्थौ-ऽस्ति ? कृतादुत्तरकालं फलमभिनिन्दीत्तं भवति, वर्त्तते चानुवन्धदृयप्रपायार्थो हि दृश्यते सिद्ध इत्यत आह—कृताचोत्तरकालमित्यादि। कृताचोत्तरकालं फल-अञ्चानुवन्धश्रोपायार्थौ विद्यते। कार्य्यकार्यफलानुवन्धवर्ज्जानां कारणादीनां त्रयाणां कार्याभिनिन्वत्तिकभावो हुत्रपायः, कार्यफलानुवन्धाभिनिन्वत्तिकानि कारणादीनि न तूपाय इति । नतु कार्य्यफलानुवन्धयोः सौष्ठवमिसन्धानश्च

नाञ्च कारणादीनां ज्ञेयमित्याह—कार्य्येत्यादि । उपायस्य स्वरूपान्तरमाह—कार्याणामभिनिव्वर्त्तक इत्यतस्तूपाय इति । असत्युपाये कारणादीनि कार्य्यं न कुःर्वन्तीत्यर्थः । अथ कथं कार्यादिप् उपायत्वं न सम्भवतीत्याह—कृत इत्यादि । उपायो हि कार्यकारकः, तत्र कृते कार्य्य उत्पक्षे नोपायार्थी-

एतद्वराविधमये परीच्यं परीच्यं, तोऽनन्तरं का र्यार्था प्रवृत्तिरिष्टा । तस्माद्भिषक् कार्यं चिकीर्पुः प्राक् कार्यं-समारम्भात् परीच्या केवलं परीच्यम् परीच्य कर्म समारभेत कर्त्तुम् ॥ ७० ॥

उपाय उक्तस्तत् कथं कृते सित नोपायाथौँ इस्तीति चेन काय्यफलानुवन्धयोः सौष्ठवाभिसन्धाने हि पुनर्भवाभावरूपं कार्य्यमभिनिन्देर्त्तयतस्ते च कृते सित कार्यो न वत्तेते, वर्त्तेते च कर्त्तन्यात् पूर्व्यमेन, प्रयोगकाले हि यदि प्रष्टित्तसौष्ठवं भवति तदैव कार्य्यफलानुवन्धयोः सौष्ठवं भवतीति क्रियायाः पूर्व्यमेनोपायाय इति ख्यापितम्। बाला हीत्यादि सुत्रार्थं कारणादिकसुपदिश्य तेषां बानपूर्व्यक्तियाकर्त्तंच्यतायां सम्यगिभिनिर्व्वर्त्तमानकार्य्याभिनिर्व्यत्तो चेष्ट-फलानुवन्धं कार्यभिनिर्व्वर्त्तम्।

यत् फल्रमुक्तं तथा कर्त्तव्यतां व्याकरोति—एतद्दशिविधत्यादि इव्टेत्यन्तं यावत्—शास्त्रीयकम्भेकरणिवपयिषदं वचनम्। तथाविया मट्टिस्तिष्टा। सम्पाभिनिव्वर्त्त्यमानकार्व्याभिनिव्दं त्तो कर्त्त् रनितमहता मयत्नेनेष्टफलानु-वन्धकार्याभिनिव्वर्त्तकतात्। तत्रायुर्वेदीयकम्भेकरणे विधिमाह—तस्मादित्यादि। तस्मादुक्तप्रकारेण मट्टत्तेरिष्टलात्। कार्य्यं चिकित्सार्थं वमनादि-कार्यं चिकीर्षुः कर्त्तु मिच्छ्भिपक् कार्यसमारमभात् तद्दमनादिकाय्यसमारमभात् पूर्व्यं परीक्षया आप्तोपदेशेन मत्यक्षानुमानाभ्यां केवलं कृत्सनं परीक्ष्यां भावं परीक्ष्याधानन्तरं कम्भ वमनादिकार्यनिष्पादन-व्यापारं कर्त्यं समारभेतेति॥ ७०॥

(

ऽसित, न हि कृतं हुनः कियते, तेन कार्यगतमप्युपायत्वं न पुनः कार्योश्पादे स्वीकुर्मः। तथा अनुत्पन्ने कार्य्यं नोपायरूपता भविष्यतीत्याह—न च विद्यते तदात्वे इति, तदात्वे कार्य्यमिति शेपः, तदात्वे कार्य्योगितः पृत्वं कार्य्यमित तेन न तदात्वेऽप्युपायत्वं कार्य्यस्मास्ति इति। यदा च कार्य्य एवोपायत्वम् उपायेऽपि इत्तरकाळीनत्वेन नास्ति, तदा कार्य्योत्तरकाळजयोः फळानुबन्धयोरपि उपायार्थो नास्तीत्याह—कृताचोत्तरकाळमित्यादि। उपसंहरति—एतदि-स्यादि॥ ७०॥

तत्र चेद्भिपग् अभिषग् वा भिषजं कश्चिदेवं खलु पृच्छेत्। वसनविरेचनास्थापनानुवासनशिरोविरेचनानि प्रयोक्तुकामेन भिषजा कतिविधया परीच्या कतिविधमेव परीच्यम् ; कश्चात्र परीच्यविशेषः, कथञ्च परीचितव्यं, किंप्रयोजना च परीचा, क च वसनादीनां प्रवृत्तिः, क च निवृत्तिः, प्रवृत्तिनिवृत्तिसंयोगेन 🥸 च किं नैष्टिकं, कानि च वसनादीनां सेषजद्रव्यारायुपयोगं गच्छन्तीति।

एवं पृष्टो यदि मोहियतुसिच्छेत्, ब्रूयादेनं वहुविधा हि परीचा तथा परीच्यि धिसेदः। कतसेन विधि-

गङ्गाधरः-परीक्षया केवलं परीक्ष्यं परीक्ष्येति यदुक्तं तत्र प्रष्टव्यान्याह-तत्रेत्यादि। तत्रेत्युक्तविधौ, चेद् यदि। वमनादीनि कायचिकित्सादि-साधारणलादुक्तानि। शल्यादिषु पाङ्नियतकस्मीण लनया दिशैव उन्ने-यानि। परीक्ष्यविशेषः परीक्षणीयानां प्रभेदः। कथञ्च केन प्रकारेण परीक्ष्यं परीक्षितव्यं परीक्ष्येत। किंपयोजना किं प्रयोजनमस्याः सा परीक्षायाः किं प्रयोजनिमत्यर्थः। क च कस्सिन् वस्तुनि वमनादीनां प्रष्टितः कत्तेव्यता। क च वमनादीनां निष्टतिरकर्त्तव्यता। वमनादीनां प्रष्टितिनष्टिति-संयोगेन वमनादीनां क च कर्त्तव्यता चाकर्त्तव्यता चेति। तत्र किं नैष्टिकं किं कत्त्वयं व्यवस्थितं स्यात्। कानि च वमनादीनां भेपजद्रव्याणि उप-योगश्च गच्छन्तीति चेन्निपक् अभिषम् वा भिषजं पृच्छेत् तदा।

स एविमत्यादि—एवधुक्तपकारेण पृष्टः स भिपक् यदि प्रष्टार मोहियतु मुग्धं कर्त्तु मिच्छेत्, तदैनं प्रष्टारं ब्रूयात्। किं ब्रूयादित्यत आह—बहुविधे-त्यादि । तथेति वहुविधः परीक्ष्यभेदः । भवानाख्यायमानं मां कतमेन विधिभेद-

चक्रपाणिः—सम्प्रत्युक्तं कारणादिदशकं वैद्योपयुक्तं भिपगादिदृष्टान्तेन दर्शयितुं 'तन्न चेद्' इत्यादि प्रकरणमारभते । अभिपग्वेति किञ्चिद्भिपगित्यर्थः । कतिविधं परीक्ष्यमिति कति-प्रकारं परीक्षणीयम् । प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणसंयोग इति प्रवृत्यनुगुणनिवृत्यनुगुणयोर्लक्षणयो-नैष्टिकमिति निष्टा निश्चयस्तद्भवं नैष्टिकं निश्चयेन कर्त्तव्यमित्यर्थः।

अवृत्तिनिवृत्तिलक्षणसंयोगे इति चक्रधतः पाटः ।

भेद्रप्रकृत्यन्तरेण भिन्नया परीच्य केन वा विधिभेद्रप्रकृत्यन्तरेण परीच्यस्य भिन्नस्य भेदायं वा हच्छिति भवान्, आख्यायमानम्। वेदानीं क भवतोऽन्येन विधिभेद्रप्रकृत्यन्तरेण भिन्नया परीच्या अन्येन वा विधिभेद्रप्रकृत्यन्तरेण भिन्नस्याभिल वितमर्थं श्रोतुरहमन्येन परीचाविधिभेदेनान्येन वा विधिभेद्रप्रकृत्यन्तरेण परीच्य भिन्न्यार्थमाचचाण इच्छाञ्च प्रपूर्ययमिति। स यदुत्तरं

प्रकृत्यन्तरेण प्रकारिविजेपाणां प्रकृतिविजेपेण भिन्नस्य खल परीक्ष्यस्य भेदाग्रं पृच्छति, केन वा प्रकारभेदानां प्रकृत्यन्तरेण भेदक्यम्मीन्तरेण भिन्नस्य परीक्ष्यस्य भेदाग्रं भेदसङ्क्ष्रापरिच्छेदं पृच्छति। इदानीं वा अन्येन एकप्रकारेण विधिभेदपक्षत्यन्तरेण प्रकारिविशेपाणां योनिविशेपेण भिन्नया परीक्ष्या परीक्ष्यस्य परीक्ष्यस्य परीक्ष्यस्य श्रोतुर्भवतोऽह्मिच्छां पूरयेयमिति। अन्येन वा अपरेण वा विधिभेदपक्षत्यन्तरेण प्रकारिविशेपाणां योनिविशेपेण भिन्नस्य परीक्ष्यस्य वस्तुनोऽभिल्छपितमर्थं श्रोतुर्भवत इच्छामहं पूरयेयमिति। अथवान्येन तिद्वन्नेन एकेन परीक्षाविधिभेदेन परीक्षापकारिविशेपाणां योनिविशेपेण अन्येन वा भवदीयां अपरमकारेण विपरीतेनापरेण वा विधिभेदपक्षत्यन्तरेण प्रकार-विश्वपाणां योनिविशेपेण परीक्ष्यं वस्तु भित्त्वा भेदं कृत्वाथं परीक्ष्यस्याथेम् आचक्षाणां युवन भवत इच्छाश्च पूरयेयमिति ब्रू यादैनिमिति पूर्वेण सम्बन्धः।

यदि मोहियतुमिच्छेदिति यदि विगृद्धसम्भापात्रवृत्तस्वेन मोहियतुमिच्छेदिस्यर्थः। तथेति वहुविभ हस्यर्थः। विधिरूपो भेदो विधिभेदः, तस्य प्रकृत्यन्तरमिति कारणान्तरम्। भेदाप्रमिति भेदपरिमाणम्। भेदपरिमाणन्वेति भेदमंख्यापरिच्छेद एव ज्ञेयः। आख्यायमानम् इति च्छेदः। किनर्ये पुनः पृच्छतीत्याकाङ्कायामाद—नेदानीमित्यादि। भवतोऽन्यथा श्रोतुम् अभिरूपितमर्थमहमन्यथाचक्षाणो न भवत इच्छां प्रयेयम्। तेन त्वमेव तावत् विशेषियत्वा पृच्छेति वाक्यार्थः। यदा तु 'वेदानीं न प्रयेयम्' इति च पाटः, तदा वेदानीमित्यये आचक्षाण इच्छां न प्रयेयमिति योजना। किंवा वेति प्र्वेण युज्यते। तेन कतमेन विधिभेद-प्रकृत्यन्तरेणाख्यायमानं भवानिच्छिति, केन वा विधिभेदमकृत्यन्तरेणाख्यायमानमिच्छतिति यीज्यम्। इदानीमित्यदि तु प्रवेवदाशक्षा्यां चचनम्, एतिहरोषप्रच्छितेऽधिकव्याकृष्ठो भवतिति

^{·· *} नेदानीमिति वा पाठः ।

ब्रुयात् तत् परीच्योत्तरं वाच्यं स्याद् यथोक्तश्च प्रतिवचन विधि-सवेच्य सम्यक्। यदि तु न चैनं मोहियतुमिच्छेत् प्राप्तन्तु वचनकालं मन्येत काममस्मै त्रू यादाप्तमेव निखिलेन ॥ ७१ ॥

द्विविधा तु खलु परीचा ज्ञानवतां प्रत्यचमनुमानञ्च । एतत् तु खलु इयमुपदेश्थ परीचा स्यात् एवमेषा दिविधा परीचा, त्रिविधा वा सहोपदेशेन। दशविधन्तु परीच्यं, कारणादि यदुक्तमयं,

एवं मोहवचनेनोक्तः स प्रष्टा यदुत्तरं ब्रूयात् तदुत्तरं वाक्यं परीक्ष्य यथोक्तश्च प्रतित्रचनविधिं प्रत्युत्तरप्रकारं सम्यगवेश्य विविच्य उत्तरं वाच्यं स्याद भिषना। यदीत्यादि—यदि तु भिषक् तथापूर्व्व पृष्ट एनं प्रष्टारं मोहियतुं न चेच्छेत्। वचनकालमुत्तरवचनकालन्तु प्राप्तं यदि च मन्येत तदा कार्यं यथाभिलिपनं पृष्टार्थमासमेवासवचनमेवाखिलेन कुत्सनेनासमै पष्ट्रे भिषजे वाप्य-भिपने ब्रूयात् स्पष्टम् ॥ ७१ ॥

गङ्गाथरः—तत्रोक्तपश्नरयोत्तरमाप्तमेव निखिलेन दर्शयितुमाह—द्विविधे-कतिविधया परीक्षया कतिविधं परीक्ष्यिमत्यन्तर्गततया भाषितं कतिविधा परीक्षेत्येतं भक्तमुत्तरयति—द्विविधा तु खळु परीक्षा। द्दैविध्यमित्यत आह—ज्ञानवतामित्यादि । ज्ञानवतामाप्तोपदेशोन वस्तुषु ज्ञानवतां प्रत्यक्षमञ्जूमानं वा। कर्यचित् प्रत्यक्षं कर्यचिद्तुमानमुपमानादीनामनयो-रन्तर्भावात । तद्दिनैतं तिस्रीपणीये । ननु अज्ञानवतां कतिथा प्रीक्षेत्यत आह—एतत् वित्यादि । एतत् तु द्वयमिति प्रत्यक्षमनुपानमुपदेशश्च इति प्रीक्षा-त्रयम्। एवमनेन प्रकारेण एपा द्वित्रिधा परीक्षा सहोपदेशेन त्रितिधा

भावः। परीक्ष्यसार्थे भवतः श्रोतुमिमलपितमन्यथा आचक्षाण इति योजना। तत् समीक्ष्येति तद् यचनं समीक्ष्य यदौंपाधिकं भवति, तद् यथोक्तं प्रतिवचनमित्यव्रैवाध्याये विगृह्य-सम्भापावि बाबुकम् । अवेदयोत्तरं वाक्यं पञ्जान्तरवाक्यम् । पञ्जान्तरमाह —सम्यगित्यादि । सम्यग् यदि तु ब्रूयादिति यदि सन्धायसम्भाषां ब्रूयात् । प्राप्तमिन्युचितम्, अनुचिते तु वचनकाले सन्ध्यादी न वक्तत्रयमेव। आप्तमेवेति यथार्थमेवेत्यर्थः॥ ७९॥

चकपाणिः—तदेव यथार्थमुत्तरं पूर्व्वदेखेपेण यथाक्रमेणाह—हिविधेत्यादि। ज्ञान-वतामित्याप्तोपदेशरूपशास्त्रजनितज्ञानवताम् । पक्षान्तरं परीक्षात्रविध्यमाइ—एतद्वीत्यादि । एतच परोक्षाया हुँ विष्मं श्रेविष्मद्ध त्रिविषरोगिधशेषिज्ञानीम पुव

तित् सिपगादिषु संसार्थ्य सन्दर्शयिष्यासः। इह कार्थ्यप्राप्तौ कारगं भिषक्, करगं पुनर्भेषजं, कार्य्योनिर्धातुवैषस्यस्, कार्य्यं धातुसाम्यस्, कार्य्यफलं सुखावातिः, अनुवन्यस्तु खल्वायुः, देशो

वा परीक्षा। इति कतिविधा परीक्षेत्यस्य पदनस्योत्तरम्। ०। परीक्ष्यमिति प्रश्नस्योत्तरमाह—दश्विधन्त परीक्ष्यमिति। वमनादिकं प्रयोक्त-कामस्य द्शविधं परीक्ष्यं न तु जगति दशविधमेवेति । नन्न चिकित्सायां किं किं तद्दशविधं परीक्ष्यमित्यतस्तत्तद् दर्शयितुमाह - कारणादीत्यादि। कारणकरणकार्य्ययोनिकार्य्यकार्यफलानुवन्धदेशकालमहत्त्युपाया इति दशकं यद्ये उक्तं जगित सार्व्वेशास्त्रिककारयीरमभेऽभिहितं तद् दशविधं परीक्ष्यम्। नतु तद्दशविधमायुर्वेदे चिकित्सायां किंवा किं भवतीत्याकाङ्घायामाह— तदिहेत्यादि । तत् कारणादिदशकं इहायुव्वेदशास्त्रे चिकित्सासमारमभे भिषगादिषु संसार्घ्यं संसरणं कुला सन्दर्भिषण्यामः। इहेत्यादि। इहायुव्वेद-शास्त्रे कार्यपाप्तौ चिकित्स्यपाप्तौ कारणं चिकित्साकर्त्ता भिपक्, करणं पुनर्भेपजिमति युक्तियुक्तं गुणवचतुष्पादं भेपजं यद्यप्युक्तं तथाष्यत्र भिपजः कारणत्वेन पृथगुत्तया भिपगितरद् द्रव्यात्रोपस्थातार इति गुणवत् त्रिपादम्। कार्ययोनिरिह धातुवैपम्यम्, ज्वरादीनां कार्याणां योनितात्। वातादि-धातुवैपम्यं हि कार्य्यत्वं ज्वरादित्वमापद्यते। सन्वंत्रैव हेतुवैपम्यं कार्य-योनिः। कालबुद्धीन्द्रियार्थानां वैपम्यमयोगातियोगमिथ्यायोगास्तैर्वातादि-वैपम्यं कार्य्यं भवति । धातुसाम्यकरणन्तु ज्वरादिषु चिकित्सायाः कार्य्यस् । सुखावाप्तिः फळं कार्यस्य धातुसाम्यस्य निष्पादंत्र फळं सुखावाप्तिः । खस्थस्य धातुसाम्यमेव कार्यस्य रक्षणस्य योनिः कार्य्यं धातुसाम्यरक्षणं फलं मुखानुरुत्तिः। कार्यस्य धातुसाम्यरक्षणस्य फळं निष्पादंत्र मुखस्यानुवर्त्तनम् अनुवन्धस्तु खल्वायुर्जीवितमित्यर्थः। भूमिरानूपादिरूपा आतुरः

भिषगादिषु संसार्थ्येति भिषगादीनि चोषयुक्तान्युदाहरणानि कृत्वा। धातुर्वेषम्यमिति, विषमतां गता धातव एव हि विषमामवस्थां परित्यज्य समावस्थामापद्यमाना आरोग्याख्यस्य धातुसाम्यस्य समवाधिकारणतया कार्य्ययोनितामापद्यन्ते। सुखावाहिरित्यारोग्यावाहिः। उक्तञ्च— "सुखसंज्ञकमारोग्यम्" इति। आयुश्चानुबन्धरूपम्। यद्यप्येतद् रोगिगतम् न वैद्यगतम्, सथापि वैदेयन काङ्कितत्वाद् वैद्यगतमेव तद्विज्ञेयम्। तेनानुबन्धरुक्षणं कर्ज्ञारमभिष्रतिति

भूमिरातुरश्च, कालः पुनः संवत्मरश्चातुरावस्था च, प्रवृत्तिः प्रतिकर्म्भसारस्भः, उपायस्तु भिषगादीनां सौष्ठवमभि-सन्धानञ्च सम्यक्। इहाप्यस्योपायस्य विषयः पूटर्वेगौवोपायविषयेगा व्याख्यातः। इति कारणादीनि दशसु भिषगादिषु संसार्थ्य सन्दर्शितानि, तथैवानुपूरवर्शा । एतइश्विधं परीच्यमुक्तश्च ॥ ७२

चेति व्याधितः स्वस्थश्च पुरुषः। संवत्सर इत्यनेन तदन्तर्गतक्षणग्रहुत्तेदिन-ग्रहणं वोध्यम्। आतुरावस्था चेति। आतुरस्यावस्था नानाविधा, स्वाभाविकी वैकारिकी च। तत्र स्वाभाविकी जैशववाल्यपौगण्ड-कैशोरयौवनमध्यमस्थाविर्यातिस्थाविर्यरूपा। तत्रापि स्वाभाविकी दौर्व्यर्या-दौर्व्यसत्त्ववहुलरजोवहुलतमोवहुलब्राह्मसत्त्वादिवातलादिसमवातादिलरूपा च, वैकारिकी तु साध्यासाध्यकुच्छसाध्यदारुणातुर्ध्यवलमांसादिक्षयादि-रूपा प्रष्टित्तः। प्रतिकम्मसमारम्भ इति तत्तव्व्याधिप्रतिकारारम्भो भिपजः। उपायं दर्भयति—उपाय इत्यादि। भिषगादीनां सौष्टवं सुष्टुलं सम्यगभि-सन्धानश्च। नन्पायस्य भिषगादीनां सौष्ठवस्य सम्यगभिसन्धानस्य च वमनादिकार्यभाप्तौ विषयः क इत्यत आह—इहाप्यस्यत्यादि। इह वमनादि-कार्य्यपाप्तौ अस्य भिषगादीनां सौष्ठवस्याभिसन्धानस्य चोपायस्य विषयः पूट्यें णैवोपायविषयण कार्यकार्यफलानुवन्धेत्यादिना व्याख्यातः। तथौं च धातुसाम्ये काय्ये कृतवमनादौ कर्माण नोपायाथौँऽस्ति वमनादिकम्म-करणकालेऽपि नोपायार्थोऽस्ति । कृताच वमनादित उत्तरकालं सुखावाप्तिः आयुश्च नोपायार्थोऽस्ति परन्तु कर्त्तव्ये सति वमनादिकम्मीण भिपगादीनां सौष्ठवं सम्यगभिसन्धिश्रास्ति इति कम्मणः प्राक्कालो विषय इत्यर्थः। उपसंहरति। इति कारणादीनीत्यादि। तथैवानुपूर्व्येति कारणाद्यानु-पूळ्यो। परीक्ष्यं समापयति—एतदित्यादि। इति कतिविधं परीक्ष्यमिति प्रश्न-स्योत्तरम् ॥ ७२ ॥

यदुक्तम्, तदुपपन्नम् । कर्त्तो ह्यत्र भिषक् । तेनातुरगतमप्यायुर्भिपगपेक्षितत्वेन भिपज एव फलमिति ज्ञेयम् । प्रतिकर्मा चिकित्सा । इहाप्यस्य इत्यादि, अन्नापि कार्य्यफळानुबन्धन्यतिरिक्तानां सौष्टवमभिविधानञ्च यथोक्तन्यायेनोपाय इति दर्शयति ॥ ७२ ॥

्र तस्य यो यः परीच्यविशेषो यथा यथा च परीचितव्यः, स तथा तथा च व्याख्यास्यते ।

कारगां भिषिगत्युक्तमये, तस्य परीचा, भिषङ् नाम स यो भेषति यः सूत्रार्थप्रयोगकुशलो यस्य चायुः सर्व्वथा विदितं यथावत्। स च सर्व्वधातुसाम्यं चिकीर्षन्

गृङ्गाधरः—अथ कश्चात्र परीक्षाविशेषः कथञ्च परीक्षितव्य इति प्रश्नइयस्योत्तरं दर्शयितुमाह—तस्येत्यादि । तस्य दश्विधस्य परीक्ष्यस्य यो यः
कारणादिः प्रत्येकं परीक्ष्यिवशेषः स व्याख्यास्यतेऽत ऊढं तस्य च यो
यः कारणादिर्थया यथा परीक्षितव्यः स तथा तथा च व्याख्यास्यते ।
यागादौ चेदं दश्विधं यथा—यजमानः कर्त्ता कारणम् । करणमृत्तिग्
याज्ञिकद्रव्यादिकम् । कार्य्ययोनिर्यजमानशरीरस्थनियतिरूपः परमात्मा
पुरुषः । कार्य्य धर्मः । नियतिरूपः पुरुष एव यागादिक्रियाभिर्विक्रियमाणो
धर्मारूपेण निष्पद्यते । धर्मास्य कार्यस्य फलं स्वर्गमाप्तिः । अनुवन्धः
पुनर्जन्मपुत्रदार्थनवान्धवादिमाप्तिः । देशो याज्ञिकदेशः । कालः स स तत्तव्
यागादिक्रियारम्भः । उपायस्तु यजमानादीनां सौष्ठवं तद्भिसन्धानञ्चेति ।
एवं वैधेतरकर्मणि चाधर्मकार्यं कास्यकर्मफलल्यागो मोक्षः इति ।

कारणित्यादिना भिपगादीनां परीक्षा। भिपङ्नामेत्यादि। यो भेपतीति भिप रग्जये सौत्रधातुरौणादिकमत्ययेन च्युत्पन्नार्थः यः सूत्रार्थमयोगक्ठशलः प्रकरणात् आयुर्व्वदीयसूत्रार्थमयोगयोदकः यस्य चायुर्यथावत् सर्व्वथा विदितं, पूर्वित्राः सिद्धीयविधरनित्यसात् क्तान्तप्रयोगेऽपि कर्त्तरि पष्ठी, स भिपक् नाम भवति। स च भिपक् चिकित्साकार्य्यमासौ कारणं सति धातुवैपम्ये सर्व्वधातुसाम्यं

चक्रपाणि:—कथ्र परीक्ष्यविशेषः कथन्न परीक्षितन्य इति प्रश्नह्योत्तरं दानुमाह—तस्येत्यादि । यो यो विशेष इति कारणादीनां यो यः कर्तृ त्वादिः सजातीयान्नेत्वादेः तथा विजातीयान्न भेषजादेविशेष इत्यर्थः। यथा परीक्षितन्य इत्यस्योदाहरणम्, "कचिद्दसस्य" इत्येवंप्रन्थवस्य-माणं ज्ञेयम् । भिषज्यति चिकित्सति । सर्व्यथेति हिताहितसुखदुःखतया । यथावत् सर्व्यधातु-साम्यमित्यादिना, धानुसाम्यस्य चात्र कारणं भिषक न केवलं परेण परीक्षणीयः, किन्त्वातमना श्रात्मानमेवादितः परीचेत । तद् यथा—ग्रिगाषु ७ ग्रणतः कार्य्याभिनिव्वृत्तिं पश्यन् कच्चिदहमस्य कार्य्यस्याभिनिव्वृत्तिं पश्यन् कच्चिदहमस्य कार्य्यस्याभिनिव्वृत्तिं समर्थोऽस्मि न वेति । तत्रते भिषग्गुग्णाः, यैरुपपन्नो भिषग् धातुसाम्याभिनिव्वर्त्तने समर्थो भवति । तद् यथा—पर्य्यवदात-श्रुतता परिदृष्टकम्भता दाच्यं शोचं जितहस्तता उपकरणवत्ता सव्वेन्द्रियोपपन्नता प्रकृतिज्ञता प्रतिपत्ताभिज्ञता चेति ॥ ७३ ॥ करणं पुनर्भषजम् । भषजं नाम तद् यदुपकरणायोपकल्प्यते,

चिकीपंन कर्तु मिच्छन् आदितः प्रथमत आत्मानं स्वं परीक्षेत । नन्नु कथं मिषगात्मानं परीक्षेतेत्यतस्त्व्यथेत्युक्तवाह—ग्रुणिष्वित । ग्रुणिषु पुरुषेषु धातु-वैपन्यव्याधिषु साम्यरक्षणेषु वा वैद्यः स्वस्य ग्रुणतः कार्य्याभिनिव्यक्ति कार्यस्य व्याधिनिष्टक्तिरूपस्याभिनिव्वक्तेने कचिद्दं समर्थौ भविष्यामि न वेत्येवं पश्यनात्मानमादौ परीक्षेत । एतदातुरीयतद्व्याधिरूपधातुवैपन्यनिष्टक्तिरूपस्य कार्यस्याभिनिव्वक्तेनेऽद्यं समर्थौ भवामि वा न वेति रूपेण स्वं परीक्षेत । नन्नु के वैद्यगुणा इत्यत आह—तत्रेत्यादि । यैरिति ग्रुणैः । एतेन वक्ष्यमाण-ग्रुणवत्तायां भिषजोऽवश्यं साध्यव्याधिनिष्टक्तिकरणे सामर्थ्यमिति क्यापितम् । ग्रुणानाह—तद् यथेत्यादि । पर्यवदातश्रुततादयो ग्रुणा दश्रपाणायतिनके व्याक्याताः ॥ ७३ ॥

गङ्गाधरः—चिकित्सायां करणस्य भेषजस्य परीक्ष्यविशेषस्य यथा परीक्षितन्यतं तद्वक्तुं करणं भेपजं लक्षयति—करणिमत्यादि । करणं पुन-भेपजिमत्यत्र इत्युक्तमग्रे तस्य परीक्षेति पूर्विचनस्यान्वयः । एवं परत्रापि सर्वित्र वोध्यम् । भेषजं नाम तदित्यादि । यत् विषमधात्नां धातुसाम्याभिनिन्ध् तौ प्रयतमानस्य भिषज उपकरणायोपकल्प्यते तद् भेषजं नाम । न चात्र युक्ति-

प्यात्मानं स च परीक्षयेदिति दर्शयति । अथ कथमात्मानं परीक्षयेदित्याह—गुणेप्विति, आत्मानं गुणयोगत्या परीक्षयेदित्यर्थः । गुणत इति हेतौ पञ्चमी । कचिदितीच्छाप्रकाशने । प्रति-पत्तिरूपन्नायामापदि झटिति कर्त्तव्यकरणम् ॥ ७३ ॥

चक्रपाणिः—विशोपतश्चोपायान्तेभ्य इत्यनेन, कार्य्ययोनिप्रवृत्तिदेशकालोपायेभ्योऽन्यद् यद् यत्

^{*} गुणेष्विति चक्रः।

भिषजो धातुसाम्याभिनिव्दृ तौ प्रयतमानस्य विशेषतश्रोपाया-न्तैभ्यः । तद्द द्विविधं व्यपाश्रयभेदात्, दैवव्यपाश्रयं युक्तिव्यपा-श्रयञ्चेति । तत्र दैवव्यपाश्रयं मन्त्रौषधिमणिमङ्गलबल्युप-हारहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासदानस्वरत्ययनप्रणिपातगमनादि । युक्तिव्यपाश्रयं संशोधनोपश्मने चेष्टाश्च दृष्टफलाः । एतच्चैव भेषजमङ्गभेदादिप द्विविधमेव भवति, श्रद्रव्यभूतं द्रव्यभूतं

युक्तं पोइश्गुणं चतुष्पादं भेपजिमिति यदुक्तं तत्। भिपजः कर्नृ तिन पृथगुक्ताविप स्वस्य सामध्यासामध्याभ्यामनुपकरणतात्। ननु योन्यादिभ्यो भेदाच यद्भिपजः कार्याभिनिन्द् तो प्रयतमानस्योपकरणायोपकर्ण्यते तद् भेपजंनामेति कारणादीनां सौष्ठवं सम्यगभिसन्धानञ्चेति भिपज उपकरणायोपकर्ण्यते तेनोपायान्ता अपि करणं भवतिति मनसि कृताह—विशेपतश्चेत्यादि। उपायान्तेभ्यो विशेपतश्च। उपायान्तेभ्योऽष्टभ्यः कार्य्यकर्त्तु र्यदुपकरणायोपप्यते तत् पुनर्भपजं करणमभिधीयते। कार्य्ययोनिर्धि कार्य्यक्तिमिनिन्देत्ते, तेन कार्य्यभिनिन्दे त्ताविति कार्यपदेन व्यवच्छिद्यते।कार्यपल्यमि च कार्य्यमेव कार्याभिनिन्दे त्ताविति कार्यपदेन व्यवच्छिद्यते।कार्यपल्यमि च कार्य्यमेव कार्याभुवन्थश्च कार्यजन्यः शुभाशुभक्ष्यः कार्यान्तर एवति। तद्भेपजं विभजते—तदित्यादि स्फुटम्। चेष्टाश्च दृष्टफला इत्यनेनादृष्टफलं चेष्टा दैवन्यपाश्यक्षा। एतच्चैवत्यादि। एतच्छन्देन संशोधनोपशमनचेष्टानां परामर्जन्वारणायाह—भेपजमिति।तेन एतद्दैवयुक्तिन्यपाश्चयं द्विविधं भेपजमङ्गभेदादिपि दिविधमेव। तदिवृणोति—अद्रन्यभूतिमत्यादि। सुचीकटाहन्यायेनाल्यतात्

कर्त्तुरपकरणं भवतीति तत् करणम् इति दर्शयित । कार्य्योनिर्हि छोके विचार्यं कर्मातया स्ताधकतमात् करणात् पृथगुच्यते । प्रवृत्त्युपाययोश्च कर्त्तृ करणादिधर्मत्वेन न करणसंज्ञा । देश-कालो तु न साधकतमो । तेन उपायान्तेभ्यो यथोक्तविशेषेण यत् कर्त्तु हपकरणं भवति, तत् करणम् । अत्र व्यपाश्रयद्वे विध्ये च सत्वावजयोऽिष भेषजमवरुद्धं ज्ञेयम्—सत्त्वावजयो हि ह्रष्ट्वारोपकारी युक्तिव्यपाश्यये, तथा अह्रष्ट्वारोपकारी तु देवव्यपाश्यये प्रविशति । अत एवोक्तं युक्तिव्यपाश्ययव्याकरणे—''चेष्टाश्च हृष्टफलाः'' इति । चेष्टाशव्देन मनश्चेष्टापि सत्त्वावजय-छक्षणा गृद्धते । पुनरोषधस्य प्रकारान्तरह्वे विध्यमाह—अङ्गभेदादित्यादि । अङ्गं शरीररूपं स्वरूपमिति यावत् । तेन स्वरूपभेदादित्यर्थः । दृश्यमूतं दृश्यरूपम्, एवमदृश्यरूपम् । उपायाभि-

तत्र अद्रव्यभूतं तद् यदुपायाभिष्लुतम् । उपायो नाम भयदर्शनविस्मापनचोभगाहर्पग्भर्त् सन-वन्धनस्वप्नसंवाहनादिः अमत्त्यों 🕾 भावविश्षेपो यथोक्ताः सिद्धुग्रपायाश्चेति । यत् तु द्रव्यभूतं वसनादिषु योगमुपैति तस्याप्येषा परीचा । इदमेवं-प्रकृति एवंग्रणमेवंप्रभावसस्मिन् देशे जातसस्मन् ऋतावेवं-मतिलोमतन्त्रयुत्तया खद्रन्यभूतं लक्षयति । तत्रेत्यादि । यदुपायाभिष्लुतम् उपायोपतं यत् तदद्रव्यभूतम्। यथा लङ्गनादिकं भयपदर्शनाद्यर्थम्। दण्डो-त्तोलनादिकरणादिकं कम्सी। प्रसङ्गसङ्गत्यात्रैवोपायं निर्दिशति। लक्षणन्तु पूर्वमुक्तम् उपायो नामेत्यादि । अमत्योऽमानुपिको व्यापारः। यथोक्ता यस्मिन् व्याधौ ये सिद्ध्रपायास्ते च इति एतदुपायाभिष्छतं भयप्रदर्शनादिनिमित्तं दण्डोत्तोलनादिकं कर्मा अद्रव्यभूतं भेपजं भवति, तस्य च परीक्षा नोपपचते इत्यतः प्राग्द्रव्यभूतादिदं निर्दिष्टमल्पलात् । ०। परीक्ष्यलाद् द्रव्यभूतमाह—यत् लित्यादि। तस्य संशमनस्य द्रव्यभूतस्यापिशव्दांत् वमनादिषु यौगिकस्य द्रव्यभूतस्य च एपातः परं वक्ष्यमाणा परीक्षा। का परीक्षेत्यत आह—इदमेव-एवं प्रकृति ईहशयो निकम्। एवं प्रभावमी हशाचिन्त्य क्रियम्। मित्यादि।

प्लुतमिति उपायव्याप्तम् उपायग्रहणगृहीतमिति यावत्। एवमन्ये भयाद्योऽमूर्त्तभावा न साक्षादारोग्यकारणानि भवन्ति, किं तर्हि शरीरस्थितानेव वातादीन् तथा कुर्व्वन्ति समत्वेनोत्-पाद्यमानान् । न ह्यमूर्त्तानि मूर्त्तानां शरीरधातृनामुःपत्ती समवायिकारणानि भवन्ति, भेपजन्तु द्रव्यम्तं समदारीरोत्पादे समवायिकारणं भवत्येव । तेन द्रव्यस्यारोग्यं प्रति साधकतमत्वं साधु, अमूर्तानाम् उपायादीनां न भेपजवत् साधकतमत्विमिति कृत्वा द्रव्यजन्य एव धातुसाम्ये तेपासुपायत्वं एवं सूक्ष्मया बुद्ध्या भयादीनामुपायत्वम्, स्थूलया तु बुद्ध्या भेपजव्यवहारश्च भाचार्य्याभिमतो द्विविधभेपजे ८र्थेऽद्रन्यभूतभयादिग्रहणादुनीयते । न केवलमद्रन्यसूतं भेपजसुपाय-व्यासम्, किन्तु अन्येऽपि परिचारकप्रहणगृहीता एवेत्याह—यथोक्ताः सिद्ध्यपायाञ्चेति । यथोक्ताः (सिङ्प्रपायाश्च परिचारकादयोऽत्र दशविधपरीक्ष्ये तु साक्षादनुक्ता उपायाभिष्लुता एवेत्यर्थः । किंवा उपायाभिष्लुतमिति उपायमिश्रितम् । तत्र भयाद्यमूर्त्तभेपज एव यथोक्ताश्चोपायाः कारणादि-सौष्टवसम्यगभिविधानरूपा अद्रव्यमूतभेपजपक्षगृहीता इत्यर्थः। तेन भयादिपु च तथा उपाय-शब्दाभिधेयेषु च अद्रव्यभूतभेपजशब्दप्रयोगो भवतीति दर्शयति। ये तु, उपायान्ताभि-प्लुतम् इति पर्टन्ति, ते देशकालावेव अद्गव्यमूतभेपजम् इति वदन्ति। वदन्ति. च—द्रव्य-

^{*} अमूर्त्तं इति चकः।

ग्रहीतमेवंनिहितमेवमुपस्कृतमनया च मात्रया युक्तमस्मिन् व्याधावेवंविधस्य च पुरुषस्यैतावन्तं दोषमपकर्षत्युपश्मयति वा। यदन्यद्पि चैवंविधं भेषजं भवेत् तज्ञानेनान्येन वा विशेषेण युक्तमिति॥ ७४॥

कार्ययो निर्धातुवैषम्यम्, तस्य लच्चणं विकारागमः, परीचा त्वस्य विकारप्रकृतेश्चोनातिरिक्तिलङ्गावेच्चणं विकारस्य च साध्या-साध्यमृदुदारुणिलङ्गविशेषावेच्चणिमिति ॥ ७५॥

एवं निहितम् ईदशरूपेण ईदशस्थाने स्थापितम्। एवम्रपस्कृतमीदशपयत्ने न भूपितम्। वमनादुप्रयोगगतसंशमनोपगतभेषजेभ्योऽन्येषां परीक्षार्थमाह— यदन्यदपीत्यादि। शस्त्रक्षारादिकं यदन्यद्पि भेषजं तदनेनोक्तेनान्येन सुधारदुर्धारत्नादिरूपेण वा एषा भेषजपरीक्षा॥ ७४॥

गृङ्गाधरः—क्रमिकलात् कार्य्ययोनिपरीक्षार्थमाह—कार्य्ययोनिर्धातुवैधम्यम्, अत्रापि इत्युक्तमग्रे इत्यस्यान्दयः। तस्य धातुवैषम्यस्य विकारागम इति विकारो धातुवैषम्यमिति यदुक्तं तदत्र न विवक्षितं, परन्तु तस्य कार्य्यं ज्वरादि-रूपं तस्यागम उत्पक्तिः। परीक्षेत्यादि। अस्य धातुवैषम्यतो विकारागमस्य परीक्षा तु विकारस्य ज्वरादेः प्रकृतेयोनेर्वातादिशारीरमलस्य रसादिधातूष-धातोश्च रजस्तमसोर्मानसमलयोः सत्त्वस्य च दृष्यस्य जनातिरिक्तलिङ्गावेक्षणम्। जनलक्षणावेक्षणेन धातूनां हासतो व्याधिजन्म, अतिरिक्तलक्षणावेक्षणेन धातूनां हासतो व्याधिजन्म, अतिरिक्तलक्षणावेक्षणेन धातूनां दृद्धितो व्याध्यागमोऽनुमीयते। विकारस्य च धातुवैषम्यजनितस्य ज्वरादेः साध्यलादिलिङ्गविशेषावेक्षणञ्चित् प्रकारेण कार्य्ययोनिपरीक्षा कार्य्यो। ७५॥

शब्देन काथकरकाइप्रयोजनीयं द्रव्यं 'द्रव्यम्' उच्यते इति । एतच मनोहारि । अनेन चान्येनेति साधनमूतेन च एवंप्रकृत्या इत्यादिनोक्तेन तथा साध्येन च एवंविधस्य पुरुपस्य इत्यादिनोक्तेन विशेषण युक्तमसूदित्यर्थः ॥ ७४ ॥

<u>चक्रपाणिः—</u> तस्य उक्षणं धातुर्वेपम्यं प्रत्युपपन्नमित्यर्थः । विकारप्रकृतेरिति विकारस्य प्रकृतेदेपिस्येत्यर्थः ॥ ७५ ॥ कार्य्यं धातुसास्यं, तस्य लच्गां विकारोपश्मः, परीचा त्वस्य रुगुपश्मनं खरवर्णयोगः श्रीरोपचयो वलवृद्धिरभ्यव-हार्य्याभिलाषो रुचिराहारकाले कालेऽभ्यवहृतस्य चाहारस्य सम्यग्जरगां, निद्रालाभो यथाकालं वैकारिकाणां खन्नानाम् श्रदर्शनं सुखेन च प्रवोधनं वातमूत्रपुरीपरेतसां मुक्तिः सर्व्वाकारैर्मनोबुद्धीन्द्रियाणाश्चाव्यापित्तिरिति॥ ७६॥

कार्थ्यफलं सुखावातिः, तस्य लच्गां मनोवुद्धीन्द्रियश्रीर-तुष्टिः॥ ७७॥

ञ्चनुवन्धस्तु खल्वायुः, तस्य लच्गां प्रागौः सह संयोगः॥ ७८॥

गङ्गाधरः—कार्यमित्यादि । कर्जुः कार्यमत्र धातुसाम्यमिति यदुक्तमग्रे तस्य लक्षणं विकारोपश्चमः ज्वरादुत्रपश्चमः । तस्य ज्वरादिविकारोपश्चमस्य परीक्षा तु रुगुपश्चमनित्यादि रुगुपश्चमनं यातनोपश्चमनं, यातनोपश्चमनादिना ज्वरादुत्रपश्चमोऽनुमीयते, ज्वरादुत्रपश्चमनेन धातुसाम्यं धातुवपम्याभावोऽनुमीयते । सुखेन प्रवोधनं श्चे येष्वर्थेषु सुखेन शानं भवति सुखेन च वातादीनाम् अधोवातादीनां सुक्तिस्त्यागः । अव्यापित्तः सम्पत् । इत्येवं प्रकारेण कार्यपरीक्षा कार्य्या ॥ ७६ ॥

गङ्गाधरः— परीक्ष्यविशेपश्च कार्य्यफलं कथं परीक्षितव्यमित्यत आह—काय्य-फलमित्यादि। इत्युक्तमग्रे इत्यप्यत्र योज्यम्। तस्याः सुखावाप्तेलक्षणम् अनुमान-करणं मनसश्च बुद्धीन्द्रियाणाश्च शरीरस्य च तृष्टिः परितोपः। शरीरान्तगेतत्वेन कम्मेन्द्रियाणामनुपादानान्त्र न्यूनता। इत्थं कार्य्यफलं परीक्षितव्यम्॥ ७७॥

गङ्गाधरः—नन्वनुवन्धः कथं परीक्षितन्य इत्यत आह—अनुवन्धः इत्यादि । अत्रापि इत्युक्तमग्रे इति योज्यम् । तस्यायुपो लक्षणं प्राणैः संयोगः । प्राणाः

चक्रपाणिः—सन्त्रीकारैरिति सर्व्यशुभलक्षणैः । सुखानाप्तिरित्यात्मगुणसुखप्राप्तिः । प्राणैः सह संयोग इति प्राणलक्षणनायुना योग इत्यर्थः । तेन प्राणशन्दस्यायुपो भिन्नार्थत्वालक्ष्यलक्षणयोभिदः ॥ ७६—७८ ॥

देशो भूमिरातुरश्च। तत्र भूमिपरीचा त्रातुरपरिज्ञानहेतोर्वा स्यात् श्रोपधपरिज्ञानहेतोर्वा। तत्र तावदियं खलु श्रातुरपरिज्ञान-हेतोः। तद् यथा—श्रयं कस्मिन् भूमिदेशे जातः संवृद्धो क व्याधितो वा, तस्मिश्च भूमिदेशे मनुष्याणामिदमाहारजातमिदं विहारजातमिदमाचारजातमेतावच वलमेवंविधं सत्त्वमेवंविधं सात्म्यम् एवंविधो दोषः भक्तिरियमिमे व्याधयो हितमिदमहित-मिदमिति †। श्रोषधपरिज्ञानहेतोस्तु कल्पेषु भूमिपरीचा वच्यते॥ ७६॥

पञ्च प्राणाख्यादयो वायवस्तैः सह संयोगस्तस्य लिङ्गं श्वासोच्छ्वासस्पन्दन-वचनादिकं श्वासादिना प्राणैः संयोगोऽनुमीयते तेन चायुरनुमीयते । आयुषो-ऽभावमात्रं हि म्रियते मृत्युश्च प्राणवियोगेनानुमीयते प्राणवियोगश्च श्वासाद्य-भावेनानुमीयते इत्थमायुः प्रीक्षितन्यम् ॥ ७८ ॥

गङ्गाधरः—नतु परीक्ष्यविशेपश्च देशः कः कथश्च परीक्षितच्य इत्यत आह—
देश इत्यादि । ननु भूमिस्तु देशः किमर्थं परीक्ष्यते इत्यत आह— तत्रेत्यादि ।
तत्र भूम्यातुरयोमध्य भूमिपरीक्षा आतुरपरिज्ञानहेतोः स्यात् । औपधपरिज्ञानहेतोश्च स्यात् । वा-द्वयं प्रत्येकप्राधान्यार्थम् । नन्वातुरपरिज्ञानहेतोश्चे मिपरीक्षा कथं कार्य्या इत्यत आह—तत्रेत्यादि । आतुरपरिज्ञानहेतोश्चे मिपरीक्षेत्यर्थाह्यमते । परीक्षा परीक्षणचिक्षम् । तद् यथेत्यादि । अयमातुरो योऽयं
दृश्यते कस्मिन्नित्यस्य संदृद्ध इत्यनेन व्याधितानां क्रियासहत्वासहत्वादिपरिज्ञानश्च भवति । विहारः परिस्पन्दनव्यापारः । आचारो वैधावैधिक्रयाहेतृप-

चक्रपाणिः—क्रमप्रासं देशमाह—देश इत्यादि।—आतुरशब्देनेह शक्क्षयमानातुर्व्यतया स्वस्थवृत्तोपदर्शनीयः स्वस्थोऽपि प्राह्मः। सोऽपि हि परीक्ष्यत एव स्वस्थवृत्तप्रयोगार्थम्। परि-शब्दो विशेषार्थः। तेन आतुरस्य सकळदेशकृतविशेषण ज्ञानमातुरपरिज्ञानम्। एवं भेपन-परिज्ञानेऽपि देशकृतविशेषज्ञानं परिज्ञानं बोद्धव्यम्। समृद्ध इति बर्द्धितः। एवंविधं सात्म्य-मित्योकसात्म्यमित्यर्थः। इदं हितमित्यनेन च देशापेक्षया विपरीतगुणसात्म्यं वृते। प्रायो-

^{*} समृद्ध इति चकः।

[†] इतः परं "प्रायोग्रहणेन" इति चक्रेणाधिकं पठ्यते ।

ञ्रातुरस्तु खलु कार्यदेशः, तस्य परींचा ञ्रायुपः प्रमाणज्ञानहेतोर्वा भवति वलदोषप्रमाणज्ञानहेतोर्वा । तत्र तावदियं वलदोषप्रमाण्ज्ञानहेतोः, दोषप्रमाणानुरूपो हि भैपःय-श्रमाण्विशेषो वलप्रमाण्विशेषापेचो भवति। सहसा द्यति-

वासादिव्यापारः। भक्तिरियं भजनशीलता। इत्यातुरपरिज्ञानहेतोभू मि-परीक्षा। शेषस्याह—औषधेत्यादि। कल्पेषु कल्पस्थानेषु॥ ७९॥ .

गङ्गाधरः—इति भूमिदेशपरीक्षामुत्तवातुरदेशपरीक्षामाह—आतुरस्तित्यादि । नन्वातुरः कथं देशो भवति, कस्य देशलादित्यत आह—कार्य्यदेश इति। कार्य्यस्य धातुसाम्यस्य देशः स्थानं तस्मादातुरो देश उच्यते। आतुरस्य परीक्षापि द्विधा, तदाह—तस्येत्यादि । तस्यात्रस्य परीक्षा एका आयुपः प्रमाणकानहेतोः स्यात्, द्वितीया आतुरस्य वलदोपममाणकानहेतोः स्यात्। वा-द्वयं प्रत्येकप्राधान्यार्थम्। प्रतिलोमतन्त्रयुक्तयातुरस्य वलदोपप्रमाणज्ञानहेतोः परीक्षामाह—तत्र तावत इत्यादि । वलदोपप्रमाणकानहेतोरातुरस्य परीक्षेत्यर्थात् लभ्यते । ननु कुतो हेतोरातुरस्य वलदोपभमाणं ज्ञायते इत्यत आह—दोपेत्यादि । हि यस्मात् कर्त्तु -भिषजः कार्याभिनिन्द्री भैषज्ये प्रयोक्तन्ये भैषज्यस्य प्रमाणविशेषो दोष-ममाणानुरूप आतुरवलप्रमाणापेक्ष एव युक्तः कार्याभिनिन्द्रे त्विकरो भवति न त दोषान तुरूपो व्याधितस्य वलानपेक्षो वा। कुत इत्यत आह—सहसेत्यादि। हि

अहणेनेति च्छेदः, प्रायोप्रहणेन न एकान्ततः प्रीक्षेत इति योजना, प्रायःशब्देन च, देशेनाहाराद्यनु-मानं निश्चितं किन्तु प्रायो भवतीति दर्शयति । कल्पेप्विति मदनादिकल्पेपु, तत्र यद्यपि प्रथम एव तु कल्पे मूमिपरीक्षा वक्तव्या, तथाप्यत्र कल्पेप्विति यदप्यतिदेशेन कथनाव बहुवचनं कृतम्, तदुत्तरकल्पवक्तन्यान्यपि हि दृ व्याण्यपि यथोक्त एव देशे याह्याणीति दर्शनार्थम् ॥ ७९ ॥

चक्रपाणिः—भूमिरूपं देशमभिधायातुरमाह—आतुरस्तु खल्वित्यादि । कार्य्यदेश इति कर्त्तव्यधातुसाम्याधार इत्यर्थः, वलस्य दोपस्य च प्रमाणं वलदोपप्रमाणम् । इयमित्यप्रे "तस्मादातुरं परीक्षेत," इत्यादिअन्थवक्ष्यमाणा । अथ किमर्थं वलदोपपरीक्षा शरीरस्य कर्त्तन्येति प्रकरणार्थः । वलप्रमाणविशेपापेक्ष इति ;—यदि बलवच्छरीरं भवति, तदैव दोपप्रमाणापेक्षया वलसौपधमपरीच्कप्रयुक्तमल्पवलमातुरमतिपातयेत्।न हि अति-वलान्याग्नेयसौम्यवायवीयान्यौपधान्यित्वचारशस्त्रकम्मीणि वा श्वयन्तेऽल्पवलेः सोहुम्, असह्यातितीच्यावेगित्वाि सद्यःप्राग्य-हरािण स्यः। एतच्चैव कारण्मवेच्चमाणा हीनवलमातुरमविषाद-करेः मृदुसुकुमारप्रायेरुत्तरोत्तरग्रुरुभिरविश्वमैरनात्ययिकेश्चोपचरन्ति

• यस्मात् अतिवलमातुरस्य वलमतिक्रान्तमतिशयवलवदीपधमपरीक्षकपयुक्तम् आतुरस्य वर्छं न परीक्ष्य भिषजा मूढ़ेन प्रयुक्तमरुपवलमातुरमतिपातयेत् मारयेव वा मृतकर्षं वा कारयेत्। अरुपवलमीपधन्स्रतिवलमातुरं न पातयेत् न वा व्याधिसाधकं भवति इत्यतोऽनात्यिकत्वात् तन्नादागुदाहृत्याचार्य्य आदौ आत्य-यिकसात् तु अतिवलभेपजस्यारपवलातुरे पयोगदोपं पदर्शितवान्। नन्वाग्नेयः पुरुपोऽस्पवलोऽपि सौम्यमौपधमतिवलमपि सोद् शक्रोतीति कुतोऽस्पवल-मातुरम् अतिवलमौपधमितपातयेदित्यत अतिवलीपधस्यालपवलातुरे प्रयोगोदा-वाप्यौपधानि यद्यतिवलानि भवन्ति तदा तानि कानिचिद्प्यतिवलान्यौप-धानि नाल्पवर्छैः पुरुपैः सोहु शक्यन्ते, न चाग्निक्षारशस्त्रकम्मीण वाल्पवर्छैः सोढुं शक्यन्ते। अन्पवलानाम् अग्न्याद्यसहत्तपद्रश्ननन्तु पसङ्गात् शिष्टशानार्थं वोद्धव्यं न तेनासङ्गतम्। नतु तानि कानिचिदपि क्रुतो न सोद्धं शक्यन्ते अल्पवर्छैरित्यत आह—असह्यातीत्यादि । असह्यसादितवर्छान्यौपधानि अल्प-वलेपृष्योजितानि तेपां सद्यःमाणहराणि स्युरतितीक्ष्णवेगिलादग्निक्षारशस्त्र-कम्मीणि चारुपवलेपूपयुक्तानि तेपां सद्यःमाणहराणि स्युरित्यर्थः। तस्मादातुरस्य वलदोपप्रमाणं ज्ञातन्यम् । आतुरस्य वलदोपप्रमाणज्ञानफलमाह—एतचैवेत्यादि। 🗤 एतच्चैव उक्तं तावत् कारणमवेक्षमाणा भिपजः हीनवलमातुरं तदातुराणाम् अविपादकरेम् दुसुकुमारमायेम् दुवीर्घ्यसेवनसौख्यवाहुल्येश्व पूर्व्व वीर्घ्यतः सौकु-महोपधप्रमाणं भवंति। विपर्य्ययेण ध्याकरोति—अल्पयले रोगिणि अपरीक्षकप्रयुक्तमेवातिमात्रं भवतीत्युक्तम्। न तु परीक्षकप्रयुक्तम् । प्राणहराणि स्युरिति अल्पवल इत्यर्थः । अविपादकरं दारीरमनसोरंग्लानिकरम्, उत्तरोत्तरं प्रमाणलक्षणगुरुत्वं येपां तैः। तेन दुर्व्यले यदि महादोपः, सं च मूममात्रेभेपजसाध्यंस्तथापि तदात्वन्यापत्तिभयात सहसा भेपजमूयस्व कर्तन्यम्, किन्तूत्तरोत्तरमभ्यासवशाट वलमपेक्ष्य भेपजमूयस्त्वं कर्त्तव्यमिति दर्शयति।

ऋौषधेः, विशेषतश्च नारीः ; ता ह्यनवस्थितमृद्विवृत⊛विक्कव-हृद्याः प्रायः सुकुमारा अवलाः परमसंस्तभ्याश्च 🕇 । तथा वलवति वलवद्ग्राधिपरिगते खल्पवलमोपधमपरीच्कप्रयुक्तमसाधकमेव भवति । तस्मादातुरं परोचेत प्रकृतितश्च विकृतितश्च सारतश्च

माय्यतश्च लघुभिरारभ्योत्तरोत्तरं गुरुभिवध्यितः सौकुमाय्यतश्च गुरुभिः-अविभ्रमैः देहमनसोवि शिष्टभ्रमकरलाभावैरनात्ययिकेरत्ययकरलाभावैश्रीपधैः उपचरन्ति, न लतिवछैराग्नेयादिभिरौपधैरप्रिक्षारशस्त्रकम्मीभश्च। अल्पवलेषु अविपादकराद्यौपधोपचरणप्रसङ्गात् जातिमात्रेणाल्पवललाद्वा स्त्रीणां तदौपधो-पचरणमाह—विशेषतक्चेत्यादि। विशेषतो नारीश्राविपादकरैम् दुसुकुमार-भायैरुत्तरोत्तरं गुरुभिरविभ्रमेरनात्ययिकैश्रीपधैरुपचरन्त्येतच्चैव भेचेक्षमाणा भिषजः। कुत इत्यत आह—ता इत्यादि। हि यस्मात् ता नाय्यौ-ऽनवस्थितमृदुविष्टतविक्कवहृद्याः अनवस्थितं न क्षणमप्येकरूपेणावस्थितं मृदु च विष्टतं न संष्टतं गोपनबुद्धा नाष्टतं विक्ववं विशिष्टभयशीछं हृदयं पड़ङ्गाङ्ग-विकानेन्द्रियतद्थेसगुणात्ममनसां स्थानं यासां तास्तथा। ऋव प्भये इति इव्धातो रूपं विक्रवस्। पायः वाहुल्येन सुकुमाराः प्रायोऽवलाश्च अल्पवलाः परमसंस्तभ्याः परमस्तम्भनीयाः न तु संशोधनीयास्तस्मादवलास्तु नारीः विशेषतोऽविषादकराद्यौषदैरुपचरन्ति एतत् कारणमवेक्षमाणा भिषज इति। नतु हीनवर्छं वलवदौपधं प्रयुक्तमेवं व्यापत्तिं करोतु वलवन्तञ्चारपवलमौषधं किं युक्तं न वेत्यत आह—तथेत्यादि। वलर्वात पुरुषेऽल्पवलच्याधिमति वलवद्गाधिपरिगते चारपवले वा असाधकं व्याधिनिवृत्तेरसाधकम्। तस्मात् उक्तकारणात् आतुरं वलदोषप्रमाणज्ञानहेतोः प्रकृतितक्ष्वेत्यादितो

पाककालेऽप्यविकारिकैः । अनाव्ययिकैरिति न महाविपत्तिकरैः । यथोक्तगुणभेपजं विशेषेण स्त्रीणां कर्त्तन्यमित्याह—विशेषत इत्यादि । हृदयशब्देन हृदयस्थं मन इति ज्ञेयम् । मृदुवृत्तम् अगम्भीरम्। विक्कवं स्तोकक्कं शामिभवनीयम्। अनेन च दुव्वंलचेतस्त्वमुक्तम्। संस्तम्भ्याः न स्वयमात्मानं सद्वचनात् स्तम्भयन्ति । तथेत्यादिनाऽल्पप्रमाणभेपजदोपमाह् वल-वद्व्याधिपरिगते इति वचनेनः य एव वलवान् व्याधिर्वलवतः, स युवाल्पभेपजासाध्यः, यस्तु बलवतोऽप्यवलः, सोऽल्पभेपजसाध्य एव परीक्षाहेतुमभिधाय यथा शारीरं परीक्षणीयं तदाह—

^{*} वृत्तेति चकः।

[†] परसंस्तभ्याश्च इति चकः।

संहननतश्च प्रमाणतश्च सात्म्यतश्च सत्त्वतश्चाहारशक्तितश्च व्यायामशक्तितश्च वयस्तश्चेति वलप्रमाणविशेषब्रहण-हेतोः॥ ८०॥

तत्रेमान् प्रकृत्यादीन् भावाननुव्याख्यास्यामः। तद् यथा—शुक्रशोणितप्रकृतिं कालगर्भाश्यप्रकृतिं मातुराहार-विहारप्रकृतिं महासूतविकारप्रकृतिश्च गर्भश्रीरमपेचते। एता

दशकतः परीक्षेत । प्रकृत्यादिशानेनातुरस्य वलप्रमाणशानं भवति, वलदोष-प्रमाणशानेनातुरवलप्रमाणापेक्षो दोषप्रमाणानुरूपो भेषजप्रमाणविशेषः कल्प-यितुं शक्यते भिषजेति वोध्यम् ॥ ८०॥

निहाधरः—ननु पकृत्यादयः कीद्दशा इत्यत आह—तत्रेमानित्यादि।
तत्रादौ पुरुषाणां प्रकृतिं विष्टणोति—तद् यथेत्यादि। शुक्रत्यादि। मनुष्याणामित्यर्थात् वोध्यम्। तेन मनुष्याणां गर्भशरीरं शुक्रशोणितपकृतिं यादशपुरुषस्य
यादशशुक्रं यादशनाय्यां यादशशोणितं तयोयां प्रकृतिः। मातुः कालगर्भाशयपकृतिं मातुः कैशोरयौवनतारूपप्रौढ्याद्यावस्थिककाले गर्भाशयस्य
या प्रकृतिः। मातुराहारविहारपकृतिं गर्भाधाने सति मातुर्यवयदाहारोऽभ्यवहरणं यथा यथा च विहारस्तयोयां प्रकृतिः। महाभूतविकाराः शौक्रा
आत्तंवा आहारद्रव्यरसजा आत्मजाश्च वाताद्यश्चलारश्चतु व्विधास्तेषामाकाशस्य
च या या प्रकृतिः, तां तां प्रकृतिमपेक्षते। यथाशुक्रं यथात्तवं यथाकालगर्भाशयानुरूषं मातुराहारविहारानुरूपश्च महाभूतविकारानुरूपश्च गर्भशरीरम्

तस्मादित्यादि । वलप्रमाणिवशेपग्रहणहेतोरित्यत्र देहवलं दोपवलञ्च सामान्येन गृहाते । येन विकृतितः शरीरज्ञानं दोपवलज्ञानहेतोर्भविति, तदेव "प्रकृत्यादीनां विकृतिवर्ज्ञानाम्" इत्यादिना वक्ष्यति । किंवा वलं शारीरं वलमेवोच्यते, तत्र च विकृतिवलेनापि शरीरवलं बुध्यत इति कृत्वा इह सामान्येनोक्तम्, उत्तरत्र तु विकृत्या दोपप्रमाणं प्रायो विज्ञायत्व इति कृत्वा "विकृतिवलन्त्रेविष्येन दोपवलत्रेविष्यमनुमीयते" इत्युक्तम् । प्रकृतिमिति स्वभावम् । एतानि तु शुक्रादीनि शुक्रशोणिते वा । याद्यगवस्थो दोपस्तादग्रामें प्रकृतिर्भवित, यथा शुक्रशोणितमेलककाले यो दोप उत्करो भवित स प्रकृतिमारभते, एवं गर्भाशयस्थश्च दोपः । मातुराहारिवहारौ तत्कालीनौ यदोप-करणस्वभावो, सा च प्रकृतिर्गर्भशरीरे भवित । एपु च प्रकृत्यारम्भकेषु कारणेषु यद्बलवद्मवित कारणान्तरवृ हितञ्च, तदेव प्रकृत्यारम्भकं भवित । कालादयश्च शुक्रशोणितमेव कृष्वेन्तः प्रकृतिजनका

हि येन येन दोषेगा एकेन अधिकेन समेन वा अनुबध्यन्ते दोषेगा गर्भोऽनुबध्यते। तेन तेन सा सा सर्व्यमनुष्याणां गर्भादिप्रवृत्ता। प्रकृतिरुच्यते रलेष्मलाः प्रकृत्या केचित् पित्तलाः केचिद्रातलाः समधातवः केचिद्ध भवन्ति। तेषां लच्गानि स्यासः ॥ ८१ ॥

. श्लेष्मा हि स्निग्धश्ळच्याष्ट्रदुमधुरसारसान्द्रमन्द्रस्तिमित-ग्रुरुशीतविज्ञलाच्छः। तस्य रनेहात् रलेष्मलाः स्नि-धाङ्गाः, श्वच्यात्वात् श्वच्याङ्गाः, मृदुत्वाद् दृष्टिसुखसुकुमारावदाताङ्गाः,

अपेक्षते। हि यस्मात् गभशरीरापेक्षणीयास्तु एताः शुक्रशोणितपकुतिकाल-गर्भाशयमकृतियात्राहारविहारप्रकृतियहाभूतविकारप्रकृतयो येन एकेनाधिकेन समेन वा दोषेण वातिपत्तकफरूपेणानुवध्यन्ते, तेन तेनैकेना-धिकेन समेन वा दोषेण गर्भोऽनुवध्यते तदारब्धतात् तदाकरताच। तस्मात् स्वमकृतिशुक्रशोणिताद्यनुवन्धकदोषानुवन्धतात् सा सा शोणिताचनुवन्धकदोषपकृतिमेनुष्याणां गर्भादिषद्वता उच्यते, तस्मात् तेन तेन दोषेण प्रकृतिच्यपदेशात् केचित् प्रकृत्या इलेष्मलाः केचित् प्रकृत्या पित्तलाः केचित् प्रकृत्या वातलाः केचित् समधातवः प्रकृत्या भवन्ति । एषां स्वस्थलम् आतुरत्रश्च स्वास्थ्यचतुष्के व्याख्यातं तथा रोगानीकविमाने व्याख्यातम् ॥८१

गङ्गाधरः—इलेष्मा हीत्यादि । सारं प्रसादरूपं, विज्जलः पिच्छिलः, अच्छः वैमल्यवान् । इलेष्पणः प्रतिगुणतः इलेष्मलानां लक्षणान्याह्—तस्य स्नेहादि-त्यादि । तस्य रलेष्मणः । तस्येत्यस्य सन्वेत्रैवान्वयः । श्रक्षणाङ्गा अकर्कशाङ्गाः, दृष्टिसुखसुकुमारावदाताङ्गाः दर्भने सुखजनकं सुकुमारं मृदुभूतमवदातं

भवन्तीति । तन्त्रान्तरे शुक्रशोणितगतदोपेणैव प्रकृत्युत्पादो दर्शितः । गर्भाद्मिवृत्तेति गर्भस्यादि-मेलके प्रवृत्ता। समैदोपैवृद्धिंगभजन्मैव न भवति इति विकृतदोपत्रयं प्रकृतेरारम्भकमिति ज्ञेयम् । प्रकृतिविकारश्च सूत्रस्थान एव व्याकृतः ॥ ८०।८९ ॥

चक्रपाणिः— मृदुत्वं जलकृतम्, जलञ्चावदातमिति मृदुत्वादेवावदातत्वम्। अशीघ्रशब्दः

माधुर्यात् प्रभृतशुक्रज्यवायापत्याः, सारत्वात् सारसंहत-स्थिरशरीराः, सान्द्रत्वादुपचितपरिपूर्णसर्व्याङ्गाः, मन्द्रत्वानमन्द-चेष्टाहारव्यहाराः, स्तैमित्यादशीवारम्भचोभविकाराः, गुरु-त्वात् साराधिष्ठितगतयः, शैत्यादल्पचुनृष्णासन्तापस्वेददोषाः, विज्जलत्वात् सुश्ठिष्टसारसन्धिवन्धनाः, तथाच्छत्वात् प्रसन्न-दर्शनाननाः प्रसन्नक्षिभ्धवर्णस्वराश्च भवन्ति । त एवंग्रण-योगात् श्लेष्मला चलवन्तो वसुमन्तो विद्यावन्त श्रोजिखनः शान्ता श्रायुष्मन्तश्च भवन्ति ॥ ५२ ॥

निम्मेलमङ्गं येपां ते तथा। प्रभूतानि वहूनि शुक्रव्यवायापत्यानि येपां ते तथा। सारसंहतस्थिरशरीराः सारं वहुसारात्मकं संहतं निविङ् स्थिरम् अचलं शरीरं येषां ते तथा। उपचितपरिपूर्णसन्बीङ्गाः उपचितानि समृद्धानि परिपूर्णीनि अहीनानि सर्व्वाणि अङ्गानि येपां ते तथा। मन्दचेष्टाहारव्याहाराः मन्दा अल्पादचेष्टा क्रियाश्राहाराश्र व्याहाराः वाचश्र येषां तेर्तथा । अज्ञीघ्रारम्भक्षोभविकाराः अज्ञीघ्रं चिरेण कालेन आरम्भः ज्ञरीर-वाक्पनः प्रष्टितः क्षोभो मनसोऽकस्मात् श्रुव्धता विकारो मनसो वा शरीरस्य वा वैषम्यं येषां ते तथा। साराधिष्ठितगतयः सारेणाधिष्ठिताः प्रमत्त-गजेन्द्राणामिव गतयो येषां ते तथा। अल्पक्षुत्तृष्णासन्तापस्वेददोषा इति दोषपदेन दोपजन्याधावपि तृष्णादीनामलपत्त्वमिति ख्यापितम्। विज्ञल-लात् पैच्छिल्यात् । सुविलष्टसारसन्धिवन्धनाः सुष्ट क्षिष्टानि संयुक्तानि सार-रूपेण सन्धीनां वन्धनानि येपां ते तथा। प्रसन्नदर्शनाननाः प्रसादरूपेण दर्शनं वस्तृनां दृष्टिराननश्च येपां ते तथा। प्रसन्नस्त्रिग्धवर्णस्वराः प्रसन्नौ च स्तिग्धौ वर्णस्वरौ येपां ते तथा। वर्णमसादः स्तिग्ववर्णत्वं पसनस्वरता श्रुत-मधुरस्वरता चेत्यर्थः। त एवंगुणयोगादिति ते इहेप्मछाः पुरुषा एवप्रक-गुणयोगात्। वलवन्त इति वलं विपुलतया वर्त्तते येपां ते वलवन्तः।

आरम्भादिभिः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । सारगतयो न स्खलन्त, अधिष्ठितगतयः सर्व्वेण पादेन महीमाक्रमन्ति । अवस्थितगतयः अवस्थितत्त्वेन पादगतिर्भवति । प्रसन्ने दर्शनानने यस्य स तथा । वसुमत्त्वादि प्रकृतिरूपं यद भवति, तत् प्रकृतिभावाज ज्ञेयम् ॥ ८२ ॥

वित्तमुष्णां तीन्णां द्रुतं विस्नमम्लं कटुकश्च । तस्यौष्णयात् वित्तला भवन्त्युष्णासहाः, शुष्कसुकुमारावदातगात्राः, प्रभूत-पिप्लुव्यङ्गतिलकपिड़काः, चुत्पिपासावन्तः, चिप्रवलिपलित-खालित्यदोषाः, प्रायो मृदुकपिलाल्पश्मश्रुलोमकेशाः ; तैच्एयात् तीच्णपराक्रमास्तीच्णाययः प्रभूताश्नपानाः वलेशासहिष्णवः दन्दश्काः ; द्रवत्वाच्छिथलमृदुसन्धिवन्धमांसाः प्रभूतस्टप्ट-स्वेदम्त्रपुरीषाः ; विस्रत्वात् प्रभूतपूति-७-कचास्यशिरःशरीर-गन्धाः ; क्रदुम्लत्वादलपशुक्रव्यवायापत्याः । त एवंग्रणयोगात् पित्तला मध्यवला मध्यायुषो मध्यज्ञानविज्ञानवित्तोपकरणवन्तश्च अंवन्ति ॥ ५३॥

ओजस्विन इति ओजो वलहेतुधातुविशेपस्तद्वन्तः। आयुष्पन्त दीर्घायुष्मन्तः, एतेनायुःप्रमाणज्ञानहत्तोरातुरपरीक्षायामातुरस्य वलदोपप्रमाण-ज्ञानेषु प्रकृतितः परीक्षापेक्षलात् पूच्यं वलदोपमाणज्ञानहेतोरातुरपरीक्षा उच्यते इति ज्ञापितम् ॥ ८२ ॥

गुङ्गाधरः-पित्तप्रकृतिकानां लक्षणार्थमाह-पित्तमित्यादि। दृतं द्रवम्, तस्येति पित्तस्य, उष्णासहाः उष्णं सोद्रुमशक्ताः, शुष्क-मुकुमारावदातगात्राः शुष्कं निःस्नेहमथच मुकुमारमवदातश्च निम्मेलं गात्रं येषां ते तथा। प्रभूतिपण्डव्यङ्गितलकपिड़काः प्रभूता वहुलाः मुखव्यङ्गाः पिप्लवः शरीरदेशे व्यङ्गास्तिलकास्तिलकालकाः पिड़काश्च येपां ते तथा। क्षुत्विपासावन्तः अधिकश्चनुष्णावन्तः। तैक्ष्ण्यादित्यादि स्पष्टम्। द्रवलाद् इत्यादि च स्पष्टम् । विस्रलादित्यादि । प्रभूतपूतयो दुष्टाः कक्षादीनां गन्धा येषां ते तथा। कटुम्ललादित्यादि स्पष्टम्। त एवीमत्यादि मध्यानि ज्ञानं शास्त्रज्ञानं विज्ञानं तद्रथैनिश्चयः वित्तं धनस् उपकरणं दोलाञ्चगजादि, तानि सन्ति येषां तेपाम् ॥ ८३ ॥

चक्रपाणिः—दंदश्काः पुनःपुनभेक्षणशीलाः ; प्रभूताशनस्तु वहुभक्षणत्वेन । पुतिर्वक्षः-

अम्तप्तिवक्षःकक्षेत्यादि पाठः चक्रसम्मतः ।

वातस्तु खलु रुन्लघुचलबहुशीव्रशीतपरुषविश्दः। तस्य
रौच्याद्वातला रुन्।पचिताल्पश्रीराः प्रततरुन्नामिमन्नक्ष्मक्तजर्जरस्वरा जागरूकाश्चभवन्ति । लघुत्वाल्लघुचपलगितचेष्टाहारविहाराः, चलत्वादनविस्थतसन्ध्यिनस्त्र हुन्बोष्ठजिह्वाशिरःस्कन्धपाणिपादाः, बहुत्वाद् बहुप्रलापकण्डराशिराप्रतानाः, शीव्रत्वात्
शीव्रतमारम्भन्नोभविकाराः शीव्रत्रासरागिवरागाः श्रुतप्राहिणः
अल्पस्मृतयश्च, शीतत्वाच्छीतासहिष्णवः प्रततशीतकोद्वेषकस्तम्भाः, पारुष्यात् परुषकेशश्मश्रुलोमनखदन्तवदनपाणिपादाः, वश्चात् स्पु टताङ्गावयवाः सततसिन्धश्च्द्रगामिनश्च
भवन्ति । त एवंग्रणयोगाद्वातलाः प्रायोऽल्पवलाश्चाल्पायुषश्चाल्पापत्याश्चाल्पसाधनाश्चाल्पधनाश्च भवन्ति ॥ ५४ ॥

गुङ्गाथरः—वातमकृतिलक्षणार्थमाह—वातस्तित्यादि। रुक्षादिविशदान्तो द्वन्द्वस्ततः परं मलर्थीयोऽचमत्ययः। तस्येति वातस्य। रुक्षमपचितं कृशमल्पं हस्यं शरीरं येपां ते तथा। प्रततेत्यादि। प्रततं निरन्तरं विस्तरेण वा रुक्षः कर्कशः क्षामः क्षीणः भिन्नो भङ्गरूपः सक्तोऽव्यक्तः जन्नेरः असंहतः स्वरो येपां ते तथा, जागरूकाश्च भवन्ति। लघुलात् लघवात् लघु शीघ्रं चपला चश्चलरूपा गतिश्च चेष्ठा चाहारश्च विहारश्च येपां ते तथा, लघुचपलयोः सव्वेत्रान्वयः। अनवस्थिताः अस्थिराः सन्ध्यादयो येपां ते तथा, बहुलादिति विच्छेदस्यभावात्, शीघ्रलात् शीघ्रसमारम्भादयः अचिरात् समारम्भादयस्त्रासादयश्च, श्रुत-प्राहिणः श्रुतमात्रं ग्रहीतुं धारियतुं शीलं येपां ते तथा, अलपस्मृतयश्चेत्यचिरस्थायिस्मृतयः, शीतासहिष्णवः शीतं सोढुमशीलाः, प्रततं शीतकं शैत्यम् उद्देपक उत्कम्पता स्तम्भश्च येपां ते तथा, परुषाः निःस्नेहत्वेन खराः केशादयो येपां ते तथा, स्फुटिताः पाटिता अङ्गावयवा येपां ते तथा, सततं गमने प्रस्तिषु गन्धो येपां ते तथा। प्रततः प्रस्तः। भिन्नो भग्नपात्रध्वनित्रमः। मन्द्रो हीनः। सक्तो वदः। सततसन्धिशब्दगामिन इति सन्धिरफुटनशब्दवन्तः॥ ८३।८४॥

[•] इतः परं मन्द इत्यधिकः पाठः क्रचित्।

संसर्गात् संस्टष्टलच्गाः, सर्व्यग्रत्समुदितास्तु समधातवः। इत्येवं प्रकृतितः परीच्त ॥ =५॥

विकृतितश्चेति । विकृतिरुच्यते विकारः । तत्र विकारं हेतु-दोषदूष्यप्रकृतिदेशकालवलिवशेषेलिङ्गतश्च परीचेत । न ह्यन्तरेगा हेत्वादीनां वलिवशेषं ट्याधिवलिवशेषोपलिधः । यस्य हि ट्याधे-दोषदूष्यप्रकृतिदेशकालक्ष्माम्यं भवति महच्च हेतुलिङ्गवलम्, स व्याधिवलवान् । तद्विपर्य्यश्चालपवलः, मध्यवलस्तु दोषदूष्या-दीनामन्यतमसामान्याद्वेतुलिङ्गमध्यवलत्वाच्चोपलभ्यते ॥ प्रह ॥ सन्ध्यः शब्दायन्ते येषां तथाविधं गन्तु शीलं येषां ते सततसन्धिश्चा्यामिनः, भायेणालपवलाः कचिन्मध्यमवला अपि भवन्ति । शेपमेवं स्पष्टम् ॥ ८४ ॥

गृङ्गाघरः—संस्रष्टलात् कफादीनां द्विकाः संसर्गात् संस्रप्टलक्षणा उक्त-कफादीनां लक्षणानां तत्तद्रोपमाकृतलक्षणाः। सन्वेगुणसमुदितास्तु सन्वेपां वातिपत्तकफानां प्रकृतिस्थानां सन्वे गुणाः समुदिता येपां ते तथा।। ८५।।

गङ्गाधरः—क्रमिकलात् विकृतितश्चातुरस्य परीक्षां दर्शयति—विकृतितइचेत्यादि। विकृतिरुच्यते विकार इति। विकारोऽत्र धातुवैषम्यनिमित्तो
ज्वरादिः। न तु धातुवैषम्यं ज्वरादितोऽनुमेयलेनाप्तर्यक्षलात्। हेतुना दोषेण
दृष्येण प्रकृत्या देशेन कालेन वलेन लिङ्गतश्च परीक्षेत। कृतो हेलादिविशेषैः
लिङ्गतश्च परीक्षेत विकृतिमिति ? अत आह—न हीत्यादि। हेलादीनां
वलविशेषमन्तरेण यस्माद्गाधिवलविशेषोपलिध्धने भवति। कृत इत्यत आह—
यस्येत्यादि। तद्विषय्येयः दोषदृष्यादीनामसाम्यम्। दोषदृष्यादीनामन्यतमसामान्याद्धेतुलिङ्गमध्यवललाच। हेतुरसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगादिः॥ ८६॥

चक्रपाणिः—सन्वंगुणसमुदिता इति सन्वंप्रकृतियुक्ताः प्रशस्तगुणयुक्ताः,— यदुक्तं वाग्भटे— "समधातुः समस्तासु श्रेष्ठः" इति । यदि च प्रशस्तगुणता न स्यात्, न तदा श्रेष्ठस्वं स्यात् । साम्यस्थिताश्च दोषाः साम्यश्रभावादेव गुणान् परान् कृष्वंते, न दोषान् इति श्रेयम् । साम्यं भवतीति परस्परतुल्यगुणता भवति । महम्च हेतुलिङ्गव्यस्मिति हेतवो लिङ्गानि च दलवित

म् मल इत्यधिकः पाठः कचिद ह्र्यते ।

सारतश्चेति । साराग्यष्टौ पुरुषाणां वलमानिवशेषज्ञानार्थम् उपदिश्यन्ते त्वग्रक्तमांसमेदोऽस्थिमजशुक्रसत्त्वानीति।

तत्र सिग्धश्ळचणमृदुप्रसन्नसूच्माल्पगम्भीरसुकुमारलोमा स-प्रभेव च त्वक् त्वक्साराणाम् । सा सारता सुखसौभाःयेश्वरयोप-भोगबुद्धिवद्यारो यप्रहर्पणान्यायुश्चानित्वरमाचष्टे ॥ ५७॥

कर्णाचिमुख-जिह्वानासोष्ठपाणिपादतल-नख-ललाट-मेहनं स्निध्यक्तवर्णं श्रीमद्द भ्राजिष्णु रक्तसाराणाम् । सा सारता सुखमुद्धतां मेधां मनस्तित्वं सोकुमार्थ्यमनतिवलमुष्णासिहष्णुतां चाचष्टे ॥ ५०॥

शृङ्खललाटक्वकाटिकाचिगग्रहहनुयीवास्कन्धोदर-कच्-वचः-पागिषादसन्धयरतु स्थिरग्रहशुभमांसोपचिता मांससारागाम् । सा सारता चमां धृतिमलौल्यं वित्तं विद्यां सुखमार्ज्जवं वल-मारोग्यमायुश्च दीर्घमाचष्टे ॥ ८९ ॥

गृङ्गाधरः – सारतः परीक्षामाह — सारतः चेत्यादि। सत्त्वं मनः, न तु सत्त्व-गुणः तदाश्रयलात्। तत्रेत्यादि स्पष्टम्। सा सारतेत्यादि स्पष्टार्थम्। आयु-श्रानितरम् अगलरमायुश्राचण्टे व्यनक्ति॥ ८७॥

गङ्गाधरः—रक्तसाराणां पुंसां स्त्रिग्धरक्तं श्रीमद्भाजिष्णु च कर्णादिकम्। उद्धतां विपुलां मेधाम्। अनितवलं मध्यवलम् ॥ ८८॥

गुङ्गाधरः—शङ्को ललाटैकदेशः, ललाटो ललाटस्य मध्यमदेशः। कृकाटिका , पाटा। एते शङ्कादयः स्थिरा गुरवश्च शुभाश्च मांसोपचिताश्च भवन्ति। वर्छं दीर्घम् अतुलम्, आयुश्च दीर्घम् ॥ ८९॥

मूर्यांसि च i अन्यतमसामान्यादिति दोपादीनां सामान्ये केनचित् केनचिदसामान्ये सति इत्यर्थः॥ ८५।८६॥

चक्रपाणिः—सारतञ्चेत्यादौ सारशङ्देन विशुद्धनरो धातुरुच्यते । सप्रभेति प्रभायुक्ता । त्वक्साराणामिति च्छेदः । तथेयं सारता किं करोतीत्याह—सा सारतेत्यादि । एवमन्यप्रापि सारतेति ब्याख्यातब्यम् ॥ ८७ ॥

वर्णखरनेत्रकेशलोमनखदन्तीष्ठमूत्रपुरीषेषु विशेषेगा स्नेहः मेदःसारागाम् सा सारता वित्तैश्वर्यसुखोपभोगदैन्यार्ज्वं सुकुमारोपचारताश्चाचप्टे ॥ ६० ॥

पार्षिगुल्फजान्यरिकजत्रुचिवुकिश्ररःएवर्वस्थूलाः स्थूलास्थिन नखद्न्ताश्चास्थिसाराः । ते महोत्साहाः क्रियावन्तः क्लेशसहाः सारस्थिरश्रीरा भवन्यायुष्मन्तश्च ॥ ६१ ॥

मृद्रङ्गा वलवन्तश्च स्निग्धवर्णखराः स्थूलदोर्घवृत्तसन्धयश्च मजसाराः। ते दोर्घायुषो वलवन्तः श्रुतविज्ञानवित्तापत्य-सम्मानभाजश्च भवन्ति॥ ६२॥

सीस्याः सीस्यप्रे चिगाः चीरपूर्गालोचना इव प्रहर्षवहुलाः स्निग्धवृत्तसारसमसंहतिश्खरदश्नाः प्रसन्नरिन्धवर्णस्वराः भ्राजिष्णवो महास्फिचश्च शुक्रसाराः । तै स्त्रीप्रियाः प्रियोपभोगाः क वलवन्तः सुखारो यिन्तैश्वर्थसम्मानापत्यभाजश्च भवन्ति ॥६३॥

गङ्गाधरः-मेदःसाराणां वर्णादिषु स्नेहः, वित्तं धनादि, ऐश्वर्यं प्रभुता॥९०॥

गङ्गाधरः—अस्थिसाराः स्थूलपाष्ट्यादयः स्थूलास्थिदन्ताश्च। तेऽस्थि-सारा महोत्साहादिमदादयः सारस्थिरशरीराः साररूपेण स्थिरमचळं शरीरं येपां ते तथा॥ ९१॥

गङ्गाधरः—मज्जसारास्तु मृहङ्गादयः। स्थूलाश्च दीर्घाश्च वृत्ताश्च सन्धयो येपां ते तथा। ते मज्जसाराः श्रुतमधीतं विज्ञानादिकश्च भजन्ते ॥ ९२॥

गङ्गाधरः शक्रसारास्त सौम्या इत्यादयः। प्रहपेवहुला मैथुनवहुलाः। स्त्रिग्धाश्च रुत्ताश्च सारभूताश्च समाश्च संहताश्च शिखरदशना येषां ते तथा। स्त्रीपियाः स्त्रीणां पियाः॥ ९३॥

चक्रपाणिः—श्रीमदिति शोभायुक्तम् । अरितः कफोणिका । शिखरदशना शोभनदशनाः ।

स्त्रीप्रियोपभोगा इति चक्रः ।

स्मृतिमन्तो भक्तिमन्तः कृतज्ञाः प्राज्ञाः शुचयो महोत्साहा दचा धीराः समरिवकान्तयोधिनस्यक्तविपादाः सुव्यवस्थितगति-गम्भीरबुद्धिचेष्टाः कल्पनाभिनिवेशिनश्च ७ सत्त्वसाराः, तैषां स्वलचर्णोर्गुणा व्याख्याताः ॥ ६४ ॥

तत्र सठ्वैः सारेक्षेताः पुरुषा भवन्त्यतिवलाः परमसुख-युक्ताः वलेशसहाः सर्व्वारम्भेष्वात्मिन जातप्रत्ययाः कल्याणाभि-निवेशिनः स्थिरसमाहितशरीराः सुसमाहितगतयः सानुनाद-क्रिग्धगम्भीरमहानिस्वनाः सुखैश्वय्यवित्तोपभोगसम्मानभाजो मन्दजरसो मन्दविकाराः प्रायस्तुल्यगुणविस्तीर्णापत्याश्चिर-जीविनश्च॥ ६५॥

गङ्गाधरः—स्मृतिमन्त इत्यादि । समरिवक्रान्तयोधिनः समरे मल्लयुद्धे वा शक्तास्त्रयुद्धे वा वाग्युद्धे वा व्यवहारयुद्धे वा विक्रान्ताः सन्तो योद्धं शीलं येपां ते तथा । सुव्यवस्थिता गतिर्गम्भीरा युद्धिश्चेष्टा च येपां ते सुव्यवस्थित-गतिगम्भीरयुद्धिचेष्टाः । कल्पनाभिनिवेशिनः कल्पनायां कल्प्तीकरणेऽभिनिवेशशीलाः । तेपां स्वलक्षणेः समृतिमत्तादिभिर्गुणाः कम्माणि व्याख्याताः । समृतिमत्तादिकार्य्याणि समृत्यादीनि भवन्तीत्यर्थः ॥ ९४ ॥

गङ्गाधरः—एतैः सारैबेंलभेदान् दर्शयति—तत्रेत्यादि। सर्व्वारम्भेषु सर्व्वासु क्रियासु समर्थतेनात्मिन प्रत्ययशालिनः। कल्याणे शुभेऽभिन्विश्चनः। स्थिरं समाहितं संहतं शरीरं येषां ते तथा। सुसमाहितगतयः सुष्ट्र समाहिता गतिर्येषां ते तथा। सानुनादिक्तग्धगम्भीरमहानिस्वनाः अनुनादेन । ह वर्त्तमानः स्त्रिग्धो गम्भीरश्च महान् निस्वनो येषां ते तथा, प्रतिध्वनिजनक-स्त्रिग्धगम्भीरमहानादा इत्यर्थः। मन्दा अल्पा जरा येषां ते तथा। मन्द-विकारा अल्परोगवन्तः। प्रायस्तुल्यगुणा विस्तीर्णा येषां तान्यपत्यानि येषां ते तथा।। ९५।।

स्त्रीप्रिय र्डपभोगः संभोगो येपां ते तथा। समरे विक्रम्य योधयन्तीति समरविकान्तयोधिनः। अवस्थिता इति परिस्थिताः। तुल्यगुणविस्तीणीपत्या इति जनितात्मसदशापत्याः। प्रायः-

[•] कल्याणाभिनिवेशिनश्च इति पाठान्तरम् ।

अतो विपरीतास्त्रसाराः। मध्यानां मध्यैः सारविशेपैग्रीग-विशेषा व्याख्याताः। इति साराग्यष्टी पुरुपागां वलप्रमाग्-विशेषज्ञानार्थसुपिद्रष्टानि भवन्ति ॥ ६६ ॥

कथं नु शरीरमात्रदर्शनादेव भिषगत्र मुह्ये दयमुपचितत्वाद वलवानयसल्पवलः कृश्त्वाद्यं महावलवान् महाश्रीरत्वाद्य-सल्पश्ररीरत्वाद् दुर्व्वल इति । दृश्यन्ते ह्यल्पश्ररीराः कृशाश्चैके वलवन्तः, तत्र पिपीलिकाभारवहनवत् सिद्धः। अतश्र सारतः परीचा इत्युक्तमेव ॥ ६७ ॥

संहननतश्चेति । संहननं संहतिः ७ संयोजनिमत्येकोऽर्थः । तत्र समसुविभक्तास्थ सुबद्धसन्य सुनिविष्टमांसशोगितं सुसंहतं

गङ्गाधरः—अतोऽष्ट्रसारेभ्यो विपरीता भिन्नलक्षणयुक्ता असाराः। मध्यैः सारविशेपैरेकद्विसारलक्षणेतरसारलक्षणेमेंध्यानां मध्यसाराणां गुणविशेषाः तदेकद्विसारगुणेतरगुणविज्ञेपा व्याख्याताः। एतेन असारा अल्पवला अल्पायुपश्च भवन्ति । मध्यसारा मध्यवला मध्यायुपश्च भवन्ति इति वोध्यम् ॥ ९६ ॥

गङ्गाधरः—एतद्पृसारादीनामतिवलादिवचने संशयमाह—कथमित्यादि । वलवानिति उपचितवलवान्, महावलोऽतिशयवलवान्, दुर्व्वलः क्षीणवलः, अल्पवलस्तु स्वाभाविकाल्पलात् भेदः। मोहं दर्जयितुमुत्तरमाह—दृश्यन्ते ह्यल्पेत्यादि । अतश्र शरीरमात्रदर्शनादेवातिवलादीनां शानाभावात् सिद्धि-भैवति सारतः परीक्षा इत्युक्तम् । सारतः परीक्षां विना पिपीलिकाभारवहनं न हि शरीरमात्रदर्शनात् महावलकानेन भवति ॥ ९७ ॥

<u> गङ्गाधरः</u>—अथ संहननतश्चातुरपरीक्षामाह—संहननतञ्चेत्यादि । संहननं विवरीतुं तत्पर्यायमाह—संहननमिति। समस्विभक्तेत्यादि। समं यथा-योग्य सुष्ठ विभक्तमस्थि यत्र तत्, सुष्ठू वद्धाः सन्धयो यत्र तत्, सुष्ठू निविष्टे : शब्देन नियमनं निपेधयति । मध्यानामिति स्तोकसाराणाम् । मध्यैः सारविशेपैरिति ये यत्र सम्भवन्ति सारास्तथा सारम्तेरित्यर्थः। उपचितत्वादिति स्थूलत्वात्। महाशरीरत्वादिति

^{*} सङ्घात इति वा पाठः ।

श्ररीरिमत्युच्यते । तत्र सुसंहतश्ररीराः पुरुषा वलवन्तो विपर्थ्ययेणाल्पवलाः प्रवरावरमध्यत्वात् संहननस्य मध्य-वला भवन्ति ॥ ६८ ॥

प्रमाणतश्चेति । श्रीरप्रमाणं पुनर्यथास्वेनाङ्गुलिप्रमाणेन उपदिश्यते, उत्तेधविस्तारायामैर्यथाक्रमम् । तत्र पादौ चतु-ईशाङ्गुलौ, जङ्को त्वष्टादशाङ्गुले षोड़शाङ्गुलिपरिचिपे च, जानुनी चतुरङ्गुले षोड़शाङ्गुलिपरिचिपे च, त्रिंदशङ्गुलिपरिचिपावष्टा-

ंमांसशोणिते यत्र तत् सुसंहतं शरीरम्। सुसंहतशरीरगुणमाह—तत्रेत्यादि। वलवन्त इति अल्पमध्यवल्लभिन्नवलाः। विषय्ययेण असुसंहतशरीरा असुसंहननन्तु सुसंहननभिन्नरूपं किश्चित्संहतशरीरतात्। प्रवरावर-मध्यतात् संहननस्य प्रवरः सुसंहननलक्षणवत्ता, अवरस्तद्विपय्ययलक्षणवत्ता न सुसंहननलक्षणवत्ता नासुसंहननलक्षणवत्ता ताभ्याश्च मध्यतात् मध्यमवला भवन्ति इति युक्तिः॥९८॥

गङ्गाधरः—अथ प्रमाणतः परीक्षामाह—प्रमाणतःचेत्यादि । यथास्वेन स्व-स्वाङ्गलिप्रमाणेन । उत्सेध इत्युच्तः, विस्तार इति विस्तीर्णवात्, आयाम इति दैध्यति । स्वेन स्वेनाङ्गलीमानेन पादी चतुईशाङ्गली । सुश्रुते तु स्वैरङ्गालमानैः पादाङ्गलप्रदेशिन्यौ द्वरङ्गलायते । पदिशान्यास्तु मध्यमानामिकाकनिष्ठाः यथोत्तरं पश्चमभागहीनाः । चतुरङ्गलायते पश्चाङ्गलविस्तृते पपदपादतले । पञ्च-चतुरङ्गलायतिवस्तृता पाष्टिणश्चतुईशाङ्गलायतः पाद इति सुश्रुतः । जङ्गे वृष्टा-दशाङ्गले, पोइशाङ्गलपिरिक्षपे पोइशाङ्गलपिरणाहे । अष्टादशाङ्गला जङ्गा भ ,ति सुश्रुतः । किन्तु चतुईशाङ्गलपिरणाहानि पादगुल्फजङ्गाजानुमध्यानीति वचनेन विरोधेऽपि दीर्घायुद्धव्याघाताभावो वोध्यः । जानुनी चतुरङ्गले

श्वतिप्रमाणशरीरस्वात् । पिपीलिकाभारहरणविद्वितं स्त्रल्पा पिपीलिका यथा सारशरीरस्वेन महान्तं . भारं नयन्ति, तथान्ये कृशशरीराश्चेत्यर्थः । सङ्घात इति निविद्यन्धान इत्यर्थः ॥ ८८—९८ ॥ चक्रपाणिः—प्रमाणतश्चेत्यादिना प्रशस्तं प्रमाणमङ्गावयवानामित्याह । पादौ उत्सेधेन चत्वारि, विस्तारेण पट्, देध्येण चतुर्दशाङ्गुलानीति यथाक्रमं भवतः । जङ्घा जान्वध उच्यते । दशाङ्गुलावृरू, षड़ङ्गुलिद्धि वृषणावष्टाङ्गुलिपरिणाही, शेफः पड़ङ्गुलिद्धि पञ्चाङ्गुलिपरिणाहम, द्वादशाङ्गुलिपरिणाहो भगः, षोड़शाङ्गुलिविस्तारा कटी, दशाङ्गुलं वस्तिशिरः, द्वादशाङ्गुल-मुदरं दशाङ्गुलिविस्तीर्णः च, दशाङ्गुलिविस्तीर्णं द्वादशाङ्गुलायामे पाश्वें, द्वादशाङ्गलं स्तनान्तरम्, द्राङ्गुलं स्तनपर्यन्तम्, चतु-विवैशत्यङ्गुलिविशालं द्वादशाङ्गुलोरसेधमुरः, त्राङ्गलं क हृदयम्, त्राष्ट्राङ्गली रकन्धी, पड़ङ्गुलावंसी, षोड़शाङ्गुली वाहू, पञ्चदशा-

पोड़शाङ्गलपरिणाहे। त्रिंशदङ्गलिपरिक्षिपो त्रिंशदङ्गलिपरिणाहो ऊरू, अष्टा-दशाङ्कुलौ दैर्घ्ये ऊरू भवतः। द्वात्रिंशदङ्गु लपरिणाहावूरू इति सुश्रुतो मिलितोर्-पड़ङ्ग्रलिदीघौ द्वयाभिप्रायेण जङ्घायामसमावृद्ध इति सुश्रुतः। अष्टाङ्ग लपरिणाहौ । द्व्रङ्गलानि रपणिचवुकद्शननासापुरभगकणेमूलनयना-न्तराणि। शेफः पङ्ङ्गुलिदीघं पञ्चाङ्गुलिपरिणाहम्। शेफः शिक्नः। चतुरङ्ग-ला।न मेहनवदनान्तरनासाकर्णललाटग्रीबोच्छायदृष्ट्यन्तराणि इति सुश्रुतः। द्वादशाङ्गुलिपरिणाहो भगः। भग इति स्त्रीलिङ्गम्। द्वादशाङ्गुलानि भगविस्तार-मेहननाभिहृदयप्रीवास्तनान्तरमुखायाममणिवन्धकोष्टस्थौल्यानीति पोड़शाङ्कुलिविस्तारा कटी, (अष्टादशाङ्कलमाना) तत्प्रमाणा स्त्रीश्रोणिरिति। दशाङ्कुळं वस्तिशिरः। वस्तिशिर इन्द्रवस्तिः। इन्द्रवस्तिपरिणाहांसपीठकूप-रान्तरायामः पोड़शाङ्गुल इति सुश्रुतः। द्वादशाङ्गुलसुदरं दशाङ्गुलिविस्तार्म्। दशाङ्गलिविस्तीणे द्वादशाङ्गलायामे पास्त्री। पास्त्री इति द्वे पास्त्री प्रतिपास्त्रम् उक्तमानं वोध्यम्। द्वादशाङ्गुलं स्तनान्तरम्। स्तनान्तरं स्तनतरम्। द्वाङ्गुलं स्तनपरयम्तम् स्तनान्तदेशः। चतुविवैशत्यङ्गुलविशालं द्वादशाङ्गुलोत्सेधमुर इति वक्षः। तत्र त्रप्रङ्गुलं हदयम्, हदयं जीवात्मधारणस्थानम्। ' सुश्रुतश्र अष्टादशाङ्कुलविस्तीणेमुर इत्याह । अष्टाङ्कुलौ स्कन्धौ । मतिस्कन्धमप्टाङ्कुलम् । जानुजङ्घोरुसन्धिपरिणाहपरिमाणञ्च यदुच्यते, तन्मध्यस्थानस्य, तेन सह परिक्षेपः . परिणाहः । परिणाहमानेषु जङ्घादिषु मध्यस्थानमेतत् झेयम् । कढ्या उत्सेधपरिमाणं नोक्तम्, तस्या उत्सेधस्य ऊंर्वादिसन्धित्वेन तस्याः पृथगुत्सेधप्रमाणस्य अविद्यमानत्वात्। प्रवाहुरंसादर्बीक् कफोणि-

क्ष्यङ्कलिमिति चकः ।

ङ्गुलो पाणी, इस्तो द्वादशाङ्गुलो क्ष्म, कचावप्टाङ्गुलो, त्रिकं द्वादशाङ्गुलोत्सेधम्, अप्टादशाङ्गुलोत्सेधं पृष्ठम्, चतुरङ्गुलोत्सेधा द्वाविंशत्यङ्गुलिपरिणाहा शिरोधरा, चतुर्विवंशत्यङ्गुलिपरिणाह-माननम्, पञ्चाङ्गुलमास्यम्, चिवुकोष्ठकणीविमध्यनासिकाललाटं चतुरङ्गुलम्, षड्ङ्गुलोत्सेधं † द्वातिंशदङ्गुलपरिणाहं शिर इति पृथक्रवेनाङ्गावयवमानमुक्तम्।

पहडूळावंसौ । अंसो भुजस्योपरिभागः, स च पत्येकं पहडूळः । पोड़शाङ्ग्ळौ वाह्। प्रतिवाहु पोइशाङ्गुलमानम्, तेन द्वात्रिंशदङ्गुलिमानौ अजाविति सुश्रुतो द्विवाहुमानं मिलितं लिखितवान्। पश्चद्शाङ्गलौ पाणी। पाण्योः मत्यकः पश्चदशाङ्कुलिमानम्। इस्ती द्वादशाङ्कुली। पाणि वडनेयिला हस्तः द्वादशाङ्कुल इति सपाणिः सप्तविंशत्यङ्ग्लः, स च सवाहुस्रयश्रतारिंशदङ्ग्लः । सुश्रुतस्तु स-पाणिहस्ताभिपायेण चतुन्त्रिंशत्यङ्गुलो हस्त इत्युक्तवा तत्र मणिवन्यक्र्पेरान्तरं षोइशाङ्गलम्। तलं पद्दृष्टदीर्घं चतुरङ्गलविस्तारम्। अद्धेपञ्चाङ्गले पदेशिन्य-नामिके। इति, मध्यमावधितलदेशतोऽधस्तात् अद्वोङ्गलावधि पदेशिनीति पदेशिनीदेशे तलम्छेपङ्कुलं अङ्गुष्टान्म्लपदेशिन्यन्तरालं द्विपञ्चाङ्गलमङ्गुष्टम्लञ्च मिणवन्धाद्द्धं मद्धाङ्कुलमिति पद्शिन्यग्रपय्यन्तं कूर्परावधिहस्तश्रत्विक्षरासङ्गल इति सुश्रुताभिप्रायः। तत्र सार्द्धत्रप्रङ्गलौ कनिष्ठाङ्गुल्डौ। मध्यमाङ्गुली पश्चाङ्गलेति चोक्तम्। कक्षावण्टाङ्गंलौ। प्रतिकक्षपपृाङ्गलपानम्। कक्षोऽंसाघोभागः। ित्रिकं द्वादशाङ्कोत्सेयम् । त्रिकं कटप्रधस्त्रप्रिकस्थानम् । अष्टादशाङ्ग्कोत्सेधं पृष्टम्। चतुरङ्गुलोत्सेधा द्वाविं शत्यङ्गुलिपरिणाहा शिरोधरा। अत्र शिरोधरा चतुर्विशत्यङ्गुलिविस्तारपरिणाहं मुखग्रीविमति सुश्रुतः। अतएत चतु विर्वशसङ्खि विस्तारपरिणाहमाननभिति वोध्यम् । तत्र पञ्चाङ्गुलमास्यम् । चिवुकेत्याद्। चिवुकं चत्रङ्गुलम्, ओष्ठो चतुश्रत्रङ्गुलौ, कणौ चतुश्रत्रङ्गुलौ, अक्षिमध्यदेशौ चतुश्रतुरङ्गुळौ, नासिका चतुरङ्गुळा, ळळाटं चतुरङ्गुळमित्यथें। तत्र पर्यन्तः। प्रपाणिः कफोण्यधस्तात्। त्रिकमिति गुदिस्फक्कटीकपालाईपर्यन्तम्। चित्रुकञ्च ओष्टश्च कर्णों च अक्षिमध्यञ्च नासिका च छलाटञ्च प्रति प्रति चतुरङ्गुलम् । पङ्जुलोत्सेघं शिर

[•] दशाङ्गुलावित्यन्यः पाठः ।

[†] पोढ़शाङ्खलोत्सेधमिति चकः।

केवलं पुनः श्ररीरमङ्गुलिपव्याणि चतुरशीतिस्तदायाम-विस्तारसमं समसुच्यते । तत्रायुर्वलमोजःसुखमैश्वर्यं वित्ता-नीष्टाश्चापरे भावा भवन्त्यायत्ताः प्रमागावति श्रारे, विपर्ध्यय-स्त्वतो हीनेऽधिके वा ॥ ६६ ॥

श्रवणापाङ्गान्तरं पञ्चाङ्ग्लम् । त्रिभागाङ्ग्रलिविस्तारा नासापुटमर्थ्यादा । नयन-त्रिभागपरिणाहा तारका। नवमस्तारकांशो दृष्टिः। पङ्कुलोत्सेधं द्वात्रिंशदङ्कल-परिणाहं शिरः। तत्र सुश्रुत उवाच। केशान्तमस्तकान्तरमेकादशाङ्ग्लम्। भस्तकादवडुकेशान्तो दशाङ्क्छः। कर्णावदुन्तरं चतुर्देशाङ्क्छमिति।

अङ्गपमाणमुपसंहरति—केवलं पुनरिति। एकीकृत्य कृत्सनं शरीरं पुनरङ्गुलिपन्वीणि चतुरशीतिः। सुश्रुते तु सर्विशमङ्गुलिशतं पुरुषायाम इतीति। तत्राङ्ग लितोऽत्र पन्वेणो दैध्यिं भेदोऽस्तीति न विरोधः। तदायाम-विस्तारसमिमित तचतुरशीतिपन्वेमितं शरीरमायामविस्ताराभ्यां समं तुल्यं सममुच्यते, दैध्ये च चतुरशीतिपर्व्वमितं प्रसारे च चतुरशीतिपर्व्वमितमिति भावः। तत्र प्रमाणवति समसंबे शरीरे आयुर्दीर्घायुः इष्टाश्चापरेऽशोकादयो भावा आयत्ता अधीना भवन्तीत्यर्थः। विषट्ययस्तु हीने उक्तपत्यङ्गपमाणतो हीनमगाणे अधिकमगाणे च शरीरेऽल्पायुरादयो भवन्ति। प्रत्यक्षप्रमाणं यस्य नोक्तरूपं किन्तु केपाश्चिदङ्गानामुक्तमानं केपाश्चिदङ्गानां नोक्तमानं हीनमधिकं वा तादशशरीरे मध्यायुरादयः स्युः। सुश्रुतेऽष्युक्तं-पश्चित्रंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु पोड़के। समलागनवीय्यो^९ तौ जानीयात् कुशलो भिपक्। देहः स्वैरङ्गुलै-रेव यथावदनुकी तितः। युक्तः प्रमाणेनानेन पुमान् वा यदि वाङ्गना। दीर्घे-मायुरवासोति वित्तश्च महद्द्छिति। मध्यमं मध्यमैरायुर्वित्तं हीनैस्तथावरम्। इति। अत्र हीनैरिति उक्तप्रमाणत्यागैन्यू नैरिधकैवेर्त्यथी लभ्यते। इति पृष्ठमनु स्रीवाया उपिर ज्ञेयम् । केवलमिति पादतलात् प्रभृति शिरःपर्व्यन्तं चतुरशीत्यङ्गुलं भवति, एवं सार्द्धत्रिहस्तप्रमाणशरीरत्वं स्वहस्तेन शरीरस्य भवति। अत्र च प्रत्यवयवीत्सेधेन चतुरक्षीत्यञ्ज्ञुलाद्धिकं यत् क्षरीरं भवति, तद्वयवानामवयवान्तरदेध्यीनुप्रविष्टानां प्रहणात् । तेन प्रत्यवयवदैष्येमानेन न चतुरशीत्यङ्कलं गणनीयं किन्तु समुदितमेव शरीरम् । तत्र पादस्याङ्कलानि चत्वारि, जङ्घाया अष्टादश, जानुनश्चत्वारि, शिरसः पट्, एवं चतुरशीत्यङ्गुलानि घटन्ते । सुश्रुतेन समं योऽत्र मानविरोधः, सोऽत्राङ्गुलिमानभेदात् शमयितन्यः। तत्र हि सर्विशमङ्गुलिशतं पुरुप-यानमुक्तम् । तेन तत्राङ्गिलमानमेवार्षं ज्ञेयम् । आयासविस्तारसममिति यथोक्तप्रस्यवय वायासः

सारः यतश्चेति । सात्म्यं नाम तद् यत् सातःवेनोपयुज्य-मानमुपशेते । तत्र ये घृतचीरतेलमां सरससातः याः सर्व्यरस-सात्म्याश्च, ते वलवन्तः क्लोशसहाश्चिरजी विनश्च भवन्ति ।

अन्यद्प्यायुष्पतां लक्षणमुक्तं मुश्रतेन। तद यथा। महापाणिपादपाश्व-पृष्ठस्तनाग्रदशनवदनस्कन्धललाटं दीर्घाङ्गलिपन्नीच्छ्वासप्रेक्षणवाहुं विस्तीणं-भ्रूस्तनान्तरोरस्कं इस्वजङ्घामेद्यीवं गम्भीरसत्त्वस्वरनाभिमनुच्चैर्वदस्तन-मुपचितमहारोमशकण पश्चान्मस्तिष्कं स्नातानु लिप्तं मृद्धानु पूच्च्या विशृष्यमाण-शरीरं पश्चाच विशुष्यमाणहृद्यं पुरुषं जानीयाद् दीर्घायुः खल्वयमिति। तमेकान्तेनोपक्रमेत। एभिर्छक्षणैविपरीतैर्ल्पायूर्मिश्रैर्मध्यमायुरिति। भवन्ति चात्र। गृहसन्धिसरास्त्रायुः संहताङ्गः स्थिरेन्द्रियः। उत्तरोत्तरसक्षेत्रो यः स दीर्घायुरुच्यते।। गर्भात् प्रभृत्यरोगो यः शनैः समुपचीयते। शरीरङ्गान-विकानैः स दीर्घायुः समासतः ॥ मध्यमस्यायुपो कानमत ऊद्ध निवोध मे । अधस्तादक्षयोयंस्य लेखाः स्युर्व्यक्तमायताः। द्वे वा तिस्रोऽधिका वापि पादौ कर्णो च मांसलौ। नासाग्रमृद्धेश्च भवेद्द्धे लेखाश्च पृष्ठतः। यस्य स्युस्तस्य परममायुभेवति सप्ततिः ॥ जवन्यस्यायुपो बानमत ऊद्ध्ं निवोध मे । इस्वानि यस्य पर्वाणि सुमह्चापि मेहनम्। तथोरस्यवलीदानि न च स्यात् पृष्ट-मायतम् । ऊद्ध श्र श्रवणे स्थानान्नासा चोचा शरीरिणः । इसतो जल्पतो वापि दन्तमांसं महश्यते। प्रक्षते यथ विभ्रान्तं स जीवेत् पश्चविंशतिम्।। इति। एतानि च लक्षणानि न चानेनाचार्येणोक्तानि अङ्गप्रमाणतः परीक्षा-प्रकरणलात् ॥ ९९ ॥

गङ्गाधरः—क्रमिकलात् परीक्षामाह—सात्म्यतश्चेत्यादि । सात्म्यं नाम-त्यादि । सात्त्येन सत्ततोपयोगेन यदुपशेते उत्तरकालानुवन्धेन सुलमावहति तत् सात्म्यम् । द्रन्यविशेषसात्म्यात् वलविशेषं दर्शयति—तत्रेत्यादि । घृतादि-सात्म्याः पुरुषाः सात्म्यनिमित्तत इति वक्ष्यमाणेनान्वयात् वलवन्त इत्यादयो

विस्तारयुक्तम् । किंवा, यावदायामेन चतुरशीत्यङ्कुलम्, तावद् यदि विस्तृतवाहुद्वयप्रमाणेन विस्तारेण च शरीरं भवति, तदा आयामविस्तारसमं भवति । तत्रेति यथोक्तप्रमाणवित शरीर इति योजनीयम् । हीन इति हीनप्रमाणे । एवमधिक इति अधिकप्रमाणे ॥ ९९ ॥

चक्रपाणिः—सात्म्यतरचेत्यत्र 'सात्म्य'शब्देन शौकिकसात्म्यमुच्यते, प्रकृतिसात्म्यादीनां

रुज्ञसात्स्याः पुनरेकरससात्स्याश्च ते प्रायेगाल्पवलाश्चाक्केश-सहारचाल्पायुषोऽल्पसाधनारच भवन्ति । व्यामिश्रसारम्याश्च ये, ते सध्यवलाः सात्म्यनिमित्ततो भवन्ति ॥ १००॥

सत्त्वतर्चेति। सत्त्वमुच्यते मनः। तच्छरीरस्य तन्त्रकमात्म-संयोगात् । तत् त्रिविधंवलसेदेन प्रवरं मध्यसमवरमिति । अतश्च प्रवरसध्यावरसत्त्वाश्च पुरुषा भवन्ति। तत्र प्रवरसत्त्वाः सत्त्वसाराः सारेषूपदिष्टाः ; खल्पश्रीरा द्यपि ते निजागन्तुनिमित्तासु

भवन्ति इत्यर्थः। सात्स्यनिमित्तत इत्यनेन संहननादिनिमित्ततो वळं व्यव-च्छिद्यते। रुक्षसात्म्याः पुनरित्यनेन ये इत्यनुवर्त्तते। ये रुक्षसात्म्या ये चैकरससात्म्यास्ते प्रायेणाल्पवलादयः स्युः, सात्म्यनिमित्तत इत्यप्यत्र योज्यम् । मायेणेत्यनेन कदाचिद्पि मध्यवलादयोऽपि भवन्ति, अल्पसाधना अल्पक्रिया-निर्वाहकाः स्तरामरुपवलादिलात्। व्यामिश्रसात्म्याश्चेति च-शव्दः पुनरर्थे। च्यामिश्रसात्स्याः मिश्रितघृताद्यन्यतमसात्स्या रुक्षसात्स्याश्रीकरससात्स्या वा ते मध्यवला मध्यक्षेशसहा मध्यायुपो मध्यसाधना इत्यर्थादेव हो यम् ॥ १००॥

गङ्गाधरः - क्रमिकलात् सत्त्वतश्चातुरपरीक्षां दर्शयति - सत्त्वतश्चेत्यादि। सत्त्वमुच्यते मन इत्यादि । तदिति मनः शरीरस्य तन्त्रकं नियामकं, कुत इत्यत आह—आत्मसंयोगात्, आत्मना सह पनसो नित्यसंयोगात्। तन्मनस्त्रिविधं वलभेदेनेति। वलभेदमाह-प्रवरमित्यादि। प्रवरवर्छं मनः, मध्यमवळं मनः, अवरवर्छं मन इति त्रिविधम् । अतः भवरादिमनस्तः प्रवरसत्त्वा मध्यसत्त्वा अवर-संच्वाश्र पुरुषा भवन्ति । प्रवरसच्वादीन् क्रमेण लक्षयति—तत्रेत्यादि । प्रवर-सत्त्वाः प्रवरं प्रवरवलं सत्त्वं येपां ते तथा, ते सत्त्वसाराः सारेष्वष्टसु मध्ये स्मृति-मन्तः इत्यादिनोपदिष्टाः । ननु ते ज्ञायन्ते च कैः कर्म्मभिरित्यत आह—स्वल्पे-त्यादि। हि यस्मात् स्वल्पशरीरा अपि ते प्रवरसत्त्वाः पुरुषा महतीष्त्रपि पीड़ासु

भेपंजादिपरीक्षरेव परीक्षितत्वादिति ज्ञेयम्। अल्पसाधना इत्यल्पभेपजाः; एकरससान्म्यानां पञ्च रसा असात्म्यत्वेनापथ्या इति भावः॥ १००॥

हि चक्रपाणिः — तन्त्रकमिति प्रेरकं धारकञ्च। ते सारेपूपदिष्टा इति य एव सत्त्वसारास्त एव

महतीष्विप पीड़ाखव्यथा दृश्यन्ते सत्त्वगुग्वेशेष्यात्। मध्य-सत्त्वास्तु अपरानातमन्युपनिधाय ः उपप्रम्भयन्त्यातमनात्मानं परैर्वापि संस्तभ्यन्ते। होनसत्त्वास्तु नात्मना न च परैः सत्त्ववलं प्रतिगृह्यन्ते उपष्टमभिष्यतुम्। महाश्ररीरा ह्यपि ते स्वल्पानामिप वेदनानामसहा दृश्यन्ते, सन्निहितभयशोकलोभमोहमाना रौद्र-भैरविद्यवीभत्सिवक्वतसंकथास्विष च पशुमानुषमांसशोगितानि चावेच्य विषादवैवर्ण्यमूच्छोन्मादभ्रमप्रपतनानामन्यतममवाष्नु-वन्त्यथवा मरग्रामिति ॥ १०१॥

अव्यथा नातिपीड़ावन्तो दृश्यन्ते । निजागन्तुनिमित्तास्त्रितिपदेन मानसपीड़ामु सन्यथा दृश्यन्ते इति रूयापितम्। ननु कुतस्तथा दृश्यन्ते इत्यत आह—सत्त्व-गुणवैशेष्यादिति। सत्त्वस्य मनसः सारत्वे गुणविशेषवत्त्वात्। अन्यथा तत्सारतं न स्यात्। मध्यसत्त्वानां लक्षणान्याह—मध्यसत्त्वास्त्वत्यादि। अपरान् स्वेतरान् प्ररुपान् आत्मनि स्वस्मिन् उपनिधाय आत्मीकृत्यात्मना मनसात्मानं स्वप्नुपष्टमभयन्ति अवरोधयन्ति मध्यसत्त्वाः पुरुषा अथवा परैः .स्वेतरैः पुरुषैस्तदात्मनि उपनिधायात्मीभूय वा संस्तभ्यन्ते अवरुध्यन्ते । हीन-सत्त्वास्तु पुरुषा आत्मना न स्वेनापि न वा परैरथीत् स्वमनःकिएतप्रवोधन-च्यापारैः प्रवोधनच्यापारविद्धः परैर्वा सह वलं मनोवलम् उपप्टम्भयितुमात्मन्यव-रोढुं न प्रतिष्टं हन्ते प्रवोधदानेन न स्वीकार्यन्ते। ननु कैस्ते ज्ञायन्ते इत्यत अाह-महाशरीरा ह्यपीत्यादि। हि यस्मात् महाशरीरा अपि हीनसत्त्वाः पुरुपास्तास्विप निजागन्तुनिमित्तास्वल्पासु पीड़ासु च मध्ये अल्पानामपि ्वेदनानामसहा असहनशीला दश्यन्ते, तथा हीनसत्त्वाः पुरुपाः सन्निहित-भयादयः स्युः। तथा रौद्रभैरवादिषु विपादाचन्यतममवाष्नुवन्ति। तथा पशुमात्रुपाणां मांसशोणितानि चावेक्ष्य विपादाद्यन्यतममवाष्त्रुवन्ति ; अथवा -रौद्रादिषु मरणं पशुमानुपमांसाद्यवेक्ष्य च मरणं प्राप्तुवन्ति । नतु सत्त्वसारतः

प्रवरा इति ज्ञेया इत्यर्थः । सत्त्वगुणवैशेष्यादिति सत्त्वगुणेन संस्तम्भितवेदनाविकारत्वाद्व्यथा इव दृश्यन्त इत्यर्थः । परात्मन्युपनिधायेति परं वेदनासहं हृष्टा, 'चेदयं वेदनासहस्तदाहमपि

मरात्मिन उपनिधाय इति चक्रसम्मतः पाठः ।

आहारशक्तितश्चेति। आहारशक्तिरभ्यवहरगाशक्तया जरगा-शक्त्या च परीच्या, वलायुषी ह्याहारायते ॥ १०२ ॥

व्यायामशक्तितरचेति। व्यायामशक्तिरपि कर्मश्चिया परीच्या, कर्म्मश्त्त्या ह्यनुमीयते वलं त्रिविधम् ॥ १०३ ॥

वयस्तश्चेति । कालप्रमाणापेचित्रणी 🕾 हि श्ररीरावस्था वयो-ऽभिधीयते । तद्वयो यथावस्थानभेदेन त्रिविधम्—वालं मध्यं एवातुरपरीक्षया सत्त्वसाराभावे सत्त्वसारलक्षणाव्यत्नन मध्यमसत्त्वे सत्त्वतः परीक्षा सिध्यति कथं पुनः सत्त्वतः परीक्षा विहिता इति चेन्न सत्त्वस्य सहज्-भवरावरमध्यलानां सारवचनेनैव लाभेऽपि जातोत्तरकाल भवरावरमध्यम-वलत्वानस्यापि वलदोपप्रमाणकानहेतुललाभायोक्तञ्च । इति सत्त्वतः परीक्षा च्याधितस्य ॥ १०१ ॥

गङ्गाधरः—अथ क्रमिकलादाहारज्ञक्तित आतुरपरीक्षामाह—आहारज्ञित-श्रेति। आहारशक्तिरभ्यवहरणशक्तिभीजनशक्तिस्तया, जरणशक्त्या च परीक्ष्या परीक्षितव्यानुमेया चाधिकाभ्यवहरणशक्त्याधिकवलायुपी अनुमेये, तथा मध्यमाभ्यवहारशक्तया मध्यमवलायुषी अनुमेये, अल्पाहारशक्त्या वलायुपी चातुमेये भवतः ; इत्यभिमायेणाह—वलायुपी इत्यादि । वलं त्रिविधं पवरं मध्यममवरश्च, आयुश्च त्रिविधं दीर्धं मध्यममलपश्च वोध्यम् ॥ १०२ ॥

गङ्गाधरः -- क्रमिकलाद् व्यायामशक्तितश्चातुरपरीक्षामाह -- व्यायामशक्तित-श्रेति। कम्भेशत्तया क्रियानिष्पादनव्यापारेण व्यायामशक्तिरपि परीक्ष्या, कर्मभात्तया हि यस्मात् त्रिविधं प्रवरमध्यमावरभेदेन त्रिविधं वलमनुमीयते न लायुरादिकमिति मन्तव्यम् ॥ १०३ ॥

गङ्गाधरः - क्रमिकलाद्वयस्तश्चातुरपरीक्षामाह-वयस्तश्चेत्यादि । शरीरा-वस्था वयोऽभिधीयते चेत् तदातुर्यावस्थापि वयो भवतीति तद्वारणायाह वेदनासहो भवामि' इति कृत्वा वेदनां सहत इत्यर्थः। जरणशक्त्या च इतिवचनात् यो गहु भुङ्क्ते परिणमति च, असावाहारक्षक्तिमानिहोच्यते, न तु गुणपरिमाणोऽत्र गृहीतः। कर्म्म भार-वहनादि, तत्र शक्तिः कर्मशक्तिः ॥ १०१—१०३ ॥

चक्रपाणिः— वयःस्वरूपमाह— कालेत्यादि । कालप्रमाणविशेषापेक्षिणीति कालप्रमाणविशेषेण

^{*} कालप्रमाणापेक्षिणी इत्यन्न कालप्रमाणविशेषापेक्षिणी इति चकः।

जीर्गिमिति। तत्र वालमपरिपकधातुमजातव्यञ्जनं सुकुमारम् अक्के शतहमसम्पूर्णवलं रलेष्मधातुप्रायमाषोड्शवर्षं, विवर्ष्कंमान-धातुग्रगं पुनः प्रायेगानवस्थितसत्त्वमात्रिंशद्वर्षमुपदिष्टम्। सध्यं पुनः समत्वागतवलवीर्थ्यपीरुपपराक्रमयहग्धारणस्मरग्ववन-विज्ञानसर्व्वधातुग्रगं वलस्थितमवस्थितसत्त्वमविशीर्थ्यमाणधातु-ग्रगं पित्तधातुप्रायमाषिप्टवर्षमुपदिष्टम्। अतः परं हीयमान-धात्विन्द्रयवलवीर्थ्य-पौरुपपराक्रमयहग्धारण्-स्मरग्ववचनविज्ञानं भ्रश्यमानधातुग्रगं वातधातुप्रायं क्रमेग् जीर्गमुच्यते आवर्ष-

कालम्माणापेक्षिणीति विशेषणम्। त्रिविधं व्याकरोति—वालमित्यादि । तत्र वालं वयो द्विविधमित्यभिमायेणाह—तत्रेत्यादि । अपरिपक्षधातुं सर्व्यतोभावेन अपकरसरक्तमांसादिधातुं तथा अजातव्यञ्जनम् । सकुमारं सुष्टुकौमार्य्यशालि । भ्रष्टेष्मधातुमायं श्रेष्मधानशरीरम् । ईदृशमापोइशवपं वालं वय एकं, ततः पोइशाव्दमारभ्य त्रिंशद्वप्ययंन्तं विवर्द्धमानधातुगुणं प्रायेणानवस्थित-सत्त्वं वालं वयस्तरुणं योवनसुपदिष्टम् । तच न श्रुष्मपायं न वा पित्त-पायम् । मध्यवय आह—मध्यमित्यादि । समलागतं विवर्द्धमानवलादिधातुगुण-परित्यागेन समत्वं स्थिरलमागता वलादयो यत्र तत् तथा । ग्रहणमर्थतो ग्रहणं, धारणं शव्दतः, वलस्थितं वलेन स्थितं न हीयमानवलम् । अवस्थितसत्त्वं न सनवस्थितं मनः । अविशीय्यमाणधातुगुणम् अक्षीयमाणधातुगुणं पित्तधातुमायं पित्तवहुलम् एवंभूतं त्रिंशद्वपीदृद्धं पष्टिवत्सरपर्य्यन्तं मध्यं वय उपदिष्टम् । अतः परं पष्टिवर्पत ऊर्द्धं हीयमाना धालादयो यत्र तत् तथा । भ्रश्यमानधातु-गुणं धातूनां क्रमेण वर्द्धमानवलादिलादयो गुणा भ्रश्यमाना भवद्भंशा यत्र तत् तथा । धातवः क्षीयन्ते विवर्द्धमानगुणहर्भनाश्च भवन्तीति हीय-

 धा गितमंवनीत्यथः। यथास्थूलभेदेनेतिवचनात्, पालबालतरायवस्थाभेदाद्धिकमि वयो भवतीति दर्शयति । वालो द्विविधः—अपिरिकधातुः आ पोइशवर्षोत्, तथा वर्द्धमानधातुः आ त्रिंशत्तमात् । तदेतयोबीलयोरपयुक्तत्वेन भेदमाह—तत्रेत्यादि । पोइशवर्षीयवालोऽल्पभेपजमृद्ध-भेपजत्वादिना शास्त्रे वक्तव्यः, तदुद्धं वालोऽपि नाल्पभेपजत्वादिना तथोपचर्यते । क्रमेणेति शतम् । वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमेतस्मिन् काले सन्ति चाधिकोनवर्षशतजीविनो मनुष्याः । तेषां विकृतिवज्जैः प्रकृत्यादिवलविशेषरायुषो लच्चणतश्च प्रमाणमुपलभ्य वयस्त्रित्वं

मानधासित्यनेन न पौनरुक्त्रम् । वायुमायं वायुवहुळं क्रमेण जीण वय उच्यते आवर्षशतम् । नन्न वर्षशतादृद्धुं किं न वय इत्यत आह—वर्षशतमित्यादि । आयुपः प्रमाणं खळ वर्षशतमेवास्मिन् काले किल्युगे इत्यन्ये तन्न शतायुवि पुरुषः, शतायुपः पुत्रपौत्रान् वृणीष्वेत्यादिश्रुतीनां सर्व्ययुगायुर्विषयतात् । अस्मिन् काले इत्यस्मिन् कल्पे, कालोऽल्परूपः इत्यपरे । वस्तुतस्तु आयुपः प्रमाणं खळ वर्षशतम् । तस्य प्रत्यक्षतः प्रमाणमाह—अस्मिन् काले सन्तीत्यादि । अस्मिन् काले चरकाधिष्ठितकालो यस्तस्मिन् कालेऽधिका वर्षशतजीविनो मनुष्याः सन्तीति चरकस्य प्रत्यक्षदृष्टं प्रमाणं वोध्यम् । विस्तरेण सद्युष्त-फल्ड्याख्यानेनैतद् व्याख्यातम् । ननु येषां न वर्षशतमायुस्तेषां वयसस्त्रैविध्यं कथं विभक्तव्यमित्यत आह—तेपामित्यादि । तेषां परीक्ष्याणां मनुष्याणां विकृतिवर्जीः प्रकृत्यादिवलविशेषेः प्रकृतिसारसंहननप्रमाणसात्म्यसत्त्वाहार-शक्तिव्यायामशक्तिवयोभिः पूर्वोक्तिवलविशेषेः प्रकृतिसारसंहननप्रमाणसात्म्यसत्त्वाहार-शक्तिव्यायामशक्तिवयोभिः पूर्वोक्तिवलविशेषेः प्रमाणं यस्य यत् तदुपलभ्य वयस्त्रिलं वयसः जातिस्त्रीयोक्तलक्षणतश्चायुपः प्रमाणं यस्य यत् तदुपलभ्य वयस्त्रिलं वयसः

नेकरेव पष्टिवर्पाद्तुं धात्वादिहानिरिति दर्शयति । अस्मिन् काल इति कलो । अथाधिकवर्पजीविनां कथं वयिक्तवं विभक्तव्यमित्याह—तेपामित्यादि । प्रकृत्याद्या दश परीक्ष्या अत्रैव
'प्रकृतिसार'' इत्यादिनोक्ताः । तत्र 'विकृतिवज्जेंः' इत्यनेन विकृतेः परित्यागः कृतः । तेन
प्रकृतिसारादीनां वलिक्षेपेः प्रवरावरमध्यभेदभित्तप्रकृत्यादिभेदेन कृतेः प्रवरावरमध्यरुपेरायुपः
प्रमाणं प्रवरावराद्वयप्रभय वयिक्तवं विभजनीयम् । एतेन यस्य प्रकृतिवलमुक्तमं इलेप्मप्रकृतेः
समप्रकृतेर्वा, तत्यायुर्दीर्घं भवति, हीने तु प्रकृतिवले हीनम् । एवं सारादायि इत्यम् । एवः
यः प्रकृत्यादीनां सन्वेपामेवोक्तमेन वलेन युक्तः, स शताधिकं जीवति । तेन तस्य विश्वतिवर्षाधिकं शतं ययायुरुपलभ्यते, तदा प्रवीक्तवयोविभागानुमानादापद्त्रिंशद्वपंणि स बालो
भवति, द्विसप्तिवर्पथ स मध्यः, शेपे तु बृद्धः । यस्तु प्रकृत्यादीनां मध्यमत्वेनात्पायुर्शितिपर्षोऽवधार्यते, स पञ्चविंशतिवर्पाणि वालः, पञ्चाशतं मध्यः, अतो बृद्ध इत्यादि विभजनीयम् । न
केवलं प्रकृत्यादिना आयुरवधार्यम्, किन्तु आयुर्लक्षणेरिष शरीरप्रतिवरहेः शारीरे वक्तव्येरित्याह—
आयुर्णे लक्षणतह्वेति । आयुर्लक्षणेनाि वयोऽवधार्य्यं बाल्यादिविभागः कर्त्तन्यः इत्यथंः,

विभजेत्। एवं प्रकृत्यादीनां विकृतिवर्ज्जानां भावानां प्रवरा-वरमध्यविभागेन वलविशेषं विभजेत्। विकृतिवलत्रेविध्येन दोषवलं त्रिविधमनुसिमीते। ततो भेषश्यस्य तीन्हणमृदुमध्य-विभागेन त्रेविध्यमेव विभव्य यथादोषं भेषज्यमवचारयेत्। आयुषः प्रमाणज्ञानहेतोः पुनिरिन्द्रयस्थाने जातिस्त्रीये च लच्चणान्युपदेन्त्यन्ते॥ १०४॥

त्रैविध्यं विभजेत्। विकृत्या तु नायुपः प्रमाणम् पळभ्यते स्वाभाविकं, परन्तिर्छलक्षणेनासाध्यसम् पळभ्यते। एवंप्रकारेण वयस्तश्चातुरं परीक्ष्यातुरस्य बल्प्यमाणविद्यानं दर्जयति—एविमत्यादि। एवमुक्तप्रकारेण विकृतिवर्ज्ञानां प्रकृतिसारसंहननप्रमाणसाम्ये सत्त्वाहारशक्तिव्यायामशक्तिवयसां भावानां प्रवरावरमध्यविभागेनातुरस्य वल्पविर्णपं प्रवरावरमध्यरूपं वल् विभजेत्। इत्यातुरस्य वल्प्यमाणविद्यानहेतोः परीक्षा दर्जिता। । दोषप्रमाणविद्यानहेतोः परीक्षा दर्जिता। । दोषप्रमाणविद्यानहेतोः परीक्षा दर्जिता। । दोषप्रमाणविद्यानहेतोरस्य व्यत्वेष्ठत्रैविध्येन विविध्वलेन तत्र विकारं हेट्दोपदृष्यत्यादौ पूर्वोक्तिन यस्य हीत्यादिनोक्तेन त्रिविधं प्रवरावरमध्यमेदेन त्रिधा दोप्यलं वातपित्तकपानां प्रवरावरमध्यवलम् स्वास्य तिक्षणमृदुमध्यविभागेन त्रैविध्यं विभव्य यथादोपं प्रवरावरप्यवलानुमानात् भेपजस्य तीक्ष्णमृदुमध्यविभागेन त्रैविध्यं विभव्य यथादोपं प्रवर्वलदोपं तीक्ष्णभेपज्यम् अवर्वलदोपं मृदुभेपज्यं मध्यवलदोपं मध्यभेपज्यमवचारयेत्। इत्यातुरस्य वलदोपप्रमाणविद्यानहेतोः परीक्षा दर्जिता। । अथातुरस्य परीक्षेत्यनुवर्त्तते। तेनायुपः प्रमाणविद्यानहेतोरातुरस्य इत्यादि। अत्रातुरस्य परीक्षेत्यनुवर्त्तते। तेनायुपः प्रमाणविद्यानहेतोरातुरस्य

अयञ्च स्तोकन्यूनाधिकशतायुपां वाल्यादिविभागः कर्त्तन्यः। येपान्तु विंशतिवर्पादि परमायुपो मानम्, न तेपां तदनुमानेन वयोभेदः, ते द्यशासमध्यावस्था एव भ्रियन्ते। प्रकृत्यादिविभागेन शारीरवलपरीक्षामुक्तामुपसहरित—एविभाग्वादि। दोपवलन्तु यथा शारीररूपदेशपरीक्षया परी- स्यम्, तदाह—विकृतिवलेत्यादि। शारीरवलदोपवलपरीक्षार्थं शारीरपरीक्षां प्रति ज्ञानमिभधाय पुनरायुःप्रमाणज्ञानार्थं शारीरपरीक्षामितिदिशति—आयुप इत्यादि। इन्द्रियेप्विति इन्द्रियस्थानाध्यायेषु। तत्रेन्द्रिये वर्णादिविकृत्या रिष्टरूपहसितमायुर्ज्ञातन्वम्, ज्ञातिस्त्रीये शारीरे च जनम् प्रतिबद्धः लक्षणदिविकृत्या शिष्टर्षा

कालः पुनः संवत्तरश्चातुरावस्था च द्विधा । तत्र संवत्तरो द्विधा त्रिधा षोढ़ा द्वादश्धा। भूयश्चातः प्रविभव्यते तत्तत्-कार्यमभिसमीच्य । तत्र खलु तावत् पोढ़ा प्रविभव्य कार्यमुप-देच्यते । हंमन्तो यीष्मो वर्षाश्चेति श्रीतोष्णवर्षलच्णास्त्रय ऋतवो भवन्ति । तैषामन्तरेष्वितरे साधारगालच्गास्त्रयः ऋतवः प्रावृट्शरद्वसन्ता इति । प्रावृङ्ति प्रथमः प्रवृष्टेः काल-

परीक्षा पुनरिन्द्रियेषु इन्द्रियस्थानेऽरिष्टेषु जातिस्त्रीये चाध्याये लक्षणान्युप-देश्यन्ते । इत्यातुरस्य परीक्ष्यविशेषस्य यथा परीक्षितन्यत्वं तदुक्तं भवति ॥१०४

गङ्गाधरः-अथ कारणादिषु परीक्ष्येषु मध्ये देशानन्तर्यात् परीक्ष्यविशेष-कालो यथा परीक्षितन्यस्तदाह—कालः पुनरित्यादि। चज्ञन्दः समुचय। द्विधेति अयनभेदात्। तयोः प्रयोजनाभावात् तस्याशितीये चोक्तलात् प्रति-नियतफलोक्तलाचात्र द्विविधत्वं न विष्टत्य त्रिधालादिकं विष्टणोति-भूयश्चात इत्यादि। भूय इति तस्याशितीये सर्व्यमुक्तं भूयो वहुलञ्चात्र पविभन्यते। त्रिधादिमतिनियतकार्यं वक्ष्यमाणं पोढालमित्रभागे । त्रिधा धम्मेस्यावान्तरतात् साधारणलाद् वा त्रिधालं दर्शयति—होमन्त इत्यादि । होमन्तादयस्वयो योग-रूढ़ाः, यौगिकत्वं दर्शयति—शीतोष्णेत्यादि । अत्र क्रमान्वयो वोध्यः । शीत-लक्षणो हिमन्तः उष्णलक्षणो ग्रीष्मः वर्पलक्षणा वर्षा इति त्रयः ऋतवः। तेषां हेमन्तग्रीष्मवर्षाणामन्तरेष्वभ्यन्तरेषु—इतरे संबान्तराः साधारणस्रुणा मन्द्शीतलक्षणा शरत्, मन्दोप्णलक्षणो वसन्तः, मन्द्रवर्षलक्षणा प्राष्ट्र इति त्रय ऋतव इति। त्रिषु च मन्दशीतोष्णवर्ष हक्षणसम्। नमु ते के इत्यतः प्रतिलोमतत्रयुक्तयाह-पाष्टर्शरद्वसन्ता इति। एतेन कार्त्तिकादग-थलारो मासा हेमन्तः शीतलक्षणः। फाल्गुनाद्यथलारो मासा ग्रीष्म उष्णलक्षणः। आपादादयश्रलारो मासा वर्षा वर्षलक्षणाः। तेपामन्तर्गता साधारणलक्षणा नातिशीतनात्युष्णरूपा हेमन्तान्तर्गता शरत कार्त्तिका-

. चक्रपाणिः—देशपरीक्षां समाप्य कालपरीक्षामाह—काल इत्यादि । संवत्सरोऽयनभेदेश द्विविधः, शीतोष्णवर्षभेदेन त्रिविधः, प्रतुभेदेन पोदा, मासभेदेन द्वादशधा, पक्षभेदाचमुन्धिंश-तिधा, प्रहरादिनाऽनेकधेति श्रेयम्। तत्तत्ं कार्र्यमित्ययनादिना सम्पाद्यं कार्र्यमित्यर्थः।

स्तस्यानुबन्धो हि वर्षाः। एवमेते संशोधनमधिकृत्य पड् ग्रहायणौ हो मासौ मन्दशीतोष्णौ। एवं साधारणलक्षणो नातिशीतनात्युष्ण-रूपो ग्रोष्मान्तर्गतो वसन्तः फाल्गुनचैत्रमासौ मन्दोष्णशीतलक्षणौ। एवं नाति-शीतनात्युरणरूपा वर्पान्तर्गता प्राष्ट्र आपादश्रावणौ हो मासो मन्द्वपेलक्षणौ। तदितरे च दिशो मासा हेमन्तग्रीप्मवर्पसंशा एव न लन्यसंशाः। तेपामन्तरेष्विति वचनेन कार्त्तिकाग्रहायणयोर्हेमन्तसंशावत् शरतसंहा, फाल्गुनचैत्रयोग्रेष्मि-संबावर् वसन्तसंबा, आपाद्श्रावणयोवेर्पसंबावत् पादृद्संबा, न तु शरदादि-संबीच न हेमन्तादिसंबीति शरदादिसंबया हेमन्तादिसंबानां वाधितत-वचनाभावात्। ननु कथं प्राष्ट्रद्भयते इत्यत आह—प्राष्ट्रहितीत्यादि। पाक हुट् छुट्टेः काल इति पृपोदरादिलात पारुट् इत्यभिपायेणाह प्रथम इति; अथवा मः प्रकृष्टो रुष्टेः काल इति प्रपोदरादिलाद् आकारागमेऽपि प्राष्ट्रः इत्यभिष्रायेणाह प्रष्टुष्टः काल इति । नन्वत्र प्राष्ट्रिप साधारणलं किमित्यत आह—तस्येत्यादि । तस्य प्रष्टप्टेः कालस्यानुवन्धोऽनु-रूपेण वन्धो वर्षा इति। नातिशीतनात्युष्णतात् साधारणतं ख्यापितम्। ननु तस्याशितीये पूर्विमुक्तं हेमन्तशिशिरवसन्तग्रीत्मवपशिरद इति, पड्रतव चक्ता अत्र लन्यथा कथमुच्यते इत्यत आह—एवमेते इत्यादि । एवमनयोक्त-रीत्या एते शरद्धेमन्तवसन्तग्रीष्मपाष्टद्वर्पाख्या ये पड्नतवो विभज्यन्ते ते संशोधनमधिकृत्यैव नत् चर्यामधिकृत्य : चर्यामधिकृत्य प्रनुरुक्तास्तस्याशितीये हिमशिशिरादयः पहिति भावः। नत् संशोधनं यदेशवमुक्तेषु पट्स्वेवक् पु विधीयते तदा तदात्मकलादेव हिमशिशिशादिरूपेण विभक्तेष्विप तत् संशोधनं सम्पद्यते न ह्ये वं विभक्ताः पड्टतवस्तथाविभक्तपड्डलतिरिक्तः कालो हि न साधारण इति अनतिशीतोष्णवर्षः। प्रावृपं विभजते—प्रावृद्धिःयादि। 'प्रथमप्रवृष्टः'-शब्देन भाषादश्रावणातुच्येते । एतच द्विमासत्वमृतुभेदकमादि कृत्वा शेपमासद्विकेन वर्पादयो यथाक्रमं ज्ञेयाः। अयञ्च ऋतुक्रमो न रसोत्परयादौ, किन्तु शरीरशोधने प्रवृत्तावेवेति दर्शयता 'संशोधन-मिषकृत्य' इत्युक्तम्, एवमेव च कमं सिद्धौ वध्यति—''प्रावृट शुक्रनभौ ज्ञेयौ शरहर्जसहौ पुनः।

वपस्थ मधुरचैव वसन्तः शोधनं प्रति"। अस्मिन्न्तुक्रमे शिशिरो नास्ति। ये तु व्रुवते— गङ्गाया दक्षिणे कूले वर्षा वहु भवित, तेन, तत्र प्राष्ट्रदादिक्रमः। गङ्गोत्तरकूले शीतं वहु भवित, तेन, तत्र हेमन्तिशिशिरो भवतः। वक्तं हि काश्यपेन—यत्—''भूयो वर्षति पर्जन्यो गङ्गाया दक्षिणे जलम्। तेन प्राष्ट्रद-वर्षाख्यो ऋत् तेषां प्रकृष्टिपतौ। गङ्गाया वसरकूले हिमवदम्बुसङ्गमे। भूषः शीतमतस्तेषां वसन्तिशिरावृत्" हति। एतश्च न, अत्र 'संशोधनमधिकृत्य' इति वचनात्। विभव्यन्ते स्वतवः। तत्र साधारणलच्योष्वृतुषु वमनादीनां प्रवृत्तिर्विधीयते निवृत्तिरितरेषु च। साधारणलच्या हि मन्द- श्रीतोष्णवर्षत्वात् सुखतमाश्च भवन्ति अविकल्पकाश्च श्रीरोष- धानाम्। इतरे पुनरत्वर्थशीतोष्णवर्षत्वाद् दुःखतमाश्च भवन्ति विकल्पकाश्च श्रीरोषधानाम्॥ १०५॥

संबत्सरातिरिक्तोऽस्तीति चेन्न तेषु पट्सु ऋतुषु न संशोधनविधिरेव चर्या-विधिनिपेधौ तु सम्भवतः। नतु किं हेमन्तशिशिरादितया विभक्तेषु संशोधन-विधिनिपेधौ न सम्भवत इत्यत आह—तत्रेत्यादि। साधारणलक्षणेप्यृतुषु अर्थात् त्रिषु शरद्दसन्तमाष्टर्षंबक्षेषु इतरेषु हेमन्त्मात्रसंखग्रीष्ममात्रसंबवर्षामात्र-संबक्षेपु निवृत्तिनिषेधो विधीयते इत्यन्वयः। एतौ तु न हेमन्तशिशिरादितया विभक्तेषु त्रिषु त्रिषु सम्पदेतते। तथा विभागो हि सहःसहस्यौ हेमन्तः, तप-स्तपस्यो शिशिरः, मधुमाधवौ वसन्तः स्यात् ; शुक्रश्चची तु ग्रीष्मः, नभोनभस्यौ वर्षाः, अश्वयुक्काक्तिकौ शर्रादति त्यनदिनाविध वोध्यम्। तथा विभक्ताना-मन्त्यान्त्यानामृत्नामादिगादिममास-सहितादिमादिमच्चेन्तिमान्तिम-मासरूप-द्विमासात्मको हो वं विभक्त ऋतुरिति। नुतु कथं साधारणलक्षणेषु वमना-दीनां प्रवृत्तिविधीयते निवृत्तिस्त्ततरे विवत्यत आह—साधारणेत्यादि । मन्दे-स्यादि । मन्दशब्दोऽरूपवचनः, शीतादिषु प्रत्येकमन्वीयते । सुखतमाः सुख-जनकतमाः प्राणिनां सम्बन्धे भवन्ति । शरीरौपधानां प्राणिनां शरीराणाम् औपधानाञ्चाविकल्पकाः भावान्तराकलपकाः क्रुतौपधानां गुणान्तराकरपकाः। हि यस्मात् तस्मात् साधारणस्भ्रणेषु वमनादीनां मर्रात्तिविधीयते। इतरे पुनरिति हेमन्तमात्रादिसंहकारत् त्रय ऋतवोऽत्यर्थशीतोष्णवर्षलात्। पौषमाघात्मकहेमन्तोऽत्यर्थशीतलाय् दुःखतमः, वैशाखजैराष्ठरूपो ग्रीष्मस्तत्यथोष्णलाद् दुःखतमः, भाद्राविवनरूपास्तु वर्षो अतिवर्षलाट् दुःखतमा भवन्तीति। तथालाच शरीरौपधानां विकल्पकाश्च ते भवन्ति। प्राणिनां शरीराणां भावान्तरकल्पकाः औषधानां संशोधनार्थं

यदि देशकृतोऽयं भेदः स्वात्, तदा तमेव भेदकं ब्रूयात्, न संशोधनम् । तेन, काश्यपोक्तदेश-भेदेव प्रावृद्धादिक्रमो न ताविद्दिश्वभिमतः । अविकल्पकाश्च शरीरौपधानामिति, न शरीरस्य कृत्रिमता आपित्तिगुणेन भेदकास्तथोषधस्य च न प्रमाणोत्मपीपक्षभेदकारका इत्यर्थः, विकल्पकास

भवत्यांतिशीतवाताध्मातमतिदारुणीभूतमवरुद्धदोषञ्च 🕫 । भेषजं संशोधनार्थमुष्ण्खभावमतिशीतोपहतत्वान्मन्द्वीय्यंत्वम् तस्मात् तयोः 'योगे संशोधनमयोगायोपपद्यते आपद्यते । श्रारीरमपि च वातोपद्रवाय ॥ १०६॥

श्रीषमे पुनर्भृशोष्णोपहतत्वाच्छरीरमसुखोपपन्नं भवत्युष्ण-कृतौपधानां गुणान्तरकल्पकाश्च भवन्तीति यस्मात् तस्माद्दमनादीनां निष्टत्ति-रितरेषु विधीयते इति ॥ १०५॥

गङ्गाधरः--ननु वर्थं हेमन्ताद्यो दुःखतमा विकल्पकाश्च शरीरौपधानां भवन्तीत्यत आह—तत्रेत्यादि। तेषु हेमन्तग्रीष्मवर्पाख्येषु त्रिप् ऋतुषु मध्ये हेमन्ते पौपमाचरूपे हि यस्मात् शरीरमतिमात्रशीतोपहतलात् असुखोपपन्नम् अतिशीत-वाताध्मातमतिमात्रकीतवाताभ्यां युतम् अतिदारुणीभूतमितरोक्ष्यककेशादि-मत्तया कठिनीभूतम् वरुद्धदोपम् अवरुद्धवातकफादिकं भवति इत्यतिमात्र-शीतोपहतलादिकं शरीरविकल्पकलोपदर्भनं तैश्रामुखोपपन्नत्वं दुःखतमलोप-दुर्शनम् । औपधानां विकल्पकत्वं दर्शयति—भेपजं पुनिस्त्यादि । संशोधनार्थ-मित्यनेन संशमनार्थमिप भेपजम् अतिशीतोपहतं मन्दवीर्यं स्थादिति सुच्यते। न तु तत् प्रतिपिध्यते । ननु मन्द्वीय्येत्वे लौपधानां का हानिरित्यत आह— तसादित्यादि। तसात् शरीरस्य शीतवाताध्मातलातिदारुणीभूतलावरुद्ध-दोपलादौपधस्य शीतोपहतत्वेन मन्द्वीरर्यलापनलाच तयोः पाणिनां शरीरौप-थयोः संयोगे उपसेवनेन संयोगे संशोधनं वमनादिक्रिया अयोगाय अमरत्त्रये **उपपद्यते । नन्वयोगे का हानि**रित्यत आह—शरीरमपि चेत्यादि । वातोपद्रवो वातजनित उपद्रवः ॥ १०६ ॥

गङ्गाथरः हैमन्तिकसंशोधने दोपं दर्शियला ग्रैष्मिकसंशोधने दोपं दर्भयति - ग्रीष्मे . पुनिरत्यादि । भृज्ञोष्णलोपहतलात् । शरीरं ग्रीष्मात्मका-भारीरीपधानामिति यदात्यविकावेनावश्यकर्तस्या भवन्ति वमनादयः, तदीपधस्य कृष्टिमगुणोप-

धानेन यथावद्यमाणेन, तथा शरीरस्य च विकल्पका भवन्ति ॥ १०५ ॥

चक्रपाणिः—यथा हेमन्तााद्षु इःखमस्वं भवति, तदाह्—तत्र हेमन्त इःयादि । आबद्द-

^{*} आबद्धदोपमिति चक्रसम्मतः पाठः।

वातातणध्मातमितिशिथलमत्यर्थप्रविलीनदोषम् । भेषजं पुनः संशोधनार्थमुण्यस्थावमेवात्युण्णानुगमनात् तीदणतरत्वम् आपद्यते । तस्मात् तयोः संयोगे संशोधनमितयोगायोपप्यते श्रिरमिष पिषासोषद्रवाय ॥ १०७॥

वर्षासु तु सेघजालावतते गूढ़ार्कचन्द्रतारे धाराकुले वियति पङ्कजलपटलसंवृतायामस्यर्थोपङ्कित्रश्रीरेषु भूतेषु विहतस्वभावेषु च केवलेष्वीषध्यामेषु तोयानुगतमारुतोपहतेषु ऽसुखोपपन्नम् उष्णवातातपाध्मातम् उष्णाभ्यां वातातपाभ्यां युक्तम् अति-शिथिलम् अत्यर्थं प्रविलीनदोपं प्रकर्पेण विलयनवन्तो द्रवीभावमापना दोपा यत्र तत् तथा भवति । इति ग्रीष्मस्यासुखतमलपदर्शनं शरीरविकल्पकलोप-दर्जनञ्च। भेपजविकल्पकलं दर्जयति—भेपजं प्रनस्त्यादि। मित्यनेन संशमनार्थञ्चोक्तमौषधं तीक्ष्णं भवतीति वोध्यम्। ननु कुतः इत्यत आह—उष्णस्वभाविमिति। संशोधनार्थं भेषजगुष्णस्वभावं न हि तत्स्वभावं विना संशोधनसमर्थं भवति तस्मात् तीक्ष्णतरत्वमुण्णानुगमनादापद्यते उष्णं तद्भेपजमिति भावः। तीक्ष्णतरसापन्नत्वे भेपजात् का हानिरित्यत आहं— तसादित्यादि। तसात् श्रीषमे उष्णाधिकस्वभावे शरीरस्योष्णवातातपा-ध्मातलातिजैथिल्यात्यर्थेमविलीनदोपलात् उष्णस्वभावेन संशोधनार्थभेषजस्य तदुष्णानुगमनेन तीक्ष्णतर्लापन्नलाच। तयोः शरीरसंशोधनाथौ पथयोः संयोगे उपसेवनेन संयोगे संशोधनं वमनादिक्रिया अतियोगायातिप्रष्टत्तये उपपद्यते । नन्वतियोगात् का हानिरित्यत आह- शरीरमपीत्यादि । पिपासया संहोपद्रवो वक्ष्यमाणस्तस्यै उपपद्यते इत्यन्वयः ॥ १०७ ॥

गङ्गाधरः—पारिशेष्यात् वर्षामु संशोधनदोषमाह—दर्षामु तित्यादि।
मेघानां जाळैः समूहरवतते व्याप्तेऽत एव गृहा अव्यक्ता दिवाको निशि
चन्द्रस्ताराश्च यत्र तिस्मन् धाराकुले मेघवर्षण जलानां धाराभिराकुले व्याप्त च वियति नभोमण्डले सति सत्याश्च भूमौ पङ्कजलानां पटलेः संद्रतायां मुतरां तत एव सत्मु च भूतेषु प्राणिषु अल्थ्योपहिन्नशरीरेषु विहतस्वभावेषु च।

दोषमिति अतिबद्धदोपम् । र योरिति यथोपक्रमशारिभेषजयोः । तोयस्य तोयदानुगतमार्तस्य

संसर्गाइ ग्रह्मवृत्तानि ७ वसनादीनि भवन्ति ग्रहंसमुत्थान-तमानि च श्रीराणि। तस्माइमनादीनां निवृत्तिर्विधीयते वषान्तेष्वृतुषु न चेदात्यिके कर्मा ॥ १०८॥

श्रात्यिके पुनः कर्माणा कासमृतुं विकल्प्य कृत्रिमग्रणोपधानेन यथर्तुग्रणविपरीतेन भेपजं संयोगसंस्कारप्रमाणकेवलेषु कृत्स्नेषु औपध्यामेप औपधसमृहेषु तोयान्जगतमारुतोपहतेषु मेधैर्ट प्टं
तोयमनुगतेन मारुतेन उपहतेषु सत्सु संसर्गाद्वपसेवनेन तथाभूतप्राणिशरीरे
तथाभूतौपधसंयोगात् ग्रुरुपष्टत्तानि वमनाद्योपधानि भवन्ति तेषां शरीरलाधवकरी प्रष्टत्तिन भवित वमनादीनामिति भावः। तेन तु का हानिरित्यत
आह—गुरुससुत्थानतमानि चेत्यादि। गुरोगौ रवगुणस्य समुत्थानं यत्र
तर्गुरुससुत्थानम् अतिशयेन तथिति गुरुसमुत्थानतमानि शरीराणि। तस्मादुक्तात् ऋतुत्रये दोपात् वर्षाभागान्तेषु वर्षामु पूर्व्यभागं प्राष्टद्कालं विहायोत्तरभागरूपवर्षान्तेषु त्रिष्टतुषु तेन हेमन्तमात्रग्रीष्ममात्रवर्षामात्रेषु ऋतुषु त्रिषु
वमनादीनां निष्टत्तिर्विधीयते। नन्वतेषु वर्षाभागान्तेष्टतुषु त्रिषु यद्यात्यिको
वपाधरुत्पचते संशोधनसाध्यश्च भवति तत्र तदापि किं वमनादिनप्रतिन्
विशीयते इत्यत आह—न चेदात्यिके कर्मोति। आत्यिके ह्ठादत्यपकरे
अलसकादिके चेट् यदि वमनादिक्षमे न स्यात् तदा तेषु त्रिषु वर्षान्तेषु ऋतुषु
वमनादीनां निष्टत्तिर्विधीयते।। १०८।।

गृह्मधरः—ननु तर्हि यद्यात्यियके व्याधी वमनादिकममं विधीयते तेषु विष्वपृत्रतुषु तदा तत्तदतुषु प्रष्टत्तवमनादीनामयोगादयो दोषा भवन्तु तैश्च वातोषद्रवादियुक्तं शरीरं भवतु इत्याशङ्कायामाह—आत्यियके पुनिरत्यादि। आत्यियके तु कम्मिण्यिष वर्षाभागान्तेषु त्रिष्टतुषु न साधारणलक्षणेषु त्रिष्टतुष्विव संशोधनार्थं भेषनं प्रयोजयेत्। परन्तु वर्षाभागान्तं तं तमात्यियक-कम्मोत्पन्नम् ऋतुं कामं यथाभिलापं यत् संशोधनमभिमतं युक्तत्वेन भवति तथाविधरूपण विकल्प्य विशेषण तदातुर्व्याधिवल्देह्वलाद्यनुसारेण विविच्य संशोधनार्थं प्रयोक्तव्यं भेषनं तद्घटकद्रव्याणां संयोगस्य संस्कारस्य च व संसर्गः। तस्माद् गुरुप्रवृत्तीनीति गुरोर्थथा न सुखकारिणी प्रवृत्तिर्भवित, तथात्रापीत्यर्थः

^{*} तोयतोयदानुगतमारुतसंसर्गाद गुरुप्रवृत्तीनीति चक्रसम्मतः पाठः ।

विकल्पेनोपपाच प्रमाण्वीर्य्यसमं इत्वा ततः प्रयोजयेदुत्तमेन यत्ने नावहितः ॥ १०६॥

त्रातुरावस्थाखि च कार्य्याकार्यं प्रति कालाकालसंज्ञा, तद् यथा—ग्रस्यामवस्थायामस्य भेषजस्याकालः कालः पुनरस्य इति । एतद्दि हि भवत्यवस्थाविद्योषेगा, तस्मादातुरावस्थास्विपि कालाकालसंज्ञा । तस्य परीचा मुहुरमु हुरातुरस्य सर्व्वावस्था-

प्रमाणस्य च विशेषतो यथत् गुणविष्रीतेन हेमन्ते उष्णगुणेन ग्रीष्मे शीतगुणेन वर्षासु लाघवगुणेन कृत्रिमगुणोपाधानेन कल्पनेन उपपाद्य निम्मीय प्रमाण-वीर्यसमं तदौपधं तत्तदतुना सह प्रमाणवीर्याभ्यां समं कृताऽवहितोऽवधान-वान् भिषक् उत्तमेन यत्ने न त्ववहेलया प्रयोजयेत्। इत्येवंपकारेणातुरस्य परीक्षा संवत्सरकालतः कार्या।। १०९।।

गुङ्गाधरः—अथातुराणाम्बस्था च काल इति यदुक्तं ततश्चातुरपरीक्षां दर्शयति—आतुरावस्थास्वपीत्यादि। आतुरस्यावस्थासु ज्वरादी सामत-निरामतजीर्णतवैषम्याद्याख्यासु कार्य्यं प्रति भेषजिवशेषस्य कालाकालसंज्ञा अकार्यं प्रति च कालाकालसंबा। तां तां विष्टणोति—तद् यथेत्यादि। अस्यामवस्थाया यथा ज्वरादौ व्याघौ सामलावस्थायाम् अस्य भेषजस्य मुख्य-भेषजस्याकालः, कालः पुनरस्य तोयपेयादिसंस्कारकतया गौणभेषजस्य। इत्येवं चिकित्सितादिपु यस्यां यस्यामवस्थायां यद् यद् भैपज्यं विधातव्यं तस्यां तस्यायवस्थायां तस्य तस्य भेपजस्य कालोऽकालस्तु तदितरेषाम् इत्युन्नेयम् । निगमयति प्रतिज्ञां—तस्मादित्यादि । तस्य कालाकालस्य परीक्षा । क्तिंवा बहुप्रतिविधेयप्रवृत्तीनि गुरुप्रवृत्तीनि । गुरुसमुत्थानानीति संशोधनिक्किष्टानि शरीराणि । तदा महता प्रयत्नेन चिरेण कालेन प्रकृतिं प्राप्तुवन्तीत्यर्थः । वर्षाभागान्तेष्विति हेमन्तप्रीष्म-वर्षास । हेमन्तादिष्वण्यात्ययिकन्याधौ संशोधनं दर्शयन्नाह—न चेदित्यादि । विकरुप्येति कृत्रिमगुणोपधानं यथा-शीते शीतप्रतीकारार्थमुष्णकर्णम् । उत्तञ्ज अल्पगुणयुक्तं कृत्वा । अन्यत्र—"शीते शीतप्रतीकारमुण्णे चोष्णनिवारणम् । कृत्वा कुर्यात् क्रियां प्राप्तां क्रियाकालं न हापयेत्"। ऋतौ प्रतीकारं दर्शयित्वा भेपजप्रतीकारमाह—भेपजिमत्यादि। संयोगविकत्यः यथा—शीते त्रिवृताया डःणेन गोमूत्रेणालोड्नम् । प्रमाणविकल्पः यथा—अयोगप्रतीकारार्थम् अतिमात्रत्रिवृहानमित्यादिकः । अत्र च प्रमाणविकरूपस्तथा कर्त्तव्यः यथा विरुद्धप्रमाणभेपज-

विशेष।वेन्रगं यथावद्भेषजप्रयोगार्थम् । न ह्यतिपतितकाल-मप्राप्तकालं वौषधमुपयुक्ष्यमानं यौगिकं भवति । कालो हि भेषज्यप्रयोगपर्य्याप्तिमभिनिव्वर्त्त्रयस्येव ॥ ११० ॥

प्रवृत्तिस्तु प्रतिकर्म्भसमारम्भः। तस्य लच्चग्रं भिष-गौषधातुरपरिचारकाण्। क्रियासमायोगः ॥ १११॥

मुहुर्म्मुहुरित्यादि स्पष्टम्। छत आतुरस्य सर्वावस्थावेक्षणं यथावद्भेपजमयोगार्थम्। मुहुर्म्मुहुः कार्यं तद्वेक्षणं विनापि किं भेपजमयोगो यथावत्र युव्यते इत्यत आह—न ह्यतीत्यादि। अतिपतितकालमतीतकालममप्तकालं वा भेपजमुप्युष्यमानं न यस्माद् यौगिकं सम्यग् योगाय भवति परन्तु कालात्ययेऽप्राप्तकाले वा उपयोगाद्धे पजमयोगातियोगमिथ्यायोगेभ्यो भवतीति भावः। नतु कस्मात् कालात्ययेऽप्राप्तकाले वाष्युपयुष्यमानं भेपजं न यौगिकं भवतीत्यत आह—कालो हीत्यादि। भैपव्यत्युपलक्षणमायुर्व्वेद्शास्त्रलात् तेन सर्व्वेपामिप प्रयोगस्य पर्याप्तिं सर्व्वेतोभावेनाप्तिं योगमिभिनिक्वेत्तेयति जनयति युत्तया भूतानां परिणामकारणलादित्युन्नयम्। इति कालपरीक्षा दर्शिता।। ११०॥

गङ्गाधरः—अथ कारणादिषु दशसु परीक्ष्यविशेषेषु कालानन्तर्ध्यात् परीक्ष्य-विशेषः प्रदर्धते। प्रष्टित्तयेथा परीक्षितत्या तथा दर्शयति—प्रष्टित्तिस्त्रत्यादि। प्रतिकम्मेणो व्याधिप्रतिकारस्य लङ्घनादुप्रक्रमादेः समारम्भः सम्यक् वाङ्मनःश्रिराणां प्रष्टित्तिभरपक्रमः। तस्य विष्णानार्थमाह—तस्य लक्षणित्यादि। भिष्गादीनां चतुणां पादानां क्रियाणां समायोगः समवायः। भिष्गाद्यन्यतम-क्रियायोगाभावे प्रष्टित्तहानिः इत्यवगम्यते चतुष्पादोपादानेन। इत्युक्तं यथा परीक्ष्यविशेषः प्रष्टितः परीक्षितत्या तत्।। १११।।

मेलकः कालः स्यात्, तथा, संयोगिवकत्पश्च कर्तव्यः, यथा विरुद्ध वीर्यभेपजमेलकः कालः स्यादिति दर्शयन्नाह—प्रमाणवीर्यसमं कृत्वेति । आतुरावस्थालक्षणकालमाह— आतुरियादि । तत्रोदाहरणम्—नवज्वरे न कपायकालः, अतिकान्तपड्हे च कपायकाल इत्यादि । भेपल्य-प्रयोगपर्याप्तिमिति भेपजप्रयोगसाध्यसिद्धिमित्यर्थः ॥ १०६—११० ॥

चक्रपाणिः—कालमभिधाय क्रमेण प्राप्तां प्रवृत्तिमाह—प्रवृत्तिस्त्वत्यादि । प्रतिकर्मा चिकित्सा ॥ १२१ ॥

उपायस्तु भिषगादीनां सौष्ठवसभिसन्धानञ्च सम्यक्। तस्य लच्यां भिषगादीनां यथोक्तग्रग्सस्पद्धिदेशकालप्रमाग्-सात्म्यक्रियादिभिश्च सिद्धिकारगौः सम्यग्रपपादितस्यौषधस्याव-चारणिसति ॥ ११२॥

एवसेते दश परीच्यविशेषाः पृथक् पृथक् परीचितव्या भवन्ति। परीचायास्तु खलु प्रयोजनं प्रतिपत्तिज्ञानम्। प्रतिपत्ति-र्नाम यस्तु विकारो यथा प्रतिपत्तव्यस्तस्य तथानुष्ठानज्ञानम्।

गङ्गाधरः - अथ परीक्ष्यविशेपश्चोपायो यथा परीक्षितन्यस्तथा दर्शयति -जपायस्त्रित्यादि । भिपगादीनां कारणादीनां चतुर्णाम् । तस्येत्यादि । भिपगा-दीनां भिपगौपधातुरपरिचारकाणां यथोक्तगुणसम्पद्भिः खुड्डाकचतुष्पादो-क्तानां गुणानां सम्पद्भिः। आदिपदेन प्रकृत्यादिपरीक्षणानां ग्रहणम्। सम्यगुपपादितस्य सम्यगुपकिल्पतस्योपयुज्यमानस्य चौपधस्यावचारणग्रुप-सेवनम्। तेन चातुमीयते भिषगादीनां सौष्टवमभिसन्धानञ्चेति ॥ ११२॥

गृङ्गाधरः - अथ कश्चात्र परीक्ष्यविशेषः कथश्च परीक्षितव्य इति प्रश्नद्वयस्य उत्तरार्थं कृतां, तस्य यो यः परीक्ष्यविशेषो यथा यथा परीक्षितव्यः स तथा तथा व्याख्यास्यते इति प्रतिक्षां, समाप्तुमुपसंहरति—एवमित्यादि । एते दश कारणादिरूपा भिपगादयो दश परीक्ष्यविशेपाः, इति कश्चात्र परीक्ष्यविशेप इति मञ्नस्योत्तरसमाप्तिवचनम् । पृथक् पृथक् परीक्षितच्या इति कथञ्च परीक्षितच्या इति प्रश्नस्योत्तरवचनसमाप्तिवचनमिति । ०। अथ किंप्रयोजना च परीक्षेति मशस्योत्तरमाह-परीक्षायास्तित्यादि । प्रतिपत्तिज्ञानमिति । ननुका प्रति-पत्तिरित्यत आह-प्रतिपत्तिनामित्यादि। प्रतिपद्यतेऽनेनेति प्रतिपत्तिः शास्त्रं, तदिह विवक्ष्यते—य इत्यादि। यो विकारो यथा प्रतिपत्तव्यः शास्त्रतो वा प्रत्यक्षातुमानाभ्यां विकातव्यस्तस्य विकारस्य तथानुष्टानं तदुपयोगिभि-रुपक्रमादिभिरुपाचरणं शायतेऽनेनेति तथानुष्टानशानं शास्त्रं, तच्छास्त्रस्य बानं प्रयोजनं संबोधनं कामयमाना भिषजः परीक्ष्य परीक्षायामिति यद्व्याख्यानं

चक्रपाणिः-परिशिष्टमुपायमाह-उपाय इत्यादि । यथोक्तगुणसम्पद्भिरित्यनेन सौष्टव-मुक्तम् ॥ ११२ ॥

चक्रपाणिः -दशेत्यादिना तु सम्यगिभविभानं ब्रूते। किस्प्रयोजना परीक्षेत्यस्योत्तरम्-

यत्र खलु वमनादीनां प्रवृत्तिर्यत्र च निवृत्तिस्तद्वग्रासतः सिद्धिषु उत्तरकालमुपदेच्यते सर्व्वम्। प्रवृत्तिनिवृत्तिलच्गासंयोगे खलु गुरुलाघवं संप्रधार्थ्य सम्यगध्यवस्येदन्यतरनिष्ठायाम्। सन्ति हि व्याधयः शास्त्रेषूत्तर्गापवादैरुपक्रमं प्रति निर्द्धिष्टाः। तस्माद् गुरुलाघवं सम्प्रधार्थ्य सम्यगध्यवस्येदित्युक्तम्॥ ११३

तन्न यौक्तिकं तच्छास्त्रज्ञानेन हि संशोधनकाले यदि कारणादीनां ज्ञानं न फलित तदा कथं संशोधयेदिति । तस्मात् कम्मीण कृता प्रतिपाद्यप्रतिपत्तिः प्रतिपत्तव्योऽर्थस्तस्य ज्ञानं तदिह प्रसङ्गात् आयुर्वेदे यो विकारो यथा प्रतिपत्तव्यस्तस्य व्याधेस्तथानुष्टानस्य ज्ञानं प्रतिपत्तिज्ञानिमिति किंपयोजना परीक्षेति प्रश्नस्योत्तरम् ।

अथ क च वमनादीनां पर्टत्तिः क च निर्द्यत्ति पश्च हुयस्योत्तरमाह—यत्र खिल्वत्यादि । सिद्धिषु सिद्धिस्थाने । इति क च वमनादीनां पर्र्ट्याः क च निर्द्यत्ति पश्च हुयस्योत्तरम् । अथ पर्द्यत्तिनिर्द्यत्ति मश्च हुयस्योत्तरम् । अथ पर्द्यत्तिनिर्द्यत्ति मश्च हुयस्योत्तरम् । एकिस्मन् पुरुषे वमनादीनां पर्द्वत्ति हुत्ति हुत्ति व प्रमाह—पर्द्यति व प्रति व प्रमाह प्राचित्र व प्रमादिनां तत्र पर्द्यति हुत्त्योर्छ सणयोः संयोगो मिश्रस्तदा तत्र गुरु ह्या पर्द्यत्त हुत्त सम्प्रधार्यं निर्द्यत्ति हुत्ति हित्ति । १९१३ ॥

परीक्षायास्त्वित्यादि । प्रतिपत्तिश्रव्दार्थं विभजते— यथेत्यादि । प्रतिपत्त्व्य इत्यनुष्टानेन योजिय-तब्यः । 'क च वमनादीनां प्रवृत्तिः, क च निवृत्तिः' इत्यस्योत्तरमतिदेशेनाह—यत्र त्वित्यादि । 'प्रवृत्ति-निवृत्तिलक्षणसंयोगे किं नेष्टिकम्' इत्यस्योत्तरम्— प्रवृत्तीत्यादि । अध्यवस्येदित्यध्यवसायं कुर्यादि-त्यर्थः । अन्यतरनिष्टायाम् इत्यन्यतररूपावस्थायाम् । अत्र गुरुलाववे ज्ञाते गुरुप्रतिक्रियानिश्चयो- यानि तु खलु वसनादिषु भेषजद्रव्याग्युषयोगं गच्छन्ति तान्यनुध्याष्यास्यासः। तद् यथा—फलजीसृतकेच्वाकुधामार्गव-कुटजकृतवेधनफलानि, फलजीसृतकेच्वाकुधामार्गवपुष्पपत्राणि, आरग्वध-वृत्तक-सदन-खादुकगटकपाठा पाटला-शाङ्गिष्टा-सूर्व्वा-सप्तपर्ण-नक्तमालिपचुमईपटोल-सुषवीग्रडूची- चित्रकसोमवलक-शतावरीद्वीपिशित्र, सूलकषायेश्च, सधुकमधूककोविदारकर्व्व-दार-नीप-निचुलविस्वीश्गणपुष्पीप्रत्यक्पुष्पी-सदापुष्पीकषायेश्च।

गुङ्गाधरः - कानि च वमनादीनां भेपजद्रव्याणि उपयोगं गच्छन्तीति प्रश्नस्योत्तरमाह—यानि तित्यादि। फलेत्यादि। फलं मदनफलम्। जीमूतकं घोपकभेदः। इक्ष्वाकुस्तिक्तालावुः। धामागवः पीतघोपकभेदो वामकलान्नेहापा-मागेः। कुटजः स्वनामप्रसिद्धः। कृतवेधनं जोत्सिनका द्वेतघोपकस्तेषां फलानि। फलं मदनं । जीमूतकः श्रुद्रघोपकः । इक्ष्वाकुस्तिक्तालायुः । धामार्गवो घोपकः पीत एपां पुष्पपत्राणि। एतेन फलजीमृतकेश्वाक्यामार्गवाणां फलपुष्पपत्राणि, कुटजकुतवेधनयोः फलानि । आरग्वधः शोनालः। दक्षकः कुटजः। मदनं मदनष्टक्षः। स्वादुकण्टकः वैकङ्कतः। पाठा आकनादिः। पाटला पाटलि-म्लम्। शाईष्टा रक्तगुङ्जा। मूर्वा स्चिग्रखी। सप्तपर्णः सप्तच्छदः। नक्त-मालो नाटाकरञ्जः। पिचुमदौ निम्वः। पटोलम्। सुपवी पर्णासभेदः। गुङ्ची च्छिन्नरुहा। चित्रकं स्वनामख्यातम्। सोमवल्कः इवेतखदिरः। शतावरी शतमूली । द्वीपि व्याघी । शिग्रुः शोभाञ्जनस्तस्य मूलम् । एपां कपायैः तानि। मधुकं यष्टीमधु। मधूकं गुड़पुष्पम्। कोविदारः इवेतकाञ्चनः। कच्चेंदारो रक्तकाश्चनः। नीपः कदम्वः। निचूल इज्जलः। विम्वी विम्व-फलम् ओष्ठोपमाफलमिति यावत्। शणपुष्पी चण्टारवा। प्रत्यक्पुष्पी अपामार्गः। ऽनुक्तोऽपि ज्ञायते_। तेन शास्त्रान्तरे गुरुव्याधिमतीकारनिष्टायामध्यवसायं कुरवीदिति साक्षान कृतः । एतमेव गुरुव्याधिप्रतीकारं लघुट्याधिव्युत्पादकवचनभङ्ग यन्तरेणाह—् सन्ति हीत्यादि । सःयगध्य व-स्येदिति, असर्गलञ्चं परित्यज्यापवादगुरमुपक्रम्यतयाध्यवर्येत्। ''वलवन्तमुपद्रवम्'' इत्यादिना हि दुर्व्वर्लं परित्यज्य वलविचिकित्सामभिधास्यति ॥ ११३ ॥

चक्रपाणिः— सम्प्रति कानि च वमनादिषु भेषजद्रध्याणि संयोगं गच्छन्तीःयस्योत्तरं— यानीत्यादि । शार्क्षष्टा गुक्षा । सोमवस्कः खदिरः । द्वीपी कण्टकारी, द्वीपिशरुरिति पाठे एलाहरेणुप्रियङ्गु -पृथ्वीकाकुस्तुम्बुक्तगरनलदह्नीवेरतालीशोशीर-कपायेश्व, इचुकाण्डेच्त्रचुवालिकाट भेपोटगलतगरकालकृत किन् कपायेश्व, सुमनासोमनस्यायनीहरिद्रादाक्हरिद्रावृश्चीरपुनर्नवा-महासहाचु द्रसहाकषायेश्व, शाल्मलीशाल्मलकभद्रपण्यैरीपण्युं-पोदिकोहाल-धन्त्रन-राजादनोपचित्रागोपी-श्रृङ्गाटिका-कषायेश्च, पिप्पली-पिप्पलीमूलचन्यचित्रकश्रङ्गवेरसर्षप-फाणित-चीर-चार-लवणोदकेश्व, यथालाभं यथेष्टं वाप्युपसंस्कृत्यवर्त्तिक्रयाचूर्णावलेह-स्नेहकपायमांसरसयवागूयूषकास्त्रिकिचारोपधेयान् मोदकान्

सदापुष्पी रक्तार्कः। एला स्थूलैला। हरेणुः रेणुका। प्रियङ्गः स्वनामा। पृथ्वीका स्६मैला। ज्ञस्तुम्बुरुः स्वनामख्यातस्तद्भावे धनीयकम्। तगरं तगरपादिकम्। नलदं जटामांसी । हीवेरं वालकम् । तालीजं तालीजपत्रम्। उशीरं वीरणमूलम्। एपां कपायैश्व। इक्षुकाण्डं काण्डेक्षुर्नटा इति लोके। इक्षुवालिका खागड़िका। दर्भ उळ्यामूळम्। पोटगळो होगळः। तगरं तगरपादुका। काळः कृष्णागुरु। एतैः कृतकपार्यः। एपां यथालाभं कपायैश्च । सुमना मालतीपुष्पम् । हरिद्रा । दारु-हरिद्रा । दृश्वीरः इवेतपुनर्नवा । पुनर्नवा रक्तपुनर्नवा । महासहा मापपणी । सद्रसहा मुद्रपणी। एपां यथालाभं कपायैश्व। शाल्मली शाल्मलदृक्षः। भद्रपणी गाम्भारी। ऐरापणी हस्तिपणी हस्तिकर्णपलाश इति लोके। उपोदिका कलम्वी । उदालः काश्चनः । धन्वनः धाउनीवृक्षः । राजादनं पियाल- भेदः। उपचित्रा भाण्डी दन्ती वा। गोपी द्यामालता। शृङ्गाटिका शिङ्गडा। एपां कपायैश्व । पिप्पल्यादीनाम्रुदकैश्व यथालाभं यथेष्टं यथाभिलपितं वा एतैः कपायैः फलजीमृतकादीनां फलपुष्पपत्राणि क्रुटजकृतवेधनयोः फलानि च · उपसंस्कृत्य भावियंता पक्ता वा वितिक्रियां चूर्णं वा अवले हं वा स्ने हं वा घृतादिकं क्षेत्रां वा मांसरसं वा यवार्गं वा यूपं वा काम्वलिकं वा क्षीरोपधेयं वा हातावरी देया । विदुलो वेतसः, शणपुष्पी घण्टारवा, सदापुष्पी रक्तार्कः । कालङ्कृतो कासमर्दः । पोटगलो होगुलः । सुपवी कारवेल्लकः । सुमना जाती । सौमनस्यायनी जातिकलिका जाति-

कोपो वा। शाल्मलिको रोहढ्कः, खल्पशाल्मलिवी। भद्रपर्णी भादाळी। एलापर्णी रास्ना।

^{ैं : *} कालङ्कत इति चक्रः ।

अन्यांश्च भच्यप्रकाराननुविधाय यथाहै वसनाहीय द्याहिधि-वहसनस्। इति कल्पसंयहो वसनद्रव्याणाम्। कल्पस्देपां विस्तरेगोत्तरकालसुपदेच्यते॥ ११४॥

विरेचनद्रव्याणि तु श्यामात्रिवृचतुरङ्गुलतिल्वकमहा-वृज्यसलाश्ह्विनीदन्तीद्रवन्तीनां चीरमूलत्वक्पत्रपुष्पफलानि चीरमूलत्वक्पत्रपुष्पफलैविक्किताविक्किप्तैः, यथायोगं ञ्रज-गन्धारव-गन्धाजशृङ्गी-चीरिगी-नीलिनी-क्लीतक-कपायैश्र, प्रकीय्योदकीय्यांससूरविदलाकस्पिल्वकविङ्क्ष- गवाचीकपाये थ, पीलुपियालमृद्वीका-काश्मर्थ्यपरूपवद्र-दाड्मिामलक-हरीतकी-मोदकान् वा अन्यांश्च भक्ष्यविज्ञेपपूर्पादिनकारान् अनुविधाय। कल्पसंग्रहः वर्त्तिक्रियादिरूपाणां कल्पानां संग्रहः संक्षेपः। उत्तरकाळं कल्पस्थाने।। ११४।। गङ्गाधरः —वमनानन्तर्याद्विरेचनद्रव्याणि यानि तान्याह—विरेचनेत्यादि। इयामा इयाममूला त्रिष्टत्। त्रिष्टत् रक्तमृला त्रिष्टत्। चतुरङ्गलः शोनालुः। तिल्वको लोधः। महाष्टक्षः स्तुही। सप्तला शिक्षनीभेदः। शिक्षनी शक्षपुष्पी। दन्ती नागदन्ती। द्रवन्ती शुद्रदन्ती। एपां क्षीरमूलादीनि यथायोगं तैस्तैरजगन्धादिकपायैस्तिवृदादीनां क्षीर-म्लादिषु विक्तिप्ताविक्तिमैयस्य यत् क्तिमं यचाक्तिमं कल्पनेनायुक्तं तैरुपसंस्कृत्य विजिन्नादीन विविधान योगान् यथाईमनुविधाय विरेचनाहीय विरेचनं तत्र विक्किप्तानाह—अजगन्धेत्यादि। दद्यादिति पिण्डार्थः। यमानी । अश्वगन्धा स्वनामरूयाता । अजशृङ्गी मेपशृङ्गी । क्षीरिणी स्वनाम-च्यातरक्षः। नीलिनी नीलवुह्या। क्षीतकं यष्टीमधु। एपां यथालाभं कपायैः। मकीर्या नाटाकरञ्जः। उदकीर्या करञ्जः। मसुरविदला व्याममूला त्रिष्टत्।, कस्पिल्वकः कमलागुड़ीति लोके। विड़क्नं क्रिमिश्त्रः। गवाक्षी गोरक्षककेटी। एपां कपायैर्यथालाभम्। पीलुपियालेत्यादि। दृश्चीरः इवेतपुनर्नवा। पुनर्नवा उद्दालो बहुवारः । गोपी शारिवा । वर्त्तिकिया वर्त्तिरूपदीर्घभक्ष्यकरणम् । तत्र 'भारग्वधादि' 'मध्वादि' पृथग्वर्गकरणं प्रायः समानगुणतां विच्छेदपाठेन दर्शयितुं कृतम् । कल्पनं कल्पः प्रयोग इत्यर्थः । उत्तरकालमिति कल्पस्थाने ॥ ११४ ॥

चक्रपाणिः—विक्किसिर्दृय्यान्तरसंयोगः। अविक्किसिः केवलप्रयोगः। तेन विक्किसाविक्रितेः

विभीतकवृश्चीरपुनर्नवाविदारिगन्धादिकपायेश्च, सीधुसुरा-सौवीरक-तुषोदक- मेरेयमेदकमिद्रामधुमधूलकधान्याम्लकुवल-वदरखङ्क् रकर्कन्धुभिश्च, दिधदिधिमग्डोदिश्विद्धिश्च, गोमहि-ष्यजावीनाञ्च च्रीरमूत्रेयथालाभं यथेष्टं वाष्युसंस्कृत्य वर्त्तिक्ष्या-चूर्णावलेहरनेह- कषाय-मांसरस्वयूकाम्बलिकयवापू च्रीरोपधेयान् मोदकानन्यांश्च भच्यविकारान् विविधांश्च योगाननुविधाय यथाहं विरेचनाहीय दशाद् विरेचनम्। इति कल्पसंग्रहो विरेचन-द्रव्याग्राम् । कल्पस्त्वेषां विस्तरेग्रोत्तरकालमुषदेच्यते ॥ ११५ ॥

श्रास्थापनेषु तु भूयिष्ठकल्पानि द्रव्याणि यानि योगमुप-यान्ति तेषु तेष्ववस्थान्तरेष्वातुराणां तानि द्रव्याणि नामतो ्विस्तरेणोपदिश्यमानान्यपरिसङ्क्ष्ये यानि भवन्त्यतिवहुत्वात्, इष्ट-श्चानितसंचेपविस्तरोपदेशस्तन्त्रे, तत्रैवेष्टश्च केवलं ज्ञानम्, तस्माद्रसत एव तान्यनुव्याख्यास्यामः ॥ ११६ ॥.

रक्ता। विदारिगन्धादिर्दशकः। एपां कपायैर्यथालाभम्। सीधुस्ररेत्यादि। कुवलं घहद्वरम् । इति विरेचनद्रन्याणां करपसंग्रहः। उत्तरकालं करपस्थाने ॥११५॥ गङ्गाधरः—अथ क्रमिकत्वादास्थापनस्य यानि द्रन्याण्यपयोगमृच्छन्ति तान्याह—आस्थापनेष्वित्यादि स्पष्टम्। नतु नामतो विस्तरेणोपदेशेऽपरि-संख्येयानि भवन्तास्थापनद्रन्याणि तेन किमित्यत आह—इष्टश्चेत्यादि। अनितिसंक्षेपविस्तरोपदेशो हि सन्वीभीष्टः। नामतो विस्तरेणास्थापनद्रन्याणां यौगि-कानामुपदेशेऽतिविस्तरोपदेशः स्यादिति भावः। नन्वतिविस्तरेण किं भयम्, कानाथौ हुप्रपदेशः स चानतिसंक्षेपविस्तरतश्चेत्तदा कथं कृत्सनं ज्ञानं स्यादित्यत इति संयुक्तायुक्तेरित्यवः। क्षीरिणी इप्थिका। क्षीतकं यद्यीमध्र। मस्रविद्या श्यामस्ता विद्ववेवोक्ता॥ १९५॥

चक्रपाणिः स्यिष्टकल्पानीति बहुमयोगाण्यभिप्रायप्रयोज्यानि च । इप्टश्चानितसंक्षेपविस्तरोप-देश इरयनितसङ्खेपविस्तरतः शास्त्रे कथनिष्टम्, इप्टब केवलं ज्ञानमनितसंक्षेपविस्ताराभि-भानेऽपि, यदक्तम्—"तस्यापि यथा सामान्येनावस्थाज्ञानं भवति, तदपीष्टम्" प्रनथकर्तुः श्रोतुश्च

रससंसर्गसमवायविकल्पविस्तरो ह्ये पासपरिसङ्घ्ये यः, सम-वेतानां रसानामंशांशवलविकल्पातिवहुत्वात् । तस्माद् द्रव्यागा-ञ्चैकदेशसमुदाहरणार्थं रसेष्वनुविभव्य रसेकेकस्वेन छ च नाम-लच्गार्थं षड़ास्थापनस्कन्धा रसतोऽनुविभन्य व्याख्यास्यन्ते। यतः आह—तत्रैवेत्यादि। तत्र नामतो विस्तरोपदेशे इप्टं केवलं कृत्सनं छान-यास्थापनीययौगिकद्रव्यद्यानम्, तद्वानितसंक्षेपविस्तरोपदंशेनापि यथा भवति तथोपदेशे का हानिः इत्यभिषेत्याह- तस्मादित्यादि । नामतो विस्तरोपदेशे-ऽतिवहुत्वेनास्थापन-द्रव्याणामपरिसंख्येयतयातिविस्तरोपदेशस्थानभीष्टलाद्रसत एव तदतिविस्तरोपदेशफलकृत्स्त्रास्थापनद्रव्यज्ञानजनकरसोपदेशादेव तानि आस्थापने योगिकानि कृत्स्तानि द्रव्याण्यतुव्याख्यास्यामः॥ ११६॥

गङ्गाधरः-रससंसगेसमवायेत्यादि । तत्रापि हि यस्मात् तेषां द्रव्याणां रससंसगसमवायविकल्पविस्तरोऽपरिसंह्योयः समवेतानां संस्रष्टानां रसानाम् अंशांशानां हीनहीनतरहीनतममध्यमध्यतरमध्यतमाधिकाधिकतराधिकतमाद्र- 👍 वलविकल्पेनातिवहुत्वात्। तस्मात् रससंसर्गसमवायविकल्पविस्तर-स्याप्यपरिसंह्वेत्रयलाट् द्रव्याणाञ्चैकदेशसमुदाहरणार्थं यौगिकास्थापनीय-कुत्स्तद्रव्याणां ज्ञानजनककतिचिद्द्रव्योदाहरणाथं रसेषु मधुरादिषु पट्स्बनु-विभज्य अनुरसं त्रिभज्य रसैकैकत्वेन प्रधानतमैकेन रसेन नामलक्षणार्थ नामार्थं लक्षणार्थञ्च पड़ास्थापनस्कन्धा रसत आस्थापनस्य दृक्षस्येव स्कन्धा दृह-च्छाखाः पडुसास्ततस्तेभ्योऽनुविभज्य च्याख्यास्यन्तेऽर्थात् आस्थापनोपयोगीनि इष्यर्थः। तस्माद्रसत एवेति रसं प्राधान्येनोद्दिश्य रसाश्रयद्रव्यस्यानतिसंक्षेपविस्तारापदेशेन इत्यर्थः । तानीत्यास्थापनोपयोगीनि इत्याणि । अत्र च रसद्वारा निर्देशेऽपि रससंसर्गस्याति-घहुत्वेन च कृत्स्नद्रव्यिनर्द्शवद् रससंक्षेपता स्यादिति कृत्वा पड्भी रसैनिर्देशः कर्त्तव्यः॥ ११६॥ 💢

चक्रपाणिः—आस्थापनोपयोगीनि द्रव्याणि दृशीयलाह—रसेत्यादि । उदाहरणार्थमिति मधुरादि-रससाधारमृतसः द्रव्यसोदाहरणार्थम्, रसेष्वनुविभज्येति रसेषु मधुरादिषु द्रव्याणामेकदेशमाधार-तयोपदिश्येत्यर्थः। रसकैवल्येनेति रससंसर्गत्वेन। नामलक्षणार्थः पड़ास्थापनस्कन्धा इति साक्षादुक्तानां जीवकादीनां नामार्थम्, तथा अनूक्तानां मधुरादिद्रव्याणां तजातीयरवेन लक्षणे-'मास्थापनयोगिद्रव्यसमूहा व्याख्यास्यन्त इति । किंवा नामरुक्षणार्थमिति नामज्ञानार्थम् । समूह-रसतोऽनुविभज्येति अनुक्तज्ञ मधुरादिरसतथा निर्द्दिश्येत्यर्थः।

^{*} रसकैचल्येन इति चक्रसम्मतः पाठः।

पड़् विधमाध्यायनमेकरसमित्याचन्ते भिषजस्तद् दुर्लभतमं संस्ट्रप्रसमृ यिष्ठत्वाद् द्रव्याणाम्। तस्मान्मधुराणि मधुरप्रायाणि मधुरप्रभावप्रायाण्यपि च मधुरस्कन्धे मधुराण्येव कृत्वोपदे चयन्ते। तथेतराणि द्रव्याणयि। तद् यथा—जीवकर्षभकौ जीवन्ती वीरा तामलकी काकोली चीरकाकोली क मुद्गपर्णी माषपर्णी

द्रव्याणि। नमु कुतस्तथा व्याख्यास्यन्तं इत्यत आह—यत इत्यादि। एको स्सो यत्र तदेकरसम्। तत्त्वित एकरसमास्थापनं दुर्लभतमं कुत इत्यत आह—संस्रष्टेत्यादि। तस्मादित्यादि। तस्मात् द्रव्याणां संस्रष्ट्रसभूयिष्टत्वेन एकरसद्ग्वाणां दुर्लभतमत्वेन एकरसास्थापनस्य दुर्लभतमत्वात्। मध्राणि यानि द्रव्याणि मध्रप्रायाणि च यानि द्रव्याणि मध्रप्रभावपायाण्यपि च यानि द्रव्याणि तानि सर्व्याणि मध्रप्रणि कृत्वा मध्रप्रकृत्ये आस्थापने उपदेश्यन्ते। तथेतराणि अम्लादीनि द्रव्याणि अम्लप्रभावपायाण्यपि च यानि द्रव्याणि अम्लवहुलानि च यानि द्रव्याणि अम्लप्रभावपायाण्यपि च यानि द्रव्याणि तानि सर्व्याणि द्रव्याणि अम्लप्रभावपायाणि लवणस्कन्धे लवणानि कृत्वा, कदुकानि लवणवहुलानि लवणप्रभावपायाणि लवणस्कन्धे लवणानि कृत्वा, कदुकानि कदुक्रम् तिक्तानि कृत्वा, तिक्तानि तिक्तवहुलानि तिक्तप्रभाववहुलानि तिक्तप्रभाववहुलानि कपायप्रभाववहुलानि कपायस्कन्धे कपायाणि कपायवहुलानि कपायप्रभाववहुलानि कपायप्रभाववहुलानि कपायस्कन्धे कपायाणि कपायवहुलानि इति प्रतिष्ठा। । । तथोपदिश्वति—तद् यथेत्यादि। जीवकपंभकावित्यादि। वीरा क्षीरकाकोली।

अयज्ञ मञ्चरादिरसेन द्रव्यगणिनर्देशः—मञ्चरादिरसेन मञ्चरादिरसद्रव्यगणिनर्देशो मञ्चरादेयक-रसस्यैव द्रव्यस्य संग्रहो यथा परेराख्यायते, तथासमाभिरपीष्यते, किन्तु यद्पि रसान्तरं सत्यपि मञ्चरादिप्रधानम्, यद् वा द्रव्यं मञ्चरादिकार्य्यकारि विपाकप्रभावात्, तद्पि मञ्चरादिगण एवासमाभिः पठनीयमिति दर्शयन्नाह—यत् त्वित्यादि। आस्थाप्यतेऽनेनेति आस्थापनं जीवकादि द्रव्यम्। एकरसमिति शुद्धैकरसम्। मञ्चरप्रायाणीत्युत्कृष्टमञ्चरसानीति। एव-मम्लस्कन्धादिप्यम्लादीन्यपि वोध्यानीति 'तथेतराणि' इतिपदेन दर्शयति। भीर जालान्धरं

इतः परं भीरु इत्यधिकः पाठः ।

शालपणीं पृश्निपणीं शणपणीं ७ मेदा महामेदा कर्कटशृङ्गी शृङ्गाटिका च्छिन्नरुहा च्छत्रातिच्छत्रा श्रावणी सहाश्रावणी सहदेवा विश्वदेवा शुक्का चीरशुक्का वलातिवला विदारी चीरविदारी महासहा चुद्रसहर्ष्यगन्या अश्वगन्या पयरया वृश्वीरपुनर्नवावृहती-कएटकारिकैरएडमोरटश्वदं ष्ट्रासंहर्पाश्तावरीश्तपुष्पामधूकपुष्पी -यष्टीसधुसधृतिकाः, मृद्दीका-खङर्जू रवरूपकात्मगुप्ता-पुष्करवीज-कशेरकराजकशेरकराजादन-कतककार्मर्थ्यशीतपावयोदनपाकी-तालखडर्ज रमस्तकेचियचुवालिकादभंकुश्काश्रशालिग्रन्द्रे त्कटक-श्रमूल-राजन्वकर्ष्यप्रोक्ताः, द्वारदा भारद्वाजी वनत्रपुष्यभीरुपत्री कर्केटीशृङ्गी काँकड्राशृङ्गी। शृङ्गाटिका शृङ्गाटकः। छत्रातिच्छत्रे मसिद्धे, शताहा-मधुरिके इति परे। श्रावणी ब्वेतमुण्डेरी। महाश्रावणी रक्त-मुण्डेरी । सहदेवा पीतपुष्पदण्डोत्पला । त्रिश्वदेवाऽरुणपुष्पदण्डोत्पला । शुक्रा शुक्तवर्णा निःक्षीरा विदारी । क्षीरशुक्ता स्वल्पक्षीरा विदारी । वला इवेतवला । अतिवला गोरक्षतण्डला। विदारी निःक्षीरभूमिकुष्माण्डः। क्षीरविदारी वहु-क्षीरभूमिकुष्माण्डः । महासहा व्वेतकुरुवकः । श्वद्रसहा रक्तकुरुवकः । ऋष्यगन्धा दृद्धदारकः ऋषिजाङ्गलिकी वा । अश्वगन्धा स्वनामख्याता । पयस्या अर्कपुष्पी । ष्ट्रश्रीरः इवेतपुनर्नवा। पुनर्नवा रक्तपुननेवा। मोरटः कर्णमोरटः। संहर्पा वन्दाकः। मधूकपुष्पी मधूकभेदः। मधूलिका मर्कटहस्ततृण इति ख्यातः। कशेरुकश्चिश्चा-इकः। राजकशेरः कशेररेव। राजादनं पियालः। कतको निम्मेलः। शीवपाकी काकोलीपभेदः। ओद्नपाकी नीलझिण्टी। तालमस्तकं खर्ज् रमस्तकञ्च इत्यन्वयः। दर्भ उछ्मूलम्। शालिः हैमन्तिकथान्यम्लम्। गुन्द्रा गुहूची। राजक्षवकः क्षत्रष्टक्षः । ऋष्ययोक्ता पीतवला । द्वारदा पालङ्कशाकः । भारद्वाजी शाकम् । असनपर्गी अपराजिता । मधुपर्णी विकङ्कतम् । छत्रा कोकिलाक्षः । अतिच्छत्रौ अरुणकोकिलाक्षः। महाश्रावण्यलम्बुपा। शुक्रा शर्करा। क्षीरशुक्रा त्रिवृत्। क्षुद्रसहा कुमारी । ऋष्यगन्धा ऋष्यजाङ्गलकी, वलाभेदो वा । मोरटं मूर्खा । संहर्पा वन्दाकः । संधूक-पुष्पी मधूकभेदः। मधूलिका मर्कटहस्तनृणम्। राजादनं घेन्चुलिकीति ख्यातम्। कशेरः चिञ्चीद्कः। राजकशेरः कंशेरुभेदः। शीतपाकी शीतला। ओदनपाकी नीलक्षिण्टी। ऋष्य-

श्राणपणीत्यत्र असनपणीति, ततः परं मधुपणीति, दारु च, इत्यधिकं क्रिचिद दृश्यते.।

हंसपादी काकनासिका कुलिङ्गाची चौरवल्ली क कपोतवल्ली गोपवल्ली मधुवल्ली सोमवल्ली चिति। एपामेवंविधानाश्चान्येषां मधुरवर्गपरिसंख्यातानामौपधद्रव्याणां छेद्यानि खण्डश्रुछेद्धित्वा भेद्यानि चाणुशो भेद्धित्वा प्रचाल्य पानीयेन सुप्रचालितायां स्थाल्यां समावाप्य पयसार्छोदकेनाभ्यासच्य साधयेद्ध द्व्व्यां सततमवघट्टयेत्। तदुषयुक्तं भृयिण्डम्भिस गतरसंप्वौपधेषु पयसि चानुपद्ग्धे स्थालीमपहृत्य परिस्नुतं पूतं पयः सुखोप्णं घृततेलवसामज्ञलवण्याणितोपहितं वस्तिं वातविकारिणे विधिक्तो विधिवद्द द्यात्। सुशीतन्तु मधुसर्पिभ्यांसुपसंस्कृत्य पित्तविकारिणे द्यात्। इति मधुररकन्थः॥ ११७॥

वनकार्पासी। वनत्रपुपी वन्यस्वरूपत्रपुपः। अभीरूपत्री स्वरूपशतावरी। हैस-पादी थुलकुड़ी। काकनासा केउठुटी। कुलिङ्गाक्षी पॅटिका। क्षीरवल्ली क्षीरलता। कपोतवली स्कृता। गोपवल अनन्तम्लम्। मध्वली यष्टीमधभेदः। सोमवङ्की सोमलता। एवामेवं विधानामन्येपाञ्च मधुरवगंपरिसंख्यातानाम् आस्थापनस्यौपधस्य द्रण्याणां मध्ये यानि च्छचानि च्छेत्तुमहाँणि तानि खण्डशब्छेद्यिला। भेद्यानि यानि च भेत्रमहीणि तानि अणुशो भेद्यिला पानी-येन प्रक्षाल्याद्धीदकेन प्रयसाष्ट्रगुणेन काथलादासिच्य साध्येत पचेत्। गनरसेषु औपधेषु—चतुर्भागाविकाष्टे तु द्रव्यं गतरसं भवेत्—इति चतुर्थावकेषे पयसि गतजलदुग्धे चानुपद्ग्धे तदुपयुक्तं स्थालीमपहृत्य सुपरिस्तृतं वस्त्रेण पूतं तत् मुखोटणं पयो दुग्धं घृतादिभिरनुरूपेरुपहितं वस्तिं वस्तिमध्ये पूरियता वात-विकारिणे दद्यात् । सुक्षीतन्तु तद् दुग्धं घृतादुप्रपहितं न कृता मधुसिपेभ्योम्रप-संस्कृत्य पित्तविकारिणे वस्तिं दद्यात्। इति मधुरस्कन्ध आस्थापनवस्तिः।।११७ श्रोक्ता वलाभेदः । द्वारदा शाकतरः । भारद्वाजी चनकार्पासी । चनत्रपुपी वृहत्फला गोहुम्वा । अभीरपत्री शतावरीभेदः। कुलिङ्गाक्षी पेटिका, कुलिङ्गापाटपक्षे उचटा। क्षीरवल्ली क्षीरलता। कपोलवहीं कवड़झेजु इति ख्याता। कपोतवहीं सूक्ष्मेला। सोमवहीं सोमलता। गोपवही अनन्तमृहम् । मधुवह्नी यष्टीमधुभेदः ॥ ११७ ॥

कपोलवङ्घोत्यधिकः पाठः क्विट ।

श्राष्ठाष्ठातकलकुचकरमर्द्वृचा । लाम्लवेतसकुवलवदरदाड़िममातुलुङ्गकरीरका-७-मलक † तिन्ति हीकशीतकदन्तश्ठेरावतककोशाम्रधन्वनानां फलान, पत्राणि चारमन्तकचाङ्गरीणां चतुविविधानाञ्च श्रम्लकानां द्वयोश्च कोलयोश्चामशुष्कयोद्देशोश्च
शुष्काम्लिकयोर्यास्यययोः । श्चासवद्रव्याणि च सुरासौवीरकतुषोदकमरेय-मेदकमदिरामधुशुक्त-सीधुद्धिमगडोद्दश्विद्धान्याग्लादीनि च । एषामेविधानाञ्चान्येषामम्लवर्गपरिसङ्ख्यातानाम्
श्रषधद्रव्याणां छेचानि खगडश्रहेद्यित्वा भेचानि चाणुशो
भेदियत्वा द्वः स्थितानि ‡ अवसिच्य साधियत्वोषसंस्कृत्य
यथावत् तेलवसा
§-मज्जलवगणपाणितोषहितं सुखोष्णं वस्ति
वातिवकारिणे विधिक्तो विधिवद् द्यात् । इत्यम्लस्कन्धः ॥११८

गङ्गाधरः—अथ क्रमिकलाद्म्लस्कन्धास्थापनद्रव्याण्याह् — आम्रे त्यादि । हक्षाम्लं किश्चिन्मधूरमांसलफलं तिन्तिङ्गिकम् । करीरो मरुजदुमः । तिन्तिङ्गिक-मम्लाधिकं तिन्तिङ्गिकम् । ज्ञीतकं चालित्रफलम् । दन्तराठो जम्बीरः । ऐरा-वतकः अम्लनागरङ्गः। कोशाम्रः उड़िआम्रः । धन्वनः धन्वनष्टकः । एपां फलानि । अक्षमान्तकानां चाङ्गेरीणां पत्राणि चतुर्व्विधानामम्लकानाश्च पत्राणि द्वयोक्ष्य कोलयोः शुष्कयोद्वे योक्ष्य शुष्काम्लिकयोर्श्राम्यार्ण्ययोः पत्राणि । आसव-द्रव्याणि च सुरादीनि यान्युक्तानि । एपामेवं विधानामन्येपाश्चाम्लवर्गपरि-संख्यातानामौषधद्रव्याणां मध्ये च्लेद्यानि खण्डशद्धेद्यिला भेद्यान्यणुशो भेद्यिला सुरादिषु द्रवेषु स्थितानि तैः सुरादिभिद्रवैः साधियला पक्तवा

चक्रपाणिः—अस्लस्कन्धे नन्दीतकः कर्परनन्दी । शीतकोऽम्बुलोटकः । एरावतो नागरङ्गम् । अम्लिका कन्दप्रधाना कामरूपे प्रसिद्धा, अम्लिकाभेद एवेत्याहुः । द्वयोश्चेत्यादि । द्ववैः स्थिराणीति द्वयमजनात् स्थिरमूतानीत्यर्थः ॥ १९८॥

^{*} करीरक इत्यन्न गण्डीर इत्यन्यः पाठः।

[🕆] इतः परं नन्दीतक इत्यधिकः पाटः केषुचिद् अन्थेषु दृश्यते ।

[ि]स्थराणीति चक्रः।

[§] इतः परं मस्तु इत्यधिकः पाटः क्वित्।

सैन्धवसीवर्च्चलकालविड्पावयक्कुप्यवालकैलमौलकसामुद्र-रौमकौद्धिदौषरपाटेयकपांशुजान्येवंप्रकाराणि चान्यानि लवण-वर्गपरिसंख्यातानि । एतान्यम्लोपहितान्युप्णोदकोपहितानि वा स्नेहवन्ति सुखोष्णां वस्तिं वातविकारिणे विधिज्ञो विधिवद् दयात् । इति लवणस्कन्यः ॥ ११६ ॥

पिप्पलीपिप्पलीम्लहस्तिपिप्पलीचव्यचित्रकशृङ्गवेरमरिचा-जमोदार्द्रकिविङ्ग्नकुस्तु म् वुरुपीलुतेजस्विन्येला कुण्ठभल्लातका स्थि-हिङ्गुद्रु किलिमम्लकसर्पपाणाम्, लसुनकरञ्जशियु शियु कखर-पुष्पभू स्तृणा - सुमुखसुरसार्ज्ञककाण्डीरकालमालकपणीस ज्वक-फिण्ज्भक ज्ञारमृत्रपित्तानाञ्च। एवं विधानाञ्चान्येषां कटुक-चतुर्भागिशिष्टसुपसंस्कृत्य यथावद् यथायोग्यं तैलादुप्रपहितं सुलोष्णं विस्तं वातविकारिणे द्यात्। इत्यम्लस्कन्ध आस्थापनवस्तिः।। ११८।।

गङ्गाधरः — अथ क्रमिकलाछ्वणस्कन्धास्थापनद्रव्याण्याह — सैन्धवेत्यादि । सैन्धवादीनि लवणानि देशिवशेषे प्रसिद्धानि एतानि एवंविधान्यन्यानि लवणवर्गपरिसंख्यातानि अम्लोपहितानि खणोदकोपहितानि वा रनेहवन्ति घृततैलादियुक्तानि सुलोप्णं तद्द्रवरूपं वस्तिं वातिवकारिणे दद्यात् । इति लवणस्कन्ध आस्थापनवस्तिः ॥ ११९ ॥

गङ्गाधरः—अथ क्रमिकलात् कडुकस्कन्धास्थापनद्रव्याण्याह—पिष्पली-त्यादि। शङ्गवेरं शुष्कं शुण्ठीति यावत्, आद्रकस्य पुनः पाठात्। तेजस्विनी तेजिनी। द्रिकिलिमो देवदारः। मूलकं सपेपं सपेपद्रयं शिग्रुत्रयंम्। खरपुष्णं खरा-शिनी अपामार्गो वा। भूरतृणं गन्धतृणम्। सुमुखः पर्णासभदः। सुरसस्तुलसी-भेदः। अज्जेकः श्वेततुलसी। काण्डीरः मिल्लिष्टा। कालमालः कृष्णतुलसी। पर्णासः सुद्रपणीसः। सवको राजसवकः। फणिज्लको गन्धपणीसः। क्षारो दग्धभसाकृतः क्षारः। मूत्रं गवादिमूत्रम्। पित्तं मत्स्यादिपित्तम्। एपामेवं-

चकपाणिः—कृप्यादयो रुवणभेदा देशान्तरप्रसिद्धाः। तेन देशान्तरीयात् तदर्था ज्ञातच्याः।

^{*} पाक्येत्यनन्तरम् आनूप इत्यधिकः पाठः ।

वर्गपरिसङ्घातानामौषधद्रव्याणां छेट्यानि खगडश्रहेद्यित्वा भेद्यानि चाणुशो भेद्रियत्वा गोमृत्रेण साधियत्वोपसंस्कुत्य यथावन्मधुतैललवणोपहितं सुखोण्णं वस्तिं श्लेप्मविकारिणे विधिज्ञो विधिवद् द्यात्। इति कटुकस्कन्यः॥ १२०॥

चन्द्रननलद्- क्रतमालनक्तमाल- निम्वतुम्बुर- कुटजहरिद्रा-दारहरिद्रामुस्त-मृट्यांकिरातिक्तक-कटुरोहिग्गी-त्रायमागाकरी-रागाम्, करवीरकेवुककठिल्लकवृपमधुपर्गांककोंटकवार्त्ताकुकर्वश्-काकमाचीकारवेल्लकाकोडुम्बरिकासुपव्यतिविषा-पटोल-कृग्गक-पाठागुडूची-त्रेत्रायवेतसविकङ्कत-वकुल- सोमवल्कसप्तपर्गसुमनो-ऽकीवल्गुजवरा-७-तगरागुरुह्हीवेरोशीरागाम्। एवंविधानाञ्चान्येषां

विधानाश्चान्येषां कहुकवर्षपरिसङ्घातानाम् अष्टगुणेन काथतात् गोमृत्रेण साधियता चतुर्भागिकाण्टं काथं मधुतैलसैन्धवोपहितं मुखोण्णं वस्तिं इलेष्मविकारिणे दद्यात्। इति कहुकस्कन्ध् आस्थापनवस्तिः॥ १२०॥

गुङ्गाधरः — क्रमिकलात् तिक्तकस्कन्धास्थापनद्रव्याण्याह् — चन्द्नेत्यादि । चन्द्नं रक्तचन्द्नम् । नलद्मुशीरं जटामांसीत्यन्ये । क्रुतमालः शोनालुः । नक्त-मालो नाटाकरङ्कः । तुम्बुरु स्वनामख्यातं तद्भावे धन्याकम् । करीरो मरुजद्भाः । केवुकः के उ इति लोके । कठिल्लकः कारवेल्वः । मधुपणीं लतापुटकी गुङ्की वा । कर्कोटकः काँकरोल इति लोके । वार्चाकुः स्वनामख्यातः । कर्कशः कम्पिल्लः । काकमाची स्वनामख्याता । कारवेल इति वृहत्कारवेलः । काकोद्धम्वरिका कोठोड्म्बरः । सुपवी वन्यकारवेल्वः । अतिविपा आतइप इति लोके । पटोलं दीर्घपटोलम् । क्रणकं पटोलम् । पाटा अम्बल्डा । वेतसः स्वनामा । विकङ्कतः वाँइच इति लोके । वकुलं स्वनाम । सोमवलकः व्वत्तलदिरः । सुमनो मालती । अर्कः । अवलगुजः सोमराजी । वरा विकला । एपामेवंविधानाञ्च

रोमका रुमानदीभवा। (कटुकवर्गे) तेजस्विनी तेजोवती। किलिमं देवदारु। तिकवर्गे कर्मवाः

^{*} वचित पाठान्तरम् i

तिक्तवर्मपरिसङ्क्ष्यातानामौषधद्रव्याणां छेद्यानि च खाउद्याः छेद्रियत्वा भेवानि चाणुशो भेदियत्वा प्रचाल्य पानी-येनाभ्यासिच्य साधियत्वोसंस्कृत्य यथावन्मधुतैललवणोपहितं सुखोणां वस्ति श्लेष्मविकारिणे विधिज्ञो विधिवद् द्यात् । शीतन्तु मवुसर्पिभ्यांमुपसंस्कृत्य पित्तविकारिणे विधिज्ञो विधिच् वद् द्यात् । श्रीतन्तु मवुसर्पिभ्यांमुपसंस्कृत्य पित्तविकारिणे विधिज्ञो विधि-वद् द्यात् । इति तिक्तस्कन्धः ॥ १२१ ॥

प्रियङ्गनन्ताम्रास्थ्यम्बष्ठकीकट्ङ्गलोधमोचरससमङ्गाधातकी-पुष्यपद्माक्ष्यद्मकेशरजम्ब्बाम्रप्लच्वटकपीतनोडुम्बराश्वरथभल्ला-तकास्थ्यश्मन्तकशिरीष †शिंशपासोमबल्कतिन्दुकानाम्, पियाल-वदरखदिर-सप्तपाश्विकर्णस्यन्दनार्ज्जनासनारिमदेलवालुकपर-पेलवकदम्ब-शल्लकीजिङ्गिनोकाशकशेरकाराजकशेरकाकट्फल-वंशपद्मकाशोकानाम्, शालधवसर्ज्जभूर्जासनखरपुष्पाशम-

अन्येषां तिक्तवर्मपरिसङ्क्ष्मातानाम्। पानीयेनेति अष्टगुणेन साधियता चतु-भौगाविशिष्टं मधुतैलसैन्धवोपहितं सुखोष्णं कफविकारिणे, शीतन्तु मधु-संपिभ्यां युक्तं पित्तविकारिणे वस्तिं दयात्। इति तिक्तस्कन्ध आस्थापन— वस्तिः॥ १२१॥

गङ्गाधरः—अथ क्रमिकलात् पारिजेष्याच कपायस्कन्धास्थापनद्रध्याण्याह्—
प्रिपङ्गित्यादि । पियङ्ग रनन्तमूलम् । आम्रकलास्थि । अम्बष्टकी पाठा । कदृङ्ग वयोनाकः । धातकीपुष्पम् । पद्मा पद्मचारिणी ब्राह्मणयष्टी । पद्मकेशरं पद्मक्रिज्जलकः । अश्वकणो लताशालः । स्यन्दनो नेमिस्तिनिश इति ख्यातः । असनः
पीतशालः । अरिमेदो विद्खदिरः । एलवालुकः तजवलः । परिपेलवः कैवर्तमुस्तकः । शल्लकी शल्लकीष्टसः । जिङ्गिनी मिज्जिष्टा । काशः । कजेरुश्चिक्चया ।
राजकशेरः कशेरुरेव । कद्फलम् । वंशो वेणुः । पद्मकं पद्मकाष्ट । अशोकः

पटोलभेदः । कपायवर्गे सप्तपर्णः पियालसालः । परिपेलवं कैवर्त्तमुस्तकम् । जिङ्गिनी स्वनामख्याता ।

^{*} पद्मा इत्यत्र पद्मेति चकः।

माठीकवरकतुङ्गाजकर्णाश्वकर्णस्फृज्जेकविभीतककुम्भीक-पुष्कर-वीजविसमृ्णालतालखङ्जू रतरुणी-७-नाम्। एवंविधानाञ्चान्येपां कषायवर्गपरिसङ्ख्यातानामौषधद्रव्याणां छेद्यानि च खराडश्ररहेद-यित्वा भेद्यानि चाणुशो भेद्यित्वा प्रचाल्य पानीयेनाभ्यासिच्य साधियत्वोवसंस्कृत्य यथावन्मधुतैललवगोवहितं वस्तिं श्लेप्मविकारिणें विधिक्तो विधिवद् दद्यात्। शीतन्त् सधुसिपर्स्यामुपसंस्टच्य वित्तविकारिगो विधिवत् दद्यात् । इत कपायस्कन्धः॥ १२२॥

तत्र श्लोकाः।

षड़् वर्गाः परिसङ्ख्याता य एते रसभेदतः। त्रास्थापनसिमप्रं त्य तान् विद्यात् सार्व्यौगकान् ॥

स्वनामच्यातः। शालः शालकाष्टम्। धवः। सदनौ धूनकः। भूदनौ भूदनी-ग्रन्थिः । असनः कृष्णासनः । खरपुष्पा खरमञ्जरी अपामार्गं इति ख्यातः । शमी भाँइकाँटा। माठीको देवदारुः। वरको वोरधान्यम्। तुङ्गः पुन्नागद्यक्षः। अजकणोऽसनभेदः। अधकणो गृहङ्खालकाष्टम्। स्फूर्जिकस्तिन्दुकः। क्रम्भीकः कट्फलः। तरुणी घृतकुमारी। एपामेवं विधानामन्येपाश्च कपायवर्गः परिसङ्ख्यातानाम् । इति कपायस्कन्ध आस्थापनवस्तिः ॥ १२२ ॥

गङ्गाधरः-उपसंहरति-तत्र श्लोका इत्यादि । पड् वर्गा इति । सार्क-

माठीको देवदारः। अजकणंः शालभेदः। कुम्भी कुम्भीक इति ख्याता। विसं करहाटः। भृणालं मृणालनाड़िका । तालखड्जू रतरूणामिति तालखर्ज्जू रेवृक्षाणामित्यर्थः । तत्र च स्कन्धेपु थट् द्रव्यं स्कन्धद्वये पठ्यते, तरुभययुक्तत्वेन उभयत्रापि योगीति शेयम् ॥ ११९-१२२ ॥

चक्रपाणिः—सार्व्योगिकानिति सर्व्वेप्वास्थापनसाध्येपु रोगेषु वातव्याधिज्वरगुल्मादिषु

तरुणीत्यम्र तरुः इति पट्यते चक्रेण ।

सर्व्वशो हि प्रणिहिताः सर्व्वरोगेषु जानता । सर्व्वान् रोगान् नियछन्ति येभ्य आस्थापनं हितम् ॥ येषां येषां प्रशान्त्यर्थं ये ये न परिकीर्तिताः । द्रव्यवर्गा विकाराणां तेषां ते परिकोपकाः ॥ इत्येते पद्मास्थापनस्कन्धा रसेनानुविभज्य व्याख्याता

भवन्ति ॥ १२२ ॥

एभ्यो भिषग् बुद्धिमान् परिसङ्ख्यातमिष यह द्रव्यम् अयोगिकं मन्येत, तत्तदपकर्षयेच। यह यचानुक्तमिष च यौगिकं

यौगिकान् सर्व्वरोगहरास्थापनयोगोपगान्। नतु क्रतः साव्वयौगिकांस्तान् विद्यादित्यत आह—सव्वशो हीत्यादि। येभ्यो रोगेभ्य आस्थापनं हितं हि यसात् तान् सर्वान् रोगान् जानता वैदेप्रन सर्व्वरोगेष सव्वशः सर्वे सर्वे पते पड्वर्गाः प्रणिहिता नियच्छन्ति, तसात् तान् पड्वर्गानास्थापनम् अभिषेत्य सार्व्वयौगिकान् विद्यात्। मधरादिस्कन्धादीनां वातादिविकारेषु यद्विधानमुक्तं तदितरेष्वविधिमाह—येषां येपामित्यादि। इत्येते पडित्युप-संहारः॥ १२२॥

गङ्गाधरः—अथ परिसङ्घातमधुरादिवर्गाणां मध्ये यद् द्रव्यं यद्रोगविकोपे

यथोक्तद्दोपसम्बन्धे सित योगिकानित्यर्थः। एतदेव विवृणोति—सर्व्वद्द्रो हीग्यादि। सर्व्वद्द्रा हित समस्तवर्गेणार्श्ववर्गेण यथालाभेन वा। इदानीं सर्व्ववर्गाणां सर्व्वास्थापनसाध्यरोगेषु योगिकत्वं यद्गक्तम्, तत्र उवरे कटुकवर्गेणास्थापनं पित्तकरत्वात् उवरं वर्द्धयति, कफमेव हरित। तेन दोपिवदेशेपेणास्थापनिविदेशेपेषु सर्व्वर्गणानां योगिकत्वमेतदुक्तम्, किन्तु सामान्येन सर्व्वास्थापन-रोगिहितत्वम्, दोपिवदेशेपेषु तु तन्नाननुगुणवर्गस्य प्रयोगस्य निषेध एवेति दर्शयत्राह—येपामित्यादि। येपामिति वातादिविकाराणामुक्तानामिह। तत्र वातहरस्कन्धः न कफप्रशान्त्यर्थमुक्तः, तेन कफवद्धंकः। एवमस्लिदिवर्गेष्वपि ज्ञेयम्। किंवा सार्व्वयोगिकानित्यनेनोक्तानां वर्गाणां समासन्यासयोगेन सकलास्थापनसाध्यरोगहरत्वमुच्यते, न प्रत्येकम् । प्रत्येकन्तु वर्गाणां साध्यत्वेन अनुकरोगकर्मात्वमुच्यते 'तेपाम्' इत्यादिना॥ १२२॥

चक्रपाणिः—सम्प्रत्युक्तवर्गेषु व्याध्यादिपर्यालोचनया यौगिकत्वमपेक्ष्य यौगिकप्रक्षेप्रस्यौगिकोः हरणञ्च दर्शयकाह—तेभ्य इत्यादि । 'बुद्धिमान्' इति पदेन, बुद्धिमतेव प्रक्षेपोहारा गणे कर्त्तव्यो,

मन्येत, तत् तद्द द्याद् । वर्गमपि वर्गणोपसंख्ञेदेकमेकेनानेकेन वा युक्तिं प्रमाणीकृत्य। प्रचरणिमव भिचुकस्य वीजिमव च कर्प-कस्य सूत्रं युद्धिमतामल्पमपि चानल्पज्ञानाय भवति । तस्माद् युद्धिमतामृहापोहवितर्काः, मन्द्युद्धेस्तु यथोक्तानुगमनमेव श्रेयः । यथोक्तं हि मार्गमनुगच्छन् भिषक् संसाधयति कार्य्यमनितमहत्त्वात् ः श्रनित्हस्त्वादुदाहरणस्येति ॥१२३॥

यौगिकं न भवति, तद्वर्जनमपरिसद्ध्यानामन्येपाश्च यौगिकानामुपादानं वर्गान्तरस्य तत्तद्दोगयौगिकते वर्गान्तरसंसर्जनश्च विधातमाह—एभ्य इत्यादि । युद्धिमतां स्त्रानुसारेणोहस्तर्कः अपोहस्तर्केणेकं निश्चित्यान्यस्य वर्जनमाभ्यां वितर्क इदं युक्तमिद्मयुक्तमिति तत्त्वातत्त्वयुद्धिः। एते श्रेय इत्यस्य वचन-विपरिणामेन श्रेयांस इत्यर्थः। मन्द्युद्धेस्तु यथोक्तानुगमनमेव श्रेय इत्यन्वयः। कुतस्ते श्रेयांसस्तच श्रेय इत्यत आह—यथोक्तं हीत्यादि। हि यस्मात् यथोक्तं मार्गं भिषगनुगच्छन् उदाहरणस्यानिमहत्त्वादनिहस्वतात् कार्यं संसाधयति॥ १२३॥

नालपबुद्धीनां तद्ष्वपोहकरणे सामध्यमिति दर्शयति । युक्तिं प्रमाणीकृत्येति कहं प्रमाणीकृत्येत्यर्थः । प्रचरणं भिक्षामुलं तण्डुलादि पात्रस्थम् । नतु मन्दुद्धः कथं यथोक्तानुग्मनम् ? यथोक्तम् अयोगिकमृहेन युद्धिमन्तः प्रपद्यन्ते, तत्रेय तन्मन्द्धीः प्रयुद्धानों न कथमनर्थमायहेदित्याह— यथोक्तं होत्यादि । अनितमहत्त्वाद् या निपातयतीत्यनेन, मन्द्रबुद्धियंथोक्तमाचरित कहं विना न चातित्यापद् भवतीति दर्शयति । यतः शास्त्रे हि यो विधियंत्रोक्तः, स प्रायो योगिक एव भवति, तत्र तत्रापि शरीरादिभेदेन योगिकः, तत्रापि क्तोकमात्रेण योगिक इत्यर्थः । अनितहर्वत्वादुदा-हर्णस्यिति शास्त्रे उदाहरणस्य विधेरनितसङ्ख्यादित्यर्थः । एतेन स्त्रोकं रोगसाधनोदाहरणं स्यात्, कहामेव वा भवतु, तदा मन्द्रबुद्धिः साक्षाद्रशहरणविषयाञ्चानात् स्ययम् अहाक्षमत्वाच न रोगशान्तिलक्षणं कार्य्यं कर्त्तुं क्षमः स्यात् । यतो हुपदाहरणानि वहूनि । तेन तेरेवोदाहरणात्मक-प्रयोगोक्तत्साध्यत्वेनोक्तव्याधीन् साध्यतीति युनम् । इमो चावापोद्धारो गणेषु मध्ये गणोक्तद्वत्ये प्रायो श्रेयो । यदक्तं सुश्रुते—''गणोक्तमित्र यद्द्वयं भवेद् व्याधावयागिकम् । तद्वरेत् प्रक्षियेत् तु यन्मन्येद् योगिकन्तु तद्" इति । ये तु संयोगमहिम्ना कार्यकारकाः प्रयोगा क्षास्त्यहरीतक्याद्यः, तेष्यावाणोद्धारो म कर्त्तव्यो । एवमेव चार्यमभिन्नत्योक्तं सुश्रुते—''पृष् ष्यागमित्वद्वत्वात् तथेव फलदर्शनात् । मन्त्रवत् संप्रयोक्तत्यो न मीमांस्यः कथञ्चन'' ॥ १२३ ॥

^{*ं} अनितमहत्त्वाद्वा निपातयतीति चक्रधतः पाठः ।

श्रतः परमनुवासनदृत्याण्यनुव्याख्यास्यन्ते। तञ्चानुवासनन्तु सनेह एव। सनेहस्तु द्विविधः, स्थावरात्मको जङ्गमात्मकश्च। तत्र स्थावरस्नेहस्तेलमतेलञ्च। तद्द्वयं तेलमेव हृत्वोपदे द्वयते सर्व्व तेलप्राधान्यात्। जङ्गमात्मकस्तु वसा मज्जा सर्धिरिति। तेषां तेलवसामज्ञसर्धिपाञ्च यथापूर्व्व श्रेष्ठम्। वातश्लेष्म-विकारेष्वनुवासनीयेषु, यथोत्तरं पित्तविकारेषु, सर्व्व एव वा सर्व्वष्विप च योगमायान्ति संस्कारविधिविश्षेषादिति॥ १२४॥

शिरोविरेचनद्रव्याणि पुनरपामार्गपिप्पलीमरिचविड्ङ्ग-शियु-शिरोपक्रस्तुम्बुरु-विल्वाजमोदावार्त्ताकीपृथ्वीकैलाहरेणुका-फलानि च, सुरससुमुखक्ठठेरकगण्डीरककालमालकप्णीसच्चक-फणिड्भकहरिद्राश्रङ्गवेरमूलकलसुनतर्कारीसर्पपपत्राणि च, श्रक्कालकेकुष्ठ-नागदन्तीवचापामार्ग-श्वेता-उयोतिष्मती-गवाची-

गङ्गाधरः—अथ क्रमिकलादमुवासनस्य यानि द्रव्याणि योगमृच्छन्ति । तान्याह—अतः परमित्यादि । तैलं तिलमभवरनेहः । अतैलं सर्पपादिमभवः स्नेहः । तत्र तैलातैले स्नेहद्वये उपदृष्ट्वये सर्व्व तैलमतैलक्ष तेलमाधान्यात तैलमेव कुलोपदेक्ष्यते । सर्व्व सप्षम् ॥ १२४ ॥

गङ्गाधरः—पारिशेष्यात् शिरोविरेचनस्य यानि द्रव्याणि योगमृच्छन्ति तान्याह—शिरोविरेचनेत्यादि। गण्डीरः समदः। तकीरी जयन्ती। अलर्कः

चक्रपाणिः—क्रमगासमनुवासनद्रव्यमाह—अतः परिमत्यादि । तत्र तैलमिति तेलमृतं सर्पप-स्नेहादि । तैलप्राधान्यादिति स्थावरस्नेहेषु तिलतेलस्येव प्राधान्यात् । एतेन तैले यो विधिः, स सार्पपादो बोह्रव्यः, 'तैल'दाव्देन नु सार्पपादीनामिह ग्रहणम् । तिलभवस्नेहस्य प्राधान्य-प्रस्यापनार्थं 'तेल'दाव्देन सार्पपादीनां ग्रहणं भवत्येव । यदक्तं सुश्रुते—"निष्पत्तेसाद्गुणत्वाष्य तैलस्वमिनरेष्विप" इति ॥ १२४ ॥

चक्रपाणिः—पारिशेष्याच्छिरोविरेचनान्याह्— शिरोविरेचनेत्यादि । फलानि चेति 'च'कारेण 'तर्क द्रव्यमङ्गोपयोगञ्च दर्शयति । तेन शियोवेद्यमाणे त्वगुपयोगश्च भवति । एवमन्यन्नापि गरडीरावाक्पुण्णीवृश्चिकालीवयःस्थातिविपामृलानि च, हरिद्रा-श्चङ्गवेरमृलकलशुनकन्दाः, लोधमदनसप्तपर्णनिम्वार्कपुण्पाणि च, देवदार्व्यग्रह-सरल-शल्लकी-जिङ्गिन्यसन-हिङ्गु-निर्ध्यासाश्च, तेजिखनीवराङ्गेङ्गुदीशोभाञ्जनवृह्तीकण्टकारिकात्वगिति । शिरो-विरेचनं सप्तविधं फलपत्रमूलकन्दपुण्पनिर्ध्यासत्वगाश्रयभेदात् । लवणकटुतिक्तकषायाणि चेन्द्रियोपश्यानि तथापराण्यनुक्ता-न्यपि द्रव्याणि यथायोगविहितानि शिरोविरेचनार्थमुपदिश्चित इति ॥ १२५ ॥

नत्र श्लोकाः।

लच्गाचार्य्यशिष्यागां परीचाकारगञ्ज यत्। अध्येयाध्यापनविधिः सम्भाषाविधिरेव च॥

इनेतार्कः। इनेता इनेतापराजिता। ज्योतिष्मती घोषकः। गण्डीरपुष्पी दृहत्-समठः। दृश्चिकाली विछातिः। हरिद्राष्ट्रह्नवेरम् लक्लमनानां मूलवत् कन्दाइनेति पुनरुक्तम्। लोधादीनां पुष्पाणि देवदार्चादीनां निर्ध्यासश्च, तेजिस्विनी लतापुटकी इत्यादीनां लक्। इति फलपत्रम् लकन्द्रपुष्पिनय्यास-लगाश्रयभेदतः सप्तविधं शिरोविरेचनं लवणादीनि चलारि न मधुराम्लानि इन्द्रियोपश्चानि ॥ १२५॥

गृङ्गाधरः—अध्यायार्थमुपसंहरति—तत्र श्लोका इत्यादि। लक्षणं तन्त्रं, बुद्धिमानित्यादिना तन्त्रपरीक्षाकारणं चिह्नम्। ततोऽनन्तरमाचार्यं

. उदाहार्थ्यम् । सुमुखादयः पर्णासभेदाः । गण्डीरपुष्पी शमरः । वयःस्था ब्राह्मी । वराङ्गं -गुद्दवक् । इन्द्रियोगशयानीत्यनेन यानि लवणादीनि नेन्द्रियोपघातकानि, तान्येव शिरोविरचने योज्यानि । तथापराणीति मधुराम्लकपायाणि शिरोविरेचने योगिकानि ॥ १२५ ॥

्चक्रपाणिः—संग्रहे लक्षणाचार्य्यशिष्याणामिति शास्त्राचार्य्यशिष्याणां परीक्षा । लक्षणं हि हास्त्रमुच्यते । कारणञ्च यदिति शास्त्रादिपरीक्षाकारणञ्च यदित्यर्थः,—"एतदेवस्मूतं शास्त्रम् पड़ नानि च पञ्चाश्द वादमार्गपदानि च।
पदानि दश चान्यानि कारणादीनि तस्वतः॥
सम्प्रक्षश्च परीचादेनीवको वमनादिषु।
भिषग्जितीये रोगाणामध्याये सम्प्रकीर्त्तितः॥ १२६॥
बहुविधमिदमुक्तमर्थजातं वहुविधवावयविचित्रमर्थकान्तम्।
बहुविधशुभशब्दसन्धियुक्तं वहुविधवादनिषूदनं परेषाम्॥
इमां मतिं वहुविधहेतुसंश्रयां विजज्ञिवान् परमतवादस्दनीम्।
निलीयते परवचनावमर्दने न श्वयते परवचनेश्च मर्दितुम्॥

परीक्षेतेत्यादिनाचार्यपरीक्षाकारणम् । अध्यापने कृतगुद्धिरित्यादिनाध्यापन-विध्यन्तर्गतं शिष्याणां परीक्षाकारणम् । तत्रायमध्ययनविधिरित्यादिनाः अध्येयस्याध्ययनस्य विधिः। भावे कृत् । अथाध्यापनविधिरत्यादिनादौ शिष्य-परीक्षावचनानन्तरमेवंविधमध्ययाथिनमित्यादिनाध्यापनविधिः । सम्भापा-विधिमत ऊद्धे मित्यादिना सम्भापाविधिः । इमानि तु खल्वित्यादिना पद्दु-नानि पश्चाशत्, चतुश्चलारिंशद्दादमागेपदानि । कारणादीनि दशपदानि तत्त्वतः । वमनादिषु परीक्ष्यादेनीवकः संमक्षश्चच ॥ १२६ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायं प्रशंसति । वहुविधिमत्यादि । इदमेतदध्यायार्थतया यद्वहुविधमर्थजातम्रक्तं तद्वहुविधवावयविचित्रम् । अर्थकान्तमर्थतो मनोरमम् । वहुविधशुभशब्दसिन्धयुक्तं परेपां वहुविधवादिनसूदनं किं फलमित्यत आह— इमामित्यादि । इमामेतदध्यायार्थस्याध्ययनतो जातां मितं वहुविधहेतुसंश्रयां परमतवादसुदनीं विजिश्चिता भिषक् परवचनावमहेने निलीयते । परवचनैश्च

अमल इवादिःयः" इत्यादि शास्त्रपरीक्षाकारणम् । आचार्य्यपरीक्षाकारणम् ''एवंविधो ह्याचारयैः'' इत्यादि ; शिष्यपरीक्षाकारणन्तु ''अध्याप्यमध्यापयन् ह्याचार्यः'' इत्यादि । अध्येयमध्येतस्यम्, तस्य विधिरध्ययनविधिरेव ॥ १२६ ॥

चक्रपाणिः—इद्युक्तमर्थजातमिति लक्षणाचारर्यशिष्यपरीक्षारूपमर्थजातमुक्तम् । अर्थकान्त-मिति यथासम्बद्धार्थतादिना गुणेन कमनीयार्थे भवति तथोक्तमित्यर्थः । शब्दस्य वाक्ययोजनं दोषादीनान्तु भावानां सद्येपासेव हेतुना छ । सानात् समस्तसानानि निरुक्तानि विभागशः ॥ १२७ ॥ इत्यिश्वदेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते रोगभिषग्-जितीयं विसानं नासाष्टसोऽध्यायः ॥ ५ ॥

महितुं न शक्यते इति । अध्यायं प्रशस्य स्थानार्थमाह । दोपार्थमाह—दोपा-दीनामित्यादि ॥ १२७॥

अध्यायं समापयति —अग्निवेशेत्यादि । विमानस्थानग्रन्थसङ्घा त्रयो-विंशत्यधिकं श्लोकानां सहसम् । ० ।

> इति श्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजन्पकन्पतरौ तृतीयस्कन्धे विमानस्थानजन्पे रोगभिपग्जितीय-विमानजन्पाख्याष्टमी शाखा ॥ ८॥

शब्दसन्धिः । दोपादीनामित्यादिना विमानस्थानार्धसंग्रहं करोति । हेतुमदित्युपपत्तिमत् यथा भवति, तथा दोपादिमानादित्यर्थः, निरुक्तानीति निरुह्योक्तानि । निरुक्तिश्च— दोपादयो विशेषेण मीयन्त एभिरिति विमानानि ॥ १२७ ॥

इति चरकचतुराननश्रीमचक्रपाणिदत्तप्रणीतायुःर्वेददीपिकायां चरकताःषय्यंटीकायां रोगभिपग्जितीयविमानन्याख्या नाम अष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

समात्तिदं विमानस्थानम् ।

॥ श्रीः ॥

भः हेतुना इत्यत्र हेतुमत् तथा समस्तमानानीत्यत्र सम्यगविमानानीि चक्रसम्मतः पाठः।



शारीरस्थानम् ।

प्रथमोऽध्यायः।

त्रथातः कतिधापुरुषीयं शारीरं व्याख्यास्यामः, इतिह स्माह भगवानात्रेयः॥ १॥

गङ्गाधरः—अथ खल हेतुलिङ्गोपधन्नानं स्वस्थातुरपरायणमायुर्व्वदं धातु-वपम्यनिष्टत्तिधातुसाम्यरक्षणार्थप्रक्तवान्। तत्र धातुविपम्यनानार्थं निदान-स्थानं धातुवैपम्यनिष्टत्तिधातुसाम्यरक्षणार्थं विमानस्थानं रसादिविमान-नानार्थप्रक्तवा चिकित्साधिकरणशरीरीयतावद्भावनानस्य तत्र हेतुलात् तावत् शरीरीयभावनानार्थमधूना शारीरस्थानमारभते। तत्र वेदाधिकरणतया पूर्व्वाध्याये पुरुष उक्तः सत्त्वमात्मेत्यादिना। तस्य पुरुपस्य सर्व्वभाव-प्रतिष्ठानस्य शारीरमानसोभयव्याधिचिकित्साविषयत्नेन शारीरेष् भावेषु प्राधान्यात् प्रथमतस्तद्धे दादिनानहेतुं कतिथापुरुषीयं शारीरमध्यायमाह—

चक्रपाणिः—निदानस्थाने ज्ञातहेत्वादिना तथा विमाने प्रतीतरसदोपमानेन कर्त्तन्यचिकित्साधिक करणं शरीरं ज्ञातव्यं भवति । यतोऽप्रतिपन्नेऽशेपविशेषतः शरीरं न शरीरविज्ञानाधीनां चिकित्सा साध्वी भवति, अतः शरीरं कारणोत्पत्तिस्थितिवृद्ध्यादिविशेषः प्रतिपादिवितुं शारीरं स्थानम् उच्यते । अत्रापि चात्यन्तरुःखोपरममोक्षकारणचिकित्सोपयुक्तपुरुषभेदादिवितिपादकतया प्रधानस्थेन

कतिथा पुरुषो धीमन् धातुभेदेन मिद्यते।
पुरुषः कारगां कस्मात् प्रभवः पुरुषस्य कः॥
किमज्ञो ज्ञः स नित्यः किं किमनित्यो निद्धितः।
प्रकृतिः का विकाराः के किं लिङ्गं पुरुषस्य च॥
निष्क्रियञ्च स्वतन्त्रञ्च विद्यानं सर्व्वगं विभुम्।
वदन्त्यात्मानमात्मज्ञाः चेत्रज्ञं साचिगां तथा॥
निष्क्रियस्य क्रिया तस्य भगवन् विद्यते कथम्।
स्वतन्त्रश्चेदनिष्टासु कथं योनिषु जायते॥
वशी यद्यसुखैः कस्माद् भावैराक्रस्यते वलात्।
सर्व्वाः सर्व्वगतत्वाच्च वेदनाः किं न वेत्ति सः॥
न पश्यति विभुः कस्माच्छैलकुड्यतिरस्कृतम्।
चित्रज्ञः चेत्रमथवा किं पूर्व्वमिति संश्यः॥

अथात इत्यादि । अथात इत्येतयोः पूर्व्योक्तं व्याख्यानं हो यम् । कृतिथा-पुरुषीयमिति । एतद्ध्यायादौ कितथा पुरुषो धीमिन्नत्यादिवानयस्थकितथा पुरुष इत्यथमिषकृत्य कृतोऽध्याय इति, तं कितिधापुरुषीयमध्यायम् । शारीर-मिति । शरीरं पश्चमहाभूतिवकारसमुदायात्मकं चेतनाधिष्टानभूतमुक्तं तस्य इदिमिति शारीरं, शरीरप्टत्तं यावद्दस्तु तदेवाधीयते यत्रेत्यध्यायत्नेन व्यपदिश्यते । अत्र पष्टी आधाराधेयतासम्बन्धे समवायसम्बन्धे वा । आत्मादिसम्बत्तसम-ह्यायोऽपि पुरुष इति सम्बीपां परस्परं तत्त्वानां समवायात् ॥ १॥

कितिधापुरुपीयोऽध्यायोऽभिधीयते। कितिधित कितिप्रकारः। पुरुष इत्यनेन चाविशेषेण पुरुषशिद्यायोऽभिधीयते। यतः खाद्यश्चेतनापष्टाः इत्यादिना, तथा चतुर्विशितक-भेदिभिष्णश्च कर्मपुरुष एव शरीरी वाच्यः। चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंझकः इत्यनेनात्मेव शरीररहितः पुरुषशब्दार्थःचेन वाच्यः। पुरुषधारणाञ्चातुः। तेन, धातुभेदेनेति पुरुषधारणार्थः भेदेन। धीमिन्निति विशेषेण य एव धीमान् स एव पुरुषभेदादिकिममं वद्यभाणं सुसूदमं वक्तुं समर्थं इति दर्शयति। पुरुषः कारणं कस्मादिति कस्माद्धेतोः पुरुषः संसारे प्रधानं स्थायिकारणम् इत्यर्थः। प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः कारणम्। योनिध्विति जातिषु। सन्वाः इति परपुरुष-

ज्ञे यात् चेत्राद् क विना पूर्व्यं चेत्रज्ञो हि न युड्यते । चेत्रश्च यदि पूर्व्यं स्यात् चेत्रज्ञः स्याद्शाश्वतः ॥ साचिश्रृतश्च कस्यायं कर्त्ता ह्यन्यो न विद्यते । स्यात् कथं वा विकारस्य विशेषो देदनाकृतः ॥ त्राय चार्तस्य भगवंस्तिस्त्रणां कां चिकित्सिति । त्रायतातां वेदनां वैद्यो वर्त्तमानां भविष्यतीम् ॥ भविष्यन् या त्रात्मप्राप्तिरतीताया त्रानागमः । साम्प्रतिक्या त्रापि स्थानं नास्त्यत्तेः संश्यो ह्यतः ॥ कारणां वेदनानां किं किमधिष्ठानमुच्यते । क चैता वेदनाः सर्व्या निवृत्तिं यान्त्यशेषतः ॥ सर्व्ववित् सर्व्यसन्त्यासी सर्व्यसंयोगनिःस्त्रतः । एकः प्रशान्तो स्तात्मा केर्लिङ्गेरुप्लभ्यते ॥ २ ॥ इत्यिप्तवेशस्य वचः श्रुत्वा मित्मतां वरः । सर्व्यं यथावत् श्रोवाच प्रशान्तात्मा पुनर्व्वसः ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः—तत्र प्रश्नाः । कतिथा पुरुप इत्यादयस्त्रयोविंशतिः प्रश्ना यथा-स्वम् उत्तरवचनव्याख्यानात् प्राक् व्याख्यास्यन्ते ॥ २ ॥

गङ्गावरः — इतीत्यादि । इति त्रयोविंशतिनश्रवोधकमिवेशस्य शिष्यवरस्य वचः श्रता मित्रमतां वरः मशान्तात्मा शान्तमना जीवनमुक्तः पुनर्व्यसुर्नाम मुनिर्णु रुः सर्व्य त्रयोविंशतिकं मश्नं यथावत् यथाविधि याथाध्येन मोवाच उत्तरवचनेन व्याख्यातवान् ॥ ३ ॥

गता अपि । क्षेत्रज्ञ आत्मा । क्षेत्रमन्यक्तविज्ञितं सन्त्रं वक्ष्यमाणम् । ज्ञेयिमत्यादि—असित क्षेत्रे क्षेत्रज्ञानाभावाञ्च क्षेत्रज्ञत्वमुपपद्यते इति भावः । साक्षिभृत इति साक्षिसदृशः । विशेषो वेदनाकृत इति पुत्रादिज्ञानरूपवेदनाजनितो हर्पादिविशेष इत्यर्थः । तिस्णामिति अतीतानागत-वर्त्तमानानां दुःखरूपाणां मध्ये कां चिकित्सिति । अतीतामित्यादौ 'किं'शब्दोऽध्याहार्थः । तेन किमतीतां चिकित्सिति, किं वर्त्तमानाम्, किंवा भविष्यन्तीमिति योज्यम् । स्थानं नास्तीति

ज्यं क्षेत्रमिति चकः ।

खाद्यश्चेतनाधातु-पष्ठास्तु पुरुषः @ स्मृतः । चेतनाधातुर्प्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः ॥

गङ्गाधरः ननु कस्य प्रशस्योत्तरतया किं व्याख्यातवानित्यतः प्रथम-मक्षस्योत्तरमाह—खादय इत्यादि। अत्राप्तिवंशः प्रथमाध्याये सर्व्याधिष्ठान-तया सन्वेकियाधिकरणतया च पुरुप उक्तः स खलु धातुभेदेन कतिथा भवतीत्यभिषेत्य प्रथमिदं पृष्ट्यान्। कतिथा पुरुषो धीमन् धातुभेदेन भिद्यत इति अस्यार्थः ;—हे धीमन् गुरो महर्षे ! पुरुषः कतिथा भिद्यते एतावन्मात्र-पश्ने पुरि शरीरे वासिलादात्मा पुरुषः कतिथा धातुभेदेन भिद्यते इत्येवं गम्यते। तथा पूर्व्याध्यायोक्तः--सत्त्वमात्मा शरीरश्च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्। लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्व्यं प्रतिष्ठितम् ॥ स पुर्गाइचेतनं तच तचाधि-करणं समृतम्। वेद्स्यास्येत्यनेन-यः पुरुषः स धातुभेदेन कतिथा भिद्यते इत्यपि गम्यते। तत्र कतिथा पुरुष एतावन्मात्रपदने नरसुरासुरपशुपक्षि-कीटपतङ्गरुक्षत्णाद्यशीतिलक्षयोनिमाणिनां मत्येकशो विधा मश्रः स्यात् तद्वारणायोक्तं धातुभेदेनेति । एतादशपदने हेरकैकपुरुपस्य धातुभेदेन कनिधाल-मिति कापितम्। अथात्र धातुर्धारणपोपणोपादानहेतुरारम्भकोऽथेः। पुरीप-मूत्रवातादयो धारणहेतवो धातवः। रसादयः पोपणहेतवो धातवः। ओजः-मसतयो धारणपोपणयोहे तवो घातवः, सर्व्वे ते चोभयार्थकराः परस्परान्वयादिति धातवः सन्वेपामिति न तत्पद्नः। मिथः संयुक्तसत्त्वात्मशरीरसमुदायात्मकः पुरुषो धातुभेदेन कतिधेति मक्षमभिष्रेत्योत्तरयति—खाद्य इत्यादि। पड्-धातुक एकधातुकश्चतु विवैश्वतिधातुकक्चेति धातुभेदेन त्रिविधः पुरुपो भवतीति बापयितुं प्रथमं पड्धातुकं विष्टणोति । खाद्यक्वेतनाधातु-पष्टास्तु पुरुपः रमृत इति, पङ्धातुक एकविधः पुरुषः। स्वमाकार्गं शब्दतन्मात्ररूपं तदादियेषां वाय्यादीनां स्पर्भतन्मात्रादिरूपाणां न पूर्वपूर्वभूतानुभिवष्टरूपाणाञ्च ते क्षणिकत्वेन चिकित्सायाः प्रवृत्तियोग्यकालावस्थानं नास्ति । वेदनानां कारणमधिष्टानज्ञ यद्यपि दीर्द्धभीवितीयेऽप्युक्तम्, तथापीह प्रकरणवशाद्विशेपमतीत्याकाह्वया च विशिष्टाः पुनः प्रश्नाः। प्रक्षार्थाश्चामी उत्तरतन्त्रेणाचारर्थेण प्रपञ्चनीया इति तरेंच स्याकरणीयाः ॥ १—३ ॥

चक्रपाणिः—खादय इत्यादि । खादयः खं वायुरिनरापः क्षितिस्तथा इति वध्यमाणाः । चेतनापष्टा इत्यत्रैव चेतनाशब्देन चेतनाधारः समनस्क आत्मा गृह्यते। बादिग्रहणेन

चेतनापष्टा धातवः इति पाठान्तरम् ।

खाद्यः कि पञ्च खं वायुज्यौतिरापो भूरिति कि वा खादीनि नव द्रव्याणीत्यत उक्तं चेननाथानुपष्टा इति तहिशेषणं पष्टेनिपद्म्। चेतनाथातुः पष्टो यत्र ने नथा चेननाधात्पष्टाः खाद्यः समस्तरूपेण स्मृतो न न् व्यस्तरूपेणेनि पङ्धातुक एकविधः पुरुषः । चेतना खलु सा महानिर्ध्याणस्यपलये यदव-शिष्यने शक्तित्रसः। सा चेतनाशक्तिम् लिशकृतिः सर्व्वात्मा चैतन्यकारिणी तचेतनाधातुरव्यक्तारूय आत्मा, खाद्यः पश्च महाभूतानि, शब्दमात्राकाशः स्पर्शमात्रवायु रूपमात्रज्योती रसमात्रा आपो गन्धमात्रा पृथिवीति पङ्धातुकः पुरुषो लोके विश्वरूपः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः पाणिनामन्तरात्मा स्वप्न-स्थानः। उक्तं-मुण्डकोपनिपदि। अग्निम्रेद्धा चक्षपी चन्द्रमुख्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्वितताश्च वंदाः। वायुः पाणो हृद्यं विश्वमस्य पद्ध्यां पृथिवी हेप्रप सर्व्वभृतान्तरात्मा। इति। एप मृश्यरूपः सर्व्वभृतानां स्वमस्थानो भृतात्मा लोके। व्हन्माण्ड्कयोपनिपदि चोक्तः। तद् यथा—स्वमस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः । इति । अस्य सप्ताङ्गानि पश्चमहाभृतानि तंजो द्विधाभूतमेकं मृद्धापरं चक्षुः श्रोत्रमाकाणं वायुः प्राण आपो वस्तिः पृथिवी देह आत्मा चाव्यक्तं स्वप्ने प्रविविक्तभोगे चास्य खल्वेकोनविंशतिर्मुखानि। तद् यथा-पश्च प्राणाः पश्च बुद्धीन्द्रियाणि मुक्षाणि श्रोत्रादीनि पञ्च कम्मेन्द्रियाणि च मुक्ष्माणि पाय्वादीनि । सुक्ष्मञ्च मनोऽहङ्कारो महाश्चित्तञ्चेति। एतत्समुदायात्मकः पङ्धातुकः पुरुपः प्राणिनां स्वमस्थानस्तैजसो नाम भूतात्मा । नन्वेते पड्धातवः किं प्रसिद्धा एवानुपादाना एतत्पड्धातुक एवैकविधः किं पुरुषो नान्योऽस्तीत्यत आह्— चेतनाधातुर्ध्येकः स्मृतः पुरुपसंज्ञकः। इति। यस्य धारणपोपणोपादान-हेतुर्यः स तस्य धातुः। चेतना सर्व्यचैतन्यहेतुरचिन्त्यानन्तप्रभाववती मूल-प्रकृतिः शक्तिः ब्रह्म, या महानिर्व्वाणेऽविशय्यते। तचेतनाशक्त्युपादानः चेतनाथातुर्य एकः खल्वद्वितीयः सोऽपि पुरुपसंज्ञकः स्मृतः। पुरि व्याकृता-व्याकृतशरीरे वसतीति वसेरौणादिकः कच्प्रत्ययः पुरुषः। कथमेनं चेतना-शक्तिरुपाददाविति चेत् तदुक्तं तैतिरीयोपनिपदि। असद् वा इदमग्र आसीत् ततो वै सद्जायत । तदात्मानं स्वयमकुरुत तस्मात् तत् सुकृतमुच्यते ॥ इति । चेन्द्रियाणि खादिमयान्यवरुद्धानि । अयञ्च वैशेपिकदर्शनपरिगृहीतः चिकित्साशास्त्रविषयः पुरुषः। अयमेव पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुषः इत्यनेन सुश्रुतेनाप्युक्तः। स्मृत इति . परिभाषया पृथ्वीचारयीणामप्ययं पुरुषशब्दवाच्योऽभिन्नेतो नास्मत्कव्पित इति दर्शयति । पुरि अस्य मञ्जस्यानुवाकः । यद् वे तत्सुकृतं रस्रो वे सः । रसं देशवायं लब्ध्वानन्दी भवति ॥ उ सोऽकामयत वहु स्यां प्रजायेयेति, स नपोऽतप्यत । स नपस्तप्वेदं सन्बेमस्जत यदिदं किश्च। तत् सप्टा तदेवानुमाविवात् तद्नुमविवय सच रयचाभवत्।। (यदिदं किञ्च) निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च निलयनञ्चानिलयनञ्च विकानश्चाविकानश्च सत्यश्च अनृतश्च। सत्यमभवत्। यदिदं किश्च तत् सर्व्य सत्यमित्याचक्षते ॥ इति । अस्य ब्राह्मणक्छान्दोग्योपनिपदि । तद् यथा -असदेवेद्मग्र आसीत् तत् सदासीत् तत् सद्भवदित्युत्तवा चान्नवीत्। सौम्येद्मग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तद्वैक आहुः ॥ असदेव सौम्येद्मग्र आसीदेक-मेवाद्वितीयं तस्याद्सतः सज्जायेतेति कुतस्तु खलु सीम्यैवं स्यात्।। होवाच कथमसतः सद्जायेतेति सत् त्वेव सौम्येद्मग्र आसीदेकमेवाहितीयम् इति। तदैक्षत यह स्यां प्रजाययेति तत् तेजोऽस्रजत तत् तेज ऐक्षत यह स्यां प्रजायेयेति तद्योऽसुज्यत।। तस्माद्यत्र क च शोचित स्विद्यति च पुरुष-स्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते ॥ ता आप ऐक्षन्त वहु स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमस्जन्त ।। तस्माद् यत्र क च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवत्यद्धार एव तदध्यनाद्यं जायते।। सेयं देवतैक्षत हन्ताहिममास्तिस्रो देवता अनेन जीवेन आत्मनानुप्रविद्य नामरूपे व्याकरवाणीति।। तासां त्रिष्टतं त्रिष्टतमेकेकां करवाणीति सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुभविश्य।। नाम-रूपे व्याकरोत् तासां त्रिष्टतं त्रिष्टतमेकैकामप्यकरोत् ॥ इति । अत्रासद्दा इद-मग्र आसीत् ततो वै सद्जायतेति यदुक्तं तत्रासत्पदेन सद्वोक्तं छान्दोग्योप-निषदि। तत्र प्रावादुका विप्रतिपद्यन्ते। असद्दा इदिमत्यसत्पदेनासदेव शुन्यमेव तस्माद्सतः सज्जायेतेति कथमसत्पदेन सदुच्यते इति । तत्र सिद्धान्त उक्तइछान्दोग्योपनिपदि । कुतस्तु खळु सौम्यैवं स्यात् । कथमसतः शुन्यतः खल्ववस्तुतः सद्वस्तु जायेतेति। न हि खपुष्पात् फलं जायते इति। एतच कपिछेन साह्ये परीक्षितम्। तद् यथा। शुन्यं तत्त्वं भावो विनश्यति। विनाशस्य वस्तुधममेलादिति, तदपवादमात्रमबुद्धानाम्। असद् वै शून्यं तत्त्वं यथार्थं न तु सत्। स हि भावो विनइयति विनाशस्य वस्तुधम्मेलात्। तस्मात् अवस्तु खर्वसत् तन्न विनश्यति न हि ब्रह्म विनाशीति यदुच्यते तदबुद्धाना-मपवादमात्रमिति। तत्राहुः प्रावादुकाः। उभयपक्षसमानक्षेमलादयमपीति। सत् शारीरे शेते इति व्युत्पत्त्या य आत्मा पुरुपशब्देनोच्यते, तमाह—चेतनेत्यादि । अत्र पुरुपः इति कर्त्तव्ये यत् पुरुपसंज्ञकः इति करोति, तेन चेतनाधातुरूपः पुरुपश्चिकित्सायामनभिष्टेतः, एवाय आसीदिति पक्षे तत् सर् ब्रह्मज्ञाने प्रयोजनं निर्वाणं मुक्तः प्रदीप-निर्वाणवद्सद्धावः क्षेमः। असदिवाय आसीदिति पक्षेऽपि तथेति समानक्षेम-लादयम् अप्यस्तपक्षोऽस्माकं कथमगुद्धानामपवादमात्रमिति। तत्राह् सद्दादी। अपुरुपार्थतमुभयथा। सत्पक्षे यदि निर्वाणं मुक्तिद्धिपनिर्वाणमिष्यते तदा न पुरुपार्थो भवति। अर्थो हि वस्तु। तथैवासत्पक्षेऽपि। तथा निर्वाणं मुक्तिः अपुरुपार्थो भवतीत्युभयथा न निर्वाणं पुरुपार्थो भवतीत। पुरुपस्य मुख्यः प्रयोजनीभूतोऽधी वस्तु पुरुपार्थो न लवस्तु पुरुपार्थो भवतीति। प्रकृतवस्तु-रूपणाभिनिष्पत्तिनिर्वाणम्। तस्माद् यदि शुन्यमसदेव तत्त्वं भवति तस्मात् अवस्तुतो न वस्तुसिद्धिः स्यात्, असतः सद्ववस्तुतः सद्जायतेति न सिध्यति॥ भावे तद्योगेन तत्सिद्धिरभावे तद्भावात् कुतस्तरां तिरसिद्धः। भावे खल्य सद्द्विण वस्तुनि तद्योगेन वस्तुसिद्धिर्थथा मृद्योगेन घटादिनिष्पत्तिः। अभावे खल्वसित ब्रह्मण्यवस्तुनि तद्योगाभावात् कुतस्तरां वस्तुनिष्पत्तिः। अभावे खल्वसित ब्रह्मण्यवस्तुनि तद्योगाभावात् कुतस्तरां वस्तुनिष्पत्तिः। स्यात् उपादाननियमादिति कपिलः।

अक्षपादेनाप्युक्तम् । अभावाद् भावोत्पत्तिर्नाऽनुपमृद्य प्रादुर्भावात् । असतः सदुत्पत्तिने भवति अनुपमृद्य कारणं पादुर्भावप्रसङ्गात्। उपमृदैप्रव वीजमङ्कर उत्पद्यते। ननु नष्टाद्दीजादङ्क्र्रो जायते तस्मान्न सतः सदुत्पत्तिरित। सिद्धान्तः - क्रमनिर्देशादमितपेध इति। नष्टार् वीजादङ्कुरो जायत इति हेतोः स्तः सदुत्पत्तेः प्रतिपेधो न । वस्मात् ? क्रमनिर्देशात् । उपमर्देपादुर्भावयोः पौर्व्वापर्व्यनियमः क्रमः। तन्निर्देशाद् अभावाद् भावानाम्रुत्पत्तिरेव तत्पितिपेधो न भवति । क्रमश्चायम् । व्याहतव्यूहानाम् अवयवानां पूर्व्वनिष्टत्तौ व्यूहान्तराद् द्रव्यनिष्पत्तिनीभावात्। वीजावयवाः कुतिश्चित्रिमित्तात् पादुर्भूतिक्रयाः पूर्व्वच्यूहं जहति व्यूहान्तरञ्चापद्यन्ते । इति व्यूहान्तरादङ्कुर उत्पद्यते । इति । तत्राहुः पावादुकाः। असदिति अस्तीति सत् न सदसदिति वस्तूनामभाव एव प्रतिपद्यते। नासद्भावः सद्भवतीति। तत्राह गौतमः—सर्व्यमभावो भावेष्वित-गोरभावोऽको भावः तथाकाभावो गोभाव इति भावेषु रेतराभावसिद्धेरिति। मध्येऽन्योन्याभावसिद्धेः सर्व्वं वस्तुं ह्यभावः । न चावस्तुरूपोऽभाव उपपद्यते । भावादन्य इत्यभाव इति चेत् तत्रापि अन्यशब्दंन भावादन्यलाश्रयः खछ भाव-मन्तरेण न सम्भवति न हावस्तु भावादन्यलं नाम पृथत्तवं गुणमाश्रयितुमहेति । किन्तु शास्त्रान्तरस्यवहारानुरोधादिहाप्ययं पुरुपशब्देन संज्ञित इति दर्शयति, चिकित्साविषयस्तु पड्धातुक एव पुरुषः। अत एव तत्र 'संज्ञित'श्रहणं न कृतम्। अयञ्च पुरुषशब्दो एवश्च भावानामसत्ता यद्यभाव उच्यते तद्पि भावावत्तनमवस्तु चाभाव इत्यभिमायेणोक्तमभावाद्भावोत्पत्तिर्निति गौतमेन। तत्र हावस्तुन्यभावशब्दप्रयोगः कृत इति । तथा च द्विविधो भवति अभावो वस्तुभूतइचावस्तुभूतइच । तत्रासत्-पदस्थनञा नावस्तुभूताभाव उच्यते उपादानोपमईनासम्भवेन सदुत्पत्त्यसुप-पत्तेः। तस्माद वस्तुभूत एव अभाव इह नजा प्रतिपद्यते।

तत्रोक्तं कणादेन वैशेपिके शास्त्रे असद्वा इद्मग्र आसीदिति स्मृला। क्रियागुणच्यपदेशाभावात् प्रागसत्। सद्सत्। सतः क्रियागुण-व्यपदेशाभावादर्थान्तरभावात्। संचासत्। यचान्यदसदतः पूर्वाध्याये दर्शतं व्याख्यातश्च। तस्मात् तेजोऽवन्नादिभ्यः ऽन्यदसदिति। वरतुविशेषः। तद्यथोक्तं इवेताश्वतरोपनिपदि। कालः स्वभावो नियतिर्यहच्छा भूतानि योनिः पुरुषेति चिन्ता। संयोग एपां न तु आत्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोरिति। कालादीनामेकैकस्मादेपां जन्माद्यभावान कालाद्न्यतमं ब्रह्मेति चिन्ता, तथैपां संयोगः संघातो न ब्रह्म। आत्मा हि नेशः सुखदुःखहेतोरिति। तहिं किं कारणं आत्मथावात् । ब्रह्मेत्यत उक्तम् । ते ध्यानयोगानुगता अपदयन देवात्मज्ञक्तिं स्वगुणैनिगृदाम् । यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येक इति। बह्मवादिनो ध्यानयोगानुगता देवस्यात्मा या शक्तिः प्राक् सर्गात् स्वगुणः प्रभावैः निगृदा क्रियागुणव्यपदेशरहिता आसीत् तां ब्रह्म अपद्यन् । तस्या हेमकस्या एव सर्व्वेषां जन्मजीवनप्रतिष्ठानाधिष्ठानसुखासुखवर्त्तनानि भवन्ति नान्यस्मात एकस्मात् कस्माचिद्पीति। देवस्तु स यः एकः कालादीनि कारणान्यधि-तिष्ठति तस्य देवस्यात्मा शक्तित्रेहा। नान्यदेवस्य न वा तस्य देवस्यात्मनः स्यस्य शक्तिव्रहा। शानवलिक्रयाशक्तयादिव्यवच्छेदाथेमात्मेति। तसाद् देवस्य वायुरिव प्रभावाख्या शक्तिस्तद्विशिष्टाऽतिसृङ्मपरम-शक्तिरिति नोक्तम्। च्योमरूपा शक्तिक्वेति द्वयमपि शक्तिरूपेणैकमेवासीत् न तु विजातीयद्वैतं वह्नप्रादेः आलोकरूत प्रभावस्तर्वि शिष्टरूपञ्चेति द्वयं यथा रूपलेनैकमेव वस्तु न त विजातीयद्वैतं न हि रूपाद्न्य आलोककृत् प्रभावस्तथा शक्तेने पृथक् प्रभावाख्या शक्तिरित्यत उक्तमेकमेवाद्वितीयमिति। तदद्वितीयमेक्रमसत क्षीरवत्। क्षीरं यथा रनेहां भवत्यपरिणामि चाविकारि रनेहातिरिक्तद्रवां शे गवादाविप पड्धातुसमुदाये यद्यपि वर्तते, तथापि सर्व्यप्रधाने नर एव विशेषेण वर्तते। तेन नातिप्रसिद्धो गवादौ प्ररूपशब्दः ।

तु परिणामि तत् विक्रियमाण द्धितक्रादि भवति रनेहस्तु घृतनवनीतरूप एव वर्तते न तु विवर्त्तते, तद्वद्तिमृक्ष्मपरमव्योमरूपा मुख्यांशशक्तिनं परिणामिनी न च विक्रियते। प्रभावाख्या तु गुणांशभूता शक्तिः परिणामिनी ततो विक्रियते। इत्येवमेका शक्तिरेव सत् खल्वसद्वस्था। तनो वै सद्जायतेति।

यथा तद्सत एव सतः सद्जायत तदुक्तं छान्द्रोग्योपनिपद्। तद्क्षत वहु स्यां भनाययेति तत् तेनोऽस्नतेत्यादि । तत् सदेवासर्वस खलु शक्तिः सन्वंकाल-नया मभावाख्यया शक्ता महानिर्वाणाख्यं प्रत्यं कृतीकीवाद्वितीया स्वप्रभाव-गुणनिगृदा सती क्रियागुणव्यपदेशरहिनैव प्रसप्तेवासीत्। तन्महानिव्वाणे सन्वंकालनाशक्तेश्रकवर् भ्रमणस्वरूपतात् क्रमेण तद्त्यये सन्वंसञ्जंनाशक्त्राद्रेके प्रथमतो रञ्जनाशक्तिरुद्रिक्ता भवति यदा तदा निशावसाने प्रसुप्तोत्थितपुरुप इव सा शक्तित्रेह्म प्रमुप्तोत्थितेव सती अहं वहु स्थाम्। कथीमति प्रजायेयाहं प्रजाः प्रमृययेति ऐक्षतालोचयत्। तथालोच्य रञ्जनाशक्तिपरिणामरूपं तेजो-अस्जत । लोहितमिवाभासमानं लोहितवणेस्याकररूपं न त लोहितं तेजः सर्व्वपां ज्योतिपामाकररूपं ज्योतिङचक्षरित्र चक्षुरस्जन । अथ तत् तेज ऐक्षत वहु स्यां प्रजायेयेति । तद्पोऽस्रजतेति । तत् तेजोऽहं वहु स्यां प्रजायेयेत्यालोच्य स्वस्यैकाद्वांजैकांजं विकुव्वेदपोऽस्जत । ता आपः शुक्ता इवाभासाः शुक्रवणस्य आकररूपा न तु शुक्काः। तथा रसरूपाः सन्वरसानामाकररूपा अमृतरूपा आप इवापः सर्व्वासामपामाकररूपा न खापः। तत्रेयं युक्तिः। तस्मात् इत्यादि । यस्मात् तेजस एवादौ जाता आपस्तस्मादिदानीं यत्रकुत्रचित् पुरुषः शोचित शोकांत तेज उद्विक्तं भवति। तदुद्रेकात् प्ररुपः स्विद्यति घम्मेवान् भवतीति तेजस एवापोऽधिजायन्ते इति। आप 'ऐक्षन्त वहु स्थाम मजायेमहीति। तद्नमस्जन्तेति ता आपो वयं बहु स्याग प्रजायेमहीत्यालोच्य स्वैकादशांशैकांशं विकुव्वेत्योऽन्नमस्जन्त । · तदन्नं वृष्णिमित्राभासं कृष्णवर्णस्याकरभूतं न तु कृष्णवर्णं गन्धवदाभासं सर्व्यगन्धाकरभूतं न तु गन्धवती प्रथिवी। तचाद्यमाद्यमिवाद्यानां सम्बेपामाकररूपं न लाद्यमिति । तेपामेपां तेजोऽवन्नानां मेलने सति लोहित-शुक्रें कुण्णवद्याभासमाना हिरण्यवणवद्याभासा सैवाजा शक्ति बेह्यातिपरमस्भ-ध्वंनिमती परममुक्ष्मच्योमरूपा गायत्री वागेव देवताविरभूत। सा शक्ति-प्रभावतेजोऽवन्नानीति पश्चात्मिकाऽनन्ताचिन्त्यप्रभाववती । एवम्रक्तं वायवीये । शक्तिः प्रथमसम्भूता गायत्री सा पदोत्तमेति। इत्येतत् तेजोऽबन्नतन्मय-

गायत्रीति चतुष्कं सद्जायत तस्याद्सत एव सतः शक्तिव्रह्मतः। इत्येतत् तु यत् सत् गायत्रप्राख्यं तदात्मानं स्वयम्कुरुतेत्यतः स्वयम्भूर्नामैपः ; सुष्टु अयः शुभावहो विधियस्मात् स स्वयः, तत् स्वयं तस्मात् स्वयतात् सुकृतं पुण्यमुच्यते । अत एव शिव इत्याख्यायते। यथैनं परमात्यानमक्करुत तत् सत् छान्दोग्ये-ऽप्युक्तम्। गायत्री वा इदं सर्व्वं भूतं यदिदं किश्च। वाग् वै गायत्री। वाग् वै सर्वे भूतं गायति च त्रायते चेति। तर्व्याख्यातं क्रम्मेरूपिणा भगवता विष्णुना नारदादिभिः पृष्टेन। तद् यथा—या सा माहेश्वरी मूर्त्तिक्ञोंन-रूपातिलालसा। अनन्या निष्कले तत्त्वे संस्थिता तु स्वतेजसा। व्योमसंज्ञा परा काष्टा सेयं हैमवतो सती। शिवा सर्व्वगताऽनन्ता गुणातीता सुनिष्कला। एकानकविभागस्था ज्ञानरूपातिलालसा । स्वाभाविकी च तन्मूला प्रभा भानो-रिवामला। सेयं करोति सकलं तस्याः काय्यं विदं जगत्। चतस्रः शक्तायो देव्या खरूपत्वेन निम्मिताः। शान्तिविद्या प्रतिष्ठा च निष्टतिरिति ताः स्मृताः। चतुच्च्यू हस्ततो देवः मोच्यते परमेश्वरः॥ इति। एवं परमच्योमरूपं चतुव्वयूहं परमात्मानं शिवं दृः ता यथा वभूव तदुक्तमुपमन्युना । तिच्छवस्य शिवायाश्व साम्यञ्चेतत् स्वभावतः। यथा शिवस्तथा देवी यथा देवी तथा शिवः। नानयोरन्तरं विद्याचन्द्रचिन्द्रकयोयंथा। चन्द्रो न खलु भात्येष यथा चिन्द्रकया विना। न भाति विद्यमानोऽपि तथा शक्तया विना शिवः। शक्तो यया शिवो नित्यं शक्तो मुक्तो च देहिनाम्। आद्या सैका परा शक्तिश्चिन्मयी शिवसंश्रया। यामाहुरिखलैस्तस्य तैस्तिरनुगुणैगुं णैः। समानध्मिणीमेव शिवस्य परमात्मनः। शिवेच्छया परा शक्तिः शिवतत्त्वैकतां गता। ततः परिस्फुरत्यादौ सर्ग तैलितिलादिवत् ॥ इति । इत्येवं हिर्प्यवदाभासमानया गायत्रत्रा सहैकीभावादेष परमन्योमपरमात्मा स्वयः सुकृतं शिवो हिरण्मयकोषः पुरुषः। गायत्री ह्यस्य ज्योतीरूपेण भाति तथास्य हृद्ये परव्योम्रूष्पे पञ्च देवसुषयः सन्ति । पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरोद्धृदेशे तदभ्यन्तरे हृदये चात्मा भूला वत्ते ॥ तदुक्तं गुण्डकोपनिपदि । हिरण्मयं परे कोषे विरजं ब्रह्म निष्कलम् । तच्छुभ्रं ज्योतिपां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुरिति। आपो हि रसस्तद्-बत्त्वाद् गायत्री च रसस्तद्कीभावाच शिवोऽपि रसस्तदाह - यद्वैतत् सुकृतं रसो वै स इत्यादि। यदेव सुकृताख्य एष आत्मा स्वयः पुरुषः स गायत्रप्राख्य-रसवत्त्वाद्रस उच्यते। रसत्वेन किं करोति, तदाह-रसं हेावायमित्यादि। लोके योगी सुपुप्तश्रायं पुरुषः समाधो सुपप्तौ च सन्वेषां पृथिन्यादीनां

मनसि छेये मनसश्च विकान आत्मनि छपे शुद्धसत्त्वरूपेण महत्तत्त्वेन चेतसा विशिष्ट आत्मा खल्वेनं रसं तुरीयं परमात्मानं शिवं छब्ध्वा-नन्दी भवति।

को हेप्रवान्यात् कः प्राण्यादानन्दो न स्याद् यदेपं अत्र जिल्लासा। आकाश इति। रस एक आनन्दीभवत्यपर इति द्वयोर्मध्ये क एवान्यात् प्रीतः स्यात् कः प्रीणनः स्यादिति, यद् यस्मादेप रस आकाशः परमन्योम तत्र मीत्यसम्भवादानन्दो न स्यादिति । तत्रोत्तरम् । एप हेमवानन्दयतीति आनन्दहेत्त्वस्य प्रयोजकत्वस्य व्यपदेशादानन्दो रस एव परमात्मा परव्योम ब्रह्मेति व्यजानादित्युक्तमिति। इत्येप परमात्मा हिरण्मयकोप आत्मपट्क आदिपुरुषो ब्रह्मयोनिलाट् ब्रह्म चेतनाधातुरेकः पुरुपस्त्रिपात्। तत्र शिरो-ग्रीवं दशाङ्गलं स्वः पादः, तज्जातानां पश्चत्रह्मपुरुपमहाविष्णुक्षेत्रक्षप्रधानानां चेतनाधातृंनाश्चानेकेषां पुरुषाणां निलयनं कष्ठादधस्ताचतु व्विंशत्यङ्ग् छं पर-व्योग ब्रह्म भुवलौंको द्वितीयः पादः। ततोऽधस्तात् पश्चाशदङ्ग लपरव्योस्नि तेषां मेलनेनैकीभूतः संहतरूपश्चेतनाधातुरव्यक्तनापापि पुरुपसंबकः स्मृतः इति। सर्विभूतमयस्तृतीयः पादो भूलौकः। नसु के तेऽनेके चेतनाधातुकाः पुरुषाः कथमुद्रपद्यन्तेति ? उच्यते । उक्तं छान्द्राग्योपनिपद् । यद्द्रशितं सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविध्य नामरूपे व्याकर्वाणीति । तासां त्रिष्टतं त्रिष्टतमेकैकां करवाणीति । इति सा तदसद्व सद्ब्रह्मशक्तिरियं तेजोऽवन्नोपाहिता गायत्रीदेवता। हन्त खिल्वमास्तेजो-ऽवंत्राख्यास्तिस्रो देवता अनेन परम्योस्रा परमात्मना जीवेन पुरुपेणाहम् अनुप्रविश्य सन्वेपां नामरूपे न्याकरवाणीतैप्रक्षत । कथमिति चेत् ? तदोच्यते । तासां तेजोऽवचाख्यानां तिस्रणां देवतानामेक्षेकां देवतां ताभिस्तिस्भिर्देवताभिः मिलिताभिन्यं नादंग्रतस्त्रिष्टतां त्रिष्टतां त्रग्रात्मिकां त्रग्रात्मिकाञ्च करवाणीति 🖰 चैक्षत आलोचयत्। ततस्तथा चकार। यथा चकार तदुक्तं तैत्तिरीयोप-निपदि। उ सोऽकामयत वहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। सं तपस्तप्त्वा इदं सन्वेमस्जत यदिदं किञ्च। तत् सृष्ट्वा तदेवानुपाविशत्। तद्नुपविश्य सच त्यचाभवत्। निरुक्तश्चानिरुक्तंश्च निलयनश्चानिलयनश्च विद्यान-श्राविकानश्च सत्यश्रानृतश्च । सत्यमभवत् । यदिदं किञ्च तत् सत्यम् इत्याचक्षतः इति । उभो य आत्मा स्वयः सुकृतं रस आकाश आंनन्द इत्येतैर्नामभियं उक्तः परमञ्योमपुरुषः शिवः शिवया परमया शक्तयैकीभूतः

सोऽहं वहु स्यां प्रजायेयेत्यकामयत । तथा कामियता तपोऽतप्यत । ज्ञानमयं तपोऽकुरुत। स तपस्तंप्ता सन्वीमद्मसृनत्। कथम्? यदिदं किञ्च भूभु वर्लोकस्थं तत्रहृष्ट्रा परावरं सुज्यमानस्त्र नुपाविशत्। तच सुज्यमानं सर्व्वमनुपविश्य सच त्यचाभवत्। सत् कल्याणं वस्तु, त्यत् कल्याण-विपरीतं, कल्याणमेव तदिति द्विविधमभवत्। तत् सच त्यच्च निरुक्ताऽनि-रुक्तादिद्दन्द्दरूपम्। एतदुक्तं मुण्डकोपनिपदि। यः सर्व्यवः सर्व्यविद् यस्य धानमयं तपः। तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमनश्च जायत इति। यः स परम-घ्योम परमात्मा स सच्चेंबः सर्व्वे ह वै जानाति, स सर्व्वेवित सर्व्वेविद्यावान्। तस्य ज्ञानं सा परा गायत्री तन्मयमेव तपः। तत् तपः कुच्त्रंतस्तस्मात् परमात्मत एतत् पश्चव्रह्म सर्व्वेषां नाम च रूपञ्चानञ्चादंत्र जायते। तद् यथा निरुक्तादिकमभवत् तद् व्याख्यातमुपमन्युना वायवीये ; इवेताश्व-तरोपनिपदुत्रक्तम्। न तस्य काय्यै करणञ्च विद्यते न तत्समश्चाप्यधिकश्च ध्रयते। परास्य शक्तिविविधेव श्रूयते स्वाभाविकी बानवलकिया चेति -मन्त्रं समृला, तद् यथा—ज्ञानक्रियाचिकिपीभिस्तिस्भिः स्वीयशक्तिभिः। शक्तिमानी थरः शथर्विदवं व्याप्यावतिष्ठते। ज्ञानशक्तिसतु कार्यं तत्कारणं करणं तथा। प्रयोजनञ्च तत्त्वेन चुद्धिरूपाध्यवस्यति। इदिमत्थिमिर्द नेत्यं भवेदित्यभिमानिका। इच्छाशक्तिमेहेशस्य नित्या कार्य्यनियामिका। अथेच्छया क्रियाशक्तिर्यथाध्यवसितं थिया। कल्पयत्यसिछं कार्य्यं क्षणात् सङ्करपरूपिणी। यया शक्तिसमुत्थाना शक्तिः प्रसवधमिमी। शक्ता परमया नित्या प्रमुते सकलं जगत्। एवं शक्तिसमायोगा-च्छक्तिमानुच्यते शिवः। शक्तिशक्तिमदुत्थन्तु शाक्तं शैविमदं जगत्। यथा न जायते पुत्रः पितरं मातरं विना। तथा भवं भवानीश्च विना नैव चराचरम्। परमात्मा शिवः शोक्तः शिवा चैव प्रकी तिता। पिता महेश्वरो हो यः शिवा मातेति की चर्यते । तस्माच्छक्तिमयं सर्व्यं जगत् स्थावरजङ्गमम् । -शिवाद्यवनिषय्येन्तं यया ततिभदं जगत्। ततः शिवाख्या या शक्तिः शक्तारा शक्तिसमुत्थया। तस्यां वै क्षोभ्यमाणायामादौ नादः समुद्रतः। विनिःसतो विन्दुविन्दोरोमित्यभूद् ध्वनिः। सा तु माहेश्वरी जाता शुद्धविद्या महोदया। सा वाचामी अरी शक्तिवांगी शाख्या तु शुलिनः। या सा वर्ण-स्वरूपेण मातृंकेति विज्रम्भते। तत्तद्वर्णमयो देवो वभूवादौ सदाशिवः। अथानन्तसमायोगात कलां मायामवास्जत्। नियतिश्च कलाविद्याकालश्च

गुणपूरुपौ। मायातः पुनरेवाभूदव्यक्तं त्रिगुणात्मकम्। त्रिगुणाष्ट्रततोऽव्यक्ताद् विविक्ताः स्युस्त्रयो गुणाः। सत्त्वं रजस्तमञ्चेति यैव्यप्तिमिख्छं जगत्। गुणेभ्यः क्षोभ्यमाणेभ्यो गुणेशात् तु त्रिश्लिनः। अभवन् महदादीनि तत्त्वानि च यथाक्रमम्। तेभ्यः स्युरण्डपिण्डानि ह्यसङ्गानि शिवाक्षयेति॥

व्याख्यानम् इद्श्वानुव्याख्यातम्। योऽसौ स्वयः परमन्योम परमात्मा शिवः स्वयमभूबंद्ययोनिः स ईश्वरस्तिस्भिक्षीनगक्ति-श्चिकीर्पाशक्तिनीम यदन्छाशक्तिः कियाशक्तिरित्येताभिः शक्तिभिविशिष्टः ंशश्वच्छक्तिमान् ताभिः विश्वं व्याप्यावतिष्ठते । कथमित्यत आह—ज्ञानशक्ति-स्तित्यादि । तस्य शानशक्तिः सा या यतुकार्य्यपिदं निखिलं कर्त्तेन्यं याव-निन्दीणारुयं पलयमस्मिन् सर्गे भविष्यत् तत् सन्दै तथा तत्पयोजनं यत् तथा तस्य यत् कारणं तथा तस्य यत् करणं तत् सन्वमेकद्वाध्यवस्यतीत्यध्यवसाया-त्मकबुद्धिरूपा। न च सा पुनःपुनरिदं सर्व्वमध्यवस्यति : तस्मात सा नित्या। नेयं गुणरूपा सत्त्वादिगुणयोगाभावात । १। अथास्य महेशस्य सा चिकीपी-शक्तियों खल्विद्मित्यं भवेदिदं नेत्यं भवेदित्येवमभिमानिका कार्य्यनियामिकै-वेच्छाशक्तिरेकदैवैवं नियमयति न पुनःपुनरित्यतो नित्या नैपा गुणविशेषः ंसत्त्वादिगुणयोगाभावादिति । अथास्य महेशस्य सा क्रियाशक्तियां खलु धिया तया ज्ञानशक्तारा यर् यथाऽध्यवसितं तदेवेच्छया शक्तारा यथा नियमितं तत् कार्ये-मिखलं भणात् कलपयिति निष्पादयतीति सङ्कलपरूपिणीति। भणात् कलपयित न तु पुनःपुनस्तस्मात् नित्या। नेयं क्रियाख्यः पदार्थौ रजोयोगाभावात् प्रष्टत्तेः। रजो हि लोके पवर्तेयति । यया परमया शक्ता गायत्रा खल तहायत्रीशक्ति-समस्थाना नित्या क्रियाशक्तिः प्रसंबध्मिर्गणी सक्छं जगत् प्रसृते सा परमाशक्तिः नित्यैवोच्यते। एवंपकारेण शक्तिसमायोगाच्छिवः परमात्मा शक्तिमात्रच्यते न तु क्रियावान्। तस्मात् तच्छक्तिशक्तिभदीश्वरसमुत्थिमदं जगत् शाक्तश्च जैवञ्चोच्यते। मातापितरौ विना यथा पुत्रो न जायते तथा भवं भवानीञ्च विना चरांचरं न भवतीति। शिवश्च सर्वेपामात्मनामात्मेति परमात्मा-ं भिधीयते ज्ञिवां चैव सन्वेपामात्मनामात्मा परमात्मनश्चारमेति परमात्मा अकीर्त्तिता। निखिलस्य पिता महेश्वरो शेयः, शिवा तु मातेति कीर्त्यते। तसात् स्थावरजङ्गमं सर्व्यं जगन्छक्तिमयम्, यतः शिवाद्यवनिपर्यन्तिमदं जगत् यया शक्तरा ततं व्याप्तम्, नास्ति हि जगति किश्चिच्छक्तिहीनमिति। एवं ्रतिस्प्रेभिः शक्तिभिर्यथा स्रयते जगत् तदाह—ततः शिवारूयेत्पादि। या शिवारूया

गायत्री नाम परमाशक्तिस्तेजोऽवज्ञोपाहिता तस्यां गायत्रत्रां तद्गायत्री-समुत्थया क्रियाशक्तरा तेनोऽवन्नांशेन क्षोभ्यमाणायां सश्चान्यमानायां सत्यां तद्गायत्रीस्थानि नेजोऽवन्नानि परस्परं प्रवेध्यमानानि त्रिष्टन्ति त्रिष्टन्ति भूला गायत्रत्राः परमञ्योमरूपायाः कियदंशे स्थितानि परमस्क्षमध्त्रनिरूपाण्यभि-व्यक्तानि भूता किञ्चित् स्थूलो नादो ध्वनिरादौ समुद्रतोऽभूत्। शक्तिसमुत्थयीय क्रियाशक्त्रा क्षोभ्यमाणानादात् परिणमतस्तु विन्दुरूपो नादो विनिःसृतोऽभूत्। इति नादः सिहन्दुस्त्यत्। मनिरुक्तं निन्वंचनरहितम्। ततस्तयैव क्रियाशक्तत्रा क्षोभ्यमाणाद्धिन्दोः परिणमत अमिति ध्वनिरभूत्। तत् सत्। निरुक्तश्चाकारोकारमकारे-यौँगाद्धिन्दुनादाभ्यां युक्तम्। सा खिल्वयं नाद्विन्दुयुक्ताकारादिवणत्रय-ध्वनिरूपा माहेश्वरी शिवसम्बन्धिनी महोद्या शुद्धविद्या परमा विद्या ब्रह्म-विद्या नाम जाता। सा च शृलिनः शिवस्य परमात्मनो वागीशाख्या शक्ति-यंतो वाचामी भरी। सा या पुनरकारादिवर्णस्वरूपेण मात्केति विज्ञम्भते अभिन्यज्यत इति। तन्मातृकावर्णं सन्वं त्यदेवानिरुक्तश्च निन्वंचनाभावात्। इत्येवमेपा शुद्धविद्या वागीश्वरी देवी लोके नारायणस्य दक्षिणपाश्वोचतु-म्ध्रेखेन ब्रह्मणा सह मृत्तिमती सरस्वनी नाम्नाविर्वभूव। तथा चाभिधीयते। पश्चात्राह्यिपिभिर्विभक्तमुखदोःपन्मध्यवक्षःस्थलाम्, भास्वन्मौलिनिवद्धचन्द्र-शकलामापीनवक्षोरुहाम्। मुद्रामक्षगुणं सुधाट्यकलसं विद्याञ्च हस्ताम्युजै-र्विभ्राणां विशद्यमां त्रिनयनां वाग्देवतामाश्रये ॥ इति । इत्येतत् परमविद्याद्य-वनिपर्यन्तानां निरुक्तानामनिरुक्तानाश्च निलयनश्चानिलयनश्च तस्यैव परमन्योन्नः परमात्मनश्रतुरशीतिभागकल्पनया त्रिधा भागः कल्पितः क्रिया-शक्ता। तत्रोर्द्ध दशभागा मध्यं चतु व्विशतिभागा अधस्तात् पश्चाशद्भागा इति। तत्रोर्द्धं दशभागं शिरोग्रीवमनुत्तमतमः खलीको निरुपाधिमसिद्धः केवल-ज्योतिः स्वरूपस्य परमामृतस्य गायत्रा निलयनमितरेपामनिलयनं वलृप्तं प्रसिद्धं तद्दशभागतोऽधस्तादेतत् परमविद्याचवनिपर्ध्यन्तानां निलयनं क्रिया-शक्ता कल्पितमनिलयनश्च यस्य यदिति। तत्र परमन्योम्नि दशभागाद्धस्ताद् हृद्यक्षे पञ्चदेवसुषयो ये सन्ति तेपासूद्धं सुपिद्वाराद्वहिस्तत्परमविद्याविशिष्टं परमन्योमं सदाशिवो नाम प्रसिद्धः प्रथमो ब्रह्मपुरुपः। तद्विज्ञानं नाम सत्। ततः सा शुद्धविद्या क्रियाशक्तत्रा क्षोभ्यमाणा तेजोऽवन्नविकारपरिणामेन तत् परमिवद्याविपरीता लिवद्या नाम कला माया विद्या तदकारादिवर्णसंयोगार

ऋग्विद्या धातुपातिपदिकपत्ययागमादिरूपध्वनिरूपा वभूवेति, सा परमा विद्या कलां मायामविद्यामवास्जिदित्युच्यते। तदाश्रयश्च परमव्योम पृथ्वेसुपि-द्वाराद्वहिन्द्रं ग्वेदो नामाभूदिति द्वितीयो ब्रह्मपुरुषः। ततः सुप्तिङन्त-पदरूपध्वनियं जुविंद्या वभूव। तद्दिद्याश्रयः परमन्योमैव यज्जन्वंदो नाम दक्षिणसुपिद्वाराद्दहिर्वभूव, स तृतीयो ब्रह्मपुरुपः। ततः सङ्गीतभूत-वानयरूपध्वनिः सामविद्या वभूव, तदाश्रयश्च परमन्योम पश्चिमसुपिद्वारा-द्रहिः सामवेदो नाम चतुर्थो ब्रह्मपुरुपो वशूव। ततो वाक्यभूतध्वनि-रूपाऽथन्त्रं विद्या सेतिहासपुराणा वभूव। तदाश्रयश्च परमन्योमैवोत्तर-सुपिद्वाराद्वहिः सेतिहासपुराणोऽथव्यवेदो वभूव, स पञ्चमो ब्रह्मपुरुष इति। इत्येते चलार ऋग्वेदाद्यस्तविद्या ब्रह्मपुरुपा अविदेशव विधिभिर्नियम-करणानियतिनामानः सह पड्भिरङ्गैरुच्यन्ते। एतत् साङ्गचतुन्वेदिविद्या लिवद्या तदाश्रयाश्रलारो वेदाश्र विज्ञानिवपरीतविज्ञानरूपा अविज्ञानमुच्यन्ते। तच्च त्यदेवाभिधीयते। इति कलाविद्या माया नियतिञ्चावास्जदित्युक्तम्। इत्येवं परमामृतरूपं तेजोऽवन्त्रमेलनेन मधुररसवदाभासमानं रसमाश्रिता गायत्री विद्याविद्यावाचो वभूव। तद्विद्याविद्यावागाश्रयाः पञ्च ब्रह्मपुरुषा ये, तेपां य ऊढ़ें सुपिद्वारपालः सदाशिवः सोऽस्य शिवस्य परमात्मन उदानो नाम माणः। स एव लोके त्रिगुणविशेषयोगादेष आकाशोऽभूदयश्च वायु-रभूत्। पुरुपेऽपि यद्धद्यं तस्योद्धं सुपिद्वारे उदानो नाम शाणोऽभूदिति। पूर्वसुपिद्वारपालोऽस्य प्राणः। लोके स एप आदित्यः। पुरुपे च स प्राणश्च चक्षश्च । दक्षिणसुपिद्वारपालो यजुर्व्वदः शिवस्य न्यानो नाम प्राणः, ्स लोके चन्द्रमाः पुरुषे व्यानश्च श्रोत्रञ्चेति। अथ पश्चिमसुपिद्वारपालः सामवेदः सिवस्यापानो नाम प्राणः। स लोकेऽग्निः पुरुषेऽपानश्च वाक्चेति। अथोत्तरसुपिद्वारपालोऽथर्बवेदः शिवस्य समानो नाम प्राणः। पर्जन्यः पुरुषे समानश्च मनश्चेति। अधैपामेवं वीट्यदीनि यथाभवंस्तद्यथा-छान्दोग्योपनिषदि मधुत्राह्मणे। असौ वा आदित्यो देवमधु इत्यादिनोक्तं नत् मितसंस्कृत्य लिख्यते। असौ परमात्मा शिव आदिभूतलादादित्यः खळ देवानां साध्यवसुरुद्रादित्यमरुद्रणानासुपजीवनपश्चामृतमयार्कमण्डला-करामृतरूपरसाश्रय इत्यतो देवमधु। तस्य परमन्योन्नः परमात्मनः ज्ञिवस्य ऊद्धि शिरोग्रीवं दशाङ्क् चौरतुत्तमतमः खर्लीक एव मधुकोपालम्बन-तिरयंग्भूतो वंशः। तस्माद्धस्ताचतुर्विशत्यङ्ग् लिमितं परमव्योमैवान्तरीक्षं

भुवलौकरलपूपाकारो मधुकोपः पश्चच्छिद्रवत्त्वात् । तस्य मरीचयस्तु पुत्राः पश्च ब्रह्मपुरुपास्तत्र पश्चदिक्या रक्ष्मयो मधुक्षरणार्थं नाड्यः। तेषां पश्चानां ब्रह्मपुरुपाणां यशस्तेन इन्द्रियवीय्यीनानि खल्वेवं वभूवुः। तत्र। ये ते ऊर्द्धा रश्मयस्ता एवास्योद्धा मधुनाड्यः। गुह्या एवादेशा विद्याद्याः शक्तयो मधुकरर्यः। ब्रह्मेच सदाशिवः पुष्पम्। ता गायत्रीस्था आपोऽमृता रसः। ता वाच ते गुह्या आदेशभूता एतर्ब्रह्म सद्।शिवमभिलक्ष्यीकृत्यातपन्। अभि-तप्तस्य तस्य सदाशिवस्य यशस्तेज इन्द्रियं चीर्य्यमभवत्। अद्भाश्च रसः परिणमन्नम्ल इव रसोऽन्नमाद्यमजायत । तद् यदृद्ध मधुनाङीभिवहिरक्षरत् तत् तदादित्यं शिवमभितोऽश्रयत् मण्डलरूपेणाष्टणोत् तद्दात्र तत्। यदेतद् -आदित्यस्य मण्डलमध्ये समत्रिगुणयोगात् क्षोभत इव लक्ष्यते इति । १। एवं चेऽस्य पाश्चो रक्ष्मयस्ता एवास्य पाच्यो मधुक्षरणनाड्यः। ऋचो मधुक्रय्ये ऋग्वेद एव पुष्पम्, ता गायत्रीस्थास्तेजोऽवन्नान्तर्गता आपोऽमृता रस एव पुष्परय .रसः। ता एवैता ऋचो मधुकर्य एतमृग्वेदमभि लक्ष्यीकृत्यातपन्। अभितंप्तस्यं तस्य ऋग्वेदस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्य्यमभवत्। रसश्च परिणमन् लवणं इवानमाचमजायत। तद् यत् पाचीभिनां इीभिरक्षरत् तत्तदादित्यं शिवमभितो मण्डलरूपेणाश्रयत्। तदेतदादित्यस्य मण्डले रजोगुणयोगालोहितं रूपं सन् वर्तते। २। एवं येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मध्करण-नाड्यः। यजू देवेव मधुकरयौ यजुर्वेद एव पुष्पम्, ता अमृता आपः। तान्येव यनू प्रेत यन्वेद्मिम लक्ष्यीकृत्यातपन्। अभितप्तस्य तस्य यन्वेदस्य .यशस्तेज इन्द्रियं वीय्यंमभवत्। रसश्चापां परिणमन् कडुक इवानमाद्यम् अजायत। तर् यदक्षिणमधुनाङ्गीभिरक्षरत् तत्तदादित्यं शिवमभितो मण्डल-ः रूपेणाश्रयत् । तदेव सत्त्वगुणयोगाच्छुक्तं रूपं सत् एतदादित्यस्य मण्डले वत्तते इंति। ३। अथ येऽस्य प्रत्यश्चो रक्ष्मयस्ता एवास्य प्रतीच्यो मधुक्षरणनाड्यः। सामान्येव मधुकर्यः सामवेदः पुष्पम्। ता अमृता आपः। तान्येवैतानि ंसामानि, एतं सामवेदमिभ लक्ष्यीकृत्यातपन्। अभितप्तस्य तस्य सामवेदस्य यशस्तेज इन्द्रियं चीटर्यमभवदपाश्च रसः परिणमन तिक्त रस इवानमाद्यम् अजायत । तद् यत् प्रतीचीभिनोङीभिरक्षरत् तत्तदादित्यं शिवमभितोऽश्रयत् । तदंवैतदादित्यस्य मण्डले तमोगुणवहुलरजोगुणयोगाच्छ्यामरूपं सद्दर्तते। ४। अथ येऽस्योदञ्चो रहमयरता एवास्योदीच्यो मधुक्षरणनाड्यः। अथव्वाङ्गि-रसा मधुकर्य इतिहासपुराणं पुष्पम्। ता अमृता आपः। ते वा एते-

ऽथर्नाङ्गिरसा एतदितिहासपुराणमभि लक्ष्यीकृत्यातपन्। अभितप्तस्य तस्येतिहासपुराणस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्य्यमभवदपाश्च रसः परिणमन् कपाय इवान्नमाद्यमजायत। तद् यदुदीचीभिनां इीभिरक्षरत् तत्तदादित्यं शिवमभितो मण्डलक्ष्पेणाश्रयत्। तदेतदादित्यस्य मण्डले तमोगुणयोगात् परमकृष्णरूपं सद् वर्त्तत इति। ५। पञ्चामृतज्योतिम्भयमण्डलं तस्य स्वयमभुवः परमात्मन आद्यस्यादित्यस्य।

एवं सदाशिवाख्यमहाभूतादीन पञ्च ब्रह्मपुरुपान् सृष्ट्वासौ स्वयमभूः परमात्मा रुत्तौजाः सन् महानिन्त्रीणशलये यत्तमस्तत्तमोनुद्रोऽभूत्। तदुक्तं मनुना। ततः स्वयमभूर्भगवान् अत्यक्तो व्यञ्जयन्निद्म्। महाभूतादि-द्यतीजाः पादुरासीत् तमोनुद इति । परमन्योम्नः शिवस्य दशभागाद्धस्ता-चतुर्विश्वतिभागमध्ये त्वेवंपकारेण मण्डलवानसावादिरादित्योऽनुत्तमतमो भुवलीक उच्यते। ततस्तद्धस्तात् पञ्चाशङ्गागे सत्यञ्चानृतञ्च सत्यम् अभवदिति । तद्व्याख्यातं वायवीये । कलाविद्या कालञ्च गुणपुरुपावितिः। कलाविद्या माया न तु महामाया। कालं महाविष्णुम्। गुणं प्रधानाख्यं ब्रह्माणं पुरुषं क्षत्रकः विष्णुः कलाविद्याऽवास्जत् । तद् यथा । तत्परम-न्योम्रोऽय्रतात् परमन्योम्नि विद्याविद्यामयपञ्चब्रह्मपुरुपारृते सा क्रियाशक्ति-रेपां पञ्चव्रह्मपुरुपाणां परमविद्या पुरुप त्रिधा कृता ऋग्यजुःसाम-वेदेषु प्रवेशयाश्वके तथाथव्वेवेद्स्य शान्तिपौष्टिकाभिचारिकानंशान् क्रमेण। ततस्त्रयी वभूत । ततस्त्रयी चैकीभूय सदेकं वभूत । सचार्द्धन महाविष्णुः नाम कालो चभूवापराद्धेन चिद्धभूव। स खल चेततीति चेतनावान् स च प्रसादांशेन क्षेत्रज्ञ आत्मा विष्णुर्वभूव स चानन्दतीत्यानन्द इत्यादौ सत् ततः चित् तत आनन्द इति सचिदानन्दो विष्णुः क्षेत्रज्ञः परमन्याम्नोऽधोऽक्षे जातलात् अधोक्षजः। चित्पसादो गुणांशस्तु प्रधानं नाम ब्रह्मा। एवमेतत् सत्यं · नाम सत्। इति पञ्चब्रह्मपुरुपादिसत्यान्तं न चेतनाधातुपरमपुरुपादतिरिच्यते ः तात्स्थ्यादेष भुवलोको द्वितीयः पादः । इत्यस्माद्धस्तात् पञ्चाशदङ्गुलप्रच्योमा-त्मकश्चेतनाधातुस्तत् मधानं क्षत्रज्ञाधिष्ठितं कालेन संक्षोभ्य सञ्चाल्य सङ्कोच्य : परिणमयन् सत्त्वरजस्तमोगुणान् पृथक् कृत्वानुप्रविद्य समसत्त्वरजस्तम् इति लक्षणमन्यक्तं नाम वभूव। तच चेतनाधातुपुरुपानुप्रविष्ट्रताचेतनाधातु-क्षेत्रवाधिष्ठितला्च क्षेत्रव उच्यते। एतस्माच सप्ताङ्ग एकोन-ः विंशतिमुखः पड्धातुकः पुरुषो विश्वरूपो वभूव । यज्जःपुरुषीये प्राग् दर्शितम ।

गुणेभ्यः क्षोभ्यमाणेभ्यो गुणेशात् तु त्रिश्लिनः। अभवन् महदादीनि तत्त्वानि च यथाक्रमम्।। इति। तद् यथा — त्रिगुणलक्षणाद्व्यक्तान्महान् महतो-ऽहङ्कारोऽहङ्काराट् भूतादेस्तामसात् क्रमेण शब्दतन्मात्रं स्पर्भतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रश्च महाभूनं वभूव। एते शब्दमात्रखादयः पञ्च पष्टधातुरिति पङ्धातुः पुरुपस्तस्य मुखानि राजसा-धातवश्चेतना दहङ्कारात् तैजसाख्याद् दशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते । सात्त्विकादहङ्काराद्वैकारि-कारुयान्मनोऽजायताधिद्वताश्चैपामित्येवश्चाकाशः कियदंशो दिकालयुक्तः स्थूलो वसूव। तस्य स्पर्भमात्रे वायावनुमवेशाद् द्विगुणो वायुर्वभूव। शब्दश्च शीतस्पर्शेश्व। तस्य द्विगुणस्य वायो रूपमात्रे तेनस्यनुप्रवेशात् तेनस्त्रिगुणं वभूव। तस्य रूपञ्च लोहितम्। स्पर्शश्चोप्णोऽभूत्। अथ तत् तेजो रस-तन्मात्रमञ्जूषाविञ्ञत्. तेनापः शब्दशीतस्पर्शशुक्रवणेद्रवरसगुणा जाताः। ता आपो गन्धतन्मात्रं पाविशन्। तेन शब्द्खर्स्पर्शकुष्णवर्णसाधारणरसगन्ध-गुणा पृथिवी वभूव। इति पञ्चभूतानि स्थूलानि दशेन्द्रियाणि मनो-ऽहङ्कारो महांश्चित्तञ्चेत्येकोनविंशतिष्ठेंखानि। उक्तञ्च मनुना। योsसावतीन्द्रियग्राह्यः स्क्ष्मोऽच्यक्तः सनातनः। सर्व्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्रभौ ॥ इति । एप चतु व्विंशतितत्त्वमयलोकात्मकः पङ्धातुः पुरुपः पुनलोंके द्विविधः शरीरी पुरुषो वभूव समस्तश्र व्यस्तश्र। तत्र समस्तो नारायणो महाब्रह्मा व्यस्ताः सुक्ष्मशरीरिणोऽपरिसङ्खेत्रयाः। तदुक्तं मनुना। सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसक्षुर्विविधाः प्रजाः। अप एव ससर्जादौ तासु वीजमवास्जत्। तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्। तस्मिन् जङ् स्वयं ब्रह्मा सर्व्वलोकपितामहः। आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरस्नवः। ता यदस्यायनं पूर्व्यं तेन नारायणः स्मृतः। यत् तत् कारणमन्यक्तं नित्यं सद्सदात्मकम्। तद्विस्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्तरते। तस्मिनण्डे स भगवानुपिता परिवत्सरम्। स्वयमेवात्मनो ध्यानात् तदण्डमकरोट् द्विधा। ताभ्यां स शकलाभ्याञ्च दिवं भूमिञ्च निम्ममे। मध्ये व्योम दिशश्राष्टावपां स्थानञ्च शाश्वतम्। उद्भवहीत्मनश्चैवं मनः सदसदात्मकम्। मनसश्चाप्य-हङ्कारमभिमन्तारमीश्वरम्। महान्तमपि चात्मानं सर्व्वाणि त्रिगुणानि च। विषयाणां ग्रहीतृणि शनैः पञ्चेन्द्रियाणि च। तेपान्तवयवान सूक्ष्मान् षण्णामध्यिमतौजसाम्। सन्निवेश्यात्ममात्रासु सर्व्वभूतानि निम्ममे। यन्मूर्त्य-वयवाः सुक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्ति पर्। तस्माच्छरीरमित्याहुस्तंस्य

मनीपिणः। तदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कम्मीभः। मनश्रावयवैः सुक्षीः सन्देभूतकृद्वयम्। तेपानिदन्तु सप्तानां पुरुपाणां महौजसाम्। सूक्ष्माभ्यो मृत्तिमात्राभ्यः सम्भवत्यव्ययाद् व्ययम्। आद्याद्यस्य गुणन्त्वेषा-मनामोति परः परः। यो यो यावनिथ३चैपां स स तावद्गुनः स्वृतः। सर्व्वपान्त स नामानि कम्मोणि च पृथक् पृथक्। वेद्शब्द्भ्य एवादां पृथक् संस्थाश्च निम्मेमे। कम्मीत्मनाञ्च देवानां सोऽस्रजत् पाणिनां प्रभुः। साध्यानाश्च गणं सुक्ष्मं यज्ञञ्चेव सनातनम् । अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं व्रद्य सनातनम् । दुदोह यज्ञ-सिद्धार्थमृग्यजःसामलक्षणम् । कालं कालविभक्तीश्च नक्षत्राणि ग्रहां-स्तथा। सरितः सागरान् जैलान् समानि विषमाणि च। तपो वाचं रतिञ्चैव कामांश्च क्रोधमेव च। सृष्टिं चकार चैवेगां सृष्ट्रिमिक्निमाः मजाः। कम्मीणाश्च विवेकार्थं धम्मीधम्मी व्यवेचयत्। द्वन्द्वेरयोजयचेगाः सुखदुःखादिभिः मजाः । अष्वयो मात्रा विनाशिनयो दशाद्धीनान्तु याः समृताः । ताभिः सार्द्धमिदं सन्वं सम्भवत्यनुपूर्व्वशः। यन्तु कम्मीण यस्मिन् स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः । स तदेव स्वयं भेजे सुन्पमानः पुनःपुनः । हिंसा-हिंस्रे मृदुक्र्रे धम्मीधम्मीष्टतानृते। यद् यस्य योऽद्धात् सर्ग तत् तस्य स्वयमाविशत्। यथत् लिङ्गान्यतवः स्वयमेवत् पर्व्यये। स्वानि स्वान्यभिषद्यन्ते तथा कम्माणि देहिनः। छोकानान्तु विद्यद्भयं मुखवाह्रपादनः। बाह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शुद्रश्च निरवर्त्तयत् ।०। इत्यंत्रं सुक्ष्मसर्गं कृला स्थलसर्गं यथा कृतवांस्तथा दर्भेयिष्यते । इति गायत्रप्रादेप्रतत्पश्चात्मकपृथिष्यन्तं चतुष्याद् ब्रह्म ।

तत्र परमन्योमपरमात्मादेततत्पञ्चात्मकपृथिन्यन्तः पुरुपिस्तपात् । तत्रीतत्पञ्चात्मकपृथिन्यादिमहाविष्णुलोकान्तोऽप्रलोकी अनुत्तमतमा भूः प्रथमः
पादः। तत्र भूभु वःस्वर्महजेनतपःसत्या इति सप्त लोकाः। तत्र द्विविधः
सत्यलोकः—अन्तसत्यः ऋतसत्यश्च। तत्रैतत्तपोलोकाद्वः व्रह्मलोकवैकुष्टकेलासाद्यन्यकात्मलोकपर्यन्तः सत्यलोकोऽन्तसत्यलोकः पाद्यतमलये
नाशात्। तत ऊर्जुं प्रधानक्षेत्रक्षकालानां लोक ऋतसत्यः पाकृतप्रलोकः प्रथमे पादे भुवलीकस्ततः परम्। स्वलीकश्च महर्जनतपःसत्यास्ततः
परम्। विष्णुलोकस्ततश्चोद्वं पुनराद्यत्तिदुल्लमः। ऊर्जुं कोमारलोकश्च
सन्वऋदिसमन्वितः। स्दलोकस्ततश्चोद्धं कैवल्यस्थानम्रत्तमम्। इति
विष्णुलोकाद्वं पञ्चवसम्बन्धस्त्रम्थानं कोमारलोकोऽनुत्तमतमो भुवलीको

ततश्च धातुभेद्रेन चतुव्विश्तिकः स्मृतः। मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्राष्ट्रधातुकी ॥ २ ॥

द्वितीयः पादः। ततो रुद्रलोकोऽनुत्तमतमः खलौक इति महान्याहतिवाच्यः त्रिपात् पुरुषः । सहस्रशीर्षः सहस्राक्षः सहस्रपात् । तस्य स्वाङ्ग्लीमानेन चतु-रंशीत्यङ्ग लं परमन्योमरूपमन्याकृतं वपुरधस्तात् पञ्चाशदङ्ग लिमितभूमिलोक-सहितं तत ऋढं चनुन्विंशत्यङ्ग्रलिमितसुवलं सं सन्वंतोऽध ऊढं पूर्वतो दक्षिणतः पश्चिमत उत्तरतोऽभ्यन्तरतो वाह्यतश्चाद्वत्य तत ऊर्ढ दशाङ्गलं खर्लोकः शिरोग्रीवमत्यतिष्ठदतिशयेनावरणाभावेन केवरुरूपतया श्रेष्ठत्वेन अतिष्ठदिति। एतावांश्रतुरशीत्यङ्गुलिमात्रं महिमा महत्त्वं ततो ज्यायान् सदा-शिवादेग्रतदन्तेभ्यः सन्वेभयो दृहत्तया दृद्धतमः। यतोऽस्य त्रिपादस्य पुरुपस्य द्वौ पादौ विश्वा भूतानि भूभू वर्लोकौ स्वयं स्वर्लोकरूपे तृतीयपादं अमृतमयी गायत्री च्योतिःस्वरूपा चतुर्थः पाद इति। इवेताश्वतरोपनिपदि पुरुपसुक्ते चोक्तम्। सहस्रशीर्पा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमि सन्त्रेतो द्वता अत्यतिष्ठद् दशाङ्ग लम्। एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुपः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति । अथास्य नारायणस्य दक्षिणपार्श्वाद् रजोगुणमाश्रित्य प्रधानं चतुम्धेलो ब्रह्मा भूला सरस्वत्या सहाविरभूत्। वामपार्श्वात् तु क्षेत्रकः पुरुषः सत्त्वगुणमाश्रित्य चतुर्भु जो विष्णुर्भू ला लक्ष्म्या सहाविरभूत्।

निन्वमे यावन्तः स्थूलशरीरिणो दृश्यन्ते किमेते न पुरुषा इत्यत आह— ततक्चेत्यादि । यो योऽसो पड्धातुकः स्क्ष्मशरीरी पुरुषस्ततः पड्धातुकात् सृक्ष्म-शरीरिपुरुपाच्चतुब्विंशतितत्त्वमयात् तच्चतुब्विंशतिथातुभेदेन चतुब्विंशतिकः चतुन्त्रिशत्या तत्त्र्वैनिष्टे तः पुरुषः स्मृतः । स चतुन्त्रिधो जरायुजोऽण्डजः स्वेद्ज उद्भिज्जश्चेति, ते पुनिस्तिविधा देवनरितय्यंग्योनिजभेदात्। तेंपां सर्गं उक्तो द्विधा कृतात्मनो देहमद्धेन पुरुपोऽभवत् । अद्धेन नारी तस्यां स विराजमस्जत् त्रसः। तपस्तप्लाऽस्जद् यन्तु स स्वयं पुरुषो विराट्। तं मां वित्तास्य सव्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः। इत्यादिना देवनरतिय्येग्योनिजस्थूल-

पड्धातुरूपमेव पुरुषं पुनः सांख्यदर्शनभेदाचतुर्व्विंशतिकभेदेनाह—पुनइचेत्यादि । चतुन्विं-शतिकमेव विभजते—मन इत्यादि । यद्यपि पञ्चविंशतितत्त्वमयोऽयं पुरुपः सांख्येरुच्यते, यदाह— "मूलगकृततरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । पोड्शकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः" इति । तथापीह प्रकृतिस्यतिरिक्तछोदासीनं पुरुपमध्यक्तत्वसाधमर्गात् अन्यकायां प्रकृतावेव

लच्यां मनतो ज्ञानस्याभावो भाव एव च । सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकवें न वर्तते ॥

शरीरिमजासर्ग उक्तः। इति त्रिविधः पुरुषः स्मृतः। कानि तानि चतुर्विश्वाति-स्तत्त्वानीत्वत आह—मनो दशेन्द्रियाण्यधाः प्रकृतिश्राष्ट्रधातुकीति। तत्स्रक्षम्-दृद्दे यदाहङ्कारिकं मनो यान्याहङ्कारिकाणि दशेन्द्रियाणि ये च खादिगुणाः पश्च शब्दाद्यः पश्चभूताहङ्कारमहद्वयक्तानीत्यष्टो चेति चतुर्विशतिनिष्पन-स्थूलदृद्दी पुरुषः। तत्र क्रमेणमनःप्रभृतीनां लक्षणानि—लक्षणं मनस इत्यादिभि-विश्यन्ते। अष्ट्रधातुकीति अष्टभिर्धानुभिः निष्पना प्रकृतिरप्टधातुकी। वश्यते चात्रैव। खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहङ्कारस्तथाष्टमः। भूतपकृतिरिह्णा विकारा-इचैव पोइशेति॥ ४॥

गुङ्गाथरः-तत्र क्रमेणं मनःप्रभृतीनि लक्षयति-लक्षणं मनस इत्यादि। पूर्विमिन्द्रियोपक्रमणीये यदुक्तम्। तत्रातीन्द्रियं पुनर्मनः सत्त्वसंबद्धं चेत .इत्याहुरेके तदर्थात्मसम्पदायत्तचेष्टं चेष्टापत्ययभूतिमन्द्रियाणामिति । पुनर्हञ्यमतोऽनुमानार्थे लिङ्गमाह-लक्षणिमति। लक्षणमनुमितिकरणम्। च-ज्ञव्दो योगपद्यार्थम्। युगपज्ञज्ञानस्याभावो भाव एव मनसो लक्षणम्। तेन ह्यात्मना स्वाभिमतार्थं ग्रहीतुं मवर्त्तितं मनस्तद्रथंग्रहणार्थं नद्रथंग्राहकम् इन्द्रियं यदानुधावति तदा तदिन्द्रिय मनोयुक्तं तदर्थं गृहाति न चेतरार्थ ग्रहीतुमिन्द्रियान्तरं मवत्तेते। इति तदितरेन्द्रियाथेजशानस्याभावस्तदैव भव-तीति मनसो युगपज्ञानंरयाभावो भावश्र लिङ्गम्। यदि ज्ञानस्याभावो मनसो लक्षणं नोच्यते तदा चाक्षुपद्मानसञ्चावकाले यथा मनोऽस्तीत्यनुमीयंते तथा तदैव मनो नारतीत्यनुमितिमसङ्गः श्रावणादिकानानां तदैवाभावात । -इति। यदि ज्ञानस्य भावो मनसो लक्षणं नोच्यते तदा मनो नास्तीत्येव सदातुमितिः स्यात्। जानस्य भावाभात्रयोधु गपद्भावे मनो इस्तीति सदैवातु-मितिः सिध्यति। नन्वात्मेन्द्रियार्थसिक्तकर्पं विना न तथा शानमुत्पचते मनो-प्रक्षिप्य अध्यक्तशादेनेव गृहाति । तेन चतुर्वि शतिकपुरुप इत्यविरुद्धम् । उदासीनस्य हि सूक्ष्मस्य भेदमतिपादनिमहानतिप्रयोजनिमति न कृतम् । दशेन्द्रियाणीति पञ्च बुद्दीन्द्रियाणि पञ्च कर्ग्मान्द्र-याणि। अष्टधातुकीति खादिपञ्चकतुद्ध्यन्यकाहङ्कार्रूपा। वक्ष्यति हि—खादीनि बुद्धिरन्यक्त-महङ्कारस्तथाऽष्टमः । इति ॥ ४ ॥

चक्रपाणि:-- अत्र चतुर्विं शतिके प्रथमोद्दिप्टं मनो छक्षयितुमाह--- लक्षणमित्यादि । यथा

वैश्वत्यात् क सनसो ज्ञानं सान्निध्यात् तु प्रवर्तते । अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ सनतः रमृतौ ॥

मात्रात्. कथं धानस्याभावो भाव एव च मनसो छक्षणं भवतीत्यतं आह— सनीत्यादि । हि यस्पादात्मेन्द्रियार्थसन्तिकर्पं सति मनसो वैधृत्याद् व्यासक्ती-भावान कानं पवर्त्तते मनसः सान्निध्यात् तु कानं पवर्त्तते तस्मान कानस्याभावो भाव एव च मनसो लक्षणिमति। नन्बस्ति मनः सन्ति चेन्द्रियाणि पश्च सन्ति च पञ्चार्था एपां सान्निध्येऽपि तान् पञ्चेवार्थान् यद्यात्मा लिप्सति न कथं पञ्चैवेन्द्रियाणि युगपत् तान् गृह्णन्तीत्यत आह्—अणुत्रिमित्यादि । ऽणुत्वेऽप्यनेकलं चेत् तदा युगपन्मनःपुरःसराणीन्द्रियाण्यर्थान् पञ्च ग्रहीतुः प्रभवन्ति, यथा सुमनःपरमाणवो बहुषु पतन्तो सुगपत् सौरभं कुर्व्वन्ति तद्द्दित्यत आह्—अथ चैकलमिति। अणुलं मृह्भलं परिमाणमेकलं सहित्रति द्दौ गुणौ मनसः प्रसिद्धौ समृतौ। द्वाभ्यामाभ्यां गुणाभ्यां मनसोऽनेकेन्द्रियेषु युगपत् प्रवृत्तिने सम्भवति। गहदैकन्तु युगपदनेकेषु मुर्ग्य इव प्रवित्तिः प्रभवति न चाणु चैकमिति। सन्वमिद्युक्तमिन्द्रियोपक्रमणीये पूर्वम्-न चानेकत्वं, नाप्येकं हेत्रककालमनेकेषु प्रवर्त्तते, तस्मान्नैककाला सन्वेन्द्रिय-प्रष्टित्ति। नन्तः तिसं पणीये-तत्रैकं स्पर्जनेन्द्रियं सर्विन्द्रयाणामिन्द्रिय-च्यापकं चेतःसमवायि, स्पर्शेनव्याप्तेच्यापकमपि चंत इति। तत् कथं न पश्चस्विन्द्रियेषु युगपत् पवत्तंते मन इति चेन्न, तद्धि न्यापकत्वं मनसो-ऽण्रवैकलाभ्यां क्रमेण सन्वेगामित्वं न यौगपढेत्रन। तस्मात् न ज्ञानानि

ज्ञानस्याभावो ज्ञानस्य भावश्च मनोगामको भवति, तदाह स्तितियादि। वैवृत्त्यान्मनस इति इन्द्रियेणासंयोगात्, साजिध्यादिति इन्द्रियेण सनसः सम्बन्धात्। एवं मन्यते—यदा युगः पदिन्द्रियार्था इन्द्रियेः संयुज्यन्ते तदा क्वविदिन्द्रियार्थे ज्ञानं भवति, कविन्न भवतीति दृष्टम्। तेन, इमा ज्ञानभावाभावा ज्ञानकारणान्तरं द्र्ययतः, यर्च तत्कारणान्तरम्, तन्मनः। तत्कारणं मनोरूपं यद्याग्मयद् युगपत् सःवैन्द्रियद्यापसं स्वीक्रियते, विंवा, अनेकसंख्यमिन्द्रियवत् स्वीक्रियते, तदा पुनर्राप युगपदिन्द्रियार्थसम्बन्धे पञ्चभिक्षित्रते, तदा पुनर्राप युगपदिन्द्रियार्थसम्बन्धे पञ्चभिक्षित्रिते विक्षाना वा मनसा, अनेभैवी मनोभिर्युगपदिधिष्टतत्वादिन्द्रियाणाम्। न च भवन्ति युगपज्ञान्ति। तरमाद् युगपज्ज्ञानानुद्याल्किः । तरमाद् युगपज्ञानानुद्याल्किः । तरमाद्याल्किः । विष्टि ।

[¥] वैवृत्त्यादिति चकः।

चिन्त्यं विचार्थमृह्यश्च ध्येयं सङ्कल्प्यमेव च। यत्किश्चिन्मनसो ज्ञे यं तत् सर्व्वं ह्यर्थसंज्ञकम् ॥ इन्द्रियाभिग्रहः कम्मं मनसस्त्वस्य ७ निग्रहः। उहो विचारश्च ततः परं वुद्धिः प्रवर्त्तते॥

युगपर् भवन्ति । नन्वात्मा शब्दादीन् पञ्चेत्रार्थान् न चेल्लिप्सिति, तर्हि मनस इन्द्रियेषु प्रयुत्त्यभावाज् ज्ञानं किं न पवर्त्तत इत्यत आह—चिन्त्यमित्यादि । चिन्तया यज् ज्ञायते तचिन्त्यम् । विचार्य्य विचारेण विविध्यतर्केण यज् ज्ञायते तिह्चार्य्य वितर्क्यम् । उत्हेन तर्केण यज् ज्ञायते तृह्यां तर्क्यम् । ध्येयमर्थिभ्य । विहिरिन्द्रियाणि निवर्त्यं मनो यच्चिन्त्यति तत् ध्येयं ध्यानीयं । चिन्त्यन्तु सेन्द्रियेण मनसा ध्येयम् । सङ्क्ष्ट्यं मनो यत् सम्यक् कल्पयति विचारेण तत् सङ्क्ष्ट्यम् । एवमन्यत् यित्किञ्चिदिन्द्रियानपेक्षं मनसो क्यं सुखदुःखेच्छाह्य-प्रयवज्ञानचेतनाधृतिस्मृत्यहङ्कारिमन्नं तत् सर्व्यं मनसोऽर्थसंबक् न तु केवलमर्थ-संबक्षमिति शब्दादीनां तत्संबलात् । नतु च कथं मनसोत्पद्यते ज्ञानमित्यत आह—इन्द्रियाभिग्रह इत्यादि । इन्द्रियाभिग्रह इन्द्रियमभिग्रखीभूय तदिन्द्रिय-ग्रहणम् आत्मना युद्धग्रध्यवसितमभीष्सित्तमर्थं ग्राहिपतुं मेरितस्य मनसस्तदर्थ-ग्राहकमिन्द्रियमभिग्रखीभूय यद् ग्रहणं तदिन्द्रियस्य तदंकं मनसः कम्पे ।

मनोगुणमिभधाय मनाविषयमाह—चिन्त्यमित्यादि । चिन्त्यं कर्त्तव्यत्या अकर्त्तव्यत्या यन्मनस् चिन्त्यते । विचार्यम् पृष्पत्यनुष्पत्त्यनुष्पत्त्रभ्यां यद् विमृश्यते । उद्यञ्ज यत् सम्भावनया उद्यते (प्वमेतद् भवति' इति । ध्येयं भावनाज्ञानविषयम् । सङ्कर्ण्यं गुणवत्त्रया दोषवत्त्रया वावधारणविषयम् । यत्किञ्चिद्रित्यनेन सुखाद्यनुक्तविषयावरोधः । मनसो नेयमिति इन्द्रियनिरपेक्षमनोग्राह्यम् । एने च मनोऽ्याः शव्दादिन्त्या एव । तेन पष्टार्थकष्पन्या न चतुर्विवंशतिसंख्यातिरेकः, सुखाद्यस्तु शव्दादिन्यतिरिक्ता मनोऽ्यां बुद्धिभेद्महणेनेव प्राह्याः । मनोविषयमिभधाय मनःकर्माह—इन्द्रियेत्यादि । इन्द्रियाभिग्रह इन्द्रियाधिष्ठानं मनसः कर्मा, तथा स्वस्य निग्रहो मनसः कर्मा । मनो ह्यनिष्टविषयप्रस्तं मनसेव नियाग्यते । मनश्च गुणान्तरयुक्तं सद् विषयान्तरात्रियमयत्तीरयादुरेके । यदुक्तम्—'विषयप्रवणं चित्तं धित-श्रंशात्र शक्यते । नि रन्तुमहिताद्र्याद् धितिहीं नियमात्मिका ॥" इति । तेन धत्या कारणमृत्या मन आत्मानं नियमयतीति न स्वात्मिनि क्रियाविरोधः । मनःकर्मान्तरमाह—उहो विचारश्चेति । अत्रोह आलोचनज्ञानं निध्वंकल्पम्, विचारः सङ्कर्पनं हेयोपादेयत्या विकल्पनम् । चतुर्विधं हि विकल्पकारणं सांख्या मन्यन्ते । उद्घत्र वाह्यमिन्दियरूपम्, आभ्यन्तरस्तु मनोऽहङ्कारो बुद्धिक्वेति

^{· *} मनसः स्वस्येति चकः ।

इन्द्रियेगोन्द्रियार्थो हि समनरकेन रहाते। कल्पते सनसाप्यृद्धं गुणतो दोवतो यथा ॥ जायने विषये तत्र या वृद्धिर्निश्चयात्मिका। व्यवस्थते तया वक्तुं कर्नुं वा बुद्धिपूर्व्वकम् ॥ ५ ॥

ततोऽर्थं गृहीला लस्य तदर्थग्रहणान्निष्टत्तिनिग्रहः कम्मी । ततोऽनन्तर्मात्मना कृतो मनसैवोह इदिमदं वाऽथ नेदं वा भवतीत्येवं वितर्कः। ततोऽनन्तरं तद्धेस्य विचारः। यदेशवं स्यात् तदेदं स्यान्नेद्मेवम्, यत् इद्मेवं तत इद्निखद्मित्येवं विचारात परं युद्धिः प्रवर्त्ततेऽयं खळ घट इति। मिन्द्रियाभिग्रहः स्यादित्यत आह्-इन्द्रियेणेत्यादि। हि यस्मात् समनस्केनात्म-शरितमनसा सहैवेन्द्रियेण तदिन्द्रियाथौँ गृह्यतेऽतः स इन्द्रियाभिग्रहः न तु मनोऽनपेक्षेण। ऊर्जु तदर्थग्रहादृद्धु ततो निष्टत्य स एवार्थो गुणतो दोपतो वा यत् करूप्यते ऊहपूर्व्यकविचारः क्रियते। इद्मेविमिदं ग्राह्यपिदं नैवमतो हेयमिदञ्चैत्रमित्यत उपेक्ष्यमित्येवं कल्पयिला विचार्य्यानन्तरं यो निश्चयः स्यादिदं ग्राह्मिदं हेयमिदमुपेक्ष्यमित्येचं निश्चयलक्षणा या चुद्धिर्जायते सा निश्रयात्मिका वृद्धिरुच्यते। येयं तत्र विषये निश्रयात्मिका वृद्धिर्जायते, तया बुद्ध्या वक्तुं वा कर्त्तुं वा यद् व्यवस्यते गृह्यते वा त्यज्यते वाप्युपेक्ष्यते वा तर् वुद्धिपूर्वकं व्यवस्यते इति निश्चयात्मकवुद्धिपूर्विकव्यवसायकरणवुद्धिः निश्वयबुद्धेः फलं प्रमावुद्धिस्तद्व्यवसायकरणबुद्धिलक्षणं यस्याः सा बुद्धिः त्रितयम् । तत्र निद्वयाण्यालोचयन्ति निर्व्विकरुपेन गृह्यन्तीत्यर्थः, मनस्तु सङ्गरुपयति हेयोपादेय-.तया सङ्गल्ययतीत्यर्थः, अहङ्कारोऽभिमन्यते 'ममेदमहमत्राधिकृतः' इति मन्यत इत्यर्थः, बुद्धिः अध्यवस्यति त्यजाम्येनं दोपवन्तमुपाद्दाम्येनं गुणवन्तमित्यध्यवसायं करोतीत्यर्थः। यद्यपि वाह्यचक्षुरादिकर्मा, तथापि मनोऽधिष्ठानमर्स्ताति मनःकर्मातयोक्तः। वचनं हि 'सान्तः-करणा बुद्धिः सर्वः विषयमवगाहते यस्मात्। तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि"॥ इति। ्ततः परं बुद्धिः प्रवर्त्तत इति जहविचारानन्तरं बुद्धिरध्यवसायं करोतीग्यर्थः । अहङ्कारघ्यापारश्च अभिमननिमहानुक्तोऽपि घुद्धिन्यापारेणैव सूचितो ज्ञेयः। बुद्धिर्हि त्यजाम्येनमुपाददामीति , वाध्यवसायं कुर्व्वती अहङ्काराभिमत एव विषये भवति । तेन बुद्धिच्यापारेणैव अहङ्कारच्यापारो . गृद्धते । बुद्धौ हि सर्वकरणव्यापारार्पणं भवति । यदुक्तम्—''एते प्रदीपकरुपाः परस्परविलक्षणा

होतेपाः । ,तहत्स्नं पुरुषार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥'' ————रपूर्वकरवं — बुद्धविनुणोति— हन्द्रियेणेश्यादि । गृह्यते इति जहमात्रोग ¥ वैवृत्त्यादि। गुणत द्वायुपादेयत्या, दोपत इति द्वेयत्या। वृद्धप्रध्यवसार्थ

च्यवसायात्मिका प्रमाणमुच्यते । इत्येव ज्ञानस्य भाव एतद्विषुरुपयेण ज्ञानस्य अभाव एव च मनसो लक्षणं तेनानुभेषं मन एकष्। ननु येयं वृद्धिरात्मेन्द्रियाथं-मनःसन्तिकपादुत्पद्यते सा किम्रुपादाना मनश्रेदं किम्रुपादानमिनि चेत् सत्यम्। योऽसौ पड्धातुः पुरुष उक्तः स खल्वेवमुक्तः। यदव्यक्तं नामात्मा महान् नाम जीवश्राहङ्कारश्र तत् सात्त्विकाहङ्काराद्वैकारिकाभिधानाज्ञातं मनस्तैज-साख्यराजसाहङ्कारसहायात् सात्त्रिकाच्चाहङ्काराज्ञातानि दशेन्द्रियाणि भृतादिनामतामसाहद्वारजानि शब्दतन्मात्राकाश-स्पर्शतन्मात्रवायु-रूपतन्मात्र-तेजो-रसतन्मात्रजल-गन्धतन्मात्रभूषय इत्येता[न महाभृतानि पञ्चेत्येतद्ह्द्वा-रादिसप्तदशकः महांक्वेत्यष्टादशतत्त्वविशिष्टोऽव्यक्ताख्य आत्मा चेतनाधातुस्तन्न च दिक्कालाभ्यां विशिष्ट आकाशस्तदाकाशानुमविष्टवायुर्वायवनुमविष्टतेजस्तत्-तेजोऽनुमविष्टजलं तज्जलानुमविष्टभूमिरिति खाद्यः पञ्च चेति पङ्धातवः, एकीभूतः पङ्धातुः पुरुषः पत्यगात्मा भूतात्मा चोच्यते । मृक्ष्मदेही बीजधम्मी स एव परलोकाद्वक्रम्य गभाशयगतं शुक्रशोणितसंयोगं प्राप्याव्यक्तात आत्मनः सत्त्वादिगुणान् विकुर्वाण आत्मान्तरं सृजतीत्यव्यक्तमात्मात्मान्तर-मारभते। तथा महान् स्वगतसत्त्वादीन् विकुर्व्याणो निश्चयात्मिकां बुद्धिमार-भते। अहङ्कारश्च स्वगतसत्त्वादीन् विकुन्वीणोर्शवद्याद्यद्विमारभते। आकाशादयश्च पञ्च पञ्चाकाशादीनारभन्ते । इत्यष्टमकृतिधातुभयोऽष्ट्री जायन्ते । तथा मनः स्वारम्भकसत्त्वादीन् गुणान् विकुव्वीणं विशिष्टमपरं सत्त्वगुणवहुलित्रगुणं सत्त्वसंग्रकं मन आर्भते। आहङ्कारिकाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि तान्यात्म-कृतान्यकैकाधिकपञ्चभूतान्यनुभविश्य पञ्च श्रोत्रादीनि बुद्धीन्द्रियाण्यारभन्ते। तानि पञ्च कम्में न्द्रियाणि चात्मकृतानि पञ्चाकाशादीन्यनुपविक्य पञ्च कर्मो निद्रयाणि हस्तादीन्यारभन्ते । पञ्चार्थाश्च शब्दादयः शब्दादीनारभन्ते । इत्येवं चतु व्विंशत्या धातुभिनिष्पन्नः पुरुपोऽन्नमयो देवनरादियोनिषु जायत -इति। तदिद भौतिकानीन्द्रियाणि शब्दादिनियतविषयाणि । हस्तपादादिशरीरञ्च भौतिक-मिति दशेन्द्रियाणि श्ररीरञ्च खादिषु पञ्चस द्रव्येषु संग्रहीतानि तत सेन्द्रिय शरीरं शरीरमुक्तं मनस्तु पृथक् द्रव्यमुक्तं सुक्ष्मदेही लात्मा द्रव्यमुक्तमिति सत्त्वमात्मा शरीरञ्चेति त्रयं संयुक्तं पुरुपश्चतुर्विशतिक उक्तः क्रियाधिकरणञ्च

वितुणोति—जायत इत्यादि । विषये तत्रीति मनुसा कल्पिते विषये । निश्चयारिमकेति स्थिर-

नतु द्रव्यगुणकस्मसम्बायसामान्यविशेषा इति पद्देव पदार्था उक्ताः, के पुनः पदार्था महदहङ्काराहङ्कारिकृदशेन्द्रियाणीति चेत् ? सत्यम् । द्रव्यादयस्तु ये पद् पदार्था उक्ताः, न ते पड़ेव पदार्थाः न तन्ये पदार्थाः सन्तीत्येवं नियमे-नोक्ताः, तज्ञाला तन्त्रोक्तविधिमाश्रिता इत्येतन्मात्रमुक्तं शास्त्रोक्तरुर्गिकक-विध्याश्रयणं तत्पर्पदार्थज्ञानंन भवतीति च ख्यापितम्। वैशेपिके कणादंन च तत्पद्पदार्थतत्त्वज्ञानान्त्रिःश्रेयसमुक्तमन्य पदार्था न सन्तीति नोक्तम्। निःश्रेयस-वचननावमेयपदार्थाः सन्तीति ज्ञापितम्। गोतमेनाक्षपादेनापि प्रमाणादि-षोइशपदार्थतत्त्वज्ञानात् निःश्रेयसाधिगमवचनन अपमेयपदार्थाश्च सन्तीत्यतज्-मापितं, न तु प्रमाणादिभ्योऽन्यं पदार्था न सन्तीत्युक्तमत एव कपिछेन साह्यो चोक्तं न पर्पदार्थनियमस्तर्वोधाच्च मुक्तिः। पोइशादिष्वप्यवम्। न वयं वैशेषिकादिवत् पर्युपदार्थवादिन इत्येवमुक्तंमिति प्रमेयातिरिक्ता अपमेयपदार्था अपि सन्तीति तत्त्वम् । नजु तिहें किं महदादिकमप्रमेयिति चेन्न । यनवद्रव्यमुक्तं तत्कारणभूतम्, कारणभूतद्रव्यग्रहणेन कार्यभूतस्यापि देहेन्द्रिय-विषयात्मकादेग्रेहणम्, तत्रात्मा कारणभूतः काटयेभूतथ । कारणभूतमन्यक्त-मात्मा, कार्यभूतः सुक्ष्मदेहो । तत्राव्यक्तं सुक्ष्मदेहिनः परम इति परात्मा ततः मत्यगात्मा सुक्षवद्दो तद्ग्रहणेन महदादीनां ग्रहणात् भमेयत्वं न लममेयलसुक्तम्। अन्यक्तात् परमस्त्वात्मपट्कः परमन्योमपुरुपः सन्वेपरमात्मा। तथा चोक्तं कठोपनिषदि । इन्द्रियभ्यः परा हाथी अथभ्यश्च परं मनः । मनसञ्च परा बुद्धि-बुं द्धेरात्मा महान् परः। महतः परमन्यक्तमन्यक्तात् पुरुषः परः। पुरुषाञ्च परं किञ्चित् सा काष्टा सा परा गतिरिति। मनस्तु गौतमेनाप्युक्तम्। युगपञ् क्षानातुत्पत्तिः मनसो लिङ्गमिति। व्याख्यातव्य वात्स्यायनन। स्पृत्यादिषु लिङ्गेषु सत्सु खाल्यदं युगपन्शानानुत्पत्तिलिङ्गं भवात। अती(न्द्रय-निमित्ताः समृत्यादयः करणान्तरनिमित्ता भावतुमर्द्वन्तोति। युगपच्च खळ घाणादीनामिन्द्रियाणां गन्धादीनाञ्चार्थानामात्मनश्च सन्तिकवेषु सत्सु युगपज . श्वानानि नोत्पद्यन्ते। तेनानुमीयते, अस्ति तदिन्द्रियसंयोगिसहकारि-निभित्तान्तरमव्यापि। यस्यासन्तिधेनौत्पद्यते सन्निधेश्रोत्पचत ज्ञानं, इति । मनःसंयोगानपेक्षस्य हीन्द्रियाथेसन्निकपंस्य ज्ञानहेतुत्वे युगपदुत्पदेत्ररन् स्वरूपा अध्यवसायरूपेत्यथैः । व्यवस्पतीत्यनुष्ठानं करोति उर्युक्तो भवतीत्यर्थः, बुद्धप्रध्यव-सितमर्थं वक्तुं कर्त्तुं वाऽनुंतिष्टतीति यावत् । बुद्धिपूर्व्वकिमित्यनेन, यदेव बुद्धिपूर्वकमनुष्टानम्, -तदेनैवंविधं सवति, नोनमत्ताद्यनुष्टानमिति दर्शयति ॥ ५ ॥

ज्ञानानीति । इदश्च भाष्यं व्याचक्ष्महे । अतोन्द्रियाणि मनोबुद्धप्रादीनि । तन्निमित्ताः समृत्याद्यः समृतिधृतिपभृतय उत्पद्यन्ते। तस्मात् मनोव्यतिरिक्त-करणान्तरबुद्धिनिमित्ता अपि सम्भवन्ति तस्यात् तत्रातिप्रसङ्गवारणाय युग-पदिति लक्षणमिति। न हि युगपजनानोत्पत्त्यनुत्पत्ति करणान्तरनिमित्तं सम्भवति, सम्भवति च मनस एवेति । कथमिति चेत् तद् दर्शयति — युगपत चेत्यादि । चकारः पुनरर्थे । तेन घाणादीनां पञ्चानामिन्द्रियाणां गन्धादीनाञ्च पञ्चानां तेषां ग्राह्याणामर्थानाञ्च युगपत् तु सन्निकर्पेषु सान्निध्येषु सत्स्र अपि युगपदेककालं घाणनरासनवाक्षपताचश्रावणानि ज्ञानानि नात्पद्यन्ते, तेन युगपत्पश्चवियन्नानानुत्पादंनानुभीयते । तत्तद्घाणादीन्द्रियसंयोगि तत्तिः-न्द्रियाणां खखाथंग्रहणे खखा मं प्रति धावने च सहकारि किमपि नियन्तु वस्त खल्वेकमण् च सर्व्वेन्द्रियच्यापकस्पज्ञंनेन्द्रियसमवेतत्वेन च्यापकमपि युगपत पश्चस्वन्यापकं निभित्तान्तरमस्तीति लनुमीयंत इत्यन्त्रयः। कथमनुमीयत इत्यत आह-यस्येत्यादि । यस्य निमित्तान्तरस्यासन्निधानात तत्तदिन्द्रयार्थ-सन्निकपॅऽपि सति तत्तदिन्द्रियर्ज तत्तदथवानं नात्पद्यत्। यस्यैव निमित्तान्तरस्य सन्निधानात् तु तत्तदिन्द्रियार्थसन्निकपे च सति तत्तदिन्द्रियनं तद्थेज्ञानमुत्पद्यते। तदेवकमण्परिमाणञ्च तदिन्द्रियसं योगि सहकारि नियन्तु चाव्यापि च निमित्तान्तरं मन एवोच्यते । कस्मादंविमत्यतो हेरु द्वायीत -मनःसंयोगेत्यादि । यदि तु तथाविधं तदिन्द्रियसंयोगि मनो नावित्तिष्यत मनःसंयोगानपेक्षमेवेन्द्रियमग्रहीष्यदर्थं ग्रहीतुञ्चाधाविष्यदिति तदिन्द्रियार्थ-सन्निकपौँ मनःसंयोगानपेक्ष एव तत्तदर्थज्ञानमजनविष्यदिति ज्ञानस्य हतः तत्तदिन्द्रियसन्निकपौ न मनःसंयोगापेक्ष इति चेत् तदा युगपदुत्पदेत्रस्न जानानि पञ्चेति। तस्मात् तदिन्द्रियसंयोगिसहकारिनिमित्तान्तरं तत्तदिन्द्रियाणां तत्तद्थे धावनग्रहणयोनियन्तृभेरकमणुपरिमाणमेकमेवासन्वन्यापि सन्वत्रगामि मनोऽस्तीत्यनुमीयते । तस्य खल्ज मनस एकंलाणुलाभ्यां युगपदनेकेष गन्तुमसा-मर्थ्योद्व्यापितात् इन्द्रियाणां युगपद्यैषु धावनग्रहणे च सहकारितया संयोगि-प्रयोजकाभावान्न युगपदिन्द्रियाणां सन्निधाने सतस्वप्यथेष धावनाथ ग्रहणा-र्थञ्च प्रवृत्तिभवति। तस्मान्न युगपज्ञानोत्पत्तिभवतीति ज्ञानयौगपद्यानुतपत्ति-मनसो लिङ्गं भवति। नैवं बुद्ध्या सम्भवति निष्क्रियतात् तदिन्द्रियसंयोगाय गन्तुमसामध्यति। न चात्मतःचैवं भवति मनःक्रिययोपचरितक्रियया स्पर्शने-न्द्रियं गन्तुमात्मनोऽसम्भवात्। यत्र ह्यात्मा वर्त्तते तत्र तु नास्ति स्पर्शनेन्द्रिय-

स्थानं तक् खळु मनःपर्यन्तमेवास्ति । त्रिगिति मनोमयकोपे हि मनो मनो-ऽभ्यन्तरे विज्ञानमयः कोपस्तत्र विज्ञानं तन्यध्ये त्रानन्दमय आत्मा क्षेत्रज्ञाधि-व्यिताऽत्र्यक्तारूयः । इति वात्स्यायनव्याख्या ।

चरकवचनैकवावयत्वेनापरो व्याचष्टे। ज्ञानं ज्ञानोत्पित्तरतुत्पत्ति ज्ञानान्तुत्पत्ति हूं यमेतद् युगपिद् ति युगपज्ज्ञानस्याभावभावो मनसो लिङ्गमिति। अस्मिन् सूत्रे स्वयमक्षपादो मनसः परीक्षार्थं सृत्राण्युवाच। ज्ञानायौग-पद्यादेकं मनः। न युगपदनेकिक्रयोपलब्धेः। अलातचक्रदर्शनवत् तदुपलब्धि-राशुसञ्चारात्। यथोक्तहेनुलाच्चाणु। इति। व्याख्यातानि च वात्स्यायनेन। अस्ति खल्ल ज्ञानायौगपद्यमेकेकस्येन्द्रियस्य यथाविषयं करणस्यैक-प्रत्ययनिव्दे तौ सामर्थ्यान्त तद्देकत्वे मनसो लिङ्गम्। यत् तु खिवद-पिन्द्रियान्तराणां विषयान्तरेषु ज्ञानायौगपद्यमिति तल्लिङ्गम्। कस्मात् १ सम्भवति खल्ल वै वहुषु मनःसु इन्द्रियमनःसंयोगयौगपद्यमिति ज्ञानयौगपद्यं स्यात्, न तद्भवति। तस्माद्विषयपत्ययपर्यायादेकं मन इति।

तत्राह वादी-न युगपदनेकिकयोपलब्धेरिति। अयं खल्वध्यापकोऽधीतं व्रजति क्रमण्डलुं धारयति पन्थानं पश्यति शृणोत्यरण्यजान् शब्दान् विभयद्-च्याललिङ्गानि वुभुत्सते स्मरति च गन्तव्यं स्थानीयमिति क्रमस्याज्ञानाद् युगपद्ताः क्रिया इति प्राप्तं मनोवहुलमिति। तत्रोत्तरम्। द्रजीनवत् तदुपलव्धिराशुसञ्चारादिति । आशुसञ्चारादलातचक्रस्य सम्भ्रमतो विद्यमानक्रमो न यु ते। क्रमस्याग्रहणाद्विच्छेदबुद्ध्या चक्रवर्बुद्धभवित। तथा बुद्धीनां क्रियाणाञ्चाशुरुत्तिलाट् विद्यमानक्रमो न गृह्यते, क्रमस्याग्रहणाट् युगपत् किया भवन्तीत्यभिमानो भवति। किं नु क्रमस्याग्रहणाद् युगपत-क्रियाभिमानः ? किमथ युगपर्भावादेव युगपद्नेकक्रियोपलव्धिरिति ? नात्र विशेषप्रतिपत्तेः कारणमुच्यते । इत्युक्तिनिद्रयान्तराणां विषयान्तरेषु पर्यायेण बुद्धयो भवन्तीति, तच्चामत्याख्येयमात्ममत्यक्षसात्। अथापि दृष्टश्रुतार्थान् चिन्तयतां क्रमेण बुद्धयो वर्त्तन्ते न युगपत्, अनेनातुमातव्यमिति। वर्णपद्वाक्य-षुद्धीनां तदर्थवुद्धीनाञ्चाशुर्रेत्तितात् क्रमस्याग्रहणम् । कथम् ? वाक्यस्थेषु वर्णेषु खळूच्चार्घ्यमाणेषु प्रतिवर्ण तावच्छवणं भवति। श्रुतं वर्णमेकमनेकं घा पद्भावेन स प्रतिसन्धेत्ते, प्रतिसन्धाय पदं व्यवस्यति, पद्व्यवसायेन स्मृला पदार्थं प्रतिपद्यते, पदसमूहप्रतिसन्धानाच्च वानयं व्यवस्यति, संस्वन्धांश्च पदार्थान् गृहीला वाक्यार्थं मित्रवते, न चासां क्रमेण वर्त्तमानानां

बुद्धीनामाशृष्टक्तिलात् क्रमो गृह्यते। तदेनद्रनुमानमतन्त्रं गुद्धिक्रियायौग-पद्याभिमानस्येति। न चास्ति मुक्तसंशया युगपदुन्पक्तिपु द्वीनाम्, यया मनसो बहुत्तमेकशरीरेऽनुमीयेतेति।

एकञ्च महद्देकदा वहृन् व्याप्तुमर्हित सूर्यविदिति। तत्राह्—यथोक्तहेतु-ताचाणु। इति। अणु मन एकञ्चेति धम्मेसमुचयो ज्ञानायौगपद्यात्। महत्त्वे मनसः सर्व्वेन्द्रियसंयोगाद् युगपद्विषयप्रहणं स्थात् तस्माद्क्रमण् च मन इति तत्त्वम्। कणादेनापि वैशेषिकन्याये घोक्तम्। आत्मेन्द्रियार्थसिन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्। सत्यप्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्तिकर्षे यस्य संयोगाद् इन्द्रियेण ज्ञानस्य भाव उत्पत्तिः स्याद् यस्य वियोगादिन्द्रियेण ज्ञानस्याभावो-ऽनुत्पत्तिः स्यात्, तन्मन इति, आत्मेन्द्रियार्थसिन्निकर्षसद्भावसमकाल-ज्ञानोत्पत्त्यन्तरम्ती मनसो लक्षणित्यर्थः।

नन्वेवं लिङ्गं मनः कथं द्रव्यं भवति, तन्त्रित्यमनित्यं वेत्यत आह-तस्य द्रव्यतनित्यते वायुना व्याख्याते। वायुर्यथा व्याख्यातः खल्वाहङ्कारिकलाट् द्रव्यवत्त्वेन द्रव्यं क्रियाचत्त्वार् गुणवत्त्वाच मृक्ष्मस्तथाहङ्कारिकलान्मनोऽप्यद्रव्य-वत्त्वेन क्रियागुणवत्त्वाच द्रव्यं मृक्ष्मञ्च व्याख्यातम्। एवं वायोर्थथा चाद्रव्य-वत्त्वेन नित्यतं व्याख्यातं तथा मनसोऽप्यद्रव्यवत्त्वान्तित्यतं व्याख्यातमिति। गुणिकयावत्समवायिकारणं द्रव्यमिति हुत्रक्तं तद्रव्यवदिनत्यं तत्काय्येमिदं मनः । तद् द्रव्यरहितलं नित्यतम् । क्रियागुणवत्समवायिकारणाभावानित्यं मन इत्यर्थः। अणुत्वं प्रसिद्धमाशुसञ्चारात्। नसु मनो द्रव्यं नित्यमणु च भवतु प्रतिक्षणं सात्त्विकादिविभिन्नरूपदर्शनात् किमेक्वैकस्मिन् पुरुपेऽनेकिमत्यत आह—प्रयत्नायौगपद्याज् ज्ञानायौगपद्याचैकम् । मन एकैकैस्मिन् पुरुप खल्वेक-मेत्र भवति । कस्मात् ? प्रयत्नायौगपद्याज ज्ञानायौगपद्याच । ननु एकं चेन्मनः स्यात् तथापि युगपदेव तस्य वहवः प्रयताः सम्भवन्ति। यथार्क एक एव सर्व्व यदा मकाशयति तदैव तापयति तदैव जगतः स्नेहान् शोपयति । तथा किञ्चिद्दस्तु स्मरतः किञ्चिज्ञानात् कचिन्मुहात् चेति । इत्यत आइ—तद्भावाद्णु मनः तस्य मनसो विभुत्वेऽपि अण्त्वं सक्ष्मत्वं, कस्मात् ? तदभावात् । प्रयत्नज्ञानयोः यौगपद्याभावात् । यदि प्रयत्नयौगपद्यं ज्ञानयौगपद्यं वा प्रत्यक्षमज्ञायिष्यत तदा महन्मनोऽभविष्यत् इति ।०। कपिछेनाष्युक्तं साह्यसंहितायाम् । उभयात्मकञ्च मनः। वुद्धिकम्मोभयात्मक्षेकं मनः स्याद् बुद्धीन्द्रियञ्च कर्मोन्द्रियञ्चेति। तत्रायं संशयः। किं न खल मन एकमनेकं वेति ? तत्राह-गुणपरिणाम-

भेदानानातमवस्थावत्। अस्मिन्नेकैकस्मिन् खलु पुरुपे प्रयत्नज्ञानयोरयौग-पद्मान्मनस एकत्वेऽपि गुणपरिणामभैदात् सत्त्वादिगुणानां परिणाम-विशेषेणैकैकस्य नानात्वेन नानात्मवस्थावत् । प्रतिक्षणं हास्मिन्सिन् पुरुषे-ऽवस्था यथा परिणमति तदवस्थाभेदेन स स एकेकः पुरुपस्तत्तदावस्थिको नाना भवति ; यथा वालपौगण्डयुविकशोरमध्यस्थविररूपः। तथा प्रतिक्षणं मनः सत्त्वादिपरिणामे सान्विकं बाह्मसत्त्वं देवसत्त्वमार्पसत्त्वमित्येवमादिकं, राजसञ्च तामसञ्चैवं वोध्यम्।

नतु ज्ञानिक्रययोरयौगपद्यान्मनस एकत्वं नातुमीयते व्यभिचारात्; एकं हाप महद् वहान वस्तूनि व्यामोति यथाकीः ; एवमेवैकमपि मनोडनेके-ष्विन्द्रियेषु व्याप्य प्रवित्तुं प्रसञ्यत इत्यत आह—न व्यापकत्वं मनसः करणलादिन्द्र २ हा वा। मनसो न व्यापकत्वं सर्व्वेन्द्रियव्यापकस्पर्वेनेन्द्रिय-समवायेन चेत्रस्तु व्यापकमपि क्रमेण स्पर्शनेन्द्रियव्हर्मना सर्व्वदेहगाम्यपि न युगपत् सन्बेटेहगामि न्यापकम्। कस्मात् ? करणलात्। कर्त्रधीनं नानककम्मं युगपत् कत्त्रमेकं प्रभवति, कत्त्र्रेकेलात्। नन्वेकोऽपि कत्ती दीघेदण्डेनानेकान् युगपत् कर्त्तु प्रभवत्येवेत्यतः आह—इन्द्रियलाद्वा। इन्द्र लिङ्गमित्यर्थे निपातनादिनिद्रियम्। इन्द्रस्यात्मनो लिङ्गमित्यतो मनो न व्यापकम्। तेन सर्व्वेन्द्रियव्यापकत्वेऽपि स्पर्वनेन्द्रियस्य तत्समवायेन यनसो न सन्बन्यापकः लिपति। एतेनैवं शापितम् अण्लादेकः लाच मनो न व्यापकं, न हाण चैकमेककालमनकेषु प्रवित्ते प्रभवतीति भावः। नतु मनोऽभ्यन्तरेन्द्रियं कथमस्य वहिरिन्द्रियेषु योगः स्यादित्यत आह— सिक्रयलार्गातश्रुतेः। अध्यापकमपि मनः संव्वनिद्रयव्यापकस्पर्शनिन्द्रय-समवायेन सन्वे जिन्द्रयेषु स्वाभिमतार्थग्रहणायात्मना मेरितं गन्तु प्रभवति सिक्रियलात्। मनसः सिक्रियलञ्च गतिश्रतेः। छान्दोग्योपनिषदं हुत्रक्तम्। उदालको हारुणिः इवेतकेतुं पुत्रमुवाच। स्वमान्तं में सौम्य विजानीहि। यत्रैतत्पुरुषः खपिति नाम स सौम्यं तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादनं स्विपतीत्याचक्षते। स्वं हापीतो भवति। स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रवद्धो दिशं दिशं पतिसान्यत्र नायतनं लब्ध्वा वन्धनमेवोपश्रयते। एवमेव खल सौम्य तन्मनो दिशं दिशं पतिलान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेत्रोपश्रयते प्राणवन्धनं हि सौम्य मन इति। पतित्वेत्युत्तया गतिमेनसः श्रूयंते। ननु मनसोऽणत्वेन सिक्रयत्वं कथसुपंपद्यते ? क्रिया स्वयविनां दृश्यते मनस्तण

तिरवयविष्यत आह - न निर्भागत्वं तद्योगाद् घटवत्। मनसो निर्भागत्वं निरवयवत्वं नास्ति । कस्मात् ? घटवत् तद्योगात् । यथा खल्वेकस्या एव मृत्तिकायाः कपालमालाद्वययोगान निर्भागत्वं नथा मनसोऽप्येकस्याह्ङारस्य तैजससहितसात्त्विकाहङ्कारस्याणुद्रयस्य योगात् तदुभयात्मकत्वेन न निर्भागत्सम्, अणुतश्च सिक्रयत्र वर्तत एव। नन्वेवमहङ्कारभेदद्वययोगाद् सावयवाणुलं तदा नित्यतं नास्तीत्यत आह्- नाणुनित्यता तत्काव्येलश्रुतेः। अणुपरिमाणस्य परमाणुयोगान नित्यता तत्कार्य्यल्थाते । कार्य हाण शास्त्रे श्रूयते। तत्र वादी-न निर्भागतं कार्यवात्। परमाण-कार्येलाद्ण्परिमितस्य न निर्भागलमपि सभागलमेव। अनित्यतायाग्रुपपत्त्यन्तरमाह – तद्रूपनिवन्धनात् पत्यक्षनियमः । तेपामणूनां परमाणुघटितानां रूपनिवन्धनं हि पत्यक्षं भवति न हि परमाणुघटिताण्-परिमितरूपं विना प्रत्यक्षं भवति, परमाणुरूपस्य प्रत्यक्षयोग्यलाभावात्। नतु न भवतु परमाणुपरिमाणं चतु विवंधपरिमाणमध्ये तद्भावादित्यत आह— न परिमाणचातु व्विध्यं द्वाभ्यां तद्योगात्। अण् दीर्घ महत् हस्वीमति चतु विधे परिमाणं न । द्वाभ्यां परमाणुभ्यां योगात् तद्णु भवति । तच परमाण्परिमाणम(धकं परिमण्डलम्। तर्द्ययोगादण् च दीधञ्च महच ह्रस्यञ्चेति पञ्चिविधं मानस्। नन्वणुपरिमितस्य चेदिनित्यता स्यात् तदा स्थिरलाभावात् वर्धं प्रत्यभिक्षानं भवतीत्यत आह—अनित्यत्वेऽपि स्थिरता-योगात् प्रत्यभिक्षानं सामान्यस्य। पाथिवाद्यण्नामनित्यत्वेऽपि कनिकाछं स्थिरत्योगात् सामान्यस्य घटाचारम्भकस्य पार्थिवाद्यणोः प्रत्यभिषानं भवति। यो योऽसौ तव मात्तिकघटारम्भकः परमाणूद्वयरूपोऽणः स स एवार्यं मात्तिक-घटारम्भकः पाथिवः परमाणुरिति सामान्यस्य प्रत्यभिकानं भवति। नन्वेवं कतिकालस्थिरतायामणुनां. परमाणुद्वयमत्यभिष्ठानं शब्दमत्यभिष्ठानवदपलपितं भवति वस्तुतोर्अस्थरलात् इत्यत आह—न तदपलापस्तस्मात्। तस्मात् इत्यनित्यत्वेऽप्यणृनां कतिकालावस्थानार् वस्तुतोऽस्थिरत्वऽपि चिरस्थिरल-योगात् तत्प्रत्यभिक्षानस्यापलायो न भवति । ननु प्रत्यभिक्षा खलु तादात्म्य-रूपेण भवति कथं सामान्यस्य मत्यभिका स्यात्? यो हि पूर्वानुभूतः स एवान्यस्मिन् काले तद्रपेण प्रत्यभिशायत इति ? तत्राह--नान्यनिष्टत्तिरूपत्वं भावमतीतेः। सामान्यन्तु तत्तिद्धन्नस्य तद्गतथम्मेरूपं न तत्रान्यनिष्टत्तिरूपसं तदभिन्नरूपलं न सामान्यम्। कस्मात् १ भावमतीतेः। तस्य भावेन धम्मेणान्यस्य

मत्ययात् । यैः पार्थिवपर्माणुभिरारब्धाणुभिरारब्धस्तव घटस्तैः पार्थिवपर-माणुभिरारन्थाणुभिरारन्थोऽयं घट इति द्विपरमाणुरूपस्य सामान्यस्य धम्मेस्याभिन्नस्यैव प्रत्ययादन्यनिष्ठत्तिरूपत्तं सामान्यं नेति वोध्यस्। नतु यदि सामान्यं समानलं तदा भेदाभावादेकस्य तद्घटादेः प्रत्यभिक्षानं नास्तु, यथा सोऽयं घट इति साह्यथ्य न सामान्यं भवतु ; योऽसौ चन्द्रस्तदिदं ग्रुखम् इति प्रत्यभिकानापत्तेरित्याकाङ्कायामाह-न तत्त्वान्तरं साद्दश्यं प्रत्यक्षोप-लब्धेः। तत्त्वान्तरं साद्ययं न सामान्यम्। तद्भावस्तर्त्वं तत्त्वान्तरं तद्धम्मीन्तरं यत् साद्दर्यं तन्न सामान्यम् । कस्पात् ? प्रत्यक्षोपलञ्घः । ददयते हि प्रत्यक्षं न गोगज्योः साद्र्यं, साद्र्यं पुनगौगवययोरिति । तद्धम्भीन्तरं गोलगवयत-भिन्नं तदाकाररूपं धम्मीन्तरमिह साद्द्यं न सामान्यम्। तच न प्रत्यभि-ज्ञायत इति। योऽसौ चन्द्रस्तदिदं मुखमित्येवं प्रत्यभिज्ञानं न भवति, सोऽयं घट इत्येवं प्रत्यभिन्नानन्तु भवत्येवेति। अथ निजशक्तयभि-व्यक्तिर्वा वैशिष्ट्रशत् तदुपलब्धेः। न सामान्यमित्यनुवर्तते। निजंशक्तयभि-च्यक्तिर्वो सामान्यं नाभिधीयते किन्तु तद्भिनस्य तद्गतथम्भवत्वमिति। निजस्य खस्य खस्य गुणकम्मप्रभावरूपायाः फलसाधनहेतुभूतायाः शक्तरेभि-च्यक्तिने सामान्यम्। शक्तया हि कार्य्यतमापद्यते। यथा घटाद्यारम्भक-द्वरणुकैः खखशत्तया घटादित्वेन परिणम्पते । न तु शक्तिं विनेति शत्त्यभि-व्यक्तिन सामान्यम्। कस्मात् ? तद्वशिष्ट्रात् तदुपलम्भात् । खस्वशक्तेविशिष्ट-रूपतयैव कार्योव्वभिव्यक्तेरुपलस्भात् कार्येषु घटादिषु न खरूपेण शक्तिरुप-लभ्यते। ननु तिही प्रत्यभिन्नानं किं संन्नासंन्निसम्बन्धरूपस्य सामान्यस्य भवतीत्याशङ्कायामाह—न संक्षासंक्षिसम्बन्धोऽपि। यत् सामान्यस्य प्रत्यभि-ज्ञानमुक्तं तत् सामान्यं संज्ञासंज्ञिसम्बन्धोऽपि न। कस्मात् ? अपिशब्दात् पूर्वहेतोः । वैशिष्ट्रात् तदुपलब्धेरिति । घटादिः संज्ञा तद्वाच्यघटादिवस्तुसंज्ञि-त्योः सम्बन्धो वाच्यवाचकभावः। स च न प्रत्यभिक्षायां सामान्यम्। घटाद्या-रस्भकाणां परमाणुसमारब्धद्वप्रणुकानां विशेषरूपेण घटादिसंशाया उप-लम्भात्। नजु घटादिसंज्ञानां घटादिवस्तुवाचित्रसम्बन्धो नित्य एव. ततः सोऽयं घट इति प्रत्यभिकानं भवति कथं न संक्षासंक्षिसम्बन्धस्य सामान्यस्य प्रत्यभिकानं स्यादित्यत आह्-न सम्बन्धनित्यतोभयानित्यतात्। संबया सह संधिनः सम्बन्धस्य वाच्यवाचकभावस्य न नित्यतास्ति कस्मादित्यत आह—उभयानित्यलात्। उभयं हि संज्ञा च संज्ञि च न नित्यं कथं तयोः

सम्बन्धो नित्यः स्यात् ? किन्तु यत्पदेन यद्वाच्यं तद्वाच्यवाचकलं प्रसिद्धं यावत् सर्गे स्थितिः पुनः सर्गेऽपि तथैव वाच्यवाचकत्वं भविष्यतीत्येवं नित्यत्वे-ऽपि महामलये वाच्यासन्नावाद् वाचकस्य चासन्नावात् तयोः सम्बन्धस्यापि नाशात्। एवं सम्बन्धानित्यते सम्बन्धस्य सामान्यस्य न पत्यभिवानं स्यादिति-लाह—नातः सम्बन्धो धर्मिग्राहकमानाभावात् । अतः संगासंद्रयुभयानित्यलेन संबासंबिनोः सम्बन्धस्यानित्यतात् संबासंबिसम्बन्धो न प्रत्यभिवायां सामा-न्यम्। कस्मात् ? धम्मियाहकमानाभावात्। सम्बन्धस्य धम्मियाचकते तद्ग्राहक-न हि घटादिपद्वाच्यघटादिवस्तुनो घटलादियमभेवाचकः सम्बन्धः प्रमाणसिद्ध इति । नतु यन्यत्परमाणुसमारव्धद्वरणुकैर्यन्यव्घटादिकः वस्तु समारभ्यते तत्समवायिकारणसंयोगात् समवाय एव सं आरम्भ उच्यते। सैव समानप्रसवात्मिका जातिः सामान्यम्, असमानप्रसवात्मिका जातिश्रोच्यते विशेष इति धम्मिणो घटादेर्धमर्भवाचक एव सम्बन्धोऽस्तीत्यत आह-न सम-वायोऽस्ति प्रमाणाभावात् । वस्तृनां समवायिकारणसंयोगात् कार्यसमापद्य-मानले योऽत्रयवावयविभावः समवायः सा जातिः समानमसवात्मिका चासमान-मसवात्मिका चेति द्विधा, जन्म सामान्यं विशेषश्चास्ति न च स समवायः, संदासंदिनोर्वाच्यवाचकभावः समवायः सम्बन्धोऽस्ति। कस्सात् १ प्रमाणा-भावात्। नन्वस्ति मत्यक्षम् अनुमानश्च ममाणिमत्यत आह—उभयत्राप्यन्यथा-सिद्धेन पत्यक्षमनुमानं वा। विहिरिति शन्दे तद्दाच्यवस्तु न दश्यते। न वा विह्नशब्दे दहनादिलिङ्गेन विहरनुमीयते, इत्युभयथाप्यन्यथासिद्धेः प्रकारान्तरेण संदासंविनोः समवायासिछ्ने प्रत्यक्षं नातुमानश्च नाप्तोपदेशश्च । वोधस्तु तत्र सामयिकः । इत्युक्तम् । नतु भो देवदत्त इत्युक्ते स एवाभिमुखीभूय पत्युत्तरं दत्ते इत्यतोऽनुमीयते समवायेन स शब्दस्तत्रास्तीत्यत आह—नानुभेयलमेव कियया नेदिष्टस्य तत्तद्वतोरेवापरोक्षमतीतेः। भो देवदत्त इत्युक्ते प्रत्युत्तरदातृपुरुषे देवदत्तशब्दोऽस्तीति तस्य नानुमेयलमेव। कस्मात् ? नेदिष्टस्यान्तिकस्थस्य तंज्जेन्यस्य क्रियया तत्तंद्वतोघेटादिपदतत्पदवद्वस्तुनोरपरोक्षमतीतेः मत्यक्ष-भतीतेः। घटादिवस्तुनि च घटादिपददर्शनाभावात्। मत्येकमपि नास्ति। इत्यतो मनसो निर्भागतं नास्ति। वैकारिकाहङ्कारारब्धद्वरणुकमानात् तु सभाग-त्वेऽपि न तन्नागद्वयविक्लेषोऽस्ति यावत् माकृतप्रलयं तयोविक्लेपे परमाण्-भावे द्वरणुकनाशः स्यादित्यतस्तदाहङ्कारिकं मनो नित्यमिति कणादकपिछा-भ्याम् आहङ्कारिकं कारणभूतं मनः परीक्षितं नित्यमेकमणु च मन इति।

द्रव्येषु यन्मनः कणादेनोक्तं तत्कारणद्रव्याणामुद्दशे न तु कार्य्यद्रव्येषु । तद्रव्याणां सजातीयारस्भकलश्चोक्तं तेन तदाहङ्कारिकमनसः कार्य्यमिदं मन इह तन्त्रे पुनन्वेसुनात्रेयेणोपदिष्टं चतुन्विंशतिके पुरुषे। तदुत्पत्त्युपदेशे खुड़ीका-गर्भावकान्तिशारीरे वश्यते। आत्मजानि यानि तानि यथा-तासु तासु योनिपूरपत्तिराधुरात्मज्ञानं मन इन्द्रियाणि प्राणापानावित्यादि। तत्रात्मा पद्धातुः पुरुपेस्तस्माज्जातं मन इदं तत्स्थमाहङ्कारिकं मनः शुक्रशोणितसंयोगं गर्भाशयगतमबक्रम्य तेन पड्धातुकेनात्मना प्रथमं यानि पश्च महाभूतानि सुज्यन्ते तत्र या पृथिवी गन्धमात्रा तस्या अणिष्ठभागनैकीभूय मन इदमारभते। ततो भौतिकं किन्तु भूतांशत आहङ्कारिकमनोऽंशवाहुल्याच मनःसंबं द्रव्यम्। तदुक्तं छान्दोग्योपनिपदि। त्रिष्टत्करणश्रुतौ। अन्नमिततं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीपं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मन इति अन्नमयं हि सौम्यं मन इति। (तन्न भूतात् पृथग् द्रव्यव चनात्। त्रिष्टत्करणश्रुतौ हुरक्तम् येनान्नमशितं तस्य मनो जातोत्तर्-कालमन्नेन पुष्यित न तु गर्भस्य जायमानस्य मन आरभ्यते इति। गर्भारमने हात्ना गर्भाशयमवक्रम्य शुक्रशोणितसंयोगमनुविश्य सत्त्वकरणो यनो विकुर्वाणो यथा पश्च महाभूतानि सुजनि तथा सत्त्वरजस्तमांसि तांस्तीन सत्त्ववहुलान गुणांस्लाहङ्कारिकमनोऽनुपविश्येदं स्थूलं मनः सुजति इत्यात्मजं मनः।) सत्त्वं तिद्दं मनोऽपि मनसार्व्यसान्मनोमयसान्मनःसंज्ञमुक्तं काय्येद्रव्यं देहेन्द्रियविषयरूपपृथिव्यादिकाय्येद्रव्यवत्। (वक्ष्यते ह्यतुल्यगोत्रीये। क्ष्पाद्विरूपप्रभवः प्रसिद्धः कम्भीत्मकानां मनस्रो मनस्त इति।) तथैकमण चानित्यं ज्ञानायौगपद्यलिङ्गं न तु नित्यं मृतस्य बुद्धिमनइन्द्रियादीनां नाञात् पश्चानामार स्थानां भृतानामवशेषलात् । तद्वस्यति चातुल्यगोत्रीये । भृतानि चलारि च कम्मजानि यान्यात्मलीनानि विशन्ति गर्भम्। स वीजधम्मी ह्मपरापराणि देहान्तराण्यात्मनि याति याति। इति। तथात्रापि वक्ष्यते। शरीरं हि गते तस्मिन् श्रन्यागारमचेतनम्। पश्चभूतावशेपलात् पञ्चलं गतमुच्यते। इति। ये तु मनो नित्यमाहुस्ते स्क्ष्मदेहिस्थमाहङ्कारिकमनो-ऽभिष्रत्य ये चानित्यमाहुस्ते तत्मनोजातं चतुन्विशतिकपुरुषस्थं मनोऽभि-भित्यवेत्येवं न विदिला प्रमत्ता विवदन्ते। इति। उभयमेवेदं मन एकमण् च हानायौगपद्यलिङ्गमभौतिकश्च। गौतमेनाक्षपादेनोक्तं प्रथमसूत्रस्य भाष्ये वात्स्यायनेन व्याख्यातम्। इन्द्रियस्य वै सतो मनस इन्द्रियेभ्यः पृथगुपदेशो

एकैकाधिकयुक्तानि खादोनामिन्द्रियाणि तु । पश्च कर्मानुमेयानि येभ्यो बुद्धिः प्रवर्त्तते ॥

धर्मभेदात्। भौतिकानीन्द्रियाणि नियतिविषयाणि सगुणानाञ्चैपामिन्द्रिय-भाव इति मनस्त्रभौतिकं सर्व्वविषयञ्च नास्य सगुणस्येन्द्रियभाव इति। सति चेन्द्रियार्थसिक्षकर्षे सिन्निधिमसिन्निधिञ्चास्य युगपज्जानानुत्पत्तिकारण-मिति। परीक्षितञ्च पूर्व्वमुपदिर्जितम्।। ५।।

गङ्गाधरः-ननु मनो दशेन्द्रियाणीति यदुक्तं तत्र मन इदमुक्तं, दशेन्द्रियाणि पुनः कानीत्यत आह—एकैकाधिकयुक्तानीत्यादि । येभ्य इन्द्रियेभ्यः पञ्चभ्यो बुद्धिः पवर्त्तते तान्याहङ्कारिकाणि चेतनाधातुपुरुपस्थानि पञ्च बुद्धेरिन्द्रियाणि खादीनामात्मजानामाकाशादीनामेकैकभूताधिकपञ्चभूतयुक्तानि न्याद्गौतिकानि चतुन्विंशतिके पुरुषे भवन्ति। तान्यमत्यक्षाणि कम्मीतु-मेयानि स्वस्वक्रम्मणा शब्दग्रहणादिनाऽनुमेयानि भवन्ति। शृणोमि श्रोत्रेण ज्ञव्दं गृह्वित्यतोऽनुगीयतेऽस्ति मे श्रवणेन्द्रियमित्येवमादिरूपे-णानुभेयानि । एकैकाधिकयुक्तानीति वचनेन पड्धातुपुरुपस्थानामाहङ्कारिकाणां पञ्चानां बुद्धीन्द्रियाणां चतुव्विंशतिके पुरुषे सात्मजाकाशादेग्रक्षेकाधिक-पञ्चभूतयोगेन विशिष्टापूर्व्वपाञ्चभौतिकत्तमुक्तं तेन पञ्चानां सिक्रयत्तमुप-पन्नमात्मजाकाशादेग्रकैकभूतयुक्तले हि श्रोत्रस्य निष्क्रियत्वं पसज्यते। खादीनामित्यात्मजानामिति मनइन्द्रियादीनामात्मजखवचनात्। पितृजमातृजरसजानामिति। तथात्वे हि शरीरावयवानां पितृजादीनामिव स्वस्वकम्भेबुद्ध्य**नु**पपत्तिपसङ्गः स्यात्। श्रोत्रेन्द्रियादीनां कपिलेनोक्तम्-न भौतिकानीन्द्रियाण्याहङ्कारिकत्यश्रुतेरिति, तत्पइ्धातु-पुरुषस्थानामिन्द्रियाणां भौतिकल्लसंशयमिभेत्योक्तं न तु चतुर्व्विशतिकराशि-चतुर्व्विश्वतिकपुरुपस्येन्द्रियाभिप्रायेण तु पुन-पुरुपस्थेन्द्रियाण्यभिमेत्य । रुक्तम्। न भूतप्रकृतिलिमिन्द्रियाणामाहङ्कारिकलश्रुतेः। श्रुतिर्हि—एतस्मा-ज्जायते प्राणो मनः सर्व्वेन्द्रियाणि च। खं वायुज्यौतिरापः पृथिवी विश्वस्य तदाहङ्कारिकेन्द्रियाणां तद्रपिवन्धनात् प्रत्यक्षनियमः। ·धारिणीति ।

[्]र चक्रपाणिः—मनोऽभिधायेन्द्रियाण्यभिधत्ते, अन्नापि ज्यायस्त्वाट् बुद्धोन्द्रियाणि प्रागाह— एक्सैकेत्यादि । खादीनां अध्ये एक्सैकेन भूतेन युक्तानीन्द्रियाणि पञ्च चक्षुरादीनि । एक्सैकाधिक-

श्रोत्रादीनां रूपनिवन्धनाद् आकाशादेशकैकाधिकपश्चभूतमयरूपनिवन्धनात् भत्यक्षनियमः, अवणेन शब्दशत्यक्षं लचा स्पर्शभत्यक्षं चक्षपा रूपमत्यक्षं रसनेन रसमत्यक्षं घाणेन गन्धमत्यक्षं नलन्येनान्यस्येति नियमः। इति। न तेजो-ऽपसर्पणात्तेनमं चक्षुर्ध्ये तितस्तत्सिद्धेरिति। प्राप्तार्थपकाशस्त्रहार् . रसि-सिद्धिः। भागगुणाभ्यां तत्तान्तरष्टत्तिः किन्तु तत्ता तद्कशोभूता:सम्बद्धार्थं नक्त खराणां रात्रौ चक्षुषस्तेजोऽपसर्पणात् तैजसं चक्षुर्न भवति द्यत्तितो रूपप्रहणात तत्सिद्धेस्तै जसलसिद्धेः। दत्तिसिद्धिस्तु प्राप्तार्थपकाश-लिङ्गात् न लमाप्तार्थस्य। चक्षु हि रूपं प्राप्तं प्रकाशयति न रसं गन्धं वान्यमिति। कथमेवं द्यत्तिः ? भागगुणाभ्यां तत्तान्तरद्वत्तिः। आरम्भकाणां भूतानां भागेनैकैकाधिकेन तद्ग्णेनापरेपां गुणाभिभवाच तदभूतगुणेन तत्तान्तरहत्तः पृथक् पृथगर्थौ दृत्तिः। किन्तु तत्ता तस्य भावस्तदेकशोभूता तत्तदंकीक-भूताधिकपश्चभूतारन्धतासम्बन्धार्थं यो गुणो यस्मिनिन्द्रिये सम्बन्धस्तं गुण-मर्थं ग्रहीतुं सर्पतीति। इति साह्वप्रमतेन तुल्यम्। सुश्रुतेऽपि। भौतिकानि चेन्द्रियाण्यायुर्क्दे वर्ण्यन्ते तथेन्द्रियार्थाः। भवति चात्र। इन्द्रियेणेन्द्रियार्थन्त स्वं स्वं गृज्ञाति मानवः। नियमात् तुल्ययोनिलान्नान्ये नान्यमिति स्थितिः॥ इति। गौतमेनाष्युक्तम्। घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः। पृथिव्यापस्तेजो वायुराकांशिमिति भूतानीति। व्याख्यातश्च वातस्यायनेन। जिन्नत्यनेनेति न्नाणं गन्धं युद्धातीति। रसयत्यनेनेति रसनं रसं युद्धातीति। चण्डे उनेनेति चक्षः रूपं गृहातीति। स्पृश्वत्यनेनेति स्पर्शनं लक् तदुपचारः स्थानादिति। शृणोत्यनेनेति श्रोत्रं शब्दं गृह्णातीति। एवं समाख्या-निच्चेचनसामध्योद् वोध्यं स्वविषयग्रहणलक्षणानीन्द्रियाणीति । भूतेभ्य इति । नानापकृतीनामेपां सतां विषयनियमो नैकपकृतीनाम्। सति च विषय-नियमे स्वविषयग्रहणलक्षणत्त्रं भवति। दिकानि पुनरिन्द्रियकारणानि भूता-नीति ? पृथिन्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानीति संजाशब्दैः पृथगुपदेशो भूतानां सुवचं कार्यं भविष्यति। इति । तत्र । कृष्णसारे सत्युपलम्भाद् व्यति-रिच्य चोपलम्भात् संशयः। किमान्यक्तिकानीन्द्रियाणि आहोस्बिझौतिका-नीति ? कृष्णसारं हि भौतिकं तस्मिन्न सुपहतं रूपोपल विधव्यं तिरिच्य चोप-

पदेन, पञ्चापि पाञ्चमौतिकानि, परनतु चक्षुपि तेजोऽधिकमित्याय कं सूचयति । कम्मीनुमेयानीति कार्यानुमेयानि । कार्स्यं चअुर्बुद्धपादि । येभ्यो बुद्धिः प्रवत्तंत इति, यानि बुर्द्धान्द्रियाणि,

लिधिरिति। व्यतिरिच्य कृष्णसारमवरिथतस्य विषयस्योपालम्भो न कृष्ण-सारमाप्तस्य। न चापाप्यकारिलमिन्द्रियाणामिनि। तदिदमभौतिकत्वे विभुलान् सम्भवति । एवमुभयधम्मोपलब्धेः संशयः । तत्राभौतिकानीन्द्रिया-णीत्याह । कस्मात् ? महद्णग्रहणात् । महद्नि महत्तरं महत्तमञ्चोपलभ्यते : यथा न्यग्रोधपर्व्यतादि । अण्वित्यणुनर्मणुनमञ्च गृह्यते ; यथा - मृच्यग्रधानादि । नदुभयमुपलभयमानं चक्षुपो भौनिकत्वं बाधते। भौतिकं हि यावत् तावद च्यामोति। अभौतिकन्तु विभुतात् सन्बन्यापकमिति। न महद्णुग्रह्णमात्राद अभातिकत्वं विभुत्वञ्चेन्द्रियाणां शक्यं प्रतिपत्तम्। इदं खलु-रहम्यर्थ-सन्निकर्पान् तद्ग्रहणम्। तयोगहृद्वोग्रहणम् चक्षरःमेर्थस्य च सन्नि-कपं विशेषाः भवति ; यथा-प्रदीपर्श्मरर्थस्य चेति । रःम्यर्थसन्निकर्पश्चाना-वरणलिङ्गः। चाक्षुपो हि रिन्मः कुड्यादिभिराष्ट्रतमर्थं न प्रकाशयति : यथा—पदीपरश्मिरिति। अनावरणानुमेयत्वे सतीदमाह। तदनुपलब्धेरहेतुः। रूपस्पर्शशन्दवद्धि तेजो महत्त्वादनेकद्रव्यवत्त्वाद् रूपवत्त्वाच तढुपलव्धिरिति। मदीपवत् मत्यक्षत उपलभ्येतः चक्षुपो रिवमर्यदि स्यादिति। नानुमीय-मानस्य प्रत्यक्षतोऽनुपल्रव्धिरभावहेतः। सन्निकर्पप्रतिपेधार्थनावर्णेनः लिङ्गे-नातुमीयमानस्य रङमेर्या प्रत्यक्षतोऽतुपल्रिंधः नासावभावं प्रतिपाद्यति : यथा चन्द्रमसः परभागस्य, पृथिन्याश्चाधोभागस्यति । द्रव्यगुणधम्मभेदात चोपलव्यिनियमः। भिन्नः खल्वयं द्रव्यथम्मौ गुणधम्मेश्च। महदनेकद्रव्य-वच विभक्तावयवमाप्यं द्रव्यं मत्यक्षतो नोपलभ्यते, स्पर्शसतु शीतो युद्यते। तस्य द्रव्यस्यानुबन्धात् हेमन्तिशिशौ कल्प्येते। तथाविधमेव च तैजसं द्रव्य-मनुद्भृतरूपं सह रूपेण नोपलभ्यत, स्पर्शस्त्रस्योध्मा चोपलभ्यते. तस्य द्रव्यस्यानुबन्धात् ग्रीष्मवसन्तौ करुप्येते। यत्र त्वेषा भवति। अनेक-द्रव्यसमवायाद् रूपविशेषाच रूपोपलव्यः। यत्र रूपञ्च द्रव्यञ्च तद्।श्रयः प्रत्यक्षत उपलभ्यते रूपविजेपस्तु यद्भावात् कचिद्रपोपलव्धिः भावाच द्रव्यस्य किचिद्नुषल्धाः, स रूपधम्मौऽयमुद्भवानुद्भवः समाख्यात इति। अनुद्भूतरूपश्चायं नायनो रिक्मः, तस्मात् प्रत्यक्षतो नोपलभ्यत इति। दृष्ट्य तेजसो ध्रम्भभेदः। उद्भूतरूपस्पज्ञवत् प्रत्यक्षं तेजः, यथा आदित्यरञ्मयः।

तानीमानि पन्चेति दर्शयति । यद्यपि च सांख्ये आहङ्कारिकाणीन्द्रियाणि, यदुक्तम्—"सास्त्रिक एकादशकः प्रवर्तते वेकृत्।दहङ्कारात्"े इति, तथापि मतभेदार भौतिकत्वमिन्द्रियाणां ज्ञेयम् । उद्भूतरूपमनुद्भूतस्पर्ञञ्च प्रत्यक्षम्। यथा प्रदीपरःमय इति। उद्भूत-स्पर्नमनुर्भूतरूपमप्रत्यक्षं यथा अवादिसंयुक्तं तेजः। अनुर्भूतरूपस्पर्शी-ऽप्रत्यक्षञ्चाक्षुपो रिक्मरिति । कम्भैकारितदचेन्द्रियाणां व्यूहः पुरुपार्थतन्त्रः। यथा चेतनस्यार्थो विषयोपलव्यिभूतः सुखदुःखोपलव्धिभूतश्च करूपते, तथेन्द्रियाणि न्यदानि । विषयपाप्तप्रथेश्च रक्षेश्वाक्षुपस्य न्यूहः । रूपस्पर्शा-नभिव्यक्तिश्च व्यवहारमक्तुप्तार्थो । द्रव्यिवज्ञेपे च मतिघातादावरणोपपत्ति-व्यवहारार्था। सर्व्वद्रव्याणां विश्वरूपो व्यृहः। इन्द्रियवत् कम्मेकारितः पुरुपार्थतन्त्रः। कम्म तु धम्मीधम्मभूतं चेतनस्योपभोगार्थमिति। अव्यभि-चाराच प्रतीघातो भौतिकधम्मैः। यथावरणोपलम्भादिन्द्रियस्य द्रव्यविशेषे प्रतीयातः, स भौतिकथम्मौ न भूतानि व्यभिचरति। नाभौतिकं प्रतियात-धम्मेकं दृष्टमिति। अप्रतिघातस्तु व्यभिचारी। भौतिकाभौतिकयोः समान-यद्पि मन्यते अतिघाताङ्गौतिकानीन्द्रियाप्यप्रतिघाताद्भौति-कानीति माप्तम्। दृष्ट्याप्रतिचातः काचाब्ध्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः। तन युक्तम्, क स्मात् ? यस्माद् भौतिकमपि न मतिहन्यते। स्फटिकान्तरितपकाशात् प्रदीपरदमीनास् । स्थाल्यादिषु तेजसोऽपतिघातः। उपपद्यते चानुपलव्धिः कारणभेदादिति ।०। मध्यन्दिनोल्का-मकाशानुपलव्धिवत् तद्नुपलव्धिः। इति। यथानेकद्रव्येण समवायाद रूपविशेषाच रूपोपलव्यिरिति, सत्यप्युपलव्यिकारणे मध्यन्दिनोल्कामकाशो नोपलभ्यते आदित्यप्रकाशेनाभिभूतः। एवं महदनेकद्रव्यवत्त्वाट् रूपविशेषाचोप-लिधिरिति, सत्यप्युपलिधिकारणे चाक्षुपो रिक्मिनीपलभ्यते निमित्तान्तरतः। अनुद्भूतरूपस्पगेद्रव्यस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलव्धिरिति। व्याख्यातम् अंत्यन्तानुपलव्धिश्राभावकारणात्।

यो हि त्रवीति—लोप्ट्रमकाशो मध्यन्दिन आदित्यमकाशाभिभवान्नोप-लभ्येतेति तस्यैतत् स्यात्। न रात्रावप्यनुपलन्धेः। अप्यनुमानतोऽनुपलन्धिः रिति। एवमत्यन्तानुपलन्धेलोप्ट्रमकाशो नास्ति, न त्वेवं चक्षुषो रिक्मरिति। उपपन्नरूपा चेयम् वाह्यमकाशानुग्रहाद्विपयोपलन्धेः अनभिन्यक्तितोऽनुप-लन्धिः। वाह्येन मकाशेनानुग्रहीतं चक्षुविषयग्राहकम्, तदभावेऽनुप-

किंवा औपचारिकमेतर् भौतिकत्विमिन्द्रियाणां हैयम् । उपचारवीजञ्ज यद्गुण्मूयिष्टं यदिन्द्रियं गृह्णाति, तत्तद्विष्टमुच्यते । चक्ष्रतेजो गृह्णाति, तेन तेजसमुच्यते इत्यादि होयम् ।

हस्तपादं गुदोपस्थं ७ जिह्ने न्द्रियमथापि च। कम्मेन्द्रियाणि पञ्चैव पादौ गमनकर्म्मणि॥

लियः। सितं च वाह्यमकाशानुग्रहे शीतस्पर्शोपलब्धी च सत्यां तदाश्रयस्य द्रव्यस्य चक्ष्मपा न ग्रहणं रूपस्यानुर्भूतलात्। सेयं रूपानिभव्यक्तितो रूपाश्रयस्य द्रव्यस्यानुपलिब्धर्ष्टि । तत्र यदुक्तं तद्रनुपलब्धरहेतु-रिति, तद्युक्तम्, कस्मात् १ पुनरिभभवोऽनुपलिब्धकारणं चाक्षुपस्य रक्षमेनोच्यते इति। अनिभव्यक्ती चाभिभवात्। वाह्यप्रकाशानुग्रहिनरपेक्षाया-क्वेति चार्थः। यद्रूपमिव्यक्तपुर्भूतं वाह्यप्रकाशानुग्रहश्च नापेक्षते तद्विपयो-ऽभिभवः, विप्ययेअभभवाभावात् अनुर्भूतरूपलाचानुपलभ्यमानं वाह्यपक्षा-शानुग्रहाच्चोपलभ्यमानं नाभिभूयत इति। एवप्रुपपत्रश्चास्ति चाक्ष्पो रिक्मिरित। नक्तं नक्तकचरनयनरिक्षदर्शनात्। द्रव्यन्ते हि नक्तं नयनर्श्यये नक्तकचराणां द्रपदंशप्रभृतीनाम्, तेन शेपस्यानुमानिमिति। जातिभेदवदिन्द्रय-भेद इति चेत् १ धम्भेमात्रकच।नुपपन्नम्, आवरणस्यार्थमाप्तिमितिध्यथेस्य दर्शनादिति। प्राप्तार्थग्रहणमप्राप्यग्रहणनिरासश्च पृत्विमिन्द्रयोपक्रमणीये द्रितिमिति। भौतिकलमिन्द्रयाणां स्थूलश्चरीरे सन्वसम्मतं दर्शितमिति। भ

नन्वेवं भवन्तु पश्च गुद्धीन्द्रियाणि कानि पुनरपराणि पश्च यत उक्तं दशेन्द्रियाणीति; तत आह—हस्तपाद्मित्यादि। हस्तपाद्गुद्दोपस्थिजिह-मिति पश्च कर्मोन्द्रियाणि। एवशव्देन वाह्यतो दृष्टानां हस्तपदादीनाम् अनेकत्वं व्याष्ट्रत्तम्। हस्तादीनि हि पञ्चैवाहङ्कारिकाणीन्द्रियाणि तेपामेकेक-मेव स्थूलशरीरारम्भे प्रथमत आत्मकृतानि पश्चभूतांशिवशेपमनुप्रविद्यैकेक-हस्तपादादिकं भवदेव शुक्रशोणितादिकारणान्तरसहयोगेन योनिविशेषधर्मीनियमाद् विपाणिपादादिरूपेणवाङ्गविशेषो जायते तस्मात् पञ्चैव कर्मोन्द्र-याणि न वितिरिक्तानि। वश्यन्ते चात्रात्मकार्याणि तासु तासु योनिषु उत्पत्तिरायुरात्मक्षानं मन इन्द्रियाणि प्राणापानावित्यादीनि। तत्रापि धम्मी-धमीनिमत्तं हस्तादीनां वाह्यतोऽभिव्यक्त्यनभिव्यक्ती देवनरादिदेहे भवत इति। प्राप्यङ्गलादेकवचनं हस्तपादं गुद्दोपस्थिमिति। उपस्थस्त्वनियतिलङ्गं सामान्यरूपः, न तु पुं लङ्गं स्त्रीलङ्गं स्त्रीलङ्गं वा रूपादिवत्। शुक्रादि-अथ कर्मोन्द्र्यण्याह्—हस्तावित्यादि। हस्तवेकं पादौ चैकमिन्द्रियमेकरूपकर्मकर्मकर्त्तव्या।

हस्तौ पादौ गुद्रोपस्थे इति चक्रप्रतः पाठः ।

पायूपस्थौ विसर्गाथौं हस्तौ ग्रहणधारणे। जिह्वा वागिन्द्रियं वाक् च सत्या ज्योतिस्तमोऽनृता ॥ ६ ॥ महाभूतानि खं वायुरियरापः चितिस्तथा।

शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्यश्च तद्वगुणाः ॥

वीजाधिक्यादिनिमित्ततो विहःशरीरे शिशादिरूपेणाभिन्यडयते। अन्यथा प्राग् न्यक्तीभावात् पुंसवनेन पुत्रजननानुपपित्तः; स्क्ष्मदेही तु न स्त्री न पुमान् न नपुंसकिमिति। कम्मीणि चैपामाह—पादावित्यादि। गमनकम्मिण पादौ वर्त्तते इति प्राधान्यान्मनुष्याभिप्रायेण। विसर्गार्थे पुरीपस्य विसर्गकम्मीण पायुः। सूत्ररेतसोविंसर्गकम्मेष्युपस्थो वर्त्तते। हस्तौ ग्रहणधारणे कम्मीण। जिह्ना तात्स्थ्रा जिह्नास्थमिन्द्रयं वाचि कम्मीण वर्त्तते। वाक् च द्विधा सत्या अन्ता च, तत्र सत्या ज्योतिः प्रकाशकलात्। अन्ता तमो मोहजनकलात्। यद्यपि तेजोमयी वाक् तथापि सत्त्वतमोयोगा सत्यानृता भवित। इतीन्द्रियाणि दशोपदिष्टानि भवन्ति।। ६।।

गङ्गाधरः—अथैपामर्थानाञ्च प्रकृतीराह—महाभूतानीत्यादि। यानि भूतादितस्तामसादहङ्कारादादौ भूतानि तेपामितरेभ्यः कार्य्यभ्यो भूतेभ्यो दृहत्त्वान्महाभूतेतिसंजा। तानि कीद्द्यानीत्यत आह— शद्द इत्यादि । तद्गुणाः क्रमेण तेपां खादीनां गुणाः शद्दाद्य एव पञ्च। शद्दमात्रगुण आकाशः स्पर्णमात्रगुणो वायू रूपमात्रगुणोऽग्निस्तेजः रसमात्रगुणा आपो गन्धमात्रगुणा क्षिति-रिति। तयानभिद्यक्तः शद्द इहोपदिष्टः, सगुणमेव दृद्यमुत्पद्यते न तु निगुण-मिति ख्यापितं, तेनाकाशादुत्रत्पत्तिकालेऽनभिद्यक्ता आकाशादीनां मृदुल्य-ग्र्ह्म-श्लक्षण-शीत-हक्ष-खरिवशद्तीक्षणोप्ण-द्रवस्त्रिग्ध-मन्द्सरसान्द्रपिच्छिलगुरु-कठिनस्थिरस्थूला विश्वतिगुणाः शद्दस्पर्शस्त्रप्य-मन्दसरसान्द्रपिच्छिलगुरु-कठिनस्थिरस्थूला विश्वतिगुणाः शद्दस्पर्शस्त्रप्य-मन्दसरसान्द्रपिच्छिलगुरु-कठिनस्थिरस्थूला विश्वतिगुणाः शद्दस्पर्शस्त्रप्य-मन्दसरसान्द्रपिच्छिलगुरु-कठिनस्थिरस्थूला विश्वतिगुणाः सन्तिति ख्यापनार्थं पूर्वाध्यायेऽभिहितम्। सार्थो गुर्वादय इति न खर्थो गुर्वादय इत्युक्तम्। खादीन्येतानि पञ्च प्राणा खच्यत्ते। इत्याहङ्कारिकाणि मनो दशैन्द्रियाणि चत्येकादश सात्त्रिकतात् गुदोपस्थे चैक्ष्वम्। वाच अपादानहानार्थं भेदमाह-- वाक् चेत्यादि। ज्योतिरिव ज्योतिर्थर्म-कर्न्थिन अभवलेकप्रकाशकारित्वात्। पतिद्वपर्थयेण तमः, अन्तत सत्यविपर्ययेणेति॥ ६॥

चक्रपाणिः— सम्प्रति उद्देशकमानुरोधादभिधातः यार्थानां प्रकृतिग्रहणगृहीतपञ्चभूतपञ्चगुण-तया पराधीनत्वादष्टधानुमकृतिगृहीतादिभूतान्येव तावदाह्— महाभूतानीत्यादि । शदनुष्यो यथान तैपामेकगुगाः पूक्वों गुणवृद्धिः परे परे । पूर्व्वः पूर्व्वगुगारचैव क्रमशो गुणिपु स्मृतः ॥ ७ ॥

र्वैकारिकात् अहङ्कारान्मनोऽभूत्, तेजसाद्राजसार् वैकारिकसहायात् तु द्र्येन्द्रि-पाणि वभूदुः, ततः खादिभ्यः पञ्चार्थाः शब्दादयः पूर्व्वपूर्वभूतानुभवेशाच्च पञ्च भूतानि वभूवः इति। तदुक्तं मुण्डकोपनिपदि। दिन्यो समूर्त्तः पुरुषः स वाह्या-भ्यन्तरो हानः। अप्राणो हामनाः शुभ्रो हाक्षरः परतः परः। एतस्माजायते माणो मनः सर्व्वेन्द्रियाणि च। खं वायुज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारि-णीति । एतदेवाभित्रेत्याह—तेपामित्यादि । तेपां खादीनां मध्ये पृट्येः खनामा धातुः दिक्कालसंयोगात् किञ्चित् स्थूलो भूला किञ्चिदभिन्यक्तशब्द एको गुणो यस्य एकगुणः। किञ्चिदभिन्यक्तशब्दैकगुण आकाशोपादानाकाशः शुद्ध एव न मिश्रः। परे परे धातौ वाय्वादौ गुणदृद्धिः। खापे सया वायौ गुण-र्राद्वर्वाय्त्रपेक्षया तेजसि गुणरृद्धिस्तेजोऽपेक्षयाप्सु गुणरृद्धिजेलापेक्षया क्षितौ गुणरुद्धिः। नतु परे परे धातौ खाद्यपेक्षया कथं गुणरुद्धिः स्थात् कियन् गुणद्रदिनों स्यादित्यत आह—पूर्व्व इत्यादि । गुणिषु खापेक्षया परपरगुणिषु स्पर्शादिमत्सु वाय्वादिषु पूर्व्वः पूर्व्वपूर्वः खादिः धातुः क्रमशः स्मृतः अनु-भविष्टत्वेन स्मृतः। ननु किं पूर्व्यपूर्विथातुः स्वस्तराणं विहाय मूर्त्यंशमात्रेणानु प्रविष्टः किमथ सगुण एवेत्यत आह—पूर्विगुणक्चैवेति। शब्दादियों यो यस्य यस्य पूर्व्यस्य पूर्व्यस्य गुणः स स चैव क्रमशो गुणिषु तत्र तत्र परे परे स्पर्शादिगुणमात्रवातादौ धातौ अनुप्रविष्टत्वेन स्मृतः। एवकारेण खादीनां पूर्व्वपूर्विधात्नामनभिन्यक्तगुणाभिव्यक्तिव्यवच्छेदः। खं हि पूर्व्वं न परं वाय्वादिश्च पूर्व्वपूर्व्वापेक्षया परः परपरापेक्षया तु पूर्व्वं इति। तथा च खं शब्दैकगुणं शुद्धं भूतमस्ति। वायुः शब्दस्पर्भगुणस्तेन द्विगुणो

संख्यं खादीनां नैसर्गिका गुणाः ज्ञेयाः । यस्तु गुणोत्कपींऽभिधातत्यः, स हि अनुमिविष्टमृतः सम्बन्धादेव । तेन पृथित्यां चतुर्मृतप्रदेशात् पञ्चगुणत्वम् । एवं जलादाविष चतुर्गुणत्वादि ज्ञेयम् । नैसर्गिकं गुणमभिधाय मृतान्तरमवेशकृतं गुणमाह—तेपामित्यादि । एकगुणः पृद्वं इति पृद्वों धातुस्वरूपः शब्देकगुणः । पुंलिङ्गता च खादीनां धातुरूपताबुद्धिरूपीकृतत्वात्, उक्तं हि—खाद्यश्चेतनापष्टा धातवः इति । यथा यथा च परत्वम् तथा तथा च गुणवृद्धिः यथासंख्यम् । ननु एतावताप्येकगुणत्वद्विगुणत्वादि न नियमेन ज्ञायते, को गुणः क भूत

मिश्रो भवति। ज्योतिः शब्दस्पर्शस्त्रपगुणं तेन त्रिगुणं मिश्रं भूतं भवति। आपः शब्दस्पर्शरूपरसगुणास्तेन चतुर्गुणाः मिश्राश्च भवन्ति। क्षितिः शब्दादि-पश्चगुणा मिश्रा च भवति । इत्येवं पश्चभूतान्यव्यक्ताङजात आत्मा महांस्तर्-विशेपश्चित्तमहङ्कारश्चेति त्रयस्तथाहङ्कारिकाणि मनोदशेन्द्रियाणीत्येकोनविंशति-ग्रुखः शब्दमात्राद्यात्मकानि पञ्च भूतानि सप्तथा चाङ्गानीति सप्ताङ्गोऽन्तःपन्नः मविविक्तभुक् स्वमस्थानोऽन्तरात्मा तैजसो नाम पद्धातुः पुरुषः। तत्रा-व्यक्ताख्यक्चेतनाधातुः शेपाणि पञ्च महाभूतानीति पङ्धातव इति । मनुनापि अनुप्रवेशेन पूर्विपूर्वस्य परपर्धातौ मिश्रलमुक्तम्। तद् यथा-मनः सृष्टिं प्रकुरुते चोद्यमानं सिस्क्षया। आकार्ज जायते तस्मात् तस्य शब्दगुणं विदुः। आकाशात् तु विकुर्वाणात् सन्वंगन्धवहः शुचिः। वलवान् जायते वायुः स वै स्पर्जेगुणो मतः। वायोरिप विकुर्व्वाणाद् विरोचिष्ण् तमो सुद्म्। ज्योति-रत्पद्यते भास्वत् तद्रूपगुणमुच्यते। ज्योतिपश्च विकुर्व्वाणादापो रसगुणाः स्मृताः। ताभ्यो गन्धगुणा भूमिरित्येपा सृष्टिरादितः। इत्यस्मात् पूच्वंमुक्तम्। आद्याद्यस्य गुणांस्त्वेपामवाप्तोति परः परः । यो यो यावतिथव्चैपां स स तावद्-गुणः स्मृतः ।। इत्युक्तम् । एवं मुण्डककाटकोपनिपदि च-एतस्माज्जायते प्राणो मनोबुद्धीन्द्रियाणि च। खं वायुष्यौतरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी। इत्युक्तम्। एपां शब्दगुणस्यानभिव्यक्तत्वात् तद्गुणस्याकाशस्यानुभवेशेऽपि शब्दस्याभि-व्यक्तयभावाद् द्वप्रात्मकादिवाय्वादिषु द्वित्रचतुःपञ्चगुणा उक्ताः, कणादेन वैशेपिके तु नोक्ताः। स्पर्भवान् वायुश्रलः, तेजो रूपस्पर्भवत्, रूपरसस्पर्भवत्य आपो द्रवाः, रूपरसगन्धस्पर्भवती पृथिवीति। तथा स्पर्भश्च वायोछिङ्गम्, तेजसो रूपम्, अपां रसः, पृथिच्या गन्ध इति । द्वप्रात्मकादिपु शब्दानभिच्यक्त-लान कणादेनोक्तम्। मन्वादिभिस्तु नागुणं द्रव्यप्रत्पद्यते इति वापनार्थं शब्दगुण आकाश उपदिष्ट इति न विरोध इति ॥ ७॥

इस्थाह—पूर्व इस्यादि । गुणिषु खादिषु धातुषु पृथ्वां गुणः क्रमेण यथासंख्यं वर्त्तते, न केवलं पृथ्वः, किन्तु पृथ्वंस्थापि यो गुणः, स च पृथ्वंगुण उत्तरे मृते वर्त्तते । तेन खे पृथ्वंपृथ्वः शव्द-गुणो वर्त्तते, वायो तु स्पर्शः क्रममासः पृथ्वो भवति, पृथ्वंगुणश्च शब्द इति द्विगुणस्वम् । एवममन्यादो च ज्ञेयम् । गन्धस्तूत्तरगुणान्तराभावात् न पृथ्वो भवति, तथापि "गन्धश्च तद्गुणाः' इति प्रन्थे तद्गुणाः इतिपदापेक्षया गन्धस्य पृथ्वंथं कल्पनीयम् । किंवा पृथ्वं इति च्छत्रिणो गच्छन्तीतिन्यायेनोक्तम्, तेन, अपृथ्वोऽपि गन्धः क्रमागतः पृथिव्यां ज्ञेयः ॥ ७॥

खरद्रवचलोष्णात्वं भूजलानिलतेजसाम् । आकाशस्याप्रतीघातो हण्टं लिङ्गं यथाकमम् ॥ लच्यां सर्व्वमेवतत् स्पर्शनेन्द्रियगोचरः ॥ । स्पर्शनेन्द्रियविज्ञे यः स्पर्शो हि सविवर्ययः॥ =॥

गङ्गाधरः—एवं पृर्वपृर्वानुपवेजे द्विगुणादितेऽपि यो योऽपरगुणऽपिव्यञ्यते तज्वापनार्थमाह—खरेत्यादि । पृर्वपृर्वानुप्रविष्टानां भूजलानिल
तेजसां खरतादिकं क्रमेण लिङ्गमनुमानकरणमसाधारणम् । आकाशस्य
सर्व्ययवामिश्रस्याप्रतीयातोऽप्रतिहननमस्पर्जनमिति यावत् लिङं दृष्टम् । न
गुणान्तरमिष्वयक्तमाकाशस्येति पृथगत्र यचनमिदं सर्व्यद्वाप्यमिश्रभूतत्वख्यापनार्थम् । अमिश्राणान्तु भूजलानिलतेजसां खरद्रवचलोप्णतानि गुणा
अनतिव्यक्ततेन सन्तोऽप्यनभिव्यक्ततान्न लिङ्गानि, मिश्रते त्रभिव्यक्ततात्
लिङ्गानि । अपतीयातस्त्राकाशस्य सूक्ष्मताच्छव्दस्यानैन्द्रियकत्वेऽपि ऐन्द्रियकत्वेन लिङ्गम् । अमिश्राणां खादीनां शब्दाद्यो गुणा अनैन्द्रियका आप्तोपदेशः
गम्यत्वेन लिङ्गानि भवन्त्यपि ऐन्द्रियकलिङ्गेनानुमानं शिप्याणां सर्व्यपाञ्च
सुगममित्यतः शब्दादीनां लिङ्गताभिधानं न कृता खरतादीनां मिश्रभूम्यादीनाम् अमिश्राकाशायनुमानार्थं लिङ्गतापिष्टिपिति । स्थूलभूतैः सूक्ष्मभूतानां
कार्य्यस्नुमानं भवति । साह्योऽप्यक्तम् । अचाक्षपाणामनुमानेन वोधः, स्थूलात्
पञ्चतन्मात्रस्येति ।

नतु खरतादीनां कस्येन्द्रियस्य ग्राह्यत्विमत्यत् आह—लक्षणिमत्यादि।
एतत् खरद्रवचलोष्णताप्रतीयातं सर्वं भूजलानिलतेजोगुणानां लक्षणं
स्पर्शनेन्द्रियगोचरः। ननूक्तं यद्-यदात्मकमिन्द्रियं तत्तदात्मकमेवार्थं
विशेपादनुभावतीति। तेन खरद्रवचलोष्णतानि स्पर्शविशेपान् स्पर्शनेन्द्रियं
यहातु आकाशस्याप्रतीयातस्तु न स्पर्शभेदः स च कथं गृह्णीयात्?
न च स्पर्शविशेपोऽप्रतीयातो वक्तुः शक्यते शुद्धे गगने तदसस्त्रात् न वामिश्रम्

चक्रपाणः—मृतानामसाधारणं लक्षणमाह—खरेत्यादि। अप्रतीयातोऽप्रतिहननं अस्पर्शवन्
मिति यावत्, स्पर्शविद्धं गितिवियातकं भवति, नाकाशः, अस्पर्शवन्वात्। सर्वभेवतिदित्यः
चेयमित्याह—स्पर्शनेत्यादि। सविपर्ययं इति संस्पर्शमान् इत्यर्थः। यदिन्द्रियः यद्

^{*} स्पर्शनेन्द्रियगोचरम् इति चक्रपाणिः।

आकार्गं वाय्वादिवदस्ति इत्याशङ्कर आह—स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेय इति । विपर्ययः रूपर्भविपय्यीयः स चारूपर्शोऽप्रतीघात एव सोऽपि रुपृश्यानां रूपर्शानुपुळव्ध्या स्पर्शनेन्द्रियेण विज्ञायते। यथा यहे यदस्ति तत् दृश्यते, यन दृश्यते तन्नास्तीति उच्यते इति । नन्वेवमस्त्वाकाशीयः शब्दोऽपि स्पर्शमेन्द्रियविश योऽस्त्रिति चेन्न, आकाशीयो हि शब्दो न खरद्रवादिस्पर्शविपर्ययः। स्वार्थविपर्ययो हि इन्द्रियेण युग्रते न सन्बं इति, सुतरां स्पर्भनेन्द्रियेणापि न युग्रते । वायन्यस्तु शन्दो-<u>ऽनु</u>पविष्टाकाशस्यान्यक्तशन्दत्वेनान्यक्त एव तस्मान्न श्रोत्रेण न वा स्पर्शनेन युवते। तैजसाप्यपार्थिवास्तु शब्दा द्वरणुकवद्तुप्रविष्टवायोस्तेजसि प्रवेशेन त्रसरेणुवत् तैजसः शब्दोऽथ तत्तेजोऽनुप्रवेशादपां शब्दस्तज्जलानुप्रवेशाच्च भौमशब्दश्च न तेजोऽम्बुभूमिष्वभिव्यव्यते तेन न श्रोत्रेण युद्यन्ते न वा स्पर्ञ-नेन्द्रियेण। श्रोत्रं हि गगनाधिकपञ्चभूतमयं स्थूलं स्थूलेऽभिन्यक्त शब्दं सुकाति न लनभिन्यक्तं यद्यदूषं तत्ताद्रूपयेणाथं युक्कातीति नियमात्। स्पर्शनेन्द्रियस्तु स्पर्शं गृह्णाति न शब्दिमिति। एवं चक्षुरादिकं पूर्व्वपूर्वभूतगुणं न गृह्णातीति। अथ अनभिन्यक्तशब्दमात्रगुणमाकाशमप्रतिहननीयामृ क्तिमन्नि-र्गमनमवेशलक्षणम् । स्पर्भमात्रगुणः मतिहननलक्षणो वायुः, रूपमात्रगुणं मति-हननीयमूर्त्तिमत् तेजः, रसमात्रगुणाः प्रतिघातयोग्यमूर्त्तिमत्य आपः, गन्धमात्र-गुणा प्रतिघातयोग्यमूर्त्तिमती क्षितिरिति। तत्र दिक्कालयोगाट् विशेषरूप एपोऽमतिघातलक्षण आकाशो निष्क्रमणमवेशलक्षणो भवति। तस्य वायावतु-भवेशादाकाशवायुयोगाद्द्रशात्मको वायुर्यदा भवति, तदा तत्र शब्दः पूर्वितस्तु षिशिष्टोऽनभिन्यक्त एव वर्त्तते स्पर्शश्च शीतश्रलश्च भवति । तस्य च द्व्यात्मकस्य घायोस्तेजस्य नुपवेशाद् वायुज्योतिः संयोगाद् यद्। त्रप्रात्मकं तेजो भवति, तदा त्तत्राकाशवायुशन्दाभ्यां विशेषश्चानभिन्यक्तश्चैव शन्दो भवति, स्पर्भश्चोत्जो भवति रूपश्च लोहितमिति। तस्य च त्रप्रात्मकस्य तेजसोऽप्स अनुपवेत्रात खबायुज्योतिर्जलानां संयोगाचतुरात्मकं जलं यदा भवति, तदा तत्र खवायुज्योतिपां शब्दतो विशिष्टश्चानभिव्यक्त एव शब्दो भवति, स्पर्शश्च गृह्णाति, तत् तस्याभावमपि गृह्णाति। तेन आकाशसास्पर्शत्वं स्पर्शेन्द्रियग्राह्यमिति युक्तम् । द्रवत्यं चलत्वञ्च सांख्यमते स्पर्शन्याद्यत्वात् स्थूलमृतवातधम्मः स्पर्श एव । यद्धि स्पर्शनेन गृह्यते तत् सर्व्यं स्पर्शो महामूतवातपरिणाम एव । एतानि खादीनि च सूक्ष्माणि सन्मात्ररूपाणि ज्ञेयानि । स्थूलमृतानि सु खादीनि तत्र विशेषतया सुक्ष्मरूपाणि च तन्मात्राणि अविशेषतयोक्तानि । वचनं हि—''तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पद्म पद्मभ्यः । एते स्मृताः

गुणाः श्रीरे गुणिनां निर्दिष्टाश्चिहमेव च । अर्थाः श्वाद्यो ज्ञोचा गोचरा विषया गुणाः ॥ ६ ॥

शीतो द्रवलञ्चाभिन्यज्यते, रूपञ्च शुक्तं भवति। रसश्च साधारणरूप-श्वान्यक्त एव। तस्य च चतुरात्मकस्य जलस्य भूमावनुभवेशात् पञ्चानां खादीनां संयोगेन पञ्चात्मिका भूमिर्यदा भवति, तदा तत्र खवायुज्योति-जंलानां शन्दतो विशिष्टश्चान्यक्तश्चेव शन्दो भवति, स्पर्शश्च खरः, कृष्णञ्च रूपं, रसश्च जलरसादिशिष्टश्चान्यक्तश्च भवति, गन्धश्च साधारण एव किञ्चित्-स्थूलो भवति॥८॥

गङ्गाधरः-गुरुलाद्यस्तु गुणाः केपां कुतो वा जायन्ते इत्यत आह-गुणाः शरीर इत्यादि । शरीरे पञ्चभूतविकारसमुद्ये तच्छरीरारम्भकाणां गुणिनाम् आका शादीनां गुणा एव गुर्बाद्यश्चिद्दं निर्दिष्टा आत्रेयभद्रकाप्यीये पार्थि-वादिक्रमेण प्रथमुक्ताः, शरीरविचयशारीरे च वस्यन्ते। तत्रेमे शरीरथातु-गुणाः संख्यासामध्येकराः। तद् यथा। गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरुक्षमन्द-तीक्ण-स्थिरसर-मृद्कितन-विशद्पिच्छिलश्लक्ष्णखरम्स्मस्थूलसान्द्रद्वा इति। आत्रेयभद्रकाप्यीये चोक्ताः। तद्यथा। सन्दे द्रन्यं पाञ्चभौतिकमिति कृता तत्र द्रव्याणि गुरुखरकठिनमन्दस्थिरविशदसान्द्रस्थूलगन्धगुणवहुलानि पाथि-वानीति । १ । तेन पार्थिवद्रव्यारम्भकभूमेः पञ्चात्मिकाया गुरुक्टिनमन्दस्थिर-विशदसान्द्रस्थूला इति सप्त गुणाः शेपचतुर्भूतसंसर्गतः कार्यगुणा अभि-व्यव्यन्ते ये प्रागनभिव्यक्ता आसन् । शब्दखरस्पर्शकृष्णरूपास्फुटरसाः पूर्वेभूत-संसर्गजाः, गन्धश्राव्यक्तो यो नैसर्गिकः स पूर्व्वतो विशिष्टश्राव्यक्त एव साधारणः पार्थिवे पाञ्चभौतिके ते शब्दादय उदात्तादिदशविधशब्दविविध-स्पर्भरूपरसगन्था व्यज्यन्ते । ततस्ते गुणा भूमेश्विहम् । द्रवस्निग्धशीतमन्दसर-सान्द्रमृदुपिच्छिल्रसमुणवहुलान्याप्यानीत्यनेनोक्ताः अपां स्निग्धमन्दसरसान्द्र-मृदुपिच्छिलाः पड़ गुणाः शेपभूतसंसर्गात् पाञ्चभौतिकेऽभिव्यज्यन्ते । प्रागनभिन्यक्ता अप्सासन्। शब्दस्पर्शरूपगुणास्तु पूर्विभूतसंसर्गजा विशेषेण विशेपाः शान्ता घोराश्च मूढ़ाश्च" इति । तेन इहापि खादीनि 'तन्मात्र'शब्देनोक्तानि सूक्ष्म-खेन बोद्धस्यांनि ॥ ८॥

चक्रपाणिः—मूतानां सूक्ष्माणां शरीरस्थानां लिङ्गान्तराण्याह—गुणा इत्यादि। गुणाः शब्दादयः। गुणिनामिति सूक्ष्मरूपमूतानामेव। गुणग्रहणात् शब्दादयश्च व्यक्ताः सूक्ष्माणां उदात्तादिशब्ददिविधरपर्शस्परसिवशेषाः कार्व्यगुणाः जायन्ते । ततस्ते गुणा अपां चिद्वमेद । २ । एवष्ठुण्णतीक्षणस्क्षमस्रघुरुक्षविशद्रूपगुणवहुसार्याग्नेयानि इत्यनेनोक्तास्तैजसद्रव्यारम्भे तेजसस्तीक्ष्णम्ह्मलघुरक्षविशदगुणाः शेपभूत-र्लंसर्गाद्भिन्यज्यन्ते, पाञ्चभौतिके तैजसे द्रव्ये ये प्रागनभिन्यक्तास्तेजस्यासन्। शन्दोष्णस्पशो तु पृटर्वभूतसं सर्गजो, तत्र शन्दो नानाविश्रोऽभिन्यज्यते तथोष्णश्च। इपञ्च नैसमिंकं लोहितं पूर्विभृतसंसर्गजं व्वेतादिनानाविधं जायते । ततस्ते तेजस्तो लिङ्गम् । ३ । तथा लघुशीतस्थस्यरविशद्मक्षमस्पर्शगुण-वहुलानि वायव्यानीत्यनेनोक्ताः पाञ्चभौतिकवायव्यद्वयारम्भे वायोलंघु-शीतरुक्षखरविशदस्हमाः पड् गुणाः शेषभूतमंसर्गाद्भिव्यज्यन्ते ये प्राग् अनभिन्यक्ता वायावासन्। स्पर्शस्तु नैसर्गिकः पूर्विभूतसंसर्गाच्छीतश्रलश्र जायते पुनर्विविध एव जायते। शब्दश्चाव्यक्तः पृव्वेभूतसंसर्गजः पुनर्विविध एव जायते। ततस्ते गुणा वायोश्रिक्षमिति। ४। एवं मृदुलघुम्ह्मश्रह्णशन्द-ग्रुणबहुलान्यान्तरीक्ष्याणीत्वनेनोक्ताः पाञ्चभौतिकान्तरीक्ष्यद्रव्यारम्भेऽन्त-रीक्षादेव मृदुलघुम्ह्मश्लह्णाः शेषभूतसंसर्गादभिन्यज्यन्ते ये प्रागनभिन्यक्ता अन्तरीक्ष आसन्। शब्दो नैसर्गिकः कार्य्यभूतो दशविध एव जायते इति, ततस्ते गुणा आकाशस्य चिह्नमिति। ५। नैते गुणा इन्द्रियारम्भकेषु आत्मजलादिषु वर्चन्ते। न चैक्कैकाधिकपञ्चखाद्यारम्भेऽपीन्द्रियेषु नान्ये गुणाः संसर्गतो-ऽभिन्यज्यन्ते यथा द्वात्मकादिषु परस्परातुमवेशाभावात् । परस्परसंयोगात् तु परस्परातुग्रहाद् भूयसाल्पगुणावजयाच खादेग्रकैकगुणशब्दादिरेव श्रोत्रादिषु स्थूलरूपेण जायते। तस्मानान्ये गुणा इन्द्रियाणामर्था भवन्ति।

के पुनर्था इत्यत आह—अर्था इत्यादि। यथा पञ्चमहाभूतारव्धेष्विन्द्रियेषु पाञ्चभौतिकशब्दादयः सन्ति तथा पाञ्चभौतिकेषु द्रव्येष्वान्तरीक्ष्यवायव्यतैजसाप्यपार्थिवेषु ये शब्दादयः कार्य्यभूता विजेपारतेऽथी इन्द्रियाणां विषया
गोचराश्च उच्यन्ते न तु महाभूतस्था एकद्व्याद्यात्मकभूतस्था वा, इन्द्रियाणां
तथाभावाभायात्। तस्मान्न ते शब्दाद्य इन्द्रियेश्च हीतुं शक्यन्ते। अत एव
कार्य्यभूतशब्दादीनामिन्द्रियार्थत्वं न कारणभूतशब्दादीनां, तस्मादतीन्द्रियत्वं
तेपाम्। अत एवोक्तम् रसनार्थो रस इति पूर्व्याध्याये, तथात्रेयभद्रकाप्यीये च—
यं पुनः पञ्चानामिन्द्रियार्थानां जिह्नावैषयिकं भावमाचक्षते इति। कर्णादेनापि
शरीरस्थानां भूतानां छक्षणं भवन्तीति वाक्यार्थः। अर्थानाह—अर्था इत्यादि। अर्थशब्देन तु ये
शब्दादयो विशेपास्ते स्थूलखादिरूपा एव श्रेयाः। तेन आकाशपरिणाम एव शब्दः, वातपरिणामः

वशेषिके कारणगुणनिर्देशे रूपरसगन्धस्पर्शा उत्यादिसूत्रे शब्दो न निहिश्य कार्य्यस्य जन्दस्य परीक्षायाम् श्रवणेन्द्रियग्राह्यो योऽर्थः स जन्द इति। एवं स्पर्जनार्थः स्पर्जश्रक्षरथौँ रूपं घाणार्थौ गन्ध इति । गौतमेनाक्षपादेनाप्युक्तम् । घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्च्छोत्राणीन्द्रियाणीति भूतेभ्यः। पृथिज्यापस्तेजो वायु-रांकाशमिति भूतानि । गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिन्यादिगुणास्तदर्थाः । इति । तत्र भृतगुणविशेषोपलब्धेस्तादारम्यमिति व्याख्यातं वात्स्यायनेन । दृष्टो हि वाय्वादीनां भूतानां गुणविजेपोऽभिव्यक्तिनियमः। वायुः स्पर्भव्यञ्जकः, तेजो रूपव्यञ्जकम्, आपो रसव्यञ्जिकाः, पार्थिवं किञ्चिद्द्रव्यं कस्यचिद् द्रव्यस्य गन्धव्यञ्जकम् । अस्ति चायमिन्द्रियाणां भृतगुणविज्ञेषोपलिध-नियमः। तेन भूतगुणविज्ञेपोपलब्धेमेन्यामहे भूतपकृतिकानीन्द्रियाणि, नाव्यक्तः प्रकृतीनीति। गंन्धाद्यः पृथिव्यादिगुणास्तदर्था इत्युपदिष्टम्। उद्देशश्च पृथिन्यादीनां सर्व्वगुणत्वे समान इत्यत आह—गन्धरसरूपरपर्शशब्दानां स्पर्जपर्य्यन्ताः पृथिन्यप्तेजोवायूनां पूर्व्वं पूर्व्वमपोत्त चाकाशस्योत्तरः। वात्स्या-यंनेन व्याख्यातम्। न स्पर्शपर्यन्तानामिति विभक्तिविपरिणामः। दीनां स्पर्शपर्यन्ताः पृथिन्यप्तेजोवायूनां यथाक्रमं गुणाः-पृथिन्या गन्धोऽपां रसस्तेजसो रूपं वायोः स्पर्ञः आकाशस्योत्तरशब्दः, इत्येवं पश्चमहाभूतानां पञ्च गुणाः। तेषां गन्धरसरूपस्पर्शशन्दानां पूर्व्वं पूर्व्वमपोह्य च पृथिव्यप्तेजो-वायनां गुणाः, पृथिव्या रसरूपस्पर्शशब्दाश्च, अपां रूपस्पर्शशब्दाश्च गुणास्तेजसः स्पज्ञशब्दौ, वायोः शब्दश्चेति । पश्चगुणा पृथिवी, चतुर्गुणा आपः, त्रिगुणं तेजः, द्विगुणो वायुरेकगुण आकाशः। इति। न सर्व्वगुणानुपलब्धेः। नायं पश्चचतुस्त्रिद्वे प्रकगुणनियोगः साधुः पृथिन्यादीनाम् । कस्मात् १ सर्व्वगुणान उनुपलब्धेः । यस्य भूतस्य ये गुणा न ते तदात्मकेनेन्द्रियेण सर्व्व उपलभ्यन्ते । पाथिवेन हि घाणेन न शब्दपय्येन्ता युग्नन्ते। गन्ध एवैको युग्नते। एवं शेषेष्त्रपीति। कथं तहीं मे गुणा नियोक्तव्या इति। एकैकश्येनोत्तरोत्तर-गुणसङ्गावादुत्तरोत्तराणां तद्तुपलव्धिः। गन्धादीनामेकैको यथाक्रमं पृथिन्यादीनामेकैकस्य गुणः। अतस्तद्तुपलन्धिः। तेपां तयोस्तस्य चातुप-

स्पर्श इत्यादि ज्ञेयम् । शब्दादिग्रहणे आकाशादिग्रहणं यत्, तत् आकाशादिपरिणाम एव शब्दादय इत्युक्तमेव । एतेन यच्छ्रोत्रयाह्यम्, तत् सर्व्यमाकाशं शब्दश्च । यत् स्पर्शेन गृह्यते, तत् सर्व्वं क्षायुः स्पर्शरुचेत्यादि ज्ञेयम् ॥ ९ ॥ लियरिति, ब्राणेन पार्थिवेन न रसरूपस्पर्शशब्दानां, रसनेन रूपरपर्शशब्दानां, चक्षपा स्पर्शशस्त्रयोः, लचा शब्दस्येति। एकैकभूताधिकपाश्चभूतात्मकलात् इन्द्रियाणाम्। कथं तिह अनेकगुणानि भूतानि गृह्यन्त इति—संसर्गाच्चानेक-गुणग्रहणम् । अवादिसंसर्गाच्च पृथिव्यादिषु रसाद्यो गृह्यन्ते । एवं सति नियमस्ति हैं न प्रामोति, संसर्गस्यानियमात्। चतुर्गुणा पृथिवी त्रिगुणा आपो द्विगुणं तेज एकगुणो वायुरेवं नियमश्रोपपचते। कथम् ? अनुप्रविष्टं हापरं परेण । पृथिव्यादीनां पूर्व्वं पूर्व्वमुत्तरोत्तरेणानुप्रविष्टम्, अतः संसर्गनियम इति । तच्चैतद्भूतस्रष्टो वेदितव्यम् । तथा चोक्तमाकाशानुभवेशाद्वायुर्नेसिगिक-स्पर्णेगुणः पुनः शब्दैकगुण इति द्विगुणः, एवं नैसर्गिकरूपगुणं तेजो द्विगुण-वायोः अनुभवेशात् सांसिर्गिकद्विगुणमिति त्रिगुणं, तथा नैसिर्गिकरसगुणा आपः त्रिगुणतेजोऽनुभवेशात् सांसिर्गिकत्रिगुणा इति चतुर्गुणा आपः, एवं नैसर्गिक्गन्धगुणा पृथिवी चतुर्गणाऽवनुप्रवेशात् नैसर्गिकचतुर्गणा इति पश्चगुणा पृथिवीति । इदं त्रिम्त्री मितपादितं मत्याचष्टे । न पार्थिवाप्ययोः मत्यक्षतात्। उक्तरूपेण भूतानां गुणनियमो न, कस्मात् ? पार्थिवस्य द्रव्यस्य आप्यस्य च प्रत्यक्षलात्। महत्त्वानेकद्रव्यलाव् रूपाचोपलव्यिति। तैजसमेव द्रव्यं प्रत्यक्षं स्यात् न पार्थिवमाप्यं वा रूपाभावात् । तैजसवत् तु पार्थिवाप्ययोः मत्यक्षसान्न संसर्गादनेकगुणग्रहणं भूतानाम्। इति। भूतान्तररूपकृतञ्च पाधिवाष्ययोः प्रत्यक्षत्वं ब्रुवतः प्रत्यक्षो वायुः प्रसच्येत । नियमे वा कारण-मुच्यतामिति । रसयोर्वा पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षलात् । पार्थिवे रसः पड्-विधः, आप्ये मधुर एवेति । न चैतत् संसर्गोद्धवितुमर्हेति । रूपयोवी पार्थिवा-प्ययोः प्रत्यक्षतात् तैजसरूपानुगृहीतयोः, संसर्गे हि व्यञ्जकमेव रूपम्। न व्यङ्गप्रमस्ति । इति । एकानेकविधत्वे च पार्थिवाष्ययोः प्रत्यक्षलाद्रुपयोः, पार्थिवं हरितलोहितपीताद्यनेकविधं रूपम्, आप्यन्तु शुक्तमप्रकाशकम्, न चैतदक-गुणानां संसर्गे सत्युपलभ्यत इति । उदाहरणमात्रञ्चैतत्, अतः परं प्रपञ्चः । स्पर्भयोवी पार्थिवतैजसयोः प्रत्यक्षतात् पार्थिवोऽनुष्णाज्ञीतः स्पर्भः, उष्णस्तेजसः मृत्यक्षः ; न चैतदेकगुणानामनुष्णाशीतस्पर्शेन वा वायुना संसर्गेणोपपद्यते। इति । अथवा पार्थिवाप्यपोर्द्रव्ययोर्व्यवस्थितगुणयोः प्रत्यक्षतात् चतुर्गुणं पार्थिवं द्रव्यं त्रिगुणमाप्यं प्रत्यक्षम् ; तेन तत्कारणमनुमीयते । तथाभूतं भूतमिति । तस्य कार्यं लिङ्गं कारणभावाद्धि कार्य्यभाव इति। एवं तैजसवायन्ययोद्देन्ययोः प्रत्यक्षतात् गुणव्यवस्थायास्तत्कारणे द्रव्ये व्यवस्थानुमानमिति। [दृष्टश्च

विवेकः। पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षतात् पार्थिवं द्रव्यमवादिभियुक्तं प्रत्यक्षतो गृह्यते। आप्यञ्च त्रिभिः। पराभ्यां तैजसम्। वायन्यमाकाशेन। न चैकैकगुणं गृह्यते इति । निरनुमानन्तनुपविष्टं ह्यपरं परेणेत्येतदिति । लिङ्गमनुमापकं गृह्यत इति। येनैतदेवं प्रतिपदेप्रमहि। यचोक्तम् अनुप्रविध्धं ह्यपरं परेणेति। भूतसृष्टी वेदितन्यं न साम्प्रतमिति नियमकारणाभावान अयुक्तम् । दृष्टन्तु साम्प्रतमप्यपरं परेणानुप्रविष्टमिति, वायुनानुप्रविष्टं तेज इति। अनुपविष्टत्वं योगः। स च द्वयोः समानो वाधुनानुपविष्टतात् स्पर्जः वत् तेजः, न च तेजसानुप्रविष्टलाद् रूपवान् वायुरिति नियमकारणं नास्तीति। दृष्ट्रञ्च तैजसेन स्पर्शेन वायव्यस्पर्शस्याभिभवाद् ग्रहणिमति। न च तेनैव तस्याभिभव इति। तदेवं न्यायविरुद्धं भवादं प्रतिपिध्य सर्व्वगुणातुप-लब्धेरिति चोदितं समाधीयते। पूर्व्वपूर्व्वगुणोत्कर्णात् त तत् तत्पधानम्। अस्मान्न सर्वेगुणोपलब्धः। घाणादीनां पूर्व्वपूर्वेगुणोत्कर्षात् तत्तत्प्रधानम्। का प्रधानता ? विषयग्राहकलम् । को गुणोत्कर्षः ? अभिव्यक्तौ समर्थलम् । यथा वाह्यानां पाथिवाप्यतैजसानां द्रव्याणां पञ्चगुणचतुर्गुणित्रगुणानां न सर्विगुणन्यञ्जकलम्, गन्धरसरूपोत्कर्षात् तु यथाक्रमं गन्धरसरूपन्यञ्जकलम्, एवं घ्राणरसनचक्षुपां न सर्व्वगुणग्राहकलम् । गन्धरसरूपोत्कर्षातु त यथाक्रमं गन्धरसरूपग्राहकलम् । तसाद् घाणादिभिनं सर्वेपां गुणानामुपलव्धिरिति । यस्तु प्रतिजानीते गन्धगुणलाद् घाणं गन्धं युक्काति एवं रसनादिष्वपीति। तस्य यथागुणयोगं घाणादिभिगु णग्रहणं न प्रसच्यते इति किं कृतं पुन-व्यंवस्थानम् ? किञ्चित् पार्थिवमिन्द्रियं न सर्व्वाणि। कानिचिदाप्यं-तैजसवायव्यान्तरीक्ष्याणीन्द्रियाणि, न संब्वीणि । तद्व्यवस्थानन्तु भूयस्त्रात्। अथ निन्द्र त्तिसमर्थस्य प्रविभक्तस्य द्रव्यस्य संसर्गे पुरुषसंस्कारिते भूयस्तम् । दृष्टो हि प्रकर्षे भूयरलगब्दः। प्रकृष्टो यथा विषयो भूयानित्युच्यते। पृथगर्थक्रियासमर्थानि पुरुषसंस्कारवज्ञाद्विषौषधिमणिषभृतीनि द्रव्याणि निर्वे-र्त्तन्ते, न सन्वैं सन्वीर्थम्। एवं पृथग्विषयग्रहणसमर्थानि घ्राणादीनि निन्वेर्त्तन्ते न सर्व्वविषयग्रहणसमर्थानीति। भूयस्तं हि शरीरारम्भाय भूतैः पश्चिभिः इन्द्रियाण्यारभ्यन्ते तेषां भूतानामेकैकस्य भूतस्य भूयस्तात् तर्व्यवस्थानं नियतविषयग्रहणव्यवस्थानं भूम्यधिकपञ्चभूतारव्यं ब्राणं भूमिगुणेन शेष-गुणाभिभवाद् गन्धमेव युक्ताति, एवमेवाधिकपञ्चभूतार्व्धरसनमवगुणेनाधिकेन शेपगुणपरिभवाद् रसमेव गृह्णाति नान्यमर्थम् । तथा तेजोऽधिकपञ्चभूतारब्धं

या यदिन्द्रियसाथित्य जन्तोर्वृद्धिः प्रवर्त्तते । याति सा तेन निर्देशं यनसा च मनोभवा॥

च अरते जो गुणेना धिकेन शेष भूत गुणा भिभवाद् रूपमेव गृहाति नेतरमथम्। नाय्वधिकपञ्चभूतारवधं स्पर्शनं वायुगुणेनाधिकेन शेपभूतगुणावजयात् स्पर्श-सेव युक्ताति नेतरमर्थम्। तथाकाशाधिकपञ्चभूतारव्धं श्रोत्रमाकाशगुणेन भूयसा अञ्चेपभूतग्रणावजयात् शब्दमेव युद्धाति नान्यमर्थमिति तदारम्भकद्रव्याणां शूयस्तात् तद्विपयग्रहणनियमन्यवस्थानं विरुद्धगुणसमवाये भूयसालपमवजीयते इति। तर्हि कथं तत्तर्भूतारन्धद्रन्पग्रहणे नियमः। अस्तु तदारम्भक-भूतानामेकैकस्य भूतस्य भूयस्तात् तु। तेपां गुणानां ग्रहणे तु कथं नियमः स्यादिति। सगुणानामिन्द्रियभावात्। येपां भूतानामेकैक-भूताधिकानापिन्द्रियरूपेणाभिनिन्द्र तिः स्यात् तेषां सगुणानामेव भूतानामिन्द्रियभावः स्यात् न तु निर्गुणानां, ते हि गुणाः कार्य्यनिन्वाहे तेन घाणं स्वेन गन्धेन शक्तिभूतेन समानार्थकारिणा सह वाह्यं गन्धं युद्धातीति। एवं शेषाणामिष। तेन च स्वस्वगुणान् प्राणादीनि ्गन्धादीन् न युद्धन्ति। स्वगुणेन स्वगुणसहयोगाभावात् तु तेनैव तस्या-ग्रहणाच । स्वगुणेन स्वगुणस्य ग्रहणाभावाच्च । सगुणानामिन्द्रियभावः।

तत्राह वादी-न शन्दगुणोपलब्धेः। स्वगुणान्नोपलभन्त इन्द्रियाणीति न। . शब्दगुणोपलब्धेः । उपलभ्यते हि शब्दः स्वगुणः श्रोत्रेणेति । तत्रोत्तरम् । तदुपलव्यिरितरेतरद्रव्यगुणवैधम्म्यात्। येन शब्देन गुणेन सहितमाकाशं श्रोत्रमिन्द्रियं भवति न स शब्द उपलभ्यते श्रोत्रेण। कर्णाविष्धाय यज्ज्वाला-शन्दं शृणोति तत्पाणिपिधानेन ब्रह्मस्थशन्दश्रोत्रयोरितरेतरवैधम्म्यात् तदुपलिश्विति। यच्चक्षुर्निपीड्ने ज्योतिर्देश्यते तच्चक्षुज्यौतिर्ने चक्षुपो रूपिति। न स्वगुणग्रहणियन्द्रियाणायस्तीति॥९॥

गुङ्गाथरः—अथ शरीरे ये गुणास्ते यदि गुणिनां चिह्नं निर्दिष्टा अपरे बुद्धप्रादयस्तु गुणा न शरीरे कस्य गुणास्ते चिहानि वा भवन्ति ? उच्यते। मकृतिश्राष्ट्रधातुकीत्युक्तम् । तत्र पङ्धातुपुरुषस्था ये खादयः पञ्च गुणाः पञ्च धातवस्तत्पकृतिका आत्मजाः पश्च ये खादयः शरीरे तेषां विकारा दशेन्द्रियाणि · चक्रपाणिः—सम्प्रति प्रकृतिगणसंविष्टायाः बुद्धेरुपद्रश्नार्थं तस्या बुद्धेर्वृ तिभेदात् ज्ञानविशेष-रूपाण्याह—येत्यादि । यदिन्द्रियमाश्रित्य इति । यदिन्द्रियमणालिकामाश्रित्य , महच्छद्दाख्यस्य

भेदात् कार्थ्यं न्द्रियार्थानां वह्न्यो वै बुद्धयः स्पृताः । आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानामेकैकसन्निकर्षजाः ॥

अर्थाश्च पञ्च दर्जिताः। श्रीरस्य प्रकृतयः पञ्च पितृजादीनि त्रिधा भूतानि वस्यन्ते चतुव्विशतिकपुरुषे प्रकृतय इहोपदेष्टव्यास्तत्र पष्टधात्येश्चेतनाधातः अन्यक्ताख्यस्तस्य महदादिगन्धमात्रपृथिन्यन्तैकोनविंशतिमुखानि, तत्र यदाह-क्षारिकं मनस्तस्मान्मनोऽन्तरं यज्ञायते तद्दर्शितं मनो दशेन्द्रियाणीत्यनेन। यः पुनस्तत्राच्यक्तमात्मा स पुनरात्मकृतानि पञ्च भूतान्यादाय सप्ताङ्गमात्मा-न्तरमारभते। जागरितस्थानं वहिःमत्तं वैश्वानग्राख्यं भूतात्मानम्। तथा तत्पड्धातुस्थपष्टचेतनाधातुस्थो यो महान् स त्रिधावुद्धिमारभते, धीधृति-स्मृतिभेदेन । यश्चाहङ्कारः स पुनर्भिमानलक्षणमहङ्कारं गर्न्बार्ल्यम्बानमार्भते । इति पङ्धातुपुरुषस्थाष्ट्रधातुनिष्यन्ना मकृतिर्प्यष्ट्या पञ्च खादय आत्म-कृतास्तर्भूतोपाधिक आत्मा त्रिधायुद्धिरहङ्कारक्चेति। तत्र युद्धिश्राहङ्कारश्र बुद्धिरुच्यते। सा पुनर्वाद्याभ्यन्तरे पङ्चियरूपेण पवर्त्तते तदुक्तं पाक् पञ्चेन्द्रियदुद्धयश्चरु द्व्यादिकास्ताः पुनिरिन्द्रियोधसत्त्वात्मसन्निकर्पजाः क्षणिका निश्रयात्मिकाश्रेति, इह चोक्ता मनोऽर्धसन्निकर्पजा पछी बुद्धि-स्तासां यथा निर्देशो लोके सिद्धस्तदाह—या यदिन्द्रियमित्यादि । जन्तोर्याः प्रत्यगात्मस्था बुद्धिः सा बुद्धिर्यदिन्द्रियमाश्रित्य व्यक्ता सती प्रवर्त्तते, साः बुद्धिस्तेनेन्द्रियेण निर्देशं याति। यथा चक्षुबुद्धः श्रवणबुद्धिः स्पर्जन-बुद्धी रसनबुद्धिर्घाणबुद्धिरिति। इह पञ्चेन्द्रियाणीत्युक्तेरिन्द्रियपदेन मनो-ऽनिभंधानादाह — मनसा चेति । मनोभवा आत्ममनोऽर्थसन्निकर्पजा या बुद्धिः सा मनसा निर्देशं याति : मानसबुद्धिरित्युच्यते । मूलभूता तु बुद्धिः मत्यंगात्मस्येति सप्त बुद्धयः। आसां पण्णां बुद्धीनां कार्य्यन्द्रियार्थानां कार्य्याणामिन्द्रियार्थानां घटपटादिस्थानां शब्दस्पर्शादीनां भेदादात्मेन्द्रिय-मनोऽर्थानामेकैकसन्निकर्पजाः अवणयुद्धप्रादिकास्ता युद्धयो वह्य एव स्पृताः।

बुद्धितत्त्वस्य वृत्तिविशेषरूपाणि ज्ञानानीन्द्रियप्रणालिकया भवन्ति, तिदृन्द्रियजन्यत्वेनेव तानि व्यपदिश्यन्ते—चक्षुर्बद्धिः श्रोत्रबुद्धिरित्यादीनि । मनोभवा च बुद्धिश्वन्त्यादिविषया मनसा निर्दिश्यते मनोबुद्धिरिति व्यपदिश्यत इति ।

इन्द्रियमनोभेदेन पट्त्वं बुद्धीनां प्रतिपाद्य बुद्धिबहुत्वं प्राह—मेदादित्यादि । कार्यस्य इन्द्रियार्थस्य च भेदान् तत्त्सम्बन्धेन भिद्यमाना बह्वाो बुद्धयो भवन्ति, कार्यः सुखदुःखभेदाः । त्रङ्गुल्यङ्गुष्टतलज्स्तन्त्रीवीणानलोद्धवः । हष्टः शब्दो यथा बुद्धिर प्रा संयोगजा तथा ॥ बुद्धीन्द्रियमनोऽर्थानां विद्याद् योगधरं परम् । चतुर्विश्वातिको हेर्रण मतः पुरुषसंज्ञकः ॥ १०॥

घटीयशब्दश्रवणबुद्धिः घटीयस्पर्शस्पर्शनबुद्धिरित्येवमाद्योऽपरिसङ्घो याः स्मृताः । तत्रात्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकपौ द्विविधः समविषमयोगभेदात् । यदाहङ्कारबुद्ध्याभिभूयते धीधृतिस्मृतिबुद्धिस्तदा बुद्धेरयोगातियोगम्ध्यायोगात् अर्थसन्निकपौँ भवति। यदा नाभिभूयते तदा समयोगादर्थसन्निकपौँ भवति। ततो वाङ्मनः शरीरमष्टत्तेरयोगातियोगमिध्यायोगसमयोगा भवन्तीति। आसां वहुत्वे दृष्टान्तमाह—अङ्गलयङ्गप्डेत्यादि। अङ्गप्टग्रहणं प्राधान्यात तर्ग्रहणेन शेपा अङ्गुलिशब्देनोच्यन्ते। तन्नीवीणानखोद्भवः शब्द एको ययाङ्गलयङ्गष्टतलजो वहुविधो दृष्टः श्रुतरतथा संयोगजा आत्मेन्द्रियमनोर्थाना-मेकैकसन्निकपंजा बुद्धिः कार्य्येन्द्रियार्थानां भेदार् वहुविधा दृष्टा भवति। कुत एवं स्यादित्यत आह—बुद्धीत्यादि । बुद्धेरिन्द्रियाणां मनसोऽर्थानाञ्च योगधरं स्वभावं विद्यात्। बुद्धेर्यथाविधेनेन्द्रियेण मनसार्थेन च योगो भवति तथाविधरूपेण परित्तभेवति। इत्येपा चतुर्विशतिकपुरुपस्था द्विविधा बुद्धिरनित्या उत्पत्तिधम्मकलात्। पङ्धातुपुरुपस्था महदाख्याहङ्काराख्या च नित्या यावन्निच्चीणं स्थायिलात्। एवं चतु व्विज्ञतिकः पुरुपोऽप्यनित्य उत्पत्तिधम्मेकलात् । उत्पत्तिधम्मेकत्वं पुनःपुनरिहं जन्मशीललम् । न चास्ति तत्पड्धातुपुरुपस्य पुनःपुनरुत्पत्तिध्मभिकत्वं नारायणादेव पाक् सकृदेवोत्-पत्तेः। तस्मात् पङ्धातुः पुरुषो नित्यः निन्द्राणपर्यन्तस्थायितात्। पुन-

सुखरु:खप्रपन्नेन हि तरकार्येण कारणं ज्ञानमिष बहु भवित । इदानी सर्व्ववाह्यज्ञानसाधनमाह— आत्मेत्यादि । आत्मा अव्यक्तम् । एकैकेति प्रत्येकम् । युद्धेरनेकात्मादिमेलकजन्यत्वे दृष्टान्तमाह— सङ्गुठीत्यादि । तेन दृष्टान्तेन घावदृद्धयमाह—अङ्गुल्यङ्गुष्टतलज्ञावद् एकः । अयञ्चाङ्गुष्टयन्तित-सध्यमाङ्गुल्याः करेण संयोगाद् जायमानघावद् अच्यते, तन्ती वीणादावद् एकः । अन्ये त्वेकमेवाङ्गुल्या-दिजं वीणादावदं वर्गयन्ति । एतेन यथा शब्दो अङ्गुलाद्यन्यतमवेकल्येऽपि न भवित, तथा बुद्धि-रप्यात्मादीनामन्यतमवेकल्येऽपि न भविति दर्शयित । अत्र च बुद्धिवृत्तीनां ज्ञानानां कथनेरह-ङ्गारोऽपि सूचित एव । यता, अहङ्गारोपजीवित्वात्मादिसम्बल्तियं बुद्धिः 'अहं पद्यामि' इत्यादि-रूपां भवित । तेन बुद्धेः अहङ्कारस्य चोक्तत्वात् परमन्यक्तं कार्य्यद्वारा स्वीक्रियते । बुद्धीत्यादि—

र्भवस्थापनायां तद्दर्शितम्। ये त्वेयं न विदन्ति ते केचिद् बुद्धिर्नित्येति वदन्तः केचिद् बुद्धिरनित्येति वदन्तो विवदन्ते। तथा केचित् पुरुपो नित्य इति . वदन्तः केचिद्नित्यः पुरुष इति वदन्तो विवदन्ते इति । तर्द्वयमसम्यक्। परीक्षिता हि बुद्धिगौ तमेन । तद् यथा—बुद्धिरुपलव्धिकानिवस्यनर्थान्तरम्। कम्माकाशसाधम्म्यात् संशयः। विषयप्रत्यभिज्ञानात्। साध्यस्मलादहेतुः। न युगपदग्रहणात्। मत्यभिकाने च विनाशमसङ्गः। क्रमष्टत्तिलार् युगपद-ग्रहणम्। अनभिज्ञानञ्च विषयान्तर्च्यासङ्गात्। न गत्यभावात्। इति। व्याख्यातञ्च वात्स्यायनेन सर्वम्। तर् यथा - कम्मीकाश्वसाधम्म्यीत् बुद्धिः किमनित्या नित्या वेति संज्ञयः। अस्पर्जवत्त्वं ताभ्यां ताभ्यां समानो धम्मे उपलभ्यते बुद्धौ विशेषश्चोपजनापायधर्मावत्त्वं विषय्ययश्च यथास्वमनित्य-नित्ययोस्तस्यां बुद्धौ नोपलभ्यते । तेन संशयः । इति । अनुपपन्नरूपः खल्वयं संशयः। सर्वेशरीरिणां हि प्रत्यात्मवेदनीयाऽनित्या बुद्धिः सुखादिवत्। भवति च संवित्तिक्षीस्यामि जानामि अक्षासिपमिति। न चोपजनापायांवन्तरेण त्रकाल्यव्यक्तिः। ततश्च त्रैकाल्यव्यक्तोरनित्या बुद्धिरित्येतत् सिद्धम्। प्रमाण-सिद्धक्वेदम् । शास्त्रेऽप्युक्तम् — इन्द्रियार्थसन्निकर्पोत्पन्नं शानम् । युगपज् छाना तुत्पत्तिमेनसो लिङ्गमित्येवमादि। तस्मात् संशयप्रक्रिया तुपपत्तिरित। दृष्टिमवादोपालम्भार्थन्तु प्रकरणम्। एवं हि पश्यन्तः प्रवदन्ति पुरुषस्यान्तः करणभूता बुद्धिर्नित्येति । साधनं प्रचक्षते । विषयपत्यभिष्णानात् । पुरुपस्यान्तः करणभूता बुद्धिनित्या। विषयप्रत्यभिज्ञानात्। किं पुनरिदं अत्यभिक्षानम् ? यं पूर्व्यमक्षासिपमर्थं तिममं जानामीति ज्ञानयोः समानेऽर्थे प्रतिसन्धिक्षानं प्रत्यभिक्षानम् । एतचावस्थिताया बुद्धेरुपपन्नम् । नानात्वे तु बुद्धिभेदेपूर्यन्नापविषेषु प्रत्यभिषानानुपपत्तिः। नान्यशातमन्यः प्रत्यभि-जानातीति । साध्यसमलादहेतुः । इति । यथा खळु नित्यसं बुद्धेः साध्यम् एवं प्रत्यभिक्षानस्यापीति । किं कारणम् ? चेतनधर्म्भस्य करणेऽन्नुपपितः। पुरुषधम्भीः खल्वयं धानं दर्शनमुपलव्यिवीधः प्रत्ययोऽध्यवसाय इति । चेतनो हि पूर्विज्ञातमर्थं प्रत्यभिजानातीति। तस्यैतस्मात् हेतोर्नित्यलं युक्तमिति। करणचैतन्याभ्युपगमे तु चेतनस्यरूपं वचनीयम्। नानि हिंश्सरूपमात्मान्तरं .परिमत्यन्यक्तम्, बुद्ध्यादीनां योगं मेलकं धरतीति योगधरम् । अध्यक्तं हि प्रकृतिरूपपुरुपार्थ-प्रवृत्तम्, बुद्ध्यादिमेलकं भोगसम्पादकं स्जति । एवं न्युःपादितं चतुर्विशतिकसुपसंहरति— चतुर्व्विशक इत्यादि । यदि वा कर्मोन्द्रयाण्यभिधाय, महाभूतानि इत्यादिना अर्थ एवाश्रयभूत-

श्वयमस्तीति प्रतिपत्तम्। शानञ्चेद् बुद्धेरन्तः करणस्याभ्युपगम्यते, चेतन-स्येदानीं कि स्वरूपं को धर्माः कि तत्त्वम्। शानेन वुद्धौ वर्त्तमानेनायं चेननः कि करोतीति। चेतयत इति चेन्न मानाद्ध्यर्थान्तरवचनम्। पुरुपश्चेतयते बुद्धिर्जानातीति नेदं जानादर्थान्तरमुच्यते। चेतयते जानीते बुध्यते उपलभते पश्यनीत्येकोऽयमर्थे इति । बुद्धिर्भापयतीति चेत्, अद्धा जानीते पुरुषो बुद्धिर्भाषयतीनि सत्यमेतत्। एवञ्चाभ्युपगमे धानं प्ररूपस्येति सिद्धं भवति, न बुद्धेरन्तः करणस्येति । प्रतिपुरुपञ्च शब्दान्तरव्यवस्थाप्रतिशाने प्रतिपेध-हेनुवचनम् । यच प्रतिजानीते, कश्चित् पुरुपश्चेतयते कश्चिद् गुध्यते कश्चिदुप-लभते कश्चित् पश्यतीति पुरुपान्तराणि खल्विमानि चेतनो वोद्धोपलब्धा द्रप्टेति, नैकस्यैते धरमी इति। अत्र कः प्रतिषेधहेतुर्वोच्य इति। अर्थस्याभेद इति चेत् समानमभिन्नार्था एते शब्दा इति । तत्र व्यवस्थासुपपत्तिरित्येवं चेत् मन्यते, समानं भवति ; पुरुपश्चेतयते बुद्धिर्जानीते इत्यत्राप्यथी न विभिन्नते । तत्रोभयोश्चेननलादन्यतरलांप इति । यदि पुनयु ध्यतेऽनेनेति वोधनं बुद्धिर्मन एवंचियंते, तच्च नित्यस् । अस्तु एतदेवं, न तु मनसो विषयप्रत्यभिषानानित्य-लम्। दृष्टं हि करणभेदे जातुरेकलात् मत्यभिशानम्। सन्यदृष्टस्येतरेण मत्यभि-जानिमिति चक्षुर्वित्। पदीपवच्च पदीपान्तरदृष्टस्य पदीपान्तरेण पत्यभिज्ञान-मिति, तस्माज् घातुरयं नित्यत्वं हेतुरिति। यश्च मन्यते चुद्धेरवस्थिताया यथा-विषयं वृत्तयो ज्ञानानि निश्चरन्ति, वृत्तिश्च वृत्तिमतो नान्येति। न युगपद-ग्रहणात् । वृत्तिवृत्तिमतोरनन्यत्वे वृत्तिमतोऽवस्थानाद् वृत्तीनामवस्थानमिति । यानीमानि विषयग्रहणानि, तान्यवितष्टन्ते इति वुद्धिर्नित्या विषयप्रत्यभि-मानादिति हेतुः साध्यसमलादहेतुर्न भवति युगपदग्रहणात् । ष्टित्तंमदृष्ट्रत्योयु ग-पद्ग्रहणाभावात् । इति । तत्राह- दृत्तिदृत्तिमतोरनन्यत्वे दृत्तिमतोऽवस्थानात वृत्तीनांमवस्थानमिति यानीमानि विषयग्रहणानि तान्यप्यवतिष्ठन्त इति युगपद्विप्यग्रहंणं प्रसच्यत इति। प्रत्यभिकाने च विनाशप्रसङ्ग इति। अतीते अत्यंभिन्नाने वृत्तिमानध्यतीत इत्यन्तःकरणस्य विनाशः प्रसञ्यते, विषय्येये च नानाल्मिति। अविभु चैकं मनः पर्यायेणेन्द्रियैः संयुज्यते इति। क्रमष्टत्ति-इन्द्रियार्थानां वृत्तिवृत्तिमतोनीनालिमिति मनस लाव् ंयुगपदग्रहणम्। कथनिनोस्यते । ''या यदिन्द्रियमाश्रिस्य'' इस्यादिना तु स्फुटोपलभ्यमाना दुद्धिवृत्तिभेदा उच्यन्ते । बुद्धवहङ्कारतन्मात्राण्यव्यक्तानि तु सूर्यमाणि नोक्तानि, तानि सर्वाण्येव "बुद्धीन्द्रियमनोऽर्थानाम्" इत्यांदि प्रत्थे (पर शब्देतीच्यन्ते) तेन योगधर परिस्थिनेन मूलप्रकृतिस्तथा प्रकृतिविकृतयश्च

रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयमनन्तवान् । ताभ्यां निराकृताभ्यान्तु सत्त्वबुद्ध्या ७ निवर्त्तने ॥

एकलाविश्वलाभ्यां क्रमेण तत्तदिन्द्रियं गृत्तित्ताद्युगपर्गृहणिनित। एकत्वे मादुर्भावितरोभावयोरभाव इति। अनिभिक्षानञ्च विपयान्तर्व्यासङ्गात्। अनिभिक्षानमनुपलिन्धः। अनुपलिन्ध्यं कस्यचिद्ध्यस्य विपयान्तर्व्यासक्ते- भिनस्युपप्यते गृतिगृत्तिनानालात्। एकत्वे ह्यनर्थको व्यासङ्गः इति। विश्वत्वे चान्तःकरणस्य पर्य्यायेणेन्द्रियः संयोगः, न गत्यभावात्। विश्वत्वेन इन्द्रियाणि सर्वाणि माप्तान्यन्तःकरणेनेति माप्तस्यार्थस्य गमनाभावः। तत्र क्रमृत्तिल्लाभावादयुगपद्गृहणानुपपत्तिरिति। गत्यभावाच्येकत्मितिधस्तस्माः बुद्धिने नित्या येयं चाक्षुपादिबुद्धिरूपेण मवर्त्तते, परन्तु स्थिरा। सुवर्ण- कुण्डलवत्। सुवर्णं कुण्डलक्ष्येण मवर्त्तते, कुण्डलविनाशे सुवर्णमवितिष्ठते। तथा बुद्धिरात्ममनइन्द्रियाथस्तिकप्तपत्ति मवर्त्तते सन्निकप्रभावे बुद्धिरवितष्ठते इति। एवञ्च चतुव्विश्वति भावानुक्तवा चतुव्विश्वतिकप्रपसंहरति—चतुव्विश्वितिक

एवञ्च चतु जिंदोति भावानुत्तवा चतु जिंदोतिक सुपसंहरति—चतु जिंदोतिक इत्यादि। हि यसादेप पड्धातु पुरुपज नित्तमनोद ने निद्रयपञ्चार्थभूतात्मा चुद्धाह द्वारपञ्चभूतानीति चतु जिंदोत्तरया निष्पन्नः पुरुपसंब को मतः, पुरि ह्यन्तमयेऽस्मिञ्छरीरे वासात्। एप वहिः मको जागरितस्थानः सप्ताङ्ग एकोन विंदोतिसुखः स्थूलसुग् वैश्वानरः प्रथमः पाद आत्मा माण्डूक्योप-निषदु रक्तिस्तर्य पञ्च भूतान्यात्मिस्थतानि सप्ताङ्गानि। छान्दोण्योपनिषदि त्योक्तानि तेजो दिधाप्तिनीमादित्यथ। तन्नाप्तिमू र्ष्का स्तेजो नाम। आदित्य-श्रक्ष विश्वस्तो नाम। वायुः प्राणः पृथग्वत्मी नाम। आकाशः सन्दोहो वहुलो नाम। आपो वस्ती रियनीम। पृथिवी पादौ प्रतिष्ठा नाम। उरो वेदिरिति। मनो दशेनिद्रयाणि पञ्च प्राणाश्चित्तं चुद्धिरहङ्कार इत्येकोनविंदातिस्रेखानि, एभिर्विहः स्थूलान् विपयान् सुङ्को। मृतस्य पन्द्यति। परलोके चैवमेवोत्पद्यते पुनक्षेहः खल्वेवमेवरूपेण जायतं, इति। तस्मात् के चिन्नित्यमाहुरपरे चानित्यमाहुः।।१०।।

गङ्गाधरः—तत्राग्निवेशः पपच्छ, पुरुषः कारणं कस्मादिति । तत्रोत्तरमाह— महदादयः सप्तोच्यन्ते । एवं चतुर्विंशतिको राशिर्भवति । परत्वज्ञ विकारापेक्षया प्रकृतीनामुप-पत्रमेव ॥ १० ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रत्येवंपुरुपस्य सकारणं संसरणं नोक्षहेतुज्ञाह—रज इत्यादि । संयोगोऽयम्

^{*} सत्त्वबृद्ध्या इति पाठान्तरम् ।

रजस्तमोभ्यामित्यादि। रजस्तमोभ्यां संयुक्तस्यास्य चतुर्विशतिकस्य पुरुपस्यायमेतद्रूपेण संयोगोऽनन्तवान् न लन्तवान् । तर्हि किमस्य संयोगोऽयं नित्य इत्यत आह—ताभ्यामित्यादि । ताभ्यां रजस्तमोभ्यां निराकृताभ्यां निःशेपेण निरस्ताभ्यां सत्त्वोद्देके सति सत्त्वयुद्ध्या तत्त्वकानेनायं संयोगो-असात् पुरुपानिवर्तते। ननु सति च कारणे पड्धातृपुरुषे कथं निवर्तते इति चेत्, तदोच्यते। न खल कारणे सति कार्यनाकः स्यात् तस्मात् कार्यनात्रादनुमीयते कारणमपि पङ्धातुपुरुषस्य पङ्धातुसंयोगोऽपि सत्त्वबुद्ध्या निवर्त्तते। सोऽपि सति कारण न नश्यति तस्यादबुमीयते, पड्-धातुसंयोगस्य कारणं चेतनाधातुसंयोगो नदयति सत्तववृद्धैतव। चेतनाधातूनां संयोगनाशे निःशेषेण निवर्तते न पुनरावर्तते । रजस्तमोनिराकरणेन धर्मा-थम्मेविनाशात्। इति। अस्य भूतात्मनक्ष कारणं पङ्धातुः पुरुपो भूतात्मैव स्वमस्थानोऽन्तःपन्नः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तमुक् तैजसो द्वितीयः पाद उक्तो माण्ड्क्योपनिपदि। तस्यापि सप्ताङ्गानि—यानि शब्दतन्मात्रादीनि पश्चमहाभूतानि तानि हि तेजोद्दिधामिश्चन्द्रसूर्यक्षपश्चैकः। तदुक्तं मुण्डकोप-'निपदि। अग्निमू द्वी चक्षुपी चन्द्रसूर्यो दिशः श्रोत्रे वाग्वितताथ वेदाः। वायुः माणो हृदयं विश्वमस्य पर्भ्यां पृथिवी हेमप सर्व्वभूतान्तरात्मा। इति पुरुषे तु मुखान्येकोनविंशतिश्र-पश्चतन्मात्राणामेकेकाद्यधिकानि पश्चमहाभूतात्मकानि प्राणाः पञ्च मनो दशेन्द्रियाणि लाहङ्कारकाणि चेतो-ऽहङ्कारमहान्तश्रेति। खप्ने पविविक्ते विषयान् गुङ्क्ते इति। अस्य कार्णं चेतनाधातुरव्यक्तं नाम जीवोपाधिः सुषुप्तिस्थानः प्राज्ञः। यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न च कञ्चन स्वर्ष्नं पश्यति तत्सुपुप्तिस्थानमेकीभूतः प्रशानघन आनन्दमयश्रेतोमुख आनन्दशुक् पान्नस्तृतीयः पाद आत्मा इत्युक्तो माण्ड्वयोप-निपदि । सुपुप्तौ सन्वीणि मनसि लीयन्ते मनः प्रधान आत्मिन तामसे महत्तत्त्वे तामसस्तु राजसे महत्तत्वे राजसस्तु सात्त्विके महति। सात्त्विकस्तु महांश्रेत . उच्यते, सा प्रधा प्रधावान् प्राधो ह्ययमात्मा परेऽक्षरे परमात्मनि शिवे तुरीयपादे संपतितिष्ठते। रसो वै स रसं हेप्रवायं छब्ध्वानन्दी भवतीति। चतुष्पाद न्नहोत्युक्तम्। माण्डूक्योपनिषदि। नान्तःप्रज्ञ' न वहिःप्रज्ञ' अयमात्मा इति चतुर्व्वि'शतिराशिरूपो मेलकः। ताभ्यामिति रजस्तमोभ्याम्। सस्यबृद्ध्या कारणसृतया रजस्तमोनिवृत्त्या पुरुषरूपः संघोगो निवर्त्तते मोक्षो भवतीःयर्थः। सन्तं वृद्धं विशुद्धशान-जननात् रजस्तमसी संसारकारणे विजित्य प्रकृतिपुरुपविवेकज्ञानात् मोक्षमावहति ।

अत्र कर्मा फल न्यात्र ज्ञानञ्चात्र प्रतिष्ठितम् । अत्र मोहः सुखं दुःखं जीवितं मरगं खता ॥ एवं यो वेद तत्त्वेन स वेद प्रलयोदयौ । पारम्पर्यं चिकित्सा च ज्ञातव्यं यज्ञ किञ्चन ॥

नोभयतःपर्धं न पर्धं नाप्रधं न प्रधानघनप्रच्यपदेश्यम् अव्यवहार्ध्यमेकात्म-मत्ययसारं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्त इति। मनुनाप्मुक्तम्। यो-ऽस्यात्मनः कारियता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते। यः करोति तु कम्मीणि स भूतात्मोच्यते वुधैः। जीवसंबोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम्। येन वेदयते सर्व्यं सुखं दुःखञ्च जन्मसु । ताबुभौ भूतसम्पृक्तौ महान् क्षेत्रह एव च । उचावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः । प्रशासितारं सर्व्वेपामणीयांस-मणोरिप । रुक्माभं स्वमधीगम्यं विद्यात् तं पुरुषं परम् । एतमेके वदत्यिनं मनुषन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्। एप सर्व्वाणि भूतानि पञ्चभिन्याप्य मूर्त्तिभिः। जन्मष्टद्धिक्षयैनित्यं संसारयति चक्रवत्। इति । अत्र भूतात्मा जागरितस्थानः स्वप्तस्थानश्चेति द्विविध एव विवक्षितः इति । अर्थवं त्रिविधे पुरुषे कः पुरुषो म्रियते, मृला च कः परलोकं याति, त्त्र च सुखं वा दुःखं वा को भुङ्क्ते, कश्च पुनरिह जायते, इत्याशङ्क्याह— अत्रेत्यादि । यदुक्तं पूर्व्वाध्याये । सत्त्वमात्मा शरीरञ्च त्रयमेतत् त्रिद्ण्डवत् । लोकस्तिष्टति संयोगात् तत्र सर्व्यं प्रतिष्ठितम् । स पुमांश्रेतनं तच तचाधिकरणं स्मृतम्। वेदस्यास्य - इत्यनेनोक्तं तत्र सर्व्वं प्रतिष्ठितमिति यदुक्तं तदेवम्। अत्र चतुर्विशतिके पुरुषे कम्म कम्मिकलादिकं प्रतिष्ठितमित्येवं यो जनो वेद स लोकानां मलयोदयौ जीवनमर्णे वेद को जीवति को म्रियते तद् वेत्ति। एप हि म्रियमाणे नरादौ पड्धातुके लीयते पुनश्च परलोके भुत्तवा भोगमिह

पुनश्चतुर्ध्वि शतिकरूपे पुरुषे कर्म्मफलानि दर्शयन् दोपहीने पुरुषे कर्म्मफलाद्यभावमधीट दर्शयित—अत्रेत्यादि । अहेति यथोक्तसमुदायपुरुषे । कर्मोत्यदृष्टम् । फलमित्यदृष्टफलम् । स्वता ममताज्ञानम् । यद्यपि चतुर्व्विशतिकतत्त्वातिरिक्तस्योदासीनस्येव चेतना, तथाप्रि तस्चेतनया प्रकृतिरिप चेतनामापद्य चेतनेव भवतीति युक्तमत्र ज्ञानम् इति । वचनं हि—''तस्मात् तत्त्तंयोगाद्चेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ।'' प्रलयोद्याविति जीवितम्रणे । पारम्पर्यमिति शरीरपरम्पराम् । चिकित्सा चेति नैष्टिकी आत्यन्तिकदःखेषु चिकित्सा मोक्ष-साधना ज्ञातस्य । किञ्चनेत्यनेनानुक्तमिष कृत्सनं ज्ञेयमवरणिद्ध ।

भारतमः सत्यमनृतं वेदः कर्म्म शुभाशुभम्। न स्यात् कर्त्ता वेदिता च पुरुषो न अवेद यदि ॥ नाश्रयो न सुखं नार्त्तिर्न गतिर्नागतिर्न वाक् । 🗀 👉 न विज्ञानं न शास्त्राशि न जन्म मरशां न च ॥

जायमानेऽप्येप एवोद्तीति। तत्रापि-शरीरं सत्त्वसंबश्च व्याधीनामाश्रयो मतः। तथा सुखानामिति यत् मुखदुःखाश्रयो मनः श्रीरश्चोक्तं कथं तहि चात्र मोहः सुखं दुःखमिति संगच्छत इति चेत् तदोच्यते। सत्त्वमात्मा शरीरञ्चेत्यत्रात्मा चेतनाथातुः पुरुपोऽव्यक्तं नाम मनः स्थूलपुरुपे यत् तत् सत्त्वं महदादिकं शेपं सर्व्यं शरीरं, तदुक्तं पश्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकं चेतनाधिष्टानभूतं शरीरिमति । तद्व्यक्ताख्यस्यात्मनो भोगायतनिमदं सर्व्यं यच्छरीरं तदेव चतु व्विंशतिकः पुरुपस्तस्माद्त्र सर्व्वं सुखदुःखादिकं मतिष्ठितम् इति नासङ्गतमुक्तम्। तत्रापि पृच्छति-यग्रव्यक्ताख्य एवात्मा सर्व्यकारणम्, तर्हि सत्त्वात्मशरीरसमुदाय एप पुरुपः कस्मात् कारणं भवतीति ; तत्रोत्तर-माह-पारम्पर्यमित्यादि । पारम्पर्यं परम्पराभावो भावानां लोकेऽतिष्टहति यच किश्वन ज्ञातव्यं भाः प्रकाशो दिनादिरूपस्तमो रात्रप्रादिरूपं सत्या-मृतादिकञ्चेत्येतानि न स्युर्यदि स आत्मा चेतनाधातुरेवं भूतचतुर्विज्ञतिकः पुरुषो न भनेत्। सन्वै हास्सिन् पुरुषे प्रतिष्ठितं यच किञ्च लोकेऽस्ति। तसादेतत् पुरुपतत्त्वविद्यानेन लौकिकं सन्वं जातं भवति। वृहदारण्यकोप-निषदि चैत्रमुक्तं याज्ञतत्त्रयेन मैत्रेयी भाट्यां प्रति। आत्मा वा अरे द्रष्ट्रव्यः श्रोतन्यो मन्तन्यो निदिध्यासितन्यो मैत्रेयि। आत्मनो हि दर्शनेन श्रवणेन मत्या विद्यानेन सर्वे विदितं भवतीति। न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवतीति। आत्मा वा अरे द्रष्टुच्य इत्याद्वरक्तेस्तत्रायमात्म्याव्देनोक्तो न लव्यक्तमात्मा नापि परमात्मा । प्रलादिभि-स्तत्वियवाभावात्। यस्मादत्रैव मोहसुखदुःखजीवितमरणस्वतादिकं प्रतिष्ठितं न लव्यक्ते तस्माद्यं चतुव्विंशतिकः पुरुषो यदि न भवेत्, तदा नाश्रयो न शरीरं स्यात् न सुखं स्यान्नात्तिदुःखं स्यात् नास्मात् परलोके गतिः स्यान्न

"पुरुषः कारणं कस्माद्" इति प्रश्नस्योत्तरं- भास्तम इंग्यादि । भाः प्रतिभा । तमी मोहः। पुरुप इह प्रकरणे आत्माभिप्रेतः। आश्रयः शरीरम्। गतिश्च प्रयोजनानु-सम्धानाद् भवति । एवमागतेरपि । कारणं पुरुषम्तस्मादिति भास्तमञादौ कारणं पुरुष इत्यर्थः ।

न वन्धो न च मोचः स्यात् पुरुषो न भवेद यदि । कारणं पुरुषस्तस्मात् कारणज्ञ स्दाहृतः ॥ ११ ॥ न च कारणमात्मा स्यात् खादयः ७ स्युरहेतुकाः । न चेषु सम्भवेज्ज्ञानं न च तैः स्यात् प्रयोजनम् ॥

तत आगितः स्यात्। न च वाग् यदिदं वक्ति विवापनार्थमुच्यते यया। वागभावे विवानं न स्यादुपदेशासामध्यात्। न च शास्त्राणि वेदादीनि स्युः। न जन्म स्यात् कः पुनर्जायेत, न च ततो मरणश्च स्यादजातस्य मरणाभावात्। न च संसारे प्रधानादिभिः पाजैर्वन्धो वा भवेत् तत्त्ववानान्मोक्षो वा स्याद् यत्र मोक्षे स्वता परमात्मरूपता स्यात्। तस्मादेप चतुर्विशतिकः पुरुपः कारणं, कारणकै भेहिपिंभिरुदाहृतः ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः—अधेदं तर्हि भवतु तदाह—न चेत्यादि। यः खल्वव्यक्ताख्यः इचेतनाधातुरात्मा स त तर्हि कारणं न स्याद् यदेत्रप चतुर्विशतिकः पुरुषः कारणं स्यात्। कैर्भावेस्तदायं स्यात् पश्चिमभू तैरेवायं राशिः पुरुषः स्यात्। खादयः पश्च मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः पश्च बुद्धारहङ्काराविति त्रयोविशतिक एव पुरुषोभवति। नास्त्यात्मेति चेत् तर्हि चाकाशादयः कस्माज्ञायन्ते इति चेदुच्यते, तत्राह—खादयः स्युरहेतुका इति। ते खादयस्त्रयोविशतिर्भावा अहेनुका नित्याः एव सन्ति इति, तत्रोत्तरम्—न चेषु सम्भवेदित्यादि। एषु त्रयोविशतौभावेष्वचेत-

प्तदेव भा-आदिकारणत्वमात्मन इत्याह—न चेदित्यादि । एवं मन्यते—भास्तमसी धर्माधर्माः जन्ये, धर्माधर्माः चासत्यात्मनि निराश्रयो न भवितुमहृतः । तथा सत्यं धर्माजनकतयां उपादेयम्, अनृतज्ञाधर्माजनकतयानुपादेयम् । एतचात्मनि स्थिरेऽसिति धर्माधर्माजनकत्वं नास्ति । तत्रश्च सत्यासत्यभेदोऽप्यिकिञ्चित्करत्वाज्ञास्ति । एवं शुभाशुभकर्मण्यपि वाच्यम्, सथा कर्त्तो च कारणप्रतिसन्धाता न भवित, प्रतिसन्धातुरात्मनोऽभावादित्यर्थः, तथा योद्धा च प्रवीपराचस्थाप्रतिसन्धातेव भवित । शरीरज्ञात्मनो भोगायतनं नात्मानं विना भवित । एवं शुखादाचप्यात्मनः कारणत्वसुन्नेयम् । विज्ञानं शास्त्रार्थज्ञानम्, शास्त्राणि प्रतिसन्धाता आत्मनेव स्वाति । न चेषु सम्भवेज्ञ्ञानमिति—आत्मानं ज्ञातारं विना न भा-आदिष्वज्ञानेषु ज्ञानं भवेत्, ज्ञानुरात्मनोऽभावादित्यर्थः । न च तैः स्यात् प्रयोजनिमिति, भा-आदिगमात्मार्थस्वेनासत्यात्मिन् भा-आदुरत्यत्तेः प्रयोजनं न स्यात्, प्रयोजनाभावाचोत्पादो न स्यात्, सर्वेपामेव हि भावानामात्मस्थी

म चेत् कारणमात्मा स्यात् भादयः इति चकः ।

मृहगडचक्रेश कृतं कुम्भकाराहते घटम् । कृतं मृत्ग्यकाष्ठेश्च ग्रहकाराद्घ विना ग्रहम् ॥ यो वदेत् स वदेद्घ देहं सम्भूयकरगोः कृतम् । विना कर्त्तारमज्ञानाद् युत्त्यागमवहिष्कृतः ॥ कारगां पुरुषः सन्वैः प्रमागौरुपलभ्यते । येभ्यः प्रमेयं सन्वेभ्य आगमेभ्यः प्रतीयते ॥ १२ ॥

नेप मध्ये कस्पादिष भावादस्य देवनरादिषुरुषस्य चैतन्यादिज्ञानं न सम्भवेत्। सत्त्वभूतगुणेन्द्रियेषु क्तस्तात्मा खल्वव्यक्ताख्यश्चेतन्ये कारणं चेतनलात्, तत् सर्व्व विस्तरेण पूर्वाध्याये—निर्विकारः परस्तात्मेति वचनव्याख्याने दिनितम्। ज्ञानाभावे सति न च पुरुपस्य धम्मार्थकाममोक्षात्मकं प्रयोजनं स्यात्। त्रयोविंशतिसंघाते चैतन्यादिज्ञानं भवेदित्यादिवादवचनश्च पूर्वाध्याये विस्तरेण दिन्नतम्। तत्रापि युक्तिवाधादाह—मृहप्डेत्यादि। यरतु कर्त्युः ज्ञम्भकाराहते मृहण्डचक्रैः सम्भूय कृतं घटं वदेत्. एवं गृहकत्युं गृहकाराष्ट्र विना मृत्रणकाष्टिः सम्भूय कृतं गृहं यो वा वदेत्, स खळ युक्त्यागम्वहिष्कृत एवाज्ञानादममाणात् देवनरादिसगस्य कर्त्तारमात्मानं विना करणे-स्त्रयोविंशत्या भावैः सम्भूय कृतं देहं पुरुषं वदेत्र तु चतुर्विंशतिकं पड्धातुकश्च पुरुषं वदेत् । पुरुषस्तु खल्वव्यक्ताख्य आत्मा चेतनाधातुः कारणं पड्-धातुचतुर्विंशतिकयोः कर्त्तारं सर्वीः ममाणेस्तैरुपलस्यते। येभ्य आग्मादिभ्य आप्तोपदेशादिभ्यः प्रमाणेभ्यः प्रमेयं द्रव्यगुणकम्मीसमवायाः सामान्यविजेपभूता इति सर्वी प्रतीयते नस्त्रमयमितोऽधिकम्। आगमेभ्य इत्यत्रादिश्वद्वलोपः। तिस्तीपणीये पूर्व्वाध्याये च विस्तरेण दिन्ततम् ॥ १२ ॥

धरमीधरमो पुरुषभोगोत्पादको, असित भोक्तिर भोज्येनापि न भवितन्यं कारणाभावात्। आत्मानं विना शरीरानुत्पादे दृष्टान्तद्वयं प्रमेयगोरवादाह—कृतं सृद्दण्डेत्यादि। सरमूय-करणेः कृतमित्यात्मिनरपेक्षेम् तैः कृतमित्यर्थः। युक्त्या अनुमानरूपया आगमेन च रहितो त्युक्त्यागमधिहिष्कृतः। प्रत्यक्षज्ञात्र नोक्तम्, तस्यात्मानं प्रति प्रायोऽयोग्यत्वात्। सन्देः प्रमाणिरिति प्रत्यक्षादिभिः। येभ्य इति करण प्रवापादानविवक्षया पञ्चमी । आगमयन्ति वोधयन्तीति आगमाः प्रमाणान्येव। अन्ये त्वागमप्रमाणाभ्यां शास्त्राप्येव वृत्वते ॥ १९।५२॥

^{*} कचित् प्रमीयते इति पाटः।

न ते तत्सदृशास्त्वन्ये पारम्पर्ध्यसमुत्थिताः। सारूप्याद् ये त एवेति निर्दिश्यन्ते नरान्नराः॥ भावास्तेषां समुद्यो निरीशः सत्त्वसंज्ञकः। कर्त्ता भोक्ता न स पुमानिति केचिद्ध व्यवस्थिताः॥ तेषामन्यैः कृतस्यान्ये भावभावा नराः फलम्। मुझते सङ्शाः प्राप्तं येरात्मा नोपदिश्यते॥

गङ्गाधरः—तत्राह पुनः—न ते तिवृत्यादि । आदिपुरुपः सिद्ध एव चेतनस्तस्मात् तु ये सारूप्यात् समानरूपलेन चेतनाचेतना इत्येवं समधम्माणो जायन्ते ते तस्माद्न्ये तत्सद्शाः पारम्पर्य्यसमुत्थिता न ते त एवेति निर्दिश्यन्ते । निद्दिश्यन्ते यथा नरात्ररा जायन्ते गोगौ रश्वादश्य इत्येवमादयो भावाः सारूप्यात् पारम्पर्यंसमुत्थितास्तत्सद्शा अन्ये । न तु त एवेति । तेपां निरीशो-ऽन्यक्ताख्यात्महीनसमुद्यायस्त्रयोविंशतिकः सत्त्वसंत्रकः पुरुप उच्यते । सो-ऽन्यक्ताख्यः पुमान् न कर्त्ता न च भोक्ता भवतीति केचिद्दपयो व्यवस्थिता इति । तेन चैतन्यादिश्वानाद्विसम्व्यक्तस्येव तत्पारम्पर्यसमुत्थितानाश्च सिद्ध-मिति । तत्रोत्तरमाह—तेपामित्यादि । यैरेवं सद्शरूपेण पारम्पर्यन्समुत्थानाद्वानां चेतनजातलाचेतनत्वं सिद्धं नित्यथात्मा चेतनो नास्ति समुदायस्तु पुरुपः कर्त्तां भोक्ता भवति, तेषां मते अन्यैभावैः कृतस्य

चक्रपाणिः—निरात्मवादिमतमुत्थापयति—न ते इत्यादि । अस्मिन् शरीरे ते क एव पृथिवीजलादयो भावाः, ये त एवेति व्यपदिश्यन्ते । ते न भवन्ति पृर्वानुमृता नानु भवन्तीत्यर्थः ।
यदि ते न भवन्ति, कथं तिर्हे 'ते' इत्यभिधानमित्याह—तत्सदशास्त्वन्ये पृर्वसदशा इत्यर्थः ।
पारम्पर्यंतमुत्थिता इति सदशसन्तानव्यवस्थिताः । सारूप्यादिति सदशरूपत्वात् । तेषां
समुद्य इति क्षणभिक्तनां मेलक इत्यर्थः । निरीश इति स्थायशत्मरिहतः । सत्त्वसंक्षक इति
प्राणिसंक्षकः । केचिदिति वौद्धाः । यौद्धा हि निरात्मकं क्षणिकज्ञानादिसमुदायमात्रं शरीरमिन्छन्ति । अभिसन्यानञ्च क्षणिकानामिष ज्ञानानां कार्य्यकारणाभावाच्येव सन्तताविच्छन्ति । एतद् दूपयति—तेषामित्यादि । तेषां ज्ञानसन्तानवादिनाम्, अन्येन कृतस्यीदृनपाकादेः फलमजादि अन्ये भुक्षत इति प्राप्नोति । एतज्ञासङ्गतम् । यतः फलं भोक्ष्यामीति
कृत्वा—भाविफलप्रत्याशया प्रवृत्तिर्युक्ता, न त्वन्यस्य भोग्यतां फलस्य पश्यन् कश्चित् प्रवर्ज्ञते,—
योऽपि सूपकारादिः परार्थं प्रवर्त्तते, सोऽपि परार्थेन स्वार्थं साधियतुकाम एवेति भावः ।

कारणान्यान्यता ६ दृष्टा कर्त्ता भोक्ता स एव तु । कर्त्ता हि करणैर्युक्तः कारणं सर्व्यकम्मर्गाम् ॥ निमेषकालाद्द भावानां कालः शीव्रतरोऽत्यये । भग्नानाञ्च पुर्नभावे † कृतं नान्यमुपैति च ॥

कर्मणः फर्छ प्राप्तगन्ये सहशा भावा नरा भुञ्जते। यदि मनोबुद्धग्रहङ्कार-द्गेन्द्रियपञ्चभूतानां स्वस्वकृतस्य कम्भणः फलं प्राप्तं तत्समुदायः पुरुपो भुङ्क्ते न तु मनःप्रभृतिः स्वस्वकृतकम्मफलं भुङ्क्ते, तहिं द्वद्तादि-पुत्रपौत्राद्यः पारम्पर्यसमुत्था अनित्या यावज्जीवन्ति तावन्तं कालं प्राप्तं तत्तत्कालपरिणतस्यसकृतकम्मेफलं भुञ्जते स्वस्वायुपो-ं अधिककालपरिणम्यकम्पीफलन्तु न माप्तं न च तर् भुखते न च तत् समुद्रायोऽस्ति कोऽप्येको नित्यो भावो यो ह्यपाप्य फलं भुङ्ध्यते। तर्हि तत्कृतकम्मणः परिणम्यमानस्य फलमन्ये नरा भुझते इति। अस्तु चैव-मिति चत् तदाह-कारणेत्यादि । कत्तः क्रियानिष्पत्तौ कारणानायन्यान्यता भिन्नभिन्नता दृष्टा यथा कर्त्ता मनसा मनुते बुद्ध्या बुध्यते चक्षुपा पश्यति श्रोत्रेण शृणोतीत्येवं कारणानां भिन्नभिन्नता दृष्टा, भोक्ता तु स एव कर्ता। कस्मात् १ कत्ती हीत्यादि। हि यस्मात् कत्ती करणैयुक्तः सन् सन्वैकम्मेणां कारणं नित्यतात्। ननु तर्हि यत् करणेन यत् करोति तत् फलमन्येन किंन प्रामोतीत्यत आह—निमिपत्यादि। भावानाम् अत्यये कालस्तु निमेपकाला-दपि शीघ्रतरः। निमेपकालो यथा शीघं गच्छति ततोऽपि शीघं भावानामत्ययं कालः करोति तथातिशीघं भन्नानां तेपां पुनर्भावे कालो

परमतं दूपयित्वा स्वमतमाह— करणेत्यादि । करणस्य शरीरस्य परिणामिनोऽन्यान्यता हृष्टा । कर्त्ता चात्मा, स एव न विनाशीत्यर्थः । अत्रैंव हृष्टान्तमाह—कर्त्ता हीत्यादि । यथानेकिशित्पवित् कर्त्ता करणेवीसी-आयसीसंज्ञकयन्त्रादिभिः काष्ट्रपाटन-छोह्घटनादि करोति, तथात्मापि हृह हृत्यर्थः । अथायमात्मसद्भावः स्थिरोऽस्तु, शरीरारम्भकाणां का गतिरित्याह—निमेपेत्यादि । भावानामिति शरीरादिभावानाम् । अत्यय इति विनाशे, शरीरस्य स्वाग्निपच्यमानस्य निमेपकाछादपि शीघं विनाशो भवतीत्यर्थः । अभीपाञ्च भावानां भग्नानां न पुनभीवः पुनरागमनं नास्तीति । तेन, येन शरीरेण यत् कृतम्, तच्छरीरं तत्पर्छं न प्राप्नोतीत्युक्तं भवति । भथ

^{*} करणान्यान्यता इति चकः।

[†] भग्नानां न पुनर्भावः इति पाठान्तरम् ।

मतं तत्त्वविदामेतद् यस्मात् तस्मात् स कारणम् । क्रियोपभोगे भृतानां नित्यः पुरुषसंज्ञकः ॥ अहङ्कारः फलं कम्मी देहान्तरगतिः रष्ट्रतिः । विद्यते सति भृतानां कारणे देहमन्तरा ॥ १३ ॥ प्रभवो न ह्यनादित्वाद् विद्यते परमात्मनः । पुरुषो राशिसंज्ञस्तु मोहेच्छाद्वेषकम्मीजः ॥ १४ ॥

निमेपकालाच्छीघ्रतरः सन् कृतमेव भग्नं तमेवोपैति न लन्यम्, तथा पुरुपो येन करणेन यत् कर्म्म कुरुते तत्फलं तेनैव कर्त्ता प्रामोति न लन्यमुपैति। इति तत्त्व-विदां मतं, यस्मान् स कर्त्ता तस्मात् भूतानां क्रियोपभोगे नित्यः पुरुपसंक्षकः कारणम्। भूतानां प्राणिनां देहमन्तरा देहमध्ये तस्मिन् पुरुपसंक्षके कारणे सित वर्त्तमानेऽहद्धारः कर्म्मणः फलं धर्माधरमं रूपं तज्जनकं कर्म च देहान्तर-गितिमरणं समृतिश्च जातिस्मरणं विद्यते न लसति पुरुपे सर्व्वमेतद् वर्त्तते। इति द्वितीयप्रश्चस्योत्तरमिति ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—अत्राप्तिवेशः पप्रच्छ, प्रभवः पुरुपस्य क इति। एप त्रिविधः पुरुपः कस्मात् प्रभवति उत्पद्यते उत्पत्तिकारणं क इत्यस्य प्रश्नस्योत्तरमाह—प्रभवो नेत्यादि। परमात्मन इति महतः पर्यव्यक्तमिति कठोपनिपदि श्रवणादिह जागरितस्थानात् स्वमस्थानाचात्मनः परमः श्रेष्ठ आत्मा परमात्मा नेह तुरीय आत्मा परमात्मा। त्रिविधपुरुपप्रभवप्रश्नस्योत्तर्पस्तावादिति चेन्ना-नादिलादिति हेतोरसम्भवात्। इवेताश्वतरोपनिपदि चान्यक्तस्य त्रिगुणलक्षणस्य प्रभवश्रवणाच। तद् यथा। स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनिकः कालकारो गुणी

मा भवत्वेवम् । ततः किमित्याह—कृतं कर्म्म यागादि न फल्ल्पतयाऽन्यसुपैति । एवं सित देवद्त्तेन कृतेन शुभकर्मणा न यज्ञदत्तादयोऽपि सुखभाजः स्युः, तस्मात् क्षणभिद्व शरीरादितिरिकः कर्मकर्ता तत्फलभोक्ता चाम्तीति भावः । कियोपभोग इति क्रियायां तत्फलभोगेऽपि । मूतानामिति प्राणिनाम् । आत्मसद्भावे हेत्वन्तरमाह—अहङ्कार इत्यादि । एतेऽहङ्कारादयः स्थिर एव परमात्मिन सन्ति पृंद्वीपरकालावस्थायिवस्तुधर्मात्वादिति भावः । देहमन्तरिति देहं विना देहातिरिक्तकालेऽप्यहङ्कारो भवतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

चक्रपाणिः—"प्रभवः पुरुपस्य कः" इत्यस्योत्तरम् । अनादीत्यादि । प्रभवः कारणम् । राज्ञि-संज्ञक इति पड्षातुरूपसमुदायश्चतुर्विशितराशिरूपः । मोहेच्छाह्रे पजनितकम्मेजः मोहेच्छाह्रे प-

श्रात्मा ज्ञः करणैयींगाज् ज्ञानं तरय प्रवर्त्तते । करणानामवैमल्यादयोगादु वा न वर्त्तते ॥

सर्व्वविद् यः। प्रधानक्षेत्रवपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितियन्धहेनुरिति। न च पुरुपप्रभवप्रक्तेऽप्यप्रस्तुतः परमात्मप्रभवप्रशः। चेतनाधात्रप्येकः पुरुपसंबक इत्यत्र चेतनाधातुलेन परमात्मनोऽत्ररोधात्। तस्मात् परमात्मन अात्मयोनेः स्वयम्भुवः प्रभव उत्पत्तिकारणं न विचते। कस्मात् ? अनादि-लादकारणलात्। न हि परमात्मनः परमन्योम्नः प्रभवकारणम् अस्ति। शक्तिहिं मूलं ब्रह्म सर्गकाले तेजोऽवन्नानि सृष्ट्वा तदुपाहिता सती गायत्री भूलो स्वयमेव शान्तिर्विद्या प्रतिष्ठा निष्टत्तिक्चेति चतस्रः शक्तयो भूवा चतुर्द्यूहः परमन्यामरूपः परमात्मा शिवो वभूवेति तस्यानादिः तात् प्रभवकारणं किमपि नास्तीति। स एव परमात्मा पुनरेवं क्षेत्रविपावतैजस-वैश्वानररूपश्च स्वयं वभूवेति संहतरूपचेतनाधातुपुरुपस्य पङ्धातुपुरुपस्य प्रभवं केचित् परमात्मानमाहुरपरे प्रभवं नाहुः। राज्ञिसंबस्तु पुरुपो मृतस्य पड्धातुपुरुषे लीयते परलोकञ्च याति ततः पुनमहिंच्छाद्वेपकृतकम्भीफल-धर्म्याधर्माज्जायते तासु तासु योनिषु तैस्तिवींजैरिति मोहेच्छाद्दे पकर्मज उच्यते। इति तृतीयपश्चोत्तरम् ॥ १४ ॥

गृङ्गाधरः—तत्राग्निवेशः पप्रच्छ, किमको जः स इति। स पुरुपः किमकोऽथ ज इति। तत्रोत्तरमाह—आत्मा ज इत्यादि। इहात्मा जागरितस्थानः
चतृव्विशितिकः पुरुपः। स तु जः। न परमात्मा। कस्मात् १ मृलभूतको हि परमात्मा
ज्ञानशक्तिमत्त्वाज्ञानाच्यगुणवत्त्वात्। तस्य त्रिगुणजातगुणाभावेन निगु णत्ववचनात्। ज्ञः कालकारो गुणीति हुप्रक्तम्। क्रमेण तद्भुभवेशात् पश्चन्नह्मपुरुपकालक्षेत्रज्ञप्रधानाच्याः तत्सग्रदायरूपमन्यक्तश्च चेतनाधातुः पुरुपो ज्ञः।
तद्व्यक्तानुभवेशाच प्रज्ञ्या विशिष्टलात् प्राज्ञः सुपुप्तिस्थानोऽपि ज्ञस्तिगुणजातज्ञानरूपमहत्तत्त्वविशिष्टलात्। तत्प्रज्ञारव्धश्च पड्धातुः पुरुपः स्वमस्थानो
महदहङ्कारज्ञानवत्त्वनान्तःप्रज्ञलाज् ज्ञः। तत्पङ्धातुपुरुपारव्धस्तु चतुविवशतिकः पुरुप आत्मा जागरितस्थानोऽपि ज्ञः। महदहङ्कारसम्भवकम्मेजः। मोहाद्धि भावेषु इच्छा द्वेषश्च भवित, ततः प्रवृक्तिः, प्रवृक्तेर्धम्मीधर्माः, तो च शरीरं
जनवतो मोगार्थम्॥ १४॥

र्काः कर्षाणिः—"किमज्ञो ज्ञः" इत्यस्योत्तरम्—आत्मेत्यादि । करणानीह मनोबुद्धीन्द्रियाणि।

पश्यतोऽपि यथादशें संक्लिन्टे नास्ति दर्शनम् । तद्रज्जले ७ वा कलुपे चेतस्युपहते तथा ॥ करणानि मनो युद्धिर्वुद्धिकम्में न्द्रियाणि च । कर्त्तुः संयोगजं कम्मे वेदना युद्धिरेव च ॥

थीधितिस्मृतिरूपशानवत्वेन वहिःमधलाज् छः। तस्य धानं चेतनाधीधिति-स्मृत्यहङ्काररूपं करणैयोगात् पवर्त्तते वहिनीनारूपेणाभिन्यज्यते धत्वेऽपि करणानामवैगल्यादनैम्पेल्यादयोगाद् वा न तज् धानं वहिः पवर्त्तते।

. कस्मात् ? तत्राह—पश्यतोऽपीत्यादि । हि यसादादर्शे संक्रिप्टे मिलने स्वं प्रयतो जनस्य दर्शनं प्रतिमूर्त्तेने भवति, यथा यद्दत् कछपे चाविले जले स्वं पश्यतो जनस्य प्रतिमूर्चेद्शनं नास्ति, तथा चेतसि मनस्युपहते बस्य बानस्य पर्वत्तर्नास्ति। मनो हि सर्व्यकरणानां प्रयोजकलात प्रधानं तस्मिन्तपहते हि शेपाणि करणानि न स्वातन्त्रेग्रणार्थेषु प्रवित्तंतुं प्रभवन्ति । इन्द्रियार्थे-भूतमनसां न ज्ञानं तत् पूर्व्याध्याये निर्विकारः परस्तात्मेति श्लोकन्याख्याने दर्शितम्। कानि पुनः करणानि शानसाधने भवन्तीत्यत आह-करणानी-त्यादि । इह चतुर्व्विशतिकादित्रिविधपुरुपस्य जागरितस्थानादेः प्रत्यगात्मनः मुकरणात् तचतुर्विश्वतिभावान्तर्गतमनोबुद्धिभौतिकदशेन्द्रियाणि करणानि, तत्र बुद्धिपदेन सुपुप्तिस्थानस्य पानस्य पना तज्जाताहङ्काराख्या बुद्धिः स्वम-स्थानस्य तैजसस्यात्मनः इति द्विधा बुद्धिरवरुद्धा। तत्र जागरितस्थानस्य वैश्वानरस्यात्मनो विद्यायुद्धिमहत्तत्त्वजातयुद्धिस्त्रिधा धीः धृतिः समृतिश्वाहङ्कार-जाता वुद्धिरभिमानलक्षणा। गर्ब्बवुद्धिर्योहङ्कारवुद्धिः अयोगादिजातवुद्धिः। महतो जातो योऽहङ्कारस्तस्य पर्यायः - अज्ञानमविद्याहम्प्रतिर्भिमन्ता च। तज्जातो योऽहङ्कारस्तस्य पर्यायः - गन्वीऽभिमानोऽहङ्कार इति । एतचतुर्न्विध-चुद्धिरात्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्पाद् बहुविधा प्रवर्तते। तदुंक्तं प्राक्त। भेदात न वर्त्तते ज्ञानमिति योजना । ननु यद्ययमात्मा ज्ञः, तत् किमित्यस्य सर्व्वज्ञानं न भवतीत्याह— पश्यतोऽपीति चक्षुष्मतोऽपीत्यर्थः। तत्त्वमिति दर्शनिवशेषणम्। तेन, म्लाने द्वंणे जले वा दर्शनं भवद्रप्ययथार्थं श्राहितया न तत्त्वरूपं भवतीत्यर्थः । चेतसीत्यपळक्षणम् । तेन चक्ष-शदावप्युपहत इति ज्ञेयम् ।

प्रकरणप्रस्तावात् हाने कर्माण वेदनायाञ्च यावत्करणमात्मनस्तदाह-करणानीत्यादि ।

^{*} तस्वं जले इति चकः।

नेकः प्रवर्त्तते कर्तुं सृतात्मा नाश्नुते फलम् । संयोगाद्द वर्त्तते सर्व्यं तस्तृते नास्ति किञ्चन ॥ न हेम्को वर्त्तते भावो वर्त्तते नाप्यहेतुकः । शीवगत्वात् खभावात् तु भावो छ न व्यतिवर्त्तते ॥ १५ ॥

कार्यिन्द्रियार्थानां वह्नां वे बुद्धयः स्मृताः। आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानामेकैक-सिन्नकर्पनाः इति। कृत एपां करणसंगेत्यत आह—कत्तु रित्यादि। कत्तुः करणैरेभिः सह संयोगनं कम्मी भवति हस्तपादादीनां पञ्चानां कम्मी प्युक्तानि ग्रहणादीनि, श्रोत्रादीनां कम्मीणि शब्दादिग्रहणानि। मनसः कम्म दशेन्द्रियाभिगमनिचन्तातर्कविचारादीनि। बुद्धिकम्मी तु हानोपादानो-पेक्षान्यतमावधारणादिकं समयोगादितः। वेदना सुखदुःखसंवेदनम्। बुद्धिः वहुविशा—श्रावणी लाची चाक्षुपी चेत्येवमादिः। कत्तुं श्रतु व्विशतिकपुरुपस्य करणैमनोबुद्ध्यादिभिः सह संयोगजेति लिङ्गविपरिणामाद् योजना।

ननु कत्तु रेव कर्मा किं न स्यादित्यत आह—नैक इत्यादि। एको भूतात्मा खल्वात्मकृतपञ्चभूतोपाधिरन्यक्ताख्यात्मारन्ध्मत्यगात्मपुरुपो न कर्त्तु क्रियां न निष्याद्यतुं प्रवर्त्तते फलश्च नाइनुते नामोति विना करणैः स्वभावात्। करणैः सह संयोगात् तु भतात्मनः सर्वं कम्मवेदनावुद्धिश्वेत्येतत् सर्व्य वर्तते। कस्मान्नैकः पवर्त्तत इत्यत आह—न हेनक इत्यादि। हि यस्मादिह सर्गावस्थायामेकः केवल एको भावो न वर्त्तते विनान्यसंयोगं, नाप्यहेतुकोऽपि भावो वर्त्तते। सन्वा हि भावो हानेकभावमेलनेनैकरूपो हेतुजश्च वर्तते। न च शीघ्रगलात् स्वभावाद् व्यतिवर्तते। शीघ्रगलस्वभावं संयोगजिमिति कर्माणा वेदनया बुद्ध्या च योज्यम् । नाइनुते फलमेक इति योज्यम् । एक इति निष्करणः। संयोगाद् वर्त्तत इति करणसमुदायादृःपद्यते। तसृत इति संयोगं विना। अंत्रेव 'सामग्रीजन्यत्वे सःवंकारयोणामुपपत्तिमाह-न ह्योक इत्यादि। एको भावः कारणरूपः सहकारिकारणान्तररहितो न कार्य्यकरणे वर्त्तत इत्यर्थः। एवं तावदेककारणं कार्यं न वर्तते । कार्यञ्च हेतुं विना न भवतीत्याह—वर्त्तते नाप्यहेतुकं इति । हेतुं विना उत्पत्तिधमों न वर्त्तते न भवतीत्यर्थः। तेन, करणयुक्तात्मजन्यं कार्य्यं न केवलादात्मनो हेतु-रूपाद् भवतीत्युक्तं भवति । अथ हेतुं विना चेदावो न भवतीति, तत् किमभावेऽपि शारीराणां भावानां हेत्वपेक्षा, न वेत्याह— शीव्रगेत्यादि । शीव्रगत्वात् स्वभावात् लक्षितोऽभावो नं स्वभाव

^{*} त्वभाव इति वा पाठः।

श्रनादिः पुरुषो नित्यो विपरीतस्तु हेतुजः। सद्कारणवित्रत्यं दृष्टं हेतुमदन्यथा॥

व्यतिक्रम्य न वर्तते। शीघ्रगत्नस्वभावो हि नैकस्य भवति विनान्यसंयोगम्। तस्मात् कर्त्तुः करणसंयोगात् सर्व्वे कम्मीदिकं वर्त्तते तत् तु संयोगमृते किमपि अकम्मीदिकं नास्तीति। इति चतुर्थपश्चोत्तरम्।। १५॥

गङ्गाधरः-अथ तत्रामिवेशः पप्रच्छ।स नित्यः किं किमनित्यो निद्शित इति। यदिदानीं सर्गावस्थायां न हेरको वत्तंते भावो वर्त्तते नाष्यहेतुकः। शीघ्रगलात् स्वभावात तु भावो न व्यतिवर्त्तते, तर्हि स पुरुगः किं नित्योऽथ किमनित्यो निद्जित इति । एवं पृष्टो गुरुराह—अनादि रित्यादि । यः पुरुपोऽनादि रहेतुक आदिर्हेतुभूत आदिः पुरुष एव नास्ति यस्य सोऽनादिः पुरुषो नित्यः। विपरीतस्तु हेतुज इति हेतुईतुभूतपुरुपजः पुरुपो विपरीतोऽनित्य इति। तद यथा सद्कारणवन्नित्यिमिति—असद्दा इदमग्र आसीत् ततो वै सद्जायत। तदात्मानं स्वयमकुरुत तस्मात् तत् सुकृतमुच्यते, इति य आत्मपट्क आदिः परमः पुरुप उक्तस्तद्ब्रह्म तत् सदकारणवदनादिः पुरुपस्तत्सन्नित्यं दृष्टम्। विप-रीतस्तु हेतुजो यथा-हेतुमद्नयथा। तदादिपुरुपहेतुकं यद्यत्तदन्यथा न नित्यम् इति। अथवा अनादिरादिहेतुः पुरुषो यस्य नास्ति स आत्मपट्कः परम-पुरुषः परमात्मा नित्यः। यतः सदकारणवन्नित्यं यद् यत् सद्वस्तु अकारण तत् सर्वं नित्यम् । असदेवासत् पाक् सर्गाद् यदासीत् तन्नित्यम् । सर्गे सैव शक्तिनीम सत् तेजोऽभवदापोऽभवदन्नश्चाभवत् तत् सदपि चाकारणं, तत्-त्रयोपाधिगीयत्री च सदकारणं, तस्मान्नित्यं सैव स्वयं परमात्मात्मपट्कः पुरुषो-ऽभवत् अनादिरेव तस्मान्नित्यः। विपरीतस्तु हेतुजः। यो यो हेतुजः पञ्चब्रह्म-प्रस्पादिः स स विपरीतोऽनित्यः। यतो दृष्टं हेतुनद्नयथा। यत् सत् हेतुमत् तत् च्यतिवृत्तीते 'शीव्रगत्व'स्वभावं न त्यजतीत्यर्थः। तेन, अहेतुक एवाभावो भवति, भावस्तु सहेतुकः । उक्तं हि—"उत्पत्तिहेतुर्भावानां न निरोधेऽस्ति कारणम्" इति । किंवा, शोधग-रवादस्थिरत्वादभावो नावस्थान्तरमात्मनाशं प्रति गच्छतीति प्रन्थार्थः॥ १५॥

चक्रपाणिः—"स नित्यः किमनित्यः" इत्यस्योत्तरम्—अनादिरित्यादि । अनादिः पुरुपोऽन्यक्तः रूपत्वादात्मशब्दाभिधेयः । विपरीत इत्यादिमान् राशिरूपः पुरुप इत्यर्थः । अत्रैवानादेनित्यत्वे शास्त्रान्तरसम्मितमप्पाह— सिद्त्यादि । सिद्ति त्रिविधसमये प्रमाणगम्यभावरूपम् । पृतेन, प्रागभावस्याकारणवतोऽप्यभावरूपतयाऽनित्यत्वं न व्यभिचारकम् । हेतुजमन्यदृपि भावरूप मिति योजनीयम् । तेन, हेतुजस्यापि प्रध्वंसस्य विनाशित्वं परिहृतं भवति ।

तदेव भावादग्राहंग्र नित्यत्वाङ्ग क कुतश्चन । भावाज् ज्ञे य तद्व्यक्तमचिन्त्यं व्यक्तमन्यथा ॥ श्रव्यक्तमात्मा च्हेन्ज्ञः शाश्वतो विभुः व्ययः । तस्माद् यदन्यत् तद्वग्रक्तं वच्यो चागरं द्वयम् ॥ व्यक्तमैन्द्रियकञ्चव गृह्यते तद् यदि न्द्रयेः । श्रतोऽ यत् पुनरव्यक्त जिङ्गं याह्यमर्तान्द्रयम् ॥ १६ ॥

अन्यथा नित्यतोऽन्यथाऽनित्यं दृष्टम् । तत् सत् किमनुमानग्राह्यमित्यत आह्— तदेव भावादग्राह्यमिति । तत् सत् खलु भावादग्राह्यम् । किमिद्भग्राह्यमित्यत आह्—नित्यतादित्यादि । तत् सदकारणवन् कृतश्च भावान्न क्षेयं नित्यतात् इत्युच्यते भावादग्राह्यमिति । तद्व्यक्तमचिन्त्यं मनसा चिन्तितुमक्षक्यम् । अन्यथा व्यक्तं यद्भावाज् क्षेयं चिन्तितुं क्षक्यं तद् व्यक्तमिति । तथाचात्म-पट्कः परमात्मा सदाक्षिवर्ण्वेदाद्यः पश्च ब्रह्मपुरुपाः कालो नाम महाविष्णुः क्षत्रक्षो नाम विष्णुः प्रधानं नाम ब्रह्मा चेत्यते पुरुपाक्षचेतनाधातुकाः कृतश्चन भावान क्षेया अचिन्त्याश्च, तस्माद्व्यक्ताख्याः साह्यग्योगाधिगम्याः । ततो-ऽन्यथा त सव्व व्यक्तम् ।

तत् किं ताविद्त्यत आह—अन्यक्तमित्यादि । परमात्मादि-मधानान्त-समुदायोऽन्यक्तं नामात्मा च क्षेत्रकाधिष्टितत्नात् क्षेत्रक्षश्च शश्वद्वत्ते इति शाश्वतो विभवात् सन्वगतत्नात् विमुः अन्ययत्नादन्ययञ्चेत्येकोऽधेः । ननु कुतश्च भावाज् क्षेयं चिन्त्यं यत् तद्वप्रक्तं कथमन्यक्तं भवति ? अनुमान-गम्यतात् तु न्यक्तमेत्रेचत आह—तस्मादित्यादि । तस्मात् क्षेत्रकाधि-ष्टितात् क्षेत्रकादन्यद् यद्वप्रक्तमित्यस्मात् तद्भावाज् क्षेत्रत्वेन न्यक्तमप्यन्यक्तम् उच्यते । तदप्यन्यक्तं न्यक्तमपरं द्वयं वक्ष्यते—न्यक्तमित्यादि । ऐन्द्रियकञ्चैव न्यक्तं, किं नु खन्वैन्द्रियकम् ? गृह्यते तद् यदिन्द्रियैरिति । इन्द्रियैयेद् गृह्यते

अथ किं तिन्तरियाविमित्याह—तदेवेत्यादि । भावादुःपित्तधर्मकात् । तिन्नत्यत्वं न कुतोऽिप भावाद भवित । नित्यत्वं हि न कुतोऽिप भवात । तत्थात्मनो भावं प्रति निर्पेक्षत्वात् सर्व्वभ्यो भावेभ्योऽप्यय्ये नित्यत्वं सदेव । तदेवम्भूतं नित्यम्व्यक्तं न्यम् । अचित्त्यम् इःयत्यक्तविद्येपणम् । अव्यक्तव्य सूल्प्रकृतिः । व्यक्तमन्यथेति प्रकृतेरन्यतमकार्यं महदादिकम् अनित्यम् । आकाशमपि विकाररूपतयाऽनित्यमेव । उदासीनपुरुपस्तु नित्य प्रवाव्यक्तशब्देनेव छक्षितं इत्युक्तमेव । पुनः प्रकारान्तरेण व्यक्ताव्यक्तार्थमाह—वक्ष्यतं हत्यादि । अपरं द्वयमिति

^{*} नित्यत्वं न इति चकः।

तदैन्द्रियकगुच्यते, तद्वाक्तम् । अतोऽन्यत् पुनरनैन्द्रियकमव्यक्तम् । अनैन्द्रिय-कन्तु लिङ्गग्राह्ममतीन्द्रियं क्षेत्रज्ञो नामात्मा हि लिङ्गग्राह्मोऽतीन्द्रियश्च। पृथक् प्रधानादि-परमात्मान्तं सन्वेमतीन्द्रियं न लिङ्गग्राह्यमित्यत एवं विधम् अन्यक्तं न तत् सन्त्रं सुप्रप्तिस्थानश्चात्मा पाको ठिङ्गग्राह्योऽतीन्द्रियश्चान्यक्तम् उच्यते। उक्तन्तु प्रश्लोपनिपदि -यथा सौम्य सौर्य्यायण वयांसि वासो-दृक्षं संपतितिष्टनते। एवं ह वै सन्वे पर्गात्मनि सम्पतितिष्टते। पृथित्रीमात्रा चापश्चाम्मात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशथाकाशमात्रा च चक्षथ रएव्यञ्च श्रोत्रञ्च श्रोतव्यञ्च घाणञ्च घातव्यञ्च रसश्च रसियतन्यश्च तक् च स्पर्भियतन्यश्च हस्तौ चादातन्यश्चोपस्यश्चानन्दिय-तन्यश्च पायुश्च विसञ्जंयितन्यश्च पादौ च गन्तन्यश्च बृद्धिश्च बोद्धन्यश्चाहङ्कार-थाहङ्कार्यश्च चित्तश्च चेनियतन्यश्च तेजश्च विद्योतियतन्यश्च पाणश्च विधारिय-तव्यश्चे ति। एप हि द्रष्टा श्रोता घाना रमियता मन्ता वाढा कर्त्ता विकानात्मा पुरुपः। स परेऽक्षर आत्मिन सम्मतितिष्ठते परमेशाक्षरं मतिपद्यते। स यो ह वै तदशोत्रमशरीरमलोहितं शुभ्रा अरं वेदयते सौम्य स सर्व्वशः सन्वी भवति तरेष श्लोकः। विद्यानात्मा सह देवैश्व सर्व्वैः प्राणा भूतानि सम्प्रति-तिष्टन्ति यत्र। तद्वसरं वेद्यते यस्तु सौम्य स सन्वेधः सन्वेमेवाविवेश। इति। एव रच स्वमध्यानोऽप्यातमा पङ्धातुः पुरुषो भूतातमा खळ शब्दतन्मात्रादि-पश्चभूतोपाधिरव्यक्तात्मनारव्धस्तैजसो नामात्मा लिङ्गग्राह्योऽतीन्द्रियदचेति अन्यक्तात्मोच्यते। तदुक्तश्च प्रश्नोपनिपदि-अथ हैनं पिप्पलादं सौटर्या-यणो गार्ग्यः पत्रच्छ, भगवन्नेतस्मिन् पुरुषं कानि स्वपन्ति कान्यस्मिन् जाग्रति कतर एप देवः स्वमान् पश्यति कस्यैतत् सुखं भवति कस्मिन् न सन्वे सम्प्रति-ष्टिता भवन्तीति। तस्मै स होवाच। यथा गाग्यं मरीचयोऽकस्यास्तं गच्छतः सन्त्री एतस्मिंस्तेनोमण्डले एकीभवन्ति ताः पुनः पुनस्दयतः प्रच-रन्त्येवं ह वै तत सन्वं परे देवे मनस्येकीभवति । तेन तर्देत्रप पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिन्नति न रसयते न स्प्रशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विस्नते नेयते। स्वीपतीत्याचक्षते। प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति। ्गार्हेपत्यो ह वा एपोऽपानो व्यानोऽन्वाहाय्येपचनो यद् गार्हेपत्यात प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः। यदुच्छासनिश्वासावेतावाह्नती समं नयतीति प्रकारान्तरं व्यक्ताव्यक्तद्रयम् । लिङ्गप्राह्ममित्यनुमानप्राह्मम् । अतीन्द्रियमित्यनेन चेन्द्रियप्रहणायोग्यं यत् केनापि शब्दादिलिङ्गेन गृह्यते, तद्व्यक्तम् । किन्तु यन्नित्यानुमेयं मनोऽहङ्कारादि तदेवाव्यक्तम् ॥१६॥

खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहङ्कारस्तथाष्टमः। भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकारार्चैव षोड्श्॥

समानः। मनोऽहरवयजमान इष्टफलमेवोदानः स एनं यजमानमहरहर्त्रद्म गमयित। अत्रैप देवः स्वप्ने महिमानमनुभवित। यद्दृष्टं दृष्टमनुप्रयति। यत् श्रृतं श्रृतमेवाथमनुश्रृणोति। देशदिगन्तरेश्च प्रत्यनुभूतं पुनःपुनः प्रत्यनुभवित। दृष्ट्यादृष्ट्य श्रृतञ्चाश्रुतञ्चानुभूतञ्चाननुभूतञ्च सन्वं पश्यित सन्वं पश्यित। इति स्वमस्थानः। अत्र समानोच्छ्वासिनिश्वासाभ्यामनुमीयतेऽयं स्विपतीति। चतुन्विशिष्टः पङ्गातुः पुरुपो देवः स्वप्ने मनसा स्वमान् पश्यित। इति। ति ति ति ति ति ति ति ति ति विश्वाहः पङ्गातुः पुरुपो देवः स्वप्ने मनसा स्वमान् पश्यित। इति। ति जागरितस्थानस्त्वेप चतुर्विश्वातिको भूतात्मा किमैन्द्रियकलाद् न्यक्तो-ऽभिधीयते, न च न्यक्तः? यतो लिङ्गग्राह्यश्चातीन्द्रियश्च मनोद्शेन्द्रियोणि लिङ्गग्राह्याणि द्शितानि स्वस्वकर्माणि लिङ्गग्राह्याणि द्शितानि पञ्च भूतानि। तेषां गन्धाद्योऽर्थाः स्वकाय्यगन्धादि लिङ्गानि भूम्यादीनि पञ्च भूतानि। तेषां गन्धाद्योऽर्थाः स्वकाय्यगन्धादि लिङ्गानि। लि

गङ्गावरः—तजामवनः पपच्छ, प्रकृतिः का विकाराः के इति। यतः सम्भूत एप चतु विवेशतिकोऽती न्द्रियो लिङ्गग्राह्यश्च तेपां चतु विवेशतेः सम्भवहतुषु का प्रकृतिनीम धातु विकाराश्च के धातव इति। तत्रोत्तरमाह—खादी नि
इत्यादि। उद्दिष्टं पूर्वं प्रकृतिश्चाष्ट्रधातुकी ति लोके पुरुषे च भूतानाम्ष्टो प्रकृतयः खादी न्युक्ता नि पूर्व्यम्। महाभूता नि खं वायुरित्ररापः
क्षितिस्तथा। शब्दः स्पर्वश्च रूपत्रो गन्धश्च तद्गुणाः। इति। तानि
खादी नि शब्द मात्रगुण आकाशः स्पर्वमात्रगुणो वायू रूपमात्रगुणं तेजो रसमात्रगुणा आपो गन्धमात्रगुणा क्षिति रित्येता नि। युद्धिमहत्त्त्वं जीवात्मा
विद्यात्मकपश्च ब्रह्मपुरुषका लक्षेत्र अपधानानी त्येतत्समुद्दायात्मकं समित्रगुणलक्षणं
संहत रूपम्। अहङ्कारोऽह मित्यभिमान हेतु मेलिन विषम त्रिगुणलक्षणस्त्व विद्यान्
चुद्धिः। स चेह गणनायां लमपे क्ष्याष्टमो न सर्गे। सगे ह्य व्यक्त महदहङ्कारखवायुक्यो तिरव्भूमय इति। इत्यष्टधातुकी भूतप्रकृति हिष्टा पूर्वं प्रकृतिश्वाष्टधातुकी त्युक्तम्। विकाराश्चेव पोइशेति यदिहो हिष्टम्, तान् विकारानाह—
चक्रपाणिः— "प्रकृतिः का विकाराः के" ह्य स्थान्तरम्— खादी नित्यादि। खादी नि स्वस्म-

बुद्धीन्द्रयाणि पक्ष्वेत्र पश्च कम्सेन्द्रियाणि च। समनस्काश्च पश्चार्था विकारा इति संज्ञिताः॥ इति चेत्रं समुद्दिण्टं सर्व्वमव्यक्तविर्जतम्। अव्यक्तमस्य चेत्रस्य चेत्रज्ञसृपयो विदुः॥ १७॥

बुद्धीन्द्रियाणीत्यादि। इति पोङ्ग्र विकारा इति संक्रिता धातव इति चतु विवंशतिको विश्वरूपो भूतात्मा लोके पुरुषे तु तैजसाख्य आत्मा स्वम-स्थानः मुस्मशरीरी। एतैथतुन्विंशत्या निष्पन्नथतुन्विंशतिको राशिपुरुपो वैश्वानर आत्मा जागरितस्थानः। तत्रात्मकृतसत्त्वरजस्तमांसि स्वस्थमाह-ङ्कारिकं मनोऽ शेन भवेश्य तैः संयुक्तं सत्त्वसंगकं मनः सुजति आहङ्कारिकाणि पश्च बुद्धीन्द्रियाण्येतान्यात्मकृतानि खादीन्येकैकाधिकानि पश्चोपादायैतानि श्रोत्रादीनि स्जन्ति। पश्च कर्मोन्द्रयाणि च पश्च कर्मोन्द्रयाणि स्जन्ति। पश्च च तानि खादीनि खस्वशब्दादीनि परस्परेणानुग्रहाच्छव्दादीनि स्जन्तीति.विकारसंबकाः पोङ्शधातवः। इति चतु व्विशतिधातकाधिष्टानभूतं शरीरिपदं शुक्रशोणितपात्राहारजभूतेभ्यो जायते, तद् बक्ष्यते विस्तरेणेति। ननुक्तमन्यक्तमात्मा क्षेत्रहा इति, तत्रान्यक्तं नाम यतस्तद्वक्तं स आत्मा क्षेत्रहा नाम कस्मादित्यत आह-इति क्षेत्रमित्यादि। इत्युक्तं सर्व्यमव्यक्तविजेतं क्षेत्रं समुद्दिष्टम् । अन्यक्तमिहान्यक्तपुरुषः सत्त्वादित्रिगुणसाम्योपाधिः पुरुषो-ऽन्यक्तं तत्रोपाधिरपि त्रिगुणसाम्यं क्षेत्रमुक्तं भगवद्गीतायां त्रयोदशाध्याये। इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते। एतर्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रकमिति तद्विदः। क्षेत्रबश्चापि मां विद्धि सर्व्वक्षेत्रेषु भारत। क्षेत्रक्षेत्रबयोर्कानं . यत् तज् ज्ञानं मतं मम। महाभूतान्यहङ्कारो युद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैंकश्च पश्च चेन्द्रियगोचराः। इच्छा द्वेपः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।

मृत्वादीनि तन्मात्रशब्दाभिधेयानि । बुद्धिमहिच्छव्दाभिधेया । अध्यक्तं मृलप्रकृतिः । अहङ्कारो बुद्धिविकारः, स च त्रिविधो भृतादिस्तेजसो वैकारिकश्च । भृतानां स्थावरजङ्गमानां प्रकृतिर्भृतप्रकृतिः । तत्र चाव्यक्तं प्रकृतिरेव परम् । बुद्ध्यादयस्तु स्वकारणविकृतिरूपा अपि स्वकारणपिक्षया प्रकृतिरूपा इह प्रकृतित्वेनोक्ताः । यदुक्तम्—"मृलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त" इति । विकारानाह—विकारा इत्यादि । 'एव'शब्दो भिन्नक्रमावधारणे, तेन, विकारा एव पोढ्श परं न प्रकृतयः ; बुद्धोरिद्धियाणि बुद्धोन्द्रियाणि । पञ्चार्थो इति स्थूलाः

जाय ने बुद्धिरव्यक्ताद्व बुद्धग्रहिमति मन्यते । परं खादोन्यहङ्कार उपाइन्ते यथाकसम्॥

एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहतिमिति। तस्मादिहान्यक्तं त्रिगुणसाम्यं न तुं पुरुपाधिष्ठितत्रिगुणसाम्यसमुद्ायरूपमिति। तत् त्रिगुणसाम्यमत्रान्यक्तं क्षेत्रं गीतायां कृष्णाभिमेतिमित्यविरोधः। अत आह—अन्यक्तमस्येत्यादि। अस्य क्षेत्रस्य त्रिगुणसाम्यरूपाव्यक्तपहदादेत्रतदन्तस्य क्षेत्रस्य ज्ञातारमव्यक्तर्थं पुरुषं क्षेत्रज्ञमृपयो विदुस्तत्क्षेत्रज्ञाधिष्ठितलात् तत्क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं कालानुप्रविष्टं प्रधानमभिन्यक्तसमत्रिगुणमित्येतत्समुदायोऽप्यन्यक्तमपि क्षेत्रह्मपयो विदुः इत्यत उक्तमन्यक्तमात्मा क्षेत्रश इति। बुद्धीन्द्रियाणि सार्थानि मनः कम्मेंन्द्रियाणि च। अहङ्कारश्च गुद्धिश्च पृथिव्यादीनि चैव हि। अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः क्षेत्रस्यास्य निगद्यते। ईश्वरः सर्व्वभूतस्थः सनसन् सदसच यः। इत्युक्तं याज्ञवल्क्यसंहितायामिति ॥ १७॥

गङ्गाधरः -- ननु चतु व्विंशतिकस्य पुरुपस्य धातुषु याऽष्ट्रधातुकी मकृति-रुक्ता तत्राष्ट्रौ याः प्रकृतयस्ताः किं प्रसिद्धाः सन्तीत्यत आह—जायते इत्यादि । यदिद्मव्यक्तं कालानुमविष्टक्षेत्रकाधिष्टितमधानत्रिगुणसाम्यलक्षणं तस्पाद्च्यक्तात् तत्त्रिगुणवैपम्यलक्षणस्तस्याच्यक्तस्यैकाद्शांशस्यैकाशो महान नाम पथमं बुद्धिर्जायते। मनो मतिमेहानात्मेत्यादिपर्याया विद्याबुद्धिः जायते। सा च त्रिविधा सात्त्विकी राजसी तामसी च। तत्र सात्त्विकी विद्या पहा चित्ति वित्युच्यते ऽव्यक्तस्य न तु पाइतै जसवैश्वानराणां, तया साच्यिवया विद्याबुद्ध्या दिक्षालाभ्याश्च विशिष्टं तद्बुमविष्टं यावद्व्यक्तं तावान् समुद्रायः प्राक्षो नामात्मा वभूवेति आत्मात्मान्तरमार्भते कालः कालान्तरमार्भते आकाशादयः शब्दादिरूपाः, गुणगुणिनः परमार्थतो भेदो नास्येवास्मिन् दर्शने । एनमेव प्रकृति-विकारसमृहं क्षेत्रक्षेत्रज्ञभेदेन विभजते—इतीत्यादि । अन्यक्तवर्जितमिति प्रकृत्युदासीनवज्ञितम्, प्रकृतेश्चोदासीनपुरुपचैतन्येन चैतन्यमस्येव ॥ ५७ ॥

चक्रपाणिः—सम्पति महाप्रलयानन्तरं यथा आदिसमें बुद्धवाद्ववरपादो भवति, तदाह्—जायत इत्यादि । बुद्ध्याहमिति मन्यत इति बुद्धेजीतेनाहङ्कारेणाहमिति मन्यत इत्यर्थः । खादीनीति खादीनि सूक्ष्माणि तन्मात्ररूपाणि तथैकादशेन्द्रियाणि । वचनं हि—''प्रकृतेर्महान् महसोऽहङ्कार-स्तस्माद्रणश्च पोड्याकः" इति । यथाक्रममिति तस्मादहङ्काराद्वरपद्यते क्रमेण, तत्र बैक्तात् सास्विकादहङ्कारात् तैजसंसहायादेकादशेन्द्रियाणि भवन्ति, भूतादेरत्वहङ्कारात् तामसात् तैजय-

ततः सम्पूर्णसर्वाङ्गो जातोऽभ्युदित उच्यते । पुरुषः प्रलये चेष्टैः पुनर्भावैवियुज्यते ॥

दिग् दिगन्तरमारभते। ततस्तया विषमित्रग्रणलक्षणया बुद्धा खल मनसा तद्व्यक्तम् सव्वंकत्तेति विषय्यंयरूपेण स्वं मन्यते। इति मलिनविषम-त्रिगुणलक्षणोऽहमिति विषय्यंयाभिमन्ता दिक्कालविशिष्टोऽहङ्कारो महता सहिताद्व्यकाष्ट्रायते इत्यव्यक्तस्य द्वितीयं कार्यम्।

महत एकादशांशस्यैकांशरूपः क्षेत्रज्ञानुमविष्ट एव । स च त्रिविधः । विपम-मिलनसत्त्ववहुलः सात्त्विको वैकारिको नाम। तादशरजोबहुलस्तेजसो नाम राजसः । तादशतमोबहुलस्तामसो भूतादिनीमेति । तत्रादौ भूतादिरहङ्घारः तत्परं यथाक्रमं क्रमेण सन्गोद्रकात् सन्ववहुळं शब्द्भात्रगुणमाकाशप्रुपाद्ते।रजोवहुळं स्पर्भमात्रगुणं वायुम्। सत्त्वरजीवहुळं रूपमात्रगुणं तेजः। सत्त्वतमीवहुळा रसमात्रगुणा आपः। तमोबहुलां गन्यमात्रगुणाञ्च पृथिवीमिति। ततो वैकारिको नामाहङ्कारस्तैजससहायाद् युगपदेव पश्च बुद्धीन्द्रियाणि पश्च कम्मे-न्द्रियाणि बुद्धिकम्मौभयात्मकं मनश्रोपाद्त्ते। महदादेप्रतदन्तानामधिदेवताश्र उपाद्त्ते। तासां देवतानां ब्रह्मा महान्तं प्राविशद्हद्वारमी अपः प्राविशत पाविशच मनश्रन्द्रमाः श्रोत्रं दिशं स्पर्शनं वायुश्रश्चः सूर्यं आपो रसनं घाणं क्षितिः पायुं मित्रः मजापतिरुपस्थं हस्तिमिन्द्रः पादं विष्णुरिप्नवीचिमिति। इत्येवं पात्र आत्माऽहङ्कारेण मनो दशेन्द्रियाणि पश्च महाभूतानि सृष्ट्वाऽहङ्कारादि-सप्तद्शकं लिङ्गं शरीरपादायात्मानमारभ्य पुनः पश्चानां महाभूतानामाकाशं कियन्तं दिक्कालाभ्यां संयोज्याकाणं सप्ता तं वायौ प्रवेश्य द्वात्मकं वायुं सृष्ट्वा तं तेजसि प्रवेश्य त्रप्रात्मकं तेजः सृष्ट्वा तद्प्सु प्रवेश्य चतुरात्मिका अपः सृष्ट्वा ताः पृथिवीं प्रवेश्य पञ्चात्मिकां पृथिवीं सृष्ट्वा तानि पञ्च भूतान्यनुप्रविश्य पड्धातुः सर्विसम्पूर्णाङ्गः सन् जातो होकोऽभ्युदित उच्यते। वल्क्यसंहितायाश्च । बुद्धरूत्पत्तिरन्यक्तात् ततोऽहङ्कारसम्भवः । तन्मात्राणि ब़ह्ङारादेकोत्तरगुणानि च। शब्दः स्पर्शेश्च रूपश्च रसो गन्धश्च तद्गुणाः।

सहायात् पञ्च तन्मात्राणि । यदुक्तम्—"सान्तिक एकादशकः प्रवर्तते वेकुतादहङ्गारात् । म्तादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम्" इति । तत इति आहङ्कारिककारयीनःतरं तन्मात्रेभ्य उत्पन्नस्थूलसृतसम्बन्धात् । सम्पूर्णसन्बोङ्गो जात इति आदिसगी जातः । एवमादिसगे प्रकृतेमेहदादिसगे दर्शयित्वा महाप्रलये प्रकृतावस्यक्रस्यायां सुद्भपादीनां यो यसान्निः सतश्चेषां स तस्मिन्नेव लीयते। यथात्मानं सजत्यात्मा तथा वः कथितो मया। विपाकात् त्रिशकाराणां कम्मेणामीश्वरोऽपि सन्। सत्त्वं रजस्तमञ्जैव गुणास्तस्यैव कीत्तिताः। रजस्तमोभ्यामाविष्टश्रकवद् भ्राम्यते हि सः। इति। लोकवदन्नमयोऽयं पुरुप एतस्यात्मान्नं भूमितत्त्ववहुलं पञ्च-भूतात्मकम् । तस्यान्नस्यात्मन आत्मा प्राणमयः पुरुषस्तस्य प्राण एव शिरो व्यानो दक्षिणः पक्षः समान उत्तरः पक्ष आकाश आत्मा पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा । तस्यात्मन आकाशस्यान्तरात्मा मनोययस्तस्य यज्ञरेव शिर ऋग् दक्षिणः पक्षः सामोत्तरः पक्ष आदेश आत्माऽथव्वाङ्किरसः पुच्छं प्रतिष्ठा । तस्यात्मन आदेशस्य अन्तरात्मा विज्ञानमयस्तस्य श्रद्धेव शिरः सत्यं दक्षिणः पक्ष ऋतम्रत्तरः पक्षो योग आत्मा महः पुच्छं प्रतिष्ठा । तस्यात्मनो योगस्यान्तरात्मानन्दमयः तस्य प्रियमेव शिरो मोदो दक्षिणः पक्षः प्रमोद उत्तरः पक्ष आनन्द आत्मा ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। एप चेतनाधातुरव्यक्तमात्मेति ख्यापितम्। तस्यात्मन आनन्दस्यान्तरात्मा हिरप्मयः पुरुषः परमात्मा शिवस्तस्य तेजः शिरः आपो द्क्षिणः पक्षोऽन्नमुत्तरः पक्षो गायत्रीशक्तिरात्मा शक्तिरसद् ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्युन्नेयस्। भवति चात्र कठोपनिषदि श्लोकः। हिरण्मये परे कोषे विरजं ब्रह्म निष्कलम्। तच्छभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तव यदात्मविदो विदुरिति।

एप पड्धातुः पुरुषः खळु यावत् प्रलयं वत्तते न नश्यति पुनः-पुनर्जायते ततो नारायणस्यास्यादित्यस्य देहादुत्क्रान्तौ पाकृतप्रलये प्रकृतौ स्थिते काले क्षेत्रको प्रधानस्य गुणसाम्ये द्विपराद्धकाले पुनर्भावैवियुज्यते। तदुक्तं मनुना। एवं सर्व्वं स स्पृष्टे दं माञ्चाचिन्त्यपराक्रमः। आत्मन्यन्तद्देधे भूयः कालं कालेन पीड्यन। यदा स देवो जागित्तं तदेदं चेष्टते जगत्। यदा स्विपिति ज्ञान्तात्मा तदा सर्व्वं निमीलित। तस्मिन् स्वपित तु स्वस्थे कम्मीत्मानः श्रीरिणः। स्वकम्भभ्यो निवर्त्तन्ते मनश्च ग्लानिमृच्छति। युगपत् तु प्रलीयन्ते यदा तस्मिन् महात्मिन। तदायं सर्व्वभूतात्मा सुखं

लयमाह—पुरुष इत्यादि। इप्टेंभाविरिति पुरुषस्य भोगार्थमिप्टेर्बु इपादिभिः। अन्ये तु एवंभूतसर्गमत्रजन्मिन, बुद्धप्रदिवियोगञ्च मरणे ब्रुवते। तन्न, जनममरणयोर्बु इपादीनां विद्यमानत्वात्। उक्तं हि—"अतीन्द्रियेस्तेरतिसूक्ष्मरूपेरात्मा कदाचिन्न विमुक्तपूर्वः। नैवोन्द्रयेनेव मनोमितिभ्यां न चाप्यहङ्कारविकारदोषेः" इति। तथान्यत्राप्युक्तम्—"पृथ्वोत्पन्न-मसक्तं नियतं मददादिसूक्ष्मपर्यन्तम्। संसरित निरुपभोगं भोगेरिधवासितं लिङ्कम्" इति।

श्रव्यक्ताद् व्यक्ततां याति व्यक्ताद्व्यक्ततां पुनः । रजस्तमोभ्यामाविष्टश्रक्रवत् परिवर्त्तते ॥ येषां द्वन्द्वे परासक्तिरहङ्कारपराश्च ये । उदयप्रलयो तेषां न तेषां ये त्वतोऽन्यथा ॥ १८॥

खिपिति निच्छेतः। तमोऽयन्तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेन्द्रियः। न च स्वं कुरुते कम्भे तदोत्कामित मूर्चितः। यदाणुमात्रिको भूला वीजं स्थास्तु चिरुणु च।समाविशति संस्पृष्टस्तदा मूर्चि विमुश्चित। एवं स जाग्रत्स्वमाभ्या-मिदं सर्व्वं चराचरम्। संजीवयित चाजसं प्रमापयित चाज्यय इति।

तहि पुननं बदापि कि जायते इत्यत आह—अन्यक्तादित्यादि। उक्तरूपणं अन्यक्ताद् न्यक्ततां याति, पुनः कल्पान्ते प्रलये न्यक्ताद् न्यक्ततां याति। एवं-प्रकारेण रजस्ताभेश्यामाविष्ट एप पुरुपश्चक्रवत् परिवक्तते श्चाभ्यति यावत् विगुणसाम्यलक्षणप्राकृतप्रलयम्। उक्तश्च भगवद्गीतायाम्। सहस्रयुग-प्रयोग्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः। रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहारात्रविद। जनाः। अन्यक्ताद् न्यक्तयः सर्न्याः प्रभवन्त्यहरानमे। रात्रप्रागमे प्रलीयन्ते तत्रैवा-न्यक्तसं क्रते। भूतप्रापः स एवायं भूता भूता प्रलीयते। रात्रप्रागमेऽन्यः पाथं प्रभवत्यहरानमे। परस्तस्मात् तु भावोऽन्योऽन्यक्तोऽन्यक्तात् सनातनः। यः स सर्न्वेषु भूतेषु नद्यत्यु न विनद्यति। अन्यक्तोऽन्यक्तात् सनातनः। यः स सर्न्वेषु भूतेषु नद्यत्यु न विनद्यति। अन्यक्तोऽन्यक्तात् सनातनः। यस्मानतः गतिम्। यं प्राप्य न निवर्त्तनते तद् धाम परमं मम। पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्तनन्यया। यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्न्विमृदं ततम्। इति। नन्वेवं चक्रवत् परिवर्त्तनं केषां भवित ततो निष्टित्तर्वां केषां कृतः स्यादित्यते आह—येषां द्व्द इत्यादि। येषां देवनरादीनां द्वद्धे सखे सुखदुः स्व इच्छाद्वेषे इत्यादौ परा परमा आसक्तिरासङः, सिवपर्यये द्वये द्वये सुखे इच्छाद्वेषे इत्यादौ परा परमा आसक्तिरासङः,

तस्मात् महाप्रलय एव प्रकृतो लयः, तदादिसगं एव प्रकृतेर्महदादिसृष्टिरिति । एतमेव प्रपद्ध लयद्ध प्रकृतेराह—अध्यक्तादित्यादि । अध्यक्तादिति प्रकृतेः, व्यक्ततामिति महदादिमहासृत्पर्थन्त-प्रपद्धल्पतां याति । व्यक्तात् महदादिमहासृत्पर्थन्त-प्रपद्धल्पतां याति । व्यक्तात् महदादिमहासृत्पर्थन्त-प्रपद्धल्पतां याति । व्यक्तात् महदादिमहासृत्पर्थन्तप्रथावाद्यवस्थातः पुनरव्यक्तरुपतां याति ;—महाप्रलये हि महासृतानि तन्मात्रेषु लयं चान्ति ;—तन्मात्राणि तथेन्द्रियाणि चाहङ्कारे लयं यान्ति, अहङ्कारो बुद्धो, बुद्धिश्च प्रकृताविति लयकमः । अथद्य लयकमो मोक्षेऽपि भवति । परन्तु तं पुरुपं प्रति पुनः सर्गं नारभते प्रकृतिः । अयं संसारः कृतो भवतीत्याह—रज इत्यादि । आविष्टो युक्तः । चक्रवत् परिवर्तत इति पुनःपुनलयसर्गाभ्यां युज्यते । इन्द्र इति रजस्तमोरूपे

प्राणापानौ निसेषाया जीवनं सनसो गतिः। इन्द्रियान्तरसञ्चारः प्रेरणं धारणञ्च यत्॥ देशान्तरगतिः खप्ने पञ्चलप्रहणं तथा। इष्टस्य दक्षिणेनाच्णा सद्येनावगसस्तथा॥ इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्तरचेतना धृतिः। बुद्धिः स्पृतिरहङ्कारो लिङ्कानि परमात्मनः॥

ये चाहङ्कारपरा अविद्याम्हास्तेपाम्धदयमलयो कल्पे कल्पे जन्ममरणे भवतः। ये स्तोऽन्यथा द्वन्द्वानासक्ता अहङ्कारिवविज्जितास्तेषां नोदयमलयो पुनिरह जन्ममरणे न भवतः, संसारान्तिष्टत्तिभवतीति। इति पष्टमश्रस्योत्तरम्।।१८॥

गङ्गाधरः—तत्राग्निवेशः पपच्छ, किं लिङ्गं पुरुपस्य चेति। ननु यदुक्तं व्यक्तमैन्द्रियकञ्चैव गृह्यते तद् यदिन्द्रियैः। अतोऽन्यत् पुनर्व्यक्तं लिङ्ग-ग्राह्ममतीन्द्रियमिति, पुरुषस्य तिङ्कः किमिति ? तथा पृष्टः पुनर्न्वेसुरुवाच-प्राणा-पानावित्यादि । प्राण उच्छ्वासोऽपानो निश्वास इति । निमेपाचा निमेपोन्मेपा-कृतिस्वरवर्णविशेपात्मज्ञानानि तासु तासु योनिपृत्पत्तिश्च। यावज्जीवति, मनसी गतिश्चिन्त्यादौ विषये। इन्द्रियान्तरसञ्चारो मनसः, यदर्थग्रहणायैकस्मिन्निन्द्रिये मनः सश्चरति तदिन्द्रियसञ्चारतोऽन्यस्मिन्निन्द्रिये मनसों यः सञ्चारः स इन्द्रियान्तरसञ्चारः। प्रेरणं तदिन्द्रिये मनसो यद् यच। तत्रैवेन्द्रिये धारणं स्थिरतयावस्थानकरणम्। स्वप्ने च मनसो देशान्तर-गतिः। पश्चलग्रहणं मरणम्। दक्षिणेनाक्ष्णा दृष्टस्य सन्येनाक्ष्णावगमस्तथा सन्वेन दृष्ट्रस्यार्थस्य दक्षिणनाक्ष्णावगमः। इच्छा च द्वेपश्च सुखश्च दुःखश्च प्रयत्रश्च चेतना च धृतिचु द्धिः स्मृतिरहङ्कारश्चेत्येतानि प्रत्यगात्मनि वर्त्तमानानि परमात्मनः पत्यगात्मनः परमस्यात्मनौऽज्यक्तस्य लिङ्गानि न तु परमपुरुपंस्य परमात्मनो लिङ्गानि तस्याप्रमेयस्य लिङ्गाभावात्। उक्तं हि इवेताश्व-निष्क्रियं तरोपनिपदि। निगु णं शान्तं निरवदंत्र मिथुने, अहङ्कारपरा इति अहङ्कारान्ममेद्भिःयादि मिध्याज्ञानपराः । उद्यप्रलयौ जन्ममरण, विंवा लयसर्गा । अतोऽन्यथेति रागद्वे पविमुक्ता निरहङ्काराश्च ये, तेषां नोइयप्रलयो भयतः॥ १८॥

चक्रपाणिः—'किं लिङ्गं पुरुपस्य च'' इत्यस्योत्तरम्—प्राणापानावित्यादि । प्राणापानावुष्णृासः निभासौ । निमेपाद्या इति 'आद्य'शब्दग्रहणेन उन्मेपाद्या देक्षणविशोपा गुद्यन्ते । मनसो

अमृतस्य परं सेतृद्विग्धेन्धनमिवानलमिति—आश्रये इति पूर्विमन्त्रस्थेन अन्वयः। निरञ्जनं निर्छिङ्गमिति। गौतमेनाप्युक्तम्। इच्छाद्वेपसुखदुःख-प्रयवशनान्यात्मनो लिङ्गानि । कणादेनापि वैशेपिकेऽप्युक्तम् । प्राणा-पानौ निमेपोन्मेपजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरसञ्चारा दुद्धिः सुखदुःखेच्छाद्देप-प्रयत्राश्चात्मनो लिङ्गानि । प्रवृत्तिनिवृत्ती प्रत्यगात्मनि दृष्टे प्रत्र लिङ्गमिति । यद्यत इति सन्निकर्षे पत्यक्षाभावात् हप्टं लिङ्गं न विद्यते। सामान्यतो दृष्टाचाविशेषः। तस्मादागमिकम्। अहमिति शब्दस्य व्यतिरेकान्नाग-मिकम्। यत् दृष्टमन्त्रम् अदं देवदत्तोऽदं यहदत्त इति द्रष्ट्रसात् मत्यक्षवत्। देवदत्तो गच्छति यज्ञदत्तो गच्छतीत्युपचाराच्छरीरप्रत्ययः। ममेतिप्रत्ययस्य याथार्थ्यात्। सन्दिरधस्तूपचारः। अहमिति प्रत्यगात्मनि भावात् परत्र अभावाद्योन्तरमात्मस्वरूपं प्रत्यक्षं यत्र प्रत्यये स प्रत्ययार्थान्तरप्रत्यक्षः। सन्दिग्धस्तूपचारः। न तु शरीरविशेषाद् यहदत्तविष्णुमित्रयोर्ह्ञानविशेषः। अहमिति मुख्ययोग्याभ्यां शब्दवद्वातिरेकाद् व्यभिचाराद्विशेपसिद्धेरागमिकम्। तेनाहमिति। सुखदुःखज्ञाननिष्पत्त्यविज्ञेपादैकारम्यम्। यथाकाशकाल-दिशः। व्यवस्थातो नाना। तस्याभावादव्यभिचारः। इति सुत्राणि क्रमेण व्याख्यातानि । तद् यथा । नतु माणापानादिकमात्मनो लिङ्गं किं दृष्मिथातु-मानिकमागमिकं वेति। तत्राह। मष्टत्तिनिष्टत्ती मत्मगात्मिन इप्टे परत्र लिङ्गम्। प्रत्यगात्मिन दृष्टे लिङ्गे परत्र स्वमस्थानसुपुप्तिस्थानाव्यक्तेषु लिङ्गे सन्वेमागमिकं न दृष्टं वातुमानिकम्। कस्मात् ? यहदत्त इति सन्निकपे ं लिङ्गं न विद्यते। पत्यगात्मनि हि यज्ञद्त इति सन्निकप **मत्यक्षाभावात** हप्टं प्रवृत्तिनिवृत्त्यादिकं परत्र प्रत्यक्षाभावाद् हष्टं लिक्नं न विद्यते। तिह किमानुमानिकमित्यत आह-सामान्यतो दृष्टाचाविजपः। प्रत्यगात्मिन यथा यज्ञदत्त इति सन्निकपे दृष्टं लिङ्गं तत् सामान्यतो दृष्टाच्च परत्र नानुमानिकं यथा प्रत्यगात्मा प्राणिति चापानिति निमिपतीत्येवमादि दृश्यते न तथा परात्मा, तस्मात् सामान्यतो दृष्टाच्चातुमानिकमपि मत्यगात्मपरात्मनोरविकेषः । तस्मादाग्मिकमिति। प्रत्यगात्मपरात्मनोरविजेपादाग्मिकं परत्रात्मनि प्राणा-पानादिकं लिङ्गम्। यदि तुल्यं लिङ्गं न स्यादुभयोरविशेषो न स्यादिति।

तत्राह वादी—अहमिति शब्दस्य व्यतिरेकान्नागमिकम्। त्वं देवदत्तोऽहं यहादत्त इति व्यतिरेकादिविशेषाभावात् प्रत्यगात्मपरात्मनोरप्यविशेषाभावात् गतिरिति मनसा पाटलिषुत्रादिगमनरूषा । इन्द्रियान्तरसङ्गारोऽपि मनस एव, यथा—चक्षः

नागिमकिमिति। तर्हि किमित्यत आह—यद् दृष्टमन्नमहं देवदत्तोऽहं यबदत्त इति द्रष्ट्रतात् प्रत्यक्षवत् । येन मयाननं दृष्टं सोऽह्मयं देवदंत्तः स एवाहं यज्ञदत्त इति इष्ट्रेलात् परात्मनः प्रत्यक्षविद्धन्नं प्राणापानादिकं न प्रत्यक्षं तस्मादनागिकं न भवति । अस्तु तहि च प्रत्यक्षवद्भावेन सामान्यतो दृष्टाद्। तुमानिकं देवदत्तो यक्ष-दत्त इति भेदेन प्रत्ययस्तु यो भवति स खलु देवदत्तो गच्छति यहदत्तो गच्छतीत्युप-चारात् शरीरमत्ययः। यतो देवदत्तो यज्ञदत्त इति भेदेन मत्ययोऽविकोपेऽपि परात्मनः शरीरे उपचारात्। अन्यथा देवदत्तो गच्छतीति पत्ययो न स्यादात्मनो गत्यभावादिति। कस्सादुपचारः ? ममेति प्रत्ययस्य याथाध्यात्। शरीरमिति प्रत्ययस्य याथाथ्यात् । देवदत्तो गच्छतीति देवदत्तशब्दार्थस्यात्मनः शरीरे उपचार इति । तत्राह् । सन्दिग्धस्तूपचारः । आत्मनः शरीरे तूप-चारः सन्दिग्यः। मम देवद्त्तस्य शरीरमिति गच्छतीत्युक्तेः शरीरे किम्रुपचारः। अहं जानामि चेन्छामीत्यादौ किमात्मन्युपचारः। तत्राह। प्रत्यगात्मिन भावात् परत्राभावादर्थान्तर्मात्मरूपं प्रत्यक्षं यत्र प्रत्यये स प्रत्ययार्थान्तरप्रत्यक्षः। अहं देवद्त्त इति प्रत्ययस्य प्रत्यगात्मनि भावात्। परत्रात्मन्यभावात् प्रत्यगात्मनः स्वरूपं परात्मनः स्वरूपमर्थान्तरं न तनर्थान्तरं तयोर्यत्र प्रत्यये प्रत्यक्षं स प्रत्ययः प्रत्ययार्थान्तरप्रत्यक्षः । तत्राह । सन्दिग्ध-स्तूपचारः। न तु शरीरविशेपाट् यज्ञदत्तविष्णुमित्रयोर्जानविशेप इति। प्रत्यगात्माहं जानामीतीच्छति प्रत्यगात्मनि ज्ञानेच्छोदिमत्त्वात्। तिष्टामीति गमनादि क्रियावत्त्वाच्छरीरे चोपचारस्त सन्दिग्धः कि प्रत्यगात्मनि किं शरीरे वोपचारो न तु शरीरविशेषाद् यह्नदत्तविष्णुमित्रयोह्नीनविशेषस्ततः स्यात्। शरीरभेदेन तत् प्रत्यगात्मनो यद्भदत्ति विष्णुमित्रतया तु ज्ञानविकेषः स्यात्, तस्मात् अहमिति सुख्ययोग्याभ्यां शब्दबद्दप्रतिरेकाद् व्यभिचाराद्दिशेप-सिद्धेरागिमकम्। प्रत्यगात्मनि अहमिति मुख्येपट्ट्या शरीरे योग्यया प्रवृत्त्याहिमिति शब्दवत्। आप्तोपदेशवत्। जातिगुणिकया यहच्छासङ्कोते मुख्यया प्रवृत्त्याप्ता उपदिशन्ति । व्यतिरेकादनुपदेशाज्जात्यादिषु गमनादीनां व्यभिचाराद्विजेषसिद्धेरात्मनः प्राणापानादिकं लिङ्गमागिकं तेनाहमिति। तेन मुख्यया प्रष्टत्या ब्राह्मणोऽहमिति। यहच्छाप्रष्टत्या देवदत्तोऽहमिति यन्नदत्तोऽहमिति जात्याकृतिन्यक्तिसमुदाये मुख्या दृत्तिरतेन परात्मनि लहमिति प्रत्ययः। न चानेकलमात्मनः। सुखदुःखज्ञाननिष्पत्यिकिशपदिकारम्यम्। परित्यज्य मनः स्पर्शनमधितिष्ठतीत्यादि, प्रेरणञ्च तथा धारणञ्च मन्त एवेति हैदम् । देशान्तर-

प्रत्यगात्मिन देवदत्ते यद्यदत्ते विष्णुमित्रादौ च सुखदुःखगानादीनां निष्पत्तिः परात्मन एवैकस्मादविशेषेण भवतीत्येक एवात्मा यथाकाशकालदिशः एकात्मिका इति । परन्तु । व्यवस्थातो नाना । उपाधिमत्त्वे जन्ममरणादि-व्यवस्थातो नाना । प्रतिप्रूरुपमेकैक आत्मेति ।

न न न नु चुद्धीच्छादयो मनसो गुणा न लात्मगुणा इति चेन्नेत्युवाच कणादः। कस्मात् १ परत्र समवायात् प्रत्यक्षलाच नात्मगुणा मनसो गुणाः । अपत्यक्षलात् । इति । प्रत्यंगात्मनो बुद्धग्रादयो गुणाः, परत्रात्मन्यन्यक्ते समवायात् प्रत्यगात्म-प्रत्यक्षताचात्मगुणा न मनसो गुणाः, अपत्यक्षतात् मनःप्रत्यक्षताभावात्। पूर्विमुक्त-मस्मिस्तन्त्रे । आत्मना चेन्द्रियैर्यत् स्वयमुपछभ्यते तत् पत्यक्षम् । इच्छाद्वेपसुख-दुःखम्यत्रवुद्धय आत्मप्रत्यक्षाः शब्दादयस्त्विन्द्रयप्रत्यक्षा इति। भ्रान्ता अनुपयो मान्स्पत्यक्षानाहुरिच्छाद्दे पादीन्। कथं विकायते परत्रात्मनि बुद्धीच्छादीनां समवायः ? उच्यते—कारणगुणपूर्विकस्तु कार्यगुणो दृष्टं इति ! आत्मनः कार्य्ये प्रत्यगात्मनि बुद्धीच्छाद्यो गुणा दश्यन्ते, यद्यस्य कारणेऽन्यक्तात्मन्येते बुद्धीच्छादयो नावत्तिंष्यन्ताथ कारयें प्रत्यगात्मनि नाभविष्यन्तिति। कार्यान्तराभावाच। कारणगुणातिरिक्तकार्यगुणान्तराभावाच कार्यद्रव्य इति । गौतमेनापि बानस्येन्द्रियाथंभूतमनोग्रणत्वं निरस्यात्मनो गुणो बानमुक्तं तत् पुरुविध्यायं निन्त्रिकारः परस्तात्मेति श्लोकन्याख्याने दिनेतम् । स्मरणा-द्यो गुणाश्चात्मन एव गौतमेनोक्ताः। तद् यथा। शस्त्राभाव्यात्। व्याख्यातश्च वात्स्रायनेन। आत्मन एव स्मरणं, न वुद्धि-सन्ततिमात्रस्य। तु-शब्दोऽवधारणे। कथं? इस्वाभाव्यात्। इ इत्यस्य स्वभावः स्वो धर्माः, अयं खळु बास्यति जानात्यवासीदिति त्रिकालविषयेण अनेकेन ज्ञानेन सम्बध्यते। तचास्य त्रिकालविषयं ज्ञानं प्रत्यात्मवेदनीयम्। ज्ञास्यामि जानामि अज्ञासिपमिति वर्तते। तद् यस्यायं स्वो धर्म्मस्तस्य स्मरणं न बुद्धिपवंन्धमात्रस्य निरात्मकस्येति। स्मृतिहेतूनामयौगपद्याद् युग-पदस्मरणिमत्युक्तम्। सा च स्मृतिः केभ्य उत्पद्यते, इत्यत उक्तं गौतमेन। प्रणिधान-निवन्धाभ्यास-लिङ्ग-लक्षणसाद्दयपरिग्रहाश्रयाश्रित-सम्बन्धानन्तय्ये-वियोगैककार्यं विरोधातिशयपाप्तिच्यवधानसुखदुः खेच्छाद्देषभयाथि ल-क्रियाराग-धम्मीधम्मीनिमित्तेभ्यः। सुरमूर्पया मनसो धारणं प्रणिधानं, सुरमूर्पितलिङ्ग-चिन्तनश्चार्थरमृतिकारणम्। निवन्धः खब्वेकग्रन्थोपयमोऽर्थानाम्। गतिः स्वप्न इति च्छेदः । पद्भत्वश्रहणं मरणज्ञानम् । सध्येनावगम इति सध्येनादणा, स एवायं

तस्मात् छ समुपलभ्यन्ते लिङ्गान्येतानि जीवतः । न मृतस्यात्मलिङ्गानि तस्मादाहुर्महवयः ॥

ग्रन्थोपयताः खल्वर्था अन्योन्यस्मृतिहेतव आनुपूद्व्यतस्था वा भवन्तीति। धारणा शास्त्रकृतो वा प्रज्ञातेषु वस्तुषु स्मर्त्तव्यानामुपक्षेपो निवन्ध इति। अभ्यासस्तु समाने विषये बानानामभ्याष्टत्तिरभ्यासजनितः संस्कार आत्मगुणो-अभ्यासशब्देनोच्यते, स च रमृतिहेतुः समान इति। छिङ्गं पुनः संयोगि-समवाय्येकार्थंसमवायिविरोधि चेति। संयोगि यथा-धूमोऽग्नेः। समवायि यथा-गोर्विषाणम्। एकार्थसमवायि यथा-पाणिः पादस्य, रूपं स्पर्शस्य। विरोधि यथा-अभूतं भूतस्येति। लक्षणं पश्ववयवरथं गोत्रस्य रमृतिहेतुः। विदानामिदं गर्गाणामिदमिति। साद्द्यं चित्रगतं प्रतिरूपकम्; देवदत्त-स्येत्येवमादि। परिग्रहात्। स्वेन वा स्वामी स्वामिना वा स्वः स्मर्थ्यते। आश्रयात्। ग्रामण्या तद्यीनं सारति । आश्रितात् । तद्धीनेन ग्रामण्यमिति । सम्बन्धात् । अन्तेवासिना गुरुं स्परति, ऋतिजा याज्यमिति। आनन्तर्यात्। करणीयेष्वर्थेषु । वियोगात् । येन विमयुज्यते तद्दियोगप्रतिसंवेदी भृजं समरति । एककार्यात् । कत्रन्तरदर्शनात् कर्त्रन्तरे स्मृतिः । विरोधात् । विजिगीपमाणयोः अन्यतरदर्जनाद् अन्यतरः समर्यते। अतिशयात्। येनातिशय उत्पादितः। माप्तेः। यतो येन किञ्चित् माप्तममाप्तं वा तमभीक्षणं स्मरतीति। व्यवधानात्। कोशादिभिरसिमभृतीनि स्मर्यन्ते। सुखदुःखाभ्यां, तद्धेतुः समर्यते। इच्छा-द्वेपाभ्यां यमिच्छति यश्च द्वेष्टि तं स्मरति। भयात्। यतो विभेति। अथिंलात्। येनार्थी भोजनेनाच्छादनेन वा। क्रियायाः। रथेन रथकारं स्मरति। रागात्। यस्यां स्त्रियां रक्तो भवति तामभीक्ष्णं स्मरति। धम्मीत्। जात्यन्तर-स्मरणम्, इह चातीतश्रुतावधारणमिति। अधम्मीत्। प्रागनुभूतदुः खसाधनं स्मरति। न चैतेषु निमित्तेषु युगपत् संवेदनानि भवन्तीति युगपदस्मरणिमति। निद्रशंनञ्चेदं समृतिहेतूनां न परिसङ्ख्यानिमति । इत्यादि गौतमोक्तं पूर्व्वाध्याये विस्तरेणोक्तं दर्शितम्।

नतु प्राणापानादिकं देवदत्तादिपुरुपस्य दृश्यते कथं परमात्मनो लिङ्गमित्यत आह—तस्मादित्यादि । तस्मात् परमात्मन एव अव्यक्तादात्मन दक्षिणाक्षिदृष्टो घट इत्यवगम इत्यर्थः । चेतना ज्ञानमात्रम् । बुद्धिस्तुहापोहज्ञानम् । अथ

^{*} यसादिति चकः।

शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम् । पञ्चभूताक्शेषत्वात् पञ्चत्वं गतमुच्यते ॥ १६ ॥

एतानि लिङ्गानि जीवतो देवदत्तादेः समुपलभ्यन्ते, न तु मृतस्य। तस्मादात्मलिङ्गानि खल्वेतानि महर्षय आहुः। नन्च्यते देवदत्तस्येदं शरीरमिति मृतस्य न कथमेतानि लिङ्गानि ? तत्राह—शरीरं हीत्यादि। हि यस्मात्। तिमन्नात्मनि शरीराद् गते तच्छरीरं शृन्यागारमचेतनं भवति। नन्नु तिह शरीरं मृतस्य किंरूपं वत्तेते ? इत्यत आह—पञ्चेत्यादि। शरीरा-रम्भकाणां शुक्रशोणितमात्राहारात्मजानां चतुर्विधानां पञ्चानां भूतानामवश्चेपतात् आत्मस्थपञ्चभूतानां शरीरान्तिर्गतत्वे शेपतया स्थिततात् पञ्चत्वं गतं शरीरमुच्यते। तस्मात् प्राणापानादीनि परमात्मनो लिङ्गानीति। याव्यवस्य-संहितायाञ्च। अहङ्कारः स्मृतिर्मेश द्वेपो बुद्धिः सुखं धृतिः। इन्द्रियान्तर-सञ्चार इच्छा धारणजीविते। स्वगः स्वप्नश्च भावानां प्रेरणं मनसो गतिः। निमेपश्चेतना यत्र आदानं पाञ्चभौतिकम्। यत एतानि दश्यन्ते लिङ्गानि परमात्मनः। तस्मादस्ति परो देहादात्मा सर्व्वग ईश्वरः॥ इति सप्तम-प्रशोत्तरम्॥ १९॥

कथमेतान्यात्मानं गमयन्तीत्याह—यस्मादित्यादि । जीवत इति पद्मभूतारिक्तात्मसंयुक्तस्य । पद्मन्वन्तु यद्यपि जीवतो न भवति, किन्तु मृतस्यैव, तथापि पद्मत्वं मृतक्षरीरे दश्यमानं विपर्ययात् पद्मत्वाभावाद् जीवच्छरीरिङ्कं भवतीति होयम् । अत्रैवोदाहताश्च प्राणापानाद्यो न मृतमात्रे भवन्ति, निरात्मकेष्विष्टकमृतक्षरीरादिष्यदर्शनात् । न च मन एव मृतातिरिक्तमात्मा भवितुमहंति । यतस्तस्यापि करणरूपस्य प्रेरणादर्थज्ञानं कर्त्तव्यम् । नापीन्द्रियाण्यात्मत्वेन स्वीकर्त्तुं पार्य्यन्ते । यतः, तथा सित इन्द्रियाणीन्द्रियान्तरोपङ्घार्थं न प्रतिसन्धातुं समर्थानि । अस्ति चेन्द्रियान्तरोपङ्घार्थं महित्राम् । तस्मात्

मुक्तित्वातिरिक्तात्मा तिष्टतीति ज्ञेयम् । अत्र यद्यपि 'बुद्धि'शन्द्रेन चेतनाष्ट्रितस्मृत्यहङ्काराः जागरितस्यापि बुद्धिपकरणत्वेन पृथक्षृथगात्मकत्वेन पुनःपुनः पृथगुपात्ताः । तथा हि अचतनं त्वना खादिमृतातिरिक्तधरमेणात्मानं गमयति । धतिस्तु नियमात्मिका नियन्तारम् भवित्यिति । बुद्धिस्तु जहापोहयोरेकं कारणं गमयत्यात्मानम् । स्मृतिस्तु पृद्धीनुमृतार्थं-

स्थायिनमात्मानं गमयतीत्यनुसरणीयम्। आत्माधिष्टात्रभावे शरीरे प्राणाद्यभाव- त् युक्तस्र रिमित्यादि । शून्यागारमिव शून्यागारं यथाऽधिष्टानृशून्यम्, एवं मृतशरीरमिष । तन्तु एवोप शरीरम्, तत्र पष्टे आत्मिन गते पञ्चभृतात्मकं शरीरं भवति, तेन पञ्चत्वं गतम् न्यते मनः श्रचेतनं क्रियात्रच्च सनर्चेतियता परः । युक्तस्य सनसा तस्य निर्दिश्यन्ते विभोः क्रियाः ॥ चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्त्ता निरुच्यते । श्रचेतनत्वाच्च सनः क्रियावद्धि नोच्यते ॥ २० ॥

गङ्गाधरः—तत्राग्निवेशः पूर्वं पप्रच्छः निष्क्रियञ्चेत्यादि । भो भगवन् यदि परमात्मन एतानि पाणापानादीनि कार्य्याणि लिङ्गानि भवन्ति, कथमेतानि परमात्मनोऽव्यक्ताऋवितुमई न्ति । यतः । आत्मना आत्मानं निष्क्रियं वदन्ति खतन्त्रश्च विश्वनश्च सन्वेगश्च विशुश्च क्षेत्रज्ञ तथा साक्षिणश्च वद्नित्। तत्रायं सन्देहः। तद् यथा—निष्क्रियस्येति। तस्यात्मनोऽव्यक्तस्य निष्क्रियस्य भो भगवन् कथं क्रिया विद्यते। यया क्रियया प्राणापानांदीनि निष्पाद्यन्ते-ऽच्यक्तेन। स चात्मा स्वतन्नइचेत् तदा कथमनिष्टासु योनिषु जायते न लिष्टांसु योनिष्वेकान्तेन। एतं यदि स आत्मा वशी भवति ति च कस्माद्धेतोः असुखैभीवैः स आत्मा वलादाक्रम्यते। दुःखद्देपी ह्यात्मा नात्मना विश्वत्वाद दुःखैबेलादाक्रान्तो भवितुं अहीत। यदि च सन्वेगश्चात्मा तदा सन्वेगतलात् सच्चीः सच्चीस्थाः वेदनाः किं स न वेत्ति । स पुनिवंग्रः सर्विच्यापी कस्माद्धेतोः जलकुड्यितरस्कृतं वस्तु न पश्यित । स चात्मा क्षेत्रबस्तत्र संशयः। किं क्षेत्रबः पूर्वम्, अथ क्षेत्रं पूर्वम् ? क्षेत्रं जानातीति क्षेत्रकः खळु क्षेत्राज्को यात् पूर्वं न युक्तो भवति क्षेत्राभावे कथं क्षेत्रं जानातीति युक्तं भवति ; तर्हि पूर्व्वं यदि क्षेत्रं स्यात् तदा क्षेत्रकोऽशाश्वतः स्यात्, प्रागसत्त्वात् इति। साक्षिणश्चात्मानमाहुरिति यत् तत् कस्यायं साक्षिभूतः स्यात्? हि यस्मादात्मनोऽन्यः कोऽपि कत्ती न विद्यते स्वयं कर्त्ता स्वयञ्चेव तत् क्रियायां किं साक्षी भवतीति सप्त प्रश्ना आत्मानमधिकृत्य वृताः, तेपामुत्तराणि क्रमेण पुनन्त्रेसुरुवाच । तत्र निष्टिन क्रिया तस्य भगवन् विद्यते कथमिति पश्चक्योत्तरमाह—अचेतनमिद्राध्याये अचेत्रमं क्रियावच तस्य चेत्रियता पर आत्माऽन्यक्ताख्यः क्षेत्र चैतन्ये कारणमुक्तः। सच्वयोगेन तस्य ज्ञानपृष्टक्तेः। स्वेन चेतिनो मनसा कियावता युक्तस्य तस्य परस्य विभोरात्मनः क्रिया निान रथो गच्छतीतिवत्। तर्हि चेतनैरुवैर्युक्तस्याक्रियस्य रथस्य सं चक्रपाणिः—"निण्कियस्य क्रिया तस्य कथम्" इत्यस्योत्तरम्—अचेतनमित्यादि - कि पर आत्मा चेतियता परं न तु साक्षात् कियावान् । ननु यदेववं कथं तस्य हि

यथा कर्चु त्वं गौणं तथात्मनः कत्तु त्वं किं गौणमिति तत्राह—चेतनावान् इत्यादि। अतो यतक्षेतनावानात्मा मनःक्रिययोपचरितकियावान् मनश्चेतयित-लान् मुख्यस्ततः कर्त्तात्मा निरुच्यते चैतन्याधीनलात् क्रियायाः। मनस्त क्रिया-वदपि अचेतनलात् कर्त्ता नाच्यते। विना हि चैतन्यं मनः क्रिगावदपि किञ्चित् न कर्तुं प्रभवतीति। उक्तश्च मुण्डकोपनिपदि क्वेताश्वतरापनिपदि च। द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं रक्षं परिपस्त्रजाते। तयोरन्यः विष्पछं स्वाद्वत्ति अनश्रन्नन्योऽभिचाकशीति। इति। तथा च अव्यक्तशत्मा महानस्य तत् सात्त्विको महानेव मनः कायस्तयोः समानं दृक्षं तत्र अन्यक्ताख्ये यः क्षेत्रज्ञः पुरुषः स एकः सुषणः। अवरो विषमत्रिगुणरूषो महान्। द्वावेतौ सुपणौ सयुजौ नित्यसंयुक्तौ सखायौ शरीररूपं समानमेकं दृक्षं परि-पस्तजाते। तयोमेध्येऽन्य एकः समित्रगुणपुरुषः सुपुप्तौ समाधी च परेऽक्षरे परमात्मनि तुरीये शिवे सम्मतितिष्ठते रसो वै स परमात्मा तश्च रसं हेत्रवायं लब्ध्वानन्दी भवति आनन्द्भयः संइचेतसा महता मुखेनानन्दं पिप्पछं फछं स्वादु अत्ति । अन्यो महानात्मा जीवस्तु ततुफलमनइनंस्ततु फलभोगक्रियामभि-चाकशीति पश्यति । परमात्मा शिवो महेश्वरस्तद्वपपश्यत्यनुमन्यते न त भुकक्ते। एतदुक्तं भगवद्गीतायाम् । सुपुप्तौ समाधौ च भोक्ता माह आत्मानन्दमयो विष्णुरनुभोक्तानुमन्ता परमातमा शिव इति । तद् यथा—उपद्रष्टानुमन्तानुभोक्ता भत्ती महेश्वरः। परमात्मेति चाष्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः पर इति। स्वप्ने चार्यं क्षेत्रज्ञः एकः सुपर्णः पद्धातुभू तात्मा तैजसोऽपरः सुपर्णः सुक्ष्मं ज्ञारीरं समानं दृक्षं परिष्वच्य वर्त्तते। तेनाव्यक्तेन चेतनेनाधिष्ठितलात् पड्धातु-इचेतन आहङ्कारिकं मनश्चेतयति स्वेन चेति तेन मनसा युक्तश्च क्रियावान् भवति । स एकोनविंशत्या मुखैः पश्चमहाभूतैः प्राणरेकादशेन्द्रियैरहङ्कार-बुद्धिभ्याश्च पविविक्तं फलं प्रकृतिजगुणं भुङ्क्ते पावस्तत् फलपनवनंस्तद्-भुक्तिकियामभिचाकशीति । अत्राप्युपद्रष्टानुमन्तानुभोक्ता परमात्मा शिवः । एवं जागरितस्थानो वैश्वानरो भूतात्मा तत्प्राज्ञात्माधिष्ठितलाच्चेतनः क्रियावत अचतनं मन आहङ्कारिकमनोजातं मनः चेतयति तन्मनःसंयोगात् क्रियावान् भवति । स सप्ताङ्ग एकोनविंशत्या मुखैः स्थूलान् प्रकृतिना र गुणान् पिप्पलं युक्तस्येत्यादि । आत्माधिष्टितस्येव मनसः क्रिया उपचारादारमनः क्रियेत्युच्यते इत्यर्थः । एतत् एवोषपादयति चेतनेत्यादि—चेतनेन ह्यात्मनाधिष्टितं मनः क्रियासु प्रयत्तंते, चेतनानधिष्टितन्तु मनः क्रियासु न प्रवर्त्तते । तेन यत्कृता सा क्रिया, स एव क्रियावानिति व्यपदेण्टुं युज्यते

यथास्त्रेनात्मनात्मानं सर्व्यः * सर्व्यासु योनिषु । प्रागोस्तन्त्रयते प्राग्गी न ह्यन्योऽन्यस्य + तन्त्रकः ॥ २१ ॥

फलं गुङ्क्ते। क्षेत्रज्ञः पश्यति। अत्राप्यनुद्रष्टानुमन्तानुभोक्का परमात्मा महेश्वरः शिव इति । तदुक्तं भगवद्गीतायां त्रयोदशाध्याये । प्रकृतिं पुरुपञ्चैव विद्धानादी हुत्रभाविष । विकारांश्च गुणांवचैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् । कार्य्य-कारणकत्त्र त्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते। पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते। पुरुपः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान गुणान्। कारणं गुणसंजोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु। उपद्रष्टानुमन्तानुभोक्ता भर्त्ता महेश्वरः। चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः। इति। इति निष्क्रियस्य क्रिया तस्य भगवन् विद्यते कथमिति प्रश्नस्योत्तरमिति ॥ २०॥

गङ्गाधरः — अथ स्वतन्त्रश्चेदनिष्टासु कथं योनिषु जायत इति प्रश्नस्योत्तर-माह-यथास्वेनेत्यादि । न खळु खस्य तन्नः स्वतन्नः स यः स्वेतराप्रयुज्यः सन् स्वेतरप्रयोजकः कत्ता। तद्दि क इह स्वतन्तः। प्राणी सन्वेः प्राणभृत्। यथास्वेन स्वमनतिकस्य स्वेन स्वेनात्मना सन्वींसु योनिषु पाणैस्तन्नयते न लन्यस्य तन्त्रकोऽन्य इति। तस्पाद्निष्टासु योनिषु जायते। नैकान्तेनेष्टासु इति। याज्ञवल्क्यसंहितायाश्च। निःसरन्ति यथा लोह-पिण्डात् तप्तात् ६फ़ुलिङ्गकाः। सकाशादात्मनस्तद्वदात्मानः प्रभवन्ति हि। तत्रात्मा हि स्वयं किश्चित् करमें किश्चित् स्वभावतः। करोति किश्चिद्भयासाद् धरमीधरमी-भयात्मकम्। निमित्तमक्षरः कर्त्ता द्रष्टा ब्रह्म गुणी वशी। अजः शरीरग्रहणात् स जात इति की चेंत्रते। इत्यादि। तत्र प्रशाः क्रमेण। यदेत्रवमेव स कर्थं पापयोनिषु जायते इति, परत्र च कथं भावैरनिष्टैः संप्रयुक्यते ? तत्रोत्तरम् । अन्त्यपक्षिस्थावरतां मनोवाक्कायकम्भेजैः। दौपैः प्रयाति जीवोऽयं भवं योनि-

म त्वचेतनं मनः, तत्पराधीनिकयत्वेन परमार्थतः क्रियावद्पि कर्त्तृत्वेन नोच्यत इति वाक्यार्थः। नोच्यते कर्त्तृ इति शेपः ॥ २० ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति स्वतन्त्रत्वेऽप्यनिष्टयोनिषु गमनं प्राणाक्षिप्तं समादधाति—यथा-स्वैनेत्यादि । सर्वासु नरगोहस्तिकीटादियोनिषु । प्राणैसन्त्रयते प्राणैयीजयति, आत्मनेवायं धरमीधर्मसहायेनात्मानं सर्व्वयोनिषु नयति, न परप्रेरितो याति, यतोऽन्यः पुरुषोऽस्य प्रेरको नास्ति ईश्वरा वात्। किंवा सत्यिप ईश्वरे तस्यापि कर्म्मपराधीनत्वात्। इदमेव चास्यानिष्ट-

वशी तत् कुरुते कर्म्म यत् इत्वा फलमश्नुते। वशी चेतः समाधत्ते वशी सर्व्वं निरस्यति ॥ २२ ॥ देही सर्व्वगती ह्यात्मा स्वे स्वे संस्पर्शनेन्द्रिये। सर्व्वाः सर्व्वाश्रयस्थास्तु नात्माऽतो वेत्ति वेदनाः॥ २३ ॥

शतेषु च। अनन्ताश्च यथा भावाः शरीरेषु शरीरिणाम्। रूपाष्यपि तथैवेह सन्वयोनिषु देहिनाम्। इत्यादि ॥ २१॥

गङ्गाधरः—अथ वज्ञी यद्यसुखैः कस्माद्भावैराक्रम्यते वलादिति प्रश्नस्योत्तर-माह—वज्ञी तदित्यादि। न खल्ल यः स्ववज्ञे वर्त्तते स वज्ञी, ति कः पुनर्वज्ञी नामोच्यते ? स वज्ञी यस्तु तत् कम्मे कुरते यत् कम्मे कुला तस्य कम्मणः फलं स्वयमेवाञ्चते नान्योऽञ्चते। प्रज्ञ्या प्रज्ञापराधेन च सदसत्कम्मीण्यात्मा करोति तत्र सत्कम्मेकर्त्ता तादशवज्ञी तत्कृतकम्मेफलेन सुखेन वलात् आक्रम्यते। असत्कम्मेकर्त्ता च वज्ञी तत्कम्मेफलेन दुःखेन वलादाक्रम्यते। यस्तु चेतः समाधत्ते स वज्ञी, यश्च सर्व्यं निरस्यति सोऽपि सर्व्यसंन्यासी वज्ञी, स स नासुखैभविवेलादाक्रम्यत इति॥ २२॥

गङ्गाधरः - नन्वेवं चेदात्मा सन्वेगतः सन्वेगतलाच सन्वीः सन्वीपां वेदनाः

योनिगमने स्वातन्त्रतम् —यद् अनिष्टयोनिगमनहेत्वनिष्टकारणे स्वातन्त्रतम्, अनिष्टकारणारवधस्वक्रम्मण्यायमनिच्छन्नपि नीयत इत्यनिष्टयोनिगमनं भवति । स्वातन्त्रत्रञ्च यथोकं भवति ॥ २१ ॥

 चक्रपाणिः—''वशी यद्यसुद्धेः कस्माद् भावेराक्रम्यत'' इत्यस्रोक्तरम्—वशीत्यादि । वशी
स्वेच्छाधीनप्रवृत्तिः इण्टेऽनिष्टे वात्मा, तेन वशी सन् अयं तानि कर्म्माणि करोति शुभान्यशुभानि
वा आपातकरुरागाद् , यानि कृत्वा तत्कर्म्मप्रभावात् शुभेनाशुभेन वा योगमाण्नोति । एतेन,
कर्तन्थे कर्म्मण्यस्य वशित्वम्, कृतकर्म्मफलन्त्वस्यानिच्छतोऽपि भवति । तेन, तत्प्यति नास्य
वशित्वम् । अन्यद्पि वशित्वफलमाह—वशी चेतः समाधक्त इति । अनिष्टेऽथे वशी सन् अयं
मनो निवर्त्तयति । यदि द्ययं वशी न स्वात्, न मनो निवर्त्तयतु शक्तुयात् । अपरमपि
वशित्वगमकं कर्म्मोह –वशी सन्त्रे निरस्यतीति । वशी सन्न्यं मोक्षार्थप्रवृत्तः सन्वीरम्भं
शुभाशुभफलं स्प्रजतीत्यर्थः । इह 'स्वतन्त्रः' परात्मना ईश्वरादिना प्रेरितप्रवृत्तिरुच्यते । वशी
तं स्वयमपि प्रवर्त्तमान इच्छावशात् प्रवर्त्तते, न प्रेरितप्रवृत्तिरूपतेन ईप्सिते वर्त्तते इति स्वातन्त्रतवशित्वयोभेदः ॥ २२ ॥

्रचक्रपाणिः—''सर्वाः सर्वगतत्वाच वेदनाः किं न वेत्ति सः" इत्यस्योत्तरमाह—देहीत्यादि । सर्वगत इति सर्वगतोऽपि । संस्पर्शनेन्द्रिय इति संस्पर्शयुक्ते शरीरे वेदनाः सुखदुःखरूपा विभुत्वमत एवास्य यस्मात् सर्व्वगतो महान् । सनसश्च समाधानात् पश्यत्यात्मा तिरस्कृतम् ॥ नित्यानुबन्धं मनसा देहकम्मीनुपातिना । सर्व्वयोनिगतं विद्यादेकयोनावपि स्थितम् ॥ २४ ॥

किं न वेत्तीति प्रश्नस्योत्तरमाह—देहीत्यादि। हि यस्मात् सर्व्वगतोऽप्यात्मा देही रजस्तमोभ्यां मुग्धः स्वे स्वे संस्पर्शनेन्द्रिये स्वस्वसन्वी वेदना वेत्ति अतो देहिलात् सन्वीश्रयस्थास्तु सन्वी वेदना न वेत्ति। एवमेवोक्तं समृतिशास्त्रे याज्ञवल्क्येन। वेत्ति सन्वीगतां कस्मात् सन्वीगोऽपि न वेदनाम्। सन्वीश्रयां निजे देहे देही विन्दति वेदनामिति॥ २३॥

गृङ्गाथरः—तिहं कथं विभुः स्यादात्मा, विभुश्च चेत् कस्माच्छेलकुड्यितरस्कृतं न पश्यतित्यभिमेत्याह, न पश्यति विभुः कस्मात् जैलकुड्यितरस्कृतमिति। तत्रोत्तरम्—विभुलमत एवेत्यादि। यस्मात् सन्वेगतो महांश्चात्माऽत एव विभुलमस्य न तु देहिलात्। देहिले तु जैलकुड्यितरस्कृतं न पश्यति। तदि देहिले कथं सन्वेगत आत्मा स्यादित्यत आह—मनसश्चेत्यादि। अयमात्मा मनसः समाधानाद् योगे वर्त्तमानः समाधिं कुन्वेन्नात्ममनसोः संयोगिवशेपात् जैलकुड्यादिभिस्तरस्कृतं सन्वं पश्यतीति सन्वेगतस्तदा स्यात्। कथमेकदेहस्थः सन्वं मनसः समाधानात् पश्यतीत्यत आह—नित्यानुवन्धमित्यादि। वेति, सन्वंश्वयस्थास्त न वेत्तीति योजना। यस्मात् सन्वंगतोऽयमात्मा सकीय एव स्पर्शनविव शरीरे परं वेदना वेति। तेन सन्वंश्वयस्थाः सन्वंवेदना न वेत्तीति वाक्यार्थः। सन्वंश्वयस्था इति सन्वंपरशरीरगताः। परशरीरे चात्मा सकम्मीपार्जितेन्द्रियामावाद् विद्यमानोऽपि न लमते सुलदःख। स्वे स्वे शरीर इति वक्तव्ये, यत् संस्यशंनेन्द्रिये इति करोति, तेन स्वशरीरेऽपि केशनखादौ स्वशंनेन्द्रियं नास्ति, तत्र नात्मा किञ्चिद्यलभत इति दर्शयति॥ २३॥

चक्रवाणिः—"न परयित विभुः कस्माद्" इत्यादिप्रश्नस्योत्तरं वक्तुं प्रवृत्तो विभुत्वसाधकार्थगुणहेतुप्राप्त्या विभुत्वमेव तावदात्मनः साधयिति—विभुत्विमत्यादि । विभुत्वं सञ्वगतपरिमाणयोगित्वम् । अत एवेत्युक्तसर्व्वगतत्वात । एतदेव स्पष्टार्थं साक्षाद् व्रूते—यस्मादित्यादि ।
सर्व्वगतत्वं सर्व्वतोऽप्युपलभ्यमानत्वेन सर्व्वगताकाशादिपरिमाणस्याप्यस्ति, तेन, तद्व्यवच्छेदार्थं
'महान' इति पदम, महापरिमाणयोगिद्रव्यं विभुरुच्यत इति फलति । विभुत्वं व्युत्पाद्य कुट्यादितिरोहितात्मज्ञानं नैकान्तं भवतीति दर्शयन्नाह—मनस इत्यादि । समाधानं समाधिः । अनेन
योगिनः समाधिवलात् तिरोहितमपि परयन्तीति दर्शयित । ये तु तिरोहितं न पदयन्ति,

त्रादिनीस्त्यात्मनः चेत्र-पारम्पर्यमनादिकम् । त्रातस्तयोरनादित्वात् किं पूर्व्वमिति नोच्यते ॥ २५ ॥

देहिनमात्मानं देहकम्मीनुपातिना मनसा शरीरविशेपकम्मीफलविशेपयोरमुरूपेण पतनशीलेन मनसा नित्यानुवन्धं न कदापि वियुक्तं तन्मनःसमाधानाद्दहि-विषयतो निष्टत्तो मसाराभावेनैकीभूतलादेकयोनावपि स्थितं सन्वेयोनिगतं विद्यात्। ततः सन्वेगतलं ततो विश्वलञ्चेति॥ २४॥

गङ्गाधरः—तहेत्रवं विभुतान्मनसः समाधानात् सर्व्यं क्षेत्रं जानाति यतस्ततः क्षेत्रज्ञस्तत्रायं संशयः। क्षेत्रज्ञः क्षेत्रमेतयोः किं पूर्व्यम्। क्षेत्रज्ञश्चेत् पूर्व्यं कथं क्षेत्रं जानाति क्षेत्राभावात्। यदि क्षेत्रं पूर्व्यं ततः परं क्षेत्रज्ञस्तदा क्षेत्रज्ञो न शाक्षतो भवति मागवर्त्तनाच्छक्षद्वत्तेनाभावात्। इति मश्चस्योत्तरमाह—आदिरित्यादि। आत्मनः क्षेत्रज्ञस्यादिः मथमनिर्देशो नास्ति किमवधिरात्मास्ति क्षेत्राणाश्च पारम्पर्यम्वयक्तान्महान् महतोऽहङ्कार इत्येवं परम्परमुत्पत्तिस्तस्यापि आद्यभावादनादिकं तत् पारम्पर्यम्। तयोक्तभयोरत एवंविधादनादितात् पूर्वं किमिति नोच्यते। यद्यप्येवमनादितं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोस्तथापि यथा खल्वादिस्तगंऽव्यक्तं नामात्मा वभूव यथा चाव्यक्तान्महदादिक्षेत्रं वभूव तत्-पारम्पर्यादादौ क्षत्रज्ञाऽव्यक्तं नामात्मा वभूव न क्षेत्रज्ञो नाम। ततः परं तस्मादव्यक्तात् क्षेत्रं यदा वभूव तस्य ज्ञानात् क्षेत्रज्ञो नाम वभूव। इति। क्षेत्रज्ञत्वस्यभावेनाव्यक्तं प्रागासीत् ततः क्षेत्रज्ञ उच्यते क्षेत्रज्ञनाम तु क्षेत्र जाते वभूवेति॥२५॥

तत्राप्युपपत्तिमाह—नित्येत्यादि । सर्व्योनिगतमप्यात्मानं मनसानुवन्धगतम् एकयोनावि स्थितं विद्यादिति योज्यम् । देहानुवर्त्तकेन कम्मणा अनुपात आत्मना सम्बन्धो यस्य तेन, मनसा देहकम्मानुपातिना । एतेन यद्यप्यात्मा कुड्यादितिरोहितस्तथापि यदस्योपलव्धिसाधनं मनः, तस्यैकस्मिन्नेव शारीरे व्यवस्थितस्य व्यवधानात् ''न पश्यत्ययं तिरस्कृतम्'' इत्युक्तं भवति ॥ २४ ॥

चक्रपाणिः—"क्षेत्रज्ञः क्षेत्रमथवा" इत्यादिप्रश्नस्थोत्तरम्—आदिरित्यादि । क्षेत्रपारम्पर्यंमिति क्षेत्रस्याव्यक्तवर्ज्ञितस्य महदादित्रयोविंशतिकस्य परम्परासन्ततेरनादित्वेनेव 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरितं
प्रथमम्" इति व्यपदेशो नैव भवतीत्यर्थः । ननु यदि क्षेत्रपरम्पराप्यनादिस्तदात्मवदुच्छेदं
नाप्नोति, यदनादिस्तिन्तित्यं भवति, यथात्मेति दृष्टम् ; व्रूमः—अनादित्वेऽपि यत् स्वरूपेण
प्वानादि, तन्नोच्छियते, यथा आत्मा । यत् तु उच्छित्तिधर्म्मकं बुद्ध्यादि, तदुच्छियत एव, सन्तानस्तु
परमार्थतः सन्तानिभ्योऽतिरिक्तं नास्त्येव, यदनादिः स्यात् । तेन, सन्तानवादित्वं भाक्तमेव ।
किव्चवैवम्भूतस्य बुद्ध्यादिसन्तानस्योच्छेदे मोक्षप्रतिपादक आग्रम एव प्रमाणत्वेन न्नेयः ॥ २५ ॥

ज्ञः साचीतुरच्यते नाज्ञः साचा ह्यात्मा ह्यतः स्मृतः । सट्यो भावो हि सट्येपां भृतानामात्मसाचिकः ६ ॥ २६॥ नैकः कदाचिद् भृतात्मा लच्चारेष्पलभ्यते । विशेषोऽनुपलभ्यस्य तस्य नैकस्य विद्यते ॥

गङ्गाथरः—तिह क्षेत्रधानाद् यच किश्चित् करोति तत् सर्व्यं जानातीति साक्षिणमात्मानमाहुस्तत्र संशयः। साक्षिभूतश्च कस्यायं कर्त्ता ह्यन्यो न विद्यत इति। यस्मादात्मैव कर्त्ता न चान्यो महदादिः कोऽपि कर्त्ता, तस्मात् कस्य साक्षिभूतोऽयमात्मा भवतीति। तत्रोत्तरमाह—ज्ञः साक्षीत्यादि। यो जानाति स ज्ञः सुतरां साक्षीत्युच्यते, घस्तात्मा तत्त आत्मैव साक्षी न तको महदादिः। कस्य साक्षीत्यत आह—भूतानां सर्व्वपां यस्मात् सर्व्यो भाव आत्मसाक्षिक आत्मैव यस्य साक्षी। यत उक्तम्। द्वा सुपणी सयुजा सखाया समानं दृक्षं परिपस्वजाते। तयोरन्यः पिष्पळं स्वादं त्ति अनश्चनन्योऽभि-चाकशीति। एकः क्रियां करोति तत् पिष्पळं च फळं स्वादु अत्ति अपरस्तदभि-चाकशीति पश्यतीति, स आत्मा ज्ञः साक्षी। उक्तश्च मनुना। योऽस्यात्मनः कारियता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते। यः करोति तु कम्माणि स भूतात्मोच्यते चुधैरिति॥ २६॥

गङ्गाधरः—अथवं साक्षी क्षेत्रक्षक्षेत्रात्मा द्रष्टा न तु भोक्ता, तिहं, स्यात् कथं वाऽविकारस्य विशेषो वेदनाकृत इति । आत्मा सन्वभूतेषु निन्धिशेषो निन्धिकारः कथं तस्याविकारस्य वेदनाकृतविकारेण विशेषो भवति, यः एवास्मिन् देवदत्ते स एव यद्यतादिषु । तत्र देवदत्तो येन सुखी स्यान्न तेन

वक्तपाणिः—'साक्षिमृतश्च कस्यायम्'' इत्यस्योत्तरम्—ज्ञ इत्यादि । जो ज्ञानवान् साक्षीति लोकं कथ्यते, न त्वज्ञः पापाणादिः । तेन, न, ज्ञत्वेनासत्यन्यस्मिन् कर्त्तरि 'साक्षी' इत्युच्यते इति वानयार्थः । सन्वेपामिति खादीनाम्, सन्वे भावा इति सृतधम्मी दर्शनयोग्याः । आत्म-साक्षिका इति आत्मोपलभ्यमानाः ॥ २६ ॥

चक्रपाणिः—"कथञ्जाविकारस्य" इत्यादिमश्रस्योत्तरम्—नैक इत्यादि । अविकारस्य परमात्मनो

^{*} सर्वे भावा हि सर्वेपां मूतानामात्मसाक्षिकाः इति चक्रप्रतः पाटः ।

संयोगः पुरुषस्येष्टो विशेषो वेदनाकृतः। वेदना यत्र नियता विशेषस्तत्र तरकृतः॥ २७॥ चिकित्तति भिषक् सर्व्वास्त्रिकाला वेदना इति। यया युत्तया वदन्त्येके सा युक्तिरुपधार्य्यताम्॥

यज्ञदत्त इत्येवं प्रश्नस्योत्तरमाह—नैक इत्यादि। भूतातमा भूतानामात्मा यदा खल्वेकः केवलो भवति न तदा लक्षणैरुपलभ्यते लक्षणाभावात्। अनुपलभ्यस्यानुमानेनोपलव्धिरहितस्य तस्यैकस्य केवलस्य सर्व्वत्रैव विशेषो न विद्यते। संयोगः पुरुपस्यात्मन इतरैमंहदादिभिः सह योगो वेदनाकृतो विशेषः। कथम् १ वेदनेत्यादि। यत्र पुरुषे वेदना सुखदुःखात्मिका नियता एकान्तेन विद्यते तत्र वेदनाकृतो विशेष आत्मनि वर्त्तते। इत्येवं निर्विशेषस्य आत्मनः पुरुपस्य चतुर्विश्वतिकत्वावस्थां गतस्य वेदनाकृतो विशेष इति।।२७॥ गङ्यस्यः—एवं वेदनाकृतविशेषविश्विष्ठस्य गश्चित्वावस्थिकस्य वेदनाभि-

गङ्गाधरः – एवं वेदनाकृतविशेपविशिष्टस्य राशिलावस्थिकस्य वेदनाभि-वर्त्तिले, संशयमाह-अथ चार्त्तस्य भगवंस्तिसूणां कां चिकित्सति। वेदनां वैद्यो वृत्तेमानां भविष्यतीम्। भविष्यन्त्या असम्प्राप्तिरतीताया अनागमः। साम्प्रतिक्या अपि स्थानं नास्त्यर्त्तः संशयो त्यतः। अथेत्यादि। अथैवं वेदनाभिरात्त्रस्य प्ररूपस्य तिसृणामत्तीनां कामत्ति भिषक चिकित्सति। किंगतीतां वेदनां चिकित्सित अथवा वर्त्तमानां वेदनामथवा भविष्यन्तीमिति। तिंसुष्विपं चिकित्सा नोपपद्यते। कस्मात् १ भविष्यन्त्या वेदनाया असम्शक्षिः उत्पत्तिनीरितं कथं चिकित्सित ? अतीतायाश्च वेदनाया अनागम आगमनं वेदनाकृतो विशेषो नास्थेव, यत्र तु वेदनाकृतो विशेषः, स राशिरूपः परमात्मध्यतिरिक्त एवेति वाक्यार्थः । भूतानामधिष्टाता आत्मा भूतात्मा, अयमेको भृतव्यतिरिक्तो न लक्षणेः प्राणापाना-दिभिरुक्तेंरपलभ्यते । कुतो नोपलभ्यत इत्याह—विशेष इति । एकस्य भूतरहितस्य, यत् आत्मनी विशेषो वेदनादिनीपलभ्यत एवं, तेन अनुपलंब्धिरेवात्र प्रमाणमित्यर्थः। संयोगपुरुष-श्चंतुर्विं शतिकः । नन्वेवमंपि चतुर्विं शःयन्तर्निविष्टस्य मृतात्मनो वेदनाकृतविशेषेण भवितस्यम्, यतः, समुदायधर्माः समुदायिनामेव भवति, यथा मापराशेर्गु रुखं प्रत्येकं मापाणामेव गौरवैण भव शित्याह - वेदनेत्यादि । वेदना सुखदुःखरूपा । यत्र बुद्ध्यादिसमूहे नियता न्यवस्थिता वेदन्त्, तत्कृतों देन्यहर्षादिविशेषोऽपि तत्रैय-नियतः, तत्रैय बुद्ध्यादिराशो वर्त्तते, नात्मनीति भावः । बुद्ध्यादिगतेनैव गुणत्रयपरिणामरूपेण सुखंदुःखादिना सुखदुःखादिमानेवायमात्मा, तदसम्बन्धान सुखडुःखादिमान् भवति ॥ २७ ॥

पुनस्तिच्छरसः शूल उत्तरः स पुनरागतः । पुनः स कातो वलवांश्छिद्धिः सा पुनरागता ॥ एभिः प्रसिद्धवचनैरतीतागमनं मतम् । कालश्रायमतीतानामत्तीनां पुनरागतः ॥ तमित्तिकालमुद्धिश्य भेषजं यत् प्रयुज्यते । श्रातीतानां प्रशमनं वेदनानां तदुच्यते ॥ २८ ॥ श्रापस्ताः पुनरागुर्या ॥ याभिः शस्यं पुरा हतम् । तथा प्रक्रियते सेतुः प्रतिकर्म्म तथाश्रये ॥ पूर्विरूपं विकाराणां दृष्ट्वा प्रादुर्भविष्यताम् । या क्रिया क्रियते सा च वेदनां हृन्यनागताम् ॥ २६ ॥

नास्ति कान्तु चिकित्सिति। साम्प्रतिक्या वर्त्तमानाया अत्तरिप शीव्रगत्त-स्वभावात् स्थानं क्षणमिष स्थितिनास्ति क्षणे क्षणे नश्वरत्नात्। अतो हि संशय इति प्रशः। तस्योत्तरप्रवाच—चिकित्सतीत्यादि। भिषक् त्रिकालाः सन्वा वेदनाश्चिकित्सतीत्येके यया युत्तया वदन्ति, सा युक्तिमंत्त उपधाय्यंताम्। अतीतानां वेदनानां तत् प्रशमनप्रच्यते। पुनस्तिच्छिरसः शूल्पभूद् यच्छिरः-शूलं पूर्व्वमभूदित्येवमादिभिलोके प्रसिद्धवचनैरतीतानामागमनं मतम् सन्वेषां सम्मतम्। अत एवातीतानामत्तीनां स्कालः पुनरागतस्तं कालग्रदिश्य यद्भेषजं प्रयुव्यते तदतीतानां वेदनानां प्रशमनं चिकित्सोच्यते॥ २८॥

गङ्गाधरः—इत्यतीतवेदनाचिकित्सायां युक्तिं दर्शयिक्षा भविष्यद्वेदना-चिकित्सायां युक्तिं दर्शयित—आपस्ता इत्यादि। याभिरिद्धः पुरा शस्यं हतं ता आपः पुनरागुरागमन्। यथाधुना ताभिरिद्धः शस्यं न हनिष्यते तथा सेतुः मिक्रयते, तथा रोगाणां शारीरमानसानामाश्रये शरीरे मनिस च यथा व्याधिभिः पूर्व्यं पीड़ितो जनस्तथा न पीड़ियण्यतेऽधुनेत्येवं मितकस्मि चिकित्सा कियते। तद यथा—पूर्व्यरूपित्यादि। विकाराणां पूर्व्यरूपं

चक्रपाणिः—'अथ वार्त्तस्य' इन्यादिपश्चस्योत्तरमाह—चिकित्सतीः यादि । अतीतवेदनाचिकित्सा न मुख्या, किन्तु लोकसिद्धोपचारेणोच्यत इति वाक्यार्थः । प्रसिद्धवचनेरिति लोकप्रसिद्धवचनेः।

अपुनरायाता इति चकः।

पारम्पर्ध्यानुवन्धस्तु दुःखानां विनिवर्त्तते । सुखहेतृपचारेण सुखञ्चापि प्रवर्त्तते ॥ न समा यान्ति वेपम्यं विषमाः समतां न च । हेतुभिः सहशा नित्यं जायन्ते देहधातवः ॥ युक्तिमेतां पुरस्कृत्य त्रिकालां वेदनां भिषक् । हन्तीत्युक्ता चिकित्ता सा नैष्ठिकी या विनोपधाम् ॥ ३० ॥ दृष्ट्वा पादुर्भविष्यतां विकाराणां या क्रिया क्रियते सा क्रिया चिकित्साऽनागतां भविष्यन्तीं वेदनां हन्तीति ॥ २९ ॥

गङ्गायरः-अथ वर्त्तमानवेदनाचिकित्सायां युक्तिं दर्शयति-पारम्पर्ध्य-त्यादि। दुःखानां वर्त्तमानानां व्याधीनां शीव्रगतस्वभावेऽपि भावानां प्रतिक्षणं भक्ते पूर्विभावस्य हेतवो यादशाः समा विषमा वा त उत्तरावस्थामपि पूर्विभावेणैवारभगाणा आरम्भका नवयन्तीति पूर्विभावस्य पारम्पर्यानुबन्धो विनिवर्त्तते सुखहेतृपचारेण सुखञ्चानुवर्त्तते विपमपूर्विभावहेतुनाशात् सम-भावेन पूर्व्वभावोत्पादनार् वर्त्तमानानां वेदनानां चिकित्सा क्रियते। कुत इत्यत आह—न समा इत्यादि। देहधातवो नित्यं हेतुभिः सदशा जायन्ते। न समा देहधातंत्रो वैपम्यं यान्ति समहेतुभिः। विपमा देहधातवश्च विपम-हेतुभिर्न समतां यान्ति। तस्माद्धातुवैपम्ये साम्यहेतुक्रिया क्रियते इति। युक्तिमित्यादि। एतामुक्तां युक्तिं प्ररस्कृत्य भिपक् त्रिकालां वेदनां हन्तीति प्रतिकर्म चिकित्सा। आश्रय इति शरीरे। पृथ्वेरूपमित्यादिना अनागतवेदनाचिकित्सां समर्थयते । पूर्व्वरूपं यद्यपि भविष्यतामेत्र भवति रोगाणाम्, तथापि 'भविष्यताम्' इति पदेन, मूतेऽपि व्याधो यानि रूपाणि भवन्ति, तानि निराकरोति । उक्तं हि—"प्राक् सन्तापादपि चैनं सन्तापार्त्तमनुवध्नन्ति'' इत्यनेन रोगावस्थायामपि पृव्वीरूपसद्भावः। एवमतीतानागतवेदना॰ चिकित्सा ब्युत्पादिता । वर्त्तमानचिकित्सामपि दर्शयन् पारमार्थिकं मतमाह्-पारम्परयेत्यादि । पारम्पर्यानुबन्धः सन्तानन्यायेनानुबन्धः । इःखानामिति रोगाणाम् । सुखहेतूपचारेण इत्यारोग्य-हेतुचिकित्सासेवया। सुखमित्यारोग्यम्। एवं मन्यंते यत्—चिकित्सा सुखहेतुः सेन्यते, तदा दुःखहेतुसेवाभावात् दुःखं नोत्पद्यते, उत्पन्नञ्च दुःखं रोगरूपं क्षणभिङ्गत्वेन स्वयमेव नदयति । सुखः हेतुसान्निध्यात् सुखमारोग्यमुत्पद्यते । तेन चिकित्सया अनागतं दुःखं हेतुप्रतिवन्धात् निरुध्यते ' सुखज्ञ जन्यते इति सिद्धान्तः। एउदैवाह—न समा इत्यादि। समाश्च विपमाश्च क्षणभिङ्गित्व-'' स्बभावान वैपम्यावस्थां साम्यावस्थां वा यान्तीत्यर्थः । हेतुभिः सहशा इति समहेतोः समाः, अथः

उपधा हि परो हेतुर्दुःखदुःखाश्रयप्रदः। त्यागः सर्व्वोपधानाश्च सर्व्वदुःखव्यपोहकः॥ कोषकारो यथा हंग्र्यूनुपादत्ते वधप्रदान्। उपादत्ते तथार्थभ्यस्तृष्णामज्ञः सदातुरः॥ यस्त्विग्नकल्पानर्थान् ज्ञो ज्ञात्वा तैभ्यो निवर्त्तते। ग्रामारस्भादसंयोगात् तं दुःखं नोपतिष्ठते॥ ३१॥

त्रिकालवेदनाचिकित्सोक्ता। सा तु नैष्ठिकी चिकित्सा या चिकित्सा उपधां विना। इच्छाद्देपात्मिका हि तृष्णैवोपाधिः। तदिच्छाद्देपरूपोपाधिविनाशिनी या चिकित्सा सा नैष्ठिकी निष्ठां निश्चित्य स्थित्यथंमपुनर्भावार्थं या सा नैष्ठिकी मोक्षसाधिनी॥ ३०॥

गङ्गाधरः—कस्मात् ? उपधा हीत्यादि । हि यस्मात् । दुःखदुःखाश्रयप्रदः परो हेतुरुपधा । इहामुत्र मुखानां नश्वरत्वाद् विविधदुःखहेतुपुनजेन्मकारणलाच ज्ञानविद्धिदु :खपक्षे प्रक्षेपात् सर्व्याणि मुखान्यपि दुःखान्युच्यन्ते । तेन
मुखदुःखोभयात्मकं दुःखं तदुभयात्मकदुःखाश्रयशरीरग्रहणञ्च प्रददाति यः
परो हेतुः सा खळ उपधेव इच्छाद्वे पात्मिका तृष्णा । अत एव सर्व्योपधानां
निखिलेच्छाद्वे पाणां त्यागः सर्व्यदुःखानां शारीरमानसमुखदुःखानां व्यपोहकः
नाशकः। उपधा कथं दुःखदुःखाश्रयं प्रददातीत्यत आह—कोपकार इत्यादि। यथा
कोषकारः कीटः स्वस्यव वधप्रदानंशून् सूत्राण्युपादत्ते तथैवाजः पुरुपः स्वस्यव
वधप्रदां तृष्णामिच्छाद्वे पर्णामर्थेभ्य उपादत्ते सदातुरश्च भवति । कं पुनदु ःखं
नोपतिष्ठत इत्यत आह—यस्त्वत्यादि । यस्तु जः पुरुपोऽग्निकल्पानर्थान् ज्ञाला

विषमहेतोश्च विषमाः । एतचिकित्साप्राभृतीयेऽध्याये प्रपञ्चितमेव । चिकित्साप्रस्तावेन सकल-दुःखहारिणीं चिकित्सां मोक्षफलामाह—चिकित्सा सेत्यादि । निष्ठा अत्यन्तदुःखमोक्षरूपा, तदर्थे सूता नैष्ठिकी । विनोपधामिति तृष्णां विना, तृष्णाद्यून्या प्रवृत्तिः मोक्षफला भवतीत्यर्थः ॥ २८—३०

चक्रपाणिः—परो हेतुरिति मूलकारणम्। इःखरूपेणैव इःखाश्रयः शरीरम्। भोगतृष्णया हि प्रवर्त्तमानो धर्माधर्मान् इःखशरीरोत्पादकानुपादत्ते। सर्व्वापधात्यागात् तु न रागद्देपाभ्यां क्षचित् प्रवर्त्ते। अप्रवर्त्तमानश्च न धर्माधर्मानुपादत्ते, एवमनागतधर्माधर्मोपरमः, उपात्तः धर्माधर्मायोस्त् अनुरागश्चन्यस्योपभोगावेव क्षयः। तेन, सर्व्वथा कर्माक्षयात् इःखशरीराभाव इति भावः। अत्रैव तृष्णायां इःखकारणःवे दृष्टान्तमाह—कोपकार इत्यादि। कोपकारः स्वनामप्रसिद्धः

धीधृतिस्मृतिविश्वंशः सम्प्राप्तिः कालकर्म्भणाम् । असारम्यार्थागमश्चेति ज्ञातव्या दुःखहेतवः ॥

तेभ्योऽधभ्यो निवत्तते तं तं पुरुषं त्यक्तकम्माणं क्रियाया अनारम्भात् कम्-फळैः सह संयोगाभावात् दुःखं सुखदुःखयोगात् दुःखं पुनर्जन्म नोपतिष्ठते इति ॥ ३१॥

गङ्गाधरः—अथ भोः पूट्यमुक्तं कालगुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च। द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसंग्रह इति ; तिद्वरणश्च तिस्तै-पणाये पोक्तम्, इहं तु दुःखदुःखाश्रयपदो हेतुरुपधा तृष्णा पोक्तस्तिर्धं पृच्छामि, कारणं वेदनानां किमिति ? तत्रोत्तरं विस्तरेणोक्तमनुवादरूपं नातो भवति पुनरुक्तिमिति । तद् यथा—धीधृतीत्यादि । पूट्वं युद्धरयोगातियोगमिथ्या-योगभेदेन यिद्धविधो योग एक्तस्तत्र युद्धिस्था धीधृतिस्मृतिभेदेन, स च त्रिविधो योगो विश्वं शहित्यायोगितिध्यायोगभेदात् त्रिविधः कालकम्मणा-मिति । पूट्वं कालस्यायोगातियोगमिथ्यायोगभेदात् त्रिविधः कालस्य यो योग एक्तः, तत्र कालश्चद्देन श्रीतोष्णवपलक्षणः कालविशेषः कालविशेष परिणतभावश्च विवक्षितः स चात्र व्यव्यते कालकम्मणां सम्प्राप्तिः अयोगाति-योगमिथ्यायोगरूपोऽसम्यग्योगः । इति द्वितीयः । असात्म्यार्थागमञ्चिति । असात्म्यार्थासंयोग इन्द्रियार्थायोगातियोगमिथ्यायोगरूपोऽसम्यगिन्द्र-यार्थायोगः इति त्रयो दुःखःहेतवो ज्ञातव्या न तु सुखदुःखोभयात्मकदुःखन्यार्थागः इति त्रयो दुःखःहेतवो ज्ञातव्या न तु सुखदुःखोभयात्मकदुःखन्यार्थागः इति त्रयो दुःखःहेतवो ज्ञातव्या न तु सुखदुःखोभयात्मकदुःखन्यार्थागः ।

कीटः । सदातुर इति सदा संसारङ्खगृहीतः । अनारम्भादिति रागद्वेपपूर्वकारम्भविरहात् । असंयोगादिति आरम्भश्र्न्यत्वेन धम्मोधम्मोच्छेदकृतात् शरीरासंयोगात् । शरीराभावे च निराश्रय-मकारणकं दुःखं न भवतीति भावः ॥ ३१ ॥

चक्रपाणिः—''कारणं वेदनानां किम्'' हृत्यस्रोत्तरमाह—धीष्टतीत्यादि । अयञ्चार्थः प्रकरणागत-त्वाइच्यमानो न पुनरुक्ततामावहतीति । धीष्टतिस्मृतयः पुनः प्रज्ञाभेदाः । एते च शिष्यव्युत्पत्यथं प्रज्ञा-भेद्रत्वेनान्यथा व्युत्पादयता हृहोच्यन्ते । संप्राप्तिः कालकर्मणामिति कालस्य संप्राप्तिस्तथा कर्मणश्च सम्प्राप्तिः । कर्म्मसम्प्राप्तिः पच्यमानकर्मयोगः । काजसम्प्राप्तिग्रहणेन चेह ये कालक्ष्यक्तास्ते गृह्यन्ते, नावद्यं कालजन्याः ; यतः स्वाभाविकानपि कालजन्यान् तथा नृतीयकादीनप्यासात्म्येन्द्रियार्थादि-जन्यान् कालज्ञत्वेनेवेहाभिधास्ति । कर्म्मजास्तु प्रज्ञापराधजन्या एवेह कर्म्मजन्यत्वेन विशेषण शिष्यच्युत्पत्तिनिमित्तं पृथक् क्रियन्ते, कालज्यक्तत्वेन कर्म्मजा इह कालसम्प्राप्तिजन्येप्वेव रोद्धच्याः । प्रज्ञापराधावरोधाश्च यथा कर्म्मजानाम्, तथा प्रथमाध्याय प्रवोक्तम् । किञ्चाचार्य्यंणोन्मादिनदाने विषमाभिनिवेशो यो नित्यानित्ये हिताहिते। ज्ञेयः स वुद्धिविभ्रंशः समं वुद्धिहि पश्यति॥ विषयप्रवर्तं क चित्तं धृतिभ्रंशान्न शक्यते। नियन्तुमहितादर्थाद् धृतिहि नियमात्मिका॥

हेनवः। वक्ष्यते हात्रैव सुखहेतुर्मतस्त्वेकः समयोगः सुदुर्छभ इति। नसु कोधीभ्रंश इत्यत आह—विपमेत्यादि। हिताहिते नित्यानित्ये च कर्मणि काले चाथें च युद्धेयो विपमाभिनिवेशोऽयोगातियोगमिष्य्यायोगस्पः स युद्धि-विभ्रंशो होयः। अनेन युद्धिभ्रंशेन यथाविहितकर्मण्ययथावज्ञानं भवति तेन धर्मविरुद्धसुख्जनकं भाविमच्छति धर्म्यकर्मजसुख्जनकं भावं द्देष्टीत्येवं तृष्णा भवति। तया तृष्णया विपमवाङ्मनःशरीरप्रष्टित्तभवित ततो व्याधिः भवतीत्युक्तस्तिस् पणीये कर्मा वाङ्मनःशरीरप्रष्टित्तिभवित ततो व्याधिः भवतीत्युक्तस्तिस् पणीये कर्मा वाङ्मनःशरीरप्रष्टित्तिरित्यादिना। साध्वी युद्धिः खळ हि यस्मात् समं पश्यति हिताहिते नित्यानित्ये कर्मणि काले चार्थे च समयोगस्तिरमंस्तदेवमेव पश्यति तद् यथाधंद्जिनी युद्धिः। अनेन युद्धिसमयोगेन यथाविहितकर्मणि यथावज्ञानं भवति। तेन धर्म्यकर्मजन् सुखिनच्छत्यधर्म्यकर्मजस्ति यथावज्ञानं भवति। तेन धर्म्यकर्मणि कर्माणि कर्त्तं समा वाङ्मनःशरीरप्रष्टत्तिभवति। तत आरोग्यं सुखञ्चेह परत्र च भवति। काले चार्थं च धीभ्रंशो द्येयिष्यते परिणामासात्स्येन्द्रियार्थन्संयोगञ्चेति।

अथ का धृतिः कश्च धृतिभ्नंश इत्यत आह—विपयप्रवलिमत्यादि। स्वयमेवोक्तम् यत्—"प्रज्ञापराधात् सम्भूते व्याधो कर्मन आत्मनः" इत्यादि, तथा जनपदोट्-ध्वंसनीये च विमाने पुनरुक्तम्—"वाय्वादीनाज्ञ वैगुण्यमुत्पद्यते, तस्य मूलमधर्मस्तन्मूलं वा पूर्वकृतं कर्मा, तयोयोनिः प्रज्ञापराध एव" इति। तस्मादिह 'सम्प्राप्तिः कालकर्मणाम्' इत्यनेन कालजन्या गदा नोस्यन्ते किन्तु कालव्यक्ताः।

धीविअंशं विवृणोति—विपमेत्यादि। विपमाभिनिवेशोऽयथासूतत्वेनाध्यवसानम्—नित्येऽनित्य-मिति। एवं हितेऽहितमहिते च हितमिति या बुद्धिः, स बुद्धिअंशः। अथ कथमयं बुद्धिविअंश-शब्देनोच्यत इत्याह—"समं बुद्धिहिं पश्यित" उचिता बुद्धिः समं यथासूतं यस्मात् पश्यित, तस्मादसमदर्शनं बुद्धिविअंश उचित एवेत्यर्थः।

धृतिअंशमाह—विपयेत्यादि । विपयप्रवणं विपयेषु सङ्गतम् । नियन्तुमिति व्यावर्त्तयितुम् ।

[🜞] विषयप्रवणमिति बहुपु अन्थेषु पाठः ।

तत्त्वज्ञाने स्मृतिर्यस्य रजोसोहावृतात्मनः। भ्रश्यते स स्मृतिश्रंशः रमर्त्तव्यं हि स्मृतौ स्थितम्॥ ३२॥ धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म्म यत् कुरुतेऽशुभम्। प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्व्वदोषप्रकोषणम्॥

विपयेषु प्रवर्छं चिन्त्यसङ्करप्यादिषु वलविचत्तमहितादर्थात् कालाद्धींच नियन्तुं निग्रहीतुं न पुंसा शक्यते। प्रवलचित्तनिग्रहासाम्थ्यं धृतिभ्रं शो धृतेरयोगातियोगमिथ्यायोगरूपः। का पुनः धृतिरित्यत आह्—धृतिहि नियमात्मिकेति। विपयमवलिचनिम्रह-धीभ्रं शाहिपमकस्मेणि प्रवर्त्तमानं चित्तं कारिणी शक्तिधे तिः। नियम्यते । धृतिभ्रंशात् तु विपमकम्मंगीच्छा भवति । यत आपाततः सुखं स्याद् यतो दुःखं स्यात् तत्र न द्वेपो भवतीत्येवं तृष्णा भवति। तया तृष्णया विषमवाङ्मनः शरीरमष्ट्रिभेवति ततो व्याधिः स्यात्। धृत्या तन्मनोनिग्रहे विषमप्रष्टत्त्यभावादारोग्यं सुख्झ भवति । अथ कः पुनः स्मृतिभ्रं शः का च स्मृतिरित्यत आह—तत्त्वज्ञान इत्यादि । यस्य रजोमोहाष्ट्रतात्मनो रजस्तमो-ऽभिभूतचेतसः पुरुपस्य तत्त्वशाने तस्मिस्तदित्येवं यथार्थशाने समृतिभू इयते, स स्मृतिभ्नं शः, समृत्ययोगातियोगिमध्यायोगरूपः। कुत इत्यत आह—समत्रव्यं हि स्मृतौ स्थितमिति। यत्किञ्चित् स्मत्तेव्यं स्मृतिविषयं तत् समृतावभ्रष्टायां स्थितमित्येवं स्मृतिसमयोगाद् धीधृतिभ्रष्टः कर्म्मसु विपमेषु पवत्तंमानो यथार्थ स्मृता ततो निवत्तते, नाशुभं कम्मं करोति। स्मृतिभ्नंशे तत्र तथालेन ज्ञानाभावेऽयथायसुखमिच्छति यथार्थसुखं द्वेष्टीत्येवं तृष्णा भवति, तया तृष्णया विषमवाङ्मनः शरीरप्रद्विभेवति, ततो व्याधिभेवति। समृत्या तत्र याथाधर्य-स्मरणाद् अयथार्थाकरणादारोग्यं सुखझ भवतीति ॥ ३२ ॥

गङ्गाधरः—इत्येवं धीधृतिसमृतिभ्रंशाट् यद्भवति तदाह—धीधृतीत्यादि । धितिहिं नियमात्मिकेति, यस्मात् धितरकार्य्यमसकं मनो निवर्त्तयित स्वरूपेण, तस्मान्मनोनियमनं कर्जुमराक्ता धितः स्वकर्मभ्रष्टा भवतीत्यर्थः ।

स्मृतिर्भशं विवेचयित—तत्त्वेत्यादि । तत्त्वज्ञाने स्मृतिर्यस्य अश्यत इति योजना । 'समर्त्तव्यं हि समृतो स्थितम्' इति समर्त्तव्यत्वेन सम्मतस्यार्थस्य समरणं प्रशस्तस्मृतिधर्माः। तत्र तत्त्वज्ञानस्य श्विष्टानां समर्त्तव्यत्वेन समर्त्तव्यस्य यदस्मरणम्, तत् समृत्यपराधाद् भवतीत्यर्थः॥ ३२ ॥

चुकपाणिः—एवं बुद्ध्यादिअंशत्रयरूपप्रज्ञापराधत्वेन दर्शयन्नाह—धीत्यादि। 'सर्न्वदोप'-

उदीरणं गितमतामुदीर्णानाञ्च निग्रहः।
सेवनं साहसानाञ्च नारीणाञ्चातिसेवनम्॥
कर्मकालातिपातश्च मिथ्यारम्भश्च कर्मणाम्।
विनयाचारलोपश्च पूज्यानाञ्चाभिधर्षणम्॥
ज्ञातानां स्वयमर्थानामहितानां निषेवणम्॥
परमौन्मादिकानाञ्च प्रस्यानां निषेवणम्॥
श्रकालादेशसञ्चारो मेत्री संक्षिष्टकर्म्माभः।
इन्द्रियोपक्रमोक्तस्य सद्वृत्तस्य च वर्जनम्॥
ईर्ष्यामानभयकोध-लोभमोहमद्भ्रमाः।
तज्जे वा कर्म्म यत् क्षिष्टं क्षिष्टं यद् देहकर्मं च॥

थीधृतिस्मृतिविश्वष्टः पुरुषो यद्शुभं कस्म कुरुते वाङ्मनःशरीरपृष्टितं कुरुते, तं प्रशापराधं विद्यात् सन्वदोषप्रकोषणिमिति। एवं धीधृतिस्मृतिविश्वष्टश्च सन् यत् कालार्थानामयोगातियोगिमध्यायोगयुक्तं कम्म कुरुते तमिष प्रशापराधमाह— उदीरणिमत्यादि। गतिमतां सूत्रपुरीषादीनामपृष्टत्तानामुदीरणं प्रवर्त्तनम्। इति कम्मकालातियोगः। तेषामेवोदीणानां प्रवर्तमानानां निग्रहोऽपवर्त्तनं कम्मकालान्योगः। साहसादीनां सेवनमिष कम्मकालातियोगः। एवं यद्यत्कम्मणो यः कालस्तस्यातिपातोऽतिक्रमः। तथा कम्मणां मिध्यारम्भोऽयथाविधिनारम्भः। विनयाचारलोपश्च पूज्यानाश्चाभिध्षेणस्। स्वयं श्वातानामर्थानामहितानां सेवनम्। औन्मादिकानां प्रत्ययानामुन्माद्बुद्धिकराणां हेतृनां सेवनस्। अकाले चादेशे च सश्चारः। संक्षिष्टकम्भीमीत्री मित्रताकरणम्। इन्द्रियोपक्रमणीयोक्त- देसवत्तस्य वर्जनम्। ईर्ष्यादयः ईर्ष्यादिजञ्च यत् क्षिष्टं कम्म न सिक्ष्टं, यदुक्तं हेनावीष्युः फले नेष्यु रित्यादिकमिक्षप्टम्। देहकम्म च यत् किष्टम्।

शब्देन वातादयो रजस्तमसी च गृंहान्ते । कर्मकालातिपातिश्चिकित्साकालातिवर्त्तनम् । मिथ्यारग्भ इति मिथ्यायोगः, अयोगातियोगमिथ्यायोगरूपः । विनयाचारलोपेनैव प्राप्तमिप यत् पुनः पृज्यानामभि- धर्पणाद्यभिधीयते, तद्विशेषण प्रकोपल्यापनार्थमुदाहरणार्थञ्च । संक्षिप्टकर्गमभिगरित पतितैः ।

यचान्यदीदृशं कर्म्म रजोमोहसमुित्यतम्।
प्रज्ञापराधं तं शिष्टा ब्रुवते व्याधिकारणम्॥
वुद्ध्या विषमविज्ञानं विषमञ्ज प्रवर्त्तनम्।
प्रज्ञापराधं जानीयान्मनसो गोचरं हि तत्॥ ३३॥
निर्दिष्टा कालसम्प्रासिर्व्याधीनां हेतुसंयहे।
चयप्रकोपप्रश्नाः पित्तादीनां यथा पुरा॥
मिथ्यातिहीनलिङ्गाश्च वर्षान्ता रोगहेतवः।
जीर्णभुक्तप्रजीर्णान्न-कालाकालस्थितिश्च या॥

अनुक्तमुपसंहति—यचान्यदित्यादि। बुद्ध्या विषमविकानमिति धीधृतिसमृतिभिः बुद्धिभिः। एतं यावन्तं प्रकापराधं तन्मनसो गोचरं विषयं जानीयात् इति धीधृतिसमृतिविश्वंशो बुद्धेरयोगातियोगमिध्यायोगरूप उदाह्तः॥ ३३॥

गृङ्गाधरः—अथ क्रमिकलात् सम्माप्तिः कालकम्मेणामुदाहियते—निदिष्टा कालसम्माप्तिरित्यादि । दीर्घञ्जीवितीयाध्याये क्याधीनां हेतुसंग्रहे काल-बुद्धीन्द्रियार्थानामिति वचने कालसम्माप्तिः कालस्यायोगातियोगमिध्यायोग-रूपा निर्दिष्टाः, व्याधिहेतुरेकस्तत्र तस्य विवर्णं पित्तादीनां चयमकोपम्शमा घम्मादिषु यथा निर्दिष्टाः, तिस्रीपणीये च मिध्यायोगातियोगहीनयोगलिङ्गा वर्णान्ताः काला रोगहेतवो निर्दिष्टाः, जीर्णानस्य कालाकालस्थितिर्याः, भक्तानस्य भक्तमात्रानस्य या कालाकालस्थितिः, प्रजीर्णानस्य जरणा-

हिष्टिमिति निन्दितम् । संक्षेपेण प्रज्ञापराधं दर्शयज्ञाह—युद्धेपत्यादि । विपमित्यनुचितम्, विपमं विज्ञानं स्वरूपत एव प्रज्ञापराधः । विपमप्रवर्त्तन्त्रः 'प्रज्ञापराध'शब्देनोच्यते । मनसो गोचरं तिदिति, तद् विपमप्रवर्त्तनं विपमज्ञानन्त्र मनःकार्य्यं प्रज्ञाविपयत्वेन मनसो गोचरमित्यर्थः । विपमप्रवर्त्तनन्त्र मनसो गोचरवेन उपचारादुक्तम्, विसद्दशमनोविपयज्ञानाद् विपमवारदेहप्रवृत्ति रूपं भवति ॥ ३३ ॥

चक्रपाणिः—व्याधीनां कालसम्प्राप्तिमाह—निर्द्दिप्टेत्यादि । व्याधिसंग्रह इति कियन्तः-शिरसीये ''चयप्रकोपप्रशामाः पित्तादीनां यथाकमम् । भवन्त्येकैकशः पट्सु कालेप्वश्रागमादिपु'',॥ इत्यनेन यथा हुप्रदाहरणेन च । तेन कालसम्प्राप्तिव्योश्रीनां चयप्रकोपप्रशामाः पित्तादीनां पुरा निर्दिष्टा इति योज्यम् । उदाहरणान्तरमाह—मिथ्येत्यादि । जीर्णादौ जीर्णायवस्थात्रयविशिष्टस्य पूर्विमध्यापराह्णाश्च रात्रम यामास्त्रयश्च ये। येषु कालेषु नियता ये रोगास्ते च कालजाः॥ अन्येदुम्ब्को द्रमह्माही तृतीयकचतुर्थको। स्वे स्वे काले प्रवर्तन्ते काले हेम्बां चलागमः॥ एते चान्ये च ये केचित् कालजा विविधा गदाः। अनागते चिकित्स्यास्ते चलकालो विजानता॥ ३४॥

रम्मानस्य पच्यमानस्य या कालाकालिस्थितिः, पूर्विक्तः कफस्य मध्याहः वित्तस्यापराह्नः पवनस्य तथा राज्ञ्याः पूर्विद्धयामाद्द्धं मर्व्वाक् च शेपार्द्धयामाद् ये यामास्त्रयः कफिपत्तवातानां काला उक्ताः, तत्र येषु कालेषु ये दोपास्तेषु कालेषु तज्जा ये रोगा नियतास्ते रोगाः कालजाः, एवमन्येद्धुप्रकादयो ये रोगाः स्वे स्वे काले भवतीति कालसम्प्राप्तिर्विद्धाः, एते चान्ये च ये केचिद्धिविधाः कालजा गदास्तेपां वलकालौ विजानता भिपजा खल्वनागते भविष्यति वेगागमकाले पूर्विते

अन्नस्य कालः, तथा अन्नस्याकालोऽजीर्णाद्यवस्थालिक्षतः। प्रजीर्णञ्च विद्ग्धम्। रात्रेः यामास्त्रयश्च य इति, त्रयो भागाः पृत्वंरात्रमध्यरात्रप्रपरात्रक्षपः, न तु यामः प्रहर इति ज्ञेयम्। अन्यत्रापि च भागत्रये यामितिभागं कृत्वा अभिधानशास्त्रे त्रियामा निशा अभिधीयते। तेषु कालेष्विति जीर्णान्नकालादिषु जीर्णे अपराह्णे रात्रिशेषे च वातिका गदाः, भुक्तमात्रे पृत्वंह्णे पृत्वं रात्रे च कफजा गदाः, प्रजीर्णे मध्याह्णे मध्यरात्रे च पित्तजा गदाः नियता रोगा ह्णेयाः। अन्नाकाले चाजीर्णलक्षणे भोजनात् त्रयो दोषा भवन्तीति ह्णेयम्। किंवा जीर्णभुक्तप्रजीर्णान्नकाला हित च्लेदः, ते च जीर्णाद्यवस्थायुक्तान्नकालाः पृत्वंवदेव ह्णेयाः, तथा 'कालिस्थितिश्च या' इति योजना, 'कालिस्थिति'श्चादेन वाल्यादिवयस्त्रेविध्यमुच्यते। तत्र वाल्ये इलेप्मिकाः, योवने पैत्तिकाः, वार्द्वक्ये वातिका गदा वद्धंन्त इति ह्णेयम्। विषमज्वरानिष कालविशेषप्रवर्त्तमानत्वेन कालजे दर्शयनाह—अन्येद्वप्रक इत्यादि। ह्यह्माही चतुर्थकविषयर्थयः। वद्यति हि— 'विषमञ्चर एवान्यश्चतुर्थकविषयर्थयः। सध्येऽहनी ज्वर्यत्यादावन्ते च मुज्वति॥'' कथं स्वकीय एव काले प्रवर्त्तमित्याह—काले हेपपां वलागम इति, उक्त एव काले यस्माद् वलवन्तो भवन्ति, तस्मात् तत्रव सञ्चातवलाः सन्तो व्यज्यन्त इत्यर्थः।

एतेपां चिकित्साकालकममाह—एते चेत्यादि । 'अन्ये च' इत्यनेनान्येऽपि कालविशेपप्रादु-भोविणा शोथकुष्टादीन् सूचयति ॥ ३४ ॥ कालस्य परिणामेन जरामृरूयनिमित्तजाः छ । रोगाः खाभाविका दृष्टाः खभावो निष्प्रतिक्रियः ॥ निर्दिष्टं देवशन्देन कर्मा यत् पोट्वेदेहिकम् । हेतुस्तद्पि कालेन रोगाणामुपलभ्यते ॥ ३५ ॥

चिकित्स्या भवन्ति । इति कालशन्देन सोऽपि कालो गृह्यते । ये पुनर्जरामृत्न्यादयोऽप्यनिमित्तनाः स्वाभाविका रोगा दृष्टास्तेऽपि कालस्य परिणामेन
भवन्तीति कालना उच्यन्ते । योवनान्ते कालपरिणामेन जरा भवति, जरान्ते
कालपरिणामेन मृत्युर्भवित । क्रमेणाहारकालपरिणामे मध्याहादिषु श्चया
भवति, कालपरिणामे च निद्रा भवतीत्येवमादि । स्वभावो हि निष्पतिक्रियः ।
स्वाभाविकन्यायेः प्रतिक्रिया नास्ति । नतु पूर्व्वाध्याये कालस्य त्रिविधयोग एव
कालसम्प्राप्तिरुक्ता पुनरिह कम्भेणां सम्प्राप्तः, किं त्रिविधकारणादितिरुक्तं
कारणमित्याबह्याह—निर्दिष्टमित्यादि । देवशन्देन पौर्व्वदेहिकं कम्भेजफल्लवं धम्प्रीधम्प्रीख्यं कम्प्री यन्निर्दिष्टं तदिह कम्प्रीशन्देनोच्यते । तेनेह
जन्मिन यत् कम्प्री तत् प्रवापराधनं प्रवापराधार्यं पूर्व्वदेहेऽपि प्रवापराधादेव
अधम्म्यकम्प्री पद्यपि तथापि तत् कम्प्रीपलं कालेन परिणतं रोगाणां हेतुरुपलभ्यते । न तु सद्यः । इह देहे कृतं कम्प्री प्रवापराधार्यं, यद् परलोके
फल्लिपति तत् परजन्मिन कालान्तरे परिणामात् फलतीति काल एवाभिधीयते

चकराणिः—स्वाभाविकानि कालपरिणामन्यज्ञयमानतया हृह कालजेऽवरोधयितुमाह—कालस्येत्यादि । जरामृत्युरूपान्निमित्ताःता जरामृत्युनिमित्ताः, 'मृत्यु'शन्देनेह युगानुरूपायुः-पर्य्यवसानभवः कालमृत्युर्योद्यः । किंवा, जरामृत्व्योर्यनिमित्तम्, तस्माजाता जरामृत्यु-निमित्तज्ञाः, जरामृत्युनिमित्तज्ञ प्राणिनां साधारणं वेहनिवर्त्तकमृतस्वमावोऽदृष्टन्व । अथि स्वाभाविकानां का चिकित्सेत्याह—स्वभावो निष्प्रतिक्रिय इति । साधारणचिकित्सपा रसायन-वर्ज्ञं जरा न प्रतिक्रियते, रसायनेन तु प्रतिक्रियत एव । तेन, ''अस्य प्रयोगाच्च्यवनः सुवृहो-ऽमृत् पुनर्युवा' इत्यादिरसायनप्रयोगेण समं न विरोधः । किंवा, स्वाभाविका जराद्यो रसायन-जनिवप्रकर्पाइत्तरकालं पुनरवद्यं भवन्तीति निष्प्रतिक्रियत्वेनोक्ताः । सम्प्रति कर्म्मसम्प्राप्तिकृतमिष् गर्वं कालविशेषव्यज्यमानतया दर्शयन्नाह—निद्दिष्टमित्यादि । कालेनेति पच्यमानतालक्षितेन कालेन युक्तं सत् कर्मं कारणं भवतीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

^{*} जरामृत्युनिमित्तजाः इति चक्रधतः पाठः ।

न हि कम्म महत् किश्चित् फलं यस्य न भुज्यते। क्रियाघाः कर्मजा रोगाः प्रश्सं यान्ति तत्त्वयात् ॥ ३६॥ अत्युप्रशब्दश्रवणाच्छ्वणात् सद्देशो न च। शब्दानाश्चातिहीनानां भवन्ति श्रवगाज्यहाः ॥ परुषोद्भीषगाशस्तात्रियव्यसनसूचकैः। शब्दैः श्रवणसंयोगो मिथ्यायोगः स उच्यते ॥

न तु प्रज्ञापराध इति । ननु ततो यदि रोगो न स्यात् तदा न कारणं भवतित्यत् आह—न हीत्यादि। हि यसात्। न खल्वेवंभूतं किश्चित् महत् कम्मी विद्यते यस्य कम्प्रीणः फलं न सुज्यते। सन्वेकम्पेसंन्यासेऽपि फलं ब्रह्मलोक-"ब्रह्माणं कम्मसंन्यासाद्वैराग्यात् प्रकृतेः परम् । ज्ञानात् कैवल्य-मामोति" इति योगाभ्यासजातज्ञानस्य फलमप्यस्तीति तत्त्वमिति । ति चैतत्-कम्मीजन्याधिवत् पौन्वदेहिककम्मीजो व्याधिः किं साध्यासाध्यभावे तुल्य इत्यत आह—क्रियात्रा इत्यादि । पौर्व्वदेहिककम्मीजा रोगाः क्रियात्रास्तत्तद्व्याध्युक्त-क्रियाभिने शास्यन्ति । तर्हि किमसाध्या इत्यत आह—प्रशमं यान्ति तत्क्षयात् । तत्कारणभूत्कम्मेक्षयात् ते कम्मेजा रोगाः प्रश्चमं यान्तीति कालकम्मेणां सम्प्राप्तिदेशिता ॥ ३४ – ३६ ॥

गङ्गाधरः - अथासात्म्यागमभ्चेति यो रोगहेतुरुक्तस्तं द्रजयति - अत्युप्र-शब्दश्रवणादित्यादि । धीधतिसमृतिविभ्नंशाद् यद्यपि अत्युग्रशब्दश्रवणादीनि कुव्वेन्ति प्रज्ञापरायजानि तथापि मेघादीनामत्युग्रश्रव्दश्रवणादीनि प्रज्ञापराध-व्यतिरेकाद्पि भवन्तीति पृथगुक्तानि। ननु पूर्विमुक्तम् इन्द्रियार्थानाम् अयोगोऽतियोगो मिथ्यायोगश्चेति त्रितियो हेनुसंग्रहः, इह तु शब्दा-दीनामत्युग्रादीनां अवणादिरतियोगोऽथ सर्व्वशो न च अवणादि, अतिहीन-शब्दादिश्रवणादि, तथा मिथ्यायोगइचेति चतुर्वियो हेतुरुक्त इति विरुध्यत

चक्रपाणिः — कम्मंगः फलसम्बन्धिनियममाह – न हीत्यादि । 'महत्' इति विशेषणेन किब्चित् महत् कम्मे प्रायश्चित्तवाधनीयफलं ददात्यिप फलमिति दर्शयति। कर्मजानामचिकित्सत्व-माह - क्रियाद्या इत्यादि । तत्क्षयादिति कर्मक्षयात् । कर्मक्षयश्च कर्मफलोपभोगादेव भवति ॥ ३६॥

चक्रपाणिः -- क्रमागतमसारम्येन्द्रियार्थसंयोगं विवृणोति -- अत्युग्रेत्यादि । सर्वशो न चेति

असंस्पर्शोऽतिसंस्पर्शो होनसंस्पर्श एव च।
स्पृश्यानां संग्रहेगोक्तः स्पर्शनेन्द्रियवाधकः॥
यो भृतविषवातानामकालेनागतश्च यः।
स्नेहशीतोष्णसंस्पर्शो मिथ्यायोगः स उच्यते॥
रूपाणां भाखतां दृष्टिर्वनश्यति हि दर्शनात्।
दर्शनाचातिस्चमाणां सर्व्वश्रश्चाप्यदर्शनात्॥
दिष्टभैरववीभत्त-दूरातिङ्किष्ट-६-दर्शनात्।
तामतानाञ्च रूपाणां मिथ्यासंयोग उच्यते॥
अत्यादानमनादानमोकसात्मग्रदिभिश्च यत्।
रसानां विषमादानमल्पादानञ्च दूषणम्॥
अतिमृद्दतितीच्णानां गन्धानामुषसेवनम्।
असेवनं सर्व्वश्रच प्राणेन्द्रियदिनाशनम्॥

इति चैन्न। पूर्व्य यदुक्तं "योगो मिथ्या न चाति च" इति। न च योगः खलु द्विचिधः सन्वेशो योगाभावो हीनयोगश्च नन्नो द्वप्रध्यहणात्। असंस्पर्शो हीनसंस्पर्शश्च स्पर्शायोगः। अतिस्क्ष्मदर्शनं सन्वेशोऽदर्शनश्च रूपायोगः। ससानामनादानमल्पादानश्च रसायोगः। ओकसात्म्यादिभिर्यद् विपमादानं तद्-रसिष्थ्यायोगः। गन्धानां सन्वेशोऽसेवनमतिमृदुसेवनश्च गन्धायोगः,

सर्व्योग्रशब्दाश्रवणात् । स्पृश्यानामिति स्पृश्यत्वेनोक्तानां शास्त्रेऽभ्यङ्गोत्सादनादीनाम् । भूताः सविपिक्तिमिपिशाचादयः । यो भूतविपवातानां संस्पर्शः, तथाकालेनागतः स्नेहशीतोष्ण-संस्पर्शश्चेति योजना । तत्राकाले स्नेहसंस्पर्शो यथा—अजीर्णे कप्तवृद्धिकाले अभ्यङ्गस्पर्श उप्णे चोष्णस्पर्शोऽकालेनागतो ज्ञेयः । सर्व्यशक्षाप्यदर्शनमिति भास्ततां सूक्ष्माणाञ्च सर्व्यथादर्शनात् । अतिश्विष्टमिति नेत्रप्रत्यासन्नम् । तामसानां रूपाणाञ्च दर्शनात् विनश्यति दृष्टिरिति सम्बन्धः । मिथ्यायोगः स इति दृष्टभैरवादिरूषः । अतिसूक्ष्मदर्शनञ्च मिथ्यायोग एव ज्ञेयः । ओकसात्म्या-

^{*} क्रिप्टेत्यत्र श्रिप्टेति वा पाठः ।

पृतिभृतिवषद्विष्टा गन्धा ये चाप्यनार्त्तवाः । तौर्गन्धेर्द्राग्तसंयोगो सिध्यायोगः स उच्यते ॥ इत्यसात्म्यार्थसंयोगस्त्रिविधो दोपकोपगः । इत्रसात्म्यसिति तद्विद्याद् यन्न याति सहात्मताम् ॥ ३७ ॥ सिध्यातिहीनयोगेभ्यो यो व्याधिरुपजायते । शब्दादीनां स विज्ञे यो व्याधिरुपजायते । शब्दादीनां स विज्ञे यो व्याधिरुपजायते । वेदनानामशातानाम् ६ इत्येते हेतवः रमृताः । सुखहेतुर्मतरत्वेकः समयोगः सुदुर्लभः ॥ ३८ ॥

अतितीक्ष्णानां गन्धानां सेवनमतियोगः, पूतिगन्धादिसेवनं मिथ्यायोग इति । इति त्रिविधोऽसारम्यार्थसंयोगो दोपकोपणः। यत् तु सहात्मतामारमीभावं न याति तदसारम्यं विद्यादिति ॥ ३७॥

गङ्गाधरः—एप खल्वसात्म्येन्द्रियार्थयोगजो व्याधिः किं शारीरो मानसो वेत्यत आह—मिथ्येत्यादि । शब्दादीनां मिथ्यायोगातियोगायोगहीनयोगेभ्यो यो व्याधिर्जायते स ऐन्द्रियकव्याधिः शारीर एव । शरीरं हि चेतनाधिष्टान-भूतं पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकं, न तिह गौतमोक्तं चेष्टेन्द्रियार्थाश्रय—शरीरं विवक्षितं, तत्र पृथगिन्द्रियार्थयोग्रहणात् ।

नजु ज्ञातच्या दुःखहेतव इति यदुक्तं तत् किं सुखदुःखोभयरूपवेदनाहेतव इत्यत आह—वेदनानामित्यादि । अञ्चातानामसुखानां वेदनानामित्येते हेतवः स्मृताः

दिभिरिति विपमादानिर्मित सम्बन्धः। ओकसात्म्यादिवेपम्ये राशिदोपवर्ज्जप्रकृत्यादिसप्तक-दोपा महीतन्याः। त्रिविध इति अयोगातियोगिमध्यायोगरूपः। असात्म्यत्वं दर्शयति—असात्म्य-मित्यादि। सहेति मिलितं शरीरेण। आत्मताम् अविकृतरूपतां न याति। एतेन, यदुगयुक्तं प्राकृतरूपोपघातकं भवति, तदसात्म्यमिति। इत्थमसात्म्यार्थजस्य व्याधेरिन्द्रियद्वारमृतत्वेनेन्द्रियकत्वं दर्शयन्नाह—मिथ्येत्यादि। हीनयोगेनेह अयोगो प्राह्यः। ऐन्द्रियक इति इन्द्रियद्वारमृतः। दःखरूपवेदनाहेतुं प्रपन्च्य उक्तमुपसंहरित—वेदनानामित्यादि। असात्म्यानामिति दःखानाम्। अथ सुखरूपवेदनाहेतुः क इत्याह—सुखेत्यादि। समयोग इति कालबुद्धीन्द्रियार्थानां सम्यग्योगः। सुदुर्लम इति कालादिसम्यग्योगस्य विरहत्वेन सुदुर्लभत्वात्। प्रायो हि कालादीनां मध्ये

असारम्यानाम् इति वा पाठः ।

नेन्द्रियाणि न चैत्रार्थाः सुखदुःखस्य हेततः। हेतुस्तु सुखदुःखस्य योगो दृष्टश्चतुर्विधः॥ सन्तीन्द्रियाणि सन्द्यर्था योगो न च न चास्ति रुक्। न सुखं, कारणं तस्माद योग एव चतुर्विधः॥ ३६॥ नात्मेन्द्रियमनोबुद्धि-गोचरं कार्म वा विना। सुखं दुःखं यथा यच्च वोद्धव्यं तत् तथोच्यते॥ ४०॥

न तु सुखानाम्। कः पुनः सुखहेतुरित्यत आह—सुखहेनुरिति। एकः सुदुर्छभः कालबुद्धीन्द्रियार्थानां समयोगः सुखहेतुर्मतः आरोग्यहेतुरिति यावत्॥ ३८॥

गृङ्गाथरः—नसु कालादय एव हेतवः कथं तेपां योगा हेतव उक्ता इत्यत आह—नेन्द्रियाणीत्यादि। सुखदुःखस्य हेतवो नेन्द्रियाणि न चार्या न च कालो न चुद्धिः। तिर्हि के हेतवः ? तत्राह—सुखदुःखस्य हेनुस्तु चतुर्व्विधो योगो दृष्टः। कस्मात् ? सन्तीत्यादि। यस्मादिन्द्रियाणि सन्ति सन्ति चार्थास्तेपां योगो न यदि भवति रुक् च नास्ति सुखञ्च नास्ति। एवं कालोऽस्ति पुरुपोऽस्ति योगो नास्ति न चास्ति रुक् न चास्ति सुखम्। तथा चुद्धिः अस्ति वोद्धन्यञ्चास्ति योगो नास्ति रुक् च सुखञ्च नास्तीति वोध्यम्। तस्मात् चतुन्विध योग एव सुखदुःखस्य कारणिमिति॥ ३९॥

गङ्गाधरः—ननु सुखदुःखस्यानुभवे कारणमात्मेन्द्रियमनोबुद्धयो न कथं सुखदुःखस्य हेनव इत्यत आह—नात्मेत्यादि । न खल्वात्मादिगोचरं सुखं अन्यतरेणाप्ययोगादिना पुरुषः सम्बध्यते । तेन च नित्यानुरा एव पुरुषा भवन्ति, 'अनानुरारोगानामयादि' स्वस्थव्यपदेशः पुरुषाणां क्रियत हित भावः ॥ ३७१३८ ॥

चक्कपाणिः—सम्प्रति सम्यग्योगस्थोपादेयतां दर्शयितुमयोगादीनां हेयतां दर्शयितुं योगमेव चतुिर्धिषं कारणावेन दर्शयताह—नेन्द्रियाणीत्यादि। ननु कथिमिन्द्रियार्थयोः सुखदुःखकारणावेन उपलभ्यमानयोरप्यकारणाविमित्याह—सन्तीत्यादि। योगो न चेति इन्द्रियार्थयोः सम्बन्धो न च, न सुखिमिति च्छेदः। इान्द्रयार्थयोगेंगाभावे अकारणावेन, सित तु योगे कारणावेन योग एवान्वयव्यितिरेकाभ्यां कारणमवधार्यत इति भावः। अयव्य योग इन्द्रियार्थविधकृत्य स्पष्ट- विनोक्तः। तेन, प्रज्ञाकालयोरिप वोद्यव्यः। एत्रच्चेन्द्रियमर्थव्चानुपादेयं कृत्वा चतुर्विध-योगस्य कारणावं योगानामेव हेयोपादेयत्वेन दर्शनार्थं कृतम् ॥ ३९॥

चकपाणिः—परमार्थतस्त्वात्मेन्द्रियमनोबुद्धपर्थोद्दष्टान्येव तथायुक्तानि सुखदुःखकारणानीति दर्शयन्नाह—नात्मेत्यादि । गोचर इन्द्रियार्थः । कम्मे अदृष्टम् । तत्र आत्मानं विना नोष्णादौ

स्पर्शनेन्द्रियसंस्पर्शः स्पर्शो मानस एव च। द्विविधः सुखदुःखानां देदनानां प्रवर्त्तकः ॥ ४१॥ इच्छाद्वेषात्मिका तृष्णा सुखदुःखात् प्रवर्तते। तृष्णा च सुखदुःखानां कारगां पुनरुच्यते॥

दुःखं वा कम्म विना भवति अर्थैः सहात्मादीनां कर्म्मणि योगे सति हि यच यथासुखं यच यथादुःखं तत् तथा वोद्धव्यमुच्यते ॥ ४०॥

गङ्गाधरः—ननु तत् कम्मे कि भवति, तदाह—स्पर्भनेन्द्रियेत्यादि। सुखदुःखानां वेदनानां प्रवर्त्तको हि द्विविधः। वाह्यार्थग्रहणे स्पर्भनेन्द्रियसंस्पर्भ एकः प्रवर्त्तकः। मनोबुद्धप्रधेग्रहणे मानसः स्पर्भ एव च द्वितीयः॥ ४१॥

गङ्गाधरः—एवं वेदनानामिष प्रवर्त्तकत्मित्त, तदाह—इच्छेत्यादि । इच्छा द्वेपश्चेत्युभयात्मिका तृष्णा सुखदुःखात् प्रवर्त्तत इति तृष्णाप्रवर्त्तिका वेदना, पुनस्तृष्णा च सुखदुःखानां कारणं प्रवर्त्तिकोच्यते । इति परस्परं कारणं

सुखदःख भवतः। इन्द्रियादीनाञ्च सुखदःखकारणत्वं स्पष्टमेव। कम्मीपि च शुभं सुखकारणम्, अशुभञ्च दःखकारणम्। यद्यात्मादय एव कारणम्, तत् किमधं कालाद्य-योगातियोगादय इहोच्यन्त इत्याह—यथेत्यादि। यद् वोद्धव्यं सुखदुःखं यथा वोद्धव्यं कार्य्यवद्यात् भवति, तथैवोच्यते नान्यथा, सात्म्यासात्म्येन्द्रियार्थजन्यत्वेन सुखदुःखं प्रतीयमाने चिकित्सायामुपयुक्तं भवतः, नात्मादिजन्यत्वेन। आत्मादिजन्यत्वेनेह सुखदुःखं अभिधीयेते, न ह्यात्मादयो सुखदुःखहेत्तत्या प्रतिपद्यन्ते, किन्त्वसात्म्येन्द्रियार्थयोगादय एव दुःखहेतवस्यज्यन्ते, सुखहेतवः सात्म्येन्द्रियार्थयोगादय एव दुःखहेतवस्यज्यन्ते, सुखहेतवः सात्म्येन्द्रियार्थयोगादयस्तूपादीयन्ते इति भावः॥ ४०॥

चक्रपाणिः—इदानीं सकलकारणस्यापकं योगं स्पुत्पादियतुमैन्द्रियकं मानसस्पश्चं दर्शयितु-माह—स्पर्शनेन्द्रियसंस्पर्श इति । अर्थेनेन्द्रियाणां सम्बन्धः स्पर्शनेन्द्रियकृतो भवति, चक्षुरा-दीन्यपि स्ट्रप्टमेवार्थं जनयन्ति, यदि ह्यस्प्रप्टमेव चक्षुः श्रोत्रं द्राणं वा वेत्ति, तदा विदूरमपि गृह्षीयात् न च गृह्णिति । तस्मात् स्प्रप्रत्वमिन्द्रियाणां प्रतिपचते, मानसस्तु स्पर्शिधन्त्यादिना अर्थेन समं स्द्रमोऽस्त्येव । येन मनः किञ्चिदेव चिन्तयित, न सर्व्वम् । तेन, यन्मनसा स्ट्रयते, तदेव मनो गृह्णातीति स्थितिः ॥ ४१ ॥

चक्रपाणिः—सुख इःखोत्पत्तिक्रममाह—इच्छेत्यादि । सुखादिच्छारूपा तृष्णा, इःखाच होप-रूपा तृष्णा प्रवर्तते । इयञ्चोत्पन्नतृष्णा ईप्सिते द्वेषे प्रवर्त्तयःती द्विष्टे च निवर्त्तयन्ती, प्रवृत्ति- उपादत्ते हि सा भावान् वेदनाश्रयसंज्ञकान् । स्पृश्यते नानुपादानो नास्पृष्टो वेत्ति वेदनाः ॥ ४२ ॥ वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः । केशलोमनखायान्न-मलद्रवगुर्गोर्विना ॥ ४३ ॥

वीजाङ्क् रवत्। कस्मादेवं तथाह—उपादत्त इत्यादि। हि यस्मात् सा खिल्वच्छाद्वे पात्मिका तृष्णा वेदनाश्रयसंक्षकान् भावान् शरीरमनांसि उपादत्ते, तस्मात् सुखदुःखानां वेदनानां कारणं तृष्णा। नतु च तृष्णा वेदनाश्रयसंक्षकान् भावानुपादत्ते न तु वेदनानाश्रयान्। स्पर्श्वनिद्वयेण संस्पर्शो मानसस्पर्शश्च सुखदुःखात्मकवेदनामवत्तेकः केशादिच्छेदनादितो न क्षतः सुखदुःखानुभवः स्यादित्यत आह—स्पृश्यत इत्यादि। स्पर्शनेन्द्रियेण शरीरस्थेन मनसा चानुपादानसतृष्णानुपादानको भावो न स्पृश्यते। स्पर्शनेन्द्रियेणास्पृष्टश्च भावो न सुखदुःखात्मिका वेदना वेत्ति॥ ४२॥

गृहाधरः—ति वेद्नाश्रयसंक्षका वेदनानामिध्यानानि के भावारतृष्णया त्पादत्ता इत्यत आह—वेदनानामित्यादि । मनः सेन्द्रियश्च देहो वेदनानां सुख-दुःखानामिध्यानमाश्रय इति । किमिध्यानमुच्यते इति मश्चस्योत्तरम् । नमु सेन्द्रियो देह स्वेद्वेदनाश्रयः कथं केशादिच्छेदनादिषु न सुखदुःखसंवेदनं स्यादित्यत आह—सेन्द्रियो देह इति । केशछोमनखाग्राणि तथान्नमछद्रवाणां विण्मृत्राणां गुणैविना देहसंकः । न हि केशादिस्तृष्णोपादानं, तृष्णोपादानन्तु स्पर्शनिन्द्रयं मनश्च, केशादिव्यतिरिक्तं देहं सेन्द्रियं स्पृशति न केशादीन् स्पृशति । तस्मात् केशाद्ययो न वेदनां विद्गत्ति केशादिव्यतिरिक्तो देहः सेन्द्रियो वेदनां वेत्तीति । गौतमेनाप्येवमुक्तम् । आप्रनखात् इत्यादि ॥ ४३ ॥ निष्टुत्तिविषयस्य सुखदुःखहेतुतामपेक्ष्य सुखदुःखे जनयतीति वाक्यायंः । यथोक्तृष्णायाः सुख-दुःखहेतुत्वं दर्शयन्नाह—उपादत्ते हीत्यादि । वेदनाश्रयसंज्ञकानिति वेदनाकारणत्वेनोक्तान् कालाय-योगादिक्त्यान् । अय तृष्णा चेत् सुखदुःखकारणम्, तत्त किमिन्द्रियार्थनापरेण कारणेनेत्याह—स्वर्यत इत्यादि । अनुपादान इति अविद्यमानार्थरूपे स्पर्शकारणे, अर्थ विना नार्थस्य स्पर्शा भवति । अथ न भवत्यर्थस्वर्शस्ततः किमित्याह—'नास्पृष्टो वेत्ति वेदनाः' इति । अर्थस्पर्शकृत्यः सन् न सुखदुःखे अनुप्पन्तवादेव वेत्तीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

चक्रवाणिः—चेदनानां किमधिष्ठानिमत्यस्योत्तरमाह—चेदनानामित्यादि । देहः सेन्द्रिय इत्यनेन निरिन्द्रियो देहो केशलोमादिको निरस्तः । तदेव स्पष्टार्थं विवृणोति—केशेत्यादि । योगे मोने च सर्वातां वेदनानामवर्त्तनम् । मोनो निवृत्तिर्निःशेषा योगो मोन्प्रवर्त्तकः ॥ श्रात्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्त्तते । सुखं दुःखमनारम्भादात्मस्थे मनित स्थिरे ॥ निवर्त्तने तदुभयं विश्वत्वञ्चोपज्ञायते । सश्रीरस्य योगज्ञास्तं योगशृषयो विदुः ॥ ४४ ॥

गङ्गाधरः — अथ यदि मुखदुः खात्मिका वेदना तर्हि कालगुढीन्द्रियाथानां त्रिविधयोगात् दुःखपट्टत्तिस्तचिकित्सया धातुवैषम्यनिष्टत्तौ तज्जदुःखनिष्टत्तिः मुखस्य प्रष्टत्तिः, प्रष्टत्तस्य च मुखस्य कालवुद्धीन्द्रियार्थसमयोगाद्धातुसाम्य-स्थितिस्तज्जसुखस्य च स्थितिरिति सुखात्मिका वेदना तु दुःखानुबन्धा न चिकित्सया निवर्त्तते। इत्याशङ्का प्रागियवेश उत्राच-क चैता वेदनाः सन्त्रों निष्टित्तं यान्त्यशेषत इति। सन्त्रीः सुखदुःखात्मिका वेदनाः क च चिकित्सायामशेषतो निष्टत्तिं यान्तीति। तत्रोत्तरमाह—योगे मोक्षे चेत्यादि। सर्व्वासां सुखदुःखात्मिकानां वेदनानामशेपतोऽवर्त्तनं निष्टत्तियोगे भवति मोक्षे च भवति। कः पुनमौक्षो योगइचेत्यत आह--मोक्षो निष्टत्तिनिःशेपेति। निःशेषा निष्टत्तिः सुखदुःखात्मिकाया वेदनाया मोक्षस्तस्य मोक्षस्य पवर्त्तको योग इति । कथमिति ? आत्मेत्यादि । आत्मादिसन्निकर्पात् सुखं पवर्तते . दुःखञ्च। सम्यक् सन्निकर्पात् सुखमसम्यक्सन्निकर्पात् दुःखं पवर्तते। तत्रात्मस्थे स्थिरे मनसि सत्यनारम्भाद्वाचा शरीरेण मनसा च पर्वत्तेरभावात तदुभयं सुखञ्च दुःखञ्च निवर्त्तते योगसिद्धस्य सशरीरस्य जीववतः पुरुपस्य विज्ञातिश्चोपजायते। वशी हि स यश्चेतः समाध्ते यश्च सर्व्यं निरस्यति, न तु स वशी यः कर्म कुला तत्फल स्वयं भुङ्क्ते। तं योगना ऋपयो योगं विद्विति किंवा, इन्द्रियाण्यपि प्राधान्यख्यापनार्थे पृथग् वेदनाश्रयःवेन सेन्द्रियप्रहणेनोच्यन्ते । वेदनाया देहेन्द्रियगतत्वं तदाधारत्वेन प्रतीयमानत्वाज्ञेयम् । द्रवं सूत्रम् । गुणाः शब्दाद्यः । शरीरगता एते हि केशादयो न वेदनाधारा इत्यनुभव एव प्रमाणम् । या तु मूत्रपुरीपगता चेदना ग्रहणी-मूत्रकृच्छ्रादौ वक्तव्या, सा मूत्रपुरीपाधारशरीरप्रदेशस्यैव वोध्या ॥ ४३ ॥

चक्रपाणि:—क चैता वेदनाः सर्वा इत्यस्योत्तरम्—योग इत्यादि। योगः "भनारम्भाद्" इत्यादिग्रन्थे वक्ष्यमाणः। मोक्षोऽत्यन्तशरीरोच्छेदः। निःशेपेति न पुनर्भवति, पुतेन योगेन निवृत्ता

पातञ्चले दर्जने योगशासने चोक्तः। योगश्चित्तष्टिक्तिनरोधः। तदा द्रण्डः खरूपेऽवस्थानम्। द्यत्तयः पश्चतय्यः क्षिष्टाक्षिष्टाः। प्रमाण-विषय्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयः। प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि। विषय्पयो मिथ्याज्ञान-मतद्रूपप्रतिष्टम्। शब्द्जानानुपाती वस्तुश्न्यो विकल्पः। अभावपत्यया-लम्बना द्यत्तिनिद्रा। अनुभूतविषयासम्प्रमोपः स्मृतिरिति द्यत्तयः। अभ्यास-वैराग्याभ्यां तिन्तरोधः। तत्र स्थितौ यज्ञोऽभ्यासः। स त दीर्घकाल-नैरन्तय्यसत्कारासेवितो दृद्भूमिः। दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकार-संज्ञा वैराग्यम्। तत् परं पुरुपख्यातेषु णवैतृष्ण्यमिति।

सूत्राण्येतानि वेदन्यासेन न्याख्यातानि । तद् यथा । योगः समाधिः, स च सार्व्यभौमश्चित्तस्य धर्मः। क्षिप्रं मृदं विक्षिप्तमेकाग्रं निरूहिमति चित्तभूमयः। तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभृतः समाधिर्न योगपक्षे वर्त्तते। यस्त्वेकाग्रे मनिस सद्भूतमर्थं प्रचीतयति क्षिणोति च क्षेत्रान कम्पेवन्थनानि च श्लथयति निरोधमभिमुखं करोति स सम्प्रवातो योग इत्याख्यायते। स च तर्कानुगतो विचारानुगत आनन्दानुगतः अस्मितानुगतः इत्युपरिष्टात् भवेद्यिष्यामः । सर्व्व-दृत्तिनिरोधे तसम्प्रशातः समाधिस्तस्य लक्षणाभिधित्सयेदं सूत्रं प्रवत्तेत। ०। योगश्चित्तरिक्तिनरोधः । १। इति । सन्वेशन्दाग्रहणात् सम्प्रज्ञातोऽपि योग आख्यायते। चित्तं हि मख्याप्रष्टित्तिशीलबात् त्रिगुणम्। मख्याख्पं हि चित्तसत्त्वं रजस्तमोभ्यां संस्कृमैश्वर्यविषयोपगं भवति। तमसात्वविद्धमध्ममीज्ञानावैराग्यानैश्वय्योपगं भवति । तदेव प्रश्लीणमोहावरणं सर्वेतः प्रद्योतमानम् विद्धं रजोमात्रया धर्म्मशानवैराग्येश्वर्योपगं भवति। तरेव तमोऽनुविद्धरजोलेशमलापेतं स्वरूपमतिष्टं सत्त्वपुरुपान्यताख्यातिमात्रं धरमीमेघध्यानोपगं भवति तत् परं प्रख्यानमित्याचक्षते ध्यायिनः। चिति-शक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च सत्त्वगुणाधिका चेयम् ; अतो विपरीता विवेक ख्याति रित्यतस्तस्यां विरक्तं चित्तं तामपि ख्याति निरुणिद्ध । तदवस्थं संस्कारोपगं भवति । स निन्वींजः समाधिः । न च तत्र किञ्चित सम्प्रज्ञायते इत्यसम्प्रज्ञातः । द्विविधः स योगश्चित्तर्यतिनरोध ः इति । तद्वस्थे चेतिस विषयाभावात्. स्वरूप इत्यारोपितम् । बुद्धिवोधात्मा पुरूषः किंस्यभाव इति। । तदा द्रण्डुः स्वरूपेऽवस्थानम्। २। स्वरूपपतिष्ठाः तदानीं चिति-निवृत्ता वेदना भवतीति सुचयति । मोक्षप्रवर्त्तक इति मोक्षकारणम् । किंवा, 'योगमोक्षौ निवर्त्तकौ' इति पाठः, तदा, अस्मिन् पक्षे यद्यपि योगमोक्षयोवदनानिवर्त्तकत्वं 'योगे मोक्षे च' इत्यादिना

शक्तिर्यथा कैवल्ये ; न्युत्थानचित्ते तु सति तथापि भवती न तथा। श्रव्यं तर्हि ? द्रितिविषयसाद्। द्रितसारूप्यमितस्त्र ।३। च्युत्थाने याश्चित्तरत्तरहिशिष्ट-द्यतिः पुरुषः। तथा च सूत्रम्। एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनमिति। चित्तम् अयस्कान्तमणिकर्षं सन्निधिमात्रोपकारि दृश्यलेन स्वंभवति पुरुपस्य स्वामिनः। तस्माचित्तरितिनरोधे पुरुपस्यानादिसम्बन्धो हेतुः। ताः पुनिनरोद्धव्या वहुसे सति चित्तस्य । । दृत्तयः पश्चतय्यः क्रिप्टाक्रिप्टाः । ४। क्लेशहेतुकाः कम्मीश्यमचये क्षेत्रीभृताः क्रिष्टाः ; गुणविकारविरोधिन्य अक्रिष्टाः क्रिष्टप्रवाहपतिता अप्यक्रिष्टाः । क्षिष्टच्छिद्रेषु अप्यक्तिष्टा भवन्ति। अक्तिष्टच्छिद्रेषु क्रिष्टा अप्यक्तिष्टा इति । तथा-जातीयकसंस्कारा दृत्तिभिरेव क्रियन्ते, संस्कारैश्र दृत्तय इति। एवं दृत्तिसंस्कार-चक्रम्निशमावत्तेते। तदेवसभूतं चित्तमवसिताधिकारमात्मकल्पेन व्यवतिष्ठते मलयं वा गच्छतीति । ताः क्रिष्टाश्चाक्रिष्टाश्च पश्चधा रुत्तयः । । प्रमाणं-विपय्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयः ।५। तत्र । प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि । ६ । इन्द्रिय-प्रणालिकया चित्तस्य वाह्यवस्तूपरागात् तद्विपया सामान्यविशेपात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणपधाना रुक्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्। फलमविशिष्टः पौरुपेयश्चित्तरुक्ति-निरोधः। सम्प्रति संवेदी पुरुष इत्युपरिष्टादुपपादयिष्यामः। अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वज्ञवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः सम्बन्धो यस्तद्विपया सामान्य-विज्ञेषावधारणप्रधाना द्वतिरसुमानम् । यथा देशान्तरपाप्तेर्गतिमचन्द्रतारकं चैत्र-वत् । विन्ध्यश्रापाप्तेरगतिः । आप्ते न दृष्टोऽनुमितो वार्थः परत्र स्ववोधसंक्रान्त-तया शब्देनोपदिश्यते। शब्दात् तदर्थे विषया दृत्तिः श्रोतुरागमः शब्दार्थौ न वृक्तर्ने द्रष्टुरनुमितार्थः स आगमः प्रवते, मूलवक्तरि तर्द्धानुमितार्थे निर्विष्ठवः स्यात । विषय्येयो पिथ्यानानमतद्रपप्रतिष्ठम् । ७ । स वा कस्मान प्रमाणम् ? यतः प्रमाणेन वाध्यते, भूतार्थविषयतात् प्रमाणस्य तत्र प्रमाणेन वाधनम् अप्रमाणस्य दृष्टम्। तद् यथा—द्विचन्द्रदर्शनं सद्विपयेणैकचन्द्रदर्शनेन वाध्यते। सोऽयं पश्चविधो भवत्यविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पश्च क्वेशा इति। एत एव स्वसंशाभिस्तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्र इति। एते चित्तमल्प्रसङ्घेनाभिधीयन्ते । ०। शब्दशानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः । ८। स न प्रमाणोपारोही विष्यययोपारोही च ; वस्तुश्रुत्यलेऽपि शब्द्बानमाहात्म्य-निवन्धनो व्यवहारो दृश्यते।तद् यथा चैतन्यं पुरुषस्य खरूपमिति।यदा चितिः श्लोकार्द्धन उक्तम्, तथापि योगमोक्षयोरिह कर्त्तृ तया वेदनानिवृत्तिं दर्शयति, इति न पौनरुक्तम् । यथा योगो वेदनानिवर्त्तको भवति, यश्च योगस्तमाह—आत्मेत्यादि । अनारम्भादिति

एव पुरुपस्तदा किमन केवलो व्यपदिश्यते। भवति च व्यपदेशहत्तिः। तथा मितिपिद्धवस्तधम्मी निष्क्रियः प्ररूपस्तिष्ठति । वाल्यः स्थास्यति स्थित इति गतिनिष्ट्रतौ धात्वर्थमात्रं गम्यते। तथाऽनुत्पत्तिधम्मी प्ररूप इति उत्पत्ति-धर्मस्याभावमात्रं गस्यते. न प्रत्पान्वयी धरमः, तस्माद्विकल्पितः स धरमस्तेन चास्ति व्यवहार इति । ०। अभावपत्ययालम्बना दृत्तिनिद्रा। ९। सा च सम्प्रवोधे परयवमर्जः परययविशेषः। कथम् १ सुखमहमस्याप्सं प्रसन्नं मे मनः प्रज्ञा मे विशारदीकरोति, दुःखमहमस्वाप्तं श्रान्तं मे मनो भ्रमत्यमवस्थितम्। गाढुं मुदोऽहमस्वाप्सं गुरूणि मे गात्राणि क्वान्तञ्च चित्तमलसं मथितमिव तिष्ट्वीति। स खल्वयं प्रवुद्धस्य प्रत्यवमशौ न स्यात् । असति प्रत्ययानुभवे तदाश्रिताः स्मृतयथ तद्विपया न स्युस्तस्मात् प्रत्ययविशेषो निद्रा, सा च समाधावितर-प्रत्ययवित्ररोद्धव्येति । ० । अतुभूतविषयासम्प्रमोपः समृतिः । १० । कि प्रत्यव-स्याहोस्विद्विपयस्येति। आत्मोपरक्तमत्ययो ग्राह्मग्रहणोभयाकारनिर्भासस्तथा-जातीयकं संस्कारमारभते। स संस्कारः स्वन्यञ्जकाञ्जनस्तदाकारामेव ग्राह्मग्रहणो-भयात्मिकां स्मृतिं जनयति। तत्र ग्रहणाकारपूर्वा दुद्धिः ग्राह्याकारपूर्वा स्मृतिः सा च द्वयी भवति-भावितस्मत्तंच्या चाभावितस्मत्तच्या च ; स्वप्ने भावित-स्मत्तव्या, जागरितसमये लभावितस्मर्त्तव्येति । सर्वाः स्मृतयः प्रमाणविष्ट्यय-विकल्पनिद्रास्मृतीनामन्भवात सम्भवन्ति। सन्बोद्यता दृत्तयः सुखदुःख-मोहात्मिकाः : सुखदुःखमोहाश्च क्वेत्रोषु व्याख्येयाः। सुखानुशयी रागः, दःखानुशयी द्वेषः, मोहः प्रनरविदेशति। एनाः सर्वा दृत्तयो निरोद्धन्याः। आसां निरोधे सम्प्रज्ञातो वा समाधिर्भवति, असम्प्रज्ञातो वेति। ०। अथासां निरोधे क उपायः। अभ्यासवैराग्याभ्यां तिवरोधः । ११ । चित्तनदी नाम उंभयतोवाहिनी। वहति करुयाणाय वहति पापाय। या तु कैवरुय-प्रागभवा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा। संसारमागुभवा अवि-वेकविषयनिम्ना पापवहा । तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिलीक्रियते । विवेक-द्रजनाभ्यासेन विवेकस्रोत उद्घाट्यते इति उभयाधीनश्चित्तरितिनरोधः। ०। तत्र स्थितौ यत्रोऽभ्यासः। १२। चित्तस्याद्यत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिः तद्रथः प्रयत्नो वीर्य्यमुत्पिपाद्यिपया तत्साधनातुष्ठानमभ्यासः । । स तु दीर्घ-कालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृहभूमिः । १३ । दीघकालासेवितः तपसा ब्रह्म-विषयोपादानार्थं मनसोऽनवस्थानात्। आत्मस्थे मनसीति विषये निवृत्ते केवलात्मज्ञानस्थे। स्थिर इत्यचले आत्मज्ञानप्रसक्त एवेति यावत्। तदुभयमिति स्खरुःखम्। योगधर्मान्तर-

आवेशश्चेतसो ज्ञानसर्थानां छन्दतः क्रिया। दृष्टिः श्रोत्रं स्वृतिः कान्तिश्वितश्चाप्यदर्शनम्॥

चर्यण विद्यया श्रद्धया च सम्पादितः सत्काराख्यो दृढ्भूमिभेवति । द्युत्थान-संस्कारेण द्रागित्येवानभिभूतविषय इत्यर्थः । ०। दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् । १४ । स्त्रियोऽन्नपानमैश्वय्येमिति दृष्टविपये वितृष्णस्य स्वर्गोदिशकृतिलयलगामेः आनुश्रविकविषये वितृष्णस्य दिव्यादिव्य-विपयदोपदर्शिनः विषयसम्प्रयोगेऽपि चित्तस्य भोगात्मिका हेयोपादानशून्या वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् । ०। तत् परं पुरुपख्याते-गु णवैतृष्ण्यम् । १५। दृष्टानुश्रविकविषयदोषद्शी विरक्तः पुरुषद्शेनाभ्यासात् तच्छुद्धिः। प्राग् विवेकध्यायिनस्तद्वुद्धिगुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्म्भभयो विरक्त इति द्वयं वैराग्यम्। तत्र यदुत्तरं यज्ञानप्रसाधनमात्रं यस्योद्ये प्रत्युद्ति-रूपातिरेवं मन्यते प्राप्तं प्रापणीयं क्षीणाः क्षेतव्याः क्रेशाविखनः श्लिष्टपन्वी भवसंक्रमो यस्य अविच्छेदात् जनिला म्रियते मृलापि जायते । यस्यैव परा काष्टा वैराग्यं तस्यैवान्तरीयकं कैवल्यमिति। अथोपायद्वयेन निरुद्धचित्तदृत्तेः कथमुच्यते सम्प्रज्ञातः समाधिरिति।०। वितकेविचारानन्दास्मितारूपातु-गमात सम्प्रज्ञातः । १६ । वितकश्चित्तस्यालम्बने स्थल आभोगः, सुक्ष्मो विचारः, आनन्द आहादः एकात्मिका संवित् अस्मिता। इति रूपचतुष्टयानुगमात् चतुर्विधः समाधिः। तत्र प्रथमः सवितकः समाधिः, द्वितीयो वितक्षिणः सविचारः, तृतीयो विचारवितर्किणः सानन्दः, चतुर्थस्तद्वितर्कविचारानन्दिनो-ऽस्सितामात्र इति। सन्वे एते सालस्वनाः समाध्यः सम्प्रज्ञाताख्याः। अथ असम्प्रज्ञातसमाधिः किम्रुपायः किंस्वभावो वेति । ०। विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्व्यः संस्कारविशेषोऽन्यः ।१७। सर्व्वटित्तिप्रत्यस्तसमये संस्कारविशेषो निरोधिश्चित्तस्य समाधिरसम्प्रज्ञातः। तस्य परं वैराग्यमुप्यः। सालम्बनोऽभ्यासस्तत्साधनाय न कल्प्यत इति विरामप्रत्ययो निर्व्वस्तुक आलम्बनीक्रियते। शुन्यस्तदभ्यासपूर्वं चित्तं निरालम्बनमभावपाप्तमिव भवतीत्येष निन्वीजः संगाधिरसम्प्रज्ञातः इति ॥ ४४ ॥

गङ्गाधरः—नतु विश्वतमेव किं योगसमाधितो जायते न सन्यदित्यत आह— सम्प्राप्तिमाह—विश्वतमित्यादि । विश्वतं वक्ष्यमाणमष्टविधमैश्वर्यवलम् । 'सशरीरस्य' इतिपदेन शरीरेण सहैव विश्वतं भवतीति दुर्शयति ॥ ४४ ॥

चक्रपाणिः—आवेश हत्यादि । श्रावेशः परपुरप्रवेशः । चेतसो ज्ञानमिति परचित्तशानम् ।

इत्यप्टविधमाख्यातं योगिनां वलमैश्वरम् । शुद्धसत्त्वसमाधानात् तत् सर्व्वमुपजायते ॥ ४५ ॥

आवेशइचेत्यादि । शुद्धसत्त्वसमाधानात् रजस्तमोभ्यां विनिम्र्युक्तमनः-समाधानात् तदावेशादिकं सन्वंमुपजायते । तद् यथा । शुद्धमनःसमाधानेन स्वार्थेन्द्रियार्थग्रहणान्निष्टत्तस्य मनस आत्मनि स्थिररूपेणावस्थितौ व्याधिरत्यान-संशय-प्रमादालस्य-विरति-भ्रान्तिदर्शनालन्धभूमिकसानवस्थितसानां चित्तस्य विक्षेपाणामन्तरायाणामभावात् प्रत्यगात्माधिगमाच चेतस विधं योगिनामैश्वरमीस्वरभावाधिगमे वर्छं भवति । योगिनां हि त्रयोविंशतिः सिद्धयः ; पश्च क्षद्रसिद्धयः, दश्च गुणप्रधानाः सिद्धयः, अष्टी ब्रह्मप्रधानाः सिद्धयः। त्रिकालज्ञतमहुन्द्वं परचित्ताद्यभिज्ञता। अग्नप्रकाम्युविपादीनां स्तम्भश्राप्यपराजयः। इति पश्च क्षुद्राः सिद्धयः। अस्मिन् देहेऽनूमिर्मवत्त्वं दूरश्रवणदर्शनं मनोजवित्वं कामरूपं परकायमवेशः स्वेच्छामृत्युर्देवक्रीड़ातुः द्रशंनं यथासङ्करपि द्विराज्ञासि द्विरच्याहतगतिः। इति द्श गुणप्रधानाः सिद्धयः। अणिमा महिमा लिघमा प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं कामाव-शायिता च। इत्यष्टी ब्रह्मप्रधानाः सिद्धयः। तासां साधारणकार्घ्यलेनेदमष्ट-विधमैश्वरं वर्छं योगिनामुक्तम्। आवेशश्चेतस इति समाधिद्विविधः सवीजो निन्वीजश्च। तत्र वक्ष्यमाणैः सताम्रपासनादिभिः शुद्धे मनसि मनसः परशरीरावेशादिकारी समाधिः सवीजः। तद् यथा। वन्धकारण-**जैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच चित्तस्य परशरीरावेशः। लोलीभृतस्य मनसो-**ऽप्रतिष्ठितस्य शरीरे कम्मीशयवशाद्वन्धः प्रतिष्ठा । तस्य कम्मेणो वन्धकारणस्य **बैथिल्यं समाधिवलाद्भवति। प्रचारसंवेदनश्च चित्तस्य समाधिजमेव।** कम्मेवन्धक्षयात् स्वचित्तस्य प्रचारसंवेदनाच योगी चित्तं स्वशरीरान्निष्कृष्य शरीरान्तरेषु निक्षिपति । निक्षिप्तं चित्तकचेन्द्रियाण्यनुपतन्ति यथा मधुकर-राजं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति निविश्यमानमनुविशन्ते तथेन्द्रियाणि पर शरीरावेशे चित्तमनुविधीयन्ते इति।

अर्थानां ज्ञानमिति। पातञ्जले। पर्ट्यालोकन्यासात् स्क्ष्मन्यवहितविष्रकृष्ट्-ज्ञानम्। अवनज्ञानं स्र्य्य संयमात्। चन्द्रे तारान्यूहज्ञानम्। ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्। अर्थानां छन्दतः क्रियेति अर्थानां छन्दतः करणम्। इष्टिरतीन्द्रियदर्शनम्। श्रोत्रमतीन्द्रिय-अवणम्। स्मृतिः सर्व्यभावतत्त्वस्मरणम्, कान्तिरमानुषी कान्तिः। इष्टतञ्चाष्यदर्शनमिति 6208

नाभिचक्रे कायव्यूहकानम्। हृद्ये चित्तसं वित्। इति। व्यासभाष्यञ्चैपाम्। ज्योति ष्मती परित्तक्ता, मनसः तस्या य आलोकस्तं योगी न्यस्य मुक्ष्मे व्यवहिते विषकुण्डे वाऽर्थेऽर्थमधिगच्छति । सूर्ये संयमात् भुवनज्ञानम् । सूर्यमण्डलस्था सप्त लोकाः, तत्र मेरोः उदीचीप्रभृति मेरुपृष्ठं यावदित्येप भूलीकः। मेरुपृष्ठा दारभ्य ध्रवात् ग्रहनक्षत्रताराविचित्रोऽन्तरीक्षलोकः। तत्परं खलौकः पञ्चविधः माहेन्द्रस्तृतीयश्रतुथेः प्राजापत्यो महलीकस्त्रिविधो ब्रह्मलोको जनतपःसत्य भेदात् । चन्द्रे ताराव्यूहकानम् । चन्द्रे संयमं कृता ताराव्यूहं विजानीते । ध्रहं तहतिकानम्। ध्रवे संयमं कृता तासां ताराणां गतिं विजानीयात्। नाभि चक्री संयमं कृता कायव्यूहं विजानीयात्। हृदये चित्तसंवित्। यदिदमस्मिन ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म तत्र विज्ञानम्। तस्मिन् संयमाचित्तसंवित इत्यादि। छन्दतः क्रिया। स्वेच्छ्या कस्मेकरणं भवति। यथा पातञ्जले कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमात् लघुत्लसमापत्तेश्वाकाशगमनम्। यत्र काय स्तत्राकार्णं तस्यावकाशदानात् कायस्य। तेन सम्बन्धः प्राप्तिः। तत्र कृत-संयमो जिला तत्सम्बन्धं लघुत्लादिषु आ परमाणुभ्यः लब्ध्वा जितसम्बन्धो लघुर्लघुलाच जले पादाभ्यां विहरति। ततस्तूर्णनाभि तन्तुमात्रे विहत्य रिमपु विहरति। ततो यथेष्टमाकाशे भवति। इत्येवमादिस्वेच्छया गमनादिक्रियाशक्तिः। दृष्टिदिव्यचक्षुर्भवति मूर्द्रज्योतिषि सिद्धदर्शनम्। शिरःकपाले च्छिदं प्रभास्तरं ज्योतिस्तत्र संयमात् सिद्धानां द्यावापृथिवयोरन्तरालचराणां दर्शनम्। इत्यादि। श्रोत्रः मिति। दिव्यं श्रोत्रं भवति। श्रोत्राकाशयो रन्ध्रसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम् सर्विश्रोत्राणामाकाशः प्रतिष्ठा सर्वेशव्दानाञ्च। तदुक्तम्। अवणानामेकदेशश्रुतिलं सञ्वपां भवतीति ; तच्चैतदाकाशस्य लिङ्गम्। अना-वरणञ्चोक्तम्। तथामूर्त्तस्यानावरणदर्शनाद् विभ्रुत्तमपि प्रख्यातमाकाशस्य। शब्दगुणानुमितं श्रोत्रं, विधराविधरयोरेकः शब्दं न गृह्णाति अपरो गृह्णाति तस्मात् श्रोत्रमेव शब्दविषयं, श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धे कृतसंयमस्य योगिनो दिव्यं श्रोत्रं पवर्तते इति । स्मृतिरिति । वक्ष्यते लत्रैव – वक्ष्यन्ते कारणान्यष्टौ इत्यादिना। कान्तिरवान्तरमणिमादिमादुंभावः कायसम्पत्तद्धम्मानिभिघातश्च। रूपलावण्यवज्रसंहननलादिः कायसम्पदिति कान्तिभवति । इष्टतश्राप्यद्जनम् यदेच्छति तदा दर्शनयोग्य एव न दृश्यते, यदा चेच्छति तदा दृश्यते । किंवा आवेशार्चेतस इति परचेतसः प्रवेशः, ज्ञानमिति सर्व्यमतीतानागतादिज्ञानम्। शेपं पूर्व्वत्। ऐश्वरमिति

मोचो रजस्तमोऽभावात् वलवत्कर्म्संच्यात् । वियोगः कर्म्मसंयोगैः ७ अपुनर्भव उच्यते ॥ ४६ ॥ सतामुपासनं सम्यगसतां परिवर्जनम् । व्यतचर्य्योपवासश्च नियमाश्च पृथग्विधाः ॥ धारणं धर्म्मशास्त्राणां विज्ञानं विजने रतिः । विषयेष्वरतिमोंचे व्यवसायः परा धृतिः ॥

इति । स्वेच्छयान्तर्द्धानं भवति । पातञ्जले । कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्य-शक्तिस्तम्भे चक्षुःमकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्द्धानम् । कायरूपसंयमात् रूपस्य ग्राह्यशक्तिं प्रतिवधाति, ग्राह्यशक्तिस्तम्भे सति चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्द्धान-मुत्पचते योगिनः । एतेन शब्दाद्यन्तर्द्धानमुक्तं वेदितव्यमिति । इत्यष्टविधमैश्वरं चलं योगिनां शुद्धसत्त्वसमाधितः तत् सर्विमुपनायत इति ॥ ४५ ॥

गङ्गाधरः - नतु योगो मोक्षमवर्त्तक इत्युक्तं यत्, तत्र मोक्षः कीदृश इत्यतं आह - मोक्ष इत्यादि । रजस्तमोऽभावात् ततो वलवत्कम्मेणां धभ्माधम्मीणाश्च संक्षयात् । तथा कम्मेणां नित्यनैमित्तिककाम्यानां संयोगैर्वियोगो मोक्षो-ऽपुनभव उच्यते ॥ ४६ ॥

गृङ्गाधरः - नन्वेत्रं मोक्षस्य प्रवर्त्तके योगे स्मृतिर्या जायते सा कथं विज्ञायत इत्यत आह - सताम्रपासनिष्ट्यादि । त्रतचय्यो चान्द्रायणादित्रताचरणम् । उपवासः, त्रप्रहादिनियमात् । नियमाश्च दश्चिधाः पृथक् । धम्मेशास्त्राणां धारणमभ्यासः । विज्ञानं प्रमाणेन प्रमाज्ञानम् । विजने निज्जने स्थाने स्थितौ रतिः । विपयेषु रत्यभावः । मोक्षे व्यवसायः । मोक्षसाधनकम्मेसु

योगप्रभावादुपात्तैश्वर्यकृतम् । शुद्धसत्त्वसमोधानादिति नीरजस्तमस्कस्य मनस आत्मिनि सम्यगाधानात् ॥ ४५ ॥

चक्रपाणिः—अथ कथं मोक्षो भवति, कश्चेत्याह्—मोक्ष इत्यादि । वलवत्कर्मासंक्षयादिति अवस्यभोक्तन्यकल् कर्मणः क्षयात् । सर्व्वसंयोगैरिति सर्व्वेरात्मसम्बन्धिभः शरीरबुद्धप्रहङ्कारा-दिभिः , न पुनः शरीरादिसम्बन्धो भवतीत्यपुनर्भवः ॥ ४६ ॥

चकुपाणिः प्रस्तावानमोक्षोपायमाह सतामित्यादि । परा एतिरिति चलितमनोनियमनम् ।

^{···*,} सर्व्यंसंयोगैरिति चेकः ।े ४००, वं ४०० वर्षा के प्रतिकार के स्वर्णन

कर्म्म (। ससमारम्भः कृतानाञ्च परिच्यः । नैष्क्रम्यमनहङ्कारः संयोगे भयदर्शनम् ॥ मनोबुद्धिसमाधानमर्थतत्त्वपरीच्गम् । तत्त्वं रष्ट्रतैरुपस्थानात् सर्व्वमेतत् प्रवर्त्तते ॥

प्रवर्त्तनम्। परा धृतिधैर्यमिति। कम्मणां नित्यनैमित्तिककाम्यानां स्वभावात् अनारम्भः, कृतानाश्च कम्मेणां फलक्षयात् क्षयः। नैष्क्रम्यं गृहाश्रमानिष्क्रम-णम्। अनहङ्कारो गर्व्वत्यागः। लोकानां संयोगे सङ्गमे भयमिव दृश्यते इति। मनोवुद्धिसमाधानम् भनःसमाधानं वृद्धेश्च समाधानं समाधिः। उक्तं पातञ्जले। दृशवन्धश्चित्तस्य धारणा। तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। तदेवाथमात्रनिर्भासं स्वरूपश्चमिव समाधिः। त्रयमेकत्र संयमः। इति व्याख्यातानि वेद्व्यासेनैतानि।

यत्र नाभिचके हृदयपुण्डरीके सूर्द्धच्योतिषि नासाग्रे जिहाग्रे इत्येवमादिषु देशेषु वाहेर वा विषये चित्तस्य प्रतिमात्रेण वन्ध इव वन्धो धारणा। तत्र प्रत्ययेकतानता ध्यानम्। तिसमंश्च देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता साहश्यप्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम्। तद्वार्थमात्रनिभामं स्वरूप-शून्यिमव समाधिः। ध्यानमेव ध्येयाकारिनर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्य-भिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात् तदा समाधिः इत्युच्यते। त्रयमेकत्र संयमः। (तदेतद्धारणाध्यानसमाधि) एकविषयाणि त्रीणि साधनानि संयम इत्युच्यते। तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति। अर्थतत्त्वपरीक्षणम्। अर्थानां वस्तूनां तत्त्वेन याथार्थ्येन परीक्षासामर्थ्यम्। तत्त्वं सर्व्यंत्र याथार्थ्यमित्येतत् सताम्रुपसनाद्येतदन्तं सर्व्यं स्मृतेरुपस्थानादुपस्थित्याः प्रवर्तते न लेकेकमात्रं

कर्म्मणाम् असमारम्भ इति अनागतधभ्याधमासाधनानामकरणम् । कृतानाञ्च परिक्षय इति जन्मान्तरैः कृतानां कर्मणां फलोपभोगात् परिक्षयः । नेष्क्रम्यं संसारिनष्क्रमणेच्छा । अनहङ्कार इति ममेदमहमस्मीत्यादिखुद्धिवर्ज्जनम् । संयोग इति आत्मशरीरादिसंयोगे । मनोबुद्धिसमाधानमिति मनोबुद्धरोरात्मिन समाधानम् । सर्व्वमेतदिति "कर्मणामसमारम्भः" इत्याद्यक्तम् । तत्त्वस्मृतिः आत्मादीनां यथामृतानुस्मरणम्, सा च आत्मा शरीराद्यपकार्यः शरीरादयश्च तदधीनमावा

स्वृतिः सत्सेवनादैग्था धृत्यन्तैरुपलभ्यते । स्वृत्या स्वभावं भावानां स्मरन् दुःखात् प्रमुच्यते ॥ ४७ ॥ वच्यन्ते कारणान्यष्टौ स्वृतियैर्हपजायते । निमित्तह्यप्रहणात् साहश्यात् सविवर्ष्ययात् ॥

प्रवर्तते। ति स्मृतेः उपस्थितः कैविकायते इत्यत आह—स्मृतिरित्यादि। सत्सेवनादिभृत्यन्तै लिङ्गेः स्मृतिरस्योपस्थितोपलभ्यते। कम्भेणामनारम्भादीनि स्भृत्युपस्थितेलिङ्गान्यपि नोपलब्धये प्रभवन्त्येकान्तेन। दुरात्मनां कम्भेन्यागात्। कृतकम्मेसंक्षयस्तु परोक्षः। क्रोधादिनापि गृहान्निष्कामन्ति। अनहक्कारः स्वभावकथ दृश्यते। लोकसमवाय उनकजः स्वभावात्र सहाते। मनोवुद्धिसमाधानमतीन्द्रियलादक्षेयम्। अर्थतत्त्वपरीक्षणश्च विद्विद्धिदेश्यते। मनोवुद्धिसमाधानमतीन्द्रियलादक्षेयम्। अर्थतत्त्वपरीक्षणश्च विद्विद्धिदेश्यते। वहुभिर्धाम्भिकेरतत्त्वं सेव्यत इति तस्पाद्धृत्यन्तैरित्युक्तम्। एवं स्मृत्या योगी भावानां स्थभावं स्वरूपं स्मरन् दुःखात् सुखदुःखोभयात्मकदुःखाज्जन्मनः प्रसुच्यते न पुनभेदत्त।। ४७॥

गङ्गागरः—ननु कुतः समृतिभेवतीत्यत आह—वक्ष्यन्त इत्यादि। निमित्तः ग्रहणात् दृष्ट्रश्रुतानुभूतेषु स्मरणं भवति। यथायं मधुरं भापते मम पुत्रोऽप्येवमिति दृरस्थं पुत्रं स्मरति। तथा रूपग्रहणात् स्मरणं भवति दृष्ट्रश्रुतानुभूतानाम्। यथायं सुन्दरस्तथा मे पुत्र इति स्मरति। सादृश्याद् दृष्ट्रश्रुतानुभूतानां स्मरणं भवति। यथा—यथायं ते गौस्तथा मे द्वौ गात्रौ स्त इति स्मरति। सविपय्येयादसादृश्याद् दृष्ट्रश्रुतानुभूतानां स्मरणं भवति। यथेयं दुग्धवती ते

इत्यादिकस्मरणरूपतया स्मृतिः । अध स्मृतिः कथं इःखप्रमोपे कारणमित्याह—स्मृत्येत्यादि । स्वभावमिति प्रत्यात्मनियतरूपम् । गुरुवचनाद्धि प्रथमप्रतिपन्नमात्मादीनां रूपं परस्प^त न परस्परानुपकारकःवेन ब्यवस्थितं स्मरन् न कचिदपि प्रवर्त्तते, अप्रवर्त्तमानश्च न दृःखेन प्रत् युज्यत इत्यर्थः ॥ ४७ ॥ दर्शयन्नाह—

चक्रपाणिः—इदानीं स्मृतिप्रस्तावात् स्मृतिकारणान्याह्—वक्ष्यन्त इत्यादि । इःखमिति कारणज्ञानम्, कारणं हि दृष्ट्वा कारयं स्मरति । रूपग्रहणमाकारग्रहणम् । , चात्मकृतकमिति दृष्ट्वा गां स्मरति । सादृश्याद् यथा—पितुः सदृशं पुरुषं दृष्ट्वा पितरं स्मरति ममता 'ममेयं बुद्धिः' अत्यर्थवैसादृश्याद्षि स्मरणं भवति । यथा—अत्यर्थकुरूषं दृष्ट्वा अत्यः सत्त्वानुबन्धादभ्यासाज् ज्ञानयोगात् पुनःश्रुतात् । दृष्टश्रुतानुभूतानां स्मरणात् स्मृतिरुच्यते ॥ ४८ ॥ एतत् तदेकमयनं मुक्तैमीचस्य दर्शितम् । तत्त्रस्मृतिवलं येन गता न पुनरागताः ॥ श्रयनं पुनराख्यातमेतद् योगस्य योगिभिः । संख्यातधस्मैः सांख्येश्च मुक्तैमीच्स्य चायनम् ॥ ४६ ॥

गोन तथा मे सा गौरिति स्मरित। सत्त्वानुवन्धाद् दृष्टश्रतानुभूतानां स्मरणं भवित। यथा मनसा शिवं स्मरित। अभ्यासात् पुनःपुनराष्ट्रत्या दृष्ट-श्रुतानुभूतानां स्मरणं भवित। यथा वेदानभ्यस्तान स्मरणं भवित। श्रानयोगाद् योगादित उत्पन्नशानात् सर्व्वपां दृष्टश्रुतानुभूतानां स्मरणं भवित। यथा योगिनः स्मरित। पुनःश्रुताच दृष्टश्रुतानुभूतानां स्मरणं भवित। यद् विस्मृतं तत् पुनः श्रुता श्रोकादिकं स्मरतीति स्मरणात् स्मृतिक्चयते॥ ४८॥

गङ्गाधरः—नन्वेतं स्मृत्या स्वभावं स्मरन् किं दुःखात् प्रमुच्यते नान्यकारणादित्यत आह—एतदित्यादि । मुक्तैजीनिङ्गस्तदेतदेकं मोक्षस्यायनं
पन्थाः स्मृतिदंशितम् । नन्वस्ति खलु सर्व्वेस्येव रमृतिः कुत्रचिदेकस्य
अपरस्यान्यत्रैवं सर्व्वस्यैव किं मोक्षः स्यादित्यत आह—तत्त्वस्मृतिवलिमत्यादि ।
येन योगेन तत्त्वस्मृतिमेव वलं गता ये प्राप्तास्ते योगिनः शरीरं त्यक्तवा पुनरिह
नागता न जाता इति । ननु योगेन कीहशी स्मृतिभू ला वलमैश्वरं भवति
तत्त्वस्मृतिस्तु प्रायशो जनं वक्ते । यतस्तस्मिस्तदिति तक्त्वं प्रायशो जनाः
स्मरन्ति । एपा गौरेपोऽश्व एप दृक्ष इत्येवमादि । यद् यथा तत् तथा स्मरन्ति
योगिनम् । सत्त्वानुवन्धादिति मनसः प्रणिधानात्, सर्त्तव्यसरणाय प्रणिहितमनाः स्मर्त्तव्यं
स्मरति । अभ्यासादिति अभ्यस्तमर्थमभ्यासवलादेव स्मरति । ज्ञानयोगादिति तत्त्वज्ञानयोगात् ।
उपजातत्त्वज्ञाने हि तद्वलादेव सन्वं स्मरति । प्रनःश्चतादिति श्वतोऽप्यर्थः विस्मृतः पुनरेकदेशं
स्मृत्वा सम्यति । स्मृतिकारणमभिधाय स्मृतिरूपमाह—हप्टेश्यादि । हष्टं प्रत्यक्षोपलक्षणम् ।
श्रुतन्त्वागमप्रतीतम् । तेन सर्वपृत्वानुभूतावरोधः । कचित् 'स्मरणं स्मृतिरूच्यते' इति पाढः,
तत्रापि नार्थमेदः ॥ ४८ ॥

चक्रपाणिः—एवं स्मृतिं सामान्येन प्रतिपाद्य तत्त्वसमृतेमेशिक्षसाधकत्वं दर्शयन्नाह—एतदित्यादि । एकमयनमिति श्रष्टः पश्याः, मुक्तैरिति जीवन्मुक्तैरिति ज्ञेयम्, सर्व्यथा मुक्तानां शरीराभावेनोप- सर्वं कारणवह दुःखमस्त्रञ्चानित्यमेव च। न चात्मा कृतकं क तिद्ध तत्र चोत्पद्यते स्वता।। यावन्नोत्पद्यते सत्या वुद्धिनैतदहं यथा। नैतन्मम च विज्ञाय ज्ञः सर्व्यमतिवर्तते॥

न च मुच्यन्ते इति चेत्, सत्यम्। तत्त्वं द्विविधं परमार्थतस्तत्त्वं लोकतस्तत्त्वश्च। इदन्तु लोकिकं तत्त्वं तिस्मंस्तदिति। पारमार्थिकं तत्त्वन्तु प्रकृतिकानम्। यथा यद्ग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद् रूपं यक्कृकं तद्पां यत् कृष्णं तदनस्या-पापादग्नेरियतं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यमित्येवं सर्व्वपां प्रकृतिकाने या मूलपकृतिस्तां यत् स्मरित योगेन सा तत्त्वस्मृतिरैश्वरं वल्य्, तया स्मृत्या भावानां स्वभावं स्मरूपं स्मरन् दुःखात् प्रमुच्यते इति। यथैपा समृतिमोक्षस्यकमयनं तथा योगिभियौगस्याप्ययनमेतत् समृतिरूपमाख्यातम्। साङ्क्ष्ये सङ्गातधर्मीविंवातधर्मीभुँकौजीविद्धमोक्षस्य चायनमेतत् तत्त्वसमृति-रूपमाख्यातमिति॥ ४९॥

गङ्गाधरः—तत् तत्त्वं कीदृशिमत्यत आह—सर्व्विमितिः । सर्विमिदं कारणवत् कार्यं न तु कारणं तस्माद् विविधदुःखहेतुः छ। दुःखम्। कस्मात् १ यतोऽस्वम्। नात्मा। आत्मा हि भूमा। भूमैव सुखं नाल्पे सुखम्। ति कृतोऽस्विमिति। यस्माद् नित्यमेव चेदं सन्वं न चानित्य आत्मा। कस्मात् १ कृतकं ति । हि यस्मात् तत् सर्व्वं कृतकमत्थानित्यमतोऽस्वमतो दुःखम् इत्येवं तत्र योगे तत्त्वेन स्मृतो च जातायां स्वता खल्ल सर्व्वकारणभूतात्मता उत्पद्यते। मत्यगात्मभावं विहाय प्रकृतिभूतात्मताभिव्यज्यते इति। नत्तु चैवं स्मृतिः कियत्कालं नोत्पद्यते, तत्राह्—याविदत्यादि। यावत् सा सत्या दशंकःवाभावाद। तत्त्वस्मृतिवलमिति । येनेति, येन यथा। गता इति मोक्षं गताः। न पुनरागता इति सिक्तं याताः न पुनरागता इति सिक्तं याताः न पुनरागता इति सिक्तं याताः न पुनरागता इति सिक्तं याताः न पुनरागता इति सिक्तं याताः न पुनरागता इति सिक्तं याताः न पुनरागता इति सिक्तं याताः न पुनरागता इति सिक्तं याताः न पुनरागता इति सिक्तं याताः न पुनरागता इति सिक्तं याताः न पुनरागता इति सिक्तं याताः न पुनरागता इति सिक्तं याताः न पुनरागता इति सिक्तं याताः न पुनरागता इति सिक्तं याताः न पुनरागता इति सिक्तं याताः न पुनरागता इति सिक्तं याताः न पुनरागता स्वा स्वत्वः स्वतं स्

चक्रपाणिः—इदानीं सङ्घीपेण संसारहेतुमज्ञानम्, तथा मोक्षहेतुञ्च सम्यग्ज्ञानं दर्शयन्नाह— सन्वीमित्यादि । सन्वीं कारणविदिति सन्वीमुप्यमानं बुद्धपहङ्कारशरीरादि । इःखमिति इःखहेतुरेव । अस्विमिति सन्वीं कारणविदेवात्मन्यितिरक्तं परमार्थतः । न चात्मकृतकिमिति न चात्मनोदासीनेन कृतम् । तत्रोति कारणवित बुद्धिशरीराद्ये । स्वतेति ममता 'ममेयं बुद्धिः'

म चात्मकृतकिमिति चकः।

तस्मिश्ररमसंन्यासे समूलाः सर्व्वदेदनाः । समज्ञाज्ञानिक्ज्ञानात् ® निवृत्तिं यान्यशेषतः ॥ ५० ॥

बुद्धिनौत्पद्यते ताबदेवं तत्त्वस्पृतिवलं नोत्पद्यते इत्यथादवगम्यम् । का पुनः सत्या बुद्धिस्तस्मिंस्तदिति तु सत्याबुद्धिः सन्वस्यैव प्रायेण वर्त्तत इत्यत आह— नैतदहमित्यादि। यया बुद्ध्या खल्वेतन्नाहमिति ज्ञायते मय चैतन्नेति च विज्ञायते सा सत्या बुद्धिविद्याबुद्धिम् लगकृतिज्ञानम्। न तु तरिमंस्तदिति ज्ञानं सत्या बुद्धिरियं हि मिथ्याबुद्धिः। द्विविधा हि मिथ्याबुद्धिः प्रधानमिथ्या-चुद्धिः स्थाणौ पुरुप इति शुक्तौ रजतियति । तत्त्विमध्याचुद्धिसतु तस्मिंस्तदिति तत्त्वबुद्धिः। तया सत्यया बुद्धशा सर्व्वं विकायातिवत्तंते योगी। तस्मिंस्तदिति तत्त्वबुद्ध्या प्रधानमिथ्यावुद्धिरपैति सत्यया तत्त्वबुद्ध्या मिथ्यातत्त्वबुद्धिस्तिसमं-स्तदिति बुद्धिरपैति। तया तत्त्वबुद्धश रागद्देषमोहा दोपा अपयन्ति दोषा-पायात् प्रवृत्तिरवैति प्रवृत्त्यपायान् दुःखं सुखदुःखात्मकमपैति दुःखापायात् तु सर्व्यपतिष्टत्य मृलप्रकृतिभूतकारणमात्मा भवति न पुनर्जायत इति। ततः किं स्यादित्यत आह—तरि जित्यादि। तस्मिन् सर्वितिवत्तेने चरमसंन्यासे सन्ववेदनाः शारीरमानससुखदुःखात्मिका आधिभौतिका-ध्यात्मिकाधिदैविकरूपाः समूला धर्माधरमेसहिताः समजाज्ञानविज्ञानादशेपतो निष्टित्तं यान्तीति। क चैता बेदनाः सर्वा निष्टत्तं यान्त्यशेषत इति मश्रस्योत्तरमिति।

अत्रैवान्वीक्षिकीशासने गौतमेनोक्तं सपरीक्षणम्। तद् यथा—
ऋणक्लेशप्रष्टस्यनुवन्धादपवर्गाभावः। प्रधानशब्दानुपपत्तेशं णशब्देनानुवादो
निन्दाप्रशंसोपपत्तेः। अधिकाराच विधानं विद्यान्तरवत्। समारोपादात्मन्यप्रतिषधः। सुषुप्तस्य स्वप्तदर्शने वलेशाभावादपवगः। न प्रष्टृत्तिः
प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य। न क्लेशसन्ततेः स्वाभाविकलात्। प्राग्रत्पत्तेरभावानित्यलवत् स्वाभाविकेऽप्यनित्यलम्। अणुश्यामतानित्यलवद्
वा। न सङ्कल्पनिमित्तलाच रागादीनाम्। व्याख्यातान्यतानि वातस्यायनेत। ऋणक्लेशप्रट्यनुवन्धादपवर्गाभाव इति। ऋणानुवन्धान्नास्त्यपवर्गः।
इत्यादिरूपा। अथ कियन्तं कालमियं आन्त्या स्वतोत्पद्यते इत्याह—यावत् इत्यादि।
सत्या बुद्धिः सम्यग् ज्ञानम्। यथा सत्यया बुद्ध्या। नैतद्बुद्ध्यावद्दं, किन्तु भिन्न एवाहम्,

असंज्ञाज्ञानिक्ज्ञाना इति चक्रघतः पाठः ।

नायगानो ह व ब्राह्मणरित्रभित्रई णैक्क णवान् जायते। ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यकोन द्वेभ्यः प्रजया पितृभ्य इति अत्र सम्प्रदाने चतुर्थी। ब्रह्मचर्यादिभि-ऋंणैः भव्यादिभ्य ऋणवान् जायते इति भ्रणानि। तेपामनुबन्धः स्वक्रमोभिः सम्बन्धः। क्रम्भसम्बन्धवचनात्। जरामर्थ्यं वात्र तत् सत्रं यदग्रिहोत्रं दर्भपौर्णमासौ चेति। जरया ह वा एप एतस्मात् सत्राद्विमुच्यते गृत्युना ह वै चेति। ऋणानुवन्धादपवर्गानुष्ठानकालो नास्तीत्यपवर्गाभावः। ही शानुबन्धानास्त्यपवगेः। होशानुबन्धश्र जायते। नास्य हो शानुबन्ध विच्छेदो गृह्यते। प्रष्ट्रचतुवन्थानास्त्यपवर्गः। जनमप्रभृत्ययं यावत् प्रायणं वाग्यु द्वित्तरीरारम्भेणाविमुक्तो गृह्यते। तत्र यदुक्तम्—दुःखजन्मप्रष्टृत्तिः दोपमिथ्यामानामामुत्तरोत्तरापाये तद्नन्तराभावादपवर्ग इति तद्नुपपन्नमिति। अत्राभिधीयते—यत् तावदण। तुदन्धादिति ऋणैरित त्रुएणैरिति। "प्रधानशःढानुप-पत्तेगु णशब्देना तुवादो निन्दामञंसोपपत्तेः।" ऋणैरिति नार्यं प्रधानशब्दः। यत्र खल्वेकः मत्याद्यं ददाति, द्वितीयश्च मतिद्यं गृहाति तत्रास्य दृष्टलात् प्रधानमृणशन्दः। न चैनिद्होपपद्यते। प्रधानशब्दानुपपत्तेगु'णशब्देनाय-मनुवादः ऋगैरिव ऋणैरिति। प्रयुक्तोपमञ्चैतत्। अग्निर्माणवक इति। अन्यत्र दृष्ट्यायमृणशब्द इह प्रयुज्यते। यथाग्रिशब्दो माणवके। कथं गुण-शब्दंनात्ववादः ? निःदाप्रवंसोपपत्तः । कम्मेलोपे ऋणीव ऋणादानानिः चते । कम्बीनुष्टानं च ऋणीय ऋणमितदानात् पशस्यते। जायमान इति गुण-शब्दो विषय्येयेऽनिधिकारात्। जायमानो ह वै ब्राह्मण इति च शब्दो गृहस्थः सम्पद्ममानो जायमान इति। यदायमाश्रमस्थो जायते तदा कम्मभिर्धि-क्रियते। मातृतो जायमानस्यानधिकारात्। यदा त मातृतो जायते क्रमारो न तदा कम्में भिर्धिकियते, अर्थिनः शक्तस्य चाधिकारात्। अर्थिनः कम्मभिरिधकारः कम्मीवधौ कामयोगस्मृतेः। अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वगंकाम - इत्येत्रमादि शक्तस्य च प्रष्टित्तसम्भवात । शक्तस्य कर्म्भभरिधकारः प्रष्टित्तसम्भवात् । शक्तः खळु विहिते कस्मीण प्रवर्तते, नेतर इति । उभया-भावस्तु प्रधानशब्दार्थे यातृतो जायमान कुमार इति। उभयपर्थिता शक्तिश्र न भवतीति। न भिद्यते च लौकिकाद्वावयाद् वैदिकं वावयं, प्रेक्षापूच्यकारि-पुरुपनणीतसात्। तत्र लोकिकस्तावद्परीक्षकोऽपि न जातमात्रं क्रमारमेवं द्यथा नैतर् बुद्धनादि मम, किन्तु प्रकृतेः प्रषद्ध इति विज्ञाय । ज्ञस्तरवसाक्षात्कारवान् । सर्वमिति-वर्तत हित सर्व्वं बुद्ध्यादि त्यजित । चरमसंन्यास इति पश्चाद्वाविसकलकार्मसन्न्यासे । प्रथमं हि

ब्र्याद्—अधीप्व यजस्य ब्रह्मचंटर्यं चर इति । कुत एवमृपिरुपपन्नानवद्यवादी उपदेशार्थेन प्रयुक्त उपदिशति ? न खल वै नर्त्तकोऽन्धेषु पवर्तते। गायनो वधिरेष्टितत । उपदिष्टार्थविज्ञानश्चोपदेशविपयः। विजानाति तं प्रत्युपदेशः क्रियते, न चैतद्स्ति जायमानकुमारक इति। गाहरूथ्यस्य लिङ्गञ्च मन्त्रब्राह्मणं कस्मीभिवदति। यच मन्त्रब्राह्मणं कस्मीभि-वदति, तत पन्नग्रादिसम्बन्धादिना ब्रह्मचर्यमाहेस्थ्यलिङ्गादिनोपपन्नम् तस्माद गृहस्थोऽयं जायमानोऽभिधीयते इति। अर्थितस्य चाविपरिणामे जरामर्थं-वादोपपत्तेः। यावचास्य फलेनाथिलं न विपरिणमते न निवर्तते, तावद्नेन कम्मीनुष्ठेयमित्युपपचते। जरामर्य्यवादस्तं प्रतीति। जरया ह वा इत्यायुप-स्तुरीयभागेण प्रव्रज्यावचनम्। जरया ह वा एष एतस्माद्विमुच्यते इति। आयुषस्त्रशियं प्रत्रस्यायुक्तं जरेत्युच्यते। तत्र हि प्रत्रस्या विधीयते। अत्यन्तजरा-ं संयोगे जरया ह वा इत्यनर्थकम्। अशक्तो विम्रुच्यते इत्येतद्पि नोपपद्यते। स्वय-मज्ञक्तस्य वाह्यां ज्ञक्तिमाह। "अन्तेवासी वा जुहुयाद् ब्रह्मणा स परिक्रीतः। क्षीरहोता वा जुहुयाद्धनेन स परिक्रीतः" इति । अथापि विहितं वान्ट्रेयत । कामाद्वार्थः परिकल्प्येत इति विहितानुवचनं न्याय्यमिति। ऋणवानिवाऽस्वतन्त्रो गृहस्थः कम्मेसु प्रवर्त्तते इत्युपपन्नं वाक्यस्य सामर्थ्यम् । फलस्य हि साधनानि मयलविषयो न फलम्, तानि सम्पनानि फलाय कल्पन्ते। विदितञ्च जाय-- मानस्, विधीयते च जायमानस् ; तेन यः सम्बध्यते सोऽयं जायमान इति। मत्यक्षविधानाभावादिति चेन्न, मतिषेधस्यापि मत्यक्षविधानाभावादिति। पत्यक्षतो विधीयते गाहेस्थ्यं ब्राह्मणेन । यदि चाश्रमान्तरमभविष्यत्, तद्पि व्यथास्यंत प्रत्यक्षतः। प्रत्यक्षविधानाभावान्त्रास्त्याश्रमान्तरमिति न, प्रति-ः पेधस्य प्रत्यक्षविधानाभावात् । न प्रतिपेधो वै ब्राह्मणेन प्रत्यक्षतो विधीयते । न सन्त्याश्रमान्तराणि एक एव गृहस्थाश्रमं इति प्रतिषेधस्य प्रत्यक्षतो-्ऽश्रवणाद्युक्तमेतदिति। ०। अधिकाराच विधानं विद्यान्तरवत्। ०। यथा ्ञास्त्रान्तराणि स्वे स्वेऽधिकारे प्रत्यक्षतो विधायकानि, नार्थान्तराभावात्। िएवमिदं ब्राह्मणं गृहस्थ्वास्त्रं स्वे स्वेऽधिकारे प्रत्यक्षतो विधायकं नाश्रमान्तराणा-मभावादिति। अग् ब्राह्मणञ्चापवर्गाभिधार्यभिधीयते। ऋचश्च ब्राह्मणानि ं चापवर्गाभिधायीनि अवन्ति । ऋचश्र तावत् "कम्मीभम् त्युमृपयो निपेदुः मोक्षोपयोगित्वेन गुरुवचनात् कियासन्न्यासः कृत एव, परं स्वानुभवविरक्तेन न कृतः, अभ्यासादुद-्भृतेन साक्षाद्रप्रभावस्वभावेन यः सर्व्यसन्त्यासः क्रियते, तत्र समूलाः सर्व्वेदना ज्ञानाद्यश्च

प्रजावन्तो द्रविणिमच्छमानाः। अथापरे ऋपयो मनीपिणः परं कम्मेभयो-ऽमृतलमानशः। न कम्मेणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतलमानशः। परेण नाकं विहितं ग्रहायां विश्वाजने यद् यतयो विश्वन्ति। वेदाहमेतं पुरुषं, महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदिल्लातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।"

अथ ब्राह्मणानि । त्रयो धम्मेस्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनं दानमिति । प्रथमस्तप-एव, द्वितीयो ब्रह्मचर्य्याचार्य्यकुलवासः, तृतीयोऽत्यन्तमात्मन आचार्यकुले-<u>ऽवसादनम्। सर्व्व एवते प्रण्यलोका भवन्ति। ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्त्वमेति।</u> एतमेव पत्रजिनो लोकमभीप्सन्तः पत्रजन्तीति। अथो खल्वाहुः। काममय एवायं पुरुष इति। स यथाकामो भवति तथा क्रतुभवति। तथा तत् कम्भ कुरुते। यत् कम्भ कुरुते तद्भिसम्पद्यते। इति कम्मीभः संसर्णमुत्तवा मकृतमन्यदुपदिशन्तीति तु कामयमानो योऽकामो निष्काम आत्मकामो भवति, न तस्य पाणा उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्ते वसीव सन् ब्रह्माप्येति। इति। तत्र यदुक्तम् -- ऋणानुवन्धादपवर्गाभाव इत्येतद्युक्तमिति। ये चलारः पथयो देवयाना इति चातुराश्रम्यश्रुतेरैकाश्रम्यातुपपत्तिः। फलाथिनक्चेदं बाह्म जरामय्ये वा एतत् सत्रं यद्शिहोत्रं दर्शपोर्णमासौ चेति। कथम् ? समारोपादात्मन्यमतिषेधः। प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां साब्ववेद्सं हुलात्मन्यग्रीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रवजेदिति श्रूयते। तेन विज्ञानीमः मजावित्तलोकैपणाभ्यश्च न्युत्थायाथ भिक्षाचय्यं चरन्तीति। श्रान्युत्थितस्य पात्रचयान्तानि कम्मीणि नोपपद्यन्त इति। कत्तुः प्रयोजकपलं भवतीति चातुराश्रम्यविधानाच्चेतिहासपुराणधम्म-शास्त्रेष्वैकाश्रम्यातुपपत्तिः। तद्यमाणमिति चेन्न। प्रमाणेन खळ बाह्मणेन इतिहासपुराणस्य प्रामाण्यमभ्यनुवायते। ते वात्र ते अथर्वाङ्गिरस इतिहास-पुराणमभ्यतपन्नित्यादि। इतिहासपुराणं पश्चमं वेदानां वेदमिति। तस्मात अयुक्तमेतद्रशामाण्यमिति। अप्रागाप्ये च धम्मेशास्त्रस्य प्राणभृतां व्यवहार-लोपाल्लोकोच्छेदमसङ्गः। द्रष्ट्रमवक्तृसामान्याचामागण्यानुपपक्तिः। य एव मन्त्रव्राह्मणद्रष्टारः पवक्तारश्च, ते खल्वितिहासपुराणस्य धम्मेशास्त्रस्य चेति। शरीरोपरमादेव उपरमन्ते । समूला इति सकारणाः, कारणञ्च बुद्ध्याद्यः । संज्ञा आलोचनं निर्विद कल्पकम् । ज्ञानं सविकल्पकम् । विज्ञानं बुद्ध्यवसायः । क्षिंवा संज्ञया नामोल्लेखेन ज्ञानम्, विज्ञानं शास्त्रज्ञानम् । तन्वज्ञानमपि हि मोक्षं जनयित्वा निवर्त्तत एव कारणाभावात् ॥ ५० ॥

विषयन्यवस्थानाच यथाविषयं प्रामाप्यम् । अन्यो मन्त्रो ब्राह्मणस्य विषयो-Sन्यइचेतिहासपुराणधम्मेशास्त्राणामिति। यनो धन्त्रत्राह्मणस्य छोकप्रत-मितिहासपुराणस्य । लोकव्यवहारव्यवस्थानं धम्भेशास्त्रस्य विषयः । तत्रैकेन सर्वेच्यवस्थात इति। यथाविषयमेतानि ममाणानीन्द्रियादिवदिति। यत् पुनरेतत्क्षेशानुबन्धस्याबिच्छेदादिति। सुषुप्तस्य स्वमादर्शनं होशाभावा-द्वारीः। इति। यथा सुपुप्तस्य खलु स्वमादर्शने रागानुवन्धः सुखदुःखानु-वन्धश्च विच्छित्रते तथापवर्गेऽपीति। एतच ब्रह्मविदो मुक्तात्वनो रूपमुदा-हरन्तीति। यदपि प्रष्टत्त्यनुवन्धादिति। न पष्टितः प्रतिसन्धानाय हीन-क्के शस्य। प्रक्षीणेषु रागद्वे पमोहेषु प्रदक्ति प्रतिसन्धानाय। पूर्विसन्धिस्तु पूर्विजनमनिष्ठत्तौ पुनवर्जनम्। तद्यादृष्टकारितं तस्यां प्रदीणायां रूविकामाभावे जन्मान्तराभावोऽप्रतिसन्धानमपवर्गः। कम्भेवैवः ल्यमसङ्ग इति चन्त्र। कम्भे-विपाकप्रतिसंवेदनस्यापत्याख्यानात्। पूर्वजन्मनिष्टको पुनव्जन्म भवतीत्युच्यते, न तु कम्मेविपाकमितसवेदनं मत्याख्यायते। सन्वाणि पून्वे-क्रमां ण हान्ते जन्मनि विषच्यन्त इति। न क्व'शसन्ततेः खाभाविकसःत्। नोपपद्यते क्लेशानुबन्धविच्छेदः, कस्मात् १ क्लेशसन्तर्तः स्वाभाविकतात्। अनादिरियं क्लेशसन्तितः। न चानादिः शक्य उच्छेत्तार्मात। अत्र काश्चत् परिहारमाह। प्रागुत्पत्तरभावानित्यलवत् स्वाभाविकेऽध्यनित्यलम्। यथाsनादिः प्रागुत्पत्तेरभाव **उत्पन्नेन भावेन** निवत्त्येते, एवं स्वाभाविकी वरेन-सन्तितरनित्येति। अपर आह। अणुश्यामतार्शनत्यसबद्धा। अनादिरणु-इयामतेति हेलाभावादयुक्तम् । अनुत्पत्तिध्रमं निःयमिति नात्र हेतुरस्तीति। अयन्तु समाधिः। नासङ्क्लपनिमित्तलाच रागादीनाम्। कम्भीनिमित्तलादित-रेतर्रानिमत्तलाच्चेति समुचयः। मिथ्यासद्वरूपेभ्यो रङ्जनीयकापनीयमोह-नीयेभ्यो रागद्वेपमोहा उत्पद्यन्ते। कम्भे च सत्त्वनिकायनिव्वर्त्तेकम्। नैयमिकान् रागद्दे पमोहान् निन्वेर्त्तयित नियमद्येनात्। दश्यते हि कश्चित् 🗸 सत्त्वनिकायो रागवहुलः कश्चिर् द्वे पवहुलः कश्चिन्मोहबहुल इति । इतरेतर-निमित्ता च रागादीनामुत्पत्तिः। सूढ़ो रज्यति सूढ़ः कुप्यति। रक्तो मुहाति कुपितो मुद्यति । रक्तः कुप्यति कुपितो रज्यति । सन्वामध्यासद्भरपानां तत्त्ववानाः द्नुत्पत्तिः। कारणानुत्पत्तौ कार्यानुत्पत्तेरिति। रागादीनामत्यन्तमनुत्पत्ति-रिति। अनादिश्च क्लेशसन्तितिरित्युक्तम्। इमे सन्वें खल्वाध्यात्मिका भावा अनादिना भवन्धेन भवत्तंन्ते शरीरादयः। न जालत्र कश्चिद्तुत्पन्नपुच्यः मथमत

अन्यत्र तत्त्वणनात्। न चैवं सन्यनुत्पत्तिधम्भकः किश्चिद्वय-धम्मिकं प्रतिशायने इति। कम्मे च सत्त्वनिकायनिव्वत्तेकम्। तत्त्वशान-कृनान्मिथ्यासङ्ख्पविघाताच रागादुप्रत्यत्तिनिमनं भवति. मुखदुःखासंवित्ति-फलन्तु भवतीति। इत्येवं सिद्धस्तपवर्गः प्रमाणप्रमेयाणां तत्त्वद्यानान्मिथ्या-धानादीनामुत्तरोत्तरापायाञ्चवति । तत् तु तत्त्वधानं प्रमाणप्रमेयेषु तेषु तेषु यत् तथा तथा धानं तन्न, वस्तुतस्तत्त्वभानम्। यतः। स्वमविषयाभिमानवद्यं प्रमाण-ममेयाभिमानः। यथा स्वप्ने विषया न सन्त्यथ चाभिमानो भवति एवं मत्यक्षा-दीनि प्रमाणानि न सन्ति न चात्मशरीरेन्द्रियार्थवृद्धिमनःप्रवृत्तिदोपप्रेत्यभाव-फलदुःखानि ममेयाणि सन्त्यथ च ममाणममेयाभिमानो भवति। अनुतान्यप्येतानि सत्यान्यभिमन्यन्ते। मायागन्धर्व्यनगरमृगतृ टिणकावद्दा। एपु प्रमाणप्रमेयेप तथा तथा नानं यत्तज्ञानं ततोऽपैति प्रधानं मिथ्यानानम् अतस्मिंस्तदिति यथा खल्वपुरुषे स्थाणौ पुरुष इति । स्थाणौ स्थाणूरिति च स्वमविषयाभिमानवद्भि-मानस्तत्त्वमपि मिथ्याज्ञानं सत्यान् तत्त्वज्ञानाद्यैति। अत एव तत्त्वप्रधान-भेदाच्च मिथ्याबुद्धेर्द्धविध्योपपत्तिः। स्थाणौ स्थाणरिति तत्त्वं मिथ्याणान-मपुरुपे स्थाणौ पुरुप इति प्रधानं मिथ्याशानमिति द्विविधं मिथ्याशानमुपपद्यते।

प्रत्यह्तस्येन्द्रयेभ्यो मनसो धारकेण प्रयत्ने चार्य्यमाणस्यात्मना संयोगस्त स्त्रत्वश्च स्त्राविशिष्टः। सित हि तिस्मिन्निन्द्रयार्थेषु युद्धयो नोत्पयन्ते, तद्भ्यासवशात् तत्त्वयुद्धिरुत्पयते। यदुक्तम्—सित हि तिस्मिन्निन्द्रयार्थेषु युद्धयो नोत्पयन्ते, तद्भ्यासवशात् तत्त्वयुद्धिरुत्पयते। यदुक्तम्—सित हि तिस्मिन्निन्द्रयार्थेषु युद्धयो नोत्पयन्ते। इत्येतत्। "नार्थविशेपपायल्यात्। अनिच्छतोऽपि युद्धप्रत्पित्तिः युक्तम्। कस्मात् १ अर्थविशेपपायल्यात्। युभुत्समानस्यापि युद्धप्रत्पित्तिः यथा स्तनियत्तुशन्दप्रभृतिषु ; तत्र समाधिविशेपो नोत्पयते। "श्वधा-दिभिः पवर्त्तनाच।" श्वत् पिपासाभ्यां शीतोष्णाभ्यां न्याधिमश्चानिच्छतो-ऽपि युद्धयः पवर्त्तनते। तस्मादैकाग्रप्रात्तुपपित्तिः। ततस्तेतत् समाधि-च्युत्थानिमित्तं समाधिमत्यनीकश्च, सित त्वेतत्। "पूर्व्वकृतफलानुवन्धात् तदुत्पितः।" पूर्व्वकृतो जन्मान्तरोपचितस्तत्त्वशानदेतुर्धम्मेपविवेककलानुदन्धो योगाभ्याससामथ्यम्। निष्फले शभ्यासे नाभ्यासा आद्रियेरन्। दृष्टं हि लौकिकेषु कर्म्मस्यभ्याससामथ्यम्। पत्यनीकपरिहारार्थश्च। "अर्थ्याहा-पुलिनादिषु योगाभ्यासपोपदेशः।" योगाभ्यासजिनतो धम्भौ जन्मान्तरेऽप्यनु-वर्तते। पत्त्वनानदेतौ धम्भौ जन्मान्तरेऽप्यनु-वर्तते। पत्त्वनानदेतौ सम्भौ जन्मान्तरेऽप्यनु-वर्तते। पत्त्वनावार्ते तत्त्वशानदेतौ धम्भौ जन्मान्तरेऽप्यनु-वर्तते। पत्र्वनावर्ते। तत्त्वशानदेतौ धम्भौ जन्मान्तरेऽप्यनु-वर्तते। पत्त्वनावर्ते। तत्त्वशानदेतौ धम्भौ जन्मान्तरेऽप्यनु-वर्तते। पत्र्वनावर्ते। तत्त्वशानदेतौ समाधिभावनायां तत्त्वनावरेष

ज्ञानग्रुत्पद्यत इति। दृष्ट्यं समाधेनांथविज्ञपपावस्याभिभवः। अश्रीषं नाहमेतद्ज्ञासिपमन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह लोकिक इति। यद्यर्थ-विशेषपावस्यादनिच्छतोऽपि बुद्धारपित्तरनुद्धायते। "अपवगैऽप्यवं प्रसङ्गः।" म्रक्तस्यापि वाह्यार्थसामर्थ्याद् बुद्धय ब्त्पदेप्रशन्निति। "न निष्पन्नावश्य-म्भाविलात्।" कम्मेवशान्निष्पन्नशरीरे चेष्टेन्द्रियार्थाश्रये निमित्तसद्भावाद अवस्यम्भावी बुद्धीनामुत्पादः। न च प्रवलोऽपि सन् वाह्यार्थे आत्मनो बुद्ध्यत्-पादं समर्थो भवति । "तस्येन्द्रियेण संयोगाद् बुद्ध्यत्पादं सामर्थ्यं दृष्टिभिति।" ''तद्भावश्चापवर्गे।" तस्य बुद्धिनिमित्ताश्रयस्य शरीरेन्द्रियस्य ध्रम्मीध्रमीभावात अभावोऽपवर्गे इति। तत्र यदुक्तम्-अपवगेऽप्येवं प्रसङ्ग इति तद्युक्तम्। तस्मात् सन्वदुःखिवमोक्षोऽपवगेः। यस्मात् सन्वदुःखवीजं सन्वदुःखायतनश्च अपवर्गे विच्छिद्यते, तस्मात् सन्वेण दुःखेन विष्ठक्तिरपवर्गः। न निन्वीजं निरायतनश्च दुःखगुत्पद्यत इति । "तद्य यमनियमाभ्यासात्मसंस्कारो योगात् चाध्यात्मविध्युपायैः।" "तस्यापवर्गस्याधिगमाय यमनियमाभ्यासात्मसंस्कारः। यमः समानमाश्रमिणां धम्मसाधनम्, नियमस्तु विशिष्टः, तयोरभ्यासः। आत्मसंस्कारः पुनरधम्महानं धम्मौपचयश्च। योगशास्त्राचाध्यात्मविधिः प्रतिपत्तव्यः। स पुनरासनं प्राणायामः प्रत्याहारो ध्यानं धारणेति। इन्द्रिय-विषयेषु मसङ्क्ष्यानाभ्यासो रागद्वे पमहाणार्थः। उपायस्तु योगाचारविधानिवति।

इत्येवं जातादात्मादिषु प्रमेयेण्यभमेयपरात्मरूपतत्त्वज्ञानात् तु । "दुःखजन्मप्रष्टित्तदोपिमध्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापायं तदन्तरापायादपवर्गः।" तत्रात्माद्यपवर्गःपर्यन्तप्रमेये मिध्याज्ञानमनेकप्रकारकं वर्तते। आत्मिन तावन्नास्तीति। अनात्मन्यात्मेति। दुःखे सुखमिति। अनित्ये नित्यिमिति। अत्राणे त्राणमिति। सभये
निर्भयमिति। इत्यवमादिमिध्याज्ञानात् प्रतिक्र्छेषु रागोऽनुक्रुछेषु द्वेषः। रागद्वेषाधिकाराज्ञासुयेष्यामायालोभाद्यो दोषा भवन्ति। दोषैः प्रयुक्तः शरीरेण
प्रवर्त्तमानो द्विसास्त्येपतिपिद्धमेथुनादीन्याचरित। वाचाऽनृतपरुपस्चनासम्बन्धवचनादीनि। मनसा परद्रोद्वे परद्रव्याभीप्सानास्तिक्यञ्चवमादीनि।
सेयं पापात्मिका प्रदृत्तिरधम्मायिति प्रज्ञापराधाद् भवति। अथ शुभा।
शरीरेण दानं परित्राणं परिचरणञ्च वाचा सत्यं हितं पियं स्वाध्यायञ्च मनसा
दयामस्पृहां श्रद्धाञ्चेति। सेयं धम्माय बुद्धिसमयोगाद् भवति। तत्र प्रदृत्तिसाधनौ धम्माधम्मौ प्रदृत्तिश्चदंनोक्तौ। यथाक्रसाधनाः प्राणाः। अन्नं वै
प्राणिनः प्राणा इति। सेयं प्रदृत्तिः क्वात्स्त्याभिष्र्णितस्य जन्मनः

कारणम्। जनम पुनः शरीरेन्द्रिययुद्धीनां निकायिविशिष्टः प्रादुर्भावः। तिसन् सित दुःखं, तर् पुनः प्रतिक्र् त्रवेदनीयं वाधना पीड़ा ताप इति। इमे मिथ्याशानादयो दुःखान्ता धर्मा अविछेदेन प्रवर्षमानाः संसार इति। यदा तु तत्त्रवानान्मिथ्याशानमपैति तदा मिथ्याशानापाये दोपा अप-यन्ति। दोपा गये प्रदृत्तिरपैति। पर्रत्यपाये जनमापैति। जन्मापाये दुःखमपै-तीति। दुःखापाये चाल्यन्तिकोऽपवगौ निःश्रेयसमिति।

तद्रयन्तिविमोक्षोऽपवर्गः। "यत्र तु निष्ठा यत्र तु पय्यवसानं सोऽयं तद्रयन्तिविमोक्षोऽपवर्गः।" तेन दुःखेन जन्मनाऽत्यन्तं विम्रक्तिरपवर्गः। कथ्मुपात्तस्य जन्मनो हानमन्यस्य चानुपादानम्। एनामवस्थामपय्यंन्तामपवर्गः वेदयन्तेऽपवर्गविदः। तद्भयमजरममरं ब्रह्मक्षेमप्राप्तिरिति। "वाधनालक्षणं दुःख-मिति।" वाधना पीड़ा ताप इति नयानुविद्धमनुषक्तमिनभागेण वत्तमानं दुःख-योगाद् दुःखिमिति जन्म सोऽयं सर्व्वलोकं सुखदुःखात्मकदुःखेनानुविद्धं दहन्त-मिति पश्यन् दुःखं जिहासुर्जन्मिन दुःखद्शी निव्विद्यते निव्वण्णो विर्ज्यते विर्क्तते। इति गौतमेन आन्वीक्षिकीशास्त्रे सपरीक्षोऽपवर्गं एक्तः।

छान्दोग्योपनिपदि ब्राह्मणम्। अथ य एप सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते तद्भयमजरममृत-मिति होवाच तद् ब्रह्मेति स उत्तमः पुरुप इति। तत्र शारीरकसूत्रम्। सम्बद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्। मुक्तः प्रतिशानात्। एवमप्युपन्यासात् पूर्विभावादविरोधं वादरायणः। व्याख्यातान्येतानि। अथ य एप सम्प्रसादो-ऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते इति । परं च्योतिः उप समीपं सम्पद्य परच्योमशिवपरमात्मरूपेणाविभविः क्षेत्रज्ञस्यात्मनः सम्प्रसादस्य स्यात् । कस्मात् १ स्वेन ज्ञव्दात् स्वेन रूपेणेति परमात्मा हि परमञ्योमशिवश्चित्सम्प्रसादांशोपाहितः क्षेत्रज्ञो भूतस्तस्य स्वं रूपं परव्योमैवेति। तथाले हि सः। मुक्तः प्रतिवानात्। पूर्वे प्रजापितः प्रतिष्ठातवान् । तद् यथा — स इन्द्रः समित्पाणिः पुनरेवेयाय । तं ह प्रजापतिहवाच। मयवन् यंच्छन्ति हृदः प्राव्राजीः किमेवेच्छ न पुनरागम इति। स होवाच। खप्ने खल्वयं भगव एवं सम्पर्यात्मानं जानात्यय-महमस्मीति। नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र योग्यं पद्यामीति। एवमेवैप मधवन्त्रिति होवाच। एतन्त्रेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि। नो एवान्यत्रैतस्मात्। वसापराणि पश्च वर्षाणीति प्रतिज्ञाय प्रजापतिना

दक्षेणोक्त इन्द्रः। सहापराणि पञ्च वर्षाण्युवास। तान्येकशतं सम्पदुरेतत्। तद् यदाहुरेकशतं ह वै वर्षाणि मघवान् प्रजापतौ ब्रह्मचंद्र्यं मुवास । तर्मै होवाच । मघवन् मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना । तदस्यामृतस्याशरीरस्य आत्मनोऽधिष्ठानम् आत्तो वै सशरीरः पियापियाभ्याम्। न ह वै सशरीरस्य सतः पियापिययोरपहतिः अशरीरं वाव सन्तं न पियापियौ स्पृशतः। अशरीरं वायुरभ्रं विदुत्रत् स्तनयिवः। अशरीराण्येतानि । तद् यथैतान्यमुष्मादाकाशात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपं सम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते। एवमेवैप सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभि-निष्पचते स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्व्यतीति, स उत्तमः पुरुषः परव्योम शिवः परमात्मा केवलस्तत्र तत्स्वरूपेण सम्प्रसादः पर्व्यति परिवर्त्तत इति। तत्र चिति तन्मात्रलेन तदात्मकलात् इत्योड्छोमिः। चिति चिन्मात्रेऽर्धे पय्यवसीयमानः सम्प्रसादः स्वेन रूपेण चिन्मात्ररूपेणाभिनिष्पचने । कस्मात् ? तदात्मकलात्। चेतनाविशिष्टश्चित् परमव्योमरूपः परमात्मा सम्यसादोऽपि स एप स्थूलचित्सस्प्रसादांशोपाहितस्ततस्तदात्मक इत्यो इलोमिस्वाच। आत्मा प्रकरणात्। रवेनेतिपदेनात्मा परः पुरुषः परव्योमैवाभिधीयते। ऐन्द्रवैरोचनिकविद्यायामात्मन एवाधिकारः। कस्मात् प्रकरणात् १ मुक्ति-मकरणात्। लोकानामात्मा हि वद्धस्तस्य मुक्तिः प्रकरणात्।

नतु चित्सम्प्रसाद्रुपः क्षेत्रको लोकानामात्मा प्रथानादितत्त्वयद्भूष्ण एवास्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन निर्वन्धचित्सम्प्रसाद्रु रूपेणाभिनिष्पद्यत इत्येवं कथं नोच्यत इति चेन्न स तत्र पर्यतीत्युक्तेः। पर्यायो हि परिवर्त्तनं रूपस्यति। शिवरूपेणाभिभावाचित्सम्प्रसाद्रुपपरिवर्त्तनमिति। नतु कथं रवेनेतिपदेन लोकानामात्मनः क्षेत्रकस्यात्मा विकायते शिवः परं ज्योतिस्तु ततोऽतिरिक्तं अयते। तद्यथा। अथ यदतः परो दिच्यो ज्योतिः। दीष्यतेऽपि स्वतः पृष्ठेप सर्व्वतः पृष्ठेष्विति। तथा। एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुपः। पादोऽस्य सर्व्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीत्यत आह—अविभागेन दृष्टलात्। स्वेनेति स्वपदेन तज्ज्योतिषैकी-भावापन्नो लोकानामात्मनश्चित्सम्प्रसादस्य क्षेत्रकस्य विष्णोरात्मा शिव उत्तमपुरुपः। क्षेत्रकस्य तस्य वद्धस्य मुक्तिपकरणात्। भूम्यादित्रिपादस्य तस्याद्राङ्गभूतायां गायत्रग्रां दिवि परमस्वलोके तत् त्रिपात्पुरुपस्य मूद्धि दशाङ्गले तज्ज्योतिरेवामृतम् तस्यास्तद्विभागेन दृष्टलात्। न तु तदद्राङ्गि

भृताया गायत्रग्राः पृथग्रूपेण दृष्ट्वाद् तिरिक्तम्। यथाविस्तु रूपादिशक्तिमान्। तस्या रूपादिशक्तरालोकादिकृत्पभादिरग्नेरपृथगेव दश्यते न तु पृथगिति। नतु स्वेन रूपेणेति किं स्वीयेन ब्रह्मणा ज्योतिपाऽथवास्वेनात्मनेत्यत आह— ब्राह्मणजैमिनिरुपन्यासादिभ्यः। ब्रह्मण इद्यादेशभूतं रूपं तेन ब्रह्मण आदेश-भूतेन परमन्योमरूरेण शिवेन क्षेत्रज्ञस्य स्वेनात्मना रूपेणेति जैमिनिराह। कुतः १ उपन्यासादिभ्यः । उपन्यासाद्यो हि ज्छान्दोग्ये कृताः । स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्योति जक्षत् क्रीइन् रममाणः स्त्रीभिन्नी यौनैनी जातिभिन्नो वयस्यैर्वा नोपजनं स्मरन्निटं शरीरं स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवाय-मस्मिञ्छरीरे पाणे युक्तः। अथ यत्रैतदाकाशमनुविसरणं चक्षः। स चाक्षपः पुरुषो दर्शनाय चक्षः। अथ यो वै हेर्द्र निवाणीति स आत्मा गन्धाय वाणम्। अथ यो वे हेद्मभिन्याहराणीति स आत्माऽभिन्याहाराय वाक्। अथ यो वै हेर्दं भृणवानीति स आत्मा अवणाय श्रोत्रम् । अथ यो वै हेर्दं मनवानीति स आत्मा मनोमननाय। मनोऽस्य देवं चक्षः। स वा एप एतेन देवेन चक्षुपा मनसैतान कामान पश्यन मनुते यत्र ते ब्रह्मछोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते। तस्मात् तेषां सर्व्यं च लोका आत्ताः सर्व्यं कामाः स सर्व्यांश्र कामानामोति सर्वांथ कामान्। यस्तमात्मानमनुवेध विजानातीति होवाच प्रजापितरित्युपन्यासः। आदिना। स एत्राधस्तात् स उपरिष्टादित्यादि-सन्वेगतलादिरूपोपदेशः। मुण्डके च। यः सन्वेशः सन्वेविद् यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नश्च जायत इति व्यपदेशथ । इति कत्तु -कोण शिवस्यैवोपन्यासादिभ्य इति बोध्यम्। उभयमतेऽध्यविरोधं दर्शयति एवमप्युपन्यासात् पूर्व्वभावाद्विरोधं वाद्रायणः। एवमोइलोमिनोक्त-मकारेण जैमिनिनोक्तादुपन्यासादिहेतोः पूर्विभावात्। चित्सम्भसाद्स्य क्षेत्रजस्य पूर्विभावश्चेतनाविशिष्टः परमन्योमेव परमात्मा हेनुस्तस्मात् तत् पूर्वि-परमन्योगस्वरूपेणाभिनिष्यत्तेरुभयमतेऽष्यविरोधमाह वादरायण एपां मतावलम्बी वात्स्यायन उवाच। नित्यं सुखमात्मनो मोक्षेऽभिन्यज्यते। तेनाभिन्यक्तेनात्यन्तं युक्तः सुखी भवतीत्येके मन्यन्तं इति। न्याख्यायते चेदम् । सम्प्रसादः क्षेत्रज्ञ आत्मा प्ररूप इत्येकोऽर्थः । एप समत्रिगुणाष्टतस्तु अन्यक्ताख्यः स महता जीवेनोपाहितः प्राज्ञः स जीवः। स य एप सम्प्रसादः कारणतोऽस्मान्छरीरात सम्रत्थाय परं ज्योतिर्दिव्यज्योतिरूपसम्पद्य यदा स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते तदा नित्यं स्रखमभिन्यज्यते। तेनाभिन्यक्तेन नित्येन

सुखन युक्तः स हक्तः सुखी भवतीरपे के मन्यन्ते । छोके हि यत् सुखनिभ-ण्यज्यते तत् सुखं न नित्यम् । तेषां प्रााणाभावाद्तुपपत्तिनं प्रत्यक्षं नातु-मानं नागमो वा विद्यते । नित्यं सुखमात्मनो महत्त्ववन्मोक्षेऽभिव्यव्यत इति ।

व्याख्यायते चेदं भाष्यत्। नित्यं सुखमात्मनः क्षेत्रहस्य मोक्षे सत्यंभिः ण्यञ्यते इति तेनाभिन्यक्तेन न्तिपहुखेन युक्तोऽत्यन्तं सुखी भवतीति ये के चिदाहुस्तेषां तिन्तत्वसुखाभिन्यको प्रशाणाभावादसुपपत्तिः। तत्र प्रत्यक्षं नास्ति न चानुमानमर्थापत्तिः सम्भवोऽभावो चास्ति । आप्तोपदेश ऐतिहाञ्चास्ति। नित्यं सुखमात्मनो महत्त्ववन्मोक्षेऽभिव्यव्यते इति यदुच्यते, तत्रापि नित्यस्याभिव्यक्तिः संवेदनं तस्य हेतुवचनस्। अस्य च भाष्यं स्वयमाह-नित्यस्याभिन्यक्तिः संवेदनं जानमिति। तस्य हेतुर्वाच्यः यतस्तदुत्पद्यत इति । इद्ञ्च व्याख्यायते । मोक्षे क्षेत्रतस्यात्मनो-ऽणुपरिमाणस्य शिवरूपेणाभिनिष्पत्तौ महत्त्वपरिमाणं यथा व्यज्यते तथा तस्य यनित्यं सुखमभिव्यव्यत इत्युक्तं तनित्यस्य सुखस्योत्पत्त्यभावाद्भि-व्यक्तिः संवेदनं ज्ञानं भवतीत्यथेश्वेत् तदा तस्य ज्ञानस्योत्पत्ता हेतुर्वाच्य इति जन्यशानापितस्तदा तस्य शिवस्पेणाभिनिष्पत्ताविति दोपस्तत्र। सुसर्वनित्य-मिति चेत् संसारस्थस्य मुक्तीनं विशेषः। यथा मुक्तः मुखेन तत् संवेदनेन च सन् नित्येनोपपन्नस्तथा संसारस्थोऽपि प्रसच्यते इत्युभयस्य नित्यसात् इति। भाष्यञ्च न्याख्यायते। मोक्षे मुखयुक्तनित्यपरमपुरुपरूपेणाभिनिष्पचते इति परमपुरुपस्य नित्यतेन नुखस्यापि नित्यतं तस्य गानस्यापि नित्यतिपिति चेत् तदा लंसारस्थरय हक्तेन पुरुपेण सह विशेपो नास्ति। यथा मुक्तः सन् नित्येन सुखेन नित्येन च तत्सुखसंवेदनेनोपपनः स्यात् तथा संसारस्थो-ऽपि पुरुषो नित्यमुखनित्यसंवेदनोपपन्नः प्रसन्यते। कस्मात् ? उभयस्य नित्यलात्। सर्वस्यैव पुरुपस्य संसारस्थस्यात्मा वद्धोऽपि नित्य एव तस्य सुखं नित्यं तत्संदेदनञ्च नित्यं यावन्महाप्रलयं वत्तेते इति भावः। तदिष्टा-पत्तौ दोषमाह-अभ्यतुषाने च धम्मीधम्मिफलेन साहचर्यं यौगपदंत्र यहेतत। यदिदहुत्पत्तिस्थानेषु धम्मीधम्मीफळं सुखं दुःखं वा संविद्यते पय्यीयेण इति । भाष्यञ्च व्याख्यायते । अभ्यतुकाने मुक्तसंसारस्थयोस्तुल्यतस्वीकारे । ध्रम्भिधर्मे फरेन संसारस्थस्य सुखदुः खेन स्वीयनित्यसुखर्य साहचर्यं यौग-पदंत्र गृहेत्रत । नित्यसुखरयातः स्थर्य धम्मोधमम् पलसुखदुः खयोः साहचर्यं यौगपद्यञ्च भवतु । न चारमस्थिनित्यसुखेन धम्मीधमर्धफलंसुखदुःखयोः साह- चर्यं यौगपदंत्र वा वर्तते। कस्मात् ? यद् यस्मादिद्गुत्पत्तिस्थानेषु संसारेषु जरायुजाण्डजोट्भिज्ञस्वेदजयोनिषु जातेन पुरुपेण धर्माधरमोफलं सुखं दुःखं वा पर्यायेण क्रमेण संविद्यते ज्ञायते न तु युगपत्। परस्परविरोधात्। तत आत्मस्थनित्यसुखं धुम्भेफलमनित्यसुखं युगपत् मंविचतां तथाऽनित्यसुखम् अधम्मीपाछं दुःखञ्च गुगपत् संविद्यतामिति। नित्यसंवेदनेऽपि दोपमाइ— तस्य च नित्यसंवेदनस्य च सहभावो यौगपढंत्र गृहेतत्। न सुखाभावो नानभि-व्यक्तिरस्ति। जभयस्य नित्यतान् अनित्ये हेतुरलम् इति। भाष्यञ्च च्याख्यायते। धम्मीधमीफलपुखदुःखस्य तस्य च नित्यपुखस्य नित्य-संवेदनस्य च सहभावः साहचर्यं यौगपदंत्र गृहेतत। संसारस्थस्यात्मनः स्वस्थनित्यमुखस्य स्वस्थनित्यनानस्य च धर्मानमुखेनाधरमीजदुःखेन सह क्रमाद् यौगपदंत्र साहचय्यै भवतु । तद्ष्ष्टापत्तौ दोपशह—नंत्यादि । आत्मनस्त न मुखाभावोऽस्ति नित्यमुखवत्त्वात्। नाप्यनभिव्यक्तिरसंवेदंनमस्ति क्षेत्रज्ञतेन नित्यज्ञानवत्त्वात्, कस्मात् ? उभयस्य नित्यतात् । उभयस्यात्मस्थस्य मुखस्य तत्तांवेदनस्य नित्यलात्। अनित्ये मुखरूःखे नित्यलवचनं यदि क्रियते तदा हेतुर्धेम्मीयम्मीयलं च्यर्थ भवति। अत्र मोक्ष नित्य प्रलाभिच्यक्ति-वादी भापते यत् तदाह। अथ मोक्षे नित्यस्य सुखस्य सवे समिनित्यम् ; यत उत्पद्यते स हेतुर्वाच्यः। आत्ममनःसंयोगस्य निमित्तान्तरसहितस्य हेनुल र्। इति । भाष्यञ्च न्याख्यायते । मोक्षे यनित्यं सुखं संवित्रते नत् संवेदनमनित्यं यतस्तत् संवेदनम्रत्पयते स च हेरुरयं वाच्यः। को हेरुरित्यत आह— आत्मेत्यादि। निवित्तान्तरैः सहितस्य मनःसंयोगस्य मोक्षे नित्यग्रख-संवेदनोत्पत्तौ हेन्तं वक्तव्यं मयति।

तद दूपयति। आत्ममनःसंयोगी हेनुरिति चेत् एवमपि तस्य सहकारिनिमित्तान्तरसहितस्य हेतुलिमिति चेत् तदा तदात्ममनःसंयोगस्य सहकारिनिमित्तान्तरवचनमिति धम्मस्य कारणवचनम्। इति। अस्य व्याख्या।
आत्ममनःसंयोगो नित्यसुखसंवदनोत्पत्तौ हेनुरिति एवमपि तस्यात्ममनःसंयोगस्य निमित्तान्तरसहितस्य हेतुलिमिति चेत् तदा तदात्ममनःसंयोगस्य
सहकारिसहकारिनिमित्तान्तरं यद् वक्ष्यते तद् धम्मस्य कारणतं भवता
वक्तव्यम्। तेन धम्मसहितस्यात्ममनःसंयोगस्य मोक्षे नित्यसुखसंवदनोत्पत्तौ
हेतुलिमित्त चेत् तदा तत्र दोषमाह—यदि धम्मौ निमित्तान्तरं तस्य
हेतुलिच्यो यत उत्पद्यत इति। योगसमाधिनस्य कारर्थावसायविरोधात् मक्षये

संवेदनिवृत्तिः। इति। भाष्यश्च व्याख्यायते। मोक्षे नित्यसुखसंवेदनोत्पत्ती स्वल्वात्ममनःसंयोगस्य हेनुत्वे यदि सहकारिनिमित्तान्तरं धम्मो भवता वाच्यः तदा तस्य धम्मेस्य हेनुवाच्यो भवता यतो धम्मे उत्पद्यते इति। वैधं कम्मे वाच्यं तन् कम्मेयोगसमाधिरूपं तज्जस्य धम्मेस्य कार्य्यावसायविरोधात्। मोक्षे कार्याणां सर्व्वेषामवयानं भवति तस्य तदा विरोधात् प्रक्षये धम्मेस्य कार्यस्य क्षय तद्धम्मेजन्यस्य नित्यसुखसंवेदनस्यापि निष्टत्तिः स्यादिति।

अत्र यत् मुख्यित्तिन्यवादी भाषते, तदाह—यदि योगसमाधिजो धम्मी हेतुस्तस्य कार्यायसायविरोधात् मक्षये संवेदनमत्यन्तं निवर्त्ततेति संवेदने चाविद्यमाने नाविशेषः। इति। भाष्यञ्च व्याख्यायते। मोक्षे नित्यमुखसंवेदनोत्पत्ती योगसमाधिजो धम्मी हेनुस्तस्य योगसमाधिजस्य धम्मीस्य मोक्षे सञ्वे-कार्यावसायविरोधात् मक्षये तत् संवेदनं यद्यन्यन्तं निवर्त्ततेति तदा संवेदने चाविद्यमाने मोक्षे मुख्यित्त्वस्यस्यः स्यात् संसारस्थस्तु धम्मीधम्मेफलस्य-दुः ससंवेदितियतो मुक्तसंसारस्थयोन्। विशेषस्तु स्यात् संवाद्यते इति कि विद्यमानं च संविद्यते आत्रिसारस्थयोन्। विशेष्टे अस्मीधम्मे क्रिक्यमानं च संविद्यते अयादि धम्मेक्षयात् संवेदनोषरमः, निन्यं मुखं न संविद्यते इति कि विद्यमानं च संविद्यते संवेदनाभावान्त्र भायते इति तिहि तिन्तर्यं मुखं न संविद्यते संवेदनाभावान्त्र भायते इति तिहि तिन्तर्यं मुखं विद्यमानं कि न संविद्यते संवेदनाभावान्त्र भायते इति तिहि तिन्तर्यं मुखं विद्यमानं कि न संविद्यते संवेदनाभावान्त्र भायते इति तिन्तर्यं मुखं विद्यमानं कि न संविद्यते स्वत्रस्यस्यस्य हपे लिङ्गामावान्तस्तीति।

अत्राह प्रतिवादी । अप्रक्षयश्च धर्मस्य निर्मुमानः उत्पत्तिधर्मकस्य योगसमाधिजो धरमी न क्षीयत इति नास्त्यमुमानम् । उत्पत्तिधर्मकम् अनित्यमिति विपर्य्यस्य समुमानम् । इद्ध्व भाष्यं व्याख्यायते । धर्मस्य अप्रक्षयो न प्रक्षयोऽस्ति तस्माजिरमुमान इति मृत्रं, तस्य विवरणमाह— उत्पत्तिधर्मकसाद्धेतोर्न योगसमाधिजो धर्माः क्षीयत इत्यतो मोक्षे मुखन्वित्यस्य क्ष्मे नित्यस्यस्य नास्त्यमुमानं लिङ्गाभावात् । कथमुत्पत्तिधरमको योगसमाधिजो धर्मो न क्षीयते इत्यत आह— उत्पत्तिधर्मकं सव्वमनित्यमिति । योगसमाधिजो धर्मो न क्षीयते इत्यत आह— उत्पत्तिधर्मकं सव्वमनित्यमिति । योगसमाधिजो धर्मा उत्पत्तिधर्मकहेऽपि नित्य इति वोध्यम् । कथमनुमानं स्याद्विपर्ययस्य धर्मस्य स्यत्यस्य । कथमनुमानं स्याद्विपर्ययस्य स्येत्यत् आह— यस्य तु संवदनोपरमो नास्ति तेन संवदनहेतुर्नित्य इत्यनुमेयम् । इद्ध्व भाष्यं व्याख्यायते । यस्योत्पत्तिधर्मकस्य सुखस्य संवदनोपरमो

नास्ति तेन उपरमासद्भावेन संवेदनस्य हे रुस्त्पत्तिधम्मकोऽपि धम्मौ नित्य इत्यतो योगसमाधिजधर्माद्विपय्ययश्मीमद्वमेयं संवेदनात् तत्काय्यात् । इति । तत्राह वादी। नित्ये च मुक्तसंसारस्थयोरिवशेष इत्युक्तम्। यथा मुक्तस्य नित्यं सुखं तत्संवेदनहेतुश्च। संवेदनस्य तूपरमो नास्ति कारणस्य नित्यतात, तथा संसारस्यस्यापीति। व्याख्यायते चेदम्। नित्ये चेति। यस्योत्पत्तिधम्मकस्य स्रुखस्य संवेदनोपरमो नास्ति तेनोपरमाभावेन तस्य मुखस्य संवेदनहेतौ नित्ये सति मुक्तसंसारस्थयोरविशेष इति यत् पूर्व्वमुक्तं तदेव भवतीति भावः। कथमिति चेत् तदोच्यते—यथेत्यादि। यथा मुक्तस्य नित्यं मुखं तन्नित्यमुखसंवेदनहेतुश्च नित्यस्तस्य हि संवेदनस्योपरमो नास्ति तत्कारणस्य योगसमाधिजशरमस्य नित्यतात्। तथा संसारस्थस्याप्यात्मनः मुखं नित्यं तत्स्थं धम्मजञ्च मुखमनित्यमपि तस्य संवेदनोपरमाभावेन तत्-संवेदनहेतोरुत्पत्तिधममिकस्यापि धम्मस्य नित्यलमिति मुक्तसंसारस्थयोः अविशेष इत्युक्तम्। एवं सति यत् फलितं तदाह—एवं सति धम्मीधर्मफलेन सुखदुःखसंवेदनेन साहचय्पं गृहे।तेति। व्याख्यायते चेदं भाष्यम्। एवं-प्रकारेण मुक्तसंसारस्थयोरिवशेषे सति धम्मीधम्मीफलेन मुखदुःखेन तत्-संवेदनेन च नित्यम् खस्य साहचर्यं यौगपदंत्र गृहेरतेति पूर्विमुक्तं भवति सम्पन्नम्। अत्राशद्धा दोषमाह-शरीरादिसम्बन्धः प्रतिबन्धहेतुरिति चेन्न, शरीरादीनामुपभोगार्थसार् विपध्यंयस्य चानतुमानात्। व्याख्यायते चेदं भाष्यम् । संसारस्यस्य धर्माधरमीफलेन सुखदुःखेन तत्संवेदनेन च नित्य-सुखर्मवेदनस्य साहचय्यंयौगपद्यग्रहणे शरीरादिसम्बन्धः मनोऽहङ्कारमहत्तत्त्वसम्बन्धः प्रतिवन्धक इति चेत्र। कस्सात् ? शरीरादीनाम् आत्मन उपभोगार्थेतात्। आत्मनो हुप्रपभोगार्थाः शरीरादय आत्मना हि धम्मीधम्मीफलं सुखदुःखग्रुपभुज्यते शरीरादिभिविषय्र्ययस्य च धम्मी- धम्माभ्यासजन्यस्य नित्यसुखस्य चोषमोगः क्रियते तस्य खनसुमानादसुमाना-भावात्। अत्र नित्पसुखाभिन्यक्तिवादी लाह। स्यादेतत् संसारस्थस्य शरीरादि-सम्बन्धो नित्यसुखसंवेदनहेनोः प्रतिवन्धकस्तेनाविशेषो नास्तीति । व्याख्या-यते चेदम्। "एतत् स्यात्।" कि स्यादित्यत आह—संसारस्यस्य आत्मनः श्रीरादिसम्बन्धो नित्यसुखसंवेदनहेतोयौगसमाधिजधर्मस्य प्रतिबन्धकस्तेन मुक्तसंसारस्थयोरिवशेपो नास्ति, योगसमाधिस्तु संशरीरस्यैव भवति तज्ज-धर्ममस्तु नित्यसुखंस वेदनस्य हेतुः शरीरादिसम्बन्याभावे उत्पद्यते इति।

एतद् दृपयति। एतचायुक्तं शरीराद्य उपभोगार्थास्ते भोगमितवन्धं करिष्यन्तीत्यनुषपन्नं, न चास्त्यनुषानमशरीरस्यात्मनो भोगः कश्चिदस्तीति। व्याख्यायते चेदं भाष्यम्। ये तु भोगार्थास्ते पुनभौगमतिवन्यका इति वचनम् अनुपन्नमित्यतः शरीरादिसस्वन्धो नित्यमुखसंवेदनहेतोः प्रतिवन्धक एतच वचनमयुक्तम् । कस्मात् १ "यतो न चास्तीत्यादि ।" यतोऽशरीरस्य शरीरादि-संयोगश्न्यस्यात्मनोऽनुमानं नास्ति तस्य कश्चिद्रोगोऽस्तीति च नानुमानं स्यादिति। अत्राशक्का आह्—इष्टाधिगमार्था प्रष्टतिरिति चेन्न, अनिष्टोपरमार्थ-सात्। भाष्यञ्चेदं व्याख्यायते। इच्छाविषयीकृतस्य मुखस्यार्थं लोकः पवत्तेते न सनिष्टाधिगमार्थम्, इष्टं हि सुखं यत् पुननं नक्ष्यति तस्मान्नित्यसुखार्थं मोक्ष-साधनोपायान् कुरुते इति चेन्न। कस्मात् ? अनिष्टोपरमाथंत्वात्। अनिष्टोपरमार्था हि प्रष्टित्तरनिष्टं दुःखं मोक्षे तदुपरमः स्यादित्यर्थः। मोक्षे नित्यमुखाभिन्यक्ति-वादी भाषते। इदमनुमानमिष्टाधिगमार्थो मोक्षोपदेशः प्रवृत्तिश्च मुमुसूणां नोभय-मनथेकमिति। व्याख्यायने चेदं भाष्यम्। इद्भनुमीयते। मोक्षोपदेश आचार्यर्थर्त क्रियते स मोक्षोपदेश इष्टवस्तिधिगमार्थ एव न तिष्टिनिष्टित्तिमात्रार्थः। इष्टिभनम् अनिष्टमिष्ट्ञ सुखं महाद्करबादनिष्टं दुःखं महाद्हरबात्। तद्दुःखात्यन्त-निष्टत्तिमन्तरेण केवलं सुखं न भवति सुखाभावं दुःखोदयो दुःखाभावे सखोद्य इति प्रतिनियमाद्निष्टोपरमे लिष्टाधिगम एव भवति तस्मादिष्टाधि-गमाथेश्र मुमुसूणां योगादिप् प्रष्टितिरित्यतो मोक्षोपदेशः प्रष्टितिश्रेत्युभयं न निरथेकमिति तकौ युत्तयपेक्षस्तदनुमानमिति।

एतद्वि वादी दृपयित । एतचायुक्तमिन्छोपरमार्थो मोक्षोपदेशः प्रष्टित्य मुमुक्षणामिति । एतत् पूर्व्यक्तिमिष्टाधिगमार्थो मोक्षोपदेशः प्रष्टित्य मुमुक्षणामिति यद्तुपानं तद्युक्तम्। कस्सात् १ यतः अनिष्टोपरमार्थो मोक्षोपदेशः प्रष्टित्य मुमुक्षणामित्यसुपानम् नानधेकमुभयम् । इष्टिभन्नमिनष्टिमिष्टं सूखम् अनिष्टं दुःखं तदुपरमे नियमतो नित्यसुखं स्यादिति न यौक्तिकम् । कथम् इत्यत आह् नष्ट्यनिष्टेनाननुविद्धं सम्भवतीनीष्ट्यप्यनिष्टं सम्पद्यते। अनिष्ट-हानाय घटमान इप्टमपि जहात्यविवेकहानस्याशक्यवादिति । व्याख्यायते चेदं भाष्यम् । इष्टं सुखं सुखजनकश्च यद् यत् तत् सर्व्यमिनष्टेन दुःखेन दुःख जनकेन वा भावेनाननुविद्धमनुविद्धभिन्नं न सम्भवति सर्व्यम् इप्टमनिष्टेनानुविद्धमेव भवति, इत्यत इप्टमप्यनिष्टं भवति । ह्ययते च । अनिष्टहानाय दुःखदुःख-जनकभावत्यागाय यद घटते तत्र युद्धिमानिष्टमपि जहाति । यथाश्वमेधादि-

निन्त्रीहाथेम् अश्वरक्षणायेष्टं पुत्रं नियुच्य युद्धे कचित् स पुत्रो हन्यते परेणेति । नन्वेवं नास्तु भवत्वेवम्। नानिष्टिमिष्टेनाननुविद्धं सम्भवतीत्यनिष्टमपीष्टं सम्पद्यते। इट्याय घटमानोऽनिष्टमपि जहातीति। इत्यत आह । अविवंकहानस्य अशक्यलादिति। विवेकस्य सदसद्विवेचनाया अभावहानस्य अशक्यलात् । अविवेचनानु विद्यो हि विवेकः । विवेचना हि सर्व्वैः कर्मारम्भे सम्यक् कत्तुं न शक्यते नाविवेचनया किमप्यारभ्यते, किन्तु विवेचनया कर्त्तन्पऽपि सम्यग्निवेचनाकरणासामध्यीदिष्टाय घटमानो बुद्धिमाननिष्टम् अपि जहाति। अपरश्चाह। दृष्टातिक्रमश्च देहादिप तुल्यः, यथादृष्टमनित्यं स्रुखं परित्यज्य नित्यं स्रुखं कामयते। एवं देहेन्द्रियवुद्धीरनित्या दृष्टा अतिक्रम्य मुक्तस्य नित्यदेदन्द्रियवुद्धयः कल्पितन्याः। साधीयक्ष्मैवं मुक्तस्य चैकात्म्यं कल्पितं भवतीति । इद्ञ्च भाष्यं व्याख्यायते । सुखस्य देहादिषु दृष्टातिक्रमः तुल्यः कथम् इत्यतो देहादिषु दृष्टातिक्रमगुल्यतां दर्भयति—यथंत्पादि । अनित्यं सुर्खं दृष्टं परित्यव्यादृष्टं नित्यं सुरखं कामयते सुमुक्षुरिति सुखे दृष्टातिक्रमः। एवं देहेन्द्रियवुद्धयोऽप्यनित्या दश्यन्ते दृष्टास्ता अतिक्रम्य मुक्तस्य नित्य-देहेन्द्रियचुद्धयो भविष्यन्त्यः कल्पितच्याः स्युनित्यसुखभोगाथेमिति। तेपां कल्पनामपेक्ष्य लेवमेव साधीयो भवति, यद्साभिर्धक्तस्य चैकात्म्यं परम-पुरुषेण सहैकात्मीभावः कलिपतो भवतीति सन्वेसंयोगनिः सतो मुक्तो भवतीति भावः।

अत्रशिक्ष दूपयित । उत्पत्तिविरुद्धिमित चेत् समानम्, देहादीनां नित्यतं प्रमाणिवरुद्धं करुपयितुमशक्यमिति समानं सुखस्यापि नित्यतं प्रमाणिवरुद्धं करुपयितुमशक्यमिति । व्याख्यायते चेदं भाष्यम् । उत्पत्तिविरुद्धिमित चेत् समानितित सुत्ररूषं उत्पत्तिविरुद्धतं देहादेनित्यतं तेन न दृष्टातिक्रमः सुखेन तुरुयः। तत्र दोपमाह। समानिपत्यादि। तस्य विवरणमाह—देहादीनामित्यादि। देहेन्द्रियवुद्धीनामुत्पत्तिविरुद्धं नित्यतं प्रमाणिवरुद्धं पत्यक्षादिवरुद्धं करुपयिनुं न शक्यमिति । त्र त्र त्यक्षादिवरुद्धं करुपयिनुं न शक्यमिति । अथ तेपां प्रमाणाभावात् अनुप्रपत्तिने प्रत्यक्षां नानुमानं नागमो वा विचते इति यदुक्तं तत्प्रत्यक्षानुमान-प्रमाणाभावं द्र्ययामामानं द्र्ययित—आत्यन्तिके च संसारदुःखाभावे सुखवचनादागमे सत्यविरोधः। यद्यपि च कश्चिदागमः स्यात्। सुक्तस्य आत्यन्तिकं सुखिमिति। इदश्च भाष्यं व्याख्यायते। मोक्षे जाते सात्यन्तिके

मंसारदुःखाभावे नितरां सुख्वचनं क्रियत इत्यतः सत्यप्यागमे मोक्षे नित्यस्यस्य न विरोधः। तद् यथा—यद्यपीत्यादि। यद्यपि सुक्तस्यात्यन्तिकं सुख्मित्यागमः कश्चिद् वत्तेते, तत्रापि न विरोधोऽस्ति। कथमित्यत आह—सुख्ववद् आत्यन्तिके दुःखाभावे प्रयुक्त इत्येत्रमुपपद्यते। दृष्टो हि दुःखाभावे सुख्ववद्वप्रयोगो वहुळं छोके इति। भाष्यन्त्वेतत् स्पप्टम्। तत्रापि दुःखाभावः प्रतियोगित्वात् सुख्मेवेति चेन्न दुःखभिन्नमन्यद् वस्तु सुख्मिवास्ति तदेव परमपुक्षक्पक्षयं दुःखाभाव उच्यते।

अत्र पुनः सुखाभिन्यक्तिवादी भाषते। नित्यसुखरागस्याप्रहाणे मोक्षाभि-गमाथावो रागस्य वन्थसमाजानात्। यद्ययं मोक्षे नित्यं मुखमभिन्यज्यते इति नित्यसुखरागेण मोक्षाय घटमानो न मोक्षमिष्माच्छेन्नाधिगन्तुमहेति, बन्ध-समाज्ञातो हि राग इति। भाष्यञ्चेदं व्याख्यायते। यदि मोक्षे सुखशब्द-प्रयोगो दुःखाभावे थवति तदा नित्यसुखरागस्यापहाणे मोक्षाधिगमाभावा-पत्तिः। रागस्य वन्धसमाजानात्। इदं स्वयं विष्टणोति। मोक्षे नित्यं मुखमभिन्यज्यत इति नित्यमुखकामनया यद्ययं मोक्षाय घटमानो योग-समाधिषु प्रष्टतो मोक्षे सुखं नाधिगच्छेत् तदा मोक्षमधिगन्तुं नाहेति। वन्थ-समाजातो हि रागस्तस्य वर्त्तते वन्धे समाजातो नियुक्त इति। कथं मोक्षमधि-गन्तु नार्हतीत्यत आह - न च चन्धने सत्यपि कथिन्मुक्त इत्युपपचते। इति महाणे नित्यसुखरागस्याप्रतिकृत्वसम्। इद्ध व्याख्यायते भाष्यम्। वन्धने वन्धकारणे रागादौ सति कश्चिद्पि मुक्त इति नोपपद्यते। इति हेतोमौंक्षे नित्यसुखाभिन्यक्तौ सत्यां नित्यमुखरागस्य प्रहाणे सति न प्रतिकृलखं नित्यसुखरागस्य मोक्षे सम्भवति। एतद्वि द्वयितुमाह—अथास्य नित्यसुखरागः महीयते तस्मिन् महीणे नास्य नित्यसुखरागः प्रतिक्लो भवतीति। मोक्षे दुःखजनमात्यन्तविष्ठक्तौ खल्वनेकस्यास्य मुक्तस्य नित्यमुख-रागः स्वयमेव तसार् हीयते सुखे सनुरव्यते दुःखार्च एव दुःखाभावे तु नाजुरज्यते सुखायेति । तिस्मन् नित्यसुखरागे महीणे सति नास्य मोक्षे नित्य-सुखरागो भवति प्रतिकृछ इति । वात्स्यायनभाष्यं समाप्तम् ।

इत्थ्रश्च सम्प्रसादस्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पत्तौ मोक्षे शिव एव भवति न पृथ्ग् वर्तते। क्षेत्रबस्यात्मा हि शिवः क्षेत्रबोपाधिमोक्षात् स एव शिवो भवति, जलं यथा महाजलाशये पतितं तज्जलेनैकं भवतीति। इति निःशेपनिष्टत्तिमौक्षस्तत्र सुखदुःखोभयनिष्टत्तौ सुक्तस्य ब्रह्मस्पसे यदि न नित्यसुखमभिन्यस्यते सुख-

दुःखोभयस्य निष्टत्तिश्च स्यात् तदा तैत्तिरीयोपनिपदुक्तम् —यतो वाचो निवत्तंनते अपाप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चनति मन्त्रेण ब्रह्मण भानन्द् उक्तः, स खल्वानन्द्रो नित्यस्त त्रित्यानन्द्वान् पूरुप उत्तमः पुरुप ईश्वरः । पानञ्जले हीश्वर उक्तः । क्लेशकममे विपाकाशयैरपरामृष्टः , पुरुपविशेप ईश्वरः । अस्य न्यासकृतभाष्यम् । अथ प्रधानपुरुपन्यतिरिक्तः कोऽयमीश्वरो नामेति ? क्लेशकम्प्रंविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुपविशेप ईश्वर इति । अविद्यादयः क्लेशाः, कुशलाकुशलानि कम्माणि, तत्फलं विपाकः, तद्तुगुणवासना आशयः। ते च मनसि वर्त्तमानाः पुरुपे व्यपदिश्यन्ते। स हि तत्फलस्य भोक्ता इति । यथा जयः पराजयो वा योद्धु वर्त्तमानः स्वामिनि व्यपदिस्यते। यो हानेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुपविशेप ईश्वरः। कैवल्यं प्राप्ताः सन्ति च वहवः केवलिनः। ते हि त्रीणि च्छिला वन्धनानि कैवल्यं प्राप्ताः । ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूनो न भावी, यथा मुक्तस्य पृट्वंबन्धकोटिः प्रज्ञायते नैवपीश्वरस्य। यथा प्रकृतिलीनस्योत्तरवन्थक। दिः सम्भाव्यते नैवमीश्वरस्य। स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वरः। योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वो-पादानादी भरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित्तो निर्निमित्तो वेति। तस्य शास्त्रं निमित्तम्। शास्त्रं पुनः किंनिमित्तं प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम्। एतयोः ज्ञास्त्रोत्कपंयोरीश्वरसत्त्वे वत्तंमानयोरनादिः सम्बन्धः। एतस्पात् एतज्ञवति। सदैवेश्वरः सदैव मुक्तः इति। तच तस्येश्वर्यं साम्यातिशय-विनिर्धक्तं न तावदैश्वर्यान्तरेण तद्तिशय्यते। यदेवातिशयि यस्मात् तदेव तसात् काष्टापाप्तिरैश्वय्येस्य स ईश्वरः। न च तत्समानमैश्वय्येमस्ति। कस्मात् ? द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन् युगपत्कामितेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराणमिद-मस्तु इति। एकस्य सिद्धावितरस्य प्राकाम्यविद्यातादुनत्वं प्रसक्तम्। द्वयोश्र तुल्ययोषु गपत्कामिताथेमाप्तिर्नास्ति । अर्थविरुद्धलात्। तस्माद् ्रयस्य साम्यातिशयविनिम्धुक्तमैश्वर्यं स ईश्वरः स च पुरुपविशेषः। सन्वेभ्यः पुरुषेभ्य उत्तम इत्युत्तमपुरुषः। एतदुत्तमपुरुषरूपेणाभिनिष्पत्तौ सम्प्रसादस्य मोक्षे यदानन्दवत् खरूपता स आनन्दो नाभिन्यज्यते मोक्षे नित्यमेव ताद्रृप्येण वर्त्तत इति। नानन्दाभिव्यक्तिभ्रंक्तौ इति।

नतु ति सुखदुःखोभयनिष्टत्तिइचेदपवर्गे ततः कथं सङ्गच्छते ति स्व पत् पुनः किपलेन साह्वप्रसंहितायामुक्तं मोक्षलक्षणम्। अथ त्रिविधदुःखात्यन्त-निष्टत्तिस्त्यन्तपुरुपार्थः । १। अथशन्दोऽधिकारार्थो मङ्गलश्चास्योचारणात्

पुरुपाणां भवताति। अथाधिक्रियतेऽत्यन्तपुरुपार्थः। पुरुपस्य राशि संगक्षस्य स्थूलदेहिनः संसारदुःखिसन्धुमग्रस्यात्यन्तोऽथेः प्रयोजनं मुख्य फलं त्रिविधदुःखात्यन्तनिष्टत्तिः। त्रिविधं दुःखमाधिभौतिकमाध्यात्मिकमाधि दैविकश्च। पूर्वं व्याख्यातम्। तस्यात्यन्ता या निष्टत्तिरपष्ट्तिः साऽत्यन्त पुरुपार्थः । अन्तं नाशमतिकान्ता या सात्यन्ता, अत्यन्ता चासौ निष्टत्तिःचेति अत्यन्तनिष्टत्तिः, त्रिविधदुःखस्यात्यन्तनिष्टत्तिरपुनभेवपष्टत्तिः। अत्यन्तोऽन्तर अतिकान्तः पुरुपार्थ इत्यत्यन्तपुरुपार्थो मोक्ष इत्यर्थः। अत्यन्तनिष्टात्तिरिति अन्तपद्व्याद्यत्तिमाह, न दृष्टात् तत्सिद्धिनिष्टत्तेरप्यनुदृत्तिद्र्ञनात् । २। दृष्टात दुःखनाशकाद् धनपुत्रकल्बादिकादर्थात् मुखपाप्ती सत्यां त्रिविधदुःखनिष्टत्तं तत्सिद्धिस्तस्यास्त्रिविधदुःखात्यन्तिनृत्तेः सिद्धिन कस्मात् ? निष्टत्तेरपि त्रिविधस्य दुःखस्य पुनरनुष्टत्तिद्र्यनात्। कलत्रादिवदः समेधादिकमपि वैधं कम्में दृष्टमेव तज्जनितस्वर्गादिकमदृष्टमि च्युतं न लत्यन्तं ततः पुनरिह संसरणात् त्रिविधदुःखानुष्टित्तभेवतीति अत्यन्तपद्व्याष्ट्रत्तिः स्वयं कृता। अत्यन्तपुरुपार्थे इत्यत्यन्तपद्व्याष्ट्रत्ति दर्भयति – प्रात्यहिकक्षत्पतीकारवत् तत्पतिकारचेष्टनात् पुरुपार्थेलम् । ३ मत्यहोत्पन्नश्चधायाः मतीकारार्थं निष्टच्यर्थं चेप्टा भोजनादिवत् । आधिभौति कादित्रिविधस्य दुःखस्य पारलेकिकस्य चैहिकस्य च प्रतीकारार्थं निष्टस्यर्ध नित्यनै मित्ति ककाम्याव्यमेथादिकम्म हिताहाराचारसव्यूचादिचेष्ट्नात् तत्तत् त्रिविधदुःखनिष्टत्तेः पुरुपायेत्वं न लत्यन्तपुरुपायेत्वम् । तत्तत् कर्मोफलस्वर्गादिः सुखस्य नश्वरत्वेन नाशे सति ति विधिदुःखस्य पुनरनुष्टतेः।।

नसु दृश्यते कस्यचिद्रसायनसेवनाच्छारीरत्रिविधदुःखानामत्यःतिनृष्टित्तं केपाश्चिद्धितसेविनां त्रिविधान्यतरस्य दुःखस्यात्यन्तिनृष्टित्तः सा किमत्यन्त पुरुपाथ इत्यत आह । सर्वासम्भवात् सम्भवेऽपि सत्त्वासम्भवाद्धेयः प्रमाणकुश्चः । ४। रसायनसेवनात् कम्भान्तराद्द्वा सर्व्वपां मनःशरीराधिष्ठानानां त्रिविधानां दुःखानामत्यन्तिनृष्टित्तेरसम्भवात् प्रमाणकुश्चः प्रज्ञानद्क्षेस्त्रिविधान्यतमदुःखस्य शारीरमानसान्यतरित्रविधस्य चात्यन्तिनृष्टित्तिक्षपोऽत्यन्तप्रस्पर्थो हेयस्त्याच्यः शेपदुःखसद्भावात् । सम्भवेऽपि सोमरसायनादिसेवनाद्युत्कटतपोभ्यो वा वहुत्रह्मायुष्कालपर्यन्तं कस्यचिच्छारीरमानसित्रविध-दुःखानां निष्टत्तेः सम्भवेऽपि पुनरपायित्वेन तेपां निष्टत्तेः सत्त्वासम्भवाचिरं वर्त्तनसम्भवाभावात् सोऽपि पुरुपार्थो हेयः प्रमाणकुश्चिरिति । त्रिविधित पद्व्यादृत्तिः । अत्यन्तेत्यस्य च व्यादृत्तिः । ।

नतु तर्हि कोऽत्यन्तपुरुपार्थ इत्यत आह—उत्कपादिष मोक्षसम सन्वीत्-कर्षश्रुतेः। ५। उत्कपीदत्यन्तलादिष मोक्षसमात्यन्तपुरुपार्थत्वम्। कस्मात् १ सन्वीत्कर्षश्रुतेः। इवेताश्वतरोपनिषदि मन्त्रः। न तस्य कार्य्यं करणश्च विद्यते न तत् समञ्चाष्यधिकश्च दृश्यते इति समातित्रयाभादः श्रूयते। इत्यादि।।

नन्द्कपान्मोक्षस्य चेद्रयन्तपुरुपार्थत्वं ति विधदुःखात्यन्तिनष्टित्तः किं दःखाविद्धसुखमत्यन्तपुरुपार्थ इति चेन्न । अविभिपश्चोभयोः । ६ । त्रिविध-दुःखदुःखाविद्धसुखयोरुभयोश्च न विशेपोऽस्ति । सुखस्य नश्वरत्ने न काले स्वर्गादिसुखनाशे पुनदुःखप्राप्तेः सुखस्यापि दुःखमध्ये प्रक्षेपात् । सम्प्रसादस्य क्षेत्रज्ञस्य परव्योमिशवरूपेण निष्पत्तौ स्वस्वरूपाभावात् तद्गतित्यसुखस्याप्य-भावात् कुत्रस्थनित्यसुखमभिव्यज्येतेति । तस्मान्नानन्दाभिव्यक्तिप्रिक्तिरिति तत्त्वम् ।

नन्वेवमशेषतो वेदनानिष्टत्तौ सत्यां स योगी कीदशः सन् जीवन् विचरतीति चेत तदोच्यते। तैत्तिरीयोपनिषदि ह्रप्रक्तम्। कोषानन्तरमनुप्रकाः। उताविद्वानम् लोकं प्रेत्य कश्चन गच्छति ? आहो विद्वानमं लोकं भेरय किश्चित समरत्ते ? इति मशः। विद्वान ब्रह्मकः। अस्योत्तरमुक्तं तत्रैव । असद् वा इद्मग्र आसीत् ततो वे सद्जायत । तदात्मानं स्वयमकुरुत तस्मात् तत् सुकृतमुच्यते। इति। यद्दैतत् सुकृतं रसो वै स रसं हेप्रवायं लब्धानन्दीभवति। को हेप्रवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एप हेरवानन्दयति। यदा हेरवैप एतस्मिन्नदृश्येऽनाज्ये निरुक्ते निलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दतेऽथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतिसमस्तद् दरमन्तरं कुरुतेऽथ तत् सभयं भवति । तदुभयं विदुषो मन्वानस्य। ्तदृष्येष श्लोको भवति । भीषा वातः पवते भीषोदैति सूर्य्यः । भीषाऽस्मादग्नि-अन्द्रश्च मृत्युर्घावति पश्चम इति। व्याख्यायते चेयं श्रुतिः। क्रियागुण-८ व्यपदेशरहिनमसदेवेदं सन्वेमग्र आसीत्। तत् स्वगुणनिगृहा शक्तिर्वस पाक् सुंद्धेः क्रियागुणव्यपदेशरहितासीत्। सर्गे प्रथमतस्तेजोऽस्रजत। तन् तेजो-ऽपोऽसूजत् ता आपोऽन्नमसूजन्त। तास्तिस्रो देवतास्तेजोऽवन्नाख्या अनुपविश्य परा सा शक्तिन्नेहा सा खल्वजा तेजोऽवन्नानि भूला तान्यनुपविश्य लोहित-शुक्ककृष्णवदाभासमाना वाग्देवी सरस्वती दुर्गा नाम गायत्री अतीन्द्रियध्वनि-रूपा वभूवेति सा सदजायत। सैवाद्धांङ्गेन घनीभूय परमव्योमरूपस्तदतीन्द्रिय-ध्वनिमान् शिवो वभूव सोऽजः। एष परमात्मा प्रहपो नासन्न सत्। असच

सद्सच । तमात्मानं स्वयं सुष्टु अयः शुभावहविधियसात् तं शिवमकुरुत । तस्मात् स्वयतात् तदात्मानं शिवं सुकृतमुच्यते। यह यदेव तत् सुकृतं परमा-त्माख्य ब्रह्म रसो वै सः। स रस एव। प्रथमादिसन्वीमृताश्रयलात्। तं रसमानन्द्रये क्षेत्रज्ञे स्थितं तन्विष्णोः परमं परं ज्योतिःस्वरूपं शिवं पथमा-मृतवन्तमयं योगमास्थितः पुरुषो विद्वान् योगे लब्धानन्दीभवति । अमृतरसो हि सुखकरस्तलाभे सुखवान् भवति।

अत्र स्वयमाशङ्कते । को हेप्रवेत्यादि । तद्रसरूपानन्द्रमयलाभे क एवान्यात् मीतः स्यात् क एव माण्यात् माणकम्मां स्याद् यत एप आकाश आकाश-भूतवदाकाश एव निर्छिप्त इति आनन्दोऽस्य न स्यादिति प्रश्नः। उत्तर्यति। एप हेरवानन्द्यति। यत एप आनन्द्मयस्थक्षेत्रक्षस्थितः शिवः समाधि-योगस्थितं पुरुषं जीवोपाधिमहत्तत्त्वोपाहितं प्राघं क्षेत्रज्ञमानन्दयित मह-त्तत्त्वारुयया विद्यया तमानन्दं भुज्जानो जीवोपाधिः समाधिस्थः क्षेत्रज्ञ आनन्दीभवति न केवल्यमेति। नन्वेष एकान्तत एव किमानन्दीभवति अनेकान्ततो वेत्यत आह—यदा हेर्रवेत्यादि । हि यस्मादेप जीवोपाधिः क्षेत्रज्ञः पुरुष एतस्मिञ्छरीरे अदृश्ये चानाश्ये निरुक्ते खल्वानन्द्मये निलयने भयशृन्यं यथा स्यात् तथा प्रतिष्ठामालम्ब्य स्थितिं लभतेऽथ तदनन्तरकालं सोऽभयं गतो भवति। यदा हि यसादेप जीवोपाधिः। क्षेत्रज्ञो विद्वान्। एतस्मिञ्छरीरे तद इति। उभो दरमीपदन्तरं त्रिगुणेनेपद्मयहितं तत् परमात्मानं कुरुते-ऽथानन्दमयस्य दरव्यवधानाद्विदुपोऽपि तस्य भयं भवति । एतद्भयमभयभयं विद्रपो मन्वानसत्र भवति।

नज्ञ कुत आनन्दमये निलये प्रतिष्टां गतस्त्राभयं भवतीत्यत आह—तद्प्येप इत्यादि । अस्यात् सन्वेभयद्वराद्भद्रादेव भीषा भयेन वातः पवते सततं गच्छन् सशोपयति। यसाद्भीपा स्ययं उदेति। यसाद्भीपा चन्द्रोऽप्रिश्च उदेति। पञ्चमो मृत्युलीकानामन्तकाले नयनार्थं धावतीति। वसात् सन्वेशासनात् शिवादभयं प्रतिष्ठां गतस्य कुतो भयं भवति तस्माद् व्यवधानं कथं नान्यसाद्भयं स्यादित्यर्थः। नन्वेतदानन्दस्य को विचार इत्यत एतत्श्लोकानन्तरं तत्रैव तैत्तिरीयोपनिपदि। सैपानन्दस्य मीमांसा भवति। युवाध्यात्मसु युवाध्यापक आशिष्टो द्रिष्टो वलिष्टः। तस्येयं पृथिवी सन्वी वित्तस्य पूर्णा स्थात्। स एको मानुपानन्दः। ते ये शतं मानुपानन्दाः। स एको मनुष्यगन्धर्वाणाम् आनन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये त्रतं मनुष्यगन्धव्वाणामानन्दाः स

एको देवगन्धन्वीणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देव-गन्धन्वीणामानन्दाः स एकः पितृणां चिरलोकलोकानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं पितणां चिरलोकलोकानामानन्दाः स एक आयानजानां देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतमायानन जानां देवानामानन्दाः स एकः कम्मदेवानामानन्दो ये कम्भेणा देवानपयन्ति । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं कम्मेंदेवानामानन्दाः स एको देवा-नामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामंहतस्य। ते ये शतं देवानामानन्दाः स एक इन्द्रस्यानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः स एको वृहस्पतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं वृहस्पतेरानन्दाः स एकः प्रजापतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। स यश्चायं पुरुषे यश्र पश्वादौ यश्वासावादित्ये स एकः स य एवं वित् । तद्प्येप श्लोको भवति । यतो वाचो निवर्त्तन्ते अपाप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चनेति । अत्र ब्रह्मण इति यः पुरुपश्चार्यं पुरुषे क्षेत्रक्षे वर्त्तते यश्च पश्चादि-देवान्तेषु सर्व्वेषु वर्त्तन्ते य आदित्येऽस्मिन् सुर्य्ये वर्त्तते स एकः परः प्ररूपो ्त्रह्म शिव एव तस्येयमानन्दस्य मीमांसा । एतं त्रह्मणः शिवस्यानन्दं विद्वान कुतश्रन न विभेतीति जीवन्मुक्तस्य युक्तस्यानन्दगीमांसा। तंस्माङ्घोकात् मेत्य किञ्चित् समञ्जूत इति प्रश्नस्योत्तरमेतदनन्तरम्रक्तम्। अस्पाञ्चोकात प्रेत्यैतमन्त्रमयमात्मानम्रपसंक्रामत्येतं प्राणमयमात्मानम्प-संक्रामत्येतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामत्येतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामत्यतः मानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामित इति । अस्माङ्घोकात् पेत्येति प्रकर्षेण गला न तु मृता। तदेव तत्रैवोक्तं पुनः। स यश्रायं पुरुषे यश्र पश्वादौ यश्वासावादित्ये स एकः स य एवं वित् । अस्माङ्घोकात् पेत्य एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्यैतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्यतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्यतं विज्ञानमयमात्मान-मुपसंक्रम्यैतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रमयेमान् लोकान् काममप्यत्रपसञ्चरन्नेतत् सामगायत्रास्ते इति। इमानन्नमयादीन् लोकान् स्वेच्छ्या कामी सन् विचरति । इति । नन् मृतायं कि स्यादितो वा कथं गच्छतीत्यतस्तदाह-च्छान्दोग्योपनिषदि। "तदय इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासीत तेऽचिष-मभिसम्भवन्त्यचिषोऽहरह आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षान् यानुदङ्केति प्रभासांस्तान् । मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याचन्द्रमसं चन्द्रमसो

अतः परं ब्रह्मभूतो भूतात्मा नोवलभ्यते । निःस्टतः सर्व्वभावेभ्यश्चिह्नं यस्य न विद्यते ॥

विदुर्गतं स तत्पुरुष एतान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्थाः इति।" प्रश्लोप-निषदि। "हदि हेरप आत्माऽत्रैतदेकशतं नाड़ीनाम्। तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्तिद्वीसप्तिः प्रतिशाखानाङ्गीसहस्राणि भवन्ति। आसु व्यानश्ररित। अथैकयोर्द्ध उदानः। पुष्येन पुष्यं लोकं जयित पापेन पापमुभयाभ्यामेव अथ स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्वव-मनुष्यलोकमिति।" क्रामित । तस्य हैतस्य हृद्यस्याग्रं पद्योतते, तेन पद्यातेनैप आत्मा निष्क्रामित चक्षुष्टो वा मूढ़ी वाऽहन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्य इति योगिनो विद्यया पुण्यं वान्धवान् गच्छति पापे शत्रून् गच्छति विहीनपुण्यपापाः हृदयाग्रं ज्वलितमचिपमभिलक्ष्य सम्भवन्ति ते चक्षुरादितोऽहनि निष्क्रम्य दिनमभि-सम्भवन्ति दिनात् शुक्रपक्षं शुक्रपक्षादुत्तरायणमुत्तरायणात् संवत्सरं संवत्सरादादित्यमिति अग्निलोकमादित्याचन्द्रमसमिति वायुलोकं चन्द्रमसाद् विद्रातमिति वरुणलोकम्। तत्र गतान् खल्वेतान् तपःश्रद्धादियुक्तान् क्षेत्रज्ञान् तत्पुरुषः सदाशिवो ब्रह्म गमयति । नैते पुनरावर्त्तन्ते । गीतायाश्च । अग्निज्यौतिरहः शुक्तः पण्यासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्म-विदो विदुरिति। अग्निज्यौतिह द्याग्रज्वलनज्योतिरभिष्रयान्ति। तस्मादहरहः शुक्छं पक्षं शुक्लपक्षादुत्तरायणमित्यादिक्रमेण तत्र द्वयाने पथि प्रयाता ब्रह्मविदो ब्रह्म गच्छन्तीति विदुः। भ्रान्ता आहुर्दिवादिषु मरणे फलमिदम्। तन्न श्रतिविरोधात्। इति देवयानः पन्था उक्तः। दौर्व्वाससोपनिषदि च पाशुपतयोगे। चतु विवैश्व योग एष वै पश्चविंशकः। पड्विंशश्च तथा हो यो हाध्यक्षः सप्तविंशकः। अष्टाविंशश्च पुरुषस्त्रंशः पुरुषलोकधृक्। यं विदिला न शोचन्ति शिवं तं कथयामि ते। ऊनत्रिंगं तदा विद्याज् शान-तत्त्वार्थि चिन्तकः । त्रिंशकनतु तदा ज्ञाला अमृतलाय करपते । इति पाशुपतयोग इति। इति द्वाविंशपश्चस्योत्तरम् ॥ ५० ॥ 😁

गङ्गाधरः—अत्र पुनरियवेशः पप्रच्छ । सर्व्ववित् सर्व्वसंन्यासी सर्वि-संयोगिनः छतः । एकः प्रशान्तो भूतात्मा कैर्छिङ्गैरुपलभ्यते इति । तत्रोत्तर-माह—अतः परिमत्यादि । सोऽयं वद्धो भूतात्मा यः पुनः पुनिरह जायते स सत्यबुद्धेरुत्पत्तौ सर्व्ववित् सन् सर्व्व संन्यस्य ब्रह्मभूतः सन् नोपलभ्यते ।

गतिर्वक्षिवदां ब्रह्म तचाच्तरमलच्याम् । ज्ञानं ७ ब्रह्मविदाञ्चात्र नाज्ञस्तज् ज्ञातुमहीति ॥ ५१ ॥

भत्यक्षेणानुमानेनाप्तोपदेशेन वा सर्व्यथा नोपलभ्यते। तदा ह्यममेयं भवति प्रमाणैरहो यसात्। कस्मान्नोपलभ्यते ? सन्बै ह्यतत् कार्यं लिङ्गं लिङ्गेनानुमेयं स्यादित्यत आह—निःसन इत्यादि। सोऽयं मुक्तो ब्रह्मभूनः सर्व्वभावेभ्यो निःसतो यसात् तसात् तस्य नोपलव्धिरस्ति । कसात् ? यसात् तस्य चिह्नं लिङ्गमनुमितिसाधनं न विचते। ततः स कथमुपलभ्येत ? सन्व-भावान्तिःसरणात्र तस्य किमपि कार्यं करणञ्च विद्यते ततो लिङ्गञ्च नास्तीति । तर्दि नास्त लिङ्गग्राह्यः बानान्तरविद्येयोऽपि किं न स्यादित्यत आह— गतिरित्यादि। ब्रह्मविदां गतिवेंहीव तचार्ठक्षणमक्षरञ्च। अत्र ब्रह्मविदां योगिनां यत्सांख्यक्षानयोगकानं तज्ज्ञानक्षेयत्रश्चास्ति मानसग्राह्यतन्तु नास्ती-त्यस्मादशस्तद्वस न शातुमहीति। अत्रेयमाशङ्घा। यदेगवमातमा कथं स खलु पुनः वध्यते केन वा वन्धनेनेति ? तत्रीच्यते। यदुक्तं छैङ्गे नवमाध्याये—सनत्-कुमार उवाच। कथं पशुपतिर्देवः पश्चवः के प्रकीत्तिंताः। कैः पार्शस्ते निवद्धाश्च विमुच्यन्ते च ते कथम्। शैलादिरुवाच। ब्रह्माद्याः स्थावरान्ताश्च देवदेवस्य धीमतः। पशवः परिकीर्च्यन्ते संसारवशवर्त्तिनः। तेषां पतिलाद् भगवान् रुद्रः पशुपतिः रमृतः। अनादिनिधनो धाता भगवान् प्रभुरव्ययः। मायापाशेन वक्षाति पशुंस्तान् परमेश्वरः। स एव मोचकस्तेषां बानयोगेन सेवितः। अविद्यापात्रवद्धानां नान्यो मोचक इप्यते। तप्यते परमात्मानं शङ्करं परमेश्वरम् । चतुर्व्विशतितत्त्वानि पाशा वै परमेष्टिनः। पाशेभ्यो मोचयत्वेष शिवो जीवानुपासितः। निवन्नाति पश्नेकश्चतुर्विश्चितिपाशकैः। स एव भगवान् रुद्रो मोचयत्यपि सेवितः। दृज्ञेन्द्रियमयैः पाज्ञैरन्तःकरण-सम्भवैः। भूततन्मात्रपाजैश्र पशून् वश्नाति च प्रशुः। इन्द्रियार्थमयैः पाजै-वेंश्रात्येव शिवः प्रभुः। पाशमुक्ता भवन्त्येते परमेश्वरसेवनात्। भज इत्येव धातुर्वै सेवायां परिकीत्तितः। तस्मात् सेवा वुधैः प्रोक्ता भक्तिशब्देन भूयसी। ब्रह्मादीन स्तम्भपर्यन्तान् पशून बद्धा महेश्वरः। ब्रिभिगु णमयैः पाजैः कार्य्य कारयति खकम्। इद्देन भक्तियोगेन पशुभिः समुपासितः। मोचयत्येव तान् सद्यः शङ्करः परमेश्वरः। भजनं भक्तिरित्युक्ता वाङ्मनःकायकम्मेभिः।

^{*} ज्ञेयमिति चंकः।

सन्त्रकल्याणहेतुलात् पाशच्छदपटीयसी। सन्त्रं सन्त्रंग इत्यादि शिवस्य गुणचिन्तनम्। रूपोपादानचिन्ता वा मानसं भजनं विदुः। वाचिकं भजनं धीराः प्रणवादिजपं विदः। वाचिकं भजनं सिद्धः प्राणायामादि कथ्यते। धर्माधरमेमयैः पाजैवद्धानां देहिनामयम्। मोचकः शिव एवैको भगवान् परमेश्वरः। चतुर्विश्वतितत्त्वानि मायाकस्मंगुणा इति। विषया इति कीत्त्यंन्ते पाशा जीवनिवन्धनाः। तैर्वद्धाः शिवभक्तीयव मुच्यन्ते सर्व्वदेहिनः। पश्चक्रेश-मयैः पाञैः पश्न वञ्चाति कङ्करः। स एव मोचकस्तेषां सम्यग् भक्तप्रा ह्रप्रासितः। अविद्यामिस्मतां रागं द्वेपश्च द्विपदां वराः। वदन्त्यभिनिवेशश्च क्लेशान् पाश्चमागतान्। तमो मोहो महामोहस्तामिस्त इति पण्डिताः। तामिस्रमित्याहुरविद्यां पञ्चधा रिथताम् । तान् जीवान् मुनिशाइं लाः सर्व्यांश्रै-वापि विद्यया। शिवो मोचयति श्रेयान् नान्यः कोऽपीह मोचकः। अविद्यां तम इत्याहुरिस्मतां मोहिमत्यिष । महामोहिमिति प्राहृ रागं योगपरायणाः। द्वेषं तामिस्तमित्याहुरम्धतामिस्तमित्यपि। तथैवाभिनिवेशश्च मिथ्याह्यानं विवेकिनः। तमसोऽप्टविधा भेदा मोहस्याप्टविधाः रमृताः। महामोहमभेदाश्च बुधैदेश विचिन्तिताः। अप्टादशविधं प्राहुस्तामिस्रश्च विचक्षणाः। अन्ध-तामिसभेदाश्च तथाष्टादशधा स्मृताः। अविद्यया न सम्बन्धो ज्ञानदातुः शिवस्य सर्व्वज्ञस्य तु मोहेन नातीतो नाप्यनागतः। भवेद्रागेण देवस्य शम्भोरङ्गजशासिनः। कालेषु त्रिषु सम्बन्धस्तस्य द्वेषेणं न भवेत्। माया-तीतस्य देवस्य स्थाणोः पशुपतेविंभोः। तथैवाभिनिवेजेन सम्बन्धो न कदा-चन । शङ्करस्य शरण्यस्य शिवस्य परमात्मनः । कुशलाकुशलैस्तस्य सम्बन्धो नैव कम्मेभिः'' इत्यादि । एतदुपदेशेन प्रथमं परमात्मा शिवश्चित् सम्प्रसादं क्षेत्रज्ञमात्मानं मायया वभाति ततो ज्ञानविषय्येयैः पश्चभिरविद्यादिभिवेभाति न तु स्वभावधम्मीधम्मीदिभिः। अविद्याद्यशानेन वद्धस्तु कम्मीणि कुर्व्वस्तत्-फलेन धम्मीधम्मेण पुनर्वध्यते। तदुक्तं साह्वे य—"हानान्युक्तिः वन्धो विपर्ध्य-याद्।" विषय्येयाद् वन्ध इति ज्ञानविषय्ययाद्ज्ञानात् क्षेत्रज्ञस्यात्मनो वन्धः स्वभोग्यदुः खंहेतुमनः शरीरसंयोगः स्यात्।

नतु कितिवधो कानिविषयेय इत्यत आह । विषय्ययभेदाः पश्च । क्षेत्रकस्य पुरुषस्यात्मनो मनः शरीराभ्यां वन्धस्य स्वभोग्यवेदनाहेतोः संयोगस्य कारणं यज्कानिविषय्ययम्बानं तस्य भेदाः प्रकाराः पश्च भवन्ति । ते योगशासने पातञ्जले प्रोक्ताः । तद् यथा—अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः । तत्र

अविद्याक्रमाद्नित्याशुचिद्वःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिः। लात्मनात्मनोरेकताप्रत्ययः। स च शरीराद्यतिरिक्त आत्मा नास्तीत्येवं रूपम् । तेनानात्मन्यात्मख्यातिरविद्याऽस्मितातः पृथगेव नास्तिवयज्ञानरूपा ह्यस्मिता रागोऽनुरञ्जनव्यापारः। स चेच्छाहेतः। द्वेपस्तद्विपर्ययः। अभि-निवेशो मरणादित्रासः। इति। रूपैः सप्तभिरात्मानं वञ्चाति प्रधानं कोपकार-. वद्विमोचयत्येकरूपेण । षानैश्वर्यवैराग्यधम्माशानानैश्वर्यावैराग्याधम्माणी-त्यष्टौ प्रधानस्य रूपाणि प्रसिद्धानि । तत् तु प्रधानं स्वभावान्नियत्या यदच्छया चैव सर्गादौ परमात्मन्यनुपविष्टं क्षेत्रवमाश्रित्य वर्त्तते । तथा वर्त्तमानं स्वभा-वादिभिरेव कालतोऽभिव्यक्तसत्त्वादित्रिगुणलक्षणमव्यक्तं नाम भवति । तत-क्षेत्रकानुमविष्टसमत्रिगुणलक्षणमन्यक्तं पथमं प्रकृतिवद्ध आत्मा क्षेत्रकः। स पुनयनात्मानं मुन्तते स महान् मतिविद्या बुद्धिमेनः क्षेत्रश्रस्येति स जीवो नामात्मा तेन विशिष्टमन्यक्तं पाक्षो नामात्मेति क्षेत्रह्य द्वितीयो वन्धो महता स च पाह-स्तया बुद्धग्राहमिति मन्यते तयाहम्मत्या विशिष्टः स आत्मा धीधृतिस्मृत्यहङ्कार्-लिङ्गः स्यात् । इत्यहङ्कारवन्धसतृतीयः पुनरहङ्कारादुत्पन्नैः पश्चिभर्महाभूतैः क्रमे-णास्य वन्धो भवति। एवं महदादिभिः सप्तभी रूपैः प्रधानं क्षेत्रज्ञमात्मानं वञ्चाति कोपकारकीटवत् । स पुनराहङ्कारिकैर्दशिभिरिन्द्रियैर्भनसा स्थूलभूतैश्च वध्यत इति। एवमभूतस्य द्वहतो लोकस्य प्ररूपस्य यद्यणोरणीयोरूपो नारायणेन ब्रह्मणा सूक्ष्मदेहसगें संयोज्यते तदा स क्षेत्रकः सूक्ष्मदेही निर्द्धिजेपः स चतु-यौनिज एपोऽमुकोऽहमसावहमित्येवमभिमन्यते वध्यते च सप्तभिरैव्वर्ट्या-दिभिमंहतो रूपैरहङ्कारोऽभिमन्ता चेक्चरश्चेति धीधृतिसमृतिभ्नं शरूपा दुद्धि-रैश्वय्योदिसप्तविधा सत्यविद्यादिपश्चधैकजीवोपाधिमत आत्मनः क्षेत्रज्ञस्य . लिङ्गमिति, तत्र रागादिभिः क्रिया वेदोक्ता वाङ्गनःशरीरैः खल्वारभ्यते सम्यगसम्यक् च तत्सम्यगसम्यगारमभाद् धम्मधिम्मभ्यां पुनःपुनः कोपकार-वित्रजकृतेन सूत्रेण वध्यते इति। वद्धशानित्यसुखदुःखात्मकवेदनां भुङ्क्ते। ·यदा सम्यग्बद्धा वाङ्मनःशरीरैवैधावैधकम्माणि द्वेपानारभ्यन्ते तदा सर्वन कम्मीनारम्भादात्मानं वद्धं क्षेत्रज्ञं समबुद्धिरूपं प्रधानं विमोचयतीति अना-रम्भादसं योगात् तं दुःखं नोपतिष्ठत इति । नन्वेवं यद् वध्यते क्षेत्रज्ञस्तद्वन्धनं स्वभावादेव भवति क्रमेण प्रधानाव्यक्तमहदहङ्कारादिष्वनुप्रवेशोः नाज्ञानादिति चेत् तत्राह । न खभावतो वद्धस्य मोक्षसाधनोपदेशविधिः ।०। स्वभावतो वद्धः सन् क्षेत्रको भूला प्रधानेन वद्धो यदन्यक्तमनुप्रविक्यानन्दमय आत्मा

अभूत् तस्य मोक्षसाधनोपदेशो न विधीयते कैर्प्याचार्य्यः। स्वभावस्यानपायि-सात्।

अत्राह वादी। स्वभावस्यानपायित्वादननुष्टान्मपामाण्यम्। । स्वभावस्य अपायशीलवाभावात् स्वभावतो वद्धस्य मोक्षार्थमनुष्टानाविधानमपामाण्यं न प्रमाणसिद्धमपि लनुष्टानोपदेशः कत्तंच्य इति । तत्रोत्तरमाह । नाशक्योपदेश-विधिरुपदिष्टेऽप्यनुपदेशः।०। अशक्ये शत्त्यसाध्ये फले साधनार्थमुपदेशकर्णं न युज्यते। कस्मात्? यत उपदिप्टेंऽप्यनुपदेशः। अशक्यफलसाधनोपाये त्पदिष्टेऽप्यनुपदेशो भवति साधने शत्तयभावादिति । अत्राशङ्कते—शुक्लपटवद्-वीजवच्चेति। । यथा स्वभावसिद्धस्य पटानां शुक्लस्य रागविधानादपायः स्याट् यथा वीजानामङ्करकारिलस्वभावस्याग्निदाहादिनापायः स्यात् तथा स्वभावतो वद्धस्य क्षेत्रशस्य प्रधानेन वद्धस्य वन्धापाये वन्धापाय इति चेत्, तत्राह-शक्तयुर्भवानुर्भवाभ्यां नाशक्योपदेशः ।०। स्वभावस्यापायहेतुभूतकम्मंसाधने शक्तिरुद्भवति वा नोद्भवति इति अशक्ये साधनोपदेशो न क्रियते। ननु ति कि क्षेत्रकस्यात्मनः प्रधानेन वन्धः कालतः स्यादित्यत आह—न काल-योगतो व्यापिनो नित्यस्य सर्व्वसम्बन्धात्। । प्रधानानुप्रविष्टस्याव्यक्ताख्य-स्यात्मनो न कालयोगतो वन्धः स्यात्। कस्मात्? व्यापिनो नित्यस्य कालस्य सर्विसम्बन्धात्। तर्हि किं देशयोगतो वन्ध इत्यत आह—न देशतोऽप्यस्मात् । । देशयोगतोऽपि न पुरुपवन्धः । कस्मान् ? अस्मात् व्यापिनो नित्यस्य देशस्य सर्वसम्बन्धात्। न हि दृदयन्ते खाद्यो देशेन बद्धाः। तिं किमवस्थातो वन्धः स्यादित्यत आह । नावस्थातो देहधम्मेलात् तस्याः ।०। याद्रूप्येण यदा वर्त्तते ताद्रूप्येण दृत्तिरवस्था। तद्योगतो न पुरुपवन्धः स्यात् । कस्यात् ? देहथम्मीलात् तस्याः । तस्या अवस्थाया देहधम्मीलात् पुरुपस्य वन्धायोग्यलात्।

नतु शरीरविशेषेणात्मनो विशेषोपलिध्यस्तः कथं देहधमर्मणावस्थया न पुरुपवन्धः स्यादित्यत आह—असङ्गोऽयं पुरुप इति ।०। आकाशवदितिविशद-लादसङ्गोऽयं पुरुपो भौतिकशरीरीयावस्थया वर्ष्णं न शक्यते, तिह किं कम्मीणा पुरुपो वध्यत इत्यत आह—न कम्मीणाऽन्यधम्मीलादितिप्रसक्तिश्च ।०। पुरुपस्य वन्धो न कृतेन शुभाशुभकम्मीफलेन भवति कम्मीणोऽन्यधम्मीलादात्मनोऽन्यस्य भूतात्मनो धम्म वाङ्मनःशरीरकृतकम्मोफलं कम्मी। तच्छरीरगतत्वेनात्मनो यदन्यधम्मीण कम्मीणा वन्धः स्यात् तदाऽतिष्रसङ्गः स्यात् सर्व्वस्य सर्व्वधमर्मेण

वन्धः सम्भवति । अन्यधर्मत्वे कर्मणो दोपमाह-विचित्रभोगानुपपत्तिरन्य-धम्में ले । । कम्मेणोऽन्यधर्माले पुरुपस्य तत्कर्म्मजविचित्रभोगानुपपत्तिः स्यात्। विचित्रभोगो हि छोकेऽस्मित्रमुप्मिंश्च नानाविधभोग इति। प्रकृति-निवन्धनाच्चेन तस्या अपि पारतन्त्रम् । । प्रकृतिनिवन्धनाच्चेत् पुरुपस्यात्मनो विचित्रभोगः स्यादिति चेन्न, यसात् तस्या अपि पारतन्त्रप्रम्। अचेतन-लादस्वातन्त्राम् । पारतन्त्रंग्र चेत् तदा कथं प्रकृतेः पुरुपेण योगः स्यादित्यत आह—न नित्यशुद्धयुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगाहते । नित्यम अविच्छेदैन शुद्धं निम्मेलतं बुद्धत्वं मुक्तत्रश्च स्वभावो यस्य तस्य नित्यशुद्ध-बुद्धमुक्तस्वभावस्यात्मनश्रीतन्यहेतोः परमपुरुपस्य तद्योगात् क्षेत्रकोन योगाहते क्षेत्रजस्य प्रकृतियोगो न भवति। तहि किमविद्यया क्षेत्रजस्य वन्धः स्यादित्यत आह—नाविद्यातोऽप्यवस्तुना वन्धायोगात्। । क्षेत्रह्मस्यात्मनो नाविद्यया वन्धः स्यात् । कस्मात् ? अवस्तुना वस्तुनो वन्यस्यायोगात् । यथा शश्विपाणेन वेथो न भवति। अविद्या स्वस्तु वस्तु चात्मेति। नन्वविद्या नावस्त भवतीति चेत् तदाह—वस्तुत्वे सिद्धान्तहानिः । अविद्याया वस्तुत्वे स्वीकृते त्रिगुण-वैपमात्मिकायास्तस्याः कार्य्याणामहङ्कारादीनां सर्व्वेषां वस्तुत्वे नित्यत्वमसङ्गात सर्न्वेपां जगतामनित्यसिद्धान्तस्य हानिः स्यात्। तत्र क्षेत्रवदविद्याया अपि नित्यतमनादित्तमिति चेत्, तत्र दोपमाह—विजातीयद्वैतापत्तिश्च। अविद्याया वस्तुत्वे प्रकृतिवदन्यवस्तुत्वे विजातीयद्वैतापत्तिः सजातीय-द्वीतत्वन्तु न द्वीतत्वं स्यात्। तत्रापि। विरुद्धोभयरूपा चेत्। विरुद्धं सचा-सच तदुभयात्मिकवैका विद्या भवतीति चेत्, न तावदपदार्थाप्रतीतेः । परस्पर-विरुद्धधम्मसदसदुभयात्मिका लविद्या भवतीति चेन्न। कस्मात् ? तावत अपदार्थामतीतेः। सदसदात्मिकायास्तस्याः कार्य्यस्य तावदपदार्थस्यासदंशी-भूतस्याप्रतीतेः। वस्तुभूतसद्ंशात्मकत्वेन प्रतीतेः सदात्मिकवाविद्या। चाविद्या न पर्म पदार्थेषु कोऽपि पदार्थस्तत्राह—न वयं पटपदार्थवादिनो वैशेपिकादिवत् । । न खेळ पड़ेच पदार्था इति नियमः, पट्पदार्थादप्यतिरिक्त-पदार्थदर्शनात्। पट् पदार्थाः प्रमेयाणि तेभ्योऽतिरिक्तं प्रमेयमप्यस्ति। तस्माद् अविद्या नापदार्थों न चावस्तु । न च पर्सु पदार्थेषु किमपि । तस्मान पदार्थ-मतीतिः पदार्थंताद्विद्यायाः। तहि द्रव्यगुणादिपदार्थानियमे किमयौक्तिकं यत् तत् पदार्थतेन संगृहात इत्यतः आह—अनियमलेऽपि नायौक्तिकस्य संग्रहो-Sन्यथा वाल्लोन्मत्तादिसमलम् । । द्रव्यगुणकम्मोदिपदार्थनियमाभावादिप न

खछ युक्तयसिद्धं स्वेच्छया यत् तत् किमपि संगृह्यते। परन्तु यौक्तिकस्य पदार्थस्य संग्रहः क्रियते । न तु अस्ति खपुष्पमस्ति शशविषाणमित्येवमलोकस्य संग्रहः क्रियते। अन्यथा यदि योक्तिकस्य संग्रहमात्रं न कृता योक्तिका-योक्तिकस्य संग्रहः क्रियते, तदा वालोन्मत्तादीनां खपुष्पशशविपाणादिवचन-समं यथा तथोक्तिकरणं स्यात ।

नतु पुरुपत्यानादिकाय्येभूतविषयवासनोपरागाद् वन्यः स्यादित्याशङ्घाया-माह—नाऽनादिविषयोपरागनिमित्तकोऽप्यस्य ।०। अस्य खलु क्षेत्रबस्य पुरुपस्य अनादिना प्रवाहरूपेण कार्य्यभूतेन विषयेण भोग्येनोपरागनिमित्तकोऽपि वन्धो न भवति। यथा जवादिकुमृमादुप्रपरागेण स्फटिकादिषु रक्ततादिरिति। कस्मात ? न वाह्याभ्यन्तरयोरुपरज्योपरज्ञकभावोऽपि देशन्यवधानात् श्रुव्न-पाटलिपुत्रस्थयोरिव । । वाह्यानां सदसन्द्रावानामिन्द्रियविषयाणां तृष्णा-जनकानामाभ्यन्तरस्य क्षेत्रवस्य देशव्यवधानात् महदहद्वारमनोमनोमयप्राण-प्राणमयात्रमयैर्द्जैर्व्यवधानादुपरज्योपरञ्जकभावो न सम्भवति यथा श्रुव्रपाटिल-पुत्रयोर्वहृदेशन्यवधानान्नोपरञ्योपरञ्जकता सम्भवति। नन्वस्ति सान्नित्यं विषयात्मनोर्यथेन्द्रियाणामन्तःशरीरस्थानां वाहेप्रप्वर्थेषु सान्निध्याद् ग्रहणं भवतीत्याशङ्कायामाह—द्वयोरेकदेशलब्धोपरागान्न व्यवस्था। । यदिन्द्रियाणा-मर्थेषु सन्निकर्पवदात्मनो वाहेप्रषु विषयेषु सन्निकर्पाद् विषयोपरागेणात्मनो वन्ध उच्यते, तदातमन एकदेशेनैव वन्धः स्यादेकदेशेन मुक्त एव वर्त्तते इत्येकदेश-लब्बोपरागाद्द्वयोवेन्यमोक्षयोयो गपदंत्र भवतीत्यतो व्यवस्था न भवति।

नतु तर्हि चाद्यवशाद् यन्धः स्यादित्याशङ्कते । अद्ययवशाच्चेत् । पुरुष-वन्यः स्यादित्युच्यते तदा। न द्योरेककालायोगादुपकाय्योपकारकभावः। आत्मा क्षेत्रको यदि लद्दष्टवशाद्वद्ध एतद्राशिपुरुपरूपेण जायते, तदा तयो-र्द्वयोरात्माऽदृष्ट्योरेककालयोगाभावादुपकारयोपकारकभावो न स्यात् न ह्रेयक-कालमात्मा चाद्दृश्च वर्त्तते। पूर्वं यदि नात्माऽवर्त्तिष्यन्न तदात्मा नित्यो-ऽभविष्यत् । अदृष्टन्लात्मना वद्धेन राशिपुरुपरूपेण भूता कृतस्य वैधावैध-कस्मणः फल्नं धर्माधरमीमुच्यते। तस्यादप्टस्य चात्मवन्धे तु नास्त्युपकार्कता। तत्राशक्कते । पुत्रकम्मेवत् इति चेत् । पुत्रेणोपकार्यं तस्य पुत्रस्य संस्कार-कस्म। पुत्रस्य तद्धिकरणलात्। पुत्रो हि संस्कार्यस्तं पुनः संस्कार उपक्ररते। वीज्गर्भादिदोपापनयादिति पुत्रकम्मंणोरुपकाय्यौपकारकभाव-वदात्मादृष्ट्योजनक्रेजातयोरुपकार्योपकारकलमस्त्येवेति चेत्। नास्ति हि तत्र

स्थिर एकात्मा यो गर्भाधानादिना संस्क्रियते। पुत्रकम्मवदुपकार्योपकारक-भावोऽस्त्यात्मादृष्ट्योरिति चेन्न। कस्यात् १ अस्ति हीत्यादि। हि यस्मात् तत्र पुत्रकम्मेणि स्थिर एक एवात्मा य आत्मा गर्भाधानादिना संस्क्रियते। न तु गर्भाधानादिना कम्मेणा संस्कृतः पुत्र एवात्मा तत्पुत्ररूपत्वेन स्थिरतं । व्याह्नयते। तथात्मनोऽहण्टेन न स्थिरत्वं व्याह्नयते।

नत् गर्भाधानादिसंस्कारेगुं णान्तरमुत्पद्यते तेनोपनयनादिना वेदाध्यय-नादिक्षमत्वेन विशिष्टरूपो द्विजो भवतीति नास्ति तत्रैकात्मस्थिरतेति चेत तत्राह—स्थिरकार्य्यासिद्धेः क्षणिकलम् ।०। वद्धस्यादृष्टवशतो जातत्वे क्षणिकलं स्यात् । कस्मात् १ संस्कारसंस्कारयंयोरुपकारकोपकारयंतेऽपि यवनाद्यन्नादि-सेवने पूर्व्यसंस्कारलोपे पुनः संस्काय्यंतविधानात् संस्कारस्य स्थिरकार्य्या-सिद्धेः तद्वददृष्ट्रस्यापि नाशे वन्धस्य नाशात् प्रतिक्षणं वन्धतन्त्राशयोरापत्तिः स्यादिति । अत्रोत्तरगाह वादी । न मत्यभिक्षावोधात । प्रत्रकम्मेणारिवात्मा-दृष्ट्योरुपकारयोपकारकभावे स्थिरकारर्थासिद्धेवन्धस्य क्षणिकत्वं मत्यभिनावाधात्। यथा योऽसौ प्रत्र उपनीतः स एवायं यवनाद्यन्नादिदापात् पुनरुपनीयते इति पुनरुपनयनवस्माणि प्रत्यभिजया कारयेस्योपनयनस्यास्थिरत्वस्य वाधात्। तथात्या योऽयो कृतंन केनचित कम्मेफलेन वद्धः, स एवायं तत्कम्मेफलनाशेऽप्यपरकम्मेफलेन वध्यते। इति भत्यभिज्ञया कार्यस्य फलानुवन्धिकम्मेणोऽस्थिरतस्य वाधात्। ननु यद्-वस्त्रं शुक्लमहं परयेथां तदेवेदं कृष्णमिलनिमिति रजकेन कृतस्य वस्त्रमंस्कारस्य शुक्लगुणाधानस्य नाशदर्शनात् कार्य्याणां स्थैर्यस्यासिद्धेवन्धस्यादृष्ट्कृतस्य क्षणिकत्वं तददप्टस्य नाजात् इत्यावङ्कायामाह । श्रृतिन्यायविरोधाच ।०। श्रुतिर्हि । असद् वा इदमग्र आसीत् ततो वै सद नायतेति । तस्य च्छान्दोग्ये ब्राह्मणः। असद्वेदमग्र आसीत् तत् सदासीत्। तत् सदभवदिति। पुनश्च 🛧 यदुक्तं सदेव सौम्येद्मग्र आसीदेकमेवादितीयम् । तद्धेत्रक आहुः । असदेवेद-मग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्माद्सतः सज्जायेतेति। तत्र न्यायः। क्रतस्त खुळ सौम्येवं स्यादिति होवाच कथंगसतः सज्जायेतेति सत्त्वेव सौम्येदमग्र `आसीदेकमेवाद्वितीयमिति, असत्पदेन सदेव वस्त तस्मात सत्तो जन्म न वसतः । खटववस्तुतो वस्तुनः संतो जन्मेति श्रुतिन्याययोविरोधाचात्मनोऽदृष्टतो वन्धस्य न क्षणिकलं सत्काय्यंत्रेनादृष्ट्स्य निन्यतात् । नन्वसद्दा इदमग्र आसीत ततो वै सदजायतेत्यस्य मन्त्रस्य सदेव सौम्येदमग्र आंसीदंकमेवादितायम्

इति श्रुतेः। असद्वेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायेतेति श्रुत्या सह विरोधात् क्षणिकलमेव संशेते इत्याकाङ्कायामाह। दृष्टान्ताऽसिद्धेश्व। । पुत्रकरमीवदिति दृष्टान्तेन चाद्रप्रवशादात्मनो वन्धस्य क्षणिकलस्यासिद्धेश्व नादृष्टवज्ञादात्मनो वन्धस्य क्षणिकलमिति । दश्यते हुप्रपनयनसंस्कारो यावज जीवं वत्तेते विवाहादिना न नश्यति यवनाद्यनादिद्रोपाच पापापनयनाथं पुनरुपनीयते. न तु पूर्व्यापनयनं नक्यति । अन्यथा पुनरुपनयने पोड़शादि-अत्र सिद्धान्तमाह । युगपज्जायमानयोने वर्पात्यये ब्रात्यसापत्तिरिति। कार्यकारणभावः ।०। नियतपूर्व्वचित्ते हि कारणं, पश्चादुत्पद्यते कार्यमिति युग-जायमानयोद्दे योर्न काय्यंकारणभाव उपपद्यते विनिगमना-भावात्। तस्सादुपनयनसंस्कारो यदा क्रियते तदैव न स वेदाध्ययनाद्यधिकारी भवति कृतोपनयनस्तु भवतीति न युगपज्जायमानौ तावुपनयनवेदाध्ययनाद्य-धिकारौ। तह्रद्भावस्त्रत्र नास्ति यदा हि पुरुषो न वध्यते न तदा शुभाशुभ-फलकर्माणि करोति वद्ध एव करोति. तत् कथं कर्म्मफलेनाइप्टेन पूर्वा-प्रसिद्धेन वन्धः स्यादिति भावः।

ननु कस्मान्न युगपञ्जायमानयोः कार्य्यकारणभाव इत्यत आह । पूर्वापाय उत्तरायोगात् । । पूर्वापाये पूर्वस्य प्रकृतिभूतकारणस्यापाये सत्युत्तरस्य काय्यंस्यायोगात्। कारणस्यापायकाले हि काय्यौत्पत्तिनं तु कारणोत्पत्ति-काले, तस्माद् युगपज्जायमानयोर्न कार्य्यकारणभाव इति। नसु वध्यमानः कम्मीणि कुरुते शुभाशुभानीति यौगपदेत्र कार्य्यकारणभावः सम्भवतीत्यत आह । तद्भावे तदयोगादुभयव्यभिचारादपि न ।०। तद्भावे यदा कारणं जायते तदा तस्य काय्यंस्यायोगात्। उभयव्यभिचारादपि। यद्यस्य कारणमुच्यते तत् तस्य कार्यं कथं न स्यादित्युभयस्य कार्य्यतमुभयस्य कारणत्वं व्यभि-चरतीत्यतो न युगपज्जायमानयोः कार्य्यकारणभाव इति । नतु तर्हि कारणस्य .पूर्व्वचित्तिलनियमे यो यस्य पूर्व्वचर्तास तस्य कि हेतुरित्यत आह । पूर्व्व-४ भावमात्रेणानियमः ।०। अन्यथा यदि सिद्धिभवति तदा स पूर्व्ववर्त्ती न कारण-त्वेन नियम्यते। यत् पूच्येवित्तेनं विना कार्यं न नियमतः सिध्यति तत् तस्य कार्णमिति न पूच्ववित्तमात्रेणं नियम इति । यथा रासभाभावेऽन्येनापि घटार्थं मृदानयनं भवतीति न रासभो घटोत्पत्तौ नियतकारणमिति। नम् तिहे पारित्रकगितिविशोपात् किं वन्धः स्यादित्यत आह । न गतिविशेपात् ।०। पारत्रिकगति विशेपान्न वन्धः। कस्मात् ? निष्क्रियस्य तदसम्भवात्॥०।

निष्क्रियस्य क्षेत्रहस्य गतेरसम्भवात् । ननु श्रृयते पश्चविधा गतिरित्याशङ्क्याह । गतिश्रृतिरप्युपाधियोगादाकाशवत् । । यथा घटादुत्रपाधिमानाकाशश्रस्रति तथात्मनो गतिर्जीवोपाधियोगात्। तस्मान् विषय्ययान् वन्ध इति निष्कर्षः। इति चतुन्त्रिंधयुद्धियोगात् पुरुपस्य वन्ध उक्त इति । नन्वेनं वद्धः पुरुषः कथं पुनःपुनजोयते लोके मृला च परलोकं गच्छति। तत्र कारणं वीजभूतं यत् तत खळ्कं मश्रोपनिपदि—संवत्सरो वै मजापतिस्तस्यायने दक्षिणश्चोत्तरश्च। तर् ये ह वे तदिष्टापूर्त्ते कृतमित्युपासते। ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजायन्ते त एव पुनरावत्तेनते। तस्मादेत ऋपयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते। एप ह वै रिययें। पितृयानः इति । मुण्डकोपनिपदि च । प्रवा हेरते अददा यहरूपा अष्टा-दशोक्तमवरं येषु कम्मं। एतच्छे यो येऽभिनन्दन्ति मूढ़ा जरामृत्युं पुनरेवापि यन्ति । अविद्यायामन्तरे वत्तेमानाः स्वयंधीराः पण्डितम्मन्यमानाः। जङ्गन्यमाना परियन्ति मृद्या अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः। अविद्यायां वहुधा वत्तेमाना वयं कृतार्था इत्यभिनन्दन्ति वालाः। यतुकिम्मिणो न मवेदयन्ति रागा तेनातुराः क्षीणळोकाश्चरन्ते । इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छे यो वेदयन्ते प्रमुद्धाः । नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति। इति। छान्दोरयोप-निपदि च। स जातो यावदायुपं जीवति तं मेतदिप्टमितोऽग्रय एव हरन्ति यत एवेतो यतः समभूतो भवति । तं मेतदिष्टं मेतस्य मृतस्य दिष्टं भाग्यं तं पुरुपं रमशाने अग्रये दाहार्थमेव वान्धवैनीता यैरग्निभिर्देह्यमानं तेऽग्नय इतो हरन्ति। ततः त्रेतशरीराद्दश्यमानाट् दिष्टं भाग्यं भास्वरप्ररूपक्षे उत्तिष्ठति। तदुक्तं दृहदारण्यके च। स जीवति यावज्जीवत्यथ यदा म्रियते। मग्नयो हरन्ति तस्याग्निरेवाग्निर्भवति । समित् समित् धूमो धूमोऽचिरचिरङ्गारा अङ्गारा विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्रौ देवाः पुरुपं जुहति, तस्या आहुत्याः पुरुषो भास्तरवणौ भवति इति । स एव दिष्टपुरुषो धूमादिकम्भि-सम्भवंश्वान्द्रमसं लोकं प्रतिपद्यते। उक्तश्च गीतायाम्। धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः पण्मासा दक्षिणायनम् । तत्र चान्द्रमसं ज्योतियौगी प्राप्य निवत्तेते इति । अत्र योगी इष्टापूर्त्तोदिकम्भयोगीति । उक्तश्च च्छान्द्रोग्ये । अथ य इमे ग्राम् इष्टापूर्त्ते दत्ति प्रियासते ते धूममभिसम्भवन्ति । धूमाद् रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद् यान् पड्दक्षिणैति मासांस्तान्नैति संवत्सरमभिष्ठाप्तवन्ति मासेश्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाचन्द्रमसमेष सोमो राजा तहेवानामन तं देवा भक्षयन्ति । तस्मिन् यावत् सम्पातमुपिलाऽयैतमेवाध्वान् पुन्निवत्तेनते पर्यत-

ाकाशमाकाशाहायुं वायुभू ला धूमो भवति धूमो भूलाभ्रं भवति अभ्रं भूला मघो भवात मेघो भूला प्रवपति। त इह ब्रीहियवा ओपिधवनस्पतयस्तिलमापा इति जायन्ते। अतो वै खलु दुनिष्पपतरं यो यो स्वन्नमित्त यो रेतः सिश्चात तब्ध्रूय एव भवति। तद् य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत् ते रमणीयां योनिमापदेग्रस् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा। अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत् ते कपूयां योनिमापदेग्रस् इवयोनिं श्करयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा। अथितयोः पथो न कतरेण च न। तानीमानि सुद्राण्यसकृदावर्त्तानि भूतानि भवन्ति जायस्य स्नियस्वेति। एतत् तृतीयं स्थानं तेनासौ लोके न सम्पूय्यंते। तस्माज्र्युप्सेति। तदेप श्लोको भवति। स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिवंश्व ग्ररोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा चैते। पतन्ति चलारः पश्चमश्चाचरंस्तैरिति।

धूममभिसम्भवन्तीति। तेपां पुष्यवताश्चापुष्यवताश्च स्वर्लोंकं वा नरकं वा गतानां चितायौ दाहतः शरीरादुत्थिता दिष्टपुरुपाः धूममभिसम्भवन्ति। इत्येवं चन्द्रलोकमभिसम्भवन्तो भवन्ति। सोमो राजा देवानामन्त्रम्। तस्मिन् यावत् सम्पातमिति। तस्मिंश्चन्द्रमण्डले स्वर्ग-नरकगतानां पुरुपाणां पुष्यपापफलभोगाट् यावत् पुनरिह सम्पातः स्यात् तावत् तत्रोपिलाऽथानन्तरमेतं पन्थानं निवत्तेनते। यथा खिल्वतो लोकाद् गत-स्तथैव क्रमेणागतः स्याचनद्रलोकादाकाशामित्यादि। तद् यथोक्तं छान्दोग्ये वृहदारण्यके च । उदालकगोतमं प्रति प्रवाहणो जैवलिनीम राजोवाच । असौ वाव दुत्रलोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समित् रक्ष्मयो धूमोऽहरिचेश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्रौ देवाः श्रद्धां जुद्दति तस्या आहुतेः सोमो राजा सम्भवति । पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समित् अश्वं धूमो विदुरद्धिचेरशनिरङ्गारा हादिन्यौ विस्फूलिङ्गास्तस्मिन्नतस्मिन्नशौ देवाः सोमं राजानं जुर्हात तस्या आहुतेवेष सम्भवति। पृथिवी वाव गोतमाग्निस्तस्याः सम्वत्सर एव समित् आकाशो धूमो रात्रिरिच्चेदिशोऽङ्गारा अवान्ति हो विस्फ्लिङ्गास्ति स्मिन्नतिसम्बग्नी देवा वप जुह्वति तस्या आहुतेरन्नं सम्भवति। पुरुषो वाव गोतमाग्निस्तस्य वागेव समित् प्राणो धूमो जिह्नाच्चिश्रक्षरङ्गाराः श्रोत्र' विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नगौ देवा अन्नं जुहति तस्या आहुते रेतः सम्भवति। योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समित् यदुपमत्रयते सं धमो योनिरिच्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा

विस्फलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नमौ देवा रेतो जुद्दति तस्या आहुतेगभः सम्भवति। इति पश्चम्यामाहुतावापः पुरुपवक्षसः सम्भवन्तीति । स उल्वाष्टतो गर्भो दश वा मासानन्तः शियला यावद्वाथ जायते । स जातो यावदायुपं जीवति । इति । ऊद्धं विषिणो मनुष्या यहान तेन तृष्यन्ति देवाः अशो वर्षन्ति। तर् यथा। असौ वावेत्यादि । देवाः श्रद्धां जहतीति लोके ये देवास्ते मनुष्याणां श्रद्धाम्, अन्नं सम्भवतीत्यन्ते वोध्याः। पुरुषा वावेत्यादौ देवाः शारीराः सुक्ष्मरूपेण शरीरिमद-मास्थाय वर्त्तनते। तेन प्ररुपो यदन्नमत्ति तद्देवा जुहृति प्ररुपे अग्रौ रेतः शुक्रं स्त्रीपुरुषयोर्क्षयं न सार्त्तवम् । स्त्रीद्वयसम्भोगेऽपि अनस्थिपुत्रोत्पत्तौ स्त्रीशुक्राचेंवसंयोगात् न लाचेवद्वयसंयोगात्। एवं योपा वावेत्यादौ च देवाः शारीरा एव योपायां पुरुषो यद् रेतः सिश्चति तद् देवाः शारीरास्तस्यां योपायामग्रौ जुद्दतीति वोध्यम्। इति। उक्तश्च मनुना स्मृतिशास्त्रो। यद्याचरति धर्मा स प्रायशोऽधरमामल्पशः। तैरैव चार्रतो भूतैः सर्गे सुख-मुपाइनुते। यदि त पायशोऽधर्मा सेवते धरमेपलपशः। तैभू तैः स परित्यक्तो यामीः प्राप्तोति यातनाः। यामीस्ता यातनाः प्राप्य स जीवो वीतकरमपः। तान्येव पश्च भूतानि पुनर्प्येति भागशः। पश्चभ्य एव मात्राभ्यः पंत्य दुष्कृतिनां चृणाम् । शरीरं यातनार्थीयमन्यदुत्पद्यते ध्रुवम् । तेनानुभूय ता यामीः शरीरेणह तास्वेव भूतमात्रासु प्रलीयन्ते विभागशः। सोऽनुभूयाऽसुखो-दुर्कान् दोषान् विषयसङ्गजान्। व्यपेतकलमपोऽभ्येति तावेवोभौ महौ-जसौ। यः करोति तु कम्मीणि स भूतात्मोच्यते बुधैः। योऽस्यात्मनः कारियता तं क्षेत्रक्षं प्रचक्षते । जीवसंकोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्व्वदेहिनाम् । येन वेदयते सर्व्वं सुखं दुःखञ्च जन्मसु। तावुभौ भूतसंपृक्तौ महान् क्षेत्रज्ञ एव च । उचावचपु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः । इति । धम्मेकम्मेषुरु भोगं स्वर्गे खिलवन्द्रलोकादौ सुखं धार्मिको सुङ्क्ते अधरमेफलभोगं यामीः यातना दुःखं यमलोके पापी भुङ्क्तं। तयोः शरीरटाहे शरीरात् सम्रुत्थित-भाग्यपुरुपश्चन्द्रलोके वर्त्तते। यदा तयोः खर्गनरकभोगावसानं भवति पुनरिह जन्मग्रहणकाल उपितष्ठात तदा चतस्रभिराहुतिभि. स भाग्यपुरुषः पुरुषे स्त्रियाश्च रेतोरूपो भवात। यस्य यो भाग्यपुरुषस्तस्य जन्मग्रहणायह रेतोरूपो भूला योपायां पुंसा निपिक्तः स्वसम्बन्धवता तेन स्वगेस्थेन नरकस्थेन वा भोगाव-सानवताऽवक्रान्त एकान्ततो गर्भरूपेणाभिनिष्पद्यते । इति ॥ ५१ ॥

! कतिधापुरुपीयं शारीरम्

तत्र श्होकः।

प्रश्नाः पुरुषसाश्रित्य इयोविंशतिरुत्तसाः । कतिधापुरुषीयेऽस्मिन् निर्णीतास्तत्त्वदर्शिना ॥ ५२ ॥

इत्यग्निशेशकूने तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शारीरस्थाने कतिधापुरुषीयं शारीरं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—अध्यायार्थसं ग्रहाथमाह - तत्र श्लोक इति । प्रश्ना इत्यादि । पुरुपमाश्रित्य पुरुपविषयं त्रयोविं शतिरुत्तमाः प्रश्नास्त्वस्मिन् कतिधापुरुपीये-ऽध्याये तत्त्वदर्शिनात्रेयेण पुनर्व्यसना निर्णाता इति ॥ ५२ ॥ अध्यायश्च समापयति—अग्नीत्यादि । पून्ववत् सन्वे न्याख्यातमिति ।

इति श्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजलपकलपतरौ चतुर्धस्कन्धे शारीरस्थानजलपे कतिथापुरुषीयशारीरनामप्रथमाध्याय-जलपाखार प्रथमशाखा ॥ १॥

चक्रपाणिः—'सर्विवद्' इत्यादिप्रश्नस्योत्तरम्—अतःपरिमित्यादि । व्रह्ममृत इति प्रकृत्यादि-रहितः । 'चिह्नं यस्य न विद्यते' इत्यनेन मुक्तात्मनः प्राणापानाद्यात्मिलङ्गाभावाद्गमकं चिह्नं नास्त्येवेति दर्शयति । न क्षरत्यन्यथात्वं न गच्छतीत्यक्षरम् । अविद्यमानं लक्षणं यस्येत्यलक्षणम् । एतस्येव मोक्षस्येतरपुरुपान्नेयतां दर्शयति— ज्ञेयमित्यादि । व्रह्मविद्यमेवात्र मनः प्रत्येति, नाज्ञानामहङ्कारादिगृहीतानामित्यर्थः । संग्रहो व्यक्तः ॥ ५१।५२ ॥

इति चरकचतुराननश्रीचक्रपाणिदत्तविरचितायामायुर्वेददीपिकायां चरकतात्परर्यटीकायां शारीरस्थाने कतिधापुरुपीयं शारीरं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः।

अथातोऽतुल्यगोत्रीयं शारीरं व्याख्यास्यामः, इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

् अतुल्यगोत्रस्य रजःचयान्तै रहोतिस्टब्टं मिथुनीकृतस्य । किंस्याचतुब्पात्प्रभवञ्च षड् भ्यो यत् स्त्रोषु गर्भत्वमुपैति पुंसः॥२

गङ्गाधरः—अथैवं वद्धः पुरुषो यः पड्धातुकः स पुनःपुनयदिह जायते मनुष्ययोनो विविधरूपस्तत् कथं क्षतः कारणाज्ञायते तद्विज्ञानाथेमतृत्यगोत्रीयं शारीरमारभते—अथात इत्यादि। अतुल्यगोत्रस्येतिवाक्यस्थातुल्यगोत्रेति-पदमधिकृत्य कृतः शारीरोऽध्याय इत्यतुल्यगोत्रीयः शारीरोऽध्यायः। शेष पूर्व्ववद् व्याख्येयम् ॥१॥

गङ्गाधरः—अथ प्रशः—अतुल्यगोत्रस्येत्यादि। यो यया न तुल्यो गोत्रः स तस्या अतुल्यगोत्रः। अपत्यं पौत्रप्रभृतिगोत्रमिति पाणिनिः। अतुल्यगोत्रस्य पुरुपस्यातुल्यगोत्राया नार्य्या मासा पूल्वेसश्चितरज्ञसो मासान्ते प्रष्टतस्य त्रिरात्राद्धं क्षयोऽल्पत्वं भवति, तस्यान्तेऽल्पत्ररूपेणानुबन्धे पोड्रारात्रपर्यन्तं तया सह मिथुनीकृतस्य मेथुनमापन्नस्य रहोविस्वृद्धं पड्भ्यो रसेभ्यः प्रभवं चतुष्पाद् वाय्वादिसिकृयचतुभूतात्मकसम्पूर्णमूर्त्तिमत् यत् सर्वासु ह्वीषु गर्भत्रसुपैति तत् किं स्यादिति प्रशः। यत् सर्वासु ह्वीषु गर्भत्रसुपैति तत् किं स्यादिति प्रशः। यत् सर्वासु ह्वीषु गर्भत्रसुपैतित्युक्तमा ख्यापितम्, पितृयानेन प्रत्यागतवीजधातुदिष्टाधिष्टित-पड्धातुप्रभवचतुष्पाद्धातुविपयोऽयं प्रशः। न तु वीजधातुदिष्टानिधिष्टित-पड्धातुप्रभवधातुविपयो यन्न गर्भत्रमापद्यते इति। नन्वतुल्यगोत्रस्येति

चक्रपाणिः — प्रविध्याये शारीरस्यादिसर्ग आध्यात्मिकनैष्टिकमोक्षरूपचिकित्सायुक्त उक्तः, सम्प्रति गर्भोदिसर्गमभिधातुमतुल्यगोत्रीयोऽभिधीयते । अतुल्यगोत्रस्येति स्त्रिया अतुल्यगोत्रस्य पुंसः । तुल्यगोत्रीयके हि मैथुनैऽधम्मो भवति धम्मशास्त्रेषु निपिद्धत्वात् । रज्ञक्षयान्ते हृति रज्ञप्रवृत्त्यन्ते । 'अन्ते'-इतिपदेन रज्ञप्रवृत्त्यहें निपेधयति । रहोविसप्टमिति विजने विस्पृष्टम् । शुक्रविस्पृष्टिश्च विजन एव प्रतिवन्धकल्जाभावात् सम्यग् भवतीति 'रहः' इत्यनेन दर्शयति । मिथुनीकृतस्येत्यनेन सम्यङमैथुनप्रयोगं दर्शयिति, विपरीतसुरतादीश्च निपधयति । चतुष्पात् प्रट-

शुक्रं तदस्य प्रवदन्ति धीरा यद् धीय ने गर्भसमुद्भवाय । वाय्वसिम् स्यव्गुण्पादवत् तत् पड् भ्यो रसेभ्यः प्रभवश्च तस्य॥ ३

वचनेन परजायायां मिथ्नीकृतस्य रहोविस्टप्टविषये किमयं प्रश्नो न त स्वजायायामतुल्यगोत्रलाभावादिति ? नैवं, शास्त्रे हि धम्म्यीवपयं प्रष्टा पृच्छित चोपदेष्टा चोपदिशात, न लधम्म्यं विषयम्। धम्म्यं हि वैधं कर्मा भवत्यवैधमधमम्यम् । तत्र वैधं स्वरूपमनरूपमवैधिमत्यनरूपानामवैधानां प्रश्नश्च उत्तरश्च न युज्यते। स्वल्पस्यापि वैधस्य ज्ञानेनानल्पानामवैधानां ज्ञान-सिद्धेः। तस्मादयं थम्म्येविषय एव प्रश्नः। धम्म्यौ हि मिथुनीभावः पुंसः स्वजायायां, न परजायायामिति। नतु जाया पुंसस्तुल्यगोत्रा न ततुल्यगोत्रा कथमतुल्यगोत्रस्येत्युपपद्यते इति चत् ? तत्र द्रमः। शास्त्रे धम्मर्यस्त्र प्रष्टृणा-मुपदेष्ट्रणाञ्चेयं रीतिः, यत्र वत्तंमानावस्थया प्रश्न उत्तरं वा न युज्यते तत्र पूर्वावस्थयैव पश्न उत्तरं वा क्रियते। यथा मनुरुपादिशत्। असिपण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः। सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकम्मंणि मैथुने। इत्यत्र पितुः सगोत्रावज्जनन मातुः सपिण्डावज्जनसिद्धौ पुनर्मातुरसिपण्डति वचनानर्थक्यम्, न च मातृपद्न तात्पर्यानुपपत्तितो लक्षणया मातामह उच्यते। पश्यात हि लाचाय्यः। अस्ति मातृशब्दश्यास्ति मातामहशब्दश्चति। माता-महसप्रासिपण्डा चासगात्रा च या पितुरित्यवं मुख्याथपदं नात्तवा यदसिपण्डा च या मातुरित्युक्तं तेन न लक्षणया मातामह तात्पय्यंम्। किं तिहे ? मातुः वत्तमानावस्थया त्पदेशातुपपत्तौ पूर्व्वावस्थयवापदेशः कृतः। प्राग् विवाहात् मातुर्यो सिपण्डा सा वजनीयेति। एवमत्रापि। प्राग् विवाहाद्या न तुल्य-गोत्रा सा विवाहे तुल्यगोत्राप्यतुल्यगोत्रा तद्तिरा सध्मम्यंति। विवाहादतुल्यगोत्रसम्र पत्युर्जायाया रजःक्षयान्त इत्यथ इति मक्नः॥ २॥

गङ्गाधरः-अस्योत्तरमाह-शुक्रमित्यादि। अतुल्यगोत्रण पुंसा रजः-क्षयान्ते मिथुनीभूतेन स्त्रियां गभैंसमुद्भगय रहोविसण्टं यद्धीयते तदस्य पुंसः प्रभवरवे उत्तरग्रन्थे व्यक्ते। अञ्ज शिष्यप्रश्नतया निवेशितो ग्रन्थः अज्ञशिष्यार्थाचार्य्यसम्मतिमात्रार्थी ज्ञेयः। तेन यः शिष्यश्चतुष्पदां विशेषं जानाति, स कथं शुक्रशब्दाभिधेयं वेत्तीति न वाच्यम्॥ १।२॥

चक्रपाणिः—प्रश्नस्योत्तरं—शुक्रमित्यादि । धीयत आरोप्यत हार्ट्यः। वाध्वादिपाद्वति वक्तस्ये यद गुणपदमधिकं करोति, तेन प्रशस्तगुणवतामेव वारवादीनां विशुद्धशुकारम्भकत्वमिति

संपूर्णदेहः समये सुखश्च गर्भः कथं केन च जायते स्त्री। गर्भं चिराद विन्दति सप्रजापि भूत्वाथवा नश्यति केन गर्भः॥४ शुक्रास्ट्रगात्माशयकालसम्बद्ध यस्योपचाराश्च हितस्तथार्थैः। गर्भश्च काले च सुखी सुखश्च संजायते संपरिपूर्णदेहः॥ ५॥

शुक्तं पितृयानेन प्रत्यागतवीनधालिधिष्ठितं पड्सप्तभवं वाय्वादिचतुभू तरूप-चतुष्पाच्च धीराः प्रवदन्ति । वाय्वादीनां चतुर्णां पादानां गुणवन्न तु वेगुण्य-युक्तम् । वैगुण्ययुक्तन्तु यच्छुकं तस्य गर्भहेतुलाभावान्न प्रकृतं शुक्तमुच्यते । आकाशस्य तु सन्बेद्रव्यारम्भे वाय्वादिवद्धेतुत्वेऽपि व्यापदभावात् तस्येह पाद-त्वेनोक्तिनं कृता, सम्पदुषेतशुक्रस्य प्रक्नविषयलात् ॥ ३॥

गृङ्गाधरः—इत्येत्रमुक्तवन्तं ग्रहं पुनरिष्ठवेशः पत्रच्छ—सम्पूर्णदेह इत्यादि । नमु गर्भः केन हेतुना सम्पूर्णदेहः सन् समये यथाकाले मुख्य यथा स्यात् तथा कथं केन प्रकारेण केन हेतुना च जायते इति । एवं स्त्री सप्रजापि सापत्यापि पुनः केन हेतुना चिराद् विन्द्ति वहुकालमतीत्य गर्भ गृह्माति ? अथवा केन हेतुना गर्भो भूला नक्यित । इति त्रयः प्रश्नाः ॥ ४॥

गुङ्गाधरः — एपामुत्तरमाह — शुक्रास्र गित्यादि । यस्य जनिष्यमाणस्य गर्भस्य आरम्भकाणां शुक्रास्मात्माशयकालानां सम्पद् वर्तते । शुक्रसम्पत् शुक्रदोपा-

दर्शयति । वाय्वादिषु शुकारम्भकेषु 'पाद'व्यपदेशेन सव्वपां तुल्यशुकारम्भकत्वं दर्शयति । आकाशन्तु यद्यपि शुक्रे पाद्यभातिकेऽस्ति, तथापि न पुरुपशारीरात्रिर्गत्य गर्भाशयं गच्छित, तकन्तु भूतचतुष्टयमेव कियावद् याति, आकाशन्तु व्यापक्रमेव तत्रागतेन शुक्रेण सम्बद्धं भविते । तेन आकाशस्य गमनाभावादिह् गर्भाशयग्मनाभिधानप्रस्तावे शुक्रगतत्वेनानभिधानम् । अन्यत्रापि च सूतानां गमनप्रस्तावे आकाशं परित्यक्तमेव । यथा—''भूतेश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मेमंनोजवो देहमुपैति देहाद्'' इति । शुक्रञ्च पद्माहारोत्पन्नमेव विशुद्धं भवतीति कृत्वोक्तम्—'पद्भयो रसेभ्यः' इत्यादि । यत् तु मधुरस्य शुक्रजनकत्वम् अम्लादीनाञ्च शुक्रविद्यातकत्वमुच्यते, तद्व्यथीपयोगादिति ज्ञेयम् ॥ ३ ॥

चक्रपाणिः—सम्पूर्णदेहः कथं जायते इत्येकः प्रश्नः, समये कथं जायते इति द्वितीयः, सुखं कथं जायते इति तृतीयः।. सप्रजापि इत्यवन्ध्यापि सती कथं चिरेण गर्भं विन्दृति ॥ ४ ॥

चक्रपाणिः—पश्चानां. प्रश्नानामुत्तरं —शुक्रेत्यादि । 'सम्पत्'शब्दः शुक्रादिभिः प्रत्येकमभि-सम्बध्यते । शुक्रास्त्रगाशयानामुद्रण्टवं सम्पदं, आत्मनस्तु शुक्रशोणितयोगाधिष्टातुः शुभजीवकम्मं- योनिप्रदोषान्सनसोऽभितापाच्छुकास्त्रगाहारिवहारदोषात्। इमकालयोगाद् वलसंच्याच्च गर्भं चिराद् विन्दति सप्रजापि॥६॥ इमस्टङ् निरुद्धं पवनेन नार्थ्या गर्भं व्यवस्यन्त्यबुधाः कदाचित्। गर्भर्य रूपं हि करोति तस्यास्तदास्त्रगस्नावि विवर्षमानम्॥७॥

असक्सम्पदात्त्वदोपाभावः। आत्मसम्पत् आत्मनः पुनर्भव-स्त्रिया गर्भाशयदोपाभावः। हेत्रुभदिष्ट्र फलोन्मुखीभावः । आशयसम्पत् कालसम्पत् शुभितिथिनक्षत्रकरणयोगदिनर्ते युगादिभावः। तथा हितैरर्थेमीतुः आहारविहारै रुपचारा यस्य गर्भस्य जायमानस्य, स हि गर्भः काले सुखी परि-पूर्णदेहः सन् सुखं यथा स्यात् तथा जायते । अन्यथा खन्यथा स्यात् इति प्रथम-प्रश्लोत्तरम्। केन स्त्री गभं चिराद् विन्दति समजापीति प्रश्लस्योत्तरमाह— योनिमदोषादित्यादि। योनिमदोषो विंशतियौनिन्यापदो वश्यन्ते। मनो-ऽभितापाद् धननाशादितो मनस्तापात्। शुक्रादिदोपात्। अष्टौ रेतोदोपा वस्यन्ते। असुग्दोपा असुग्दराधिकारे वस्यन्ते। आहारदोपा गर्भव्याघाता-हाराः। विहारदोपा व्यायामादयः। अकालयोगात् अपत्ये जातेऽपि पुनर्वहु-कालं पुंसम्भोगाभावे पुनः पुंसम्भोगोऽप्यकालयोगः। वलसंक्षयाद् व्याध्या-दिभिः स्त्रिया दौर्व्वरयात्। सप्रजापि स्त्री चिरकालानन्तरं पुनर्गर्भं विन्दतीति। गभौ भूला केन हेतुना नक्यतीति प्रश्नस्योत्तरमाह— असङ् निरुद्धमिति। पवनेन स्वहेतुभिविगुणेन वायुना निरुद्धं नाय्यो असृगार्त्तवं कदाचिद्वुधा गर्भ व्यवस्यन्ति, वस्तुतो न च स हि गर्भः। कस्मादबुधा एवं व्यवस्यन्ति, तत्राह-गर्भस्येत्यादि। हि यस्मात् तस्याः पवनरुद्धात्तेवाया असावि

युक्तत्वं सम्पत्, कालस्य त्वनितिविध्णत्वादि सम्पत्, उपचारो गर्भिण्युपचारः। काल इति नवमे दशमे च मासे। यदक्तम्—''कालः पुनर्नवमं मासमुपादाया दशमाद्" इति। सुस्नीति व्याधिना केनचित् न प्रसः । सुस्नीत्वक्षेत्रेन ॥ ५॥

चक्रपाणिः—अकालयोगादिति ऋतुकालातिक्रमे पुरुपेण संयोगात्, ऋतुकालश्च-पोड्शरात्रं यावत् । यदुक्तं—''पोड्श दिवसा ऋतुकालः'' इति । सुश्रुते तु द्वादशरात्रं ऋतुकाल उक्तः । 'मृत्वाथवा नश्यति केन गर्भः' इत्यस्योत्तरम्—अस्रिगित्यादि । पवनेनेति दृष्टपवनेन कृते अस्ङिनिरोधे गर्भश्रमो भवतीत्याह—गर्भस्य रूपम् इत्यादि । गर्भाशये हि विवर्द्धमानं रुधिरं

तदिससूर्यश्रमरोषशोकैः क उष्णान्नपानैरथवा प्रवृत्तम् । दृष्टृग्दृगेकं न च गर्भमज्ञाः † केचिन्नरा भूतहृतं वदिन्त ॥ म अोजोऽशनानां रजनीचराणामाहारहेतोर्न श्ररीरिमष्टम् । गर्भं हरेयुर्यदि ते न मातुर्लन्धावकाशा न हरेयुरोजः ॥ ६ ॥ कन्यां सुतं वा सिहती पृथम् वा सुती सुते वा तनयान् वहून् वा । कस्मात् प्रसूते सुचिरेण गर्भमेकोऽभिवृद्धिश्च यमेऽभ्युपैति ॥१०

यदात्तवमस्क् तिहवर्षमानं गर्भस्य रूपं करोति। तदसावि तस्या नार्थां आत्तेवमस्क् पुनर्यद्यियसन्तापादिभिर्हेतुभिरथवोष्णान्नपानैर्हेतुभिः प्रष्टतं भवति तदा केचिद्वा एकं केवलमस्क् दृष्ट्वा गर्भश्च न दृष्ट्वा भूतहृतं गर्भं वदन्ति। नत्तु तिहं ते कस्मादेवं वदन्तोऽद्या भवन्ति, यतो गर्भस्य रूपं पृत्यन्ति ततस्तस्क् स्वावमात्रं पृत्यन्ति गर्भाकारं न दृष्ट्वा भूतहृतवचनेन किमद्या भवन्तीत्यत आह—ओजोऽज्ञनानामित्यादि। रजनीचराणां राक्षसादीनाम् ओजोऽज्ञनानामाहारहेतोरोज एवष्टं न तु शरीरिमष्टम्। ते खल्वोजोऽज्ञना रजनीचरा यदि गर्भस्य मातुर्लव्यानकाशा अवकाशं लव्या अनिष्टं गर्भं हरेयुस्तदा नौजश्च हरेयुरिति॥ ५—९॥

गङ्गाधरः —अथामिनेशः पृच्छति — कन्यामित्यादि । भगवन् गुरो कस्मात् हेतोः स्त्री कन्यां दुहितरं प्रस्ते, कस्मात् स्त्रतं प्रत्नं वा प्रस्ते, सहितौ दुहितापुत्री कस्मात् प्रस्ते, पृथग् वा कस्मात् प्रस्ते, कस्मात् स्त्रते द्वौ पुत्री प्रस्ते, द्वै स्तते वा

प्रभावात् गर्भिलङ्गानि कानिचिद्श्ययतीत्यर्थः । अस्मोविमिति अस्मोव परम् । न च गर्भ-संज्ञिमिति न गर्भे प्रन्थाद्याकारकम् ॥ ६—८ ॥

चक्रपाणिः—मृतेन गर्भाहरणे हेतुमाह—भोजोऽशनानामित्यादि । ओजोऽप्टियन्द्कमश्चन्ती-त्योजोऽशनाः । यदि त्वोजोऽशना अपि गर्भे हरेयुस्तदा मातुर्नितरामाहारभूतमोजो लब्धावकाशत्वेन हरेयुः । लब्धावकाशा इति प्राप्तगर्भिण्यभिगमनकारणाः ॥ ९ ॥

चक्रपाणिः—कन्यामित्यादि प्रश्नाष्टकम् । कन्यां कथं प्रसूत इति प्रथमः, सुतं पृथग् वेति द्वितीयः, सहितो कन्यासुतौ वेति तृतीयः, सुतौ सहितौ इति चतुर्थः । सुते सहिते इति पञ्चमः,

शोकेरित्यत्र रोगेस्तथा अस्गोकिमत्यत्र अस्गोविमिति वा पाटः ।

[†] गर्भमज्ञा इत्यत्र गर्भसंज्ञमिति पाठान्तरम् ।

रक्तेन कन्यामधिकेन पुत्रं शुक्ते गा तेन द्विविधीकृतेन। वीजेन कन्याञ्च सुतञ्च सूते यथास्ववीजान्यतराधिकेन॥ ११॥ शुक्राधिकं द्वैधमुपैति वीजं यस्याः सुतौ सा सहितौ प्रस्ते। रक्ताधिकं वा यदि भेदमेति द्विधा सुतै सा सहितै प्रस्ते॥ १२

कस्मात् प्रस्ते, कस्माद्वा वह् स्तनयान् युगपत् प्रस्ते, कस्माद्वा स्विरात् कालात् प्रस्ते, कस्माद्वा यमे यमके जायमाने तयोरेकोऽभिष्टद्धिमभ्युपैति ? इति नव प्रश्नाः ॥ १०॥

गङ्गायरः—अथैपां क्रमेणोत्तराण्याह—रक्तेनेत्यादि। रक्तेन स्त्रिया आर्त्तवेन पुंसः शुक्राद्धिकेन कन्यां प्रस्ते इति कन्यां कस्सात् प्रस्ते इत्यस्योत्तरम्। पुत्रं शुक्रेण स्नीरक्ताद्धिकेन प्रस्ते इति कस्सात् स्रतं प्रस्ते इत्यस्योत्तरम्। तेन ताद्दश्रूणेण द्विविधीकृतेन वीजेन मैथुनतः प्रस्तुते यशुक्रशोणिते वीजरूपे वायुनान्तर्गर्भाशये द्विविधीकृते तयोवीजयोर्यथास्त्रम् अन्यतराधिकेन, रक्ताधिकेन भागेन कन्यां शुक्राधिकेन भागेन सुत्रमिति कन्यापुत्ररूपं यमकं प्रस्ते इति कस्सात् सहितौ कन्यापुत्रौ प्रस्ते इत्यस्योत्तरम्। सुश्र्वेऽप्युक्तम्। वीजेऽन्तर्वायुना भिन्ने द्वौ जीवौ कुक्षिमागतौ। यमावित्यभिधीयते धर्मोतरपुरःसराविति।। यथास्ववीजान्यतराधिकेनेति वायुनान्तरद्विधीकृतेन रक्ताधिकेन वीजेन कन्यां पृथगेकां प्रस्ते शक्ताधिकेन तु पुत्रं पृथगेकं प्रस्ते इति कस्मात् पृथग्वा कन्यां सुतश्च प्रस्ते इत्यस्योत्तरम्। यस्या वीजं शक्ताधिकं जुक्ताधिकमेव सत् द्वैधं वायुनान्तर-द्विधीकृतेत्वसुपैति सा स्त्री सहितौ यमकरूपेण सुतौ द्वौ प्रस्ते इति सुतौ वा कस्सात् प्रस्ते इत्यस्योत्तरम्। यस्या वीजं रक्ताधिकं भवित तदेव रक्ताधिकमेव यदि द्विधा भेदसुपैति, तदा सा सहिते युगलरूपेण सुते द्वै प्रस्ते इति

तनयान् बहून् वेति पष्टः, सुचिरेण कथं स्त्री प्रस्त इति सप्तमः ; यमे युग्मे कथमेकोऽ।भवृद्धिम् अभ्युर्वेतीत्यष्टमः ॥ १० ॥

चक्रपाणिः - रक्तेनेत्यादु प्रतरम् । अधिकेनेति पदं रक्तेन शुक्रेण च योजनीयम् । द्विविधी-कृतेन द्विखण्डीकृतेन । यथास्ववीजान्यतरे भागेऽधिकं यत्, तेन वीजेन । एतेन, यदि द्विविधे भागे एकत्र रक्तमधिकम्, अपरत्र शुक्रम्, एप विभागो भवति, तदा सुतौ भवत इः युक्तं भवति ।

भिनत्ति यावद् वहुधा प्रश्नः शुक्रात्त्वं वायुरतिप्रवृद्धः । तावन्त्यप्त्यानि यथाविभागं कर्मात्मकान्यस्ववशात् प्रस्ते ॥१३ आहारमामोति यदा न गर्भः शोषं समामोति परिस्नृतिं वा । तं स्त्री प्रस्ते सुचिरेण गर्भ पुष्टो यदा वर्षगणौरिष स्यात्॥१४ कर्मात्मकत्वाद् विषमांशभेदाच्छुकास्टजं वृद्धिमुपैति कुनौ । एकोऽधिको न्यूनतरो द्वितीय एवं यमेऽप्यभ्यधिको विशेषः॥१५

कस्मात् सृते सहिते पस्ते इत्यस्योत्तरम्। अतिषष्टद्भो वायुरन्तः पपन्नो यावर बहुधा त्रिधा चतुद्धी पञ्चधेत्येवमादिरूपं यावर बहुधा शुक्रार्त्तवं रक्ताधिकं वा शुक्राधिकं वा किञ्चिद्रक्ताधिकं किञ्चिच्छुक्राधिकमित्येवं भिनत्ति. तावन्ति अपत्यानि यथाविभागं रक्ताधिका यावन्तो भागास्तावतीः कन्याः, शुक्राधिका यावन्तो विभागास्तावतः पुत्रान, पृथग्वा अस्ववशात् परवशात् धम्मीधम्मेवशात् कम्मीत्मकानि तेपाञ्च कम्मीतोऽपि प्रमुते इति कस्मात् ननयान् वहुन् वा प्रसुते इत्यस्योत्तरम्। गर्भः सम्भवन् कुक्षौ यदा मातुराहारं नामोति तदा तदाहारजरसपोध्यो गर्भः स्वपोपकरसाभावतः शोपं समाप्तोति परिस्तृतिं सार्वं वामोति। तचापृष्टमप्युक्तम् एककार्य्यतात् आहाराभावफलकथनार्थम्। स शोपमापनो गर्भः पुनः क्रमेणाहारजरसपुष्टो यदा वर्षगणैरपि यावताः कालेन भवति तदा प्रस्तो भवतीत्यतस्तं शोपमापन्नं गर्भ स्त्री सुचिरेण प्रमुते इति कस्मात् प्रमृत सुचिराच गर्भिमत्यस्योत्तरिमिति। कुक्षौ गर्भाशये। शुक्रास्टजं कम्मीत्मकलात् पूर्विजन्मकृतशुभाशुभकम्मीफलानुसारतः वायुना च विपमांशतो भेदार् द्विभागीकृतलात् एको भागोऽधिकः सन् दृद्धिमुपैति द्वितीयो भागो न्यूनतरः स्यादिति, यमेऽप्यभ्यधिकोऽन्यतरन्यूनाधिको विशेषः इति कस्मादेकोऽभिष्टद्धिश्च यमेऽभ्युपैतीत्यस्योत्तरम् ॥ ११--१५॥

यावद् यहुधा भिनत्तीति यावतीं यहुसंख्यां करोतीति चतुःपञ्चादिरूपाम् । प्रपन्न भागतः शुकार्त्तवं वायुरिति सम्बन्धः । यथाविभागमिति यथा शुक्ररक्तविभागो भवति, तथा कन्याः सुताश्च स्ववीजाधिक्यापेक्षया भवन्तीति । कम्मीत्मकानि अस्ववज्ञात् कम्मीधीनत्वेन । आहारमित्यादौ गर्भिण्या आहाराप्राप्यां गर्भस्याहाराप्राप्तिः । शुक्रास्क्रीर्थः स्थूलसूक्ष्मरूपो विपमांश्मेदो भवति, स तु जायमानगर्भकरमीवद्यादेव भवतीत्याह् कम्मीत्मकत्वादिति ॥ ११—१५॥

कस्माद् द्विरेताः पवनेन्द्रियो वा संस्कारवाही नरनारिषगडः। वक्री तथेर्ष्याभिरितः कथं वा सञ्जायते वातिकषगडको वा ॥१६॥ वीजात् समांशादुपतप्तवीजात् स्त्रीपुं सिलङ्गी भवति द्विरेताः। शुकाशयं गर्भगतस्य हत्वा करोति वायुः पवनेन्द्रियत्वम् ॥१७॥

गङ्गाधरः—अतः परमपि पृच्छति—कस्मादित्यादि । कस्माद् द्विरेताः क्षीवं स्यात् ? कस्मात् पवनेन्द्रियोऽशुकः पुमान् स्यात् ? कस्मात् संस्कारवाही वाजीकरणभेपजसंस्कारेणैव पुंस्तवान् अन्यथा पुंस्तहीनो भवति ? कस्मान्नर-नारिपण्डः नरस्य नाय्यीश्रायं नरनारिः स चासौ पण्डक्षचेति नरनारिपण्डः, पुरुपपण्डः स्त्रीपण्डश्च स्यात् ? कस्मात् पुरुपो वक्री सुश्रुते आसेनयः स्यात् ? कथमीर्ष्याभिरतिरीर्ष्यकः सुश्रुतेऽभिहितः स्यात् ? कथं वातिकपण्डको वा जायते ? इत्यष्टौ पक्षनाः ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—तेषां क्रमेणोत्तराण्याह—वीजादित्यादि । द्विविधो हि द्विरेता नपुंसकम् ; एकस्तु समांशात् वीजात् शुक्रशोणितात् भवति द्वितीयस्तु उपतप्त-वीजात् वातादिदोपेण जनकवीजशुक्रशोणितोपतापात् । स्त्रीपुंसिलङ्गी योनिश्चित्रनोभयाभावेन साधारणचिद्ववान् । द्विरेताः शोणितश्च शुक्रश्च द्वे रेतसी यस्य स तथा। पुमांस्तु शुक्रैकरेताः स्त्री तु शोणितैकरेता इति कस्माद्द्विरेता इत्य-स्योत्तरम् । गर्भगतस्य पुत्रस्य शुक्राशयं विगुणो वायुः कम्भवशात् हला पवनेन्द्रि-यतं तस्य पुत्रस्य पवनेन्द्रियतं शुक्रधातुरहितत्वं करोति। पवनेन्द्रियसं । प्रसिद्धा

चक्रपाणिः—कस्मादित्यादि प्रश्नाष्टकम् । नरपण्डो नारिपण्डश्च नरनारिपण्डो ।
वीजादिति शुक्रशोणितात् । उपतप्तवीजादिति उपतप्तवीजजनकवीजभावात् । स्त्रीपुंसिलङ्गीति
स्त्रीपुरुपसा धारणनासिकाचक्षुरादिलङ्गयुक्तः, यानि तु स्त्रीपुंसयोरसाधारणान्युपस्थध्वजस्तनश्मश्चुप्रभृतीनि, तानि चास्य न भवन्तीति । असाधारणानि लिङ्गानि वृद्धेन शुक्रेण रक्तेन वा जन्यानि ।
इह समरक्तशुक्रारव्धे तु नास्यन्यतरवृद्धिरिति नोपस्थध्वजादिविशेपलिङ्गभवनम् । द्विधा स्त्रीत्वपुरुपत्वोपजनकत्वे स्थितं रेतो यस्य स द्विरेताः ; किंवा स्त्रीपुंसिलङ्गीति स्त्रीपुंसयोर्थलङ्गिमुपस्थध्वजस्पम् तद्युक्त एव स्त्रीपुरुपलिङ्गी, उत्तरकालभावीन्यस्य स्तनशुक्रप्रभृतीनि न भवन्ति ।
अस्मिन् पक्षे वीजोपतापेनोत्तरकालभाविस्तनादिप्रतिवन्धः कर्म्भवशादेवेति वृवते ; किंवा उपस्थध्वजी यो, तो गर्भसमकालमेव भवतः, स्तनादि तृत्तरकालभावित्या दुव्वलम्, वीजोपतापेनापि न
दल्वरोर्दस्थिवज्ञहोबीधः, किंतु दुर्व्यलानोमेव स्तनादीनामिति । यत्र समाशे शुक्रशोणिते

शुकाशयद्वारिवघटनेन संस्कारवाहं हि करोति वायुः। मन्दाल्पवीजाववलावहपी क्लोवी च हेतुर्विकृतिद्वयस्य ॥ १८॥ मातुर्व्यवायप्रतिघेन वक्ली स्याद वीजदौर्व्वल्यतया पितुश्च। ईर्ष्याभिभृताविष मन्दहर्षावीर्ष्यारतेरेव वदन्ति हेतुम्॥ १६॥

इति ; कस्मात् पवनेन्द्रियः स्यादित्यस्योत्तरम् । कम्मेवशाद् वायुर्विगुणः सन् गर्भे शुक्राशयस्य द्वारिवघट्टनेन दूपणेन पुत्रं संस्कारवाद्दं हि करोतीति ; कस्मात् संस्कारवाद्दी स्यादित्यस्योत्तरम् । मातापितरौ सम्भोगकाले मन्दालपत्रीजौ मन्दमतीक्ष्णशक्तिकमल्पमल्पमात्रश्च वीजं शोणितं शुक्रञ्चत्युभयं ययोस्तौ, अवलौ नास्ति वलं वीय्यं ययोस्तौ तथा, अहपौ नास्ति हपौ मैथूनार्थं लिङ्गोद्रम-स्पन्दनरूपौ ययोस्तौ, क्रीवौ क्रैन्यदोषदुष्टवीजौ, स्नीपुरुपौ विकृतिद्वयस्य नर-पण्डस्य नारीपण्डस्य च हेत्ररिति ; कस्मानरनारिपण्ड इत्यस्योत्तरम् । मातुः स्त्रिया यद्द्रप्रवाये मित्रघोऽनिच्छा तद्द्रप्रवायनः पुत्रो वक्री स्यात्, पितुश्च वीजस्य शुक्रस्य दौव्वंल्यतया हेतुना पुत्रो वक्री स्यात् । एप सुश्रुते लासेक्यसंज्ञक उक्तः, । तद् यथा । पित्रोरत्यल्पवीजलादासेक्यः पुरुपौ भवेत् । स शुक्रं माश्य लभ्रेषे ध्वजोच्छायमसंशयमिति। व्याख्यातञ्चतत्। मातापित्रोरत्यल्पवीजलादासेक्यः । पुरुपो भवेत् । स यसात् अन्यपुरुपं निजमुखे व्यवायं कारियला तत् सिक्तं शुक्रो भवेत् । स यसात् अन्यपुरुपं निजमुखे व्यवायं कारियला तत् सिक्तं शुक्रो

भवतः, तत्र संयोगमिहम्नेव वीजांशे तापो भवतीति ज्ञेयम्। पवनेन्द्रियं विवृणोति—शुकाशयः मित्यादि। शुकाशयं शुक्रस्थानम्। पवनेन्द्रियत्वं पवनशुक्रत्वम्। शुक्रहीनपवनस्य चेढं शुक्रत्वम्—यद व्यवायकाले शुक्रसदशरूपतया प्रवत्तेनम् तद्वायुरेव परं व्यवायकाले याति। शुक्राशयद्वारेत्यादि संस्कारवाहिविवरणम्। द्वारविघट्टनेनेति द्वारदूपणेन। संस्कारेण वाजी-करणादिना परं यस्य शुक्रमदृष्टद्वारं सत् प्रवत्तेते स संस्कारवाहः। अत्र च संस्कारवाहेण सुश्रुतोक्ता आसेक्यसौगन्धिककुम्भीका अन्तर्भावनीयाः। यतः, एतेऽपि संस्कारविशेषेणापि शुक्रं त्यजन्ति, यद्क्तं तत्र—"पित्रोरत्यवप्वीर्यत्वादासेक्यः पुरुपो भवेत्। स शुक्रं प्राश्य लभते ध्वजोच्छ्रायमसंशयम्। यः प्तियोन्यां जायेत स सौगन्धिकसंज्ञकः। स योनिशेषसोर्गन्धमान्नाय लभते वलम्। स्वे गुढेऽनहाचच्याद् यः स्त्रीपु पुंवत् प्रवत्तेते। कुम्भोकः स तु विज्ञेयः" इति। मन्देत्यादि—मन्दवेगमल्पवीजं ययोस्तौ। तथा अवलाविति निसर्गवलरित्तौ। अहर्पाविति अनुत्साहौ। क्षीवाविति दृष्टवीजो। अत्र यथोक्तगुणा स्त्री स्त्रीपण्डस्य, यथोक्तगुणा पुरुपस्तु पुरुपपण्डस्य हेतुरिति विज्ञेयम्। एतौ त्ववीजो ज्ञेयो, यद्दकं सुश्रुते—"अश्रुकरुवेवं पण्डकः" इति। मातुर्व्यवायप्रनिद्देनिति व्यवायकाले विपमाङ्गन्यासेन प्रतिष्ठितं यस्य श्रुकं

वाय्वसिदोषाद् वृषगो तु यस्य नाशं गतौ वातिकषगडकः सः। इत्येवमष्टी विकृतिप्रकाराः कर्म्मात्मकानामुपलच्रगीयाः॥ २०॥

पाइय ध्वजोच्छायं शिइनोद्गमं लभते, तस्मादासेक्य इति संशा। अस्य पर्यायः मुखयोनिरिति च। कश्चिदिमं विक्रणं कुम्भीकमाह। सुश्रुते हुन्रक्तं—स्वे गुदे-Sब्रह्मचर्याद् यः स्त्रीपु पुंचत् प्रवर्तते। कुम्भीकः स तु विक्षेय ईप्येकं शृण् चापरमिति । व्याख्यातञ्चैतत् । यः पुरुषः स्वे गुद्दे स्वकीयपायौ अब्रह्मचर्यात् अन्यपुरुपस्य व्यवायात् अन्यपुरुपं स्वे गुदं व्यवायं कारियता पश्चात् पुंचत् लब्धपुं स्तवलः सन् स्त्रीपु व्यवायार्थं स्वयं प्रवत्ते स कुम्भीकः कुम्भीकनामा पण्डः। केचित् तु स्त्रीपु विषये तासां स्त्रीणां स्वे गुदे पशुवत् पृष्टभागेऽनुद्गम-शीलेन शिक्नेनाब्रह्मचर्यात् क्लैन्यरससंजातलात् प्रष्टत्य पश्चात् तेन ध्वजोद्गमे जाते तासु स्त्रीषु पुंचत् भवत्ते स सम्भीक इत्याहुः। एतत् सम्भीकोत्पत्ति-हेतुः काश्यपेनोक्तः। अरजस्कां यदा नारीं श्लेष्मरेता व्रजेहतौ। भवत् शीतिर्जायते कुम्भी तत् सदैति ; इति वक्री कथं स्यादित्यस्योत्तरम्। । ईष्याभिभूतौ सन्तौ दम्पती मन्दहपौं भवतस्तावेव द्वौ ईष्यारतेः पुत्रस्य हेतुं िवदन्ति । सुश्रुते हि - दृष्ट्वा न्यवायमन्येपां न्यावाये यः प्रवत्तेते । ईप्यंकः स तु १ विक्षेयः पण्डकः — इति । व्याख्यातञ्चैतत् । अयं दग्योनिरप्युच्यते इति ं ईर्ष्याभिरतिः कथं स्यादित्यस्योत्तरम्। यस्य गर्भारम्भकाले वाय्वयिदोपात् ष्ट्रपणावण्डकोपौ नार्जं गतौ स वातिकपण्डक इति ; कथं वातिकपण्डको वा जायत इत्यस्योत्तरमिति। उपसंहरति-इत्येवमित्यादि। कम्मीत्मकानामशुभ-कस्मीफलविशेपहेतुकानाम् उपलक्षणीया इति वचनेन प्राधान्यादेतदृष्ट्रविधत्वं पुंपाण्ड्यम् उक्तम् । अन्यद्पि वोध्यम् । उक्तश्च सुश्रुते । यः पूतियोनौ जायेत स सौगन्धिकसं ज्ञितः। स योनिशेषसोर्गन्धमाघ्राय लभते वलम् ॥ यो भाटर्याया-मृतौ मोहादङ्गनेव पवत्तंते। ततः स्त्रीचेष्टिताकारो जायते पण्डसंज्ञितः॥ अङ्गनेव स्तीवदुत्तानीभूय विपरीतवन्धेन। स स्तीचेष्टिताकारः स्तीचेष्टावान् स्तीजना-कारश्च। इति पुंपाष्ड्यानि। अथ स्त्रीपाष्ड्यमप्युक्तं सुश्रुतेन। ऋतौ गर्भाशयं नियमान्तोपेति स 'वकी'त्युच्यते। वीजदौद्यं ल्यतया पितुर्वकी स्यादिति योजना। परव्यवायं दृष्ट्वा प्राप्तध्वजोच्छायो. व्यवायासक्तो भवति, स ईर्प्यारतिः। यदुक्तं सुश्रुते—''दृश्वा ब्यवायमन्येपां व्यवाये यः प्रवर्त्तते । ईप्यंकः स तु विज्ञेयः" इति । कर्मात्मकानामितिपदेन एते हुँ व्यभेदाः प्राक्तनकर्मावलादेव प्रायो भवन्तीति दर्शयति ॥ १६- २०॥

गर्भस्य सद्योऽनुगतस्य कृत्वौ स्त्रीपुंनपुंसामुद्रस्थितानाम् । किं लत्त्रणं कारणमिष्यते किं सरूपतां येन च यात्यपत्यम् ॥२१॥ निष्ठीविका गौरवमङ्गलादस्तन्द्राप्रहवी हृदयव्यथा च । तृतिश्च वीजग्रहण्ञ योन्या गर्भस्य सद्योऽनुगतस्य लिङ्गम् ॥२२॥

पुरुपबद्दापि प्रवर्तेताङ्गना यदि। तत्र कन्या यदि भवेत् सा भवेत्ररचेष्टिता॥ आसेक्यश्च सुगन्धी च कुम्भीकश्चेष्यंकस्तथा। सरेतसस्तमी जे या अशुकाः पण्डसं ज्ञिताः। अनया विष्रकृत्या तु तेषां शुक्रवहाः सिराः। हर्पात् स्फुटल्लमायान्ति ध्वजोच्छायस्ततो भवेत्॥ आहाराचारचेष्टाभिर्यादशीभिः समन्वतौ। स्त्रीपुं सौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि ताद्दशः॥ यदा नार्यावृषे-यातां रुपस्यन्त्यौ कथञ्चन। मुञ्चन्त्यौ शुक्रमन्योन्यमनस्थिस्तत्र जायते। ऋतुस्त्राता तु या नारी स्वष्ने मैथुनमावहेत्। आत्तंवं वायुरादाय कुक्षौ गर्भ करोति हि। मासि मासि विवर्द्धतं गर्भिण्या गर्भछक्षणम्। कछछं जायते तस्या विज्ञतं पैतृकौर्णेः। सप्रदिश्वककुष्माण्ड-विकृताकृतयश्च ये। गर्भास्त्रेते स्त्रियाश्चैव क्षयाः पापकृता भृत्रम्। इति। आसेक्यादयः पुरुप्-दोपाः ल्रीदोपाश्च। अनस्थिरत्यकोमछास्थिः। कछछं सिंघाणप्रख्यम्। पैतृकौर्णेः केश्वक्षश्रुछोमनखास्थिसिरास्त्रायुप्पनीरेतः प्रभृतिभिः। सर्प-रुश्वकादिक्षपस्तु ममुष्ये पापाचर्येण भवित।। १७—२०॥

गङ्गाथरः—अतः परं गर्भस्य छक्षणादिकं पृच्छति—गर्भस्येत्यादि । सद्यो-ऽतुगतस्य तत्क्षणमेव क्कृक्षौ सम्भवतो गर्भस्य किं छक्षणित्येकः प्रशः। उदरस्थितानां स्त्रीपुंनपुंसकानां किं छक्षणिति द्वितीयः प्रशः। स्त्रीपुंन नपुंसामिति समासान्तविधेरनित्यत्वेन नपुंसशब्दः सान्त इति वोध्यम्। गर्भस्योत्पत्तौ येन च कारणेनापत्यं सरूपतां समानरूपतां याति तच कारणं किमिति तृतीयः प्रशः॥ २१॥

गङ्गाधरः — क्रमेणेषामुत्तराण्याह — निष्ठीविकेत्यादि । निष्ठीविका छीवनं मुखेन स्वरूपोद्गिरणम् । गौरवमङ्गस्य । अङ्गसादोऽङ्गावसन्नता आन्तलमिव। तन्द्रा निद्रावत् क्वान्तिः। अप्रहर्पो ग्लानिः। हृदयव्यथा पीडेव हृदये। तृप्तियोन्याः।

चक्रपाणिः—गर्भस्येत्यादि पञ्च प्रश्नाः । सद्योऽनुगतस्येति सद्योगृहीतस्य । कारणिमत्यादि— कारणं कि तत्, येन कारणेन सरूपतां साह्य्यमपत्यं गर्भो यातीत्यर्थः । अयञ्च पञ्चमः प्रश्नः ॥ २१॥

सव्याङ्गचेष्ठा पुरुषार्थिनी स्त्री स्त्रीस्वन्नपानाश्नशीलचेष्ठा । सव्याङ्गगर्भा ७ न च वृत्तगर्भा सव्यप्रदुग्धा स्त्रियमेव सूते । पुत्रं ततो लिङ्गविपर्ययेगा व्यामिश्रलिङ्गा प्रकृतिं तृतीयाम् ॥२३

वीजग्रहणश्च शुक्रशोणितयोर्वन्यः सुरतान्ते च्युत्यभावः। सद्योऽतुगतस्य तत्क्षण-माधीयमानस्य गर्भस्यैतिङ्किम्। सुश्रुतेऽप्युक्तं—तत्र सद्योग्रहीतगर्भाया लिङ्गानि श्रमो ग्लानिः पिपासा सक्थिसदनं शुक्रशोणितयोरववन्यः स्फुरणश्च योनिरिति। इति प्रथमप्रश्लोत्तरम्॥ २२॥

गङ्गाधरः—सव्याङ्गचेष्टेत्यादि। या गभेवती स्त्री पूर्व्वं सव्याङ्गचेष्टा सन्येन वामेनाङ्गेन क्रियामारभते पुरुषाथिंनी पुरुषसङ्गं काङ्क्षिणी स्त्रीस्वमपाना-शनशीलचेष्टा स्त्रीलोकस्य निद्रावत् पानवत् अशनवत् शीलवत् स्वमपानाशन-शीलेषु चेष्टा क्रिया यस्याः सा तथा। सन्याङ्गर्मा सन्यपादव गर्भेस्थिति-रूपा न च रुत्तः वर्त्तु लरूपो गर्भौ यस्या दीर्घगर्भा इत्यर्थः। सन्यप्रदुग्धा स्तनयोदु ग्धस्य प्रकाशारम्भे प्रथमं सन्यस्तने दुग्धं यस्याः सा तथा। स्त्रियमेन कन्यामेन सा स्ते न तु पुत्रमिति। ततो लिङ्गविपय्येयेण सन्याङ्ग-चेष्टादिलिङ्गनो विपय्येयलिङ्गेन पुत्रं मसुते। न्यामिश्रलिङ्गा सन्यासन्याङ्ग-चेष्टा स्त्रीयुंसार्थनाभावा स्त्रीयुंसोभयस्वमपानाज्ञनज्ञीलचेष्टा सन्यासन्यगर्भा न द्यत्तगर्भा न दीर्घगर्भा युगपत्स्तनद्वयदुग्धा या स्त्री सा तृतीयां प्रकृतिं नपुंसकं स्ते इत्यर्थः। सुश्रुतेऽप्युक्तं—तत्र यस्या दक्षिणे स्तने पाक् पयोदर्शनं भवति, दक्षिणाक्षिमहत्त्वश्च, पूर्विश्च दक्षिणं सक्थ्युत्कपिति। वाहुल्याच पुनाम-धेयेषु द्रव्येषु दौह दमभिष्यायति, स्वमेषु चोपलभते पद्मोत्पलकुमुद्मातका-दीनि पुनामान्येव, मसन्तमुखवर्णता च भवति, तां ब्रूयात् पुत्रमियं जनयिष्यतीति । तद्दिपर्यये कन्याम् । यस्याः पाद्यद्वयक्षत्रतं पुरस्तान्त्रिगेतमुद्रः प्रागिभहितलक्षणश्च तस्या नपुंसकमिति विचात्। यस्या मध्ये निम्नं द्रोणी-मभूतमुदरं सा युग्मं प्रस्यत इति । इति द्वितीयमश्रोत्तरम् ॥ २३ ॥

चक्रवाणिः—वीजग्रहणं शुकस्य ग्रहणम् । स्वीस्त नेत्यादि —स्वीविहिता स्वप्नपानाशनशीलः चेष्टा । सन्येन पार्वेन आत्तो गृहीतो गर्भी यया सा सन्यात्तगर्भा । किंवा सन्याङ्गगर्भेति पाठः । न च वृत्तगर्भेति दीर्घगर्भेत्यर्थः । सन्यस्तने प्रकृष्टं दुग्धं यस्याः सा सन्यप्रदुग्धा । व्यामिश्र-

^{*} सब्यात्तगर्भेति चक्रधतः पाठः ।

गर्भोषपत्ती तु मनः स्त्रिया यं जन्तुं व्रजेत् तत्सदृशं प्रस्ते ॥२४॥ गर्भस्य चत्वारि चतुर्विधानि भृतानि मातापितृसम्भवानि । आहारजान्यात्मकृतानि चैव सर्व्वस्य सर्व्वाणि भवन्ति देहे ॥२५॥ तैषां विशेषाद् वलवन्ति यानि भवन्ति मातापितृकर्मजानि । तानि व्यवस्येत् सदृश्त्वहेतुं क्ष सत्त्वं यथानृक्रमपि व्यवस्येत् ॥२६

गङ्गाधरः—गभौषपत्तौ गभौत्पत्तिसङ्गकाले स्त्रिया मनस्तु यं जनतुं प्राणिनं व्रजेत् तत्प्राणिसदशमपत्यं सा मृते। सुश्रुतेऽप्युक्तम्। पूर्व्व पश्येदतुस्त्राता यादशं नरमङ्गना। तादशं जनयेतु प्रत्रं भक्तीरं दर्शयेदत इति॥ २४॥

गङ्गाधरः-अपत्यस्य मातापितृसमरूपत्वे कारणान्तरञ्चाह-गभस्ये-त्यादि । देहे देहविषये सर्वेस्य गर्भस्यैव कारणानि मातापित्सम्भवानि आहारजानि आत्मकृतानि चैव सर्व्वाणि समस्तानि चतुर्व्धियानि चलारि वाय्वादीनि भूतानि न लन्यतमैकद्वित्रिविधानि न वा पश्चविधानि एवकारेण व्यवच्छेदात्। आकाशन्तु न मातृसम्भवत्वेन पितृसम्भवत्वेन आहार-सम्भवत्वेनात्मसम्भवत्वेन च चतुर्व्विधम् ; परन्त्वविकारत्वेन चतुष्कमेवैकविधं, ततो न चतुर्व्विधं पश्च भूतानीति मनसि कृलोक्तं चलारि भूतानीति। तेपां चतुर्व्विधानां चतुर्णां भूतानां मध्ये मातृषितुकस्मीजानि शोणितजानि चलारि लिङ्गा च सव्यद्क्षिणादिचेष्टा इत्यादिना ज्ञेया। प्रकृतिं तृतीयामिति नषुंसकम्। गर्भोप-पत्तावित्यादिना सारूप्यमाह—गर्भोषपत्तौ वीजग्रहणकाले मनी यं जन्तुं वजेत् यं प्राणिनं मनसा ध्यायेत्। एतच वीजग्रहणकालीनं मनसानुध्यानं प्रभावादेव चिन्त्यमानसदरामपायं करोतीति ज्ञेयम् । किंवा तत्कालीनचिन्तयेव वीजं चिन्त्यमानसदशारम्भशक्तिकं क्रियते। दृष्ट्य मानसानामि भावानां भूतविशेषकरणे शक्तिविशेषः । यथा सङ्गरूपः शुक्रोदीरणं करोति, तथा दोहदाप्राप्तो तिचन्तया गर्मविकृतिः, ईप्योभयादीनामोजःशुक्रक्षयकन् त्विमित्यादि । एतदेव चं साहर्यकारणं पर्यता पुनर्वक्तव्यम्,—''यथा—या या यथाविधं पुत्रमाशासीदिग्युपादाय सा सा तांस्तान् जनपदान् मनसानुक्रमेट्' इति । जन्त्वनुध्यानं साददयकारणमभिधाय साददय-कारणान्तरमाह—गर्भस्येत्यादि । चत्वारीति निर्विशेषमाकाशं वर्ज्जयित्वा मुतानि । व्विधानीति विवृणोति—गातेत्यादि । मातृसम्भवानि रक्तगतानि, पितृसम्भवानि शुक्रगतानि । मातुराहारसभ्मृतरसजानि । शुक्रशोणितोत्तरकालं आहारजानि आत्मप्रतिबद्धकर्मावशप्रस्तानि ज्ञेयानि । तत्र शुभकर्माणा सदशरूपजनकानि, अशुभकर्मणा

^{...} सरहात्नक्रिङ्किति वा पातः **।**

कस्मात् प्रजां स्त्री विकृतां प्रस्ते हीनाधिकाङ्गीं विकलेन्द्रियाञ्च। देहात् कथं देहमुपैति चान्यमात्मा सदा कैरनुवध्यते च ॥२७॥

शुक्रजानि चलार्यात्मजानि चलारि तानि त्रिविधानि भूतानि वाय्वादीनि विशे-पाद् वलवन्ति भवन्ति, तानि मातृजानि पितृजानि कम्मेजानि च वाय्वादीनि विशेषतो वलवन्ति स्युस्तानि सदशलहेतुं व्यवस्येत्। मातृशोणितिकवलवद्वाय्वा-दीनि कम्मेजसहितानि मातृसदशलहेतुं पितृशुक्रीयवलवद्वाय्वादीनि कम्मेज-सहितानि पितृसदशलहेतुं व्यवस्येत्। यथानूकं गर्भारम्भकाले मातृपितृसत्त्वानू-रूपं सत्त्वं मनश्च मनःसदशलहेतुं मातृसत्त्वानूकसत्त्वं मातृसदशलहेतुं पितृ-सत्त्वानृक्सत्त्वं पितृसदशलहेतुं व्यवस्येत्। एतेन यस्य यस्य सत्त्वानूकसत्त्वं भविति तत्सदशसत्त्वश्च तस्य भवतीति ख्यापितम्। इति तृतीयमश्चोत्तरम्॥ २५।२६ ॥

गङ्गाधरः — अथ पुनः पृच्छति — कस्मादित्यादि । कस्माद्धेतोः स्त्री प्रजां प्रजायते इति प्रजा तामपत्यरूपां विद्यतां प्रस्ते । नतु प्रकृतिरात्मा तदितरत् सर्व्वं विद्यतं किं तस्य प्रश्न इत्यतस्तत्पश्चिनरासार्थं विद्यतत्त्वं विद्यणोति भाष्येण । हीनाधिकाङ्गीं हीनाङ्गीं तथाधिकाङ्गीश्च विकलेन्द्रियाश्च प्रजां विकृतां

तु विसदशरूपजनकानीति ज्ञेयम्। यानि व्वात्मनि सूक्ष्माणि मृतानि आितवाहिकरूपाणि, तानि सर्व्वसाधारणत्वेनानिशेषसाद्द्यकारणानीति नेह योद्द्व्यानि। तत्र एवं चतुर्व्विधानां साद्द्यकारणां किम्मृतं वेत्याह—तेपामित्यादि। 'विशेषाद्' इतिपदेन सर्व्वाण्येव साद्द्यकारणानि भवन्ति, किन्तु यानि वरुवन्ति, तानि विशेषाद् भृिष्टसाद्द्रयं जनयन्तीति दृष्ट्यति। अत्र चाहारमृतानां प्राक्तकम्मीपेक्षयेव साद्द्रयकारणत्वं भवतीति कृत्वा नाहारजानां प्रहणं कृतम्, तेन कर्म्मजेष्वेवाहारजातानामववोधो ज्ञेयः। पृत्वेन्तु 'आहारजानि' इति पदेन तेषां विद्यमानतामात्रमुक्तं ज्ञेयम्। विवा मातृजादीनि हि मात्रादिभः सद्दरां कृष्वेन्त, न त्वाहार-जातानि आहारसद्दरां कृष्वेन्ति। तेन तेषामिहानुपादानम्। तथा हुप्रतराध्याये—'यानि खद्वस्य रसजानि' इत्यादिना प्राणानुदन्धादीनि वक्तव्यानि, न च तानि साद्दर्यक्ष्यत्येह भिवतुमर्हन्तीति इह नोक्तानि। साद्दर्यहेतुमिधाय मनःसाद्दर्यहेतुमाह—सत्त्वमित्यादि। अनूकं प्राक्तनाव्यविद्वा देहजातिः। तेन यथानूकमिति यो देवशरीराद्द्यवधानेनागत्य भवति, स देवसन्तो भवति, यः पशुक्तरीरादेवित, स पशुक्तर्वो भवति। अपित्रव्दात् कर्मसम्बन्धं जातिसम्बन्धञ्च दशंयति। तेन कर्म्मवशादेव सत्त्वं राजसं तामसं सान्त्वकं भवति, तथा मानुपादिजात्यनुक्त्यञ्च मवति। २२—२६॥

चक्रपाणिः -- कसादित्यादिना विकलेन्द्रियान्चेत्यन्तेन एकः प्रश्नः । तत्र 'विकृताम्' इत्यस्य विवरणम् -- हीनेत्यादि । देहादित्यादि द्वितीयः । सदा करेनुवध्यते इति नृतीयः । ये त वीजात्मकम्माश्यकालदोषेमांतुस्तदाहारिवहारदोषेः।
कुर्व्वन्ति दोषा विविधानि दुष्टाः संस्थानवर्णेन्द्रियवेक्टतानि ॥२८॥
वर्षासु काष्ठाश्मधनाम्बुवेगास्तरोः सिरत्होतिस संस्थितस्य।
यथैव कुर्य्युर्विक्टितं तथैव गर्भस्य कुचौ नियतस्य दोषाः॥२६॥
भृतैश्चतुर्भिः सहितः स सूच्मैः ६ मनोजवो देहमुपैति देहात्।
कम्मात्मक्रत्वात्र तु तस्य दृश्यं दिव्यं विना दर्शनमस्ति रूपम् ॥३०

कस्मात् स्त्री स्ते इत्यर्थः । इत्येकः प्रश्नः । आत्मा कथं देहादेकस्मादन्यं देहमुपैतीति द्वितीयः प्रश्नः । कैथ भावैरात्मा सदा नित्यमनुवध्यते इति तृतीयः प्रश्नः ॥ २७ ॥

गृङ्गाधरः — क्रमेणेपामुत्तराण्याह — वीजात्मेत्यादि । वीजं शुक्रं शोणितञ्च । आत्मा पद्धातुः सुक्ष्मदेही । कम्मे पूच्चकृतं शुभाशुभदिष्टम् । आश्रयो गर्भाश्यः योनिरित्यथेः । कालः सत्यत्रेताद्वापरकलिसम्बन्धिसंवत्सरीयपृष्ट्वहो-रात्रक्षणमुहूर्त्तादिः शुभाशुभो नित्यगस्तथा चावस्थिकश्च वाल्ययोवन-वार्द्धवयादिः ; तेपां दोपा वाच्यास्तैः । मातुश्च दोपेस्तदाहारविहारदोपेराहित-गर्भाया आहारविहारदोपैः। दोपा वातिपत्तकपाः शारीरा रजस्तमश्च मानसदोपो। एते दोपा दुष्टाः सन्तः विविधानि संस्थानस्यावयवसंस्थाया वणस्य इन्द्रिया-णाञ्च वैकृतानि विकृततानि कुर्व्वन्ति । अत्र दृष्टान्तमाह — वर्पास्वत्यादि । तरोष्टं क्षस्य । कुक्षौ नियतस्य गर्भस्य । इति प्रथमप्रश्लोत्तरम् ॥ २८।२९ ॥

गङ्गाधरः — भूतैरित्यादिना द्वितीयमश्रोत्तरम्। स केवलश्चेतनाधातुरात्मा महदहङ्कारस्रक्ष्माकाशादित्रयोविंशत्या स्क्ष्मैस्तत्त्वैः सक्ष्मदेही क्रियाविद्धः द्वित्रिचतुःपञ्चात्मकैर्वाय्वादिभिश्चतुर्भिभूतैः सहितो भूतात्मा म्रियमाणस्तत्-

'विकृताम्' इति पदेन कु रूपाम्, 'हीनाधिकाङ्गीम्' इति पदेन च हीनाङ्गादिरूपामेव कुरूपातिरिक्तां चदिन्त, तेपां मते प्रक्षमेदः स्वात् ; तथा अध्यायान्ते च वक्ष्यमाणसंख्या अतिरिक्ता भवति । आत्मीयकम्मं आत्मकम्मं । आश्यो गर्भाशयः । दोषो वैशुण्यम् । अश्मधनानि पापाणखण्डाः । वेगाः काष्ट्रादीनां त्रयाणाम् ॥ २७—२९॥

चक्रपाणिः—हितीयप्रश्वस्योत्तरम्—गृतैरित्यादि । सुसूक्ष्मैरित्यनेन चातीन्द्रियत्वं दर्शयति । आकाशस्येहाकियत्वेन मनोगतिरेव भूतसहिता 'गति'शब्देनोच्यत इति द्शितं भवति । देहात्

^{*} सुस्केरिति चक्रध्तः पाठः ।

स सर्व्वगः सर्व्वश्ररीरभृच्च स विश्वकरमा स च विश्वरूपः। स चेतनाधातुरतीन्द्रियश्च स नित्ययुक् सानुश्यः स एव ॥ ३१ ॥ कालमेव निम्मितमातिवाहिकं देहमस्मान्देहाद् देहं विहाय मनोजवो मनोवेगेनैव उपैति। मनोजवो मनसो जवो वेगो यस्य स मनोजव एवोपैति। कस्मात् तन्न आह—कम्मीत्मकलात्। तस्यास्मादेहादेहान्तरं गच्छतो भूतात्मनो रूपं पूर्वेकृतकम्में फलसम्बन्धात् वाय्वादिभिस्तत्कालमेव कृतलात् आतिवाहिकं वायुभूतिनराश्रयं सुक्ष्मभूतमयं रूपं, रूप्यते यत् तद् रूपं शरीरम् दिन्यं प्राप्तिसिद्धिजनितमैश्वरवलिक्षेषं दर्शनं चक्षुविना न दृश्यं दर्शन-योग्यमस्ति। इति देहादन्यदेहगमनमुत्तवा आत्मा सदा कैरनुवधाते चेति पश्चरयोत्तरमाह—स सर्व्वग इत्यादि । स आत्मा सर्व्वगइचेतनाचेतनसर्व्वगतः । सर्वेगञ्चाकाशमित्यत आह—सर्वेशरीरभृच। महदादिसुक्ष्माकाशादिस्थूळ-पर्विततर्वाद्यचेतनसुरासुरनरवानरादिचेतनाद्यतिस्थूलसर्वेशरीरधारी।नसुतस्य च तत् तत्सन्वेशरीरं कोऽन्यः कुरुते इत्यत आह स—विश्वकर्मोति। विश्वं चराचरं सर्व्यं कम्मे कार्य्यं यस्य स विश्वकम्मी । नन्वेवमस्तु तस्यादात्मनोऽन्यत् किमिदं सर्व्व शरीरम्, यतोऽयं सर्व्वशरीरभृद्विश्वकम्मी च इत्याशङ्कायामाह—स च विश्वरूपः। विश्वं सर्वं महदादिकं चराचरं रूप यस्येति वाक्येऽपि तथा-लांत्। विश्वत्वेन रूप्यते यः स विश्वरूपः। ननु स च क इत्यत आह—स चेतना-धातुरिति । चेतना चित् स्वयं प्रकाशते स्वपकाशेनान्यच प्रकाशयति सत्त्वादि-योगेन पाणिषु चैतन्यहेतुः। नन्वेवम्भूतः किं न दृश्यो भवतीत्यत आह— अतीन्द्रियश्चेति। स चेन्द्रियाणि पश्च श्रोत्रादीन्यतिक्रान्तः। नतु मनसापि किं इति म्रियमाणदेहात्। देहमित्युत्पद्यमानदेहम्। कर्मात्मकत्वादिति कर्माधीनत्वात्। तेन कर्मा धर्माधर्मारूपं यदेनं भोगार्थं नयति, तदेव देह्मुपयातीत्युक्तं भवति। अथ गच्छन् किमित्ययं नोपलभ्यते न्रियमाणपुरुपादित्याह—न त्वित्यादि । तस्यात्मन भातिवाहिकशरीर-युक्तस्य दृश्यं रूपं नास्तीति सुक्ष्मरूपत्वादिति भावः। अथ किं सर्व्व एवेनं न पश्यन्तीत्याह— दिच्यं दर्शनं दिच्यचक्षुः। तेन योगिन एव पर्यन्त्येनमिति दिव्यं विना दर्शनमिति। दर्शयति ॥ ३० ॥

चक्रपाणिः —अस्यैवातिवाहिकशरीरयुक्तस्यातमनो धम्मोन्तराण्याह — स सर्व्वग इत्यादि। सर्व्वशरीरमृदिति सर्व्वशरीराणि भर्त्तुं योग्यः। विश्वकर्माकरणक्षमो विश्वकर्मा। विश्वरूपताञ्च नरपश्चादिशरीररूपतया कर्मावशाद् भजत इति विश्वरूपः। नित्यं बुद्धपादिभिर्युज्यत इति नित्ययुक्। सहानुशयेन रागादिना वर्त्तत इति सानुशयः॥ ३९॥

रसात्ममातापितृसम्भवानि भूतानि विद्याद् दश पट् च देहे । चत्वारि तत्रात्मिन संश्रितानि स्थितस्तथात्मा च चतुर्षु तेषु ॥३२॥ भूतानि मातापितृसम्भवानि रजश्च शुक्तञ्च वदन्ति गर्भे । अप्राप्याय्यते शुक्रमस्टक् च भृतेये स्तानि भृतानि रसोज्जवानि ॥३३॥

न ग्राह्य इत्यत आह—स नित्ययुक्। नित्यं मोक्षात् पूर्व्वपर्यन्तमविच्छेदेन सत्त्वानुरूपाणि युनक्ति इति नित्ययुक्। तेन सत्त्वायुपाधिमत्त्वेऽपि परात्मनो वैक्वानराद्यवस्थायामपि श्रोत्रादिपञ्चेन्द्रियाग्राह्यत्वम् । योगे गुद्धसत्त्वात्मकेन तु मनसा प्राह्यत्वं रूयापितम्। तदुक्तं व्यासेन। नैवासौ चसुपा प्राह्यो न च शिष्टेरपीन्द्रियैः। मनसा तु पसन्तेन मृद्यते मृश्मद्शिभिरिति॥ सुतरामयं सानुशयः। वैश्वानराद्यवस्थायां सरवाद्यपाधिमान् सानुशयः रागाद्यनुष्टत्ति-शाली। एवम्भूतस्य चेतनाधातोः पङ्धातुरूपस्य रसात्ममातापितृसम्भवानि चतु-व्विधानि चलारि वाय्वादीनि भूतानीति दश पर्चेति पोइशविधानि स्थूल-देहारम्भकाणि भूतानि निन्धिकारलानिष्क्रियलादेकनिधमेवाकार्यं न गण्यत इति साधारणानि विद्यादिति। दशेन्द्रियाणि पश्चभूतानि पश्चार्थो इति विंशति-तत्त्वात्मको देह इत्यर्थः। तत्र यानि चलारि वाय्त्रादीनि भूतानि आत्मनि संश्रितानि यथा तथा आत्मा च तेषु स्वाश्रितेषु चतुषु वाय्वादिषु स्थित इति। मातापित्सम्भवानि भूतानि वाय्वादीनि चलारि तु रजश्र शुक्रश्च गर्भे वदन्ति, रजस्त खल्वाग्नेयं पाञ्चभौतिकं शुक्रन्त सौम्यं पाञ्चभौतिकमिति । तद्रजःस्थानि चलारि मातृजानि शुक्रगतानि चलारि पितृजानि। गर्भे मिथःसंयुक्तं रजः शुक्रञ्च यैर्गातृकृताहारजरसगतैश्रतृभिभूतैराप्याय्यते तानि चलारि भूतानि रसोद्भवानि

सक्ष शाणिः — आतिवाहिक शारी र स्वप्तृत्वतुष्य यापक त्वकरणार्थं शारीरे यानि सम्भवन्ति मृतानि, तान्येवाह — रसाम्मेत्यादि । एतानि मृतानि सारू प्यहेतुप्रसावोक्तः न्यपि प्रकरणवशात् तथा वक्त व्यरजः शुक्राय नुक्तप्रतिपादनार्थञ्च पुनरु चन्ते । आत्मनि संश्रितानीति आत्मक भर्मणात्म न्यातिवाहिक देहरू पतया यानि यद्वानि । स्थितसाथारमेति तेषु देहान्तरादिकियार्थं स्थितः । या गतिर्देहान्तरादिनात्मनः, सा तद्मृतव्यवस्थितस्थोच्यते, न व्यापकस्य तस्य सर्वेत्र सर्वेगत- व्यादित्यर्थः ॥ ३३ ॥

चक्रपाणिः — मातापितृसम्मवानीति रजश्च शुक्रमिति यथासंख्यं मातापितृसम्भवानीति ॥ ३३ ॥

भूतानि चत्वारि तु कम्मेजानि यान्यात्मलीनानि विशन्ति गर्भम् । स वीजधम्मी ह्यपरापराणि देहान्तराण्यात्मिन याति याति ॥३४॥ रूपादिरूपप्रभवः क प्रसिद्धः कम्मोत्मकानां मनसो मनस्तः । भवन्ति ये त्वाकृतिबुद्धिभेदा रजस्तमः कम्मे च तत्र हेतुः ॥३५॥

इति त्रिविधानि चलारि भूतानि, चलारि तु कम्मैजानि पूट्यजन्मकृतशुभाशुभ-कम्मैफलानुरूपेणात्मस्थभूतजानि, चलारि वाय्वादीनि तु भूतानि यानि आत्म-लीनानि सुस्मदेहस्थानि चलारि भूतानि गर्भाशये मिथःसंयुक्तशुक्रशोणितात्मकं गर्भ विश्वन्ति तानि चलारि वाय्वादीनि पूट्यकम्मीनुरूपेण जनयन्ति तानि कम्मेजानि। नारायणाख्येन ब्रह्मणा सुस्मदेहनिम्मीणकाले नियतिवशेन कालपरिणामेन नियतिविशेषतो जनमजन्मकृतकम्मेधम्मीधम्मेरूपं भवति। ननु कस्मात् तानि गर्भ मविश्वन्तीत्यत आह—स इत्यादि। हि यस्मात् स सुस्मदेही भूतात्मा वीजं यथैवाङ्क रं जनयति तथा स सुस्मदेही भूतात्मा स्थूलान् जनयतीति वीजधम्मी अपरापराणि देहान्तराणि चेतनाधातावात्मिन याति सित तेन सहैव याति। सुश्रुते चोक्तम्। क्षेत्रच इत्यारभ्य धाता वक्ता योऽसा-वित्येवमादिभिः पर्यायवाचकौर्नामिरिभधीयते। दैवसंयोगादक्षयोऽव्ययो-ऽचिन्त्यो भूतात्मन सहान्वक्षं सत्त्वरजस्तयोभिर्द्वासुरैरपरैश्च भावैर्वायुनाभि-प्रेयमाणो गर्भाश्यमनुमविश्वयावतिष्ठते। इति।

ननु कथं वीजधम्मी वीजिमवाङ्क्रुरं िकं वा जनयतीत्यत आह— रूपादित्यादि। कम्मीत्मकानां पूर्विकृतशुभाशुभकम्मेफलधम्मीधम्मीनु-

चक्रपाणिः—आत्मलीनानीति नित्यात्मसम्बद्धानि । आत्मलीनमूतानां धर्मान्तरमाह—स वीजधर्मेत्यादि । आत्मलीनसृतसन्तानो वीजस्वरूपः, वीजं हि स्वसदशमङ्करं करोति । तेन अयमप्यात्मलीनो भृतसन्तानः सदशं देहरूपं भृतान्तरसङ्गं कुर्वन् वीजधर्मा भवति । सा वीज-धर्मिणीति वा पाठः, तदा सा भृतसन्तितिरत्यध्याहार्य्यम् । आत्मनीति मनोयुक्तात्मनि । यातीति गच्छति सति । याति गच्छति देहान्तराणीति योजना । आत्मनश्च गमनं मनोगमनमेव । परापराणीति वा पाठः । तदा पराणि श्रेष्टानि देवादिशरीराणि, अपराणि अश्रेष्टानि किम्यादि-शरीराणीति योजनीयम् ॥ ३४॥

वक्रपाणिः—नन्वपरिद्दश्यमाना भृतचतुष्ट्यी यनःप्रवृत्तिरुक्ता किमर्थं स्त्रीकर्त्तस्या, यतः परि-ध्रयमानमेवेदं पाड्भोतिकं शरीरं शुक्रशोणितकारणमस्तु, इत्याह—रूपाद्वीत्यादि । रूप्यत इति

स्रुपाद्धि रूपप्रभव इति चकः।

वद्धात्मस्थपश्चभूतानां रूपाद्विरूपमभवो विशिष्टरूपोत्तपत्तिः तद् यथा—अदुष्टशुक्रस्य पुंसोऽदुष्टशोणितगर्भाशयया स्त्रिया सह संसर्गं गच्छतः शुक्रं गर्भाशयगतमार्त्तवेन संयुक्तमसौ परलोकादवक्रम्य पविश्य पूर्वे स्वस्मिन् स्थितादाकाशादाकार्गं सुजित वायोर्वायुं तेजसस्तेजोऽद्ध्योऽपो भूमेर्भू मिमिति, तैः पश्चभिरुपहितश्चात्मात्मानं जनयति वैश्वानराख्यम्। तेपामेकैकाधिक-पश्चभूतानि चाहङ्कारिकश्रोत्रादीन्यनुपवेशयन् एतानि श्रोत्रादीनि स्थूलानि पञ्चेन्द्रियाणि स्निति। तथा तैभूतैः पश्चकम्मेन्द्रियाण्येवं स्वीयस्वीयरूपतो विशिष्टापूर्व्यरूपमभवो मनस्तश्च विक्रियमाणान्मनसः खल्वस्मिन् स्थूलदेहे मनसः सत्त्वात् सत्त्वं रजसो रजस्तमसस्तमः सृजति। तेष्वाहङ्कारिकमनः-मवेशात् सत्त्वसंग्रकस्थूलमनसो विशिष्टापूर्व्यरूपमभवो भवति प्रतिपुरुपं भेदेन। तथा प्रतिपुरुपे ये लाकृतिचुद्धिभेदाः स्थूलदेहे आकृतिविशेषाः चुद्धिविश्लेषाश्च तत्र विरूपाकृतिवुद्धिभेदेषु रजस्तमः कम्मे च सदसत् कम्मकृतशुभाशुभफलजनक-संस्कारविशेषौ धम्मधिम्मौ च मिलिला हेतुः, न तु हेतवः पृथक् पृथगिति। नित्यं मनोयुक्तलेन त्रिगुणयोगः ख्यापितः इति देहात् कथं देहमुपैति चान्य-मात्मेति द्वितीयमश्रोत्तरम् ॥ ३०--३५॥

रूपं भौतिकं शरीरम्। तेन अभौतिकाच्छशीराट् भौतिकं शरीरं भवतीत्यागमप्रसिद्धम्। तेन भागमादेव साङ्ग्र उदर्शनरूपादातिवाहिकशरीरात् तदुक्तं शरीरमुत्पचते इति वाक्यार्थः। यद्यपि शुकरजसी कारणे, तथापि यदैवातिवाहिकं सूक्ष्मधृतरूपशारीरं प्राप्तुतः, तदैव ते शरीरं जनयतः, नान्यदा । यदि शुक्रशोणितमातिवाहिकशरीरनिरपेक्षं गर्भं जनयति, तदा जीवाधिष्ठानेन जनयेत्, न तु जनयति । तसादात्मस्थसुस्मभृतादेव वीजरूपात् शुक्रशोणितयुक्ताद् गर्भजन्मेति । एतचात्मस्थभूतं मातापितृजभृतेन समं शरीरकारणं कर्म्मवशादेव भवतीत्याह—कर्मोति । कर्मात्म कानामिति कर्मकारणकानाम् । किंवा रूपवत्तन्तुभ्यो रूपवान् पट उत्पद्यते इति प्रसिद्धम् । तेन आतिवाहिकशरीरादेव शरीरेण भवितन्यम्, कारणसद्दशं कारयं भवति। ततश्चारमधर्मित्वं सूक्ष्माणामात्मस्थितभावानां सिद्धमिति भावः। अथ मनः सान्त्विकराजसतामसभेदात् भिन्नं कुतस्तत्र पुरुपे भवतीत्याह—मनसो मनसा इति । पूर्वजन्मन्यवस्थितं यादक् मनः तस्मादिह जन्मान्यपि ताझोव मनो भवति । उक्तञ्चान्यत्र—''जन्म जन्म यदभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः। तेनैवाभ्यासमोगेन तच्चैवाभ्यस्यते पुनः" इति । तत्रापि मन-उत्पत्तौ कर्मात्मकानाम् इति योज्यम् । तेन करमंवशादेव मनोभेदो भवति । नन्वेवं सति आत्मस्यसूक्ष्मभूतात्मरूपक-रूपत्वेनैकरूपेणैव शरीरेण सर्व्वप्राणिनां भवितव्यमित्याह—भवन्तीत्यादि । आकृतिः संस्थानम् । रजमसासी अनेकतरतमादिभेदभिनने तथा कर्म्म चानेकथा भिन्नम्, सत्यभिनने सुक्ष्मभृतरूप-कारणे भेदकारणं न भवतीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

अतीन्द्रियेस्तरितसू इसरूपेरात्मा कदाचित्र वियुक्तरूपः। न कर्म्भणा नैव मनोमितिभ्यां न चाप्यहङ्कारिवकारदोषैः॥३६॥ रजस्तमोभ्यान्तु मनोऽनुबद्धं ज्ञानं ७ विना तत्र हि सर्व्वदोषाः। गतिप्रवृत्त्योस्तु निमित्तमुक्तं मनः सदोषं वलवच कर्म्म ॥३७॥

गङ्गाधरः—अथात्मा सदा कर्नुवध्यते चेति तृतीयप्रश्नोत्तरमाह—
अतीन्द्रियेरित्यादि। तैरितस्रक्षमरूपैर्वायविप्राधोधरणीतिचतुर्भूतैः अतीन्द्रियेः सह आत्मा कदाचिन्न वियुक्तरूपः सर्वदैव युक्त इत्यर्थः। नन्न ति किमेतैरेव नान्येयुक्त इत्यत आह—न कर्मणेत्यादि। कर्मणाः धर्मान्धर्माभ्यामात्मा न वियुक्तरूपः। मनोमितिभ्याश्च नैवात्मा वियुक्तरूपः। न चाप्यात्मा अहङ्कारविकारदोपैवियुक्तरूपः। अहङ्कारश्च विकाराश्च पञ्चेन्द्रियाणि च पञ्चार्थाञ्च दोपाश्च तैस्तथा, अपि लात्मा मिश्रातिस्रक्षमपञ्चभूतधरमीन्धर्ममनोचुद्धप्रहङ्कारश्चोत्रादिपश्चवुद्धीन्द्रियपश्चकर्म्मन्द्रियपश्चक्रव्दाद्यर्थदोपैः सदा युक्त इत्यर्थः। ३६।।

गङ्गाधरः—नतु दोषा अत्र किं वातादय इत्यत आह—रज इत्यादि। रजस्तमोभ्यामनुवद्धं मनः सत्त्वसंज्ञकं न तु सत्त्वमात्रम्। नीरजस्तमिस शुद्ध-सत्त्वे मनिस सात्त्विकमहत्तत्त्वरूपा विद्या युद्धिनीम ज्ञानमुद्रिक्तं भवितः तद्दिनाः सन्वेदोषा ज्ञेयाः। तस्याद् वलवत् सदोषं मनो वलवच कम्म पूर्विकृतकम्मजनः धम्मीधम्मीसम्बन्धात्मकृतपञ्चभूतम् एकदेहाद्रतिर्देहान्तरे प्रष्टत्तिर्यो तयो-निमित्तमुक्तमिति तृतीयप्रश्लोत्तरम्।। ३७॥

चक्रपाणिः—आत्मा सदा करेनुवध्यत इत्यस्योत्तरम्। अतीन्द्रियेरित वीजधिर्मारवेनोत्तेः। अहङ्कारविकारा एव दोपाः। अयं सूक्ष्मभृताद्यनुवन्धो मनस एवेत्याह—रज इत्यादि। रज-स्तमोभ्यां मनः सन्वेर्भूतादिभिरनुवद्धं भवति। अत्रैव हेतुः ज्ञानादित्यादि। ज्ञानादिति तत्त्व- ज्ञानात्। तत्त्वज्ञानं विना सनः सन्वेदेपियुक्तं भवति। तत्त्वज्ञानात् तु निर्होपं भवतीत्याह। सदोपत्वे मनसः किं भवतीत्याह—गतीत्यादि। गतिदेहान्तरगमनम्। प्रवृत्तिर्धमाध्यर्भ-कियासु प्रवृत्तिः। सदोपत्वे मनः संसारहेतुर्भवतीति वाक्यार्थः। गतिष्रवृत्त्योहित्वन्तरमाह—वलवच करमेत्यादि। वलवदिति नियमविपाकम्। फलवदिति वा पाठः, तन्नापि स एवार्थः। नियतं करमेपलं करमेवलादेव भवति। अत्र प्रक्षोत्तरेषु यद्धिकमुच्यते गतिष्रवृत्त्योः इत्यादिना, तत् प्रकरणवद्यादेव ज्ञेयम्॥३६।३०॥

झानादिति चकः।

रोगाः क्रतः संश्मनं किमेषां हर्षस्य शोकस्य च किं निमित्तम् । श्रिरासत्त्वप्रभवा विकाराः कथं न शान्ताः पुनरापतेषुः ॥ ३८॥ प्रज्ञापराधो विषमास्तदर्था हेतुस्तृतीयः परिणामकालः । सर्व्वामयानां त्रिविधा च शान्तिर्ज्ञानार्थकालाः समयोगयुक्ताः ॥३६॥ धम्म्याः क्रिया हर्पनिमित्तमुक्तास्ततोऽन्यथा शोकवशं नयन्ति । श्रिरासत्त्वप्रभवास्तु दोषाः ७ तयोरवृत्त्या न भवन्ति भूयः ॥४०

गृङ्गाधरः—अतः परं विकृताङ्गमसवमसङ्गेन विकारादीन पृच्छति,—रोगा इत्यादि । कृतो हेतो रोगा विकारा धातुवैपम्यरूपा भवन्तीत्येकः प्रशः । पूर्वं वेदनाहेतुमश्रः कृतस्तेन गर्भस्थस्य रोगहेतुमश्रासिछेनं पुनरुक्तः । श्लोकस्थानं काल्बुद्धीन्द्रियार्थानामित्येतेनोक्तो व्याधिहेतुनांत्रिवेशपृष्टः, परन्तु तत्रकारेणोक्तः । इत्येतत्मकारेण भिन्नभिन्नतान्न पुनरुक्तदोषः । एपां रोगाणां कि संशमनम् इति द्वितीयः प्रशः । हर्पस्य शोकस्य च कि निमित्तम् इति तृतीयः प्रशः । शरीरसत्त्वप्रभवाः शारीरा मानसाश्च विकाराः शान्ताः सन्तः क्यं पुनर्नापतेयुन्गिच्छेयुरिति चतुर्थः प्रशः ॥ ३८ ॥

गङ्गाधरः—क्रमेणेपामुत्तराष्याह—प्रज्ञापराध इत्यादि। प्रज्ञापराध एकः।
विपमास्तदर्थास्तेपां प्रज्ञाहेतुनां श्रोत्रादीनामर्थाः शब्दादयः पश्च, विपमा अयोगातियोगमिथ्यायोगयुक्ता द्वितीयः। परिणामकालः कालपरिणामः पड्टुबहोरात्रपूर्विकृताशुभक्तम्मस्यभावरूपरतृतीयः। सर्व्यामयानां हेतुः। इति रोगाः कुत
इत्यस्योत्तरम्। अथ सर्व्यामयानां त्रिविधा शान्तिः का त्रिविधेत्यत आह—
ज्ञानत्यादि। ज्ञानं बुद्धिरथेः शब्दादिः कालः परिणामस्ते समयोगयुक्ताः इति
त्रिविधा सर्व्यामयानां शान्तिः। इति संशमनं किमेपामित्यस्योत्तरम्॥ ३९॥
गङ्गाधरः—हर्पस्य शोकस्य च किं निमत्तमत्यस्योत्तरमाह—धम्मर्या

चक्रपाणिः—'रोगाः कुतः' इत्येकः प्रश्नः । 'संशमनं किम्' इति द्वितीयः । 'हर्पस्य किं निमित्तम्' इति नृतीयः । 'शोकस्य किं निमित्तम्' इति चतुर्थः । शरीरसत्त्वप्रभवा विकाराः कथं न शान्ताः पुनरापतेयुः' इति पञ्चमः । एवं संप्रहवक्ष्यमाणं पट्त्रिंशकं प्रश्नानां पूर्व्यते ॥ ३८ ॥

चक्रपाणिः—प्रज्ञापराधादयः प्रकरणवक्षात् पुनरुच्यन्ते । परिणामकाल इति कालपरिणाम इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

चक्रपाणिः-धम्म्या धम्मसाधनाः, ताथ हर्षकारणधम्मकर्तु त्वेन कारणं भवति । ततोऽन्य-

^{*} दोपा इत्यत्र रोगा इति चकः।

3838

रूपस्य सत्त्वस्य च सन्तितयां नोक्तस्तदादिनं हि सोऽस्ति कश्चित् तयोख्नितः क्रियते पराभ्यां धृतिस्पृतिभ्यां परया धिया च ॥४१ इत्यादि। धम्म्या धम्मार्थाः क्रिया हपस्य निमित्तग्रुक्ताः। ततोऽन्यथा धम्म्ये क्रियातोऽन्यथा अध्मस्याः क्रियाः शोकवर्गं नयन्ति । इति हपेस्य शोकस्य न किं निभित्तमित्यस्योत्तरम् । अथ शरीरसत्त्वप्रभवाः शरीरप्रभवा दोपा वातिपत्त कफाः, सत्त्वप्रभवा मनःप्रभवा दोपा रजश्च तमक्चेति पश्च शारीरमानसा दोपा स्तयोः शारीरदोपमानसदोषयोरहत्त्या वर्त्तनाभावेन भूयः पुनर्न ते शारीर मानसद्गेपजा रोगा भवन्ति ततो न च पुनर्जन्म भवति॥ ४०॥

गङ्गाधरः-ननु किं तर्हिं सर्व्यामेव शारीरमानसदोपाणामवर्त्तनेन पुनः कल्पान्तरेऽपि न भविष्यतीत्यत आह—रूपस्येत्यादि। रूपस्य रूप्यते यत् तद् रूपं शरीरं तस्य। सत्त्वस्य मनस्थ। सन्तिनिरपरापरत्वेन सन्तानप्रतानं या तदादि-स्तस्या आदिईतुनौक्तः। कुत इत्यत आह—न हीत्यादि। हि यस्मात् स शरीर-कस्यचिद्धम्मवशात् शरीरसत्त्वदोपाष्टत्या शरीरसत्त्वमभवा रोगा न भूयो भवन्ति। न तु सर्वेषां युगपदिति भावः। नतु शरीरसत्त्वदोषाष्ट्रिः कुतः स्यादित्यत आह—तयोरित्यादि। तयोः शरीरसत्त्वदोपयोरष्टित्तरसद्भावः पराभ्यामृत्-कृष्टाभ्यां धृतिसमृतिभ्यां चित्तस्य केवलब्रह्मात्मदेशवन्धरूपधारणा-ब्रह्मविशेष-रूपमहदादिभावनारूपसमृतिभ्यां परया श्रेष्टया च धिया बुद्ध्या क्रियते, न तु पूर्वाभ्यस्तश्लोकादिवस्तुस्मरणात् आपाततः क्रोधादिधारणात् गोवाह्मणादि-भक्तिशीलया बुद्ध्या तासां पूर्वितनसाधनावस्थिकलात् ॥ ४१ ॥

थित अधम्मर्याः कियाः । तयोरचुत्त्येति शारीरमनसोः सन्तानोत्त्छेदात् । मोक्षे हि शारीरमनसी निवर्त्तेते । ततः सर्व्यथा रोगसन्ताननिवृत्तिर्भवति ॥ ४० ॥

चक्रपाणिः—ननु यद्यस्य निवृत्तिर्भवति, तदादिमद् भवति, तत् किं शरीरमनःसन्ततिरादिमती, येन तस्या निवृत्तिर्वास्तविकी रोगनिवृत्तिकारणमुच्यते द्वायाह— रूपस्येत्यादि । रूपस्य शरीरस्य । रूपं हि शरीरं रूप्यमाणायेन रूपशन्देनोच्यते, यथा-'रूपाद्धि रूपश्रभवः" इत्यत्रोक्तम् । इत्यागमेपु। कुतो नोक्त इत्याह—न हि. सोऽस्तीति। न हि सोऽस्ति स्वभावादेवेति ने.क इत्यर्थः । अथ येयमनादिमती शरीरमनःसन्ततिः, तत् कथं तस्या निवृत्तिरित्याह—तयोरित्यादि । तयोरिति दारीरसत्त्वयोः सन्तन्यसानयोः । पराभ्यामिति श्रेष्टाभ्याम् । धन्याद्यस्तु यथा मोक्ष-कारणम्, तथोक्तं कतिधापुरुषीये। अनादिरिं च शरीरसन्तिर्विथा विनश्यति, तथा च तत्रवोत्तम् ॥ ४१ ॥

सत्याश्रये वा द्विविधे यथोक्ते पूर्व्वं गदेभ्यः प्रतिकर्मानित्यम् । जितैन्द्रियं नानुपतिन्त रोगास्तत्कालयुक्तं यदि नास्ति देवम् ॥४२ देवं पुरा यत् कृतमुच्यते तत् तत् पौरुषं यत् त्विह कर्मा दृष्टम् । प्रवृत्तिहेतुर्विषमः स दृष्टो निवृत्तिहेतुस्तु समः स एव ॥ ४३ ॥

गङ्गाधरः—तत्र पूर्विवस्थायां साधनमाह—सत्याश्रये वेत्यादि। सित द्विविधे यथोक्ताश्रये शरीरे मनसि च गढ़ेभ्यः पूर्वि रोगोत्पक्तेः पूर्वि निन्यं प्रतिक्रम् प्रतिक्रिया यस्य तं प्रतिक्रममेनित्यं तथा जितेन्द्रियं जितसत्त्वसं क्षं जितमनोदोपरजस्तमसं पुरुषं रोगाः शारीरमानसदोपजा व्याधयो नादु-पतन्ति नादुगच्छन्ति। नन्वेवमेत्र पुरुषं रोगाः किं नादुपतन्त्येव किं कदाचिद्रमुपतन्ति वेत्यत आह्—तत्कालेत्यादि। तत्कालयुक्तं तत्काल-परिणतं पूर्विकृतकम्भेजसंस्कारिवशेषधम्मीधम्मीस्पाद्दं यदि नास्ति न वर्त्तते, तदा उक्तं पुरुषं रोगा नादुपतन्त्येव इति दृष्म् ॥ ४२॥

गङ्गाधरः—नज्ञ दैवं किमित्यत आह—दैविमित्यादि । पुरा पूच्चजन्मनि कृतं यत् कर्म्म तद् दैवमुच्यते । यत् तु कर्म्म इह जन्मनि कृतं तत् कर्म्म मानुपं पौरुपं ह्रष्टमुच्यते । स उभयजन्मकृतकर्मजः संस्कारिवशेषः विपषोऽयोगातियोग- विध्यायोगयुक्तश्चेत् तदा पर्यत्तिहेनुः शरीरपरिग्रहार्थकर्मारम्भाय पवर्त्तनं स्यात् । समस्तु समयोगयुक्तस्तु स उभयजन्मकृतकर्मजसंस्कारिवशेष एव निरुत्तिहेतुर्गदोत्पत्ते निर्वृत्तौ हेतुः समयोग एवेति ॥ ४३ ॥

चक्रपाणिः—प्रकारान्तरेण शारीरमानसरोगाणां चिकित्सां शास्त्रे व्यविद्यमाणामाह— सत्येत्यादि—आश्रयशब्देन शरीरमनसी गृह्य ते । पूर्व्व गर्देभ्य इत्यनुत्पन्नेष्वेव रूपेषु । प्रति-कर्मानित्यमनागतचिकित्सानित्यम् । जितेन्द्रियमित्यनेन च रोगहेतुमज्ञापराधासात्म्येन्द्रियार्थ-वर्ज्ञानं दर्शयति, प्रतिकर्मानित्यतया चाशक्यपरिहारकालकृतद्रोपचिकित्सां दर्शयति । तत्काल-युक्तमिति तत्कालावश्यं रोगकर्त्रुत्या पच्यमानम् । एतेन बलवद्देवमवश्यं रोगं ददावीति दर्शयति ॥ ४२ ॥

चक्रपाणिः—प्रकरणाट् दैवाख्यं कर्म तद्नुपङ्गञ्च पुरुपकारमप्याह—दैविमित्यादि। तेन प्रकरणा-ह्यस्यमानतया जनपदोद्दंसनीयोक्तकर्मलक्षणेन समं न पौनरुक्ताम्। पुरेति जन्मान्तरे। इहेति इह जन्मनि। प्रवृत्तिहेतुरिति रोगप्रवृत्तिहेतुः। विपम इति अधर्मस्थपं दैवम्, रोगजनकश्च पुरुपकारः। समस्तु देवं धर्मस्थम्, रोगपरिपन्धी च पुरुपकारः। स इति पुंलिङ्गनिर्देशस्तु हैमन्तिकं दोषचयं वसन्ते प्रवाहयन् योष्मिकमध्यकाले। घनात्यये वाषिकमाशु सम्यक् प्राप्तोति रोगानृतुजान्न जातु छ।। ४४ नरो हिताहारविहारसेवी समीच्यकारी विषयेष्वसक्तः। दाता समः सत्यपरः ज्ञमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः॥ ४५॥ ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे यस्यास्ति तं नानुपतन्ति रोगाः। मितर्वचः कम्म सुखानुवन्धि † सत्त्वं विधेयं विश्रदा च बुद्धिः॥४६

गङ्गाधरः—नतु कथं गदेभ्यः पूर्वे प्रतिकम्मीनत्यः स्यादित्यत आह— हैमन्तिकमित्यादि। हमन्तिकं हेमन्तत्तो दोपसञ्चयं वसन्ते आशु सम्यक् प्रवाहयन् निहिरन्, ग्रैष्मिकं ग्रीष्मकाले दोपसञ्चयमञ्जकाले पाष्टद्काले आशु सम्यक् प्रवाहयन्, वार्षिकं वर्षाकाले दोपसञ्चयं घनात्यये शरदि आशु सम्यक् प्रवाहयन् पुरुषो जातु कदाचिन्न ऋतुजान् रोगान् प्रामोति ॥४४॥

गङ्गाधरः—ननु तर्हि किमाहारिवहारजान रोगान प्रामोतीत्यत आह— नर इत्यादि। हिताहारिवहारसेवी विषयेषु असक्तोऽनासक्तः सन् समीक्ष्य सम्यक् कार्य्याकार्यिहताहितत्तेन कर्त्तेच्यं दृष्ट्वा कर्त्त्रुं शीलं यस्य स समीक्ष्य-कारी, दाता सद्दानशीलः, समः समद्शीं सर्व्वभूतेषु, सत्यपरः सत्यवागादि-क्रियः, समावान, आप्तोपसेवी गुरुद्रद्धसिद्धमहर्ष्यादिसेवी अरोगो भवतीति दृद्म।। ४५।।

गङ्गाधरः—निन्दित्यवंमात्रतोऽरोगाः किं भवन्ति न वेत्यत आह—ज्ञान-मित्यादि । ज्ञानं भावानां तत्त्वज्ञानं तपो योगे तत्परता च यस्यास्ति तं पुरुषं रोगाः कदाचिदपि नाजुपतन्ति उत्तरकाळं नागच्छन्ति । इत्थश्च निष्टस्यर्थं

करमंणि धरमीधरमंरूपतया तथा पुरुपकारस्य प्रत्यवमर्पाज्ञ्यः । अन्ये तु—''प्रवृत्तिहेतुः'' इत्यनेन संसारप्रवृत्तिहेतुरिति, तथा "निवृत्तिहेतुः" इत्यनेन मोक्षहेतुरिति च वर्णयन्ति ॥ ४३ ॥

चक्रपाणिः—अथ कालकृतदोपनिमित्तरोगपरिहारस्य प्रतिकर्माणः कर्त्तस्यतामाह—हैमन्तिक-मित्यादि । वसन्त इति चैत्रे । अअकाल इति आवणे । घनात्यय इति मार्गशीपे । यदक्तम्— ''माधवप्रथम मासि'' इत्यादिना ''प्रवाहयेत्'' इत्यन्तेन यथायोग्यत्या वमनादिनेति ज्ञेयम् ॥ ४४॥

चकपाणिः— हेरिवतररोगाभावकारणमाह—नर इत्यादि । सम इति भूतेषु समिचतः । सुखानु-यन्धमिति लिङ्गविपरिणामात् मत्या व्यसा च योज्यम् । तेन चात्मनः करमीण्युत्तरकालीनसुख-

^{. . 🔅} जन्तुरिति वा पाठः।

^{. . . †} सुखानुबन्धमिति चक्रः।

तत्र श्लोकः। इहामिवेशस्य महार्थयुक्तं पट्त्रिंशकं प्रक्षगणं महर्षिः। अतुल्यगोत्रे भगवान् यथावन्निर्णीतवान् ज्ञानिववर्द्धनार्थम् ॥४७

इत्यित्रवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शारीरस्थाने अतुल्यगोत्रीयशारीरं नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

कर्त्तन्यं यद्यत् तत्तदुपसंहारेणाह—मतिरित्यादि । सुखानुवन्धीति पदं लिङ्गविपरिणामेन सन्वेत्र योज्यम् । तेन सुखानुवन्धिनी चिन्त्यसङ्कल्यादिविपया मतिर्विधेयां, वचश्र सुखानुवन्धि विधेयम्, कर्म्म च सुखानुवन्धि
विधेयम्, सत्त्वं मनश्र सुखानुवन्धि विधेयम्, ऊहापोहादिवृद्धिश्र विश्वदा
निर्म्मेळा सुखानुवन्धिनी च विधेयेति वोध्यम् ॥ ४६ ॥

गृङ्गाधरः—अथाध्यायार्थमुपसंगृङ्गाति—तत्र श्लोक इत्यादि। महार्थं महा-प्रयोजनं प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुलात्। पद्त्रिंशकं प्रक्रनगणम्। अतुल्यगोत्रस्येत्या-दिनैकः प्रक्रनः। सम्पूर्णदेह इत्यादिना पद् प्रक्रनाः। कन्यां सुतं वेत्यादिना नव प्रक्रनाः। कस्माद् द्विरेता इत्यादिनाष्ट्रौ प्रक्रनाः। गर्भस्य सद्योऽनुगतस्येत्या-दिना त्रयः प्रक्रनाः। कस्मात् प्रजामित्यादिना त्रयः प्रक्रनाः। रोगाः कुत इत्यादिना चलारः प्रक्रनाः। इति पद्त्रिंशकं प्रक्रनगणं महिषः पुनर्व्वस्तिम्निः अतुल्यगोत्रे अतुल्यगोत्रीयेऽध्याये॥ ४७॥

अध्यायं समापयति —अमीत्पादि ।

इति वैद्यश्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ शारीरस्थान-जल्पे चतुर्थस्कन्धे अतुल्यगोत्रीयशारीरजल्पाख्या द्वितीयशाखा॥ २॥

फलानि शुभानि गृह्यन्ते । सत्त्वं विधेयं स्वायत्तं मनः । विशदा बुद्धिरिति न कश्मला बुद्धिः । बुद्धिश्चे ह जहापोह्नती विन्नक्षिता । मितस्तु स्मृतिचिन्तादिः । ज्ञानं तत्त्वज्ञानम् । शेपं सुगम-ैमिति ॥ ४५—४७ ॥

इति चरकचतुराननश्रीमचकपाणिदत्तविरचितायामायुर्धेददीपिकायां चरकतात्पर्य्यटीकायाम् शारीरस्थाने अतुल्यगोत्रीयशारीरं नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

[#] अत्र टीकाह्रये पट्त्रिंशत्प्रक्षराणस्य असमञ्जसतयेत्थं विचारितम्। तद् यथा— अतुल्यगोत्रस्येत्यत्रेकः प्रक्षः, सम्पूर्णदेह इत्यत्र पञ्च, कन्यां सुतं वेत्यत्र नव, कस्माट् द्विरेताः इत्यत्राष्टोः, गर्भस्य सद्योऽनुगतस्य इत्यत्र पञ्च, कस्मात् प्रजां स्त्रीत्यत्र त्रयः, रोगाः कृतः इत्यत्र पञ्च। इति पटत्रिंशत्प्रश्नराणः।

तृतीयोऽध्यायः।

अथातः खुड्डीकागर्भावकान्ति शारीरं व्याख्यास्यामः, इतिह स्माह भगवानात्रेयः॥ १॥

पुरुषस्यानुपहतरेतसः स्त्रियाश्राप्रदृष्टयोनिशोणितगर्भा-श्याया यदा च भवति संसर्ग ऋतुकाले यदा चानयोस्तथैव

गृङ्गाधरः—अथ सम्पूर्णदेह इत्यादिषदनोत्तरे शुक्रास्रगात्माशयकालसम्प-दित्यादिना यद्गभीभिनिन्द्र तिरुक्ता, तद् यथा स्यात् तदुपदेष्ट्रं खुड्डीकागभीव-क्रान्तिं शारीरमारभते—अथात इत्यादि । अथोक्तादनन्तरं, खुड्डीकाशन्दोऽल्प-वचनः । गर्भावक्रान्तिमिति लोकान्तरादवाधस्ताद् गर्भावक्रान्तिमधिकृत्य कृतं शारीरमिति तद्धितछिक युक्तवद्वप्रक्तिवचने इति । सर्न्वमन्यत् पून्ववद् न्याख्येयस् ॥ १॥

गङ्गाधरः — पुरुषस्येत्यादि । वातादिकृतशुक्रदोषा अष्टौ वश्यन्ते । तैदाँषै-रतुपहतमदुष्टं रेतः शुक्रं यस्य तस्य पुरुषस्य । योनिशोणितगर्भाशयानां दोषाश्च वश्यन्ते । तैदाँषैनं प्रदुष्टा योनिश्च शोणितश्च गर्भाशयश्च यस्यास्तस्याः स्त्रियाः । एवम्भूतयोः स्त्रीपुरुषयोरपत्योत्पत्तिहेतुक्रम्भापिरिणामे गर्भौ न भवतीति ख्यापनायाह — यदा चेत्यादि । अनयोः स्त्रीपुरुषयोस्तथा-

चक्रपाणिः— पृन्वीध्याये शुक्रशोणिते गर्भकारणत्वेनोक्ते, न तु कृत्सनं गर्भकारणसुक्तम्, अतः सम्पूर्णगर्भकारणाभिधानार्थं खुड्डीकागर्भावकान्तिरूच्यते । खुड्डीकामित्यल्पाम् । गर्भस्यावकान्ति-मेलक उत्पत्तिरिति यावत् ॥ १ ॥

चक्रपाणिः—पुरुपस्येत्यादि । अनुपहतरेतसः इति शब्देनैव पुरुपस्य इति लभ्यते । यतः पुरुपस्यैव रेतसो गर्भजनकत्वमुक्तम् । तेन 'पुरुपस्य' इति पदेन, य एव सम्पूर्णधातुः पुरुपश्चिते वाच्यो वालव्यतिरिक्तः, तं ग्राहयति । 'खियाश्च' इति पदमर्थलव्धं सत् यौवनवतीं खियं लम्भयति । संसर्गो मेथुनम् । ऋतौ पुष्पदर्शने प्रशस्तकाल ऋतुकालः । तेन ऋतुमात्र-मादित्रग्रहं निषेधयति । यतः रजस्वलाभिगमनमलक्ष्मीमुखाणाम् इत्यादिना त्रग्रहं निषेधः । आर्त्तवदर्शनद्य शरदाद्यतुसाधमम्याद् ऋतुशब्देनोच्यते । यथा—ऋतावुष्तानि वीजानि प्ररोहन्ति, तथा आर्त्तवदर्शनद्य ऋतौ शुक्ररूपं वीजमुष्तमिति ऋतुसाधममंगम् । न केवलमेवमम्तः

युक्तयोः संसर्गे तु शुक्रशोणितसंसर्गम् अन्तर्गभोशयगतं जीवोऽवक्रामित सत्त्वसम्प्रयोगात् तदा गर्भोऽभिनिव्वर्त्तते। स सात्मग्रसोपयोगादरोगोऽभिवर्द्धते सम्यग्रपचारैश्चोपचर्यन

युक्तयोरदुष्टयोनिशोणितगर्भाशयानुपहतरेतसोः स्नीपुरुपयोर्युक्तयोन्द्र तुकाले संसर्गे सित अन्तर्गर्भाशयगतं गर्भाशयान्तिनिष्टं शुक्रशोणितसंसर्गं तयोः स्नीपुरुपयोरपत्योत्पित्तहेतुकम्मपिरिणामे तदपत्यस्य च जन्मग्रहणहेतुकम्मपिरिणामे च परस्परसंस्प्रशुक्रशोणितं सत्त्वसम्भयोगात् तदात्मिन नित्यानुन्वन्धस्य मनसो जवेन वायुनाभिषेटर्यमाणो जीवः स्क्ष्मदेहवान् विश्वरूपो भूतात्मा यदावकामित परलोकाद्वाधस्ताज्जन्मक्षेत्रे क्रामित तदा गर्भोऽभिनिच्वेत्ते जायते।

नतु स्तीषु ससंयोगकाले किञ्चिदेव शुक्रशोणितमन्तर्गभाशये संसर्गमेति कथं गर्भोऽभिवद्धते इत्यत आह—स सात्म्येत्यादि। स गर्भः सात्म्यं य आहारसो मातुरात्मना धातुना सहैकीभूत आरोग्याय सम्प्यते, तदाहारः सात्म्यीभूतस्तदुपयोगाद् गर्भेण्या अरोगो निन्धिकारो गर्भोऽभिवद्धते। असात्म्यरसोपयोगात् तु सविकार एव वर्द्धते न सरोग इत्यभिशब्देन ख्यापिन्तम्। तदसात्म्यरसविशेपोपयोगाद् गर्भे स्थितौ चोत्तरकालञ्च रोगवद्भावेन वर्द्धते शरीरमिति। एवं सात्म्यरसोपयोगमात्रादेव किमेवं स्यादित्यत आह—सम्यग्रपचारैरित्यादि। सात्मप्रसद्भव्याणां सम्यग्रपचारैः सात्म्यरसद्भव्याणां

संसर्गरूप एव गर्भकारणम्, किंवा जीवाधिष्टाने सतीत्याह—यदेत्यादि । तथा युक्त इति अदृष्टरेतसः प्ररुपस, अदृष्टयोन्यादेः खियाश्च संसर्गे । अयञ्चार्यः 'पुरुपस्य' इत्यादिनव लब्धोऽपि
पुनः शुक्रतोणितसंसर्गम् इत्यादिग्रन्थे वस्यमाणोऽपि कर्म्मविष्यर्थमन् ते । तेन न पौनरुक्तम् ।
किंवा 'पुरुपस्य' इत्यादिग्रन्थे वस्यमाणोऽपि कर्म्मविष्यर्थमन् ते । तेन न पौनरुक्तम् ।
किंवा 'पुरुपस्य' इत्यादिग पूर्वं, मैथुनात् प्रागनुपहतरेतस्त्वाद्गक्तम्, 'तथा युक्ते च' इत्यनेन
मेथुनसमयेऽपि शुक्रयोन्यादीनामदृष्टिरुच्यते । मैथुनकाले हि ईप्योदिना शुक्रतिः मानात्यः
शुक्रशोणितसंसर्गमिति शुक्रशोणितमेलकम् । 'अन्तः' इत्यनेन प्राप्तः न प्रत्यक्षा गृह्यन्ते, ततो
गर्भस्य निपेधयित । जीवशब्देन चेतनाधातुरातमा, न त्तिविरोधोऽपि मात्रायकारणत्वे नास्तीति
कामतीत्याह—सत्त्वेत्यादि । सत्त्वसम्प्रयोगादिति मनोगा। पुत्रकामाः पुत्रानेव जनयेयुः, दृहिनुकामा
मनसा तस्य निर्दिशन्ति मनःकियाः'' इति । यद्यप्यातम् त्र मैथुनमापद्यमाना एव स्त्रियः पुरुपाश्च न
यत्रास्य कामवशाज्यनो याति, तत्रिव चेतन्योपलब्धेरात्म् यदेवेच्छन्त्यपत्यम्, तदेव मैथुनमापद्यअयवमुत्पक्षो गर्भः कथमभिवर्द्दते, कथं वा जायत इत्याः परिदेवेरित्रत्यर्थः ॥ ४१५॥

सागाः। ततः प्राप्तकालः सद्ये न्द्रियोपपन्नः परिपूर्णसर्वः-शरीरो वलवर्णसत्त्वसंहननसम्पदुपेतः सुखेन जायते ससुदाया-देषां भावानाम् ॥ २ ॥

मातृजश्चायं गर्भः पितृजश्चात्मजश्च सात्म्यजश्च रसज-श्चास्ति च सत्त्वसंज्ञमौपपादुकसितिहोव।च भगवानात्रेयः॥३॥

कालसम्पन्नगुणानां मात्रया काले समयोगेनाभ्यवहारै विहाराणाश्च शयनासना-दीनां समयोगेनाचरणैरुपचर्यमाण आचर्यमाणः स गर्भः तत् प्रसिद्ध-कालं प्राप्तः सन्वे निद्वयोपपन्नः परिपूर्णसन्वीङ्गावयवो वलवर्णसत्त्वसंहननसम्प-दुपतः सन् एषां मात्रादीनां भावानां समुदायात् मुखेन जायते न लेकेकस्मादेपां भावानामिति प्रतिज्ञा । असम्यग्रपचारैस्तूपचर्यमाणोऽप्राप्तकालोऽसर्व्वे निद्वयोप-पन्नोऽपरिपूर्णसन्वीङ्गावयवो वलवर्णसत्त्वसंहननसम्पद्पेतः कृष्कुण जायते । इति चार्थप्राप्त्या लभ्यतेऽर्थः ॥ २ ॥

गङ्गाधरः — के भावास्ते येपां समुदायाद् गर्भो जायत इत्यत आह— मातृजश्रायिमत्यादि। सातृशब्देनाप्रदुष्ट्योनिशोणितगभाशया स्त्री पितृ-शब्देनानुपहतरेताः पुमानिभधीयते। सत्त्वं सन औपपादुकमात्यनः शरीर-ग्रहणे साधकतमत्वेनोपपत्तिकरम् इति। इतिह पारम्पय्योपदेशम्॥ ३॥

प्राप्तकाल इति प्राप्तप्रसवकालः प्रसवकालो नवमदशममासौ। परिपूर्णशरीर इति अन्यङ्गोप-चितदेहः। सम्पच्छन्दो बलादिभिः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। समुदायादिति सम्यड्मेलकात्। 'पुपाम्' इत्यनेन पुरुपस्येत्यादिग्रन्थोक्तान् रेतआर्त्तववीजसत्त्वसात्म्यरससम्यगुपचारान् प्रत्यव-मृशति॥ २॥

चक्रपाणिः—एतदेव समुदायप्रभवत्वं गर्भस्य प्रत्येकं मात्रादिगर्भकारणमुत्पादनेन दर्शयनाह— मानुजेइरादि.। सात्भ्यज्ञचेत्यत्र सात्भ्यशब्देन रसव्यतिरिक्तं रूपादि, उपचाराच सात्भ्या प्राह्माः। सात्भ्यरसस्तु प्रह्मित्वेव गृहीतः। औपपादकमिति आत्मनः शरीरान्तर-सम्बन्धोत्पादकम्। एतच व्याकृतमेव पृद्ध् । तत्र यद्यपि 'पुरुपस्यानुपहतरेतसः' इत्यनेन पितेव प्रथममुक्तः, तथापि मानुप्रथमतां दर्शयितु 'मानुजश्चायम्' इति प्रथमं कृतम्। अत्र माता च गर्भे प्रधानं कारणम्; येन आसेकात् प्रसृतिभसवपर्य्यन्तं मानुरेव गुणदोपावत्र विद्धाति गर्भः। प्रथमतस्तु पुरुपस्य मैथुनस्वातन्त्रपात् तथा शरीरधारकप्रधानास्थिकारणत्वाचायेऽभिधानं कृतम्॥ ३॥ नेति भरद्वाजः। किं कारणम् ? न हि माता न पिता नात्मा न सात्मां, न त्वन्नपानभच्यलेह्योपयोगा गर्भं जनयन्ति, न च परलोकादेत्य गर्भं सत्त्वसंज्ञकमवकामित ॥ ४ ॥

यदि हि मातापितरौ गर्भं जनयेताम्, भ्यस्यश्च स्त्रियः पुमांसश्च भ्यांसः पुत्रकामाः ; ते सर्व्यं पुत्रजन्माभिसन्धाय मैथुनमापद्यमानाः पुत्रानेव जनयेथुर्दु हितूर्वा दुहितृकामाः । न च काश्चित् स्त्रियः केचिद्वा पुरुषा निरपत्याः स्युरपत्यकामाश्च परिदेवेरन् ॥ ५ ॥

गुङ्गाधरः—भगवदात्रेयस्येमां प्रतिज्ञां श्रुता भरद्वाजः कुमारशिरा नेत्युवाच।
गर्भो मात्रादिभ्यो जायत इत्येवं न। तत्र पद्माः—िकं कारणिमिति। तत्र
कारणमाह—न हीत्यादि। हि यस्मान्माता न गर्भ जनयति न पिता नात्मा
न सात्म्यं, नान्नपानभक्ष्यलेह्योपयोगाश्च गर्भ जनयन्ति, न च सत्त्वं परलोकादेत्य गर्भमवक्रामतीति ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः — कस्मादेविमत्यत आह—यदि हीत्यादि। हि यसात् पुत्रकामा इत्यस्य स्त्रियः पुमांसक्ष्वेत्युभयाभ्यायन्वयो यथालिङ्गं चकारेण ज्ञापितः। अपत्यकामाः परिदेवेरन् मधुनं गच्छेयुः स्त्रियः सर्व्वाः पुमांसश्च सर्व्वे न च काश्चित् स्त्रियः पुरुषा वा केचिन्निरपत्या न स्युरिति। दृश्यन्ते हि वह्नाः स्त्रियः पुमांसश्च वहवोऽपत्यकामा मैथूनं गता निरपत्यास्तरमान्न माता न पिता गर्भ जनयति॥ ५॥

चक्रपाणिः—पूर्व्वपक्षोद्वारेण सिद्धान्तं प्राहियतुं मात्रादिकारणानामकारणत्वं भरद्वाजः प्रतिजानीते—नेतीति। यदि हीत्यादिना, मात्रादोनामकारणत्वं हेतुं व्रते; किंवा अनेनैव मात्रादीनामकारणत्वं भरद्वाजेन प्रतिज्ञातम्; 'तत् किं कारणम्' इति हेतुप्रश्नः। ततः 'न हि माता'
हत्यादि हेतुकथनम्; अस्य चायमर्थः—यतो मात्रादयो गर्भकारणत्वं न प्रत्यक्षा गृह्यन्ते, ततो
न मात्रादयो गर्भकारणम्; यदि हीत्यादिना तु उपपत्तिविरोधोऽपि मात्राद्यकारणत्वे नास्तीति
दर्शयति; तेन न पौनरुक्तरम्। मैथुनधम्मी व्यवायः। प्रत्रकामाः प्रत्रानेव जनयेयुः, इहितृकामा
इहितृवी जनयेयुरिति योजना। न तु काश्चित् स्त्रिय इत्यत्र मैथुनमापद्यमाना एव स्त्रियः पुरुपाश्च न
परिदेवरेन् वेति योजना। मातापित्रधीनत्वेन गर्भस्य यदैवेच्छत्त्यपत्यम्, तदैव मैथुनमापद्यमानाः सापत्याः स्यः; ततश्च सर्व्वापत्यत्वे न केचित् परिदेवरित्तत्वर्थः॥ ॥ ॥ ॥

न चात्मात्मानं जनयति । यदि ह्यात्मात्मानं जनयेत् जातो वा जनयेदात्मानमजातो वा जनयति, तच्चोभयथाप्ययुक्तम् । न हि जातो जनयति सत्त्वात्, न चैवाजातो जनयेत् सत्त्वात् कः, तस्मादेषोभयथाप्यनुपपत्तिस्तिष्ठतु । अथ तावदेतद् यद्यय-यात्मानं शक्तो जनयितुं स्यात् न त्वेनिसष्टास्वेव कथं योनिषु जनयेत् विश्वनमप्रतिहतगतिं कामरूपिणां तेजोवलवर्णसत्त्व-संहननसमुदितमजरमरुजममरमेवंविधंह्यात्मात्मानिमच्छन्नित्यतो वा भूयः ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—तर्षः चात्मा गर्भं जनयेदित्यत आह— न चात्मा आत्मानं जनयन्ति। कथमित्यत आह—यदीत्यादि। हि यस्मात्। आत्मा यद्यात्मानं जनयेत् तदायं प्रशः—आत्मा जातो चात्मानं जनयेदजातो चात्मानं जनयेदिति। तचोभयथानुपपन्निमिति दर्शयति— न हीत्यादि। हि यस्मादात्मा जात आत्मानं न जनयति, सत्त्वात् सद्भावादस्ति हो चात्मा नास्ति चात्मनो जन्मेति। तर्षः चाजातो जनयति चित्, तद्प्ययुक्तम्। कस्मात् १ न चैवाजातो जनयति सत्त्वात्। आत्मा सत्त्वादजातः कथं पुनः सन्तमेवात्मानं जनयेदिति १ सतो जन्मासम्भवादिति। तस्मादेषा योभयथानुपपत्तिः सा तिष्ठत् । अपरश्च तावदंतत्। किं ताव दित्यत आह—यद्ययमित्यादि। अयमात्मा यद्यात्मानं जनयितुं शक्तः स्यात् तदा त्वेनमात्मानं न कथमिष्टासु योनिषु जनयेत्। विश्वनिमत्येवमादिश्चात्मान-मिच्छन्नतो भूयो रूपं वेच्छन् न कथमात्मानं जनयेदिति। दश्यते चान्यथा। तस्मादात्मा गर्भं न जनयतीति॥ ६॥

चक्रपाणिः—आत्मजत्वं गर्भस्य निपेधयति—न चात्मेत्यादि । आत्मानं न जनयतीत्यर्थः । सत्त्वादिति जन्यसात्मनो विद्यमानत्वात्, न च विद्यमानो जन्यते इत्यर्थः । असत्त्वादिति कारण-भूतस्यात्मनोऽजातपक्षेऽसत्त्वाद्य कारणत्त्वमुपपन्नमित्यर्थः । अत्रैव दूपणान्तरमाह—तिष्टत्वित्यादि । योनिष्विति जातिषु ; अतो वा भूय इति यथोक्त्राणयुक्ताद्रप्यधिकं शकादिपरमद्भितुल्यम् इत्यर्थः ॥ ६ ॥

^{. *} ज्ञनयस्यसत्त्वात् इति चक्रः ।

श्रसात्म्यजश्रायं गर्भः। यदि हि सात्म्यजः स्यात् तर्हि सात्म्यसेविनामेवैकान्तेन व्यक्तं प्रजा स्यात्। श्रसात्म्योपसेविनश्र निखिलेनानपत्याः स्युस्तचोभयमुभयत्रेव दृश्यते॥ ७॥

न रसजश्चायं गर्भः। यदि हि रसजः स्यान्न केचित् स्त्रीपुरुषेष्वनपत्याः स्युर्न हि कश्चिद्रस्त्येषां यो रसान् नोपयुङ्क्ते। श्रेष्ठरसोपयोगिनां चेद्गर्भा जायन्ते इत्यभिश्रेतम्, इत्येवं सति श्राजौरभ्र-मार्गमायूररस-गोचीरद्धिघृत-मधु-तैल-सैन्धवेचुरस-मुद्गशालिभृतानामेकान्तेन प्रजा स्यात्। श्यामाकवरकोद्दालक-कोरदूषककन्दमूलभच्याश्च निखिलेनानपत्याः स्युस्तचोभय-मुभयत्रेव दृश्यते॥ =॥

गङ्गाधरः—सात्मत्रश्चानादिकं गर्भं जनयतीति चेत्, तदिष न युक्तम्, कथ-मित्यत आह—असात्मत्रज्ञथायं गर्भ इति । कस्मान्नायं गर्भः सात्मत्रज इत्यत आह—यदि हीत्यादि । तत्र व्यभिचारं दर्शयति । तचोभयमित्यादि । तचोभय-मुभयत्र दश्यते । सात्म्यसेविनोऽषि निरपत्याः केचित्, केचित् सापत्याः ; असात्म्यसेविनश्च केचित् सापत्याः, केचिन्निरपत्या दश्यन्ते ; तस्मान्न सात्म्यज्ञश्चायं गर्भ इति ॥ ७॥

गङ्गाधरः—रसजश्रायं गर्भ इति चेत्, तत्रोच्यते—न रसजश्रायं गर्भ इति। कथं न रसज इत्यत आह—यदि हीत्यादि। एपां मध्ये यो जनो रसान् नोप- युङ्क्ते ताद्दशः कोऽपि नास्ति, कथं ति निरपत्याः स्युः १ सन्वे एव सापत्या भवेयुरिति। तत्र रसशन्देन श्रेष्ठरसञ्चे द्विवक्ष्यते ति च च च च सापत्याः प्रुष्टा एकान्तेन सापत्याः स्युनं निरपत्याः स्युः। दृश्यन्ते च केचित् सापत्याः केचित् निरपत्याः इति। अश्रेष्ठरसञ्चामाकादिभक्ष्याश्च निखिलेनानपत्या न दृश्यन्ते, दृश्यन्ते च केचित् सापत्याः केचित् रपत्या इति तदुभयमुभयत्र दृश्यते इति॥ ८॥

चक्रपाणिः—त्वाभयमिति सप्रजत्वमनपत्यत्वद्य। उभयप्रेति सात्म्यसेविन्यसात्म्यसेवि-न्यपि। यो तसान् नोपयुक्ते इति रसक्षेत् गर्भकारणम्, तद्य सर्वे एव स्त्रीपुरुषाः

न खल्बिप परलोकादेल सत्त्वं गर्भमवक्रामित । यदि हि एनसवकामेन्नास्य किञ्चिदेव पौर्व्यदेहिकं स्याद्विदितसश्रुत-सहण्टं वा। स च तच किश्चिद्पि न स्मरित तस्मादेवैतद ब्रू सहे । अमातृजश्चायं गभों ऽिएतृजश्चानात्मजश्चासात्म्यजश्चा-्रसंजश्च न चास्ति सत्त्वसौपपादुकिमितिहोवाच अरदाजः॥६॥

नेति सगवानात्रेयः। सर्व्वेश्य एभ्यो भावेभ्यः समुद्धितेभ्यो-ऽिसनिव्वेत्तीते गर्भः। मातृजश्चायं गर्भः, न हि मातुर्विना गर्भोप-

गङ्गाधरः-अथास्ति च सत्त्वमौपपादुकमिति यदुक्तं तद्प्ययुक्तम्। क्रथमित्यत आह—न खल्वपीत्यादि। न खळु सत्त्वसंग्रकं परलोकादेत्य गर्भमवक्रामित । कस्पादित्यत आह—यदि हीत्यादि । हि यस्पाद् यदि सत्त्व-मेनं गर्भमवक्रामेत्, तदास्य पुरुपस्य पौर्व्ददेहिकं किश्चिदविदितमश्रुतमहण्टं चा न स्यात्। किन्तु स किञ्चिद्पि न स्मरति। तस्यादित्यादि निगमनम्।। ९।।

गङ्गाधरः - इति यद्भरद्वाज ज्वाच तत्रोत्तरमाह - नेति भगवानात्रेय इति। कस्माद्धरद्वाजवचनं न ? तदाह—सर्व्वभ्य इत्यादि। प्राक् प्रतिकातमेषां भावानां समुदायाद् गर्भो जायते इति । तस्मादेभ्यो मात्रादिभ्यः सर्व्यभ्यः समुदितेभ्यो भावेभ्यो नर्भोऽभिनिन्वर्त्तते, न त्वेकैकस्मात्। तस्मान्मातृजश्रायं

सेवन्ते । तेन सर्व्व एव सापत्याः स्युरिति भावः । अय रसजो गर्भ इत्यस्य 'श्रेष्टरसः' इत्यर्थी वर्ण्यते, तन्नापि दूपणान्तरमाह—श्रेष्टमित्यादि ॥ ७।८॥

चक्कपाणि:- "अस्ति च सत्त्वमोपपाइकम्" इति यदुक्तम्, तद् दूपयति-न खल्वपीत्यादि । पोर्व्वदेहिकमिति पूर्व्वदेहानुमूतम्। अविदितमदृष्टं चेति इह अन्मनि पूर्व्वदेहानुमूत नाविदितम् ः अदृष्टं वा स्यात् । विदितं प्रत्यक्षन्यतिरिक्तप्रमाणोपरुष्धम् । दृष्टं प्रत्यक्षोपरुष्धम्, एतद्विपर्य्ययात् अविदितमदृष्टञ्च विज्ञेयम् । न च किञ्चिद्पि सारतीति न च पूर्विजन्मानुसूतं सारतीत्यर्थः । एवं मन्यते - यन्मनः पौर्व्वदेहिकमनुभवति, तच्चेह जन्मन्यप्यनुवर्त्तते, यथा यत् तेन जन्मान्तरानु-मूतम्, तदिह जन्मन्यपि तथैव सारति। यथा-देवदत्तो वाल्यानुभूतं यौवने सारति, न चायं तथा सारति । तेन न पूर्वापरजन्मन्येकं सत्त्वमिति । तसादित्यादिना दूपणदूपितमत्यर्थं पुनर्निगमे दर्शयति ॥ ९ ॥

्र चक्कपाणिः भरद्वाजानुमतम् आत्रेयवचसा दूपयति नेतीत्यादि । समुदितेभ्य इति वचनात् प्रत्येफं ,सात्राद्वीनामितरकारणनिरपेक्षाणां गभंकारणत्वं निषेषयति । तेन मात्रादिसानिध्येऽपि

पत्तिः स्यात्, न च जन्म जरायुजानाम्। यानि तु खल्वस्य गर्भस्य मातृजानि यानि चास्य मातृतः सम्भवतः सम्भवन्ति तान्यनु-व्याख्यास्यामः। तद् यथा—त्वक् च लोहितञ्च मांसञ्च मेदश्च नाभिश्च हृदयञ्च क्लोम च यक्त्च क्लोहा च वृक्लो च वस्तिश्च पुरीषाधानञ्चामाशयश्च पक्ताशयश्चोत्तरग्रदञ्चाधरग्रदञ्च चुद्रान्त्रञ्च स्थूलान्त्रञ्च वृषा च वृषावहन्द्रचेति मातृजानि ॥ १०॥

गर्भः, न पित्रादिकारणमन्तरेण। यद्यमातृजश्चायं गर्भ इत्युच्यते, तिह किञ्चः ? न हि मातृ के ते गर्भस्य धारणादुप्रपित्तः स्यात्। अपरश्च जरायु-जानां जन्म च न मातृ के ते स्यात्। करमादित्यत आह—यानि ितत्यादि। यानि खल्वस्य गर्भस्य जरायुजस्य जातोत्तरकाळं मातृजानि मातृरार्त्तव-पकृतीनि। यातृतः सम्भवतोऽस्य गर्भस्य यानि मातृशोणितात् सम्भवन्ति तान्यनुव्याख्यास्याम इति ; तद् यथा लिगत्यादि। वपा हृद्यस्थमेदः। नैतानि पितृतो वाहाररसतो वा जायन्ते।। १०।।

गर्भकारणान्तरजीवावकमाद्यमावाद् गर्भानुत्पादो युक्त एव ! न च सामग्रीजन्ये कार्य्य एकदेशस्य अजनकत्वेनाकारणत्वम् । एवं सित तन्त्नामिष पटकारणानां कारणान्तरासान्निध्ये पटाजनकत्वेन अकारणत्वं स्थादिति भावः । इदमेव मात्रादिजन्यत्वं गर्भस्य यत्—मात्रादिव्यतिरेकेणानुत्पाद्यमान्तम् । एवंविधमेव मातुस्तावत् कारणत्वमाह—'मातृजश्चायं गर्भः' इति । गर्भोत्पत्त मातुः कारणत्वं दर्शयित्वा जरायोरिष जन्मिन कारणत्वमाह—जन्मेत्यादि । जरायुरमरा, येन वेष्टिता मनुष्याद्यः प्रजायन्ते । जरायुणा वेष्टिता जायन्ते इति जरायुजा मनुष्याद्यः । संस्वेदजानां मशकादीनाम् उद्घिजादीनां भेकादीनाञ्च मातरं विनाषि जन्म भवति । अण्डजानामिष् च यद्यपि माता कारणं भवत्वेव जन्मिन, तथापि जरायुजमानुपस्येह प्रकरणेऽभिन्ने तत्वेनाण्डजान् विहाय जरायुजानाम् इति कृतम् । किंवा जरायुजस्याभिन्यक्तिरूपे जन्मिन यावदभिन्यक्ति यथा माता कारणं भवति, न तथा अण्डजे । तत्र हि जन्मादावण्डोत्पत्तिः । तत्रेव हि माता कारणम्, न जन्मन्यभिन्यक्तिरूपे । यत् तु 'पितरं विना न जरायुजानां जन्म' इति वक्ष्यति, तत् जरायुजोत्पावे पितुरवश्यापेक्षणीयत्वोपदर्शनार्थम् । अण्डजास्तु मत्त्यादयः पितरं विनापि ऋतुविशेपप्राप्तेवव भवन्तीति भावः । मातृजानीत्यस्य विवरणम्—यान्यस्य मातृतः सम्भवतः सम्भवन्तीति । सम्भवतो गर्भस्य यानि मातृत इति मातुरागतात् शोणितात् सम्भवन्त्युत्प- धन्ते, तानि मातृजानि त्वगादीनि अनुन्याख्यास्यास्याम् इति योजना । एवमन्यत्रापि यानि त्वत्यादि-

पितृजश्चायं गर्भः। न हि पितृज्यं ते गर्भोत्पत्तिः स्यान्न च जन्म जरायुजानाम्। यानि खल्वस्य गर्भस्य पितृजानि यानि चास्य पितृतः सम्भवतः सम्भवन्ति तान्यनुव्याख्यास्यामः। तद्यथा—केश्रसभ्रुनखलोमदन्तास्थिशिरास्नायुधमन्यः शुक्र-मिति पितृजानि ॥ ११ ॥

आत्मजश्रायं गर्भः। गर्भात्मा ह्यन्तरात्मा यस्तमेनं जीव इत्याचच्यते।शाश्वतमरुजमजरममरमच्चयमभेद्यमच्छ्रेद्यमलोड्यं विश्वरूपं विश्वकर्माग्रामव्यक्तमनादिमनिधनमचरमपि। स गर्भाश्यमनुप्रविश्य शुक्रशोगिताभ्यां संयोगमेत्य गर्भत्वेन जन-यत्यात्मनात्मानम्, आत्मसंज्ञा हि गर्भे, तस्य पुनरात्मनो जन्म

गृङ्गाधरः—ति पितृजश्चायं कथं स्यादित्यत आह—पितृजश्चायिमत्यादि । यानि तु खल्वस्य पितृतो जातस्य गर्भस्य पितृजानि जायमानस्य च यानि तेपाश्च जन्म न स्यादिति । तानि केशादीनि पितृशुक्रजानि न च मातु-रात्त्वजान्यथवाहाररसजानि ॥ ११ ॥

गृङ्गाधरः—कथमात्मज इत्यत आह—आत्मजक्चेत्यादि। योऽन्तरात्मा स गर्भस्यात्मा तमेनमन्तरात्मानं जीव इत्याचक्षते। योऽयं जायते स जीवतीति। किं जीव इत्यत आह—शाश्वतमिति। एष ह्यशाश्वतो मरणशीलतात्। सोऽन्तरात्मा शुक्रशोणिताभ्यां सह आत्मानं स्वमेव गर्भत्वेन गर्भरूपेण जनयति। कुतो गर्भस्यात्मलमित्यत आह—आत्मसंद्या हि गर्भे इति। हि

ग्रन्थो व्याख्येयः । मातृज्ञत्वञ्च त्वगादीनामागमगम्यमेव । पुरीपाधानं पकाशयः, उत्तरगुदाधरगुदौ गुदोत्तराधरभागौ, वपावहनं तैलवर्त्तिकेति ख्यातम् ॥ १० ॥

चक्रपाणिः—शुक्रमिति विच्छिय पाठेन, शुक्रस्य सर्व्वधातुसारस्रोपादेयतां दर्शयति ॥ १ ॥ चक्रपाणिः—आत्मज इत्यादिना आत्मजत्वं च्युत्पादयति ; 'अन्तरात्मोच्यते' इत्यनेन, गर्भ-कारणसूतमात्मानं पड् धातुससुदायवद 'आत्म'शब्दाभिधेयाद् व्यावर्त्तयति ; आचक्षत इति आगमेपु ; शाश्वतादिशब्देव् वते चृद्धाः, अलोड्यमित्यलोभ्यम् ; गर्भत्वेन जनयत्यात्मानमिति गर्भस्यरूपो यः पद्धातुरात्मा, तं जनयतीत्यर्थः ; गर्भस्यात्मशब्दाभिधेयतामाह—'आत्मसंज्ञा हि गर्भे' इति ;

श्रनादि-सत्त्वान्नोपपचतै। तस्माद्जात एवायमजातं गर्भं जनयति जातोऽप्यजातं च गर्भं जनयति । स चैव गर्भः कालान्तरेगा वाज्ञयुवस्थविरभावानवानोति । स यस्यां यस्यामवस्थायां वर्त्ततै तस्यां तस्यां जातो भवति, या त्वस्य पुरस्कृता तस्यां जनिष्यमाण्थ । तस्मात् स एव जातश्राजातश्र युगपद्भवति तिसमंश्चैतद्भयं सम्भवति जातत्वञ्चैव जनिष्यसाण्तिश्च। स जातो जन्यते । स चैवानागतैप्ववस्थान्तरेप्वजातो जनयति श्रात्मनात्मानम्। सतो ह्यवस्थान्तरगमनमात्रमेव हि जन्म चोन्यते यसात् गर्भे गर्भाशये गर्भस्यात्मसंशा स्वसंशा। नच्च तहि किमात्मा जात इत्यत आह—तस्य पुनरित्यादि । तस्यात्मनः पुनस्तस्यात्मनस्तु जन्म नोप पद्यतेऽनादिसत्त्वात् अनादित्त्वात् सत्त्वाच । तस्माज्जन्मानुपपत्तितः स आत्मा अजात एवाजातं गर्भ जनयति। इति तु न चैवाजातो जनयति सत्त्वादित्यस्योत्तरम्। न हि जातो जनयति सत्त्वादित्यस्योत्तरमाह—जातोऽण्य-जातमित्यादि। जातोऽयमात्मा खमेव जातं गर्भ जनयति। स चाजात एवात्मा गर्भौ गर्भतावस्थामापनः। वालेत्यादिस्थूलावस्थापदर्भनं शिष्याणां स्फुट-योधार्थम्, वस्तुतः मतिक्षणमवस्थान्तरं मामोति शीघगतस्यभावेन क्षणभङ्गलात् जगतः। यस्यां यस्यां वाल्ययोवनादौ तस्यां तस्यां वाल्ययोवनादौ, या तु अस्य जातस्य या लबस्था पुरस्कृता अग्रे कृता आगामिनी, तस्यामबस्थायां स वालो वा युवा वा जनिष्यमाण इति, तस्मात् स वालो वाललेन जातश्च युवलादिना तु अजातश्चेति युगपज्जातसमजातसञ्च इत्युभयं तस्मात् तस्मिन् वालं एत-ज्जातलं जनिष्यमाणलञ्चैतदुभयं सम्भवति, स च वालो जातः क्रमेण युवा जन्यते जायते आत्मना तूत्पाद्यते इति द्वार्थः। कथं जातो जन्यत इत्यत आह— स चैंबेत्यादि। स एव च वालोऽनागतेषु भविष्यतुसु युवस्थविरादिभावेषु अवस्थान्तरेषु आत्मानमात्मना जनयति स्वेनैव स्वं युवादिकं जनयति। प्तस्येत्यनेन परमात्मानं न जनयति ; तस्यानादित्वाज्ञन्म नोपपद्यते तस्याद्जात एवायम अजातं गर्भः जनयतीति पक्षोऽत्र योज्यः। अथाजातः सन् गर्भावस्थरूपो जात उच्यते ; एवमजांतरवं जातत्वज्ञात्मनि द्वयमपि न्यपदिश्यते । एतदेवात्मनि जातत्वमजातत्वज्ञ दशीयतुः ष्ट्रप्टान्तार्थं गर्भ एव जातत्वमजातत्वं दर्शयति—स चैवेत्याक्षि । पुरस्कृतेत्यग्रे भविष्यन्ती ।

तत्र तत्र च वयसि तस्यां तस्यामवस्थायाम् । यथा—सतामेव शुक्रशोणितजीवानां प्राक् संयोगाद्यर्भत्वं न भवति। संयोगाद्भवति । यथा सतस्तस्यैव पुरुषस्य प्रागपत्यात् पितृत्वं न भवति तचापःयाद्भवति । तथा सतस्तरयेव गर्भस्य तस्यां तस्यासवस्थायां जातत्वमजातत्वश्चोच्यते ॥ १२ ॥

न तु खलु गर्भस्य सातुर्न पितुर्नात्मनः सर्व्यभावेषु यथेष्ट-कारित्वमस्ति। तै किञ्चित् स्वयशात् कुर्व्यन्ति किञ्चित् कर्म-

नन्ववस्थान्तरपाप्तिरियं, कथं जायते वा जन्यते वा इत्यत आह—सत इत्यादिं। सतश्च प्राक्तिद्धस्यावस्थान्तरगमनमेव जन्मोच्यते, न तन्यव् रूपम्। तत्र उदाहरणमाह—यथेत्यादि । वीजध्म्मा सुक्ष्मदेही जीवः। सतां वर्त्तमानानां शुक्र-शोणितजीवानां संयोगात्। अत्र दृष्टान्तमाह—यथेत्यादि। तच्चेति पितृतम्। इति भगवदात्रयेण पोच्य भरद्वाजोक्तं न हि जातो जनयति सत्त्वात्, न चैवा-जातो जनयति सत्त्वात् । तस्मादुभयथाप्यनुपपत्तिरिति दृपणं मत्युक्तम् ॥१२॥

गङ्गाधरः-यद्ययमात्मानं शक्तो जनयितुं स्यादित्यादि भरद्वाजदूपणं प्रतिवक्तमाह-न तु खिलवत्यादि । यथेष्टकारिलं स्वेच्छानुरूपकारिलम् । ननु

थया बालस्य युवत्वावस्थाऽजाता जन्यत इति च, तथा अजातो जनयत्यात्मात्मानमिति च शब्द• प्रयोगसमर्थनमात्रमेतद् विवक्षाभेदात् योद्धव्यम् । अनेन चात्मावस्थाभेदकृतजातत्वसमर्थनेन 'जातो वा' रत्यादिग्रन्थकृतपूर्वपक्षः शब्दप्रयोगसमर्थनतया परिहतः ; परमार्थतस्तु नित्यत्वेनाजात एवात्मा आत्मनोऽजातावस्थां गर्भादिरूपां जनयति ; तेन नासतः कारणत्वम्, सतो वा जन्यत्वम् इति पक्षः स्थिर एव । सतो हीत्यादिना सत्कार्य्यपक्षं सांख्यमतं दर्शयति ; किंवा, वयोभेदेन जन्म, त्तदेवावस्थान्तरगमनिमिति दर्शयति ; तस्यां तस्यामवस्थायामिति च्छेदः । पिनृत्विमिति पिनृत्वे न व्यपदिस्यत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

चक्रवाणिः—यदुक्तम्,—यद्यात्मा आत्मानं जनयति, तदा वशित्वादिगुण्युक्तं जनयेदिति ; तत्रोत्तरमाह—न तु खिन्वत्यादि। गर्भस्य सर्व्वभावे न मात्रादीनां यथेष्टकारित्विमिति योज्यम्। अत्र च यद्यप्यात्मैव प्रकृतः तथापि तुल्यसमाधानत्वेन मातापितरावपि व्युत्पादितौ । यतो ह्यात्मनः सर्वभावेषु यथेष्टकारित्वेन इष्टयोनिगमनादिशसक्तिः समाधीयते, तथा मातापित्रोरपि यथेष्टकारित्वेन पुत्रानेव जनयेयुरित्यादिपूर्वेपक्षः परिहृतो भवति । अथ कृत एवात्मादीनां यथेष्टकारित्वं क्रचिन्न भवतीत्याह—ते किञ्चिदित्यादि । किञ्चिदिति न सर्व्वम् । अत्र मातापितरौ स्ववशौ मैथुनं गर्भकारणं

वंशात् कचिच्चैपां करणशक्तिर्भवति कचिन्न भवति। यत्र सत्त्वादिकरणसम्पत् तत्र यथावलमेव यथेष्टकारित्वमतोऽन्यथा विपर्थ्ययः। न च करणदोपादकारणमात्मा गर्भजनने

तर्हि कथद्वारं कचू तमस्तीत्यत आह्—ते किञ्चिदित्यादि। ते माता च पिता च जीवरचैते किञ्चित् कम्मं स्ववशात् कुर्विन्त, किञ्चित् शोकमोहादिकं कम्मंवशात्, कचित् कार्य्यं एपां मातापितृजीवानां करणानां मनोवुद्धप्रादीनां शक्तेभंवति, कार्य्यं कचिच कार्य्यं शक्तितो न भवति। सत्त्वादिकरणसम्पत् मनः-मभृतीनां रजस्तमोऽनुवन्धनिम्मु क्ततादिः। अतोऽन्यथा यत्र सत्त्वादिकरण-च्यापत् तत्र विपर्ययो न यथेष्टकारित्वमिति। ननु तर्हि करणानां मनोवुद्धप्रा-दीनां रजस्तमःमभृतिदोपादात्मा न कारणं भवतिति चेदाह—न चेत्यादि।

सात्मनरससेवादिकं चाचरतः, गर्भस्य जीवाधिष्टानादाँ तु कम्मीधीने परवशो : तथा आत्मापि गर्भस्य चैतन्ये तथा धर्माधर्म्मकियानुष्टाने स्ववशः, कर्म्मजन्ये इष्टयोन्यादिगमने धर्माधर्म्मपराधीन एव । तेन कर्माधीनेऽपि विषये न मात्रादीनां यथेष्टकारित्वम् । यथेष्टकारित्वमपि मात्रादीनां क्रचिट दर्शयन्नाह—क्रचिच्चैपामित्यादि । करणमुपकरणं साधनोपाय इति यावत् । सत्त्वं मनआदि प्रधानं येपाम्, तानि सत्त्वादीनि मनइन्द्रियशुक्तशोणितादीनि ; यथायलमिति यथाकर्मा, वल-शब्देनेहादृष्ट्रमुच्यते । एतेन यत्र मात्रादीनां पुत्रेच्छायामिष्ट्योनिषु गमनादिकरणशक्तिर्भवति, कामी चानुगुणं भवति, तत्रेप्सितपुत्रादिष्चिष्टयोनिगमनादि कार्य्यं भवति, यदि तत्र विशुद्धशुकः पुरुषो भवति, स्त्री च विशुद्धयोन्याशयत्वादिगुणयुक्ता, पुत्रजननञ्च कर्म्म तयोर्बलवत्, तदा पुत्रजन्माभिसन्धाय मथुनमापयमानो ईप्सितं पुत्रं जनयतः, तथा आत्मापि विशुद्धसत्त्वादिगुण-युक्तः शुभकम्मेवान् तत्काले इष्टां योनिमनुष्यायति, तदाभीष्टयोनिगमनं सम्पादयत्यात्मन इत्यादि यथेष्टकारित्वोदाहरणं ज्ञेयम् । अतोऽन्यथा इति सरवादिकरणाज्ञकौ विगुणे च देवे विपर्य्य इति न यथेष्टकारित्वम् ; किंवा कचिच मैथुनादों पित्रादीनां न स्ववशत्वम् । तत् किमिति जीवोपक्रमादाविप न स्ववशत्वमेपां भवति १ इत्याह-फिचच्चेपामित्यादि । किचदेव कार्ये यसात् किञ्चत् करणं मात्रादीनां शक्तम्, न सर्वेत्र, तेन सर्वेप्वेव गर्भस्य भावेषु न शक्तमिति भावः। यत्रापि चैते मात्रादयः स्ववशाः सन्तः कुर्व्वन्ति, तत्रापि स्वीय-स्वीयंकरणायुक्ता एव कुर्व्वनतीत्याह—यत्र सन्वेत्यादि। यथायलमित यथाशक्ति। भनेन च मात्रादयो गर्भस्य येषु विशेषेषु शक्ताः, तेषु सत्त्वादिकरणसम्पत्तौ यथेष्टकारिणो भवन्ति, नाराक्यविषये उपहतोपकरणा वा यथेष्टकारिणो भवन्तीति दर्शयति । अतोऽन्यथा विषय्यय इत्यस्य चार्थों इमे व्याकृतः। ननु सत्त्वादिकरणदोपारचेदयमात्मा गर्भे न जनयति तथाविधं, हन्त

सम्भवति। दृष्टश्च चेष्टा योनिरेश्वय्यं मोच्रश्चात्मविद्धिरात्मायत्तम्। न ह्यन्यः सुखदुःखयोः कर्त्ता न चान्यतो गर्भो जायते जायमानः, न चाङ्कुरोत्पत्तिरवीजात् ॥ १३॥

कुतोऽत्रात्मा करणदोपवरवेऽपि नाकारणिमत्यत आह— दृष्टञ्चेलादि। कस्माच चिष्टादिकमात्मायत्तं दृश्यते इत्यत आह—न ह्यादि। हि यस्मा-द्यात्मतोऽन्यः कश्चिद्धावः। नमु कथमन्यो न कर्त्तेत्यत आह—न चान्यत इत्यादि। अन्योऽप्यात्मतो यः कर्त्तेष्यते सोऽपि जायमानो न चात्मतोऽन्यतो जायते। नमु कथं नान्यतः स कर्त्ता जायमानो जायते इत्यत आह— न चाङ्करेत्यादि। वीजं विना न चाङ्करोत्पत्तिरिति, तथा च वीजं चेतनाचान् आत्मा तस्माञ्जायमानोऽन्यश्चेतनः कर्त्ताभिधीयते उपचारात्। परन्तु तत्रापि कर्त्तृत्वे आत्मैव वीजं तस्मादात्मा सुखदुःखयोः कर्त्ता तस्माच सुखदुःखहेतुः कम्पे शुभाशुभमात्मायत्तं शुभाशुभक्षम्मेफलादिष्टानिष्टयोनिरैश्वयं मोक्षश्च शुभक्षम्मेत इत्यत आत्मायत्तमेव चेष्टादिकमतो नात्मा करणदोपादकारणं गर्भजनने सम्भवतीति वोध्यस्।। १३।।

तर्श्वकारणमेवायमात्मा, कारणं हि यद्भवित, तत् करोत्येव कार्य्यमित्याह—न चेत्यादि । करणदोपादकुर्ध्वन् गर्भं कदाचिदात्मा न गर्भजनने कारणं भवतीति न, अपि तु भवत्येव कारणम् । एवं मन्यते—मृदाद्यभावात् घटमकुर्ध्वन्निष कुम्भकारः कारणमेव घटस्य भवति, घटजननशक्तियुक्तत्वात्, तथा आत्मापि करणदोपादकुर्ध्वन्निष तथाविधं गर्भं तज्ञननशक्तियुक्तत्वात्, तथा आत्मापि करणदोपादकुर्ध्वन्निष तथाविधं गर्भं तज्ञननशक्तियेव स्योदण्यत्वात् भवति । तथेष्टयोनिगमने प्रसक्तिरिष प्रोद्भाविता, आत्मनः कारणत्वेन सा कविद् भवतीत्यपि दर्शयन्नाह—हप्टब्चेत्यादि । आत्माधीना योनिः पुरुषं प्रति हृष्टा योनिः, तथा प्रव्यव्यादयश्चात्माधीना हृष्टाः, यथोक्तं कितिधापुरुषीये—''आवेशव्यत्ते सो ज्ञानम्'' इत्यादिना । आत्मनः कारणत्वे हेत्वन्तरमाह—न हान्य इत्यादि । हि यस्मादात्मनो-ऽन्यः सुखदुःखयोः कर्ता नास्ति, अत आत्मैव सुखदुःखसाधनेन्द्रियकमंश्वरित्विकर्ता । तेन आत्मा कारणं गर्भस्य सुखदुःखाद्याधारस्येति भावः । अथ मृतान्येव कस्मात् संयोगवशात् चेतना-सुखादिकारणानि न भवन्तीत्याह—न चान्यत इत्यादि । अन्यत इति विजातीयात् । जायमान दृत्युत्ययमानः । सप्टशमेव कारणात् कार्यमुत्पद्यते । येन न शणसाद्धुरोत्पित्तर्नीरिकेछबीजादिति कार्यत्वेनाभिमताद्वुरस्य वीजादृत्पितः ; तेन गर्भस्य यच्चेतन्यं तद्चेतनेभ्यो न भवति, किन्तु चेतनाधातीरात्मन एवेति दर्शयिति ॥ १३ ॥

यानि खल्वस्य गर्भस्यात्मजानि यानि चास्यैवात्मतः सम्भ-वतः सम्भवन्ति तान्यनुव्याख्यास्यामः । तद् यथा—तासु तासु योनिषूत्पत्तिरायुरात्मज्ञानं मन इन्द्रियाणि प्राणापानौ प्ररेणां धारणमाकृतिस्वरवर्णविशेषाः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ चेतना धृति-बुधः स्मृतिरहङ्कारः प्रयत्वश्चेत्यात्मजानि ॥ १४॥

सात्म्यजश्चायं गर्भः। न ह्यसात्म्यसेवित्वमन्तरेण स्त्रीपुरुषयोः वन्ध्यत्वमस्ति गर्भे वाऽनिष्टो भावः। यावत् खल्वसात्म्यः

गृहाधरः — नन्वेवमात्मनोऽन्यतोऽपि तानि जायन्ते यानि तु खल्वस्य गर्भस्यात्मजानीत्यतस्तान्याह् — यानीत्यादि । जातोत्तरकालमप्यात्मजानि सम्भवतो गर्भाशये जायमानस्य गर्भस्य च यानि चात्मजानि तानि चातुःच्याख्यास्याम इत्यथेः । आयुः दीयेह्स्चादिरूपं शुभाशुभकम्मेफलात्, आत्मशानं स्वधानम्, मनः सत्त्वसंधकमिध्याहङ्कारिकान्मनसः पूर्व्वकृतकम्मेसहितात्मनः । एवमाहङ्कारिकेन्द्रियभ्यो नित्यस्तातुवन्धेभ्यो नित्येभ्यो भूतेभ्यः पुनः कम्मात्मकेभ्यस्तदिरूपाण्यनित्यानीन्द्रियाणि वोध्यम् । परेणं मनःप्रभृतीनां स्वस्वविषये, धारणं मनसि धारणा चिरियितिर्त्यर्थः । आकृतिविशेषः स्वरविशेषो वणेविशेषश्चात्मकार्य्य एव शुक्रच्युतिकालिकप्रकारविशेषस्तर्विशेषादिकरणसम्पत्तिसहायाद् भवति, न तु शुक्रादिप्रकारिवशेषकार्यः । तस्मादिष्टास्वेव योनिष्ठ विश्वनिमत्यादिकश्चात्मानमात्मा न जनयति । तस्मादेवात्मजश्चायं गभं इति ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—गभस्यात्मजलं स्थापयिता सात्म्यजत्वं स्थापयित—सात्म्यज-थायिनत्यादि । अयं गभीस्तु सात्मत्रज एव न तसात्मत्रजः । कृतो नासात्मत्रजः सात्मत्रजश्च भवतीत्यत आह—न हीत्यादि । हि यस्मात् असात्मत्रसेवित्वं विना स्त्रीपुंसयोवन्धत्रत्वं नास्ति, गर्भेषु वाष्यिनष्टभावो नास्ति

चक्रपाणिः—एवमात्मजत्वं गर्भस्य ब्युत्पाचात्मजान् विशेषेणाह्—यानीत्यादि । प्रेरणं धारणब्चेन्द्रियाणामेव । अत्र च तत्तद्देवादि-पद्वादियोनिगमनपरत्वे धर्माधर्माजन्ये धर्माः धर्मस्यापि जनकत्वेनात्मेव मूलकारणमुच्यते । आत्मज्ञानप्राणापानाद्गे तु मनःकारणत्वेऽप्यात्मेव व्यवधानेन कारणम् ॥ १४ ॥

च क्रपाणि:— सात्स्यज्ञहचेत्यादिना सात्स्यज्ञत्वं द्युत्पाद्यति, इ.स.त्स्यसेवां गर्भीपवातिनी

सेविनां स्त्रीपुरुषाणां त्रयो दोषाः प्रकृषिताः श्ररीरमुपसर्पन्तो न शुक्रशोगितगर्भाशयोपघातायोपपघन्ते तावत् समर्था गर्भजन-नाय अवन्ति। सात्म्यसेविनां पुनः स्त्रीपुरुषाणामनुपहतशुक-शोणितगर्भाशयानाष्ट्रतुकाले सन्निपिततानां जीवस्यानवक्रमणाद गर्भा न प्रादुर्भवन्ति । न हि केवलं सात्म्यज एवायं गर्भः समु-दायोऽत्र कारगामुच्यते ॥ १५ ॥

यानि तु खल्वस्य गर्भस्य सात्म्यजानि यानि चास्य सारुयतः सम्भवतः सम्भवन्ति तात्यनुव्याख्यास्यामः। तद् तस्मात् सात्मत्रजो गर्भौ न त्वसात्मत्रजः। अत्रासात्मत्रसेविनस्विकिनानपत्याः स्युरिति यदाशिक्कतं तन्न। क्कत इत्यत आह—यावत् खल्वित्यादि। तस्मादसात्मारसेविनां शरीरोपसपेद्धिरपि प्रक्वपितैरपि त्रिभिद्भेषैः शुक्रशोणित-गर्भाशयोपघाताभाववतां सापत्यत्वम्। शुक्रशोणितगर्भाशयोपघातवतान्तु अन-पत्यलमिति नासात्मारसेविनां निखिलेनानपत्यलम्। एवं सात्मारसेविनाम् ऐकान्तेत्रन व्यक्तं प्रजा स्यादिति यदुक्तं तदिप न युक्तम्। कुत इत्यत आह— सात्मारसेविनां पुनिरत्यादि। सन्निपतितानामिति व्यवायमापनानाम्। सात्मप्रसेविनामसुपहतशुक्रकोणितगर्भाक्ययानामृतुकाले व्यवायवतामपि स्त्रीपुरुपाणां जीवस्यावक्रममन्तरेण न गर्भा भवन्ति, तर्हि कथं सात्माजश्रायम् उच्यते इत्यत आह—न हीत्यादि। केवलमिति एकस्मात् सात्म्यादेव गर्भो जायते इति नोच्यते, किमुच्यते इत्यत आह—समुदाय इत्यादि। समुदायो मातापित्रात्मसात्मत्ररससत्त्वानामेषां समुदाय इत्यर्थः। जीवस्यानवक्रमे सात्मत्रम् एव सेवमानानां न गर्भा भवन्ति। जीवस्थोपत्रमे तु भवन्तेत्रवेति सात्म्यसेविनाम् ऐकान्त्येन व्यक्तं प्रजा न स्यादिति बोध्यम्। नन्वेतावतापि सातम्यस्य कस्मात् कारणत्मिष्यते जीवस्यावक्रमस्येष्यतामिति चेना। गर्भाणां सात्म्यस्य कारणलमन्तरेण सात्म्यजान्यपि यानि तानि न पादुभैवन्ति ॥ १५॥

गङ्गाधरः-नज्ञ कानि च तानि सात्म्यजानीत्यत आह-यानीत्यादि। गभस्य जातोत्तरकाळं यानि तु सात्म्यजानि तानि सात्म्यतः सम्भवतो त कीयन मात्म्यसेवाया गर्भ प्रति कारणावं द्रहयति. सात्म्यसेविनामपि प्रभावबकोएपत्तिं दर्शयन् यथा—न्त्रारोःयमनालस्यमलोलुपत्वमिन्द्रियप्रसादः स्वरवर्णवीज-सम्पत् प्रहर्षसूयस्त्रञ्चेति सास्यजानि ॥ १६ ॥

रसज्ञ्यायं गर्भः । न हि रसाहते मातुः प्राण्यात्रापि स्यात्, किं पुनर्गर्भजन्म । न चैवास्यासम्यग्रवयुज्यमाना रसा गर्भ-

गर्भाशये जायमानस्यास्य च यानि सात्म्यजानि तान्यनुव्याख्यास्यामः। वीजस्य सम्पत् शुक्रशोणितदोषाभावः। प्रहपेभूयस्तं मैथने दुःखगून्यसुखोत्कपेः। तिस्मात् सात्म्यजञ्जायं गर्भौ न ससात्म्यज इति॥ १६॥

गङ्गाधरः—सात्म्यजत्वं स्थापयिता गभेस्य रसजत्वं स्थापयित—रसजइचेत्यादि। नजु कस्माद् रसजश्रायं गभे इत्यत आह—न हीत्यादि। प्राणयात्रा
प्राणयापना। मातुः प्राणयात्रां विना कथं गभेस्य जन्मसम्भव इत्यभिन्नत्याह—
किमित्यादि। तत्रापि रसोपयोगित्तीपुरुपावभिन्नत्य स्नीपुरुपाणां रसानुपयोगित्वाभावेन सव्वपामेव समजतापित्तवारणाय श्रेष्टरसापयोगस्य गभेहेतुत्वे किष्पते
श्रेष्टरसाजादिमांसरसादिसेविभिन्नानां द्यामाकादिसेविनां विलेन
अनपत्यतं यदाशिहतं तत्र। कृत इत्यत आह—न चैवेत्यादि। अस्य
स्नीपुरुपोभयस्यासम्यगुपयुज्यमाना अश्रेष्ठा रसा नैव गभमभिनिर्वर्त्तयन्ति,
असम्यग्रससेविनां हि स्नीपुरुपाणां त्रयो दोपाः मकुपिताः शरीरमुपसपेन्तो न
यावत् शुक्रशोणितगर्भाशयोपघाताय सम्पद्यन्ते तावत् तद्रसानुरूपगर्भजननाय
भवन्ति इति। असम्यग्रसोपयोगिनांशरीरं सपेद्विर्पाप मकुपितौक्तभिदौपैरनुपहतशुक्रशोणितगर्भाशयानां सापत्यत्तम्। तदुपहतशुक्रशोणितगर्भाशयानान्तु

''असात्मप्रसैविनश्च निष्तिलेनानपत्याः स्युः'' इति पृर्व्वपक्षं परिहरति ; सात्मप्रसेविनां पुनित्याः दिना तु प्रन्थेन 'सात्मप्रसेविनामेकान्तेन प्रजा स्यात्' इति यदक्तम्, तत् परिहरति ; सित्रपितः सानामिति व्यवायमापन्नानाम् । अत्र स्वरवणौ सात्मप्रजावेनोक्तौ ; तेन द्वावप्यत्र कारणमिति होयम् ॥ १५।१६ ॥

चक्रपाणिः—प्राणयात्रापि स्थादिति गर्भाधारमृताया मातुरपि प्राणस्थितिरित्यर्थः। न चैव-मसम्यगुपयुज्यमाना इत्यादिना, 'असात्मप्ररसोपयोगस्य गर्भोपघातित्व' दर्शयति ; असात्मप्ररसोप-योगिनां प्रभावेण जननं यत्, तदसात्म्यसेविमजाभवनन्यायतुल्यमिति नेह पुनर्दशितम्। समुदयो- मिनिटर्वर्त्तयन्ति। न च केवलं सभ्यग्रपयोगादेव रसानां गर्भाभिनिटर्वृत्तिर्भवति समुदायोऽप्यत्र कारगामुच्यते॥ १७॥

यानि तु खल्बस्य गर्भस्य रसजानि यानि चास्य रसतः सम्भवतः सम्भवन्ति तान्यनुव्याख्यास्यामः। तद् यथा— श्ररीरस्याभिनिव्वृत्तिरभिवृद्धिः प्राणानुबन्धस्तृतिः पुष्टिरत्माह-श्चेति रसजानि ॥ १८॥

निरपत्यसमित्यसात् इयामाकादुप्रपयोगिनां न निखिलेनानपत्यसमिति। एव छागादिश्रेष्ठरसोपयोगिनामेकान्त्येन मजा स्यादिति यदुक्तं तद्पि न युक्तम्। छत इत्यत आह—न च केवलमित्यादि। केवलं श्रेष्ठाजादिरसानाम्धपयोगादेव गर्भाभिनिन्धे तिश्च न भवति जीवस्यानवक्रमात्। न हि केवलं रसज एवायं गर्भ इत्युच्यते। किम्रुच्यते कारणमित्यत आह—समुदाय इत्यादि। तथा च जीवस्यानवक्रमे श्रेष्ठरसोपयोगिनामपि न गर्भः स्यात् जीवावक्रमे तु स्यादित्यतो हेतोरजादिश्रेष्ठरसोपयोगिनामेकान्तेन गर्भो न भवतीति वोद्ध्यम्। नन्वेवम् अस्तात्मा कारणं छतो रसः कारणमुच्यते इति चेन्न। रसं विना शरीराभिनिन्धे त्यभिष्टद्धप्रादीनां रसकार्य्याणां गर्भस्य जातोत्तरकालं गर्भोशये जाय-मानस्य चासम्भवात्।। १७॥

गङ्गाधरः—नतु कानि रसकार्याणीत्यत आह—यानि तित्यादि। यानि जातोत्तरकालं गर्भस्य रसजानि रसतः सम्भवतो गर्भाशये जायमानस्य यानि च रसजानि तान्यतुन्याख्यास्यामः—तद् यथेत्यादि। शरीरस्याभिनिन्दे ति-स्त्पत्तः। शुक्रशोणितयोरिप रसजतात्। अभिष्टद्धिः क्रमेण परिमाणष्टद्धिर्दे द्येण स्थोल्येन च। प्राणातुवन्धः उत्तरोत्तरवल्धासनिश्वासादिहेत्वतुष्टत्तिः। प्रिर्धिः यकालेऽपि दीर्घताद्यभिष्टद्धिं विनापि पोपणं शरीरस्य। इत्येवं प्रकारेण रसजद्यवायं गर्भो न तरसज इति।। १८।।

उच्यत्र कारणिमस्यनेन मुल्यसम्यग्रससेविनाञ्चापत्यभवने कारणं धर्मादि दर्शयति । अभिनिद्धं तिः अङ्गप्रत्यङ्गस्यक्तता । वृद्धिस्तु देव्येण वृद्धिः । प्राणानुबन्धः इति बलानुबन्धः । पुष्टिरुपचयः । उत्साहो बलम् । 'इति'शब्दः प्रकारे । तेन एवंप्रकाराण्यान्यान्यपि वर्णोदीनि रसजानीति दर्शयति । एवं पूर्वत्रापि 'इति'शब्दो व्याख्येयः । यदा तु 'इति'शब्दश्च परिसमाप्त्यर्थः, तदाप्याविष्कृता रसजानां परिसमाप्तिकृता । तेन अनाविष्कृता वर्णाद्योऽपि रसजा लभ्यन्ते ॥ १७।१८ ॥

श्रस्त खल्विप सत्त्वमीपपादुकं यज्ञीवस्पृक् शरीरेण क श्रभि-संवधाति, यिसमन्नपगमनपुरस्कृते शीलमस्य व्यावर्त्तते, भक्ति-विपर्ध्यस्यते, सव्वेन्द्रियाण्युपतप्यन्ते, वलं होयते, व्याधय श्राप्या-य्यन्ते, यस्माद्धीनः प्राणान् जहाति, यदिन्द्रियाणामभियाहकश्च मन इत्यभिधीयते, तत् त्रिविधमाख्यायते शुद्धं राजसं तामस-व्चेति। येनास्य खलु मनो भूयिष्ठं तैन द्वितीयायामाजातौ

गङ्गाधरः—इति रसजतं गर्भस्य स्थापयिता सत्त्वजतं स्थापयित—
अस्तीत्यादि। न खटविप परलोकादेत्य सत्त्वं गर्भमवकामित इति यदुक्तं
तत्र। यस्मादस्ति खल्ल सत्त्वं मनोऽप्योपपादुकमिति। कथमौपपादुकमित्यत
आह—यत् सत्त्वं जीवस्पृक् जीवात्मानं नित्यं स्पृशत् शरीरेणाभिसम्बन्नाति,
तद्दिना हि जीवात्मनः शरीराभिसम्बन्धो न स्यात्। यस्मिन् सत्त्वे अपगमनं शरीरात् स्वनिर्गमनं, पुरोऽग्रे कृतं येन तस्मिन् आसन्नमरणस्यास्य शील
स्वभावो व्यावर्त्तते विपरीतो भवित, भक्तिभंजनशीलता विपय्यंस्यते विपर्ययो
भवित। उपतप्यन्ते सर्व्वेन्द्रियाणि शक्त्यादिना हीयन्ते। यसाद्धीनः प्राणी।
तदिन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां स्वार्थग्रहणाय प्रेरकं यत् तन्मन इत्यभिधीयते।
तत् त्रिविधमाख्यायते शुद्धं केवलसत्त्वात्मकं राजसं रजोग्रणवहुलं तामसं
तमोग्रणवहुलम्। इत्यस्मादित खल्विप सत्त्वमौपपादुकमिति। न तु न चास्ति
सत्त्वमौपपादुकमिति। अत्र तु नास्य किश्चित् पौव्वदेहिकं स्यादिविदतमश्रुतमद्द्यं वा स च किश्चिद्पि न स्मरतीति यदाशिक्षतं तदप्ययुक्तम्। कृत इत्यत
आह—येनास्येत्यादि। येन सत्ताद्यन्यतमेन ग्रणेनास्य मनुष्यस्य मनो भूयिष्टं

चक्रपाणिः—अस्तीत्यादिना मनस औपपादकमाक्षिप्तं समाद्रधाति । 'अपि'शब्दोऽवधारणे । अत्र च 'यज्ञीवं स्ट्रक्रारीरेणाभिसंयमाति' इत्यादिना मनसो धम्मंकथनमेवौपपादकसाधनं भवति, मनोव्यितरेकेणैतदुच्यमानधम्माणामसिद्धेः । नित्यमात्मानं स्ट्रशतीति स्ट्रकः । शरीरमातिवाहिकः शरीरम् । तेन स्ट्रक्र्शारेण कारणभूतेन जीवमात्मानं स्ट्रशतीति भोगायतनशरीरेणेति शेषः । आतिवाहिकशरीरसद्भावश्च 'मृतेश्चतुभिः सहितः'' इत्यनेन मितपादितः । किंवा 'जीवमात्मानं स्ट्रक्शारीरेण' इति स्पर्शवता शरीरेण यनमनोऽभिसंबभ्राति तदौपपादकमस्तीति योजना । एवं मन्यते—यदि मनोऽनात्मनः शरीरसम्बन्धे न स्वीक्रियते, तदा ध्यापकत्वादात्मनः सर्व्वप्रवोपः छठ्या भवितव्यम् । न च भवति । तथा यत्र स्पर्शवति शरीरे मनः प्रतिबद्धं भवति, तत्रैवायं

^{*} जीवं स्टब्स्शरीरेणेति चकः।

सम्प्रयोगो भवति । यदा तु तैनैव शुद्धेन संयुज्यते तदा जाते-रितकान्तायाथ स्मरित । स्मार्त हि ज्ञानमात्मनस्तस्यैव मनसो-ऽनुबन्धादनुवर्त्तते, यस्यानुवृत्तिं पुरस्कृत्य पुरुषो जातिस्मर इत्युच्यते इति सत्त्वमुक्तम् ॥ १६ ॥

यानि खल्वस्य गर्भस्य सत्त्वजानि यानि चास्य सत्त्वतः

तद्गुणभू यिष्ठेन तेन मनसा द्वितीयायामाजातौ द्वितीयजन्मपर्यन्तं सम्प्रयोगः अस्य मनुष्यस्य भवति। तद्गुणमनोऽनुष्टत्तिद्वितीयजन्मपर्यन्तं भवति। यदा तु तेनैव मनसा शुद्धेन केवलसत्त्वगुणात्मकेन संयुज्यतेऽयं पुरुपस्तदाति-क्रान्ताया अतीतायाः पूर्व्वस्या अपि जातेर्जन्मनः स्मरति। स्मरतेः कम्मेणि पष्टी। न तु राजसेन न वा तामसेन मनसा यदि संयुज्यते। ज्ञत इत्यत आह—स्मार्त्त हीत्यादि। हि यस्मादात्मनो ज्ञानं स्मार्त्तं स्मृत्या वर्त्तते। एतमेवार्यं व्याकरोति। तस्यैव शुद्धसत्त्वात्मकस्य मनस आत्मनोऽनुवन्धादनुवर्त्तते। यस्य ज्ञानस्यानुष्टत्तं पुरस्कृत्य अग्रं कृता पुरुपो जातिस्मरः पूर्व्वजन्मस्मरणशील इत्यभिधीयते इति। तस्मान्नास्य किञ्चत् पौर्व्वदेहिकं स्यादविदितमश्रतमदृष्टं वा, स च किञ्चद्रपि न स्मरतीति यदुक्तं तन्न। नन्वेत्रमस्तात्मनो गुणवतः सत्त्वद्रिकेण गर्भावक्रमो न तु सत्त्वसंप्रयोगादिति चेन्न, मनःकार्य्याणां शील-शौचादीनामसम्भवात्।। १९।।

गङ्गाधरः-नज्ञ कानि सत्त्वकार्याणीत्यत आह-यानीत्यादि । जातोत्तर-

सुवाद्वपलभते। 'स्ट्रग्'विशेषणेन शरीरस्य सूत्रनखकेशादो मनोगमनाभावादातमनोऽनुपलिश्धं दशयित। अपगमनपुरस्कृत इति देहान्तरगमनापायमुखे। भक्तिरिच्छा। यसाद्वीन इति मनसा स्यक्तः। येनेति यथामूतेन सान्तिकेन राजसेन तामसेन घा मनसा मनो भृषिष्टमित्यभिप्रायः। द्वितीयायां वा जाताविति द्वितीयजन्मिन, जन्मान्तरे यादशं मनः, तादशमेव जन्मान्तरे प्रायो भवतीत्यर्थः। केचित् तु, 'तेन न द्वितीयायाम्' इति पठिन्ति। अत्रापि प्रायो द्वितीये जन्मिन तुस्येन मनसा योगो न भवति, कदाचित् तु भवतीत्यर्थः। यदक्तम्—'नास्य किञ्चित् पौट्यं-देहिकमिविदितं स्याद्' इति, तत् पौट्यंदेहिकं ज्ञानं क्विद्यं भवतीति दर्शयज्ञाह—यदा वित्यादि। शुद्धेनेति विशुद्धसन्त्वगुणेन। तस्येवेति वक्ष्यमाणेन यस्येत्यनेन सम्यध्यते। योनियन्त्र-पौद्यायामिव हि उद्भृतेन तमसा विष्टुतं मनो नातिकान्तजन्मगतं स्परति, यस्तूद्भृतसन्त्वस्तमसा नाभिभूयते, स स्परत्येवातिकान्तजन्मानुभूतिमिति भावः। पुरस्कृत्येति कारणत्वेनावधार्यं। अयत्र मनोधर्मसमुह इन्द्रियोपक्रमोक्तोऽपि पुनिरिह प्रकरणवशादुस्यमानो न पुनरुक्तदोपमायहति।

सम्भवतः सम्भवन्ति तान्यनुव्याख्यास्यामः। तद् यथा—भक्तिः शीलं शौचं द्वषः स्मृतिमीहरत्यागो मात्तर्यं शौर्यं भयं क्रोधस्तन्त्रोत्ताहस्तैच्ययं माईवं गाम्भीर्यमनवस्थितत्वमित्येव-मादयश्चान्ये ते सत्त्वजा विकारा यानुत्तरकालं सत्त्वभेदमधि-कृत्योपदेच्याम इति सत्त्वजानि। नानाविधानि तु खलु सत्त्वानि तानि सर्व्वाएयेकपुरुषे भवन्ति। न च भवन्त्येककालम्। एकन्तु प्रायोऽनुवृत्त्याह ॥ २०॥

काळं यानि सत्त्वजानि यानि च जायमानस्य। शीळं शीळता। तैक्ष्णं तीव्र-स्वभावः। माद्देवं मृदुस्वभावः। गाम्भीय्यमचञ्चळत्तम्। उत्तरकाळं महत्यां गर्भाव-क्रान्त्यां शारीरे। नन्न सत्त्वमुक्तं त्रिविधं शुद्धं राजसं तामसिमिति। तत् त्रिकमेवैकैकस्मिन् पुरुषे किमथवा प्रत्येकमित्यत आह—नानेत्यादि। एककाळं युगपत्। नन्न यदेशककाळं न भवति शुद्धं राजसं तामसञ्च मनस्तिहे कथं मनः-संक्षमुच्यते सत्त्वं रजस्तमश्चाख्यायताम् अथवा सत्त्वमयं, रजोमयं तमोमय-श्चाख्यायतां त्रिविधमेव ततो भवति न तु नानाविधमित्यत आह—एकन्तु इत्यादि। सत्त्वमेकं प्रायोऽस्य सत्त्वगुणादेशकैकगुणवहुळत्वेनानुदृत्त्या सात्त्वकं चा राजसं वा तामसं वाह। तस्मान्न खल्विप परलोकादेत्य सत्त्वं गर्भ-मवक्रामतीति न वाच्यम्।। २०।।

यद्यपि सत्त्वस्य गर्भजनकत्वं साक्षालोक्तम्, तथापि सत्त्वस्य यद्यपाद्दकत्वं गर्भं प्रति, तेनैव सत्त्वस्य गर्भजनकत्वं प्रतिज्ञातं मन्तव्यम् । तेन 'यानि खल्वस्य गर्भस्य सत्त्वज्ञाने' इत्यादिना गर्भे सत्त्वज्ञानकथनमुपपन्नमेव, गर्भकारणत्वकथनमपि च । सत्त्वस्योपपादकत्वमापया कारणत्वं यद्क्तम्, तद्देद्दान्तरगमनरूपध्यमंस्य गर्भकारणत्वतिरिक्तस्य प्रतिपादनीयम् । नानाविधानीति नानाविधन्सात्तिकराजसतामसवृत्तिभिक्षानि । तान्येकपुरुपे भवन्तीत्यनेन एक एव पुरुपः कदाचिद्धमान्तिक्यायां सात्त्विको भवति, कदाचित् कामचिन्तायां राजसः, कदाचित् मोहे तमोमय इति दर्शयति । एकदैव सात्त्वकादयो धर्मा न भवन्ति, किन्तु पर्य्यायेण भवन्ति । ननु यदे नकपुरुप एव सब्वे सात्त्वकादयो भवन्ति, तत् कथमयं सात्त्वक इत्यादिव्यपदेशा भवन्तीत्याह—एकन्त्वत्यादि । प्रायोवृत्त्येति भूयिष्ठा यस्य सात्त्वका वृत्तयो भवन्ति स सात्त्वकः, यस्य राजस्यो वृत्तयो भवन्ति स राजस उच्यते इत्यादि । एतदेव पृत्वेमुक्तम्,—'यद्गुणज्ञाभीक्ष्णं पुरुपमनु-

एवसयं नानाविधानामेषां गर्भकराणां भावानां समुदाया-द्रिभिनिव्वर्त्तते गर्भः। यथा क्रुटागारं नानाद्रव्यसमुदायात्, यथा वा रथो नानारथाङ्गसमुदायात्। तस्मादेतद्वोचाम—माठ्ज-श्चायं गर्भः पितृजश्चात्मजश्च सात्स्यजश्च रसजश्चास्ति च सत्त्व-स्नौपपादुकमितीतिहोवाच भगवानात्रेयः॥ २१॥

भरद्वाज उवाच । यद्ययं नानाविधानासेषां गर्भकराणामेव

गृङ्गाधरः—अथोपसंहरणप्रतिज्ञातार्थमाह—एविषित्यादि । एवमुक्तप्रकारेण अयं गर्भो नानाविधानां मातापित्रात्मसात्म्यरससत्त्वानां समुदायात् समस्तादभिनिन्वर्तते न न्यस्तात् । अत्र दृष्टान्तमाह—यथेत्यादि । क्टागारं जेन्ताकगृहम् । तस्मान्मात्रादिपट्कतो गर्भाभिनिन्वर्त्तनादेतद् वक्ष्यमाणं वयम् अवोचाम । किमित्यत आह—मातृजश्चायमित्यादि । स्पष्टम् ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—अत्रापि भगवदात्रयोक्ते प्रतिवचने सति पुनरपि भरद्वाजः कुमारशिराः। स पूर्व्यपितपक्षो भरद्वाज उवाच, किमितिपाह—यद्ययिमत्यादि।

चक्रपाणिः—एवं मात्रादिकारणच्युत्पाद्नेन गर्भस्य समुदायप्रभवतां च्युत्पादितां दृष्टान्तेन दृद्धयत्नाह्—एवमयिमत्यादि । कृष्टागारं वर्त्तुं लाकारं गृहं जेन्ताकस्वेदप्रतिपादितम्, अन्ये तु वस्मादिकृतं सञ्चारगृहं कृष्टागारमाहुः । अत्र प्रकरणे यद्यपि मात्रादीनां सर्व्वेपां समुदितानामेव गर्भे प्रति कारणत्वम्, तथापि मातापित्रात्मसत्त्वानि विहाय सात्म्यरसयोरेव कारणस्वच्युत्पादने यत् 'समुदायोऽप्यत्र कारणम्' इत्युक्तम्, तत्रवं मन्यते—अत्र यथा मात्राद्यश्चत्वारोऽवश्यं गर्भप्रतिपादकम्ताः, न तथा सात्म्यो रसो वा । येन शुक्रशोणितसन्वात्मसंसगीदेव गर्भो भवति, नावश्यं गर्भमेलके सात्म्यरसयोरपेक्षा, गर्भमेलकोत्तरकालं सात्म्यरसाभ्यां गर्भस्य पृष्ट्याद्यो जन्यन्ते । तेन सात्म्ये रसे चावश्यं समुदायमपेक्ष्यं दर्शयति । यत्रैव 'समुदायोऽप्यत्र कारणम्, इत्युक्तम्, मात्रादयस्तु परस्परसमुदायमपेक्षमाणा अपि नावश्यं सात्म्यरससमुदायमादिगर्भमेलके-ऽपेक्षन्त इति पुनस्तत्र समुदायापेक्षित्वं नोक्तम् । 'समुदायावेषां भावानाम्' इत्यनेन प्रन्थेन, यत् परस्परसमुदायापेक्षित्वं नोक्तम् । 'समुदायावेषां भावानाम्' इत्यनेन प्रन्थेन, यत् परस्परसमुदायापेक्षित्वं मात्रादीनां चतुर्णाम्, तद्क्तमेव । यद्यपि गर्भे प्रत्यविशेषण सात्म्यरसयोरपि कारणत्वम् 'सात्म्यजश्चायं रसजश्चायम्' इत्यनेनोक्तम्, तद् गर्भमेलकोत्तरकालं कारणत्वेन, तथा मातापित्रोरिपि विशुद्धश्चक्रशोणितोत्पादहेतुतया पारम्पर्येण कारणत्वादिति ज्ञेयम् ॥ २१ ॥

चक्रपाणिः—पुनर्भरंद्वाजः पृष्छति—यद्ययमिःयादि । कथं सन्धीयत इति कया परिपाट्यां

मावानां समुदायादिभिनिव्वर्त्तते गर्भः, कथमयं सन्धीयते ? यदि चापि सन्धीयते, कस्मात् समुदायप्रभवः सन् गर्भो मनुष्यविश्व-हेण जायते ? मनुष्यश्च मनुष्यप्रभव उच्यते । तत्र चेदिष्टमेतद्द यस्मान्मनुष्यो मनुष्यप्रभवः, तस्मादेव मनुष्यिवश्रहेण जायते । यथा गौगोप्रभवः यथा चाश्वोऽश्वप्रभव इत्येवं यदुक्तमये समुदायाः मक इति तद्युक्तम् । यदि च मनुष्यो मनुष्य-प्रभवः कस्माज्ञडान्ध्रमुञ्जकुत्र मूक्मिन्मिनवामनद्यङ्गोनमत्तमुष्ठ-किलासिभ्यो जाताः पितृसदृश्कृषा न भवन्ति ?

अयं गर्भ इत्यन्वयः। कथमयमित्यत्रापि गर्भ इत्यनुवर्त्तते। कथं केन मकारेणायं गर्भो हेतुसमुदायान्मिलतीत्यर्थः। तत्र सन्वदा सन्वपामपत्यदर्जना-भावेन यदापत्योत्पत्तिहेतुकम्म परिणमित तदा मात्रादिहेतुसमवायः स्यात्। तत्र यद्यपि सन्धीयते तिर्धे कस्मात् समुदायमभवो मात्रादिपट्कमभवः सन् गर्भो मनुष्यविग्रहेण मनुष्याकारेण जायते। तत्र यदि मनुष्यो मनुष्यमभव इत्यतो मनुष्यविग्रहेण जायते इति तिर्धे कस्माच मनुष्यो मनुष्यभभव उच्यते। तत्र च मनुष्यो मनुष्यमभव इति वचने चेद् यदेगतिदृष्टं भविद्यस्तत् किमित्यत् आह—यसादित्यादि। मनुष्यमभव इति पितृरूपान्मनुष्यात् मभवो न हु मातृमनुष्यात्। अत्र दृष्टान्तो यथा गौरित्यादि। एवमुक्तमकारे सित तद्युक्तं मात्रादिपट्कसमुदायज इति वचनं यदुक्तं तद्युक्तम्। ननु कस्मात् तद्युक्तं मात्रादिपट्कसमुदायज इति वचनं यदुक्तं तद्युक्तम्। ननु कस्मात् तद्युक्तं मित्यत् आह—यदि चेत्यादि। तिर्धे कस्मादित्यादि। कृतः क्रभापी। मूको वाग्रह्तः। मिन्मिनः सानुनासिकवचनः। वामनो हस्वः। मनुष्यमभवतान्मनुष्य-विग्रहेण भवतु। मातापित्रनुरूपेण जङ्गदिभ्यश्च जाताः कस्माज्ञद्वयः पितृ-सद्यरूपा न भवन्तीति विग्रतिपत्तिरेका।

मिलतीत्यर्थः । मनुष्यविप्रहेण जायत इति मनुष्यजातौ कसान् मनुष्यविप्रहेणेव जायत इत्यर्थः । 'समुदायात्मकः' इति यदुक्तम्, तद्युक्तमित्यत्र मात्राद्यतिरिक्तजाविकथनेन तथा जातेरेव मनुष्यादि-रूपाया बलवत्कारणत्वेन यथोक्तमात्रादिसमुदायप्रभवत्वं न युक्तमिति भावः । दूषणान्तरमाह— यदि चेत्यादि । जदो जद्द्यद्विः । मिन्मिनः सानुनासिकः । पिनुसदशरूपा इत्यत्र पिनुशब्देन मातापितरौ भाद्यो । कारणसदशरूपत्वेन च चेन्मनुष्या भवन्ति, ते जद्दादिरूपकारणजाता अरि क्षथानापि बुक्तिरेवं स्थात् स्वेनैवायमातमा चचुषा स्पाणि वेत्ति, श्रोत्रेण शब्दान्, वाणेन गन्धान्, रसनेन रसान्, रपर्शनेन स्पर्शान्, बुद्ध्या वोद्धव्यमित्यनेन हेतुना जड़ादिश्यो जाताः पितृ-लहशा भवन्ति । अत्रापि प्रतिज्ञाहानिदोषः स्थात् । एवमुक्ते ह्यात्मा सत्स्विन्द्रियेषु ज्ञः स्थात् असत्स्वज्ञः, यत्र चैतदुभयं सम्भवति ज्ञत्वमज्ञत्वश्च स विकारप्रकृतिकश्चात्मा ६ निर्विकारश्च। यदि च दर्शनादिभिरात्मा विषयान् वेत्ति, निरिन्द्रियो दर्शनादि-

अपराश्चाह—अथात्रापीत्यादि। आत्मा स्वेनैवात्मन एव चक्षुरादिना रूपादीन् वेत्तीत्येवमेव रूपेण आत्मा जड़ेनैव स्वेन गभलेन जातो जड़ो भवतीतीष्ट्रगपत्तौ च मात्रादिसमुदायप्रभव इति प्रतिष्ठायाश्च हानिर्भवति। ननु कस्मात् पूर्वमकारेष्ट्रगपत्तौ प्रतिशा हीयते इत्यत आह-एवंस्को ह्यात्मेल्यादि। जड़ादिभ्यः पितृभ्यो जाता जड़ाद्यो भवन्तीत्येवमुक्ते सति। हिं यंख्यात सत्सु वर्त्तमानेष्विन्द्रियेष्वात्मा तु हः स्यात् असत्स्विन्द्रियेष्व इः स्यात्, तचापीष्टं चेत् तर्हि यत्रैतत् जलमजलञ्चेत्युभयं सम्भवति, स चारमा विकारमकृतिश्च निन्विकारश्च भवतु। तत्रापि यदि चेत्यादि। तिर्धि कारणसद्शत्वेन जङ्ख्पाः स्युरिति भावः । अत्र जङ्गदिवहूदाहरणकरणं पक्षस्य वहूदाहरणसिद्धत्वेन इद्द्वप्रतिपादनार्थम् । कृतं पूर्वपक्षसमाधानमाशङ्कते—अथात्रेत्यादि । स्वेनैवेति आत्म-क्तमोवार्जितेनैव। तेन इन्द्रियाणि यसांदात्मजान्युक्तानि, न तु मातापितृरूपमनुप्यजन्यानि, ततश्च पित्रोरिन्द्रियं प्रत्यकारणत्वे न तदिन्द्रियसदशानीन्द्रियाण्यपेक्ष्येव भवन्तीति भावः। स्वेनवेत्यादि श्रोत्रादिभिरपि सम्बध्यते। जदादिभ्योजाता इत्यत्र आदिशब्दः प्रकारवाची। र्तन कुञ्जकुप्ट्यादीनां प्रहणम् । कुञ्जत्वकुष्टत्वायाधारमूतं हि शरीरं नात्मजम्, किन्तु माता-पितृजमेव। ततश्च कुन्जादिजातस्य कुन्जादिप्रसङ्गेनैवापकृतत्वं तदवस्थमेव। आशक्कितं समा-भानं दूर्पयति अन्नापीत्यादि । प्रतिज्ञादोपः स्यादिति, 'आत्मा ज्ञः' इत्यादिना आत्मनो ज्ञत्य-प्रतिज्ञायाः, तथा 'निर्विकारः परस्त्वात्मा' इत्यादिना निर्विकारत्वप्रतिज्ञायाः कृताया दोपः स्यादिति भावः। असत्स्वज्ञ इत्यनेन कदाचिद्ज्तत्वात् प्रतिज्ञातज्ञत्वम् न्याहतम्, इन्द्रियाधीन-स्वेन ज्ञत्वमात्मनः पराचीनं सन्न वास्तवं स्यादिति भावः। यत्रेत्यादिना स्विकारत्वं साध्यति। श्रुत्वपरित्यागेनाज्ञत्वे प्रकृतेरयथाभूतत्वेन विकारो भवतीति भावः। सविकार इति 'विकारवान्' इत्यथी मृतुब्लोपान् झेयः। आत्मन इन्द्रियाधीनत्वेन झत्वे दूपणान्तरमाह—यदि चेत्यादि। * स विकारप्रकृतिकश्वातमा इत्यत्र स विकारश्वातमा इति चक्रधतः पाठः ।

विरहोदज्ञः स्यात् अज्ञत्वादकारणमकारणत्वाचानात्मेति त्राग्-वस्तुमात्रमेतद्वचनमनर्थकं स्यादितिहोवाच भरद्वाजः॥ २२॥

श्रात्रेय उवाच। पुरस्तादेतत् प्रतिज्ञातं सत्त्वं जीवस्पृक्-श्रीरेण श्रभिसंवध्नातीति। यस्मात् तु समुदायप्रभवः सन् स गर्भो मनुष्यविग्रहेण जायते मनुष्यो मनुष्यप्रभव इत्युच्यते तद् वद्यामः॥ २३॥

भूतानां चतुर्विधा योनिर्भवति जराय्वराडस्वेदोन्निदः। तासां खलु चतस्त्रणामिष योनीनामेकैका योनिरपरिसंख्येयभेदा भवति भूतानामाकृतिविशेषापरिसंख्येयत्वात्। तत्र जरायुः निरिन्द्रियत्नेनाबलान्बलाच अकारणलमकारणलाचानात्मायं गभंः स्यादितिं, तस्मात् मात्रादिसमुदायाद्वभौ भवतीति प्रतिबाहानिदोपः स्यात्। नन्वस्तु गभंः सोऽनात्मा निरिन्द्रियस्तु यः स्यादिति तु वाग्वस्तुमात्रमेतद्वचनमनथेकं स्यात् सेन्द्रियो निरिन्द्रियः सर्वेः प्राणी सात्मा वस्तुत इतिहोवाच स कुमारिशरा भरद्वाजः॥ २२॥

गङ्गाधरः—अत्रापि विमितिपत्तावात्रेय उवाच। किम्रुवाचेत्यत आह— पुरस्तादित्यादि।।२३।।

गृङ्गाधरः—तद्वस्थाम इति यत् तदाह—भूतानामित्यादि। भूतानां प्राणिनाम्। योनीनामपरिसङ्घायभेदेषु हेतुमाह—भूतानामाकृतीत्यादि। अज्ञत्वादकारणमिति, अज्ञत्वादकारणं द्वारीरप्रेरणादौ न कारणं स्यादित्यर्थः। अक्वारणत्वाच # नात्मेति द्वारीरप्रेरणादौ बुद्धिनिष्पादेयऽकारणत्वाद् या चेतनाचेतनपञ्चमूतातिरिक्ता चैतन्यधार्यात्म- द्वाव्या इत्यर्थः। वाग्वस्तुमात्रमित्यर्थरिहतशब्दमात्रमेतत् यद्व्यते—आत्मा स्वेन चक्षुपा स्यं पद्यतीत्यादि॥ २२॥

चक्रपाणिः — आत्रेयः समाद्धाति — पुरस्तादित्यादि । एतच्च 'कथमयं सर्न्धीयते' इत्यस्योत्तरम् । सर्व शुक्रात्तेवसन्धानकारणमित्यर्थः ॥ २३ ॥

चक्रपाणिः — गृतानामिति प्राणिनाम् । योनिजीतिः । यद्यपि योनिशब्दः कारणवचनः, तथापि जराय्वादिरूपयोनिजाता अपि जराय्वादय एवोच्यन्ते कार्य्ये कारणोपचारात् । आकृतिः संस्थानम्, तस्या विशेषाः परस्परविसदशाकृतय एव नरकरितुरगादिरूपाः । सम्भावियोनिभेदं

^{*} अञ्चलात् कालकृत्रेशरीरमे रणाविति पाठान्तरम् ।

जानामगडजानां प्राणिनामेते गर्भकरा भावा यां यां योनिमापद्यन्ते तस्यां तस्यां योनौ तथातथारूपा भवन्ति। तद् यथा—कनकरजतताम्रत्रपुसीसान्यासिच्यमानानि वै तेषु तेषु सधूच्छिष्टावस्वेषु छ। तानि यदा मनुष्यविम्बमापद्यन्ते तदा मनुष्यविग्रहेण जायन्ते। तस्मात् समुदायप्रभवः सन् स गर्भो मनुष्यविग्रहेण जायते मनुष्यो मनुष्यप्रभव इत्युच्यते तह्योनित्वात्॥ २४॥

तत्र चतस्यु योनिषु चतुषु वा जराय्वादियोनिजेषु मध्ये जरायुजानां प्राणिनामण्डजानाञ्च प्राणिनां न तु स्वेदजानामुद्भिज्जानाञ्च गर्भकरा गर्भ-कारकाः शुक्रशोणितादयो भावा यां यां मनुष्यगोगजाश्वस्तरादिकां योनिम् आपचन्त, तस्यां तस्यां मनुष्यगोगजाश्वलरादिकायां योनौ तथातथारूपा मञ्जूष्यगोगजाश्वखरादिरूपा भवन्ति। ननु केन प्रकारेण तथातथारूपा भवन्तीत्यत आह—तद् यथेत्यादि । त्रपुरत्र वङ्गम् । तेषु तेषु मनुष्यगोगजाश्व-खरादिरूपषु मधूच्छिप्टविम्बंषु मधुमलनिम्मितविग्रहाकरेषु आसिच्यमानानि इतकनकादीनीव तथातथारूपा भवन्ति। एतच भाष्यरूपेण विदृणोति— मनुष्यगोगजाश्वस्तरादिविम्बेषु मध्ये मनुष्यविम्बं तेषु तेष्वित्यादि । म्थूमलनि स्मित्मतुष्यविग्रहाकरं कनकादीन्यापद्यन्ते तदा मनुष्यविग्रहेण जायन्ते आसिच्यमानानि द्रतकनकादीनीति शेषः। तस्मात् मनुष्यविम्वरूप-योनिम् आपन्नतात्। तद्योनितात् मनुष्यविग्रहाकरविम्वतात्।। २४।। योग्यानुकारी भवति, तदाह—तत्रेत्यादि। गर्भेत्यादि। गर्भकरा शुकादयः । मधूच्छिष्टविप्रहेष्विति सिक्थकेन मृत्तिकायां निर्मितसञ्चकरूपविप्रहेषु । मनुष्य-विम्बमिति मनुष्याकारं सिक्थककृतसञ्चकम्। कनकादिवहुद्रक्योदाहरणम्, यथा कनकान हीनां बहूनामपि मनुष्यसञ्चकसिक्थकस्थानां मनुष्याकृतिजनकत्वम् तथा शुकादीनामपि बहुनां मनुष्ययोनिपतितानां मनुष्यविष्ठहकर्नुं त्वामिति साधम्मयोदाहरणाथम् । समुदायात्मकः सन्निति यद्यपि समुदायजन्यः, तथापि योनिरूपकारणमहिस्ना स्वयोनिसदश एव भवति, नान्य-योनिसद्याः। न च कारणधर्माः पर्व्यनुयोगमहंति। तेन शुक्रादिसमुदायोऽपि कारणं भवति, मातापितरो विशेषेण गर्भस्य सजातीयत्वे कारणं भवत इति न कदाचित् क्षतिः। तद्योनित्वा-विति विशेषेण मनुष्यस्य कारणत्वात् ॥ २४ ॥

^{· 🔞} मधूच्छिष्टविब्रहेषु इति चक्रघृतः पाठः ।

यचोक्तं यदि च मनुष्यो मनुष्यप्रभवः कस्मान्न जड़ादिभ्यो जाताः पितृसदृश्रूषा भवन्तीति। तत्रोच्यते यस्य यस्य ह्यङ्गावयवस्य वीजे वीजभाग उपत्रतो भवति, तस्य तस्याङ्गावयवस्य विकृतिरुपजायते, नोपजायते चानुप-तापात् तस्मादुभयोरुप्यत्तिरि । अत्र सर्व्वस्य चात्मजानीन्द्रि-याणि तेषां भावाभावहेतुदैवम्, तस्मान्नेकान्ततो जड़ादिभ्यो जाताः पितृसदृश्रूषा भवन्ति ॥ २५॥

गङ्गाधरः—द्वितीयदोपमुद्धरति—यच्चोक्तं यदि चेत्यादि। तस्य सिद्धान्तमाह—तत्रोच्यत इत्यादि। हि यस्मात्। यस्य यस्याङ्गावयवस्ये त्यादि। तस्मात् तत्तद्वयववीजे वीजाभागानुपतापानुपतापाभ्यामङ्ग-विकृत्यविकृतिजननात् तदुभयोपपत्तिविकृताविकृतयोरुभयोरुपपत्तिरिप भवति। अत्र विकृताविकृतोभयोपपत्ती च सर्व्वस्य पुरुपस्यात्मजानीन्द्रियाणि। तेपामिन्द्रियाणां भावाभावहेतुविकृताविकृतसद्भावाभावानां हेतुर्दैवं पूव्यजन्म-कृतं कम्म तस्मादिन्द्रियाभावभावयोद्धेवस्य हेतुत्वात् एकान्ततो जङ्गादिभ्योः जाताः पितृसद्शरूपा न भवन्ति। तस्मात् यदि च मनुष्यो मनुष्यप्रभवः कस्मान्न जङ्गादिभ्योः जाताः पितृसद्शरूपा भवन्तीति न वाच्यम्।। २५।।

चक्रपाणिः—वीज इति शुक्रशोणिते । वीजस्याङ्गप्रत्यङ्गनिव्वर्त्तको भागो वीजभागः । उभयोपपत्तिर्प्यप्रेति पितृसदृशा भवन्ति न भवान्त चेत्यर्थः । आत्मजानीति आत्मप्रतिवद्धकार्मजानि ।
भावाभावहेतुद्वेविमिति इन्द्रियभावे इन्द्रियजनकं शुभम्, इन्द्रियाभावे चाशुभं देवं हेतुरित्यर्थः ।
अपसंहरति—तस्मादित्यादि । एवं मन्यते—मनुष्यवीजं हि प्रत्यङ्गवीजभागसमुदायात्मकं स्वसद्धन्नप्रत्यङ्गसमुदायरूपपुरुपजनकम् । आत्मजानि इन्द्रियाणि च भोगसाधनानि आत्मप्रतिवद्धकामीधीनानि । तेन पिता यदि कुष्ट्यपि भवति, वीज न दृष्टं भवति कुष्टाधानत्वगादिजनकम्, ततो
निष्कुष्टान्येव त्वगादीन्यनुपतप्तत्वगादिवीजात् सद्द्यानि जायन्ते, यदा त्वतिवृद्धकुष्टतया पित्रोवीजमपि कुष्टजनकदोपदृष्टं भवति, तदा दृष्टत्वगादिवीजभागात् कुष्ठदृष्टेव त्वग् जायते । यद्कम्,—
"स्त्रीपुंसयोः कुष्टदोपाद् दृष्टशीणितशुक्रयोः । यदपत्यं तयोजीतं न्नेयं तदिप कुष्टितम्" इति । एवं
कुष्टिनो यदि हेतुबलाद् वीजे कुष्टजनको दोषो भवति, तदा कुष्टिनोऽपि कुष्टवद्पत्यं भवति ।
अन्धत्वादाविन्द्रियोपधातरूपे दृद्दैवमेव कारणम् । तचान्धापत्येऽप्यवद्यमस्ति । तेन यदान्धेऽपत्येऽप्येवं पितृपूषधातकमशुभं भवति, तदा काकतालीयन्यायादन्धजातोऽप्यन्धो दृद्दयते । एवं
कुष्टजादौ जहादौ च व्याल्येयम् ॥ २५ ॥

न चात्मा सत्स्विन्द्रियेषु ज्ञोऽसत्सु वा भवत्यज्ञः। न ह्यसत्त्वः कदाचिदात्मा। सत्त्वविशेषाचोपलभ्यते ज्ञानविशेष इति ॥ २६

भवन्ति चात्र।

न कर्त्तुरिन्द्रियाभाशत् कार्य्यज्ञानं प्रवर्त्तते । येः क्रिया वर्त्तते या तु छ सा विना तैर्न वर्त्तते ॥

गङ्गाधरः—अथात्मा सत्स्विन्द्रियेष्वित्यादिना यदुक्तं तदिष न वाच्यम् कृत इत्यत आह—न चेत्यादि। न चाजो भवत्यात्मेत्यन्वयः। कृतोऽसत्-स्विन्द्रियेष्वात्मा नाजो भवतीत्यत आह—न ह्यसच्च इत्यादि। कदाचिदिष काले आत्मा हि यस्मान्नासच्चो मनोऽनुवन्धरिहतो न भवति। ति किं सिक्वदा सच्चरूषः सच्चवानित्यत आह—सच्चविशेषाच्चेति। यदा यदा यादशसच्चवान् आत्मा भवति तदा तदा तस्मादेव सच्चविशेषाज् ज्ञानविशेष उपलक्ष्मते तस्यात्मन इति। द्रक्षाद्यचेतनेऽपि ह्यात्मान्तइचेतनोऽभ्यन्तर् इति स्वितम्।। २६।।

गृङ्गाधरः—तथाविधार्थं दर्जयति वेदममाणेन—भवन्ति चात्रेत्यादि। न फर्जु रित्यादि। इन्द्रियाभावात् कर्जुः कार्य्यज्ञानं न प्रवर्तते इति। तर्हि किम् इन्द्रियसद्भावेन कार्य्यज्ञानप्रवर्त्तने कर्जुः कार्य्यक्रियाभिनिन्द्ये त्तिः स्यादित्यत आह—येरित्यादि। येहेत्भिर्यो क्रिया वर्त्तते तैहेत्भिर्विना सा न वर्तते इति।

चक्रपाणिः—या चाज्ञस्वप्रसिक्तरात्मन्युक्ता, तन्नाह—न चेत्यादि। इन्द्रियभावे तथेन्द्रियाः भावेऽपि नित्यं ज्ञानवानेवात्मा इति प्रतिज्ञार्थः। न ह्यसत्त्वः कदाचिद्दित्यन्न 'हि'शब्दो हेतो। तेन यसात् सर्व्वदा समनस्क एवात्मा। तेन बाहेपन्द्रियाभावेऽप्यन्तः करणमनोयोगात् नित्यमात्मा मनःकरणको ज्ञानवानेवायमित्यर्थः। यत्त्वेतद् वाह्यविपयगतं ज्ञानम्, तत् सत्त्वस्येन्द्रियाधिष्ठान-विशेषाद् भवति। तेन इन्द्रियाभावे इन्द्रियजन्यं विशिष्टं ज्ञानं न भवति। यत् तु केवल- मनोजन्यमात्मज्ञानम्, तद् भवत्येव सर्वदा। तस्माद् यन्तित्यभावि मनःसन्निधिमात्रजन्यमात्म- ज्ञानम्, तत् सद्वास्ति। २६॥

चक्रपाणिः—न चास्य ज्ञानजननशक्तिः पराहता भवतीत्याशयेनाह—न कर्तुं रित्यादि । कार्य-ज्ञानमिति कार्यप्रवृत्तिजनकवाह्यविषयज्ञानम् । तेन निर्धिपयं ज्ञानमात्मन इन्द्रियामावे भवतीति

^{*} या क्रिया वर्त्तते भावेरिति चक्रसम्मतः पाठः ।

जानन्नपि मृदोऽभावात् कुम्भक्तन्न प्रवर्तते । शृणुया ७ वेदमध्यात्ममात्मज्ञानवलं महत् ॥ इन्द्रियाणि च सङ्किप्य मनः संग्रह्म चञ्चलम् । प्रविश्याध्यात्ममात्मज्ञः स्व ज्ञाने पर्यवस्थितः ॥ सर्वत्रत्र विहित्ज्ञानः सर्व्वभावान् परीच्रते । गृह्णीष्व वेदमपरं भरद्वाज विनिर्णयम् ॥ निवृत्तेन्द्रियवाक्चेष्टः सुप्तः स्वप्तगतो यदा । विषयान् सुखदुःखे च वेत्ति नाज्ञोऽप्यतः स्मृतः ॥

नतु कस्मादिन्द्रियसद्भावेन कत्तुः कार्य्यज्ञानपरस्तौ न क्रियाभिनिन्द त्तिः इत्यत आह—जानन्तर्पीत्यादि । कुम्भकृत् सेन्द्रियो जानन्तरि कुम्भं कर्त्तं मृदो-ं अभावात् मृत्तिकाया अभावात् न च कुम्भं कर्त्तुं प्रवर्त्तते प्रभवति। इत्यश्चात्मा यद् यदिन्द्रियवान् भवति तत्तदिन्द्रियकार्येज्ञानवान् भवतीति। तथाचाध्यात्मम् आत्मानमधिकृत्य वेदं शृणुयाः वेदमाहात्मज्ञानवर्छं महदिति। **धानमेव वर्खं महद्वलम्**। नन्वात्मज्ञानवछं कुतो भवतीत्यत आह— ·इन्द्रियाणीत्यादि । श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि शब्दश्रवणादितः सङ्घिप्य निवर्त्त्य ्चश्चर्छं नानाविधविषयाभिलाषि मनः स्वार्थेचिन्त्याचिन्त्यादितः संगृह्य निवर्त्त्य .अध्यात्ममात्मनि अधिकृत्य स्वे ज्ञाने आत्मज्ञाने प्रविश्यात्मज्ञः पर्य्यवस्थितः :सन्वतोभावेनावस्थितः सन् सर्वेत्र चराचरे विहितकानः कृतकानः सन् -सर्वेबः सन् सर्वभावान् चराचरान् परीक्षते विजानीते। स्वगुरुभरद्वाजसिद्धान्तनिदर्भनवेदं दर्भयति—गृह्गीष्वेत्यादि। निरुत्ताः श्रीत्रादिपश्चबुद्धीन्द्रियाणि वाक चेष्टा यस्य स े सुचयति। भावैरित्यत्र 'यैः' इति शेपः। वर्त्तते उत्पद्यते। अत्रैव दृष्टान्तमाह—जानन्नपीत्यादिः। े घटं कर्तु जानन्नपीत्यादि योज्यम् । मृदो मृत्तिकाया अभावात् । आत्मनो ज्ञत्वे साधनान्ठरमाह— श्च्यतामित्यादि । -आत्मानमधि अध्यात्मम्, तद्भवमध्यात्मम् । आत्मनो ज्ञानस्य बलमात्म-ंज्ञानबलम् । सङ्क्षिप्येति विपयेभ्यो न्यावर्त्यं, मनः सङ्क्षिप्येति मनोऽप्यात्मन्यतिरिक्तविपग्रान् निगृद्य । · चन्नरुमिति स्वभावः । स्वे ज्ञान इति आत्मज्ञाने । सर्विभावान् परीक्षतः इति विनापीन्द्रियैः ंसमाधिबलांदेव यसात् सर्व्वज्ञो भवति, तसाज्ज्ञस्वभाव एव निरिन्द्रियोऽप्यात्मा ।

^{*} श्रूयतामिति चकः।

नात्मा ज्ञानाहते चैको ज्ञातुं किश्चित् प्रवर्त्तते छ। न हेरको वर्त्तते भावो वर्त्तते नाप्यहेतुकः ॥ तस्माज्जः प्रकृतिश्चातमा द्रष्टा कारणमेव च। सर्व्यमेतद् भरद्वाज निर्गीतं जिहसंशयम् ॥ २७॥

वस्थां गतः विपयान् सुखदुःखे च वेत्ति। एतचोदाहरणपद्रजनमात्रं तेन अपिशन्दात् सुपुप्तिमापन्नोऽपि सुखमात्रं वेत्ति । समाध्यवस्थायामात्मानश्च वेत्तीत्यतोऽपि हेतोर्वात्माऽहो न स्मृतः। नतु समाध्यवस्थायाम्पि किमात्मा नाको भवति इत्यत आह—नात्मा कानादित्यादि । कानादते एकः केवल आत्मा ब्रह्मरूपः किञ्चिज्ञातुं न प्रवर्त्तते ज्ञानाभावात् किमपि ज्ञातुं कर्तुं वा प्रभवति। ननु कस्मान बातु प्रवत्तेते न वा कत्ते मित्यत आह—न हेरक इत्यादि। एको भावो हि यस्मान सर्वावस्थायां वर्तते अहेतुकश्च भावो नापि वर्तते। भवतीति भावः उत्पत्तिशीलः, उत्पत्तिश्च सतो ह्यवस्थान्तरगमनं तस्मात् तेजोऽवन्नादिः सन्वौ भावः सहेतुकस्तथा च वैकारिकाद्यहङ्कारयोगेण केवलस्यात्मनो विश्वरूपाद्यवस्थागमनं जन्मोच्यते स्वयमेव तथाभूतलात्। तथाभूतश्चात्मा भाव एव द्रव्यमध्ये पिटतः, न हेमको वर्ततेऽनादिरपि नाप्यहेतुकः तस्माज्इः प्रकृतिश्च महदादीनां, न तु विकारः जवाक्कसुमादिप्रतिविम्वविम्वित-विमलस्फटिकोपलवत् सुर्य्यकरनिशाकरकरतिमिरापरक्तगगनवद्वा वैकारि-काचहङ्कारादिविस्त्रितो ह्यात्मा द्रष्टा न तु भोक्ता सर्व्वजगतां कारणमेव, केवलस्वात्मा मुक्तः स्वयम्भुवि भगवति हिरण्यगर्भे लीनो भवति, सोऽपि पुरुपस्तद तिरिक्तकेवल-परमन्योमरूपान्याकृतदेही टहतपुरुपः प्रः

लौकिकं निरिन्दियस्य ज्ञानसद्गावोदाहरणमाह—गृह्णीप्वेत्यादि। ंस्वप्नदर्शनावस्थायां प्राप्तान् । आत्मज्ञानविषयज्ञानयोर्विशेपमाह—आत्मेत्यादि । आत्मज्ञानात् नित्यात् विना । किञ्चिज्ञानं विपयजम् । एकमसहायम् । न वर्त्तते इन्द्रियादिकारणरूपसहायं .विना नोत्पराते । क्षात्मज्ञानञ्च नित्यमेव साङ्खेत्रऽप्युक्तम् ;—''चिच्छक्तिपरिणामिनी'' 'इत्यादिना "आत्मनः" इत्यन्तेन । अत्रोपपत्तिमाह – न हेनको वर्त्तते भाव इति । भाव उत्पत्तिधम्मी एकः सन् कारणरहितः सन् न वर्त्तते । तेनोपपद्यते । तथा भावः कारणजन्यत्वे सत्यपि अहेतुक इति ः अकत्तुं को न वर्त्तते, किन्तु कुम्भकाराधिष्ठितान्येव मृचकादीनि प्रवर्त्तन्ते । तसाद्विपयज्ञानान्यपि इन्द्रियमनोऽर्थेस्तथा चात्मना जन्यन्त इति भावः। उपसंहरति—तसादित्यादि। अत्र चात्मनो

^{*} आत्मज्ञानाइते चैकं ज्ञानं किञ्चित्र वर्त्तते इति चक्रधतः पाठः।

तत्र श्लोकौ।
हेतुर्गर्भस्य निर्व्यु त्तौ वृद्धौ जन्मनि चैव यः।
पुनर्व्वसुमितर्या च भरद्वाजमितश्च या॥
प्रतिज्ञा प्रतिषेधश्च विशदश्चात्मनिर्णयः।
गर्भावक्रान्तिमुहिश्य खुड्डीकां संप्रकाशितम् ॥ २८॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शारीरस्थाने खुड्डीका-गर्भावकान्तिशारीरं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३॥

ब्रह्मभागस्याधुना सर्गस्थितौ सद्भावो नास्तीति सर्व्वसम्मतम् । न हेरको वर्षते भावो वर्त्तते नाप्यहेतुक इति । अत एवाह—सर्व्वमेतदित्यादि । जहि-संशयमिति जहिस्तम्भ इत्यादिवत् समासः ॥ २७ ॥

गङ्गाधरः—अथाध्यायसंग्रहार्थमाह—तत्रेत्यादि । हेतु स्त्यादि स्पष्टम् ॥ २८ अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि । इति खुड्डीकेत्यादि ।

इति वैद्य श्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ शारीर-स्थानजल्पाख्ये चतुर्थस्कन्धे खुड्डीकागर्भीवक्रान्ति-शारीरजल्पाख्या तृतीयशाखा ॥३॥

भ्रत्वाज्ञस्वं प्रसक्तोपपादितम् । सविकारत्वमात्मनः नित्यज्ञानवल * साधनेन परिहृतमिति न पृथकः परिहृतम् । भरद्वाजशब्देनेह नात्रेयगुरुरुव्यते, किन्तु अन्य एव भरद्वाजगोत्रः कश्चित्। तेन संशयच्छेदनमात्रेयेणोपपन्नमेव ॥ २७ ॥

चक्रपाणिः—संप्रहे हेतुशब्दो गर्भादिषु जन्मान्तेषु सम्बध्यते । प्रतिज्ञानिषेधो भरद्वाजकृतो श्रेयः । तत्साधनञ्ज यदात्रेयस्य, तद् विश्वदश्चात्मनिर्णयः इत्यनेनोक्तम् । 'तद्' इति सामान्येन मात्रादि प्रत्यवमर्पयन्नपु सकम् ॥ २८ ॥

हृति चरकचतुराननश्रीमचकपाणिद्त्तिवरिचतायामायुर्व्वेददीपिकायां चरकतात्पर्य्यटीकायां शारीरस्थाने खुड्डीकागर्भावकान्तिशारीरं नाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

^{*} तत् प्रकाशितमिति चकः।

^{*} नित्यज्ञानवस्वसाधनेन इति पाठान्तरम् ।

· चतुर्थोऽध्यायः । 🔧 😁 🕟 🦠

अथातो सहतीगर्भावकान्तिशारीरं व्याख्यारयासः, इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

यतश्च गभः सन्भवति यस्मिश्च गर्भसंज्ञा यद्विकारश्च गर्भो यया चानुपूठ्याभिनिव्वर्त्तते कुचौ यश्चास्य वृद्धिहेतुर्यतश्च अस्याजन्म भवति यतश्च जायमानः कुचौ विनाशं प्राप्तोति यतंश्च कार्त् स्न्येनाविनश्यन् विकृतिसापद्यते तद्नुद्याख्यास्यामः ॥ २ ॥ सातृतः पितृत आत्मतः सात्स्यतो रसतः सत्त्वत इत्येतेभ्यो

गृह्मधरः—अथ गभस्य कारणानां विनिश्चयानन्तरं गर्भसंबादिबानार्थं महतीं गर्भावक्रान्तिं वारीरमारभते—अथात इत्यादि । जज्जीत् परलोकादेत्य गर्भलेनाव जीवलोके क्रम्यते आत्मनित गर्भावक्रान्तिः। तामधिकृत्य कृतं वारीर-मिति तिद्धतल्लिक युक्तवद्व्यक्तिवचने । अस्य महत्त्वं यतो गर्भसम्भवः यरिमंश्च गर्भसंबा यद्विकारश्च गर्भौ यया चानुपूट्व्याभिनिव्यंत्ते गर्भः क्रुक्षावित्येव-मादुप्रपदेशवत्त्वात् । पूर्व्वाध्यायस्य यतो गर्भसम्भवस्तस्यैव प्रपश्चमात्रेण खुड्डाकल्लमेतद्वेद्ध्य । अन्यच सर्व्वं पूर्व्ववद् व्याख्येयम् ॥ १॥

गङ्गाधरः—यतक्रचेत्यादिकाः प्रतिज्ञाता व्याख्यातुमारभ्यन्ते। यतश्र गर्भः सम्भवतीति प्रतिज्ञार्थं व्याचष्टे॥२॥

गङ्गाधरः—मातृत इत्यादि । तस्य गर्भस्य यतो यतो मात्रादितः सम्भवत-स्तान् मातृजादीनवयवान् लक् च लोहितञ्चेत्यादिना मातृजानवयवान्, केशक्मश्र्नखेत्यादिना पितृजान्, तासु तासु योनिपूत्पत्तिरित्यादिनात्मजान्, आरोग्यमनालस्यमित्यादिना सात्म्यजान्, शरीराभिनिन्दे तिरिभद्दिः

चक्रपाणिः—खुद्दीकागभीवकान्तिप्रपञ्चत्वान्महत्या गभीवकान्तेरनन्तरमिधानम् । यत इति यतः कारणात् । यद्विकार इति यनमय इत्यर्थः । ययानुपूर्व्या येनानुक्रमेणेत्यर्थः । कारस्तेतन - अविनञ्चनिति मरणमगच्छन्निति ॥ ११२ ॥

चक्रपाणिः—'मातृतः' इत्यादिना 'सम्भवति' इत्यन्तेन चोक्तञ्च मातृजादय एव प्रोक्ता इति वाक्यार्थः फलति । अयञ्च वाक्यार्थो यद्यपि पूर्वाध्याय एवोक्तः ''मातृजधायम्'' इत्यादिना, तथापि

भावेभ्यः समुदितेभ्यो गर्भः सम्भवति। तस्य ये येऽवयवा यतो यतः सम्भवतः सम्भवन्ति, तान् विभन्य मातृजादीन् अवयवान् पृथक् पृथगुक्तमये। शुक्रशोणितजीवसंयोगे कृचि-गते गर्भसंज्ञा भवति। गर्भस्वन्तरीच्चवाथ्वियतोयभूमि-विकारस्चेतनाधिष्ठानस्तः। एवमनयेव युक्तया पञ्चमहाभूत-विकारसमुदायात्मको गर्भश्चेतनाधात्विधष्ठानस्तः। स ह्यस्य षष्ठो धातुरुक्तः॥ ३॥

इत्यादिना रसजान, भक्तिः शीछं शौचिमत्यादिना सत्त्वजान विभज्य विभागशो निहिंश्य, अग्रे खुडीकागभीवकान्तौ। इति यत्रश्र गर्भः सभ्भवतीति प्रतिज्ञानार्थौ व्याख्यातो भवति। अथ यस्मिश्र गर्भसं त्रा तद्र व्याख्यास्याम इति प्रतिज्ञानार्थं व्याख्यातुमाह—शुक्रेत्यादि। क्रिक्षिगते गर्भाशयगते। सुश्रूते-ऽप्युक्तं—शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मकृतिविकारसम् एच्छेतं गर्भे इत्युच्यत इति। इति यस्मिश्र गर्भसं ति प्रतिज्ञानार्थो व्याख्यातो भवति। अयं गर्भसतु यद्विकारस्तद् वुच्याख्यास्याम इति यत् प्रतिज्ञानं तद् व्याख्यायते—गर्भस्तित्यादि। अन्तरीक्षादिपश्चभूतिवकारोऽयं गर्भस्तत्रान्तरीक्षमेकविधम् अकम्बास्मकतात्। सिक्रयतात् तु वाय्वादीनि स्वस्थळ्पादिळ्पमूत्तीं नि पोइश्वादिणानि—तत्रात्मजानि चलारि, पाद्यादीनि अमिश्राणि पूर्वकृतकम्मेफलानु-विधानि—तत्रात्मजानि चलारि, पितृजानि चलारि, रसजानि चलारि, इति पाश्च-मौतिकानि द्वादश मिश्राणि। चेतनाधिष्टानभूत इति आत्मनो विकारा-भावादात्माधिष्टानभूत एव न लात्मविकार इत्यर्थः। उपसंहरिन्ममथेमाह—एवमनयत्यादि। स हीत्यादि। हि यस्मात् स चेतनः क्षेत्रज्ञ आत्माऽस्य

प्रश्नक्रमिवशुद्धवनुरोधात पुनिरिह कृतः। येन प्रथमं कारणम्, तदनु कार्य्यस्पो धर्मोऽिमध्य इति
क्रमण प्रश्नः शोभते। यत् तु 'शुक्रशोणितसंसर्गमन्तर्गभाशयगतम्'' इत्यादिना, 'गर्भोऽिमिनिवर्नते'
इत्यन्तेनोक्तम्, तत्र अयमसौ 'गर्भ'शब्दाभिधयोऽर्थं इति नाभिहितमेव। तेन न गर्भसंज्ञाभिध्रेयार्थस्याकरणं पुनस्तमेव। कृक्षिगत इति कुक्ष्येकदेशगतगभीशयगते। संयोग इति सम्यग्योगे। तेन जीवस्यातिवाहिकशरीरेण योगः संगृह्यते, न त्वात्मनो व्यापकत्वेन यो योगो गर्भजनकः। एवंभूतसंयोगो यद्यपि कुक्षावेव भवात, तथापि सिद्धमेवार्थं शिष्यं प्रतिपाद्यितु 'कुक्षिगते'
इति पदं कृतम्। गर्भस्तिवत्यादिः। गर्भोरम्भकाण्यपि म्ह्रमादीनि परित्यज्यान्तरिक्षमादी कृतः

यया चानुपूट्यां भिनिवर्वत्तेते कुचौ तदनुव्याख्यास्यामः।
गति पुरागो रजिस, नवे चाविश्यते, पुनः शुद्धस्नातां स्त्रियमव्यापन्नयोनिशोणितगर्भाशयाष्ट्रतुमतीमाच्चमहे। तया सह
तथाभूतया यदा पुमानव्यापन्नवीजो मिश्रीभावं गच्छिति
तस्य हर्षोदीरितः परः शरीरधात्वात्मा शुक्रभूतोऽङ्गादङ्गात्
जीवस्य पष्टो धातुरुक्तः, पश्च चान्तरीक्षादयो धातवः। इत्येतत्पद्धातुसम्भवस्तु गर्भः। इति यद्विकारश्च गर्भस्तदनुव्याख्यास्याम इति प्रतिधातायौ
व्याख्यातो भवति॥३॥

गङ्गाधरः—अथ यया चानुपूव्चर्या गभौऽभिनिर्चत्तते कुक्षौ तदनुच्याख्या-स्याम इति प्रतिकातार्थं स्मारयति - यया चानुपूट्येत्यादि। गते पुराणे रजसीत्यादि । पुराणे क्रमेण मासेन सिञ्चतं रजः पुराणमुच्यते, तस्य परच्या गतेऽतीते त्रिरात्रान्ते चतुर्थे दिने नवे नूतने रजिस अवस्थिते पुनः शुद्धस्ताताम् ऋतुस्ताताम् अन्यापन्नयोनिमव्यापन्नशोणितामन्यापन्नगर्भाशयां । योनिन्यापदः शोणितदोपा गर्भाशयदोपाश्च वक्ष्यन्ते। तथाभूतया अन्यापन्नयोनिशोणित-गभोशयया तया स्त्रिया सह अन्यापन्नवीजोऽपदुष्टशुक्रः पुमान्। शुक्रदोपाश्र वध्यन्ते योनिव्यापदध्याये। मिश्रीभावं मैथुनम्। तस्यचु मत्या स्त्रिया सह संसर्ग गच्छतः पुंसो मैथूनजहपौदीरितः मेरितः परः श्रेष्ठश्ररमः शरीर-वस्यमाणमृतम्रहणानुरोधात्। वस्यति हि—"योऽन्तरिक्षं पृट्वंतरमन्येभ्यो गुणेभ्य उपादत्ते" इत्यादि । चेतनाधिष्टानमृत इति आत्मनो भोगायतनस्वरूप इत्यर्थः । 'चेतना'शब्देन आत्मोच्यते । किंवा 'मृत'शब्दः साहर्ये, चेतनाधिष्टानिव शरीरमित्यर्थः। न तु परमार्थतो निराश्रयस्यात्मनो भोगायतनत्वन्यतिरेकेण शारीरमाश्रयो भवति । अनया युक्तेत्रति अनया भृतविकाररूपया योजनया पद्ममहामृतसमुदायात्मको भवति, अनया युक्तरा कतिधापुरुपीयोक्तश्रतुन्विंशतिको भवति, तथा मातृजादिरूपचिन्तया मात्रादिसमुदायात्मको भवतीत्यर्थः। न चैतेपां पक्षाणां विरोधोऽस्ति। यतः मातृजादिन्यपदेशेऽपि पञ्चमहाभूतविकारत्वमविरुद्धमेव, येन मातृजादयोऽप्यस्य महासूत-विकारा एव । .उक्तं हि—"रसात्ममातापिनृसम्भवानि । भूतानि विद्यात् दशं पट् च देहे" इति । चतुर्विदातिकावेऽपि च पञ्चमहाभूतात्मकरूपतैव तत्र प्रपञ्चिता। स हीत्यादि—अस्येति गर्भस्य ॥ ३ चक्रपाणिः—गत इति निवृत्ते । पुराण इति ऋतुकालातिक्रमसञ्चिते । नवे चावस्थित इति वचनेन नवेऽप्यनवस्थिते गर्भकारणत्वं नास्तीति दर्शयति । शुद्धस्नातामित्यनेन शुद्धस्नातेव स्त्री

्गस्या, नास्नाता, अशुद्धत्वादिति दशयति । 'स्त्यायत्यस्यां गर्भ इति 'स्त्री'। अनेन वन्ध्यां

सम्भवति । स तथा हर्पम्तैनात्मनोद्गिरितश्चाधिष्ठिनवीजधातुः पुरुषश्रीराद्मिनिष्पद्योदितैन पथा गर्भाश्यमनुप्रविश्यार्त्त-वेन संसर्गमेति ।

तत्र पूर्वं चेतनाधातुः सत्त्वकरणो गुण्यहणाय पुनः धातात्मा शारीरधातुरूप आत्मा पूर्वजनमन्यात्नकृतिदृष्टातुमविष्टशुक्तभूतः शुक्राख्योऽङ्गादङ्गान्तरे तदङ्गादङ्गान्तरे क्षरितः सम्भवति । सुश्रुतेऽप्युक्तं—सोम्यं शुक्रमार्त्तवमाग्नेयमितरेपामप्यत्रभूतानां साित्वध्यमस्त्यणुना विशेषण परस्परोप-कारात् परस्परानुग्रहात् परस्परानुभवशाच । तत्र स्त्रीषुं सयोः संयोगे तेजः शरीराव् वायुक्दीरयति । ततस्तेजोऽनिलसित्तपाततः शुक्तं च्युतं योनिमिभपति-पद्यते संस्रज्यते चार्त्तवेनेति । स तथेति तथर्त्तु मत्या स्त्रिया सह संसर्गं गतस्य पुंसो मैथुनजहर्पभूतेनात्मना उद्गोरितः मच्युतश्चाधिष्टितवीज्यातुः पितृयानन सोमलोक्तगतो दिष्टक्षं वीजं ततः प्रत्यागतं पुनः । अधिष्टितं यं धातुं सोऽधिष्टितवीजश्चातौ धातुक्रवेत्यधिष्टितवीजश्चातुः। कर्त्तरि क्तः। स परः शरीरधातात्मा शुक्रभूतः पुक्षश्चरीरादिभिनिष्पत्योदितेनोक्तेन पथा योनिरन्ध्रेण गर्भाश्चयमनुप्रविक्याऽपदुष्टेन नवेनार्त्तवेन संसर्गमेति । सुश्रुतेऽप्युक्तं—ततो- अप्रीपोमसमयोगात् संस्रज्यमानो गर्भो गर्भाश्चयमनु प्रतिप्यते । इति ।

तथा प्रकारेणात्त्वेन संसुष्टे शुक्रे सित कथं गर्भः स्यादित्यत आह—
तत्रेत्यादि । तत्र तथाविधरूपेणात्त्वसंसुष्ट्युक्रे चेतनाधातुरात्मा सत्त्वकरणो
मनःकरणः सुक्ष्मशरीरेणाभिसंवद्धेन मनसा करणेन वेगवान् गुणग्रहणाय
निरस्यति । ऋतुमतीमित्यत्र प्रशंसायां मतुष् । तया सहेति तया खिया । तथाधृतयेति
ताद्दगृतुयुक्तया । हर्षः प्रीतिविशेषः । तेनोदीरितः प्रेरितः । पर इति सारः, किंवा परकालोत्पत्तः
परः । शुक्रं हि सर्व्वधातुभ्यः परसुत्पद्यते । शरीरधास्त्रात्मा इति शरीरधातुरूपः । शुक्रभृत्
इति शुक्रस्वरूप एवाङ्गादङ्गात् सम्भवति व्यज्यते । तेन नाङ्गभ्यः शुक्रमुत्पद्यते, किन्तु शुक्ररूपतयेव स्थितं व्यज्यते । वचनं हि—"सर्व्वत्रानुगतं देहे शुक्रम्" इति । हर्पसृतेनिति हर्परूपेणात्मना उदीरितश्चाधिष्टितश्चेत्यनेन, उदीरणकाले तथा निःसरणकालेऽपि हर्पमयाधिष्ठानं
शुक्रस्य गर्भाशयप्राप्तिकारणं दर्शयति—यदि शुक्रप्रवृत्तिकाले पुरुषो हर्परहितः स्थात्, न तदा
सम्यक् शुक्रप्रवृत्तिः तथा वेगविघातात्र गर्भाशयप्रवृत्तिर्भवति । वीजरूपो धातुर्वीजधातुः शुक्रमिति । संसर्गं सम्यङ्मुर्च्छनम् ।

ः सत्त्वं मनः करणे यस्य स सत्त्वकरणः। आत्मा निष्क्रियत्वेन कियावता मनसा यत् कारयें करोति, तच कारयें मनसा क्रियमाणमध्यचेतनेन चेतनावत आत्मन एवोच्यते । वचनं

प्रवर्तते। स हि हेतुः कारगां निमित्तमचरं कर्ता बोधियता बोद्धा द्रष्टा धाता ब्रह्मा विश्वकर्मा विश्वरूपः पुरुपः प्रभवोऽव्ययो नित्यो गुणी यहणं प्राधान्यमव्यक्तं जीवो ज्ञः प्रकुलर्चेतनावान् प्रभुश्च भूतात्मा चेन्द्रियात्मा चान्तरात्मा चेति । स गुगोपादानकालेऽन्तरीचं पूर्वितरमन्येभ्यो गुगोभ्य उपादत्ते। इच्छाद्वेषप्रयत्रसुखदुःखदुं द्धिस्मृतिष्टतिग्रहणाय वायुनाभिषेय्येमाणः तत्रात्तंवसंस्रपृथुक्रे गर्भाशयं प्रविश्यावतिप्टते। अस्य चात्त्वसंसृष्ट्युक्र-प्रवर्त्तमेन च वीजधम्मणः स्क्षिदेहस्यापि नित्यानुवन्धस्य प्रदृत्तिरुक्ता भवति। उक्तं हातुल्यगोत्रीये-भूतानि चलारि तु कम्मेजानि यान्यात्मलीनानि विशन्ति गर्भे। स वीजधम्मी हापरापराणि देहान्तराण्यात्मनि याति याति ॥ इति। नन तदमद्वप्रात्तेवसंस्पृथुको चेतनाधातुः को यो गुणग्रहणाय पूर्व्व मवर्त्तते इत्यत आह—स हीत्यादि। स चेतनाधातु हि यसात् हेतुः सन्वंकम्मेस हेत् हिं पूर्विचर्ती। नतु स निष्क्रियः कथं हेतुः स्यादित्यत आह—कारणिति। कार्यतीति कारणं प्रयोजकः, स्वयं किश्चिद्पि न करोति सत्त्वादींस्तु कुन्वतः मेरयति। अत एव निमित्तम्। नन्वस्य हेतुः क इत्यत आह—अक्षरं न क्षरतीत्यक्षरम्। अनादंस्तस्य हेतुर्नास्तीति भावः। अत एव कत्ती। नन्न सत्त्वादिः क्रियाकारकः कथं न कत्तां इत्यत आह-मन्तेति। मतिमान् मननशील इत्यर्थः। नतु मनननतु सत्त्वं करोति कथं मन्ता स्यादित्यत आह— बोधियतेति, सत्त्वादिकांश्चेतियता। ननु खर्यं किं न बुध्यते इत्यत आह—बोद्धिति। नतु तर्ि किं क्रियाः कारयति फलं न भुङ्क्ते इत्यत आह—द्रप्टेति। क्रियाद्रष्टा न तु क्रियाकर्त्ता क्रियाफलभोक्ता वा, अत एव धाता बहा त्यादिपर्यायवाच्यः। प्रकुल इति प्रगतः कुलं वं जं प्राप्तः स प्रकुलः। मभुः शक्तिमान्। भूतात्मा भूतानां प्राणिनामात्मा खमावस्थस्तैजसाख्य आत्मा, इन्द्रियात्मा इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनामात्मा स्वस्वित्रयाहेतुः। अन्तरात्मा सुषुप्तिस्थानः प्राज्ञः। एनं विना हि न गर्भनिम्मीणं सम्भवतीति पूर्व्वमयं प्रवत्तेते। हि—''चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्त्ता निरुच्यते।'' गुणप्रहणायेत्यत्र 'गुण'शब्देन, गुणः गुणिनोरभेदोपचारात् गुणवन्ति भूतान्युध्यन्ते । किंवा गुणोऽप्रधानम्, प्रधानञ्चात्मा, तट्-च्यतिरिक्तानि च मूतानि गुणाः। कसादात्मा मूतानि गृह्णात्यप्रधानरूपाणीत्याशङ्कायामात्मनः प्राधान्यख्यापकान् पर्य्यायानाह — स हीत्यादि । न क्षरतीत्यक्षरम् । गुणी मूतरूपगुणवानित्यर्थः ।

यथा प्रलयात्यये सिस्टचुर्भू तान्यचरभूतः सस्वोपादानं छ पूर्वितरमाकाशं स्टजति, ततः क्रमेण व्यक्ततरग्रणान् धातून् वाय्वादींश्चतुरः ; तथा देहप्रहणेऽपि प्रवर्त्तमानः पूर्वितर- माकाशमेवोपादत्ते, ततः क्रमेण व्यक्ततरग्रणान् धातून् वाय्वादींश्चतुरः । सर्व्वमपि तु खल्वेतद् ग्रणोपादानमण्ना कालेन भवति ॥ ४ ॥

नन्वयमार्चवसंस्टि शुक्रे पूर्व्य प्रवर्तमानः कि कुरुते इत्यत आह—स इत्यादि ।
स हेतादिपर्यायवाच्यव्चेतनाधातः सत्त्वकरणः पूर्व्वमार्चवसंस्टिशके प्रविष्टो
गुणग्रहणाय प्रवर्त्तमानः गुणोपादानकाले सत्त्वं रजोवाहुल्येन विकुर्व्वन् रजोवहुलेन तेन अन्येभ्यो गुणिभ्यो वाय्वादिभूतेभ्यः पूर्व्वतरं पूर्व्वतममन्तरीक्षं
शब्दगुणवद्यतीयातलक्षणं स्वसहचरवीजधम्मस्क्ष्मदेहस्थाकाणं निष्क्रियं
संस्ट्वय सरूपमेव शब्दगुणममतीयातलक्षणमाकाशमुपाद्चे स्वजित । अत्र
ह्यान्तमाह—यथेत्यादि । प्रल्यात्यये प्रल्यावसाने भूनानि प्राणिनः
सिस्रक्षरक्षरभूतो ब्रह्मा नारायणाख्यः स्वप्नोत्थितः प्रतिगुद्धः पूर्व्वं सत्त्वं
मनः सद्सदात्मकं स्पृष्टा सत्त्वोपादानं तन्मनःप्रकृतिकं पूर्व्वतरमाकाणं स्वजित ।
ततः क्रमेणेत्यादि स्प्रम् । नन्वेवमन्तरीक्षादिभूतोपादानं कियद्भिः
कालैरित्यत आह—सर्व्वमपि सित्यादि । एतदन्तरीक्षादिपश्चभूतरूपेण
शब्दादिगुणोपादानमणुना परमाणुकालेन भवत्यात्मन इति ॥ ४ ॥

गृह्णिति भूतानीति ग्रहणम् । एतैः पर्यायरात्मनोऽभिधेयस्येतरपदार्थोपकार्यंत्वेनाश्रयत्वं प्रसिद्धं दृश्येते । पृत्वंतरं प्रथममेव । अन्यभ्यो गुणेभ्य इति वारवादिभ्यः । अत्र गर्भे भूतग्रहणकमे दृष्टान्तमाह—यथेत्यादि । प्रलयस्य महाप्रलयस्यात्यये इति सर्ग इत्यर्थः । सिस्अरिति सण्दुमिच्छुः । भूतानि आकाशादीनि । सत्त्वोपादान इति मनःकरणः । महाप्रलये हि विकारस्य प्रकृतो लयात् प्रकृतिपुरुपावेव परमन्यक्तरूपो तिण्ठतः । ततश्च सर्गारम्भे प्रकृतेर्महदादिः प्रपञ्च उत्पयते क्रमेण । तत्र प्रथममाकाशमुत्पद्यते, ततो वाय्वादीनि न्यक्तानीति सांख्यसिद्धान्तः । आकाशस्य जन्यत्वं सांख्यमतेनेव चेयम् । देहग्रहणेऽपीति गर्भस्वरूपप्रहणेऽपीति । उपादत्त इति शुक्रशोणितगतमाकाशमाकाशमयत्या स्वीकरोति । न्यक्ततरगुणानिति आकाशमेकगुणमपेक्ष्य शन्दरपर्शगुणो वायुर्व्यक्तरः, तमपेक्ष्य शन्दरपर्शन्त्रणं तेजोव्यक्तनरमित्यादि । अयद्ध भूत-

सत्वोपादान इति चकः।

स तु सर्व्यग्रणवान् गर्भत्वसापन्नः प्रथमे मासि संमूर्च्छितः

गङ्गाधरः-एवं सन्वीगुणवान् गर्भलमापनः सन् वक्ष्यमाणंक्रमेणान्नमय एप स्थूलश्रतुर्विशतिधातुकः पुरुषो भवति। उक्तञ्चैवं तैत्तिरीयोपनिपदि ब्रह्मानन्दवरस्याम्—तस्माद्दा एतस्मादात्मन आकाशः-सम्भूतः, आकाशाद्दायुः, वायोरप्तिः, अमे रापः, अद्यः पृथिवी, पृथिव्या ओपध्यः, ओपधीभ्योऽन्तम्, अलाद् रेतः, रेतसः पुरुषः, स एवात्र यः पुरुषोऽल्लरसमयः। तस्येदमेव शिरोऽयं दक्षिणः पक्षोऽयमुत्तरः पक्षोऽयम् आत्मा इदं पुच्छं प्रतिष्टा। तद्प्येप श्लोको भवति। अन्नाद्वे प्रजा जायन्ते, याः काश्च पृथिवीं श्रिताः। अथान्नेन जीवन्ति अथैनद्पि यन्तादः। अन्तं हि भूतानां ज्येष्टं, तस्मात् सन्वी पध्गुच्यते। सन्वी वै ते अन्नमाप्तुवन्ति, येऽन्नं ब्रह्मोपासते। अन्नाद् भूतानि जायन्ते जातान्यन्नेन वर्द्धन्ते। अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते। तस्मादा एतस्मादन्नरसमया-दन्योऽन्तरात्मा प्राणमयस्तेनेप पूर्णः। स वा एप पुरुपविध एव। विधताम्। अन्वयं पुरुपविधः। तस्य प्राण एव शिरो व्यानो दक्षिणः पक्षः अपान उत्तरः पक्ष आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा। तद्प्येप श्लोको भवति । प्राणं देवा अनुप्राणन्ति मनुष्याः पश्चवश्च ये । प्राणो हि भूतानामायु-स्तस्मात् सर्वायुपमुच्यते। सर्वमेव त आयुर्यन्ति ये प्राणं ब्रह्मोपासते। प्राणो हि भूतानामायुस्तस्मात् सर्व्वायुपमुच्यते। तस्यैप एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य। तस्पादा एतस्मात् प्राणमयाद्वयोऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैप पूर्णः। स वा एप पुरुपविध एव। तस्य पुरुपविधतामन्वयं पुरुपविधः। तस्य यजुरेव शिर ऋग्दक्षिणः पक्षः सामोत्तरः पक्ष आदेश आत्मा अथव्वीङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा। तद्य्येप श्लोको भवति। यतो वाचो निवर्त्तन्ते अपाप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन।। तस्येप एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य । तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विकान-तेनीप पूर्णः। स वा एप पुरुपविध एव। तस्य पुरुपविधतामन्वयं पुरुपविधः। तस्य श्रद्धैव शिर ऋतं दक्षिणः पक्षः सत्यमुत्तरः पक्षो योग आत्या महः प्रच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति। विकानं यक्षं तसुते क्रमीणि तज्ञतेऽपि च । विद्यानं देवाः सर्वे ब्रह्मच्येष्ठग्रुपासते । विद्यानं

प्रहणकम आगमसिद्ध एव, नात्र युक्तिस्तथाविधा हृदयङ्गमास्ति । एतच भूतप्रहणं लघुनैव कालेन भवतीति दर्शयन्नाह—सर्विमित्यादि ॥ ४॥

ब्रह्म चेद्देद तस्माचेन्न प्रमाद्यति। शरीरे पाप्पनो हिला सर्न्थान् कामान् समश्रुते। तस्यैप एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्मा-द्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः। तेनैप पूर्णः। स वा एप पुरुपविध एव। तस्य पुरुपविधतामन्वयं पुरुपविधः। तस्य पियमेव शिरो मोदो द्क्षिणः पक्षः प्रमोद् उत्तरः पक्ष आनन्द आत्मा ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येप श्लोको भवति। असन्नेव भवति असर् ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मे ति चेह्ने द सन्तमेनं ततो विदुः। तस्यैप एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य इति। आनन्द आत्मा ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्टेत्यनेन ख्यापितं हिरण्मयः पुरुषः एतस्मात पश्चमात कोपात परः पष्टः कोप इति । तथा च । तस्माद्वा एतस्मा-दानन्दमयादन्योऽन्तर आत्मा हिरण्मयः। तेनीप पूर्णः। स वा एप पुरुपविध एव। तस्य पुरुपविधतामन्वयं पुरुपविधः। शिर आपो दक्षिणः पक्षस्तेज उत्तरः पक्ष सद्ब्रह्मगायत्री शक्तिरात्मा। असद्ब्रह्मशक्तिः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येप श्लोको भवति। हिरण्मये परे कोपे विरजं ब्रह्म निष्कलम्। तच्छुभ्रं ज्योतिपां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः ॥ असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत । तदात्मानं स्वयमकुरुत तस्मात् तं सुकृतसुच्यते ॥ तस्यैप एव जारीर आत्मा यः पूर्वस्येति । यद्दैतत् सुकृतं रसो वै सः। रसं हेत्रवायं लब्ध्वानन्दीभवति। को हेत्रवान्यात् कः प्राण्याद् यदंप आकाश आनन्दो न स्यात्। एप द्वेतवानन्दयतीति। इति तद्धेतुत्वच्यपदेशाद्धिरण्मयः पुरुषोऽप्यानन्दः सद्ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। स आनन्दो ब्रह्मे ति व्यजानादित्युक्तमते आनन्दमयसमिति। समाधौ सुपुप्तौ चैप यमानन्दयति स आनन्दतीत्यानन्द आत्मानन्दमयस्यात्माऽभिहित इति। अथं तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत आकाशाद्वायुर्वायोरप्रिरग्नेः आपोऽद्धाः पृथिची, पृथिच्या ओपधयः, इत्येतं वेदं समृता मनुरुवाच । तस्य ै सोऽहनिशस्यान्ते प्रसुप्तः पतिबुध्यते । प्रतिबुद्ध्थ सुजित मनः सदसदात्मकम् । मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानं सिस्क्षया। आकार्शं जायते तस्मात् तस्य शब्दं गुणं विदुः।। आकाशात् तु विकुन्वीणात् सर्व्वगन्धवहः शुचिः। वलवान् जायते वायुः स वै स्पर्श्राणो मतः॥ वायोरिप विकुर्व्वाणाद्विरोचिष्णु तमो सुदम्। ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत् तद्रूपगुणमुच्यते ॥ ज्योतिपश्च विकुर्व्याणा-दापो रसगुणाः रमृताः। अद्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः॥ इति द्वितीयादिकल्पे यद्वा अन्यक्तं नामात्मा स एवैप आदित्यो नारायणो

सर्वधातुकलुषीकृतः । खोटभूतो भवसव्यक्तविष्रहः सदसद् नाम ब्रह्मात्मा एतस्मान्मनो विक्रियमाणमाकार्गं ससज्जति द्वितीयादिकल्पे पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशमनोऽहङ्कारमहान्त इत्यष्टौ प्रकृतय आत्मा नवमी प्रकृति-रिति भगवद्गीतायामुक्तम्-भूमिरापोऽनिलो वहिः खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरप्टथा ॥ अपरेयं महावाहो जीवभूता सनातनी । सूलप्रकृतिरुद्दिष्टा ययेदं धार्यते जगत् ॥ इति । एतचोक्तम् । मातृजञ्जायं गर्भ इत्यादिना, मात्रादिजानि पश्चभूतानि मनोऽहङ्कारो महानात्मा चेति नव प्रकृतयः। स्थूलपुरुषस्य चतुर्व्विशतिकस्य दशेन्द्रियाण्यथीश्च पञ्चेति पश्चद्शात्म-शब्देन संगृहीतानीति चतुर्विशतिः प्रकृतयस्तत्र विकृतिभूताः पोड्श प्रकृतयः प्रकृतिभूता अष्टौ प्रकृतय इति । इत्थं गर्मल्यापन्नः प्रथमे मासि सम्मूच्छितः स्यात् । सुश्रुते च- 'सौम्यं शुक्रमात्तंवमाग्नेयमितरेषामप्यत्र भूतानां सान्निध्य-मस्त्यणुना विशेषेण परस्परोपकारात् परस्परानुग्रहात् परस्परानुभवेशाच। तत्र स्त्री-पुंसयोः संयोगे तेजः शरीराद्वायुरुदीरयति ततस्तेजोऽनिलसन्निपाताच्छुकं च्युत योनिमभिन्नतिपद्यते संसुज्यते चार्त्तवेन ततोऽग्रीपोमसंयोगात् संसुज्यमानो गर्भो गर्भाशयमज्ञुपतिपद्यते। क्षेत्रको वेदियता स्पष्टा घाता द्रष्टा श्रोता रसियता पुरुषः स्रष्टा गन्ता साक्षी धाता वक्ता योऽसावित्येवमादिभिः पर्य्यायवाचकौर्नामभि-रिभधीयते दैवसंयोगादक्षयोऽच्ययोऽचिन्त्यो भूतात्मना सहान्वक्षं सच्वरज-स्तमोभिर्देवासुरैरपरैश्च भावैर्वायुनाभिषेटर्यमाणो गर्भाशयमसुप्रविश्यावतिष्ठते। तत्र शुक्रवाहुल्यात् पुपानात्त्ववाहुल्यात् स्त्री साम्यादुभयोनेषु सकिपिति। ऋतुस्तु द्वादशरात्रं भवति दृष्टात्तंवः। अदृष्टात्त्वाप्यस्तीत्येके" इत्यारभ्य "तत्र प्रथमे मासि कलळं जायते। द्वितीये शीतोष्णानिळैरभित्रपच्यमानानां महाभूतानां सङ्घातरे घनः सञ्जायते। यदि पिण्डः पुमान्, स्त्री चेत् पेशी, नपुंसकञ्चेदन्व् दिमिति।।"

तथा चात्र प्रथमे मासि प्रथमतः शुक्रशोणितयोः सम्यङ्मेलनं ततः सन्विधातुकछ्पीकृतः। सन्विषां शुक्रगाणां शोणितगानामात्मगानाश्च रस-गानाश्च धातूनां वाय्वादीनां भूतानामकछ्पभावः कछ्पभावः क्रियते स्म इत्याविलीकृतो भवति। ततोऽनन्तरन्तु खोटभूतः स्त्यानरूपः शलेष्मवद् भवति। तदा सन्यक्तविग्रहः पिण्डाद्याकारान्यक्तिसमसद्भूताङ्गावयवः सत्-

चक्रपाणिः—सर्वधातुकलनीकृत इति अन्यक्तसर्वधातुतया कलनीकृतः। 'धातु'शब्देन च भूतान्युच्यन्ते। किंवा रसादिधातुवीजानि। खोटः श्लेष्मा। तेन खोटभूत इति श्लेष्मभूत

^{*} सर्व्यधातुकलनीकृतः इति चक्रप्रतः पाठः ।

भृताङ्गावयवः । द्वितीये सासि घनः सम्यग्नते पिग्डः पेश्यव्र्वृदं वा । तत्र घनः पुरुषः, स्त्री पेशी, अर्व्युदं नपुंसकम्। तृतीये मासि सर्व्वे न्द्रियागि सर्व्वाङ्गावयवाश्च यौगपदेग्रनाभिनिर्व्वर्त्तन्ते । तत्रास्य केचिदङ्गावयवा मातृजादीनवयवान् विभन्य पूर्व्वमुक्ता यथावत् । महाभृतविकारप्रविभागेन त्विदानीमस्य तांश्चैवाङ्गा-वयवान् कांश्चित्, पर्यायान्तरेगापरांश्चानुव्याख्यास्यामः ॥ ५ ॥

सुक्ष्मदेहस्थाङ्गावयवः असत्स्थूलदेहभावाङ्गावयवः एतदुभयभूताङ्गावयवरूपः इत्येवं कल्लं प्रथमे मासि पूर्णे सित भवति। ततो द्वितीये मासि स गर्भेलमापन्नो घनः कठिनः स्यात्। स च त्रिविधः पिण्डः पेशी वाप्यव्युदं वा। तत्र घनः पिण्डो ग्रन्थप्राकारक्चेत् पुरुपो भवति। स्त्री भवति। अर्वदं वर्त्त लाकारक्वेन्न पुंसक मिति। अथ त्तीये मासि इत्यादि। अभिनिन्वंत्तीन्ते इति तृतीयमासस्य पूर्वार्द्धे हस्तपादिशरसां पश्च पिण्डका अभिनिन्वेत्तंन्तेऽङ्गपत्यङ्गविभागश्च स्क्षो भवति। सर्न्वाङ्गेन्द्रियाणि सर्न्वाङ्गावयवाश्च व्यक्तारम्भा भवन्तीत्यर्थः। चतुर्थमासस्य पूर्वार्द्धे पव्यक्ततररूपेण भवन्ति इत्यभिषायभेदेन तृतीये मासि सर्व्वेन्द्रियाणि सर्वाङ्गावयवाश्च यौगपदेरनाभिनिन्वं तंनते इति स्वयमिसंस्तन्त्रे लिखितवान्। सुश्रुतस्तु "तृतीये हस्तपादशिरसां पश्च पिण्डका निन्धत्तंन्तेऽङ्गप्रत्यङ्गविभागश्च सूक्ष्यो भवतीति। चतुर्थे सर्व्वाङ्गपत्यङ्गविभागः पन्यक्ततरो भवति। गर्भ-हृदयपव्यक्तभावात् चेतनाधातुरभिव्यक्तो भवति। कस्मात् तत्स्थानलात्। तस्माट् गर्भश्रतुर्थे मास्यभिषायमिन्द्रियार्थेषु करोति । दिहृद्याश्च नारीं द्वैहृद-यिनीमाचक्षते" इति लिखितवान्। तत्रास्येत्यादि। तत्र सन्विन्द्रिय-् सर्वाङ्गावयवेषु मध्येऽस्य गर्भस्य केचित् लगादय एवाङ्गावयवाः पूर्वं खुड्डीकागर्भावकान्तिशारीरे, इदानीन्तस्य गर्भस्य महाभूतविकारप्रविभागेन

इत्यर्थः । अन्यक्तविग्रह इत्यस्य विवरणम् सदसद्भृताङ्गावयव इति विद्यमानाविद्यमानाङ्गावयव इत्यर्थः । अङ्गानाञ्च वीजरूपतया स्थितत्वे सन्वम्, अन्यक्तभावाचासत्त्वम् । किञ्च सदसद्भृताङ्गावयवो घनः सम्पद्यते इति योजना । घनः किञाः । पिण्डो ग्रन्थ्याकारः । पेशी दीर्घमांसपेश्याकारा । अर्जु दं चर्त्तुं लोजतम् । अङ्गानि शिरःप्रमृतीनि तदवयवाश्चेत्यङ्गावयवाः । योगपदेपनेतिवचनेन "कुमारस्य शिरः पूर्व्यमिनिव्यर्तते" इत्यादिवक्ष्यमाणान्येक्वैकीयमतानि निपेधयति । योगपदेपन हि सर्वाङ्ग-

मातृजाद्योऽप्यस्य महाभूतिकाराः, तत्रास्याकाशात्मकं शुट्दः श्रोत्रं लाघवं सौदम्यं विवेकश्च छ । वाय्वात्मकं स्पर्शः स्पर्शनं रौद्यं प्ररेगां धातुच्यूहनं चेष्टाश्च शारीर्थः। अग्नगत्मकं रूपं दर्शनं प्रकाशः पक्तिरीष्णयश्च । अवात्मकं रसो तांइचैवाङ्गावयवान् लगादीन् पर्य्यायान्तरेण नामान्तरेणापरांश्वाङ्गावयवाननु-व्याख्यास्यामः ॥ ५ ॥

गुङ्गाधरः—तत् किमित्याह—मातृजादयोऽपीत्यादि। मातृजास्त्रगादयो येऽङ्गावयवाः खुड्डीकायामुक्तास्तत्र लगादिषु ये शब्दलाघवसौक्ष्म्यशुपिरादयस्तत् सर्वं शौणितिकाकाशात्मकम्। एवं पितृजाश्च येऽङ्गावयवाः केशक्मश्रूनखादय उक्तास्तेषु च ये शब्दलाघवसीक्ष्मप्रविवेकास्तत् सर्वे पितुः शुक्रगाकाशात्मकम्। एवमात्मजाश्च येऽङ्गावयवा इन्द्रियादय उक्तास्तेषु मध्ये श्रोत्रेन्द्रियं स्वर-विशेष्श्रात्मजाकाशात्मकम्। वाय्वात्मकमित्यादि। चलारि लगिन्द्रियादीनि वाय्वाद्यात्मकानीनिद्रयाणि तत्र स्पर्जन स्पर्जेश्वक्षुपि रूपः, रसने रसो, घ्राणे गन्धश्च वाय्वाद्यात्मकाः। पश्च कम्मेन्द्रियाणि चात्मजपश्चभूतात्मकानि तेषु लाघवादीनि च सात्म्यजाश्च ये लारोग्यादयस्तेषु मध्ये इन्द्रियपसादस्तु य उक्तस्तत्र श्रोत्रेन्द्रियमसादः सात्म्यरसगाकाशात्मकः। तथा रसजा ये श्राराभिनिन्द्र त्यभिदृद्धी उक्ते, तयोः शन्दलाघवसौक्ष्म्यशुपिराभिनिन्द्र त्यभि-द्यद्धी, एतद्द्यं रसगताकाशात्मकम्। एवं सत्त्वजा ये भत्त्याद्यस्तेषु यथा-सम्भवं शब्दादिगाम्भीर्थादिकं सत्त्वकार्यमिति केचित्। एवं वाय्वात्मक-मिति। लगादिमातृजाङ्गावयवेषु स्पर्ञरौक्ष्यधातुन्यूहनचेष्टा इत्येतत् सन्वी मातृशोणितीयवाय्वात्मकम्। पितृजकेशादिषु च तत् सर्व्वं पितुः शुक्रगतवाय्वा-रमकम्। आत्मजेन्द्रियादिषु चात्मगतवाय्वात्मकं स्पर्जनिमन्द्रियं प्राणापान-चेष्टापरणं रौक्ष्याकृतिरित्येतत् सन्त्रंम्। स्पर्शनेन्द्रियमसादस्तु सात्म्यीय-बार्यात्मकम्। शारीराभिनिन्द्र त्तिस्तद्भिष्टद्धिश्च तयोः स्पर्शरीक्य-धातुच्यूहनशरीरचेष्टाश्च सर्व्वं रसजवाय्वात्मकम्। अग्नप्रात्मकमित्यादि। मकाश औष्यश्च मातृशोणितिकाशग्रात्मकम्। मातुजलगादिषु रूपं निःखं त्तिरिति सिद्धान्तः। केचिदिति न सन्वे। तत्र मातृजायङ्गकथनेन शन्दादयो य इह भूतविकारत्वेन वध्यन्ते, ते न सन्त्रे प्रोक्ताः, किञ्च केचिदेव त्वगादयः। पर्यायान्तरेणेतिवचनात् ये मातृजादयः

^{*} विरेकश्चेति चकः।

रसनं शैत्यं माईवः स्नेहः क्लोदश्च । पृथिव्यात्मकं गन्धो घागां गौरवं स्थैय्यं सूत्तिश्च । एवमयं लोकसन्मितः पुरुषः । यावन्तो हि लोके भावविशेषास्तावन्तः पुरुषे, यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके इति बुधारत्वेवं द्रष्टुमिच्छन्ति ॥ ६ ॥

पितृजेकेशादिषु च पितुः शुक्रगताय्रगात्मकं तत् त्रयम् । आत्मजेन्द्रियादिषु चक्षुरिन्द्रियं तद्गतरूपं पक्तिः वर्णविशेष आत्मगताप्रप्रात्मकम्। वर्णो वीजसम्पच सात्म्यीयाग्नेयम् । चक्षुरिन्द्रियप्रसादः रूपं रूपाभिष्टद्धिश्च प्रकाशश्चीव्याश्चाहारजरसगाग्रग्रात्मकम्। अथ मातृज-लगादिं पुरसः जैत्यं माईवः स्नेहः क्लेद्श्चेति सर्वे मातृशोणितगतावात्मकम्। एवं पितृजकेशादिषु च तत् सर्व्वम्। आत्मजेन्द्रियादिषु च रसनमिन्द्रियं रसनगतरसः आकृतिः स्नेहमाईवौ चात्मगतावात्मकम्। सात्म्यगतावात्मकन्तु रसनपसादः। रसगतावात्मकन्तु शरीराभिनिन्द्यस्यभिष्टद्ध्योः। जैत्यमाई वस्नेहन छेदा इति सर्व्वम् । अथ मातृ जलगादिपु स्थैर्यमूर्त्तेय इत्येतत् सर्व्यं मातृशोणितीयपृथिष्यात्मकम्। तथा पितृज-केशादिषु तत्सर्वं शुक्रगतपृथिन्यात्मकम्। आत्मनेनिद्रयादिषु मिन्द्रियं तद्गतगन्धगौरवस्थैदर्यमूत्तंयश्चेत्येतत् सर्व्यमात्मगत्पृथिन्यात्मकम्। घाणेन्द्रियप्रसादस्तु सात्म्यगतपृथिन्यात्मकः। शरीरगतगन्धगौरवस्थैर्य्यमूर्त्तय-इचेत्येतत् सन्वं रसगतपृथिन्यात्मकमिति । एवं शेपाः पाश्चभौतिककारयं-गुणा वोध्याः। अस्य गर्भस्यात्मपश्चभूतात्मकत्वेनाङ्गावयवानुस्त्रा शेपार्थोपः

'त्वक् च लोहितज्ञ" इत्यादिनोक्ताः, त इह न साक्षाट् वक्तःयाः, किन्तु ये त्वग्गता मूर्ति-स्नेहमाईवादयः, ते मूतजन्यत्वेनोच्यमानास्त्वचोऽभिधायका भवन्ति । एवं शोणितगतमृतविकार-कथनेन शोणितकथनं ज्ञेयम् । त्वगादयो मृतविकारा वश्यमाणा इति विकारसमुद्रायस्या एव । अङ्गानाञ्च मानृजरूपेग यद्भिधानम्, तत् मात्रधीनत्वप्रतीत्यर्थम् । पुनश्चेह मृतजन्यत्वेनाभि-धानमङ्गानां क्षये वा वृद्धौ वा सत्यां तत्कारणभृतोपयोगप्रतिपेधाभ्यां वृद्धिक्षयजननज्ञानार्थम् । यदङ्गं यद्मृतप्रभवम्, तदङ्गं तद्मृतप्रधानेन दृद्येण वर्द्यते, क्षीयते च तद्विपरीतेन । लाधवं यद्यपि वायो पठन्ति,—"रुक्षः शीतो लघुरचैव" इत्यादिना, तथापि आकाशाल्लाघवं प्रधानं ज्ञेयम्, तेन इहाकाशविकारे पठन्ति । आकाशं हि अत्यर्थस्युक्षगत्वाचातिलघु । विरेको विच्छेदः । धातु-च्यूहनं धातुरचना धातुवर्द्धनञ्च । दश्यतेऽनेनेति दर्शनं चक्षुरिन्द्रियम् । मूर्त्तिः काठिन्यम् ।

एतद्भृतविकारमयत्वं शारीरसा लोकमयसा चेति यजज्ञानम्, तन्मोक्षस्यापि परमाभीष्टसा

एवसस्येन्द्रियाग्यङ्गावयवाश्च योगपदेर्गाभिनिव्वर्त्तन्ते झन्यत्र तेभ्यो भावेभ्यो येऽस्य जातस्योत्तरकालं जायन्ते। तद्भ यथा—दन्ता व्यञ्जनानि व्यक्तीभावस्तथा युक्तानि चापरा-एयेषा प्रकृतिः, विकृतिः पुनरतोऽन्यथा। सन्ति खल्वस्मिन् गर्भे केचिच नित्या भावाः, सन्ति चानित्याः केचित् । तस्य ये संहारार्थं जगत्सम्मितत्वमाह—एविमत्यादि। एतच पपञ्चेन व्याख्यास्यते ख्वयमेव ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः--उपसंहरति-एवमस्येन्द्रियाणीत्यादि। अन्यत्र ये दन्तादयो वश्यमाणाः। दन्ताः ; व्यञ्जनानि स्तनाधः कुन्तलक्ष्मश्रुकक्ष-व्यक्तीभावो बुद्धप्रादीनां रूपादीनां वाक्यादीनां लोमाकृतिविशेषाश्च । शुक्रादीनां छोमादीनामित्येवमादीनाम्। तथा युक्तानि चापराणि गमनधावना-दोनि। एषा प्रकृतिरवैकारिकी। नतु जातदन्तोऽपि जायते इत्यत आइ— अथास्मिं स्तृतीयमासशेंपार्छे प्र**च्यक्तो**न्मुखे विकृतिरित्यादि। शुकाधिकेर पुमान रक्ताधिक्ये स्त्री द्योः साम्ये तु नपुंसकमिति यदुक्तं तत् किं कारणं भवतीति लोकसाम्यं दर्शयन्नाह—एवमयमित्यादि। एवमयमिति पञ्चमृतविकारमय-त्वेन लोकसम्मित इति लोकतुल्यः। इह च मृतविकारमयत्वञ्च यच्छरीरस्योक्तम्, तेन भूतविकारमयत्वमधिकृत्य साद्द्यमुक्तम् । लोकपुरुपयोः साम्यमाध्यात्मिकम्, लोकपुरुपयोः साम्यं पुरुपविचये वक्तःयम्, तदिहानुक्तमपि "यावन्तो हि" इत्यविशेषणाभिधानेन सूचितं ह्रोयम् । तेन यावन्तो भावविशेषा आध्यात्मिका वा अन्तरात्मसत्त्वाहङ्कारादयो भौतिका वा . मूत्रक्के दादयः, ते पुरुपगता लोकेनापि समाना इति ज्ञेयम्। एतच लोक्युरुपयोः साम्यं पुरुप-विचये वक्तन्यं भविष्यति। एतच लोकपुरुपयोः सामान्यकथनं गुमुक्षणामेवोपयुक्तमिति एर्शयन्नाह—बुधास्त्वेवमित्यादि । बुधाः सम्यग्ज्ञानवन्तो मोक्षयुक्ता इति यावत् । लोकपुरुप-सामान्यकथनञ्च मोक्षार्थमेवेति पुरुपविचये स्वयमेव वक्ष्यति ॥ ५। ६॥

तृतीयमासभवामिन्द्रियाद्यङ्गाभिनिन्द्रित्मुपसंहरति, एवमस्येत्यादि । चक्रपाणिः—प्रकृतिं धुगपदेव योगपद्यमित्यभिधानम् इन्द्रियरिप सन्वीङ्गाभिनिन्वृत्तेः समकालतोपदर्शनार्थम् । कि इन्तादयोऽपि नृतीयमासे भवन्तीत्याशङ्कपाह—अन्यत्रेत्यादि । व्यक्षनानि इमश्रुस्तनादीनि । व्यक्तीभावः शुक्ररजसोराविभीवः । तथा युक्तानीति जातोत्तरकालत्वेन स्थूलमांसादीनि । एपा प्रकृतिरिति इन्द्रियाण्यङ्गानि च युगपट् भवन्ति, दन्तादयश्च जातस्यापि चिरेण भवन्तीत्येव रूपो मनुष्यस्वभाव इत्यर्थः। अन्यथेति कदाचित् सदन्त एव जायते इत्यादिका विकृतिर्मनुष्यस्य। कस्माद दन्तादयो गभीदिजायमानत्वेन नित्यत्वेन नोच्यन्त इत्याह—सन्तीत्यादि । 'खलु'शब्दो एवाङ्गावयवाः सन्तिष्ठन्ते, त एव स्त्रीलिङ्गं पुरुपलिङ्गं नपुंसक-लिङ्गं वा विश्रति ॥ ७॥

ततः स्त्रीपुरुषयोये वैशेषिका भावाः प्रधानसंश्रया गुगा-संश्रयाश्च, तेषां यतो भूयस्त्वं ततोऽन्यतरभावः । तद् यथा— नियमत एव किं व्यभिचारतो वेत्यत आह—सन्तीत्यादि । नित्यास्ते ये सूक्ष्म-शरीरस्था एवाङ्गावयवाः सन्तिष्टन्ते, अनित्या आजन्म मरणान्तं पुनःपुनरा-गमापायिनः पुरीपादयः केशादयश्च । य एवाङ्गावयवाः सन्तिष्टन्ते संस्थावन्तस्त एवाङ्गावयवाः स्त्रीलिङ्गादिकं विश्वति, न लसंस्थानवन्तः ॥ ७॥

गुङ्गाधरः—तत इत्यादि। ततस्तस्माद्धेतोः स्त्रीपुरुपयोर्भेथुनकाले ये वैशेषिका भावाः प्रधानसंश्रयाः पुरुपाश्रिताः पुत्रकराः स्त्रीसंश्रिताः कन्याकराः गुण-संश्रयाः स्त्रीगताः पुत्रकराः पुरुपसंश्रयाः कन्याकरा ये भावविशेषास्तेषां भावानां मध्ये यतो यदीयभावविशेषाणां भूयस्तं ततो भूयसा निर्भावविशेषयोरन्यतरभावः स्त्रीपुरुपकर इति शेषः। नहु ते के वैशेषिका भावा इत्यत आह—तद् यथेत्यादि।

हेतो । नित्या हति यावच्छरीरभाविणः करचरणादयः। अनित्याध न यावच्छरीरभाविणी दन्ताद्यः । एतेन अनित्यस्वभावाद् दन्ताद्दीनां गर्भादिजायमानत्वान्न नित्यत्वम् । विकृतिरिति अनित्यत्वयुक्तमित्यर्थः । अथ नित्यानित्येषु मध्ये के स्त्रप्रादिलिङ्गं विभ्रतीत्याह—तस्येत्यादि । सन्तिष्ठन्त इति यावच्छरीरं तिष्ठन्ति नित्याः सन्तीति यावत् । पुतेन य पुव नित्या उपस्थादयः, त एव स्त्रीलिङ्गतां पुंलिङ्गतां वा विश्रति । तन्नोपस्थरूपो नित्यो भावः स्त्रीलिङ्गं शेपधा, उपस्थ-लिङ्गाकाररहितञ्ज रन्ध्रमात्रं नपु सकलिङ्गं भवति । किंवा स्त्रिया यहिङ्गं स्तनादि, 'पुरुपस्य वा इमध्रुप्रशृति, नषु सकस्य वा स्तीषु ससमानाकारत्वं जातोत्तरकालभावि, तदपि य एव नित्या भावा उरःकपोलप्रस्तयः, त एव कालवशाष् विश्रतीति वाक्यार्थः । उर एव हि स्तनारम्भकवीजयुक्तं स्त्रिया उत्तरकालं स्तनवद् भवति । एवं कपोल एव इमश्रुवीजयुक्तः इमश्रुवान् भवति । न तद्युक्तम्। यतः स्तनश्मश्रुप्रभृतीनां वीजं चेदस्ति शरीरे, तत् किं गर्भात् प्रभृति स्तनादि न जायत इति चेत् ? न, यतो वीजमहिमायम्, य उत्तरकाल एव कार्य्य करोति । अथवा न पतितमपि 'धान्यादि वीजं प्रस्तरे वाङ्करं जनयति । न च स्वभावमुपालम्भमहेति । यदैवाङ्गाः वयवाः सन्ति, तदैव स्त्रपादिष्ठिङ्गं विश्रतीत्यादिषाठपक्षे तु ब्यक्त एवार्थः । अथ कुमारे शुकादौ कारणे स्त्रेयादिविशेषो भवंतीत्याह—वैशेषिका इति । वैशेषिका विशिष्टाः परस्परन्यावृत्ता इति यावत् । प्रधानसंश्रया इति भागसंश्रयाः । गुणसंश्रया इति शुक्रशोणितगतसूतसंश्रयाः । गुणशब्देन हि सूतान्युच्यन्ते । 'यतः' इति सप्तम्यां तसिल् । तेन यस्मिन् वैशेपिकभावे सूचस्त्वं

क्रें चें भीरत्वसवैशारद्यं सोहोऽनस्थानमधोगुरुत्वमसंहननं माईवं गर्भाश्यवीजभागस्तथा युक्तानि चापराणि स्त्रीकराणि, अतो विषरीतानि पुरुषकराणि, उभयभागावयवानि नपुंसककराणि। यस्य यत्कालमेवेन्द्रियाणि सन्तिष्ठनते तत्-क्रैच्यं स्त्रियाः पुरुपस्य वा मैथुने रुष्यताभावः, भीरुत्वञ्च । अवैशारद्यं मैथूनविद्या-विरहः । मोहो ग्रुग्धता । अवस्थानं विश्रामो रताभ्यन्तरे । अधोगुरुतमधःकायाव-सादपूर्वेकसुरतम्। असंहननं शरीरदृढ़लाभावः। शैथिल्यमुपस्थिशिथलता। माईवं मृद्भावः। गर्भाशयवीजयोर्भागो गर्भाशयस्य भागो वामभागः, वीजस्य भागः शोणिताधिक्यम्। तथा युक्तानि चापराणीति स्त्रीपुरुपयोः स्त्रीचेष्टिता-कारादीनि । अतो विपरीतानि अक्रव्यमभीरुलं वशारचममोहोऽनवस्थानमधो-लघुतं संहतीभावः शैथिल्याभावस्तीव्रतं गर्भाशयस्य दक्षिणभागः शुक्राधिक्यं स्त्रीपुंसयोः पुंश्रेष्टिताकारादीनि च। उभयभागावयवानि कस्यचित् हैव्यं कस्यचिदक्षेट्यं कस्यचिद्रीरुतं कस्यचिद्रभीरुतं कस्यचिदवैशारद्यं कस्य-चिद्दैशारद्यं कस्यचिन्मोहः कस्यचिद्मोहः कस्यचिद्वस्थानं कस्यचिद्ववस्थानं कस्यचिच्छैथिल्यं कस्यचिद्शैथिल्यं कस्यचिन्माईवं गर्भाशयस्य मध्यमभागः वीजयोः शुक्रशोणितयोः समभाग इति । तथा पुरुपस्य स्त्रीचेष्टिताकारः स्त्रियाः ए इचेष्टिताकार इत्येवमादीनि ।

यत्कालमित्यादि । तृतीयमासशेषार्द्धमारभ्य चतुर्थमासस्य पूर्वार्द्धं यावत् यत्कारुमेव यस्य गर्भस्येन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि बुद्धीन्द्रियाणि दैववशाद् भवति, ततो भावादन्यतरस्य स्त्रीरूपस्य पुंक्षपस्य वा गर्भस्य वत्पत्तिर्भवति। यदि स्त्रीकरा भावा वलेंच्यादयो मूयांसो भवन्ति, तदा छी जायते, विषर्य्यये पुमानित्यर्थः । अवैशारदंत मोहः । शैथिल्यमनिविद्भंयोगता, यथा—दृद्शणतन्तुविरलवापितपटस्य शैथिल्यम् माद्वनन्तु निविद्संयोगस्यापि सहजावयवमाद्वेम्, यथा-पट्टसूत्रे निरन्तरवापितपटस्य मृदुत्वम्। क्षे न्याद्यनवस्थानपर्यन्तं प्रधानसंश्रयम्, शेपं गुणसंश्रयम्। तथा युक्तानीत्यनेन, योनिवीज-भागादीनि ब्राहयति। एतेन अधोगुरुत्वादयो रक्ताधिक एव भवन्तीति झेयम्। तेन "रक्तेन कन्यामधिकेन" इति यदुक्तम्, तदनेन समं न विरुद्धं भवति । विपरीतान्यक्लैंब्यादीनीत्यर्थः । उभयभागावयवा इति स्त्रीपुरुपकारका अवयवाः। नपुंसककरणीति नपुंसकनिर्देशोऽन्यक्तः गुणाभिभायेण ; तेन प्रथमं नपु सककराणीति अन्यक्तगुणसन्देहाभिप्रायेण प्रयुक्तम्, ततः कानि तानीत्यपेक्षया विशेषपरित्रहाइभयभागावयवा इति पुंलिङ्गेन निर्देशो होयः । सन्तिष्टन्त इति कालमेवास्य चेतित वेदनानिवन्धं प्राप्तोति। तस्मान् तदा प्रभृति गर्भः स्पन्दते प्रार्थयते च जन्मान्तरानुभूतिमह यत् किञ्चित् तद् द्वेहृदय्यमाचन्तते वृद्धाः।

मातृजञ्चास्य हृद्यं मातृहृद्येनाभिसम्बद्धं रसहारिणीभिः *
संवाहिनीभिः । तस्मात् तयोस्ताभिर्मक्तिः सम्पद्यते ।
तच्चेव कारणमवेन्नमाणा न द्वेहृद्य्यविमानितं गर्भिमच्छन्ति
कर्त्तुम् । विमानने ह्यस्य विनाशो दृश्यने गर्भस्य विकृतिवा ।
पाय्वादीनि च कर्म्मन्द्रियाणि सन्तिष्टन्ते संस्थावन्ति भवन्ति, तत्कालमेवास्य
गर्भस्य ज्ञानक्रिययोविहः प्रव्यक्तताच्चेतिस मनसि वेदनानिवन्धं सुखदुःखनिवन्धं ज्ञानं कर्मा च भावं प्रामोति । एप गर्भ इति शेषः । तस्मात् इन्द्रियसंस्थानेन वेदनानिवन्धप्राप्तितस्तदा तत्कालात् प्रभृति सुखाय स्पन्दते
दुःखापनोदनाय प्रार्थयते च सुखार्थं दुःखापनोदनाय, जन्मान्तरानुभृतिमह
किञ्चित्र तु सर्विमिति । तं गर्भ दृहद्दयं दे हृद्यं सम्बद्धे अस्य तत् तथा
मातृहृद्येन ग्रमहृद्यस्य सम्बन्धात् ।

ननु कस्माद् है हृद्य्यमाचक्षते छुद्धा इत्यत आह—मातृजञ्चेत्यादि । अस्य गर्भस्य यस्मान्मातृजं हृद्यं तस्मान्मातृहृद्येनाभिसम्बद्धम् । तन्मातृरस्नहारिणीभिर्मातृराहारजरसवाहिनीभिः संवाहिनीभिधमनीभिः, ताभिस्तयोमीतृनगर्भयोभिक्तिभेजनं सम्पद्यते । तच्चैव मातृराहारजरसवाहिनीभिधमनीभिर्मातृनगर्भयोभिक्तिभेजनं सम्पद्यते । तच्चैव मातृराहारजरसवाहिनीभिधमनीभिर्मातृनगर्भयोभिक्तिभेव कार्णमवेक्षमाणाः पश्यन्तो भिपजो है हृद्य्यविमानितं अभिनिव्वंत्तंन्ते । वेदना सुखदःखोणलब्धः ; निवन्धं प्राप्नोतीतीन्द्रयोदयादेप समकालमेव सुखदःखज्ञो भवतीति वाक्यार्थः । तस्मादिति सुखदःखसम्बन्धात् । सुखोत्पादनार्थं दःखपरिहारार्थं स्वन्दते चलित, तथा प्रार्थयते च सुखहेतून् जन्मान्तरानुम्तानित्यर्थः ; तद्गमहद्यपर्धनायुक्तं मातृहद्वयं है हृदयम् , वृद्धा इति ज्ञानवृद्धा आचक्षते ; हिहृदयस्य भावो है हृदयम् —मातृहदयं गर्भहृदयेन समं हृदयह्वयं भवति । ननु गर्भहृदयेन समं हृदयह्वयं भवति । क्यं गर्भहृदयं सम्बद्धं भवति । मातृकारणकार्त्वज्ञम् ; रसवाहिनीभिरिति गर्भपोपणार्थाभिः मातृहृदयगर्भनादीप्रतिच्छानी स्ववाहिनीभिः ; एतेन यद्ग गर्भः प्रार्थनयापि गर्भः प्रार्थनावान् भवति । तयोरिति मातृनगर्भयोः ; भिक्तरिच्छा ; ताभिरिति रसवाहिनीभिः ; सम्पद्यत हित मातृहृदयाद गर्भहृदयमित्यर्थः ।

^{*} रसवाहिनीभिरिति चक्रः ।:

समानयोग नेसा हि तदा अवति केपूचिद थेपु माता। तस्मात् त्रियहिताभ्यां गर्भिणीं विशेषेणोपचरन्ति कुश्लाः। तस्या द्र हृद्य्यस्य च विज्ञानार्थं लिङ्गानि समासेनोपदेच्यामः ॥ ८ ॥ द्वौहदय्यमतिक्रलाहारविहाराचरितं गर्भं कर्त्तुं नेच्छन्ति । कस्मात् ? - विमानने हीत्यादि। हि यस्माद्विमानने दिहंदयगर्भाभिलिपतानाचरणेऽस्य गर्भस्य विनाशो विकृतिवी दृश्यते। तस्मात् तदा द्वेहदय्यकाले माना द्वेहद्यिनी गर्भिणी गर्भेण सह समानयोगक्षेमा केषुचिद्र्येषु गर्भानुपवातकरेषु भावेषु गर्भाभिलपितानुक्लसानुक्लाहारविहारादियोगेन क्षेमा मङ्गला भवति। तस्मात् पियहिताभ्यां गर्भाभिलापेण तद्भिलपितेन हितेन च गर्भेवतीं कुशला वैद्या उपचरन्ति । सुश्रुतेऽप्युक्तम् – चतुर्थे सन्वीङ्गपत्यङ्गविभागः पन्यक्ततरो भवति। गर्भहृदयप्रव्यक्तभावात् चेतनाथातुरभिव्यक्तो भवति। कस्मात् ? तत्स्थानलात् । तस्माद्गभेश्रतुर्थे मास्यभिपायिमन्द्रियाथपु करोति । दिहदयाश्च नारीं द्वेहदयिनीमाचक्षते। द्वेहदय्यविमाननात् क्वनं कुणिं खञ्जं जड़ं वामनं विकृताक्षमनक्षं वा नारी सुतं जनयति। तस्मात् सा यद् यदिच्छेत् तत् तस्यै दापयेत्। लब्धदोहदा हि वीर्य्यवन्तं चिरायुपञ्च पुत्रं जनयति। भवन्ति चात्र। इन्द्रियाथींस्तु यान् यान् सा भोक्क्मिच्छति गर्भिणी। गर्भावाध-भयात् तांस्तान् भिषगाहृत्य दापयेत्।। सा प्राप्तदोहदा पुत्रं जनयेत गुणान्वितम्। अलब्धदोहदा गर्भे लभेतात्मनि वा भयम्। येषु येष्विन्द्रियार्थेषु द्वौहदे वै विमानना । प्रजायेत सुतस्यात्तिस्तिस्मिंस्तिसमंस्तथेन्द्रिये ॥ राजसन्दर्भने यस्या दोहदं जायते स्त्रियाः। अर्थवन्तं महाभागं कुमारं सा प्रस्यते। दुक्लपट्टकीपेय-भूपणादिषु दोहदात्। अलङ्कारैषिणं पुत्रं लिलतं सा मस्यते। आश्रमे संयतात्मानं धम्मशीछं प्रस्यते। देवताप्रतिमायानतु प्रस्ते पार्षदोपमम्। दर्शने न्यालजातीनां हिंसाशीलं प्रस्यते। गोधामांसाशने पुत्रं सुपुप्सुं गर्भस्य विनाशो विकृतिवैति—महता इच्छाविघातेन विनाशः खल्पेन च विकृतिः, किंवा गर्भेच्छा-पूर्विका मांतुरिच्छा, तद्विघातेन विनाशो गर्भस्य, सा हीच्छा विहता साक्षाद् गर्भसम्बन्धितया सुकुमारतरं गर्भं वातप्रकोपाट् विनाशयति ; या तु मातुरिच्छा विहता, सा मातरि वातक्षीभं जन्य-तीति समानयोगक्षेमे गर्भेऽपि मनाग् विकृतिजननाद् विकृति जनयति ; एतदेवं दर्शयति—समान-योगक्षेमा हीत्यादि । योगः सुखहेतुयोगः ; क्षेमः प्रत्यवायपरीहारः, एतौ योगक्षेमौ मातुर्गर्भण समानो भवतः । केपुचिद्रथैप्वितिवचनादतुल्ययोगक्षेमता च कचिद् भवतीति दर्शयति ; तेन नावश्यं मातुर्विकाराः क्षुदादयो गर्भे विकृतिमावहन्ति, गर्भस्य वा मातरीति ; गर्भिणीं विशेषेणेति-

उपचारसम्बोधनं ह्यस्य ज्ञाने दोपज्ञानश्च लिङ्गतः छ, तस्मादिष्टो लिङ्गोपदेशः; तद् यथा—आर्तवादर्शनमास्यसंस्रवण-मनन्नाभिलापश्छिर्दिररोचकोऽम्लकामता च विशेषेण । श्रद्धा-प्रण्यनञ्चोचावचेषु भावेषु ग्रहगात्रत्वं चनुषोग्लीनिरालस्यं स्तन्यं धारणात्मकम्। गवां मांसे च वलिनं सर्व्वक्रेशसदं तथा। दोहदाच्छूरं रक्ताक्षं लोमसंयुतम्। वराहमांसात् स्वमार्खं श्र्रं सञ्जनयेत् ेमार्गोद्दिकान्तजङ्घालं सदा वनचरं स्रुतम्। स्मराद्दिन्नमनसं नित्यभीतश्च तैत्तिरात्। अतोऽनुक्तेषु या नारी समभिध्याति दोहदम्। शरीराचारशीळैः सा समानं जनियव्यति । कम्मणा चोदितं जन्तोर्भवितव्यं पुनर्भवेत्। यथा तथा दैवयोगाद्दोहदं जनयेद्धृदि"।। इति । गभिण्या आहार-विहाराद्यनुत्कर्पेण गर्भस्यानतिचिरपोपणाचतुर्थमासस्य पूर्वाद्धकालाभि-प्रायेण लिखितवान् सुश्रुतः। अस्य तन्त्रस्य तु कृती गर्भिण्या आहार-विहाराद्वरतकर्षेण गर्भेषपुष्ट्या तृतीयमासस्य शेपार्द्धकालाभिषायेण सर्व्वेन्द्रिय-सर्विङ्गावयवाभिनिन्द्रीति द्वौहद्ययादिकं लिखितवानित्यतो न तन्त्रद्वयविरोधः। नत् कथं गर्भिणीं प्रियहिताभ्यां भिषज उपचरेयुरित्यत इत्यादि । तस्या द्वेहदयिन्या गभिंण्या द्वेहदय्यस्य च गभंस्य ॥ ८॥

गङ्गाधरः—नन्वनयोछिङ्गोपदेशेन कि स्यादित्यत आह—उपचारेत्यादि।
हि यस्मादस्य द्वेहदय्यस्य गर्भस्य छिङ्कतो ज्ञाने सति उपचारसम्बोधनं द्वेहदयिन्या
गर्भिण्या आहारिवहारादीनाष्ठुपचारस्य सम्यक् वोधः स्यात्, दोपज्ञानश्च स्यात्,
तस्मादुपचारस्य सम्यगसम्यग्ज्ञानहेतुत्रात् तयोविज्ञानार्थं छङ्गानां समासेनोपदेश
इष्ट इति—आर्चवेत्यादि। आत्तवादर्शनिमिति। प्रथममासाविध छिङ्गान्येतानि
प्रायेण भवन्ति। गर्भिणीगभ योरुपचारार्थं तृतीयमासि छिखितवान् न तु तृतीयमास्येव भवन्तीमानि नान्यमासीति। छिद्दिरकामतो वमनम्। विशेषणाम्लेषु
कामता श्रद्धेत्यर्थः। उच्चावचेषु उच्चेश्च नीचेश्च भावेषु प्रणयनं प्रणयः।

वचनादगर्भिण्यपि स्त्री ऋतुकाले प्रियहितोपचारणीया; यदक्तम्—"सहचर्थ्यंश्चेनां प्रियहितारेयां
सततम्रपचरेयुः" इत्यादि॥ १०८॥

चक्रपाणिः—उपचारसाधनं यथोचितोपचारकरणम्; अस्त्रेति गृहीतस्य तथा है हृद्यस्य च ; तन्न गृहीतगर्भोपचारो यथा—''शङ्किता चेत् गर्भमापन्ना क्षीरमञ्जपस्कृतं काले काले पिवेत्'' हृत्याहि ।

^{&#}x27;* उपचारसाधनं द्यसाज्ञाने क्षेपः। ' ज्ञानञ्च लिङ्गतः। ' इति चक्रसम्मतः पाठः।

स्तनयोः, ञ्रोष्ठयोः स्तनमग्डलयोश्च काष्ण्यम् अत्यर्थम्। श्वयथुः पादयोरोषल्लोमराज्युद्गमो योन्याश्चाटालत्वमिति गर्भे पर्य्यागते रूपाणि भवन्ति ॥ ६ ॥

सा यद् यदिच्छेत् तत्तदस्यै दद्यादन्यत्र गर्भोपघातकरेश्यो भावेश्यः । गर्भोपघातकरास्त्विमे भावाः ;तद् यथा—सर्व्वमिति-गुरूष्णतीच्णं दारुणाश्च चेष्टाः, इमांश्चान्यानुपदिशन्ति वृद्धाः । देवतारचोऽनुचरपरिरच्णार्थं न रक्तानि वासांसि विभृयात् न

चक्षुपोर्ग्छोनिः। आलस्यं निद्रात्तेता। स्तनयोः स्तन्यं प्रकाशते। ओष्ठयोः कार्ण्यं स्तनमण्डलयोः चृज्जकयोश्र कार्ण्यमत्यर्थमेव पूर्व्यं स्यात्। पादयोरेव श्वयथ्नान्यत्र। ईपदल्पः रोमराजीनामृद्धमः। योन्याश्राटाललं विस्तृतयोनिता। गर्भे पर्यागते सर्व्यतोभावेन समागते। तेन प्रथममासि इपद्रपेण लिङ्गान्येतानि भवन्ति। द्वितीयमासे मध्यमरूपेण तृतीयमासे पूर्णरूपेण। सुश्रुतेऽपि—स्तनयोः कृष्णमुखता रोमराज्ञाद्धमस्तथा। अक्षिपक्ष्माणि चाप्यस्याः सम्मील्यन्ते विशेषतः।। अकामतञ्ज्ञद्वेयति गन्धादुद्विजते शुभात्। प्रसेकः सदनश्चापि गर्भिण्या लिङ्गमुच्यते॥ तदापभृत्येव व्यायामं व्यवायमपत्रपणमितकर्षणं दिवास्वप्नं रात्रिजागरणं शोकं यानारोहणं भयमृत्कटुकासनञ्चैकान्ततः स्नेहादिक्रियां शोणितमोक्षणश्चाकाले, वेगविधारणश्च न सेवेत। दोषाभिधातैगंभिण्या यो यो भागः प्रपीङ्गते। स स भागः शिशोस्तस्य गर्भस्थस्य प्रपीङ्यते॥ इति॥ ९॥

गृङ्गाधरः—सा यद् यदिच्छेदित्यादि। सा हिहदयिनी गर्भवती। अन्यत्रेति विना इत्यर्थः। इमे वक्ष्यमाणातिगुर्व्वादयः। सर्व्वमित्यादि। इमानिति वक्ष्यमाणान्। देवतेत्यादि। रक्तवर्णवसना हि नारी सकलजन-

द्विहृदयोपचारञ्जात्रेव वक्ष्यति ; ज्ञानिमृह गर्भस्य द्विहृदयस्य च ज्ञानम् ; अम्लकामता विशेषेणेति च्छेदः । श्रद्धा इच्छा ; उचावचेष्चिति उच्चनीचेषु, भक्षणीयत्वेन कृतेषु चाकृतेषु चेत्यर्थः ; ईपत् पादयोः इवयथुः ; चाटाल्ल्षं सिववृतत्वम् ; तेन एतानि च लक्षणानि तृतीयमासयुक्तानि च है हृदयस्य च लिङ्गानि भवन्तीति ज्ञेषम् ॥ ९॥

चक्रपाणिः --दारुणाइचेष्टाः व्यवायादिकाः ; देवतारक्षोऽनुचरेभ्यः परिरक्षणम् । यदित्यादि ।

मदकराणि मद्यान्यभ्यवहरेत् न यानमधिरोहेत्। न मांस-सक्षीयात् सर्व्वेन्द्रियप्रतिकूलांश्च भावान् दूरतः परिवर्क्वयेत्। यचान्यदिष किञ्चित् स्त्रियो विदुगः। तीत्रायान्तु खलु प्रार्थ-नायां काममहितमध्यस्ये हितेनोपसंहितं प्रदद्यात् प्रार्थनाविलया-र्थम् कः। प्रार्थनासन्धारणाद्धि वायुः कुपितोऽन्तःश्ररीरमनु-चरन् गर्भस्यापद्यमानस्य विनाशं वैरूप्यं वा कुर्यात्॥ १०॥

त्रथ चतुर्थे मासे स्थिरत्वमाण्यने गर्भः, तस्मात् तदा गर्भिणी गुरुगात्रत्वमाण्यते । विशेषेण पश्चमे मासे गर्भस्य

मनोरमा भवति देवतादिभिरिष ग्रहीतुमिष्टा स्यादिति भावः। मद्यसात्म्या पुनर्नारी गिभेणी न मदकराणि भद्यान्यभ्यवहरेत्। यचान्यद्पीति मैथुनादिकं यच स्त्रियो विद्वाः विद्वाः तदिष परिवर्ण्जयेत्। नत्नु विद्वामार्थनायां किं कत्तेव्य-मित्यत आह—तीव्रायामित्यादि। कामं यथाभिरूपितमहितमिष हितेनोप-संहितं मिश्रितमस्य गर्भिण्ये द्यात्। किमथेमित्याह—प्रार्थनाविरुपार्थं पुनःप्रार्थनानिवारणार्थम्। नन्वहिताप्रदानेन किं स्यादित्यत आह—प्रार्थनेत्यादि। हि यस्मात् अहितप्रार्थनायाः सन्धारणाद्पाप्त्रा इति। इति तृतीय-मासीयगर्भव्याख्यानम्॥ १०॥

गङ्गाधरः—अथ चतुर्थे इत्यादि। चतुर्थ मास चतुर्थमासस्य शेपाद्ध, यस्यास्ताहारादुत्रत्कपंस्तस्यास्तु गर्भः पूर्वार्द्धे वा। विशेषेणेत्यादि। विशेषेण

यचान्यत् स्त्रियः गर्भकालासेन्यत्वेन विदुतः, तद्पि वर्जयेत् ; वदन्ति हि स्त्रियः—"न गर्भिणी कृषमवलोकयेत्, न नदीपारं यायात्" इत्यादि ; वृद्धस्त्रीवचनमप्यागममूलमेव, इह तु विस्तरभयान्न दर्शितमिति भावः । प्रार्थना इति याच्ना, तस्यास्तु तीवत्वं वलवदिच्लाजन्यमेव ; हितोपहितभाषात्र दर्शितमिति भावः । प्रार्थना इति याच्ना, तस्यास्तु तीवत्वं वलवदिच्लाजन्यमेव ; हितोपहितभाषिति हितेन युक्तम् ; किंवा कल्पनया हितम् ; प्रार्थनाया विनयमं विस्कोटनम्, तद्र्थम् ; स्कोटना च
प्रार्थितलाभेनैवापयाति ; प्रार्थनाऽविनयने दोपमाह—प्रार्थनेत्यादि । प्रार्थनायाः सम्यग्धारणं
प्रार्थनासन्धारणम् ; एतच स्तोककमेणापि प्रार्थनादाने सित भवति, यथोक्तविधिना वा हितदाने
सित इच्ला मनाक् समया वा खण्डिता भवति ; इच्लाविधातश्च मनःक्षोभकरभयादिकर्त्यृत्वाद्
वातप्रकोपको भवति ; आपद्यमानस्येत्यनेन गर्भस्यातितरुणक्षेन मनागपि वातक्षोभासहत्वं
द्रश्यिति । वैरूप्यविनाशिवकल्पस्तु वातप्रकोपप्रकर्षापकर्षकृतो होयः ॥ १०॥

चक्रपाणिः — तृतीयमासानुपूब्न्यी कथनप्रसावागतं गर्भस्य विशेषमभिभाय यथाकमागतां चतुर्थ-

हितोपहितं प्रद्यात् प्रार्थनाविनयनार्थम् इति चक्रसम्मतः पाठः ।

सांसशोणितोपचयो अवत्यधिकसन्येभ्यो सारोभ्यः, तस्माइ
गर्भिणी तदा कार्र्यसापद्यते । विशेषेण पण्ठे सारे गर्भस्य वलवर्णोपचयो अवत्यधिकसन्येभ्यो सारोभ्यः, तस्मात् तदा गर्भिणी
वलवर्णहानिमापद्यते । विशेषेण सत्तमे सारो सहसा सर्व्वभावेराण्यायते गर्भः, तस्मात् तदा गर्भिणी कान्ततमा ६ अवति ।
अष्टमे सारो गर्भश्च सातृतो गर्भतश्च साता रसहारिणीभिः
संवाहिनीभिः सुहुर्सृहुरोजः परस्परत आददाति, गर्भस्य
इति विष्टणोति—अधिकमन्येभ्यो मारोभ्य इति प्रथममासावध्युपचयात् ।
तरमाहर्भस्य पूर्व्यूष्वेमासतः पञ्चमे भासेऽधिकमांसज्ञोणितोपचयात् तदा पश्चमे
मारो कार्ज्यमापद्यते गर्भिणी। मनथ शिवद्युद्धतः भवति पश्चमे। इति
सुश्चतोक्तं विशेषेणिति पदेन वोध्यम्।

एवं पष्टे च यासे । विशेषणेति पह्न पष्टे चुद्धः प्रतिचुद्धतरेति सुश्रुतोक्तं वोध्यम् । तथा सप्तमे सन्बोङ्गपत्यङ्गविभागः प्रव्यक्ततर इति सुश्रुतोक्तःतु सन्वंभावैः शरीरे यावन्तो भावा वलवर्णकान्तिचुद्धिसर्वाङ्गपत्यङ्गविभागादय-स्तावद्भिभावैः सहसाप्यायते बद्धते । कान्तत्या अतिश्येन मनोरमा भवति । अष्टमे मासे इति । अष्टमे मासे रति । अष्टमे मासे रति । अष्टमे मासे रति । अष्टमे मासे रति । अष्टमे मासे एति । स्वत्विशेषमाददाति । याता च गिभेणी च गभेतो सहस्मृह्योह्योजे आददाति इति गभेगिभिण्योः परस्परत ओजोग्रहणं सहम्मृह्यः मासानुप्र्वीमाह—चतुर्थं इत्यादि । स्थिरत्विभिति निविद्त्वम् । अत एव निविद्वेन गुरुतरेण गर्भणाकान्ता गर्भणी गुरुगात्रा भवतीति सुक्तम् ।

अधिकमन्येभ्य इत्यनेन मासान्तरेष्विप स्लोकक्षमेण मांसादिवृद्धिं जनयित । येन शारीरेण मावेन गर्भ उपचीयते, तेन गर्भिणी हीयते इति युक्तमेव । यतो गर्भमांसादिपोपणेनेव क्षीण आहारस्सो न मातुर्मासादि सम्यक् पोपयित । वलवर्णयोरुपचयो वलवर्णीपचयः । किंवा उपचयो धातुपृष्टिः । सर्व्यमांचेरिति मांसशोणितादिभिः । सप्तमे गर्भ आप्याय्यते, पूर्वेषु तु मासेषु न सन्वेः । युगपदिति शेपः । सर्व्याकारेरिति सर्व्वमांसशोणितादिजन्यरूपेः । क्षान्ततमिति हीनतमा । अष्टम इत्यादि । रसवाहिनीभिरिति मानुहदये गर्भनाद्याञ्च सम्बद्धाभी रसवाहिनीमिः । परस्परत भोज आददाते इति मातुरोजो गर्भ आदत्ते, गर्भस्य चौजो माता आदत्ते ।

^{*} श्राप्याच्यते * * * क्रान्ततमा इति चक्रधतः पाठः।

सम्पूर्णत्वात् । तस्मात् तदा गर्भिगा मुहुम्र्भुहुर्भुदा युक्ता भवति मुहुम्मुहुश्च खाना, तथा च गर्भः । तस्मात् तदा गर्भस्य जन्म व्यापत्तिमद्भवत्यधिकमोजसोऽनवस्थितत्वात् । तःचैवार्थमभि-समीच्याप्टमं मासमग्यमित्याचन्ते कुश्लाः। रसवहनाङ्गिभभवति। कस्मात् ? गर्भस्य सम्पूर्णलात्। तस्माहर्भगर्भिण्योः परस्परनो मुहुम्मुहुरोजोग्रहणान् मुहुम्मुहुर्मुदा युक्ता, यदा गर्भतो गर्भिणी रसवहनाड़ीभिरोजो गर्भस्य यहाति तदा हर्पयुक्ता भवति। गर्भश्च ग्छानो भवति। मुहुम्मुहुग्र्ञानो यदा गर्भो मातृतो रसवहनाइी भिरोजो मृहाति तदा गर्भिणी क्षीणहर्पा भवति। तथा च गर्भः -तद्रच गर्भौ युदा युक्तो मुहुर्म्भुहु-भेवति मुहुम्मुंहुग्र्ञानो भवति । तस्माद् गर्भगर्भिण्योः परस्परतो मुहुम्मुंहुरोजो-ग्रहणेन मुहुम्भुंहुहर्पाहपीत् सवलदुर्व्वललाच तदाप्टमे मासे गर्भस्य जन्म अधिकं व्यापत्तिमद्भवति मायोऽल्पायुष्ट्रादिदोपं भवति । कस्मात् ? ओजसो-ऽनवस्थितलात्। पाणायतनं ह्योज उक्तम्। तश्च च्यापद्दोपमर्थमभिसमीक्ष्य गभस्याष्ट्रममासमगव्यमित्याचक्षते क्रश्रलाः। तस्सिन्नपूर्वे मासे ओजोऽनवस्थाने हेतुमाह – गर्भस्यासम्पूर्णत्वादिति, यरगाद् गर्भोऽसम्पूर्णः, तस्मादिनिष्पन्नाश्रयं गर्भो जोऽनवस्थितं भवति । मातुरोजो गर्भं गच्छतीति यदुच्यते, तट्गर्भा ज एव मातृसम्बद्धं सत् मात्रोज इति न्यपदिश्यते । गर्भस्यासम्पूर्णत्वादिति हेतुः । सम्पूर्णत्वे मातृदेहतस्तस्योजसो गमने असङ्गतिः स्यात्, तथा यथा गर्भो जसो मातर्य्यवस्थानसमये जन्म गर्भमरणकरं भवति, तथा मातुरोजसो गर्भावस्थाने सित यद् गर्भजन्म, तत्र मातुरिप मरणं स्यात् । न चतिदृष्टम् । येनोभयथापि गर्भस्यैवात्र मरणमुच्यते, न मातुः, 'तदा गर्भस्य जन्म व्यापत्तिमद् भवति" इति वचनेन। जत्कर्णेऽपि, अष्टमेऽपि जन्म गर्भविनाशायैव न मातुर्दर्शितम्। यदुक्तम्— ''ह्यीगर्भावन्योन्यस्य ओजसी हरतोऽष्टमे । तस्मात् तदा सृतिका गर्भविन।शायेव'' इति । अन्ये 🔪 तु वर्णयन्ति यत्—''सत्यपि मातुरोजसो गर्भगमने जन्मादृष्टवशादेव गर्भस्येव सर्णाय भवति, न मातुः।" सुश्चतन्याख्यातारस्तु—''अष्टममासे नैन्धितभागत्वाच गर्भस्य सत्यप्यीजोऽनवस्थाने तुल्ये गर्भस्यैव नाशो न मातुः" इति वर्णयन्ति । गर्भिणी मुहुम्मु हुर्मु दा युक्ता भवतीति गर्मा जोयोगात् हर्पयुक्ता भवति, ओजोविगमात् तु मुहुरमु हुर्ग्लाना भवतीति योज्यम्। तथा गर्भ इति गर्भिणीवद्गर्भोऽपि मुहुरमुं हूर्मु दा युक्तो भवति, मुहुरमुं हुर्ग्लानो भवति । तसादिति पूर्वोक्तं गर्भव्यापत्तिहेतुं साक्षाट् घूते । ओजसोऽनवस्थितत्वादिति । एतच व्याकृतमेव । अष्टम-मासस्य विशेपान्तरमाह—तन्वेवेत्यादि । तन्वेवार्थमिति गर्भन्यापत्तियुक्तमर्थम् । अगण्यमिति

^{*} असम्पूर्णस्वात् इति चकः।

दिवसातिकान्तेऽपि नवमं मासमुपादाय प्रसवकालिमस्यादुरा द्रादश्मासात् 🕸। एतावान् प्रसवकालः, वैकारिकमतः परं कुनी स्थानं गर्भस्य । एवसयसनयानुपूर्व्याक्षिनिवर्वत्ते कुचौ ॥११॥

सात्रादीनान्तु खलु गर्भकराणां सावानां सम्पदस्तथा वृत्तसौष्ठवान्मातृतश्चैवोषरनेहोषस्वेदाभ्यां कालपरिगामात्

दिवसातिकान्तेऽतीतैकदिने सति द्वितीयदिनमारभ्य नवममासमादाय भसव-काला आ द्वादशमासादित्याहुरिति । इह द्वादशशब्दः सम्पूर्णाप्टमं गणियता यो द्वादशो भवति तत्र विवक्षितो, न पुनरेकदिवसातिक्रमेऽप्टमं पूर्णं मला तदुत्तरं चतुर्थौ मासो द्वादशः। एतावान् कालः पसवस्य प्रकृतः। अतः परं गर्भस्य कुक्षौ स्थानं स्थितिर्वकारिकगिति। सुश्रुते हुरक्तम्-नवगदशमै-कादशद्वादशसु मासेषु प्रस्यतेऽतः परं वैकारिकमिति। एवमित्यादि। यया चातुपूर्व्यो निन्धेत्तंते कुक्षावित्यस्य व्याख्यानोपसंहारः ॥ ११ ॥

गङ्गाधर:—अथ यश्चास्य गर्भस्य क्रक्षौ दृद्धिहेतुरित्यस्य व्याख्यानमाह-यात्रादीनामित्यादि। गर्भकराणां भावानां मात्रादीनां मातापित्रात्य-सात्स्याहाररससत्त्वानां सम्पदोऽवैगुण्यात् तथा मातुर्वत्तसौष्ठवाद् यथाविधि-वर्त्तनात् मातृतश्चैवोपस्नेहोपस्वेदाभ्यां मातुर्गभीशयर्नेहेन यः स्नेहस्तथा तदुष्मणा यः स्वेदस्ताभ्यां स्नेहभावितथाण्डस्थस्य वस्तुनस्तत्स्नेहोष्पभ्यामिव।

न गणनया गर्भिण्यां प्रतिपादनीयम् । यदि हि गर्भिणी गण्यमानमष्टमं मासं गर्भजन्म व्यापत्तिः करं श्रुणुयात्, ततो भीता स्मात्, तदभयाच गर्भस्य वातक्षोभात् व्यापत् स्थादिति भावः। तसिनिति अष्टमे मासि । 'आ दशमाद्' इति वचनं प्रशस्ततरप्रसवकालाभिप्रामेण । द्वादशमासपर्य्यन्तं सम्यक् प्रसवकालाभिधानं स्तोकदोपयोरेकादशद्वादशमासयोरेवालपदोप-त्वेनादोपपक्ष एव निक्षेपान बोद्धव्यम् । दत्तमुत्तरमुपसंहरति—एवमित्यादि ॥ ११ ॥

चक्रपाणिः—'यश्रास्य वृद्धिहेतुः' इति प्रश्नस्योत्तरं—मात्रादीनान्तु इत्यादि । 'आदि'म्रहणात् पित्रात्मसात्म्यसत्त्वानि "मानुजश्चायं पितृजश्चायम्" इत्यादिग्रन्योकानि गृह्यन्ते । मातुराचाररूपस्य सोष्ठवं श्रेष्ठत्वं वृत्तसोष्ठवम् । 'मानृतः' इतिपदं वृत्तसोष्ठवेन तथा उपस्तेहोप-स्वेदाभ्याञ्च सम्बध्यते । रससात्म्यसोष्टवन्तु मान्नादिसम्पदा रुव्धमेव । उपस्तेहो धातुनिष्पन्न-सम्बन्धः । उपस्वेदः शरीरस्योपमणा परं गर्भस्य स्वेदनम् । उपस्वेदश्च गर्भवृद्धिकरो अवत्येव ।

^{*} ओ दशमासादिति चक्रप्टतः पाठः।

खभावसंसिद्धेश्च कुचौ वृद्धिं प्राप्तोति । मात्रादीनामेव तु खलु गर्भकराणां भावानां व्यापत्तिनिमित्तमस्याजनम भवति ॥ १२ ॥

ये त्वस्य कुचौ वृद्धिहेतुसमाख्याता भावास्तेषां विषर्थ्ययादुदरे विनाशमापद्यतेऽथवाप्यचिरजातः स्यात् । यतस्तु कात् रन्येन अविनश्यन् विकृतिमापद्यने तदनुञ्याख्यास्यामः । यदा स्त्रिया दोषप्रकोपणान्यासेवमानाया दोषाः प्रकृपिताः श्ररीरमुपसर्पन्तः शोणितगर्भाश्योपघातायोपपद्यन्ते, न च कात् स्न्येन शोणित- एवं कालपरिणामात् कालेन परिपाकात् । स्वभावसंसिद्धेश्व । तदा तदा दिद्धस्थावसिद्धेः गर्भः इक्षौ दृद्धिं मामोति इति यचास्य दृद्धिहेतुरित्यस्य व्याख्यानम् । अथ यतश्वास्याजनम् भवति तद् व्याख्यायते । मात्रादीनामेव तित्यादि । मातापित्रात्मसात्मग्राहाररससत्त्वानां गर्भकराणां भावानां व्यापत्तिनिमित्तं दोपनिमित्तमस्य गर्भस्याजनम् न जनम् भवति ॥ १२ ॥

गृङ्गाधरः - अथ यतथ जायमानः कुक्षावित्यादिना पूर्व्यपितिकातं स्मरनाह — ये तस्यत्यादि । तद् यथा — यदेत्यादि । स्निया वातादिदोप- प्रकोपणान्यासेवमानायाः प्रकुपिता दोषाः शरीरमुपसर्पन्तः शोणिताशय- गर्भाशययोरुपधातायोपपद्यन्ते तदा जायमानो गर्भ उद्रे विनाणं प्राप्तोति, अथवा स गर्भो चिरकालाजायते । इति । यतस्तित्यादि । तत्र दोषा यथा अण्डजानां पक्षतेरुपत्वेदनं वृद्धिकरं दृष्टम् । कालपरिणामादिति यथा यथा कालप्रकर्पः, तथा तथा वद्देते गर्मः । वृद्धिहेत्वन्तरमाह — स्वभावसंसिद्धेरचेति, स्वभावनेव कर्माजनेव गर्भो भवति वद्धिरणुरित्यर्थः । कर्मणा हि भोगलक्षणशरीरनिर्व्वर्त्तकेनारभ्यमाणं गर्भशरीरं वद्धिण्णुरस्वभावसंवारच्यम्, तेन वद्धत एव ।

"कुतस्रास्याजन्म भवति" इत्यस्योत्तरं—मात्रेत्यादि । व्यापत्तिनिमित्तिमिति व्यापत्तिकारणम्, तत्र मातुःयोपच्छोणितगर्भाशयादिदृष्टिः, पितुव्योपच्छुकदृष्टिरित्याद्यनुसरणीयम् ॥ १२ ॥

चक्रपाणिः—"यतश्च जायमानः" इत्यादिपश्च ह्योत्तरम्—ये ह्यस्येत्यादि । वृद्धिहेतुसमाख्याता भावाः, "मात्रादीनान्तु खलु गर्भकराणां भावानां सम्पदः" इत्यादिप्रन्योक्ताः । अथवाप्यचिरजात इति यदा मात्रादीनां सर्व्यया दोषवत्त्वे विषय्ययोऽपि भवति, तदा विनाशमापद्यते गर्भः । यदा तेपां दोषवत्त्रायमसम्यग्विषय्ययो भवति, तदा अचिरजातो व्यापद्यत इति श्रेयम् ।

अवशिष्टस्य प्रश्नस्योत्तरं दर्शयितुमाह—यतस्त्वित्यादि । अविनश्यन्नित्यत्र विनाशेन विक्रतिः अभिग्रेता, विकृताविष 'विनाश'शब्दो दृष्टः । यथा—असच्छीलत्वेन विकृते पुरुषे 'विनष्टो दृयम्'

गर्भाशयो दूषयन्ति, तदेयं गर्भं लभते, तदा गर्भस्य तस्य सातृजानासवयवानासन्यतसोऽवयवो विकृतिसेकोऽनेकोऽथवोप-पद्यते। यस्य यस्य हावयवस्य वीजभागे दोषाः ७ प्रकोपमापद्यन्ते तं तसवयवं विकृतिराविशति । यदा ह्यस्याः शोणितगर्भाशय-वीजभागः प्रदोषमापयते तदेयं वन्ध्यां जनयति। शोगितगर्भाशयवीजभागावयवः प्रदोषमापयतै पुनरस्याः यदा न कात्र स्न्येन शोणिताशयगभीशयौ दृपयन्ति तदेयं स्त्री गर्भं लभते, किन्तु तस्य गर्भस्य मातृजावयवा विकृता भवन्ति । तत्र दोपा यद्यदवयवारस्भक-वीजभागं दूपयन्ति स स चावयवो विकृतो भवति। यदा पुनरस्याः स्त्रियाः शोणितगर्भाशययोवीं जभागः पदुष्टो भवति तदा वन्ध्यां कन्यामियं जनयति। यदा पुनरस्याः स्त्रियाः शोणितगर्भाशययोत्रीजभागैकद्शः पदुष्टो भवति तदेयं इति च्यपदेशः । एवञ्च सत्येकदेशेनापि विकृतो 'विनाश'शब्ददर्शने 'कास्सेनेपन' इति विशेषणं युक्तं भवति ।

'दोपप्रकोपणोत्तान्यासेवमानायाः' दोपप्रकोपणेनैव दोपप्रकोपणसेवायां सम्धायां पुनः इति पदं दोपाणां स्वहेतुसेवया न वलवन्तं प्रकोपं दर्शयितुम् । परहेतुसेवयापि हि स्तोकमात्रया अनुवन्धरूपो दोपकोपो भवति। यथा-अग्लेन पित्तं जन्यमानं इलेप्मोपगतं जन्यते। 'न तु कार्त्स्नेयन दूपयन्ति' इति वचनेन, कार्त्स्नेयन दुष्ट्या गर्भजन्मेव न भवतीति दर्शयति। मातृषानामिति त्वग्लोहितादीनाम् । अन्यतम इति जातावेकवचनम् । तत्रेकोऽप्यवयवोऽन्यतमः, तथा अनेकेऽनयवाः 'अन्यतम'राव्देन प्रोक्ताः । अत एवेंकोऽथवानेक इत्यन्यतमविवरणसुपपन्नं भवति । अन्यथा तु 'अन्यतम'पदेन एकस्यैवायवस्य गृहीतत्वात् 'अनेक' इति करणमसङ्गतं स्यात् । कुतः पुनरेकस्यानेकस्य वा विकृतिर्भवतीत्याह—यस्येत्यादि । वीज इति कृत्सन प्वारम्भके । वीजभागे वेत्यवयववीजस्यैकदेशे। एतां विकृतिमेव श्रङ्गग्राहिकतया वक्तुमाह—यदेत्यादि। शोणित इत्यात्त्वे । गर्भाशयजनको वीजभागो गर्भाशयवीजभागः, शोणितगतो गर्भाशयवीजमागो शोणितगर्भाशयवीजभागः । किंवा गर्भाशयस्य तथा वीजभागस्य आर्त्तवरूपस्य जनकः । गर्भाशयार्त्तवे च मानजावयवमध्ये पतिते शोणितजन्ये एव । तेन आर्त्तवेतरवीजभागस्य दृष्टिरुपपन्ना । आर्त्तवज्ञ यद्यपि द्वादशवर्पोद्द्रद्वे व्यज्यते, तथापि आर्त्तवोत्पित्तर्गर्भकाल एव भवति । येन सतामार्त्तवदन्त-इमध्रुप्रमृतीनां फाले व्यक्तिर्भवति, तेन आर्त्तवारम्भकस्यापि वोजस्य गर्भकाले प्रदोप उपपत्तः। प्रदोप इत्यत्र 'प्र'शब्देन दृष्टिप्रकर्षं प्रकृष्टवन्ध्यतारूपकार्य्यजनकं दर्शयति। गर्भाशयस्य तथा भार्त्तवस्य चोपघातेन स्त्रिया बन्ध्यस्वं न्यक्तमेव। गर्भाशयवीजभागावयव इत्यन्नापि पूर्व्ववद

^{*} वीजे वीजभागे वा दोपः इति चक्रधतः पाटः ।

तदा पृतिप्रजां जनयति । यदा त्वस्याः शोगित-७-गर्भाशय-वीजभागावयवः स्त्रीकराणाञ्च वीजभागानासेकदेशः प्रदोष-स्त्रग्रकृतिमृ यिष्ठामस्त्रयं वार्त्तां + नाम मापद्यते. तदा जनयति तां स्त्रीव्यापद्माचन्ते । एवमेव पुरुषस्य वीजदोषे वितृजावयवविकृतिं विद्यात् । यदा श्ररीरे वीजभागः प्रदोष-माष्यते, तदा वन्ध्यं जनयति। यदा ह्यस्य वीजे वीजभागावयवः प्रदोषमापचते तदा पूर्तियजां जनयति। यदा त्वस्य वीजे वीजभागावयवः पुरुषकराणाञ्च वीजभागानामेकदेशः प्रदोष-मापयते, तदा पुरुषाकृतिभृ यिष्ठमपुरुषं तृ णपू लिकं 🛨 नाम पूर्तिमनां दुर्गन्धिमनां जनयति । यदा पुनरस्याः ख्रियाः शोणितगर्भाशययोः वीजभागैकदेशः स्त्रीकराणामार्त्तवाधिकशुक्रादीनामेकदेशध प्रदुष्टी भवति तदा स्नाकृतिभूयिष्टापस्तियं नपुंसकरूपां वात्तीं नाम जनयति। तां सन्त्रीं स्त्री-वयापदमाचक्षते वैद्या इति। अथ प्ररूपन्यापदमाह—एवमित्यादि। प्रकारेण प्ररुपस्य दोपप्रकोषणान्यासेवमानस्य प्रकृपिता दोषाः शरीरे वीजे वीज-भागं पुरुपकरं शुकाधिकादिकं मद्रपयन्ति तदा वन्ध्यपुत्रं जनयति। यदा पुनरस्य वीजे वीजभागः पद्धो भवति तदा प्रतिप्रज पुत्रं जनयति। यदा च पुनरस्य प्रंसो वीजे वीजभागावयवः पुरुपकराणाश्च शरीरवीजभागानामेक-देशः शुक्रादिः पदुष्टो भवति तदा पुरुपाकृतिभूयिष्टमपुरुपं नपुंसकं तृण-पूलिकं नाम जनयति । तां पुरुपन्यापद्माचक्षते । इति ।

व्याख्येयम्। 'अवयव'शब्देन तु गर्भाशयस्य चार्त्तवस्य चेंकदेश हहोच्यते । पूतिप्रजामिति च्रिय-माणापत्यम् । अन्ये तु क्विनाङ्गप्रत्यङ्गां पृतिमाङ्गः । स्त्रीकराणां शरीरवीजभागानामिति स्त्री-व्यञ्जकस्तनोपस्थलोमराज्यादिजनकवीजभागानाम् । अस्त्रियमित्यसम्पूर्णलक्षणाम् । रान्तां नामेति 'रान्ता'संज्ञा शास्त्रसमयकृता । स्त्रीनिमित्तार्त्तववदोपकृतव्यापत् स्त्रीव्यापत् । एवं तां पुरुष-व्यापदमाचक्षते इत्यन्नापि पुरुषव्यापद् व्याख्येया ।

वीज इति शुक्ते । शुक्ररूपवीजजनको भागो वीजभागः । इह वन्ध्यिमित्यनेन पुरुपबन्ध्यं ब्रूते, इह तु प्तिप्रजान्याख्या प्र्वंवत् । अपुरुपिमिति असमस्तपुरुपलक्षणयुक्तम् । 'तृणपुत्रिक'संज्ञापि शास्तसमयितिद्वेव । रान्तातृणपुत्रिकयोन्यंवायेच्छा परं भवति, न तु व्यवायसामर्थ्यमिति ब्रुवते ।

शोणिते इति चक्रध्तः पाठः । † रान्तामिति चक्रः । ः तृण्युत्रिकमिति वा पाठः ।

जनयति तां पुरुषव्यापदमाचचते । एनेन सात्माजानां रसजानां सत्तवजानाञ्चावयवानां विकृतिरिष व्याख्याता भवति। निर्विकारः परस्वात्मा सर्व्वभूतानां निर्विक्शेषः सत्तवश्रारेरयोस्तु विशेषात् विशेषोपलिष्यः ॥ १३॥

एतेनेत्यादि। एतद्तुसारेण यस्या गर्भवत्याः सात्स्यमाहार् दोपप्रकोपणान्यासेवमानायाः प्रकुपिता दोपा दृपयन्ति तदा सात्स्यरसाहाररसजानामारोग्यादीनामवयवानां शरीराभिनिन्द्ये त्यभिद्यद्भादीनाश्चावयवानां
विकृतिर्भवति। यस्याः सत्त्वं दृपयन्ति यदि तदा सत्त्वजानाश्चावयवानां
भक्तिशीलशौचादीनां विकृतिर्भवतीति न्याख्यातं भवति। तद्दि चात्मजानाश्च
अवयवानां किमात्यदोपाद् विकृतिभवतीत्यत आह—निन्विकार इत्यादि।
शारीरमानसदौपरात्मनो न दुष्टिरस्ति। कस्मात् १ यत परस्लात्मा चेतनाधातुरन्यक्तं नाम निन्विकारः। सन्वभूतानां निन्विशेपः। समसत्त्वरजस्तमोलक्षणो हीनाधिकावस्थारहितः स्व्यव्हस्यर्गानन्तरं नारायणेन हिंसाहिंसादिभावयौगे कृते विशेषेऽपि विकाराभावाचिन्विशेपत्वं स्थूलपुरुपेषु
सन्विष्वात्मन इति स्थूलपुरुपावस्थायां सत्त्वशरीरविशेषयोगात् प्रतिजनमात्मनो विशेषोपलिन्धरिति विशेष्यमात्रं न तु विकारः स्यादिति॥ १३॥

एवं मातापितृज्ञावयविकृतिं व्याख्याय सात्म्यरससत्त्वज्ञावयविकृतिव्यपदेशार्थमाह— एतेनेत्यादि । सात्म्यविश्रमात् तु सात्म्यजानामारोग्यानालस्यादीनामन्यतमेन हीयते । एवं रस-सत्त्वयोरप्युन्नेयम् ।

आत्मजोऽप्ययं गर्भ उक्तः, तत् कथिमह तद्विकृत्या विकृतिर्गर्भस्य नोच्यत इत्याह— निर्विकार इत्यादि । पर इत्यनेन मनःशरीरादिसमुदायादात्मानं व्यवच्छिनति । सर्वि-मूतानां निर्विशेष इति, सव्वष्ठ मूतेषु वर्त्तमानोऽप्ययं परमात्मा तुल्य एव । यस्तु तत्र सुख-इःखादिविशेष उपलभ्यते, स शरीरविशेषस्य तथा मनोविशेषण्य च सुखदुःखादिविशेषकारणस्य विशेषादुपलभ्यते । एतदेव 'शरीरसत्त्वयोस्तु' इत्यादिनोक्तम् । सुखादयस्तु न परमात्मविकाराः, किन्तु धर्मा एवेति दर्शितमेव । यानि चात्मजत्वेन गर्भे ''तासु तासु योनिषु उत्पत्तिः'' इत्यादिना प्रम्थेनात्मजानि दर्शितानि, तान्याप परमात्मविकारा न भवन्ति, किन्तु सत्त्वरजस्तमःप्रवलतारूप-विकारजमनोजन्यधर्माधर्माजन्यान्येव । तेन सूक्ष्मचिन्तायामात्मजान्यिप यान्युक्तानि, तानि सत्त्वजान्येव । तत्तश्चेहात्मजावयवविकारोऽपि सत्त्वजावयविकार एव वोद्वव्य इति भावः ॥ १३ ॥ तत्र त्रयस्तु शारीरदोषा वातिषत्तरलेष्माणस्ते शरीरं दृषयन्ति । द्यो पुनः सत्त्वदोषो रजस्तमश्च, तो सत्त्वं दृषयतः । ताभ्यां सत्त्वशरीराभ्यां दृष्टाभ्यां विक्वतिरूपजायते, नोपजायते चादुष्टाभ्याम् ॥ १४ ॥

तत्र शरीरं योनिविशेषाचतुर्विधमुक्तमम् । त्रिविधं खलु सत्त्वं, शुद्धं राजसं तामसमिति । तत्र शुद्धमदोषमाख्यातं कल्याणांशत्वात् । राजसं सदोषमाख्यातं रोषांशत्वात् । तथा तामसमिष सदोषमाख्यातं मोहांशत्वात् ॥ १५ ॥

तैषान्तु त्रयाणामपि सत्त्वानामेकैकस्य भेदायमपरिसंख्येयं

गङ्गाधरः—निन्दह के दोषा इत्यत आह—तत्रेत्यादि। सत्त्वदोषौ मनो-दोषौ रजश्च तमश्चेति द्वौ। ताभ्यां शारीरदोषमानसदोषाभ्यां दुष्टाभ्यां शरीर-सत्त्वाभ्यां गर्भस्य विकृतिरुपजायते ताभ्यामेवादुष्टाभ्यां गर्भस्य विकृतिनौष-जायते ॥ १४ ॥

गृङ्गाधरः—तद् विष्टणोति—तत्रेत्यादि । योनिविशेपाचतुर्विधं शरीरं जरायुजमण्डजं स्वेदजमुद्धिज्जमुक्तमग्रे । त्रिविधं खळ सत्त्वं मनः । शुद्धं केवलसात्त्वकं राजसं रजोवहुळं तामसं तमोवहुलमिति । तत्र शुद्धं केवलस्त्रत्वकं राजसं रजोवहुळं तामसं तमोवहुलमिति । तत्र शुद्धं केवलस्त्रत्वगुणं मनोऽदोपं निद्दीपमाख्यातिमिति कल्याणांशलाच्छ्भसत्त्वांशलात् । राजसं सदोपं मनः रोपांशलात्, रोपो हि रजोमूलः । तामसञ्च मनः सदोपं मोहांशलात्, तमो हि मोहात्मकमिति ॥ १५॥

गङ्गाधरः — तेपामित्यादि । तेपां त्रयाणां सत्त्वानामिति मनसामेकैकस्य

चक्रपाणिः—'शरीरसत्त्वयोस्तु' इत्यादिना शरीरमनसी इःखरूपविकारेऽपि कारणमुक्ते । तत्रैव च यैदेंपिः शरीरं मनश्च याभ्यां दोपाभ्यां युक्तं दःखकारणं भवति, तानाह—तत्र त्रय इत्यादि । विकृतिरूपजायत इति शारीरमानसरोगरूपं जायते ॥ १४ ॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति 'शरीरसत्त्वयोस्तु विशेषाद्' इत्यनेन दर्शितान् शरीरसत्त्वविशेषानेवाह— तत्रेत्यादि । चतुर्व्विधमिति जरायुजाण्डजोद्भिजस्वेदजम् । 'अप्रे' इति खुड्डिकायाम् । कल्याणांशत्वादिति शुभरूपांशत्वात् । मनो हि कल्याणभाग-रोपभाग-मोहभागैखिभागम् ।

तरतसयोगाच्छरीरयोनिविशेषेभ्यश्चान्योन्यानुविधानत्वाच । शरीरं हि ७ सत्त्वयनुविधीयते, सत्त्वश्च शरीरम् । तस्मात् कतिचित् सत्त्वभेदाननूकाभिनिर्देशेन निदर्शनार्थमेवानुव्याख्यास्यामः॥१६

भेदायं भेदस्य प्रवरमपरिसङ्खेत्रयम्। कस्मात् ? तरतमयोगात्। सत्त्वरजस्तमसां द्वयोद्धयोरेकस्योत्कर्पयोगात् त्रयाणाञ्चैकस्योत्कर्पयोगाच । उत्कर्पो हंग्रश एवाणुद्ररणुकादिभेदादसङ्खेत्रयः। न केवलं सत्त्वादितारतम्यात्, शरीरयोनि-विशेषेभ्यश्चेति। शरीरविशेषाणां योनिविशेषेभ्यः। योनिः शरीराणां जराय्यादयः। तद्विशेषाः पत्येकभेदादसङ्घेत्रयाः। कुतः शरीरयोनिविशेषेभ्यः सत्त्वविशेष इत्यत आह—अन्योन्यानुविधानाच्चेति। शरीरसत्त्वयोरेकत्र सहजातलात् परस्परमनुरूपेण विधानात्। कथिमत्यत आह—शरीर हीत्यादि। हि यस्मात्। जायमाने गर्भे निम्मीणकत्री शरीरं सत्त्वमनु विधीयते सत्त्वसदृशं शरीरं निम्मीयते। सत्त्वश्च शरीरमनु विधीयते योनि-विजेपे जायमानं शरीरमनु सादश्येन सत्त्वं निम्मीयते। तस्मात् सत्त्वभेदान् कतिचिद्नूकाभिनिर्देशेन साद्दयाभिनिर्देशेन निद्रश्रेनार्थम् नुव्याख्यास्यामो न तु कृत्स्नान् सत्त्वभेदान्। कृत्स्नसत्त्वभेदस्यान् काभिनिईशेन निदर्शनकरणा-शक्यलात्। सत्त्वभेदनिदर्शनेनैव शरीरभेदस्यापि निदर्शनसिद्धेः पृथङ्निदर्शनं करिष्यामः। सत्त्वशरीरयोरन्योन्यानुविधानात्॥१६॥

तत्र रोपांशतमोऽ शो सदोपो अधर्मारूपतया। भेदाप्रमिति भेदप्रमाणम् । तरतमयोगादिति शुचितरशुचितममनोभेदयोगात् । शरीरविशेषाः वालयुवशरीरादिविशेषाः। योनिविशेषास्तु मनुष्यपश्चादिजातिविशेषाः। किंवा शरीरस्य नरपश्चादिजातिविशेषाः शरीरयोनि-विशेषाः, तेभ्यः। अथ शरीरभेदाद् वा कथं मनोभेदो भवतीत्याह—अन्योन्यानुविधानाच। एतदेव विभजते - शरीरमपीत्यादि । सन्वानुरूपं शरीरं भवति, यदि शुद्धसत्त्वं भवति, तदा देवादिशरीरं भवति इत्यादि, तथा शरीरानुरूपच सत्त्वं भवति । यथा पशुशरीरे तामसम्, मनुष्यशरीरे राजसम्, देवशरीरे सात्त्विकमिति झेयम्। विवा अन्योन्यानुविधानादिति सन्त्व-रजस्तमसां परस्परानुविधानादित्यर्थः। अस्मिन् पक्षे शरीरं हापि 'सत्त्वमनु विधीयते' इत्यादिना व्यवहितमपि शरीरानुविधानं मनसो दुट्वोधत्वात् व्याख्येयम् । सत्त्वभेदानिति मनोभेदान् । अनुकाभिनिर्देशेन साद्दयनिर्देशेन ॥ १५।१६॥ * "अपि" इति चक्रप्रतः पाठः ।

तद् यथा — शुचिं सत्याभिसिन्धं जितात्मानं संविभागिनं ज्ञान-विज्ञानवचनप्रतिवचनशक्तिसम्पन्नं स्मृतिमन्तं कामक्रोधलोभ-मोहेर्ष्योहर्पापतं समं सर्व्वभृतेषु ब्राह्मां विद्यात् । इज्याध्ययन-वतब्रह्मचर्यपरमतिथिवतमुपशान्तमद्मानरागद्वे पलोभसोह-रोषं प्रतिभावचनिक्जानोपधारणशक्तिसम्पन्नसापं विद्यात् । ऐश्वर्यं-वन्तमादेयवाक्यं यज्वानं शूरमोजिखनं तैजसोपेतमङ्किष्टकर्माणं दीर्घदर्शिनमर्थधर्मकामाभिरतमेन्द्रं विद्यात् । लेखास्थवृत्तं

गुङ्गाधरः—तद् यथेति। माधान्यादुत्कर्पाच मथमं शुद्धसत्त्वभेदानाह—शुचिमित्यादि। अभिसन्धिरनुसन्धानम्। संविभागिनं यत् कार्यं यद्कार्यं तिद्धभागकरणवुद्धिशीलम्। कामाद्यपेतम्। सर्व्वभूतेष् समिति ब्राह्मगं ब्रह्मसत्त्वं विद्यात्। एतेन ब्राह्मगं शरीरश्च न्याख्यातम्। यो हि ब्राह्मग्रसत्त्वः स् एव ब्राह्मग्रकायः। उक्तं हि सुश्रते। "शौचमास्तिक्यमभ्यासो वेदेषु गुरुपूजनम्। भियतातिथ्यमिज्या च ब्रह्मकायस्य लक्षणम्" इति। एतेन ब्राह्मग्रसत्त्वं व्याख्यातं परस्परानुविधानात्।

इज्येतादि । इज्या यजनम् । उपशान्ता मदादयो यस्य तं प्रतिभादिसम्पन्तम् । तत्र प्रतिभा श्रुतमात्रवोधः । आपं सत्त्वं विद्यात् । एतेनापंकायो व्याख्यातः । तथा च सुश्रुतः । "जपत्रतत्रहाचर्य-होमाध्ययनसेविनम् । धान-विद्यानसम्पनम्पिसत्त्वं नरं विद्यः ॥"

ऐश्वय्येवन्तमित्यादि । आदेयवाक्यं ग्राह्मवाक्यवादिनम् । श्र्रं विक्रम-वन्तम् । ओजस्तिनं वल्रवन्तम् । तेजसोपतं दीप्तिमन्तम् । अक्तिष्टकम्मीणस् अविद्यास्मितारागद्दे पाभिनिवेशाः पश्च क्रेशास्तैर्व्विर्जितं कम्मे यस्य तं तथा । ऐन्द्रमिन्द्रसत्त्वं नरं विद्यादिति । एतेन चैन्द्रकायः पुरुषो व्याख्यातः । सुश्रुते चोक्तः । "माहात्म्यं शौर्य्यमान्ना च सततं शास्त्रबुद्धिता । भृत्यानां भरणश्चापि माहेन्द्रं कायलक्षणम् ॥" इति । एतेन माहेन्द्रसत्त्वो व्याख्यातः ।

लेखास्थरुत्तमित्यादि। लेखास्थरुतं कत्तंन्याकर्त्तव्यन्यवस्थारुत्तम्।

चक्रपाणिः संविभागिनमिति सम्पत्फलविभजनशीलम् । अतिथी यथोचितसपर्यादिक्युक्तं व्रतमाचरतीति अतिथिवतः । लेखा कर्त्तन्याकर्त्तन्यमर्यादा, तत्र स्थितं वृत्तं यस स लेखास्थवृत्तः

प्राप्तकारिण्यसंहार्थ्यमुत्थानवन्तं स्मृतिमन्तमश्रय्योत्तिम्वनं 🍪 व्यपगतरागेर्पाद्वेषमोहं याम्यं विद्यात् । शूरं धीरं शुचिमशुचि-द्रेषिगां यज्वानसस्भोविहाररतिमङ्किप्टकस्मीगां स्थानकोपप्रसादं वारुगं विद्यात् । स्थानसानोपभोगं परिवारसम्पन्नं सुखविहारं धर्मार्थकामनित्यं शुचिं व्यक्तकोपप्रसादं कौवेरं दिचात्। प्रियनृत्यगीतवादित्रोल्लापकं श्लोकाख्यायिकेतिहासपुरागो<u>ष</u>ु गन्यसाल्यानुलेपनवसनस्त्रीविहारकामनित्यमनसूयकं गान्धव्वं विद्यात्। इत्येवं शुद्धसत्त्वस्य सप्तविधं भेदांशं असंहार्य्यमसञ्जयिनम्। उत्थानवन्तं सम्यक् समर्थम्। याम्यं यमसत्त्वं नरं विद्यादिति । एतेन याम्यकायो व्याख्यातः । सुश्रुते च। "प्राप्तकारी दृढोत्थानो निभयः स्मृतिमान् शुचिः। रागमोहभयद्वे पैविजितो याम्यसत्त्ववान्।।" इति।

श्रमित्यादि। अम्भोविहाररतिं जलविहारे रतिर्यस्थ तम्। अक्तिप्ट-कम्मीणं पूर्वे व्याख्यातम्। स्थानकोपप्रसादं यत्र कोपः कर्त्तव्यो यत्र च मसादः कत्तं व्यस्तत्र तत्र स्थाने कोपमसादौ यस्य तम्। वारुणं वरुणसत्त्वं विद्यादिति। एतेन वरुणकायश्च व्याख्यातः। सुश्रुतेऽप्युक्तः। "शीतसेवा सहिष्णुलं पैङ्गरयं हरिकेशता। प्रियवादिलमित्येतद् वारुणं कायलक्षणम्।।" इति। एतेन वरुणसत्त्वो व्याख्यातः।

स्थानमानेत्यादि। यत्र मानः कर्त्तव्यो यत्र चोपभोगः कर्त्तव्यस्तत्र तत्र मानोपभोगौ यस्य तस्। व्यक्तकोपमसादं न तु गृहकोपमसादम्। कौवेरं कुवेरसत्त्वं नरं विद्यादिति। एतेन कौवेरकायः पुरुषो व्याख्यातः। सुश्रुते हुरक्तम् । "मध्यस्थता सहिष्णुलमर्थस्यागयसश्चयौ । महापसवशक्तिलं कौवेरं कायलक्षणम् ॥"। इति । एतेन कौवेरसत्त्वश्च व्याख्यातः।

. प्रियनृत्येत्यादि । पिया नृत्यगीतवादित्रोङ्घापा यस्य तम् । श्लोकादिषु कुशलं दक्षम्। गन्धादिषु विहारकामो नित्यं यस्य तम्। गान्धव्वं गन्धव्वं-तम्, अलङ्कितकर्त्तेव्याकर्त्तेव्यमित्यर्थः। असम्प्रहार्च्यमित्यशक्यवारणम् । ऐश्वर्ये लभत इति ऐश्वर्ये-लम्भी । स्थाने उचिते कोपः प्रसादश्च यस्य स स्थानकोपप्रसादः । सुखिवहारिमिति सुखकीड्म् । उछापः स्तोत्रम्। विहारः क्रीड़ा, किंवा स्त्रीभिः समं विहरणं स्त्रीविहारः। गान्धव्वमिति

^{· 🗻} ऐश्वर्यलिमनम् इति चकः।

विद्यात् कल्याणांशत्वात् । तत्संयोगात् तु त्राह्मग्रमत्यन्तशुद्धं व्यवस्येत् ॥ १७ ॥

शूरं चण्डमसूयकमैश्वर्थवन्तमौदिरिकं ७ रौद्रमनहुक्रो एक-मात्मपूजकमासुरं विद्यात् । अमिर्पिणमनुबन्धकोपं छिद्र-प्रहारिणं क्रूरमाहारातिमात्ररुचिमामिषिप्रयतमं स्वप्नायास-बहुलमीर्ष्युं राचसं विद्यात्। महालसं स्त्रणं स्त्रीरहस्काममशुचिं

सत्त्व नरं विद्यात्। एतेन गान्थर्न्वकायो न्याख्यातः। सुश्रुते हुरक्तम्—"गन्धमाल्य-भियलञ्च नृत्यवादित्रकामिता। विहारशीलता चैव गान्थर्न्व कायलक्षणम्॥" इति। एतेन गन्धर्न्वसत्त्वो न्याख्यातः। इत्येवमित्यादिना शुद्धसत्त्वस्य सप्तविधं भेदांगं विद्यात्। तत्र ब्राह्मरं सत्त्वमत्यन्तं शुद्धं विद्यात् कल्याणांशलात्॥ १७

गङ्गाधरः—अथ राजससत्त्वानाह—सुश्रुते च। सप्तैते सात्त्विकाः कायाः राजसांस्तु निवोध मे इति। श्रुरिमत्यादि। चण्डं कोपस्यभावम्। औदिर्कं वहाशिनम्। रौद्रमुग्रम्। अनमुक्रोगं निह्यम्। आत्मपूजकं निजस्याहारादिभि-रुपचारैभीजनशीलम्। आसुरमासुरसत्त्वं विद्यादिति। एतेनासुरकायः पुरुषो व्याख्यातः। सुश्रुते चोक्तम्। "ऐश्वय्येवन्तं रौद्रश्च शृरं चण्डमसूयकम्। एकाशिनञ्चौदिरकमासुरं सत्त्वमीद्दशम्॥" इति। अमर्पिणिमत्यादि। अनुवन्य-कोपं यं प्रति कुत्यति कोपनिष्टत्तेऽपि कोपानुवन्धो यस्य तं प्रति वत्तेते तमनु-वन्धकोपम्। लिद्रपहारिणं यदा तस्य कार्य्येषु विवरं प्रामोति तदैव तं पहरित। राक्षसं राक्षससत्त्वं तं नरं विद्यादिति। एतेन राक्षसकायोऽपि व्याख्यातः। सुश्रुते च। "एकान्तग्राहिता रौद्रमसूया धर्म्भवाह्यता। भृशमात्रं तमश्चापि राक्षसं कायलक्षणम्॥" इति। एतेन राक्षससत्त्वो व्याख्यातः। महालसमित्यादि।

गान्धर्व्यसत्त्वम् । एवं ब्राह्ममित्यादाविष ज्ञेयम् । एवज्ञ ब्राह्मादिभिः सत्त्ववाचकैः परैरेव प्रत्यवसृष्टेः सत्त्वस्य सप्तविधभेदकथनं समानकारणादुपपन्नं भवति । शुद्धस्येति सत्त्वगुणबहुलस्य । अथ कथमेते ब्राह्मादयः शुद्धसत्त्वस्यैव भेदा इत्याह—कल्याणांशत्वादिति । तत्संयोगादिति कल्याणांशस्य सम्यग्योगात् ॥ १७ ॥

चक्रपाणिः—औपधिकिमिति च्छद्मानुचारिणम् । अननुकोशमित्यननुनेयम् । खिया समं रहसि

^{*} औदरिकमित्यत्र औपधिकमिति चक्रसम्मतः पाठः।

शुचिद्वे षिगां भीरुं भीषियतारं विहारशीलं पैशाचं विद्यात्। कृ छश्र्रसक् छभीरुं तीच्णमायासबहुलं सन्त्रसुगोचरम् क्ष आहारिवहारपरं सापं विद्यात्। आहारकाममितदुःखशीलाचारोप-चारमस्यकमसंविभागिनमितलोलुपकर्मशीलं प्रतं विद्यात्। अनुषक्तकासमज्ञक्षमाहार-विहार-परमनवस्थितममिष्ग्मिमसश्चयं शाकुनं विद्यात्। इत्येवं खलु राजसस्य सत्त्वस्य षड् विधं भेदांशं विद्याद् रोषांशत्वात्॥ १८॥

स्त्रैणं स्तीवगं स्तीपु रहिस स्थितिकामं भीकश्च भीषियतारश्च पैशाचं पिशाच-सत्त्वं नरं विद्यादिति। एतेन पिशाचकायों व्याख्यातः। सुश्रुते च। "उच्छिष्टाहारता तैक्ष्णंत्र साहसिष्यता तथा। स्त्रीलोल्डपसं नैलेज्ज्यं पैशाचं कायलक्षणम्॥" इति। एतेन पैशाचसत्त्वश्च व्याख्यातः।

कृद्धश्रिमित्यादि। यदा कृद्धः स्यात् तदा शुरः स्यादिति कृद्धश्रस्तम्। अकृद्धभीरुम् यदा न कृद्धस्तदा भीरुरित्यकृद्धभीरुस्तम्। मन्त्रसुगोचरम् यत्किश्चित् कोऽपि मन्त्रयते तन्मन्त्रं सुष्टुगोचरं ज्ञानविषयीभवतीति मन्त्र-सुगोचरस्तम्। साप सपसत्त्वं नरं विद्यादिति। एतेन सापकायो व्याख्यातः। सुश्रुते हि—"तीक्ष्णमायासिनं भीरुं चण्डं मायान्वितं तथा। विहाराचार-चप्छं सपसत्त्वं विदुर्नरम्।।" इति।

आहारकामित्यादि । अतिदुःखाः शीलाचारोपचारा यस्य तम्। असंविभागिनं कार्याकार्यविभागज्ञानहीनम्। प्रैतं प्रेतसत्त्वं नरं विद्यादिति। एतेन प्रेतकायो व्याख्यातः। सुश्रुते चोक्तः। "असंविभागमलसं दुःखशील-मस्यकम्। लोलपञ्चाप्यदातारं प्रेतसत्त्वं विदुर्नरम्॥" इति।

अनुपक्तकामित्यादि । अनुपक्तः सदा संसक्तः कामो यस्य तम् । अजसं यथा स्यात् तथा आहारिवहारेषु परं रतम् । शाकुनं पिक्षसत्त्वं नरं विद्यात् । एतेन शाकुनकायो व्याख्यातः । सुश्रुतेऽपि । "शरुद्धकामसेवी चाप्यजसाहार एव-च । अमर्षणोऽनवस्थायी शाकुनं कायलक्षणम् ॥" इति। एतेन शाकुनसत्त्वो व्याख्यातः । इत्येवं राजसस्य सत्त्वस्य रोपांशलात् पड् विधं भेदांशं विद्यात् ॥१८ स्थातिमच्छतीति स्वीरहस्कामः । कृद्धश्रुरमकुद्धभीरुमिति कृषेशे सित श्रुरम् अक्रोधे सित भीरुम् ।

सन्त्रस्तगोचरमिति चक्रथतः पाठः।

निराकरिष्णुमधमवेशं जुगुप्सिताचाराहारविहारमैथुनपरं स्वप्तशीलं पाश्वं विद्यात्। भीरुमबुधमाहारलुष्धमनविश्यत-मनुषक्तकामकोधं सरणशीलं तोयकामं मात्स्यं विद्यात्। अलसं केवलमभिनिविष्टमाहारे सर्व्वबुद्धगङ्गहीनं वानस्पत्यं विद्यात्। इत्येवं खलु तामसस्य सत्त्वस्य त्रिविधं भेदांशं विद्यान्मोहांशत्वात्। इत्यपरिसंख्येयभेदानां खलु त्रयाणामिष सत्त्वानां भेदेकदेशो व्याख्यातः॥ १६॥

शुद्धस्य सत्त्वस्य सप्तिविधो ब्रह्मिष्श्वत्रवरुण्यमकुवेर-गन्धव्वसत्त्वानुकारेण । राजसस्य पड्विधो देश्यराच्नसिष्शाच-सर्पप्रतशकुनिसत्त्वानुकारेण । तामसस्य त्रिविधः पशुमत्स्य-वनस्पति-सत्त्वानुकारेण । कथञ्च यथासत्त्वमुपचारः स्यादिति ।

गृहाधरः — अथ तामसानाह — निराकिरिष्णु मित्यादि । सन्वेनिराकरण-शीलम् । पाशवं पश्चसत्त्वं विद्यात् । एतेन पशुकायो व्याख्यातः । सुश्रुते च । "पड़ेते राजसाः कायास्तामसांस्तु निवोध मे । दुर्मीधस्तं मन्दता च स्वप्ते मैथुन नित्यता । निराकिरिष्णुता चैव विश्वेयाः पाशवा गुणाः ॥" इति ।

भीरुमित्यादि । सरणशीर्छं गमनस्वभावम् । मात्स्यं मत्स्यसत्त्वम् । एतेन मात्स्यकायो व्याख्यातः । सुश्रुते च । "अनवस्थितता मौरुर्यं भीरुक्षं सिल्हा-थिता । परस्पराभिमद्देश्व मत्स्यसत्त्वस्य लक्षणम् ॥" इति ।

अलसमित्यादि । वानस्पत्यं वनस्पतिसत्त्वं नरम् । एतेन वनस्पति-कायश्च व्याख्यातः । सुश्रते च । "एकस्थानरितिनित्यमाहारे केवले रतः । वानस्यतो नरः सत्त्वयम्मकामार्थविज्जितः ।।" इति । इत्यविमत्यादुप्रपसंहारे । मोहांशलात् तमोऽ शलादिति । इत्यपिसङ्खे प्रयेत्यादि । इत्यपिसङ्खे प्रयेत्या-गोचरशब्देन अविरमाविविषये प्रचारो लक्ष्यते, तेन सन्त्रस्तगोचरिमिति प्रस्तविषयप्रचारम् । पिशाचाद् भिन्न एव यथोक्ताचारः प्रेतः । तेन प्रतमिष सत्त्वं पृथगुक्तम् । सरणशीलिमिति गमन-शीलम् । बुद्धप्रदीनि जहांगोहविचारस्मृत्यादीनि वक्तानि ॥ १८।१९ ॥

चक्रपाणिः—सुखस्मरणार्थं शुद्धादिभेदेन बन्धीकृत्य सत्त्वभेदानाह्—शुद्धस्येत्यादि । वनस्पति ! सत्त्वानुकारेणेत्यन्तो अन्थो भेदेकदेशो ब्याख्यात इत्यन्ते, योजनीयः क्रियान्तराभावात् । एते च केवलश्चायमुद्देशो थथोद्देशमिनि हिष्टो भवति । गर्भावक्रान्ति-संप्रयुक्तरयार्थस्य विज्ञाने सामर्थ्यं गर्भकराणाञ्च भावानामनु-समाधिर्विघातश्च विघातकराणां भावानामिति ॥ २०॥

तत्र श्लोकाः।

निसित्तसात्मा प्रकृतिर्वृद्धिः कुन्तौ क्रमेगा च। वृद्धिहेतुश्च गर्भस्य पञ्चार्थाः शुभसंज्ञिताः ॥ अजन्मनि च यो हेतुर्विनाशे विकृतावि । इमांस्त्रीनशुभान् भावानाहुगर्भविघातकान् ॥ २१॥ शुभाशुभसमाख्यातानष्टी भावानिमान् भिषक्। सर्विथा वेद यः सर्वान् स राज्ञः कर्तुं महीति।।

दिभिः पड्भिः श्लोकैरुपसंहारः। तत्र गर्भावक्रान्तीति। गर्भावक्रान्तिशारीर-द्वयस्य खुडीकामहदाख्यस्य सम्पयुक्तस्य वाच्यस्यार्थस्य ज्ञाने सामध्येमभिः निर्दिष्टं भवति। गर्भेकराणां भावानामनुसमाधिः संग्रहः स चाभि-निद्दिष्टो भवति। विघातकराणां गर्भोपघातकराणां विघातोऽभिनिर्दिष्टो भवति ॥ १९।२०॥

गङ्गाधरः-अध्यायार्थोपसंहारार्थमाह-तत्र स्रोका इति। निमित्तं गभंस्य। आत्मा गर्भस्य खरूपम्। प्रकृतिर्गर्भस्य। यया चानुपून्न्यो गर्भस्य कुक्षौ दृद्धिः। दृद्धिहेतुक्चिति। शुभसं विताः पश्चार्थाः। अनम्मनि हेतुः। गर्भस्य विनाशे हेतुर्गर्भस्य विकृतौ च हेतुरितीमांस्त्रीनशुभान भावान् ॥ २१ ॥

गुङ्गाधरः -- इत्थञ्चाष्टौ शुभाशुभसमाख्यातान् भावान् यो भिषक् सन्वेथा

सत्त्वभेदाः प्रायेण भवन्ति मानुपेष्विति कृत्वा एत एवोदाहरणार्थमुक्ताः । एवमनुक्ता अपि शुकर-च्याघादिसत्त्वानुकारेण सत्त्वभेदा वोद्धच्या एवेति दर्शयनाह—कथिमत्यादि । कथं नाम यथासत्त्वं प्राणिमनोभिर्मनुंप्याणामुपचारः स्वादित्येतद्र्थमुदाहरणरूपा अभी सत्त्वभेदा व्याख्याता इति वाक्यार्थः। यथाप्रतिज्ञं वाक्यार्थमुपसंहरति-केवल इत्यादि। केवलः कृत्साः। उद्देश इति 'यत्र गर्भे' इत्यादिग्रन्थकृतः । यथोदेशमिति उदेशकमानतिक्रमेण । सामर्थ्यमिति प्रयोजनम् । अनुसमाधिरनुष्टानम् । विघातो वर्जनम् । विघातकराणामिति गर्भविघातकराणाम् ॥ २० ॥

श्रवाप्युपायान् गर्भस्य स एवं ज्ञातुमहिति । ये च गर्भविघातोक्ता भावास्तांश्राप्युदारधीः॥ २२ ॥ इत्यित्रवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शारीरस्थाने महती-गर्भावकान्तिशारीरं नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

वेद वेति। स राजः सर्वान् चिकित्सितविधीन् कत्तु महैतीति। एवं ये च गर्भविधातोक्ता भावास्तांश्रावाप्त्युपायान् माप्त्युपायान् गर्भस्य। स उदारधी-र्घातुमहेति॥ २२॥

अध्यायं समापयति—अग्रीत्यादि ।

इति वैद्य श्रीगङ्गाधरकविरत्नकविराजविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ शारीरस्थानजल्पाख्ये चतुर्थस्कन्धे महतीगर्भावक्रान्ति-शारीरजल्पाख्या चतुर्थी शाखा ॥ ४ ॥

चक्रपाणिः—अधैतेषु मध्ये के ते गर्भस शुभाः,ये गर्भेऽनुष्टेया इत्याह—निमित्तमित्यादि ॥२१।२२

इति चरकचतुरानन-महामहोपाध्याय-श्रीमचकपाणिदत्तविरचितायां चरकताल्यर्थेटीकायामायुर्वेद-दीपिकायां शारीरस्थाने महतीगर्भावकान्तिशारीरं नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

पञ्चमोऽध्यायः।

श्रथातः पुरुषिवचयं शारीरं व्याख्यास्यासः, इतिह्साह भगवानात्रेयः॥ १॥

पुरुषोऽयं लोकसम्मित इत्युवाच भगवान् पुनव्वसुरात्रेयः। यावन्तो हि सूर्त्तिमन्तो लोके भावविशेषास्तावन्तः पुरुषे, यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके॥ २॥

गङ्गाधरः—अतः पूर्वाध्यायेऽभिहितमेवमयं लोकसस्मितः पुरुप इति। तस्य प्रपञ्चाथेमतोऽनन्तरं पुरुपविचयं शारीरमारभते—अथात इत्यादि। पुरुपं विशेषेण चिनोत्यस्मिननेन वेति पुरुपविचयमधिकृत्य कृतं शारीर-मिति॥१॥

गङ्गाधरः—पुरुपस्य विचयोऽयम् पुरुपोऽयं लोकसम्मित इति। अयमन्नमयः पुरुपः खळ लोकसम्मितः। लोकस्तनुत्तमतमो भूभ्रं वःस्वरिति त्रिलोकरूपः परमन्योम परमात्मा परमपुरुपः। क्रुतोऽयं लोकसम्मितस्तदाह—यावन्तो हीत्यादि। हि यस्मालोके यावन्तो मूर्त्तिमन्तो भावविशेषाः सन्ति तावन्तः पुरुपे वर्त्तन्ते, तथा यावन्तो मूर्त्तिमन्तो भावविशेषाः पुरुपे वर्त्तन्ते तावन्तो लोकेऽपीति। पुरुपे यावन्तस्तावन्तो लोके सन्तीति पुनवंचनेन लोके यन दृश्यते पुरुपे यावन्तस्तावन्तो लोके सन्तीति पुनवंचनेन लोके यन दृश्यते पुरुपे ता दृश्यते तद्या पुरुपस्थभावेनानुमेयमिति ख्यापितम्। तेन स्वाङ्गलिमानेन यथा चतुरशीत्यङ्गलिमितः पुरुपस्तथा तस्याङ्गलिमानेन लोकोऽपि चतुरशीत्यङ्गलिमित इति लोकसम्मितः पुरुपः पुरुपसम्मितश्च लोकोऽपि चतुरशीत्यङ्गलिमित इति लोकसम्मितः पुरुपः पुरुपसम्मितश्च लोक इति। मूर्त्तिमन्त इति शिष्यवोधार्थं स्थूलत उक्तम्। वस्तुतो यावन्तो भावा लोके तावन्तः पुरुपे, यावन्तः पुरुपे तावन्तो लोके मूर्त्तिमन्त इति वचनेनामूर्त्तांनां प्रतिपेधाभावात्।। २।।

चक्रपाणिः—पूर्वाध्यायेऽभिहितं "यावन्तो हि लोकं भावास्तावन्तः पुरुपे" इति, तच न प्रपञ्चितं बहुवाच्यत्वात्। अतः प्रपञ्चाभिधानार्थं पुरुपविचयं ब्रूते । पुरुपविचयनं लोकसामान्येन गणनं पुरुपविचयः, तमधिक्वत्य कृतोऽध्यायः पुरुपविचयः॥ १॥

चकपाणिः—सम्मितस्तुरुयः। लोकसिमतस्वमेवः विभजते—यावन्तो हीत्यादि । भगवता

इत्येवंबादिनं भगवन्तसात्रेयमिश्ववेश उवाच । नैतावता वावयेनोक्तं वावयार्थमवगाहामहे। भगवता बुद्ध्या भूयस्तर-तमतोऽनुव्याख्यायमानं शुश्रूषामहे इति ॥ ३॥

तमुवाच भगवानात्रेयः। अपिरसंख्येया लोकावयविशेषाः, पुरुषावयविशेषा अप्यपिरसंख्येयाः। यथा यथा प्रधानश्च तेषां यथास्थूलं पुरुषावयविशेषाः कतिचित् तेषां सामान्यमिभ- प्रदेशोदाहरिष्यामः; तानेकमना निवोध सम्यगुपवर्ण्यमानानिध-वेश । पड् धातवः समुदिता लोक इति शब्दं लभन्ते । तद् यथा—पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं ब्रह्म चाव्यक्तमित्येत एव च षड् धातवः समुदिताः पुरुष इति शब्दं लभन्ते ।

गृहाधरः—इत्येविमत्यादि तत् श्रुताग्निवेश उवाच—नैतावतेत्यादि ॥ ३॥ गृहाधरः—तमुवाचात्रेयः अपिरसङ्खेत्रया इत्यादि । तान् लोकपुरुपयोः समानान् कितिचिद्वयविशेपान्। अनुत्तमतमेषु त्रिषु लोकेषु पथमं लोकमाह — पड्धातव इत्यादि । तद्यथिति । पृथिवीत्यादि—येयं पृथिवी तस्या दशगुणा आपस्तां परित आष्टत्य वर्त्तते । अपश्च ताः परितो दशगुणं तेज आष्टत्य वर्त्तते । तेजश्च दशगुणो वायुरावत्त्य वर्त्तते । वायुमिष चाकाशो दशगुण आष्टत्य वर्त्तते । आकाशश्चाहङ्कारो दशगुण आष्टत्य वर्त्तते । तत्त्वाहङ्कारमितो दशगुणो महानाष्टत्य वर्त्तते । महान्तश्चाव्यक्तमात्मा ब्रह्म दशगुणमाष्टत्य वर्तते इत्येवमहङ्कारमहद्भ्यामुपलक्षितमव्यक्तं ब्रह्मेह विवक्षितमित्येत एव पङ्धातवो यथा लोक इति शब्दं (अनुत्तमतमाष्टलोको भूलोकशब्दं) लभन्ते तथा खल्वेते एव पङ्धातवः समुदिताः पुरुष इति शब्दं लभन्ते । कथं पुरुषः पृथिव्यादि-

वृद्धवानुन्याख्यायमानिमिति योजना। लोकस्य तरुतृणपश्चादिरूपा अवयवाः तथा पुरुपस्य च स्नायुकण्डराधमन्यादिरूपा अवयवा अपरिसंख्येयाः। तेन अकार्त्सनवाभिधानम्। अतो ये ये लोकपुरुपयोः स्थूला अवयवाः, ते ते सामान्यप्रतिपादनार्थमुच्यन्त इति वाक्यार्थः। ब्रह्मणो

तस्य च पुरुषस्य पृथिवी सृर्तिः, श्रापः क्लोदः, तेजोऽभिसन्तापो, वायुः श्राणो, वियच्छिद्राणि, ब्रह्म श्रन्तरात्मा ।

यथा खलु ब्राह्मी विस् तिलोंके तथा पुरुषेऽप्यान्तरात्मिकी विस् तिः। ब्रह्मणो विस् तिलोंके प्रजापितरन्तरात्मनो विस् तिः पुरुषे सत्त्वस् । यस्त्विन्द्रो लोके स पुरुषेऽहङ्कारः, ब्रादित्यास्तु ब्राह्मनं, रुद्रो रोषः, सोमः प्रसादो, वसवः सुखस्, ब्रिश्वनो कान्तिः, मरुदुत्साहः, विश्वेदेवाः सर्व्वेन्द्रियाणि सर्व्वेन्द्रियाण्या स्थाने, व्योतिर्क्वानम् । यथा लोकस्य सर्गादिस्तथा पुरुषस्य गर्भाधानं, यथा इत्युगमेवं वाल्यं, यथा त्रेता तथा योवनं, यथा द्वापरस्तथा स्थाविय्यं, यथा कलिरेवमातुर्यं, यथा युगान्तस्तथा मरणम् । इत्येवमेतेनानुमानेनानुक्तानामिप

पड़्धातुकः पुरुष इत्यत आह—तस्य चेत्यादि। या सा पड्धातुके पुरुषे विश्वरूपेऽन्तरात्मिन पृथिवी तस्या एव विकारभूता पृथिवी, पुरुषेऽस्मिन् मूर्तिः। यास्ता आपस्तासां विकाररूपा आपः, क्रेदः शरीरे। यत्ततेजो विश्वरूपे तद्दिकारभूतं तेजः, शरीरे सन्तापः। यः स विश्वरूपे वायुस्तद्दिकार एप शारीरः प्राणः। यत् तद्दिश्वरूपे वियत्तद्दिकारभूतवियदेतानि शरीरे छिद्राणि। यत् तद्दिश्वरूपेऽव्यक्तमात्मा ब्रह्म तदेवायं शारीरो भूतात्मा विश्वरूप इति।

नन्वेतावता न लोकसम्मितः पुरुपो भवति। लोके हि ब्रह्माद्यः सन्ति पुरुषे तु ते के वर्त्तन्त इत्यत आह—यथा खिल्वत्यादि। लोके खळ यथा ब्राह्मी विभूतिराव्यक्तिकी विभूतिरतथा पुरुषेऽप्यान्तरात्मिकी आव्यक्तिकी विभूतिः। तद् यथा—ब्रह्मणोऽव्यक्तस्य विभूतिर्यथा लोके प्रजापतिर्वह्मादि-स्तथान्तरात्मनो विभूतिः पुरुषे सत्त्वं मनः। यस्तिन्द्र इत्यादि स्पष्टम्। अथानुक्तार्थम्रपसंहरति—इत्येविमत्यादि। एतेनानुमानेनानुक्तानामिष लोक-

विवरणम्—'अन्यक्तम्' इति । तस्येत्यादिना पुरुषे पड्षातृत् दर्शयति । सूर्त्तिः कारिन्यम् । लोके पड्षातवो न्यक्ता एवेति न विवेचिताः । ब्राह्मीति आत्मविशेषजगत्सन्दुर्विभूतिः । प्रजापतिर्दक्ष- लोकपुरुपयोरवयवविशेपाणामिश्चवेश ! सामान्यं विद्यात् इति ॥ ४ ॥

पुरुपयोरवयवविशेषाणां मूर्त्तामूर्त्तानां सामान्यमिववेश ! भवान् विद्यादिति । तथा च। "यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके" इत्यनेन ख्यापितं यद्यदत्र पुरुषे तच तत्रेति, तत्र पुरुषो यथा स्वाङ्गुलिमानेन चतुरशीत्यङ्गुलिमितस्तथा परमञ्योम परमात्मा परमपुरुषः शिवोऽपि लोकाख्यः खाङ्गुलिमानन चतुरशीत्यङ्गुलिमितः। तत्राथस्तात् पुरुपस्यापादनाभिषदर्यन्तः पञ्चाशदङ्गलिमितो भूलीको यथा मथमः पादस्तथामुष्यापि परमपुरुपस्येश्वरस्याथस्तात् पञ्चाशदङ्गुलिमितो-भूर्भ वःस्वर्महर्जनतपःसत्यविष्णुलोका इत्यष्टलोकी अनुत्तमतमो भूलोकः पथमः पादः। यथा चास्य पुरुषस्य नाभेरुद्धं कण्ठपर्यन्तोऽन्तरा-धिश्रतुर्विशत्यङ्गुलिमितो भुवलोको द्वितीयः पादस्तथामुष्य लोकारूयस्य परमन्योम्नः परमेश्वरस्यान्यक्ताख्यादृढ्वं चतुन्त्रिंशत्यङ्गुलिमितो देशोऽनुत्तमतमो भुवर्लोको द्वितीयः पादः। यथैव चास्य पुरुपस्य कण्टादृद्धं शिरोग्रीवं दशाङ्क् छ सर्लोकस्तृतीयः पादस्तथैव चामुण्य परमन्योम्नः परमपुरुपस्य लोकांख्यस्योद्धं दशाङ्गलम्बुत्तमतमः खलोकस्तृतीयः पाद इति। पुरुषो यथा तथा त्रिपात् परमपुरुषः परमब्योमलोकाख्यः शिवः। तत्राधस्तात् पश्चाशदङ्ग्ले परमे न्योम्नि यानि पृथिन्यप्ते जोवाय्वाकाशाहङ्कार-महदन्यक्तानि तानि, तथा यानि च सप्तपातालाद्येतत् पृथिन्यन्ते भूलौंके नागादीनि मनुष्यादीनि, यानि चान्तरीक्षे भुवलोंके चन्द्रार्कादीनि ज्योतींपि, यानि खलौके शक्रादीनि, यानि च महलौके यानि जनोलोके यानि तपो-लोके विराहादीनि, यानि सत्यलोके ब्रह्मलोकवैक्कण्ठशिवलोकादीनि, यानि चान्यक्तारुये लोके मधानारुयो ब्रह्मा क्षेत्रहारुयो विष्णुः कालारुयो महाविष्णुश्चेत्येतानि तानि सर्वाणि परमन्योगरूपपृथिन्या नातिरिक्तानि अतत्स्थरात्। इत्यष्टलोकी अनुत्तमतमा पृथिवी यथा प्रथमः पादः परमध्योम तानि सर्व्वाण्याद्यणोत्। तथास्य पुरुषस्य नाभेरधस्ताद् यावन्ति तानि नाधोदेहादतिरिक्तानि तात्स्थायदिति भूलौकः प्रथमः पादः। यदेव तत् पर्मन्योमाप्टलोकात्मकादन्यक्ताद्र्छ्ये चतुर्विशत्यङ्गलम्बुत्तमतमो अवलोकः कोमारलोक उच्यते। तत्र पश्च त्रहापुरुषाः कुमाराः सदाशिवर्ग्वदादयो विद्या

नामा । आदानं ग्रहणम् । आदित्योऽप्याददातीति, आदानमप्यादित्यः । इह च मनुप्रशृतिषु प्राजा-

तानि सर्वाणि न ततोऽतिरिक्तानि तात्स्थ्रप्रादिति। तत्परमच्योम तान्याष्टणोत्। एवमस्य पुरुषस्य नाभेरूर्द्धे कण्टपर्यन्तो भुद-र्लोकस्तत्र हृदि ये पश्च प्राणाः पश्चत्रह्मपुरुपास्ते ततो नातिरिक्ता इप्यन्ते अतात्स्य्यात् । इत्येवमष्टलोकात्मकभूमिलोकसहितं कौमारलोकात्मकभुवलोकं सर्वतो रुर्त्वासौ परमन्योम परमपुरुप ऊर्द्ध दशाङ्ग्लमनारुतत्वेनातिशयेन आशिरोंग्रीवं खर्लीकोऽतिष्ठदिति । तथास्य पुरुपस्यापि शिरोग्रीवं दशाङ्गलमुत्त-म्पर्इत्वेनातिष्टदिति।तदुक्तं पुरुपस्को। "सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। सभूमिं सर्वतो रुच्वा अत्यतिष्ठदशाङ्गलम् ॥" इति । सभूमिं भूमिलोकसहितं भुवलोकं सन्वत ऊर्जाधश्रतिईंगं वहिराभ्यन्तरश्चारृत्य दशाङ्ग्लं वपुरितशये-नानावरणेनातिष्ठदिति। तथा तत्रैव पुरुपसूक्ते "एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" इति यदुक्तम्, तत्र पाद इति औस्थाने सुक्छन्दसि। पादावित्यर्थः। विश्वा इति जसौड़ाक्छन्दसि। एतावानस्य त्रिपादस्य पुरुपस्य महिमा महत्त्वमस्य त्रिपादस्य द्दौ पादौ भूपादभुवःपादौ विश्वानि भूतानि। दिवि तृतीये पादे स्वर्होके शिरोग्रीवे दशाङ्कुलेऽमृतं ज्योतिःस्वरूपं ब्रह्म वाग्रूपा गायत्री चतुर्थः पाद इति। तदमृतं पुरुपस्याप्यस्य मूर्छि, ब्रह्मरम्धे सहस्रदलपद्मकणिकाभ्यन्तरे वर्त्तते इति त्रिलोकसम्मितः पुरुष इति । ननु च्छान्दोग्योपनिपदि चानयर्चा वस्तुत्वेन लोकपुरुपयोरैवयं व्याख्यातम्। तद् यथा-गायत्री वा इदं सर्व्वं भूतं यदिदं किश्व। वाग् वै गायत्री। वाग् वै सर्व्व गायति च त्रायते च। या वै सा गायत्री। इयं वाव सा येयं पृथिवी। अस्यां हीदं सर्व्वभूतं प्रतिष्टित-मेतामेव नातिशीयते। या वै सा पृथिवी इयं वाव सा यदिदमस्मिन् पुरुष शरीरमस्थिन हीमे भावाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते इति । १। या वै सर्ि गायत्री। इयं वाव सा यद्वैतत् पुरुषे शरीरमस्मिन् हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिताः एत्देव नातिशीयन्ते। यद्वैतत् पुरुषे शरीरमिदं वाव तत् यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे हृदयमस्सिन् हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते। २। सैपा चतुष्पदा षड् विधा गायत्री। तदेतदचाभ्यनूक्तम्। एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्र पूरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादंस्यामृतं दिवीति। ३। या वै सा गायत्री इयं वाव सा यद् वैतद् ब्रह्मेति। यद् वैतद् ब्रह्म। इदं वाव तद्योऽयं विहिद्धीः पत्यादिरूपता आगमसिद्धैव ज्ञेया। सन्वेन्द्रियार्था विश्वेदेवा एव। सर्गादिरिति प्रलयानन्तरः कालः । अनुक्तानामित्यनेन मतिर्बृहस्पतिः, कासो गन्धर्व्व इत्यादि । सामान्यं तुरुयम् ॥ २—४ ॥

पुरुपादाकाशः। यो वै स वहिर्द्धाः पुरुपादाकाशोऽयं वाव स योऽयमन्तःपुरुपे आकाशः । यो वै सोऽन्तःपुरुप आकाशोऽयं वाव स योऽयमन्तह दय आकाशः । यो वै सोऽन्तह दय आकाशस्तदेतत् पूर्णमप्रवर्त्ति । पूर्णामपवर्त्ति नीं श्रियं लभते य एवं वेदेति। तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुगयः। स योऽस्य माङ् स्रुपिः स माणस्तचक्षः स आदित्यस्तदेतत् तेजोऽन्नाद्यमित्युपासीत्। तेजस्यनादो भवति य एवं वेदेति। १। अथ योऽस्य दक्षिणः सुपिः स व्यान-स्तच्छोत्रं स चन्द्रमाः। तदेतच्छीश्च यशश्चेत्युपासीत। श्रीमान् यशस्वी भवति य एवं वेदैति।२। अथ योऽस्य प्रत्यङ् सुविः सोऽपानः सा वाक् सोऽप्रि-स्तदेतद् ब्रह्मवर्चसमनाद्यमुपासीत । ब्रह्मवर्चस्यनादो भवति य एवं वेदेति । ३ । अथ योऽस्योदङ् सुपिः स समानस्तन्मनः स पर्जन्यस्तदेतत् कीर्त्तिश्च च्युष्टि-इचेत्युपासीत । कीर्त्तिमान् च्युष्टिमान् भवति य एवं वेदेति । श अथ योऽस्योद्धः सुपिः स उदानः स वायुः स आकाशस्तदेतदोजश्च महश्चेत्युपासीत । ओजस्वी महान् भवति य एवं वेदैति । ५। तत्र ते पश्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः। स य एवं पञ्च ब्रह्मपुरुपान् स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान् वेद्, अथास्य कुले वीरो जायते। प्रतिपद्यते स्वर्ग लोकं य एतानेव पश्च ब्रह्मपुरुपान् स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान वेदेति। ३। अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यतेऽपि स्वतः पृष्ठेपु सर्वतः पृष्ठेप्वनुत्तमतमेषु लोकेषु । इदं वाव तर् यदस्मिनःतःपुरुषे ज्योतिः। तस्यैपा दृष्टिर्यद्त्रैतस्मिञ्छरीरे संस्पर्शेनोष्मिमाणं विजानाति। तस्यैपा श्रुतिः। यत्रैतत् कर्णाविष गृह्य निनदिषत्र नद्शुमिवाग्नेरिव ज्वलन उपश्रणोति। तदेतर् दृष्टञ्च श्रुतञ्चेत्युपासीत। चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेदेति । ४ । अत्र त्राह्मणे पादोऽस्य विश्वा भूतानीत्यनेनोक्तौ द्वौ पादौ या वै सा गायत्रीत्यारभ्य नातिशीयन्त इत्यन्तेन व्याख्यातौ। तत्रादेत्रन नातिशीयन्त इत्यन्तेन मथमो भूपादः । द्वितीयेन नातिशीयन्त इत्यन्तेन हृद्यं भुवःपादो द्वितीय इति। त्रिपादस्यामृतं दिवीत्यनेनोक्तौ द्वौ पादौ गायत्रगाः सौपा चतुष्पदेत्यादिना न्याख्यातौ। तत्र द्वारपान् वेदेत्यन्तेन दुर्रपादस्तृतीयो व्याख्यातः। अथ यदतः पर इत्यादिनामृतपादश्रत्थी व्याख्यातः। इति चतुष्पादा सैपा गायत्री। पङ्विधा वाग्रूपा खल्ववणा प्रकृतिरेका ब्रह्म प्रजापतिं प्रति दर्शनयोग्यार्था वर्णवत्यः पञ्चथा। इवेता रक्ता पीता कृष्णा अघोरा चेति पड् विधा। चेतोऽपीणनिगदादुक्ता न तु वस्तुत इति। शारीरकस्त्रैश्रोक्तम्। ज्योतिश्वरणाभिधानात्। छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न

एवंबादिनं भगवन्तम् ग्रात्रेयमग्निवेश उवाच, एवमेतत् सर्व्वमनपवादं यथोक्तं भगवता लोकपुरुषयोः सामान्यम्। किन्वेवास्य सामान्योपदेशस्य प्रयोजनमिति॥ ५॥

भगवानुवाच, श्रूगविश्ववेश ! सर्व्वलोकमात्मन्यात्मानश्च सर्व्वलोके सममनुपश्यतः सत्या बुद्धिरुत्पद्यते । सर्व्वलोकं ह्यात्मिन पश्यतो भवत्यात्मेव सुखदुःखयोः कर्त्ता नान्य इति कर्म्सात्मकत्वाच । हेत्वादिभिरयुक्तः क सर्व्वलोकोऽहमिति विदित्वा ज्ञानं पूर्व्वसुत्थाप्यते अपवर्गाय । तत्र संयोगापेची चेतोऽर्पणनिगदात् । तथा हि दर्जनम्—भूम्यादिपाद्व्यपदेशाच्चैवमिति । इत्येवं लोकपुरुपयोर्देहमदेशविभागवस्तुविभागाभ्यां सामान्यमुक्तमिति ॥ ४ ॥

गङ्गाधरः—एतत् श्रुला यदुवाच तदाह—एवंवादिनिमत्यादि। किं तु अस्पेत्यादि प्रश्नः। भगवानुवाचेति तदुत्तरम्। तद् यथा—सर्व्वलोकिमित्यादि। यदि लोकपुरुषयोः सामान्यं नोपदिश्यते ति कथमित्रवेश! सममनुपश्यतः सत्या चुद्धिरुत्पद्यत इत्यादि। कस्मादित्यत आह—सर्व्वलोकिमित्यादि। आत्मैव स्रुलदुःखयोः कत्ती नान्य इति चुद्ध्या किं स्यादित्यत आह—कम्मीत्मकलाच्चेत्यादि। स्रुलदुःखयोः कत्ती नान्य इति चुद्ध्या किं स्यादित्यत आह—कम्मीत्मकलाच्चेत्यादि। स्रुलदुःखयोः कत्ती हिमिति कम्मीत्मकलात् ते हेतुभिर्धम्मीधम्मीदिभिः कम्मीजातैरस्रुक्तः सन् सर्व्वलोकोऽहमिति विदिलापवर्गाय ज्ञानपूर्वं जनेन

चक्रपाणिः—अनपवादिमत्यव्यवधानम् । किन्त्वस्येत्यादि । आयुर्वेदे किमध्येतत्सारग्धः कथने प्रयोजनिमत्यर्थः । कथं सत्या मुद्धिरुत्पद्यते इति अस्यां योजनायां किञ्चास्याः प्रयोजनिमति शेपो श्रेयः । यथा च लोकपुरुपसार्यं सत्यन्नद्विजनकं भवति, तदाह—सर्वेलोकं हीत्यादि । आत्मिन पश्यतं इति आत्मनोऽभेदेन पश्यतः । 'आत्म'शब्देन पद्धानुसमुदायात्मकः पुरुष इष्टोच्यते । तेन यम्किञ्चिल्लोकगतं सुखदुःखज्ञनकम्, तद्प्यात्मस्वरूपमित्यनेन वाद्यलोकमृतमिष आत्मकृतमेव वैपयिकं नित्यदुःखानुयुक्तं हेयं सुखम्, तथा निसगीद्वेयं दुःखञ्च पश्यन् रागन्द्वेपनिस्मुक्तः सन् सत्यञ्चानवान् भवतीति भावः । अथ सत्यञ्चानस्यापि किं प्रयोजनिमत्याह—कर्मोद्यादि । लोकपुरुपसारयञ्चानेऽपि सत्यञ्चानस्यादावपवर्गानुष्टानं प्रयोजनिमति वाक्यार्थः । अत्र करमीत्मकत्वात् इति कर्माधीनत्वात्, हेत्वादयोऽप्रे वक्ष्यामाणाः । कर्मावशः सन् हेत्वादिभिर्युक्तो-ऽयमात्मा प्रवक्ते, कर्मा, तत्वज्ञानात् प्रवृत्तुपपसे सित कारणाभावान्नोपपद्यते । उक्तञ्च—"कर्मा

^{*} हेत्वादिभित्र के इति चकः।

लोकशब्दः, पड्धातुसमुदायो हि सामान्यतः सर्व्वलोकः । तस्य च हेतुरुत्पत्तिर्वृ द्धिरुपप्तवो वियोगश्च । तत्र हेतुरुत्पत्तिकारणम् । उत्पत्तिर्जन्म, वृद्धिराज्यायनम्, उपज्ववो दुःखागमः, वियोगः, पड्धातुविभागः स जीवापगमः प्राण्णितरोधो भङ्गो लोक-स्वभावः । तस्य मूलं सर्व्वोप-लवानाञ्च प्रवृत्तिर्विवृत्तिरुपरमश्च । प्रवृत्तिर्दुःखं निवृत्तिः सुखमिति यज् ज्ञानमुत्पद्यते, तत् सत्यम् । तस्य हेतुः सर्व्वलोकसामान्यज्ञानमेतत् प्रयोजनं सामान्योपदेश-स्येति ॥ ६ ॥

उत्थाप्यते। ननु कथं हानं पूर्वं भवेदित्यत आह—तत्रेत्यादि। संयोगापेक्षी लोकशब्दः। हि यस्मात् पद्धातुसमुदायः सामान्यतो लोकशब्दः। तस्य लोकस्य पद्धातुसमुदायस्य हेनुरुत्पत्त्यादिश्वास्ति। तत्र हेतुरुत्पत्तिकारणिमत्यादि। तस्य मूलिमित। पद्धातुसंयोगस्य खलु लोकस्य पुरुपस्य च मूलं सव्वीपष्ठनानां सर्व्वदुःखागमानाञ्च मूलं पट्टत्तिर्वाङ्मनःशरीरारम्भः कर्म। तस्य पद्धातुसंयोगस्य जन्मनः सर्व्वीपष्ठवानाञ्च निष्टत्तिर्वाङ्मनःशरीरेरनारम्भः उपरमः, पद्धातुसंयोगस्योपरमः सर्व्वीपष्ठवानाञ्चोपरमः। तस्मात् पट्टत्तिर्वाङ्मनःशरीरारम्भः सुखं सुखकरिमित यज्ङ्गानस्रत्यते तज्ङ्गानं सत्यं, सा सत्या वुद्धिः। तस्य सत्यज्ञानस्योत्पत्तौ

त्यक्तप्रवृत्तेस्तु तत्त्वज्ञानाद्धि क्षीयते । नोपभोगात्" इति । तदात्यन्तिककर्म्मक्षयात् आत्यन्तिक-कर्म्मफलाभावरूपो मोक्षो भवतीति भावः । संयोगापेक्षीति पद् धातुमेलके पुरुपरूपे वर्तते इत्यर्थः । 'लोक'शब्देनेह प्रकरणे लोकत इति कृत्वा पुरुप एवोच्यते जनजगद्रूपो लोकः । यतः हेत्वादयो येऽत्र कर्म्मपरवशत्वेन लोके वक्तव्याः, ते पुरुप एव सम्भवन्ति । 'सर्व्व'शब्देन सर्व्व-प्राणिनो प्राहयान्त ।

हेरवादिपञ्चकं निर्दिश्य विभजते—तस्य हेतुरित्यादि। तस्य मूलमिति तस्य जीवापगमस्य कारणम्। सन्वीपष्ठवानाञ्चेति सर्व्यसुखदुःखानाम्। प्रवृत्तिः रागद्वेपमुला प्रवृत्तिः। निवृत्तिरिति अप्रवृत्तिः। 'उपरम'शब्दस्तस्येत्यनेन सम्बध्यते तथा सन्वीपष्ठवानाञ्च इ्रायनेन सम्बध्यते। दुःखानाञ्चोपरमो निवृत्तिकृत प्रव, निवृत्तिजन्यत्वेन च कार्य्यकारणयोः अभेदोपचाराद्वपरमोऽपि निवृत्तिर्यः शब्दसामानाधिकरण्येनोच्यते। प्रवृत्तिर्दः खमिति च कार्य्यकारणयोरभेदोपचाराद्व वोद्वन्यम्। सत्यज्ञानस्वरूपमाह—इति यज ज्ञानमित्यादि। इतीति

अथामिवेश उवाच, किंमूला अगवन् प्रवृत्तिः, निवृत्ती वोषाय इति ॥ ७ ॥

भगवानुवाच । सोहेच्छाद्र षकस्मीमृता प्रवृत्तिः । तज्जा ह्यह-ङ्कारसङ्कसंशयाभिसंप्तवाभ्यवपात - विप्रत्ययविशेषानुपायास्तरुण-मिव द्रु समितिवेपुलशाखास्तरवोऽभिभूय पुरुषमवतत्यैवोत्ति-ष्ठन्ते, येरभिभूतो न सत्तामितवर्त्तते । तत्रैवं जाति-रूप-वित्त-बुद्धि-शील-विद्याभिजन-वयो-वीर्थ्य-प्रभावसम्पन्नोऽह-मित्यहङ्कारः । यन्मनोवाक्कायकम्मे नापवर्गाय, स सङ्कः । हेतुः सर्व्वेष्ठोकसामान्यस्यात्मिन क्वानम् । एतज् क्वानमेव ष्ठोकपुरुपयोः सामान्योपदेशस्य प्रयोजनमिति ॥ ५ । ६ ॥

गङ्गाधरः—तत् श्रुला यदुवाच तदाह—अथेत्यादि। प्रवृत्तिः किंमूला निवृत्तौ क उपाय इति ॥ ७॥

गृङ्गाधरः — तदुत्तरमाह — भगवानित्यादि । मोहादिचतुम्मू ला प्रष्टतिः ।
मोहाद्यो हि ज्ञातारं प्रवर्त्तयन्ति पुण्ये पापे वा । पुण्यपापश्च कम्म प्रवर्त्तयति ।
कथिमत्यत आह — तज्जा हीत्यादि । मोहादिभ्यो जायन्तेऽहङ्कारादयः ।
ततः किं स्यादित्यत आह — तरुणिमवेत्यादि । मोहादिजा अहङ्कारादयः खल्वतिविपुल्जाखास्तरवो यथा तरुणं द्रुममिभभूयावतत्योत्तिष्ठन्ते तथा पुरुषमिभभूयावतत्योत्तिष्ठन्ते । यैमौहादिजैरहङ्कारादिभिरिभभूतः पुरुषो न सत्तां प्रष्टत्तेहितुमतिवर्तते नातिक्रामित । अहङ्कारादिः पुनः कीद्दश इत्यत्रतान् विष्टणोति— तत्रैविमत्यादि । जातिरूपादिसम्पन्नोऽहिमत्यिभमानोऽहङ्कारः । पूर्वप्रत्यवमर्पकम् । एतिसम् सत्यज्ञाने कोकपुरुपतामान्यज्ञानस्य हेतुःवं दर्शयज्ञाह — त्रिस्थेत्यादि ॥ ५ । ६ ॥

चक्रपाणिः—प्रवृत्तः संसाररूपायाः तथा निवृत्तेमीक्षरूपायाः कारणसुपायञ्च पृच्छिति—विंभूलेत्यादि । मोहेत्याद्वत्तरम् । मोहेच्छाद्व पकर्मामूलेति मोहान्मिध्याज्ञानस्वरूपादिच्छाद्वे पो,
तयोश्च धर्माधर्मारूपं कर्मा, तथ सूलं संसारस्येत्यर्थः । कथमेते मोहादयः संसारकारणिमत्याह—
तज्जा हीत्यादि । अत्र चाहङ्कारादौ यथायोग्यतया मोहादीनां कारणत्वं ज्ञेयम् । अहङ्काराः
दयश्चाष्टावत्रे वक्ष्यमाणा ज्ञेयाः । अवतत्येति व्याप्येति । न सत्तामितवर्तते इति प्रवृतिहेतुं
नातिकामित । अत्रोक्तमहङ्कारं विवृणोति—तन्नैविमित्यादि । जात्यादिभिः प्रभावान्तैः सम्पन्न

कम्मफलमोन्पुरुषप्रे त्यभावाद्यः सन्ति न वेति संश्यः। सर्व्वा-स्ववस्थासु अनन्योऽहमहं स्रष्टा स्वभावसंसिद्धोऽहमहं श्री-रेन्द्रियबुद्धिसमृतिविशेषराशिरिति बहुग्गमभिसंप्लवः। मम मातृ-पितृस्रातृदारापत्ववन्धुमित्रभृत्वगगो गगास्याहमित्यभ्यवपातः। कार्य्याकार्यहिताहितशुभाशुभेषु विपरीताभिनिवेशो विप्रत्ययः। प्रकृतिविकारयोः प्रवृत्तिनिवृत्त्योश्च असामान्यदर्शनं ज्ञाज्ञयोः विशेषः ६। प्रोन्रणानश्नाप्तिहोत्रत्रिःसवनाभ्युन्रणावाहनयजन-याजनयाचनसलिलहुताश्नप्रवेशनादयः समारम्भाः ह्यनुपायाः। एवमयमधीधृतिस्वृतिरहङ्काराभिनिविष्टः संसक्त-यर् यन्मनोवाक्कायकम्में नापवर्गाय क्रियते स सङ्गः, यर्यदपवर्गाय कम्मे तत् तन्न सङ्गः। कम्मेफलमस्ति न वा मोक्षोऽस्ति न वा प्ररुप आत्मास्ति न वेत्येवमादिकानं संशयः। सर्व्वावस्थामु अहमनन्यो ब्रह्मणोऽन्यो नाहमहं स्रष्टाहं स्वभावसंसिद्ध एवाहं शरीरादिमान् राशि-ममेयं मातायं पितेत्येवमादिकानमभ्यवपातः। रिति ज्ञानमभिसंप्रवः। कार्यादिपु विपरीताभिनिवेशो विपत्ययः। शालयोर्विद्वन्मूर्खयोः सामान्या-दर्शनं प्रकृतिविकारयोश्च प्रष्टितिनष्टत्त्योश्चैवमादिद्वन्द्वयोः सामान्यादर्शनं विशेष इति। प्रोक्षणानशनामिहोत्रादयः समारम्भाः कम्मीणि खगौपाया अपि मोक्षेऽनुपायाः मोच्यन्ते। इत्येवमयं पुरुषः खळ धीधृतिस्मृति-उत्कृष्टोऽहमिति ज्ञानमहङ्कारः । यदित्यादि सङ्गविवरणम् । कर्म्मफलादयः सन्ति न वेति यज् ज्ञानं तत् संशयः। अभिसंष्ठवमाह—सर्वेत्यादि। (आत्मनोऽभिमत आत्मना आत्मन्यभिसंष्ठव आत्मना आत्मगोचरता आत्मवुद्धिरित्यर्थः।) सर्व्वावस्थास्त्रिति सर्व्वासु शरीरावस्थासु ज्ञात-समुदायरूप एवाहमसीति यज् ज्ञानम् तदिह ज्ञेयम्। परमात्मनस्तु सर्वावस्थाशुन्यत्विमिति यज ज्ञानं तत् सम्यग्ज्ञानमेव। एवमहं स्नष्टाहं स्वभावसंसिद्ध इत्यन्नापि शरीरवान् एवाहङ्कार-विषयो ज्ञेयः। अहं शरीरेन्द्रियबुद्धिविशेषराशिरित्यत्र शरीरादिष्वचेतनेष्वहङ्कारास्पदत्वेन चेतनाभिमानो विरुद्ध इति ज्ञेयम्। ममेत्यादिना अभ्यवपातमाह-अभ्यवपातः परात्मता, अनात्मीयेन ममता, कार्येत्यादिना विप्रत्ययं व ते । विपरीताभिनिवेशो विपर्ययेण ज्ञानम्, यथा—कार्य्ये अकार्य्यमकार्य्ये कार्य्यमित्यादि । ज्ञाज्ञयोरित्यादिना अविशेषमाह—अविशेषः

^{*} सामान्यदर्शनमविशेष इति चक्रसम्मतः पाठः।

संश्योऽसिप्लुतबुद्धिरभ्यवपिततोऽन्यथादृष्टिविशेषप्राही विमार्ग-गतिर्निवासवृत्तः सत्त्वश्रीरदोषम्लानां मूलं सव्वदुःखानां भवति। एवमहङ्कारादिभिद्धिः भ्राम्यमाणो नातिवर्त्तते प्रवृत्तिम्, सा मूलस्यस्य। निवृत्तिः श्रपवर्गस्तत् परं प्रशान्तं तद्त्तरं तद्द ब्रह्म स मोत्तः॥ =॥

्तत्र मुमुज्रूण मुदयनानि च सर्व्याण्यनुव्याख्यास्यामः।

हीनः सन्नहङ्काराभिनिविष्टः संसक्तसंशयोऽभिष्छतवुद्धिरभ्यवपिततश्चान्यथादृष्टिश्च विशेषग्राही विमागगितिश्च सन् सत्त्वशरीरयोदोपाणां रजस्तमोवातपित्तकफानां मूलानि यान्यसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगपण्णपरिणामाख्यानि
निदानानि तेपां मूलं कारणं भवति सर्व्वदुःखानाश्च मूलं भवति । अथवा
सत्त्वशरीरदोपा मूलानि येषां तेपां सर्व्वदुःखानां मूलं भवति । कथिनत्यत
आह—एविमत्यादि । एवमनेन प्रकारेण पुमानहङ्कारादिभिदौषैश्चीम्यमाणः
प्रष्टित्तं वाङ्मनःशरीरारम्भं नातिवर्त्तते । सा प्रष्टित्तर्यस्याशुभस्य मूलम् ।
इति किंमूला प्रष्टित्ति प्रश्नस्योत्तरमुक्तवा निष्टक्तौ वोपायः क
इत्यस्योत्तरमाह—निष्टत्तिर्वाङ्मनःशरीरानारम्भः खल्वपवगौऽपवगेजनकलादिति या सा निःशेपा निष्टत्तिस्तत् परं प्रशान्तं तदक्षरं तद् ब्रह्म ब्रह्मरूपेणाभिनिष्पत्तिहेतुलात् । स मोक्ष इति सर्व्वभयो वन्धेभ्यः प्रमोचनहेतुलात् ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः निष्टत्तिमुत्तवा तत्रोपायान् वक्तुमाह—तत्रेत्यादि । तत्र निष्टत्तौ विशेषाप्रतीतिः । विप्रत्ययस्तु विशेषाणां विषय्ययेषेण प्रहणमिति भेदः । प्रोक्षणेत्यादिना अनुपायमाह । अनुपाया इति अन्योपायाः सन्तोऽपि परमपुरुपार्थे मोक्षे अनुपायाः । विःसवनं विः सम्यक् स्नानम् । सम्प्रति अहङ्कारादीनां धीष्टतिस्मृतिविश्रंशमूलत्वेनाधीष्टतिस्मृत्यभिषानपृद्वंकं संसाररूपनित्यानुवन्धशरिरमानसदःखकारणत्वं च्युत्पादितम् । अहङ्कारादीन् संक्षिष्याप्याह—एव-मित्यादिना । निवासनृक्ष इव निवासनृक्षः । तेन यथा निवासनृक्षः पक्षिणां नित्यमाश्रयो भवति, एवमहङ्कारादियुक्तोऽपि रोगस्य निवासो भवतीति दर्शयति । श्राम्यमाण इति प्रनःपुनरिप शरीरान्तराणि नीयमानः । नातिवक्तंते प्रशृत्तिमिति संसारं न त्यजित । एवं मोहेच्छाजन्यकर्मान्मृत्यतं प्रवृत्तेर्दर्शयत्वा प्रवृत्तेर्रिप कर्माकारणतामाह—सा च मूलमघस्येति । प्रवृत्तिरिप धर्माधर्मान्यत्व प्रवृत्तेर्रियत्वा प्रवृत्तेरिप कर्माकारणतामाह—सा च मूलमघस्येति । प्रवृत्तिरिप धर्माधर्मान्य स्थय मूलम् । इह च धर्माधर्मावविशेषेण संसारदःखकारणतया 'अध'शब्देनोक्तौ । सम्प्रति निवृत्तावुपायं वक्तु निवृत्तिमेव तावदुपादेयताप्रतिपादकपर्यायराह—निवृत्तिरित्यादि ॥ णाट ॥ चक्रपाणिः—चदित्यर्थे मोक्ष इति, उदयनानि हि मोक्षोपाया इत्यर्थः । लोकदोपदर्शिन

तत्र क मुमुन्तोरादित एवाचार्याभिगमनं, तस्योपदेशानुष्ठानम्, अग्नेरेवोपचर्या, धर्मिशास्त्रानुगमनं, तद्याववोधस्तेनावष्टम्भः, तत्र यथोक्ताः क्रियाः । सतामुगसनम्, असतां परिवर्जनं, न सङ्गतिद्व जनेन, सत्यं सर्व्वभूतिहतमपरुषमनितकाले परीच्य वचनम्, सर्व्वप्राणिषु चात्मनीवावेन्ना, सर्व्वपरिष्रहत्यागः असंकल्पनमप्रार्थनाऽनिभभाषण्य स्त्रीणाम्, सर्व्वपरिष्रहत्यागः

मुमुस्णां वन्धानभोक्तुमिच्छूनामुद्यनानि चानुव्याख्यास्यामः निष्टत्ताबुवाया-नजुन्याख्यास्याम इति। तर् यथा—तत्रेत्यादि। तत्र सर्व्यन्धेभ्यो मोक्तुमिच्छोष्ट्रं मुक्षोरादितः प्रथमत आचार्य्याभिगमनम्। यः कार्त्रस्येन मोक्षोपायानुपदेष्टु मभवति तमाचार्य्यमुपगम्य मुमुक्षुस्तस्याचार्यस्य मोक्षे य उपदेशस्तस्यानुष्ठानं कम्मेंकरणम् । मोक्षायाचार्य्येण यदुपदेष्टव्यं तदुपदिष्टस्य कम्मणोऽनुष्ठानमाचरणम् । अग्नेरेवोपचर्या । वैतानिकवैवाहिकस्याग्नेरेवोप-चय्यी सेवा। धम्मेशास्त्रानुगमनं मन्त्रादिस्मृतिशास्त्रानुगतकम्पेकरणम्। तदर्थाववोधो धम्मेशास्त्रार्थस्याववोधः गुरुणा व्याख्यातस्यार्थस्य धारणम्। तेन धम्मेशास्त्रार्थधारणेनावष्टम्भः चित्तावरुद्धता । ततस्तत्र धम्मेशास्त्रार्थेशाता क्रियाचर्या । ततः सतामुपासनं वज्जेनश्चासतामसाधूनां पुरुपाणां विशेषेण दुर्ज्जनेन सह सङ्गतिः सङ्गो न विधेया। सत्यं वचनं वक्तव्यं, न चाहितं न वा कस्यचिद्धितं कस्यचिद्दितं परन्तु सर्व्वभूतहितं न चापि परुपं न निष्ठरम्, अनतिकाले वाक्यकालमनतिक्रम्य पुरुपं सत्पुरुपमेव लक्षीकृत्य काले वाक्यमयोगार्हसमये न लकाले परीक्ष्य यहचनं यदुपयुक्तं रूपेण परीक्ष्य वचनं वक्तन्यमित्यर्थः। अवेक्षा दृष्टिः, सा च समा न तु विषमा। सन्वीसां स्त्रीणामस्मरणं स्मृतिः पूर्वानुभूतासम्भमोपः, असङ्कृत्पनं मनसा चिन्तादिक्रियावर्जनम्, अमार्थनमयाच्या अनिभाषणश्च। स्त्रीणा-पित्यनेन सर्वित्रान्वयः। ततः सन्वी भोजनाद्यर्थपरिग्रहस्तस्यापि त्यागः। इति हेतुगर्भविशेषणम् । तेन नित्यं दःखाकान्तलोकदर्शनाट् विरक्तस्य सत इति दर्शयति । आचार्यं इद मोक्षशास्त्रोपदेष्टा । तेनावष्टम्भ इति शास्त्रात्रवीधेन धेरर्यं करणीयम्, मनागपि तत्र कथन्ता न कर्त्तव्या इत्यर्थः। यथोक्ता क्रिया कर्त्तव्या इति शेषः। आत्मनीवावेक्षा चेति यथा आत्मनि

^{*} लोकदोपदर्शिन इत्यधिकं कचित् पस्यते ।

कौपीनं प्रच्छ।दनार्थं धातुरागनिवसनं, कन्थासीवनहेतोः सूची-पिप्पलकं, शौचाधानहेतोर्जलकुण्डिका, दग्डधारगां, मैच्यचर्यार्थं पात्रं, प्राण्धारणार्थमेककालमग्राम्यो यथोपपन्न एवाभ्यवहारः, शीर्गशुष्कपर्णतृसास्तरसोवधानं, ध्यानहेतोः श्रमापनयनार्थं कायनिबन्धनं, वनेष्वनिकेतनिवासः, तन्द्रानिद्रालस्यादिकमर्भ-वर्जनं, सट्वे व्विन्द्रियार्थेव्वनुरागोपतापनियहः, सुप्तस्थितगत-प्रे चिताहार-विहार-प्रत्यङ्गचेष्टादिकेष्वारम्भेषु स्यृतिपूर्विकेंका प्रवृत्तिः, सत्कारस्तुतिगर्होवमानच्रिमत्वं, चुत्रिपपासायासश्रम-प्रच्छादनार्थं परिधानार्थं कटिन्यतिरिक्ताङ्गाछादनार्थञ्च धातुरागनिवसनं गैरिकमृद्रञ्जितं कौपीनं वस्त्रचीरम्। तत्र परिधानार्थं कौपीनमात्रं सर्व्वा-ङ्गाच्छादनार्थं कन्था कार्या। सुतरां कन्थासीवनहेतोः सुचीपिप्पलकं सुची-रक्षणार्थं फलकोषादिरूपं पात्रम्। शौचश्चाधानश्च तयोर्हेतोः शौचाधानहेतोर्जल-कुण्डिका जलकमण्डलुः, आधानं स्वलनरक्षा तदर्थं दण्डधारणम्, मैक्ष्यचर्यार्थं पात्रं स्थाली, एककाळं नाधिकवारमग्राम्यो ग्राम्याहार ओदनपूर्यसूर्यमांसम्तस्य-दिभव्यतदुग्धपायसादिस्तद्वपतिरिक्तः फलमूलरूपः यथोपपन्नः यदच्छया यहभ्यते तदभ्यवहारः। शीर्णं यदच्छया गलितं शुब्कं पर्ण तृणश्च तत्-कुतास्तरणोपधानमास्तरणं शय्या उपधानं शिरोऽधः कृतिपण्डिताकारः। वनेषु न तु ग्रामादिषु अनिकेतवासः कायनिवन्धनम् योगासनम् । क्रुटीरादिनिकेतनहीनवासः रुसादितलादौ वासः। इन्द्रियार्थेषु शब्दादिषु अभीष्टेष्वनुरागः अनभीष्टेषूपतापस्तयोनिग्रहः। तर्हि किमनभीष्टेष्वनुराग उपतापोऽभीष्टेष्विति चेन्न। इष्टानिष्टेष्वर्थेष्वनुरागोऽपि न कार्य्य इत्यर्थात्। स्नप्तादिष्वारम्भेषु स्मृतिपूर्विका न तु यथाकथश्चित् पद्यत्तिः, सत्कारः पूजनं अकारर्यताबुद्धिस्तथा सर्व्वप्राणिपु कर्त्तव्या । असङ्करुपनिमत्यभावनम् । प्रच्छादनार्थं कटिनेष्टनार्थम् । किंवा कोपीनार्थं प्रच्छादनार्थञ्च। सूचीपिप्पलकं सूचीस्थापनपात्रम्। मैक्ष्यचर्यार्थं पात्रं भिक्षापात्रमित्यर्थः । प्राणयात्रार्थमित्यनेन यावन्मात्रेणाहारेण प्राणयात्रा भवति, तावन्मात्र 'आहारः कर्त्तव्यः, न तु रागादिति दर्शयति । एवं श्रमापनयनार्थमित्यादाविप तावन्मात्रप्रयोजनता व्याख्येया । कायनिवन्धनं योगपट्टम् । अनिकेतवास इति अगृहवासः । एतेन् वनेऽपि न गृहं कृत्वा स्थातव्यिमिति दर्शयति। इन्द्रियाथपु गन्धादिषु अनुरागस्य तथोपतापस्य ह्रेपरूपस्य

शीतोष्ण्यातवर्षासुखदुःखसंस्पर्शसहत्वम् । शोक-दैन्य-द्वे पमद्-मानलोभरागेर्प्याभयकोधादिभिरसम्वलनम्, 🤢 त्र्रहङ्कारादिषूप-सर्गसंज्ञा । लोकपुरुपयोः खर्गादिसामान्यावेच्गां, कार्य्यकाला-त्ययभयं, योगारम्भे सततमनिव्वेदः सत्त्वोत्साहः, अपवर्गाय धीधृतिस्मृतिवलाधानं, नियमनिमन्द्रियाणां चेतिस, चेतस ञ्रात्मन्यात्मनश्च, धातुभेदेन श्ररीरावयवसंख्यानमभीद्र्णं, सर्व्वं स्तुतिः प्रजंसा, गही निन्दा, अवमानमवना, तेषु क्षमिलप्रदासीनता। कश्चित् सत्करोति तेन हृष्टो न स्यात्, यदि कश्चित् स्तौति तेनापि नाहादितः स्यात, यदि कश्चित्रिन्दति वावजानीते, न च ताभ्यां दुःखी स्यात्, न शोकाद्य-सम्बलनं शोकादिसम्बलिततराहित्यम्। अहङ्कारादिष्वभिमानादिषु उपसर्ग-संबा उपसर्गत्वेन बानम्। खर्गादिसामान्यावेक्षणं खलौके खर्गादिपूरुपेऽपि गर्भाधानादौ स्वर्गादि इत्येवमुक्तं यङ्घोकपुरुपयोः सामान्यं तस्यावेक्षणं दर्जनम्। काय्येकालात्यये भयं मोक्षाथेमुपयुक्तकार्याणां कालवर्त्तने तद्त्यये तद्तीतत्व भाविनि भयं विधेयम्। अनिर्वेद इति। वैराग्यादितो मनःखेदो निर्वेदः। योगारम्भे सततवैराग्यादिना मनःखेदो न कार्यः, किन्तु योगारम्भे सततं सत्त्वोत्साहो मनस उत्साहः । धीधृत्यादीनां चतुर्णामाधानं धारणं पोपणञ्च । इन्द्रियाणां नियमनं शब्दाद्यर्थभ्यो निवर्त्येन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां चेतसि मनिस नियमनं धारणं कार्य्यम् । चेतसश्च चिन्त्यादिभ्यो निवर्त्य स्वस्मिन्नेव चैतसि नियमनं धारणं कार्य्यम्। आत्मनश्च चिन्त्यसङ्कल्प्यादिशब्दादि-विषयेष्विच्छाद्दे पसुखदुःखमयत्रवुद्धिभयो निवक्त्येवात्मन्येव नियमनं धारणं निग्रहः कर्त्तंब्यः। स्मृतिप्रिर्वेका प्रवृत्तिरिति कोऽहम्, किमर्थं रागत्यागादिकमारभ्यते इत्यादि सर्त्तव्यमित्यर्थः । सत्कारः पूजा, सत्कारे स्तुतो च सत्यामहृष्टत्वम् । यथा गर्हायामवमाने च समद्शित्वम्, तथा सत्कारादिष्विप ज्ञेयम् । क्षुधादिषु चानुद्वेगः क्षुधादिसहत्वम् । असंवसनम् असंवासः। अहङ्कारादयोऽप्टाविहैवोक्ताः। उपसर्गसंज्ञेति अनर्थहेतुत्वभावना। लोकपुरुपयोः सर्गादिसामान्यावेक्षणमिति यथा इहैंव लोकपुरुपयोरादिसर्गतः प्रकृतिसामान्यमुकः, तथावेक्षणम् इत्यर्थः । कार्यंकालात्ययभयमिति मोक्षानुगुणकत्तंब्यस्य कालातिपातभयं करणीयम् । नियमनम् इन्द्रियाणां चेतिस इन्द्रियाणि वाह्यविषयनिवृत्तानि मनस्येव नियतानि कर्त्तव्यानि । चेतसः चिन्त्यादिविषयेभ्यो ब्यावृत्तस्य परमात्मन्यात्मज्ञानार्थे नित्रमनं कर्त्तब्यम् । आत्मनश्चात्मनि

^{*} असंवसनमिति चकः।

कारणवद् दुःखसर्वसित्यसित्यश्युपगमः । सर्व्वप्रवृत्तिषु दुःख-संज्ञा, सर्व्वसंन्यासे सुखिसत्यभिनिवेशः । एष सार्गोऽपवर्गाय, अतोऽन्यथा वध्यते । इत्युद्यनानि व्याख्यातानि ॥ ६ ॥ भवन्ति चात्र ।

एतेरविसतं सत्त्वं शुद्धुग्रपायैर्विशुध्यति । खुःयमान इवादश्स्तेतचेतकचादिभिः ॥ यहाम्बुद्रजोधूम-नीहारेरसमावृतम् । यथार्कमण्डलं भाति भाति सत्त्वं तथामतम् ॥

कार्यम्। धातुभेदेन बङ्मांसरसरक्तादिभेदेन शरीरावयवसंख्यानं शरीरा-वयवानां ज्ञानं कार्यम्। सर्वं कारणवद् दुःखिमत्यभीक्षणं कार्यम्। सर्व्वमखमात्मव्यतिरिक्तं यदिदं किञ्चित् तत्सर्व्वमिनत्यिमत्यभ्युपगमः। सर्व्वमद्यतिषु वेदोक्तिविधिविहिताविहितेषु कर्मसु धर्म्माधरम्मसाधनेषु या या मष्टत्तिस्तासु दुःखसंज्ञा दुःखत्वेन ज्ञानम्, सर्व्वसंन्यासे सर्व्वपरित्यागे सुखिमित द्वयमभिनिवेशः स च कार्यः। अतोऽन्यथा उक्तेभ्योऽभीभ्य आचार्याभिगमनादिभ्योऽन्यथा वध्यते वद्धो भवति पुरुषः। इत्युदयनानि निष्टत्तावुपायाः॥९॥

गङ्गाधरः—एपामुपायानां फळं वक्तुमाह—भवन्तीत्यादि। एतैरिति। एतैराचार्य्याभिगमनादिभिः सर्व्यः शुद्धुप्रपायमनसः शुद्धेरुपायैरिवमलमनिम्मेळं सत्त्वं मनः शुद्धुप्रति निम्मेल भवति। क इवेत्यत आह दृष्टान्तम्—मृज्यमान इत्यादि। दृष्टान्तान्तरमाह—ग्रहेत्यादि। ग्रहो राहुकेतुरूप आच्छादकः। असमापृतं सम्यगनाच्छादितं तथामलं तद्भदम् निम्मेलं सत् सत्त्वं मनो भाति।
नियमनिति योजना। तेन आत्मापीन्द्रियादिविषयेभ्यो व्यावस्थीत्मिन मन्तव्यः। धातुभेदेन चरित्रावयवसंख्यानिति शरीरस्य रसमलस्नाय्वादिक्ष्पत्या ज्ञानम्। ज्ञरीरं हि रसमलस्नाय्वादिक्ष्पत्या भाव्यमानं वैराग्यहेतुर्भवित, यथा—"मज्ञाद्ध्या रजसा हीहा यक्ता शक्तािष च।
पूर्णाः रनायुश्चिरा याः स्युस्ताः श्चियश्चमम्पेशितकाः॥" इत्यादिका वैराग्यभावना। कारणविद्धयोन नित्यात्मव्यितिर्कं सव्वमनित्यं दर्शयित। इःखमिति इःखहेतुः। अस्वमिति आत्मव्यतिरिक्तम् अनात्मीयज्ञ। सर्वसंन्यासेष्विति सर्व्यमनृत्युपरमेषु॥९॥

चक्रपाणिः—अविमलमिति क्रियाविशेषणम् । अहो राहु । सत्त्वस्य पन्चेवेन्द्रियाणि

ज्वलत्यात्मिन संरद्धं तत् सत्त्वं संवृतायने । शुद्धः स्थिरः प्रसन्नाच्चिर्दापो दीपाश्ये यथा॥ १०॥ शुद्धसत्त्वस्य या शुद्धा सत्या वृद्धिः प्रवर्त्तते । विद्या सिद्धिर्मितमेधा प्रज्ञा ज्ञानश्च सा मता॥ यया भिनन्त्यतिवलं महामोहमयं तमः। सर्व्वभावस्वभावज्ञो यया भवति निस्पृहः॥ योगं यया साध्यते साङ्क्ष्यः सम्पद्यने यया। यया नोपत्यहङ्कारं नोपास्ते कारणं यया॥

नतु कुत्रभातीत्यत आह—ज्वलतीत्यादि। संद्यतायने संद्यतानि अयनानि श्रोत्रा-दीन्द्रिमच्छिद्ररूपाणि वहिर्गमनकम्भाणि यस्य तस्मिन्नात्मिन, तत् शुद्धसत्त्वं मनः संरुद्धं वहिर्गनगच्छेत् अन्तःसंरुद्धं सत् ज्वलति दीप्यते। क इवेत्यत आह— शुद्ध इत्यादि। दीपाशये पदीपसंरक्षणाधाने यदि संद्यतच्छिद्रे दीपं स्थापयित तदा स दीपः शुद्धो धूमाद्याविलतारहितः सन् स्थिरो वातादिभिश्चाचश्चलः सन् पसन्नार्ष्चिश्च सन् यथा पञ्चलति तथा तत् सत्त्वमित्यर्थः ॥ १०॥

गङ्गाधरः ना सत्त्वे शुद्धे किं स्यादित्यत आह—शुद्धेत्यादि । शुद्धसत्त्वस्य शुद्धं सत्त्वं मनो यस्य तस्य पुरुषस्य, शुद्धा निम्मेला सत्या च द्युद्धः पवर्त्तते, या च सा शुद्धा सत्या च द्युद्धः सा विद्या सा सिद्धिः सा मितः सा मेधा सा महा सा ह्यान्छ मता। ननु कथं सा चुद्धिविद्यादिरुच्यते इत्यत आह—ययेत्यादि । यया शुद्ध्या सत्यया चुद्ध्या अतिवलम् अतिशयवलवत् महामोहमयं तमो भिनत्ति नाशयित योगी। यया च शुद्ध्या सत्यया चुद्ध्या निस्पृहः सन् सन्वभावाणां स्वभावहो भवित । यया च चुद्ध्या योगं साधयते । यया च चुद्ध्या पुरुषः साङ्क्ष्यः सङ्क्ष्यया तत्त्वहानेन वर्त्तते यः स साङ्क्यः ज्ञानावरकाणि भवन्तीति कृत्वा सूर्यस्यापं पन्चैव महादयधावरका ज्ञाः । ज्वलतीति केवलात्मः ज्ञानजनकत्वेन प्रकाशते । आत्मिन संस्ट्डमिनि हिन्द्रयेभयो व्यावृत्यात्मनियतम् । संवृतायन इति आत्मपक्षेऽिष संवृतेन्द्रयरूपच्छिद्दमात्मिन ज्ञेयम् । दीपाशयो दीपधारिका गृहं वा ॥ १०॥

चक्रपाणिः—शुद्धसत्त्वमिभधाय तज्ञन्यां मोक्षसाधनत्वेनात्यर्थोपादेयां सत्यां बुद्धं विविधैः चपयुक्तैः स्वरूपेराह—शुद्धेत्यादि । महामोहोऽहमादि मिथ्याज्ञानम् । निस्पृह इति चपादित्सा-जिहासाश्रूत्यः । योगमिति विपयन्यावृत्तस्य मनस आत्मन्येव परं योगम् । सङ्घ्या तत्त्वज्ञानम्, यया नालम्बते किञ्चित् सर्व्यं संन्यस्यते यया। याति ब्रह्म यया नित्यसज्तरं शान्तमच्चरस् ॥ ११ ॥ लोके वितत-छ-सात्मानं लोकञ्चात्मनि पश्यतः। परावरदृशः शान्तिर्ज्ञानसृला न नश्यति ॥ पश्यतः सर्व्यभूतानि सर्व्वावस्थासु सर्व्वदा। ब्रह्मभूतस्य संयोगो न शुद्धस्योपपद्यते ॥ १२ ॥

सम्पद्यते भवति। यया चाहङ्कारमिमानां चहङ्कारकम्मं नोपैति। यया च कारणं पुनर्भवहेतुं नोपास्ते। यया च किश्चिदपि नालम्बते। यया च सर्व्यं संन्यस्यते। यया च ब्रह्म निन्वीणं याति पामोति। ब्रह्म तु नित्यम् अजरं शान्तमक्षरञ्च। एपा च द्युद्धिमेहत्तत्त्वमुच्यते।। ११।।

गृङ्गाधरः—ज्ञानस्यास्य निन्दाणसाधकत्वं दर्जयति—लोके इत्यादि। लोके जगित आत्मानं विततं पद्यतो जानतः पुंसः आत्मिन च लोकं विततं पद्यतः परावरद्दशः परं सन्वतः श्रेष्ठं ब्रह्म ततोऽवरं सन्दीमदं महदादिकं द्रण्डं शीलं यस्य तस्य। तथा शान्तिनिन्द्रं तिर्ज्ञानमूला निरुक्तसत्यवुद्धिमूला न कदापि नद्यति। अस्याः शान्तेः फलमाह—पद्यत इत्यादि। सन्दीव-स्थासु जागरण-स्वय्न-सुपुप्तिषु सन्दीदा अविच्छेदेन सन्देभूतानि समं पद्यतो

ह्या वर्त्तत इति साङ्ख्यः । नोपास्ते कारणमिति न सुखदुःखकारणं सेवते । नालम्यते किञ्चिदिति क्विद्यास्थानं न करोति । संन्यस्यत इति सर्व्वत्रोदासीनो भवति । ब्रह्मोति मोक्षः । विद्या-सिद्ध्यादयश्च यद्यपि ज्ञानविशेपेऽपि प्रसिद्धाः, तथापीह प्रकरणात् तत्त्वज्ञानपरा एव ज्ञेयाः ॥ १२॥

चक्रपाणिः—लोकविततमात्मानमिति लोकरूपमात्मानम्, तथा लोकञ्चात्मनि शरीरात्मरूप-मेलकरूपे व्यवस्थितमिति शोपः। पद्यतः। परावरदृश इति परमात्मानम्, अवराण्यात्मव्यति-रिक्तानि प्रकृत्यादीनि यः पद्यति, तस्य परावरदृशः। 'ज्ञानमूला' इत्यनेन मोहमूलामस्थिरां शान्तिं निरस्यतीति।

अथ जीवन्सुत्तस्य किमिति सुखदुःखहेतुधम्मीधर्म्मसंयोगो न भवतीत्याह-पद्यतं इत्यादि । पद्यतं इति पद्यतं एव परं न तु रज्यतो नापि द्विपत इत्यर्थः । व्रह्ममूतस्येति-

^{· *} लोकविततमिति चक्रः ।

नात्मनः कारगाभावात् ७ लिङ्गमप्युपलभ्यते । स सर्व्वकारगत्यागान्मुक्त इत्यभिधीयते ॥ विषापं विरजः शान्तं परमच्चरमव्ययम् । श्रमृतं त्रद्म निर्वाणं पर्यायैः शान्तिरुच्यते ॥ १३ ॥ एतत् तत् सौम्य । विज्ञानं यज् ज्ञात्वा मुक्तसंशयाः । मुनयः प्रशमं जम्मुर्वीतमोहरजःस्यृहाः ॥ १४ ॥

तत्र श्लोकौ।

सप्रयोजनमुद्दिष्टं लोकस्य पुरुषस्य च। सामान्यं सूलमुत्पत्तौ निवृत्तौ मार्ग एव च।

ब्रह्मभूतस्य जीवन्युक्तस्य शुद्धस्य शुद्धसत्त्वस्य संयोगः संसारसंसर्णहेतुधम्मी-धम्मीभ्यां संयोगो न सम्पचते ॥ १२ ॥

गृङ्गाधरः—शरीरपरित्यागे तु ब्रह्मभूतस्यात्मनः कारणाभावान्मनः-शरीराद्यभावात् लिङ्गं प्राणापानादि सुखदुःखादि च नोपल्लभ्यते। स पुरुषः सर्व्यकारणानां सत्त्वशरीरादीनां त्यागान्मुक्त इत्यभिधीयते। मुक्तेः पर्व्याय-माह्—विपापमित्यादि॥ १३॥

ग्ङ्गाधरः—अध्यायार्थस्य फलमाह--एतत् तदित्यादि । तदैतत् पुरुपविचय-

महासूतस्य जीवन्मुक्तस्येति व्याख्येयम् । सर्व्वथा मुक्ते हि ज्ञानमि नास्ति । तेन पद्यत हित न स्यात् । संयोग इति धर्माधर्मसम्बन्धः ॥ १२ ॥

चक्रपाणिः—अथ मुक्तात्मनः किं लक्षणमित्याह्—नेत्यादि । आत्मन इति मुक्तात्मनः । करणाभावादिति मनःप्रमृतिकरणाभावात् । उक्तं हि—''करणानि मनोबुद्धिर्बु द्विकर्मेन्द्रियाणि च'' इति, मनःप्रमृत्यभावाच शरीराभावोऽप्यर्थलञ्घ एव । सन्वीभावाचात्मनि किमपि लक्षणं नास्ति, स्वरूपेण चात्मातीन्द्रिय एव । तेन नात्माभावान्नोपलभ्यते, तिल्लङ्गानामभावादेव नोपलभ्यत इति भावः ।

विपापिमत्यादिना मोक्षंस्वरूपप्रकाशकान् पर्यायानाह—यज् ज्ञात्वेति ज्ञानं प्राप्येत्यर्थः। किंवा गुणप्रकाशकत्वात् ज्ञानमिष ज्ञेयं भवतीति बोद्धन्यम्। संग्रहे शुद्धसत्वसमाधानमित्यनेन,

^{*} करणाभावादिति चकः।

शुद्धसत्त्वसमाधानं सत्या बुद्धिश्च नैष्ठिकी । विचये पुरुषस्योक्ता निष्ठा च परमर्षिणा ॥ १५ ॥

इत्यग्निवेशक्रते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शारीरस्थाने पुरुषविचयशारीरं नाम पञ्जमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

शारीरं विशानं, हे सौम्य! यज् शाला यच्छारीरशानेन मुनयो मुक्तसंशयाः सन्तो वीतमोहरजःस्पृहाः सृन्तः पशर्मं शान्तिं जग्मः।। १४।।

गङ्गाधरः—अथाध्यायार्थम्रपसंहरति—तत्र श्लोकावित्यादि। निष्ठा मोक्षः ॥ १५॥

अध्यायं समापयति—अग्रीत्यादि ।

इति वैद्य श्रीगङ्गाधरकविरत्नविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ शारीरस्थानजृङ्पे चतुर्थस्कन्धे पुरुषविचयशारीरजल्पाख्या पश्चमी शाखा ॥ ५॥

'एतेरिवमलम्' इत्यादिना 'दीपाशये यथा' इत्यन्तेन प्रन्थेनोक्तार्थः संगृहीतः । 'शुद्धसत्त्वस्य' इत्यादिना सत्या बुद्धिरुक्ता । नेष्टिकी मोक्षसाधिका । निष्टा मोक्षः ॥ १३—१५॥

इति महामहोपाध्यायचरकचतुराननश्रीमचकपाणिदत्तविरचितायामायुव्वेददीपिकायां चरक-तात्पर्य्यटीकायां शारीरस्थाने पुरुपविचयशारीरं नाम पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

षष्ठोऽध्यायः ।

ज्रथातः श्रीरविचयं शारीरं व्याख्यास्यामः, इतिह स्माह भगवानात्रेयः॥ १॥

श्रीरविचयः श्रीरोपकारार्थमिष्यते । ज्ञात्वा हि श्रीरतत्त्वं श्रीरोपकारकोषु भावेषु ज्ञानमुख्यते, तस्माच्छरीरविचयं प्रशं-सन्ति कुश्लाः ॥ २ ॥

तत्र श्रीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं, पञ्चमहाभूतविकार-

गृङ्गाधरः—अथ योगारम्भे शरीराङ्गपत्यङ्गंगनापेक्षतात् तङ्मांसादीनां विशेषेण ज्ञानस्य प्रयोजनं वक्तुश्च शरीरविचयशारीरमारभते—अथात इत्यादि । शरीरविचयं शरीरं विशेषेण चीयते चयनं क्रियते येनेति शरीरविचयः तमधिकृत्य कृतं शारीरमिति शरीरविचयं शारीरमित्यर्थः ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—शरीरेत्यादि । विचयो विचयनं विज्ञानं शरीरोपकारार्थं शरीरस्योपकारः समधातुलकरणरक्षणप्रयोजनकिमप्यते । नतु कृतः शरीरोप-काराय शरीरस्य विचयः स्यादित्यत आह—ज्ञाला हीत्यादि । हि यस्मात् । शरीरतत्त्वं शरीरस्य याथार्थ्यं ज्ञाला पुंसः शरीरोपकारकरेषु शरीरस्य धातुसाम्यकरणरक्षणकारिष् भावेषु ज्ञानमुत्पद्यते ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—ननु शरीरं किं तावदित्यत आह—तत्रेत्यादि। चतन आत्मा तस्याधिष्ठानं भूतम्, अधिष्ठीयते यत् तद्धिष्ठानं तद् भूतम्। नन्वात्मनो महदादि-ष्विप वाह्यजगत्म अधिष्ठानमस्तीति तद्व्यवच्छेदार्थमाह—पञ्चेत्यादि। पश्च महाभूतानि खं वायुच्योतिरापो भूरित्येतानि च विकाराश्च मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः

चक्रपाणिः—पुरुपविचयं मोक्षोपयुक्तत्वेन पुरुपोपकारकमिश्वाय व्याक्रियमाणिचिकित्सोपयुक्तं शरीरोपकारकं शरीरविचयं ब्रूते । शरीरस्य विचयः विचयनं शरीरस्य प्रविभागेन ज्ञानिमत्यर्थः । शरीरोपकारार्थमिति शरीरारोग्यार्थम् । अथ कथं शरीरज्ञानं शरीरोपकारकमित्याह— ज्ञात्वा हीत्यादि । शरीरस्य रक्तादिरूपस्य स्वभावरूपं तत्त्वं ज्ञात्वेव इदमस्य चृद्धस्य धातोरसामान्य-गुणतयाऽवर्द्धकत्वेनोपकारकमिति, तथोक्तविपर्थ्ययाचापकारकमिति ज्ञेयम् । ज्ञायते उपकार्य्यते शरीरतत्त्वमनेनेति वाक्यार्थः ॥ ११२ ॥

चकपाणिः— समुदितस्यैव शारीरस्य स्वरूपमाह—तन्नेत्यादि । 'चेतना'शब्देन ज्ञानकारणम्

समुदायात्मकम् । समसंयोगवाहिनो यदा @ ह्यस्मिन् शरीरे धातवो वैषम्यमापद्यन्ते, तदायं त्रिनाशं वर्तेशं वा प्राप्तोति ॥३॥ वैषम्यगमनं पुनर्हि धातूनां वृद्धिहासगमनमकार्त्रस्येनैव ।

त्वगादीनि चेत्येते तेषां सम्रदायः समस्तरूपः तदात्मकं शरीरमिति सृक्ष्मशरीरेऽन्नुगतं न स्थूलशरीरे। लङ्मांसादीनां प्रकृतिभूतपञ्चमहाभूतलङ्मनोदशेन्द्रियार्थलाभावात्। मनसश्च शरीरले सत्त्वमात्मा शरीरञ्चेति सृत्रे शरीरस्य
मनस्तः पृथ्गवचनस्यासङ्गतेः। तस्मात् पञ्च महाभूतानि तद्विकाराश्च दशेन्द्रियपञ्चार्थास्तर्ङ्मांसाद्यश्चेत्येते तेषां समुदायः समस्तरूपो न प्रत्येकरूपः
तदात्मकं शरीरम्। अथवा विकारा दशेन्द्रियाण्यर्थाञ्च समुदाया मातृजादिपञ्चभूतात्मकास्तरङ्मांसादय इति ज्ञानार्थम्। शरीरमुक्ता शरीरस्योपकारार्थम्
अपकारमाह—समेत्यादि। हि यस्मादिमन् शरीरे धातवस्तप्रक्तमांसादयः
प्रसादधातवः, स्वेदादय उपधातवो, वातिपत्तकप्रमूत्रादयो मलधातवश्च
समसंयोगवाहिनः समेन समुचितमानेन संयोगं परस्परं धातृनां मेलकं
नीरोगतया वहन्तीति। वस्तुतः समानां स्वस्वघटकानां भावानां द्रव्यगुणक्रम्मणां
सम्यगारोग्यलक्षणसम्पत्करं योगं समवायं वहन्तीति समसंयोगवाहिनो
धातवो यदा वैपन्यमापद्यन्ते प्राप्तुवन्ति तदा।। ३।।

गङ्गाधरः—ननु वैपम्यप्राप्तिः का ? इत्यत आह—वैपम्येत्यादि । दृष्टिहासगमनं दृष्टिगमनं हासगमनश्च । अकात् रन्येन सर्व्यपां धातृनामसाकरयेन
आत्मोच्यते । 'मृत'शब्द उपमाने । तेन चेतनाया आत्मसम्यन्धिन्या शरीर एवोपलम्भादात्मनः
शरीरमधिष्टानमिति भवति । परमार्थस्तु चेतनाश्रय आत्मा, आत्मा च निराश्रय एव, किंवा
चेतनस्यात्मनोऽधिष्टानमृतमिति चेतनाधिष्टानमृतमिति । पञ्चानां महाभूतानां विकारा रसादयः
शरीरारम्भकाः, तेपां समुदायो मेलकः, स आत्मा स्वरूपं यस्य तत् तथा । 'समुदाय'शब्देन
च समुदायारम्भका धातव एवोच्यन्ते । तेन न संयोगमात्रस्य शरीरत्वप्रसितः । किंवा समुदायः
संयोग एवोच्यताम्, तथा समुदाय आत्मा कारणं यस्य शरीरस्य द्रव्यस्त्पय तत् पञ्चमहामृतविकारसमुदायात्मकं शरीरमेव । समेनोचितप्रमाणेन धातृनां मेलकेन समयोगतया चहतीति
समयोगवाहि । यदा तु धातृनां न्यूनातिरिक्तत्वेन विपमो मेलको भवति, तदा असमयोगवाहीति
दर्शयन्नाह—यदा हीत्यादि । लघुना वेपम्येण रोगमात्रजनकेन क्रशम्, महता दःसाध्यरोगजनकेन वेपम्येण विनाशं मरणं प्राप्नोतीति शरीरम् ॥ ३ ॥

चक्रपाणिः—अथ किं तत् वैपम्यमित्याह—वैपम्यगमनमिति, वैपम्यगमनं वेपम्यावस्थाप्राप्तिः।

^{*} समुद्रायात्मकं समयोगवाहि । यदेत्यादि चक्रधतः पाठः ।

प्रकुत्या च यौगपदेगन विरोधिनां धातूनां वृद्धिहासौ भवतः।

संकलधात्नां हि सामान्याभावेन, युगपन्युद्धे विशेषाभावेन तु हासस्यं चासम्भवात्। नतु क्षयः स्थानश्च यद्धिश्चेति त्रिविधं वैषम्यग्रक्तम्, अत्र तु यद्धिः हासगमनिमिति स्ववचनविरोध इति चेत्, न, स्थानस्य पृथक्तवे हि न वैषम्यं परन्तु साम्यमेव, विषमसहचरितत्वेन स्वस्थानाकर्षणादित्वे तु समस्तान्तर्गतत्वेन पृथग्वचनानावश्यकत्वात्। तद्दक्तुमाह—प्रकृत्या चेत्यादि। प्रकृत्या च

वैपम्यमेव कादाचित्कमित्यर्थः, यदि हि वैपम्यमेव ब्रुवते, तदा सहजसिद्रमि धातूनां यत् न्यूनातिरिक्तत्वेन वैपम्ं, तद्पि गृह्यते। तेन 'गमन'पद्प्रक्षेपात् सहजं वैपम्यं परित्यज्य प्रमाणापेक्षं कदाचिदुत्पद्यमानं वैपम्यं दर्शयति । वृद्धिहासगमनञ्चेह व्यस्तसमस्तवेपम्यं चेर्यं वृद्धिहासस्यैव विशेषाभावात्। अकात्सर्नेत्रन प्रकृत्या चेति अकात्स्नेत्रनेति एकदेशेन, प्रकृत्येति सक्छेन स्वभावेन। तेन च रसादीनाञ्च अशेपेण वृद्धिहासी तथा अकारस्तेंजन वृद्धिहासौ उपसंगृहीतौ भवतः । अन्ये तु 'अकारस्नेयन' इतिपदं छोशं विनाशं प्राप्नोतीत्यनेन योजयति। तेन यदापि धातवो वैपम्यमापद्यन्ते, तदापि न क्रोशविनाशो भवता, 'अकारस्नेंपन' इतिपदेन क्र'शविनाशन्यभिचारस्य बिहितत्वाच । दृष्टव्चैतत्, यथा--वृष्यप्रयोगात् शुक्रवृद्धौ सत्यामपि न क्रुशिवनाशौ भवतः, तथा वालस्य वर्द्धमानधातोरिष गण एव परं **इ**स्यते । तच नातिसाधु । यतः वालस्य वर्द्धमानधातोरिप वयोऽनुरूपाः प्राकृतमानस्थिता एव धातवो भवन्ति, तेन न ते प्राकृतमाना वृद्धा उच्यन्ते । या तु वृष्यप्रयोगजा शुक्रवृद्धिः, सा यदि विकारकारिका न भवति, तदा तु प्राकृतमानान्तर्गता एव । एतदेव धातूनां प्राकृतमानमू— यद्विकारकारि । अञ्जल्यादिमानन्तु अन्यान्तरेणाभिहितमपि नित्यपरोक्षतया पुनः स्वाभाविकः धातुलक्षणरेव ज्ञातन्यम् । तसाच्छुकस्य यावती वृद्धिरदोपा, तावती प्राकृतमानावस्थारूपेव । प्राकृतमानातिरिक्तौ चेह वृद्धिहासौ 'वैपम्यगमन'शब्देनोच्येते । तसादादैवव व्याख्या । यसादेवं केवलं बृद्धिहासगमनमेव वैपम्यगमनम् । किन्तु प्रकृत्या च वैपम्यगमनं धातुनां भवतीति ब्याख्या न भवति । तथा हि—"प्रकृतिस्यं यदा पित्तं मारुतः इलेप्मणः क्षये" इत्यादो प्रकृतिस्थस्य दोपस्य विकारकर्त्तृ स्वमुच्यते, विकारकरस्य दोपस्य प्रकृतिस्थतापि वैपम्यानुक्रियाकारित्वेन 'वैपम्य'-शब्देनोच्यते । तद्पि नातिसुन्दरम् । येन प्रदेशान्तरेप्त्रपि त्रिविधां गतिं प्रतिपद्य प्रकृतिस्थता धातूनां निर्विकार एवोक्ता, यया-'क्षीणा जहति लिङ्गं स्वं रुमाः स्वं कर्मा कुर्वते । दोपाः प्रवृद्धाः स्वं लिङ्गं दर्शयन्ति यथावलम्" तथा "विकारो धातुवैपम्यम्" "विकारो दृःखसेव च" . एवमादिषु । यत् तु "प्रकृतिस्थं यदा पित्तम्" इत्यादि स्वमानावस्थितस्य पित्तस्य विकारकात्वम्, तच्छरीरप्रदेशान्तरनीतस्य पित्तादेस्तु तत्प्रदेशवृद्धस्यैव विकारकर्तुं त्वम् । दोपः प्रदेशान्तरं नीतः सन् प्रदेशस्थदोपापेक्षया वृद्ध एव भवति । तत्रापि वृद्धस्यैव विकार-कत्तंत्वम्, प्रपञ्चितश्चार्थस्तन्नेव प्रन्थे। यत्रापि स्वमानस्थितानां रक्तादीनां वातादिदृष्ट्या विकार-

यिक्व यस्य धातोर्वे क्विकरं तत् ततो विपरीतग्रणस्य धातोः प्रत्यवायकरन्तु सम्पद्यने । तदेव तस्माद् भेषजं सम्यगवचार्थं-माणं छ युगवदूनातिरिक्तानां धातृनामधिकमपकर्षति न्यूनम्

विरोधिनां धातूनां यौगपदेप्रन एककाळं दृढिहासौ भवतः। यद्यत्र कश्चिद्धातुः समो वर्त्तते दृद्धहस्साभ्याश्चाकृष्यते तदा सोऽपि दृद्धहस्सान्तर्गत एय स्यात्, तत्र क्षीणो यत्राकृष्यते तत्र दृद्धः स्यादिति युगपद्दृद्धहासौ भवतः। यदि नाकृष्टः स्यात् तदा दुष्टो न स्यादिति भावः। नतु कथं विरोधिनां धातूनां युगपद्दृद्धिहासौ भवत इत्यत आह—यद्धीत्यादि। तत इति। तस्माद्धातुतः मत्यवायकरं हासकरम्। तद्व भेपजं युगपद्नातिरिक्तानां धातूनां युगपद्

कर्नृत्वम्, तन्नापि वातादय एव वृद्धाः प्राधान्येन विकःरकारकाः, रक्ताद्योऽपि तट्दृष्टिद्रोप-सम्बन्धात् हीनस्वगुणा वृद्धस्वगुणा वा भवन्ति, ततो गुणहानिवृद्धिभ्यां वृद्धिहासो दूप्येऽपि तिष्ठत एवेति न प्रकृतिस्थस्य विकारकारित्वमिति परस्परविष्ट्यगुणानाम्, तदेवोपपादनं दर्शयति— वदाह—योगपदेपनेत्यादि । विरोधिनामिति परस्परविष्ट्यगुणानाम्, तदेवोपपादनं दर्शयति— यद्धीत्यादि । यद्धि भेपजम्,—यथा क्षीरं कफशुकादिवृद्धिकरम्, तत् तु पित्तरकादेः प्रत्यवायकरं भवति हासकरं भवतीत्यर्थः । विपरीतस्येति कर्त्तव्ये यत् विपरीतगुणस्येति करोति, तेन जातिवैपरीत्याद् गुणवैपरीत्यमेव हासकारणं प्राधान्येन दर्शयति । तेन गोमूत्रं द्रवत्वसामान्यात् समानमपि कट्टण्णरुक्षादिगुणयोगात् कफस्यापि हारकमेव ।

अपपादितयोगपदे जन्यातृतां वृद्धिहासगमन सुपसंहर जाह—तदेवेत्यादि । सम्यग् उपचर्यमाणमित्यनेन उचितमात्रादियोगं तथा साम्यावासाविधक भेपजप्रयोगं द्रश्यति, — मात्रादिविगुणं हि
भेपजं न उचितां कियां करोति, — यथा वृद्धस्य कफस्य क्षीणस्यापि पित्तस्य क्षयवृद्धिभ्यां
सामान्यं ससुपयुज्यते कट्टादि, तत् साम्यापातो त्तरकाल मण्युपयुज्यमानं पित्तवृद्ध्या कफक्षयेण
च पुनवें पम्यमावहति । तस्मात् तट्दोपाणां व्यावृद्ध्ययं सम्यगुपचर्यमाणिमिति कृतम् । नचु
पूर्वोक्तमेपजेन विरोधिनां वृद्धिहासौ भवतः । उपसंहारे तु धातूनां साम्यकरं भेपजं भवतीत्युच्यते,
तत् कथं साम्यभेद इत्याशङ्कय वृद्धिहासकरमेव धातुसाम्यकरं भवतीति दर्शयन्नाह—अधिक मपकपंति,
न्यूनमार्यायतीति । एवं मृतञ्च धातुसाम्यकरणम् । यत्रैव विरोधिनां वृद्धिहासौ विदेवते, तत्रैव
ज्ञेयम्, न सर्व्वत्र । तेन यत्र वृद्धिरेव परं दोपाणां न क्षयः, तत्र यथा वृद्धस्य दोपस्य क्षयाधानमुक्तम्, न तथा क्षीणस्य वर्द्धनिमिति ज्ञेयम् ।

^{*} सम्यगुपचर्य्यमाणमिति वा पाठः ।

ञ्राप्यायतीति । एतावदेव हि भेषज्यप्रयोगे फलमिष्टं स्वस्थ-वृत्तानुष्ठानञ्च यावद्धातूनां साम्यं स्यात् ॥ ४ ॥

स्वस्थापि क्ष समधातृनां साम्यानुग्रहार्थमेव कुश्ला रसग्रणानाहारिवकारांश्च पर्ध्यायेण इच्छन्त्युपयोक्तुम्। सात्माग्रणानाहारिवकारांश्च पर्ध्यायेण इच्छन्त्युपयोक्तुम्। सात्माग्रह्मस्य ग्रह्मस्य प्रदेश भवति, इति एकमेव भेपजं तस्मात् साम्यकरं भवति।
अकात्स्नीतन तु ग्रद्धं धातुं समानगुणं द्रव्यं वर्ष्धं यति विशिष्टगुणंहासयिति, हस्यश्च
तथा, तस्मात् ग्रद्धं धातौ विपरीतगुणं भेपजं हस्वेतु धातौ समानगुणं द्रव्यं भेपजं
सम्यगवचाय्यमाणं साम्यकरं भवतीति। एतावदेव धातुवैपम्ये सित धातुसाम्यकरणमेव, द्वितीयश्च यावद्धात्नां साम्यं तावत् स्वस्थ्यः त्तानुष्ठानमिति। स्वस्थग्रत्तानुष्ठानफलिण्डं यावद्धात्नां साम्यभिति; अत एव पूर्व्याध्यायेऽप्युक्तं
"धातुसाम्यमिहोच्यते। धातुसाम्यिकया चोक्ता तत्रस्यास्य प्रयोजनम्।।"
इति।। ४।।

गङ्गाधरः—ननु स्वस्थाः कि भेपजमाचरन्तीत्यत आह—स्वस्थस्यापीत्यादि ।
साम्यानुग्रहार्थं साम्यरक्षणार्थम् । कुशलाः स्वहितैपिणो वृद्धिमन्तोऽपि
स्वस्थाः । पर्यायेण सम्यगुचितक्रमेण । पर्यायेणाहार विकाराणामुपयोगमुक्तवा
उक्तधातुसाम्योपादेयतां दर्शयितुं भेपजप्रयोगस्य तथा स्वस्थवृत्तानुष्टानस्य धातुसाम्यातिरिक्तं फलं निपेधयन्नाह—एतावदेवेत्यादि । 'एतावदेव' इत्यनेन वक्ष्यमाणधातुसाम्यं
प्रत्यवमृपति । धातुसाम्यात्मको हि भेपजसाध्यो न धातुसाम्यादितिरच्यते, तथा स्वस्थस्योजस्करत्वम्, रसायनेनापि धातुसाम्यमेव विशुद्धमाधीयते । तेन धातुसाम्यादितिरक्तमायुर्वेदसाध्यं
नास्तीति भावः । उक्तद्य—'धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम्' इति ॥ ३।४॥

चक्रपाणिः—ननु स्वस्थे धातुसाम्यं सिद्धमेव, न च सिद्धं साध्यते स्वस्थिनिष्टवृत्तानुष्टानेऽिप धातु-साम्यमेव फलिमत्याह—स्वस्था द्यपीत्यादि। साम्यानुग्रहार्थमिति स्वस्था एव साम्यस्य परापरसात्म्योत्-पादेन परिपालनार्थम्। रसा मधुरादयः। गुणा गुन्वीदयः। आहारविकाराः खाद्यलेह्या यवाग्वादयः। पर्य्यायेणेति उचितेन क्रमेण, स च क्रमः, यथा—मधुरमुपयुज्य तज्जन्यकफवृद्ध्यादिप्रतिबन्धार्थं कटादुप्रपयोज्यमित्यादिः रसक्रमः, तथा गुरुमुपयुज्य तत्कार्यप्रतिबन्धार्थं लघूपयोगः, इत्येवप्रकारो लघुगुरूपयोगकमः। आहारविकारेऽिष यवाग्वादुप्रयुज्य तत्वाकार्थं पेयादुप्रपयोग इत्यादिकः क्रमः। 'गुण'शब्देन च रसा अपि प्राप्यन्ते, तथापि रसाः प्राधान्यात् पृथगुक्तः। सात्म्यसमाज्ञातानिति 'रसगुणान्' इत्यस्य, तथा 'आहारविकारांश्च' इत्यस्य विद्योपणम्। सात्म्याश्च ते अभ्यासेन तथा समत्वेन

^{*} स्वस्था हापीति चकः।

समज्ञातान् एकप्रकारभूयिष्ठांश्चोपयुञ्जानास्तद्विपरीतकर्गा-लच्चणसमज्ञातचेष्टया समिमच्छन्ति कर्त्तुम् । देशकालात्मगुगा-विपरीतानां हि कर्म्मगामाहारिवकाराणाञ्च क्रियोपयोगः सम्यक् । सर्व्वाभियोगोक्षऽनुद्विर्णानां सन्धारगमसन्धारगम्

विषय्ययाणामुपयोगमाह—सात्म्येत्यादि । यान् रसगुणान् आहारविकारान् सात्मग्रसम्बातान् सात्म्यत्वेन सुखानुवन्धहेतुत्वेन धातुसमत्वेन धातुसमगुण-तया ज्ञातान् एकप्रकारभूयिष्टांश्च मधुराचे कप्रकारवहुलानि उपयुद्धानाः कुशलाः स्वस्थास्तेभ्य आहारविकारेभ्यो विपरीतानामाहारविकाराणां करणलक्षणेन संस्कारतो लाक्षणिकतया समत्वेन ज्ञातस्येव द्रव्यस्य समीकरणार्थं संस्कारप्रकरणीभूता या चेष्टा तया तद्दिपरीतानाहारविकारानिष समं धातुसमं कत्तु मिच्छन्ति। नन्न कुतो विपरीतानामेवं रूपेण समीकरणमिष्यते पर्यायेण यत् समीभवति तेनैवेष्टसिद्धिः स्यादिति चेत्, न। कस्मादित्यत आह—देशेत्यादि। देशविपरीतानां कालविपरीतानामात्मनो धातुगुणविपरीतानाश्च कम्मणां सम्यक् क्रिया तत्त्वज्ञानं आहारविकाराणाश्च सम्यक् उपयोगः। तथा सर्व्वाभियोगः

स्वाभाविकपथ्यत्वेनाज्ञाता इति सात्म्यसमाज्ञाताः, 'सम'शब्देनात्र पथ्यमुच्यते । किंवा सर्व्वदा सात्म्यत्वेन समाज्ञाताः सात्म्यसमाज्ञाताः । तेन असात्म्यानामुपयोगमेव प्रतिक्षिपति । यच तावत् ससाद्यः पर्यायेणोपयुज्यते तत् साधु । यत्र त्वेकप्रकारा एव रसाद्यः कुतिश्चिद्देतोरम्यस्यन्ते, तत्र को विधिरित्याह—एकप्रकारेत्यादि । तत्रोपयुक्तेकप्रकाररसादिभूयिष्टाद् रसादेविंपरीतमेव करोतीति तद्विपरीतकरी समाज्ञाता चेष्टा । तया चेष्ट्या समं कर्त्तु मिच्छन्तीति, एकप्रकारम्यिष्टाद्पय्योगेन आधीयमानवेषम्यश्चरिरं समधातुं कर्त्तु मिच्छन्ति । एतद्दाहरणम्—यथा मधुरप्रकारम्यिष्टं च आहारप्रकारमुपयुक्षीत, तस्य मधुरसमानकफादिगृद्धिमाशङ्क्य कफादिक्षयकरी व्यायामादिचेष्टा, तया सामान्यमाधीयते । किंवा तद्विपरीतकरी च, तथा समत्वेन च आज्ञाता या चेष्टा, सा तद्विपरीतकरसमाज्ञाता, तेन क्रियमाणम् अतियोगादि निपेधयति ।

सम्प्रति प्रस्तावागतं स्वस्थवृत्तं समासेनाह—देशेत्यादि। देशादिभिः 'गुण'शब्दः सम्बध्यते। 'आत्म'शब्देनेह शरीरमुच्यते। देशविपरीतं कर्म्म यथा—मरी स्वप्नः। कालविपरीतं कर्म्म यथा—चसन्ते व्यायामः। आत्मविपरीतं कर्म्म यथा—स्थूलशरीरे व्यायाम-जागरणादि। एवमाहारप्रभेदाश्च कालादिविपरीता उन्नेयाः। कर्म्मणां सम्यक्कियोपयोगस्तथा आहारविकाराणां सम्यक्कियोपयोगः। मिथ्यायोगाखोगरूपोऽप्यतियोगो ज्ञेयः। तेन सर्व्वेपां

सट्वीतियोग इति चकः।

उदीर्णानाञ्च गतिमतां साहसानाञ्च वर्जनम् । खस्थवृत्त-मेतावद्वातूनां साम्यानुग्रहार्थमुषदिश्यते ॥ ५ ॥

धातवः पुनः शारीराः समानगुणैः समानगुणभूयिष्ठैर्वापि आहारविकारैरभ्यस्यमानैवृद्धिं प्राप्तुवन्ति ; हासन्तु विपरीत- गुणौर्विपरीतगुणभूयिष्ठैर्वाप्याहारैरभ्यस्यमानैः। तत्रेमे शरीरधातु- गुणौर्विपरीतगुणभूयिष्ठैर्वाप्याहारैरभ्यस्यमानैः। तत्रेमे शरीरधातु- गुणाः संख्यासामर्थ्यकराः। तद् यथा—गुरुल्घुशीतोष्णस्निग्ध- सन्धारणं गतिमतामनुदीर्णानां, मलादीनामुदीर्णानामसन्धारणं तथा साह- सानाश्च वर्जनं स्वस्थवृत्तक्वैतावदेव धात्नां साम्यानुम्रहार्थमुपदिक्यते॥ ५॥ गुङ्गाधरः—ननु के धातवः केष्टेद्धं कथि हासं प्राप्नुवन्तीत्यत आह—

गङ्गाधरः—ननु के धातवः कष्टे द्वि केश्च हासं प्राप्नुवन्तीत्यत आह— धातव इत्यादि । शारीरा इत्यनेन मानसानां निरासः । समानगुणभूयिष्ठैवैति भूयिष्ठगुणानामिलप्टगुणावजियतात् । उक्तं हि विरुद्धगुणसमवाये भूयसालप्-मवजीयते इति । जैमिनिनाप्युक्तं—विरुद्धधम्मसमवाये भूयसां स्यात् सधम्मकत्विति । अभ्यस्यमानैनं त्वेकवारमात्राभ्यवहारतः । ननु शारीर-धात्नां के गुणा इत्यत आह—तत्रेमे इत्यादि । शरीरधातुगुणाः संख्यासामध्येकरा इमे वक्ष्यमाणा गुर्व्वादय एव शरीरधातुगुणा आहारद्रव्याणां पाञ्चभौतिकानां सामान्यविशेषयोज्ञांने सामध्येकराः शक्तिजनका न तन्ये युद्धप्रादयः शब्दादयः परतादयो वा शरीरस्य द्वद्धौ वा हासे वा सामान्यविशेषज्ञाने शक्तिकराः । युद्धप्रादि-जनकत्वं हि द्रव्याणां प्रभावात् । परतादिजनकत्वश्च गुणैर्नास्ति । शब्दादि-कालबद्धीन्द्र्यार्थमिथ्यायोगादीनां वर्जनं सर्व्वातियोगतन्धारणम् । कालिमध्यायोगादेस्तु इप्यरि-हरस्य प्रतिकिथयेव वर्जनम् । गतिमतामिति प्ररीपादीनां वहिर्गमनशीलानाम् । साहसानाम् अयथावलानाम् ॥ ५॥

चक्रपाणिः—अथ रसादिधात्नां वृद्धिहासावुक्तो। तो सात्म्याहाराभ्यां क्रियेते, तद् दर्शयितुमाह— धातव इत्यादि। 'गारीराः' इतिपदेनाध्यात्मिकान् बुद्धगदीन् व्यवच्छिनत्ति। यतो न बुद्धगदयः संमानगुणवचनाद् व्यावर्तन्ते, असमानगुणानाक्रामन्ति। समान एव परं गुणो यस्य तत्समान-गुणम्, यथा—मांसं मांसस्य समानगुणम् यिष्टम्। यदल्पसमानगुणम्, यथा—शुकस्य क्षीरम्ं, क्षीरस्यातिद्ववत्वात् शुक्रेऽल्पसमानगुणम्। अभ्यस्यमानेरित्यनेन सङ्गद्वपयोगाद् वृद्धिं हासश्च निपेधयति। विपरीता एव परं गुणा यस्य तद् विपरीतगुणम्। अक्ष्यसमानगुणन्तु विपरीत-गुणम् यिष्टम्। अथं के ते शरीरधातुगुणाः, ये तेषां गुणैः समानाश्चीच्यन्त इत्याह—तत्रेत्यादि। शरीरधातुगुणा इति विशेषेण प्रस्तुत्रवेनानभिध्यामगुणान् बुद्धगदीन् निरस्यति। परादयस्तु

रुत्त-सन्द-तोन्रण-स्थिरसरमृदुकित-विशदपिच्छिलश्लच्णखर-सूच्सस्थूलसान्द्रद्रवाः। तेषु ये ते गुरवो धातवो ग्रहभिराहार-विकारगुगौरभ्यस्यमानैराप्याध्यन्ते लघवश्च हसन्ति । लघवस्तु ये तै लघुभिरेवाप्याय्यन्ते, गुरवश्च हसन्ति । एवमेव सर्व्वधातुगुणानां सायान्यादु 🕸 वृद्धिविषर्ययात् हासः । तस्मान्मांसमाप्यास्यते मांसेन सूयोऽन्येभ्यः श्रीरधातुभ्यः। तथा लोहितं लोहितैन, जनकलन्तु नान्तरीक्षादिद्रव्याहारतो दृश्यते । दृश्यते च प्रभावात् खरस्पर्शवर्ण-रसगन्धजनकलं द्रव्याणामिति। नतु के च ते गुणा इत्यत आह—तव् यथेत्यादि। गुर्वादयो द्रवान्ता विंशतिः शरीरधात्गुणाः पाश्वभौतिकाहारद्रव्यसामान्य-विशेषज्ञानशक्तिजनका इत्यर्थः। उदाहरणमाह—तेष्वित्यादि। आप्याय्यन्ते इति णिजन्तात् कम्मणि तिङ्, ते इति प्रयोज्यकत्तां कम्मीसंज्ञायामाख्यातेनोक्तः। धातून इत्यणिजन्तत्वे कम्मी, पयोजकस्तु कत्ती गुरुभिरिति। लघवस्तु ये ते लघुभिराहारविकारगुणैरभ्यस्यमानैराप्याय्यन्ते, धातव इत्येवं योज्यं पूर्विवत् । गुरुलघ् गुणावुदाहृत्य शेपानतिदिशति—एवमेवेत्यादि हास इत्यन्तेन। उदाहृत्य तैगुं णैर्धातुत उदाहरति—तस्मादित्यादि। रुद्धिहासयोगु णत तसात गुन्वीदितो गुन्वीदेष्टे बिहासौ, लघ्वादितो लघ्वादेष्टे बिहासौ गुर्व्वादेरित्यस्माद्धेतोमीसमाप्याय्यते मासेन, भूयोऽन्येभ्यः शरीरधातुभ्यः। यद्यपि शरीरधातुगुणा अवन्ति, तथापि ते वृद्धिं हासञ्च प्रति अनतिप्रयोजनत्वाद् इहानुक्ताः । रसस्तु प्रधानत्वेन प्रकरणानन्तरोक्त एवेति नेहोकः। स्पर्शस्तु शीतोष्णसंगृहीत एव। शब्दरूपगन्धास्तु वृद्धो हासे च नातिप्रयोजना इति नोक्ताः। संख्या ज्ञानं गणना वा, तत्र सामर्थ्यं कुर्वन्तीति संख्यासामर्थ्यकराः। एते हि गुर्बादयो ज्ञाता विंशतिर्गु व्वीदयो भवन्तीति यदङ्गानां संख्या-सामर्थ्यरूपम्, तत् कुर्वन्ति गुरुलघ्वादयः । परस्परविषर्थ्ययात्मकान् द्वनद्वान् दश गुणान् दश यत्वा तेपाञ्च द्रव्यसम्बन्धानां श्रङ्गग्राहिकतया कम्मीह—तेष्वित्यादि । लघवश्च हसन्तीति च्छेदः । शेपर् शीतादिगुणानां वृद्धिमतिदेशेनाह—एवमित्यादि । सामान्ययोगादिति समानैकरूपार्थयोगात् । तच सामान्यं सन्वंथा समानगुणजातिरूपं भवति, यथा—पोप्यपोपकयोमींसयोः। कचिट् विज्ञातीयगुणां एव पोप्यपोपकवृत्तयो भवन्ति, यथा-क्षीरशुक्रयोः। तत्रात्यर्थवृद्धिकर्तृत्वेन प्रथमं जातिरूपमेव सामान्यं सर्वगुणसामान्ययुक्तमुदाहरति—तस्मादित्यादिः। भूयस्तरमन्येभ्य इ्त्यनेन, मांसेन मांसगुणमूथिष्ठतया रक्तादिवृद्धिरिप क्रियते, भूयसी तु सामान्ययोगान्मांसस्य वृद्धिः

^{*} सामान्ययोगात् इति चक्रेण् परुयते ।

मेदो मेदसा, वसा वसया, अस्थि तरुणास्थ्ना, मज्जा मज्ज्ञा, शुक्रं शुक्रेण, गर्भस्तामगर्भेण ॥ ६ ॥

यत्र त्वेवंतच्योन सामान्येन सामान्यवतामाहारविकाराणा-मसान्निध्यं स्यात्, सन्निहितानां वाध्ययुक्तत्वान्नोपयोगः घृणित्वाद-यस्माद्वा कारणात् स च धातुरभिवर्ष्वियतव्यः स्यात् । तस्य ये समानगुणाः स्युराहारविकारा असेव्याश्च, तत्र समान-गुणभूयिष्ठानामन्यप्रकृतीनाञ्च आहारविकाराणामुपयोगः स्यात्।

मांसं हि कात् स्नेप्रन गुरुस्नेहादिगुणतः समानं मांसस्य, न लन्यशरीरधातवः कृत्स्त्रगुणतो मांससमाना इत्यतो भूय एव मांसं मांसेनाप्याय्यते। याविद्धि गुणैयौ यस्य समानः स तावद्भिग्धं णैस्तेन वर्द्धत इति भावः। एवम्रत्तरेषु वोध्यम्। तरुणास्थ्नेति दृढ्दवेनास्थिभक्षणासम्भवात् इति ॥ ६॥

गङ्गाथरः—शरीरधात्नां द्रिद्धासावुदाहृत्य कस्य धातुर्वद्धियतव्यः कस्य द्रासियतव्य इति तदाह—यत्र त्वेविमत्यादि । यत्र धातौ एवं छक्षणेन मांसस्य मांसेनेत्येवमादिरूपेण असानिध्यमसिन्धानं नोपयोगः स्यात् सिन्धिहितानामेवं-रूपेण छत्स्नेन सामान्येन सामान्यवतामाहारिवकाराणामभ्यवहृतानां वा घृणिलादयुक्तं सद्प्यद्यंहणं स्याद्न्यस्माट् वा कारणादयुक्तं सद्प्यद्यंहणं स्यात् स च धातुरभिवद्धियतव्यः । नतु केन प्रकारेण वद्धियतव्यः किं मतुष्यमांसेन मनुष्यमांसमित्येवमादि स्यादित्यत आह—तस्येत्यादि । यदि घृणिलादन्यस्माट् वा कारणात् मांसवद्धनाय मांसं नोपयोक्तुमर्धति यस्य धातोस्तस्य धातोर्ये समानगुणा मनुष्यमांसादयोऽसेव्याश्वाहारविकारास्तत्र धातौ तत्समानगुण-भूयिद्यानामन्यद्रव्यात्मकानामन्यप्रकृतिकानां छागादिप्रकृतिकानाश्चाहार-

क्रियत इति दर्शयति। लोहितं लोहितेनैवेत्येवमादो "भूयस्तरमन्येभ्यः" इत्यनुवर्त्तनीयम्। गर्भस्त्वामगर्भेणेत्यत्र आमगर्भेणाण्डादिरूपेण समुदितानां मांसादीनां साम्यनिष्पन्नानां वृद्धि-रुच्यते॥ ६॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति समानगुणभूयिष्टेन विज्ञातीयेन वृद्धिमाह—यत्रेत्यादि । एवं रुक्षणेनेति तुल्यजातिरूपेण । उक्तार्थं विवृणोति—वृणित्वादित्यादि । अन्यसाद् वा कारणादित्यभक्ष्यामगर्भ-शुकादिभक्षणजन्याधरमैतया । तत्रेत्यनेन असिवृहितान्, वृण्या कारणान्तरेणं च सिवृहिता अपि

तद् यथा—शुक्रचये चीरसर्पिषोरपयोगो मधुरिक्षःधसमाख्याता-नाश्चापरेषानेय द्रव्याणाम्, सूत्रचये पुनिरचुरस-वारणीमण्ड-द्रवसधुराह्लेलवणोपवलेदिनाम्, पुरीषच्चये कुल्माषमाष-कुष्कुराडाजसध्य-यय-शाक-धान्याम्बानाम्, वातच्ये कटुतिक्त-कषायरुचलघुशीतानाश्च, पित्तच्येऽहललवणकटुचारोष्णतीच्णा-नाम्, श्लेष्मचये क्षिण्ध-ग्रर-सधुर-सान्द्रपिच्छिलानां द्रव्याणाम् । कम्मीपि च यद् यस्य धातोवृष्टिकरं तत्तद्नुसेव्यम् । एवस्त्येषामपि शरीरधातूनां सामान्यित्रपर्ययाभ्यां वृद्धिहासौ यथाकृतिं कार्यो । इति सर्व्वधातूनामेकैकशोऽतिदेशतश्च वृद्धि-हासकराणि व्याख्यातानि भवन्ति ॥ ७॥

विकाराणाम्धपयोगः स्यात् दृद्धिकर इति जेषः। अस्योदाहरणमाह— तद्यथेत्यादि। शुक्रक्षये इत्यादि। समानगुणभूयिष्ठानामुदाहरणानि। कुष्कुण्डः पलालच्छित्रका। अजस्य मध्यं मध्यदेहः। आहारानुदाहर्त्तु माह— कम्मीपि चेत्यादि। एतद्रुद्धुत्रदाहरणानुसारेण दृद्धानामपि हासो विपरीता-हारितहाराभ्यामुदाहर्त्तेच्य इति वोध्यम्। अनुक्तधातूनां दृद्धिहासानुप-संहत्तु माह—एवमन्येपामित्यादि। शारीरधातुदृद्धिहासच्याख्यामुपसंहरति— इति सर्व्वधातृनामित्यादि॥ ७॥

असेच्यान् प्रत्यवसृपति । अन्यप्रकृतीनामिति विजातीयानाम् । अत्रोदाहरणमाह—तद् यथेत्यादि । शुक्ते क्षीणे यदि शुक्तान्तरं न प्राप्यते, प्राप्तं वा घृणादिवशाष् न प्रयोज्यं स्थात्, तदा समानगुण-भृयिष्ठानां क्षीरादीनासुपयोगः कर्तत्य इत्यर्थः । स्त्रादावि घृणादिनाः स्वजातिप्रयोगिवपये समानगुणभृविष्ठमाह—स्त्रेत्यादि । कुष्कुण्डं पलालादिच्छित्रिका । अजमध्यं छ।गान्तरास्थि । इन्याणासुपयोग इति योजना । आहारं वृद्धिकरमभिधाय विहारमि वृद्धिकरमाह—कर्मोत्यादि । कर्मां तु प्रायः प्रभावादेव वृद्धिकर भवतीति कृत्वात्र समानगुणतापरिग्रहो न कृतः । साक्षादनुक्तानामि धात्नासुक्तन्यायानुसारेण वृद्धिहासकारण-मिति दर्शयति—एविमत्यादि । यथाकालमिति क्रियाकालानामनतिपातेन । उक्तं प्रकरणसुप-संहरति—इति सर्व्वत्यादि । एक्तेकश इत्यनेन 'मासमाप्याय्यते मासेन' इत्यादिनोक्तं गृह्णाति । अतिदेश तक्ष्वेत्यादि । एक्तेकश इत्यनेन 'मासमाप्याय्यते मासेन' इत्यादिनोक्तं गृह्णाति । अतिदेश तक्ष्वेत्यानेन "एवमन्येपामि शरीरधातृनाम्" इत्यादिनोक्तं गृह्णाति ॥ ७॥

कार्त् स्त्येन श्रीरवृद्धिकरास्तिमे भावा भवन्ति । तद् यथा -कालयोगः, स्वभावसंसिद्धिः, आहारसीष्ठ्यम्, अविधात-श्चेति । वलवृद्धिकरास्त्विमे भावा भवन्ति । तद् यथा - वलवत्-पुरुषे देशे जन्म, वलवत्पुरुषे च काले। सुखश्च कालयोगः। वीज-जेत्रगुणसम्पच्चाहारसम्पच्च श्ररीरसम्पच्च सात्मासम्पच्च सत्त्व-सम्पच्च स्वभावसंसिद्धिश्च यौक्ष्मञ्च कम्मे च संहर्षश्चिति ॥ ५ ॥

गृहाधरः—शरीरैकदेशमांसादिष्टिद्धिहासावुत्तवा कृत्सनदेहष्टिद्धिहासकरानुद्दाहरित—कात् स्नेप्रनेत्यादि । इमे के तानाहः—कालेत्यादि । कालो नित्यगः कृतयुगादिः हेमन्तादिश्च तथावस्थिकश्च स्त्री पुमांश्च वाल्ययुवलादिः । स्वभावः स्वस्वप्रकृतिः, संसिद्धिः स्वाभाविकी या यस्य सिद्धिः अविघात इत्यन्याघातकरो ।
भावः । वल्यद्धीत्यादि । वल्वत्पुरुपे देशे यस्मिन देशे वल्वान पुरुपो जायते स
देशः, एवं वल्वान पुरुपो यस्मिन काले जायते स कालः । सुलश्च सुखानुवन्यः
काल्योगः । वीजक्षेत्रयोग्धे णसम्यत् साद्गुण्यम् । आहारसम्पत् आहारसाद्गुण्यम्, शरीरसम्मत् शरीरगुणानां साद्गुण्यम् , सात्म्यसम्पत् सात्म्यानामपि
रसानां मधुरादीनां साद्गुण्यं कद्वादीनामसाद्गुण्यम् , सत्त्वसम्पत् मनसो धर्मिवज्ञेन साद्गुण्यमधर्मविज्ञेनासादगुण्यम् । स्वभावसंसिद्धिः स्वाभाविकी सिंहादीनां वलसिद्धिः। यौवनश्च वाल्यवाद्धियापेक्षया। वलकरं कम्मे च,धम्मीऽपिन

चक्रपाणिः—वृद्धिशस्तावात् सर्वेशरीरवृद्धिकरानाह—कार्त् स्नेप्रनेत्यादि । कालयोग इति वृद्धि-कारकयोवनादिकालयोगः । योवनादौ हि सप्तदशवःसरादिकाललक्षणे कालमहिम्नैय वृद्धिर्भवति । 'स्वभाव'शब्देनादृष्टमुच्यते । तेन स्वभावसंसिद्धशरीरवृद्धिहेतुरदृष्टम् । आहारसोष्टविमत्याहार-सम्पत् । अविवातक्ष्वेति शरीरवृद्धिविघातकरातिन्यवं।यमनोघातादिविरहः ।

वृद्धिप्रस्तावाच वलवृद्धिकरान् भावानाह—वलेत्यादि । देशमहिम्ना वलवन्तः पुरुपाः यस्मिन् । हेमन्ते शिशिरे वा काले जायमानस्य वलं ज्नयति । सुखश्च कालयोग इति साधारणकालयोगः । वीजस्य शुक्रस्य तथा क्षेत्रस्यार्त्तवगर्भाशयरूपस्य गुगानां प्रशस्तवमर्भाणां सम्पत् वीजक्षेत्रगुणसम्पत् । अत्र वीजक्षेत्रयोनिंद्दीपतापि सम्पत् सात् । तेन निर्दोपातिरिक्तस्य सारत्वादिवीजक्षेत्रगुणप्राप्तयर्थं 'गुण'श्रहणं ज्ञेयम् । सत्त्वसम्पच्चेति सत्त्वसम्पदापि शारीरं वलं भवतीति ज्ञेयम् । वचनं हि—''शरीरं हापि सन्त्वमनुविधीयते ।'' स्वभावसंतिद्धिवृद्धजनक कर्ममंसिसिद्धिः । कर्म व्यायामादिकम्मेत्यर्थः । व्यायामादिकम्मीन्यासान् निजं वलं भवति ॥ ८ ॥

श्राहारपरिगामकरास्तिने भावा भवन्ति। तद् यथा— उष्मा वायुः क्लेदः स्नेद्दः कालः संयोगश्चेति छ। तत्र तु खल्वे-षाम् उष्मादीनामाहारपरिगामकरागां भावानामिमे कर्म्मविशेषा भवन्ति। तद् यथा—उष्मा पचिति, वायुरपकर्पति, क्लोदः शौथिल्यम् श्रापादयित, स्नेहो माईवं जनयित, कालः पर्याप्ति-मभिनिव्वर्त्तयित, संयोगस्त्वेषां परिगामधातुसाम्यकरः सम्प-द्यते। परिगामतस्त्वाहारस्य गुगाः श्ररीरगुग्भावमापद्यन्ते सन्वी वलहेतुर्यथा युधिष्टिरः सर्व्धभ्मीवान् न यथा वली तथा भीमोऽताह्य-धर्मवानिष वली। संहर्षश्च चित्ताहादः॥८॥

गृहाधरः—नन्वाहारसम्पद्रलृष्टिद्धिहेतुः कथमाहारसम्पत् स्यादित्यत आह— आहारेत्यादि । उष्पाप्तिर्जाठरो धातुगश्च सर्व्वः । नन्नु कः केन कम्मेणाहारं परिणामयति इत्यत आह—तत्रेत्यादि । उप्पा पचतीत्यादि । कालः पर्व्याप्तिं परिणतिं निष्पत्तिम् । संयोगस्त्रेपामिति एपामाहारजरसानां परिणामेन धातुभिः सह साम्यं समतां करोतीति । नन्नु कथं संयोगः परिणामेन धातुसाम्यं करोतीत्यत आह—परिणामत इत्यादि । परिणामत

चक्रपाणिः—प्रशस्तगुणाभिधानप्रस्तावादाहारपरिणामस्यापि प्रशस्तस्य हेतुमाह—आहारेत्यादि । काल इति पाककालो निशावसानादिरूपः । समयोग इत्याहारस्य प्रकृत्याद्यष्टाहारविधिविशोपात् सम्यग्योगः । तत्र चाहारपरिणामकरेषु उप्मेव साक्षात् पाके व्याप्रियते, वाय्वाद्यस्तु कत्य पचतः सहायताव्यापारविशेषेण सहायतां यान्तीति दर्शयन्नाह—तत्रेत्यादि । वायुरपकर्पतीति उप्मस्थानाद् विदूरिस्थितमन्तमुप्मसमीपं नयित । यदक्तम्—''अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्टं प्रकर्पति'' इति । वायुरपकर्पतीत्युपलक्षणम् । तेन अन्युत्तेजनमपि समानाख्यस्य वायोः वोद्यण्यम् । उक्तं हि—''समानेनावधृतोऽन्नः पचित'' इति । पर्याप्तिमिति पाके निष्पत्तिम्, सत्यपि उपमादिव्यापारे कालवशादेव पाको भवति, नोप्मादिव्यापारमात्रादिति भावः । समयोगस्तु पुपामिति पुपामाहारद्वव्याणां प्रकृत्यादीनां यः समयोगः, स परिणामकरो धातुसाम्यकरश्च भवति । यदा हि प्रकृत्यादिवस्द्व आहारो भवति, तदा प्रकृत्यादिवोपादेव न सम्यक्परिणामकरो भवति । एतदुप्मादिव्यापारप्रतिपादकं प्रनथान्तरम्, यथा—''अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्टं प्रकर्पति । एतद्ववैभिन्नसंधातं स्नेहेन मृद्तां,गतम् । समानेनावधृतोऽग्निहदर्यः पवनेन तु । काले पत्रवं समं सम्यक् पत्रस्यायुर्विवृद्धये ॥'' इति

^{*} समपोगइचेति चकः।

यथाखम् अविरुद्धाः, विरुद्धाश्च विहन्युर्विहताश्च विरोधिभिः श्रीरम् ॥ ६ ॥

श्ररीरधातवरत्वेवं द्विविधाः संप्रहेगा, सलसूताः प्रसाद-भूताश्च । तत्र मलभूतास्ते, ये श्ररीरस्य वाधकराः स्युः । तद् यथा श्ररीरिच्छद्रे पूपदेहाः पृथग्जन्मानो विहर्म्भुखाः परि-पकाश्च धातवः, प्रकुपिताश्च वातिपत्तश्लेष्माणो, ये चान्येऽपि उष्मवाय्वादिभिराहाररूपान्तरिष्पत्याहारस्य ये गुणा यथास्त्रमविरुद्धाः समानास्ते श्ररीरशतूनां यदूषा गुणास्तद्भावं तद्रपतामापद्यन्ते पामुवन्ति । विरुद्धाश्च ये लाहारस्य गुणास्ते च परिणामतो विरोधिभिग्रं णैविहताः सन्तः श्ररीरं विहन्युनं तु श्ररीरग्रणभावमापद्यन्ते ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः - शरीरत्यादि । शरीरधातवो द्विविधाः संग्रहेण संक्षेपेण, मलभूतास्ते आहारजपुरीपादयः शरीरस्य वाधकराः । मल्लपान् शरीरधातून्
विष्टणोति कम्मेतः । उपदेहा उपलेपल्पाः पृथग्जन्मानः स्वेदसिंघाणकादिरूपेण पृथक्पृथग्जन्मानः । वहिम्धु सा वहिनिःसरणोन्धुस्ताः परिपकाश्च
पाकात् पूयतां गताश्च धातवो भवन्ति । मृकुपिताश्च कोपमापन्नाः

अथ कया परिपाट्या परिणाममापद्यमान आहारो धातुसाम्यकरो भवतीत्याह—परिणामत हत्यादि । सर्व्यमाननिर्देशेन, यो यथा यथा अहारांद्राः परिणमते, स तथा तथा द्रारीरंग्युणरूपतां याति, न कृत्स्नाहारपरिणाममपेक्षत इति दर्शयति । यथास्वमविरुद्धा इति य आहारगुणा यस्मिन् द्रारीरगुणेऽविरुद्धाः, त एव तद्रुष्ट्पतां नयन्ति । यथा—आहारस्य कठिनो भागो मांसास्थ्यादिकठिनभागपोपको भवति, द्रवांद्रास्तु द्रोणितादिरूपो भवति इत्यादि । विरुद्धास्तु विहन्युरिति द्रारीरगुणविरुद्धास्तु आहारगुणा विरुद्धान् गुणान् विहन्युहीसयेयुरित्यर्थः । अथ ते द्रारीरगुणा आहारगुणविरुद्धाः सन्तः किं कुःवन्तित्याह—विहतास्तु विरोधिभिः द्रारीरं विहन्युरिति योजना । विरोधिभिरिति विपरीतैराहारगुणैविंहता इति क्षयं नीताः, किंवा विरोधिभिरिति यथा—द्राधमस्यादिविरुद्धाहारैविंहताः द्रारीरं हन्युः, 'च'कारात्, विरुद्धगुणैश्च क्षयं नीताः द्रारीरं हन्युरिति दर्शयति ॥ ९॥

चक्रपाणिः--अथं कतिप्रकारास्ते दारीरगुणा इत्याह—दारीरत्यादि। संग्रहेण सङ्क्षेपेण। तेन विस्तरेण धातूपधात्वादिविभागेन बहवश्च भवन्ति। 'भूत'शब्दः स्वरूपे। वाधकरा इति पीड़ाकरा इत्यर्थः। पृथग्जन्मान इति पीड़ाकारकाः सिङ्घाणकादिभेदेन नानारूपाः। वहिंस्भुंखाः' इत्यनेन, य एव च्छिद्रमलाः प्रभृततया वहिर्निःसरणाभिमुखाः, त एव पीड़ाकर्नुं त्वेन मलाख्याः। कैचिच्छरीरे तिष्ठन्ति भावाः श्रीरस्योपघातायोपपद्यन्ते, सर्व्वांस्तान् मलान् ७ सञ्चद्यहे, इतरांस्तु प्रसादाख्यान्, गुर्व्वादीश्च द्रवान्तान् ग्रणभेदेन, रसादीश्च शुक्रान्तान् द्रव्य-शेदेन ॥ १० ॥

तैषां सर्व्वेषामेव वातिवत्तरलेष्माणो दुष्टा दूषियतारो सवन्ति दोषत्वात्। वातादीनां पुनर्धात्वन्तरे कालान्तरे दुष्टानां विविधाशितपीतीयेऽध्याये विज्ञानान्युक्तानि। एतावत्येव

वातिपत्तक्षेष्पाणः। ये चान्येऽपीति अजीर्णान्न-क्रिम्यादयस्तिष्टन्ति तान् सर्वान् शरीरच्छिद्रेपृपदेहकरादीन्। इतरांस्तु त्रग्रसादीन् प्रसादाख्यान्। गुणभेदेन गुर्वादीन् संचक्ष्महे। द्रव्यभेदेन रसादीन् शुक्रान्तान् सञ्च-क्ष्महे। रसस्य श्रेयस्त्वश्च रसशब्देन गृह्यते।। १०।।

गङ्गाधरः—तेपामित्यादि। तेपां मलानां रसादीनाश्च सर्व्वेषां द्पयितारो दुष्टा वातपित्तक्लेष्माणः। धालन्तरे कालान्तरे च दुष्टानां वातादीनान्त

ये तु उपलेपमात्रकारका गुणकर्तृ तया, न ते मलाख्याः। परिपकाश्च धातव इति पाकात् प्यतां गताश्च शोणितादयो मलाख्याः। किंवा अपकाश्चेति पाठः। तदा समधातवो मलाख्या इति श्रेयम्। कुपिताश्चेति पदेन वातादयः सामान्येन क्षीणा वृद्धा वा गृदान्ते। विकृतिमात्रं हि वातादीनां कोपः। ये चान्येऽपीत्यादिना विमार्गगतान् पीड़ाकारकान् शरीरधातृत् तथाजीणीदीन् साहयन्ति। मल इति एकवचनं जातो। इतरानिति स्वमानस्थितपुरीपवातादीन्। पुरीपवातादयोऽपि शरीरावष्टमभकाः प्रसाद एव गुणकर्तृ त्वात् । शरीरगतान् मलप्रसादभावानिभधाय पुनर्गु णद्रव्यमेदानाह—गुर्व्वादीश्चेत्यादि। गुर्व्वादयो द्वान्ताः पश्चादक्ता एव। अत्र च ये मला चपधातवश्च नोक्ताः, ते गुर्व्वादिगुणाधारत्वेन प्राह्माः। किंवा इतरांस्तु निर्व्वाधकरान् मलादीन् प्रसादे सञ्चक्ष्महे, तथा गुर्व्वादीश्च तथा रसादीश्च निर्व्विकारान् द्व्यगुणरूपान् प्रसादे सञ्चक्ष्महे इति व्याख्येयम्॥ १०॥

चक्रपाणिः—अथ यदेतत पुरीपादीनां मलत्वम्, तट्टूपणाय भवति । तेन तेपां दूपकत्वे हेतुमाह—तेपामित्यादि । तेपामिति पुरीपादीनां रसादीनाञ्च । इष्टा इति स्वहेत्पचिताः । क्षीणास्तु नानादृष्टिं दोपाः कुव्वन्तीति प्रतिपादितमेव । अथ धात्वन्तराश्रयिणां वातादीनां इष्टानां किंत्तलक्षणम्, येन ज्ञातन्या इत्याह—वातादीनामित्यादि । विज्ञानानीति लक्षणानि ।

^{*} मलानित्यत्र मले तथा प्रसादाख्यानित्यत्र प्रसादे इति चक्रधतः पाठः ।

दुष्टदोषगतिर्यावत् संस्पर्शनाच्छारीरधातृनाम् । प्रकृतिभूता-नान्तु खलु वातादीनां फलमारोग्यम् । तस्मादेषां प्रकृतिभावे प्रयतितव्यं दुरि मद्भिः ॥ ११ ॥

तत्र श्लोकः।

सर्व्वदा सर्व्वथा सर्व्वं श्रीरं वेद यो भिषक्। ज्ञायुक्वेदं स कात् स्त्येन वेद लोकसुखप्रदम्॥ १२॥

विकानानि लक्षणानि अश्रद्धा चारुचिश्चास्येत्यादिभिरुक्तानि। यावत् संस्पर्धनादिति शरीरधात्नां संस्पर्धनेन्द्रियलश्च यावत्। दुष्टदोपगतिरेतावती। लगतीता तु न दुष्टदोपगतिरस्तीति। दुष्टदोपकाय्येष्ठक्वा पक्रतिभूतानां वातादीनां कार्य्यमाह—प्रकृतिभूतानामित्यादि। तस्मादित्यारोग्यफलकत्नात् एपां वातादीनाम् ॥११॥

गङ्गाधरः - एतमर्थं श्लोकेनाह - सर्व्वदेत्यादि । वेदेति वेत्ति । लोक-ग्रखमदमायुर्व्वदेम् । स कृत्रनेन वेद वेत्ति ॥ १२ ॥

ननु रसाद्याश्रयदृष्टवातादिलक्षणं तावत् विविधाशितपीतीये चोक्तम् । केशसूत्रनलाद्याश्रयदृष्टिन् लक्षणन्तु यदत्र नोक्तम्, तत् कथं न्रेयमित्याह्—एतावत्येवेत्यादि । केशाद्रौ दृष्टानामिप वातादीनां गितिनीस्तीति वान्यार्थः । यावत् संस्पर्शनादिति स्पर्शनेन्द्रियस्याप्यत्वेन शरीरधात्नां दृपण स्पर्शनेन्द्रियपर्यन्तमेव दृष्ट्रोपगतिभंवति, तेन न केशादिषु दृष्ट्रोपगतिः । यत् तु पिलतादिकेशे सूत्रे नखे वा पुष्पम्, तत् स्पर्शवच्छरीरिक्षितेनेव दोपेण कृतम्, न पुनर्भखसूत्रकेशेष्यिप स्वमार्गचारी दोषः श्रचरतीति ब्रुवते । वयन्तु ब्रूमः—विविधाशितपीतीयोक्तदृष्ट्या सर्व्यदृष्ट्यप्यस्यम्यादे । यावत् संस्पर्शनादिति कृत्स्नसम्यन्धात् । तन् शरीरधात्नां यावत् स्पर्शनाद् दृष्टदोपगतिभंवति, सा एतावत्येव, सा सर्वा विविधाशित-पीतीयोक्तेव, न ततोऽधिका दृष्टदेष्ट्यास्ति । तत्र हि "मलानाश्रित्य दृष्टास्तु भेदशोध-प्रदूषणम्" दृति ग्रन्थेन कृत्स्नग्रहणात् केशनखो च मलौ गृहीतावेव । एतेन नखाग्र-केशाग्रगतेन दोपेणेव कृतं भवेत् । अथ दृष्टा वातादयो दृष्टिलक्षणानि कुर्वन्ति, प्रकृतिस्थास्तु कि स्वतित्याह—प्रकृतिभूतानामित्यादि । सम्प्रत्युक्तप्रकरणजन्यश्वरीरज्ञानस्य फलमाह—शरीर-मित्यादि ॥ १९१२ ॥

तमेवमुक्तवन्तं अगवन्तमात्रेयमिश्वरेश उवाच। श्रुत-मेतद् यदुक्तं भगवता श्रीराधिकारे वचः। किं नु खलु गर्भस्याङ्गं पूर्व्यमिभिनिट्वर्क्तते कुचौ, कुतोमुखः कथं वा चान्त-र्गतस्तिष्ठित, किमाहारश्च वर्त्तयित, कथम्भूतश्च निष्कामित, कैश्चायमाहारोपचारेर्जातस्वव्याधिरभिद्धते, सयो हन्यते केः, कथञ्चास्य देवादि प्रकोपनिमित्ता विकारा उपलभ्यन्ते आहो-स्विन्न, किञ्चास्य कालाकाल-सृत्योभीवाभावयोभगवानध्यवस्यित, किञ्चास्य परमायुः, कानि चास्य परमायुषो निमित्तानीति ॥१३॥

तमेवमुक्तवन्तमित्रवेशं भगवान् पुनर्विसुरात्रेय उवाचि। पूर्विमुक्तमेतद्गर्भावकान्तौ यथायमभिनिर्वर्वतेते कुचौ। यचास्य यदा सन्तिष्ठतेऽङ्गजातम्। विद्यतिपत्तिवादारत्वत्र बहुविधाः

गङ्गाधरः – तमेवेत्यादि । एवं पूर्विम्रक्तं यावत् तावदुक्तवन्तं भगवन्तम् । यत्प्रश्नमुवाच तदाह — किं न्वित्यादि । जु भो गर्भस्य खळ किमङ्गं कुक्षो पूर्विम्यिनिव्वक्तते । इत्यादयः प्रश्नाः ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः —तेपामुत्तरमुवाच । नदाह — पूर्विमुक्तमित्यादि । यदङ्गं कुक्षौ गर्भस्य

चक्रपाणिः—शरीरविचायकं प्रकरणं समाप्य गर्भशरीरविचायकं प्रकरणमारभते—एवंवादिनः मित्यादि । कुक्षावित्यन्तेन । एकः प्रश्नः । कुतोमुखः कथञ्चान्तर्गतिस्तिष्टतीति द्वितीयः । निष्कामतीत्यन्तेन तृतीयः । केश्रायमाहारोपचारेजीतः सद्यो हन्यत इति चतुर्थः । केरव्याधिरभि- वर्द्धत इति पञ्चमः । आहोस्तिन्नेत्यन्तः पष्टः । शेपं प्रश्नन्तयं पृर्विप्रश्नद्वयस्य व्यवच्छेदमेव । एवं - नव प्रश्नाः । अध्यवस्यतीति निश्चिनोति ॥ १३ ॥

चक्रपाणिः—यथाक्रममुत्तराण्याह—प्रविभित्यादि । प्रविभुक्तिति यद्यास्य यदा सन्तिष्ठते अङ्गालातम्, तदिष गर्भावकानतौ ' एवमस्य युगपदिन्द्रियाणि अङ्गावयवाश्च यौगपदेपनाभिनिर्व्वर्तन्ते, अन्यत्र तेभ्यः, येऽस्य जातस्योत्तरकालं जायन्ते" इत्यादिना व्रन्थेनोक्तम् । यद्यपि 'कथमभिनिर्व्वर्त्तते कुक्षो, इति नेह पृष्टम्, तथापि अभिनिर्वृत्तिक्रमोपदर्शनेन "िकं नु खलु गर्भस्याङ्गं प्रविमिनिर्वर्त्तते" इति प्रश्नस्य यथोक्तोत्पादक्रमोपदर्शनाद्वर्त्तां भवतीति मुनिनोक्तम्,— 'उक्तमेतत् गर्भावकान्तो यथायमभिनिर्वर्त्तते कुक्षों इति । उक्तामिष युगपदङ्गाभिनिर्वृत्तिं

सूत्रकारिगामृषीणां सन्ति सर्व्वेषां, तानिष निवोधोच्यमानान् । शिरः पूर्व्यमिभिनिव्वर्त्तते कुचाविति कुमारशिरा भरद्वाजः पश्यति, सर्वे न्द्रियाणां तद्धिष्ठानिसति । हृद्यमिति काङ्कायनो वाह्नीकभिषक् चेतनाधिष्ठानत्वात्। नाभिरिति भद्रकाप्य आहारागम इति कृत्वा। पक्रगुद्मिति @ शौनको मारुताधिष्ठान-त्वात् । हस्तपादि मिति विङ्शस्तत्करण्यात् पुरुषस्य । इन्द्रिया-ग्गिति जनको वैदेहस्तान्यस्य बुद्ध्यधिन्ठानानोति क्रस्वा । बुद्धि-परोच्त्वाद्चिन्समिति मारीचिः कश्यपः। सर्व्वाङ्गनिर्व्युत्तिः युगपदिति धन्वन्तरिः। तदुपपन्नं सर्वाङ्गाणां तुल्यकालाभि-पूर्विमभिनिर्व्यत्तते। अत्र विप्रतिवादाः सूत्रकारिणामृपीणां वहु विधास्तानुच्य-मानान् मया त्वं निवोध।तद् यथाह—श्विरः पूर्विमित्यादि। कुमारशिरा भरद्वाजः पश्यति सर्व्वेन्द्रियाणां तद्धि शिरोऽधिष्ठानमिति। हृद्यं पूर्व्वेमभिनिव्वेर्त्तते कुक्षा-विति काङ्कायनः। सन्बीङ्गनिन्द्रे त्तिप्रु गपदिति धन्वन्तरिरित्यन्ता विप्रतिपत्तीः कुमारशिरःप्रभृतिवच्छौनकादयोऽपि चक्रुस्तदुक्तं सुश्रुते। "गर्भस्य हि सम्भवतः पूर्वं शिरः सम्भवतीत्याह शौनकः शिरोमुळलाट् देहेन्द्रियाणाम्। हृदयमिति कृतवीय्यों बुद्धेर्मनस्थ स्थानलात्। नाभिरिति पाराशर्यस्ततो हि वर्द्धते देहो देहिनः। पाणिपादमिति मार्कण्डेयस्तन्मृललाच्चेष्टाया गर्भस्य। मध्य-शरीरमिति सुभूतिगो तगस्तिनिवद्धलात् सर्विगात्रसम्भवस्य । तत् तु न सम्यक्। सर्ज्ञाङ्गप्रत्यङ्गानि युगपत् सम्भवन्तीत्याह धन्वन्तरिः। गर्भस्य सूक्ष्मलान्नोप-लभ्यन्ते वंशाङ्करवच्च्तफलवच। तर् यथा चूतफले परिपक्वे केशरमांसास्थि-मज्जानः पृथग् दश्यन्ते कालपकर्षात्, तान्येव तरुणे नोपलभ्यन्ते सूक्ष्मलात् र तेपां सुक्ष्माणां केश्वरादीनां कालः प्रन्यक्ततां करोति। एतेनैव वंशाङ्करोऽपि व्याख्यातः। एवं गर्भस्यं तारुण्ये सर्व्येष्वङ्गप्रत्यङ्गेषु सत्स्वपि सौक्ष्म्यादनुप-मतान्तरोद्धारेण स्थिरं कर्त्तु माह—विप्रतिवादास्त्वत्रेत्यादि । पक्ताशयश्च गुद्बचेति पकाशयगुद्धम् । किंवा पकाशयसमीपस्थातुम् उत्तरगुद्धित्यर्थः। इन्द्रियाणीति इन्द्रियाधिष्ठानानि नयन-गोलकादीनि । तद्रपपन्नमिति प्रतिज्ञाभिहितार्थस्य युगपदङ्गाभिनिन्वृ तिरूपस्य सिद्धरवादिति

^{*} पकाशयगुद्मिति वा पाठः।

निव्वृ त्त्वाइ। हृदयप्रभृतीनां ७ सर्वाङ्गाणां ह्यस्य हृदयं सूलमधिष्ठानञ्च केषाञ्चिद्धावानाम्, न च तस्मात् पूर्विभिः निव्वृ त्तिः एषाम्। तस्माद् हृदयपूर्वीणां सर्विङ्गाणां तुल्यकालाभिनिव्वृ तिः। सर्विभावा ह्यन्योन्यप्रतिबद्धास्तस्माद् यथासूतदशनं साधु ॥ १४॥

लियः। तान्येव कालपकर्पात् पव्यक्तानि भवन्ति।" इति। एतद्धन्वन्तरिमतम् अनुमन्तुमाह—तदुपपन्नमित्यादि। कस्मात् तदुपप्चत इत्यत आह—सन्बीङ्गाणा-मित्यादि । तत्रापि किञ्चित् स्वमतग्रुपदर्शयन्तुपपादयति—हृदयेत्यादि । हि यस्मात् हृदयप्रभृतीनां सन्बीङ्गाणामस्य गर्भस्य हृद्यादिसन्बीङ्गाणां हृदयं आत्ममनोबुद्धीनाश्चाधिष्ठानश्च मूळं केपाश्चिद् भावानामोजःप्रभृतीनास् तस्माट् हृदयस्य पूर्वाभिनिव्दे तिरिति काङ्वायनकृतवीय्ययोर्मतमङ्गपत्यङ्गानां पूर्वाभिनिन्द्रं तावेषां सन्बिङ्गाणां पूर्व्वे हृदयस्याभिनिन्द्रे तिरिति न सम्यक्। सर्वाङ्गमत्यङ्गानि युगपत् सम्भवन्तीति धन्वन्तरिमतश्च सम्यक् उपपन्नं यथा तदाह—तस्माद् हृदयपूर्वाणामित्यादि । पूर्वं हृदयस्याभिनिव्यं त्तिरात्माव-क्रान्तिम् अन्तरेणाङ्गाभिनिन्द्र त्तेरसम्भवात् आदौ गर्भाशयगते शुक्रशोणिते यत्रात्मावक्रम्य तिष्ठति तदेव हृदयं भवति । तस्माद् हृदयनिद्देशपूर्वाणां सन्वी-ङ्गाणां तुल्यकालाभिनिन्द्रितिः। कस्मात् १ सन्वेभावा हीत्यादि। हि यस्मात् हेत्वर्थः प्रतिज्ञार्थोदभिन्न एव । ये तु तुल्यकालाभिनिन्द्यं तत्वादिति पटन्ति, तेपां हेत्वर्थो व्यक्त-त्वाद्भिज एव । येन उत्तरकालमपि सर्वोङ्गाणां युगपट् वृद्धिदर्शनम् । समानकालवर्द्धमानानां पालानां समकालमेव जन्मानुमीयते, असमानकालजातानां न समानकालसमा वृद्धिर्भवति। पूर्वपीणां मतानि हृदयपूर्वाभिनिव्यु तिदूपणेनेव समानन्यायार् दूपयबाह—सर्वोङ्गाणां तस्येत्यादि। मूलमिव मूलम्, तदुपघातेन सन्बिङ्गोपघातात् । अधिष्टानमित्याश्रयः । तत्रौजःप्रभृतीनामधिष्टानं हृद्युज्ञ भवति, न च तस्मात् पूर्वाभिनिन्द्वित्तिरिति तस्याधिष्टानमूरुत्वात्, नानिधिष्टानानाञ्च पूर्वीभिनिन्व तिभवति । यदि हि सूलं कारणिमह मतं स्यात्, तदा प्राक् कार्यभ्योऽङ्गेभ्यश्च हृद्यं स्यात्, न चेहाङ्गानां हृद्यं कारणम्, किन्तु प्रधानम्, प्राधान्यञ्च तदुपघातेन सन्वीपघातात् इति । यश्चाप्याश्रयाश्रयिभावः, स चापि सहोत्पन्नानामेव । हृद्यं तदाश्रितोजः ममृतीनां प्रधानं भवतीति भावः। तदेवं चेत् हृदयस्य प्रधानस्य प्रवीत्पादो नास्ति, तदा शिरः-प्रभृतीनामिप पूर्वीत्पादो नास्त्येवेति कृत्वोपसंहरनाह—एपां तस्मादित्यादि । युगपदिभिनिन्तृं त्रो

^{*} सन्वीङ्गाणां तुल्यकालाभिनिन्द्रं तत्वाद् । हृद्यप्रभृतीनामिःयत्र सिद्धत्वादिति चक्कः ।

गर्भस्त खलु मातुः पृष्ठाभिमुख ऊर्द्ध्वीशराः सङ्कृच्याङ्गानि झास्ते जरायुवृतः कुचौ। व्यपगतवुभुचापिपासस्तु गर्भः परतन्त्र-वृत्तिर्मातरमाश्रित्य वर्त्त्यत्युपस्नेहोपस्वेदाभ्याम्, गर्भस्तु सद-सङ्कृताङ्गावयवः। तदनन्तरं ह्यस्य लोमकृपायनैरुपस्नेहः कश्चित् सर्वभावा अन्योन्यमिवद्धा न ह्यकं विना अपरो भावः शरीरे मितवद्धो वर्त्तते। तस्माद् यथाभूतदर्शनमुक्तरूपेण दर्शनम् साधु। इति पूर्व्यवश्वस्योत्तरमिति।।१४

गङ्गाधरः अथ क्रुतोम्रस्यः कथं वा चान्तर्गतस्तिष्टतीति द्वितीयपश्चीत्तर-माह-गर्भस्तित्यादि कुक्षावित्यन्तम्। तत्र कुतोमुख इत्यस्योत्तरं-मातुः पृष्टाभिमुख इति। कथं वा चान्तर्गतस्तिष्टतीत्यस्योत्तरमाह—ऊद्धिशरा इत्यादि । जरायुरृतः कुक्षाविति । जरायुरृतमुखलाद् गर्भौ न कुक्षौ रोदिति । तदुक्तं सुश्रते—जरायुणा मुखे च्छन्ने कष्ठे च कक्षवेष्टिते। वायोमीग-निरोधाच न गर्भस्थः परोदिति ॥ इति । अय गर्भः किमाहारश्च वर्त्तयतीति पश्चस्योत्तरमाह—व्यपगतेत्यादि। क आहारो यस्य स किमाहारो गभौ वर्त्तंयतीति चौरादिको दृतिः। गर्भः कुर्को व्यपगतक्षत्पिपासस्त सन् परतन्त्रष्टित्तर्मात्रित्य वर्त्तयति। व्यपगतब्रुभ्रक्षापिपास इति निरा-हारञ्चेत कथं जीवन वर्त्तते इत्यत आह-परतत्रष्टितिरिति। कोऽसौ परो यस्य तन्त्रष्टित्तर्वत्तेत इत्यत आह-मातरमाश्रित्य वर्त्तयति। कथं निराहार इत्यत आह—उपस्नेहोपस्वेदाभ्यामिति। गर्भाशयस्य यः स्नेहो यश्चोष्मा तत्-स्नेहस्य स्नेहेन तदुष्मणः स्वेदेन गर्भाशये वर्त्तयति, यथा घृतादिस्निग्धभाण्डे स्थित वस्तु वर्त्तते। तथा गर्भाशये सदसन्द्र ताङ्गावयवः किश्चिदङ्गं जातं किश्चिद्जात-मिति सदसद्भूताङ्गावयवो यदा गर्भस्तदैवमुपस्नेहोपस्वदाभ्यां गर्भाशये वर्त्तते। सदवयवस्तु कथं वर्त्तते इत्यत आह—तदनन्तरिमत्यादि। तत्सदसद्भूता-ङ्गावयवानन्तरं सद्भूताङ्गावयवस्यास्य गर्भस्य लोमक्रुपायनैः कश्चिद्वपस्नेहः कश्चित् हेत्वन्तरभाह—सर्वभावा हीत्यादि । भावा इति शरीरभावाः । अन्योन्यप्रतिबद्धा इति यसात् सन्वेभावाः परस्पंरव्रतिबद्धा एव सिरास्नाय्वादिभिजीयन्ते, तेन समाननिबन्धना युगपदेव भवन्ति । यथामृतदर्शनमिति यथात्मदर्शनम्, तच धन्वन्तरिमतमेव ॥ १४ ॥

चक्रपाणिः—गर्भस्त्वित्यादि द्वितीयप्रश्नस्थोत्तरम् । 'व्यपगत' इत्यादि, ''किमाहारश्च वर्त्तयित'' इति प्रश्नस्योत्तरम् । परतन्त्रवृत्तिरिति मात्रधीनवृत्तिः । एतदेव विवृणोति—मातरमित्यादि । उपस्नेहो निष्यन्दः । सदसदम्ताङ्गावयव इतिष्ठेदः । सदनन्तरमित्यङ्गप्रत्यङ्गपृत्तो सत्याम् । राभिनाङ्यदनः। नाभ्यां ह्यस्य नाङ्ग प्रसक्ता, सा नाभ्याञ्च प्रमन्ता। प्रमन्ता दार्य सातुः प्रसक्ता हृद्ये। सातृहृद्यं ह्यस्य राज्यस्याद्यस्य स्वतः सिनाभिः स्वन्द्रसानाभिः। स तस्य रसो वत्तद्यांकरः सन्दर्यः। स च सर्व्यस्यानाहारः स्त्रिया ह्यापन्न-गर्भावास्त्रिया एतः प्रतिद्यते स्वस्रीरपृष्ट्यं स्तन्याय गर्भवृद्धये च। स तैनाहारेगो५प्रक्यो वर्त्तयसन्तर्गतः। स चोप-

नाभिनाड्ययनैंइपस्नेहस्तं गर्भे वर्त्तयति। कथं नाभीनाड्ययनैरित्यत आह— नाभ्यां हीत्यादि । हि यत्नाद्म्य गर्भस्य सन्भूताङ्गाययवस्य या नाभिप्रसक्ता नाड़ी सा नाभ्याञ्च अपरा नाम नाड़ी। अपरा चास्य गर्भस्य मातृहुद्ये गसक्ता । मातृहद्यक्षात्य नाममरां गर्भनादीं स्वप्तकां नादीं रसं स्यन्द्मानाभिः सप्तश्वतिसराभिरिभ व्याप्य प्लवते आप्लवते । स मातुः सिराभिः स्यन्दितो एसस्तस्य गर्भस्य वलवर्णेकरः सम्पद्यते। यदि मातुराहाररसो गर्भस्य वलवर्ण-करः सम्पद्यते, तर्हि मातुः गरीरं कथं पुष्यतीत्यत आह—स चेत्यादि। स सन्देर्तदान् आहार आपनसन्दायाः स्त्रियाः त्रिधा रसः त्रिभागरसः सस्पचते । आहारपरिणतरसस्य त्रयो भागा भदन्ति, एकभागो रसः स्त्रियाः स्वरारीरपुष्टये सम्पद्यते, हितीयो रसभागः स्तन्याय सम्पद्यते, तृतीयो रसभागस्तु गर्भष्टद्ये। तत्त्रतीयं रसभागं स्यन्द्मानाभिः सिराभिर्गर्भस्यामरामभिष्ठवते, तेन गात्रसं स्यन्द्मानाभिः सिराभिरभिष्छतया नाभिनाङ्याऽभिष्यन्दितेन रसेनाहारेण गर्भ उपप्रव्यः सन्नन्तर्गतो गर्भाश्ये वर्त्तयतीति। तेन मृत्रपुरीपवातोत्-सर्गाभावः सन्वसम्पूर्णधातुलेऽप्यरपम्त्रपुरीपवातलात्। सुश्रुते चोक्तम्। मलारपदादयोगाच वायोः पकाशयस्य च। वातमूत्रपुरीपाणि न गर्भस्थः करोति हि ॥ इति । नाभिनाड्ययनैः यमाहाररसमेवाहरति तज्जनितवातम्त्र-पुरीपाण्यस्पानि भवन्ति तेषु पकाशयसंयोगाभावादपानयोगाभावाच अप्रष्टित-भवति । इति तृतीयमश्रस्योत्तरम् ।

नाभिसक्ता नाड़ी नाभिनाड़ी। अयनैरिति मार्गेः। अपरा गर्भस्य नाभिनाड़ीप्रतिवद्धा 'अमरा' इति ख्याता। अभिसंष्ठवते इति प्राप्नोति। एतचापरादिजन्म गर्भाद्यवद्याद भवति। कर्यम्तोः

स्थितकाले जन्मिन प्रस्तिमारुतयोगात् परिवृत्त्या अवाक्छिराः निष्कामत्यपत्यपथेन । एषा प्रकृतिः, विकृतिः पुनरतोऽत्यथा । परन्तत एव स्वतन्त्रवृत्तिर्भवति ॥ १५ ॥

तस्याहारोपचारौ जातिस्त्र्त्रीयोपदिष्टाविकारकरौ चाभि-वृद्धिकरौ भवतः। ताभ्यामेव विषमाभ्यां जातः सद्य उप-हन्यते तरुरिवाचिरव्यपरोपितो वातातपाभ्यामप्रतिष्ठितमूलः।

अथ कथम्भूतश्च निष्कामतीति प्रश्नस्योत्तरमाह—स चोपस्थितकाल इत्यादि। स च परिपूर्णसर्व्वाङ्गर्म उपस्थितकाले जन्मनि जन्मकालोप-स्थितो प्रसृतिमारुतयोगात् प्रमृयते येन वायुना तद्दायुयोगात् परिष्टत्त्या मातुः पृष्टाभिष्ठुख ऊर्ज्व शिराः शिरःपरिवर्त्तनेनाधःशिरा भूताऽपत्यपथेन योनिपथेन निष्कामित निर्मच्छित। स्रश्नुतेऽप्युक्तम्—श्रह्वनाभ्याकृतियोनिस्त्रावर्त्ता सम्प्रकीत्तिता। तस्यास्त्रतीये तावत्तं गर्भशय्या प्रतिष्ठिता॥ यथा रोहित-मत्त्यस्य मुखं भवति रूपतः। तत्संस्थानां तथारूपां गर्भश्च्यां विदुर्चु धाः॥ आभ्रयोऽभिमुखः शेते गर्भौ गर्भाशये स्त्रियाः। स योनिं शिरसा याति स्वभावात् पसवं प्रति॥ इति। एपा प्रकृतिः प्रसवस्य। अतोऽन्यथा मृद्गर्भोक्त-प्रकारेण प्रसवो विकृतिः। इत्येवं प्राग् जन्मनः परतन्नष्टितः। परन्तु अतो जन्मनः परन्तु स्वतन्त्रष्टित्तभवत्याहारिवहारादिषु, स्वेन निजेन तन्नः स्वतन्नः स्वाधीनः। इति चतुर्थप्रश्लोत्तरम्॥ १५॥

गङ्गाधरः—कैश्रायमाहाराचारैर्जातोऽन्याधिवेर्द्धते, कः सद्यो हन्यत इति पश्चमप्रश्नस्योत्तरमाह—तस्येत्यादि । तस्य गर्भस्य जातस्य जातिस्त्रत्रीयोपदिष्टाः वित्यतः परं वक्ष्यमाणाध्यायोक्तौ आहारोपचारौ अविकारकरौ अभिष्टद्धिकरौ च भवतः । ताभ्यामाहारोपचाराभ्यामेव विपमाभ्यां सेविताभ्यां जातः पुत्रः सद्य उपहन्यते । तत्र दृष्टान्तमाह—तरुरिवेत्यादि । यथा तरुरिचरव्यपनिष्कामतीत्यस्योत्तरम्—स चोपस्थितकाळ इत्यादि । उपस्थितकाळ इति प्रत्यासन्नकाळे । विकृतिरतोऽन्यथेति निर्गत्य चरणेनापि निर्गमां भवतीति दर्शयित । स्वतन्त्रवृत्तिर्भवतीति स्वयंकृतेन स्तन्यपानादिना वर्त्तते, न गर्भस्य इव मातुरेवाहारेण परं वर्तत इत्यर्थः ॥ १५॥

चक्रपाणिः—'केश्रायम्' इत्यादिप्रश्नस्योत्तरम्—तस्येत्यादि । 'जातिस्त्रीयोपदिष्टो' इत्यना-गतावेक्षणेनानागते भृतवत्प्रयोगाट बोद्धस्यम् । स्वपारोपितस्तदात्वारोपितः । किञ्चास्येत्यादि- ज्ञातोपदेशाद्य तरूपदर्शनात् समुत्थानिलङ्गचिकित्सितिवशे-पाङ् ६ दोपप्रकोपानुरूपाश्च देवादिप्रकोपनिमित्ताश्च विकाराः प्रसुपलभ्यन्ते ॥ १६॥

कालाकाल शृत्योस्तु भावाभावयोरिदमध्यवसितं नः। यः कथिन्त्रियते लब्बः काल एव स मियते। न हि कालिच्छद्र-

रोपितः शीब्रमुत्पाद्य प्रानिरोपितो विषयाभ्यां वातातपाभ्यायपतिष्ठितमूलो-ऽस्पिर्मूलः सद्य उपहन्यने नष्टत् । इनि पश्चमप्रश्नस्योत्तरम् । अथ किश्चास्य देवादिषकोपनिमित्ता विकाराः समुपलभ्यन्ते, इति पष्टप्रश्नस्योत्तरमाह— आप्तोपदेशादित्यादि । अन्य जातस्य शिशोदवादिषकोपनिमित्ताः स्कन्दादि-गृहावेशनियित्ता विकारा दोपपकोपानुरूपा आप्तोपदेशात् समुपलभ्यन्तेऽद्भुत-(रूप)-दर्शनादाश्चर्य-(रूप)-दर्शनाच समुपलभ्यन्ते । समुत्थानविशेषाचिदान-विशेषालिङ्गविशेषाचिकित्सितविशेषाच समुपलभ्यन्ते । इति पष्टप्रश्नोत्त-रस् ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—अथ कालमृतग्रोर्भावाभावयोः किमध्यवस्यति, अकालमृत्यो-भवि किमध्यवस्यति, अकालमृत्योरभावे च किमध्यवस्यतीति प्रश्लोत्तरमाह— कालाकालेत्यादि । इदमित्यत उत्तरं वक्ष्यमाणम् । अध्यवसितं निश्चयेन नोऽसाकं व्यवसितम् । तत् किमित्यत आह—य इत्यादि । यः कश्चित् च्रियते

प्रथ्यस्योत्तरम्—आसोपदेशादित्यादि । आसोपदेश इति कुमारतन्त्रोपदेशो बहादिप्रणीतः ।
तत्र हि कुमाराणां देवादिनिमित्तविकाराः प्रतिपाद्यन्ते । देवादिप्रहणेन च तद्युचरा
अपि गृद्यन्ते । रफन्दप्रहादयः सुश्रुतोक्ता देवादयश्चाष्टो । यदक्तम्—'देवास्तथा शहुगणाश्च
तेपां गम्धर्व्यक्षाः पितरो भुजङ्गाः । तथ्य रक्षांसि पिशाचजातिरेपोऽष्टको देवगणो प्रहाः
स्युः ॥' इति । अनुमानमप्यत्राह—अद्भुतेत्यादि । अद्भुतमाश्चर्यमिति यावत्, अद्भुतव्यदर्शनादिना यद् भवति, तत्वामानुपयलक्षोभादि श्रेयम् । एतदि दोपाजन्यत्वाद् देवादिकारणं गमयित । समुत्थानादिविशेष आगन्त्नामागन्तुविकारेषु रफुट एव । अदोपप्रकोषानुरूषा
इति दोषप्रकोषजन्यरोगविधरमीणः ॥ १६ ॥

चक्रपाणिः—कालाकाकेत्यादौ 'इदमध्यवसितम्' इत्यनेन, प्रकरणव्यवस्थापनीयत्वम्, 'तस्माद् इसरामस्ति काले मृत्युरकाले च' इति अन्थे वक्ष्यमाणं प्रत्यवसृपति । एकीयमतमाह्—यः

म अदोषप्रदोपानुरूपा इति वा पाठः।

मस्तीत्येके भाषन्ते । तच्च असम्यक् । न ह्यच्छिद्रता सच्छिद्रता वा कालस्योपपद्यते कालखलच्रग्रभावात् ॥ १७॥

तथाहुरपरे—अकालमृत्युनीस्ति, यो यदा म्रियते स तस्य नियतो स सर्न्यः काल एव म्रियते। नम्रु योऽयं कश्चिद्वालये म्रियतेऽपरो यौवने, सोऽपि सर्न्यः किं काल एव म्रियते कस्मादित्यतो हेतुमाह—न हीत्यादि। हि यस्मात् कालच्छिद्रं नास्ति। कालो हि महानसङ्ग्रो नित्यगश्चकवद् भ्रमित न कालच्यितरेकेण कश्चिद्दित यस्त्रकालोऽभिधीयते। इत्यतोऽकालाभावाद् योऽयं वर्तते स यदा मरिण्यति सोऽप्यस्मिन्नेव काले सर्न्यः काल एव म्रियते। इति कालमृत्युरेवास्ति न लकालमृत्युरस्तीत्येके भापन्ते एके मुनयो वदन्ति। मतमेतद् दृपयति—तच्चेत्यादि। नम्रु कस्मात् तदसम्यगित्यत आह—न हीत्यादि। हि यस्मात् कालस्याछिद्रता सिच्छद्रता वा कालस्याविच्छेदेन चक्रवद्भ्रमणस्वभावस्य लक्षणभावान्नोपपद्यते। चक्रवद्भ्रमणेन नित्यगत्वस्य लक्षणत्वेन सच्छिद्रता नोपपद्यते। शीतोप्णवर्षादिस्वलक्षणत्वेन पद् ऋतुमासपक्ष-दिनरात्रिमहरादिस्वलक्षणत्वेनाच्छिद्रता च नोपपद्यते ऋतुमासादिलक्षणत्वेनाच्छिद्रता नोपपद्यते इति भावस्तस्मात् तदसम्यक्॥ १७॥

गृहाधरः—तथाहुरित्यादिना परेपां मतमाह—तथा अकालमृत्युनिस्तीति आहुरपरेऽन्ये मुनयः। परन्तु यो यदा म्रियते स तस्य नियतो मृत्युकाल इति कालमृत्युरेव हि भूतानामस्तीति। नम्नु यो यदा म्रियते स तस्य नियतो मृत्योः कालः, स च यद्यरिष्टाधिकारोक्तलक्षणैज्यौतिपादिना च विक्रयः तिष्टितेन विकाय कालपरिमाणं प्रागिप ततः कालाद् युद्धादावसीप्रश्र्लादि-पहरणादिना इतस्याकालमृत्युद्द इयते इति चेन्न। तथा मृत्युचिहमपि हि तस्य वर्तत एवेति। अरिष्टादि जाला तस्य नियत एवेति। (परे लित्यादि।)

कश्चिदित्यादि। न हि काले छिद्रमस्तीति कालविहितः कश्चिद्वकाशोऽस्तीति यं कालशून्यमवकाशम् आसाधाकाले मृत्युः स्वादिति भावः। एतद् दूपयित तच्चेत्यादिना। सान्तरं यदवयविद्वव्यम्, तम् सिन्छद्रमित्युच्यते। यच निरन्तरम्, तदिन्छद्रम्। तेन कालस्य निरवयवस्य सिन्छद्रसा-ऽिन्छद्रता वा न सम्भवति, तेन यद्वच्यते—"कालस्याच्छिद्रत्वानाकाले मृत्युरित्त" इति तद्युक्तमिति भावः। यत् त्वकालमृत्युज्यापकत्वेन कालस्योपचरिवच्छिद्रत्वम्, तद्वत्तरद्वमाणैकजातीयमतवूपणेनेव दूपितम्। कालस्वलक्षणस्वभावादिति कालस्वलक्षणे सिन्छद्रताया अच्छिद्रतायाश्च
अभावादित्यर्थः। प्कीयमतान्तरमाह— तथाहुरित्यादि। यो यदा न्रियते, स पव तस्य नियतो

युक्कालः, स सर्व्यभृतानां सत्यः समिक्रयःवादिति । तद्पि चान्यथार्थयह्याम् । न हि कश्चित्र झियते इति समिक्रयः। कालः पुननायुषः प्रमासनिष्कत्योच्यते । यस्य चेष्टं यो यदा म्रियते तस्य स नियतो कृष्टुकाल इति । तस्य सर्व्यं भावा यथास्वं नियतकाला

कारः किञ्चित्रपृतरपृता न मारयत्यतुग्रहात्, किञ्चिच भूतमधूना मार्यति नियहादिति विपर्माक्रयो न भवति परन्तु समक्रियसात् सर्व्यभूतानां सल्छ। सर्वभूतानां शक्तनकम्मीचनुरूपेणायुपः क्षये करिमंथित् काले कस्यचित्मरणं कस्यचिदायुपः शेपे सति कस्मिश्चित् काले जीवनं न किमपि भूतम् । कालो गारयति न, वा जीवयति । परनतु भाक्तन-कम्मोद्विज्ञादायुपः कालपरिसंख्यापूरणकालतो मियःते भूतानीति। कालः सर्वभूतानां समिक्रयसात् सत्यः मकृतार्थकारीति ; तस्मादकालमृत्युर्नास्त्यस्ति च कालमृत्युरेवेति पर आहुः। मतञ्चैतर् दृषयति— तद्दि चेत्यादि। अन्यथार्धश्रहणमसम्यग् शानम्। नतु वस्मादन्यथार्थश्रहण तिद्तयतो हेतुमाह-न हीत्यादि। हि यस्मात् किथन मियते, कालः किश्चित्र्तं न नारयति हे पात् किञ्चिद्धतं न जीवयत्य तुग्रहादिति समक्रियः कालो नोच्यते पुनः काल आयुपः प्रमाणं परिमाणमधिकृत्योच्यते। मरण-जीवनहेतुतया कालो चदुप्रच्यते तर्हि सब्वैषां सर्विदा मरणापत्तिन हि मारकः कथित कालो नियतो दृश्यते सर्व्यदा हि म्रियते सन्वदा च जीवतीत्यतथ कालो न मरणमधिकृत्योच्यते परन्तायुषः परिमाणमधिकृत्योच्यते। परिमाणे परिपूर्णकाले मरणकारणान्स्रियते इत्यतो न समक्रियत्वं हेतुरिति समक्रिय-वादिमतदूपणस्। अथ यस्य चेत्यादिना यो यदा म्रियते स तस्य नियतो मृरयुकाल इति मर्तं दृपयति। तस्येति तस्य वादिनो मते सद्वै भावा

मृत्युकालः, हित कथं ज्ञायते इत्याह—कालः सर्व्वमृतानां सत्यः समिक्रयत्वादिति, यसात् कालः सर्व्वमृतानासांविधेपेण मारकतया समिक्रियः, न रागात् किञ्चिद् मृतं मारयति, न हे पाट् वा किञ्चित् तु, किन्तु सर्व्वाण्येव हित । तेन सर्व्वभृतानासयं सत्यो रागहे पशुस्य इत्यर्थः । तत्रश्च रागहे पशुस्यत्वा जिचत एव परं मारयित, नानुचित इति भावः । वृपयित एतद्पीत्यादिना । न हि कश्चिन्न श्चित इति कृत्वा समिक्रयः कालो भवत्येव, न तु द्रातवर्पलक्षणमायुःश्रमाणमधिकृत्य भवता समिक्रयः कालोऽभिधीयते, यदि हि द्रातवर्पायुःश्रमाणेऽपि समिक्रयः सात्, तेन द्रातवर्पायुः वा पृथ्वं न किचिन्त्रियरेन्, इत्यते हैतत् । तसादेवं मत्तसमित्रयःवेन कालस्य द्रातवर्षायः

भविष्यन्ति, तच नोपपचते । प्रत्यचं ह्यकालाहारवचनकम्मीणां फलमनिष्टं विष्य्यये चेष्टम् । प्रत्यचतश्चोपलभ्यते खलु कालाकालयुक्तिस्तासु तास्ववस्थासु तं तमर्थमभिसमीन्त्य । तद्व यथा—कालोऽयमस्य तु व्याधेराहारस्यौषधस्य प्रतिकर्म्मणों विसर्गस्य चाकालो वा। लोकेऽ येतद्ववति—काले देवो वर्षत्यकाले वर्षति, काले शीतमकाले शीतं, काले तपत्यकाले तपति, काले पुष्पफलमकाले च पुष्पफलमिति। तस्मादुभयमस्ति काले

मृत्युपन्तो नामरास्तत्र केचित्रियतमरणकालाः केचिद्र नियतमरणकालास्तत्र नियतकालाः सन्य भिद्ध्यन्ति । इप्रापत्तौ लाह — तन्चेत्यादि । क्रतो-नोपप्यते इत्यतो हेतुमाह — प्रत्यक्षित्यादि । अत्रायं भावः । यो यदा सुङ्क्ते स तस्य नियतो भोजनकाल इति चेत् ति क्षयं यः कश्चिदंकदिनं मध्याक सुङ्क्तेऽपरदिनं पातरपरेदुः सायिमत्यतस्तस्याकालभोजनफलं किंन स्यात् १ एवं यो यदा यद्वक्ति स तस्य वचनस्य नियतः काल एवश्च यो यदा यत् कम्म करोति स तस्य नियतस्तत्कमम्बकाल इत्यादौ व्याख्येयम् । विपय्येये मध्याद्वादिपतिनियतकाले भोजनादौ च फलमिष्टम् । हि यस्मात् प्रत्यक्षं तस्मात् यो यदा स्त्रियते स तस्य न नियतो मृत्युकाल इति । प्रत्यक्षतः प्रमाणान्तरं दर्शयति कालाकालयोः— प्रत्यक्षतक्षेत्रचेत्यादि । भावानां कालाकालयोर् स्तिल-नास्तिल-विपया युक्तिश्च प्रत्यक्षत उपलभ्यते किं दृष्टे त्यत आह—तास्र तास्व-त्यादि । तास्र तास्र वश्च्यमाणास्र व्याध्यादिसन्द्रावासन्द्रावास्वस्थास्र तं तं व्याध्यादिमर्थमभिसमीक्ष्य सर्वतेतोभावेन सम्यग् दृष्टा । जदाहरणमाह—तद्व यंथेत्यादि । प्रतिकम्मणश्चिकित्सायाः । विसर्गस्य व्याधिमुक्तेः । लोकतोऽपि

प्राप्तरवीङ् मरणम् 'काळमृत्यु'शब्दाभिधेयमिहायुव्वेदे, तिल्वरस्तं भवतीति भावः । अकाळमृत्युप्रतिषेधे दृपणमाह—तस्येत्यादि । सन्वंभावा इति मृत्युव्यतिरिक्ता अप्याहारवचनादयः । प्रत्यक्षमिति सुन्यकं प्रमाणेनेत्यर्थः, कालाकालव्यक्तिः तास्ता तास्ति तास्ता अवस्थास्तं तं व्याध्याहारादिकमर्थं बुद्धिस्थीकृत्य 'कालाकाल'शब्देनोच्यन्त इत्यर्थः । अत्र तृतीयदिनयुक्तायां तृतीयकव्वरं प्रति कालोऽयमस्येति व्यपदिश्यते, विपर्यये चाकाल इति व्यपदेशः, तथा ग्लान्यादिमुक्तायां
कारीरावस्थायामाहारस्वमर्थमुद्दिश्य कालोऽयमाहारस्येति ज्ञानं भवति, विपर्यये चाकालमित्युदाहरणमुन्नेयम् । विसर्गस्येति व्याधिमोक्षस्य । इह प्रकरणे 'काल'शब्देनोचितः कालोऽसि-

क्लरकाले च। नैकान्तिकसत्र। यदि ह्यकाले मृत्युर्न स्याक्षियतकालप्रनारामायुः सर्वं स्यात् ॥ १८॥

एवं गते हि हिताहितज्ञानसकारगं स्यात्, प्रत्यनानुमानोप-हेशाश्चात्रसासाः ह्यः, ये त्रमासाभूताः सर्व्यतन्त्रेषु येरायुष्यासय-नाष्ट्रप्याणि चोपलम्यन्ते । वाय्वस्तुसात्रसेतद्वादसृषयो सन्यन्ते नाकाले मृत्युरस्तीति । वर्पश्तं खल्वायुषः प्रमाणमस्मिन् काले । तस्य निमित्तं प्रकृतिग्रसात्मसम्पत् सात्मग्रेपसेवनञ्चेति ॥ १६॥ कालाकालयोर धान्तमाइ—लोके अपीत्यादि। नैकान्तिक मत्रेति अत्र सृत्यौ कालाकालयोर्नेकान्तिकसमिति । युत्तयन्तरमाहानैकान्तिकत्वे—यदि हीत्यादि । हि यत्सात अकाले यदि मृत्युर्न स्यात् तर्हि सर्व्यमायुर्नियतकालममाणं स्यात् न हि कश्चित दीर्घाष्टुः कश्चिद्रच्पायुर्वो स्यात् ॥ १८॥

गङ्गाधरः — यदि च सन्दमायुर्नियतकालप्रमाणं स्वीक्रुम्मेः का च तेन हानिरित्यत आह—एविमत्यादि। हि चल्यादेवं सर्व्यमायुर्नियतकालप्रमाणिमिति गतेऽभ्युपगते हिताहितज्ञानमकारणं स्यात्। हितसेवनेन चिरायुरहिता-चरणेनाल्पायुरिति प्रयोजनाभावाद्। नतु दीर्घायुरल्पायुश्च स्वभावतो न हिताहिताभ्यामिति चेन । इत इत्यत आह—प्रत्यक्षेत्यादि । ये प्रत्यक्षादितः प्रमाणभूता यैः सर्वितन्त्रेषु आयुष्याणि अनायुष्याणि चोपलभ्यन्ते च तेऽप्रमाणाः स्युः। आप्तोपदेशतः सर्व्यतन्त्रेषु यानि निषेच्य दीर्घायुर्भवन् दृश्यते, स्वल्पायुभेवन्नपराणि निपेच्य दृश्यतेऽनुभीयते च तथादर्शनात्। यथा ब्रह्मचर्यं हितमहितमतिमैथुनादिकम्। अत एवोभयमस्ति काले मृत्युररुन्ले च नैकान्तिकमन। तस्मात् नाकाले मृत्युरस्तीत्येतद्वादम्षीणां वाग्वस्तुमात्रं धीयते, 'अकाल'शब्देनानुचितः कालः, न तु कालविग्रहः। सिद्धान्तसुपसंहरति—तसादित्यादि। नैकान्तिकमिति कालस्ट्युरेव परं भवति, किंवा अकालमृत्युरेव परं भवतीत्यैकान्तिकपक्षो नाम्नि । क्षकालसृत्योरभावपक्षे दृषणमाह—यदि हीत्यादि । हिताहितज्ञानमकालमृत्युप्रतिपेधार्थे विधीयते । एवं चेदकालमृत्युनीस्ति, नदा हिताहितज्ञानं निष्प्रयोजनं स्यात् । प्रत्यक्षानुमानोपदेशा अप्रमाणानि स्दुरिति, आयुर्वेदसम्बन्धाः प्रत्यक्षादयः आयुर्वेदार्थदर्शकाः आयुष्यानायुष्यार्थभावादप्रमाणसूताः स्युरिति भावः । दृषितपक्षं निःसारतया दर्शयन्नाह— वागित्यादि । ''किञ्चास्य परमायुः'' इत्यस्य प्रश्नस्योत्तरमाह—वर्पशतिमति । अस्मिन् काले कलौ । शेपप्रश्नस्योत्तरम्—तस्येत्यादि । प्रकृति-

तत्र श्लोकाः।

शरोरं यद्धं यथा तच्च वर्त्तते क्लिप्टमामयेः। यथा क्लेशं विनाशं वा याति ये चास्य धातवः॥ वृद्धिह्मसौ तथा चैषां चीणानामौषधश्च यत्। देहवृद्धिकरा भावा वलवृद्धिकराश्च ये॥

न वस्तुतः। इति सप्तमभक्षोत्तरम्। अथ किञ्चास्य परमायुः परिमाणत छत्कृष्टमायुरिति स तत्मश्रोत्तरमाह—वर्षशतं खल्वायुपः प्रमाणमिति। नियत-कालप्रमाणमायुरिनयतकालप्रमाणञ्चेति तत्र नियतकालप्रमाणस्यायुपः सन्व-मृत्कृष्टं प्रमाणमिस्मन् काले वर्षशतमिति। अस्य विस्तार इन्द्रियोपक्रमणीये श्लोकस्थाने व्याख्यातः। अस्मिन् काले इति कल्चियुग इति कञ्चित् तेन "शतायुर्वे पुरुष" इति श्रुतेः "शतायुपः पुत्रपौत्रान् दृणीप्व" इति कञ्चोपनिपदि च "जिजीविषे शतं समा" इति ईशोपनिपदि च दर्शनात्। एवञ्च समाः शतमन्याधिरायुपा न वियुज्यते इति स्ववचनदर्शनाच। न हि सन्वे वहुत्वख्यापनार्थमेकमेव शन्दं प्रयुद्धते। तस्मादस्मिन् कल्पे इति कल्परूपकालार्थे कालशन्दप्रयोगः। हिताहित-सेवनात् तस्य वृद्धिहासौ भवत इति इत्यष्टमपश्चोत्तरम्। अथ कानि चास्य परमायुषो निमित्तानीत्यस्य नवमपश्चस्योत्तरमाह—तस्येत्यादि। प्रकृतिगुण-सम्पत् प्रकृतीनां मातुः शोणितं, पितुः शुक्रमात्मा च, सात्म्यश्च, रसञ्चेति, मातुराहारः सत्त्वञ्चेत्येतासां प्रकृतीनां गुणानां सम्पत्। आत्मसम्पदिति तत् पुरुपस्य। सात्म्योपसेवनञ्चेति। इति नवमपश्चोत्तरम् ॥ १९॥

गङ्गाधरः—अथाध्यायार्थोपसंहारायाह—तत्र श्लोका इत्यादि। शरीर-विचय इत्यादिना सविचयपयोजनं शारीरं यत्। समयोगवाहिन इत्यादिना तच्छरीरं यथा वर्त्तते यथामयैः क्लिप्टं भवति यथा चामयैः संक्रेणं विनाणं वा याति। वैषम्यगमनं हीत्यादिना अस्य ये धातवो दृद्धिहासौ यान्ति।

गुणात्मसम्पदिति प्रकृतिसम्पत्, गुणसम्पत्, आत्मसम्पत् । तत्र प्रकृतिसम्पत् समवातादिप्रकृतिता-समप्रकृतिर्हि चिरायुर्भविति, गुणसम्पत् तु सारसंहननादिभिरायुप्यलक्षणेयोगः किंवा या प्रकृतेमीतृ-पित्राद्वपकरणस्य गुणसम्पत्, सा प्रकृतिगुणसम्पत् । आत्मनस्तु चिरायुष्ट्वकारणधर्मयुक्तता सम्पत् ॥ १७—१९ ॥

चक्रपाणि:- संग्रहे 'ये चास्य धातवः', इत्यनेन 'मांसं मांसेन वर्स्से' इत्यादी धातुरूपेणीक

परिगानकरा भारा या च तेषां पृथक् क्रिया। सलाक्याः संक्रतादाग्या धातवः प्रश्न एव च॥ सक्को निर्मायश्चारय विधिवत् सम्प्रकाशितः। तथ्यः शरीरविच्चे गार्गरे परसर्पिगा॥ २०॥

इत्यक्तिवेश्कृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शारीरस्थाने श्रीर-विचयशारीलं नाम पण्डोऽध्यायः॥ ६॥

तस्यान्मांसमाप्याय्यते मांसेनेत्यादिना एपामस्य धार्ना क्षीणानां यदौपधं दृष्टिक्स्स्। कात् म्न्येनेत्यादिना ये दृष्टिद्धिक्सा भावाः। वलद्रिक्स्सास्तिमे इत्यादिना ये च वलद्रिक्स्सा भावाः। आहारेत्यादिना परिणामकरा ये भावाः। तत्वत्वत्देपानित्यादिना तेषां परिणामकराणामुष्मादीनां या या क्रिया पृथक् भत्येक्स्। ज्रिर्यातदस्त्वेदं द्विष्या तु इत्यादिना मलाख्या धातवः। इत्यादिना मलाख्या धातवः। इत्यादिना मलाख्या धातवः। इत्यादिना मलाख्या धातवः। इत्यादिना मलाख्या धातवः। इत्यादिना प्रसादात्वा धातवः। तमेवगुक्तवन्तिमत्यादिना नवक एव च मक्षः। पुनश्च तमेवगुक्तवन्तिमत्यादिनास्य नवकस्य प्रश्नस्य यथावत् पथार्थेनिणियश्च तथ्यश्च। परमिणा पुनर्विमुना संप्रकाशितः॥ २०॥

अध्यायं समापयति—अमीत्यादि।

इति वैद्यर्शागङ्गाधरकदिरकदिरचिते चरकजन्पकन्पतरौ शारीरस्थानजन्पे चतुर्थस्कन्धे शरीरविचयशारीरजन्पाख्या पष्टी शाखा ॥ ६ ॥

मांसादीनां संब्रहोऽयिमिति वदिति । 'वृद्धिहासी यथा तेपाम्' दृश्यनेन 'धातवः पुनः' दृश्यादि । अग्याये गृह्मिति । 'क्षीणानामीपधं यत्' इति मांसमाण्यायते मांसेन' दृश्यादि संगृह्मिति । 'या च तेपां पृथक् क्रिया' दृश्यनेन तेपामाहारपरिणामकराणामुप्मप्रभृतीनां पृथक्कर्म्मणाम् । । यदुक्तम्—'तद् यथा— उप्मा पचिति' दृश्यादिना, तद् गृह्मते ॥ २०॥

द्ति सहामहोपाध्यागचरकचतुराननश्रीमचक्रपाणिदत्तविरचितायामायुर्धेददीपिकायां चरक-तात्परर्यतीकायां शारीरस्थाने शरीरविष्यश्राशीरं नाम पष्टोऽध्यायः॥ ६॥

सप्तमोऽध्यायः।

अथातः श्रारतंख्यानाम शारीरं व्याख्यास्यामः, इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

श्ररोरसंख्यामवयवशः कृत्सनं शरीरं प्रविभज्य सर्व्वश्ररीर-संख्यानप्रमाण्ज्ञानहेतोर्भगवन्तमात्रेयमग्निवेशः पप्रच्छ ॥ २ ॥

गङ्गाधरः — अथ शरीरविचयः शरीरोपकारार्थिमिष्यते इति यदुक्तं, तत्रोक्ता-ध्यायोक्तशरीरविचयानन्तरं शरीरविचयपरिशेषं व्याकर्त्तुं शरीरसङ्ग्रानाम् शारीरमारभते — अथात इत्यादि । शरीरस्य सङ्ग्रा सङ्ग्राया ज्ञानमनेनेति शरीरसङ्ग्रा, सा विद्यतेऽस्मिनध्याये मत्वर्थीयमत्ययः । पूर्व्वच्छन्दसीति मत्वर्थे च्छन्दः मत्ययमुत्पाद्य तह्योपे मक्रतिभावश्च विधाय शरीरसङ्ग्राति निष्पाद्यते । शरीरसङ्ग्रा नाम यस्य तत् तथा । सर्व्व पूर्व्वत् ॥ १॥

गङ्गाधरः—शरीरेत्यादि। अग्निवेशो भगवन्तमात्रेयं सर्वेशरीराणां सङ्गानस्य सङ्गाया ज्ञानस्य प्रमाणं साधनं तस्य ज्ञानहेतोः शरीरमवयवशः प्रविभज्य स्थारीरसङ्घां पप्रच्छेति योजना ॥ २॥

चक्रपाणिः—पूर्व्याध्याये धातुभेदेन दारीरमिभधाय एनदेव दारीरमवयवसंख्याभेदेन प्रति-पादियतुं दारीरसंख्या उच्यन्ते, अवयवसंख्यानप्रमाणभेदेन च दारीरज्ञानं प्राधान्येन साक्षात् साधनं चिकित्सोपयुक्तं करिष्यतीति अध्यायान्ते 'द्यार्रसंख्यां यो वेद' इत्यादि । अवयवदाः द्यारि विभज्य द्यारिरसंख्यां पत्रच्छेति योजना । प्रच्छाप्रयोजनमाह—सर्व्वदारीरसंख्यानप्रमाण-ज्ञानहेतोरिति । संख्यानस्य प्रमाणियत्ता संख्यानप्रमाणम्, तच्च 'पद् द्वाद्य' इत्यादिप्रन्थ-वाच्यम् । किंवा संख्यानद्य प्रमाणद्य संख्यानप्रमाणम् । अत्र 'पट् त्वचः' इत्यादि संख्यानम्, 'दशोदकाञ्जलयः' इत्यादि द्यारीरावयवप्रमाणम् । किंवा संख्यानाप्रमाणज्ञानहेतोरिति पाठः । तत्र संख्यानप्रमाणस्य दत्तमेवोदाहरणम्, नामज्ञानन्तु 'एकजिह्निका' इत्यादिप्रन्थे भवतीति च्याख्यानयन्ति ॥ ११२ ॥ तसुवाच भगवानात्रेयः । शृगु मत्तोऽसिवेश ! श्रीरं सर्वन् तसिलंचकाण्ह्य यथाप्रश्नमेकमनाः । यथावत् श्रीरे पट् त्वचः ; तह्यथा—उद्कथ्ग त्वग् वाद्या, द्वितीया त्वस्ग्धरा, तृतीया तिस्तिकतान्यसमाधिण्टाना च, चतुर्थी कुण्ठसम्भवाधिण्टाना,

<u>गङ्गाधरः — तप्तृवाचेन्यादि । अभिसंचक्षाणस्य व्याख्यानं क्रव्यंतो मम ।</u> यथायदित्यादि। पर् सचरता दिष्टणोति—तर् यथेत्यादि। नतु सुश्रुतेन गर्भव्याक्तरणज्ञानीरे तृक्तम् – अग्निः सोमो वायुः सत्त्वं रजस्तमः पञ्चेन्द्रियाणि श्तात्मेति माणाः। तस्य खल्वेयं मद्यत्तस्य शुक्रशोणितस्याभिपच्यमानस्य क्षीरस्येव सन्तानिकाः सत् तचो भवन्ति। तासां प्रथमाऽवभासिनी नाम, या सर्व्वनणीनद्वसासयित पञ्चनियाञ्च च्छायां प्रकाशयित। सा बीदेर्णाद्शभाग-मगाणा तिध्यपत्रकण्डकाथिष्टाकेति । तन्त्रे तस्यिन्तियं वाह्या तगुद्कथरेति नाष्टाभिहिता। दिनीया वस्त्यूपरेति। सुध्रतेनापि तर्त्रेयोक्तं दितीया लोहिता नान बीहेः पोङ्ग्रमागमगाणा तिल्कालकत्यन्छन्यङ्गियष्टानेति। सिध्यकिलासस्भवाधिष्ठाना चेति। अत्र सुअ्तः मोवाच तृतीया व्वेता नाग बीहेर्द्वाभागमगाणा चर्मदलाजगरबीमशकाथिष्टाना। चतुर्था नामा नाम बीहेरप्रमानप्रमाणा विविधक्तिलासङ्गष्टाधिष्ठानेनि हे तुने प्रोवान। तन्ने अस्मिन् ते हो त्वेक्तरवेन स्वीकृत्य तृतीया लगुक्ता, तेनास्मिन्तन्त्रे या चतुर्थी सा छुश्रुते पञ्चमी, अस्मिन पञ्चमी या सुश्रुते सा पष्टी, अस्मिन, पष्टी सुश्रुते सप्तमीति न विरोधः। तथा च तृतीया या सा तृपरिदंशे व्वेता, तत्र सिध्मचम्म-दलाजगरवीमग्रकाधिष्ठानस् । अधस्तात् त् ताम्रा किलासाख्यकुष्ठाधिष्ठाना एतयोः माधान्यात् सम्भवस्य कारणस्य दोपादंरिधष्ठानभूता इत्यर्थः। चतुर्थाति।

चक्रपाणिः—भाचक्षाणस्येत्यत्र 'मतम्' इति शेषः । तेन सन्यं शरीरमाचक्षाणस्य मे मत्तः शृण्विति योजना । सतश्च 'नटस्य शृणोति' इतिवद्नुपयोगे पष्टी शृण्वित्यनेन । सतान्तरमध्यस्ति शरीरावयवसंख्यान इति सूचयित । ततश्च सुश्चते—''सप्त त्वच्छीण्यस्थनां शतानि'' इत्यादिना यद्वि प्रतिपादितं संख्याविरुद्ध सुच्यते, तच्छल्यशास्त्रोण्युक्तमतभेदादिति दर्शयित । यदक्तम् सुश्चते—''त्रीणि सपष्टानि शतान्यस्थनां वेदिवदो भापन्ते । शल्यतन्त्रे तु त्रीण्येव शतानि'', अनेन वचनेन योऽन्योऽपि त्वगादिसंख्याभेदश्चरससुश्रुतयोः स्वतन्त्रोपशुक्तसंख्योपादानाचोन्नेयः । सिध्मिकलास-

पश्चमी श्रलजीविद्रधीसम्भवाधिष्ठाना। पष्ठी तु सा यस्यां छिद्रायां ताम्यलम्ब इव च तमः प्रविशति, याश्वाष्यधिष्ठायारूं षि जायन्ते पर्व्वसन्धिषु सुकृष्णरक्तानि स्थूलस्र्लानि दुश्चिकित्स्य-तमानि च। इति पट् त्वचः। एताः पड़ङ्गं शरीरमवतत्य तिष्ठिन्ति॥३॥

कुष्टानां सम्भवस्य दोपस्याधिष्टानं यस्यां सा तथा। सुश्रुते तु पश्चमीयमुक्ता। तर् यथा-पञ्चमी वेदिनी नाम त्रीहिपञ्चमभागममाणा कुष्टविसर्पाधिष्ठाना। इति। पश्चमीत्यलजीविद्रधीति प्राधान्यादुक्तम्। सुश्रुतं हि रोहिणीनास्त्रीयं पष्टी तक्। तद् यथा-पष्टी रोहिणी नाम बीहिममाणा ग्रन्थ्यपच्यच्यु दश्हीपद-गलगण्डाधिष्टानेति। पष्टीत्यादि। यस्यां तिच च्छिन्नायां ताम्यति पुरुषः। कीद्दर्गं ताम्यतीति तद् विष्टणोति—अन्ध इवेत्यादि। तत्र कस्याधिष्ठानिमत्यत आह—याञ्चेत्यादि । अरू पीति । त्रणा या अरू पिका शोधरूपा त्रणाः । जुत्र कीदशानीत्यत आह—पर्वेत्यादि । सुकृष्णरक्तानि स्थूलमूलानि दुश्चिकित्स्यः तमानीत्यक् पीत्यस्य त्रीणि विशेषणानि । इत्येताः पट् लचः पड्कं शरीरमवतत्य व्याप्य तिष्ठन्तीति । उपलक्षणमेतत् तेन तन्त्रान्तरोक्तं शेपमपि वोध्यम् । तव् यथा—सुश्रुते—सप्तमी मांसधरा नाम त्रीहिद्वयप्रमाणा भगन्दरविद्वध्यशौऽधि-ष्टाना । यद्तत प्रमाणं निर्दिष्टं तन्मांसलेष्ववकाशेषु न ललाटे स्क्माङ्ग्ल्यादिषु यतो वक्ष्यत्युद्रेषु त्रीहिमुखेणाङ्गृष्ठोद्रममाणमदगादं विध्येदिनि । कलाः खल्वपि सप्त सम्भवन्ति धालाशयान्तरमर्थादाः। यथा हि सारः काष्टेषु च्छिद्यमानेषु दृश्यते। तथा धातुर्हि मांसेषु च्छिद्य-मानेषु दश्यते। स्त्रायुभिश्च मतिच्छनान् सन्ततांश्च जरायुणा। इरेष्मणा 🔨 वेष्टितांश्चापि कलाभागांस्तु तान् विदुः। आसां प्रथमा मांसधुरा नाम, यस्यां मांस सिरास्त्रायुध्मनीस्रोतसां प्रताना भवन्ति । भवति चात्र । यथा विसमृणालानि विवर्द्धन्ते समन्ततः। भूमौ पङ्कोदकस्थानि तथा मांसे सिरादयः। द्वितीया रक्तधरा नाम। मांसस्याभ्यन्तरतस्तस्यां शोणितं विशेषतश्च सिरास्च यकृत्-सम्भवाधिष्टानेति सिध्मिकलासौ यतो दोपात् सम्भवतः, तस्य दोपस्याधिष्टानमूता । एवमुत्तरत्रापि ब्याख्येयम् । ताम्यतीत्यस्य विवरणम्—'अन्ध इव तमः प्रविशति' इति । किंवा ताम्यतीति तमोयुक्तभावरचेष्टते । अरू पोति व्यानि.। पर्व्वस्विति अवयवसन्धिषु ॥ ३ ॥

तत्रायं श्रीरस्याङ्गविभागः —तद् यथा — हो वाहू हो सक्थिनो शिरोयीवसन्तराधिरिति पड़ङ्गमङ्गम् ॥ ४ ॥

श्रीहोश्च भवति । भवति चात्र । द्वक्षाद् यथाभिप्रहतात् क्षीरिणः क्षीरमावहेत् । मांसादेवं क्षतात क्षिपं शोणितं सम्प्रसिच्यते। तृतीया मेदोधरा नाम, मेदो हि सन्वेभूतानामुद्रस्थमण्वस्थिषु, महत्मु च मज्जा भवति । भवति चात्र । स्थूला-क्षिषु विशेषेण मङ्जा सभ्यन्तराश्रितः। अथेतरेषु सर्व्वेषु सरक्तं मेद उच्यते। शुद्धमांसस्य यः स्नेहः सा वसा परिकीत्तिता। चतुर्थी इछेष्मथरा नाम सर्व्यसिन्धपु प्राणभृतां भवति । भवति चात्र । स्नेहाभ्यक्ते यथा लक्षे चक्रं साधु मदत्तेते। सन्धयः साधु वर्त्तन्ते संक्षिष्टाः इलेप्पणा तथा। पश्चमी पुरीपधरा नाम. याऽन्तःकोप्टे मलमभिविभजते पकाशयस्था। भवति चात्र। यकृत् समन्तात् कोष्टश्च तथात्राणि समाश्रिता। उण्डुकस्थं विभजते मळं मलधरा कला। पष्टी पित्तधरा नाम, या चतुर्व्विधमन्नपानमुपयुक्तम् आमाशयात् प्रच्युतं पकाशयोपरिस्थितं धारयति । भवति चात्र । अशितं खादिनं पीतं लीढ़ं कोप्टगतं चृणाम्। तज्जीर्ट्याति यथाकालं शोपितं पित्ततेजसा। सप्तमी शुक्रधरा नाम, या सन्वेपाणिनां सन्वेशरीरन्यापिनी। भवन्ति चात्र। यथा पयसि सर्पिस्तु यथा चेक्षरसे गुड़ः। शरीरेषु तथा शुक्रं नृणां विद्याद् भिपग्वरः। द्वरङ्गुले दक्षिणे पादर्वे वस्तिद्वारस्य चाप्यधः। मूत्रस्रोतःपथाच्छ्कं पुरुपस्य प्रवर्तते। कृत्सनदेहाश्रितं शुक्रं प्रसन्नमनसस्तथा। व्यायच्छतश्चापि हर्पात् तत् सम्पवत्तंते ॥" इति ॥ ३ ॥

गृङ्गाधरः—अथ किं पड़क्नं शरीरमित्यत आह—तत्रायमित्यादि । द्वौ वाह् इति द्वे अङ्गे । द्वे सक्थिनी इति द्वे अङ्गे । शिरोग्रीवमित्येकमङ्गम् । शिरश्च ग्रीवा चेति तयोः समाहार इत्येकवद्भावात् । अन्तराधिरित्येकमङ्गम् । अन्तर्मध्यमाद्धातीति च्युत्पत्त्या मध्यदेह इत्यर्थः । इति पड़ङ्गमङ्गं शरीरम् । स्रश्रतेऽप्युक्तम् शरीरसङ्क्याच्याकरणशारीरे—तच पड़ङ्गं शाखाश्चतस्तो मध्यं पश्चमं पष्टं शिर इति । अत्र शिर इति ग्रीवापस्यन्तं शिरःसंग्नम् ॥ ४ ॥

चक्रपाणिः—पढ्कतामुक्तां शारीरस्य विभजते—तत्रायमित्यादि । शिरश्च भीवा च शिरी-भीवम्, एतच्चेक्यं विवक्षया शेषम् ; अन्तराधिर्मध्यम् ॥ ४॥ त्रीणि पष्टप्रधिकानि शतान्यस्थनां सह दन्तोलूखलनखेः ; तद्ध यथा—द्वात्रिंशद्ध दन्तोलूखलानि, द्वात्रिंशदन्ताः, विंशतिनेखाः, विंशतिः पाणिपादशलाकाः । षष्टिरङ्गल्यस्थीनि । द्वे पाष्णयोद्धे कूर्चीधश्चत्वारः पाण्योमीणकाः, चत्वारः पादयो-र्गुल्फाः । चत्वार्थ्यरत्त्रोरस्थीनि चत्वारि जङ्घ्योः द्वे जानुनोद्धे

गङ्गाधरः—त्रीणीत्यादि । दन्तनःखैः सहास्थनां पष्ट्यधिकानि त्रीणि शतानि चृणामिति। नतु शल्यतन्त्रे त्रीणि शतान्यस्थनामित्युक्तं कथमिह पष्टप्रधिकानीत्यत आह—सहेत्यादि। ज्ञल्यतन्त्रे सुश्रुतेऽष्युक्तम्। त्रीणि सपष्टान्यस्थिज्ञतानि वेदवादिनो भाषन्ते, श्रुट्यतन्त्रेषु त्रीण्येव शतानि। इति । श्रुट्यतन्त्रेषु येपापस्थनां विशेषेण शस्त्रकिया चिकित्सिते नास्ति तानि पष्टास्थीनि नोपदिश्यन्ते, न तु सन्तीति कुला नोपदिइयन्ते। तानि च पष्टिरस्थ्नामेपा—इन्तोळ्खलेन जत्रस्थीनि पष्टिस्तैः सह त्रीणि शतानि भवन्त्यस्थनामिति। तानि विष्टणोति-द्वात्रिंगदित्यादि । दन्तानां द्वात्रिंगत् एकैकस्यैकैकपुळ्खलाकृतिस्थितिस्थान-मिति। द्वात्रिंशदेव दन्तोळ्खळानि शल्यतन्त्रे नोक्तानि। दन्तास्तूक्तास्तद्ग्रहणैर्न तान्यपि गृह्यन्ते । विंशतिर्नेखा इति शल्यतन्त्रे नोक्तम् । विंशतिः पाणिपादशलाका इति । द्वयोः पाण्योः पादयोश्च द्वयोस्तलेप चतुर्प स्थानेष्वङ्ग्र लिविंशतेः मूलेषु स्थिताः विंशतिः शलाकाः।पष्टिरङ्ग्र त्यस्थीनि।पाणि-पादचतुष्ट्ये विंशतेरङ्कुछीनाम् एकैकस्यामङ्कुरुयां त्रीणि त्रीण्यस्थीनि तान्येकैक-स्मिन् पाणिपादे पश्चदश, चतुर्प पष्टिः। हे अस्थिनी पाष्ण्यौः। पादयोम् ठे शलाकाभ्योऽधस्तादेकैकमिति हो। हो क्चीय इति पाण्योः शलाकाभ्योऽधस्तात् तच्छठाकावन्धे एकैकमिति, इयोः पाण्योम् छे हे अस्थिनी पाण्यांस्थिवत्। ततोऽधस्ताञ्चलारः पाण्योमे णिका मणिवन्धस्थाने त्वेकैकस्मिन् पाणौ हु े अस्थिनी ; द्वयोश्रलारि । एवमेव पादयोश्रलारो गुळ्फा इति । ततोऽधस्ताचलारि अख्त्रगेः

चक्रपाणिः—सपष्टानीति पष्टाधिकानि । दन्तेपूळूबलम्, यत्राश्रिता दन्ताः । यद्यपि नला विविधाशितपीतीये मलभागपोप्यत्वेन मले एव प्रक्षिप्ताः, तथापीहास्थितारूप-योगस्यापि विद्यमानत्वाद् अस्थिगणनायां पतिताः । प्रत्यङ्गुलि पर्वत्रयम् । तेन विंशत्यङ्गुलि-गतम् अस्थ्नां विंशतित्रयं भवति । वृद्धाङ्गुष्टे यद्धस्तपादप्रविष्टम्, तत् नृतीयं पर्वे ज्ञेयम् । वृद्धाङ्गुष्टशलाका अपि स्वरूपमाना ज्ञेयाः, अङ्गुलीनां शलाका यत्र लग्नाः, तत्र शलाका अङ्गुष्टाधि- कूर्परयोहें जन्में हैं वाह्वोः सांसयोः, द्वावचकौ हे तालुनि, हे श्रोग्गीफलके, एकं भगास्थि पुंसां मेद्रास्थि, एकं त्रिक-संधितसेकं गुदास्थि, पृष्ठगतानि पश्चित्रंशत्, स्थीनि ग्रीवायाम्। ह्रे जनुरायेकं हन्वस्थि, ह्रे हनुमूलवन्धने, हे ललाटे. हे अच्छोहें गएडयोर्नासिकायां त्रीणि घोणा-च्यानि, द्रयोः पार्र्वयोश्चतुव्विंश्तिश्चतुव्विंश्तिः पञ्चरास्थीनि अस्थीनि। इस्तयोः प्रकोप्टे लेकेकस्मिन् ह्वे हे अस्थिनी, ततश्रतारि ह्योरिनि। एवं चलारि जङ्घयोरस्थीनि गुङ्फाधस्ताज्ञानुवर्घ्यन्ते। द्वे जानुनोरिति पृथु-गुटिकाकारे। एवमेव कूर्परयोहँ अस्थिनी। मकोष्टवादोः सन्धौ शुद्रगुडिकाकारे हो। हो जन्बीरित्येकैकस्मिन अरावेकेकिमिति हो। एवमेव सांसयोबीहोर्हे, एकैकस्थिन् वाहावेकैकिमिति हो। इत्येवं चतसपु पाणिपादरूपासु शाखासु खल्वेकैकस्यां शाखायां नखैः सह द्वात्रिंशदस्थीनि ; चतसपु तान्यप्टाविंशत्युत्तरं शतं भवन्ति। शल्यतन्त्रेषु सुश्रुतादिषु नखानुक्तलादेकैकस्यां शाखायां सप्तविंशतिस्तान्यष्टोत्तरशतमुक्तानि । इति दन्तोळूखळद्नतसहितानि तान्यष्टा-विंशत्यत्तरशतास्थीनि द्विनवत्यधिकशतं भवन्ति।

द्रावशकावित्यादि । अत्र द्विषमसङ्गाद् द्वे तालुनीत्युक्तम् । तालुगतद्वय-वज्जेमक्षकादिषु खल्वक्षश्रोणिभगमेड्त्रिकगुदपृष्ठेषु द्वाचलारिंशत् । तद् यथा — द्दावसको कण्टाद्धोऽ'सको हो। हो श्रोणीफलके इति नितम्बे हो। स्वीणामेकं भगास्थि पुंसां मेट्रस्थि । त्रिकसंश्रितमेकं गुटे चैकम् । इति पश्च श्रोण्याम्, अक्षको द्वाविति सप्त। पृष्ट्गतानि पश्चित्रंशदिति द्वाचलारिंशत्।

अथ ग्रीवां मत्यूद्धं सप्तित्रंशदिति । तद् यथा—द्दे तालुनीत्युक्तम् । पञ्चदश ग्रीवायामिति : तेपामेकादश ग्रीवायां कण्ठनाड्यां चलारि । द्वे जत्रणि । नेमे शल्यतन्त्रे वर्णिते, हन्वस्थि चैकं न विणतिमिति। द्वे हतुसूलवन्धने। द्वे ललाटे। द्वे अङ्णोर्द्वे गण्डयोः नासिकायां त्रीणीति घनरूपमैकवत्। इति वस्यति शिरःकपालानि चलारि हो शह्वकाविति ज्युगतद्वयवर्जं पश्चित्रंशर् ग्रीवां प्रत्युद्धिम्।

सूळे वक्षसि लग्नानि द्वादश द्वादश। इति चतुर्विशतिः। चतुर्विशतिः पञ्जरा-ष्ठानम् । जानु जङ्गोर्क्वोः सन्धिः । अक्षाविवाक्षको, जनुसन्धेः कीलको । तालुपके ताल्वस्थिनी ।

च पार्श्वकानि । तावन्ति चैपां स्थालिकान्यर्व्युदाकाराणि तानि द्विसप्ततिः । द्वौ शङ्ककौ चत्वारि शिरःकपालानि । वक्ति सप्त-दशेति त्रीणि षष्ट्राधिकानि शतान्यस्थनामिति ॥ ५ ॥

स्थीनि पाइवेकानि तान्येकैकस्मिन् पाइव द्वादश द्वादशेति चतुन्विशतिः। तावन्ति चैपां स्थालिकानि पृष्ठे त्वव्युदाकाराणि द्वादश द्वादशेति चतुन्वि-शतिस्तानि मिलिला द्विसप्ततिः।

वक्षसि सप्तद्योति। पूर्व्वं हे जतुणीत्युक्तम् इत्येकाधिकनवतिर्मध्यदेहे। हो शक्ष्मी चलारि शिरःकपालानीति ग्रीवां प्रत्यूद्धं पड् व्याख्यातानीति मिलिला पष्ट्यधिकानि त्रीणि शतान्यास्थ्नां भवन्ति। तत्र शल्यतन्त्रेषु दन्तोळूखलानि द्वात्रिंशद विंशतिनेला जत्रणि हो हन्वस्थि चैकमिति पष्टिः पृथङ् नोच्यन्ते। दन्तग्रहणेन दन्तोळ्खलानां ग्रहणात् नखानां वाह्यलात् जत्रुणि द्वयोविक्षसोऽस्थिग्रहणेन ग्रहणात् हन्वस्थ्नश्च यौवने पृथक्ताभावाद् दिलमिति न विरोधः।

सुश्रुते चोक्तम्। त्रीण सपष्टान्यस्थित्रतानि वेदवादिनो भापन्ते। भवन्ति चात्र। स्थाळैः सह चतुःपष्टिद्शना विंशतिनिखाः। पाणिपादशलाकाश्र तासां स्थानचतुष्टयम्। पष्टमङ्गुलीनां द्वे पाप्प्यौः क्र्चाधो गणिगुल्फयोः। चलार्य्यन्त्रश्रीश्रास्थीनि जङ्घायां तद्ददेव च। द्वे द्वे जानुक्परीरु-फलकांससमुद्धवे। असे तालूपके श्रोणी-फलके चैत्रमादिशेत्। भगास्थ्येकं त्रिके पायौ पृष्ठे त्रिंशच पश्च च। ग्रीवा पश्चदशास्थिः स्यात् जन्त्रकेकं तथा हनोः। तन्मूले द्वे ललाटाक्षि-गण्डे नासाधनास्थिका। पाश्चिकस्थालिकैः साद्धमन्त्रु दानि दिसप्ततिः। द्वौ शङ्ककौ कपालानि चलार्य्यव शिरस्यथ। उरः पश्चदशास्थि स्यात् पुरुपस्यास्थिसंग्रहः। इति। एतदेवाग्नेयपुराणे याज्ञवल्क्यसंहितायाश्च समृतायुक्तमिति।

तथा पुनः सुश्रुते—शल्यतन्त्रे तु त्रीण्यंव शतानि। तेपामष्टोत्तरशतं शाखासु।
पड् विंशत्युत्तरशतं श्रीणिपाश्वेपृष्ठाक्षोरःसु। ग्रीवां पत्यूद्ध् पट्पष्टिः।
एवमस्थनां त्रीणि शतानि प्रयम्ते। एकैकस्यान्तु पादाङ्गल्यां त्रीणि त्रीणि
तानि पश्चद्श। तलकूच्चेगुल्फसंश्रितानि सप्त। पाष्णीवेकम्। जङ्घायां
द्वे। जासुन्येकमेकमूरी, इति सप्तविंशतिरेकस्मिन् सक्थिन भवन्ति। एतेन
भगास्थि अभिमुखं कटीसन्धानकारकं तिर्थंगस्थ। स्थालकानीति पर्शुकानां मूलस्थानलमानि।

पच्चेन्द्रियाधिष्ठानानि, तद् यथा—त्वग् जिह्वा नासि-काचिग्गी कर्गों च। पश्च बुद्धीन्द्रियागि, तद्व यथा—स्पर्शनं रतनं वाणं दर्शनं श्रोत्रसिति । पश्च कम्में न्द्रियाणि, तदु यथा— हस्तौ पादौ पायुरूपस्थो जिह्ना चेति ॥ ६ ॥

हृद्यं चेतनाधिष्ठानमेकस्। दश् प्राणायतनानि। तद् यथा - सृद्धी कराठो हृदयं नाभिगुदं वस्तिरोजः शुक्रं शोगितं इतरसक्थिवाह च व्याख्यातो। तान्यष्टोत्तरज्ञतमस्थ्नाम्। श्रोण्यां पश्च। तेपां हे नितम्वे । गुद्भगत्रिकसं शितमेकैकम् । पार्वे पट्त्रिंशत् एवमेकस्मिन, द्वितीयेऽपेग्रवम् । पृष्टे त्रिंशत् । द्वे अक्षसंग्रे । सप्तदशोरसि । ग्रीवायामेका-दश । दःण्टनाड्यां चलारि । हे हन्वोदंन्ता द्वात्रिंशत् । नासायां त्रीणि । द तार्ङ्यान । गण्डकणेशह ध्वेकैकं तानि पट्। पट् शिरसि । तानि पट् पष्टिरिति त्रीणि ज्ञतान्यस्थ्नां पूटयेन्ते । इत्यस्थिसंग्रहो व्याख्यातो भवति ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः-अथ पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानीति। तद् यथा-लग्जिह त्यादि। ह्रचामुत्पत्तिरुक्ता। जिह्नायास्तृत्पत्तिः सुश्रुतेनोक्ता—उदरे पच्यमानानामाध्मा-नाव रुवमसारदत्। कफशोणितमांसानां सारो जिह्या प्रजायते ॥ पश्च बुद्धी-न्द्रियाणीत्यादि रूपप्टम्। पश्च कर्म्भेन्द्रियाणीति। जिह्ना चेति वागिन्द्रियं न तु रसनेन्द्रियम्। दृयोरिष्णानं हि जिहा॥६॥

गङ्गाधरः—हृदयमिति सुश्रुतेऽप्युक्तम्। शोणितकप्रमादजं हृदयं यदा-श्रया हि धमन्यः प्राणवहाः। तस्याधो वामतः ष्लीहा फुक्फसश्च, दक्षिणतो यकृत् होम च। तद्धृदयं विशेषेण चेतनास्थानमतस्तिस्मन् तमसाष्टते सर्वे प्राणिनः स्वपन्ति। भवति चात्र। पुण्डरीकेण सद्यां हृदयं स्यादधोष्ठखम् । जाग्रतस्तद् विकशति स्वपतश्च निमीलतीति । विस्तरस्तु अधैद्रमहामूलीयेऽस्योक्तः। द्रा प्राणायतनानीति च विस्तरेण प्राणायतिनके ऽध्याये व्याख्यातम्। तेषु दशसु मध्ये पूर्व्वाणि मूर्द्धकण्ठहृदयनाभि-स्थालकार्व्यदानिः तु पर्शुकासूलान्यर्व्यदाकाराण्यस्थीनि । नासिकागण्डकृटललाटानामेकमूलत्वा-देकमेवास्थि गणनीयम्। ये तु पृथगङ्गानि पर्रान्ति, तेपां नासागण्डकूटललाटानां त्रयाणां त्रीण्येवास्थीनि, एकत्वेन तु संख्यापूरणम् । अक्षिणी कर्णो च पृथक्ते ऽपि एकैकेन्द्रियाधिष्टानत्वेन एकत्वेन ब्राहेत । एवं हस्तौ पादौ च एकतया ब्राह्मौ ॥ ५।६ ॥

चक्रपाणिः—इह दशप्राणायतनेषु दशप्राणायतनीयोक्तो शङ्को परित्यज्य नाभि मांसञ्च गृहीतम् ।

मांसिमिति। तेषु षट् पूर्वाणि मर्स्संख्यातानि। पञ्चदश कोष्ठाङ्गानि, तद् यथा—नाभिश्च हृदयञ्च क्लोम च यक्कच प्रीहा च वुक्कौ च वस्तिश्च पुरीषाधारश्चामाश्यश्च पकाश्यश्चोत्तर-गुदञ्चाधरगुदञ्च चुद्रान्तुञ्च स्थूलान्तुञ्च वपावहनक्चेति॥ ७॥

गुदवस्तय इति पट् मर्म्मसङ्क्ष्यातानि । पश्चदश कोष्टाङ्गानीति । सप्त आशया ङ्गानि । सुश्रेते तु-आशयाः सप्त ते तु वाताशयः पित्ताशयः बलेष्माशयो रक्ताशय आमाश्चयः पक्षाशयो मूत्राश्चयः स्त्रीणां गर्भाशयोऽप्टमः इति। अत्राङ्गानि विष्टणोति। तद् यथा-नाभिश्चेत्यादि। सुश्रुतेनोक्तम्-तस्यान्तरेण नाभिस्त ज्योतिःस्थानं ध्रवं समृतम्। तद् आधमति वातेन देहस्तेनास्य वर्द्धते॥ क्रोमशब्देनात्र पुष्फुस उण्डुकश्चेति इयम्। सुश्रूतेनोक्तम्— शोणितफेनमभवः फुप्फुसः शोणितिकदृषभव उण्डुकः इत्युण्डुकः क्रोम। यकृत श्रीहा च रक्ताशयः। सुश्रुतेनोक्तम् - गर्भस्य यकृत्श्रीहानौ शोणितजाविति। बुको बुकह्रयम्, वक्षोऽधस्तात्। सुश्रुतेऽप्युक्तम्-रक्तमेदःपसादाद् बुक्को भवत इति। वस्तिरेका मृत्राशयः। पुरीपाधारक्चेति यत्र पुरीपमाद्धाति। आमाशयश्चेति नाभिस्तनान्तरदेशो यत्र भुक्तमात्रमपक्वं तिष्ठति। पकाशय-इचेति नाभैरधस्तादेशो यत्र पकं भक्तस्य किट्टं तिष्ठति। उत्तरगुदञ्चेति तुत् पक्वं पुरीपं यद्वहति । अधुरगुद्ञचेति अद्धेपश्चाङ्ग्लिमानं त्रिवलिरूपं गुदं तस्याधोभागः पुरीषं यद्विस्जिति। अन्त्रं यदुदरमध्यस्थं, या लोके नाड़ीत्युच्यते, न तु सा नाड़ी, शास्त्रे हि तदन्त्रमित्युच्यते। तच द्विविधं भूद्रान्त्रश्च स्यूलान्त्रञ्च । सुश्रुते तु गर्भस्येत्यधिकृत्य । असूजः इलेष्मणश्चापि यः प्रसादः परो मतः। तं पच्यमानं पित्तेन वायुश्चाप्यनुधावति। ततोऽस्यान्त्राणि जायन्ते गुदं वस्तिश्र देहिनः ॥ इति । तथा सार्द्धत्रिन्यामान्यन्त्राणि पुंसां स्त्रीणामद्ध व्यामहीनानीति। व्यामोऽत्र सवक्षःप्रसारितवाहुद्वयम्। वपावहनञ्चेति। हुन्मेदस्तु वपा वसेति तद्वहनं मेदःस्थानम्। इति पञ्चदश कोष्ठाङ्गानीति॥ ७॥

तेन नाभिमांसयोरिप प्राणायतनत्वं तथा शङ्कयोश्च, पाठद्वयदर्शनाट् बोद्वव्यम् । यङ्कम् दश-प्राणायतनीये—''दशवाबतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः । शङ्को मर्मन्त्रयं कण्डो रक्तं शुक्कोजसी गुदम् ॥'' इति । क्षोम पिपासास्थानम् । वस्तिः सूत्रस्थानम् । वत्तरगुदम्—यत्र पुरीपमवतिष्ठते । येन तु पुरीपं निष्कामित तद्वपरगुदस्थानम् 'तेलवर्त्तिका' इति ख्यातम् ॥ ७ ॥ पट्पश्चाशत् प्रसङ्गानि पट्सङ्गेपूर्वनवद्यानि, यान्यपरि-संस्थातानि पूर्व्यसङ्गेषु परिसंख्यायसानेषु, तान्यन्यैः पर्यायेरिह प्रकाश्य व्याख्यातानि अवन्ति । तद् यथा—हे जङ्गाविरिष्डके हो उरुपिरिडके हो स्फिचो हो वृपणावेकं शेफो हो उखे हो वङ्चणो हो कुकुन्दरो एकं वस्तिशीर्धसेकमुदरं हो स्तनो हो अजो क ह बाहुपिरिडके चिवुकमेकं हावोण्डो हो स्टक्करयो हो दन्तवेष्टका-वकं तालु एका गलशुरिडका हो उपजिह्निके एका गोजिह्निका हो गरही हो कर्णशष्कुलिके हो कर्णपुत्रको हो अचिक्टो चत्वार्याच्याच्यास्तिन हो अचिकनीनिके हो स्रुवावेकोऽवटुः चत्वारि

गङ्गाधरः—कोष्टाङ्गान्युत्तवा प्रत्यङ्गान्याह् —पट्पश्चाशत् प्रत्यङ्गानीत्यादि । नन्वेतानि किं पड्ङ्गाधिकान्युतावान्तराणीत्यत आह्—पट्स्वित्यादि । पूर्व्य येष्ठ परिसंख्यायमानेष्वङ्गेषु यान्यपरिसङ्ग्रातानि तानि पड्ङ्गेषु पाणिपादिशिरो- उन्तराधिषु पट्मृपनिवद्धानि । तान्यन्यैः पट्यायैरिह पुनः प्रकाश्यानि भवन्ति । तद् यथेत्यादि —तत्रैते जङ्गादिके हे हे । जङ्गे हे हे चोरुपिण्डिके । हो स्फिचौ । हो एपणौ । हो उखे । हो वङ्गणे । हो कुकुन्दरो । हो स्तनौ । हो भुजौ । हे वाहु-पिण्डिके । हा विष्ठिके । हो सम्कण्यौ । हो दन्तवेष्टको । हो उपजिहिके । हो गण्डौ । हे क्षिक्के । हो कण्पुत्रको । हो सिक्कि । हो अक्षिकनीनिके । हो भ्रावौ

चक्कपाणिः—पट्पञ्चारात् प्रत्यञ्चानिति, तद् यथा—हे जल्लापिण्डिके इत्यादिप्रन्थवद्यमाणानि । यानीत्यादि—यानि यानि वद्यमाणानि पट्पञ्चारात् प्रत्यञ्चानि पृथ्वमङ्गेषु हस्तादिषु पट्सु परिसंख्याय- मानेषु अपरिसंख्यातानि, तान्यन्यैः पर्यायैः प्रकाश्यानि भवन्तिति योजना । पर्यायाश्च 'जल्लापिण्डिकाद्यः' राव्दा एव, एतेन हस्तादिपद्रङ्गकथनेनेय तदाश्चिता अपि जल्लापिण्डिकाद्य उक्ता एव । सम्प्रति तु अवयवविशेपव्यवहाराथे जल्लापिण्डिकाद्यः पृथगुक्ता इति वाक्यार्थः । पृथ्वमङ्गेष्टितिस्थाने पृथ्वमन्येष्विति पाटः, तथापि 'अन्य'शव्देन हस्तादीनि पद्भानि प्रात्माणि । उस्ते इति कक्षस्य पार्श्वयोनिम्नभागो । कुकुन्दरो स्फिचोरुपरि उन्नतो भागो । वस्तिशीर्षं नाभेरधः । इलेप्मभुवा कण्ट-पार्श्वयोर्वस्थितो कटिनो भागो । सक्षण्यो यदनान्ते । हो उपजिक्षिके इति जिल्लाया अधोगता जिल्ला, तथा उपरिगता प्राह्मा एका गोजिल्लिकेति गौर्याक, तस्याः कारणभृता जिल्ला । तेन वचनकारणभृता प्रधानभृता जिल्लीव गृह्मते । कर्णशस्कृतिके कर्णगतावर्त्तको, कर्णपुत्रको तु हो कर्णावेव । अधिकृत्यके

^{*} हो भुजो इत्यत्र हो इलेप्मभुवो इति चकः।

पाणिपादहृदयानि । नव महान्ति च्छिद्राणि सत शिरति हे चाधः ॥ = ॥

च। इत्येतानि मत्यङ्गानि खछ (एकोनविंशतिः)। विंशतिः द्विद्विसङ्क्यानि भवन्ति। शेफः प्रभृतीन्येकैकसङ्ख्यानि । तद् यथा । एकं जेफः (एका वस्तिः) एकं वस्ति-शीपमेकम् उदरमेकं चियुक्रमेकं ताल एका गळशुण्डिका एका गोजिहिका एको-ऽवटुः। तथान्यत्रोक्तम्—एकोऽवटरेकं मस्तकमेकं पृष्टमेको नाभिरेकं ललाटमेका नासिका ग्रीवा चैका। इत्येतान्येकैकसङ्ग्रानि। तत्र जङ्घापिण्डिका जानुनोरध-स्तान्मांसपिण्डाकारमङ्गम्। ऊरुपिण्डिका ऊरुस्थमांसपिण्डिका । स्फिक् नितस्व-मांसिपण्डिका । रुपणावण्डद्वयम् । सुश्रुते च-मांसास्क्कफमेदःत्रसादाद् रुपणौ भवतः इत्युक्तम्। शेफः शिक्षो ग्रीवाहृदयनिवन्धिनीनामधोगानां कण्डराणां मरोह इति । उसे इति उसं कक्षपाव्ययोनिम्नभागः । ऊरुष्टपणयोर्मध्यभागो वङ्क्षणः। स्फिचोरुपर्यु नतभागः कुकुन्दरः। नाभेरघोदेशो वस्तिशीर्पम्। चिव्कं मुखाधोभागो हन्वग्रदेशः। एका गलशुण्डिकेति गलाभ्यन्तरं नलीति लोके। हे उपजिहिके इति गलसंलग्ना शुद्रजिहा चैका गलाभ्यन्तरमेका चित । एका गोजिहिकेति गौर्वाक् तदर्था जिहा रसनानामेति । अवट्रवीटा । पाणिहृद्यं पाणितळं पादहृद्यं पादतलम्। नय महान्ति च्छिद्राणीति पुरुपाभिषायेण । तानि विद्यणोति—सप्त शिरसि हे अधः इति । चक्षुपोद्वेयोः है च्छिद्रे। नासिकायां हे च्छिद्रे। कर्णयोहे योहे च्छिद्रे। मुखच्छिद्रमेकिमिति सप्त च्छिद्राणि शिरसि महान्ति स्त्रीपुरुपयोः। उपस्थद्वारमेकपेकं गुदद्वारमिति द्व अध्रिष्ठद्रे महती, इति नव महान्ति च्छिद्राणि स्त्रीपु सयोव सारन्ये चैक्रम् आरतमिति दश । स्त्रीणामपराणि त्रीणि महान्ति च्छिद्राणि । द्वे स्तत्वयोि छिद्रे एकं योनिद्वारमात्तववहमधस्तादिति त्रयोदश च्छिद्राणि स्त्रीणां महान्ति। सुश्रुते चोक्तानि-श्रवण-नयन वृदन-घ्राण-गुद्भेदाणि नव स्रोतांसि नराणां वहिर्भुखाण्येतानि, स्त्रीणामपराणि त्रीणि, हे स्तनयोरधस्ताद्रक्तवहञ्चैकमिति। तत्रान्तरेऽन्तर्भुखमेकं वहारन्ध्मिति। तेन सह पुंसो दश स्त्रीणां त्रयोदकेति। छोमकूपान्यसङ्खेत्रयानि श्चद्रच्छिद्राणि ॥ ८॥

अक्षिगोलके। हे अक्षिकनीनिके इत्यत्र 'क्नीनिका'शब्देन नासया सममक्षिसन्धिरभिधीयते। अवदुर्घोटा। चत्वारि पाणिपादहृदयानीति पाण्योः पादयोश्च तलानि मध्यानि चत्वारीत्यर्थः। एतावतेव पटपञ्चाशत् प्रत्यङ्गानि पुरर्यन्ते। नव महान्ति च्छिद्गाणीति व्याकरोति—सप्त शिरसि हे

एतावद्दृहरयं श्वयमणि निर्देष्टुम्, अनिर्देश्यमतः परं तवर्य-सेव। तद् यथा—नव स्नायुश्तानि सप्त सिराशतानि

गङ्गाधरः-एतावदिति सगादिकं यावदुक्तं तावद् दश्यं निर्देष्टुं शक्यमतः परं प्रत्यक्नं तक्यमृहनीयमिति। तद् विद्यणोति—तद् यथेत्यादि। नव स्तायुशतानि। स्नाय्नां नव शतानि। तदुक्तं सुश्रुतेऽपि—सक्पर्यन्तस्य श्चर्यमानाहते नैप वर्ण्यतेऽङ्गेषु केषुचित्। देहस्य योऽयमङ्गविनिश्चयः। तस्मान्निःसंशयं ज्ञानं हर्त्रा शत्यस्य वाञ्छता । शोधयिलामृतं सम्यग् द्रपृच्योऽङ्ग-विनिश्चयः। प्रत्यक्षतो हि यद् दृष्टं शास्त्रदृष्ट्य यद्भवेत्। समासतस्तदुभयं भूयो-मानविवद्भिनम्।। तस्मात् समस्तगात्रमविषोपहतमदीर्घन्याधिषीडितम् अवर्ष-शतिकं निः सृष्टात्रपुरीषं पुरुपमवहन्त्यामापगायां निवद्धं पञ्जरस्थं मुञ्जवल्वज-कुराशणादीनामन्यतमेन वेष्टिताङ्गमपकाशे देशे कोथयेत्। सम्यक्षकुथितञ्च उद्धृत्य ततो देहं सप्तरात्रादुशीरवालवेणुवल्वजकुचीनामन्यतमेन शनैःशनैः अवैघर्षयंस्त्रगादीन् सन्वीनेव वाह्याभ्यन्तराङ्गप्रत्यङ्गविशेपान् यथोक्तान् लक्षयेत् चक्षुपा। श्लोको चात्र भवतः। न शक्यश्रक्षुपा द्रष्ट्रं दहे सूक्ष्मतमो विसः। ं दृज्यते ज्ञानचक्षुर्भिस्तपञ्चक्षुर्भिरेव च। शरीरे चैव शास्त्रे च दृष्टार्थः स्याद् ं विशारदः। दृष्ट्रश्रुताभ्यां सन्देहमवापोह्याचरेत् क्रियाः।। इति । तत्र । नव स्तायु-शतानि तासां शाखास पर्शतानि । द्वे शते त्रिंशच कोष्टे । ग्रीवां पत्यूर्जु सप्ततिः इति। तत्रैककस्यान्तु पादाङ्ग्रल्यां पट् निचितास्तास्त्रिंशत् तावत्य एवं तलक्क्चं-गुल्फेषु। तावत्य एव जङ्घायाम्। दश जानुनि। चलारिंशदृर। दश - वङ्भणे। शतमध्यर्द्धमेवमेकस्थिन् सक्थिन भवन्ति। एतेनेतरसक्थिवाह् च च्याख्यातौ। एवं शाखास पट् शतानि भवन्ति। पष्टिः कट्यामशीतिः पृष्टे पाइवयोः पष्टिरुरसि त्रिंशत्। एवं कोण्डे द्वे शते त्रिंशच भवन्ति। पट्त्रिंशद् श्रीवायां सूर्षि चतु स्त्रिंशत्। एवं श्रीवां मत्यूर्षु सप्तृतिः। एवं नव स्त्रायु-शतानि च्याख्यातानि। भवन्ति चात्र। स्नायूश्रत्विधा विद्यात् तास्तु सर्वा निवोध मे। प्रतानदत्यो वृत्ताश्च पृथ्व्यश्च शुपिरास्तथा। प्रतानवत्यः शाखास्र

चाध इति । एतावत् त्वगादि दृश्यं प्रायः प्रत्यक्षविपय दृत्यर्थः । अतः परं तर्क्यमेवेति अतस्त्वगादेः ं परं वृत् रनाय्वादि, तत् प्रायस्तवयंमेव, अनुमानगम्यमेवेत्यर्थः। यसपि रनाय्वाद्यपि प्रत्यक्षं भवति, तथापीह वक्ष्यमाणसंस्थायुक्तं सन्वं स्नाय्वादि न प्रत्यक्षेण सुकर्यहणमिति 'तक्यंम्' इत्युक्तम् । स्नाय्वादिभेदानेवाह—नव स्नायुशतानीत्यादि ।

अथ सप्त सिराशतानीति। तदुक्तं सुश्रुते-सप्त सिराशतानि भवन्ति। याभिरिवं शरीरमाराम इव जलहारिणीभिः केदार इव च छल्याभिरुपस्तिखते-ऽनुगृह्यते—चाकुश्चनप्रसारणादिभिविजिषैः। दुम्पत्रसेवनीनामिव च तासां प्रतानास्तासां नाभिम् छम्। ततश्च प्रसरन्त्यू प्रधिस्तर्येक् च। भवतश्चात्र। यावत्यस्तु सिराः कार्ये सम्भवन्ति शरीरिणाम्। नाभ्यां सन्वी निवद्धास्ताः मतन्वन्ति समन्ततः। नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः प्राणान्त्राभिन्युपाश्रिताः। सिराभिराष्ट्रतो नाभिश्रक्रनाभिरिवारकैः ॥ तासां मूलसिराश्रलारिंशत् तासां वातवाहिन्यो दश । पित्तवाहिन्यो दश । कफवाहिन्यो दश । दश रक्तवाहिन्यः । तासान्त वातवाहिनीनां वातस्थानगतानां पश्चसप्ततिः शतश्च भवति । तावत्य ् एव पित्तवाहिन्यः पित्तस्थाने, कफवाहिन्यश्च तावत्यः कफस्थाने, रक्तवाहिन्यस्तु यकृत्ष्रीह्योः ; एवमेतानि सप्त सिराशतानि । तत्र वातवाहिन्यः सिरा एकस्मिन् सक्थिन पञ्चविंशतिः। एतेनेतरसक्थिवाह् च व्याख्यातौ। कोष्ठे चतुस्त्रिंशत्—तासां गुद्मेदाश्रिताः श्रोण्यामष्टौ, द्वे दे पार्श्वयोः, पट् पृष्ठे, तावत्य एव चोदरे, दश वक्षसि, एकचलारिंशज्जत्रूण ऊर्द्ध म् ;—तासां चतुर्देश ग्रीवायां, कर्णयोश्रतस्रः, नव जिह्नायाम्, पट् नासिकायाम्, अष्टौ नेत्रयोः। एवमेतत् पश्चसप्तत्यधिकशतं वातवहानां सिराणां व्याख्यातम्। एप एव विभागः शेपाणामपि। विशेषतस्तु पित्तवाहिन्यो नेत्रयोर्देश, कर्णयोर्दे। एवं रक्तवहाः कफवहाश्च। एवमेतानि सप्त सिराशतानि सविभागानि व्याख्याताति। भवन्ति चात्र। क्रियाणामप्रतीघातममोहं बुद्धिकम्मणाम्। करोत्यन्यान् गुणांश्वापि स्वाः सिराः पवनश्वरन् । यदा तु क्रपितो वायुः स्वाः सिराः प्रतिपद्यते। तदास्य विविधा रोगा जायन्ते वातसम्भवाः।

चान्यान् गुणानिष । यदा प्रकृषितं पित्तं सेवते स्ववहाः सिराः । तदास्य विचि रोगा जायन्ते पित्तसम्भवाः। स्नेहमङ्गेषु सन्धीनां स्थैर्यं वलमुद्रीर्णताः करोत्यन्यान गुणांश्वापि वलाशः स्वाः सिराश्वरन्। यदा तु कुपितः इते स्वाः सिराः प्रतिपद्यते। तदास्य विविधा रोगा जायन्ते इछेष्मसम्भव धात्नां पूरणं वर्णं स्पर्शतानमसंशयम्। स्वाः सिसाः सश्चरद्रक्तं कुटयीचान्य गुणानिष । यदा तु ङ्वितं रक्तं सेवते स्ववहाः सिराः। तदास्य विवि रोगा जायन्ते रक्तसम्भवाः। न हि वातं सिराः काश्चित्र पित्तं केवलं तथ इलेप्पाणं वा वहन्त्येता अतः सर्व्ववहाः स्मृताः। प्रदुष्टानां हि दोपाः मुच्छितानां प्रधावताम् । ध्रुवमुन्मार्गगमनमतः सर्व्ववहाः स्मृताः । तत्रार वातवहाः पूर्यन्ते वायुना सिराः। पित्तादुष्णाश्च नीलाश्च शीता गौर्य्यः सि कफात्। अस्यवहास्तु रोहिण्यः सिरा नात्युप्णज्ञीतलाः। अत ऊर्द्धु प्रवक्ष्यः न विध्येद् याः सिरा भिषक्। वैकल्यं मरणञ्चापि व्यथात् तासां ! थवेत्। सिराशतानि चलारि विद्याच्छाखासु दुद्धिमान्। शतं कोष्ट चतुःपष्टिश्र मूर्द्धनि। शाखासु पोइश सिराः कोष्टे हाहिंश तु। पश्चाराज्जनुणश्चोद्धिमवेध्याः परिकीत्तिताः॥ तत्र सिराशतमेकैकि सक्थिन भवति। तासां जालधरा लेका, तिस्रधाभ्यन्तराः ; तत्रोर्व्वीसंबी लोहिताक्षसंज्ञा चैका एतास्तवेध्याः। एतेनेतरसक्थिवाह् च व्याख्यात एदमशस्त्रकृत्याः पोड्श शाखासु । द्वात्रिंशत् श्रोष्यां, तासामप्टावशस्त्रकृत्य द्वे द्वे विटपयोः कटोकतकरुणयोध। अष्टावष्टावेकेकस्थिन् पार्वे तासामेकैः स्दुंगां परिहरेत्। पारवंमधिगते च हो। चतस्रो विंशतिश्च पृष्टवंशसुभयतरतार ऊर्ढुं गामिन्य द्वे द्वे परिहरेट् ग्रहतीसिरे। तावत्य एवोदरे। तासां मेढोपरि रो राजीम् जभयतो द्वे द्वे परिहरेत्। चलारिंशद्वक्षस्ति, तासां चतुर्देशाशस्त्रकृत्या हृदयं हो। हो हो स्तनमूळे स्तनरोहितापलापस्तम्बेषूभयतोऽष्टौ। एवं द्वाजिः अञ्चल्लाः पृष्ठोदरोरःसु भवन्ति । सचतुःपष्टि सिराञ्चतं जत्रण ऊद्धं भविः तत्र पट्पञ्चाशिक्करोधरायाम् ; तासामष्टौ चतस्रश्च ग्रम्भेसंबाः परिहरेत्। कुकाटिकयोद्दे निधुरयोः। एवं ग्रीवायां पोड्शावेध्याः। हन्वोरुभगतोऽष्टावष्ट तासान्त सन्धिथमन्यौ हे हे परिहरेत्। पट्तिंशजिहायाम्, पोड़शाशस्त्रकृत्याः। रसवहे द्वे, वागवहे च द्वे। द्विद्वीदश नासायाम्। तासामी नासिक्यश्रतसः परिहरेत्। तासामेव च तालुन्येकां मृदाबुद्देशे। अष्टात्रिः

ह्रे धमनीशते पञ्च ७ पेशीशतानि सतोत्तरं मर्मशतं ह्रे पुनः

जभयोनंत्रयोः ; तासामेकैकामपाङ्गयोः परिहरेत् । कर्णयोर्दशः । तासां शब्द-वाहिनीनामेकैकां परिहरेत् । नासानेत्रगतास्तु छछादे पष्टिः । तासां केशान्तानुगताश्रतसः । आवर्त्तयोरेकेका स्थापन्याञ्चिका परिहर्त्तव्या । शक्ष्मयोर्दशः । तासां शक्ष्मपियगतामेकैकां परिहरेत् । द्वादशः मूर्छीन तासाम्रत्-सिपयोद्दे परिहरेत् । सीमन्तेष्वेकैकामेकामधिपताविति । एवमशस्त्रकृत्याः पञ्चाशज्जत्रुण ऊद्धिति । भवति चात्र । व्यामुवन्त्यभितो दृष्टं नाभितः प्रस्ताः सिराः । पतानाः पश्चिनीकन्दाव्विसादीनां यथा जछम् ॥ इति ।

अथ है धमनीशते इति । धमनीनां हे शते भवतः । सुश्रुतेऽपि दश्यते— चतुर्विंशतिर्ध्यन्यो नाभिष्रभवा अभिहिताः। तत्र केचिदाहुः सिराधमनी-स्रोतसामविभागः । सिराविकारा एव धमन्यः स्रोतांसि चेति। तत् तु न सम्यक्। अन्या एव हि धमन्यः स्रोतांसि च सिराभ्यः। कस्मात् ? व्यञ्जनान्यलात्, मूलसं नियमात्, कम्भवैशेष्यादागमाच । केवलन्तु परस्परसन्निकपीत् सदशागम-कर्मालात् सौक्ष्म्याच विभक्तकर्माणायप्यविभाग इव कर्मासु भवति । तासान्तु नाभिष्रभवाणां धमनीनामुद्धेगा दश, दश चाधोगामिन्यश्चतस्रस्तिय्यंग्गाः। ऊद्धुंगाः शब्दस्पर्जरूपरसगन्धप्रश्वासोच्छ्वासज्र्यभितस्रुद्धसितकथितरुदितादीन विशेषानभिवहन्त्यः शरीरं धारयन्ति । तास्तु हृदयमभिप्रपन्नास्त्रिधा जायन्ते तास्त्रिंशत्। तासान्तु वातपित्तकफशोणितरसान् द्वे. द्वे वहतः, ता दशः। क्षज्दरूपरसगन्धानष्टाभिष्टे ह्वीते । द्वाभ्यां भापते च, द्वाभ्यां घोषं करोति, द्वाभ्यां स्विपति, द्वाभ्यां मतिबुध्यते। द्वे चाश्रुवाहिण्यो, द्वे स्तन्यं सिया वहतः स्तनसंश्रिते : ते एव शुक्तं नरस्य स्तनाभ्यामभिवहतः। तास्त्वेतास्त्रिंशत् सविभागा व्याख्याताः। एताभिरूद्धं नाभेरुद्रपाद्वपृष्ठोरःस्कन्धग्रीवावाहवो धार्यन्ते याप्यन्ते च। भवति चात्र। ऊर्जुं गतास्तु कुर्व्वन्ति कम्मी-ण्येतानि सर्व्वशः। अधोगतास्तु वक्ष्यामि कम्मे तासां यथायथम्। अधोगमास्तु वातमृत्रपुरीपशुक्रात्तेवादीन्यधो वहन्ति। तास्तु पित्ताशयमभि-प्रतिपन्नास्तत्रस्थमेवान्नपानरसं विषक्षमौष्ण्याद्विरेचयन्त्योऽभिवहन्त्यः शरीरं तर्षयन्त्यर्पयन्ति चोर्द्धंगतानां तिय्यंग्गतानां रसस्थानश्चाभिपूरयन्ति स्त्रपुरीपस्वेदांश्च विरेचयन्त्यामपकाशयान्तरे च त्रिथा जायन्ते तास्त्रिंशत्। तासान्तु वातिपत्तककशोणितरसान् हे हे वहतस्ता दश, हे अन्नवाहिन्यो अञ्चाश्रिते। तोयवहे हे। यूत्रवस्तिमभिष्ठपन्ने मृत्रवहे हे। शुक्रवहे हे शुक्रपादुर्भावाय हे विसर्गाय, ते एव रक्तमभिवहतो नारीणामार्चवसंक्षम्। हे वची निरसन्यौ स्थूलाञ्जपतिवद्धे, अष्टावन्यास्तिर्व्यग्गाणां धमनीनां स्वेदम् अर्थयन्ति। तास्त्रेतास्त्रिंशत् सविभागा व्याख्याताः।

प्ताभिरधो नाभः पकाशयकटीमूत्रपुरीपगुद्वस्तिमेद्द्रस्थीनि धार्यन्ते याप्यन्ते च। भवति चात्र। अधोगमास्तु कुर्व्वन्ति कम्मण्येतानि सर्व्वशः। तिर्द्यग्गाः संप्रवक्ष्यामि कम्म तासां यथायथम्। तिर्द्यग्-गाणान्तु चतस्णां धमनीनाम् एकैका पश्चधा प्रतन्वन्ती विश्वतिभवति। विश्वतिश्चैकैका पुनरप्रधा प्रतन्वन्ती पष्टुप्रत्तरक्षतं भवति, ता एता धमन्यो द्वे शते भवन्त्यथैवं शतधा सहस्रधा चोत्तरोत्तरं विभज्यन्ते, तास्त्वसङ्खेत्रयाः; ताभिरिदं शरीरं गवाक्षितं विवद्धमासतश्च। तासां सुखानि रोमक्षपप्रतिवद्धानि, यैः स्वेदमिनवहन्ति रसश्चापि सन्तर्पयन्त्यन्तवहिश्च, तैरेव चाभ्यद्गपरिपेकावगाहालेपनवीर्ध्याण्यन्तःशरीरम् अभिप्रतिपद्यन्ते त्विच् विपकानि, तैरेव स्पर्शसुखमसुखं वा ग्रह्णाति। तास्त्वेताश्चतस्रो धमन्यः सर्व्वाङ्गगताः सविभागा व्याख्याताः। भवतथात्र। यथा स्वभावतः खानि मृणालेषु विसेषु च। धमनीनां तथा खानि रसो यैरुपचीयते। पश्चाभिभूतास्तथ पश्चकुतः पञ्चेन्द्रयं पश्चस्र भावयन्ति। पञ्चेन्द्रयं पश्चस्र भावयिता पश्चतमायान्ति विनाशकाले॥ इति।

अथ यद्यपि स्रोतसां परिसंख्यानं स्रोतोविमाने न्याख्यातं,
तथापि तत्मपश्चार्थं सौश्रुतमत ऊर्ज्यं स्रोतसां मूळ्विद्धलक्षणमुपदेक्ष्यामः।
गर्भस्य तु। यथास्वमुष्मणा युक्तो वायुः स्रोतांसि दारयत्। अनुभविश्य
पिश्चितं पेशीविभजते तथा॥ तानि खळ स्रोतांसि प्राणान्नोदकरसरक्तमांसमेदोमूत्रपुरीपशुक्राक्त्ववहानि। येष्वधिक एकेपां वहूनि। एतेपां
विशेषा वहवः। तत्र प्राणवहे हो, तयोमूळं हृद्यं रसवाहिन्यश्च धमन्यः;
तत्र विद्धस्य क्रोशनविनमनमोहनभ्रमणवेपनानि मरणं वा भवति। अन्नवहे
हो, तयोमूळमामाश्चरोऽन्नवाहिन्यश्च धमन्यः; तत्र विद्धस्याध्मानं शुळानहेषौ
छहिः पिपासान्ध्यं मरणं वा। उदकवहे हो, तयोमूळं हृदयं रसवाहिन्यश्च

धर्मन्यः। तत्र विद्धस्य शोपः प्राणवहविद्धवच मरणं तिल्लक्षानि चेत्यर्थः। रक्तवहे हो, तयोमू लं यक्तत्प्रीहानौ रक्तवाहिन्यश्च ध्रमन्यः; तत्र विद्धस्य श्यावान्त्रता व्यरो दाहः पाण्डुता शोणितातिगमनं रक्तनेत्रता चेति। मांसवहे हो, तयोमू लं स्वायुत्तचं रक्तवहाश्च ध्रमन्यः; तत्र विद्धस्य श्वययुमांसशोपः सिराग्रन्थयो मरणं वा। मेदोवहे हो, तयोमू लं कटी बुक्कौ च ; तत्र विद्धस्य स्वेदागमनं स्निग्धाङ्गता तालुशोपः स्थूलशोफता पिपासा च। मूत्रवहे हो, तयोमू लं विद्धस्यानद्विद्धता मूत्रनिरोधः स्तन्धमेद्धता च। पुरीपवहे हो, तयोमू लं पकाशयो गुदश्च ; तत्र विद्धस्यानाहो दुगन्धता ग्रिथतात्रता च। शुक्रवहे हो, तयोमू लं स्तनौ द्यणो च ; तत्र विद्धस्य क्षीवता चिरात् प्रसेको रक्तशुक्रता च। आर्त्तववहे हो, तयोमू लं गर्भाशय आर्त्तववाहिन्यश्च ध्रमन्यः ; तत्र विद्धायां वन्ध्यात्वं मेथुनासहिष्णुत्वमार्त्तवनाश्च। सेवनीच्लुदाव् स्तापाद्यायोपाचरेदुद्धृतशल्यन्तु क्षतिधानेनोपाचरेत्। मूलात् खादन्तरं देहे प्रसतन्तिभवाहि यत्। स्रोतस्तिदिति विक्षेयं सिराधमनिविज्ञितम्॥ इति।

अथ पश्च पेशीशतानीति। पेशीनां पश्च शतानीत्यर्थः। तद् यथा—सुश्रुते गर्भस्य। यथास्यसुष्णणा युक्तो वायुः स्रोतांसि दार्यत्। अनुप्रविश्य पिशितं पेशीविभनते तथा।। पश्च पेशीशतानि भवन्ति। तासां चलारि शतानि शाखासु, कोण्डे पट्षष्टिः, ग्रीवां पत्यूर्वं चतुस्त्रिंशत्। एवं ताः पश्च शतानि भवन्ति। तद् यथा—एकैकस्यान्तु पादाक्र्ल्यां तिस्रस्तिस्रस्ताः पश्चदश। दश पपदे। पदोपरि क्चिसिन्निविष्टास्तावत्य एव। दश गुल्फ्तत्लयोः। गुल्फ्जान्वन्तरे विशितः। पश्च जानुनि। विशितिक्रौ। दश वङ्शणे। शतभेवमेकस्मिन् सक्थिन भवति। एतेनेत्रसक्थि वाहू च व्याख्यातौ। एवं शाखासु चलारि शतानि पेशीनां पूर्यन्ते। तिसः पायौ। एका मेद्दे। सेवन्याश्चापरा। द्वे प्रपणयोः। स्फिचोः पश्च पश्च पश्च। द्वे वस्तिशिरसि। पश्चोदरे। नाभ्यामेका। पृष्ठोद्धे सिन्निविष्टाः पश्च पश्च दीर्घाः। पट् पाश्चयोः। दश वक्षसि। अक्षकांसौ प्रति समन्तात् सप्त। द्वे हृदयामाश्ययोः। पट् यकृत्यस्ति। एवं कोण्डे पट्षष्टिः पेशीनां पूर्यन्ते।

प्रीवायां चतसः। अष्टी हन्वोः। एकैका काकलकगलयोः। द्वे तालुनि। एका जिह्नायाम्। ओष्टयोद्वे। घोणायां द्वे। द्वे नेत्रयोः। गण्डयोश्चतसः। कर्णयोद्वे।चतस्रो ललाटे।एका शिरसीत्येवं ग्रीवां प्रत्युद्धे त्रिंशसः प्रदर्थन्ते। एवमेतानि पश्च पेशीशतानि । सिरास्ताय्वस्थिपव्वाणि सन्धयश्च शरीरिणाम् । पेशीभिः संष्टतान्यत्र वलवन्ति भवन्त्यतः ॥ स्त्रीणान्तु चतुर्व्विशतिरधिका । दश्च तासां स्तन्योः, एकेकस्मिन् पश्च पश्च । योवने तासां परिष्टद्धिः । अपत्यपथे चतस्सतासां प्रस्ते अभ्यन्तरतो हे । मुखाश्रिते वाह्ये च प्रस्ते हे । गर्भच्छिद्र-संशितास्तिसः । शृकार्चवपविश्वन्यस्तिसः । चतस्र एव पित्तपकाशयमध्ये गर्भाश्चाः, यत्र गर्भस्तिष्टति । तासां वह्लपेलवस्थूलाणुपृथ्यस्त्रस्वदीर्घस्थिरमृदुक्लक्ष्ण-कर्कशभावाः सन्ध्यस्थिसिरास्तायुपच्छादका यथादेशं स्वभावत एव भवन्ति । भवति चात्र । पुंसां पेक्यः पुरस्ताद् याः प्रोक्ता लक्षणमुप्कजाः । स्त्रीणामाष्टत्य तिष्टन्ति फलमन्तगेतं हि ताः ।। इति ।

अथ सप्तोत्तरं मर्स्मशतिमिति। स्रियतेऽस्योपयातेनेति मर्स्म। मरमणां सप्तोत्तरं सप्ताधिकं शतमेकं भवतीत्यर्थः। तद् यथा सुश्रुते। सप्तोत्तरं मर्स्मशतम्। तानि मर्स्माणि पश्चात्मकानि। तद् यथा—मांसमर्स्माणि। सिरामर्स्माणि। स्नायु-मर्स्माणि। अस्थिमर्स्माणि। सन्धिमर्माणि चेति। न खळु मांसिसरास्नाय्वस्थि-सन्धिन्यतिरेकेणान्यानि मर्स्माणि भवन्ति ; यस्पान्नोपलभयन्ते। तत्रैकादश मांसमर्स्माणि। एकचलारिंशत् सिरामर्स्माणि। सप्तविंशतिः स्नायुमर्स्माणि। अष्टावस्थिमर्स्माणि। विंशतिः सन्धिमर्स्माणि। तदेतत् सप्तोत्तरं मर्स्मशतम्। तपाम् एकादशैकस्थिन सक्थिन भवन्ति। एतेनेतरसक्थि वाह् च व्याख्यातो। ल खदरोरसोद्देश। चतुर्दश पृष्टे। ग्रीवायां प्रत्युद्धं सप्तित्रंशत्। तदेतत् सप्तोत्तरं मर्म्भशतं पूर्यते। इति।

तत्र सक्थिमम्मणि—क्षिप्रतलहृदयक्चर्चक्चिशरोगुल्फेन्द्रवस्तिजान्वाण्यूर्व्वीलोहिताक्षाणि विटपञ्चेत्येकादशः। एतेनेतरसक्थि व्याख्यातम्।
एदरोरसोस्तु—गुद्दवस्तिनाभिहृद्यस्तनमूल्स्तनरोहितापलापान्यपस्तम्भो चेति
द्वादशः। पृष्ठमम्मणि तु—कटीकतरुणकुकुन्दरनितम्वपाद्यसिन्धिटहृत्यंसफलकानि अंसो चेति चतुईशः। वाहुमम्मणि तु—क्षिप्रतलहृद्यक्च्चेक्च्चिशरोसणिवन्धेन्द्रवस्तिक्पराण्युर्व्वालोहिताक्षाणि कक्षध्र्यञ्चेत्येकादशः। एतेनेतरो
वाहुर्व्याख्यातः। जत्रुर्द्धं मम्मणि—चतस्रो धमन्योऽष्टो मातृका द्वे कुकाटिके द्वे
विधुरे द्वो फणो द्वावपाङ्गौ द्वावावत्तौ द्वावुत्क्षेपौ द्वौ शङ्कौ एका स्थपनी पञ्च
सीमन्ताः चलारि शृङ्गाटकान्येकोऽधिपतिः। इति सप्तित्रंशत्। इत्येवं सप्तोत्तरं
सम्मिशतम्।

मत्यङ्गनामतः तत्र तलहदयेन्द्रवस्तिगुद्रस्तनरोहितानि मांसमम्माजि।

नीव्ध्यमनी-मातृकाशृङ्गाटकापाङ्गस्थपनीफणस्तनम् लापलापारतम्भ-हृदयनाभि-पाइवेसन्धिवृहतीलोहिताक्षोळ्येः सिरामम्माणि। आणिविटपकसध्र-कूच्चेंकूच्चेंशिरावस्तिक्षिमांसविध्रोतक्षेपाः स्तायुमस्मीणि। नितम्बांसफलकशङ्खास्त्रस्थिमम्मीणि। जानुकूर्परसीमन्ताधिपतिग्रुट्फमणिबन्ध-कुकुन्दरावर्त्तकुकाटिकाक्चेति सन्धिमम्मीणि। तान्येतानि पञ्चविकल्पानि मम्माणि भवन्ति। तद् यथा—सद्यःमाणहराणि। कालान्तरमाणहराणि। विशल्यव्रानि । वैकल्यकराणि । रुजाकराणीति । तत्र सद्यःप्राणहराण्येकोन-विंशतिः। कालान्तरमाणहराणि त्रयस्त्रिंशत्। त्रीणि विश्वत्यद्यानि। चतुश्रलारिंशर् वैकल्यकराणि, अष्टौ रुजाकराणीति। भवन्ति चात्र। शृङ्गाट-कान्यधिपतिः शङ्कौ कण्ठशिरोगुद्म्। हृद्यं वस्तिनाभी च प्रन्ति सद्योहतानि त् । वक्षोमम्माणि सीमन्ततलक्षिप्रेन्द्रवस्तयः । कटीकतरुणे सन्धी पाइर्वजौ ष्टहती च या। नितस्वाविति चैतानि कालान्तरहराणि त। उत्रक्षेपौ स्थपनी चैव विशल्यप्रानि निर्द्धिगेत्। लोहिताक्षाणि जानून्वी-कूच्ची विटपकूर्वराः। कुकुन्दरे कक्षधरे विधुरे सकुकाटिके। अंसांसफलकापाङ्गा नीले पन्ये फणौ तथा। वैकल्यकरणान्याहरावत्ती द्वौ तथैव च। गुल्फौ द्वौ मणिवन्धौ द्दी द्वे कुच्चेशिरांसि च। रुजाकराणि जानीयादृ एवेतानि बुद्धिमान्। क्षिपाणि विद्धमात्राणि घ्रन्ति कालान्तरेण च।

मम्मीण नाम मांससिरास्ताय्यस्थिसन्धिसन्तिपातास्तेषु स्वभावत एव विजेपेण प्राणास्तिष्टन्ति, तस्मान्ममेस्वभिहतास्तांस्तान् भावानापद्यन्ते। तत्र सद्यःप्राणहराण्याग्ने यान्यग्निगुणेष्वाशु क्षीणेषु क्षपयन्ति। कालान्तरप्राणहराणि सौम्याग्नेयान्यग्निगुणेष्वाशु क्षीणेषु क्रमेण च सोमगुणेषु कालान्तरेण क्षपयन्ति। विश्वत्यग्नानि वायव्यानि, श्व्यग्रुखनिरुद्धो यावदन्तर्वाष्ट्रस्तिष्टति तावज्जीवति उद्धृतमात्रे तु श्वये मम्मस्थानाश्रितो वायुनिष्क्रामितः, तस्मात् सश्चयो जीवति उद्धृतश्चयो म्नियते। वैकल्यकराणि सौम्यानि, सोमो हि स्थिरलाच्छित्याच प्राणावलम्बनं करोति। रुजाकराण्यग्निवायुगुणभूयिष्टानि, विशेषतश्च तौ रुजाकरौ। पाश्चभौतिकीश्च रुजामाहुरेके।

केचिदाहुभींसादीनां पश्चानामपि समस्तानां विद्धानाश्च समवायात् सद्यःप्राणहराणि । एकहीनानामल्पानां वा काळान्तरप्राणहराणि । द्विहीनानां विश्वल्यप्राणहराणि । त्रिहीनानां वैकल्यकराणि । एकस्मिन्नेव रुजाकराणीति । यत्रवैवमतोऽस्थिमम्भेस्वप्यभिहतेषु शोणितागमनं भवति । चतुर्विधा यास्तु सिराः शरीरे प्रायेण ता मम्मेस सिन्नविष्टाः। स्नाय्वस्थिमांसानि तथैव सन्धान सन्तप्य देहं प्रतिपालयन्ति। ततः क्षते मम्मीण ताः प्रदृद्धः समन्ततो वायुरिमस्तृणोति। विवद्धेमानस्तु स मातिरिश्वा रुजः स्नतीत्राः पतनोति काये। रुजािभूतस्तु पुनः शरीरं प्रलीयते नश्यति चास्य संद्या। अतो हि शल्यं विनिहत्ते मिच्छन् मम्मीणि यत्नेन परीक्ष्य कपेत्। एतेन शेषं व्याख्यातम्।

तत्र सद्यःप्राणहरमन्ते विद्धं कालान्तरेण यारयति। कालान्तरप्राणहरमन्ते विद्धं वैकल्यमापादयति। विश्वल्यप्राणहरमन्ते विद्धं कालान्तरेण क्षेत्रयति क्जाश्च करोति। क्जाकरमतीववेदनं भवति। तत्र सद्यःप्राणहराणि सप्त-रात्राभ्यन्तरान्मारयन्ति। कालान्तरप्राणहराणि पक्षान्मासाद् वा। तेष्वपि तु क्षिप्राणि कदाचिद्रशु मारयन्ति। विश्वल्यप्राणहराणि वैकल्यकराणि च कदाचिद्रस्थिभहतानि मारयन्ति।

अत ऊर्व्धं प्रत्येकुशो मर्म्मस्थानान्यतुव्याख्यास्थामः। तत्र पादाङ्गुष्ठाङ्गुल्यो-र्यध्ये क्षिपं नाम मन्मे ; तत्र विद्धस्याक्षेपेकेण मरणम् । मध्यमाङ्ग्लीमनुपूर्वण सध्ये पादतलस्य तलहृद्यं नामः तत्रापि रुजाभिर्भरणस् । क्षिपस्योपरिष्टादुभयतः क्ची नाम ; तत्र पादस्य भ्रमणवेपने भवतः। गुल्फसन्धेरध उभयतः क्चिशिरो नाम ; तत्र रुजाशोफौ । पादजङ्गयोः सन्धाने गुळ्फो नाम ; तत्र रुजास्तब्ध-पादता खञ्जता वा। पाष्णि प्रति जङ्घामध्ये इन्द्रवस्तिनीमः, तत्र शोणितक्षये गरणम्। जङ्घोच्बौः सन्धाने जानु नाम ; तत्र खञ्जता। जानुन ऊद्धं भ्रभयत-स्त्रज्ञ्चमाणिनीम : तत्र शोफाभिष्टद्धिः स्तब्धस्निथता च । अरुमध्ये उच्नी नाम ; तत्र शोणितक्षयात् सक्थिशोपः। अन्वर्धा अद्धु मधो वङ्क्षणसन्धे रूस्मूले लोहिताक्षं नाम ; तत्र लोहितक्षयेण पक्षाघातः। वङ्क्षणद्वपणयोर्न्तरे विद्यं नामः, तत्रः पाण्डामरुपशुक्रता वा भवति । एवमेतान्येकादश सक्थिमम्माणि व्याख्यातानि । एतेनेतरसङ्थिवाह् च व्याख्यातौ । विशेषतस्तु यानि सक् श्रि गुल्फजानु विटपानि, तानि वाहौ मणिवन्धकू परक्षधराणि। यथा वङ्गणरुपणयोरन्तरे विटपं एवं वक्षःकक्षयोर्भध्ये कक्षध्रम् , तस्मिन् विद्धे त एनोपद्रवाः । विज्ञेषतस्तु मणिवन्धे कुण्ठता कूर्पराख्ये कुणिः कक्षधरे पक्षाघातः। एवमेतचतुश्रलारिंशच्छाखासु मम्मीणि व्याख्यातानि।

अत ऊढुँ मुदरोरसोर्भम्मंस्थानान्यमुक्याख्यास्यामः। तत्र वातवचौनिरसनं स्थूलात्रप्रतिवद्धं गुदं नामः तत्र सद्योगरणम्। अल्पमांसशोणितोऽभ्यन्तरतः कट्यां मृत्राशयो वस्तिनीमः तत्रापि सद्योगरणमुक्तमरीत्रणादते।तत्राप्युभयतो भिनने न जीवति, एकतो भिन्ने मूत्रसावी त्रणो भवति। सं तु यत्नेनोपकान्तो रोहति।
पकामाश्ययोर्मध्ये सिराप्रभवा नाभिर्नाम ; तत्रापि सद्य एव मरणम्। स्तनयोः
पध्यमधिष्ठाय उरस्यायाशयद्वारं सत्त्वर्णस्तमसामधिष्ठानं हृदयं नाम ; तत्र सद्य
एव मरणम्। स्तनयोरधस्तात् दृरङ्कुळसुभयतः स्तनमूळे नाम मर्म्मणी ; तत्र कफपूर्णकोष्ठतया कासन्धासाभ्यां स्त्रियते। स्तनचूचुकयोरूढं, दृरङ्कुलसभयतः स्तनरोहितौ नाम ; तत्र लोहितपूर्णकोष्ठतया कासन्धासाभ्याश्च स्त्रियते। अंसक्ट्योरथस्तात् पान्धीपरिभागयोस्त्वपलापौ नाम ; तत्र रक्तेन पूर्यभावं गतेन मरणम्।
उभयत्र उरसो नाड्यौ वातवहे अपस्तम्भौ नाम ; तत्र वातपूर्णकोष्ठतया
कासन्धासाभ्याश्च मरणम्। एवमेतान्युदरोरसोद्दादश मम्मीणि व्याख्यातानि।

अत ऊर्द्ध पृष्टमम्माण्यतुन्याख्यास्यामः। तत्र पृष्टवंशसुभयतः मितश्रोणीकाण्डम्मिस्थनी कटीकतरुणे नाम मम्मेणी ; तत्र शोणितक्षयात् पाण्डिववणौ हीनरूपश्च स्त्रियते। पार्श्वज्ञवनविभागे पृष्टवंशसुभयतो नातिनिम्ने कुकुन्दरे नाम मम्मेणी ; तत्र स्पर्शावानमधःकाये चेष्टोपघातश्च। श्रोणीकाण्डयोरुपर्याशयाच्छादनौ पार्श्वान्तरमितवद्धौ नितम्यौ नाम ; तत्राधःकायशोपो दौर्व्वच्याच मरणम्। अधः-पार्श्वान्तरमितवद्धौ जघनपार्श्वमध्ययोस्तिर्यय्द्धेश्च जघनात् पार्श्वसम्धी नाम ; तत्र लाहितपूणेकोष्ठतया स्रियते। स्तनमूलादुभयतः पृष्टवंशस्य दृहतौ नाम ; तत्र शोणितातिषद्यत्तिनिमित्तरुपद्रवैद्धियते। पृष्टोपरि पृष्टवंशस्य दृहतौ नाम ; तत्र शोणितातिषद्यत्तिनिमित्तरुपद्रविद्धियते। पृष्टोपरि पृष्टवंशस्य दृहतौ नाम ; तत्र वाह्योः स्थापः शोपो वा। वाहुमूद्धेग्रीवामध्येऽ सपीटः स्कन्धनिवन्धनावंसौ नाम ; तत्र स्तव्धवाहुता। एवमेतानि चतुर्दश पृष्टमम्माणि व्याख्यातानि।

अत ऊर्डं ज्ञुगतानि व्याख्यास्यामः। तत्र कण्डनाड़ीम् उभयतश्चतसो धमन्यः, हो नीले हो च मन्ये व्यत्यासेनः तत्र मृकता स्वर्वकृतमरसग्राहिता च। ग्रीवायामुभयतश्चतसः सिरामातृकाः; तत्र सद्योगरणम्।
शिरोग्रीवयोः सन्याने कृकाटिके नामः तत्र चलमूर्द्धता। कर्णपृष्ठतोऽधःसंश्रिते विधुरे नामः तत्र वाधिर्यम्। ग्राणमार्गमुभयतः स्रोतोमार्गमितवद्धे अभ्यन्तरतः फणे नामः तत्र गन्धाज्ञानम्। भ्रू पुच्छान्तयोरधोऽक्ष्णोर्वाद्यतोऽपाङ्गी नामः तत्रान्थ्यं दृष्टुग्रपद्यातो वा। भ्रु वोरुपरिनिम्नयोरावती नामः तत्रान्थ्यं दृष्टुग्रपद्याते वा। भ्रु वोरुपरिनिम्नयोरावती नामः तत्र सद्योगरणम्। श्रु वोः पुच्छान्तयोरपरि कर्णल्लाटयोर्मध्ये शङ्गी नामः तत्र सद्योगरणम्। शङ्कयोरपरि केशान्त उत्क्षेपौ नामः तत्र सश्चरो

जीवति, पाकात् पतितशल्यो वा, नोद्धृतशल्यः। भ्रूवोर्मध्ये स्थपनी नाम ; तत्रोत्क्षेपवत् । पश्च सन्धयः शिरसि विभक्ताः सीमन्ता नाम ; तत्रोन्मादभय-चित्तनार्रीमरणम् । त्राणश्रोत्राक्षिजिह्यासन्तर्पणीनां सिराणां मध्ये सिरासन्नि-पातः शृङ्गाटकानि, तानि चलारि मम्माणि; तत्रापि सद्योगरणम्। मस्तकाभ्यन्तरोपरिष्टात् सिरासन्धिसन्निपातो रोमावर्चोऽधिपतिर्नामः तत्रापि सद्योगरणम्। एवमेतानि सप्तत्रिंशत् ऊढ्र जत्रगतानि मम्माणि व्याख्यातानि ।

भवन्ति चात्र। जन्न्यः सिरांसि विटपे च सकक्षपार्क्वे एकैकमङ्गूलमिताः स्तनपूर्वमूलम्। विद्याङ्गलिद्यमितं मणिवन्यगुल्फं त्रीण्येव जानु सपरं सह कूपराभ्याम्। हृद्दस्तिक् च्चंगुदनाभि वदन्ति मृद्धि चतारि पश्च च गले द्श यानि च हो। तानि स्वपाणितलकुश्चितसम्मितानि शेपाण्यवेहि परिविस्तरतोऽङ्गलार्द्धम्। एतत् प्रमाणमभिवीक्ष्य वदन्ति तज्हाः शस्त्रेण कम्मेकरणं परिहत्य सम्मी। पाद्यीभियातितमपीह निहन्ति मम्मी तस्माद्धि मर्म्भसद्नं परिवर्जनीयम्। छिन्नेषु पाणिचरणेषु सिरा नराणां सङ्घोचमीयु-रसगलपमतो निरेति। प्राप्यामितन्यसनसुप्रमतो मनुष्याः संछिन्नशाख-तस्विधनं न यान्ति। क्षिप्रेषु तत्र सतलेषु इतेषु रक्तं गच्छत्यतीव पवनश्र रुजं करोति। एवं विनाशमुपयान्ति हि तत्र विद्धा दृक्षा इवायुध्विघात-निकृत्तमूलाः। तस्पात् तयोरभिहतस्य तु पाणिपादं छेत्तव्यमाशु मणिवन्धन-गुङ्फदेशे। मम्मीण शल्यविषयार्द्धमुदाहरन्ति यस्माच मम्मेसु हता न भवन्ति सद्यः। जीवन्ति तत्र यदि वैद्यगुणेन केचित् ते प्राप्तुवन्ति विकलसमसंत्रयं हि। संभिन्नजर्जिरितकोप्टिशारःकपाला शस्त्रविहतेश्च शरीरदेशैः। छिन्देश्च सक्थिभुजपादकरैरशेपैर्येषां न मर्म्म-पतिता विविधाः महाराः ॥ सोममारुततेजांसि रजःसत्त्वतमांसि च । मम्मेसु प्रायशः पुंसां भूतात्मा चावतिष्ठते। मम्मेरवभिहतास्तस्मान जीवन्ति शरीरिणः। इन्द्रियार्थेष्वसंवित्तिर्मनोवुद्धिविपर्ययः। रुजश्च विविधास्तीवा अवन्त्याशुहरे हते। हते कालान्तरघ्ने तु ध्रुवो धातुक्षयो नृणाम्। ततो धातुक्षयाज्जनतुर्वेदनाभिश्च नत्रयति। इते वैकल्यजनने केवलं वैद्यनैपुणात्। शरीरं क्रियया युक्तं विकलसमवाप्तुयात्।। विशलयदनेषु विशेषं पूर्वोक्तं यच्च कारणम्। रुजाकराणि मम्मीणि क्षतानि विविधा रुजः। कुव्वेन्त्यन्ते च वैकर्यं कुवैद्यवशगो यदि। छेदभेदाभिघातेभ्यो दहनाट् दारणादपि।

उपवातं विजानीयान्मर्मणां तुल्यलक्षणम् ॥ मर्म्माभिघातश्च न कश्चिदस्ति यो ऽल्पात्ययो वापि निरत्ययो वा। प्रायेण मर्म्मस्वभिताङ्गितस्तु वैकल्यमृच्छन्त्यथ व ज्ञियन्ते । मर्म्माण्यधिष्ठाय हि ये विकारा मूर्च्छन्ति काये विविधा नराणाम् प्रायेण ते कृर्च्छतमा भवन्ति नरस्य यत्नैरिप साध्यमानाः ॥ इति ।

हें सन्धिशते इति। सन्धीनां हे शते इत्यस्थिसन्ध्यभिपायेण, स्तायुसन्धीनाम असङ्करियतात्। तर्यथा सुश्रुते। सन्धयस्तु द्विविधाश्चेष्टावन्तः स्थिराश्चः। शाखास इन्योः कट्याश्च चेष्टावन्तस्तु सन्धयः । शेपास्तु सन्धयः सन्वे विक्षे या हि स्थिरा युधैः॥ सङ्घातस्तु दशोत्तरे हे शते। तेपां शाखास्वष्ट षष्टिः, एकोनपष्टिः कोष्ठे, ग्रीवां पत्यूद्धु त्राशीतिः। एवं दशोत्तरे हे शते। तत्रैकैकस्यां पादाङ्ग्ट्यां त्रयस्रयः, द्वावङ्ग्प्छे ते चतुर्दश। जानुगुल्फ्वङ्गणेष्वेकैकः। एवं सप्तद्रशैकस्मिन् सक्थिन भवन्ति। एतेनेतरसक्थिवाह् च व्याख्यातौ। त्रयः कटीकपालेषु । चतुर्विद्यशितः पृष्ठवंशे । तावन्त एव पार्श्वयोः । उरस्यष्टी । तावन्त एव ग्रीवायाम्। त्रयः कण्टे। नाङ्गिपु हृदयक्कोमनिवद्धास्त्रष्टादश। दन्तपरिमाणा दन्तमूलेषु। एकः काकलके नासायाश्च। द्वौ वर्त्ममण्डलजौ नेत्राश्रयो । गण्डकर्णशङ्ख व्वेकैकः । द्वौ हनुसन्धी । द्वावृपरिष्टाद् भ्रूवोः शङ्खयोश्च । पश्च शिरःकपालेषु । एको मूर्छि । त एते सन्धयोऽप्टविधाः । कोरोद्खल-सामुद्र-मतर-तुन्नसेवनी-वायसतुण्ड-मण्डल-शङ्घावर्त्ताः। तेपामङ्गलिमणिवन्ध-गुळ्फजानुक्षेरेषु कोराः सन्धयः। कक्षवङ्कणदशनेषूदुखलाः। अंसपीटगुद्-भगनितम्बेषु सामुद्धाः। ग्रीवापृष्ठवंशयोः पतराः । शिरःकटीकपालेषु तुत्रसेवनी । हन्वोरुभयतस्तु वायसतुण्डाः। कण्डहृदयनेत्रक्षोमनाङ्गेषु मण्डलाः। श्रोत्र-श्रुङ्गाटकेषु शङ्कावर्त्ताः । तेषां नामभिरेवाकृतयः प्रायेण व्याख्याताः । अस्थनान्त सन्धयो होते केवलाः परिकीर्त्तिताः। पेशीस्त्रायुसिराणान्तु सन्धिसह्या न विद्यते ॥ इति । इति जपाणां सन्धीनां प्रतिसन्धानं तत्रान्तरतः क्रार्ट्यम् । ः अथ प्रत्यक्नेषु यद्यंपि कण्डरादीनि नोक्तानि, तथापि उपलक्षणतः सुश्रुतादितश्र कतिचन प्रत्यङ्गान्यधिकानि कण्डरादीनि व्याख्यास्यन्ते। तद् यथा—पोड़श कण्डराः। तासां चतस्रः पादयोस्तावत्य एव हस्तग्रीवापृष्ठेषु। एवं पोइश कण्डराः। तत्र हस्तपादगत्तानां कण्डराणां नखाः परोहा इति । नखास्त्रस्मिंस्तन्त्रे पागस्थिषु गणिताः । ग्रीवाहृदयनिवन्धिनीनाम् अधोभागगतानां मेढं परोहः। श्रोणीपृष्ठनिवन्धिनीनामधोभागगतानां विम्बः। मृद्धीरुवक्षीऽक्षपिण्डादीनाञ्चेति।

सन्धिशते । त्रिंशच्छतसहस्राणि ७ नव च शतानि पट्पश्चाशत्-सहस्राणि † शिराधसनीनामगुशः प्रविभन्यमानानां मुखाप्रपरि-साग्णम्। तावन्ति चैव केशस्मश्रुलोसानीत्येतद् यथावद् यत्संख्यातं

अथ मांसिसरास्त्राय्वस्थिजालानि प्रत्येकं चलारि चलारि। तानि मणि-वन्धगुल्कसंश्रितानि परस्परनिवद्धानि परस्परसंश्लिष्टानि परस्परगवाक्षितानि चेति येगवाक्षितिमदं शरीरम्। अथ पट् कृच्चीः। ते हस्तपादग्रीवामेढेषु। इस्तयोद्दों पाद्योद्दौ ग्रीवामेढ्योः एकैकः। एवमेते पट् क्र्चाः। अथ महत्यो मांसरज्जवश्रतसः। पृष्ठवंशमुभयतः पेशीनियन्धनार्थं ह्रे वाहेत्र आभ्यन्तरे च हे। एवं चतसः। अथ सप्त सेवन्यः। शिरसि विभक्ताः पश्च, जिहाशेफसोरेकैकास्ताः परिहर्त्तव्याः शस्त्रेण। अथ चतुर्दशास्थनां संघाताः, तेपां त्रयो गुल्फजानु-वङ्गणेषु। एतेनेतरसक्थिवाह च व्याख्यातौ। त्रिकशिरसोरेकेकः। एवं पतुर्दशास्यां संघाताः। अथ चतुर्दशैव सीमन्ताः। ते चास्थिसंघातवद्गणनीयाः। यतस्तैयुक्ता अस्थिसंघाताः। ये ह्रकाः सङ्घातास्तु खल्वप्टाद् नैकेपामिति। अथ परिगणनसामथ्येंऽपि सिराधमनीनां परिसंद्वार्थिमाह—त्रिंशदित्यादि। सिराधमनीनामणुराः प्रविभज्यमानानां समस्तत्वे त्रिंशच्छतसहस्राणीति त्रिंग्रह्कक्षाणि। शतश्च तानि सहस्राणि चेति शतसहस्राणि लक्ष्मच्यन्ते। त्रिंशच्च तानि शतसहसाणि चेति तानि तथा। द्विगुर्वा शतसहस्रिमिति, पात्रादिसात्र स्रीसम्। सिरालधमनीसभेदेन नाभिप्रभवाश्वसारिंशत् सिराश्रतु-विवैश्वतिधेमन्यस्तासां प्रधानात् नव शतानि । सप्त सिराशतानि द्वे धमनीशते इति तानि नव शतानि । पट्पश्चाशत्सहस्राणि प्रतानतो भूला पुनः प्रतानत-रित्रंश्वलक्षाणि भवन्त्यणुशो विभव्यमानानि। तेषां यावन्ति मुखाग्र-परिमाणानि तानदेव केश्वरमश्रुरोमक्रूपपरिमाणम्। तावन्ति चैव मिलिला केशस्मश्रुलोमानि न लिपकानीति। द्वासप्ततिः कोट्यो लोमानीत्युक्तमिनापि।

अणुशः प्रविभज्यमानानामिति अणुभावानां भेटेन भिद्यमानानाम् । मुखाप्रपरिमाणमिति मुखरूपस्य परिमाणम् । अत्र यान्येव सप्त शिराशतानि धमनीशतद्वयञ्चोक्तानि, तान्येव सूक्ष्मप्रतानाध्व भेदगणनया एकोनित्रंशत् सहस्राणि नव शतानि पट्पञ्चाशत्कानि, रथूलगणनत्वे पूर्वशिरासंख्या धमन्यन्तर्भवतीति न विरोधः । तावन्ति चैव केशश्मश्रुलोमानीति एकोनित्रंशत् सहस्राणि नव शतानि पट्पञ्चाशत्कानि केशश्मश्रुलोमनां भवन्तीत्यर्थः । एतच

एकोनित्रंशत्सहस्राणीति पाठान्तरम् ।

^{🔭 🕆} पटपञ्चाद्यात्कानीति वा पाठः i 🕟

त्वक्प्रभृति दृश्यमतः परं तत् तर्व्यम्। एतदुभयमपि न विक-ल-यते प्रकृतिभावाच्छरीरस्य ॥ ६ ॥

यत् त्वञ्जलिसंख्येयं तदुपदेच्यामः। तत् परं प्रमाणमभि-ज्ञेयम्। तच्च वृद्धिह्यासयोगि तक्यमेव। तद् यथा—दशोदक-स्याञ्जलयः शरीरे स्वेनाञ्जलिप्रमाणेन। यत् तु प्रच्यवमानं पुरीष-

"तिंशच्छतसहस्राणि शतानि च नवैव तु। पट्पश्चाशत्सहस्राणि रसदेही वहन्ति ताः।। द्वासप्ततिस्तथा कोट्रो लोमानीह महाम्रने।।" इति। उपसंहरतीत्येतदित्यादि। इत्यतः किं लगादि दृश्यं नान्यदित्यत आह— यत् संख्यातमित्यादि। लक्ष्मभृति यद् दृश्यं सङ्घ्रातम् अतः परं लगादिभिन्नं यत् तक्यमेव च संख्यातम्, तत् तदित्येतत् यथावत् यथार्थम्। एतदुभय मिप दृश्यं तक्यमित्युभयमपि न कल्प्यते, कृत इत्यत आह—पक्रतीत्यादि। शरीरस्य पक्रतिभावात् आरोग्यात्।। ९।।

गङ्गाधरः—अथ यद् यदपरं तदाह मानत एव—यत् तित्यादि। नन्वञ्जलि-मानतः कथमुपदिश्यते इत्यत आह—तत् परिमत्यादि। तदुपदेक्ष्यमाणमञ्जलि-प्रमाणमभिक्षे यं, यतः परं प्रमाणम् उत्कृष्टं प्रमाणकरणम्। नतु कथं प्रमाणं स्यादित्यत आह—तन्नेत्यादि। तन्नाञ्जलिमानं दृद्धिहासयोगितया तन्त्र्यमनुमेयमेव, तत्रास्ति प्रयोजनं दृद्धं हासयितव्यं हस्वं वद्धियतव्यं समं पालियतव्यमिति। नतु कस्य कस्य कियदञ्जलिमानमित्यत आह—तद् यथेत्यादि। स्वेनाञ्जलिप्रमाणेन स्यस्ययुग्मकरतलध्तोन्मानेन। एतेन सर्वेत्र व्याप्तिः। नतु कस्योदकस्य दशाञ्जलय इत्यत आह— यत् तित्यादि। विरेचनेन दोषतो वा अतियोगेन युक्तं पुरीषं

केशादिसंस्थानं स्थूलिशिरागतकेशादिविभागेन ज्ञेयम्, सूक्ष्मसूक्ष्मविभागे तु केशादीनां बहुत्वमिष शास्त्रान्तरोक्तं भवतीति ज्ञेयम् । एतत् त्वक्ष्मभृति दृश्यम्, त्वर्थ्ञ स्नाय्वादि । यथावत् संस्थात-मिति योजना । सम्प्रति यथोक्तं त्वगादीनां मानं प्रकृतिस्थे शरीरे न व्यभिचरतीति दृश्येयलाह— एतद्रभयमिति दृश्यं तक्यें । प्रकृतिभावादिति अविकृतत्वात् शरीरस्य, यत्र तु शरीरं विकृतं भवति, तत्र यथोक्तत्वगादिमानमिष विकृतं भवतीति भावः ॥ ८।९ ॥

चक्रपाणिः--- नमु यथा प्रकृतिस्थे शरीरे यथोक्तं मानं त्वगादि न व्यभिचरति, तथा किं

मनुबद्याति अतियोगेन, तथा मृत्रं रुधिरमन्यांश्च श्ररीरधातृन् ; यत् तु सर्व्वश्ररीरचरं वाद्यत्वग् विभक्तिं, यत् त्वगन्तरे त्रग्णगतं स्त्रीकाश्च्दं स्मते, यचोष्मणानुवन्धं सोमकूपेभ्यो निष्पतत् स्वदश्च्दसवामोति, तदुदकं दशाञ्जिषप्रमाणम्। नवाञ्जस्यः पूर्व्वस्याहारपरिणामधातोर्यद्रसिरिस्याचन्ते। अष्टौ शोणितस्य, सप्त पूरीपस्य, पट् श्लष्मणः, पञ्च पित्तस्य, चत्वारो मृत्रस्य, त्रयो वस्तायाः, द्रौ मेदसः, एको मङ्जः। मस्तिष्कस्याद्यञ्जितः, शुक्रस्य तावदेव प्रमाणं, तावदेव श्लेष्मणश्चौजसः। इत्येतदेव श्ररीरतत्त्वमुक्तम्॥ १०॥

प्रच्यवमानं यदुदकमनुवध्नाति, एवं यदुदकमतियोगयुक्तं मूत्रश्च रक्तश्च अन्यानिप शरीरधात्नितयोगेनानुवध्नाति, यच्चोदकं सर्वेशरीरचरं वाह्यसम् विभक्ति, यत् तूदकं लगन्तरे वर्त्तमानं अणगतं क्षतगतं सत् निर्मच्छति लसीकाशब्दश्च लभते तस्योदकस्य द्शाञ्जलयः। नन्वेतावदेव किम्रुद्कमस्ति नास्त्यन्यदित्यत आह—यच्चेत्यादि। यच्चोदकम् उष्मणा शरीरव्यापि-तदप्युदकं दशाञ्जलिममाणं स्वेनाञ्जलिममाणेनेति सम्बेत्रामुबत्तते । पूर्वस्याद्यस्य आहारपरिणामधातो रसाख्यस्यः नवाङ्गलय इत्याह-यद् रसमित्यादि। **અ**ષ્ટો शोणितस्य द्वितीयधातोरञ्जलयः स्वेनाञ्जलिमानेन । सप्त पुरीपस्याञ्जलयः । पट् इलेष्मणोऽञ्जलयः । पञ्च पित्तस्याञ्जलयः। चतारो मृत्रस्याञ्जलयः। त्रयो वसाया अञ्जलयः। द्वौ मेदसोऽञ्जली। एको मज्जो मज्जधातोरञ्जलिः। मस्तिष्कस्य मस्तकान्तरस्थस्य ष्ट्रतिकाख्यस्याद्धां अलिः। शुक्रस्याद्धां अलिः। इलेष्मणश्रौजस ओजोधालाख्य-इलेष्मणः इलेष्मविशेषस्य तावदेवाद्धीञ्जलिरेव। अष्टविन्द्वारमकन्तु यदोजः तन्न रुद्धिहासयोगि तन्यं, तन्नाशाद्धि नाशः स्थादिति । विन्दुहि कर्पमाणम्, तेऽष्ट्रो सद्धीञ्जलिः॥ १०॥

प्रकृतिस्थे शरीरे तद्दकाद्यपि यथोक्तं मानं न व्यभिचरतीत्याह— यत् त्वक्षकीत्यादि । यत् सु हदकादि अक्षित्संखेयमञ्जे वश्यमाणम्, तद्दकादेः परं प्रमाणम् ॥ १०॥ ७म अध्यायः]

तत्र यद् विशेषतः स्थूलं स्थिरं मूर्त्तिमद् गुरुखरकितमङ्गं नखास्थिदन्तमांसचर्मवर्चःकेश्रमश्रुलोमकरण्डरादि,तत् पार्थिवं गन्धो व्रागञ्च। यद् द्रवसरमन्दिक्षण्धमृदुपिन्छिलं रसरुधिरवसा-कफिपत्तमृत्रस्वेदादि, तदाप्यं रसो रसनञ्च। यत् पित्तमुष्मा च यो या च भाः शरीरे, तत् सर्व्वमाग्नेयं रूपं दर्शनञ्च। यदुच्छ्वासप्रश्वासोन्मेषिनमेषाकुञ्चनप्रसारणगमनप्र रण्धारणादि, तद् वायवीयं स्पर्शः स्पर्शनञ्च। यद् विविक्तमुच्यते महान्ति चाणूनि च स्रोतांसि, तदान्तरीचं शब्दः श्रोत्रञ्च। यत् प्रयोक्तृ तत् तत् प्रधानम् बुद्धिमनश्च। इति शरीरावयवसंख्या यथा-स्थूलभेदेन अवयवानां निर्दिष्टा॥ ११॥

गङ्गाथरः—अथोक्तलगादिषु मातृजलादिभेदेन पूर्वमुक्तं पाञ्चभौतिकलम्, तदेन सामान्यतो भौतिकलं विशिनष्टि—तत्रेत्यादि। तत् पार्थिवमिति पृथिव्यिषकपाञ्चभौतिकं, गन्धोऽपि घाणञ्चेन्द्रियं तादशम्, अन्यथा गन्धिवशेषो न स्यात् घाणस्यापीन्द्रियलं न स्यात्। यद् द्रवेत्यादि। तदाप्यमित्यव्यहुल-पञ्चभूतात्मकं, रसोऽपि तथा, अन्यथा विशेषो न तस्य स्यात्। रसनमपि तथा, न हीन्द्रियलरूपेण विशिष्टापूर्व्वलं केवलजलात्मकले भवति। यत् पित्तमित्यादि। आग्नेयं तेजोऽधिकपञ्चभूतात्मकं, रूपं दर्शनञ्चेन्द्रियं तथालात्। यदुच्चृासा-दिकं तद् वायवीयं वायुप्रधानपञ्चभूतात्मकवायुक्तार्यम्। यद् विविक्तं विरललं छिद्रादिरूपं तदान्तरीक्षमाकाशात्मकं, शब्दश्चाकाशवहुलपञ्चभूतात्मकः स्वरूपो विशेपरूपात्, श्रोत्रञ्चाकाशवहुलपाञ्चभौतिकं सचेष्टलात्। निश्चेष्टस्याकाशस्य स्वमात्रात्मकले तु न तथालं स्यात्। यत् प्रयोक्तृ मनःश्रोत्रादीनि च स्वस्वार्थं यत् प्रयुङ्क्ते यत् सत्त्वादिगुणाश्रित आत्मा प्ररयित तद्गुणप्रधानं तत्। तदाश्रयणं चुद्धिमनश्च यदा यत् प्रयोक्तृ तदा तद्गुणप्रधानं तद् गुणवदात्म-प्रधानम्।। ११।।

श्रीरावयवास्तु परमागुभेदेनापिसंख्येया भवन्ति अतिवहु-त्वादितसौद्ध्यादतीन्द्रयत्वाच । तैषां संयोगिवभागे परमा-गृनां कारगां वायुः कम्भे स्वभावश्च । तदेतच्छरीरसंख्या-तम् अनेकावयवं दृष्टम्, एकत्वन सङ्गसंख्यातं, पृथव्त्वेन

गङ्गाधरः—उपसंहर्त्तु माह—शरीरेत्यादि। नतु परमाणुभेदेनापरिसङ्की प्रया
भवन्तु शरीरावयवास्तेषां संयोगिविभागौ कथं भवत इत्यत आह—
तेषामित्यादि। तेषां स्थूलाङ्गप्रत्यङ्गघटकानां मातृजादिपरमाणूनां संयोगे
विभागे च कारणं वायुः सिक्तयतात्। नतु सन्वदा संयोगस्य विभागस्य प्रष्टत्यापत्तिर्वायुसङ्गावादित्यत आह—कम्मे स्वभावश्चेति। कम्मे शुभाशुभक्रियानिष्पन्नसंस्कारिवज्ञेषधम्माधम्मेपरिणामः, स्वभावश्च तत्तत्पुरुपशरीरारम्भकतया संयोगे विनाशकतया च विभागे तेषां परमाणूनां स्वभावोऽपि
कारणमित्यर्थः। नतु तेषां संयोगे सित किं विभागे वा किं स्यादित्यत
आह—तदेतच्छरीरेत्यादि। तत् लगादिकमेतत् अनेकावयवं शरीरसङ्क्षातं शरीरसंज्ञ्या स्वयातं दृष्टं भवति। एकत्वेनात्ममनोन्नस्वर्धःकाराकाशादीनां
समुदायानां मिलितत्वेनैकीभृतत्वेन सङ्गसंख्यातं सङ्गः संयोगस्तेन सङ्गेन
संख्यातं व्याख्यातम्। पृथक्त्वेन तेषां परमाणूनामात्ममनःभभृतीनां विभागेन

चक्रपाणिः—अतिसौक्ष्मादिति अतिस्क्ष्मबुद्धिवोध्यत्वात् । अतीन्द्रियत्वञ्च परमाणूनां स्वभाव-सिद्धमेवास्मदादीन् प्रति । यत् तु सूक्ष्ममतीन्द्रियं वा, तत् परिसंख्यातुं नितरामेव दृष्करं भवतीति युक्तं हेतुन्नयमपरिसंख्याने । अधेते विषयकित्ताः परमाणवः कथं शरीरे संयुज्यन्ते, शरीरिवनाशेऽपि वियुज्यन्ते इत्याह—तेपामित्यादि । ननु यदि वायुः कारणं परमाणूनां संयोग-विभागे, तत् किमिति करोतीत्याह—कर्म्म स्वभावश्चेति, न केवलो वायुः, किन्तु कर्म्मस्वभाव-पर्गिष्टिति एव । तेन संयोगे कर्माणा स्वभावेन च वायुः परिगृहीतो भवति, तथा वियोगे परमाणूनां शरीरिवनाशं जनयतीत्यर्थः । इदानीं शरीरसंख्यानपालमाह—तदेतिद्त्यादि । परमार्थतो-ऽनेकावयवमिष तच्छरीरं संख्याने मोहादेकत्वेन दृष्टं सत् सङ्गहेतुर्भवतीत्यर्थः । प्कत्वेन हि शरीरं त्रपवर्गः। तत्र प्रधानमशक्तं सर्व्वसत्तानिवृत्तौ * निवर्त्तते ॰ इति ॥ १२ ॥

तत्र श्लोकौ।

श्ररीरसंख्यां यो वेद सर्व्वावयवशो भिषक्। तदज्ञाननिमित्तेन स मोहेन न युज्यते॥

अपवर्गों मोक्षः। मृते हि न मनसा न कर्म्मणा नाकाशादिभिरात्मनो विभागः।
नतु यथा आत्माधिष्ठानेन वायुः कर्म च स्वभावश्च परमाणूनामात्मादीनां
संयोगेनैकीभावेन सङ्गसंख्याततं सम्पादयति, यथा च विभागेन शरीरदेहिनोमृ ततं सम्पादयति, तथात्मनो मनोचुद्धप्रादिभिर्विभागं सम्पादयन्तपवर्गं सम्पादयतु इत्यत आह—तत्रेत्यादि। प्रधानं सत्त्वादित्रिगुणवानात्मा तत्रात्ममनोचुद्धप्रादीनां पृथक्तवे अक्षक्तं न समर्थं न हि वायुर्वा कर्म वा शुभाशुभं स्वभावो
वा सर्व्वपरमाणूनां पृथक्तकरणे संभवति, परनतु सर्व्वसत्तानिष्टत्तौ सर्व्वभावानां निष्टतौ सत्यां निवर्त्तते निःजेपतो निष्टत्तिमद् भवतीति।। १२।।

गङ्गाधरः—अथैतच्छारीरकानफलार्थं श्लोकावाह—शरीरसङ्ग्रामित्यादि। तदकाननिमित्तेन तेपां शरीरावयवानामकानं निमित्तं यस्य तेन मोहेन

पद्यन् तद्यकाराय प्रवर्त्तमानो रागद्दे पाभ्यां सक्तो भवति । अपवर्ग इत्यपवर्गहेतुरित्यर्थः । शरीरन्तु पृथगवयवेन भाष्यमाणं न समतास्पदं भवति, समताभावाच न तद्यकारकापकारकेषु रागद्दे पे भवतः, तद्मावाच प्रवृत्युपरमे सित धर्माधर्माभावादपवर्गो भवतित्यर्थः । शरीरसंख्याने यथा मोक्षो भवति, तदाह—तत्रेत्यादि । प्रधानमात्मा । तत्रेति शरीरपृथक्षभावनायाम् । असक्तमिति यथोक्तकमेण रागद्दे परहितम् । सर्व्वसन्तानाभिनिवृत्ताविति सर्व्वत्रोपकारके वापकारके च भावे आस्थानिवृत्तो सत्याम्, निवक्तं हित संसारे निवक्तं ॥ १९११२ ॥

चक्रपाणिः—इममेव गद्योक्तमर्थं श्लोकेनाह—शरीरेत्यादि । तद्ज्ञाननिमित्तेनेति शरीरैक-रूपतारूपिभ्याज्ञानजन्येन । मोहेनेति 'अहं स्थिरशरीरी एको ममेदमुपकारकम्' इत्यादिमोहेन ।

^{*} अशक्तं सर्व्यसत्तानिवृत्तो इत्यत्र असक्तं सर्व्यसन्तानाभिनिवृत्तो इति चकसम्मतः पाठः।

अयृढ़ो मोहयूलैश्च न दोषैरिसभूयते । निर्दोपो निस्पृहः शान्तः प्रशास्यत्यपुनर्भवः ॥ १३ ॥

इत्यिश्वकृतै तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतै शारीरस्थाने श्रीर-संख्यानाम शारीरं नाम सप्तमोऽध्यायः॥ ७ ॥

इच्छाद्वेषभयशोकलोभादिना स भिषक् न युज्यते। तेन च यत् फलति तदाह—
अमूढ़ इत्यादि। अपूढ़ो भिषङ् मोहमूल्वेदोषैः कामादिहेतुकप्रवर्त्तनालक्षणैः
नाभिभूयते। ततश्च यत् फलति तदाह—निद्योष इत्यादि। निद्योषः प्रवर्त्तनालक्षणदोषरिहतो भिषग् निस्पृहश्च भवति। तादशस्तु चेद्भवति तदा शान्तः
स्यात् सब्वेकस्मीसु प्रवर्त्तनायां यतः प्रशास्यति। शान्तश्च यदि भवति तदा
अपुनर्भवः पुनर्भवरिहतो सुक्तो भवतीति चरमं फलति॥ १३॥

अध्यायं समापयति -अग्नीत्यादि ।

इति वैद्यश्रीगङ्गाध्रकविरविवरिचते चरकजलपकलपतरौ शारीरस्थानजलपाख्ये चतुर्थस्कन्धे शरीरसंख्याशारीरजलपाख्या सप्तमी शाखा ॥ ७ ॥

मोहमूलेंरिति मोहकारणकेंः । दोपैरिति रागद्वेषेः । निर्दोपत्वेन निस्रहो भवति । रागद्वेषमूला होच्छा तद्रभावान भवति । निस्रहश्च सन् सर्व्विकयोपरमात् शान्तो भवि । शान्तश्च सन् प्रशाम्यति संसरणे विश्राम्यति । ततश्च नास्य पुनर्भवो जन्मरूपो भवतीति ॥ १३ ॥

इति महामहोपाध्यायचरकचतुराननश्रीमचक्रपाणिदत्तविरचितायामायुर्वेददीपिकायां चरक-तात्पर्य्योकायां शारीरस्थाने शरीरसंख्यानाम शारीरं सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

अष्टमोऽध्यायः।

अथातो जातिसूत्रीयं शारीरं व्याख्यास्यासः, इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

स्त्रीपुं सयोरव्यापन्नशुक्रशोणितगर्भाश्ययोः श्रेयसीं प्रजा-मिच्छतोस्तन्निव्वृत्तिकरं कम्मोपदेच्यामः। अथाप्येतौ स्त्री-

गङ्गाधरः—अथ शारीरं यावदुत्तवा जन्ममकारोपदर्शनार्थं जातिसूत्रीयं शारीरमारभते—अथात इत्यादि। जातिर्जनम तस्याः सूत्रमधिकृत्य कृतमिति जातिसूत्रीयम् ॥१॥

गृङ्गाधरः—स्त्रीषु सयोरित इन्हे स्त्रियाः पूर्व्वनिपातः। द्वादशवर्षा स्त्री पञ्चित्रं तिवर्षः पुमान, न स्त्रो न्यूनवयसोः स्त्रोषु सयोर्व्यक्तार्त्वत्यात् स्त्रियाः पु सस्त्रदृदृश्कत्यात्। उक्तञ्च सुश्रुते—यथा हि पुष्पमुक्तलस्थो गन्धो न शक्यमिहास्तीति वक्तुं नैव नास्तीति। अथवास्ति स्तां भावानामभिव्यक्तिरिति कृत्या केवलं सौक्ष्मग्रान्नाभिव्यक्त्यते, स एव गन्धो विष्टतपत्रकेशरैः कालान्तरेणाभिव्यक्तिं गच्छति ; एवं वालानामपि वयःपरिणामात् शक्त-मादुर्भावो भवति। रोमराज्यादयोऽथात्त्वादयञ्च विशेषा नारीणां रजसि चोपचीयमाने शनैः शनैः स्तनगर्भाशययोन्यभिष्टद्धिभवति। स एवान्नरसो छद्धानां जरापकशरीरसान्न प्रीणनो भवतीति। यथासम्भवादव्यापन्नशक्तसं पु सो-ऽच्यापन्नशोणितगर्भाशययोनिलं स्त्रियाः। गर्भाशयपदं योनाष्ठपलक्षितम्। मजामपत्यम्। एतेन साधारणापत्यनिव्य त्तिकरकम्मणोऽवान्तरीयकत्तादुपदेश-

चक्रपाणिः—सम्प्रति पारिशेण्यात् जातिस्त्रीयमुच्यते । 'जाति'शब्देन जन्मकारणमुच्यते, तस्य सूत्रं जन्मोपायकथनसूत्रम्, तद्विक्तर्य कृतोऽण्यायः । खीपुं सयोरिति कमनिर्देशं कृत्वा अन्यापत्रशोणितगर्भाशयशुक्रयोरिति निर्देशो यथाकमानुरोधात् यद्यपि युज्यते, तथाप्यत्र 'शुक्रं पूज्यं नियच्छति' इति न्यायमाश्रित्य कमभेदेन निर्देशः । श्रेयसीं प्रजामिच्छतोरित्यत्र श्रेयसी प्रजा गुणवान् पुत्रो गुणवती च कन्याभिष्रेता । यतः अत्र कन्योत्पादविधानं लेशतः करिप्यति । तन् निर्गुणयोः कन्यापुत्रयोस्तथा नपुं सकस्य चाश्रेयस्वेन च्युदासः । अन्ये पुत्रमेव श्रेयसीं प्रजामाहुः । यतः अत्र सर्व्यम्, पुत्रमेवोद्दिश्य विधानं प्रायः करिप्यति । तद्यीभिनिद्धं तिकरमिति

पुंसौ स्नेह्स्वेदाभ्यामुपपाद्य वमनविरेचनाभ्यां संशोध्य क्रमात् प्रकृतिमापाद्येत् । संशुद्धौ चास्थापनानुवासनाभ्याम् उपाचरेत्, उपाचरेच मधुरौषधसंरक्कताभ्यां घृतचीराभ्यां पुरुषं, स्त्रियं पुनस्तैलमापाभ्याम् । ततः पुष्पात् प्रभृति त्रिरात्रं ब्रह्मचारिणी आसीताधःशायिनी पाणिभ्यामन्नमजर्जरपात्रे सुञ्जाना न च काश्चिदेव खुजामापदेगत ॥ २ ॥

मित्नापि वोध्या। अथाप्येतावित्यादि। एतौ स्रीपुंसौ निरुक्तरूपाँ। क्रमेण वमनविरेचनानन्तरं दौर्ट्यत्ये जाते पेयादिक्रमेण प्रकृतिं जातवलादिकतं पाग्वहुप-पाद्यत्। संशुद्धाविति वमनविरेचनाभ्याम्। उपाचरेच्चेति। आस्थापनानुवास-नोपचरणानन्तरं पुरुपं मधुरौपधैर्जीवनीयौपधैर्दशिभः संस्कृताभ्यां साधिताभ्यां घृतशीराभ्यां पुरुपप्रपाचरेत्। मधुरौपधमंस्कृताभ्यां तैलमापाभ्यां स्त्रियं उपाचरेत् पानाहारविधिना। तत्र जीवनीयदशककाथकल्काभ्यां स्नेहात् चतुर्श्य णपादिकाभ्यां घृतं तैलश्च साधयत्। क्षीरन्तु चतुर्श्य णजलेन स्वाष्टमांश-जीवनीयदशककल्केन स्वावशेषं साधयत्। भाषस्तु यूपस्पादिरूपेण निष्पाद्यः। जीवनीयदशककल्केन स्वावशेषं साधयत्। मापस्तु यूपस्पादिरूपेण निष्पाद्यः। जीवनीयदशककल्केन स्वावशेषं साधयत्। सापस्तु यूपस्पादिरूपेण निष्पाद्यः। चार्यः इति। ततः पुष्पात् पश्तीति। ततो मासं क्रमेणोपचितशुद्धार्त्तवमवर्त्तनमारभ्य त्रिरात्रं नारी अधःशायिनी खट्यद्गुद्धु देशे शयनं हिला भूमिदेशे दर्भस्तुद्वार्या नारी अधःशायिनी स्वता स्ती स्वणोपस्ता सती पाणिभ्यां कर्तत्राभ्याम्यमञ्जरिपात्रं वा भुज्ञाना च जीर्णतमपात्रेत्रत्वार्याद्विधना

श्रेयः प्रजारूपप्रयोजनिन्पाद्कम् । अथापीत्यादौ 'अथ'शब्दोऽधिकारे, 'अपि'शब्दो विशेपार्थः । तेन व्यापनशुक्रशोणितगर्भाशययोरिप छीपुंसयोः श्रेयः प्रजाजनकगुणाधानार्थं स्नेहादिकामंकरण-मिति दर्शयति । यद्यपि 'एतौ' इतिपदेनैवाधिकृतौ छीपुंसौ रुव्धो, तथापि पुनर्यतः छीपुंसौ स्नेहनादिवक्ष्यमाणकामणा योज्यो इति दर्शयति । क्रमेणेति पेयादिक्रमेण, स च क्रमः वमने पृथक्षप्रदेशान्तरोक्तकमन्यायेन बोद्ध्यः । पुनः 'संशुद्धो च' इति वचनात् सम्यक्छुद्धयोरेवास्थाप-नानुवासने कर्त्तव्ये, नासम्यक्छुद्धयोरिति दर्शयति । 'मधुरौपध'शब्देन मधुरौपध्यहणं मधुरस्य विशेपेण शुक्रवृद्धिकरत्वात् । अन्ये तु 'मधुरौपध'शब्देन जीवनीयगणिमच्छन्ति । पुष्पादित्यार्त्वन ततश्चतुर्थेऽहन्येनामुत्साच सशिरस्कं स्नापित्वा शुक्ना-न्यचुण्णानि वासांस्याच्छादयेत् भूषाश्च धारयेत्, पुरुषश्च ।

गुजाना च सती आसीत वत्तत, न च काश्चित् मृजां दन्तगात्रादिगार्ज्ञनं नापदेशतेति । उक्तश्च सुश्रुते—"अथास्मै पश्चविंशतिवर्णाय द्वादशवर्णा पत्नीमाव-हेत् पित्रप्रधम्मीर्थकाममजाः पाप्स्यतीति । ऋतुस्तु द्वादशरात्रं भवति दृष्टात्तेवः । अदृष्टार्त्तवाऽप्यस्तीत्येके भापन्ते । तद्वर्षाद् द्वादशात् काले वर्त्तमानमस्क पुनः । जरापकशरीराणां याति पश्चाशतः क्षयम् । पीनमसन्तवदनां मिकनाराष्ट्रासाष्ट्रस् द्विजाम् । नरकामां पियकथां स्नत्तक्रध्यक्षिमृद्धेजाम् ॥ स्फुरद्भुजक्कचश्रोणी-नाभ्यूरुज्ञधनस्क्रिचम्। हपौ त्सु स्यपराश्चापि विद्यादतुमतीमिति।। नियतं दिवसेऽतीते संकुचत्यम्युजं यथा। ऋतौ व्यतीते नार्ध्यास्तु योनिः संत्रियते तथा।। मासेनोपचितं काले धमनीभ्यां तदार्त्तत्रम्। ईपत्कृष्णं विगन्धश्च वायुर्योनिमुखं नयेत्।। ऋतौ प्रथमदिवसात् प्रभृति ब्रस्चारिणी दिवास्त्रमाञ्जनाश्रुपातस्नानानुर्हेपनाभ्यङ्गनखच्छेदनप्रधावनहसनकथनातिशन्द-श्रवणविञ्चेखनानिलायासान् परिहरेत् । किं कारणम् ? दिवाखगन्त्याः खाप-शीलोऽञ्जनादन्यो रोदनार् विकृतदृष्टिः स्नानानुलेपनार् दुःखगीलस्नैलाभ्य-ङ्गात कुष्ठी नखापकर्त्तनात् कुनखी प्रधावनाचश्वलो हसनाच्छ्यावद्रन्तौष्ठतालु-जिह्नः प्रलापी चातिकथनाद्तिशब्दश्रवणाद् विधरः अवलेखनात् खलति-मीरुतायाससेवनात् उन्मत्तो गर्भौ भवतीत्येवमेतान् परिहरेत्। दमसंस्तरण शायिनीं करतल्जारावपर्णान्यतमभोजिनीं हविष्यं त्रप्रहश्च भर्तः संरक्षयेत्। इति ॥२॥

गङ्गाथरः—ततश्रतुर्थे इत्यादि । ततिस्तरात्रानन्तरं चतुर्थेऽहिन दिने एनां व्रह्मचारिणीमृतुनतीं स्त्रियमुत्साद्य खलितैलहरिद्राद्व्यद्वर्तनेनोद्वर्त्तेय सकेश-गात्रं सिश्चरस्तं शिरःसहितं स्त्रापियला शुक्तानि व्वतवर्णान्यक्षुण्णानि वासांस्याच्छादयेत् भूपाश्च धारयेत् । पुरुषञ्चेति । पुरुषपि पूर्व्य मासं मैथुनोपरतं, स्त्रीपुष्पात् प्रभृति च त्रिरात्रं ब्रह्मचारिणं मैथुनोपरमणेन, तथाधः- शायिनं पाणिभ्यामजडर्त्ररपात्रे वा हिवष्यविधानेनान्तं शुङ्कानम्, गात्रादि- मार्ज्यनादि वर्ज्ययन्तंम्, चतुर्थेऽहि तथैवोत्साद्य सशिरस्कं स्नापियला शुक्कान्यक्षण्णानि वासांस्याच्छादयेत्, तथा सनं भूषणञ्च धारयेत् । वहुवचनात्

ततः शुक्कवाससी च स्रिग्विगो सुमनसावन्योन्यमिकामो संवसेतासिति वृयात्। स्नानात् प्रभृति युग्मेष्वहसु संवसेतां पुत्रकामो, अयुग्मेषु दृहितृकामो॥ ३॥

एकद्वियसनाच्छादनव्यवच्छेदः । तथा स्नातं स्रग्विणमळङ्कृतं भर्तारं तथा शुद्ध-म्त्राता सग्विणी भ्पालङ्गृता कृतमङ्गलाचरणस्वस्तिवाचना प्राक्ष पद्येत् भर्त्तृ सदशपुत्रकामा इत्यर्थः शेषः। उक्तं हि सुश्रुते—ततः शुद्धस्त्रातां चतुर्थे- ऽहन्यहत्वासस्मलङ्गृतां कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनां भक्तारं दर्शयेत्। तत् कस्य हेतोः ? पूर्वि पञ्येदतुम्त्राता याद्यं नरमङ्गना । ताद्यं जनयेत् पुत्रं भर्तारं दर्शयेदतः । ततो विधानं पुत्रीयमुपाध्यायः समाचरेत् । कम्मान्ते च ऋम् ह्यनमारभेत विचक्षणः ॥ इति । ततः किं कुर्य्यादित्यत आह—ततः शुक्रवाससौ इत्यादि । सुमनसाविति सुचित्तौ संवसेतां सहवासं कुर्यातामित्यर्थः। ननु पुत्रकामयोदु हित्कामयोश्च दिवसनियमोऽस्ति न वा सहवासे इत्यत आह—स्तानादित्यादि। स्तानदिनमारभ्य युग्मेष्त्रहःसु दिनेषु न तु स्तानात् पृष्व, तेन चतुर्थे पष्टे अप्टमे दशमे द्वादशे वा दिने पुत्रकामौ संवसेताम्। दुहित्कामौ लयुग्मेषु, स्नानात् प्रभृति न तु स्नानात् पूर्व्वं, तेन पश्चमे सप्तमे नवमे एकादशे चाहिन संवसेतामित्यर्थः। सुश्रुतेऽप्युक्तम् – ततोऽपराह्रे पुमान यासं ब्रह्मचारी सर्पिः स्तिग्धः सर्पिः क्षीराभ्यां शाल्योदनं भुक्तवा मासं ब्रह्मः चारिणीं तैलस्त्रिग्धां तैलमापोत्तराहारां नारीष्ठुपेयाद्वात्रौ सामादिभिरभिविश्वास्य विकरण्यैवं चतुर्थ्यां पष्टप्रामप्टम्यां दशम्यां द्वादश्याञ्च रात्राष्ट्रपेयादिति पुत्र-कामः। एप्तरोत्तरं विद्यादायुरारोग्यमेव च। प्रजासौभाग्यमैश्वर्यं वलञ्च दिवसेषु वै।। अतः परं पश्चम्यां सप्तम्यां नवम्यामेकाद्द्याश्च रात्रौ स्त्रीकामः। त्रयोदशीप्रभृतयो निन्द्या इति। एवं (गर्भावक्रान्तिशारीरे) सुश्रुतेऽप्युक्तम्— युग्मेषु तु पुमान् प्रोक्तो दिवसेष्वन्यथाऽवला । पुष्पकाले शुचिस्तस्मादपत्यार्थी स्त्रियं त्रजेत् ॥ अथ तत्र प्रथमे दिवसे ऋतुमत्यां मैथुनगमनमनायुष्यं पुंसां भवति । यश्च तत्राधीयते गर्भः स प्रसवमानो विमुच्यते, द्वितीयेऽप्येवस् स्तिका-गृहे या। तृतीयेऽप्येवमसम्पूर्णाङ्गोऽल्पायुर्वा भवति। चतुर्थे तु सम्पूर्णाङ्गो दर्शनात्। घहाचारिणीति ,अधःशायिनीति च व्रिरात्रमित्यनेन सम्बध्यते। रनानात् ममृतीति संवसेतामित्यनेन सम्बध्यते, तेन स्नानात् प्रमृति मैथुनं विश्वीयते, न तु स्नानदिनात् (पुरुवें) प्रभृति, पुत्रकामयोर्षु रमदिनविधानात् । युग्मदिनन्तु प्रथमदिनात् प्रभृत्येव राणनीयम् ।

न च न्युक्जां पार्श्वगतां वा संसेवेत ; न्युक्जाया वातो वलवान् स योनि प्रपोड़यति, पार्श्वगताया दिन्तगो पार्श्वे श्लेष्मा संव्यूतः पिदधाति गर्भाश्यम्, वामे पार्श्वे पित्तं तदस्याः पीड़ितं विदहति रक्तं शुक्तञ्ज, तस्मादुत्ताना सती वीजं यह्णीयात्। तस्या हि यथास्थानमवतिष्ठन्ते दोषाः। पर्य्याप्ते चैनां शीतोदकेन परिषिञ्चेत्॥ ४॥

दीर्घायुश्च भवति। न च पवर्त्तमाने रक्ते वीजं प्रविष्टं ग्रुणकरं भवति। यथा नद्यां प्रतिस्रोतः प्रावि द्रव्यं प्रक्षिप्तं प्रतिनिवर्त्तते नोद्धं गच्छति, तद्वदेव द्रष्ट्रव्यम्। तस्मान्नियमवतीं त्रिरात्रं परिहरेत्। अतः परं मासादुपयात्। इति। अत्र मासाद्द्र्णे मित्यर्थः। अर्व्वाङ् मासाद् गमनं पुनर्गभेद्वारिवघट्टनेन स्थितमिष् गर्भं व्यापादयति। केचित् तु अतः परं पश्चदशदिनात् गर्भं लाभविनिश्चय एव लब्धगर्भीत् तु नैवेति पटन्ति॥ ३॥

गङ्गाथरः— नतु सहवासे वहवो वन्धाः कामशास्त्रे दृश्यन्ते, केन वन्धेन संवसेतामित्यत आह—न चेत्यादि। न्युव्जामनुक्तानां पार्ध्वगतां दक्षिणेन वामेन वा पार्श्वन शियतः सन् न च संसेवेत रमेत। ननु कस्मात् न्युव्जां न सेवेतेत्यत आह—न्युव्जाया इत्यादि। प्रपीइयति न च वीजं ग्राहयतीति भावः। ननु पार्ध्वगतां कस्मान्नोपसेवेतेत्यत आह—पार्श्वत्यादि। पार्ध्वगताया वामपार्श्वनं शियताया दक्षिणे पार्श्व श्रेष्ट्या संव्यूतः सन् गर्भाशयं पिद्धाति। दक्षिणेन पार्श्वनं शियताया वामपार्श्वे पित्तं तत् संव्यूतं सत् पीड़ितश्च सत् अस्याः स्त्रिया मैथुनेन गृहीतशुक्रायाः तच्छुकं स्वाक्त्वरक्तश्च मिलितमपि विदहति। तस्मादुक्तानेति। ननु कृतो वीजमुक्ताना गृह्णातीत्यत आह—तस्या हीत्यादि। दोषा वातपिक्तकपाः। यथास्थानं स्वस्वस्थानम्। पय्यक्ति चैनामिति परिगतमैथुने मैथुनसमाप्तावित्यर्थः। एनां कृतरमणां स्त्रियं मैथुनश्रमोष्मप्रशमार्थं शीतोदकेन मुखनयनादिषु योनिषु च परिषिञ्चेत्।। ४।।

यदुक्तं हारीते चतुर्थापप्ट्यप्टमीहादशीषु गुणवन्तमायुष्मन्तं पुत्रं जनयति, पञ्चमीनवम्येकादशीषु कन्या गुणवतीः, सप्तम्यां दुर्भगाकन्यामिति ॥ २।३ ॥ तत्रात्यशिता चुधिता पिपासिता भीता विमनाः शोकार्ता कृद्धा चान्यश्च पुमांसिमच्छन्तो सेथुने चातिकामा वा नारी गर्भ न धत्ते, विग्रणां वा प्रजां जनयति । अतिवालामितवृद्धां दीर्घरोगिणीमन्येन वा विकारेणोपस्टष्टां वर्ज्यते । पुरुषे-ऽप्येत एव दोषाः । अतः सर्व्यदोषविर्जितौ स्त्रीपुरुषौ संस्टब्येयाताम् ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः - अथ न्युव्जलादिषु गर्भानाधानप्रकरणादन्यानिप गर्भानाधान-हेतूनाह — तत्रेत्यादि । अत्यशिता अतिशयेनाशितं भ्रुक्तं पीतं लीढ्ं खादितं वा यया सा अत्यशिता। क्षितिता क्षुधा जातास्याः सा, एवं पिपासा जातास्याः सा। विमनाः विगतं चिन्तादिभिनं खच्छन्दं मनो यस्याः सा। इच्छन्तीति रमणार्थमिच्छति रमणकालेऽन्यं पुरुपं या सा। यदि चात्यशिताद्यन्यतमा गर्भ धत्ते, तदा विगुणां वेत्यादि। गर्भ न धत्ते विगुणां वा प्रजां जनयतीति सुत्रदृयमनुवर्त्ततेऽधिकारलात्। तस्मात् अतिवालामित्यादिकां स्त्रियं वर्ज्जयेत्। उक्तं हान्यत्र—वालेति गीयते नारी यावत् पोड्शवत्सरस्। ततः परन्तु तरुणी यावद्दात्रिंशतं व्रजेत्।। तत ऊर्ड् भवेत् पौटा यावत् पश्चाशतं व्रजेत्। ततः परं भवेद् वृद्धा सुरतोत्सवविजिता। वाला तु प्राणदा प्रोक्ता तरुणी प्राणधारिणी। मौढा करोति रुद्धत्वं रुद्धा मरणमादिशेत्। निदायशरदोर्घाछा मौढा वर्षावसन्तयोः। हेमन्ते शिशिरे योग्या छुद्धा कापि न शस्यते।। सद्योमांसं नदानञ्च वाला स्त्री क्षीरभोजनम्। घृतमुण्णोदकञ्चैव सद्यःप्राणकराणि पर्।। पूर्तिमांसं स्त्रियो राजा वालाक स्तरुणं दिधा प्रभाते मैथुनं निद्रा सद्यः प्राण-हराणि पट्।। इति । सुश्रुतेऽप्युक्तम्-(गिभणी न्याकरणे) अथास्मै पश्चविंशति-वर्पाय द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत् पित्रप्रधम्मार्थकामप्रजाः प्राप्स्यतीति। ऊनपोड्श-वर्षायाममाप्तः पञ्चविंशतिस्। यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्यः स विपद्यते॥ जातो वा न चिरञ्जीवेद्वा दुर्व्वलेन्द्रियः। तस्माद्त्यन्तवालायां गर्भाधानं न कारयेत्।। अतिष्टद्धायां दीर्घरोगिण्यायन्येन वा विकारेणोपसंस्रष्टायां गर्भाधानं न कुट्वीत। पुरुपस्यैवंविधस्य त एव दोपाः सम्भवन्तीति॥"

चक्रपाणिः—न्युटजामित्यधोमुखीम् । पर्याप्ते समाप्ते मैथुने ; मैथुने चातिकामेति निवृत्तेच्छे-ऽपि पुरुपे मैथुनमिच्छन्ती । अन्येन वा विकारेणेति कुण्डादिज्ञगुप्सितेन रोगेण ॥ ४।५॥ संजातहवीं मैथुने चानुकूलो इप्रगन्धं खास्तीर्णं सुखं श्यनमुपकल्प्य मनोज्ञं हितमश्नं मात्रावदिश्त्वा दिच्णपादेन

पुरुपस्याप्यत्यशितत्वाद्यतिवालतादिदोपाद् गर्भानाधानहेतुत्वं विग्रणमजाहेतु-लञ्चाभिमेत्यातिदेशेनात्यशितादिकं पुरुपं वर्जियतुमाह—पुरुपेऽप्येत एवे-एवात्यशितलादयो दोपाः। एक्तश्चान्यत्र—अतिवालो त्यादि। ह्यसम्पूर्ण-सर्वेधातुः स्त्रियं त्रजन्। अपतप्येत सहसा तहागिमव काजलम्।। शुष्कं रक्षं यथा काष्टं जन्तुनम्धं विजन्तिरम् । संस्पृष्टमाशु जीर्येत तथा रुद्धः स्त्रियं वजन् ॥ पञ्चपञ्चाकतो नारी सप्तसप्तितः पुगान् । द्वावेतौ न प्रस्येते पसुयेते व्यतिक्रमात् ॥ इति । अत्रातिवालामित्यतिशब्देन द्वादशवर्षात् प्रायो रजःप्रष्टितः स्त्रीणां तदा यौवनारम्भः। पौगण्डावस्था वाल्यमेव न लितवाललम्। तदा पश्चविंशत्यादिमाप्तपुंयोगाद् गर्भाधानं न सदोपं, प्रागपि द्वादशवर्षात् स रजः प्रष्टित्तर्यस्यास्तामितवालां वर्ज्यत्। रुद्धा तु पञ्चाशद्दर्भा प्रायण स्त्रीणां तावद्रजःपर्रतिस्तत्र मध्यवयःपुरुपयोगाद् गर्भाधानं न सदोपम्। पञ्चाशतः परन्तु या सरजस्का सप्तसप्तितिमधृतिवर्षेषु सातिरुद्धा। श्रेयसीमजार्थं तां वज्जेयेत्। एवं पुरुपस्यापि पोङ्जाव्दं यावद् वालयं यदुक्तं तदतिवाल्याभि-मायेण, स्त्रिया इव द्वादशवर्ष यावत्, पश्चविंशतिं यावत् तु सन्वेसम्पूर्णधातुलात् शुक्रस्य च सर्विगुणोपपन्नलात्। स्त्रिया इव पोइशवर्षं यावट् वाल्यातीतत्वं तदा गर्भाधानकरणं न सदोपं पाक च पश्चविंशतेः सदोपं, तस्पादितवाछं श्रेयसीं प्रजां जनियतुं वर्ज्जयेत्। एवमितद्यदस्यापि सप्ततेरूर्द्धं सप्तसप्तिति-प्रभृतिषु वयःसु जरापकशरीरत्वेनाहाररसस्य प्रीणनसाधावेन क्षीणशुक्रत्वेन श्रीयः प्रजाजननं सदोपं, पाक् सप्ततेरदोपम् । तस्माद्तिष्टढं पुरूपं श्रीयसी प्रजां जनियतुं वर्जियदिति भावः। अत उक्ताद्धेतोः सर्व्वदोपवर्ष्जितौ रजोयोनि-गर्भाशय-दोप-रजस्वलाकालिकापरिहाय्यें-परिहारदोप-न्युव्जादि--दोपात्यशित-बादिदोपातिवाल्लादिदोपरहिता स्त्री, तथा शुक्रदोपात्रसचरयेलादिदोपात्य-क्षित्वादिदोपातिवाल्यादिदोपरहितः पुमान, एतौ द्दौ श्रेयसीं मजाम्रत्-पाद्यितुं संसुज्येयातां संसर्गं कुर्व्वीयाताम् ॥ ५॥

गृङ्गाधरः—ननु केन प्रकारेण संसर्भ कुर्व्वीयातामित्यत आह—संजाते-त्यादि। मनोक्षं हितश्चाक्षनं मात्रावदिक्षला नातिमात्रमिक्षला चतुर्थ्यादौ रात्रौ क्षयनं क्षयाम् इष्टगन्धं स्वमनोरमगन्धयुक्तं स्वास्तीर्णं स्वाच्छादनं सुखं पुमान्, वामपादेन स्त्री चारोहेत्। तत्र मन्त्रं प्रयुक्षीत। ऋहि-रित ऋ।युरित सर्व्वतः प्रतिष्टाित धाता त्वा दधातु विधाता त्वा दधातु ब्रह्मवर्च्वसा भवेदिति।

त्रह्मा वृहस्पतिर्विष्णुः सोमः सूर्य्यस्तथाश्विनौ । भगोऽथ मित्रावरुणौ पुत्रं वीरं दधातु मे ॥

इत्युत्तवा संवसेयाताय्। सा चेदेवमाशासीत वृहन्तमव-दातं हर्य्यच्मोजिस्वनं शुचिं सत्त्वसम्पन्नं पुत्रमिच्छेयमिति॥ ६

शुद्धस्नानात् प्रमुख्यस्य मन्थमवदातं यवानां मधुसर्पिभ्यां संस्डच रवेताया गोः सरूपवत्सायाः पयसालोडा राजते कांस्ये

सुखकरं मनोक्ष्य शयनमुपकल्प संजातहपाँ सम्यक्परस्परालिङ्गन-चुम्बन-दर्शन-कटाश्विश्चेपण-स्मित-हिसत-संलाप-लिपत-घनजघनस्तनोपमिहितादिभिः जातो हपौँ ध्वजोच्छाययोनिस्फुरणादिलक्षणो ययोस्तौ मैथुने चानुक्लौ परस्पर-सम्मतौ सन्तौ पुमान् वामपाइर्वन स्त्री तु दक्षिणपाइर्वन परस्पराभिमुखं शियला दक्षिणपादेन पुमान् स्त्रिया दक्षिणपादमारोहेत्। वामपादेन स्त्री तं स्वदक्षिण-पदारूढं पुंसो दक्षिणपदमारोहेत्। यद् वा निरुक्तरूपेण संजातहपाँ मैथुने चानु-क्लौ हितं मात्रावदिश्वाहा इप्टगन्धादिकं शयनं शय्यामुपकल्प दक्षिणपादेन पुमानारोहेच्छयनं ततः स्त्री च तच्छयनं वामपादेनारोहेत् इत्यर्थः। तत्रारोहणे मञ्जमिमं प्रयुक्तीत पटेत्। मञ्जस्तु अहिरसीत्यादि। सा चेदित्यादि। हर्यक्षं सिंहमिव सत्त्वसम्पन्नं सत्त्वसारम्॥ ६॥

गङ्गाधरः — शुद्धस्नानादित्यादि । यवानां मन्थं स्नानात् प्रभृत्यस्यै प्रातः पानाय प्रयद्धेत् । मन्थं विष्टणोति — यवानामवदातं तुपादिमलरहित- लेनावदातं सक्तुकं मधुष्टताभ्यां संस्ट्य संस्ट्टं दृक्षा सरूपवत्सायाः समानवर्णवत्सायाः इवेताया गोः पयसालोड्य । भुञ्जीतेति मध्याहो, तथा

चक्रपाणिः—आरोहेत् शयनमिति सम्बन्धः । 'अहिरसीत्यादि दधातु मे' इत्यन्तो मन्त्रः । हर्य्यक्षं सिंहविकमम् । तेनोपादेयमेवेत्याह—इच्छेयमिति । इच्छेयमित्यनेकार्थत्वाद् धातुनां लभेयमित्यर्थः, तेन 'आशासीत' इत्यस्य 'इच्छेयम्' इत्यनेन न पौनरुक्त्यमिति ज्याख्यानयन्ति ॥६॥ वा पात्रे काले काले सप्ताहं सततं प्रयच्छेत् पानाय। प्रातश्च शालियवान्नविकारान् द्धिमधुसिर्पिभः पयोभिर्वा संस्ङय भुञ्जीत तथा सायम् अवदातशरणश्यनासनपानवसन-भूषणवेशा च स्थात्। सायं प्रातश्च श्रश्वत् श्वेतं महान्तम् भ्रयभमाजानेयं वा हरिचन्द्रनाङ्गदं पश्येत्। सौम्याभिश्चेनां कथाभिर्मनोऽनुकूलाभिरुपासीत। सौम्याङ्गतिवचनोपचार-चेष्टांश्च स्त्रीपुरुपानितरानिप चेन्द्रियार्थानवदातान् पश्येत्। सहचर्व्यश्चेनां प्रियहितांभ्यां सततमुपाचरेष्ठः, तथा भर्ता। न च मिश्रोभावमापदेग्रयाताम्। इत्यनेन विधिना सप्तरात्रं स्थित्वा अप्टमेऽइनि आप्तुत्याद्धिः सिश्रस्कं सह भर्त्ता, चाहतानि वस्त्रा-ग्याच्छादयेदवदातान्यवदाताश्च स्रजो भूषणानि विभ्यात्॥ ७

सायं अञ्जीतेत्यन्वयः। अवदातशरणशयना शुक्रगृहे शुक्रशय्याग्रप्ता शुक्रासना शुक्रपाना शुक्रवसना शुक्रभूपणा च स्यात्। शम्बच्छ्वेतं सर्व्वतः शुक्तं महान्तमृषभं दृहवृष्णम् आजानयं मागुक्तमञ्दं हरिचन्दनं वाहुभूपा यस्य तं तथा। हरिचन्दनं ज्वेतचन्द्रनम्। सोम्याभिर्वात्सल्ययुक्ताभिः कथाभिः। सोम्याकाराः सोम्यवचनाः सोम्योपचाराः सोम्यचेष्ठाश्च स्त्रियो वा पुरुपा वा ये ये भवन्ति तांस्तान् पश्येत् इतरानिष चिन्द्रयाथांश्वक्षुर्शाद्यानय-दातान् शुक्रानेव पश्येत्। सहचर्यः सहचरीजनाः। तथा भर्ता पियहिताभ्यां सततमेनाम्रपाचरेदित्यन्वयः। मिश्रीभावं मैथुनम्। इत्यनेनेत्यादि। सप्तराजनिति न स्नानात् किन्तु ऋतुप्रदृत्तित एव सप्तरात्रम्। अष्टमेऽर्थादतुप्रदृत्तित एवाप्टगं बहिन। आप्छत्य निमञ्ज्य।। ७।।

चक्रपाणिः—काले काल इति सायं प्रातः। अत्र च मन्थपानस्य तथा शालियवासभोजनस्य च विहिनत्वादभाविप मात्रया काले करणीयो। शरणं गृहम्। आजानेयमुत्तमकुलजम्। 'हरिचन्दन' शब्देन स्वेतचन्दनं भवविष्ठतम्। 'हरि'शब्देस्यानेकार्थस्यात् 'हरि'शब्देन स्वेतस्येव महणं प्रश्नान्तरवात्। अङ्गदोऽङ्गरागः, किंवा अङ्गदो बाहुभूपणम्। पश्चेदिरयुपलभेतः। तेर श्लोत्र-मगोभ्यामिष अवदातत्त्वग्रहणं लभ्यते॥ ७॥

तत ऋत्विक् प्रागुत्तरस्यां दिश्यगारस्य प्र.क्ष्मवन-छ-मुदक्-प्रवनं वा देशसिससीच्य गोसयोदकाभ्यां स्यिग्डलसुप-संलिप्य प्रोच्य चोद्केन वेद्धिसस्मन् स्थापयेत्। तां पश्चि-सेनाहतवस्त्रसञ्चये र्वेतार्पसे वाष्यजिन उपविशेत् ब्राह्मण-प्रयुक्तः, राजन्यप्रयुक्तस्तु वैयाघ्रे च≀र्मग्यानडुहे वा, वैश्यप्रयुक्तस्तु रौरवे वास्ते वा। तत्रोपविष्टः पालाशोभिरेङ्गदीभिरौडुम्बरीभिः साधूकी भिर्वा समिङ्गिर ग्रिमुवसमाधाय कुशैः परिस्तीर्थ्य परिधि-भिश्च परिधाय लाजेः शुक्काभिश्च गन्धवतीभिः सुमनोभिः उपाकिरेत्। तत्र प्रणीयोद्यात्रं पित्रत्रं पूतसुपसंस्कृत्य सर्पि-राज्यार्थं यथोक्तवर्णानाजानेयादीन् समन्ततः स्थापयेत् ॥ = ॥

गङ्गाधरः—तत इत्यादि । तत ऋतिक् जलप्रवनानन्तरं याजकः । अगारस्य भागुत्तरस्यां पूर्विदिद्ग्वागे क्रमेणावरायां दिशि माक्ष्यनं पूर्विस्यां दिशि निम्नतया जळं यथा प्रवते तम्, उदक्ष्रवनम् उत्तरस्यां दिशि चोदकं प्रवते यथा तं देशस्। तां वेदीं पश्चिमेन पश्चाद्देशे अहतवस्त्रसञ्चये नववस्ताणि बहुलपटली-कृत्य आसनं रचियला तत्र उपविजेत्। इवेतापभे वा शुक्रव्यभस्य वाष्यजिने चर्मेणि उपविशेत्। ब्राह्मणमयुक्त बहुतिक् ब्राह्मणनियोगेन परुत्त बहुतिक्। राजन्यप्रयुक्तस्तु क्षत्रियेण नियुक्तस्तु वैयाघ्रे च्याघ्रस्य चर्माण आनुहुहे वापेभे वा चर्म्मणि उपविशेत्। वैश्यमयुक्तस्तु वैश्येन पुत्रार्थं नियुक्तस्तु ऋ तिक् रौरवे हारिणे चर्मणि वास्ते च्छागे वा चर्मण्युपविशेत्। तत्र यथोक्ते चर्मणि। अग्निमुपसमाधाय वैद्यामिनं संस्थाप्य कुजैः परिस्तीय्यं चतुर्हिश्च क्रशानास्तीय्यं परिधिभिः पलाशादिशाखासमिद्धिः परिधाय इष्ट्रा लाजैरुपिकरेत् जुहुयात्, शुक्काभिर्मन्धवतीभिः सुमनोभिः पुष्पैश्रोपाकिरेत्। ततस्तत्र होमस्थान पवित्रं स्वभावतो विशुद्धं पूर्तं

चक्रपाणिः - स्थण्डिलं पूजनस्थानम् । वेदीं पिण्डिकाम् । तां पश्चिमेनेति वेदिकायाः पश्चिमे । इवेत आपभे अितने इवेतवृपभचम्मेणीत्यर्थः। बाह्मणप्रयुक्त इति यदि बाह्मणेन पुत्रेष्ट्यर्थं वा प्रयुक्तः स्यात्, तदा ऋत्विक् इंघेतवस्रसञ्चये इवेतवृपभचर्माणि वा उपविशेत् । राजन्यप्रयुक्तस्तु

ततः पुत्रकामा पश्चिमतोऽन्निं दिन्गितो ब्राह्मण्मुपवेश्यान्वालभेत सह भक्त्री यथेण्टं पुत्रमाशासाना । ततस्तस्या
ब्राशासानाया ऋत्विक् प्रजापितमिभिनिर्द्दिश्य योनौ तस्याः
कामपिरपूरणार्थं काम्यामिण्टिं निट्वेपेत्—विष्णुर्योनिं कल्पयतु
इत्यनयची । ततश्चैवाज्येन स्थालीपाकमिससंसार्व्य
त्रिर्जुहुयात् यथाम्नायं मन्त्रोपमन्त्रितमुद्धातं तस्यै दद्यात् ।
सत्वोदकार्थान् कुरुण्वेति । ततः समाप्ते कर्म्मीण् पूर्व्य
दिज्ञिण्यादमिमहरन्ती प्रदिज्ञिण्मिसमनु परिक्रामेत् । ततो
ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचियत्वा सह भक्त्रीज्यशेषं प्राक्षीयात् पूर्व्य
मञ्जपूतमुदकपात्रं प्रणीय । आज्यार्थं होमार्द्धन्तमाज्यं तद्यं, सिर्पः
संस्कृत्य । यथोक्तवर्णान् आज्ञासीत पुत्रवर्णीयवर्णयुक्तान् आज्ञानेयादीन
पूर्विक्तकुलीनाथादीन् समन्ततश्रतुर्दिक्ष वद्याः स्थापयेत् ॥ ८ ॥

गुङ्गाथरः—तत इत्यादि। ततः पुत्रकामा सह भर्ता यथेष्टं स्वाभिमतं पुत्रमाशासाना वाञ्छन्ती सती अग्निं पश्चिमतो विक्षणतो बाह्मणम् उपवेश्यान्वालभेत पलाशादिशाखाभिरिष्टा लाजादिभिरुपिरुपे पुत्रमाशासानायाः प्रजापतिमभिनिर्दिश्य ऋतिक् तस्या एव नार्य्या योनौ कामप्रामिष्टिं "विष्णुयौतिं कलपयतु" इत्यनयची कामपूरणार्थं निर्वे-पेत्। ततथानन्तरं स्थालीपाकं चरुम् आज्येन सपिंपाभिसंसार्व्य मिश्रीकृत्य यथाम्नायं यथावेदं यस्या यर्वेदीययच्छाखा तस्यास्तर्वेदीय-तच्छाखोक्तमञ्जोपमञ्जितं माक्पणीतमुद्कपात्रं तस्यै दद्यात्। किमर्थं दद्यात् ? 🙏 सर्चीदकार्थान् अनेनोदकेन कुरूविति बुवंस्तस्यै दद्यादिति। तत इत्यादि। वैयाघ्रे चर्माण्युपविशेदिति शेपः। रुरुईरिणविशेषः। परिधिभिरिति चतुर्भिः पराशबृहद्दण्डैः। परिधायेति वेष्टयित्वा परिहितान्येव । पृतं मन्त्रपृतम्, तचोद्पात्रविद्रोपणम् । उपसंस्कृत्येति तदुद्रपात्रमेव संस्कारमन्त्रेहपसंस्कृत्य । सिर्पराज्यार्थमिति नवनीतं घृतार्थम् । किंवा सिर्पर्धात-'आज्य'शब्देन मन्त्राभिमन्त्रितं घृतमुच्यते। मेव, ऑज्यार्थमिति मन्त्रपृतघृतकरणार्थम्। पश्चिमतोऽग्निं दक्षिणतो बाह्मणमिति यथा पृथ्वेणाग्निवीमे च ब्राह्मणो भवति तथेत्यर्थः। अनु-लभेतेति ऋत्विक्प्रयुक्ता ऋत्विग्विधानमञुकुर्यादित्यर्थः। प्रजापतिमभिनिद्दिश्येति ब्रह्माणमभि-मन्त्रय । योनौ कामपूर्णार्थमम्नाविष्टि निन्वैपेदिति कुर्य्यात् । इप्टियोनिशोधिका । इप्टिसाधिका पुषान् पश्चात् स्त्री । न चोच्छिष्टसवशेषयेत् । ततस्तौ सह संवसेताम् अप्टरात्रं तथाविधपरिच्छदावेव च स्यातां तथेप्टपुत्रं जनयेताम् ॥ ६ ॥

या तु स्त्री श्यामं लोहिताचं च्यूहोरस्कं महावाहुश्च पुत्रसाशासीत, या वा कृष्णं कृष्णमृदुदीर्घकेशं शुक्काचं शुक्कदन्तं तेजस्विनमात्मवन्तम् । एप एवानयोरिप होसविधिः । किन्तु परिवहों वर्णवर्जं स्यात्, पुत्रवर्णानुरूपस्तु यथाशी-रेव तयोः परिवहों ऽत्यः कार्यः स्यात् । द्विजेभ्यः शृद्रा तु नस-स्कारसेव कुर्य्याद् देवगुरुतपस्वित्तिष्ठंभ्यश्च । या या य यथाविधं पश्चात् स्त्री पूर्वं भर्ता चिछ्प्टं चस्कोपं न स्त्रे(दस्पर्थः । ततः परं तौ पुना राजो तह संवसेतां संसर्गं कुर्याताम् । अष्टरात्रमप्टमाहम् आरभ्याप्टरात्रं पश्च-दक्षरात्रं यावदित्यर्थः । तथाविध्यरिच्छदावेव चक्तमकारपरिच्छदावेव । तथिष्टपुत्रं तत्पकारिपटं पुत्रं जनयेतां न तन्यविध्यरिच्छदो स्त्रीपुरुपौ ।। ९ ।।

गङ्गाधरः— नन्वन्यविधपुत्रमिच्छन्ती किमाचरन्ती जनयेदित्यत आह—य। वित्यादि। व्यृहोरस्कं व्यृहं विपुलीजस्बद् उरो वक्षो यस्य तं तथा। एवं तृतीयविधपुत्रान्तरप्रकारमाह—या वेत्यादि। व्यामकृष्णयोर्भेदस्तु व्वेतकृष्णयो-मिश्रीभावे यद्रूष्णं तत् व्यामम्। कृष्णस्तु प्रसिद्धः। आत्मवन्तिमित्यन्तस्य आज्ञासीतेत्यनेन पूर्वेणान्वयः। अनयोरिप द्रयोः पुत्रविक्षेपाविच्छन्त्योरेप एवोक्तः शुक्रवर्णपुत्रकामाया एव होमविधिः कार्यः। ननु वर्णादिभेदः कृतः स्यादित्यत आह—किन्वत्यादि। वर्णवर्ष्णं परिवद्धः परिच्छदः स्यात् यवमन्थाचाहारशुक्कवासोऽलक्षरणादिवर्ष्णमस्याः पुत्रवर्णानुरूषः। व्यामं पुत्रमिच्छन्त्याः व्यामः, कृष्णं पुत्रमिच्छन्त्याः कृष्णः। यथात्रीर्यथाकामं परिवर्द्धः पानाज्ञनवसनभूपणगृहज्ञयनासनादुप्रपसेवनरूषः परिच्छदः कार्यः। सूद्रा वित्यनेनापकपवर्णा तृत्कपवर्णभ्यो द्विजेभ्यो नमस्कारं कुर्यात्।

अथानुक्ततावत्प्रकारपुत्रजननप्रकरंणमाह—या या चेत्यादि। शहक्। पाकिमिति चरुम्। अभिधार्येति मिश्रीकृत्य। यथाग्नायमिति यथावेदम्। किन्तु परिवर्द्धवर्जमिति परिवर्द्धः शयनासनपुष्पादिपरिष्छदः। तेन यथाविधा पुत्रेच्छा तथावर्णपरिवर्द्धः पुत्रमाशासीत, तस्यास्तस्यास्तां तां पुत्राशिषमनुनिशस्य तांस्तान् जनपदान् मनसानुपरिक्रामयेत्। ततो या या येषां जन-पदानां मनुष्याणामनुरूपं पुत्रमाशासीत, सा सा तेषां तेषां जनपदानां मनुष्याणामाहारिवहारोपचारपरिच्छदाननुविधीय-स्वेति वाच्या स्यात्। इत्येतत् सर्व्वं पुत्राशिषां समृद्धिकरं कर्मा ज्याख्यातं भवति॥ १०॥

न खलु केवलमेतदेव कर्म्म वर्णानां वैशेष्यकरम् ; अपि तु तैजोधातुर्ध्युदकान्तरीच्धातुप्रायोऽवदातवर्णकरो भवति ।

पुत्रशिषं पुत्रकामनाम् अनुपरिकामयेन्मनसा चिन्तयेत्। मनसाऽनुपरिक्रम्य विचिन्त्य या या नारी येषां येषां जनपदानां मनुष्याणामनुरूषं पुत्रमाशासीत कामयेत, सा सा तेषां तेषां जनपदानां मनुष्याणामाहारादीन् अनुविधीयस्य भो भो अनुकुरुष्वेति ऋितजा वाच्या स्यात्। छान्दसत्त्वात् कत्तरि तङ्विकरणे। अथवा अनुविधाने द्विकर्मवत्। तत्रैकं कर्माहारविहारोपचारपरिच्छदानिति, द्वितीयं भो नारि पुत्रकामे लिमिति। एतत् तु युष्मत्कत्तरि वाच्ये तङ्विकरणे, कत्ती लिमहास्ति। तत्तज्जनपदीयाहाराद्यनुविधाने नार्याः स्वातन्त्रप्रात् परन्तु लिगुपदेशेन हेतुना तदाहाराद्यनुविधानाचरणात् फलाश्रयक्रममेकत्वं तत्तुल्य-क्रियावत्त्वेन स्वातन्त्रप्रात् तु कम्मेकत्त्रां कम्मवत्। अन्तरधीयतेतिवत्। समृद्धि-करं पुत्रेच्छानां परिप्रणकरम् ॥ १०॥

नन्वेतावतैव कम्मंणा किं शुक्तश्यामकृष्णादिरूपवन्तः पुत्रा भवेयुरुत
कारणान्तरमस्तीत्यत आह—न खिल्वत्यादि। केवलपुक्तं यावत् कम्मेव
वर्णवैशेष्यकरं न खल्ल भवति। अपि तु शुक्कादिवर्णवैशेष्ये उक्तकममवदन्यदिप
कारणमस्ति तत् किमित्यत आह—तेनोधातुरपीत्यादि। तैजसो हि
वर्णस्तस्मात् तेनोधातुर्वर्णकरो यथाष्यो रसो रसकरश्राब्धातुरिति तत्र
भूतान्तरयोगो वर्णस्य वैशेष्यकरो भवति, यथा—भूतान्तरयोगोऽव्धातोः

कंत्तेव्य इति वाक्यार्थः । अद्भाविधानमाह—ग्रद्धा त्वित्यादि । नमस्कारमेव कुर्य्यादिति ग्रद्धाया सन्त्रे होमे वानधिकारात् नमस्कारमात्रकरणम् ॥ ८—६०॥ पृथिवीवायुधातुप्रायः कृष्णवणकरः, समसर्व्वधातुप्रायः श्याम-वर्णकरः ॥ ११ ॥

रसदैशव्यकरः। यथापोऽव्यक्तरसास्तथा तेजोऽत्र्यक्तरूपं स्वरूपतः। ननु केन भूतेन सह योगे वर्णविशेषकर इत्यत आह—उद्केत्यादि। तेजोधातुः वर्णकरः स च तत्तद्वयवारम्भकद्रव्यारम्भकः पाश्चभौतिक एवाधूना वत्तेते तेन तत्तद्वयवारम्भकाले तत्पकृतिभूतद्रव्यगतस्तेजोधातुर्यदि उदकान्तरीक्ष-धातुमायो जलाकाशोभयधातुवहुलः पाश्चभौतिको भवति, तदा अवदातवर्णकरः शुक्रवर्णकरः स्वात्, उदकं हि पाश्चभौतिकं शुक्रमाकाशश्च विशदं, तदुभययोगेन अन्यतरत्वं तेजसोऽन्यक्तवर्णः इवेतलेनाभिव्यज्यते। यथाव्धातोरन्यक्तरसो भूमियोगेन मधुरलेनाभिन्यज्यते। एवं स च तेजोधातुर्यदि पृथिवीवायुधातुमायः पृथिवीगुणवायुगुणवहुलः पाश्चभौतिकः स्यात् तदा कृष्णवर्णकरः स्यात्, पृथिवी हि कुःणवर्णा पाञ्चमौतिकी, पाञ्चमौतिकश्राधुना वायुविशदोऽपि खरचलत्देन भूतान्तरयोगात् कुष्णवर्णकरः, तद्द्ययोगेन तेजसोऽन्यक्तवणः कृष्णत्वेन अभिव्यव्यते। एवं पद्रसवत् द्वौ वणौ विशेषेण भेद्कभूतभिन्नौ भवतः। पुनस्तयोस्तारतम्येन रक्तपीतारुणादयो वहवो वर्णा भवन्ति। सुश्रुते—तत्र तेजोधातुः सर्व्ववर्णानां प्रभवः। स यदा गर्भोत्पत्तावन्धातुषायो भवति तदा गर्भ गौरं करोति, पृथिवीधातुषायः कृष्णम्, पृथिव्याकाश-धातुप्रायः कृष्णभ्यामम्, तोयाकाशधातुप्रायो गौरभ्यामम्। आहारग्रुपसेवते गर्भिणी तादग्वर्णप्रसवा भवतीत्येके भापन्ते। दृष्टिभागमप्रतिपन्नं तेजो जात्यन्धं करोति। तदेव रक्तानुगतं रक्ताक्षं, पित्ता-नुगतं पिङ्गाक्षं, इलेष्मानुगतं इवेताक्षं, वातानुगतं विकृताक्षमिति। अत एव समसन्वधातुपायो यदि तेजोधातुर्भवति तदा स्यामवणकरः स्यात्। इयामस्तु खळ तुरुयांजेन शुक्रकुष्णयोर्मिश्रीभावे सत्युपलभ्यते यो वर्णः, स एव द्विविधः सुश्रुते हुन्नकः - कुष्णक्यामः गौरक्यामः। पृथिवी हि कृष्णा खन्तु विशदं शुक्रकरं, तयोद्देयोः संयोगे तेजसोऽन्यक्तवर्णः कृष्णाधिकश्यामत्वेन अभिन्यज्यते। तोयं शुक्रमाकाशश्च विश्वदं शुक्ककारणं तयोश्च द्वयोः संयोगे तेजसोऽव्यक्तवणी गौराधिकश्यामत्वेनाभिव्यव्यते इति तु तत्रकृतिनानेनाव-

वकपाणिः—वर्णविद्योपकरं हेत्वन्तरमाह—न तु खिन्वत्यादि । तेजोभातुः कृष्णवर्णे इयामवर्णे

सत्त्ववैशेष्यकराणि पुनश्तैषां तैषां प्राणिनां मातापितृ-सत्त्वान्यन्तर्व्वत्राः श्रुतयश्च अभीद्यां स्वोचितञ्च कर्मा सत्त्व-विशेषाभ्यासर्चेति । यथोक्तेन विधिनोपसंस्कृतशरीरयोः स्त्रीपुरुषयोस्तु मिश्रीभावमापन्नयोः शुक्रं शोणिनेन सह समेत्याव्यापन्नमव्यापन्नेन योनावनुपहतायाम् अप्रदुष्टे गर्भाशये

दातवण उच्यते। तथा च उदकेकथातुवहुलः पाश्चभौतिकश्चेत् तेजोधातुस्तदा हिरद्राभगौरवर्णकरः स्यात्, आकाशवहुलस्तु पालाशाभहरितवर्णकरः स्यात्। पृथिवीवहुलस्तु पकजम्बूपमकृष्णवर्णकरः स्यात्, वायुवहुलस्तु रुक्षकृष्णवर्णकरः स्यात्। पृथिवयान्वित्रवर्णकर इत्यथः। तदुभयवहुलस्तु कज्जलवर्णकरः स्यात्। पृथिव्या-काशवहुलस्तु कृष्णश्यामवर्णकरः स्यात्। एवं वर्णभेदा उन्नेयाः॥११॥

गृह्मधरः—नन्नु वर्णविजेप एवं भवतु सत्त्वविजेपस्तु किं तत्तरक्रम्भणा स्यादित्यत आह—सत्त्वेत्यादि। तेषां तेषां प्राणिनां सत्त्ववैजेप्यकराणि पुनर्भातापितृसत्त्वानि गर्भारम्भकशुक्रक्षोणितसंसर्गकाले मातुः पितुश्च यद्गुण-वहुलं मनः स्यात् तद्गुणवहुलं तथोः पुत्रदृहित्रोभंनः। अन्तर्व्वत्रा गर्भिण्याः अभीक्षणं सततं यादशगुणवहुलगाथाख्यायिकापुराणवेदादिविषयाणां श्रुतयः श्रवणानि, स्वोचितश्च कर्म्भ जन्मान्तरे स्वेनात्मना उचितं स्विक्रयया समवेतं यत् कर्म्भ धर्म्भाधर्म्भक्षपम्। सत्त्वविजेपस्य शुद्धस्य राजसस्य तामसस्य वा तत्पभेदब्राह्मप्रादिक्षणाभ्यासः सततिक्रयया। एतानि सत्त्ववैजेष्यकराणि तेषां तेषां प्राणिनां भवन्तीत्यर्थः।

अथान्यभिचारेणापत्यजन्महेतुमाह—यथोक्तेनेत्यादि । यथोक्तेन उक्त-रूपेण विधिना । भिश्रीभावं संसर्गं शुक्रमन्यापन्नं पुरुपस्य शुक्रमन्यापन्नेन स्त्रियाः शोणितेन समेत्य संयोगमेत्यानुपहतायां स्त्रिया योनौ चाप्रदुष्टे च

च वर्तते। वर्णविशेपहेतुमिधाय सरवभेदहेतुमाह—सन्वेत्यादि। मातापितृसन्वानीति माता-पित्रनुकारेण सन्वानि प्रायः प्रभावादेव भवन्ति। अन्तव्वंती गर्भिणी। श्रुतयश्चाभीक्ष्णमिति यथा गर्भिणी गीतादि श्रुणोति, तथासन्वमपत्यं जनयति। स्वोचितज्ञ कर्मोति गर्भेणोपार्जितं कर्म्म स्ववलानुरूपं सन्वं जनयति। सन्वविशेपाभ्यासद्वेति यथाविधं सन्वं पुरुपोऽभ्यस्ति जन्मान्तरे, तत्सन्य एव जायते। वचनं हि—''जन्म जन्म यदभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः। तेनैवाभ्यास-योगेन तचाष्यभ्यस्यते पुनः॥'' इति। गर्भ मिनिटर्वर्त्तयत्येकान्तेन । यथा निर्मिले वासिस सुपरि-

स्त्रिया गर्भाशये गर्भमेकान्तेनाच्यभिचारेणाभिनिच्वर्त्तयति जनयति। सुश्रुते-ऽप्युक्तम्—ध्रवं चतुणां सान्धियार् गर्भः स्यार् विधिपूर्विकः। ऋतुक्षेत्राम्बु-वीजानां सामग्रपादङ्करो यथा।। इति । अत्र ऋतुर्वसन्तादिसमयः।क्षेत्रं कपित-भूखण्डम्। अम्बु वापिकादि जलम्। वीजं वीजमेव धान्यादिकम्। इति चतुर्णां समस्तानां नैकद्वित्रसंख्यकानां, विधिपूर्विकसानिध्यात् संयोगात् यथाद्वरो भवः स्यात्, तथा ऋतुः स्त्रिया आत्तंवसमयः, क्षेत्रं गर्भाशयः, अम्बु पुनराहार-पाकजो व्यापी रसधातुजातः, स्त्रीषु सयोरात्त्वशृक्तं वीजं, वीजधम्मा सृक्ष्मदेही ह्यात्मा चेति चतुर्णां विधिपूर्व्वकं सानिध्यात् यथोक्तेन विधिना संयोगाद् गभौ भूवं स्वादिति कश्चिद् व्याचप्टे. तदनेन विरोधान सम्यक्। ऋतुसमयं विना हि शोणिताभावात्। आर्त्तवशोणितप्रभवस्थानं गर्भाशय एव ऋतुशब्देनोच्यते, क्षेत्रं योनिः अम्यु शोणितं शुक्रश्च वीजं प्रागुक्तम्। एभ्यस्तु चतुभ्यौ गर्भाभिनिन्द त्तिरेव भवति । ततोऽभिद्द द्धिस्तु मातुराहारपरिणामजरसेनाङ्क-राभिनिन्द्र तेरनन्तरं परिपेकजलेनेव। तस्मादङ्करोत्पत्तिकाले यज्जलम् अभिपिक्तं कारणं भवति तद्वदार्चवं न तु मात्राहारजरस इति न तत्रयोविरोधः। नन्वनैकान्तोऽत्र दृश्यते पुरुपस्य शुक्रं विनापि गर्भाभिनिन्द्रं त्तिः, उक्तश्च सुश्रुते— यदा नाय्योवुपेयातां दृपस्यन्त्यौ कथश्चन। मुश्चन्त्यौ शुक्रमन्योन्यमनस्थि-स्तत्र जायते। इति। उच्यते, अत्र केनचित् न खलु शुक्रं विना, विना चार्त्तवं योनिश्च, विना गर्भाशयं गर्भाभिनिन्द्र तिः, अत एवान्यापन्नशुक्रशोणित-योनिगर्भाश्यसमुदायादव्यं गर्भाभिनिव्ये त्तिभवति न तु गर्भस्यानिप्पत्ति-गर्भाभिनिच्छे त्तिस्तेन रेपामव्वगिकद्वित्रहेत्तो यदि चानैकान्तिकत्वं कथिति। अन्ये लाहुरविकृतगर्भौत्पत्तेरिदं हेतुचतुष्टयम्, स्त्रीद्दययोगे तु विकृतगर्भः, यतोऽभिहितमनस्थिस्तत्र जायत इति । वस्तुतस्तु अव्यापन्नशुक्र-शोणितयोनिगभीशयसप्रदाय एवैकान्तेन गभीभिनिव्दे तिहेतुस्तत्र स्रीद्वययोगेऽपि शुक्रशोणितयोगोऽस्ति अन्यथा विना शुक्रयोगं गर्भः स्यात्, पु'शुक्रकार्य्यमस्थ्या-दिकमुक्तं स्त्रीशुक्रकार्यं नोक्तमप्युन्नेयमदृद्गलकास्थ्यादिकं न पुंशुक्रकार्यं तावत् तेनानस्थिस्तत्र जायत इति दृढास्थ्यादिहीनः कोमलास्थ्यादिमान् पुरुषो जायते। एतेन पुंशुक्रकार्य्यवचनेन स्त्रीशुक्रकार्य्यमिप तत् सर्व्य

सम्प्रति गभौरपत्तिक्रममाह- यथोक्तेनेत्यादि । यथोक्तेन विधिनेति पञ्चकरमीदिना उक्तेनेति ।

कित्यते रञ्जनं समुदितग्रग्रम्पनिषातादेव रागमभिनिव्वर्त्तयित, तद्वत् । यथा वा चीरं दश्चाभिषुतमभिषवणाद् विहाय स्वभावम् ज्ञापचते दिधभावं, शुक्रं तद्वत् । एवसभिनिव्वर्त्तमानस्य गर्भस्य तु स्त्रीपुरुषस्वे हेतुः पूर्व्वमुक्तः ॥ १२ ॥

कोमलत्वेन भवतीत्युक्तं भूतम्। तत्रापि शुकाधिक्ये पुनान् आर्त्तवाधिकये स्त्रीति व्याख्येयम्। यत् पुनरुक्तं-योपितोऽपि स्रवत्येव शुक्रं पुंसः समागमे। तत्र गर्भस्य किञ्चित त करोतीति न चिन्त्यते।। इति, तदनापं मू । अवर्यं हि चिन्तनीयं स्त्रीशुक्रकार्य्यम्, अन्यथानस्थिकापत्यजनमदचनं मुअन्त्यौ शुक्रमन्योन्यमितिवचनश्च व्यर्थं स्यात् । स्त्रिया आत्तेवमष्टत्तिमात्रा-दनस्थिकापत्यजनमप्रसङ्गात्। शुक्रन्तु स्त्रिया वा पुंसो वा यदि न व्यापन्नं भवति, योनाबंदुष्टायामपदुष्टं च गर्भाशये शोणितेन संसर्गमेति, तदा तदेवादुष्ट-योनिगर्भाशयगतात्तंवसंसुष्टं शुक्रं जीवोऽवश्यमवक्रामतीति। तत्र प्रंसः शुक्रञ्चेत् तदा सर्व्यसम्प्रणीङ्गो भवति गर्भः। स्त्रियाः शुक्रञ्चेत् पुंसः शुक्रकार्यकेशस्पश्रनलास्थिपभृतिददाङ्गहीनो भवति। यतः शुक्र-मात्रस्यैव कार्ट्याणि केशादीनि तत्र पुंशुक्रकार्ट्याणि दढ़ानि केशादीनि, स्त्रीशुक्रकार्य्याणि प्रनमृद्नि नलकास्थ्यादीनि न दहास्थ्यादीनि। तेनानस्थिस्तत्र जायते इत्यत्रानस्थिरलपकोमलास्थिरित्यथेः। स्वपरान्यतरश्रकं स्वज्ञोणितसंस्रव्धं जीवावकान्तौ हेतः। सुश्रुते—ऋत्स्नाता तु या नारी स्वप्ने मैथूनमावहेत्। आर्त्तवं वायुरादाय कुक्षौ गभं करोति हि।। मासि मासि विवद्धैत गर्भिण्या गर्भछक्षणम्। कलनं जायते तस्या चिज्जतं पैत्केषु णैः।। इति दर्जनात् ; अत्र कलनं सिंघाणम्हयं, पैत्केषु णैः केशादिभिः दृहैरक्नैः। न तु कोमलास्थ्यादिभिर्वज्जितम्।

अधात्रैकान्तेन गर्भाभिनिन्द्र तौ दृष्टान्तमाह—यथेत्यादि । रञ्जनं रागाधान-हेतुः संस्कारद्रन्यम् उपनिपातात् स्रक्षणात् समुदितगुणं रागमभिनिन्वत्तेयति । दृष्टान्तान्तरमाह—यथा वेत्यादि । दृष्टनाभिषुतं द्वा सन्धानीकृतम्, तद्वत् शुक्रमित्यन्वयः । नतु शुक्रं किं शोणितेनाभिसन्धानीभूतं स्वभावं

रक्षनं रागदृष्यम् । द्रश्यभिपुतमिति दशा स्तोकमात्रेण मिश्रितम् । आपचते द्धिशावमिति द्रधित्वमापचते । तट्वदिति यथा क्षीरं दिध भवति रक्षनं रागो वा भवति तथा शुक्रं गर्भमिभ- यथा हि वीजमनुषतसमुष्तं स्वां स्वां प्रकृतिमनुविधीयते व्रीहिर्वा व्रीहित्वं यवो वा यवत्वम्, तथा स्त्रीपुरुपाविष यथोक्तं हेतुविभागसनुविधीयेते। तयोः कर्म्सणा वेदोक्तेन विवर्त्तनम्

शुक्रतरूपं विहाय क्षीरस्याभिसन्धानद्धिभाववत् स्वाभिसन्धानार्त्तवभावम् आपचते इति चेत् न, दश्लाभिषुतिमत्यत्र द्ध्नेति पदं येन सन्धीयते यत्तद्दृयं सन्धानभावमापचते इति ख्यापनार्थं प्राधान्येनोपलक्षणान्न तु द्धिमार्चं, तेन तकाद्यम्लद्भन्येणाप्यभिषुतं क्षीरं स्वभावं विहाय तदुभयं दिधभावमेवापद्यते न तु तक्राद्यम्लद्रव्यभावं, तद्वदेव शुक्तं शोणिताभिपूतं तद्वयं गर्भभावमापचते विहाय शुक्रभाविमत्यर्थः। एवमभिनिन्वैत्तमानस्येत्यादि । एवमुक्तप्रकारेणोत्पद्यमानस्य गभेस्य सचोगृहीतगर्भलक्षणं व्यक्तगर्भलक्षणश्च पूर्व्वंमुक्तम्। सुश्रुतेऽपि-तत्र सद्योगृहीतगर्भाया लिङ्गानि। अमो ग्लानिः पिपासा सक्थिसदनं शुक्रशोणितयोर्ववन्यः स्फुरणश्च योनेः। स्तनयोः कृष्णमुखता रोमराष्युद्गम-स्तथा। अक्षिपक्ष्माणि चाप्यस्याः संमील्यन्ते विशेषतः॥ अकामतद्यस्यति गन्धादुद्विजते शुभात्। प्रसेकः सदनश्चापि गर्भिण्या लिङ्गभुच्यते॥ तदा-मभृत्येव च्यायामं च्यवायमपतर्पणमतिकर्पणं दिवास्वप्नं रात्रिजागरणं शोकं यानारोहणं भयमुत्कटुकासनञ्चेकान्ततः स्वेदादिक्रियां शोणितमोक्षणञ्चा-काले वेगविधारणश्च न सेवेत। दोपाभिघांतैर्गभिष्या यो यो भागः पपीड्यते। स स भागः शिशोस्तस्य गर्भस्थस्य प्रपीड्यते ॥ इति । तथा, तथोक्तरूपेणाभि-निर्वर्त्तमानस्य गर्भस्य स्त्रीपुरुपत्वे हेतुः पूर्व्वमतुल्यगोत्रीये रक्तेन कन्यामधिकेन पुत्रं शुक्रेणेत्यनेनोक्तः ॥ १२॥

गङ्गाधरः—स च स्त्रीपुरुपलहेतुः कीद्दशत्वेनोक्तः किमेकान्ततोऽप्रतिहननीय-त्वेन किं कारणान्तरेण प्रतिहननीयत्वेनेत्याशङ्कप्राह—यथा हीत्यादि । अनु-विधीयते स्वस्वप्रकृत्यनुरूपणाङ्क रभावमापद्यते । तद् विद्वणोति—ब्रीहिरित्यादि । तथा स्त्रीपुरुपयोरिप स्त्रीत्वे हेतुः शोणिताधिक्यं पुरुपत्वे हेतुः शुक्राधिक्यं नपुं सकत्वे द्वयोः सास्यम् इति । यथोक्तं हेतुविभागं स्त्रीहेतुः शोणिताधिक्यं स्त्रीत्वमनुविधीयते।

निर्व्वर्त्तयति । शुक्रं यथोक्तशुक्रमित्यर्थः । सम्प्रति खीपुरुपत्वे च रक्ताधिकत्वं शुक्राधिकत्वञ्च पृट्वीकं हेतुमन्य वैदिकं पुत्रजनकं विधानान्तरं वक्तुमाह—एवमित्यादि ॥ १९।१२ ॥

चक्रपाणिः—यथोक्तं हेतुविभागमनुविधीयत इति "रक्तेनं कन्यामधिकेनं पुत्रम्। शुक्तेण"

उपदिश्यते प्राग् व्यक्तीभावात् प्रयुक्तेन । सम्यक् कर्म्भणां हि देशकालसम्पदुपेतानां नियतिमष्टफलत्वं तथेतरेषामितरत्वम् । ट्रमादापन्नगर्भां स्त्रियमभिसमीच्य प्राग् व्यक्तीभावाद् गर्भस्य पुंसवनमोषधमस्य द्यात् ॥ १३ ॥

गोष्ठे जातस्य न्ययोधस्य प्राग्रत्तराभ्यां शाखाभ्यां शुङ्गे अनुपहते आदाय द्वाभ्यां धान्यमाषाभ्यां सम्पदुपेताभ्यां गौर-

पुरुषहतुः शुक्राधिवयं पुरुषत्मनुविधीयते। नपुंसकहतुस्तयोः साम्यं नपुंसकत्मनुविधीयते। तयोः स्नीपुरुषयोरात्त्रवरेतसोर्हेत्नोविवर्त्तनमन्यथात्वेन प्रवर्त्तनं शोणिताधिकमिषसमशोणितशुक्रमिष च वीजं स्नीनपुंसकं न जनियता वीजं पुत्रं जनियद्यत्येकान्तेन इतिरूपप्रवर्त्तनं वेदोक्तेन कम्मेणा उपिद्द्रयते। कदोपिद्द्रयते इत्यत आह—प्राग् व्यक्तीभावाद् इति। स्नीत-पुंस्त-पुंसकत-चिह्नानां व्यक्तीभावात् पूर्व्वकालम्, सर्व्वम् अवाक् त्रिमासात् प्रयुक्तेन कृत-प्रयोगेण वेदोक्तकम्मेणा विवर्त्तनं तयोरुपिद्द्रयते। तयोरिति सप्रयोजनत्तेन स्वीनपुंसकवीजयोः पुंस्तरूपेण विवर्त्तनं कर्त्तव्यं, न तु क्लीवस्य स्नीरूपस्य वा हेत्ववित्तनमिष्यते। नजु कृतो हेत्ं विवर्त्तयित कम्मेणत्यत आह—सम्यगित्यादि। तथेतरेपामिति असम्यक्कम्मेणामदेशे चाकाले च असम्यद्येगानामितस्तम् अनिष्टक्तलिमत्यर्थः। तस्मादापन्नगर्भां गर्भमापन्नाम् अभिसमीक्ष्य गर्भस्य लिङ्गव्यक्तीभावात् पूर्व्व ततीयमासं यावत्, अस्य गर्भमापन्नाये पुंसवनं पुनासं सुयतेऽनेनेति पुंसवनमौपधं द्यात्।। १३।।

गङ्गाधरः—ननु किं पुंसवनं तदाह—गोष्ठे जातस्यत्यादि। न्यग्रोधस्य वटस्य पूर्व्यस्थशाखाया एकां शङ्गामुत्तरस्थशाखायाश्वेकामिति शङ्गे हे अनुपहते इत्यादिमन्थोक्तिविभागं स्वीपुरुपजनकमनुविधीयते। वेदोक्तेनायुर्व्वदोक्तेन। प्राग् व्यक्तीभावादिति यावज्ञ स्वीत्वं पुंस्त्वं वा गर्भस्य व्यक्तं भवति तावदेव, तद् वक्ष्यमाणं कर्म्म लिङ्गपितृत्तिकरं भवति। व्यक्तिस्तु द्वितीयमासे भवति। यइक्तम्—"द्वितीये मासे वनः सम्पद्यते," इति। किंवा नृतीये मासे अङ्गप्रत्यङ्गाभिव्यक्तीभावो चेयः। द्वितीये तु मासे प्रन्थ्यादिस्पगर्भप्रत्यङ्गव्यक्तीभावो न वक्तव्यः। तेन वक्ष्यमाणं कर्म्म मासद्वयं यावत् कर्त्तव्यम्। प्रयुक्तेनेति पूर्व्वेण सम्बध्यते। नियतं निश्चितम्। तथेतरेपामितरत्वमिति देशकालविगुणानामनिष्टकारणःवाजिञ्चेयमित्यर्थः। पु सवनिमिति पु स्त्व-कार्यं कर्मा। गोष्टो गवां विश्नामस्थानम्। अतः स्थानादिविश्लेपपरिग्रह एव फलदो भवतीति

सर्पपाभ्यां वा सह द्वि जिन्य पुष्ये ऋने पिवेत्। तथैव अपरान् जीवकर्षभकापामार्गसहचरकल्कांश्च युगपदेकैकशो वाप्युपसंस्कृत्य पयसा, कुड्यकीटकं मत्स्यकश्च 😥 उदकाञ्जलौ प्रचिष्य पुष्येगा पियेत्। तथा कनकमयान राजतानायसांश्च पुरुपकानिययणीन् अणुप्रमाणान् दिन पयसि उदकाञ्जलो वा प्रिच्य विवेदनवशेषतः पुष्येगा। पुष्येगीव च पिष्टस्य पच्यमानस्योष्माण्मुपद्याय तस्यैव च पिष्टस्योदक-संस्रष्टस्य रसं देहलीस्पनिधाय दिच्गो नासापुटे खयमासिञ्चेत् अभग्ने आदाय द्वाभ्यां धान्यमापाभ्यां श्रमीधान्यरूपमापाभ्यां सम्पद्वपेताभ्याम् अक्षुण्णाभ्यां गौरसर्पपाभ्यां सम्पदुपेताभ्यां द्वाभ्यां इवेतसर्पपाभ्यां वा सह द्धि प्रक्षिप्य पुष्ये नक्षत्रे पिवेत्। इत्येको योगः। तथापरान् जीवकर्पभादीन चतुरो युगपत् मिलिला एकः, एकेंकशो वा चलारः। यथेष्टं वा अन्यतम-द्वयेन पड् वा योगा इति। तथान्यतमत्रयेण चलार इति दश योगानपरान् पयसोपसंस्कृत्य किश्चित् पत्तवा पुष्येण पिवेत। कुड्यकीटकं वर्वीनामकीटं उदकाञ्जलौ प्रक्षिप्य पुष्येण पिवेत। श्रुद्रमत्स्यकमेकग्रुदकाञ्जलौ प्रक्षिप्य प्रव्येण पिवेत्। कनकमयान् स्वर्णनिस्मितान् राजतान् रौप्यनिस्मितान् आयसान् लौहनिस्मि-तान् वा पुरुपकान् पुरुपमृत्तियुक्तान् अणुप्रमाणान् भक्षणयोग्यसुक्ष्मपरिमाणान् अग्निवर्णान् अग्नौ दग्ध्वा अग्निवर्णान् कुला द्वि गच्ये पयसि दुग्धे गच्ये निच्ची-पितान् उदकाञ्जलौ वा मिक्षप्य पुष्येण अनवशेपतो निःशेषेण पिवेत्। अथवा पुष्येणैव च नक्षत्रेण पिष्टस्य पिष्टकविशेपस्य उष्माणम् औष्ण्यमुपन्नाय न्नाला तस्योप्णपिप्टस्य जलसेकेन जलसंस्प्टस्य रसं तदीयजलं देहल्यां निधाय वचनादुन्नीयते, नात्र तादशा युक्तयः प्रभवन्ति । 'धान्यमाप'शब्देन जीहिमापं ग्राहयन्ति. सुवर्णमापञ्च व्यावर्त्तयन्ति । गोरसर्पपः इवेतसर्पपः । पुष्येणेति पुष्यानक्षत्रेण । यथेप्रमित्यनेन द्विशस्त्रिशो वा पित्रेदित्यपि दर्शयति । कुड्यकीटः 'कवडिगणा' इति ख्यातः । किंवा ज्येष्टी कुड्य-कीटः। जत्कर्णेऽप्यत्र 'भित्तिमत्स्यः' इति पठ्यते। भित्तिमत्स्यशब्देन च पाश्चारये 'ज्येष्टी' उच्यते । मत्स्यकोदः मत्स्यहा सत्स्यकेति ख्यातः । देहली गृहद्वाराधःकाण्डम्, तत्रोपरि

^{*} मत्स्यकोद्रब्चेति चकः।

पिचुना। इति पुंसवनानि। यद्यान्यद्पि ब्राह्मगा ब्रूयु-राप्ता वा पुंसवनमिष्टं, तद्यानुष्ठेयम्॥ १४॥

अत ऊर्द्ध गर्भस्थापनानि व्याख्यास्यामः। ऐन्द्री ब्राह्मी शतवीर्थ्या सहस्रवीर्थ्यामोघाव्यथा शिवा वलारिष्टा वाट्यपुष्पी

पाङ्गणस्य समीपे निधाय तां देहलीमुपनिधाय गृहीला दक्षिणे नासाप्रदे छिद्रे पिचुना तूलकवर्चा गर्भिणी नारी खयमासिक्चेन सन्योऽन्येनेति। अन्यान्यपि पुंसवनान्यतुमन्तुमाह—यच्चान्यद्पीत्यादि। सुश्रुतेऽप्युक्तं— • लन्धगर्भायाश्चेतेष्वहःसु लक्षणावटशुङ्गासहदेवाविश्वदेवानामन्यतम क्षीरेणाभिषुत्यः त्रींश्रतुरो चा विन्दृन् द्द्याद् द्क्षिणे नासापुटे प्रत्रकामायै न तान् निष्टीवेत् इति। अत्र लक्षणालक्षणन्तु—पुत्रकाकाररक्ताल्प-विन्दुभिः।त लाञ्छितच्छरा। लक्षणा पुत्रजननी वस्तगन्धाकृतिभेवेर् ॥ ताश्च शरतकाले . पुष्पफलोपेतां दृष्टा शनिवारसन्ध्यायां तस्याश्रतुर्भागेषु खदिरकीलकं निखाय अपरेद्वप्रहि मूलपुष्ययोगं गते दिवाकरे मन्त्रश्च जिपता समानवर्णवत्साया गोः क्षीरेण यथाविधि नस्यं दद्यात्। वटशुक्को वटमरोहः। सहदेवा वलाभेदः पीतपुष्पा काश्चरीति लोके। विश्वदेवा गाङ्गेरुकी गुड़शकरेति लोके, अन्ये सितपुष्पां वलामाहुः। अभिपुत्य क्षीरेण सन्धानीकृत्य न तान् निष्टीवेदिति न चकारादलब्धगर्भायाः सर्वेपामेव लक्षणादीनां नस्यदानं सहसाभिहुतं गर्भग्रहणाय पश्चाद् ग्राम्यधममसेवनमिति। तदुक्तं तन्नान्तरे। पूर्विमीप्यं सहस्राभिहुतं कृतमङ्गलदेशे गोः क्षरिण पेपयिला तस्मात् त्रीन् विन्दृन् दक्षिणे नासापुटे दचात् न निष्ठीवेत् तान् कण्ठमाप्तान्। सायश्च दिनानि पयंसीदनम् अशीयात् तद्दुं ग्राम्यधममेसेवनमिति ॥ १४ ॥

<u>गङ्गाधरः</u>—अत ऊढुं मित्यादि । ऐन्द्री गोरक्षककेटी, ब्राह्मी ब्राह्मणयष्टी, ज्ञतवीर्ट्या सहस्रवीर्ट्या इवेतकृष्णदलभेदेन दृर्वाद्वयम्, अमोघा पाटला, अन्यथा

विधाय शिर इति शोपः। किंवा आत्मानमेव देहल्यामुपरि विधायेति मन्तव्यम्। यदुक्तं जतुकर्णे—''देहल्यामासीना" इति ॥ १३।१४॥

चक्रपाणिः—सम्प्रति स्थितस्य गर्भस्य गर्भोपघातकप्रभावखण्डकत्वेन यत् पुनः स्थितिकारकम्, तद गर्भस्थापनमुच्यते, अतं ऊर्द्धानित्यादिना । ऐन्द्री गोरक्षकर्कटी । शतवीर्यासहस्रवीर्थे विश्वक्सेनकान्ता च, आसामोपधीनां शिरसि दिन्रिणेन पाणिना धारणम्, एताभिश्चैव सिद्धस्य पयसः सर्पिपो वा पानम्, एताभिश्चैव पुष्ये पुष्ये स्नानम्, सदा चैताभिः समाल- भेत । तथा सर्व्यासां जीवनीयोक्तानामोपधीनां सदोपयोगस्तै- स्तैस्पयोगविधिसः । इति गर्भस्थापनानि स्याख्यातानि भवन्ति ॥ १५॥

गभोंपघातकरारित्वमे भावा भवन्ति । तद् यथा उत्कट-विषमस्थानकठिनासनसेविन्याः, वातसृत्रपुरीपवेगान् उपरन्थत्याः, , दारुणानुचितव्यायामसेविन्याः, तीच्गोष्णातिमात्रसेविन्याः,

गुड्ची, शिवा हरीतकी, अरिष्टा कटुकी, वाट्यपुष्पी पीतवला, विश्वक्सेनकान्ता शतम्ली; आसामोपधीनां धारणं शिरसि दक्षिणेन पाणिना कार्य्य गर्भिष्या। एताभिरैन्द्रग्रादिभिरोपधीभिः पयसोऽष्टमांशाभिः कल्करूपाभिः पयसोऽपि चतुर्गुणेन जलेन पयोऽवशेषः पाकस्तस्य पयसः पानम्। तथा चैताभिर्मिलि-ताभिरैन्द्रग्रादिभिरोपधीभिष्ट तात् पादांशाभिः कल्करूपाभिष्ट ताच्चतुर्गुणजलेन च पकस्य सर्पिपो वा पानम्। पुष्ये पुष्ये प्रतिपुष्यानक्षत्रे एताभिरैन्द्रग्रादिभिः शृतजलेन स्त्रानम्। सदा च पत्यहञ्चेताभिरैन्द्रग्रादिभिरोपधिभिः समालभेत उद्वत्तनं कुर्यात्। तथा सर्व्यासां दशानामेव, न न्यूनानां, जीवनीयोक्तानाम्। तैस्तैदिक्षिणेन पाणिना शिरसा धारणं, ताभिः सिद्धस्य पयसः सर्पिपो वा पानम्, पुष्ये पुष्ये च ताभिः सिद्धजलेन स्त्रानम्, प्रत्यहञ्च जीवनीयैरुद्वर्तन-पित्येतैविधिभिः। इति गर्भस्य स्थापनानि।। १५।।

गङ्गाधरः—गभौपघातकरास्तित्यादि । दारुणो न्यायामोऽतिधावनादिः । अनुचितो न्यायामोऽनभ्यस्तन्यायामः । तीक्ष्णस्य मरिचविपजयपालादेः । उप्णस्य वीर्यतो गुङ्क्ष्यकदिः, स्पर्भतो वह्नग्रदेः, अतिसेविन्याः । अल्पाल्पसेवनन्तु

[्]दूर्वाह्रयम् । अमोघा पाटला । अन्यथा गुङ्क्षी । अरिष्टा कटुरोहिणी । वाट्यपुष्पी पीतवला । विश्वक्सेनकान्ता प्रियङ्कः ॥ १५॥

प्रमिताशनसेविन्या गर्भो म्रियतेऽन्तः कुन्तः, अकाले वा सं सते शोषी वा भवति। तथाभिघातप्रणीड्नैः श्वभ्रक्ष्पप्रवात-देशावलोकनेवी अभीन्णं मातुः प्रपतत्यकाले, तथातिमात्र-संचोभिभियांनैरिप्रयातिमात्रश्रवणेवां। प्रततोत्तानशायिन्याः पुनर्गर्भस्य नाभ्याश्रया नाडी कण्ठमनुवेष्टयति। विवृत-शायिनी नक्तश्चारिणी चोन्मत्तं जनयति, अपरमारिणं पुनः कलिकलहाचारशीला, व्यवायशीला दुर्व्वपुषम् अहीकं स्त्रेणं वा, शोकनित्या भीतमपचितमांसमल्पायुषं वा, अभिध्यात्री परोप-तापिनमीष्युं स्त्रेणं वा, स्तैना त्वायासवहुलमितद्रोहिणमकर्म-

प्रिताशनमत्यरपिताशनम्। क्वक्षेग्भीशयस्यान्तर्मध्ये म्रियते। स्रं सतेऽधस्तात् पति। शोपी शुष्करूपो वा भवि। अभिघातोऽभिहननं दण्डादिभिः, प्रपीइनम् उपमईनादिकम्। श्वभ्रदेशः गर्त्तयुक्तदेशस्तत्रापि अतिगर्तत्वात् क्ष्परूपो देशः। प्रपातदेशः प्रपतत्यस्मादिति पर्व्वतादुग्रच्चदेशः। तेपां मातुरभीक्षणम् आस्रोकनेनैवाकास्रे गर्भः प्रपति। अतिमात्रसंक्षोभिभिरितिमात्रगात्रचास्रनक्तर्यानैः, अप्रियाणां शब्दानामितमात्रश्रवणैः प्रपतत्यकास्रे इत्यन्वयः। प्रततं निरन्तरमुत्तानशायिन्याः पुनर्गभस्य नाभ्याश्रया नाङ्गी गर्भस्य कण्डमनुवेष्टयित। विष्टतशायिनी हस्तपादौ सर्व्वाङ्गञ्च विस्तीय्यं शयनशीस्रा, नक्तं रात्रौ चारिणी, किर्वाचा कलहः, कलहः शरीरेण कलहस्तौ शीस्रयति सततं करोति या सा कलिकलहशीस्रा अपस्मारिणं जनयित। व्यवायशीस्रा प्रायेण गर्भवती व्यवायं शीस्रयति या सा दुर्व्वपुषं दुर्निन्दितदेहमपत्यं जनयित अहीकमल्डजं स्त्रैणं स्त्रीवशं वा। शोकनित्या शोकः सततो यस्याः सा भीतमपत्यमपचितमांसं कृशमपत्यं वास्पाग्रपमपत्यं वा जनयतीत्यन्वयः। अभिध्यात्री परस्वविषयं सततं वाञ्छन्ती। स्तेना चौर्यशीस्रा गर्भवती।

चक्रपाणिः—बालस्याचिरजातस्यापि 'गर्भ' ध्यपदेशो भवतीति । तेन कुक्षेवंहिरपि मरणसम्भवे 'अन्तः कुक्षेः' इति विशेषणमुपपन्नम् । प्रततोत्तानशायिनी उत्तानशयनशीला । विवृते अनावृते, विवृते तु शायिनी तथा नक्तञ्चारिणी च रक्षः प्रभृतिसृताभिगमनीया भवति । ततन्न मृतरभिमृतो गर्भ उन्मत्तो भवतीति युक्तम् । कलिर्वाचा, कलहस्तु शारीरकलहः । स्त्रैणं स्नीवशम् । अभिध्यात्री मनसा

२०८६

शीलं वा, अमर्षिणी चगडमौपाधिकमसूयकं वा, स्वमित्या तन्द्रालुमवुधमल्पाग्निं वा, मद्यनित्या पिपासालुमनवस्थितचित्तं वा, गोधामांसप्रिया शार्करिणम् आश्मरिलं शनमें हिगां वा। वराह्मांसप्राया रक्ताचं ऋथनमतिपरुपरोमाणं वा, मतस्य-मांसनित्या चिरनिसिपं स्तब्धाचं वा, मधुरनित्या प्रमेहिगां सूकमतिस्थूलं वा। अम्लिनत्या रक्तिपत्तिनं त्वगित्ररोगिगां वा, लव्यानित्या शीधवलिपलितखालित्यरोगियां वा, कटुकिनत्या दुर्व्वलमल्पशुक्रमनप्त्यं वा, तिक्तनित्या शोषिणमवलमपचितं वा, कषायनित्या श्यावम् आनाहिनमुदावर्त्तनं वा। यद् यच यस्य व्याधेर्निमित्तमुक्तं तत् तदासेवमानान्तव्वेली तिव्वसित्तविकारवहुलमेवापत्यमुपजनयति । पितृजारतु शुक्रद्रोषा अमर्पिणी क्रोधशीला। चण्डं क्रोधशीलम्। औपाधिकमुपाधिकछञ्जचरणं तेन व्यवहरतीत्यौपाधिकं छद्मचारिणम्, स्वमनित्या सततनिद्राञ्चीला तन्द्राछ तन्द्रायुतम, मद्यनित्या सततमद्यपा अनवस्थितचित्तं चश्चलचित्तम्। गोधा खणगोविका। शाकंरिणं शर्कराख्यरोगयुक्तम् आइमरिलमइमरीरोगयुक्तं, वराहमांसपाया पायेण वराहमांसाशना, क्रथनं क्रथयति अकस्मादुच्छास-रोधं करोति तं तथा, मत्स्यमांसनित्या मत्स्यनित्या मांसनित्या वा मत्स्यमांसोभयनित्या वा चिरनिमिपं चिरेण निमेपक्षेपो यस्य तं तथा, स्तव्याक्षमतिचिरनिमिपम्, लगिक्षरोगिणं लग्नोगिणमिक्षरोगिणं वा, खालित्य-मिन्द्रछप्तं टाक् इति लोके। अपचितं कृशम्। इयावं भूम्रवर्णम्। आनाहिनं पुरीपवन्धकोष्टम्। अनुक्तमुपसंहरन्नाह—यच्चेत्यादि। अन्तर्वित्नी गर्भिणी। ननु मातुरेवाहाराचारनिमित्तं किं गर्भस्योपहननं न पितुरित्यत आह— द्रोहणशीला । , भौपाधिकं शाष्ट्रयप्रचारिणम् । कथनमकसादुच्छ्वासावरोधम् । मधुरनिःयेति गर्भिणीविहितं क्षीरं विहायान्यमधुराण्यनुसेविनी वोद्धया, क्षीरस्य विहितत्वेन प्राशस्त्यम्। तत्र सात्म्यानामपि रसानामस्यथोपयोगे दोपमभिधाय यत्.पुनर्मदादीनामस्यथंसेवने पृथग् दोपं ब्रूते, तत् प्रभावस्य दोपविशेपाभिधानार्थमिति शेयम्। यद्वरत्सेवया ये च विकारा गर्भ-स्योचितनिदानां दृश्यन्ते, ते तावदुचितोत्पादा एव । यथा—निदातिसेवया तन्द्रालुः, अम्लेम

मातृजैरपाचारैट्यांख्याताः। इति गर्भोपघातकरा भावा व्याख्याताः॥१६॥

तस्माद्दितानाहारिवहारान् प्रजासम्पद्मिच्छन्ती विशेषेग्। वर्ज्ञयेत्। साध्वाचारा चात्मानमुपचरेष्ठिताभ्यामाहारिवहा-राभ्यामिति॥ १७॥

पितृजास्तित्यादि । शुक्रदोपा इत्यनेन यावत् पितुरपचारः शुक्रं न दृपयित, तावदपचारो न गर्भोपवातायोपपचते इति रूपापितम् । मातृजैः अपचारै रुक्तेयो मातुरपचारै में भोपवातः पितुरपि तैरपचारे दु पृशुक्रं यं गर्भेमारभते स गर्भे उपहन्यते इत्पर्धः ॥ १६ ॥

गङ्गाधर—तस्मादिति। गर्भोषधातात्। अहितान् उक्तानाहारविहारान् अपरांश्च तन्नान्तरोक्तान् पुरुषो विशेषण स्त्री च वर्ज्ययेत्। साध्वाचारा चेति—गिभणी प्रथममासात् प्रभृति साध्वाचारा च मङ्गलशान्तिदेवतावाहाणणुरुपरा नित्यं प्रहृष्टा शुक्तरलङ्कृता शुक्रवसना च सती हिताभ्यामाहारविहाराभ्याम् आत्मानमुपचरेदिति। सुश्रुतेऽप्युक्तं—गर्भणी प्रथमदिवसात् प्रभृति नित्यं प्रहृष्टा शुच्यलङ्कृता शुक्रवसना शान्तिमङ्गलदेवतावाहाणणुरुपरा च भवेत्। मिलनविकृतहीनगात्राणि न स्पृशेत्। दुर्गन्यदुईर्जनानि परिहरेदुद्वेजनीयाश्च कथाः। शुष्कं पर्यु पितं कृथितं क्रिन्नञ्चान्नं नोपश्चन्तीत्। वहिनिष्क्रमणं शुन्यागारं चैत्यश्मशानप्रक्षाश्रयान् क्रोधभयसङ्करांश्च भावानुच्चैभोष्यादिकं परिहरेत्, यानि च गर्भं व्यापादयन्ति। न चाभीक्षणं तैलाभ्यङ्गोत्सादनादीनि निषेवत। न चायासयेच्छरीरं, पूर्व्योक्तानि च परिहरेत्। शयनासनं मृद्दास्तरणं नात्युच्चमपाश्रयोपतमसम्वाधं विद्ध्यात्। हृद्यं द्रवं मधुरप्राकृ स्त्रिन्धं दीपनीयं संस्कृतश्च भोजनञ्च भोजयेत्। सामान्यमेतत् आमसवात्।

रक्तिपत्तादियुक्त इत्यादि । ये तु हेतुसद्दशिवकारा गर्भस्य दृश्यन्ते, यथा गोमांसेन शर्वराश्मरीत्यादि, तेऽि दृश्यप्रभावादेव ज्ञेयाः । यद्यपि गर्भग्रहणात् प्रागिप क्रियापि अपध्यसेवार्त्तवदृष्टिद्वारा गर्भे विकारं जनयित, तथा पुरुपस्थापथ्यसेवाशुक्रदृष्टिद्वारा गर्भे दृष्टिः जनयतीति हृहैव "पितृ-जास्तु" दृत्यादिना ग्रन्थे वक्तन्यम्, तथापि गृहीतगर्भावा एव क्षिया अपचाराविशेषेणाव्यवधानाव् गर्भदृष्टिकरा भवन्तीति कृत्वा 'तत् तदासेवमानान्तर्वक्षीत्याद्वयक्तम् । मातृजैरपचारेव्योख्याता हृति मातुरपंचाराचुरूपा गर्भव्याधयो भवन्ति, एवं पितुरिष व्यवायात् प्रागपचारेणेह शुक्रदृष्ट्यपचारानु-

२०दद

वासनं वा कुर्याद्न्यत्रात्यिकादु व्याधेः। अष्टमं मासमुपादाय वसनादिसाध्येषु पुनर्विकारेष्यात्ययिकेषु सृदुसिर्वसनादिभिः तद्नु-

विशेषतस्तु गर्भिणी प्रथमद्वितीयतृतीयमासेषु मधुरशीतद्रवपायमाहारमुपसेवेत। विशेषतस्तु तृतीये पष्टिकौदनं पयसा भोजयेत्। चतुथ द्वा, पश्चमे पयसा, पष्ट सपिपा चेत्येके। चतुर्थे पयोनवनीतसंस्रष्टमाहारयेज्ञाङ्गलमांससहितं ह्यमन्नं भोजयेत्। पश्चमे क्षीरसिषःसंसूष्टं, पष्टे श्वदंष्ट्रासिद्धस्य सिषेपो मात्रां पाययेद् यवागृ वा । सप्तमे सर्पिः पृथक्पर्धादिसिद्धम् । एवमाध्याय्यते गर्भः । अष्टमे वद्रोदकेन वलातिवलाशतपुष्पापललपयोद्धिमस्तुतैललवणमदनफल-मधुष्टतिमश्रेणास्थापयेत्, पुराणपुरीपशुद्धप्रथेम् अनुलोमनार्थञ्च वायोः। ततः पयोमधुरकपायसिद्धेन तैलेनानुवासयेदनुलोमे हि वायौ सुखं पस्यते निरुपद्रवा च भवति। अत ऊर्डं स्निग्धाभियेवागृभिर्जाङ्गलरसैश्रोपक्रमेत् आप्रसवकालात्। एवमुपक्रान्ता स्निग्धा वलवती सुखमनुपद्रवा प्रस्यते इति ॥ १७॥

गर्भिण्या ज्वरादीनामुपक्रममाह—व्याधीश्रास्या गङ्गाधरः—अथास्या इत्यादि। सुकुमारं क्रेशजनकवर्जं मृद्वादयः प्राया बहुला यत्र तैस्तथा। तथा हि ज्वरादीनां व्याधीनां ख्रस्याधिकारे वक्ष्यमाणा ये लौपधाहारोपचारास्तेषु मध्ये ये सौषधाहारोपचारा मृदुमधुरिज्ञिज्ञिससुस्तुसुम्रायास्तैज्वेराधिकारोक्तैस्स्याः गभिंष्या ज्वर्मुपचरेत् रक्तपित्ताधिकारोक्तै रक्तपित्तमित्येवं यथास्वाधि-कारोक्तीमु द्वाचौपधाहारोपचारैरस्याः सर्वान् व्याधीनुपचरेदित्यर्थः। न चेत्यादि स्पष्टम्। न रक्तमित्याद्यपि स्पष्टम्। अन्यत्रेति अप्टममासादिषु विधेयतया वक्ष्यमाणादन्यत्र। अष्टमं मासमित्यादि। यदि चाष्ट्रमादिमासेषु वमनादिकं विना न साध्यव्याधिमश्रमस्तदा आशुप्रतिकारार्धं वमनादिकं न विधे यम्। यदि चात्ययिकश्च व्याधिः स्याद्वमनादिभिरेव साध्यो न तु शमनादिभिः

रूपा व्याधयो भवन्तीत्यर्थः । 'स्त्री विशेषेण' इत्यनेन पुरुपोऽपि वर्ज्जयेदिति दर्शयति । साध्वा-चारेति मङ्गलाचारशीला ॥ १६।१७ ॥

चक्रपाणिः-मृद्दभिर्वमनादिभिरिति सृदुद्रव्यगतैरंत्पमात्रेश्च वमनादिभिरित्यर्थः। तद्य-

कारिभिर्वोपचारः स्यात् । पूर्णिमिव तैलपात्रमसंचोभियत्वान्त-व्वती भवत्यपचर्या ॥ १८॥

सा चेद्वचाराद्व द्वयोस्त्रिषु वा मासेषु पुष्यं पश्येत्रास्या गर्भः तदा सहसे मृदुभिर्वमनादिभिरुपचारः। असहस्रे तु वमनाद्यनुकारिभिर्निष्टीवन-कवड़ादिभिरुपचारः स्यादित्यर्थः। कस्माट् एवग्रपचार इत्यत आह —पूर्ण-मिवेत्यादि। यथा पूर्ण तैलपात्रम् अक्षोभियता उपचर्यं तथान्तव्वत्नी स्त्री असंक्षोभियता उपचर्या भवति। संपूर्विकत्वेऽपि नव्यूर्विकतात् न त्वो ल्यप् इति असंक्षोभियत्वेति पदं साधू । सुश्रुतेऽप्युक्तम् । अथ गभिणीं व्याध्युत्पत्ताव-त्यये छर्दयेत्। मधुराम्लेनान्नोपहितेनानुलोमयेच। संशमनीयश्च मृदु विदध्यात्। अन्तपानयोरश्रीयाच मृदुवीर्यं मधुरपायं गर्भाविरुद्धश्च । गर्भाविरुद्धाश्च क्रिया यथायोगं विद्धीत मृदुपायाः। भवन्ति चात्र। सीवणं सुकृतं चूणं कुष्टं मधु ष्ट्रतं वचा । मत्स्याक्षकः शह्बपुष्पी मधुसपिः सकाञ्चनम् ॥ अर्कपुष्पी मधु वृतं चूर्णितं कनकं वचा । हेपचूर्णानि कैट्ट्यः इवेता दृव्वी घृतं मधु । चलारोऽभि-हिताः प्राशाः श्लोकाद्धेषु चतुष्वेषि । कुमाराणां वपुर्मेधा-वलबुद्धिविवर्द्धनाः ॥ इति। तत्रान्तरेऽप्युक्तम्। ज्वरादिरोगे गर्भिण्या मृद् कुर्याचिकितः सिंतम्। तीक्ष्णं हि भेषजं तस्या गर्भपाताय करपते। अतो धान्यपटोलादि बुद्धा योज्यं ज्वरादिजित्। सिंहास्यादि गुडूच्यादि तथा धान्यपटोलकः। पित्तज्वरहरः काथो गर्भिण्या ज्वरशान्तये। मधु तीक्ष्णं न जंसन्ति केचिद्-गर्भवतीज्वरे । कुशकाशोरुवृकाणां मूळं गोक्षरकस्य च । शृतशीतं सितायुक्तं गर्भिण्या ज्वरदाहनुत्। चन्दनं शारिवा लोधुं मृद्दीका शर्करान्वितम्। काथं कुला प्रदातन्यं गर्भिण्या ज्वरनाशनम् । एरण्डमूलममृता मञ्जिष्ठा रक्तचन्दनम् । दारुपब्रयुतः काथो गर्भिण्या ज्वरनाशनः। हीवेरारुखरक्तचन्दनवलाधन्याक-वत्सादनी, मुस्तोशीरवरा सपपेटविषा कार्थं पिवेट गर्भिणी। नानावर्णरुजाति-सारकगढे रक्तस्त्रतौ वा ज्वरे,योगोऽयं मुनिभिः पुरा निगदितः सुत्यामयेपूत्तमः। आम्रजम्बूतचः कार्थं छेहयेछाजसक्तुभिः। अनेन छीदमात्रेण गर्भिण्या ग्रहणीं जयेदिति ॥ १८ ॥

गङ्गाधरः—इति गर्भिण्या व्याधिमतिक्रियाम्रुत्तवा गर्भिण्या अपचारादिना गर्भोपघातारम्भे पुनरात्त्वपट्तौ तत्मतिकारार्थमाह—सा चेदित्यादि। सा कारिभिवेति यथा वमनार्थकारि निष्ठीवनम्, विरेचनानुकारिणी फलवर्तिरित्यादिभिरुपचारः कर्तव्यः। स्थास्यतीति विद्यात्। अजातसारा हि तिसमन् काले भवन्ति गर्भाः। सा चेचतुष्प्रभृतिषु मासेषु क्रोधशोकास्येष्यभिय-त्रास-व्यवायव्यायाम-संचोभसन्धारणविषमाशनश्यनस्थानचुत्-विषासाद्यतियोगात् कदाहाराद्वा पुष्पं पश्येत् तस्या गर्भस्थापन-विधिमुपदेच्यामः॥ १६॥

पुष्वदर्शनादेवेनां वृ याच्छयनं तावन्यृदुसुखशिशिरास्तरणा-स्तीर्गाभीषद्वनतिश्रस्कं प्रतिपश्स्वेति । ततो यष्टीमधुक-सर्विभ्यां परमशिशिरवारिणि संस्थिताभ्यां पिचुमाप्राद्योपस्थ-समीपे स्थापयेत् । तस्यास्तया श्तधौतसहस्रधौताभ्यां सर्पिभ्याम् गर्भिणी चेद् यदि द्वयोर्मासयोस्तिषु वा मासेषु । नतु त्रिषु मासेप्वत्युक्तीयव प्रथमद्वितीयतृतीया मासा लभ्यन्ते, कथं पुनः द्वयोरित्युक्तमिति चेन्न। प्रथममासे हि पुष्पदर्शनं गर्भासम्भव एव तत् कथं गर्भिणीति व्यवस्यते। तस्मात् मधम-मासे गर्भिष्याः पुष्पदर्शनस्यासम्भव इति ख्यापनार्थं त्रिष्विति वचनं न त्रिमासवीयकं किन्तु तृतीयमासपरं, सुतरां द्वयोरिति वक्तुमावश्यकं भवति, तेन द्वयोरिति च पदं हितीयमासपरमिति वोध्यम् । पूरणार्थत्रत्ययलोपो वा । नतु कुतोऽस्या द्वितीयमासे तृतीयमासे वा पुष्पदिशिन्या गर्भो न स्थास्यती-त्यत आह—अजातसारा हीत्यादि । न जातं सारं रिथरांशो येषां तेऽजातसारा गर्भाः, हि यस्पात् तस्मिन् काले द्वितीये तृतीये च मासे भवन्ति तस्मादस्या गर्भो न स्थारयति। नतु चतुष्पभृतिमासेषु यदि पुष्पं पश्येत् तदा किं स्यादित्यत आह—सा चेदित्यादि। क्रोधाचपचाराद् यदि चतुर्थादिषु मासेषु पुष्पं पश्येत् तदा मतिकिययास्या गर्भः स्थास्यतीत्यतस्तस्या गर्भस्थापनविधिमुप-देक्ष्यामः ॥ १९॥

गङ्गाधरः — पुष्पत्यादि । पुष्पदर्शनाच्चतुर्थादिषु मासेषु पुष्पं दृष्टा प्रथममेनां गर्भिणीं व्रयात् मृदुसुखिशिशास्तरणास्तीर्णं शयनं शय्यामीपदवनतिशरस्कं यथा स्यात् तथा प्रतिपद्यस्वति । तथा प्रतिपद्माया गर्भिष्या उपस्थसमीपे योनिद्वारे परमिशिशिरवारिणि संस्थिताभ्यां यष्टीमधुकसिपेभ्यां पिचुं विस्तृतत् लकम् सम्धारणं वेगसन्धारणम् । कदाहारः कुत्सिताहारः । शिशिरं शीतम् । यष्टीमधुकसिद्धं सिर्ः

अधो नाभेः प्रदिद्यात्। सःर्वतश्च गव्येन चनां पयसा
सुशीतेन मधुकाम्युना वा न्यप्रोधादिकषायेण वा परिषेचयेदधो
नाभेः। उदकं वा सुशीतमवगाहयेत्, चीरिणां कषायदुमाणाञ्च स्वरसपरिपीतानि चेलानि प्राह्येत्। न्यप्रोधादिसिद्धयोर्वा चीरसिषवोः पिचुं प्राह्येत् अतश्चैवाचमात्रं प्राश्येत्,
प्राश्येद्वा केवलञ्च चीरसिषः। पद्योत्पलक्रमुदिकञ्जल्कांश्च
अस्य समधुशर्करान् लेहार्थं दद्यात् श्रृङ्गाटकपुष्करवीजकशेस्कान्
भचणार्थम्। गन्धिप्रयङ्गसितोत्पलशाल्कोडुम्बरशलाटुन्यशोध-

आप्लाब्य स्थापयेत् । तस्यास्तथेत्यादि । नाभेर्थः पदिह्यात् । सर्व्वतश्च शिरः-मसति सर्वाङ्गं सुशीतेन पयसा सुशीतेन मधुकाम्बुना वा सुशीतेन न्यग्रोधादि-कपायेण वा परिणेचयेत्। न्यग्रोधादिस्तु मसिद्धः-न्यग्रोधोड्मवराश्वत्थप्लक्ष-मधुककपीतन-ककुभाम्रकोपाम्रचोरकपत्र-जम्बद्धय-पियाल-मधुकरोहिणीवञ्जुल-कद्म्यवद्रीतिन्दुकीसङ्कीलोधृसावर्लोधृभङ्डातकप्लाशा न्यग्रोधादिगेणो त्रण्यः संग्राही भग्नसाधकः। रक्तपित्तहरो दाह-मेदोध्नो योनि-दोपहत्।। इति। अधो नाभेरित्यादि नाभेरधोदेशपर्यम्तम्। वैत्यादि । क्षीरिणाञ्चेति । क्षीरिणः प्रसिद्धाः वटोडुम्वराश्वत्थप्लक्षकपीतनाः पश्च । स्वरसपरिपीतानि क्षीरिणां वल्कलस्वरसेन चेलखण्डानि भावयिला योनावभ्यन्तरतो ग्राह्येत्। न्यग्रोधादिसिद्धयोरित्यादि। उक्तन्यग्रोधादि-गणस्य क्षीरादृष्ट्यांशकलकेन चतुर्गुणजलेन सिद्धस्य क्षीरावशेषपकस्य क्षीरस्य पिचुं तत्क्षीरभाविताप्छततूलकं किंवा न्यग्रोधादेः पादिकेन चतु गुणेन जलेन सिद्धस्य सर्पिपः पिच् तत्सर्पिपाण्छत-त्रलकं योनावन्तर्ग्राहयेत् । अतङ्चेति । न्यग्रोधादिसिद्धात् श्लीराद् वा सर्पिपो अक्षमात्रं तोलकद्वयम्। केवलमेव क्षीरसपिः क्षीरोत्थं घृतमसाधितम्। पद्मोतुपलेत्यादि । पद्मादीनां त्रयाणां किञ्जलकान् । शृहाटकेत्यादि । पुष्करवीजं पद्मवीजम्। गन्धप्रियङ्गित्यादि। गन्धप्रियङ्गर्गन्यद्रव्यविशेषः प्रियङ्गर्नाम, न तु

त्रष्टीमधुकर्सार्पः । चेलानि ब्राह्येदित्यत्र योनिमिति शेषः । अतः चैवेति न्यमोषादिशुङ्गात् । किंवा क्षीरसर्पिष इत्यस्मिन् पाठे क्षीरोधितं सर्पिः क्षीरसर्पिः ॥ १८—२० ॥ शुङ्गानि वा पाययेदेनामाजेन पयता। पयता चैनां वलातिवलाशालिषियेज्जुमूल-काकोलीश्वतेन समधुशर्करं रक्त-शालीनामोदनं मृदुसुरिसशीतं भोजयेत्। लावकिपञ्जलकुरङ्ग-शम्बरशहरिगोगाकालपुच्छकरसेन वा घृतसुसंस्कृतेन सुख-शिशरोपवातदेशस्यां भोजयेत्। तथा क्रोधशोकायासव्यवाय-व्यायामतश्चाभिरचेत्। सौस्याभिश्चेनां कथाभिर्मनोऽनुकूलाभिः उपासीत। तथारया गर्भिस्तष्ठित ॥ २०॥

यस्याः पुनरामान्ययात् पुष्पदर्शनं स्यात् प्रायस्तस्यास्तद्गर्भवाधकं अवित विरुद्धोपक्रमत्वात् तयोः। यस्याः पुनरुष्णतीच्णोपप्रियङ्गुधान्यम्। एपां कल्कं पाययेदाजेन पयसा च्छागदुग्धेन। पयसा चेत्यादि—
वलादीक्ष्यन्तानां मूळं काकोलीनां कल्केन पयोऽप्टमांशेन चतुर्ग णजलेन शृतेन पक्षेन पयसा मृदुसुरिभशीतं न तु स्पर्शोष्णं रक्तशालीनामोदनं समधुशर्करं भोजयेत्। लावत्यादि—लावादीनां मांसं सल्लि पत्तवा रसं निष्पाद्य घृतेन संस्कृत्य तेन रसेन वा सुखादिदेशस्थामेनां गर्भिणीं रक्तशालीनामोदनं समधुशर्करं भोजयेत्। क्रोधादितश्चाभिरक्षेत् क्रोधादिकं कर्जुं वारयेत्। सौन्याभिर्वात्सल्यवतीभिः। तथास्या उक्तप्रकारेणास्याश्चतुर्थादिमासेषु पुष्पदर्शनेऽपि पुष्पप्रदत्तिनिष्टत्तौ गर्भस्तिष्टति॥ २०॥

गृङ्गाधरः—अथामान्वयात् पुष्पदर्शने किं स्यादित्यत आह—यस्याः पुनित्यादि । आमस्त्वपक्ष आहारस्तस्यान्वयोऽनुवन्धस्तस्याद् यस्याः पुष्पदर्शनं स्यात् प्रायस्तस्यास्तत् पुष्पदर्शनं गर्भवाधकं भवति । कुत इत्यत आह—विरुद्धेत्यादि । विरुद्धोपक्रमत्तन्तत्र पुष्पप्रष्टित्तिनवारणार्थं मधुरिशिशादुप्रपचार उपक्रमः, सः चामे विरुद्धो भवति । आमो हि मधुरिशिशादिगुणो भवति तेन वद्धते इति । लघुरुक्षोष्णादुप्रपचारस्तामे उपक्रमः, स च पुष्पप्रवृत्तौ विरुद्धः । पुष्पं हि स्क्षोष्णादिगुणं तेन वर्द्धते प्रवर्त्तते च । इति विरुद्धोपक्रमत्तादामान्वयात् पुष्पदर्शनं गर्भण्या गर्भवाधकरं भवतीत्यर्थः । यस्याः पुनिरत्यादि—यस्याः

चक्रपाणिः—आमान्वयादिति आमजनकहेतोः सकाशादित्यर्थः । विरुद्धोपक्रमत्वादिति गर्भस्रावे हि स्तम्भनं कर्त्तव्यम्, तच शीतं सृदु मधुरञ्ज, तच्चैतदामविरुद्धमामजनकत्वादिति विरुद्धोपक्रमता । योगाहर्मिण्या महति संजातसारे गर्भे पुष्पदर्शनं स्यादन्यो वा योनिस्नावः, तस्या गर्भो वृद्धिं न प्राप्नोति निःस्नुतत्वात्, स कालान्तरमवित्व्ठतेऽतिमात्रं, तमुपविष्टकमित्याचन्नते केचित्। उपवासवतकर्म्भपरायाः पुनः कदाहारायाः स्नेहद्दे षिण्या वातः प्रकोपणान्यासेवमानाया गर्भो वृद्धिं नाप्नोति परिशुष्कत्वात्, स चापि कालान्तरमवित्व्ठतेऽतिमात्रमस्यन्दनश्च भवति, तन्तु नागोदरमित्याचन्ते॥ २१॥

नार्च्योस्तयोरुभयोरपि चिकित्सितविशेषमुपदे च्यामः। भौतिकजीवनीयवृंहणीयमधुरवातहरसिद्धानां सर्पिषामुपयोगः।

जातसारे गर्भे महति सति उष्णतीक्ष्णोपयोगात् पुष्पदर्शनं स्यात्. अन्यो वा प्रदरादिरूपो योनिस्नावः स्यात्, स निःस तस्नावो गर्भोऽयथास्वकालवर्द्ध-मानः कालान्तर प्रसवकालमतीत्यातिमात्रं कालमवतिष्ठते गर्भाशये इति शेषः। तस्य संज्ञामाह—तिमत्यादि। उपवेशनशीलतादुपविष्टकसंज्ञा। उपवासेत्यादि—कदाहारायाः कुत्सिता रुक्षशाकाशुधान्यादितण्डुलौदनादय आहारा यस्या-स्तस्याः। परिशुष्कत्वात् उपवासादिभिर्गर्भस्य परिशोपात्। तेन सोऽपि गर्भः कालान्तरमवतिष्ठतेऽतिमात्रम्। स च गर्भोऽस्पन्दनः स्पन्दनरहितो भवति। तस्य संज्ञामाह—तिमत्यादि। नागोदर्गिति संज्ञा। २१।।

गङ्गाधरः—अनयोश्विकित्सामाह—नाय्योस्तयोरित्यादि। तयोरुपविष्टकगर्भवतीनागोद्रगर्भवत्योर्नाय्योः। भौतिकेत्यादि भूतोपघातेभ्यो हितं वचाग्रग्णुरुवादिकं भूतोन्माद्रापस्मारोक्तं द्रव्यं भौतिकम्। जीवनीयो दशकः।
ग्रं हणीयः सीरिणीराजस्रवकादिदशकः। मधुरोऽत्र विमानोक्तमधुरस्कन्धः, न तु
सुश्रुतोक्तः काकोरुयादिर्गणः—काकोलीक्षीरकाकोली-जीवकपभक्रमुद्रपणीमापपणीमेदामहामेदाच्छित्ररुहा-कर्कटम्ह्रद्शीतुगाक्षीरीपद्मकप्रपोण्डरीकर्ष्ट्रिष्टुद्धिमृद्धीकाजीवनत्यो मधुकदचेति। काकोरुयादिर्यं पित्त-शोणितानिलनाशनः। जीवनो
अन्यो वेति आर्चवन्नक्षणव्यतिरिकः। अत्रापि केविदित्युक्तम्, तथाप्यमितपेषादाचार्य्यसापि एतत्
सम्मतं किञ्चित्विशेपमिति॥ २१॥

चक्रपाणिः—अत्र 'विशेप'शब्देन गर्भव्याध्यन्तरापेक्षया चिकित्सित्तितृशेषा अयः। उप-

नागोदरे तु योनिव्यापन्निर्दिष्टं पयसामामगर्भाणां गर्भवृद्धि-कराणाश्च सम्भोजनमेतेरेव सिद्धेश्च घृतादिभिः सुबुभुनायाम्। क अभीन्णं यानवाहनापमार्जनावजृम्भणौरुपपादनमिति॥ २२॥

यस्याः पुनर्गभों न स्वन्द्तै, तां श्येनमत्स्यगवयतित्तिरिताम्न-चूड़शिखिनासन्यतंमस्य सर्िष्मता रसेन माषयूषेगा वा प्रभूत-र्षं हणो रुष्यः स्तन्यक्लेष्मकरस्तथा ॥ इति । श्रीरष्ट्रतवसामज्जशालिपष्टिकयव-गोधूममापशृङ्गाटककशेरकत्रपुपव्यस्किककर्भारागृङ्गकास्त्रिन्द्ककतकाङ्करोख्य पियाल-पुष्करवीजकाइमर्य्यमधुक-द्राक्षाखर्ज् रराजादनतालनारिकेलेक्षुविकार-वंलातिवलात्मंगुप्ता-विदारीपयस्यागोक्षुरक-क्षीरमोरटमधूलिकाकुष्माण्डप्रभृतीनि समासेन मधुरो वर्गः। वातहरोऽत्र भद्रदार्व्वादिः सुश्रुते वीरतर्व्वादिरुक्तः। तद् यथा-वीरतरु-सहचरद्वय-दर्भेष्टक्षादनीग्रन्द्रानल-क्रशकाशाश्मभेदकाग्निमन्थ-मोरटावसुकवसिरभल्ळ्ककुरुण्टकेन्दीवरकपोतवक्ताः श्वदंष्ट्रा चेति। वीरतव्वीदि-रित्येप गणो वातविकारतुत्। अश्मरीशर्कराम् त्र-कृच्छाघातरुजापहः।। इति। एपां भौतिकादीनां घृतपादांशकरकेन चतुर्गु णकाथेन च सिद्धानां सर्पिपामुप-योगः। वहुवचनं गणाभिषायेण। भौतिकेन सिद्धस्य सपिपो जीवनीयेन सिद्धस्य वा रंहणीयेन सिद्धस्य वा मधुरेण सिद्धस्य वाप्युपयोग इति वोध्यम्। इत्युपविष्टकगर्भिण्याः। नागोद्रगर्भिण्यास्त्वाह—नागोद्रे तित्यादि। योनि-च्यापत्तिनिर्दिष्टम् आमगर्भाणां दृद्धिकरो यावान् तावान् पयसा आमगर्भाणां चकारात् नागोदरसंज्यभेस्य च दृद्धिकरः। संभोजनमेतैरेव भौतिकादि-सिद्धैष्टे तादिभिः सुबुसुक्षायामभीक्ष्णं संभोजनमन्त्रस्य सम्यगा तप्तारा भोजनम्। यानं नौकाचनभिसंक्षोभणयानैदौलादिवाहनैरपापार्जनैरभ्यङ्गस्नानादिभिरव-जुम्भणैरुत्साहवर्द्धनैः पियाश्वासादिवचनैगीत्रप्रसारणैवी उपपादनम् ॥ २२ ॥

गङ्गाधरः यस्याः पुनिरित्यादि । इयेनः पिक्षिविशोषः । इयेनादीनामन्यतम-मांसस्य रसेन सिपिष्मता घृतयुक्तेन । सिपिष्मता मापयूषेण वा । प्रभूत-विष्ठकनागोदरयोस्त विशिष्टेवेह चिकित्सा वक्तव्या । किंवा 'यस्याः पुनर्गर्भः प्रसुप्तो न स्पन्दते' इत्यादिना योऽयस्थायां विशेषो वक्तव्यः, तमपेक्ष्योक्तं चिकित्सितविशेष इति । भौतिकं मृतोष-युक्तितं वचागुग्गुल्वादि । किंवा महापैशाचिकादिष्टतवक्ष्यमाणं द्रव्यम्, सुभिक्षाया इति

^{*} सुभिक्षाया इति चकः।

सर्पिषा मूलकयूषेण वा रक्तशालीनामोदनं मृदुमधुरशीतं भोज-येत्। तैलाभ्यङ्गेनास्याश्चाभीचणमुद्दरवडन्रणोहकटीपार्वपृष्ट-प्रदेशानीषदुष्णेनोपचरेत्॥ २३॥

यस्याः पुनरुदावर्त्तविवन्धः स्यादष्टमे मासे न चानुवासन-साध्यं मन्यते, ततस्तस्यास्तद्विकारप्रशमनमुपकल्पयेन्निरूहम्। उदावर्त्तो ह्युपेच्यो गर्भं सगर्भां गर्भिणीं वा निपातयेत्। तत्र वीरण-शालि-पष्टिक-कुश-काशेनुवालिका-वेतसपरिव्याधमूलानां भूतीकाऽनन्ताकाश्मर्थ्यपरूषकमधुकमृद्वीकानाञ्च पयसार्द्धोदकेन उद्गमय्य रसं पियालविभीतकमज्ज तिलकल्कसंप्रयुक्तम् ईषल्लव-णम् अनत्युष्णञ्च निरूहं दद्यात्। व्यपगतविवन्धाःचैनां सुख-सर्पिपा हस्वमूलकयूपेण वा रक्तशालीनामोदनं भोजयेत्। अस्या नागोदरिष्या इदरं वङ्गणादिप्रदेशांश्च ईपदुष्णेन तैलाभ्यङ्गेनाभीक्ष्णमुपचरेत्।। २३।।

गङ्गाधरः—यस्या इत्यादि । न चानुवासनसाध्यं मन्यतेऽर्थात् तमुदावर्त्तविवन्धम् । अत्रायं भावः । अनुवासनसाध्यं यदुत्रदावर्त्तविवन्धः स्यात्
तदानुवासयदेनाम् । यस्यास्त्वनुवासनसाध्यं न मन्यते तदा तस्या उदावर्त्तः
विवन्धिन्या अष्टममासगिषण्यास्तद् विकारस्य उदावर्त्तिविवन्धस्य प्रश्नमनो यो
निरूद्धः साधुर्भविति तं निरूद्धमुपकरपयेत् । कुत इत्यतं आह—उदावर्त्त इत्यादि ।
हि यस्मात् । उदावर्त्तः न प्रतिकृत्य उपेक्ष्यः सन् सगर्भां गर्भसहितां गर्भिणीं नारीं
निपातयेत् मारयेत्, गर्भवान्तर्गर्भाशये निपातयेत् । तस्मादुदावर्त्तप्रश्नमनं निरूद्धम्
उपकरपयेत् । निरूद्धन्यमाह—तत्रेत्यादि । वीरणप्रश्नीरस् इक्षुवालिका नटाइ
इति लोके । परिव्याधः जलवेतसः । एषां मूलानाम् । भूतीकं यमानी । भूतीकादीनाश्च रसं काथम् अद्धौदकेन पयसा मिलिलाष्टगुणेन वीरणादीनां मूलानि
भूतीकादीनि च पत्तवा पादावशेषं रसं काथमुद्धमय्य उद्धतं कृता तं काथं
पियालविभीतकयोभेज्ञ-तिलानां करकेः संप्रयुक्तं सम्यगालोङ्नेन पक्षणं युक्तम्
ईपल्लवणमरुपसैन्धवयुक्तमनत्युष्णमीपदुष्णं कृता निरूद्धं गुदेन पथा आस्थापनसुन्नभ्रक्षायाः । न चानुवासनसाध्यं मन्येत इति सामत्वाद्धावर्त्तर्यते निरूद्धमाह—तत्रेत्यादि ।

सिललपरिषिक्ताङ्गीं स्थैर्थ्यकरमिवदाहिनमाहारं भुक्तवतीं सायं मधुरकि सिद्धेन तैलेनानुवासयेत्, न्युव्जान्त्वेनामास्थापनानु-वासनाभ्यामुपचरेत् ॥ २४ ॥

यस्याः पुनरितमात्रदोषोपचयाद्वा तीच्गोष्णातिमात्रसेवनाद्वा वात-मूत्र-पुरीष-वेगधारर वा विषमाशन-शयन त्थान-संवीड़नैर्वा क्रोधशोकेर्व्यासूयाभयत्रासादिभिर्वा अपरेः कर्मिभरन्तः कुचौ गर्भो स्त्रियते । तस्याः स्तिमितं स्तब्धमुद्रसाततं शीतमश्मान्त-गतिमिव भवत्यस्पन्दनो गर्भः, शूलमधिकमुपजायते, न चाव्यः प्रादुर्भवन्ति, योनिर्न प्रस्रवत्यचिग्गी चास्याः स्नस्ते भवतः । तास्यति व्ययते स्नमते श्वसित्यरितवहुला च भवति, न वास्या वेगप्रादुर्भावो वा यथावदुपलभ्यते, इत्येवंलच्गां स्त्रियं मृत-गर्भियमिति विद्यात् ॥ २५ ॥

वस्तिं द्यात्। व्यपगतिवन्धां तेन निरूहेण विवन्धं भित्ता पुरीपनिःसरणवती-मेनामष्ट्रममासिकगर्भवतीं सुखसिलल्झातां स्थैर्य्यकरं गर्भस्यास्थापनकरम् ऐन्द्रीब्राह्मीत्यादुत्रक्तं तेन सिद्धमाहारं सुक्तवतीं सायं सन्ध्याकाले मधुरकसिद्धेन उक्तकाकोल्यादिकलक्काथाभ्यां पादिकचतुर्गुणाभ्यां साधितेन तैलेनानुवास-थेत्। नन्वेतां किं वामपाद्येन शयितामास्थापनानुवासनाभ्यामुपचरेदित्यत आहं—न्युव्जामित्यादि। ग्युव्जामनुक्तानामधोनुक्षेन शयितामिति यावत्।।२४॥

गङ्गाधरः—अथान्तम् तगर्भायाः प्रतिक्रियामाह—यस्याः पुनिरित्यादि । अन्तः-कुक्षौ गर्भाशयाभ्यन्तरे । अन्तम् तगर्भलक्षणमाह—तस्या इत्यादि । स्तिमित-माद्रेद्रच्यमिव, स्तब्धमचल्रत्वेन गुरु, आततं सन्वीदर्ग्याप्तमिव, अश्मान्तर्गतं यस्य तदन्तर्गतप्रस्तर्मिव तस्या उदरं भवति गर्भश्चास्पन्दनः । न चान्यः आवी प्रसवकालिकश्लः। अस्या गर्भिण्या अक्षिणी सस्ते अधःपतिते भवतः। मृतगर्भेयम्

परिष्याघो वेतसमेदः । उद्गमय्य रसमिति काथं निःकाध्य । काथादिपरिमाणञ्च निरूहपरिमाण-परिभापयेव कर्त्तेष्यम् । न्युंट्जामित्यघोमुखीम् ॥ २२—२४ ॥

चक्तपाणिः—अइमान्तर्गतमिवेति अन्तर्गतप्रस्तरमिवेत्यर्थः। आवी प्रसवकालञ्जूलम्।

इति कुक्षौ मृतो गर्भौ यस्याः सा मृतगर्भा । सुश्रुते तु मूहगर्भनिदानेऽप्युक्तम्— श्राम्यधम्भयानवाहनाथ्वगमनप्रस्खलनप्रपतनप्रपीड्नधावनाभिधातविष्यवयना-सनोपवास-वेगाभिघातातिरुक्ष-कट्तिक्त-भोजन-ज्ञाकातिक्षारसेवनातिसारवमन-विरेचनमेङ्खोलनाजीर्णगर्भशातनपृथतिभिविशेपैवेन्धनान्मुच्यते गर्भः फलमिव द्यन्तवन्धादभिघातविशेषैः। स विमुक्तवन्धनो गर्भाशयमतिक्रम्य यकुत्षृशिहानत्र-विवरेरवसं समानः कोष्टसंक्षोभमापादयति। तथा जटरसं क्षोभाद् वायुरपानो मृदुः पाइवेवस्तिज्ञीपौँद्रयोनिशुलानाहमूत्रसङ्गानामन्यतममापाच गर्भं व्यापा-दयति तरुणं शोणितसावेण। तमेव कदाचिद् विद्युत्पसम्यगागतमपत्यपथमञ्ज-प्राप्तमनिरस्यमानमपानवैगुण्यसम्मोहितं गर्भं मृढ्गर्भमित्याचक्षते। कीलः मतिखुरो वीजकः परिघ इति । तत्र ऊढ वाहुशिरःपादो यो योनिमुखं निरुणिद्ध कील इव, स कीलः। निःसृतहस्तपाद्शिराः प्रतिखुरः। यस्तु निर्मच्छत्येकशिरोधुनः स वीजकः। परिघ इव योनि-मुखमाष्ट्रत्य तिष्ठेत् स परिघः। इति चतुर्विधो भवतीत्येके भापन्ते। तत् तु न सम्यक्। कस्मात् ? स यदा विगुणानिलिपपीड़ितोऽपत्यपथमनेकधा प्रतिपचते, तदा सङ्घा हीयते। तत्र कश्चित् द्वाभ्यां सक्थिभ्यां योनि-मुखं प्रतिपद्यते। कश्चिदाभुग्नेकसक्थिरेकेन। कश्चिदाभुग्नसक्थिशरीरः स्मिग्देशेन तिर्र्यगागतः। कश्चिदुरःपार्श्वपृष्ठानामन्यतमेन योनिद्दारं पिधायाव-तिष्ठते। अन्तःपार्श्वपरिवर्त्तिशराः कश्चिदेकेन वाहुना। कश्चिदाग्रप्रशिराः वाहुद्वयेन । कश्चिदाभुग्नमध्यो हस्तपादिशरोभिः । कश्चिदेकेन सक्श्ना योनि-मुखमभिन्नतिपद्मतेऽपरेण पायुमित्यष्टविधा सुदुगर्भगतिरुदिष्टा समासेन। तत्र द्वावन्त्यावसाध्यौ मृदुगभौ । शेषान्षि विषरीतेन्द्रियार्थाक्षेपकयोनिभ्नं शसंवरण-मक्छिश्वासकासभ्रमनिपीड़ितान् परिहरेत्। भवन्ति चात्र। कालस्य परिणामेन मुक्तं द्वन्ताद् यथा फलम्। प्रपदेगत स्वभावेन नान्यथा पतितु फलम्।। एवं कालमक्षण मुक्तो नाडीविवन्यनात्। गर्भाशयस्थो यो गर्भौ जननाय प्रपद्मते ॥ किमिवाताभिषातैस्तु तदेवोप्दूर्तं फलम् । पतत्यकालेऽपि यथा तथा स्याद् गर्भविच्युतिः। आ चतुर्थात् ततो मासात् प्रस्वेद् गर्भविच्युतिः। ततः स्थिरशरीरस्य पातः पश्चमपष्टयोः॥ प्रविध्यति शिरो या तु शीताङ्गी निरपत्रपा। नीलोद्धतिशरा हन्ति सा गर्भं स च तां तथा॥ गर्भास्पन्दनमावीनां प्रणाशः इयावपाण्डुता । भवत्युच्छासपूतित्वं शूलञ्चान्तम् ते शिशौ ॥ मानसा-गन्तुभिर्मातुरुपतापैः प्रपीडितः। गभौ व्यापद्यते क्रुक्षौ व्याधिभिश्च प्रपीडितः ॥ तस्य गर्भश्र्ल्यस्य जरायुप्रपातनं कम्मे श्मनमित्याहुरेके। मन्त्रादिक्मथठ्वेवेदविहितमित्येके। परिदृष्टकम्मेगा श्ल्यहर्त्रा ज्ञाहरगामित्येके॥ २६॥

वस्तमारविपन्नायाः कुक्षिः प्रस्पन्दते यदि। तत्क्षणाज्जन्मकाले तं पाटियतोद्धरेट् भिषक्। इति ॥ २५॥

गङ्गाधरः-अधास्या मृतगर्भायाश्चिकित्सामाह-तस्येत्यादि । गर्भशल्यस्य गर्भाज्ञयान्तम् तिज्ञाशुरूपज्ञलयस्य ज्ञमनं ज्ञान्तिकरं जरायुप्रपातनं यचम्मी-कृतिजरायुणा गभी वेष्टितः सन्नन्तगॅर्भे वर्त्तते तस्य जरायोर्निगमनिमत्येके वद्नित। अन्ये त्वेकेऽथर्व्ववेद्विहतं मजादिकम्मं तस्य गर्भशल्यस्य शमनमित्याहः। परे त्वेके परिदृष्टकम्मणा सर्व्वतोभावेन दृष्टं गर्भशत्याहरणं कम्म येन तेन शल्यहर्जा शल्याहरणशीलेन भिपजा तस्य गर्भशल्यस्याहरणं शमनमित्याहुः। त्रयमेवैतद्पतिपिद्धताद्चुमतमाचार्य्यण। गर्भशल्यापहरणमुक्तं सुश्रूते—नातः कष्टतममस्ति यथा मृ दंगर्भशल्योद्धरणम् । अत्र हि योनियकृत्ष्ठीहात्रविवर-गर्भाशयानां मध्ये कम्मे कर्त्तव्यं स्पर्शेन। उत्कर्पणापकपेणस्थानापवर्त्तनोत्-कत्तनभेदनच्छेदनपीइनज्जूकरणदारणानि चैंकहस्तेन गर्भ गर्भिणी वा अहिंसता। तस्पाद्धिपतिमापुच्छा परश्च यत्नमास्थायोपक्रमेत।तत्र समासेनाप्ट-विधा मृद्गभँगतिरुद्दिष्टा। स्वभावगता अपि त्रयः सङ्गा भवन्ति, शिरसो वैगुण्यादंसयोर्जघनस्य वा। जीवति तु गर्भं सुतिकागर्भनिर्द्धरणे प्रयतेत। निर्हेत्रु मशक्ये च्यवनान् मञ्जानुपश्रुणयात्। तान् वक्ष्यामः। सोमश्र चित्रभातुश्र भामिनि। उच्चैःश्रवाश्र तुरगो मन्दिरे निवसन्तु से।। इदममृतमपां समुद्धृतं वै तव लघु गर्भिममं प्रमुश्चतु स्ती। तदनलपवनार्क-वासवास्ते सह लवणाम्बुध्रदिशन्त शान्तिम् ॥ मुक्ताः पाशा विपाशाश्च मुक्ताः सूच्यण रइमयः। मुक्तः सन्वभयाद् गर्भ एहेर्राह विरमावितः॥ औपधानि च विद्ध्यात् यथोक्तानि। मृते चोत्तानाया आभुग्नसक्थ्या वस्त्राधारको-न्निमतकट्या धन्वननगरित्तकाशाल्मलीमृत्स्त्राष्ट्रताभ्यां प्रक्षियला हस्तं योनौ मवेदय गर्भे ग्रुपहरेत्। तत्र सक्थिभ्यामागतमनुलोममेवाञ्छेत्। एकसक्थि-मपनस्येतरसक्थि मसार्घ्यापहरेत्। स्फिग्देशेनागतस्य स्फिग्देशं मपीड्य ऊछ -मुत्क्षिप्य संक्थिनी प्रसार्व्यापहरेत्। तिर्येगागतस्य परिघस्येव तिरश्चीनस्य 'एके'इति वचनेन अप्रतिपेधेन च दश्चिकित्स्वव्याधेर्जरायुपातनकरमीदीनां त्रयाणामिप सृतगर्भाषहरणं

व्यवगतगर्भश्रल्यान्तु स्त्रियमामगर्भा सुरासीध्वरिष्टमधु-मदिरासवानामन्यतमम् अये सामर्थ्यतः पाययेत गर्भकोष्ठ-विशुद्धार्थमर्त्तिविस्मरणार्थं प्रहर्षणार्थञ्च ।

ञ्चतः परं वृंहणैर्वलानुरिन्तिभः स्नेहप्रयुक्तैः ⊕ यवाग्वादिभिर्वा तत्कालयोगिभिराहारैरुपाचरेद् दोपधातुक्लेदिवशोषणमात्रं वा तत्कालम्। ञ्चतः परं स्नेहपानैर्वस्तिभिराहारिवधिभिश्च दीपनीयजीवनीयवृंहणीयमधुरवातहरैरुपचारैराचरेत्। परिपक्क-गर्भश्रल्यायाः पुनर्विमुक्तगर्भश्रल्यायास्तदहरंव स्नेहोपचारः स्यात्॥ २०।२८॥

पश्चादर्द्धमुद्ध मुत्क्षिप्य पूर्व्वाद्धिमपत्यपथं प्रत्याज्जनमानीयापहरेत्। पार्व्वपरि-वत्तंशिरसमंसं प्रपीड्योद्ध मुत्क्षिप्य शिरोऽपत्यपथमानीयापहरेत् । वाहुद्वयमति-पनस्योर्क् मृत्पीड्यांसौ शिरोऽनुलोपमानीयापहरेत्। द्वावन्यावसाध्यौ मूढ्-गर्भों। एवमशुक्ये शस्त्रमवचारयेत्। सचेतनश्च शस्त्रेण न कथञ्चन दारयेत्। दार्य्यमाणो हि जननीमात्मानञ्चैव घातयेत्। तत्र स्त्रियमाश्वास्य मण्डलाग्रेणाङ्गुलीशस्त्रेण वा शिरो विदाय्यं शिरःकपालान्याह्त्य शङ्कुना यहीतोरित कक्षायां वापहरेदभिन्ने शिरित चाक्षिक्टे गण्डे वा। अंसर्तंसक्तस्य अंसदेशे वाहु छित्त्वा दतिमिवाततं वातपूर्णोदरं वा विदार्य्य निरस्यान्नाणि शिथिलीभूतमाहरेत्। जघनसक्तस्य वा जघनकपालानीति। गर्भस्य तस्य स्वजित तिद्धिपक्। सम्यिग्विनिर्हरेन्छित्वा रक्षेन्नारीञ्च यत्रतः। गर्भस्य गतयश्चित्रा जायन्तेऽनिलकोपतः। तत्रानलपपतिर्वैद्यो वर्त्तेत विधि-पूच्चकम्। नोपेक्षेत् मृतं गर्भं मुह्त्तंमिप पण्डितः। स ह्याशु जननी हिन्त निरुच्छासं पशुं यथा। भण्डंलाग्रेण कर्त्तव्यं छेद्यमन्तविजानता। दृद्धिपत्रं हि तीक्ष्णाग्रं नारीं हिंस्यात् कदाचन । अथापतन्तीममरां पातयेत् पूर्व्वविद्धपक्। हस्तेनापहरेद्वापि पार्श्वाभ्यां परिषीड्यं वा। धुतुयाच्य मुहुर्नारीं पीडयेट् वांसपिण्डिकाम् । तैलाक्तयोनरेवं तां पातयेन्मतिमान् भिष्क् ॥ २६ ॥

गङ्गाधरः—निह तगर्भशस्याया उपक्रममाह—स्यपगतेत्यादि । आमगर्भा निह तामगर्भशस्याम् । परिपक्रगर्भशस्याया विम्रुक्तगर्भशस्याया इत्यन्वयः। तदह-

अस्तेहसम्प्रयुक्तैरिति चक्रध्तः पाठः ।

परसतो निर्विकारसाध्यायसानस्य गर्भस्य मासे मासे कम्मी उपदेच्यामः। प्रथममासे शङ्किता चेद् गर्भमापन्ना चीरमनुपस्कृतं मात्रावच्छीतं काले पिवेत्। सात्म्यञ्च भोजनं सायं प्रातश्च भुञ्जीत। द्वितीये मासे चीरमेव च मधुरीषधसिद्धम्, तृतीये मासे चीरं मधुमिपिंभ्यीमुपसंस्टब्य, चतुर्थे मासे तु चीरनवनीतमच्-मात्रमश्रीयात: पश्चमे मासे चीरसर्पिः, षष्ठे मासे चीरसर्पिर्मधु-रेवेति गर्भशस्यनिद्दरणदिनमेव। सुश्रुतेऽप्युक्तम्-एवं निह्तशस्यान्तु सिञ्चे-दुप्णेन वारिणा। ततोऽभ्यक्तशरीराया योनी स्नेहं निधापयेत्। एवं मृद्दी भवेद् योनिस्तच्छ्लञ्चोपशाम्यति । कृष्णातन्मूलशुष्ठेत्रला-हिङ्गुभागींसदीप्यकाः । वचामतिविषां रास्तां चन्यं सञ्च्०र्य पाययेत्। स्नेहेन दोपस्यन्दार्थं वेदनोप-शमाय च। काथञ्चैपां तथा कलकं चुण वा स्नेहविजेतम्। शाकतग्धिंग्वति-विपा-पाठाकडुकरोहिणीः। तथा तेजोवतीञ्चापि पाययेत् पूर्व्ववर् भिपक्। त्रिरात्रं पञ्चसप्ताहं ततः स्नेहं पुनः पिवेत्। पाययेद्वासवं नक्तमरिष्टं वा सुसंस्कृतम्। शिरीपककुभाभ्याश्च तोयमाचमने हितम्। उपद्रवाश्च येऽन्ये स्युस्तान् यथास्त्रमुपाचरेत्। सर्वतः परिशुद्धाः च स्त्रिग्धपथ्याल्पभोजना । स्वेदाभ्यङ्गपरा नित्यं भवेत् क्रोधविविज्जिता। पयो वातहरैः सिद्धं दशाहं भोजने हितम्। रसं दशाहं शेपे तु यथायोगमुपाचरेत्। न्युपद्रवां विशुद्धाश्च हाला च वरवर्णिनीम्। ऊद्धं चतुभ्यों मासेभ्यो विस्नेत् परिहारतः। योनिसन्तर्पणेsभ्यङ्गे पाने वस्तिषु भोजने। वलातैलिपदं वास्यै दद्यादिनलवारणम्।। वलामूलकपायस्येत्यादिना वलातैलं वोध्यं सुश्रुते ॥ २७ । २८ ॥

गङ्गाधरः—परमत इत्यादि । अतः परम् एतदनन्तरम्। मथममासे गभैमापन्ना आपन्नगभेतया लोकेऽनुभूता चेद्रवति । अनुपस्कृतमोपधैरसंस्कृतमेव। सायमिति सन्ध्यातीते निशामुखे, मातरिति पूर्व्वभोजनकाले । द्वितीये मासे इत्यादि— मधुरोपधं काकोल्यादि, तद्षृांशकल्कचतुगुं णजलसिद्धम् । तृतीये इत्यादि— मधुसपिभ्यामुपसंस्ज्य सम्यगालोड्य मिश्रीकृत्य । चतुर्थे मासे इत्यादि—क्षीर- नवनीतं क्षीरमन्थनोद्धृ तं नवनीतं, न तु दध्युत्थम् । पश्चमे इत्यादि—क्षीरसपिः

प्रति सम्यक्साधनतः नास्तीति दर्शयति । दोपधातुक्त दिविशोपणमात्रं कालमित्यनेन दोपधातुः क्लेदिविशोपणाविध तां यथोक्तक्रमस्य दर्शयति ॥ २५—२८॥ रौषधिसिद्धम्, तदेव सप्तमे मासे। तत्र गर्भस्य केशा जायमाना मातुविदाहं जनयन्तीति स्त्रियो भाषन्ते, तन्नेति भगवानात्रेयः। किन्तु गर्भोत्पीडनाद्ध वातिपत्तश्लेष्माण उरः प्राप्य विद्दहन्ति। ततः कण्डूरुपजायते, कण्डूमूला च किक्कश्रावािष्तर्भवति। तत्र कोलोदकेन नवनीतस्य मधुरोषधिसद्धस्य पाणितलमात्रमस्ये पातुं दयात्। चन्द्रनमृणालकल्केश्चास्याः स्तनोद्दरं विमृही-यात्।शिरीषधातकीसर्वपमधुकचूर्णेः कुटजार्ज्जकवीजमुस्तहरिद्रा-कल्केवी, निम्वकोलसुरसमिक्षष्ठाकल्केवी, पृषद्धरिणशश्रारुधिर-युत्तया त्रिफलया वा, करवीरकपत्रसिद्धेन वा तेलेनाभ्यङ्गः। परिषेकः पुनर्मालतीमधुकसिद्धेनाम्भसा। जातकण्डूया च

क्षीरोत्थं घृतं, नतु दध्युत्थम्। पष्टे इत्यादि—मधुरं काकोल्याद्योपथकाथकलकाभ्यां चतुर्गु णपादिकाभ्यां सिद्धं क्षीरसर्पिः क्षीरोत्थं सर्पिनं तु दध्युत्थम्। तदेवेति मधुरोपधिसद्धं क्षीरसर्पिरेव सप्तमे मासे। सन्वेत्र सात्म्यमेव च भोजनं सायं प्रात्मे ज्ञीतेति योज्यम्। तत्रेत्यादि। तत्र सप्तमे मासे। सन्वे स्पष्टम्। किकशावाप्तिश्चम्मेविद्रणावाप्तिः। तत्रेत्यादि। कोलोदकेन शुष्कवद्रफलकाथेन चतुर्गु णेन मधुरोपधानां काकोल्यादीनां कल्केन नवनीतात् पादिकेन सिद्धस्य पकस्य नवनीतस्य गव्यस्य पाणितलमात्रं कपेपमाणम्। चन्दनादीनां कल्केम् द्नीयात्। शिरीपादिरेको योगः कुटजाद्यपरः। कुटजस्याज्जिकस्य तुलस्याश्च वीजम्। तृतीयस्तु निम्वादिकलकः। चतुर्थः पृपदादिः। पृपत् श्चुद्रहरिणः। त्रिफलया हरीतकीविभीतक्यामलकीति त्रयी त्रिफला तया कल्क-रूपया प्रकरणात् स्तनोदरं मृद्नीयादित्यस्य सन्वेत्रान्वयः। पञ्चमः करवीरकप्रत्यादि। करवीरकप्रकलकः पादिकस्तेन चतुर्गु णेन जलेन च पक्षेन तैलेन। परिपेक इत्यादि। मालत्यादिभिरनुरूपैः कल्कैः सिद्धेनार्द्रभृतेन

चक्रपाणिः—गर्भस प्रतिमासिकं कम्मीह—परमत इत्यादि । तन्नेति भगवानात्रेय इति युगपदेव तृतीये मासेऽङ्गप्रत्यङ्गनिष्पत्तेः केशा अपि तदेव जाताः क्रमेण वर्द्धन्ते, न सप्तमे मास इति भावः । अथ कथं तर्दि सप्तमे विशेषेण कण्ड्समैवतीत्याह — गर्भोत्पीड्नाद्वीत्यादि । किकिशः कगडूयनं वर्ज्यते त्वग्भेदनवैरूप्यपरिहारार्थम् । अशक्यायान्तु कगड्वाम् उन्मईनोद्घर्षणाभ्यां परिहारः स्यात् । मधुरमाहारजातं वातहरम् अल्पसल्पस्नेहलवणसल्पोदकानुपानश्च भुञ्जीत॥ २६॥

अष्टमे मासे चीरयवागूं सिर्पण्मतीं काले काले पिवेत्। तन्नेति भद्रकाण्यः, पैङ्गल्यावाधो ह्यस्या गर्भमागच्छेदिति। अस्त्वत्र पैङ्गल्यावाध इत्याह भगवान् पुनर्व्वसुरात्रेयः। न हेप्रत-दकार्थ्यम् छ। एवं कुट्वेती ह्यारोग्यवलवर्णस्वरसंहननसम्पदुपेतं ज्ञातीनामपि श्रेष्ठमपत्यं जनयति। नवमे खल्वेनां मासे अम्भसा। जातकण्डूक्पस्थितकण्ड्या च। किमर्थं कण्डूयनं वर्ज्यपेदित्यत आह— सम्भेदेत्यादि। अशक्यायामसहायाम्। उन्महनम् उद्धर्पणं वा कृता कण्डू-परिहारः कार्यः स्यात्। मधुरमित्यादि क्षीरेत्याद्यक्तम्।। २९।।

गङ्गाधरः—अष्टमे इत्यादि । क्षीरयवार्गं क्षीरेण चतुर्दशगुणेन पङ्गुणेन वा पक्षां क्षुद्रतण्डुलानां यवागूं मण्डं पेयां वा सर्पिष्मतीं घृतमक्षेपां काले काले यथाकाले पिवेत्। तन्नेति भद्रकाप्य इत्यादि। अष्टममासे सर्पिष्मतीं क्षीर-यवागूं न पिवेदित्याह। कस्मात् १ पैङ्गल्यावाध इत्यादि। हि यस्मादस्या गर्भिण्याः पैङ्गल्यावाधः पैङ्गल्यस्य पिङ्गलनेत्रताया आवाधो गर्भमागच्छेत् गर्भ-स्यापि पिङ्गलनेत्रता स्यात्। ननु पित्तेऽत्यर्थं प्रदुष्टं तु नेत्रयोः पिङ्गता भवेदिति शालाक्यव्चनात् कथं शीरयवागूपानात् पैङ्गल्यावाधः स्यादिति चेन्न। अप्टमे हि मासे गर्भिण्याः क्षीरयवागूपानस्य प्रभावात् पैङ्गल्यजनकलिमिति। मतमेतद् दूप-यति—अस्तत्रेत्यादि।पैङ्गल्यावाधोऽस्तु गर्भस्य भवतु, स च न क्षतिकरः। कस्मात् ? हि यस्यात एवमप्टमे मासि सपिष्मत्क्षीरवागूपानं फुर्व्वती गर्भिणी स्वयमरोगा सती आरोग्यादिसम्पदुपतं ज्ञातीनां मध्ये श्रेष्ठमपत्यं जनयति। एतनकार्यं न तु भवति । महाफलमेतत् कार्य्यमेव पिङ्गलनेत्रसमर्षं न किञ्चित्करम् । तेन किम् चर्माविदरणम् । स्तनाबुदरञ्च स्तनोदरम् । कोलं वदरी । परिहारः कण्डा इति शेपः । पैङ्गल्यं पिङ्गलनेत्रता, सा च यद्यपि पित्तकृता, यदुक्तं शालाक्ये "पित्तेऽत्यर्थं प्रदुष्टे तु नेत्रयोः पिङ्गता स्मृता" इति, तथापीह अष्टममासीयगर्भ क्षीरयवाग्वाहारसम्भवप्रभावादेव पैङ्गल्यं भवतीति ज्ञेयम् । न त्वेवेतज्ञ कार्य्धमिति पैङ्गल्यस्यालपदोपत्वादुत्तरकालं सुकरप्रतिक्रियत्वाज्ञ क्षीरयवागू-

^{*} न त्वेचेतन कार्यमिति पाठान्तरम्।

मधुरौषधसिद्धेन तैलेनानुवासयेत् । अतश्चैवास्यास्तैलं पिचुमिश्रं योनौ प्रणयेद्द गर्भस्थानमार्गस्नेहनार्थम् ॥ ३० ॥

यदिदं कम्म प्रथममासमुपादायोपदिष्टमा नवमानमासात्, तेन गर्भिएया गर्भसमये गर्भधारणे कृचिकटीपार्श्वपृष्ठं मृदु भवति वातश्चानुलोमः संपद्यते । मूत्रपुरीषे च प्रकृतिभूते सुखेन मार्गमनुपद्यते चर्ममनखानि माईवमुपद्यान्ति बलवणीं चोपचीयते । पुत्रं ज्येष्ठं सम्पदुपेतं सुखिनं सुखेनेषा काले प्रजायत इति ॥ ३१॥

प्राक् चैवास्या नवममासात् स्तिकागारं कारयेत् अपहतास्थि-शर्कराकपाले देशे प्रशस्तरूपरसगन्धायां भूमो प्राग्द्वारमुदगद्वारं वा।वैल्वानां काष्ठानां तैन्दुकैङ्गुदानां भल्लातकानां वारुणानां खादि-

इत्यतोऽत्रास्तु पैङ्गल्यावाध इत्याह भगवान् । नवमे इत्यादि । मधुरौषधः काकोल्यादिभिः पादिककलक्ष्पैश्रतुर्ग् णजलेन च सिद्धेन पक्वेन । कश्चित्
मधुरौषधानां काथकल्काभ्यां चतुर्ग णपादिकाभ्यामित्याह । अतःचैव मधुरौषधसिद्धादेतत्तैलाच, तैलं किश्चित् पिचुमिश्रं त्लकमिश्रमस्या नवममासगर्भिण्या
योनौ प्रणयेत् धारणार्थं वितरेत् । किमर्थमित्यत आह—गर्भस्थानेत्यादि ।
गर्भस्थानं गर्भोश्यः, मार्गौ गर्भनिर्गमवर्त्म योनिद्वारं, तयोः स्नेहनार्थम् ॥३०॥

गङ्गाधरः—एतत् प्रथममासादिनवममासपर्य्यन्तोपदिष्टक्रियाफलमाह — यदिदमित्यादि स्पष्टम् । सुश्रुतेऽप्युक्तं तत् पूर्व्यं लिखितम् ॥ ३१॥

गृङ्गाधरः—अथ प्रसवार्थं तावत् कम्माह्म नाक् चेत्यादि । नवममासात् पूच्वमष्टमे मासि । अत्रापि मासे प्रसवप्रसक्तेः । अपहतेत्यादि । अपहता व्यपगता अस्थ्यादयो यत्र देशे तस्मिन् देशे । प्राग्दारं पूच्वेद्वारम्, उदग्द्वारम् चा । वैट्वानां विट्वकाष्टानां, तिन्दुकानां तूँद इति लोके, ऐङ्गुदानां जीवपुत्रिकाणां

सेवनिमिति भावः। अतर्ववेदित मधुरोपधिसद्धतैलात्। प्रजायते इति गर्भधारिण्या अनेन कर्माणा पुत्रजन्मेव स्याकृतं भवतीति॥ २९—३१॥

चक्रपाणिः-पुत्रं प्रसूते यत्र गर्भिणी प्रसूता च यत्र प्रतिष्टति, तत् सूतिकागारमुच्यते।

राणां त्रा यानि चान्यान्यपि ब्राह्मणाः श्रंसेयुरथद्ववेदविदः। तद्द-वसनालेपनाच्छादनापिधानसम्पद्धेपतं वास्तु छ विद्यात्।हृदययोगे-नामिसलिलोद्दलवर्चःस्थानस्नानभृभिमहानसपृतुसुख्य 🕇 । सर्पिस्तैल-सधुसैन्यव-सौवर्चलकाललवर्गा-विङ्क्षगुडकुण्ठ-किलिस-नागर-पिप्पलीपि-पलीसूलहस्तिपिप्पली-सगडूकपगर्येला-लाङ्गलिकी-वचा-चव्य-चित्रक-चिरविल्व-हिङ्गुसर्घप-लसुन-कगा-किंगिकानीपातसीविल्लजभूजीः कुलत्यमैरेयसुरासवाः सिन्निहिताः स्युः । तथारमानौ हो हे चएडमुपले हे उदूखले खरो वृषभश्च हो च तीच्गो सूचीवियलको सीवर्णराजतौ शस्त्राणि च तीच्णायसानि वारुणानां वरुणकाष्टानाम्। जंसेयुः प्रजस्तान्युपदिशेयुः। तद्वसनेत्यादि। तपां तेपां काष्टिनिर्मितं वसनं पीटखट्टादिकम् आलेपनमालेपनार्थं पात्रम् आच्छादनम् चतुष्पार्क्वे गृहस्यावरणम् अपिधानं कवाटम् एवमादिसम्पदुपेतं षास्तु स्तिकागारस्य वासस्थानं विद्यात्। हृद्ययोगेन मनोयोगेन तत्तहतुसुख-मित्रः सिललपुद्खलं वचेःस्थानं विड्विसर्पस्थानं स्नानभूमिमेहानसञ्ज्ञ, इत्येतत् सन्वेमृतुसुखं तत्मसवकालसुखम्। तत्रेत्यादि। काललवणं विङ्-लवणमित्यन्ये विट्लवणसदशकुष्णवर्णलवणम्। किलिमो देवदारः। कणः कुण्डक इति ख्यातः। कणिका स्थूलावयवतण्डुलकणाः। विल्लाः कुष्माण्डम्। अभ्यानौ द्दौ शिलाशिलापुत्रौ । द्वे चण्डमूपले गुरुतरमूपलद्वयम् । उद्खलद्वयञ्च । स्रतिकागारद्वारे स्थापनाथं, नतु सुपलन्यायामार्थम्। खरो गद्देभः, द्वपभोऽनड्वान्। स्वीपिप्पलकौ स्विगुड़कद्वयं सौवणराजतौ एका स्वी सुवणस्य द्वितीया वारणस्वगायरणं वा । तत् सेवयेदिति सम्बन्धः । वसनं वस्तम् । आच्छादनमास्तरणम् । अपिधानं वास्तुविद्याहद्यं वास्तुविद्यातश्वम्, तद्योगाद्यन्यादीनां स्थानं यत्र तद् गृहम् ! वास्तुविन्मतेन विभक्तमग्न्यादिस्थानं तद् भूतं कर्त्तव्यमित्यर्थः। वर्त्तमानर्त्तुमपेक्ष्य सुखमृतु-सुंवम्। सिर्पस्तैलादीनाञ्चात्र गृहे स्थापनीयानां व्यक्त एव तावदुपयोगः। न वक्तव्यः, तेपामप्ययमुपयोग उन्नेयः। किलिमं देवदारु। कणः कुण्डक हृति ख्यातः। कणिका तु कुण्डकात् स्थूला । तण्डुला येन कुट्टमन्ते, तन्मुपलम् । कुण्डमुपले इति हस्यमुपले । र्फिंचा चण्डमुपले इति पाठः, तदा गुरुतरमुपले इत्यर्थः । ् सूच्याकारी पिप्पलको सुचीपिप्पलको ।

चास्तुविद्याहृदययोगाग्नीति चक्रप्टतः पाठः । † सेवयेदित्यधिकः पाठः चक्रप्टतः ।

द्रौ च विल्वसबौ पर्याङ्कौ तैन्दुकेङ्गुदानि काष्ठान्यग्निसन्युच्नणानि, स्त्रियश्च बह्नग्ने वहुशः प्रजाताः सौहाईयुक्ताः सततमनुरक्ताः प्रदिच्णाचाराः प्रतिपत्तिक्वशलाः प्रकृतिवरसलास्यक्तविषादाः क्लोशसहिष्णाबोऽभिमताः । ब्राह्मणाश्चाथव्ववेदविदो यच्चान्यदिष तत्र समर्थं मन्येत यच्चान्यच ब्राह्मणा बृयुः स्त्रियश्च वृद्धास्तत् कार्य्यम् ॥ ३२ ॥

ततः प्रवृत्ते नवमे सासे पुर्येऽहिन प्रश्रस्तनच्त्रयोगसुपगते भगवित शिशिनि कल्यायो करयो मैत्रे मुहूर्त्ते शान्ति हुत्वा गोत्राह्मणमित्रमुदकञ्चादौ प्रवेश्य गोभ्यस्तृयोदकं सधु लाजांश्च प्रदाय ब्राह्मणेभ्योऽच्तान् सुमनसो नान्दीमुखानि फलानीष्टानि दत्त्वोदकपूर्व्वमासनस्थेभ्योऽभिवाद्य पुनराचम्य

रजतस्य । वहुशः प्रजाताः वहुपत्यप्रमुताः । प्रदक्षिणाचाराः प्रकर्पेण दाक्षिणेत्रन साम्मुख्येन न वैमुख्येनाचरणशीलाः कम्मेद्क्षा इत्यर्थः । प्रतिपत्तिकुशलाः— यदुच्यते केनचित् तदुक्तिमात्रेण वोद्ध्यः व्यापिकाश्च । प्रकृतिवत्सला वात्सल्यस्वभावाः । अभिमताः प्रसृतिमनोऽभिसम्मताः । एतानि स्त्रीविशेपणानि । ब्राह्मणाः इत्यादि । तत्र समर्थं कम्मेकरत्वेनावश्यकम् । दृद्धा इति स्त्रिय इत्यन्वयः ॥ ३२ ॥

गङ्गाधरः—तत इत्यादि । कल्याणे इत्यस्य करण इत्यनेनाप्यन्वयः । शान्तिं शान्तिकम्मे विधिना हुला आदौ स्तिकागारे प्रवेशकाले पूर्व्य गोब्राह्मणं तत्र गृहे प्रवेश्य प्रवेशन कार्यिला ततोऽग्निं तत्र प्रवेश्य उदकश्च तत्र प्रवेश्य, अक्षतांस्तण्डुलान् सुमनसः पुष्पाणि नान्दीसुखानि माङ्गल्यस्चकफलानि केचित् नान्दीसुखो मृदङ्गस्तदाकारफलानि इष्टानि गर्भिण्याः स्वाभिमतानि प्रविश्यागारे आसनस्थेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दत्त्वा पूर्व्यस्वकमभिवाद्य ततो ब्राह्मणा-

किंवा सूची यत्र स्थाप्यते स सूचीपिप्पलकः । पर्यक्तः खट्टा । समर्थं मन्येत इति कार्यमिति घोषः ॥ ३२ ॥

चक्रपाणिः - शान्तिं कृत्वेति शान्तिहोमं कृत्वा । नान्दीमुखानि च फलानि नान्दीमुखश्राद्वोपः

खस्ति वाचयेत्। ततः पुर्याहश्वदेन गोब्राह्मण्मन्वा-वर्त्तमाना प्रविशेत् स्तिकागारम्। तत्रस्था च प्रसवकालं प्रतीचेत् ॥३३॥

तस्यास्तु खिल्बसानि लिङ्गानि प्रजननकालमिभभवन्ति। तद् यथा—क्करो गात्राणां, ग्लानिराननस्य म्लानता, अच्णोः शेथिल्यं, विमुक्तवन्यनत्वितव वच्नसः, कुच्रेरवस्तं सनमधो ग्रस्त्वं, वडच्गा-विस्तकटीकुच्चिपार्र्वपृष्ठिनिस्तोदो योनेः प्रस्ववणसनम्नाभिलापश्च। ततोऽनन्तरसावीनां प्रादुर्भावः प्रसेकश्च गर्भोदकस्य। आवी-प्रादुर्भावे तु सूमो शयनं विद्ध्यान्दृद्वास्तरगोपयन्नम्।

दीनभिवाच पुनराचम्य खस्तिवाचनं कृता पुण्याहं पुण्याहिमत्युत्तवा गोवाह्मणं भदक्षिणं चरणमभिहरन्ती । सुअतेऽप्युक्तं - नवमे मासे मृतिकागारमेनां भवेशयत् मञ्जलतिथ्यादौ । तजारिष्टं ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यश्द्राणां इवेतरक्तपीतकृष्णेषु भूमिपदेशेषु विल्वन्यग्रोधितनदुक्षभ्छातकनिमिनतं सर्वागारं यथासह्य तन्गयपय्यद्वमुपलिप्तभित्तिं सुविभक्तपरिच्छदं प्राग्हारमुदग्द्वारं वाष्ट्रस्तायतं चतुर्हस्तविस्तृतं रक्षामङ्गलसम्पन्नं विधेयमिति। तत्रस्थेत्यादि स्पष्टम् ॥ ३३॥ गङ्गाधरः - तस्या इत्यादि । प्रसवकालमभि लक्ष्यीकृत्य । कृमो गात्राणाम् अवसन्तता । ग्लानिरहर्षः । आननस्य म्लानता । अक्ष्णोः जैयिल्यं निमेपोन्मेपा-सामध्यीमित्यर्थः। विमुक्तवन्धनत्मिवेति वशोवन्धमोचनमिवेत्यर्थः। कुक्षेर्व स्र सनमधस्तात्पतनिमन्। अधोगुरुलमधस्तादुदरे गुरुता। बङ्घणादिषु निस्तोदः, योनेः प्रस्वणं स्नावः। सुश्रुतेऽप्युक्तम्-जाते हि शिथिले कुसौ सुक्ते हृदय-वन्धने। सश्छे जघने नारी जेया सा तु प्रजायिनी।। तत्रोपस्थितपसवायाः कटी पृष्ठं मित समन्ताद् वेदना भवत्यभीक्षणं पुरीपमदृतिमू त्रं मिसन्यते । योनि-मुखात् इहेप्मा चेति । ततोऽनन्तरमित्यादि । आवीनां प्रसववेदनानाम् गभीदकस्य गर्भगतोदकस्य। आवीपादुर्भावे लिल्यादि—शयनं शय्याम्।

हितानि फछ।नि । किंवा नान्दी मुरजः, तन्मुखाक्तर्तानि फछानि खर्ज्यूरादीनि । पुण्याहशन्दी क्र छदान्दः । पदक्षिणं यथा भवति तथा समनुवर्त्तमाना ॥ ३३ ॥

तद्भ्यासीनां तां ततः समन्ततः परिचार्ध्य ॥ यथोक्तगुणाः स्त्रियः पर्य्युपासीरन् । ताश्चाश्वासयन्त्यो वाग्भिर्माहणीयाभिरुषिष्ट-वद्धाभिधायनीभिः । साः चेदावीभिः संक्रिश्यमाना न प्रजायेत, अथेनां त्र्याद् उत्तिष्ठ मुषलमन्यतस्त्र यह्णीष्त्र । अनेनेतत्र्यलं धान्यपूर्णं मुहुर्म्भुहुरभिजिह मुहुर्म्भुहुरवजृम्भस्य चंक्रमस्य चान्तरान्तरा इत्येवमुपदिश्वस्येके ॥ ३४ ॥

तन्नेत्युवाच भगवानात्रेयः। दारुण्ट्यायामवर्जनं हि गर्भिण्याः सततमुपदिश्यते विशेषतश्च प्रजननकाले। प्रचलित-सर्व्वधातुदोषायाः सुकुमारस्वभावाया नार्थ्या मुष्लव्यायाम-समीरितो वायुरन्तरं लब्ध्वा प्राण्न हिंस्यात्। दुष्प्रतीकारतमा हि तस्मिन् काले विशेषेण भवति गर्भिण्ये। तस्मान्मुबलग्रहणं परिहार्थ्यमुषयो मन्यन्ते, जूम्भणं चंक्रमण् पुनरनुष्ठेय-मिति॥ ३५॥

त्रथास्य देखात् कुष्ठेलालाङ्गलिकीवचाचित्रकचिरविल्व- । चूर्णमुप्रवातं । सा तत् मुहुम्मुहुरुपजिद्यते । तथा भूर्जपत्रधूमं तद्ध्यासीनां तच्छ्यनमध्यासीनां तां गभिणीम् । प्रादुर्भूतावीं मृहास्तरण-सम्पन्नां शय्यामध्यास्तवतीं गभिणीं समन्तत्रश्रुद्धि ता यथोक्तगुणाः स्त्रियः परिचार्यं परिचर्यकम्मीणि कृता प्राहणीयाभिष्पदेष्टच्यार्थाभिधायिनीभिः वाग्भिराश्वासयन्त्यः प्रयुपासीरन् सन्वतोभावेनोपासनां कुर्युः । सा चेदि-त्यादि । न प्रजायेत न प्रसूयेत । अथैनां गभिणीं तासामेका न्रूयात् । किं न्रूयादित्यत आह—एत्तिष्ठेत्यादि । अनेन मुपलेन । अभिजिह अभिघातं कुरु । अवनुम्भस्य हस्तपादादिपसारणं कुरु । चंक्रमस्य मृहः पादिवहरणं कुरु । अन्तरान्तरा मध्ये मध्ये ॥ ३४ ॥

गङ्गाधरः—तन्नेत्यादि । स्पष्टार्थास्त्रयः स्त्रोकाः ॥ ३५ ॥ जन्तरं चक्रपाणिः—उपदिष्टार्थाभिधायिनी वाग् बाहणीया । अवज्ञमस्वेति गात्राणि प्रसारय । अन्तरं

भ परिवार्थेति बहुपु अन्थेषु पाठः । । पृ इतः परं चल्येत्यधिकः पाठो दृश्यते ।

शिंशपासारधूमं वा, तरयाश्चान्तरान्तरा कटोपार्वपृष्ठसक्थि-देशानीषदुष्णेन तेलेनाश्यज्यानुमुखसवसृद्वीयात्। इत्यनेन तु कर्म्सणा गर्भोऽवाक् प्रतिपद्यते। स यदा जानीयाद विमुच्य हृदयमुद्रसस्यारत्वाविशति वस्तिशोर्पमवयह्नाति त्वरयन्त्येना-साव्यः परिवर्त्ततेऽस्या अवाग् गर्भ इति। अर्यामवस्थायां पर्यक्कमेनामारोप्य प्रवाहियनुमुपक्रमेत। कर्णो चारया मन्त्र-सिमसनुकूला स्त्री जपेत्।

चितिर्जलं वियत् तैजो वायुरिन्द्रः प्रजापितः।
सगर्भां त्वां सदा पान्तु वैशल्यञ्च दिशन्तु तै॥
प्रसुव त्वसिविक्षिप्टमिविक्षिप्टा शुभानने।
कार्त्तिकेयदुर्गतं पुत्रं कार्त्तिकेयाभिरचितम्॥ ३६॥
तार्चेनां यथोक्तगुणाः स्त्रियोऽनुशिष्युरनागतावीर्मा
प्रवाहिष्ठाः, यदि ह्यनागतावीः प्रवाहयते व्यर्थमेवास्यास्तत् कर्मभ भवति। प्रजा चास्या विक्रता विक्रतिमापन्ना च श्वासकास-शोषप्रीहप्रसक्ता वा भवति। यथा हि ज्वयूद्गारवातग्रूत्रपुरीष-वेगान् प्रयतमानोऽथ्यप्रासकालान्न लभते क्रुच्क्र्रेण वाप्यवामोति,
तथाऽनागतकालं गर्भमपि प्रवाहमाणा। यथा चैषामेव ज्वथ्वा-

गङ्गाधरः—अथेत्यादि । भूर्जिपत्रधूमं जिंशपासारधूमं वोपाजिन्ने न्मुहुम्भुहु-रित्यन्वयः। अनुमुखमधोनयनरूपण। अवाक् हृदयवन्धमुक्तोऽधः। स यदेत्यादि। आविश्वति गर्भः लरयन्त्येनामान्य इति आवीभिरेपा न्वम्रा भवतीत्यर्थः। तदास्या गर्भोऽवाक् परिवर्त्ततेऽधःशिरा भवति । प्रवाहियतुं कुन्थियतुम्। मन्त्रमाह— क्षितिरित्यादिर्मन्त्रः। ताश्चैनामित्यादि । किमनुशिष्युस्तदाह—अनागतावीः। तत्र दोपमाह—यदि हीत्यादि । व्यर्थ विरक्तयर्भम्। विकृतेति विष्टणोति— ल्य्योति हेतुमासाद्य । यद्यपि मुपल्यादनं निषद्धम्, तथाष्युत्तरकालं द्वारे मुपल्यापनं वक्तव्य-मिति साधु मुपल्योपदानम् ॥ ३४—३०॥ दीनां सन्धारणमुष्घातायोपपयते, तथा प्राप्तकालस्य गर्भस्या-प्रवाहणम् इति। सा यथानिर्देशं क्रुरुध्वेति वक्तव्या स्यात्। तथा च कुर्व्वती श्रानेःपूर्व्वं प्रवाहेत ततोऽनन्तरं वलवत्तर-मिति। तस्याञ्च प्रवाहमाणायां स्त्रियः श्रद्धं कुर्ध्युः "प्रजाता प्रजाता धन्यं धन्यं पुत्रं," इति। तथास्या हर्पेणाण्याय्यन्ते प्राणाः॥ ३७॥

यदा च प्रजाता स्यात् तद्ैनामवेचेत काचिद्स्या अमरा प्रपन्ना वा प्रपन्ना नेति । तस्यारचेद्मरा न प्रपन्ना स्याद्थैनाम् अन्यतमा स्त्री दिच्छोन पाणिना नाभेरुपरिष्टाद वलविन्नपीड्य सब्येन पाणिना पृष्ठत उपग्रह्य सुनिर्द्धृतं निर्द्धुनुयात् । अथास्याः पाण्यां ७ श्रोणीमाकोटयेत् । अथास्याः स्फिचावुपसंग्रह्य सुपीड़ितं पीडयेत् । अथास्या वालवेश्या कण्ठतालु परिमृशेत् ।

विकृतिमित्यादि । विकृतिं विपरीताकृतिम् । तथा प्राप्तकालस्येति । प्राप्तावीगिर्भिणी यदि न प्रवाहते तदा तद्मवाहणं प्रवाहणकालप्राप्तस्य गर्भस्योपघातायोपपद्यते इति । तथेत्यादि । शनैःपूर्वं शनैःपूर्वं यत्र तत् शनैःपूर्वं प्रवाहेत
पूर्वं मन्दंमन्दं प्रवाह्यानन्तरं वलवत्तरं प्रवाहेत । प्रजाता प्रजाता प्रस्तवती
प्रस्तवती धन्यं धन्यं पुत्रमिति शब्दं स्त्रियः कुर्युः । तथा तेन शब्दकर्णेन
अस्याः प्राणा हर्षेणाष्याय्यन्ते ॥ ३६।३०॥

गङ्गाधरः—यदा चेत्यादि। प्रजाता स्यादिति प्रस्तवती स्यात् तदा त्वेनां प्रस्तामवेक्षेत अवधानेन काचित् स्त्री। अस्या अमरा नाम नाड़ी पुष्पनाड़ी प्रपन्ना पतिता वा न प्रपन्नेति पश्येत्। न चेत् प्रपन्ना तदा सुनिद्धूतं सुनिष्कम्पितं निद्धु तुयात् निष्कम्पयेत्। पाष्पर्या श्रोणीम् आकोटयेत् कुटिछं कारयेत्। वालवेण्या केशवेणीं सुस्तमध्ये प्रवेश्य कण्ठस्य तालु परिमृशेत्

चक्रपाणिः—सुनिर्भृतामति क्रियाविशेषणम् । आकोटयेदिति पीड्येत् । वालकृता वेगी

पार्ण्या इत्यत्र पादपाष्ण्या, परिसृशेदित्यत्र परिस्वृशेदिति पाठान्तरम् ।

सूर्जिपत्रकाचमिण्सिपनिस्मोंकैः ७ चास्या योनिं धूपयेत्। कुष्ठ-तालीशकलकं वल्यजयूपे सैरेयसुरामगडे वा कौलत्थे वा मगडृक-पिष्पलीकाथ वा संव्लाब्य तथा पाययेदेनाम् ॥ ३⊏॥

तथा स्चित्राकितिसकुष्ठनागरिवड्ङ्ग-कालिवड्गुड्-चट्य-विष्पलीचित्रकोपङ्गिञ्चकाक्तकं, खरवृषभरय जरतो वा दिन्गां कर्णामृत्कृत्य द्दबद्दि जङ्करीकृत्य वल्वजयूषादीनामन्य-तमे प्रचिष्याप्लाट्य सुहूर्क्तिथतसुद्धृत्य तदाप्नावनं पाययेदेनाम्। शतपुष्पाकुष्ठिङ्किमदनसिद्धस्य चैनां तैलस्य विचुं याहयेत्। शतपुष्पाकुष्ठिङ्किमदनसिद्धस्य चैनां तैलस्य विचुं याहयेत्। तत्तरचेवानुवासयेदेतरेव चाप्नावनेः फलजीमृतकेच्वाक्र्धामा-गिवङ्गटजकृतवेधनहरितपर्ग्युपहितौरास्थापयेत्। तदास्थापनम् अस्या हि सह वातसूत्रपुरीपैर्निर्हरत्यमरामासक्तां वायोरनुलोम-योजयेत्। भूष्णत्यादि। काचमणिः काच एव। कुष्टत्यादि। वल्वजयूषे कल्यायासस्य वीजविदलकाथे। मण्डूकः मण्डूकपर्गीः॥ ३८॥

गुजाधरः—तथेत्यादि । किलिमो देवदार । कालिव इः विट्लवणम् । गुइः पुराणगुइः । उपकृष्टिका कृष्णजीरकम् । खरेत्यादि । खरष्टपभस्य पु गईभस्य चण्डवलीव इस्य जरतो दृद्धस्य मृतस्य दक्षिणं कणं वा उत्कृत्य कत्ते कलां कलां वा जन्निर्मेक्ष्य जन्निर्मेक्ष्य कर्निर्मेक्ष्य कर्निर्मेक्ष्य कर्निर्मेक्ष्य कर्निर्मेक्ष्य व्यवन्ति स्वाप्त्रे मृतस्य दक्षिणं कणं वा उत्कृत्य कर्ने कर्णं वा तदा- प्रावनं वलवजयपादिकं पाययेदेना गित्यर्थः । अतपुष्पत्यादि । अतपुष्पादिकल्केन तैलपादिकेन तेपां काथेन सिद्धस्य चतुर्गं णजलेन वा पकस्य तैलस्य पिचुं तूलकम् एनाम् अवपन्तामरां प्रस्तां योनी ग्राहयेत् । तत इति पिचुग्रहणानन्तरं तेन तैलेन अनुवासयेत् । एतरेव च वलवजयपादि भिराष्ठावनेः फलादिकलकोपहितैः आस्थापयेत् । फलं मदनफलम् । जीमृतधामार्गवौ घोपकपभेदौ । इक्ष्वाक्र्सितक्ता-लाचुः । कृतवेधनं ज्योत्स्तिका । हरितपणी मोरटः । आस्थापनकम्माह—तदा-स्थापनित्यादि । निर्द्धरित वहिष्करोति । ननु वातमृत्रादिसहितां कथममराम् वालवेणी । वल्वजयूपो वल्वज्ञाथः । मण्डकपिपली मण्डकपणीं । किंवा मण्डको मण्डकणीं, पिपली पिपलयेव, तथोः । वल्वजयूपादौ सूक्षमेलादीनां पानं विधीयते । खरव्यमध्यण्ड-

^{*} निम्मेकिरित्यत्र निम्मोंकध्मेः, मण्डे इत्यनन्तरं तीक्ष्णे, काथे इत्यत्र सम्पाके, कालविड्-गुड्त्यत्र कालागुड्तः, हस्तिपणीत्यत्र हस्तिपिप्पलीति पाठान्तरम् ।

अमरां हि वातसृत्रपुरीषाश्यन्यानि चान्तर्वहि-र्म्मखाणि @ सङ्जिन्ति । तस्यास्त्रमरायाः प्रपतनार्थे खल्वेवमेव कर्म्मणि कियमाणे जातमात्रस्यैत कुमारस्य कार्थ्याख्येतानि कम्माणि भवन्ति । तद् यथा — अश्मनोः संबद्दनं कर्णयोर्म् ले, शीतोद्केनोष्णोदकेन वा सुखपरिषेकः। तथा संक्लेशविहतान् इत्यत आह—अमरां हीत्यादि। अमरां नाड़ीं वातादीन्यन्यानि च वहिम्प्रेखाणि सन्त्यन्तः सज्जन्ति लगन्ति तेनास्थापनं वातानुलोमनं वातादिभिः सहैवासक्ताममरां निर्हरतीति भावः। सुश्रतेऽप्युक्तम्—प्रजनयिष्यमाणां कृतमङ्गलस्वस्तियाचनां पुन्नामफलहस्तां स्वभ्यंक्तामुष्णोदकपरिषिक्तामथैनां सम्भृतां यवागृमा कण्डात पाययेत्। ततः कृतोपधाने मृदुविस्तीणे शयने स्थितामाभ्रयसक्श्रीमृत्तानाम् अशङ्कनीयाश्चतसः स्त्रियः परिणतवयसः प्रजननकुशलाः कर्त्तितनखाः परिचरेयु-रिति । अथास्या विशिखान्तरमञ्जूलोममञ्जूमुखमभ्यव्यात् । ब्रूयाच एनामेका सुभगे पत्राहस्वेति न चापाप्ताचीः प्रवाहस्य। ततो विमक्ते गर्भनाडी-भवन्धे सश्लेषु श्रीणिवङ्क्षणवस्तिशिरःसु भवाहेथाः शनैः शनैः। ततो गर्भनिर्गमे प्रगाढं, ततो गर्भे योनिमुखं पपन्ने गाढ़तरम् आ विशल्यभावात्। अकालपवाहणाद्वधिरं मूकं व्यस्तह्तुं मूर्द्धाभिवातिनं कासम्वासकोपोप्टूतं कुट्जं विकलं वा जनयति। तत्र मित्लोममनुलोमयेत्। गर्भसङ्गेतु योनिं धपयेत कृष्णसर्पनिम्भौकेण पिण्डीतकेन वा। वश्लीयाद्धिरण्यपुष्पीमूलं, इस्तपादयोधीरयेत् सुवर्चेलां विश्वत्यां वा। इति। अथामरापातनान्तरं किं कर्त्तव्यं, शिशोर्चा जातमात्रस्य किं विधेयं इत्यंत आह—तस्यास्त्रित्यादि। तस्या अपरायाः पुष्पनाड्याः प्रपातनार्थे क्रियमाणे निरुक्ते कम्मीण सति तत्कालमेव जातमात्रस्यैव कुमारस्य, न तुं जातोत्तरं कियन्तं कालं विश्राम्य । अञ्चनोः मस्तरह्रयस्य संघट्टनं घर्षणेन शब्दायनम् उदरान्निष्क्रमणयातनाभिभूत-शिशोरचैतन्यार्थं कार्यं शिशोरेयं तस्य कर्णयोम् छे। तथा तेन प्रकारेण क्रिय-षळीवईः । एतेरेवेति चल्वजादियुपैः ; सजान्ति वहिर्गमनकीळानि पुरीपादीनि अभ्यन्तरदेशे -संसक्तानि भवन्ति । शीतोदक्षेन चोष्णोदकेनेति ऋतुभेदेन होया, श्रीष्मकाले शीतोदकेन, शीत-

^{*} वहिर्गमनशीलानीति वा पाठः।

प्रागान् पुनर्तभेत, कृष्णकपालिकासूर्पेण चैनमिक्षनिष्पुणीयुः। यह्यच्चेष्टं स्याद्वः यावत् प्रागानां प्रस्यागमनं तत्तत् सर्व्वमेव कुर्य्युः॥ ३६॥

ततः प्रत्यागतप्रागं प्रकृतिभृतमिससमित्य क्रानोदकप्रह-गाभ्यामुपपादयेत्। अथास्य ताल्वोष्ठकग्ठिजह्यासाउर्जनम् आर-भेताङ्गुल्या सुपरिलिखितनख्या सुप्रचालितोपधानयाकार्णास-पिचुमत्या। प्रथमं प्रमाजितितास्यस्य चास्य शिरस्तालु कार्पा-तिकपिचुना स्नेहगर्भेण प्रतिसंद्यादयेत्। ततोऽस्यानन्तरं कार्य्यं सेन्धवोपहितेन सपिपा प्रञ्छईनम्। ततः कल्पनं नाड्यास्ततस्तस्याः कल्पनविधिमुपदेच्यामः। नाभिवन्धनात् माणे क्षेत्रविहतान गर्भात्रयात् निष्क्रमणयातनाभिभृतान् प्राणान् कृष्णकपा-लिकासपिण ईपिकनेलीवद्धकपालदेशः कृष्णकपालिका तत्कृतः स्पेस्तेन एनं शिश्म् अभिनिष्पुणीयुर्वीजययुरित्यर्थः। यद् यदित्यादि। क्लेशविहतप्राणा-गमनकरं यावत् कम्भ कर्त्वन्यमित्यर्थः। ३९॥

गङ्गाधरः—तत इत्यादि । शिशोश्चेतन्यानन्तरं स्नानम् उदक्षप्रहणं मलमार्गशोचं कारयेत् । अथास्येत्यादि । अस्य प्राणागतत्वेन प्रकृतिभूतस्य कृतस्नानशोचस्य । सुप्रक्षालितोपधानया प्रक्षालितमावरणं यस्या अङ्गुल्यास्तया ।
लिखितनख्या कित्तिनख्या कार्पासपिचुमत्याङ्गुल्या ताल्वादिकप्रमाञ्जनं
सुर्यात् । प्रमाञ्जितास्यस्य उक्तरूपेण प्रमाञ्जितताल्वादेः शिशोः शिरस्तालु
बह्यरन्ध्रस्थानं रनेहगर्भेण घृताक्तेन कार्पासपिचुना तृलकेन । ततोऽनन्तरमस्य
शिशोः सैन्धवोपहितेन सपिपा प्रच्छिनं कार्यस् । सुश्रुतेऽप्युक्तम्—अथ जातस्योल्वं मुख्य सैन्धवसपिपा विशोध्य घृताक्तं मुद्धि पिचुं दद्यादिति । अत्र उल्वं
शिशोः कण्डगतश्रेल्पाणं विशोध्य छद्देनेन निर्द्धरेदित्यर्थः । तत इत्यादि ।
ततः कल्पनं नाख्या इति नाभिनाङ्गेच्छेदनम् । नाभिवन्धनात् नाभिमूलात्
काले त उप्लोदकेनेत्यर्थः । संक्षेशविह्तानिति यानिरन्ध्रविद्धिश्वादिक्केश्वराहतान् । कृष्णवपालिका ईपिकेति, तत्वकृतस्यंः, कृष्णकपालिकास्यंः, तेन निष्यनवायुं वीजयेयुरित्यर्थः ।
कथ कियन्तं कालं तद्वीजनित्याह—यावत् प्राणानां प्रध्यागमनिति । उदक्षप्रहणं मलमार्गः

प्रभृति हित्वाष्टाङ्गुलमभिज्ञानं कृत्वा च्छेदनावकाशस्य द्वयो-रन्तरयोः शनैर्यहीत्वा तीच्योन रौवन्यराजतायसानामन्यतमे-नोर्द्धारेग ७ च्छेद्येत् तामग्रे सूत्रेगोपनिबध्य कग्ठे चास्य श्रिथिलमवस्ट्रजेत् ॥ ४०॥

अस्य चेन्नाभिः पच्यते तां लोधमधुकप्रियङ्गृहरिद्रादार-कल्कसिछेन तैलेनाभ्यज्यात्। एषामेव तेलोषधानां चूर्णानाव-चूर्णयेत्। एष नाङ्गिकल्पनविधिरुक्तः सम्यक्। असम्यक्-कल्पने हि नाड्या आयामव्यायामोत्तुगिडतापिगडलिका- †-विनामिकाविजृम्भिकावाधभ्यो भयम्। तत्राविदाहिभिर्वात-पित्तप्रशमनैरभ्यङ्गोत्सादनपरिषेकैः सर्पिभिश्चोपक्रमेत गुरु-प्रभृति अष्टाङ्गुळं नाड्या हिला त्यत्तवा च्छेदनस्थानस्यावकाशस्थानस्य द्वयोरन्त-रयोरभिष्मानछभिसन्धानं (चिह्नं) छला तां नाङ्गिष्णे स्त्रेण वढ्या रोत्रम्यं स्वर्ण-निम्मितम्। च्छित्त्वा तत्स्त्रत्रैकदेशमस्य शिशोः कण्डे उपनिवध्य विस्नेत्। स्रुश्वतेष्णुक्तक्—ततो नाभीनाङ्गिष्टाङ्गुलमायम्य स्त्रेण वढ्या च्छेदयेत् तत-स्तत्रैकदेशश्च क्रमारस्य ग्रीवायां सम्यग् वधीयात् इति॥ ४०॥

गङ्गाधरः—अस्य चेदित्यादि। अस्य च्छिन्ननाभिनाइनिस्य। तां च्छिन्ननाइनि नाभि छोघादीनां कल्केन तैछपादिकेन चतुर्ग णजछेन च सिद्धेन तैछेन।
एपामेव तैछोपधानां तैछकल्काधमेषां छोघादीनां चतुर्णां चूर्णन। असम्यग्
इत्यादि। आयामा दीर्घा व्यायामा विस्तीर्णा चासौ उतुण्डिता चेति आयामव्यायामोच्चण्डिता। आयामव्यायामाभ्यामुचुण्डिता दीर्धपीनगुइकाकारा।
पिण्डिलिका परिमण्डलगुइकाकारा। विनामिका अन्तोच्छूनमध्यनिम्नगुइकाकारा।
विज्ञिमिका मुहुर्ममुहुर्ग दिमती। एते चलारो-नाभिगता आवाधाः। कथमुपशोचम्। वपधानमावरणम्, तच्चेहाङ्गच्या कार्पासपिचुनैव। अष्टाङ्गलमिज्ञानं कृत्वेति अष्टाङ्गलं चिद्धं कृत्वा। अर्द्धधारिलर्थम्धारः शस्त्रविशेषः। तामिति च्छिन्नाविश्वष्टाः नाइनिम्।
कण्डेऽवस्रजेदिति नाड्यम्बदं सूत्रं कुमारस्य कण्डे निब्ब्नीयात्॥ ३८—४०॥

चक्रपाणिः—नाड्या अधिककल्पने दोपमाह—असम्यगित्यादि। आयामो दैर्घ्यम्, ध्यायामो

^{*} अईधारेण इति चकः।

[†] आयामन्यायामहुण्डिका इति श्रुठान्तरम् ।

लाघवसिससीच्य कुमारस्य। प्रागतो जातकम्मं कार्य्यं, ततो सघुलिपंषी मन्त्रोपमन्त्रिते यथाम्नायं प्राशितुमस्मे दद्यात्। स्तनमत ऊर्द्धं मनेनेव विधिना दिन्गां पातुं पुरस्तात् प्रयच्छेत्। अथातः शीर्षतः स्थापयेदुदकुम्सं मन्त्रोपमन्त्रितम्॥ ४१॥ अथास्य रन्तां विद्ध्यात्। आदानीकर्कन्धुखिदरपीलु-

क्रमेतेत्यत आह—तत्रेत्यादि, गुरुलाघवमिति कुमारस्य नाभिवाधकदोपाणां गुरुलाचवम् अभिसमीक्ष्य पूर्व्यं गुरुद्दोषं लर्योपक्रम्यानन्तरं लघुद्दोपग्रुपक्रमे-दित्यर्थः। पागत इत्यादि। नाभिनाङीच्छेदनात् पूर्व्वं शीताभिरद्धिः कुमार-माश्वास्य कुमारस्य जातकस्म कार्यम्। तत इत्यादि। यथाम्नायं यस्य यहे-दोक्तविधिना पुरुपानुक्रमेण कम्भी विधीयते तहेदोक्तमत्रोपमत्रिते मधूसर्पिपी पाञितुं दचादा स्तन्यमष्टत्तेश्च प्रम्तायाः। सुश्रूते च-अर्थ कुमारं शीताभि-रिद्धराश्वास्य जातकम्मीण कृते मधुसर्पिरनन्तात्राह्मीरसेन सुवर्णचूर्णमङ्ग्रह्या-नामिकया छेहयेत्। ततो वलातैछेनाभ्यच्य शीरिष्टशक्षकपायेण सर्व्यगन्धोदकेन वा रूप्यहेमपतप्तेन वा वारिणा स्त्रापयेदेनम् कपित्थपत्रकपायेण वा कोष्णेन यथाकालं यथादोपं यथाविभवश्च इति । स्तन्यमत ऊर्द्धं मित्यादि । अन ऊर्द्धं म् अतः परं स्तन्यपद्यतौ सत्याम् । सुश्रुतेऽप्युक्तं—धमनीनां हदिस्थानां विद्यतसात् अनन्तरम्। चतुरात्रात् त्रिरात्राद्वा स्त्रीणां स्तन्यं प्रवर्तते। तस्मात् प्रथमेऽहि मधु-सर्पिरनन्तामिश्रं मञ्जपूतं त्रिकालं पाययेत्। द्वितीये लक्ष्मणसिद्धं सर्पिरतृतीये च। ततः प्राङ्नियारितस्तन्यं मधुसर्षिः स्वपाणितलसम्मितं त्रिकालंपाययेत् इति। अत ऊर्द्ध स्तन्यप्रष्टतो अनेन विधिना यथाम्नायं मन्नोपमन्नितं दक्षिणं स्तनं पुरस्तादग्रे पातु पयच्छेत्। ततो वामिमिति शेषः। अथात इत्यादि। उदकुम्भं जलपूर्णकुम्भं यथाम्नायं मन्नोपमन्नितं कुमारस्य शीर्पतः स्थाने स्थापयेत् ॥ ४१ -गुङ्गाधरः-अथास्य रक्षां विदध्यादिति। रक्षाविधिमाह—आदानी-

विस्तारः, ताभ्यां हुण्डिका आयामन्यायामहुण्डिका दीर्घपीनत्वयुतेत्यर्थः। पिण्डिलिका तु परिमण्डिलयुता। विनामिका अन्ताच्यूना मध्यनिम्ना। विजृम्भिका तु मुहुर्म्मु हुर्च द्विमती। गुरुलाघवमवेक्ष्येति नादीपाककारकपित्ते तथा वाते चायामन्यायामहुण्डिकादिविकारचतुष्टयकारके यो दोपो गुरुः, स उपकर्त्तस्यस्त्वरयेत्यर्थः। जातमात्रस्य वेदोक्तं कर्म्म जातकर्मा। यथाग्नायमिति यथाग्मं मन्त्रोपमन्त्रिते। एतेनेव विधानेन स्तनमिमनन्त्रतं पाययेदित्यर्थः। आदनी घोपकभेदः।

परूपकशाखाभिरस्या ग्रहं भिषक् समन्ततः परिवारयेत् । सर्व-तश्च सूतिकागारस्य सर्षपातसीतग्डुलकणकिणकाः 🕾 प्रकिरेत्। तथा तर्दुलवलिमङ्गलहोमः सततमुभयकालं क्रियेत प्राङ नामकर्म्मगः 🕆 । द्वारे च मुषलमनुतिरश्चीनं न्यस्तं कुर्यात्। वचाकु॰ठचौमकहिङ्गसर्पपातसीलसुनकणकणिकानां रचोव्रसमा-ख्यातानाश्चौषधीनां पोद्दलिकां वद्धा सूतिकागारस्योत्तर-तथा सूतिकायाः कण्ठे देहल्यामवररजेत्, स्थाल्युदकुम्भएर्यङ्कोष्चिष, तथैव द्वयोद्दीरपत्त्योः। सकग्रकुम्भ-केन्धनामिरितन्दुककाष्ठेन्धनश्चामिः सूतिकागारस्याभ्यन्तरतो नित्यं स्यात्। स्त्रियश्चैनां यथोक्तगुणाः सुहृदश्चानुजागृगुः दशाहं द्वादशाहं वा अनुपरतप्रदानमङ्गलाशीः स्तुतिगीतवादित्रमन्न-त्यादि। आदानी देवदानी घोपकभेदः। अस्याः स्रुतिकाया गृहं समन्ततः चतुर्दिश्च। स्रुतिकागारस्य सर्व्वतश्चतुर्दिश्च मध्यतश्च सर्पपादीन् मिकरेत प्रक्षिपेत्। तण्डुलानां श्वद्रतरकणाः कणः, श्वद्रकणाः कणिकाः। विलमङ्गलहोमस्तण्डुलविलना मङ्गलहोम उभयकालं सायं मातश्च क्रियंत। पाङ् नामकर्मण अशौचान्तदिनपय्यन्तम्। मुपलम् अनुतिरश्चीनं तिरो-भावेण न्यस्तं कुर्यात्। वचादीनां तथान्येपामपि गुग्गुल्वादीनां रक्षोन्न-समाख्यातानामोषधीनां वस्त्रे पोट्टलीं वद्धा उत्तरदेहत्यामुत्तरमाङ्गणे द्वारोपरि अवस्रजेत् रक्षेत्। स्तिकायाः पुत्रस्य च कण्ठे तस्य पोष्टलीं वशीयात्। ्स्थाल्यादिषु च रक्षेत् तस्य पोट्टलीं, द्वारपक्षयोः द्वारपाद्वयोद्देयोश्च पोट्टलीद्वयं रक्षेत्। स्रुतिकागारस्याभ्यन्तरतो नित्यं कणस्तण्डुलकणः, कुम्भ उदकुम्भः, ्इन्धनं काष्ट्रमग्निस्तैः सहितः स्यादग्निश्च तिन्दुककाष्ठेन्घनः स्यात्। स्त्रियश्च इत्यादि। अनुजायुर्जागरणम् एनामनु रुक्ष्यीकृत्य कुर्युः। तण्डुलविल्होमः कियत्कालं कर्त्तव्य इत्याह—आ नामकर्म्मण इति । दशाहं यावदित्यर्थः, दशाहे त नामकर्म भविष्यतीति । जत्कर्णेऽप्युक्तम्—'तम्बुलविहोमो द्विकालमा दशमाहम्" इति ।

^{🕠 🛪} सर्पपातसीकणकणिकाः तथा तण्डुलवलिहोम इति चकः । 👚 🕇 आ नामकरमण इति चकः ।

पानविश्दसनुरक्तप्रहृष्टजनसम्पूर्णञ्च तहेश्म कार्यम् । ब्राह्मण-श्चाथव्ववेद्वित् सततमुभयकालं शान्तिं जुहुयात् खरखयनार्थं सुकुमारस्य तथा सूतिकायाः । इरयेतद् रचाविधानमुक्तम् ॥ ४२

स्तिकान्त खलु बुभुचितां त्रिदिता स्नेहं पाययेत् प्रथमं परसया शक्त्या सर्पि स्तैलं वसां सज्जानं वा सार्ध्योभावमभिन्समीच्य सिषक् पिप्पलीपिप्पलीसृलच्यिचित्रकशृङ्कावेरचूर्णसहिन्तम्। स्नेहं पीतवत्याश्च सर्पि स्तैलाभ्यासभ्यज्य वेष्टयेदुद्रं सहता वाससा। तथा अस्या न वायुरुद्रं विकृतिमापाद्यति अनवकाशन्तात्। जीर्यो तु रनेहे पिप्पल्यादिभिरेव सिद्धां यवागूं सुक्तिग्धां अविरतानि मदानादीनि यत्र तदनुपरतमदानादि। अन्नपानिकदम् अन्नेन पानेनावदातं। तहेरम स्तिकागारम्। सुकुमारस्य स्वस्त्ययनार्थे तथा म्विकायाः स्वस्त्ययनार्थेम्। सुश्रुतेऽप्युक्तम्—अथ वाळं सौमपरिष्टतं सौमवस्त्रास्त्रतायां क्षय्यायां ज्ञाययेत्। पीळुवदरीनिम्यपरुपक्कारताभिक्षेनं वीजयेत्। मृद्धि चास्याहरहस्तैलिषचुमवचारयेत्। धूपयेचैनं रक्षोप्ते धिपेः। रक्षोप्तानि चास्य पाणिपादिकरोग्रीवास्ववस्रजेत्। तिलातसीसर्पपकणांश्चात्र मिकरेत्। अधिष्ठाने चाग्गं पञ्चालयेत्। व्रणितोपासनीयश्चावेक्षेत इति॥ ४२॥

गङ्गाधरः—म्स्तिकान्तित्यादि। प्रथमं प्रथमदिनावधि सिर्पिर्वा तैलं वा वसां वा मज्जानं वा स्नेहं पाययेत् परमया शक्तया। सिर्पिरादीनां सात्म्यी-भावं स्नितकाया अभिसमीक्ष्य पिष्पल्यादिचूर्णसिहतं स्नेहं सिर्पिराद्यन्यतमं पाययेत्। तच पीतवत्याः स्नितकाया उदरं महता वाससा वस्त्रेण वेष्टयेदिति। अस्य फलमाह—तथेत्यादि। तेन प्रकारेण अस्या अवकाश्मप्राप्य उदरे वायुर्न - विकृतिमापादयित। कस्सादित्यत आह—अनवकाशलादिति। वस्त्रवेष्टनेन 'रक्षोन्नसमांख्यातानाम्' इत्यनेन गुग्गुल्वादीन् ब्राह्यित। उत्तरवेहल्यामिति हारोपिर, अन्ये तु वेहलीं हाराधःकाष्टमाहुः॥ ४९।४२॥

चकपाणिः कुमारस्य जातकम्मीभिधाय सूतिकायाः कर्त्तंव्यमाह सूतिकान्तिवत्यादि । वुभुक्षितामित्यनेन यावता कालेन वुभुक्षिता भवति, तदा स्देहपानं कर्त्तंव्यम् । परमया शक्तेति उत्तमया शक्ता लक्षिता स्नेहं पिवेत्, यावता स्नेहेन बलविरोधो न भवति तावन्मात्रं स्नेहं पिवेदिस्यध्याहृतम् । सात्म्यीभावमभिसमीक्ष्येति सर्पिरादिषु वद् यस्याः सात्म्यम्, तत् तस्ये

द्रवां मात्रशः पाययेतोभयकाल-क्ष-श्रोप्णोदकेन परिषेचयेत् प्राक् रनेहयवागूपानाभ्याम् । एवं पश्चरात्रं सप्तरात्रं वानुपाल्य क्रमे-गाप्याययेत् । खस्थवृत्तमेतावत् तु सूतिकायाः ॥ ४३ ॥

वायुरुद्रेऽत्रकार्णं न प्राय्नोतीति भावः। ततोऽस्मिन् पीते स्नेहे जीर्णे सति पिष्पल्यादीत्यादि । अत्रायमर्थः — पूर्व्यमुष्णोदकेनैनां परिषिच्य घृताद्यन्य तमं स्नेहं पिष्पल्यादिचूर्णसहितं मात्रावत् पाययेत्। ततोऽनन्तर्मुक्त-रूपेण वस्त्रवेष्टनं, ततस्तस्मिन् जीर्णे पिप्पल्यादिकलकपादिकचतुर्ग्र णजलसिद्धां घृतादिसुस्तिग्धां द्रवां यवागूं मण्डरूपां पेयां वा मात्रां पाययेत् पूर्व्वाह्म। एवमवराह्ने पूर्व्वमुष्णोदकेनैनां परिपिच्य स्नेतं पायिखा तस्मिन् जीर्णे तादशीं यवार् मात्रां पाययेदिति चोध्यम्। एवं पश्चरात्रं वा सप्तरात्रं वा यावत् । सुश्रुतेऽप्युक्तम् —अथ स्रुतिकां वलातैलाभ्यक्तां वातहरौपधनिकाथेनोप-सशेपदोपान्तु तदहः पिष्पलीपिष्पलीमूलहस्तिपिष्पलीचित्रक-शृङ्गवेरचूणें गुड़ोदकेनोष्णेन पाययेत्। एवं द्विरात्रं त्रिरात्रं वा कुर्य्यात् आ दुष्टशोणितविशुद्धेः। ततो विदारिगन्धादिसिद्धां स्नेहयवागूं क्षीरयवागूं वा पायपत् त्रिरात्रस्। ततो यवकोलकुलस्थसिद्धेन जाङ्गलरसेन शाल्योदनं भोजयेद् वलमिवलञ्चावेक्य । अनेन विधिनाध्यद्धमासमुपसंस्कृता विमुक्ता-हाराचारा विगतस्तिकाभिधाना स्यात् पुनरात्तेवदर्शनादित्येके। धन्वभूमि-जातां स्तिकां घृततैलयोरन्यतरस्य यात्रां पाययेत् पिप्पल्यादिकपायात्रपानं स्नेहनित्या च स्यात् त्रिरात्रं पश्चरात्रं वा। वलवतीमवलां यवार्गुं पाययेत् त्रिरात्रं पश्चरात्रं वा। अत ऊर्जुं स्निग्धेनानसंसर्गेणोपचरेत प्रायशब्चैनां प्रभूतेनोष्णोदकेन परिपिञ्चेत्। क्रोधायासमैथुनादीन् परिहरेत्। भवतथात्र। मिथ्याचारात् स्तिकाया यो व्याधिरुपजायते। स कृच्छसाध्योऽसाध्यो वा भवेदत्यपतर्पणात्। तस्मात् तां देशकालौ च न्याधिसात्म्येन कम्मणा। परीक्ष्योपचरेदेवं नेयमत्ययमाष्च्रयात्।। इति ॥ ४३ ॥

वेयम् । अच्छेनेति निर्मालेन । उभयतः कालमिति पदम् उष्णोदकेन परिपेचयेदित्यनेन योज्यम् । तदेव कालद्वयमाह—प्रागित्यादि । पौर्व्वीह्विकस्तेहपाने परिपेकं कारयितन्यम्, तथा जीर्णे स्तेहे परिपेचितां यवागृः पाययितव्येत्यर्थः । अयन्तु न्यवहारोऽनूपदेशे प्रवलकफत्वात् प्राणिनाम्, न जाङ्गलादिदेशन्यवहार इति ॥ ४३ ॥

^{*} इतः परम् अच्छेनेत्यधिकः पाटश्रक्षस्तः।

ला

=

श्रिः

इस

रुम

नग्र

भद्रदारु

वा

वस्त्र

नया ५

वस्त्रावृत

भाक् श

पृञ्चं

जुपार्स्य

वर्गाणा

उपाणः

भेपजिभित्ति मातिक

पावकान्।

ङ्मारो ज

तत्

तस्यास्तु खलु स्तिकाया यो व्याधिकत्यवते, स कुच्छ्-साध्यो भवत्यसाध्यो वा। गर्भवृद्धिच्यितिशिथलसर्व्वधातुत्वात् प्रवाहगावेदनाक्के दरक्तिनःस्नु तिविशेषशून्यश्ररीरत्वाच । तां यथोक्तेन विधिनोपचरेत्। भौतिकजीवनीयवृंह्गाीय-%-वातहरसिद्धरभ्यङ्गोत्सादनपरिषेचनावगाहनान्नपानविधिभिविशे -षतश्चोपचरेत्। विशेषतो हि शून्यश्रीराः रित्रयः प्रजाता भवन्ति ॥ ४४ ॥

गङ्गाधरः—अथ स्तिकायाः स्वास्थ्यवृत्तमुत्त्वातुर्य्यवृत्तमाह—तस्या-स्त्रित्यादि। नतु कस्मात् क्रच्छ्रसाध्योऽसाध्यो वेत्यत आह—गर्भेत्यादि। गर्भस्याधानात् प्रभृति दृद्ध्या क्षयिताः शिथिलाश्च सर्वे धातवो यस्यास्तत्त्वात्। ततः परं प्रसवकाले प्रवाहणं वेदना प्रसवयातना । क्लेद्रक्तयोनिःस्रु तिः निःशे-षेण स्नावस्तेषां विशेषेण शून्यं स्नेहरहितं शरीरं यस्यास्तथालाच । यथोक्तेन पूर्वोक्तेन विधिनोप्चरेत्। विशेषतश्च भौतिकादिसिद्धैरभ्यङ्गादिविधिभिरुप-कस्पाद् भौतिकादिसिछैरभ्यङ्गादिभिविशेषतः स्तिकास्रपचरेदित्यत आह—विशेषतो हीत्यादि । प्रजाताः प्रस्ताः स्त्रिय इति । अत्र रुक्षणे दोष उक्तः सुश्रुते-प्रजातायाश्च नार्या रुक्षश्रीरायास्तीक्ष्णैरविशोधितं रक्तं वायुना तव्देशगेनातिसंरुढं नाभेरधः पाद्ययोर्वस्तौ वस्तिशिरसि वा ग्रन्थं करोति। ततश्च नाभिवस्त्युदरशुलानि भवन्ति । सुचीभिरिव निस्तुद्यते भिद्यते दीर्व्यत इव च पकाशयः। समन्तादाध्मानमुद्रे मूत्रसङ्गश्च भवतीति मक्छलक्षणम्। तत्र वीरतन्त्रीदिसिद्धं जलम्पकादिमतीवापं पाययेत्। यवक्षारचूणं वा सर्पिपा सुखोदकेन वा लवणचूर्णं वा, पिष्पल्यादिकाथेन पिष्पल्यादिचूर्णं वा, सुरामण्डेन वरुणादिकार्थं वा, पञ्चकोळैलामतीवापं पृथक्पण्यादिकार्थं वा,

चक्रपाणिः—सूतिकाया मिथ्योपचारेण व्याधिर्भवन् कृच्छूसाध्योऽसाध्यो वा भवति तथा दर्शयन् यथोक्तक्रमस्यावधानेन कर्त्तव्यतां दर्शयितुमाह—तस्यास्त्वित्यादि । गर्भवृद्ध्या धात्वन्तरापोपणेन क्षयिताश्च शिथिलीकृताश्च सन्ते धातवो यस्याः सा तथा । यथा गर्भन्यपगम एव तावच्छरीर-ग्रन्यत्वे हेतुः, तथा प्रवाहणवेदनाक्के दरक्तनि स्तुतिविशेषो हेतुरित्याह—प्रवाहणेत्यादि । यथोक्तेनेति स्नेहपानादिना, एतेन यथोक्तविधिकरणमेव दुश्चिकित्स्यस्य सूतिकाव्याधेश्च निदानवर्जनमुक्तमं

इतः परं मधुरेत्यधिकः पाठः क्विट दृश्यते ।

दशमे त्वहित सपुत्रा स्त्री सर्व्यगन्धीषधेगीरंसर्वप-लोधेश्व स्नाता लव्यहतवस्त्रपरिहिता पवित्रेष्टलप्टुभूषणवती च सुसंस्पृश्य मङ्गलानि उचिताम् अर्च्चियता च देवतां शिखिनः शुक्लवाससोऽव्यङ्गांश्व ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचियत्वा कुमारमहतेन शुचिवाससाच्छादयेत्। प्राक्-शिरसमुदक्शिरसं वा संवेश्य देवतापूर्व्यं द्विजातिभ्यः प्रणमित इत्युत्तवा कुमारस्य पिता द्वे नामनी कारयेत् नाच्चित्रकं नामाभिप्रायिकश्च। तत्राभिप्रायिकं नाम घोषवदाचन्तस्थान्त-मुष्मान्तश्च वृद्धं त्रिपुरुपान्तरमनवप्रतिष्ठितम्। नाच्चित्रकन्तु नच्नद्रदेवतासंयुक्तं कृतं द्व्यत्तरं चतुरच्रं वा॥ ४५॥

भद्रदारुपरिचसंस्टप्टं पुराणग्रङं वा, तिकडुकचतुर्जातककुस्तुम्बुरुमिश्रं खाद्दच्छं वा पिवेद्रिष्टिमिति । इति ॥ ४४ ॥

गङ्गाधरः—ततः किं कार्य्यमित्यत आह—दशमे तित्यादि । तष्ठ चाहतश्च वस्त्रं परिहितं यया सा, तथा पवित्रश्च इष्टश्च छष्ठ च भूपणं वर्त्तते यस्याः सा, तथा एचितां देवतां गणेशादि शिखिनः शिखावतः शुक्छवाससः शुक्छ वस्त्राष्ट्रता अव्यङ्गान् सर्व्यसम्पूर्णाङ्गान् । अहतेन नवेनाशुण्णेन वाससा । प्राक्शिरसं पूर्व्वशिरसम् एदक्शिरसम् एत्तरशिरसं वासंवेश्य शायिखा देवता- पूर्व्व पूर्व्व देवताभ्यो नमस्कृता द्विजातिभ्यो द्विजाती सुद्देश्य प्रणमतीत्युत्तवा कुमारस्य पिता घोषवद्दायन्तस्यं, घोषवन्तो वर्णोः कवर्गादीनां पश्चानां वर्गाणामन्त्यान्त्यास्त्रयस्यः । तेपामन्यतमो वर्णो यस्यादौ अन्तं च स्थितो तत् घोषवद्दायन्तस्थम् । उपमान्तञ्चेति चश्चदो वार्थे । शपसहा उपमाणः, तदन्यतमवर्णान्तम् । त्रिपुरुपान्तरं पितृपितामहप्रितामहमाम- भेपजिमति दर्शयित । यद्दपन्नव्याधौ विहितं भेपजम् तत् प्रायो न सिध्यतीति कृत्वा नेहोकम् । भौतिकं भृतहरम् ॥ ४४॥

चक्कपाणिः—उचितामिति या यस्या देवता सदा पूज्या, तामर्स्चियित्वा। शिखिन इति पावकान्। किंवा शिखा चूझा, तद्वतो बाह्मणानसुण्डान्। नक्षत्रदेवतायुक्तमिति, यस्मिन् नक्षत्रे कुमारो जातः, तस्य नक्षत्रस्य या तु देवता, तस्या नाम कर्त्तव्यमित्यर्थः। किंवा 'हु नामनी कृते च नामकर्मिण कुसारं परि। चितुमुपक्रमेतायुपः प्रमाण्ज्ञानहेतोः। तत्रेमान्यायुष्मतां कुमाराणां लच्णानि सवन्ति। तद्व यथा—एकेकजा मृद्वोऽल्पाः किग्धाः सुवद्धमूलाः कृष्णाः केशाः प्रश्तप्रन्ते। स्थिरा वहला त्वक्, प्रकृत्याकृतिसम्पन्नसीषत्प्रमाणातिरिक्तम् अनुरूपमातपत्रोपमं श्रिरः प्रश्रस्यते। व्यूदं दृदं समं सुश्लिष्टशृह्वसन्ध्यद्धेव्यञ्जन-क्ष्विष्णः प्रश्रस्यते। व्यूदं दृदं समं सुश्लिष्टशृह्वसन्ध्यद्धेव्यञ्जन-क्ष्विष्णः प्रवृत्तिष्ठितम्। नक्षत्राणि अध्वन्यादीनि तत्कुमारजन्मकालिकानि। नक्षत्रदेवता अध्वयमदहनादयः तत्र यज्जन्मनक्षत्रं तस्य नामसंयुक्तं अन्यतरनामसंयुक्तं दृप्तभरं चत्रसरं वा कृतं नाम नाक्षत्रिकम्। सुश्र्तेऽप्युक्तं—ततो द्यामेऽहनि गातापितरौ कृतमङ्गल्कोत्तिको स्वस्तिवाचनं कृता नाम कुर्यातां यदिभमेतं नक्षत्रनाम वा। इति। अत्र द्यामेऽहनीति श्रेष्ठलाद् वाह्मणाभिभायेण तत्रोपलक्षणाद्योचान्तदिने सर्व्वपानित्वर्थः॥ ४५॥

गङ्गाधरः—नामकरणानन्तरं किं कार्य्यमित्यत आह — कृते चेत्यादि। एकंकजाः पृथक् पृथग्जाता इत्यादीनि सन्दर्शण केशा इत्यस्य विशेषणानि। स्थिरेत्यश्च्या वहला स्थूला लक् चर्म। प्रकृत्येत्यादिना शिरोलक्षणं, प्रकृतिरिवकृतिराकृतिस्तया सम्पन्नं शिरः प्रायेण शरीरानुरूपमीपत्पमाणाति-रिक्तम्। आतपत्रोपमं छत्रोपमम्। न्यूदृमित्यादि ललाटलक्षणम्। न्यृदृं यहत् हतं गादं सममनुचावचं सुष्टु श्लिष्टैः संयिलितैः शङ्कसन्धिमिरर्छ-कारयेत् नाक्षत्रिकम् भाभिष्रायिकञ्च, इत्यादि पादः। घोपवदित्यादि विशेषणम्, घोषा वर्गचतुर्था 'धझद्धमाः,' अन्त्यस्था 'यरलवाः', 'शपसाः' उप्माणः॥ ४५॥

च्कपाणिः—नामकार्मणीति नामकरणसमयिकयमाणहोमादिकर्म्मणि, नामैव वा करमे। स्थिरेत्यश्चया। ईपत्प्रमाणातिवृत्तं शिर इति उत्सर्गापवादन्यायेन बोद्धन्यम्। तेन यदक्तं पृथ्वम्—"पड्कुलोत्सेधं द्वात्रिंश्वदक्कुलपरिणाहं शिरः" एतचाभिधायोक्तम्—"तत्रायुर्वेलमित्यादि यावत्-प्रमाणवित शरीरे, विपर्थ्यस्तु होनेऽधिके वा" इति, एतद्वचनादपवादमूतमप्यतीय प्रशस्तं भवतीति ज्ञेयम्। एवं महद्रपचितं पाणिपादम् इत्यत्रापि व्याख्येयम्। अनुरूपिमत्यनेन शरीरानुरूपतां शिरसो दर्शयन् उत्तलक्षणादनतिवृद्धं शिरसो दर्शयति, अतिवृद्धं शरीराननुरूपं

ऊर्द्ध्यक्षनिमिति चक्रः ।

सम्पन्नमुपचितं वलिनमर्छचन्द्राकृति ललाटम्, वहलौ विपुल-समपीठौ समी नोचैर्वृद्धौ एन्ठतोऽवनतौ सुश्ठिप्टकण्ंपुत्रकौ महाच्छिद्रौ कगौँ। ईषत्प्रलिम्बन्यावसङ्गते समे संहते महत्यौ भ्रू वौ। समे समाहितदर्शने व्यक्तभागविभागे वलवती तेज-सोपपन्ने खङ्गापाङ्गे चनुषी। ऋजी महोच्छासा वंशसम्पन्ना ईषद्नवनताया नासिका। महद् ऋजु सुनिविष्टदन्तमास्यम्। आयामविस्तारोपपन्ना श्रुच्णा तन्त्री प्रकृतियुक्ता पाटलवर्णा जिह्य। श्रुच्एां युक्तोपचयमुष्मोपपन्नं रक्तं तालु। महान् श्रदीनः व्यञ्जनमद्धीकारस्तेन सम्पन्नम्। उपचितं दृद्धिमत्। वलिनं वलिमत्। अर्छ-चन्द्राकृति च ललाटं प्रशस्यते इत्यन्वयः। वहलावित्यादिना कर्णलक्षणम्। विप्रस्तया समपीटौ नीचैर्र छौ स्रतिकाभागतो रुखौ। पृष्टतः पश्चाद्भागेनावनतौ नम्रौ। सुश्छिष्टौ कर्णपुत्रकौ वाह्यकर्णग्रन्थी ययोस्तौ। ईपदित्यादिना भ्रूलक्षणम्। ईपत्पंछिम्बन्यौ नातिलम्बनातिहासरूप नातिविच्छिन्नमध्ये इत्यसङ्गते समे समानरूप संहते घनलोमवत्यौ महत्यौ स्थले। समे इत्यादिना चक्षुर्लक्षणम्। समे समानरूपे. समाहितदर्शने सम्यगाहितदृष्टिभागे, भागाः शुक्लकृष्णादयः तेषां विभागा व्यक्ता ययोस्ते तथा, वलवती दर्शनवलयुक्ते, तेजसा दूर-द्यादिलक्षितेन उपपन्ने, सुब्ह अङ्गानि वर्त्मोदीनि अपाङ्गी च ययोस्तथा। भाजवीत्यादि नासिकालक्षणम्। ऋज्वी सरला, महोच्छासा वृहिनिश्वासयुक्ता, वंशसम्पन्नेति दीर्घवंशाकारतया सम्पंत्रा, ईपदवनताग्रा अल्पनम्राग्रभागा। महदित्यादिनास्यलक्षणम्। आस्यं मुखन्छिद्ररेखा महद्दीर्घतया रहत् ऋज सरंख सुनिविष्टं सुंखु निवेशः स्थानं युक्तदन्तपंक्ति तद्युक्तम्। आयामेत्यादिना जिह्नालक्षणम्। आयामेन दैर्घेत्रण विस्तारेण विस्तृतत्वा उपपन्ना, ऋक्णा अखरा, तन्वी अधना, प्रकृतियुक्ता अविकृता, पाटलवर्णा व्वेतरक्तवर्णा। श्रहणमित्यादिना तालुलक्षणम्। श्रहणमखरं युक्तोपचयं नातिनिमनं नात्युचम्। उद्मोषपन्नं खाभाविकेनोष्मणा सम्पन्नं, रक्तं रक्तवर्णम्। महान् भवति, तचाप्रशस्तमेव । ऊर्द्यु व्यक्षनिमिति अर्द्यु रेखात्रयरूपलक्षणयुक्तम् । जत्कर्णे हि त्रिरेखं ललाटमुक्तम् । नीचेर्वं दाविति अनुद्भूतौ सन्तावनुक्षमनृद्धौ । व्यक्तभागविभागे इति प्रव्यक्त-कृष्णशुक्कविभागे । शोभनानि वत्मीदीनि अङ्गानि अपाङ्गे च ययोस्ते स्वाङ्गोपाङ्गे । अत्र अङ्गान

क्तिग्धोऽनुनादी गम्भीरसमृत्थो धीरः खरः। नातिस्थूलौ नाति-कृशौ विस्तारोपपन्नावास्यप्रच्छादनौ रक्तावोष्ठौ। महत्यौ हन् । वृत्ता नातिमहती प्रीवा। व्यूद्मुषचितमुरः। गूढं जत्रु पृष्ठवंश्रश्च। विप्रकृष्टान्तरौ स्तनौ। ग्रंसानुपातिनी स्थिरे पारवें। वृत्तपरिपूर्णा-यतौ बाहू सक्थिनी ग्रङ्गुलयश्च। महदुपचितं पाणिपादम्। स्थिरा वृत्ताः क्षिग्धास्ताम्रास्तुङ्गाः कूम्मीकाराः करजाः। प्रदिच्णा-वर्त्ता सोत्तङ्गा च नाभी। नाभ्युरस्त्रिभागहीना समा समुपचित-मांसा कटी। वृत्तौ स्थिरोपचितमांसौ नात्युन्नतौ नात्यवनतौ स्फिचौ। श्रनुपूर्व्यं वृत्तावुपचययुक्तावूरु। नात्युपचिते नात्यपचिते

इत्यादिना स्वरछक्षणम्। येन शब्देन भापते स शब्दः कण्ठस्य स्वरः। महान् रहान्, अदीनः अक्षीणः, स्त्रिग्धोऽकर्कज्ञः श्रुतौ मधुर इत्यर्थः। अनुनादी मतिध्वनिमान, गम्भीरसमुत्थो नाभित इव प्रवचते इति लक्ष्यते घोषरूपः। धीरः अशीघः। नातिस्थ्लावित्यादिनौष्टलक्षणम्। आस्यमञ्छादनौ सम्पुटरूपौ न विष्टतरूपौ, स्वभावतो दन्तानाच्छाच सततं वर्त्तिनौ। हे हन् महत्यौ। ष्टत्तेत्यादि ग्रीवालक्षणम्। ग्रीवा द्या वर्तुला नातिमहती नातिद्रहती। म्यू द्मित्यादिना वक्षोलक्षणम्। न्यू दं रहत् उपचितं मांसलतया रुद्धिमत्। गूढ़ गुप्तमब्यक्तमित्यर्थः। जन्न कण्डोरसोः सन्धिः। पृष्ठवंशश्च गूढ़ इत्यन्वयो छिङ्गविपर्ययेण। विषकुप्टं न सनिकृष्टमन्तरमन्तरालदेशो ययोस्तौ स्तनौ। अंसेत्यादिना पाइवेलक्षणम् । अंसौ अजयोरुपरिभागौ तावनु लक्षीकृत्य पतितुः शीछं ययोस्ते अंसाहुपातिनी, स्थिरे अश्लथे च पार्वे । रुत्तेत्यादिना वाहुलक्ष-णम्। दृत्तौ वर्तु लौ परिपूर्णो घनौ आयतौ दीघो च वाहू सक्थिनी च दृत्ते . परिपूर्णे आयते। अङ्गुलयश्च द्वताः परिपूर्णा आयताश्चेति। लिङ्गवचनविपर्य-येण अन्वयः । महदित्यादिना पाणिपादलक्षणम् । उपचितं मांसलम् । स्थिरा इत्यादिना नखलक्षणम्। सोत्सङ्गा अन्तोन्नतत्वेन मध्यनिस्ना गभीरेत्यर्थः। नाभ्युरसोर्मध्ये यावन्मात्रं तस्य तृतीयभागहीना द्विभागयुक्ता, समा नोचावचा कटी। रुत्तावित्यादि स्फिक्लक्षणम्। स्थिरमश्चथम्पचितं रुद्धं मांसं ययोरतौ

महण्नेव नेत्रस्यागङ्गस्य लब्धस्यापि पुनः करणं विशेषेणापाङ्गशोभोपदर्शनार्थम् । आस्यपञ्जादनौ

एणीपदे प्रगूढ़िसरास्थिसन्धी जहाँ । नाःखुपचितौ नाःस्यपचितौ गुल्फो । पूट्योपदिष्टगुणो पादौ क्रूम्मांकारो । प्रकृतियुक्तानि वातम्त्रपुरीषाणि तथा स्वप्नजागरणायासस्मितरुदितस्तन-प्रह्णानि । यच किञ्चिद्न्यदनुक्तमस्ति तद्पि सर्व्यं प्रकृतिसम्पन्नसिष्टम्, विपरीतं पुनरनिष्टम् । इति दीर्घायु-र्वन्णानि ॥ ४६ ॥

अतो धात्रीवरीनामुपदेन्यामः। अथ ब्र्याद् धात्रीमानयेति। समानवर्णां यौवनस्थां निसृतामनातुरामव्यङ्गामव्यसनाम्

तथा नारयुचनातिनीचौ । अनुपूर्विष्टचावित्यादिनोस्टक्षणम् । अनुपूर्वं क्रमेण यसौ वसुं हो क्रमेण च मांसहौ । नात्युपेत्यादिना जङ्घालक्षणम् । एणीपदे हिरणीसमपादे । मगूइसिरे अस्पुटिसरास्थिसिन्धमती जङ्घे । नात्युपेत्यादिना गुल्फलक्षणम् । पूर्विपदिष्टगुणौ महदुपचितं पाणिपादिमित्युक्तया महान्तौ चोपचितौ च पादावित्यर्थः । पुनः क्रम्माकारौ क्रम्मपृष्टवत् मध्योन्नतौ । मङ्कित्युक्तानीत्यविक्रतानि वातादीनि, तथा मक्रतियुक्तानि स्वमादीनि। यच किश्चित् अनुक्तं पार्थादिपाणिपादिवहरणादि । विपरीतं यस्य यस्याङ्गस्य यद्यह्मभण- मुक्तं तद्विपरीतम् अनिष्टमदीर्घायुर्वक्षणम् । इति दीर्घायुर्वक्षणं शतायुर्वक्षणम् ॥ ४६ ॥

गङ्गाधरः—कुपारस्यायुःपरीक्षानन्तरं किं कार्य्यमित्यत आह—अत इत्यादि । समानवर्णामिति । वर्णोऽत्र किं वेदे वर्णलेनोपदिष्टजातिः ? किं शरीरस्य रूपम् ? नाद्यः । श्रद्धाः खल्ज सन्ति वह्यो जातयः । श्रद्धत्वेन तास्तु सर्व्वाः समानाश्चेत् मनुष्यत्वेन व्राह्मणाद्योऽपि समाना भवन्तु । न वान्त्यम् । सर्व्वेषां न हेप्रकं रूपं व्राह्मणक्षत्रियादीनाञ्चैकदेशेन समानरूपलमस्तीति । तस्मादत्र वर्णो वेदे शक्कादिवर्णत्वेनोपदिष्टा जातिरुपलक्षणीया प्राधान्यात् समानजातिरित्यर्थः । निभृतामनुद्धताम् । अव्यक्षां सर्व्वसम्पूर्णाङ्गीं नाङ्गहीनाम् । अव्यसनां काम-

मुखावरको। पृष्ठवंशश्च गृढ् इति योजनीयम्। असम्पातिनी सुनिर्गतकक्षे। एणीपदे इति पृणीजङ्कासदशे। प्रकृतियुक्तानीति न वहूनि नात्यल्पानि च, प्रकृतियुक्तमिति देहानुरूपम्॥ ४६॥ क्षपाणिः—समानवर्णामिति सुल्यजातीयाम्। 'यौवनस्थाम्' इत्यनेन न बालानुद्धे। बाला-

अविरूपाम जुगुप्तां देशजातीयाम चुद्राम् अचुद्रकिर्मिणीं कुले जातां वत्तलामरोग जीवद्वत्तां पुंवत्तां दोग्धी भन्नमत्ताम् अशायिनी मनुचारशायिनी मनन्तावशायिनीं कुशलो भचारां शुचिमशुचिद्वेषिणीं स्तनस्तन्यसम्पद्वपेतामिति ॥ ४७ ॥

तत्रेयं स्तमसम्पत्—नात्यृद्धी नातिलम्बावनितकृशावनित-पीनौ युक्तपि-पलकौ सुखप्रपाणौ चेति। स्तन्यसम्पत् तु प्रकृति-क्ष-वर्णगन्धरसस्पर्शम् उद्पात्रे च दुद्यमानं दुग्धमुद्कं व्येति प्रकृतिभूतत्वात् तत् पृष्टिकरमारोग्यकरक्ष्चेति। श्रतो-ऽन्यथा व्याननं ज्ञेयम्॥ ४८॥

क्रोधादिदोपरहिताम् अविरूपामविकटरूपाम् अनुगुप्सां परिनन्दाऽनिभ-धायिनीं देशजातीयां समानदेशजत्वेन समकाराम्। अक्षद्राम् अक्षद्रस्थभावाम्। न वा क्षद्रकस्भिणीं क्षद्रकम्भेकरीम्। कुले जातां सतां ब्राह्मणादीनां कुले जातामिष स्थितां, न तु दुःशीलादिप्वकुलेषु जाताम्। वत्सलां वात्सल्यवतीम्। अरोगजीवद्वत्साम् अरोगो जीवंश्च वत्सः स्वपुत्रो यस्याः सा। पुंवत्सां पुत्रवत्सां न तु कन्यावत्साम्। दोग्धीं स्वयंप्रदृत्तदुग्धवतीम्। अपमत्तामपाप-वतीम्। अशायिनीमकाले चादेशे चाश्यनशीलाम्। अनुसारशायिनीम् उचारोऽमेध्यदेशस्तत्राशयनशीलां मेध्यदेशे शयनशीलामित्यर्थः। अनन्ताव-शायिनीम् अन्तावशायिनी पतितब्राह्मणीप्रभृतिरुच्यते तिद्वनाम्। कुशलोप-चारां भद्रोपचरिताम्।। ४७।।

गङ्गाधरः--ननु कीद्दशी स्तनस्तन्ययोः सम्पिद्त्यत आह—तत्रेयमित्यादि । युक्तिपिपलको स्तनानुरूपयन्तयुक्तस्तनगुड्को । स्तन्येत्यादि । पक्रतयोऽविकृताः स्वाभाविका वर्णगन्धरसस्पर्शा यस्य तत् स्तन्यं सम्पदुपेतम् । तस्य परीक्षा-प्रकारमाह—उदपात्रे चेत्यादि । दुग्धं स्तन्यदुग्धम् उदकं व्येति उदकं व्ययं कृला वृद्धयोरसम्पूर्णाङ्गक्षीणधातुत्वेन निरस्यति । निभृतामिति विनीताम् । अविरूपामिति अविकृताव्यवाम् । अव्यङ्गामिति अहीनाङ्गीम् । वेदाजातीयां समानदेशजाम् । अनन्त्यावशायिनीमिति इद्भस्य हि सवर्णत्वे चाण्डालादिस्री च प्रशस्ता, सा न निपिध्यते, बाह्मणादीनामसवर्णत्वेनैव सा

^{*} प्रकृतेति वा पाठः ।

तस्य विशेषाः — र्यावारण्वणं कपायानुरतं विश्दमना-लच्यगन्धं रुचं फ्रेनिलं लव्यतृप्तिकरं कर्षणं वातविकाराणां कर्चृ वातोपखण्टं चीरिमिति ज्ञेयम्। कृष्ण्नीलपीतताम्रायभासं तिक्तानुकटुकाम्लरसं ७ कृण्पक्षिरगन्धि मृशोष्ण्ञ पित्त-विकाराणां कर्चृ पित्तोपखण्टं चीरिमिति ज्ञेयम्। अव्यर्थ-शुक्कमतिमाधुर्थ्योपयन्नं लवणानुरसं धृततेलवसामज्ञगन्धि पिच्छलं तन्तुमदुदकपात्रेऽवसीदत् एलेप्मविकाराणाञ्च कर्चृ रलेप्मोपखण्टं चीरिमिति ज्ञेयम्। तेषान्तु त्रयाणामपि चीरदोपाणां प्रतिविशेषमभित्तमीच्य यथास्यं यथादोषञ्च वमनविरेचनास्थापनानुवासनानि विभड्य कृतानि प्रश्मनाय भवन्ति ॥ ४६ ॥

दुग्धमयं भवति तेन विशेषेणोदकं व्यामोति उदकेन सहै कीभावमापद्यते इत्यर्थः। तत् स्तन्यं प्रकृतिभूतलाद्विकृतलात् पुष्टिकरम्। अतोऽन्यथा उद्पात्रे दुष्य-मानं दुग्धं यदि नोदकं व्येति तदा व्यापन्नं विकृतिमापननं स्तन्यं ह यम् ॥ ४८

गङ्गाधरः—नतु केन विकृतं कीदृणं भवतीत्यत आह—तस्येत्यादि । विश्वदम् अपिच्छिलम् । अनालक्ष्यगन्धं सम्यग्लक्षणीयगन्धरहितम् । कर्षणं कृशकरम् । एवन्म्भूतं क्षीरं वातोपसृष्टं ज्ञे यम् । कृष्णेत्यादि पित्तदृष्टस्तन्यलक्षणम् । कृणपगन्धि रुधिरगन्धि च । अत्यर्थेत्यादि इलेष्मदृष्टस्तन्यलक्षणम् । एपां प्रतीकारार्थमाह—तेपामित्यादि । तत्र तेपां त्रयाणां क्षीरदोपाणां वातादीनां प्रतिविशेषं विशेषं विशेषं विशेषं कोष्टाश्रयलोदीर्णलादि संशोधनानुगुणं दृष्टिविशेषमभिसमीक्ष्य यथास्वं वमनाद्यहान्दं यथादोषं वमनादीनि विभन्य कृतानि प्रशमनाय क्षीरदोपप्रशमनाय भवन्ति ॥ ४९ ॥

निरस्ता । किंवा ब्राह्मणादीनामिष पतितब्राह्मणादि 'अनन्त्यावशायिनीम्' इतिशब्देन क्षिप्यते । युक्तिषिष्पलकाविति उच्चेस्तरवृन्तौ । 'उद्कं ब्येतीति उद्कं विशेषेण एति प्राप्नोतीत्यर्थः, उद्के विसर्पत् क्षीरं प्रशस्तमिति ॥ ४७।४८॥

चक्रपाणिः—चातादिदृष्टक्षीरलक्षणान्याह—इयावेत्यादि ।' लवणानुरसमिति इलेप्मदृष्टक्षीर्दोप-

^{*} तिक्ताम्छकटुकानुरसिमिति चक्रः । . . .

(जानिसृत्रीयं शारीरम्

पानाशनविधिस्तु दुष्टचीराया यवगोधूमशालिषष्टिकमुद्गहरेगुककुलस्थसुरासौवीरक-छ-मैरेयमेदकलसुनकरञ्जप्रायः स्यात्।
चीरदोषविशेषांश्रावेच्यावेच्य तत्तद् विधानं कार्य्य स्यात्।
पाठामहौषधसुरदासमुस्तस्व्वागुडू चीवत्तकफलकिरातिक्तकदुकरोहिग्गीशारिवाकषायागाञ्च पानं प्रशस्यते। तथान्येषां तिक्तकषायकदुकमधुराणां द्रव्याणां प्रयोगः। इति चीरविशोधनानि
उक्तानि भवन्ति। चीरविकारविशेषानिभ समीच्य मात्रां
कालञ्च। इति चीरविधानानि॥ ५०॥

चीरजननानि तु मद्यानि सीधुवज्ज्यांनि याम्यान्यौदकानि च शाकधान्यमांसानि द्रवमधुराम्लभ्यिष्ठाश्चाहाराः चीरिएयश्च श्रौषधयः चीरपागञ्चानायासश्च वीरण्यष्टिकशालिकेचुवालिका-दर्भकुशकाशगुन्द्रे त्कटम्लकषायागाश्च पानम् । इति चीर-जननान्युक्तानि ॥ ५१॥

गङ्गाधरः—पानाजनेत्यादि । दुष्टक्षीराया धात्रप्राः । क्षीरदोपिवज्ञेपांश्र वातादीनवेक्ष्यावेक्ष्य यवादीनां भक्ष्यविधानं कार्य्यं स्यादित्यर्थः । पानविधान-माह—पाठेत्यादि । तथान्येपां प्रयोग इत्यन्वयः । क्षीरविकारमि छक्ष्यीकृत्य मात्रां कालश्च समीक्ष्य तत्तद्विधानं कार्य्यमित्यर्थः ॥ ५०॥

गङ्गाधरः—क्षीरदोषप्रतिकारग्रुक्तवा क्षीरजननविधिमाह—क्षीरजननानि वित्यादि। सीधुवज्ज्यीनि मद्यानि ग्राम्यादीनि च शाकानि धान्यानि मांसानि च। द्रवादिभूयिष्ठा आहाराश्च, क्षीरिण्यश्च वटोडुम्बरादयः। वीरणादीनामित्-कटान्तानां मूलस्येकशः कपायाणां पानं वहुवचनात्। एतयोः क्षीरदोप-क्षीर-दोपप्रतिकारयोः प्रकारा विस्तरंण योनिव्यापदि वक्ष्यन्ते।। ५१।।

दूष्यसंमूर्च्छनप्रभावाज्ज्ञेयम्, येन इलेष्मदुष्टे लवणरसता भवति । एतत्पृथग्लक्षणयोगाच द्वन्द्व-सन्निपातदुष्टिरप्युन्नेया । चिकित्सामाह—एपामित्यादि । प्रतिप्रतिविद्योपमभिसमीक्ष्येति प्रतिप्रति-वातादीनां कोष्टाश्रयित्वोदीर्णत्वादि शोधनानुगुणविद्योपमिति, चिह्नविद्योपादिष धात्रीमपेक्ष्य वमनाः

^{*} इतः परं तुपोदकं इत्यिषकः क्वित्।

धात्री तु यदा खादुवहुलशुद्धदुग्धा स्यात् तदा स्नातानुलिप्ता शुक्कवस्त्रं परिधाय ऐन्द्रीं त्राह्मीं श्तवीर्थ्यां सहस्रवीर्थ्याम् श्रमोघामव्यथां शिवामरिष्टां वाट्यपुर्णीं विष्वक्सेनकान्तामिति विभ्रत्योषधीः कुमारं प्राङ्मुखं प्रथमं दिच्चणं स्तनं पाययेत्। इति धात्रीकम्मे ॥ ५२॥

गङ्गाधरः - अथ दशमाहानन्तरं नापकर्मणि कृते स्तन्यपानविधिमाह-धात्री जित्यादि । ऐन्द्रग्राद्योपधीर्विभ्रती धात्री कुमारं पाङ्गुखं मन्नोपमन्नितं दक्षिणं स्तनं प्रथमं पाययेत् ततः परं वामम् । सुश्रुतेऽध्युक्तम् — ततो यथावर्ण धात्रीमुपेयान्मध्यमप्रमाणां मध्यमनयसमरोगां शीलवतीमचपलामलोल्रपाय् अकृशामस्थूलां प्रसन्नक्षीरामलम्बोष्टीमलम्बोर्द्धं स्तनीमन्यङ्गामन्यस्तिनीं जीवर्-वत्सां दोग्धीं वत्सलामभूद्रकिमणीं कुले जातामतो भूयिप्ठैश्च गुणैरिनवता इयामाम् आरोग्यवलरुख्ये वालस्य । तत्रोर्द्ध् स्तनी करालं क्रय्यात् । लम्यस्तनी नासिकामुखं छाद्यित्वा गरणमापादयेत्। ततः पशस्तायां तिथौ शिरःस्नातम् अहतवाससमुदङ्मुखं शिशुमुपवेश्य धात्रीं माङ्मुखीमुपवेश्य दक्षिणं स्तनं धौतमीपत्परिस्न तमभिमन्त्रा मन्त्रेणानेन पाययेत्। "चलारः सागरास्तुभ्यं स्तनयोः क्षीरवाहिणः। भवन्तु सुभगे नित्यं वालस्य वलद्यद्वये। पयोऽपृत-रसं पीला कुमारस्ते शुभानने। दीर्घमायुरवाझोतु देवाः माश्यामृतं यथा॥" अतोऽन्यथा नानास्तन्योपयोगस्यासात्म्याद्व्याधिजन्म भवति । अपरिस्नूते-**ऽ**ध्यतिस्तन्ध्यस्तन्यपूर्णस्तनपानादुत्स्रुहितस्रोतसः 'शिशोः पादुर्भावः। तसादेवं विधानं स्तन्यं न पाययेत्। क्रोधशोकावात्सल्यादिभिश्च स्त्रियाः स्तन्यनाज्ञो भवति। अथास्याः क्षीरजननार्थं सौमनस्यप्रत्पाद्य यनगोधमञ्जालिपष्टिकमांसरससुरासौवीरकपिण्याकलसुनमत्स्यकशेरुकशृहक-विसविदारिकन्दमधुकश्रतावरीनिलकालावृकालशाकपभृतीनि विद्ध्यात्।

दीनां यहुत्वाल्पत्विक्षेपः कर्त्तन्य इत्यर्थः। तत्तद्विधानं कार्यं स्यादिति सम्बद्धदोपप्रतिक्र्लमाहार-विधानं कार्यं स्यात्। कपायाणामिति वहुवचनात् व्यस्तसमस्तानां कपाया गृह्यन्ते। क्षीरिण्यश्च इन्धिकाकलम्बिकादयो दृक्यमानक्षीराः। अमोघादयोऽनन्तरं व्याकृताः, अव्यथा गुदू ची॥४९—५२॥ ञ्जतोऽनन्तरं कुमारागारिविधमनुव्याख्यास्यामः। वास्तु-विद्याकुश्लः प्रश्रस्तं रस्यमतमस्कं निवातं प्रवातेकदेशं दृद्यप-गतश्वापदपशुदंष्ट्रिमृपिकापतङ्गं सुविभक्तस्तिलोवूखलम् त्रवच्चः-स्थानस्नानसृमिमहानसञ्जतुसुखं यथर्तु श्यनासनास्तरणसम्पन्नं कुर्यात्। तथा सुविहितरचाविधानविष्मङ्गलहोमप्रायश्चित्तं शुचि वृद्धवेद्यानुरक्तजनसम्पूर्णम्। इति कुमारागारिविधः॥५३॥

श्यनास्तरणप्रावरणानि कुमारस्य खृदुलवुशुचिसुगन्धीनि स्युः । स्वेदमलजन्तुमन्ति सूत्रपुरीषोएखप्टानि च वळ्यानि स्युः ।

अथास्याः स्तन्यमप्सु परीक्षेत। तच्चेच्छीतलममलं तनु श्रह्वावभासमप्सु न्यस्तमेकीभावं गच्छत्यफेनिलमतन्तुमन्नोत्प्रवते न सीद्रित वा तच्छुद्धमिति विद्यात्। तेन कुमारस्यारोग्यं शरीरोपचयो चलद्दद्धिश्च भवति। न च क्षुधित-शोकार्त्त-श्रान्त-प्रदुष्ट्धातु-गर्भणीज्वरिताति-श्रीणातिस्थूल-विद्य्य-भक्ष्य-विरुद्धाहारतिपतायाः स्तन्यं पाययेत्, नाजीणो पथन्च वालम्; दोपोपधमलानां परस्परोपघातेन तीवरोगोत्पत्तिभयात्। भवतश्चात्र। धात्रप्रास्तु ग्रह्मिभोंज्यैः विपमद्दीपलैस्तथा। दोपा देहे प्रकुप्यन्ति ततः स्तन्यं प्रकुप्यति। मिथ्या-हारविहारिण्या दुष्टा वातादयः स्त्रियाः। दृपयन्ति पयस्तेन शारीरा व्याधयः शिशोः॥ इति॥ ५२॥

गङ्गाधरः—अथैवं धात्रीस्तन्यपानानन्तरं गते जननाशीचे निष्कान्ते च स्तिकागृहात् छत्र वाछं वासयत् कथञ्च रक्षेदित्यत आह—अतोऽनन्तर-मित्यादि। वारतु स्तिकागारानिष्कान्तस्य शिशोर्वासार्थं गृहस् अतमस्कमन्धं काररहितं निवातमपि प्रवातैकदेशं तद्वास्तुन एकदेशे प्रकृष्टो वातो वातीत्येवं वास्तु विद्यात्। अपगतम्वापदादिकं सुविभक्तानि विभागशः स्थितानि सिल्ला-दीनि महानसान्तानि यत्र तत् तथा। तद्वास्तु ऋतुसुखं तस्मिन्त्तौ सुखकरस् अकष्टदं यथणुं ऋत्वनुरूपं शय्यादिसम्पन्नं विहितरक्षाविधानमुक्तस्तिकागृह-रक्षाविधानेन कृतं रक्षाविधानं विल्मङ्गलादिकञ्च यत्र तत् तथा। श्रुचि च। एवं द्रद्धादिसम्पूर्णम्।। ५३।।

गङ्गाधरः—यथा पालयेत् तदाह—शयनास्तरणेत्यादि । स्वेदादिमन्ति मूत्रा-

असति सम्भवेऽन्येषां तान्येव सुप्रजािततोषधानानि सुधूिष-तानि ७ शुद्धानि शुष्कािण योगं गच्छेयुः॥ ५४॥

धूपतानि पुनर्वाससां शयनास्तरग्रप्रावरग्रानाञ्च यव-सर्पपातसीहिङ्गग्रःगुलुवचाचोरकवयःस्थागोलोमीजिटिलापलङ्कषा-ऽशोकरोहिग्गोसर्पनिभ्मोकािण घृतग्रक्तािन स्यः। मग्रयश्च धारग्गीयाः कुमारस्य, खड् गरुरुगन्चयवृषभागां जीवतामेव दिल्गोभयो विषागोभयोऽप्राणि ग्रहोतािन स्यः। ऐन्द्राद्या-श्चौपधयो जीवकर्षभको च यािन चान्यात्यिप ब्राह्मगाः प्रशंसेयुरथवर्ववेदविदः॥ ५५॥

दुप्रपष्टशानि च शयनादीनि वर्षानि स्यः। यस्य शयनादीनि वहूनि न सन्ति तस्य विधानमाह—असित सम्भवे इत्यादि। अन्येषां स्वेदादिम् त्रादियुक्तानि शय्यादीन्येकविधानि त्यक्तशान्येषां सम्भवे तसित तान्येव स्वेदादिम् त्रादि-युक्तानि शय्यादीनि सुनक्षालितादीनि योगं गच्छेयुः॥ ५४॥

गङ्गा<u>धरः</u>—नजु कैर्धू पयेदित्यत आह—धूपनानीत्यादि। यवादीनां सपिनिम्मीकान्तानां चर्णं कृला घृतेन मक्षयिला वल्लशय्यादीनां धूपनं कार्य्य-मित्यथः। गुगगुङ्गिहिपाक्षगुगगुङ्गः। पङ्कषा साधारणगुगुङ्गः। चोरकश्चोर-पुष्पी। गोलोमी गोडुम्बा। जटिला जटामांसी। रोहिणी कटुरोहिणी। मणयक्षचेत्यादि। मणयश्च धारणीयाः यस्य ये सम्भवन्ति। तथा खड्गाः खड्गिनामा पशुः। रुरुः खल्पहरिणः। गवयः गोसद्दशः पशुभेदः। ट्रपभो-ऽनडान्। जीवतामेषां दक्षिणशृङ्गाग्राणि च्छित्त्वानीय कुमारस्य धारणीयानि

चक्रपाणिः—सुप्रक्षालितोपध्रितानीति सुधौतोत्तरप्रच्छादनानि । शुद्धशुष्काणीति धौतान्यरि यदा मलादिरागेणापि रहितानि भवन्ति शुष्काणि च, तदैवोपयोज्यानि । सुधौतं ह्याद्रमपि स्यात् तथा गादरागमलादिभावितं धौतमप्यशुद्धं स्यात्, तसादक्तम् शुद्धशुष्काणीति ॥ ५३।५४ ॥

चक्रपाणिः—वयःस्था बाह्यां, गोलोगी इवेतदूब्वां। जटिला मांसी। अग्राणि धारणीयानि स्युरिति योजना। उत्तं हि जतूक्षणे—"रुरुखंड् गादीनां जीवतां दक्षिणश्रङ्गाग्राणि निकृत्तानि धारयेत्।" जीवकर्पभको प्रजास्थापनोत्तो । मन्त्राश्चाथब्ववेदोक्ताः ऐन्द्राद्या दशः।

सुप्रक्षालितोपधानानि सुध्पितानि इत्यत्र सुप्रक्षालितोपध्पितानि इति चक्रधतः पाठः ।

क्रीड़नकानि त्वस्य विचित्राणि घोषवन्त्यभिरामाणि चागुरूणि चातीच्णाप्राणि चानास्यप्रवेशीनि चाप्राणहराण्य-वित्रासनानि स्युः। न ह्यस्य वित्रासनं साधु। तस्मात् तस्मिन् रुद्दरयभुक्षाने वान्यत्र विधेयताम् अगच्छति राच्यसिपशाच-पूतनाद्यानां नामानि चाह्ययता कुमारस्य वित्रासनार्थं नामप्रहणं न कार्य्यं स्यात् ॥ ५६॥

स्युः। तथा ऐन्द्रप्राचा उक्ता याः पूर्विमतः ऐन्द्रीं ब्राह्मीमित्यादिना धात्रप्रा धारणीयाः। एवं जीवकर्षभकौ तथान्यानि च धारणीयानि॥ ५५॥

अथ वालस्य क्रीडार्थं द्रव्याणि कीदशानि स्युरित्यत आह—क्रीडनकानि वालस्य क्रीइनमेभिरिति तानि क्रीइनकानि। कृतविचित्राणि घोपवन्ति शब्दवन्ति तेन वाला हृष्यन्ति । अगुरूणि पत्तलानि क्कमारो यदुत्तोलनक्षेपणादिषु शक्रोति। अतीक्ष्णाग्राणि तीक्ष्णाग्राणि हि वालं हिंस्युः। अनास्यमवेशीनि कुमारस्य मुखं प्रवेशाहीणि न भवन्ति यानि क्रमारो न गिलित् शक्रोति। अमाणहराणि विपाद्यनाक्तानि हीरकविपादि-पाणहरद्रव्याकृतानि । अवित्रासनानि कुमारस्य त्रासाजनकानि । नतु कथ-मवित्रासनानि क्रीड़नकानि कृष्यु र्वालो यदि रोदिति नदिति न पिवति न भुङ्क्ते तदा लोके केनचित् वित्रासनेन वालं वित्रास्य शान्तं कुक्ते, मौनश्च पाययेत् भोजयेच्चैवमादि इत्यत आह-न ह्यस्थेत्यादि। अस्य कुमारस्य यस्माद्वित्रासनं न साधु, तस्मात् तस्मिन् कुमारे स्दति वाष्यभुञ्जाने वान्यत्र विध्यतामगच्छति नदति चापिवतीत्येवमादौ सति तूष्णीम्भावदुग्धपानादि-कत्तंच्यतामगच्छति न कुच्चेति राक्षसादीनां नामान्याह्वयता पुरुषेण स्त्रिया वा कुपारस्य वित्रासनार्थ तेपां राक्षसादीनां वित्रासजनकानां नामग्रहणं न कार्यम्। सुश्रुतेऽप्युक्तं—वालं पुनर्गात्रसुखं युक्तीयात्। न चैनं तज्ज्येत् सहसा न प्रतिरोधयेत् वित्रासभयात् सहसा नापहरेदुत्क्षिपेद्वा वातादिविद्यात-भयात् नोपवेशयेत् कौब्ज्यभयात्। नित्यञ्चेनमनुवर्त्तेत प्रियशतैरजिघांसुः। एवमनभिहतमनास्त्रभिवद्धेते नित्यमग्रासत्त्वसम्पन्नो नीरोगः सुप्रसन्नमनाश्र भवति । वातातपविदुत्रत्भभाषाद्पलताशून्यागारनिम्नस्थानगृहच्छायादिभ्यो दुर्ग होपसर्गतश्च वाळं रक्षेत्। नाशुचौ विस्रजेद्वाळं नाकाशे विषमे न च।

यदि त्वातुर्धं किञ्चित् कुमारमागच्छेत्,तत् प्रकृतिनिमित्त-पूर्व्वरूपितङ्गोपश्यविशेषेस्तस्वतोऽनुबुध्य सर्व्वविशेषानातुरौषध-देशकालाश्रयानवेच्नमाणिश्चिकित्तितुमारभेतेनं सधुरमृदुलघु-सुरिमशीतसङ्करं क्ष्मि प्रवर्त्तथन्। एवंसात्स्या हि कुमारा भवन्ति, तथा ते श्रम्भे लभन्तेऽचिराय।

नोष्ममारुतवर्षेषु रजोधमोदकेषु च ॥ श्रीरसात्म्यतया श्रीरमाजं गव्यमथापि वा । द्याद् आ स्तन्यपर्याप्तेवीलानां वीक्ष्य मात्रया ॥ पण्मासञ्चैनमन्नं प्राश्येल्लघ् हितळ्ञ नित्यमवरोधानारतञ्च स्यात् कृतरक्ष उपसर्गभयात्। प्रयत्नतथ्य ग्रहोपसर्गभ्यो रक्ष्या वाला भवन्ति ॥ इति ॥ ५६॥

अथास्यातुर्यमितिकारार्थमाह—यदि लातुर्यमित्यादि । आतुर्यं व्याधितलम्। तत् कुमारस्यातुर्यम्। मकृतिर्वातादिदोपदृष्यक्ष्या, निमित्तं, वाद्यकारणम्, रुक्षादिस्तन्यादिकं पूर्वक्ष्यम्, लिङ्गं रूपम्, उपशय्भ्यं, तेषां विशेषयस्य व्याध्यां मकृतिर्यन्निमित्तं यत् पूर्विरूपं यिष्ठङ्गं यथोपशयस्तेषां स्तिद्दिशेषस्तत्त्वतो यथार्थतोऽनुबुध्य बाला आतुरस्य व्याधिविशेषं मकृतिविशेषं वलविशेषमेवमादि । औपधस्य तीक्ष्णलादिवीर्यविशेषं मानविशेषं रस्विशेषमेवमादि । देशस्य साधारणलजाङ्गललानूपलादिविशेषम् । कालस्य नित्यमस्य
वसन्तादितदाद्यलमध्यलान्तलादिनाद्यमध्यलान्तादिविशेषम् । कालस्य नित्यमस्य
वसन्तादितदाद्यलमध्यलान्तलादिनाद्यमध्यलान्तादिविशेषमिति आतुरौपधदेशकालाश्रयान् सर्व्यविशेषानवेक्षमाण एनं कुमारमातुरं चिकित्सितुं मधुरादिसङ्करं मधुरादिमिलितं कम्म पवर्त्तयन् आरभेत । कस्मात् मधुरादिसङ्करं कम्म
पवर्त्तयन्नारभेतेत्यत आह—एवंसात्म्याहीत्यादि। हि यस्मात् कुमारा एवं मधुरमृदुलघुसुरभिशीतसङ्करसात्म्या भवन्ति, तस्यान्मधुरादिसङ्करं कम्म पवर्त्तयन्
नारभेत । तथा तेन पकारेण ते कुमारा अचिराय शीघ्रं शर्म्य सुखं लभन्ते।

सुश्रुतेऽत्युक्तं—धात्रप्रास्तु गुरुभिभोज्यैविषमैदौषलैस्तथा। दोपा देहे प्रकुष्यन्ति ततः स्तन्यं पदुष्यति॥ मिथ्याहारविहारिण्या दुष्टा वातादयंः स्त्रियाः। दृषयन्ति पयस्तेन जारीरा व्याधयः शिज्ञोः॥ भवन्ति

त्तदित्यादी प्रकृतिवीतादयः। निमित्तं वाह्य रुक्षादि साक्षाद् वातादिकारणम्। सर्व-विशेषानित्यादी 'आतुर'शब्देनातुर्यहेतुर्वाधिमृद्धते। 'आश्रय'शब्देन तु शरीरम्। शं कल्याणं

^{*} शीतशङ्करमिति चकः।

कुशलास्तांश्व भिषक् सम्यग् विभावयेत्। अङ्गपत्यङ्गदेशेषु रुजा यत्रास्य जायते।। मुहुम्मुहुः स्पृशति तं स्रुश्यमानश्च रोदिति। निमीलिताक्षो मूर्डस्थे शिरो रोगे न धारयेत्।। वस्तिस्थे मूत्रसङ्गान्ती रुजा तृष्यति मूर्च्छति। विष्मुत्रसङ्गवैवर्णग्र-च्छद्देग्राध्मानान्त्रक्र्जनैः॥ कोष्ठे विजानीयात् सर्वित्रस्थांश्च रोदनैः॥ तेषु च यथाभिहितं मृद्वच्छेदनीयमौपधं मात्रया क्षीरपस्य क्षीरसपिपा धात्रप्राश्च विद्ध्यात्। क्षीरान्नादस्यात्मनि अनादस्य कपायादीनात्मन्येव न धात्रश्राः। तत्र मासादद्ध क्षीरपायाङ्ग्र लिपन्वद्वयग्रहणसम्मितामौषधमात्रां विद्ध्यात्ः कोलास्थिसम्मितां करकमात्रां क्षीरानादाय, कोलसम्भितामनादायेति। येपां गदानां ये योगाः भवध्यन्तेऽगदङ्कराः। तेषु तत्करुकसं लिप्तौ पाययेत शिशु स्तनौ। एकं द्वे त्रीणि चाहानि वातिपत्तकफुज्बरे।। स्तन्यपाय हितं सपिरितराभ्यां यथार्थतः। न च तृष्णाभयादत्र पाययेत शिशुं स्तनौ। विरेकवस्तित्रमनानुप्रते कुर्याच नात्ययात्।। मस्तुछङ्गक्षयाद् यस्य वायुस्तात्वस्थि नामयेत्। तस्य तृ इदैन्ययुक्तस्य सर्पिमेधुरकेः शृतम् ॥ पानाभ्यञ्जनयोयोष्ट्यं जीताम्बुद्वेननं तथा। वातेनाध्मापितां नाभिं सरुनां तुण्डिसंजिताम्।। मारुतध्नैः प्रश्नमयेत् स्नेहस्वेदोपनाहनैः। गुद्रपाके तु वालानां पित्तन्नीं कारयेत् कियाम्। रसाञ्चनं विशेषण पाना ठेपनयोर्हितम्।। श्लीराहाराय सपिः पाययेत् सिद्धार्थकवचा नांसी-ंपयस्यापामार्गेशतावरीसारिवात्राह्मीपिप्पलीहरिद्राकुष्ठसैन्धवसिद्धस्, नादाय मध्कवचापिष्पलोचित्रकति कलासिद्धम्, अनादाय द्विपश्चमुलीक्षीर तगरभद्रदारुमरिचमधुविङ्ङ्गद्राक्षाद्वित्राह्मीसिद्धम्। तेनारोग्यवलमेधाय् पि शिशोभवन्ति।

अथ कुमार उद्विजते त्रस्यित रोदिति नष्टसं को भवति नखदशनैधीत्रीमात्मानश्च परिणुदित दन्तान खादित क्रजति जुम्भते भ्रुवौ विक्षिपत्यू िनरीक्षते फेन-सुद्वमित सन्दृष्टीष्टः क्रूरो भिन्नामवर्षा दीनात्त्रंखरो निशि जागत्ति दुव्यं लो म्लानाङ्गो मत्स्यच्छुङ्न्दिर्मत्कुणगन्धो यथा पुरा धात्रग्नः स्तन्यमभिलपित तथा नाभिलपतीति सामान्येन ग्रहोपसृष्टलक्षणसृक्तम् विस्तरेणोत्तरे वक्ष्यामः॥ तदुत्तरे यथा—वालग्रहाणां विकानं साधनश्चाप्यनन्तरम्। उत्पत्तिं कारणञ्चैव सुश्रुतैकमनाः शृणु। स्कन्द्ग्रहस्तु प्रथमः स्कन्दापस्मार एव च। शक्कनी रेवती चैव पूतना चान्धपूतना। पूतना शीतनामा च तथैव सुखमण्डिका। नवमो नैग-मेयश्च यः पितृग्रहसं कितः। धात्रीमात्रोः प्राक् प्रदिष्टापचाराच्छीचभ्रष्टान्

मङ्गळाचारहीनान । त्रस्तान् हृष्टांस्निकितान् ऋन्दितान् वा पूजाहेतोहिस्युरेते कुमारान् । ऐश्वरर्यस्थास्ते न ज्ञक्या विज्ञन्तो देहं द्रष्टुं मान्नपैविश्वरूपाः । आप्तं वांक्यं तत् समीक्ष्याभियास्ये लिङ्गान्येषां यानि देहे भवन्ति ॥ शूनाक्षः क्षतज-सगन्धिकः स्तनिहिङ् रक्तास्यो द्रतचलिनैकपश्मनेत्रः। उद्विषः सुललितचक्षु-रत्परोदो स्कन्दार्त्तो भवति च गाइमुष्टिवर्चाः ॥ १॥ निःसंनो भवति पुनर्भवेत् ससंबः संरच्यः करचरणेश्र नृत्यतीव। विष्मूत्रे सृजति विनद्य जुम्भमाणः फेनश्च प्रस्जिति तत्सखाभिपनः।।२॥ सस्ताङ्गो भयचिकतो विहङ्गगनिधः संस्रादि-व्रणपरिपीड़ितः समन्तात्। स्फोटैश्च प्रततत्तुः सदाह्पाकैविकेयो भवति शिशुः क्षतः शक्तन्या ॥ ३॥ रक्ताक्षो हरितमलोऽतिपाण्डुदेहः स्यावो वा ज्वर-मुखपाकवेदनात्तंः। रेवत्या व्यथिततनुश्च कर्णनासं मृद्नाति ध्रुवमभिपीडितः कुमारः ॥ ४ ॥ सस्ताङ्गः स्विपिति सुखं दिवा न रात्रौ विङ्भिन्नं सुजित च काकतुल्यगन्धिः। छद्योत्तौ हपिततन् रहः कुमारस्तृष्णास्त्रभेवति च पूतना-यहोतः॥५ ॥ यो द्वेष्टिस्तनमतिसारकासहिकाच्छर्दीभिष्वेरसहिताभिरद्देरमानः। दुर्व्वर्णः सततमधःशयोऽम्लगन्धिस्तं व्याव् भिषगिह गन्धपूतनात्तेम् ॥ ६ ॥ उद्दिशो भृशमितवेपते परुद्यात् संस्त्रीनः स्विपिति च यस्य चान्त्रक्र्जः । विसाङ्गो ·भृशनितसाय्यंते च यस्तं जानीयाद् भिषगिह शीतपूतनात्तम् ॥ ७ ॥ म्लानाङ्गः सुरुचिरपाणिपादवक्तो वहाशी कलुपसिराष्टतोदरो यः। सोद्वेगो भवति च मृत्रतुल्यगन्धिः स हो यः शिशुर्थ वक्त्मण्डिकार्त्तः ॥ ८॥ यः फीनं वमित विनम्यते च मध्ये सोद्देगं विलपति चोर्द्धमीक्षमाणः। ज्वरयेत मततमथो वसासगिन्धर्तिः संज्ञो भवति हि नैगमेयजुष्टः ॥ ९॥ प्रस्तन्यो यः स्तनद्वेपी मुद्यते चाविशन् मुहुः। तं वाछं न चिरावधन्ति ग्रहः सम्पूर्णलक्षणः। विपरीत-मतः साध्यं चिकित्सेदचिराहितम्। यहे पुराणहविपाभ्यज्य वाछं शुचौ शु चः। सर्पपान् प्रकिरेत् तेपां तैलैदप्पिश्च कारयेत्। सदा सनिहितश्चापि 🔍 जुहुयाद्धव्यवाहनम् । सर्व्वगन्धौषधीवीजैर्गन्धमार्व्येरस्टङ्कृतम् । अग्नये कृत्तिका-भ्यश्च स्वाहा स्वाहेति संस्परन्। नमः स्कन्दाय देवाय ग्रहाधिपतय नमः। शिरसा लाभिवन्देऽहैं प्रतिगृत्तीष्व में विलम्। नीरुजो निर्व्विकारश्च शिशुर्मे जायतां ध्रुवम् ॥

अथ स्कन्द्रग्रहमितपेधं व्याख्यास्यामः। स्कन्द्रग्रहोपसृष्टानां कुमाराणाश्च शस्यते। वातब्रहुमपत्राणां निःकाथः परिपेचने। तेषां मूलेषु सिद्धश्च तैलमभ्यञ्जने हितम्॥ सर्व्वगन्धसुरामण्ड-कैटर्प्यावापमिष्यते। देवदारुणि रास्तायां मधुरेषु द्रमेषु च ।। सिद्धं सिपिश्च सिक्षीरं पानमरमें मयोजयेत्। सर्पपाः सर्पनिश्मोको वचा काकादनी घृतम्।। उष्ट्राजाविगवाञ्चैव रोमाष्युद्ध्यूवनं शिक्षोः। सोमविद्धीसिन्द्रविद्धीं श्रमीं विक्वस्य कष्टकान्। मृगादन्याश्च सूल्यानि ग्रथितान्येव धारयेत्।।।। रक्तानि माल्यानि तथा पताका रक्ताश्च गन्धा विविधाश्च सहयाः। घण्टा च देवाय विलिनेवेद्यः सकुक्कुटः स्कन्दग्रहे हिताय।। स्थानं त्रिरात्रं निश्चि चलरेषु कुर्यात् पुनः शालियवैनेवेसतु। अद्भिश्च गायत्रप्रमिमित्रतासिः पञ्चालनञ्चाहुतिभिश्च वहः॥।।। रक्षामतः प्रवक्ष्यामि वालानां पापनाशिनीस्। अहन्यहिन कर्चव्या या भिषग्भिरतिनद्वतैः। तपसां तेजसाञ्चैव यशसां वपुषां तथा। निधानं योऽव्ययो देवः स ते स्कन्दः प्रसीदतु। ग्रहरोनापतिर्देवो देवसेनापतिर्विश्चः। देवसेनारिपुहरः पातु लां भगवान् गृहः। देवदेवस्य महतः पायकस्य च यः स्रतः। गङ्गोमाकृत्तिकानाश्च स ते शम्भी प्रयच्छतु। रक्तमाल्याम्बरः श्रीमान् रक्तचन्दनभूपितः। रक्त-दिव्यवपुर्देवः पातु लां क्रोञ्चस्दनः॥ १॥

अथातः स्कन्दापस्मार्प्रतिपेधं व्याख्यास्थामः। विक्वः शिरीपो गोलोमी सुरसादिश्च यो गणः। परिपेके प्रयोक्तव्यः स्कन्दापस्मारशान्तये। सर्व्यगन्धविपक्वन्तु तैलमभ्यञ्जने हितम्। क्षीरिष्टक्षकपाये च काकोल्यादौ गणे तथा। विपक्तव्यं घृतं वापि पानीयं पयसान्वितम्। उत्सादनं वचाहिष्ठ-सुक्तं स्कन्दग्रहे हितम्। गृधोल्लकपुरीपाणि केशा हस्तिनखा घृतम्। गृपभस्य च रोगाणि योज्यान्युद्धपनंऽपि च। अनन्तां कटुकीं विम्वीं मकटीञ्चापि धारयेत्। पकापकानि मांसानि पसन्नं रुधिरं पयः। भूतौदनो निवेद्यश्च स्कन्दापस्मारिणोऽवटे। चतुष्पथे च कत्तव्यं स्नानमस्य यतात्मना। स्कन्दापस्मारसंको यः स्कन्दस्य दियतः सखा। विशाखसंकश्च शिशोः शिवोऽस्त विकृताननः॥२॥

अथातः शक्कनीप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः। शक्कन्यभिपरीतस्य काय्यो नेदेत्रन जानता। वेतसाम्रकपित्थानां निःकाथः परिषेचने।। कपाय-मधुरैस्तैछं कार्यपभ्यञ्जने शिशोः। मधुकोशीरहीवेर-सारिवोत्पलपबकैः।। रोध्रिपयङ्गमञ्जिष्ठा-गैरिकैः प्रदिहेच्छिशुम्। व्रणेपूक्तानि चूर्णानि पथ्यानि विविधानि च॥ स्कन्दग्रहे धूपनानि तानीहापि प्रयोजयेत्। शतावरी-मृगैव्वारु-नागदन्तीनिदिग्धिकाः।। लक्ष्मणां सहदेवाश्च द्वहतीश्चापि धारयेत्। तिल्तण्डलकं माल्यं हरितालं मनःशिला।। वलिरेप करञ्जेषु निवेद्यो

नियतात्मना। निकुञ्ज च प्रयोक्तन्यं स्नानमस्य यथाविधि॥ स्कन्दग्रहोप-शमनं घृतं तचेह पूजितम्। छुर्य्याच विविधां पूजां शक्कन्याः कुसुमैः श्रुभैः॥ अन्तरीक्षचरा देवी सर्व्यालद्धारभूपिता। अधोप्रखी तीक्ष्णतृण्डा शक्कनी ते मसीदतु॥ दुईर्जना महाकाया पिङ्गाक्षी भैरवस्वरा। लम्बोदरी शङ्क वर्णी शक्कनी ते मसीदतु॥ ३॥

अथातो रेवतीपतिपेधं व्याख्यास्यामः। अश्वगन्धाजशृङ्गी च सारिवा सपुनर्नवा। सहे विदारी च तथा कपायाः सेचने हिताः॥ तैलमभ्यञ्जने कार्यं कुण्डे सज्जरसेऽपि वा। धवाश्वकणककुभ-धातकीतिन्दुकीषु च॥ काकोल्यादिगणे चैव पानीयं सिपंरिप्यते। कुल्रस्थाः शङ्खचूर्णश्च प्रदेहाः सार्व्वगन्धिकाः॥ गृधोलूकपुरीपाणि यवा यवफलो घृतम्। सन्ध्ययोरुभयोः कार्य्यमेतदुद्धूपनं शिशोः॥ वरुणारिष्टकमयं रुचकं सेन्दुकं तथा। सततं धारयेचापि कृतं वा पौत्रजीविकम्॥ श्रृङ्धाः सुमनसो लाजाः पयः शाल्योदनं तथा। विलिनेवेद्यो गोतीयं रेवत्यं प्रयतात्मना॥ सङ्गमे च भिपक् स्नानं कुर्याद् धात्रीकुमारयोः। नानावस्रधरा देवी चित्रमाल्यानुलेपना॥ चलत्-कुण्डलिनी दमामा रेवती ते प्रसीदतु। लम्बा कराला विनता तथैव वहुपुत्रिका। रेवती सततं माता सा ते देवी प्रसीदतु॥ ४॥

अथातः पूतनाप्रतिषेधं व्याख्यास्यामः। कपोतवक्तारलको वरुणः पारिभद्रकः। आस्फोताञ्चेव योज्याः स्युर्वालानां परिपेचने। वचा वयःस्था गोलोमी हरितालं मनःशिला॥ कुष्टं सज्जरसञ्चेव तैलार्थं वर्ग इप्यते। हितं घृतं तुगाक्षीर्थ्यां सिद्धं मथुरकेषु च॥ कुष्टतालीशखदिरं चन्दनस्यन्दने तथा। देवदारु वचा हिङ्कु कुष्टं गिरिकदम्बकः॥ एला हरेणवश्चापि योज्या उद्धूपने सदा। गन्धनाकुलिकुम्भीका-मज्जानो वदरस्य च॥ कर्यटास्थि घृतञ्चेव धूपनं सपेपैः सह। काकादनीं चित्रफलां विम्वीं गुज्जाश्च धारयेत्॥ मत्स्यौदनश्च कुर्व्वात कुश्चरां पल्छं तथा। शरावसम्पुटे कुला विख्यं शृत्यग्रहे हरेत्॥ उच्छिष्टेनाभिषेकेण शिरिस स्नानिष्यते। पूज्या च पूतना देवी वलिभिः सोपहारकैः॥ मलिनाम्बरसंबीता मलिना रक्षमुद्धेजा। शृत्यागाराश्रिता देवी दारकं पातु पूतना॥ दुदर्जना सुदुगेन्धा कराला मेवकालिका। भिन्नागाराश्रया देवी दारकं पातु पूतना॥ दुदर्जना सुदुगेन्धा कराला मेवकालिका। भिन्नागाराश्रया देवी दारकं पातु पूतना॥ पूर्

अथातोऽन्धपूतनामितपेधं व्याख्यास्यामः। तिक्तकदुमपत्राणां कार्यः काथोऽवसेचने। सुरा सौवीरकं कुप्ठं हरिताळं मनःशिला। तथा खर्जिरसञ्चेव तैलाधमुपदिश्यते।। पिष्पल्यः पिष्पलीमूलं वर्गो मधुरको मधु। शालपणी वृहत्यो च वृतार्थमुपदिश्यते।। सन्वंगन्धेः प्रदेहश्च गात्रेष्वक्ष्णोश्च शीतलैः। पुरीषं कौक्कटं केशांश्चम्मे सपेलचं तथा।। जीर्णाञ्च भिक्षुमङ्घाटीं धपनायोपकलपयेत्। कुक्कुटीं मक्कटीं शिम्नीमनन्ताञ्चापि धारयत्।। मांसमामं तथा पकं शोणितश्च चतुष्पथे। निवेद्यमन्तश्च यहे शिशो रक्षानिमित्ततः।। शिशोश्च स्त्रपनं कुट्यीत् सन्वंगन्धादिकैः शुभैः। कराला पिङ्गला मुण्डा कपायाम्बरवासिनी।। देवी वालमिमं भीता संरक्षलन्ध-पूतना।। ६।।

अथातः शीतपूतनाप्रतिपेधं व्याख्यास्यामः। किप्तथं मुबहां विस्त्रीं तथा विखं प्रतीवलाम्। नन्दीं भरलातकीश्चापि परिपेकं प्रयोजयत्॥ वस्तमूत्रं गवां मूत्रं मुस्तश्च सुरदार च। कुप्टश्च सर्व्यगन्धांश्च तैलार्थमवचारयत्॥ रोहिणीस्वर्जलिदर-पलाशककुपस्तवः। निःकाथ्य तस्मिन् निःकाथे सक्षीरं विपचेद् घृतम्॥ मृश्रोलृकपुरीपाणि वस्तगन्धामहेस्तवः। निम्वपत्राणि मधुकं धूपनार्थे प्रयोजयत्॥ धारयदिष लम्बाश्च मुश्जां काकादनीं तथा। नद्यां सुद्गकृतिश्चान्तेस्तप्यंच्लीतपूतनाम्॥ देव्यै देयश्चोपहारो वारुणी रुधिरं तथा। जलाशयान्ते वालस्य स्त्रपनश्चोपदिश्यते॥ मुद्गौदनाशना देवी सुराशोणितपायिनी। जलाशयालया देवी पातु लां शीतपूतना॥ ७॥

अथातो सुखमण्डिकापितपेधं व्याख्यास्थामः। किपित्थिविह्वतकिरी-वांशीगन्धव्वहस्तकाः। कुवेराक्षी च योज्याः स्युवीलानां परिपचने॥ स्वरसिभु कृष्टक्षाणां तथाजहरिगन्धयोः। तेलं वसाश्च संयोज्य पचेदभ्यञ्जने शिशोः॥ मधूलिकायां पयसि तुगाक्षीर्य्यां गणे तथा। मधुरे पश्चमूले च कनी-यसि धृतं पचेत्॥ वचा सज्जरसः कुण्ठं सिपिश्चोद्धूपने हितम्। धारयेदिषि जिह्यश्च चापचीरिष्टिसपीजाः॥ वर्णकं चूर्णकं माल्थमञ्जनं पारदं तथा। मनःशिलाश्चोपहरेद्रोष्टमध्ये विलं तथा॥ पायसं सपुरोडाजं वल्यथीमुपहारयेत्। मञ्जपूताभिरिद्धश्च तत्रैव स्त्रपनं हितम्॥ अलङ्कृता रूपवती सुभगा काम-रूपिणी। गोष्टमध्यालयरता पातु तां सुखमण्डिका॥ ८॥

अथातो नैगमेयमितिपेशं व्याख्यास्यामः। विट्वासिमन्थपूर्तीकाः कार्याः स्युः परिषेकश्च शस्यते।। पियङ्गु-स्युः परिषेचने। सुरासौबीरधान्याम्छैः परिपेकश्च शस्यते।। पियङ्गु-सरलानन्ता-शतपुष्पाकुटल्दैः। पचेत् तैलं सगोमूत्रैदिधिमस्त्यस्लका जिकैः।। पश्चमूलद्वयकाथे क्षीरे मधुरकेषु च। पचेद् ष्टृतश्च मेधावी खर्ज्यूरी- मस्तकेऽपि च ।। वचां वयः स्थां गोलोमीं जिटलां वापि धारयेत् । उत्सादनं हितश्चात्र स्कन्दापसारनाशनम् ।। सिद्धार्थकवचाहिङ्गु-कुष्टञ्चैवाक्षतैः सह । भलातकाजमोदाश्च हितप्रद्धूपनं शिशोः ।। मर्कटोल्क्रग्रधाणां पुरीपाणि नवग्रहे । धूपः स्रमे जने कारयो वालस्य हितमिच्छता ।। तिलतण्डुलकं माल्यं भक्ष्यांश्च विविधानपि । सुमारपित्रमेपाय द्रक्षम् ले निवेदयेत् ।। अधस्ताद् वटदृक्षस्य स्नपनश्चोपदिश्यते । विलं न्यग्रोधम्लेषु तिथौ पष्टगां निवेदयेत् ।। अजाननश्चलाक्षिभुः कामरूपी महायशाः । वालं पालियता देवो नैगमेयोऽभिरक्षतु ॥ ९ ॥

· अथातो ग्रहाणाम्रुतुपत्तिं व्याख्यास्यामः। नव स्कन्दादयः शोक्ताः वालानां य इमे ग्रहाः। श्रीमन्तो दिन्यवपुषो नारीपुरुपविग्रहाः॥ एते ग्रहस्य रक्षार्थं कृत्तिकोमाग्निशुलिभिः। सृष्टाः शरवणस्थस्य रक्षितस्यात्मतेजसा।। स्त्रीविग्रहा ग्रहा ये तु नानारूपा मयेरिताः। गङ्गोमाकृत्तिकानाश्च ते भागा राजसा मताः।। नैगमेयस्त पार्व्वत्या सृष्टो मेपाननो ग्रहः। कुमारंधारी देवस्य गुहस्यात्मसमः सखा ॥ स्कन्दापस्मारसंबो यः सोऽग्निनाग्निसमद्वातिः। स च स्कन्द्सखा नाम विशाख इति चोच्यते।। स्कन्दः सृष्टो भगवता देवेन त्रिपुरारिणा। विभक्ति चापरां संज्ञां कुमार इति स ग्रहः।। वाललीलाधरो योऽयं देवो रुद्राग्निसम्भवः। मिथ्याचारेषु भगदान् स्वयं नैप पवर्तते॥ कुमारः स्कन्दसामान्याद्त्र केचिदपण्डिताः। यृह्णातीत्यरपविज्ञाना ब्रुवते देहचिन्तकाः।। ततो भगवति स्कन्दे सुरसेनापतौ कृते। उपतस्थुग्रहाः सर्वे दीप्तशक्तिधरं गृहम्।। ऊचुः पाञ्जलयश्चैनं रुक्तिं नः संविधत्स्य वै। तेषामर्थे ततः स्कन्दः शिवं देवमचोदयत्।। ततो ग्रहांस्तानुवाच भगवान् भगनेत्रहत्। तिर्ध्यग्योनिं मानुपश्च दैवश्च त्रितयं जगत्। परस्परोपकारेण वर्त्तते धार्य्यतेऽपि च।। देवा मनुष्यान् शीणन्ति तिर्य्यग्योनींस्तथैव च। चत्तमानैर्यथाकालं शीतवर्षोष्पमारुतैः ॥ इज्याञ्जलिनमस्कार-जपहोमव्रताः दिभिः। नराः सम्यक् प्रयुक्तेश्व प्रीणन्ति त्रिदिवेश्वरान् ॥ भागधेर्यं विभक्तञ्च शेषं किञ्चित्र विद्यते। तद् युष्माकं शुभा दृत्तिवालेष्वेव-भविष्यति॥ कुलेषु येषु नेज्यन्ते देवाः पितर एव च । बाह्मणाः साधवश्चैव गुरवोऽतिथयस्तथा ॥ निवृत्ताचारशौचेषु परपाकोपभोजिषु। उच्छिन्नविशिक्षेषु भिन्नकांस्योप-भोजिए।। गृहेपु तेषु ये वालास्तान् गृह्गीध्वमशङ्किताः। तत्र वो विपुला वृत्तिः पुजा चैव भविष्यति ॥ एवं ग्रहाः संग्रुत्पन्ना वालान् गृह्णित चाप्यतः।

ग्रहोपसृष्टा वालास्तु दुश्चिकित्स्यतमा मताः॥ वैकर्वं मरणञ्चाशु ध्रुवं स्कन्दग्रहे मतम्। स्कन्धग्रहोऽत्युग्रतमः सर्व्वेष्वेव यतः स्मृतः॥ अन्यो वा सर्व्वरूपस्तु न साध्यो ग्रह उच्यते ॥ इति ।

अथ रावणकृतकुमारतन्त्रे नन्दाप्रभृतिद्वादशमातृका वालग्रहा उक्ताः प्रतिकाराश्च तासाम्। तद् यथा-प्रथमे दिवसे मासि वर्षे वा गृहाति नन्दा नाम मातृका। तया गृहीतमात्रस्य प्रथमं भवति ज्वरः। अशुभशव्दं मुञ्जत्यात्कारश्च भवति स्तन्यं न गृह्णाति। विछं तस्याः प्रवक्ष्यामि येन सम्पद्यते शुभम्। नदुरभयतटमृत्तिकां गृहीला पुत्तिकां कृला शुक्तभक्तं शुक्कपुष्पं सप्त ध्वजाः सप्त पदीपाः सप्त स्वस्तिकाः । सप्त शष्कुलिकाः सप्त जम्बुड़िका गन्धं धृपं ताम्बुलं मत्स्यं मांसं सुरामग्रभक्तश्च पूर्वस्यां दिशि चतुष्पर्धे मध्याह्रे वलिद्रीतन्या । अश्वत्थपत्रं कुम्भे प्रक्षिप्य वालं शान्तुप्रद-केन स्नापयेत्। रसोनसिद्धार्थमेपशृङ्गनिस्वपत्रशिवनिम्मल्यैर्वाळं धूपयेत्। अनमों रावणाय हन हन गुश्च गुश्च स्वाहा । चतुर्थे दिवसे ब्राह्मणान् भोजयेत्, ततः सम्पद्यते शुभम् । १। द्वितीये दिवसे मासे वर्षे वा गृहाति सुनन्दा नाम मातृका । तया गृहीतमात्रस्य प्रथमं भवति ज्वरः । चक्षुरुन्मीलिति गात्रमुद्देजयित न होते झन्द्ति स्तन्यं न गृह्णात्यात्कारश्च भवति। वर्लितस्य प्रवक्ष्यामि येन सम्पद्यते शुभम् । तण्डुलं हस्तपृष्टिकं गृहीला द्धिगुड्घृतमिश्रितं शरावैकं गुन्धं तास्त्रूलं पीतपुष्पं पीतसप्तध्यजाः चलारः भदीपा दश स्वस्तिकाः मत्स्यमांससुरातिलचूर्णश्च पश्चिमस्यां दिशि चतुष्पथे वलिर्देयः, दिनानि त्रीणि सन्ध्यायाम् । ततः ज्ञान्त्युदकेन स्नापयेत् । ज्ञिवनिम्माल्यसिद्धार्थ-मार्ज्ञारलोमोज्ञीरकवालकघृतैध्पं दद्यात्। अ नमो रावणाय हन हन मुख्य मुख्य हूं फट् स्वाहा। चतुर्थे दिवसे ब्राह्मणान भोजयेत्, ततः सम्पद्यते शुभम् । २। तृतीये दिवसे मासे वर्षे वा गृह्णाति पूतना नाम मातृका । तया मृहीतमात्रस्य प्रथमं भवति ज्वरः। गात्रमुद्देजयति स्तन्यं न मृहाति मुर्ज्यं वञ्चाति ऋन्द्त्यदुः निरीक्षते। विलंतस्य मवक्ष्यामि येन सम्पद्यते शुभम्। नदुरभयतटमृत्तिकां गृहीला पुत्तलिकां कृता गन्धं ताम्बूछं रक्तपुष्पं रक्तचन्दनं रक्तसप्रध्वजाः सप्त पदीपाः सप्त स्वस्तिकाः पक्षिमांसं सुराग्रभक्तञ्च दक्षिणस्यां दिश्यपराह्ने चतुष्पथे वलिदेंयः। निम्मिल्यसपीपगुगुछिनिम्बपत्रमेपशृङ्गैर्दिनत्रयं धूपयेत्। अ नमो रावणाय इन इन मुश्च मुश्च त्रासय त्रासय स्वाहा। चतुर्थे दिवसे त्राह्मणान्

भोजयेत्, ततः सम्पद्यते शुभम्। ३। चतुथ दिवसे मासे वर्षं वा ग्रह्माति मखमण्डतिका नाम मातका । तया गृहीतमात्रस्य प्रथमं भवति ज्वरः । नमयति चक्षरून्मीलति स्तन्यं न गृह्णाति रोदिति स्विपति मृष्टिं बधाति। विं तस्य पवक्ष्यामि येन सम्पद्यते शुभम्। नदुप्रभयतटमृत्तिकां गृहीला कृत्वोतुपलपुष्पगन्धताम्ब्रुलं द्श ध्वजाश्चलारः त्रयोदश स्वस्तिका मतस्यमांससुराग्रभक्तश्चोत्तरस्यां दिश्यपराह्ने चतुष्पथे अ नमो रावणाय इन इन मुश्च मुश्च स्वाहा। चतुर्थे दिवसे ब्राह्मणान् भोजयेत्, ततः सम्पचते शुभम् । ४ । पश्चमे दिवसे मासे वर्षे वा गृह्णाति कटपूतना नाम मातृका। तया गृहीतमात्रस्य प्रथमं भवति ज्वरः। गात्रमुद्देजयति स्तन्यं न युद्धाति मुष्टिश्च वश्चाति। विलंतस्य प्रवक्ष्यामि येन सम्पद्यते थुभम् । कुम्भकारचक्रमृत्तिकां मृहीला पुत्तलिकां कृला गन्धं ताम्बूलं शुक्रीदनं शुक्रपुष्पं पश्च ध्वजाः पश्च पदीपाः पश्च वटकाः ऐशान्यां दिशि वलिदेंयः। शान्त्युद्केन स्त्रापयेत्। शिवनिम्मोल्यसर्प-निम्मोकगुग्गुलुनिम्वपत्रवालकघृतैधूपं दद्यात्। अ नमो रावणाय चूर्णय चुणंय स्वाहा । चतुर्थे दिवसे ब्राह्मणान् भोजयेत् । ततः सम्पद्यते शुभम् । ५ । .पष्डे दिवसे मासे वर्षे वा गृहाति शकुनिका नाम मातृका। तया गृहीत-मांत्रस्य प्रथमं भवति ज्वरः। गात्रभेदश्च दर्शयति दिवा रात्रावुत्थानं भवत्यू हुँ निरीक्षते । वर्ष्टिं तस्य प्रवृक्ष्यामि येन सम्पद्यते शुभम् । पिष्टकेन पुत्तलिकां कृता शुक्कपुष्पं रक्तपुष्पं पीतपुष्पं गन्धं ताम्बूळं दश पदीपाः। पीतद्वशध्वजाः दश स्वस्तिका दश वटकाः क्षीरजम्बुड्का मत्स्यमांससुराग्र-भक्तञ्चाग्नेय्यां ग्रामनिष्कान्ते मध्याह्रे वर्ष्टि द्यात् । शान्त्युद्केन स्तापयेत । शिवनिम्मोल्यरसोनगुगगुलुसपैनिम्मौकनिम्वपत्रघृतैधे पयेत । अ नमो रावणाय हन हन मुश्च मुश्च स्वाहा। चतुथ दिवसे ब्राह्मणान भोजयेत, ्ततः सम्पद्यते शुभम्। ६ । सप्तमे दिवसे मासे वर्षे वा गृह्णाति शुष्करेवती नाम मातका। तया गृहीतमात्रस्य प्रथमं भवति ज्वरः। गात्रमुद्देजयति मुख्टिं वधाति रोदिति। वर्ष्टिं तस्य प्रवक्ष्यामि येन सम्पद्यते शुभम् । रक्तपुष्पं शुक्लपुष्पं गन्धं ताम्बूलं रक्तीदनं कृशरां त्रयोदश स्वस्तिकास्त्रयोदश शक्क्रिका जम्बुडिकाः। मत्स्यमांससुरास्रयोदश रक्तध्वजाः पदीपाः पश्चिमदिशि ग्रामनिष्कामेऽपराह्वे रक्षमाश्रित्य वर्छि शान्त्युदकेन स्नापनं गुग्गुलुमेपशृङ्गसपेपोशीरवालकपृतैर्धूपयेत्। अ

नमो रावणाय दीप्ततेजसे हन हन मुश्च मुश्च स्वाहा। चतुर्थे दिवसे ब्राह्मणान भोजयेत्। ततः स्वस्थो भवति वालकः। ७। अष्टमे दिवसे मासे वर्षे वा ग्रह्मात्यारयका नाम मातृका। तया ग्रहीतमात्रस्य प्रथमं भवति ज्वरः। गृध्गन्धः पूतिगन्धश्च जायते आहारश्च न गृह्णाति उद्वेजयति गात्राणि । वर्छि तस्य भवक्ष्यामि येन सम्पद्यते शुभम्। र्क्कपीतध्वजाश्चन्दनं पुष्पं शब्कुल्यः पर्पटिकाः मन्स्यमांसजम्बुङ्काः सुराः प्रत्यूषे वस्त्रिद्यः। अ रावणाय त्रैलोक्यविद्रावणाय चतु हिंशमोक्षणाय ज्वल ज्वल हम हम दह दह उ॰ हीं फ़ुट् फट् स्वाहा। चतुर्थे दिवसे बाह्मणान् भोजयेत्, ततः सम्पद्यते शुभम् । ८। नवमे दिवसे मासि वर्षे वा युद्धाति स्रतिका नाम मात्का। तया यहीतमात्रस्य नित्यं छिईभेवति गात्रभङ्गं द्र्ञेयति मुिंदं वभाति मथमं भवति ज्वरः। स्वापो भवति । वर्छि तस्य प्रवक्ष्यामि येन सम्पद्यते शुभम् । नदुरभयतट-मृत्तिकां गृहीला पुत्तिकां कुला शुक्कवस्त्रेणावेष्ट्येत्। शुक्कपुष्पं गन्धं ताम्बूळं शुक्कत्रयोदश ध्वजाः त्रयोदश प्रदीपाः त्रयोदश स्वस्तिकाः। त्रयोदश पूपिकाः त्रयोदश मत्स्यपोलिका मत्स्यमांससुरा उत्तरदिग्भागे ग्रामनिष्कामे वलिद्शितव्यः। शान्त्युदकेन स्नापयेत्। गुगगुलुनिम्बपत्र-गोश्करवेतसपेपष्टतैधू पयेत्। अ नमो रावणाय चतु भ्री जाय हन हन स्वाहा। चतुर्थे दिवसे ब्राह्मणान् भोजयेत्। ततः स्वस्थो भवति वालकः। ९। दशमे दिवसे मासे वर्षे वा गृहाति निऋता नाम मातृका! मात्रस्य प्रथमं भवति ज्वरः। गात्रमुद्देजयति आत्कारश्च भवति रोदिति सूत्रं पुरीपश्च भवति। विलंतस्य प्रवक्ष्यामि येन सम्पद्यते शुभम्। पारा-गृहीला पुत्तिकां कृला गन्धं ताम्बूछं रक्तपुष्पं वारमृत्तिकां रक्तचन्द्रनं पञ्च वर्णाः पञ्च ध्वजाः पञ्च पदीपाः पञ्च स्वस्तिकाः पञ्च पूपिकाः .मत्स्यमांससुरा वायव्यां दिशि विछं दद्यात्। काकविष्ठागोमांसगोश्रङ्ग-रसोनमार्जारलोमनिस्वपत्रघृतैधू पयेत् । अन्नमो रावणाय चूर्णितहस्ताय मुश्र मुश्र खाहा। चतुर्थे दिवसे ब्राह्मणान् भोजयेत्, ततः सम्पद्यते शुभम्। १०। एकादशे दिवसे मासे वर्षे वा गृह्णाति पिलिपिछिका नाम मातृका। तया गृहीतमात्रस्य प्रथमं भवति ज्वरः। आहारं न गृह्णात्यूद्ध दृष्टिभेवति आत्कारश्च भवति। विछं तस्य प्रवक्ष्यामि येन सम्पद्यते शुभम् । पिष्टकेन पुत्तिकां कुला रक्तचन्दनरक्तां तस्या ग्रुखं दुग्धेन सेचयेत्। पीतपुष्पं गन्धं ताम्बूळं पीतसप्तध्वजाः सप्त प्रदीपा अष्टी बटका अष्टी शब्कल्यो मत्स्य-

† रोगे त्वरोगवृत्तम् आतिष्ठेद् देशकालात्मग्रणविपर्थ्ययेगा वर्त्तमानः। क्रमेणातात्म्यानि परिवर्त्योपयुञ्जानः सर्व्वागयहि-तानि वर्ज्ञयन् तथा वलवर्णश्रीरायुषां सम्पदमान्नोतीति ॥ ५७

मांससुराः पूर्वस्यां दिशि विलं दद्यात्। शान्त्युदकेन स्नापनं, शिवनिम्माल्यगुग्गुलुगोशृहसपंनिम्मोकष्टतैर्धूपयेत्। अन्मो रावणाय मुश्च
मुश्च स्वाहा। चतुर्थे दिवसे बाह्मणान् भोजयेत्, ततः सम्पद्यते शुभम्।११।
द्वादशे दिवसे वपं वा गृह्णाति कामुका नाम मातृका। तया गृहीतमात्रस्य
भथमं भवति ज्वरः। विहस्य वाद्यति करेण तज्जीयति गृह्णाति कामयति
निश्वसिति मुहुर्म्मुहुः। आहारं न करोति कुश्चताऽस्य च भवति। विलं
तस्य भवस्यामि येन सम्पद्यते शुभम्। क्षीरेण पुत्तिलकां कृता गन्धं
ताम्बूलं शुक्रपुष्पं शुक्तसप्त्रभ्वजाः सप्त भदीपाः सप्त शक्कुलिकाः करम्भकेण
विलं द्वात्। शान्त्युदकेन स्नापयेत्। शिवनिम्मोल्यगुग्गुलुसपंनिम्मोकसप्पष्टतैधूपयेत्। अन्मो रावणाय मुश्च मुश्च हन हन स्वाहा। चतुर्थे दिवसे
वाह्मणान् भोजयेत्, ततः सम्पद्यते शुभम्।१२।इति रावणकृतकुमारतन्त्रम्।

नन्वेवंविधिना लारोग्ये सित कि विधेयमित्यत आह—रोगे लिल्यादि। अरोगट्टचं स्वस्थट्टचम् उक्तं यावत् तावदातिष्ठेत्। नद्ध यस्यानायुष्याणि सात्म्यानि तस्य स्वास्थ्यट्टचास्थानं कथं स्यादित्यत आह—देशेत्यादि। देशस्य गुणतः कालस्य गुणतः आत्मनश्च गुणतो विषय्ययशालिष्वाहाराचारादिषु वर्चमानः शिशुः। नन्वेवं वर्चमानः शिशुः कि कुर्व्यादित्यत आह—क्रमेणेत्यादि। क्रमेण परिवर्त्य देशगुणविषरीतान कालगुणविषरीतान् आत्मगुणविषरीतांश्च आहारविहारादीन् क्रमेण त्यक्तवा सात्म्यानि देश-कालात्मगुणसमानि उपयुद्धानः सन् अहितानि वर्ज्यंश्च सन् तथा उक्त-प्रकारवलवर्णशरीरायुषां सम्पदम् आमोति।। ५७॥

करोतीति बाह्नरम् । देशकालेत्यादौ 'आत्म'शब्देन शरीरमुच्यते, तेन देशस्य तथा कालस्य शरीरस्य च यो गुणः शीतादिः । शुद्धिपरिहाराचारादिसेवायां वर्रमानः स्वस्थवृत्तं कुट्यीत् । अन्यत्रापि स्वस्थवृत्ते शोक्तम्, — देशकालादिगुणविषशीताहारविहाराः सात्म्या भवन्तीति । क्रमेण नवेगान्धारणीयोक्तेन ''उचितादिहताद् भीमान् क्रमशो विश्मेन्नरः'' इत्यादिस्वस्थवृत्तोक्तेन

^{🔭 🕆} अशीगेष्यशोगवृत्तमिति चकाः । 🐪

एवमेनं कुमारम् आ यौवनप्राप्तेर्धम्मार्थकौशलागमनादन्-पालयेत् । इति पुत्राशिषां समृद्धिकरं कम्मे व्याख्यातम् । तदाचरन् यथोक्तेर्विधिभिः पूजां यथेष्टं लभनेऽनसूयकः इति ॥ ५८॥

तत्र श्लोकौ।

पुत्राशिषां कार्म समृद्धिकारकं यद्थंमेतन्महद्थंसंहितम् । तदाचरन् ज्ञो विधिभियंथातथं पूजां यथेष्टं लभतेऽनस्यकः ॥

गङ्गाधरः—नन्वेवमातिष्ठेत् कियन्तं कालमित्यत आह—एवमेनमित्यादि । एवमुक्तप्रकारेण एनं सुमारम् आ यौवनप्राप्तेः पोड़शाब्दायुःप्रमाणपूर्त्ति-प्रयोन्तमसुपालयेत् । कस्मादित्यत आह—धर्मोत्यादि । धर्मार्थयोः विषययोः साधनाय यत् कौशलं तस्यासुपगमः गैशवे । तस्माद् आ यौवनप्राप्तेरेवमेनं सुमारमसुपालयेदिति भावः । अध्यायमुपसंहरति—इति पुत्राशिपामित्यादि । पुत्रस्य आशिषाम् आशासनानां शुभवाञ्छानां समृद्धिः सत्फलं तत्करम् । तदाचरन् तत् पुत्राशिपां समृद्धिकरं कर्माचरन् पुरुषः यथोक्तरुक्तिविधमनित-क्रम्याचरन् अनस्यको लोके परानस्यकः पूजां मानमर्थ्यादिकां यथेष्टां स्वाभिलपतां लभते । इति सत्पुत्रलाभफलम् ॥ ५८ ॥

गङ्गाथरः—एतमर्थं श्लोकेनाह—तत्र श्लोकावित्यादि । अर्थसंहितं प्रयोजन-सहितं महदेतत् पुत्राशिषां समृद्धिकारकं क्रम्मे यदर्थं भवति, विधिभिः उक्तविधानैस्तत् कम्मीचरनस्यारहितो हाः पण्डितो ययायथं यथायोग्यं

क्रमेणोपयुक्षान इत्यर्थः । तथा वस्त्वन्तरसात्म्यसेवायामपि वालक्ष्मेवमेव भवतीति व्याख्यानम् । स्वस्थवृत्ताचरणफलमाह—तथेत्यादि ॥ ५५— ५७ ॥

चक्रपाणिः पुत्राशिषां समृद्धिकरिमिति पुत्रप्रार्थनानुरूपफलकरिमत्यर्थः । पुत्राशिषा-मित्यध्यायार्थसं प्रहश्लोकः । 'ज्ञः' इति पुरुपविशोपणं प्राधान्यात् कृतम् । तेन पूजामेव लभते, श्रीरं चिन्त्यते सर्वं दैवमानुषसम्पदा ।
सर्व्वभावेर्यतस्तस्माच्छारीरं स्थानमुच्यते ॥ ५६ ॥
इत्यन्निवेश्कृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शारीरस्थाने
जातिस्त्रीयं शारीरं नाम अष्टमोऽध्यायः ॥ ५ ॥
इत्याचार्य्यचरकमुनिविरचितायां संहितायां शारीरस्थानकं
चतुर्थं समाप्तम् । शारीरस्थानमेकपिएडेन श्लोकानाम्
एकोनपञ्चाशदुत्तराणि नवशतानि । अङ्कोन ६४६ ।

इति शारीरस्थानम् ॥ ४ ॥

यथेष्टं स्वाभिलिपतां पूजां लभते इत्यर्थः। अथास्य स्थानस्य शारीरस्य निरुक्तिपाह—शरीरिमत्यादि। यतो यस्माछेतोः सर्व्वभावैर्महदहङ्कारादिभि-विशिष्टं दैवमानुषसम्पदा च विशिष्टं शरीरं सर्व्व चिन्त्यते तस्माछेतोः शारीरस्थानमुच्यते। दैवसम्पद्सतु शरीरे परमात्मादिकाः। मानुषसम्पदस्तु प्रस्पकारादिकाः॥ ५९॥

अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि । जातिसूत्रीयं नाम शारीरं कौमारभृत्य तन्त्रं स्थानं समापयति—इत्याचार्यत्यादि ।

इति वैद्यश्रीगङ्गाधरकविराजकविरत्नविरचिते चरकजलपकल्पतरौ चतुर्थस्कन्धे शारीरस्थानजलपे जातिसूत्रीयशारीरजलपाख्याष्ट्रमी शाखा ॥ ८ ॥

इति चरकजलपकलपतरौ शारीरस्थानजलपश्रतुर्थस्कन्धः ॥ ४ ॥

्र पुत्रस्यात्यन्तप्राधान्यं वहतीत्यनसूयकः । शारीरस्थानशब्दव्युत्पत्तिदर्शकं श्लोकं पटन्ति—शरीर-मित्यादि । तच व्यक्तार्थमेव ॥ ५८।५९ ॥

इति महामहोपाध्याय-चरकचतुरानन-श्रीमचक्रपाणिदत्तविरचितायामायुर्धेददीपिकायां चरक-तात्पर्प्यटीकायां शारीरस्थाने जातिसूत्रीयं शारीरं नाम अष्टमोऽध्यायः ॥ ८॥



इन्द्रियस्थानम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

श्रथातो वर्णस्वरीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः, इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—अथ जातिस्त्रीयं वालानामायुपः परीक्षार्थं लक्षणानि संक्षेपतो व्याख्यातानि, पुनस्तेपामरिष्टलक्षणानि चिकित्सायामुपयोगाय भवन्तीत्यतः शारीरस्थानानन्तरिनिद्धयस्थानमारभते। उक्तं हि सुश्रुतं—"फलाग्निजलदृष्टीनां पुष्पपूमाम्बद्धा यथा। ख्यापपन्ति भविष्यत्वं तथारिष्टानि पश्चताम्। तानि तौक्ष्म्यात् प्रमादाद् वा तथैवाशुव्यतिक्रमात्। शृक्षन्ते नोद्धनान्यश्चिम् यूपेनं ससम्भवात्। ध्रुवन्तरिष्टे मरणं बाह्मणैस्तत् किलामळैः। रसायन-तपो-जप्य-

चक्रपाणिः—शारीरे चिकिरसाधिकरणं शारीरं प्रतिपाद्य चिकित्सा ध्यक्तन्या, सा च साध्यरोगे ज्यक्तन्या नासाध्यरोगे। यदकं "स्वार्थविद्यायशोहानिमुपकोशमसंप्रहम्। प्राप्नुयाप्त्रियतं वैद्यो योऽसाध्यं समुपाचरेत" इति । न च रिष्टप्रतिपत्तिमन्तरा साध्यत्वप्रतिपत्तिरिति रिष्टप्रति-पादकमिन्द्रियस्थानमेव चिकित्सास्थानात् प्रागुच्यते । तस्यान्तर्गस्य लिङ्गं रिष्टाल्यमिन्द्रियम्, यदकं व्याकरणे "इन्द्रियं रिष्टम्" इत्यादि । तस्येन्द्रियस्य स्थानमिन्द्रियस्थानम् । अधापि चेन्द्रियस्थाने वक्तव्ये व्यक्ततमरिष्टाभिधायकतया वर्णस्वरीयमिन्द्रियमुच्यते । अप्र हि यानि रिष्टानि वक्तव्यानि, तानीतररिष्टिभ्यक्षक्षुरादिमाद्यतया व्यक्ततमानि । वर्णस्वराविभक्तत्य कृतो वर्णस्वरीयः ।

मिन्द्रियलिङ्गमिति ॥ १ ॥

इह खलु वर्णरच स्वरश्च गन्धश्च रसश्च स्पर्शश्च चनुश्च श्रोत्रश्च घाण्य रसनश्च स्पर्शनश्च सत्त्वश्च भक्तिश्च शौचश्च तत्परैर्वा निवार्यते। नक्षत्रपीड़ा वहुधा यथा कालाद्विपच्यते। तथै-वारिष्टपाकश्च ब्रुवते वहुधा जनाः। असिद्धिमाप्नुयालोके प्रतिकुद्धेन् गतायुषः। अतो रिष्टानि यत्नेन लक्षयेत् कुशलो भिपक्।।" इति। अधात इत्यादि। अध जातिस्त्रत्रीयानन्तरमतोऽरिष्टलक्षणानां चिकित्सायाम्पयोगात् वर्णस्वरीयं वर्णश्च स्वरञ्चेति परीक्षितुमधिकृत्य कृतोऽध्यायस्तं तथा। इन्द्रियम् इन्द्रः प्राणस्तस्य लिङ्गम् इतीन्द्रियं रिष्टम्। अथवा इन्द्रोऽन्तरात्मा तस्य लिङ्गमिति इन्द्रियं रिष्टमरिष्टमित्यनर्थान्तरम्। व्याकरणे ह्रुक्तिमिन्द्रिय-

गङ्गाधरः—इहेत्यादि। खळुशन्दो न्याक्यालङ्कारे। वणश्चित बुद्धीन्द्रयाणां मध्ये बहुविपयत्वेन चक्षुपः माधान्यात् शीव्रतरग्रहणलाच चाक्षुपभावस्य
परीक्षार्थं पूर्व्वं वर्णश्चेत्युक्तम्। अत्र वर्णशन्देनोपलक्षणात् रौक्ष्याद्यो गृह्यन्ते।
वक्ष्यते ह्यत्रेव वर्णग्रहणेन ग्लानिहर्परौक्ष्यस्नेहा व्याख्याता इति कश्चित्,
तन्नः वर्णस्वरमधिकृत्य ग्लानिहर्परौक्ष्यादेः परीक्ष्यत्वेन निर्देशात्। स्वरश्चेति।
शारीरभावान्तरमपेक्ष्याशुस्वरस्य श्रावणलात् रूपतोऽनाशुग्रहणाद् रूपादनन्तरं
गन्धरसादेः पूर्व्वम्रपादानम्। एवमाशुङ्गानादुत्तरोत्तरेपामनाशुवोधादुपादानं
वोध्यम्। सत्त्वञ्चेति मनः। भक्तिरिच्छा शीलता साहिजकी दृत्ता। शौचं

हुन्द्रियस्य रिष्टरूपस्य प्रतिपादकोऽध्याय इन्द्रियस्तं व्याख्यास्यामः । एवमन्यन्नापि पुष्पितकन् मिन्द्रियमित्याद्यपि इन्द्रियविशेपणं व्याख्येयम् ॥ १ ॥

चक्रपाणिः—इन्द्रियस्थानप्रतिपादं महत्त्वं विषयमाह—इहेत्यादि । इहेन्द्रियस्थाने । 'खलुंशब्दो वानयालङ्कारे । इह यद्यपीन्द्रियाण्येव विषयवणीदिप्राहकतया अप्रे वक्तुं युज्यन्ते, तथापि
तेपामतीन्द्रियत्वेन न तदाश्रयरिष्टानां व्यक्तत्वम् । तेन प्रभ्यक्तानि वर्णादीन्यवेति प्रभ्यक्तरिष्टाधिकरणान्यग्रेऽभिधीयन्ते, वर्णादिप्विष च यथा व्यक्तवं तथा पृर्विनिपातः । मेघादिशव्दस्तु यद्यपि
वर्णादिष व्यक्तस्तथापि शब्दिवशेष एवेह चात्मादिसम्पाद्यः 'स्तर'शब्दाभिधेयो रिष्टाधिकरणत्वेनामिमतः, स च वर्णपेक्षयाऽव्यक्तः एव । इहेत्यादावसमासेन वर्णादीनां प्रत्येकमपि रिष्टाधिकरणत्वं
दर्शयति । समासे हि समुदायस्य रिष्टाधिकरणकत्तया परीक्षितव्यत्वं शङ्कत । वर्णशब्देन च
वर्णसहचरिताश्रक्षग्रीह्या रोक्ष्यादयोऽपि गृह्यन्ते । अत एव वर्णप्रस्ताव एव वक्ष्यति यत् 'वर्णप्रहणेन ग्लानिहर्परोक्ष्यस्नेहा व्याख्याताः' इति । स्वरादिप्रहणेन च स्वराद्यभावोऽपि गृह्यते ।
तेन अङ्गुलिपर्वश्चित्वावाभावगन्धाभावादयो रिष्टान्यववुध्यन्ते । स्पर्शग्रहणेन च स्पर्शोपलभ्य-

शीलञ्चाचारश्च स्मृतिश्च प्रकृतिश्च विकृतिश्चाकृतिश्च मेधा च वलञ्च ग्लानिश्च हर्पश्च रौच्यञ्च स्नेहश्च तन्द्रा चारम्भश्च गौरवञ्च लाघनञ्च गुग्थ ज्ञाहारश्च निहारश्चाहारपरिग्णामश्चोपायश्चापायश्च व्याधिश्च पूर्व्वरूपञ्च वेदनाश्चोपद्रवाश्च छाया च प्रतिच्छाया च श्चिता। शीळं शीलनं सहजरतम्। आचार आचरणं परम्परया शिक्षित-व्यवहारः। स्मृतिः स्मरणम्। प्रकृतिः स्वभावः। विकृतिः सत्त्वशरीरयोः वैक्रत्यम् । आकृतिराकारः शरीरस्य । मेधा धारणावती दुद्धिः । ग्लानिः अहर्षः । तन्द्रा निद्रैव । आरम्भः क्रियासु प्रष्टत्तिः । गौरवं सुरुता धालादीनाम् । लाववं लघुता शरीरस्य । गुणक्चेति शारीरो गुणो मृदुतीक्ष्णशीतोष्णादयः । तत्र प्राधान्यात गौरवलाघवे पृथगुक्ते। आहारइचेति अशितादिचतुर्विधोsभ्यवहारः। विहारो विहरणम्। आचारस्तु शिक्षया व्यवहार उक्तस्तेनास्य भेदः। आहारपरिणामञ्चेत्यभ्यवहृतस्य परिणतिः। उपायो व्याधिमति-काराय यो य उपायस्तत्सौष्ठवासौष्ठवाभ्यां शुभाशुभफलात्। अपायो व्याधे-निवृत्तिः। व्याधिः ज्वरादिव्याधिरेव । वेदनाः सुखदुःखे । छाया देहस्य च्छविः। कार्टिन्याद्यवयोधः। सत्त्वं मनः सत्त्वविकृतेरुदाहरूणम् यथा—''औत् सुवयं मजते सत्त्वं चेतोभिः आविशस्यपि" इत्यादि । भक्तिरिच्छा । शीलं सहजवृत्तम् । आचारः शास्त्रशिक्षाकृतो व्यवहारः । भक्तजाद्यो यद्यपि सत्त्वविकारत्वेन सत्त्वप्रहणेनैव लभ्यन्ते, यदुक्तम्—''भिक्तः शीलं शीचं हु पः स्मृतिर्मोहस्त्यागो मात्सर्यं भयं क्रोधस्तन्द्रोत्साहस्तेक्षणंत्र माईवं गाम्भीर्य्यमनव-स्थितमित्येवमाद्यः सत्त्वविकाराः" इति, तथापि भक्तप्रादीनामपि पृथगरिष्टाधिकरणत्वेन इह पृथक्करणम् । निदादौर्व्यल्यात् तन्द्रेति 'तन्द्रा'शब्देन निद्रोध्यते । अत्र च रिष्टमुक्तम्, यथा-'निदा नित्या भवति न वा" इति । आरम्भ इति अरिष्टन्याध्युत्पादारम्भः । यङ्क्तम्,---''श्वयथुर्यस्य कुक्षिस्थो हस्तपादं प्रधावति'' इत्यादि । गौरवे रिप्टं यथा—''निष्ठ्रतळ पुरीपज रेतश्चाम्मसि मज्जित" इत्यादि । लाघने रिष्टं गुरुणामङ्गानां लाघनं ज्ञेयम्। गुणारिष्टम्, यथा---े''गुणाः शरीरदेशानां शीतोष्णमृदुदारुणाः । विषर्यांसेन लक्ष्यन्ते स्थानेष्वन्येषु तव्विधाः" इति । आहाररिष्टं यथा--''आहारमुपयुक्षानो भिषजा सूपकल्पितम्'' इत्यादि । आहारपरिणामरिष्टं यथा--"दुव्वेलो यहु भुङ्को यः प्राग् भुक्तादन्नमातुरः । अल्पमूत्रपुरीपश्च" इति । उपाय उपगमनं .ह्याधिमेलक इत्यर्थः, यदुक्तम्—"सहसा ज्वरसन्तापस्तृष्णा मूर्च्छा यलक्षयः। विक्लेपणञ्च सन्धीनाम्" इति । व्याध्यपगमनभपायः यदुक्तम्—"यं नरं सहसा रोगो दुर्व्यंलं परिसुञ्जति" इत्यादि । ज्याधिर्चेति ज्याधिरेव रिप्टं यथा—"वाताष्टीला सुसंवृत्ता दारुणा हृदि तिष्ठति" इति । द्वाया भौतिकी पञ्चरुगा। प्रतिच्छाया तु देहछायावत् नेत्रकुमारिकापि प्रतिच्छायारूपापि

खप्नदर्शनञ्च दूताधिकारश्च पथि चौत्पातिकञ्चातुरक्कले भावा-वस्थान्तराणि च सेषजञ्च सेषजप्रवृत्तिश्च सेषजाधिकार-युक्तिश्च, इति परीक्याणि भवन्ति प्रत्यनानुमानीपदेशौरायुषः प्रमाणावशेषं जिज्ञासमानेन भिषजा। तत्र खल्वेपां परी-च्याणां कानिचित् पुरुषानाश्चितानि भवन्ति, कानिचिच पुरुषसंश्चयाणि। तत्र यानि पुरुषानाश्चितानि तान्युपदेशतो युक्तितश्च परीचेत, पुरुषसंश्चयाणि प्रकृतितो विकृतितश्च॥ २॥

प्रतिच्छाया लोके या तु छायेत्युच्यते। दूताधिकारः आतुरस्य चिकित्साथ वैद्यानयनाय यो गच्छति स दूतस्तस्याधिकारस्तद्गतचेष्टादिः। पथि वैद्यस्य तदातुरचिकित्सार्थं गच्छतः पथि उत्पातकरभावदर्शनम्। आतुरक्कले च आतुरस्यामात्यस्वगणेषु शुभाशुभसूचकानि यानि यानि भावावस्थान्तराणि। भेषजं तद्व्याधिहितमौषधम् । भेषजपष्टित्तस्तिस्ति च्याधौ प्रयुक्तस्य भेषजस्य शरीरे प्रवृत्तिः क्रिया। भेषजानामधिकारस्य तद्भेषजस्य स आतुरोऽधिकारी वा न वेति भेपनाधिकारे युक्तिः। इति वर्णादीनि आयुपः प्रमाणावशेपं जिज्ञासमानेन ज्ञातुमिच्छता भिषजा प्रत्यक्षातुमानोपदेशैः परीक्ष्याणि भवन्ति । नन्वेतानि कथं परीक्षितव्यानि भिपजा इत्यत आह—तत्रेत्यादि। एपां वर्णादीनां मध्ये कानिचिद् द्ताधिकारादीनि । पुरुषं यस्यायुपः प्रमाणाव-शेषो जिल्लास्यः तम्। कानिचित् वर्णोदीनि उपदेशतः प्रशादितः युक्तितः अयञ्च च्छायादिभेदः पन्नरूपीयेन्द्रिये दर्शयितन्यः। आतुरकुले भावावस्थारिष्टं ंयथा—''अग्निपूर्णीने पात्राणि भिन्नानि विशिखानि च। भिपङ्सुमूर्पतां वेइम प्रविशन्नेव पश्यति ॥" इत्यादि । भेपजसंबृत्तौ रिष्टं यथा—''यमुद्दिश्यातुरं वैद्यः संवर्त्तयितुमौपधम् । यत-मानो न शक्तोति दुर्लभं तस्य जीवितम्।" भेपजस्य विकारेण समं या युक्तिः, तत्र रिप्टं यथा-"विज्ञातं बहुशः सिद्धं विधिवचावचारितम् । न सिध्यत्यौपधं यस्य तस्य नास्ति चिकित्सितम् ।" ·शेषे बहरिष्टोदाहरणमुक्तम् । इति समाप्तौ । प्रत्यक्षपृब्वंकत्वात् सर्व्वप्रमाणानामिहादौ प्रत्यक्षं ·कृतम् । यद्यपि वर्णाद्यं आयुर्लक्षणप्रतिपादिता दीर्घायुःप्रमाणजिज्ञासायामपि परीक्ष्यन्ते, तथापीह गुणारिष्टप्रकरणे आयुःप्रमाणाविशेषज्ञानार्थमेव परीक्षणीयाः । अत उक्तम्—'प्रमाणविशेषं जिज्ञास-मानेन' इति । पुरुषम् अनाश्रितानि द्ताचाश्रयाणि रिष्टानि । युक्तितश्चेत्यनुमानतः इत्यर्थः ।

अत्र युक्तेरपि रिष्टत्वावधारणे क्षमत्वात् । प्रत्यक्षं हि दूतादीनां स्वरूपमात्रं गृह्णाति, रिष्टन्त

तत्र प्रकृतिर्जातिप्रसक्ता कुलप्रसक्ता च दशानुपातिनी क्ष च कालानुपातिनी च वयोऽनुपातिनी च प्रत्यात्मनियता चेति। एतावज्जातिकुलदशाकालवयः प्रत्यात्मनियता हि तैषां तेषां पुरु-पाणां ते ते भावविशेषा भवन्ति॥ ३॥

तकतोऽनुमानतथ । युक्तवपेक्षो हि तकोऽनुमानं न तकभिन्नम् । मक्ततितः सहजस्त्ररूपतः । विकृतितः सहजस्त्ररूपत्रैपरीत्यतः ॥ २ ॥

गङ्गायरः-प्रकृतिः पोढेल्यभिमायेणाह-तत्र प्रकृतिर्जातिपसक्तेत्यादि। जातिमसक्ता, प्रकृतिर्जातिः ब्राह्मणादिस्ततस्वभावेन या प्रकृतिः प्रसञ्यते सा। क्रलमसक्ता, तत्रापि यत्क्रले जातः प्ररूपस्तद्वंशे जातानां प्ररूपाणां या या प्रकृतिः प्रसक्ता सा । दशानुपातिनी, न्यापत्सम्पदात्र्य्योनात्र्य्योदिषु दशास यस्यां दशायां या प्रकृतिः सम्पत्ति यादशरूपेण तदनुरूपेण या दशा पंतति सा दशानुपातिनी । कालानुपातिनी, यस्मिन् काले वसन्तादौ कृत-युगादौ च यादशरूपेण प्रकृतिः पतति तद् नुरूपेण पतनशीला प्रकृतिः कालानुपातिनी। वयोऽनुपातिनी, यस्मिन् वयसि शिशुवालपौगण्डिकशोर-युवमध्यष्टद्धान्यतमस्मिन् पतनशीला या प्रकृतिस्तद् नुरूपेणैतस्मिन् वयसि पतन-शीला प्रकृतिवयोऽनुपातिनी । प्रत्यात्मनियता, प्रत्येकपुरुपे नियता या प्रकृतिः सा प्रत्यात्मनियता। ते ते भावविशेषाः तेषां तेषां प्ररूपाणां ये ये वर्णादयस्ते ते भावविशेषाः एतावत्सु जातिकुलदशाकालवयःभत्यात्मसु नियताः। हि यस्मात् वर्णादयः शौचादयश्च भावाः पुरुपाणां जातिनियताश्च भवन्ति, कुल-दुतादीनामागमादेव ज्ञायते । पुरुषाश्रयिवर्णादिगतरिष्टग्रहणे तु प्रत्यक्षमपि तत्तद्रिष्टविद्रोप-ग्रहणे तत्तदविशेषेण व्याप्रियत इति मत्वा तत् प्रतिपिद्धम् । अनुमानन्तु रिष्टत्वेन प्रति-पादितमनिमित्तत्वादिति धर्माविचारे व्याप्रियते। एवं सर्व्यत्र। प्रकृतितर्वेति विकृतिज्ञान-हेत्त्तया प्रकृतिरिष्ट्ञाने व्याप्रियते, यत् प्रकृतिज्ञानाधीनं विकृतिविज्ञानं भवति । परीक्षा त्वन्नाधि-कृता प्रसिद्धेः प्रत्यक्षादिभिरेव ज्ञेया ॥ २ ॥

चक्रपाणिः—प्रकृतिं विभजते—तत्रेत्यादि । जातिप्रसक्ता यथा—व्राह्मणजातौ शौचम् । कुलप्रसक्ता यथा—किञ्चिनेव कुलं शुच्याचारवद् भवति । देशानुपातिनी यथा—अन्तर्वेदिवासिनः शुचयो भवन्ति । कालानुपातिनी यथा—कृतयुगे शौचम् । वयोऽनुपातिनी यथा—वाल्ये-ऽशौचम् । प्रत्यात्मनियता यथा—कश्चिदेव पुरुषः प्रकृतया शुचिर्भवति इत्याद्वादाहरणीयम् ।

^{*} देशानुपातिनीति चकः।

विकृतिः पुनर्लच्णनिमित्ता च लच्यनिमित्ता च निमित्तानु-रूपा च। लच्यमिति ताविन्निमित्तानुमानम्। तत्र लच्णनिमित्ता नाम सा यस्याः श्रीरे लच्णान्येव हेतुभूतानि भवन्ति। लच्-णानि हि कानिचिच्छरीरोपनिवद्धानि। यानि तस्मिंस्तिसम् काले

नियताश्च भवन्ति, दशानियताश्च भवन्ति, कालनियताश्च भवन्ति, वयोनियताश्च भवन्ति, प्रत्येकपुरुपनियताश्चैव भवन्ति नान्यनियताः। तस्मात् जाति-भसक्तादिः पोढ़ा प्रकृतिः॥ ३॥

गङ्गाधरः—विकृतिं विदृणोति स्वरूपतः—विकृतिरित्यादि। शरीरगतरेखाचक्रशङ्खादिचिद्गं तिज्ञिमित्तं यस्याः सा लक्षणिनिमित्ता विकृतिः। लक्ष्यं निमित्तैरनुमीयते यत् तल्लक्ष्यं च्याध्यादिकम्, तिन्निमत्तं यस्याः सा लक्ष्यनिमित्ता विकृतिः। व्याधितो हि सत्त्वशरीरयोविकृतिभेवति। निमित्तानु-रूपेति । निमित्तेन यत् क्रियते तत् क्रियते यया विकृत्या सा विकृतिर्निमित्तानु-रूपा। ननु रेखादिलक्षणेन यल्लक्ष्यते शुभाशुभं तदत्र किं लक्ष्यमित्यतः स्वयं विष्टणोति - लक्ष्यमित्यादि। निभित्तानुमानं कारणेनानुमानं यस्य तिनिभित्तानु-मानं व्याध्यादिकं ताब्छक्ष्यम्। न तु लक्षणरेखादिभिर्लक्ष्यं शुभाशुभमत्र लक्षणनिमित्तादिविकृतित्रयं क्रमेण भाष्येण विवृणोति --विवक्ष्यते । तत्रेत्यादि। शरीरे लक्षणान्येव शहाङ्कुशादिरेखादिकानि चिहानि यस्याः विकृतेहेंतुभूतानि भवन्ति सा विकृतिर्र्ञक्षणनिमित्ता नाम । कुत एतदित्यत आह—लक्षणानि हीत्यादि। हि यस्मात् कानिचिल्लक्षणानि शारीररेखादि-चिह्नानि शरीरोपनिवद्धानि शरीरेण सह जातानि उत्तरकाळं जातानि च शरीरे लग्नानि भवन्ति। नुतु तानि कानि चिद्वानि इत्यत आह—यानी-त्यादि। यानि शारीरचिहानि तरिमंस्तस्मिन् काले तत्तचिहसूचनीयशुभा-

कुतः पुनर्जात्यादिनियता प्रकृतिर्भवतीत्यत्र हेतुमाह – जातिकुलेत्यादि । ते ते भावविद्रोपा इति शुचित्वाद्योचादयः ॥ ३ ॥

चक्रपाणिः—रिष्टाधिकाराधिकृतां विकृतिं विवेचियतुं सन्वीनेव विकृतिभेदानाह—विकृति-त्यादि । हेतुभूतानीति हेतुसदशानि, तेन दैवमेव नखरेखापद्मादिसामुद्रिकोक्तलक्षणयुक्ते शरीरे राज्यधनवधवन्धनादिरूपविकृतिप्राप्तौ हेतुः, लक्षणानि तु दैवनिमित्तानि वोधकमात्राणि, अत एव तत्राधिष्ठानमासाद्य तां तां विक्वतिमुत्पादयन्ति । लच्यनिमित्ता तु सा यस्या उपलभ्यते निमित्तं यथोक्तनिदानेषु । निमित्तानु-रूपा तु निमित्तार्थकारिणी । यामनिमित्तां निमित्तमायुषः प्रमाणज्ञानस्येच्छन्ति भियजः । भूयश्चायुषः चयनिमित्तां

शुभक्षम्पिरिणामकाले तत्र शरीरप्रदेशेऽधिष्ठानमासाद्य तां तां शुभां वाशुभां वाश्यरीरे विकृतिं स्वाभाविकशरीरप्रकृत्यन्यथारूपामुत्पादयन्ति । लक्ष्यनिमित्तां भाष्येण विष्टणोति—लक्ष्यनिमित्तां लित्यादि । यस्यास्तु विकृतेनिमित्तं व्याध्यादिकमुपलभ्यते सा लक्ष्यनिमित्ता विकृतिः । यथोक्तनिदानेषु व्याधीनां निदानादिषु सा विकृतिरुक्ता वाच्या च । निमित्तानुरूपां विकृतिं भाष्येण विष्टणोति—निमित्तानुरूपा लित्यादि । निमित्तार्थकारिणी ं निमित्तानां लक्षणानां लक्ष्याणाश्च येऽर्था विकृतयस्तान अर्थान् कर्त्तुं शीलं यस्याः सा निमित्तार्थकारिणी । उदाहरणेन तां दर्भयति—यामित्यादि । यां विकृतिम् अनिमित्तां निमित्तं विना रेखादिन्दिः व्याध्यादिकं कारणं विना प्राक्तनक्मित्तो यहच्छया वा जातामायुषः प्रमाणज्ञानस्य निमित्तमच्छिन्तं भिषजः सा निमित्तार्थकारिणी निमित्तानुरूपोच्यते। ननु यहच्छयैव कस्माद्यवतीत्यतस्तु

देवादित्युक्तं देवकर्तृ त्वज्ञात्रोच्यते । विकृतिमुत्पादयन्तीत्यत्रापि देवादिति योजनीयम् । तेन देववलादेव लक्षणानां राज्यधनवधवनधनादिरूपविकृतिकर्तृ त्वम् । तिस्मंतिसम् काल इत्यनेन लक्षणस्चितारिष्टपाककाले नियतत्वं विकृतेर्दर्शयति । लक्षणस्चिताश्च राज्यादय इह पुरुपत्य कदाचिद्भवन्तोऽस्वाभाविका एवेति कृत्वा विकृतिशाव्देनोच्यन्ते । यथोक्तं निदानेप्विति यथा—स्ञादिसेवया वातादिप्रकोपरूपा विकृतिर्निदानोक्तेत्यर्थः । निमित्तानुरूपेति निमित्तसद्दशी । तदेव स्पारयति—निमित्तार्थकारिणीति निमित्तस्य यो अर्थः कार्य्यजननरूपः कार्य्योधनरूपो वा, तमनुकरोतीति निमित्तार्थोनुकारिणी । रिष्टाल्या हि विकृतिर्मरणे, तस्येव बोधने वा निमित्तं भवति । अपरमपि "अनिमित्ताम्" इत्यनन्तरमस्य विशेषणं कथिष्यपति । रिष्टस्य हि न रोक्ष्यादिना शरीर-सम्बन्धादि निमित्तमुपलभ्यते । यद् वा आयुःक्षयरूपं यिन्तित्तं तद् विद्यमानमिष नान्येरूप-लभ्यते, किन्तु तदेव रिष्टादृत्तीयते । तेन अव्यक्तनिमित्तत्विमहानिमित्तत्वं ज्ञेयम् । अत्र गतायुद्भमेव सकलपुरुपसंश्वितरिष्टव्यापकं कारणं साधु । यत् तु वक्ष्यति—''क्वियापयमितकान्ताः केवलं देह-माश्चिताः । चिद्वं कुर्वन्ति यद् दोपास्तदरिष्टं प्रचक्षते" इति, तद द्तादिगतरिष्टव्यापकत्तया पुरुपाश्चितिरिष्टमात्राभिप्रायेण ज्ञेयम् । आयुपः प्रमाणज्ञानस्येति आयुःशेपप्रमाणज्ञानस्येत्यर्थः । सूप

प्रतिलङ्गानुरूपाम्, यामायुषोऽन्तर्गतस्य ज्ञानार्थमुपदिशन्ति धीराः। याञ्चाधिकृत्य पुरुषसंश्रयाणि मुमूर्षतां लच्नणान्युपः देच्यन्ते। इत्युदेशः। तं विस्तरेणोपदिशन्तो सूयः परमतो द्याख्यास्यासः॥ ४॥

अपराश्चाह—भ्यव्देत्यादि। यां विकृतिमन्तगतस्य छक्षणछक्ष्याभ्यामवि-क्रियस्यायुषो क्रानार्थमायुपः क्षयनिमित्तामायुपः कम्भवकात् क्षय एव निमित्तं यस्यास्ताश्च भूयो भूयिष्ठं प्रेतिछङ्गरूषां मृतस्यानुमानकरणरूषां धीरा उपिद्द्यन्ति। एवं परीक्षाहेत् नुक्तवास्मिन् स्थाने यद् यछक्षणं वाच्यं तदाह— याञ्चेत्यादि। याश्च विकृतिमधिक्रत्यात ऊर्ज्वं पुरुपसंश्रयाणि मृमूपुताम् आसन्नमृत्यूनां पुंसां छक्षणान्युपदेश्यन्ते सा विकृतिनिमित्तानुरूपा। एते-नास्मिन् स्थाने छक्षणनिमित्ता छक्ष्यनिमित्ता च विकृतिः पुरुप-संश्रयाणां वर्णादीनां परीक्षार्थं न दर्जयितन्या निमित्तानुरूपेव विकृतिदर्जय-तव्या, तथा पुरुपसंश्रयाणि मृत्युछक्षणानि परीक्षेतेत्यर्थः। इत्युद्देशः संक्षेपेणात्र प्रमाणविशेषज्ञानार्थं परीक्षास्त्रभपदेश एपः। तस्यायुषः प्रमाणज्ञानार्थपरीक्षा-स्त्रोद्देशं भूयोऽतः परम् ऊर्जु व्याख्यास्थामः। इति प्रतिज्ञा।। ४।।

इति अत्यर्थम् । तेनात्यर्थमायुःक्षयनिमित्तां प्रत्यासन्नायुःक्षयजन्यामिति यावत् । यामिति क्षीणायुःकार्य्याम् । प्रेतिलङ्गानुरूपामिति प्रेतसदृशीम्, "मला दन्तेषु जायन्ते प्रेताकृतिरुदीर्य्यते"
इत्यादिग्रन्थवक्ष्यमाणाम् । इमां हि विकृतिमायुपोऽन्तर्गतस्य ज्ञानार्थं वदन्ति । या त्वन्या
प्रेतिलङ्गानुरूपा वर्णाश्रया सा नात्यर्थं प्रत्यासन्नमरणवोधिका । तेन सा नात्यर्थक्षीणायुःकार्य्यत्यर्थः । एवं 'भूयश्र' इत्यादिना 'धीराः' इत्यन्तेन निमित्तानुरूपविकृतिविशेषस्य कार्य्यविशेषं मरणलक्षणमिभिधाय पुनः सामान्येनानिमित्तत्या धम्मोन्तरमाह—यामिष्कृत्येत्यादि ।
'पुरुपसंश्रयाणि' इति विशेषणेन पुरुपानाश्रितद्वादिरिण्टे नावश्यमिनिमत्ततास्तीति दर्शयति । यतो
द्ताधिकारादौ यानि रिष्टानि, तानि दश्यमानिमित्तान्याप्यागमादेव रिष्टत्वेनावधार्यन्ते, यथा—
"मुक्तकेशेऽथवा नग्ने रुदत्यप्रत्ययेऽथवा । भिष्णस्यागतं दृष्टा दूतं मरणमादिशेत्।" अत्र
भिष्का मुक्तकेशवचनाद् दश्यत एव कारणम्, तथा दृत्तामाने चातुरस्य प्रेरणादिकारणमस्त्येव ।
तेनानिमित्तव्य आतुराश्रयि रिष्टमेव । अन्ये तु एवंभूतवैद्यदृतसमागमः परिहर्त्तव्यत्वेन ज्ञातः सन्
यदा देवाद् भवति, तदा देवनिमित्तः सन् रिष्टं भवति । तेन सर्व्वरिष्टव्यापिकैवेयमिनिमत्तता ।
'मूयश्र' इत्यादिग्रन्थेन तु प्रेतिलङ्गानुरूषां विकृति मूय आयुपोऽन्तर्गतस्य ज्ञानार्थमुपदिशन्ति
इति च तथा पुरुपसंश्रयान् भूय उपवेक्ष्यन्ते, पुरुपानाश्रयाणि तु स्वर्पग्रन्थेनोपदेक्ष्यन्ते इति
व्याख्यान्यन्ति । इत्युदेश इति इन्द्रियस्थानार्थो ज्ञेय इत्यर्थः॥ ४॥

तत्रादित एव वर्णाधिकारः। तद् यथा—कृष्णश्यामः श्यामावदातोऽवदातश्चेति प्रकृतिवर्णाः श्ररीरस्य भवन्ति। यांश्चापरान् अवेच्यमाणानिष क विद्यादन्कतोऽन्यथा वापि निर्दिश्यमानांस्तज्ज्ञैः। नीलश्यामताम्रहारितशुक्काश्च वर्णाः श्ररीरे वैकारिका भवन्ति। यांश्चापरानवेच्यमाणानिष विद्यात् प्राग्विकृतानदृरोत्पन्नान् †। इति प्रकृतिविकृतिवर्णा भवन्ति इत्युक्ताः श्ररीरस्य॥ ॥॥

गुक्ताधरः—उद्देशानुक्रमेण व्याख्यातुमाह—तत्रेत्यादि। कृष्णः स्तिग्धकृष्णः पक्तमम्ब्र्फलवत् तद्युक्तः व्याम ईपत्कृष्ण इत्यर्थः। व्यामावदात
ईपच्छ्यामः उड्ज्वलक्ष्याम इति यावत्। अवदातो गौर इति च त्रयो वर्णाः
प्रकृतिवर्णाः। तज् वर्णभेदनामक यांश्व अपरान् अनुक्रतो वस्तन्तरसाद्द्रयेन
निद्दिव्यमानान् अन्यथा वस्तन्तरानृक्व्यतिरेकेण वा निर्दिव्यमानान्
अवेक्ष्यमाणान् तानिष प्रकृतिवर्णान् विद्यात्, तेऽषि प्रकृतिवर्णा भवन्ति।
नीलक्ष्याम इति नीलवत् व्यामवर्णः। ताम्रवर्णः। हारितशुक्त इति
पालाश्वव्यारः। एते त्रयो वर्णा विकृतिवर्णाः। यांश्वापरान् प्राग्विकृतान्
पूर्व्वर्णान्यवर्णान् अदूरोत्पन्नान, न तु दूरोत्पन्नान् विद्यात्। तेन जन्ममात्रं

चक्रपाणिः—प्रकृतिज्ञानान्तरीयकःवाद् विकृतिज्ञानस्य प्रकृतिवर्णानेव तावदाह—कृष्ण इत्यादि । अवदातो गौरः । इह च प्रायेण ये वर्णाः प्रकृत्या भवन्ति, ते प्रकृतिवर्णा उच्यन्ते, ये तु प्रायेण विकृत्या भवन्ति, ते विकृतिवर्णा उच्यन्ते इति ज्ञेयम् । तेन प्रकृतिवर्णा अपि कदाचिद् विकृति-वर्णा भवन्ति, तथा विकृतिवर्णा अपि जन्मप्रभृति जायमानतया कदाचिद्पि प्रकृतिवर्णा भवन्तिति ज्ञेयम् । अनुक्तप्रकृतिवर्णातिदेशार्थमाह—यांउचेत्यादि । उपत्य ईक्षमाण इत्युपेक्षमाणः । अनुकृत इति साहर्यतः । अनेन च 'कृष्णश्यामादिवर्ण'शब्देन निर्दि उपमानान् विद्यादिति योजना । नीलेत्यादिना विकृतिज्ञायमानतया विकृतिवर्णानाह । इह 'अपरान्' इति वचनेन विकृति- मृणेसङ्गरज्ञा वर्णा ज्ञेयाः । विकृतिवर्णान्तरमाह—प्रागित्यादि । प्राग्विकृतानिति पूर्वं- वर्णादन्यथामृतानित्यर्थः । तेनापि येन इयामेन सता रसायनयोगाद् गौरवर्णत्वं प्राप्तम्, स च रयंक्तरसायनः कालवशात् पुनः इयामवर्णो भवति, तस्यापि पूर्वगौरवर्णाद् विकृतिः इयामवर्णो भवति, तस्यापि पूर्वगौरवर्णाद् विकृतिः इयामवर्णो

^{*} अवेक्यमाणानित्यत्र उपेक्षमाण इति चक्रघतः पाठः ।

[†] प्रागविकृतानमूत्वोत्पन्नानिति चक्रसम्मतः पाठः ।

तत्र प्रकृतिवर्गोऽर्छशरोरे विकृतिवर्गोऽर्छशरोरे, द्वाविष वर्गो सर्थादाविभक्तो दृष्ट्रा यद्यं वं सव्यद्विग्णविभागेन, यद्यं वं पूर्व्वपश्चिमविभागेन, यद्यं वमस्तर्विह-विभागेन क्ष त्रातुरस्य रिष्टिमिति विद्यात्। एवमस्य वर्णभेदो सुखस्यान्तर्गतो वर्त्तमानो मरणाय भवति। वर्णभेदोन ग्लानि-

यो वर्णस्तदुत्तरं कैशोरादौ यद्वर्णान्यथात्वं तद्वारितम् । न ते शरीरस्य वैकारिका वर्णा भवन्ति ॥ ५॥

गृहाधरः—तत्र कस्मिन् वर्णेऽरिष्ट्रलिमित्यत आह—तत्रेत्यादि। प्रकृतिवण इति साहिजको वर्णः। अद्धेशरीरे इति नृसिंहाकारेण वाद्धेनारीश्वराकारेण वा तदाह—द्वावपीत्यादि। द्वी प्रकृतिवर्णि विकृतिवर्णो मर्थ्योदाविभक्तौ सीमया विभागीकृतौ दृष्ट्वा सन्यदक्षिणविभागेन सन्ये वामे प्रकृतिवर्णो दृक्षिणे विकृतिवर्णः, दक्षिणे प्रकृतिवर्णः, वामे विकृतिवर्णां वेत्यवं रूपेण यदि मर्थ्यादा-विभक्तौ, यदि वा पूर्व्वपश्चिमविभागेन पुरोदेहे प्रकृतिवर्णः पृष्टतो विकृतिवर्णां ऽथवा पृष्टतः प्रकृतिवर्णः पुरस्ताद्विकृतिवर्णाः प्रकृतिवर्णाः पृष्टतो विकृतिवर्णाः प्रकृतिवर्णाः प्रकृतिवर्णाः प्रकृतिवर्णाः प्रकृतिवर्णाः प्रकृतिवर्णाः प्रकृतिवर्णाः प्रकृतिवर्णाः प्रकृतिवर्णाः प्रवादाविभक्तौ, यदि वान्तर्वहिर्विभागेन देहाभ्यन्तरे प्रकृतिवर्णाः वहर्देहे विकृतिवर्णाः अविवर्णाः वहर्देहे विकृतिवर्णाः अविवर्णाः देहाभ्यन्तरे विकृतिवर्णाः वहर्देहे विकृतिवर्णाः देहाभ्यन्तरे विकृतिवर्णाः वहर्देहे विकृतिवर्णाः देहाभ्यन्तरे विकृतिवर्णः प्रकृतिवर्णाः देहाभ्यन्तरे विकृतिवर्णः प्रकृतिवर्णाः देहाभ्यन्तरे विकृतिवर्णः प्रकृतिवर्णाः देहाभक्तौ दृष्टात् स्यारिष्टमिति विद्यान्त तु स्वस्थस्य। एवमस्यातु रस्य न तु स्वस्थस्य एवं प्रकारेण वर्णभेदो यदि ग्रुखस्यान्तर्गतोऽद्धः प्रकृतिवर्णाः द्विकृतिवर्णाः वर्त्तमानः स्यात् तदा मरणाय भवति, अरिष्यं भवति। न तु नियत-मरण्एयाक्ततो भिन्नमरिष्टं भवतीत्युक्तम्। तुल्यप्रकारत्वादं ग्लान्यादीनप्याह—

भवन् रिष्टं स्यादित्याह—अमृत्वोत्पन्नानिति । तेन नायं दोषः । अत्र हि पूर्वेमूत एव वर्णः पुनर्भवति । तेन न रिष्टम् ॥ ५ ॥

चकपाणिः—मर्थ्यादाविभक्ताविति समसीमान्नरस्थापितौ । पृब्र्दपश्चिमविभागेनेति अभि-

अन्तविभागेनेति चक्रः ।

हर्परौच्यस्नेहा व्याख्याताः, तथा पिष्लवव्यङ्गतिलकालकः विद्याताः, तथा पिष्लवव्यङ्गतिलकालकः विद्यात् ॥ ६

त्रानासन्यतमस्य प्रादुर्भावो हीनवलद्यां न्द्रियेषु लच्यामायुषः च्यास्य भवति । अयद्यद्धि किञ्चिद्ध्यावैद्धतमभूतपृठ्वं सहसैव वर्णभेदेनेत्यादि । यथा वर्ण्डरिष्टमुक्तम्, तथार्डशरीरे ग्ठानिरर्डशरीरे हपंः यदि द्वाविष सन्यदक्षिणविभागेन वा पूर्व्विधमिवभागेन वाप्यश्रोत्तरविभागेन वाप्यन्तर्वहिविभागेन वा मर्थ्यादाविभक्तौ द्वाहरस्यारिष्टं विद्यात् । एवमस्य ग्ठानिहर्पभेदो मुखस्यान्तर्गतो वर्त्तमानो मरणाय भवति । एवं यद्यर्डशरीरे रोक्ष्यमर्द्धशरीरे स्नेहो द्वाविष सन्यदक्षिणविभागेन वा पूर्व्विधमिवभागेन वाप्यश्रोत्तरिवभागेन वान्तर्वहिविभागेन वा मर्थ्यादाविभक्तौ प्रयेत् तदातुरस्य अरिष्टं विद्यात्, न तु स्वस्थस्य । एवमस्यातुरस्य वर्णभेदो यदि मुखस्यान्तर्गतो वत्तमानो भवति तदा मरणाय भवति । इति यथा वर्णो द्वौ सन्यदक्षिणभेदन पूर्व्वपश्चिमभेदेन वा अथरोत्तरभेदेन वा अन्तर्वहिर्भेदेन वा व्याख्यातौ, तथा ग्रानिहर्पो द्वौ रौक्ष्यस्नेहौ द्वौ चेति, वर्णभेदेन ग्रान्यादयो व्याख्याता वोध्याः । तथा पिष्ठवो नयन्त्रः कुष्णः व्यङ्गः तिलकालकादीनामन्यतमस्य यद्यातुरस्यानचे जन्म स्यात्, तदा एवमेवारिष्टरूपमन्नशस्तं विद्यात् ॥ ६ ॥

गङ्गाधरः—नखनयनादिषु वैकारिकोक्तानां नीलक्यामतामहारितशृक्काना-मन्यतमस्य वर्णस्य भादुभावो जन्म हीनवलादिके व्याधिते पुरुषे आयुपः स्यस्य लक्षणं, न स्क्षीणवलवर्णेन्द्रिये वा स्वस्थे। यद्न्यद्पीति। अभूतपूर्वि-जन्मप्रभृति स्वास्थ्यद्शायां यन्न वर्णस्कर्षं तदेव वर्णवेकृतं यदुक्तादन्यत् मुखपृष्टभागेनेत्यर्थः। अन्तर्विभागेनेति अन्नान्तर्गतो वर्णो मुखनासाकर्णश्रोत्रान्तर्गततया उन्नेयः। अन्यन्नेति अवान्तरे हस्तपादादो । वर्णभेदेनेति यथा वर्णविभागेन रिष्टम्, तथापि ग्लान्यादि-विभागेनेत्यपीत्यर्थः। हर्ष इह उपवयो न्याः, मानसहर्षस्येह चाक्षुपाधिकारेऽसङ्गतत्वात्। तथेत्यादौ पिष्छप्रभृतीनामपि वर्णवत् सन्यदक्षिणादिविभागेन जन्म रिष्टं भवति। एतदेव 'जन्म'-दाव्येनोच्यते॥ ६॥

शब्दनाच्यत ॥ ६ ॥ ुचकपाणिः—नखेत्यादौ वलहान्याद्यभावे सति न रिष्टम् । यद्वेत्यादिना अनुक्तवर्णरिष्टं

चक्रपाणः—नसंत्यादाः वलहान्याद्यभावं सातं न रिष्टम् । यद्वत्यादिना अनुत्तवणारण्ड गृह्णाति । अमृतपृथ्वमिति पृथ्वेच्याकृतरसायनविहितवर्णप्राद्दभीव्ययुदासार्थम् । सहसो-

^{*} यज्ञान्यत् इति चक्रधतः पाठः।

उत्पद्यतेऽनिमित्तमेव हीयमानस्यातुरस्य क तचारिष्टमिति विद्यात्। इति वर्णाधिकारः॥ ७॥

खराधिकाररतु—हंसक्रीश्चनेमिदुन्दुभिकलिबङ्गकाककपोत-क्षर्भरान्काः प्रकृतिखरा अवन्ति । यांश्चापरानवेद्यमाणान् विचादनुकतोऽन्यथा वापि निर्दिश्यमानांस्तज्ज्ञः । † शुक-कल-श्रह्यस्ताव्यक्त-गद्गद-चाम-दीनानुकीर्णाश्चातुराणां खरा वैका-रिका अवन्ति । यांश्चापरानवेद्यमाणानिप विचात् प्राप्विकृताद् श्रदूरोत्पन्नान् । इति प्रकृतिविकृतिखरा व्याख्याता भवन्ति । तत्र प्रकृतिवैकारिकाणामाश्विभिनिव्वृत्तिः खराणामेकत्वमेकस्य सहसैवानिमित्तमेव देहे उत्पचते, तत् तु हीयमानस्य वलादिभ्य आतुरस्यारिष्टं विचादिति ॥ ७॥

गङ्गाधरः—इति वर्णारिष्टमुत्तवा उद्देशानुरूपतात् स्वरारिष्टाधिकारः । हंसेत्यादि । नेमी रथचक्रम् । कलविङ्कः पिक्षविशेषः । क्षक्षरः वाद्यभेदः । एपामन् काः
सहशाः प्रकृतिस्वरा भवन्ति यांश्रापरान् स्वरानन् कतोऽन्यथा वा तज्होः
स्वरविद्धरवेक्ष्यमाणान् दश्यमानानपि निर्दिश्यमानान् स्वरान् विद्यात्,
तेऽपि प्रकृतिस्वराः । शुकः पिक्षविशेषः । कलः सृक्षमः । ग्रहग्रस्तः
सर्व्वथानुचरणम् । अन्यक्तः । गर्गदोऽद्धाचिरतः । क्षामः क्षीणः । दीनो दुःखोचार्य्यमाणः स्वरः । अनुकीण उपर्यपु पर्यपु चार्यमाणः । एते रवरा आतुराणां
वैकारिका भवन्ति । यांश्रापरान् स्वरक्ष रवेक्ष्यमाणानपि विद्यात् वैकारिकान्
स्वरान् पाग् विद्धतात् पूर्व्वस्वरतोऽन्यथारूपात् अदूरोत्पन्नानरूपकालोत्पन्नान्
स्वरान् पाग् विद्धतात् पूर्व्वस्वरतोऽन्यथारूपात् अदूरोत्पन्नानरूपकालोत्पन्नान्
स्वरान् विद्यात्, तेऽपि वैकारिकाः स्वरा भवन्ति । अथ स्वरारिष्टतमाह—
तत्रत्यादि । तत्र प्रकृतिविकृतिस्वरेषु मध्ये प्रकृतिस्वराणामुप्यातेन वैकारिकत्यवत इत्यनेन रिष्टानां शीव्रस्वभावं दर्शयित । अनिमित्तमिति प्रवीतार्थमेव । हीयमानस्य
शक्षदिति स्वभावकथनम्, रिष्टोल्या हीयमानता शक्षदवश्यं भवति ॥ ७॥

चक्रपाणिः—क्रमागतं स्वरमाह—स्वरेत्यादि । क्रक्षरो वाद्यभाण्डविशेषः । यांइचेत्यादि पूर्ववत् । एडको मेपः विवा अन्दान् । कलः सूक्ष्मः । यसः सर्वथानुचारः । क्षामो रक्षः । दीनो दःसोचार्यभाणस्वरः । अनुकीर्णः उपर्युपर्यु चार्य्यमाणः । प्रकृतेवेकारिका

द्तः परं शश्वदित्यधिकः क्वित ।

चानेकत्वमप्रशस्तम् । इति स्वराधिकारः । इति वर्णस्वराधि-कारौ यथावदुक्तौ मुसूर्वतां ज्ञानार्थम् ॥ = ॥

भवन्ति चात्र।
यस्य वैकारिको वर्णः श्ररीर उपपद्यते।
अर्द्धे वा यदि वा कृत्स्ने निमित्तं न च नास्ति सः॥
नीलं वा यदि वा श्यामं ताम्नं वा यदि वारुणम्।
मुखार्द्धमन्यथावर्णो मुखार्द्धेऽरिष्टमुच्यते॥
स्नेहो मुखार्द्धे सुट्यक्तो रौच्यमर्द्धमुखे भृशम्।
ग्लानिरर्द्धे तथा हर्षो मुखार्द्धे प्रत्ते तलच्णम्॥

स्वराणामाशु शीव्रमभिनिन्द्रितः, अपशस्तमरिष्टमातुरस्य । तथा स्वराणामने-केपां प्रकृतिस्वराणां वा विकृतिस्वराणां वा एकतम् मिश्रीभावेणैक-स्वरतम् एको वैकारिकः स्वरः । एकस्य वा स्वरस्यानेकतं वहवो वैकारिकस्य स्वराः । तथातुरस्य वलादिहीनस्य सहसा भवति तदा तस्यातुरस्य अपशस्त-मिति ॥ ८ ॥

गङ्गाधरः—एतद्थं श्लोकानाह—भवन्तीत्यादि। यस्येत्यादि। वैकारिको वर्णो नील्ठ्यामादिन्याख्यातः। अछं वा शरीरे उपपद्यतेऽपरार्छे प्रकृतिवर्ण इति गम्यमानलात्। न च तत्र निमित्तं, तदा स नास्ति मृतोऽभूदित्यर्थः। यदि वा कृत्स्ने शरीरे वाह्य वाभ्यन्तरे वा कृत्स्त्रशरीरे वैकारिको वर्ण उत्पद्यते, न च तत्र निमित्तं वातादिकारणं, वर्त्ततेऽभ्यन्तरे वा वाह्य वा गम्यमानलात् प्रकृतिवर्णस्तदा स नास्ति। नीलं वेत्यादि। यद्यर्षं मुखं नीलं मुखार्छेऽन्यथानणी यदि वर्णः प्रकृतिवर्णात्, किं वार्द्धमुखं श्याममभ्यन्तरतो मुखार्छेऽन्यथावणी यदि वर्षं मुखार्क्यः मुखार्छेऽन्यथावणी यदि वर्षं मुखमभ्यन्तरतस्ताम्नं मुखार्छेऽन्यथावणीः, यदि वर्षं मुखमभ्यन्तरेण अरुणं हारितशुक्तं मुखार्छेऽभ्यन्तरतोऽन्यथावणीः प्रकृतिवर्णः स्यात् तदा अरिष्टमुच्यते। स्नेह इति। स्नेहो मुखार्छे इत्यादि पूर्व्य व्याख्यातम्। अन्यथामृता इति प्रकृतिवैकारिकाः। स्वरानेकत्विमिति कदाचिवेव एडकस्वरत्वं कदाचित कल्रस्वरत्वित्ति एकस्य चानेकत्विमिति एकस्येव स्वरस्य चानेकत्विमिति प्रतिभाति। अतिमित्तिमिति सम्बध्यते॥ ८॥

तिलकाः विष्तको व्यङ्गा राजयश्च पृथिनिधाः ।

श्रातुरस्याशु जायन्ते मुखे प्राणान् मुमुन्नतः ॥

पुष्पाणि नखदन्तेषु पङ्को वा दन्तसंश्रितः ।

चूर्णको वापि दन्तेषु लन्नणं तद्द गतायुपः ॥

श्रोष्ठयोः पाद्योः पाण्योरन्दणोर्मू त्रपुरीषयोः ।

नखेष्वपि च वैवर्ण्यमेतर्ज्ञीर्णवले-क-ऽन्तकृत् ॥ ६ ॥

यस्य नीलावुभावोष्ठौ पक्षजाम्बवसित्रभौ ।

मुमूर्षु रिति तं विद्यात् नरं धीरो गतायुपम् ॥

एको वा यदि वानेको यस्य वैकारिकः खरः ।

सहसोत्पद्यते जन्तोर्हायमानस्य नास्ति सः ॥

यचान्यदिष किश्चित् स्याद् वैकृतं खरवर्णयोः ।

वलमांसिवहीनस्य तत् सर्व्वं मर्गोद्यम् ॥ १० ॥

वलमांसिवहीनस्य तत् सर्व्वं मर्गोद्यम् ॥ १० ॥

नखदन्तेषु व्याधितस्य यदि पुष्पाण्याशु भवन्ति दन्तसंश्रितश्च पद्धः कदम इव क्लेदो भवति किंवा चूर्णकश्चर्णरजोवट् दन्तेषु भवति तट् गतायुपो छक्षणम्। ओष्टयोरित्यादि । नखनयनवदनेत्यादिना व्याख्यातम् ॥ ९॥

गृङ्गाधरः—यस्येत्यादि। यस्यातुरस्य, न तु स्वस्थस्य, प्रकरणात्।
सुष्पष्टार्थलात् पूर्व्वं न व्याख्यातिमदं स्वयम्। स्वराधिकारं यद्गाख्यातवान्
तत्र श्लोकमाह—एको वेत्यादि। तत्रेत्यादिना व्याख्यातम्। यचान्यदपीत्यादि। वर्णारिष्टं यदन्यदपीत्यादिना व्याख्यातम्। तथैव स्वरविषये
वोध्यम्। यदन्यदपि किश्चित् स्वरवैकृतमभूतपूर्व्वं सहसैवोत्पदेगत
अनिमित्तमेव वल्लमांसहीनस्यातुरस्य तच्च सर्व्वमिरिष्टमिति विद्यात्॥ १०॥

चक्रपाणिः—अयमेवार्थो गद्योक्तः स्पष्टार्थं सुखग्रहणार्थञ्च श्लोकेनोच्यते यस्येत्यादिना । तिलका इत्यादो सुख इति सुखे तथा सुखाभ्यन्तरे ॥ ९॥

चक्रपाणिः—ओष्टाविति द्विवचनमुक्तापि यट 'उभौ' इति करोति, तेन सकलेष्ट्रव्यासिं दर्शयति । मुमूर्षु रित्युक्तापि यत् गतायुपमिति करोति, तेन रिष्टयुक्तो मुमूर्षु गैतायुरिति

^{* &#}x27;'क्षीणवले'' इति चकः।

तत्र श्लोकः।

इति वर्णस्वरावुक्तौ लच्चणार्थं मुमूर्षताम् । यस्तु सम्यग् विजानाति नायुर्ज्ञाने स मुद्यति ॥ ११ ॥ इत्यग्निवेशकृतै तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतै इन्द्रियस्थाने वर्णस्वरीयमिन्द्रियं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—अत्राध्यायार्थोपसंहारश्लोकमाह—तत्र श्लोक इति ॥ ११ ॥ अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि ।

इति वैद्यश्रीगङ्गाधरकविरत्नविरचिते चरकजलपकलपतरौ पश्चमस्कन्धे इन्द्रियस्थानजल्पे वर्णस्वरीयजलपाख्या प्रथमशाखा ॥ १॥

दशंयति । अजातिरष्टस्तु प्रिक्षियाभावात् मुमृर्षुर्गतायुरिष भवति । मरणोदयमिति मरण-कारणमिति ज्ञानार्थम् ॥ २०१५ ॥

इति महामहोपाध्यायचरकचतुराननश्रीमचकपाणिदत्तविरचितायामायुर्वेददीपिकायां चरक-तात्परयेटीकायाम् इन्द्रियस्थाने वर्णस्वरीयेन्द्रियं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः।

अथातः पुष्पितकिमन्द्रियं व्याख्यास्यामः, इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

पुष्पं यथा पूर्विरूपं फलस्येह अविष्यतः । तथा लिङ्गमरिष्टाख्यं पूर्विरूपं मरिष्यतः ॥ अप्येवन्तु अवेत् पुष्पं फलेनाननुबन्धि यत् । फलञ्चापि अवेत् किञ्चिद् यस्य पुष्पं न पूर्विजम् ॥ न त्वरिष्टस्य जातस्य नाशोऽस्ति सरगादते । सरगञ्चापि तन्नास्ति यन्नारिष्टपुरःसरम् ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—अथोद्देशानुकमलाद् वर्णस्वरपरीक्षोपदेशानन्तरं गन्धरस-परीक्षार्थं पुष्पितकमिन्द्रियमारभते—अथेत्यादि । फलस्य पूर्वेरूपं पुष्पमिति । पुष्पितमधिकृत्य कृतोऽध्याय इति पुष्पितकम् ॥ १ ॥

गुङ्गाधरः—पुष्पमित्यादि। भविष्यतः फलस्य पूर्व्वरूपं पुष्पं यथा, तथा मरिष्यतः पुरुषस्य अरिष्टाख्यं लिङ्गं भविष्यन्मरणस्य पूर्व्वरूपम्। तत्र व्यभि गरं दर्जयति—अप्येवन्तित्यादि। न केवलं फलस्य भविष्यत एव पुष्पं पूर्व्वरूपं फलेनाननुवन्धि फलजनकलं विनापि, पुष्पस्य सद्भावोऽस्ति। अपि च यस्य फलस्य पूर्व्वजं पुष्पं न भवति, तदिष किश्चित् फलमस्ति, यथोडुम्बराश्वत्थ-वटादिफलं पुष्पं विनापि भवति। न त तथारिष्टस्य जातस्य नाजोऽस्ति मरणादते

चक्रपाणिः—वर्णस्वरानन्तरं गन्धस्य कृतत्वान्निर्दिष्टत्वाच तदाश्रयिरिष्टप्रतिपादकं पुष्पितकमुच्यते—पुष्पं यथेत्यादि । प्रकरणार्थो यद्यपि सकलेन्द्रियसाधारणतया प्रथमाध्याय एव वक्तुं
युज्यते, तथापीह पुष्पानुकारेण गन्धाश्रयिरिष्टस्य वाच्यत्वात् पुष्पं प्रकृतम्, तत्प्रसङ्गाच रिष्टस्य
पुष्पधम्मंख्यापकमपि प्रकरणिमहोच्यते । पुष्पं यथेत्यादौ अन्यभिचरितफलसम्बन्धमेव पुष्पम् ।
अत एव अप्येवन्त्वित्यादिना फलपुष्पयोः परस्परन्यभिचारं दर्शयात पुष्पफलदृष्टान्तेन रिष्टमरणयोः
पुरुवीधत्वात् । ननु पुष्पफलन्यभिचारमपि शिष्यो गृङ्गीयादिति तन्निरासार्थमाह—अप्येवमित्यादि ।
फलेनाननुबन्धीति यथा वेतसपुष्पम् । यस्य पुष्पं न पृद्र्वजमिप शाखादेव फलम् ।
जातस्येति सम्पूर्णस्य । किञ्चदृदिते हारिष्टेऽसम्पूण नावद्यं सृत्युः । अन्ये तु जातस्य

मिथ्या दृष्टमरिष्टाभसनरिष्टमजानता । ऋरिष्टं वाप्यलम्बुद्धमेतत् प्रज्ञापराधजम् ॥ ३ ॥

जातस्यारिष्टस्य फलाइते न पुष्पनाज्ञवन्नाज्ञोऽस्ति। मरणश्चापि न चारिष्टं विना वर्त्तते। अत एव यत्रारिष्टं पुरःसरं पूर्वं सरित तत्र मरणमस्ति, यद्यत्र रसायनतपोजप्यतत्परतं मरणहरमन्नवाह्मणश्च न प्रयुक्ते तदा "ध्रुवन्त्ररिष्टं मरणं व्राह्मणैस्तत् किलामळेः। रसायनतपोजप्य-तत्परैर्वा निवाय्यते॥" इति सुश्रुतवचनात्॥ २॥

गङ्गाधरः--नन्वरिष्टवतोऽपि जीवनं दश्यतेऽजातारिष्टस्यापि मरणं दश्यते इति चेन्नत्याह-मिध्येत्यादि। अनिर्पृपजातारिष्टं पुरुषस्य यदजानता वैदेत्रनारिष्टाभं दृष्टं तन्मिथ्या, न रिष्टम्। जातश्च यद्रिष्टम् अजानता वैदेन असम्बुद्धं न सम्यक् ज्ञातं तदपि मिथ्या, अनिर्षृष् । नतु कथमेवं भवति ? मिथ्यारूपम् एतज्ञानं प्रजापराधजं वैद्यानां प्रजापराधात् नियतस्येति वर्णयन्ति । द्विविधं हि रिष्टं नियतञ्जानियतञ्ज । तत्र नियतम्, 'मृतमेव तमात्रेयो व्याचचक्षे पुनर्वसुः" इत्यादि । अनियतम्, यथा—"संशयप्राप्तमात्रे यो सन्यते तस्य जीवितस् । अरोगः संशयं गत्वा कश्चिदेव प्रमुच्यते" इति । तथाऽनियतारिष्टाभिष्रायेणैव सुश्रुतेऽप्युक्तम्— ''ध्रुवन्त्वरिप्टे मरणं ब्राह्मणैस्तत् किलामलैः । रसायनतपोजप्य-तत्परैर्वा निवार्य्यते ॥'' एतचान्ये न मन्यन्ते । आचाय्यण रिष्टमरणयोरव्यभिचारस्य महता प्रयत्नेन दर्शितत्वात् । "संशयशासम्" इति वचनं मरणप्रतिपादकमेवाचार्थ्येण भङ्गयन्तरेणोक्तस्, यथाचार्थ्यस्यारिष्टार्थस्त्था तद्मन्थ एव व्याख्यास्यामः । यत् तु रसायनादिसाध्यत्वं रिष्टस तदनुमतमेव । रसायनमहेश्वरप्रसादादयो हि सर्व्वलोकमरयीदामिप हन्तुं क्षमाः। तेन तद्व्यभिचारमपेक्ष्येह ग्रन्थः व्वियते। महेश्वरो हि भसीभृतं कामं पुनर्जीवयित सा। तपसा च रामेण सृतोऽपि विश्वपुत्रः पुनर्जीवित इत्यादानुः सरणीयम् । अन्ये तु कालमृत्यावेव रिष्टपूर्व्वकं सरणं भवतीति वर्णयन्ति, वदन्ति च-"यद्यकाल-मृत्यो रिष्टं भवति तदा वर्णाढंव मृत्युवदं रिष्टं तत् विफलं स्यात्, येन कालमृत्यु-् रुचिताचरणेऽपि परं सृत्युर्भवति, तन्न रिण्टे जाते यद्गविता किया कियते वदा मृत्युर्भवितुः महीत, तेन कालगतमेव रिष्टम्" इति । तच न, अविशेषेण कालाकालमरणे रिष्टसद्वावनियमात् । अकालमृत्यो च कालमृत्यो च यदैव कियापथमतिकान्तोऽपचारजनितो ब्याधिर्भवति, तदैव परं रिप्टं भवति । अत एवोक्तम्-"क्षणेनैव रिष्टाः प्राइर्भवन्ति" इति । यश्चैनं न स्वीकरोति, तस्य नियतायुवोऽपचारजन्यन्याधेरसाध्यता कदापि न स्यात्। येन यथाऽपचारजा दोषा अतिवायग्रमादाद्साध्यव्याधिजनका भवन्ति, तथा मरणपूर्वरिष्ठजनका अपि भवन्ति ॥ २ ॥

चकपाणिः—यत्र कुत्रचित् रिष्टमरणन्यभिचारिलिङ्गज्ञानं भवति, तद् आन्तमिति दर्शयनाह— मिथ्येत्यादि । . अरिष्टाभमिति अरिष्टसदशम् । मिथ्यादृष्टमिति रिष्टत्वेन ज्ञातम्, एतदैचारिष्टे ज्ञानसंबर्छनार्थन्तु लिङ्गर्सरराष्ट्रवर्धनः । पुष्पितानुषदेच्यामो नरान् बहुविधान् बहुन् ७ ॥ नानापुष्पोपमो गन्धो यस्य भाति दिवानिशम् । पुष्पितस्य वनस्येव नानाद्रु मलतावतः ॥ तमाद्रुः पुष्पितं धीरा नरं मरगाल ज्यौः । स ना संबरतगङ्क देहं जहातीति विनिश्चयः ॥ १ ॥

भवति । तस्मात् ध्रवन्तिरिष्टे मरणं न तु बाह्मणादिभिनिवाय्यमिति कश्चिदत्र व्याचष्टे तत्र सुश्रुतिवरोधात् ॥ ३॥

गङ्गाथरः—कानेत्यादि। बानमायुपः प्रमाणावक्षेपस्य कानसंबद्धनार्धं परण-पूर्व्यक्षेपरणात् पूर्व्यं जायन्ते ये तैः लिङ्गेः पुष्पितान् नरान् पुरुपान् वहून् वहु-विधानुपदेक्ष्यामः इत्यर्थः। नानेत्यादि। यस्य पुरुपस्य दिवानिक्षमर्थात् सर्व्यदेवाविच्चेदेन नानापुष्पोपमो गन्धः क्षरीरे भाति प्रकाक्षते तं नरं परण-लक्षणैः पुष्पितं धीरा आहुः, यथा नानाहुमलतावतः पुष्पितस्य वनस्य नाना-पुष्पोद्धवो गन्धो भाति। एतावता तद्दनस्य नाक्षवत् नाक्ष इति न ख्यापितं, किन्तु नाक्षे पुष्पवद्धन्धांके इयमुपमा। ननु कियद्विवसान्मरणं स्यादित्यत आह—स नेत्यादि। यो नानापुष्पैर्गन्धतस्तुल्यगन्धो भाति स ना संवत्सक्षत्रत् संवत्सरसमाप्तिं प्राप्य देवं जहातीति निश्चयः ॥ ४ ॥

रिष्टज्ञानं प्रज्ञापराधलम् । तथा रिष्टमिप सूक्ष्मरूपतया मारके न्याधावसम्यन्धं भवति, एतद्पि प्रज्ञापराधलं मिथ्याञ्चानम् । तेन रिष्टे यत्र सत्यपि मरणं न भवतीति च ज्ञानं आन्तम्, तथा रिष्टं विनापि क्रचित् मरणं भवतीति ज्ञानं आन्तम्, ततथ सिद्धोऽत्यभिचारो मरणरिष्टयोरिति वान्यार्थः ॥ ३ ॥

चक्रपाणिः—झायते मरणमनेनेति ज्ञानं रिष्टम्, तस्य सम्बोधनं ज्ञानसम्बोधनम्। मरणपृद्वंकेरिति मरणपृद्वंभाविभिः। पुण्पिता यथा नृक्षादयो गन्धवन्तो भवन्ति, तथा रिष्टगन्धप्रयुक्ता ये भवन्ति, ते पुण्पिताः, तान् पुण्पितान्। वहुविधेर्लिङ्गेर्वहून् पुष्पितानिति योजना।
वनस्येत्युक्तेऽपि यज्ञानाङ्गुमलतावत इति करोति, तेन भिन्नजातीयं वनं प्राह्यति। वनं हि
सजातीयवृक्षाणामणि स्यात्, यथा-—चम्पकवनमशोकवनमित्यादि। नानात्वञ्च पुष्पाणामेकजातीयानामणि कलिकाधवस्थाभेदादिण स्यात्, तस्मात् साधु विशेषणम् 'नानाङ्गमलतावतः' इति।
मरणलक्षणेर्वथोक्तैर्गन्धेस्तं पुष्पितकमाहुरित्यादि योज्यम्। संवत्सरादिति संवत्सराभ्यन्तरे॥ ४॥

 [&]quot;ज्ञानसम्बोधनार्थन्तु लिङ्गेर्मरणपुर्विकैः । वहुविधविह्नु" इति चक्रसम्मत्ः पाठः ।

एवमेकेकशः पुष्पैर्यस्य गन्धः समो भवेत्।
इष्टेर्वा यदि वानिष्टेः स च पुष्पित उच्यते॥
समासेनाशुभान् गन्धानेकत्वेनाथ वा पुनः।
त्राजिद्यदे यस्य गात्रेषु तं विद्यात् पुष्पितं भिषक्॥ ५॥
त्राप्तुतानाप्तुते ७ काये यस्य गन्धाः शुभाशुभाः।
व्यत्यासेनानिमित्ताः स्युः स च पुष्पित उच्यते॥
तद् यथा चन्दनं कृष्ठं तगराग्रुरुणो मधु।
माल्यं मृत्रपुरीषे वाऽमृतानि † कृण्पानि वा॥

गृहाधरः—एवामत्याद । एवं यदेप्रकेकशः पुण्णैरिप्टैर्धनोछ रनिष्टैः दुर्गन्धिभिवा समो गन्धो यस्य भवेत्, सोऽपि पुष्पित उच्यते, संवत्सराद् देद जहाति । इति पुष्पितस्य जीवितसंख्यामानम् । समासेनेत्यादि । यस्य गात्रे अशुभान गन्धान समासेन वह्नशुभगन्धमेलकतया एकीभावेन वैद्य आजिन्ने त् तमिष भिषक् पुष्पितं विद्यात् । संवत्सरात् देहं स जहाति । अथवा पुनः । अशुभान गन्धान एकैकशो न तु मिश्रान यस्य गात्रेषु भिषगाजिन्ने त् तमिष पुष्पितं नरं विद्यात् । सोऽपि संवत्सराद् देहं जहातीति ॥ ५ ॥

गङ्गाधरः—आप्छतेत्यादि । यस्य काये तैल्लचन्दनागुरुक्कङ्कु मादिभिरशुभ-ग्रभगन्धद्रच्यैराप्छते वानाप्छते वा व्यत्यासेनानिमित्ताः अकारणतो गन्धाः ग्रभाशुभाः स्युः स च पुष्पित उच्यते संवत्सराट् देहश्च जहातीति । गृतद्भाष्येण विष्टणोति—तद् यथेत्यादि । चन्दनादिगन्धः शुभः । मूत्रपुरीपादि-

चक्रपाणिः—एवमिति दिवानिशम् । समासेनेत्यादि । पुष्पत्यतिरिक्तरावाद्यशुभगन्धयोगेनापि पुष्पितत्वं परिभाष्यते इति शोषः । समासेनेति मेलकेन । आष्ठुतेत्यादौ आष्ठुतानाष्टुतत्व-।शोषव्यत्यासश्च शुभाशुभगन्धानाञ्च होराः । पुष्पितत्वाभिधानञ्च यत्र यत्र, तत्र तत्र संवत्सरान्तं वितं पूर्ववचनाद भवति । तद् यथेत्यादिना शुभाशुभद्रव्याण्याह—मृतानीति मानुष-

_* #*

 [&]quot;आप्छुतानाप्छुता इति चक्रपाठः"। † "च मृतानि" इति चक्रसम्मतः पाठः ।

तत्र श्लोकः।

यान्येतानि ६ मयोक्तानि लिङ्गानि रसगन्धयोः। पुण्यितस्य नरस्येतत् फलं मरणसादिशेत्॥ १०॥ इत्यक्षित्रेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने पुण्यितकसिन्द्रियं नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

नैरस्यमनुमेयम्। अत्यर्थमित्यादि। कालपहस्य जीवितकालपरिणतस्य, अर्थात् आसन्नमृत्युकालस्य। अत्यर्थं रसिकम् अत्यर्थस्वादुरसयुक्तं कायं सर्व्वज्ञः सर्व्वविव भृश्चमायान्ति आगच्छन्ति न मुञ्चन्ति। यदि स पुरुषो मिक्षकापसर्पणार्थं म्हातोऽन्तु पश्चात् चन्दनादितिक्तद्रनैप्रस्विक्षो भवति तथापि तस्य तमत्यर्थरसिकलात् कायं भृजं सर्व्वण आयान्ति न मुञ्चन्ति। इत्यनेन कायस्याति-मधुरलमनुमेयम्।। ९।।

गङ्गाधरः—संग्रहार्थं फलवचनाथश्च श्लोकमाह—यान्येतानीत्यादि। मरणमेवैतयोः फलमादिजेत् तुल्यमानमेव एतयोरिति वोध्यम्।। १०॥ अध्यायं समापयति—अग्नीत्यादि।

इति वैद्यशीगङ्गाधरकविरत्नविरचिते चरकजलपकलपतरौ पञ्चमस्कन्धे इन्द्रिः स्थानजलप पुष्पितकेन्द्रियाध्यायजलपद्वितीयशाखा ॥ २ ॥

चक्रपाणिः—संग्रहरूोके सामान्येन पुष्पितस्थेतियचनात् रसिरण्डेऽपि पुष्पितत्वमस्य विवक्षितम् । तेन रसिरण्डेऽपि संवत्यराभ्यन्तरे मरणमिति फलति ॥ १० ॥

इति महामहोपाध्यायचरकचतुराननश्रीमचकपाणिदत्तविरचितायामायुव्वददीपिकायां चरक-तात्पर्य्यटीकायाम् इन्द्रियस्थाने पुष्पितकेन्द्रियशारीरं नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

सामान्येनेति चकः ।

तृतीयोऽध्यायः।

श्रथातः परिमर्शनीयसिन्द्रियं व्याख्यास्यासः, इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

वर्णे खरे च गन्धे च रसे चोक्तं पृथक् पृथक् । लिङ्गं मुसूर्षतां सम्यक् स्पर्शेष्विप निबोधत ⊕ ॥ २ ॥ स्पर्शप्राधान्येनातुरस्यायुवः प्रमाणावशेषं जिज्ञासुः प्रकृति-स्थेन पाणिना शरीरमस्य केवलं स्पृशेत्, विमर्शयेद्वान्येन । परिमृशता तु खल्वातुरशरीरिममे भावास्तत्र तत्र बोद्धव्या भवन्ति । तद्द यथा —सततं स्पन्दमानानां शरीरदेशानां

गङ्गाधरः—अथ उद्देशानुक्रमताद् गन्धरसपरीक्षानन्तरं स्पर्भपरीक्षार्थं परिमर्भनीयमिन्द्रियं व्याख्यातुमारभते—अथात इत्यादि । परिमर्भनमन्येन स्वेन च पाणिना स्प्रब्दुं परिमर्भनमधिकृत्य क्रुतमिन्द्रियमिति परिमर्भनीयम् ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—वर्ण इत्यादि । स्पष्टस् ॥ २॥

गङ्गाधरः—स्पर्शमाधान्येनेत्यादि । स्पर्शः स्पर्शनेन्द्रियार्थस्तत्माधान्येन चक्षुरादिस्पर्शरूपविशेषणापि आतुरस्यायुपः ममाणावशेषं जिल्लासुः हातुमिच्छुभिषक्
मकृतिस्थेन पाणिना न तु विकारसुक्तेन पाणिना, तेन हि सम्यक् स्पर्शो न ह्यायते,
अस्यातुरस्य केवछं कृत्सनं शरीरं स्पृशेत्। न सु यदङ्गं न स्पष्टुं युज्यते, यस्य वा
अस्ययमपश्यादेः स्पर्शो न युज्यते, भिषजो वा पाणिरमकृतिस्थः, तस्य कथं
स्पर्शनं स्यादित्यत आह—विमर्शयद्वान्येनेति। कथं परिमर्शनं स्यादित्यत
आह—परीत्यादि। आतुरशरीरं परिमृशता भिषजा लातुरशरीरस्य स्वपाणिना वान्येन वा स्पर्शनेन परीक्षां कुर्विता खिल्वमे तत्र तत्र शरीरे भावा
वोद्धव्या भवन्ति। के ते भावा इत्यत आह—तद् यथेत्यादि। सततं स्पन्द-

चक्रपाणिः—इन्द्रियार्थानां रिष्टपारिशेष्यात् स्पर्शगतारिष्टाभिधायकं परिमर्शनीयमिन्द्रिय-मुच्यते। इममेव चाध्यायसम्बन्धं दर्शयताह—वण स्वरे चेत्यादि। स्पर्शेनेति वक्तव्ये, यत्

मिवोभत इत्यत्र विभीयते इति पाठान्तरं क्वित्।

स्तम्भः, नित्योष्मणां शितभावः, मृहूनां दारणत्वम्, श्रुच्णानां खरत्वम्, सतामसद्भावः, सन्धीनां खंसभ्रं शच्यवनानिक, मांस-शोणितयोवीतभावः, दारणत्वम्, स्वेदानुबन्धः, स्तम्भो वा। यञ्चान्यद्पि किश्चिदीहशं विद्यतमनिमित्तं स्यात्। इति-लच्णानां संयहः स्पृश्यानां भावानाम् ॥ ३॥

तद् व्यासतोऽनुव्याव्यास्यासः। तस्य चेत् परिष्टृश्यसानं पृथक्रवेन पादजङ्घोहिस्प्रगुद्रपार्श्वस्पृष्ठेषिकापाणियोवा-ताल्बोष्ठललाटं खिन्नं शीतं प्रस्तव्यं दाह्यां वीतमांसशोणितं

मानानां इरीरदेशानां नयनहृद्यादीनां स्तम्भोऽस्पन्द्नम्। नित्योप्पणां मुसाभ्यन्तरनासाम् इत्रण्डहृद्यनाभ्यादीनां शीतभावः शीतस्य। मृद्नां शरीरदेशानां दारुणतं कठिनस्य। श्रव्हणानां शरीरदेशानां जिह्नादीनां खरुलं ककिशतस्। सतां हपणादीनां अकस्मादसञ्चावो विलयनस्। सन्धीनां संसो नात्यधःपतनं, अंशः स्वस्थानादधःपतनं, स्यदनं सन्धीनां खस्थानात् विश्लेषः। मांसशोणितयोवीतभावः क्षयः नास्तिसमित्यर्थः। दारुणसं कठिनसम्। स्वेदानुवन्धः पायेण स्वेदसातत्यम्। स्तम्भो वा स्वेदस्यैव। अंतुक्तिनसम् । स्वेदानुवन्धः पायेण स्वेदसातत्यम्। स्तम्भो वा स्वेदस्यैव। अंतुक्तिनसम् । इतिलक्षणानाम् इत्येवंपकारलक्षणस्कानां स्पृश्यानां शरीर-भावाणास्।। ३।।

गङ्गाधरः—तत्परिमर्जनं व्यासतोऽनुव्याख्यास्याम इत्यर्थः। तस्यत्यादि। तस्यातुरस्य पृथक्तेन एकेक्यः पादजङ्घादिकं परिमृश्यमानं यदि स्विन्नं घम्म-युक्तं शीतं शीतलं प्रस्तव्यमस्पन्दं दारुणं कठिनं वीतमांसशोणितं मांस-

'स्पर्शमाधान्येनेव' इति करोति, तेन अस्पर्शमाह्यमपि चक्षुलोहितत्वादि रिष्टमिहं स्पर्शपरीक्षामध्ये वक्तन्यिमिति दर्शयित । अत्र च वृपणादीनां सतामिति झयं स्थूलावयवानां रिष्टेऽप्यभावदर्शनात् । अंशोऽपि गमनम्, धावनन्तु पाइर्धतो गमनम् । वीतीभावोऽतिक्षीणत्विमिति । लक्षणमनिमित्त-मिति सरणलक्षणम् । स्पर्शानामिति छेदः ॥ १—३॥

भ्यवनानीत्यत्र धावनानि इति वा पाटः ।

वा स्यात्, परासुरयं पुरुषो नचिरात् कालं मरिष्यतीति विद्यात् ॥ ४ ॥

तस्य चेत् परिमृत्यमानानि पृथक्त्वेन गुल्फजानुवङ्चण-गुदवृषणमेद्रनाभ्यंसस्तनमणिक-पर्शुकाहनुनासिकाकणि चिभ्नू-शङ्खार्दानि स्रस्तानि व्यस्तानि च्युतानि स्थानेभ्यः स्कन्नानि स्युः, परासुरयं पुरुषो नचिरात् कालं मरिष्यतीति विद्यात्॥ ५॥

तथास्योच्छ्रासमन्यादन्तपद्मचचुःकेश्रलोमोद्रग्नखाङ्गुलीश्च लच्चयेत्। तस्य चेदुच्छ्रासोऽतिदीर्घो हस्त्रो वा स्यात्, परासुरिति विद्यात्। तस्य चेन्मन्ये परिशृश्यमाने न स्पन्देयातां, परासुरिति विद्यात्। तस्य चेद् दन्ताः प्रतिकीर्णाः श्वेता जातशर्कराः स्युः, परासुरिति विद्यात्। तस्य चेत् पद्माणि जटाबद्धानि स्युः, परासुरिति विद्यात्। तस्य चेच्चचुषी प्रकृतिहीने विकृति-शोणिताभ्यां क्षीणं स्यात्। परासुगतपाणः पराशब्दस्य गतार्थतात्। निचरात् कालमचिरात् कालम्।। ४।।

गुङ्गाधरः—अथ तस्यातुरस्य पृथक्षेत्र एकैकशः परिमृश्यमानानि गुरुफा-दीनि स्थानेभ्यश्च्युतानि सन्ति स्कन्नानि गतिमन्ति शुष्काणि स्युस्तदायं पुरुषः परासुनैचिरात् कालं मरिष्यतीति विद्यात् ॥ ५॥

गङ्गाधरः—तथेत्यादि । लक्षयेत् परिमृशेत् । कथिमत्यत आह—
तस्येत्यादि । श्वासपरिमर्शनम् । ततस्तस्येत्यादि । परिमृश्यमाने पाणिना
र स्पृश्यमाने यदि न स्पन्देयातां तदायं परासुरिति विद्यात् । तस्य चेदित्यादि ।
प्रतिकीणां मललिप्ताः, श्वेताः श्वेतवर्णाः, जातशर्करा दन्तान्तर्ज्ञातशर्करा दद्रूपाः । तस्य चेदित्यादिना पश्मणां परीक्षा । जटावद्धानि त्रिचतुरादिपक्षमाणि
मिलिता जटाकाराणि । तस्य चेदित्यादि । चक्षुःपरीक्षा । प्रकृतिहीने प्रकृत्याः

चक्रपाणिः—एप्ठेपिका पृष्ठवंशः । पृथक्त्वेनेति एषेकत्वेन । मणिकं करबाहुसन्धिः । मन्ये गळपार्श्वगते धमन्यां । उच्छुासदैर्घ्यहासो नासाग्रदत्तकरस्पर्शादप्रकभ्येते । परिकीर्णा इति मळळिप्ताः । इवेतत्वं चक्षुर्जाह्यमपि स्पर्शापरीक्षणीयं दन्तधर्मप्रसावादुच्यते । चक्षुषी युक्ते अत्युत्पिगिडते अतिप्रविष्टे अतिजिह्ये अतिविष्मे अति-मुक्तवन्थने अतिप्रस्नु ते सततोन्मिषिते निमेषोन्मेषातिप्रवृत्ते विभ्रान्तदृष्टिके विपरीतदृष्टिके हीनदृष्टिके नकुलान्धे कपोतान्धे अलातवर्गो कृष्णानीलपीतश्यावताम्रह्णितशुक्कवैकारिकाणां वर्णा-नामन्यतमेनातिष्लुते वा रथाताम, तदा परामुरिति विद्यात् ॥ ६ ॥

तस्य चेत् केशलोमान्यायम्यमानानि प्रतुच्येरन् न वेदयेयुः, तं परामुरिति विद्यात् । तस्य चेदुद्ररे सिराः प्रकाशेरन् श्याव-

स्वभावाद् हीने भवतः सुतरां विकृतियुक्ते, अत्युत्पिण्डिते अतिश्येन वहिः पिण्डाकारतया निर्गते, अतिपविष्टे अभ्यन्तरतोऽतिकोटराकारे, अतिजिल्ले अतिकृटिले, अतिविष्मे चक्षुद्धयस्यातिवैष्मयं न तुल्यलम्, अतिमुक्तवन्धने अत्यथस्पारिते, अतिपल्ल ते अत्यर्थं लावयुक्ते, सततोन्मिषिते सन्वदा पायेण निमेषरहिते, किंवा निमेषोन्मेषयोरितप्रष्टित्तयुक्ते, विभानतदृष्टिके इतस्ततो दृष्टियुक्ते, विपरीतदृष्टिके विपरीतदृष्टियुक्ते, हीनदृष्टिके दर्शनरहिते, नकुलान्धे क्षोतान्धे या। तद् यथा—"नकुलान्धस्तु रूपाणि दिवा शुक्तानि पश्यित। कषोतान्धस्तु रूपाणि दिवा कृष्णानि पश्यित।" अलातवर्णे तसाङ्गारवर्णे। कृष्णादिवैकारिकाणां वर्णानामन्यतमेन।तिश्येन प्लते वा स्यातामेकेकविधे तदायं गतासः॥ ६॥

गङ्गाधरः—तस्येत्यादिना केशपरीक्षा। आयम्यमानानि आयतीकृतानि मल्लच्येरन् न वेदयेयुरुत्पाटने न वेदनावोधं गच्छेयुः। तस्य चेदित्यादिना

प्रकृतिहीने विकृतियुक्ते इति सामान्यवचनम्, तस्य विवरणम्—अस्युत्पिण्डिते इत्यादि । अस्युत्पिण्डिते इति अस्यर्थनिर्गते । अतिजिह्य अतिकृटिले, अतिविपमे इति एकं 'संवृतमपरं विस्तृतिमिति । निमेपोन्मेपिकिषया अस्यर्थं वर्तते इति निमेपोन्मेपितिवृत्ते । विपरीतदृष्टिके इति अयत्वरृष्टिके । किंवा विपरीतदृष्टिके अन्यथाप्राहिणी । हीनदृष्टिके अदूर - दिशिनी, नष्टदृष्टिके वा । नकुलान्धकपोतान्धलक्षणप्रस्तः "नकुलान्धस्तु रूपाणि दिवा शुक्कानि पश्यित । कपोतान्धस्तु रूपाणि दिवा शुक्कानि पश्यित । कपोतान्धस्तु रूपाणि दिवा शुक्कानि पश्यित ॥" अलातस्तु तष्ठाङ्गारः । इह चक्षुर्रता-रिष्टामिधानप्रस्तावादस्पर्श्वाद्यमि चक्षुपोरलातवर्णत्वादिकमुच्यते ॥ ४—६॥

चक्रपाणिः — उदरानुगताः शिरास्त्विह स्पर्शनमाह्या भवन्तीति उक्ताः, तत्प्रसङ्गात् चक्षुक्रीह्याः

ताम्रनीलहारिद्रशुक्का वा स्यः, परासुरिति विद्यात् । तस्य चेन्नखा वीतमांसशोणिताः पकजाभ्वववर्णाः स्यः, तं परासुरिति विद्यात् । त्रथास्याङ्गलीः लचयेत् । तस्य चेदङ्गुल्य आयम्यमाना / न स्फुटेयुः, तं परासुरिति विद्यात् ॥ ७ ॥

भवति चात्र।

एतान् स्पृश्यान् वहून् भावान् यः स्पृश्त्रवबुध्यते । आतुरे न स संमोहमायुर्जानस्य गच्छति ॥ ८ ॥ इत्यिश्ववेश्कृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने परिमर्श-नीयमिन्द्रियं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

उदरपरीक्षा। सिराः सरणजीला नाड्यः। प्रकाशेरन् व्यक्ताः स्युः किंवा ताश्च इयावादिवर्णाः स्युः। तस्य चेदित्यादिना नखपरीक्षा। वीतमांसशोणिता मांसशोणितरहिताः पक्षजाम्बववर्णाश्च स्युः। अथास्येत्यादिनाङ्गुलीपरीक्षा। आयम्यमाना आयामेन क्रोइशोऽन्युव्जीकरणेन न स्फुटेयुस्तदायं परासुः॥ ७॥

गङ्गाधरः—अत्र श्लोकेन दर्शयति—एतानित्यादि। स भिषगातुरे आयुर्जानस्य सम्मोहं न गच्छतीत्यर्थः॥८॥

गङ्गाधरः-अध्यायं समापयति-अमीत्यादि ।

इति वैद्य श्रीगङ्गाधरकविरत्नविरचिते चरकजल्पकल्पतरौ इन्द्रियस्थानजल्पे पञ्चमस्कन्धे परिमर्जनीयेन्द्रियतृतीयाध्यायजल्पाख्या

तृतीयशाखा ॥ ३॥

शिरावर्णो अप्युक्ताः । आयच्छेदिति स्फोटयेत् । नखाङ्गुलिगतारिष्टपरीक्षायान्तु स्पर्शोऽपि व्याप्रियत एवेति कृत्वा तद्रिष्टयपीहोक्तम् । एतान् स्ष्ट्रयानिति वाहुल्यादुक्तम् । एवं स्ष्ट्रशन् इ्त्येतद्रि वाहुल्यादुक्तम् । 'अज्ञानस्यैव'पाठपक्षे पष्टी सम्बन्धविवक्षायाम् ॥ णट ॥ इति महामहोपाध्याय-चरकचतुरानन-श्रीमचक्रपाणिद्वत्तविरचितायामायुर्वेदद्रीपिकायां चरक-तात्पर्य्यटीकायाम् इन्द्रियस्थाने परिमर्शनीयेन्द्रियं नाम नृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः।

अथात इन्द्रियानीकमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः, इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

इन्द्रियाणि यथा जन्तोः परीचेत विशेषवित् । आयुःप्रमाणं जिज्ञासुर्भिपक् तद्यो निवोधत ॥ अनुमानात् परीचेत दर्शनादीनि तत्त्वतः । अद्या हि वितथं ज्ञानिमिन्द्रियाणामतीन्द्रियम् ॥ खस्थेभ्यो विकृतं यस्य ज्ञानिमिन्द्रियसम्भवम् । आल्द्येतानिमित्तेन ल्ज्ञणं सरणस्य तत् ॥ २ ॥

गङ्गाधरः—अथोद्देशानुक्रमिकलात् पञ्चार्थपरीक्षानन्तरं पञ्चेन्द्रियपरीक्षार्थ-मिन्द्रियानीकमिन्द्रियमाह—अथात इत्यादि । इन्द्रियाणामनीकं समूहमायुपः प्रमाणावशेपज्ञानार्थं परीक्षितुमधिकृत्य कृतिमतीन्द्रियानीकम् ॥ १॥

गङ्गाधरः—इन्द्रियाणीत्यादि । विशेषवित् इतीन्द्रियशक्तिविशेषवेत्ता भिषक् । तदिन्द्रियपरीक्षणम् । नन्विन्द्रियमप्रत्यक्षं कथं परीक्षेतेत्यत आहं— अनुमानादित्यादि । दर्शनादीनि चक्षुरादीनि । इन्द्रियेषु वहुविषयत्वेन प्राधान्यादादो चक्षुप्रहणम् । ननु कस्मादनुमानादित्यत आह—अद्धा हीत्यादि । हि यस्मादिन्द्रियाणामतीन्द्रियत्वेनेन्द्रियाणां ज्ञानमप्यतीन्द्रियम् इन्द्रियाण्यतिक्रान्तं, ततो न वितथमद्धानेन्द्रियपत्यक्षतो ज्ञानम् तस्मादनुमानेन चक्षुरादोनि र्तत्वतः परीक्षेत । परीक्षामाह—सामान्यसूत्रेण । स्वस्थेभ्यः इत्यादि । यस्य पुरुषस्य त्विन्द्रियसम्भवं चक्षुरादिभिद्र्शनादिजं ज्ञानं

चकपाणिः उद्देशकमानुरोधादिन्द्रियगोचरारिष्टाभिधानार्धमान्द्रयानीकमुच्यते । इन्द्रियाणा-मनीकं समूहमधिकृत्य कृतिमिन्द्रियानीकम् । दर्शनं चक्षुः, दर्शनादीनि चक्षुरादीनि पञ्चे-निद्रयाणि । इन्द्रियाणां परीक्षा न प्रत्यक्षेणेत्याह अद्धा हीत्यादि । अद्धेति अवितथम् । अतीन्द्रियत्वादनुमानेनैव परीक्षणिभिति वाक्यार्थः । स्वस्थेभ्य इति प्रकृतिस्थेभ्य इन्द्रियेभ्यः । उत्पन्नमिति शेषः । इन्द्रियसंश्रयमिति वाहेपन्द्रियजन्यम् । अनिमित्तेनेति विकृतज्ञानजनक-वाह्यहेतुव्यतिरेकेण । इन्द्रियगतविकृतज्ञानजनकदोपनिरासस्तु 'स्वस्थेभ्यः' इति विशेषणेनैव इत्युक्तं लच्गां सम्यगिन्द्रियेष्वशुभोदयम् । तदेव तु पुनभू यो विस्तरेगा निवोधत ॥ ३ ॥ घनीभूतिमवाकाशमाकाशिमव मेदिनीम् । विगीतमुभयन्त्वेतत् पश्यन् मरणष्ट्रच्छिति ॥ ४ ॥ यस्य दर्शनमायाति मास्तोऽम्वरगोचरः । अञ्जिना याति वा दोतस्तस्यायुःच्यमादिशेत् ॥ ५ ॥

स्वस्थेभ्यः पुरुपेभ्यो विकृतमिनिमित्तेन भिषगालक्षेत, तस्य तल्लक्षणं मरणस्य। इतीन्द्रियेष्वशुभोद्यं लक्षणं सम्यगुक्तम्। तदेव भूयो वहुतमं विस्तरेण यूयं निवोधत ॥ २।३ ॥

गङ्गाधरः—घनीभूतिमत्यादि । पुमानाकार्गं घनीभूतं मृत्तिमन्तिमव पश्यन् मरणमृच्छति । मेदिनीं पृथिवीमाकाशिमव पश्यन् मरणमृच्छिति । एतदुभयन्तु विगीतं विषय्ययेण गीतं निन्दितम् ॥ ४॥

गृङ्गाथरः—यस्येति । अम्बरगोचर आकाशगत्या स्पर्शनेन्द्रियविषयो मूर्त्तौ मारुतो यस्य पुंसो दर्शनमायाति मूर्त्तिमान् सन् दृष्टिगोचरो भवति। अथवाग्निमा वा दीप्तः सन् दर्शनं आयाति तस्यागुःक्षयमादिशेत् । सुश्रुतेऽप्युक्तं—यश्चानिछं मृर्त्तिमन्तमन्तरीक्षश्च पश्यति । धूमनीहारवासोभिराष्ट्रतामिव मेदिनीम्।

कृतः । अशुभोदयमिति मरणकारणम् । 'पुनः'शब्दः प्रकाशने । यथा—''दोपाः पुनस्यः'' । 'भूयः'शब्दः पुनःपुनरर्थं । किंवा 'भूयः'शब्दो महद्यंः । तेन 'पुनर्भूयः'शब्दयोभिन्नार्थंत्वम् । विनीमृतमिति कठिनतां गतम् । तेन 'मृत'शब्दो गतार्थे, यथा—उपधानीमृतम् । तेन 'इव'शब्दश्चोपमाने भवति । घनीमन्ये पृथिवीं वदन्ति । तेन घनीमृतं पृथिवीरूपतां प्रातम् । अकाशमिव मेदिनीमिति शून्यरूपां मेदिनीम् । विगीतमिति विपरीतत्वेन शातम् । 'प्रभयम्'' इत्यनेन योगपन्ने पृथिब्याकाशविपरीतोपरम्भो रिष्टम् नैकैकत्वेन । अयञ्चारिष्ट-पिहमा यथा—एवंरूपमेव रिष्टं भवति, एवमप्युक्तारिष्टेपु तथा तथोत्पादः स्वमिहम्नैव श्रेयः । रतानि चारिष्टानि सामान्येनैवेन्द्रियारिष्टाभिधायकप्रकरणक्ष्यान्यिपि प्रायोभावित्वेन श्रिक्तप्राहिक-रयाभिधीयन्ते ॥ १—४॥

चक्रपाणिः—दर्शनमिति चक्षुगींचरताम् । अम्बरगोचर इत्यनेन अधिष्ठानुदेवतारूपवातदर्शनं नेपेधयति । एतेन एप वायुरित्याकारवानिति मारुतप्रत्यक्षज्ञानमरिष्टम् । नायाति दर्शनमिति तम्बन्धः ॥ ५ ॥ जले सुविसले जालसजालावतते नरः। स्थिरं गच्छित वा दृष्ट्या जीवितात् परिमुच्यते॥ ६॥ जायत् पर्यति यः प्रेतान् रचांसि विविधानि च। अन्यद्वाध्यद्क्षुतं किश्चिजीवितात् परिमुच्यते॥ ७॥ योऽग्निं प्रकृतिवर्णस्थं नीलं पर्यति निष्प्रसम्। कृष्णं वा यदि वा शुक्कं सोऽसौ ७ वजित सप्तमीम्॥ =॥

भदीप्तिमिव लोकश्च यो वा प्लतिमवाम्भसा। भूमिमष्टापदाकारां रेखाभियश्च पश्यति। न पश्यति सनक्षत्रां यश्च देवीमरून्धतीम्। ध्रुवमाकाशगङ्गां वा तं वदन्ति गतायुपम्।। इति।। ५।।

गुङ्गाधरः — जले इति । स्थिरे गच्छति चपले वा सुविमलेऽजालावतते जालेरनवतते जले जालं दृष्ट्या जीवितात् परिमुच्यते स्नियते इत्यर्थः ॥ ६ ॥

गृहाधरः—जाग्रदित्यादि। यः स्वस्थ आतुरो वा जाग्रत् सन् प्रेतान् स्तान् पश्यित स जीवितात् परिमुच्यते। यो वा जाग्रत् सन् विविधानि रक्षांसि पश्यित स जीवितात् परिमुच्यते। अन्यद्वापीदृशमञ्जुतं किश्चित् यो जाग्रत् सन् पश्यित स म्रियते। उक्तश्च स्रश्नुते—ज्योत्स्नाद्शोदणतोयेषु छायां यश्च न पश्यित। पश्यत्येकाङ्गृहीनां वा विकृतां वान्यसत्त्वजाम्। श्वकाककङ्ग्रधाणां प्रेतानां यक्षरक्षसाम्। पिशाचोरगनागानां भूतानां विकृतामि। यो वा मयूरक्षण्डामं विधृमं विद्वमीक्षते। आतुरस्य भवेन्मृत्युः स्वस्थो व्याधिमवाष्नुयात्।। इति।। ७।।

गङ्गाधरः—योऽग्निमित्यादि। पकृतिवर्णस्थं न गन्धकादिसम्भवत्वेन नीलं, विह्नं य आतुरो नीलं, निष्प्रभमग्नेयां प्रभा प्रसिद्धा तया हीनं पश्यित, स सप्तमीं रात्रिम् अग्नौ व्रजति, सप्तमरात्रे म्नियते। एवं य आतुरोऽग्निं कृष्णं निष्प्रभं पश्यित, सोऽपि सप्तमरात्रे म्नियते। एवं य आतुरोऽग्निं शुक्तं धवलं निष्प्रभं पश्यित सोऽपि सप्तमरात्रे म्नियते। ८।।

चक्रपाणिः—स्थित इति स्थिरे। गच्छति वहमाने। येषु चेह रिप्टेपु मरणकालियमो नोक्तस्तत्र संवत्सरमविधर्भवति। ततः परेण हि रिप्टे मरणानिभधानात्॥ ६॥

चक्रपाणिः—प्रेतानित्यादिबहुवचनान्नैकप्रेतादिदर्शनं रिष्टमिति भावः। प्रकृतिवर्णस्थमिति

सोऽग्नौ इत्यत्र निशामिति कचित् पाठः ।

मरीचीनसतोऽमेघान् मेघान् वाध्यसतोऽम्बरे। विदुत्रतो वा विना मेघान् यः पश्यति स नश्यति ॥ ६ ॥ मृन्मयीमिव यः पात्रों कृष्णाम्बरसमावृताम्। आदित्यमीचते शुद्धं चन्द्रं वा न स जीवति॥ १०॥ अपव्वणि यदा पश्येत् सूर्य्याचन्द्रमसोर्य हम्। अव्याधितो व्याधितो वा तदन्तं तस्य जोवितम्॥ ११॥ नक्तं सूर्य्यमसचन्द्रमनय्नो धूममुत्थितम्। अश्मिनं वा निष्प्रभं रात्रो दृष्ट्या मरणमृच्छति॥ १२॥

गङ्गाधरः—मरीचीनित्यादि । य आतुरोऽशेधान् मेघहीनान् असतश्च मरी-चीन् मेवज्योतिषः अम्बरे आकाशे पश्यति, स नश्यति । यो वातुरोऽम्बरे विना मेघान् असतः असत्यान् मेघान् पश्यति, स नश्यति । यो वाष्यातुरोऽम्बरे विना मेघान् विदुत्रतः पश्यति, स नश्यतीति ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—मृन्मयीमिवेत्यादि। य आतुरः कृष्णाम्वरसमावृतां कृष्णवर्ण-वस्तावृतां मृन्मयीं पात्रीमिव शुद्धं मेघाचनावृतं निम्मेलमादित्यं सूर्य्यमीक्षते पश्यति, स न जीवति। यो वातुरस्तथा मेघाचनावृतं निम्मेलं चन्द्रं कृष्णाम्वर-स्र गढ्नां मृन्मयीं पात्रीमिव पश्यति स न जीवति। पात्रीं स्थालीं शरावादिकाम्॥ १०॥

गृङ्गाधरः—अपर्विणीत्यादि । अन्याधितो न्याधितो वा यस्त्वपद्यणि अमावास्यां विना अन्यत्र तिथौ स्ट्यंग्रहणं राहुकेतुम्यां यदा पद्येत्, किंवा पूर्णिमां विना अन्यत्र तिथौ चन्द्रस्य ग्रहणं यदा पद्येत्, तस्य तदन्तं तदग्रहणदर्शनपट्येन्तं जीवितम् । यदा ग्रहणदर्शनं न स्यात् तदा मरिष्यतीति भावः ॥ ११ ॥

गङ्गाधरः — नक्तिमित्यादि । आतुरोऽनातुरो वा नक्तं रात्रौ सूर्यं दृष्ट्वा मरणम् वैवर्ण्यविकृत्यादिकारकसविपात्रवर्णीदिविरहेण स्वीय एव लोहितकपिले वर्णे व्यवस्थितम् । सप्तमीं निशां वजित । तेनाष्टमाहान्मरणम् ॥ ७—८॥

चक्रपाणिः—मरीचीनसत इत्यत्र प्रकरणात् 'मरीचि'शब्देन मेघद्रातिरूच्यते। मरीचीनां विशेषणम् 'असतः' इति। विद्रातो वा विना मेघादिति अव्झान्तच्छटा एव सदा मेघसम्बन्धोप-रूभ्यमाना विद्रात इति, ता हि न विना मेघदर्शनमपि कदाचित् स्वस्थैरुपरुभ्यन्ते॥ ९॥

चकपाणिः—शुद्धमिति मेघाद्यनन्तरितम् । रात्रावित्यनेन दिवा वह्निन्धाभत्वदर्शनमिरण्टं

प्रभावतः प्रभाहीनान् निष्प्रभान् ये प्रभावतः । नरा विलिङ्गान् पश्यन्ति भावान् प्राणान् जिहासवः ॥ १३ ॥ ध्याकृतीनि विदर्णानि विसङ्घ्योपगतानि च । विनिस्मितानि क पश्यन्ति रूपाण्यायुःचये नराः ॥ १४ ॥ यश्च पश्यत्यदृश्यान् वे दृश्यान् यश्च न वृध्यते । ताविष्युभौ यथा प्रतो तथा ज्ञेयो विजानता ॥ १५ ॥

श्च्छिति। रात्रौ अस्इन्द्रं यस्यां रात्रौ चन्द्रो न वर्त्तते तस्यां रात्रौ चन्द्रं दृष्ट्वा मरणमृच्छिति। अन्तर्यो उत्थितं धूमं दृष्ट्वा मरणमृच्छिति। शीते तु यन्नद्यादि-जले धूमवत् पश्यित स न धूमः, परन्तु वाष्पः। रात्रौ अग्निं निष्पभं दृष्ट्वा मरणमृच्छिति॥१२॥

गुङ्गाधरः—प्रभावत इत्यादि । प्राणान् प्राणादिकान् शारीरान् जिहासवो हातुमिच्छवोऽर्थात् शीघ्रं ये मरिष्यन्ति ते नराः प्रभावतो भावान् प्रभाहीनान् पश्यन्ति, निष्प्रभान् भावान् अप्रभावतो निष्प्रभान् न पश्यन्ति अर्थात् निष्प्रभान् प्रभावतः पश्यन्ति । एवंप्रकारेणान्यानपि भावान् विलिङ्गान् विगतसहज- लिङ्गान् पश्यन्ति ॥ १३ ॥

गङ्गाधरः—व्याकृतीनीत्यादि। नरा आयुःक्षये सति रूपाणि मूर्त्तिं-विशेषान् विनिम्मितानि विशिष्टं साधु निम्मितानि प्रतिमादीनि व्याकृतीनि विरुद्धांकृतीनि पश्यन्ति विवर्णानि वा पश्यन्ति, विसङ्क्रोपगतानि सङ्क्रा-वैपरीत्ययुक्तानि वा पश्यन्ति ॥ १४ ॥

गङ्गाधरः—यरचेत्यादि। यश्चाद्दरयान् वाय्वाकाशादीन् परयति, यश्च वा द्दर्यान् मूर्त्तिमतो घटादीन् न वुध्रते न पर्यति, तावुभौ यथा पेतौ मृतौ यथा, तथा हो यौ विजानता विह्नो । सुश्रूते च—द्वन्द्वान्युष्णिहमादीनि कालावस्था दिशस्तथा। विपरीतेन गृह्णाति भावानन्यांश्च यो नरः॥ दिवा नैवेति दर्शयति। विलिङ्गानिति विगतसहजलिङ्गान्। तेन प्रभाव्यतिरिक्ताञ्चनादिलिङ्गाविपर्य्ययो रिप्टं भवात। भावानिति प्राणान्। किंवा महापञ्चमूतानि शरीररूपाणि। व्याकृतीनीति विविधाकृतीनि। विवर्णानीति विरुद्धवर्णीन। विसंख्योपगतानीति विगतसंख्यायुक्तानि। वितिमित्तानीति व्याकृत्यादौ विगतनिमित्तानि व्याकृत्यादिकारकहेतुव्यतिरेकेण व्याकृत्यादियुक्त-ख्यद्द्यांनमरिष्टमित्यर्थः। ख्याणीति रूपवन्ति द्वव्याणि॥ १०—१५॥

चिनिमित्तानि इति चकः।

अशब्दस्य च यः श्रोता शब्दान् यश्च न बुध्यते । द्वावे तो पश्यतः चित्रं यमालयमसंशयम् ॥ १६ ॥ संवृत्याङ्ग् लिभिः कर्णो ज्वालाशब्दं य आतुरः । न श्रुगोति गतासुं तं बुद्धिमान् परिवर्ज्यते ॥ १७ ॥ विपर्थ्ययेण यो विद्याद्व गन्धानां साध्यसाधुताम् । न चैतान् सर्व्वशो विद्यात् तं विद्याद्व विगतायुषम् ॥ ६८ ॥

द्वन्द्वान्युष्ण हिमादीनि कालावस्था दिशस्तथा। विपरीतेन यो गृहाति भावानन्यांश्च यो नरः॥ ज्योतींपि यश्चापि ज्वलितानीव पश्यति। रात्रौ सुर्यं ज्वलन्तं वा दिवा वा चन्द्रवचेसम्। अमेघोपष्ठवे यश्च शक्तचापति हृद्गुणान्। तिङ्क्तोऽसितान् यो वा निम्मेले गगन घनान्। विभानयानपासादैपेश्च सङ्खुलमम्बरम्। यश्चानिलं मूर्त्तिमन्तमन्त्रीक्षश्च पश्यति। तं वदन्ति गतायुपम्। इति परेणान्वयः। इति चक्षःपरीक्षा॥१५॥

गङ्गाधरः—अथ श्रोत्रपरीक्षामाह—अशब्दंत्यादि । अशब्दस्य शब्दंतरस्य श्रवणेन्द्रियाग्राह्यस्य स्पर्शादेयेः श्रोता, यो वा शब्दान् न बुध्राते न शृणोति, एतौ द्वौ क्षिमं यमालयं पश्यतः ॥ १६ ॥

गङ्गाधरः—संग्रत्येत्यादि। य आतुरः कर्णावङ्गुलिभिः संग्रत्य ज्वालाशब्दं ज्वालावद्ध्वनं न शृणोति, गतामुं गतपाणं त बुद्धिमान् परिवज्जेयत्।
सुश्रुते तु—शृणोति विविधान् शब्दान् यो दिव्यानामभावतः। समुद्रपुरमेघाणामसम्पत्तौ च निस्वनान्। तान् स्वनान् नावग्रद्धाति मन्यते चान्यशब्दवत्।
ग्राम्यारण्यस्वनांश्वापि विपरीतान् शृणोत्यपि। द्विपच्छव्देषु रमते सहच्छव्देषु
कुप्यति। न शृणोति च योऽकस्मात् तं ब्रुवन्ति गतायुपम्।। इति। इति
श्रवस्राधिकारः।। १७।।

गृहाधरः—अथ घ्राणपरीक्षा—विपय्ययेणेत्यादि । यो गन्धानां साधुत्रम् असाधुत्वं विपय्ययेण विद्यादसाधुत्वं वा साधुत्वं विद्यात् साधुत्वं वाप्य-साधुत्वं तौ द्वौ । यश्च एतान् साधून् वाप्यसाधून् वा सर्व्वान् गन्धान् सर्व्वशो न विद्यात् तं त्रिकं विगतायुपं विद्यात् । सुश्रुतेऽपि—सुगन्धं वेत्ति

चक्रपाणिः—अशब्दस्येत्यादिना—श्रोत्रारिष्टमाह । ज्वालाया शब्द इव शब्दो ज्वालाशब्दस्तम्। विषय्ययेगेर्यादिना—ब्राणारिष्टमुच्यते । न वा तान् सर्वशो विद्यादिति सर्वथैव गन्धान् शुभान् यो रसान् न विजानाति न वा जानाति तस्वतः।

मुखपा हार पद्मं तसाहुः कृश्जा नरम् ॥ १६ ॥

उष्णान् शीतान् खतान् श्वच्णान् मृदूनिप च दाहणान्।

स्एष्ट्रा विद्यात् ततोऽन्यत्वं मुसूर्षु स्तैषु मन्यते॥ २०॥

दुर्गन्धिं दुर्गन्धस्य सुगन्धिताम्। यो वा गन्धान् न जानाति गतासुं तं विनिद्धिरोत्।। इति प्राणपरीक्षा ॥ १८॥

गङ्गाधरः—अथ रसनंन्द्रियपरंक्षा—यो रसानित्यादि। मुखपाकाद्दते मुखस्य वार्तादिना दुष्टौ रसनोपधातं विना यो रसान् मधुरादिविशेषान् न विजानाति रसमात्रं जानाति, यो वा रसत्वेन वा न रसान् जानाति, तं नरं कुश्च वैद्याः पक्षं जीवितकाछेन पक्षं परिणतमाहुरचिरान्मरिष्यतीत्याहुर्गत्यर्थः। सुश्रुते च—विपरीतेन यहाति रसान् यश्चोपयोजितान्। उपयुक्ताः क्रमाट् यस्य रसा दोपामिष्टद्धये।। यस्य दोपामिसाम्यश्च कुय्यु मिथ्योपयोजिताः। यो वा रसान् न संवत्ति गतासुं तं प्रचक्षते।। इति रसनापरीक्षा।। १९।।

गङ्गाधरः—अथ स्पर्जनेन्द्रियपरीक्षा—उण्णानित्यादि । मुम्पुंनेर उण्णान स्पर्जान् ज्ञीतान् स्पृष्टा तेषूष्णेषु ततोऽन्यलं ज्ञीतलं यन्यते । एवं खरान् स्पर्जान् श्रुक्षणान् स्पृष्टा खरेषु श्रुक्षणालं यन्यते । एवं गृदृन् स्पर्जान् दाम्णान् किनान् स्पृष्टा गृदृषु दारुणलं यन्यते । सुश्रुते च—यस्तूष्णियव गृहाति ज्ञीतमुष्णञ्च ज्ञीतलम् । संजातज्ञीतिपङ्को यश्च दाहेन पीड्यते ॥ उष्णगात्रो-ऽतियात्रञ्च यः ज्ञीतेन प्रवेपते । प्रहारान् नाभिजानाति योऽङ्गच्छेदमथापि वा ॥ पांशुनेवावकीर्णानि यश्च गात्राणि यन्यते । वर्णान्यभावो राज्यो वा यस्य गात्रे भवन्ति हि ॥ स्नातानुष्ठिमं यञ्चापि भजन्ते नीलमित्रकाः । सुगन्धिर्वाति योऽङ्गस्थात् तं ज्ञुवन्ति गतायुषम् ॥ इति स्पर्शनेनिद्रय-परीक्षा ॥ २०॥

अधुभान् वा न वेति । तत्त्वत इति स्वकीयेन रूपेण । 'मुखपाक'शस्दः पित्तादिदोपोपलक्षणम् । तेन पित्तदृष्टरसनान्यथात्वम्राहकस्य ब्युदासोऽवरुध्यते । पक्तमिति सम्पूर्णायुष्कालम् । ततो-उन्यत्वमिति उष्णे शीतत्वम्, श्रक्षणे खरत्वमित्यादि मन्यते ॥ १६—२०॥ श्रन्तरेग तपस्तीवं योगं वा विधिपूर्विकम् । इन्द्रियरिधिकं पश्यन् पश्चत्वेमुपपद्यते ॥ २१ ॥ इन्द्रियाणासृते दृष्टेरिन्द्रियार्थान् न पश्यति छ । विपर्थ्ययेग यो विद्यात् तं विद्याद् विगतायुषम् † ॥ २२ ॥ स्वस्थाः प्रज्ञाविषय्यासीरिन्द्रियार्थेषु वैकृतम् । पश्यन्ति ‡ ये सुबहुशस्तान् गतायुष श्रादिशेत् ॥ २३ ॥

गृङ्गाधरः—अथ सामान्येन्द्रियपरीक्षा—अन्तरेणेत्यादि । विधिषूव्वकं तीत्र' तपोऽन्तरेण तीत्र' योगमन्तरेण च इन्द्रियैः श्रोत्रादिभः पञ्चभिः अधिक-मिन्द्रियाग्राह्यम् अगोचरञ्च पश्यन् जानन् पञ्चलं मृत्युमुपपद्यते । तपोयोगाभ्यां हि अधिकं पश्यति तन्नाशुभम् ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—इन्द्रियाणामित्यादि। इन्द्रियाणां मध्ये दृष्टेर्क्यते चक्षुपी विनान्यैश्रतुभिरिन्द्रियौरिन्द्रियार्थान् स्पर्शादीन् न पत्र्यति न जानाति सर्व्यान् थांश्रक्षुपैव पत्र्यति न तु रूपवत्त्या। परन्तु चक्षुर्प्राह्यार्थस्य विपर्य्ययेण तत्तच्छन्दस्पर्शोदितया विद्यात् तं गतायुपं विद्यात्।। २२।।

गङ्गाधरः — स्वस्था इत्यादि । स्वस्था नरा ये प्रशाविषय्यासिनु द्धिविषय्ययै-रिन्द्रियाथेषु शब्दादिषु सुबहुशो वैकृतं पश्यन्ति तान् गतायुप आदिशेत् ॥२३॥

चक्रपाणिः सम्प्रति सन्विन्द्रयिरिष्टं सामान्येन ह्राते अन्तरेणेत्यादि । अन्तरेणेति विना । योगिमित्यस्य विशेषणं विधिष्ट्वंकिमित्यनेन यथाविधि कृतस्यव योगस्यातीन्द्रियज्ञाने समर्थत्वम् । अधिकिमिति अस्मदादीन्द्रियाविषयम् । पञ्चत्विमिति मरणम् । दृष्टिरुपल्लिधः या दृष्टिरुपचारात् उच्यते, तेन ऋते दृष्टेरिति उपल्लिधं विना । तत्तद्दचेन्द्रियाणामुपल्लिध्याक्तिं विना य दृन्द्रियैः उपल्लेश्वमशक्यान् पद्येदिन्द्रियौः, न स जीवात । अदोपज्ञानित्यनेन च दोपजस्वभावादिन्द्रिया-श्वावयार्थम्रहणं निराकरोति । यथा अङ्गुल्यिन्द्रतः चक्षुवीनदृष्ट्या आसन्नवस्तुद्वयिमान्द्रयाविषयं पद्यति, यथा पित्तदृष्टरसनं ह्यस्लं न मधुरं प्रत्येतीत्यादि बोध्यम् । स्वस्था इत्यविकृतेन्द्रियम्मसः । प्रज्ञाविषयर्थासैरिति श्रेपीमृतार्थप्रभावकृतः प्रज्ञाविषयर्थासः । असदिन्ति अयथामृतम् ।

^{* &}quot;अदोपजान्" इति चकः।

[†] नरः पर्यति यः कथित् इन्द्रियेनं स जीवति इति चक्रवर्णितः पाठः।

येऽसद्बहुशस्तेषां मरणमादिशेत् । इति चक्रसम्ततः पाठः ।

तत्र श्लोकः।

एतिहिन्द्रियविज्ञानं यः पश्यति यथातथम् । सरगां जीवितः चैव स भिषग् ज्ञातुमईति ॥ २४ ॥

इत्यिम्नवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने इन्द्रियानीकिमिन्द्रियं नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

गङ्गाधरः—अध्यायाथमुपसंहत्य पर्शसति—तत्रेत्यादि । इन्द्रियस्य विकानं विकानकरणं शास्त्रं यः पद्यति जानाति ॥ २४ ॥

अध्यायं समापयति—अग्रीत्यादि ॥

इति वैद्यश्रीगङ्गाधरकविरव्वविरचिते चरकजलपकलपंतरौ पश्चमस्कन्ध इन्द्रिय-स्थानजलपे इन्द्रियानीकेन्द्रियजलपाख्या चतुर्थी शाखा ॥ ४ ॥

बहुश इत्यनेन सकुद्दर्शनस्य नारिष्टन्वम् । इन्द्रियविज्ञानम् इन्द्रियगतरिष्टज्ञानम् । जीवित-ज्ञानन्वेह रिष्टशून्येन्द्रियज्ञाने सति भवतीति ज्ञेयम् ॥ २१—२४॥

इति महामहोपाध्यायचरकचतुरानन-श्रीमचक्रपाणिदत्तविरचितायामायुर्वेददीपिकायां चरकतात्परयंटीकायाम् इन्द्रियस्थाने इन्द्रियानीकेन्द्रियं नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

पञ्चमोऽध्यायः।

अथातः पूर्व्यरूपीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः, इतिह स्माह भगवानात्रेयः॥ १॥

पूर्विरुपायसाध्यानां विकासणां पृथक् पृथक् । भिन्नाभिन्नानि वच्यामि भिषजां ज्ञानवृद्धये ॥ २ ॥ पूर्विरुपाणि सर्व्वाणि उवसोक्तान्यतिमात्रया । यं विशन्ति विशस्येनं सृत्युर्ज्वरपुरःसरः ॥ ३ ॥

गङ्गाधरः —अथेत्यादि । अथेन्द्रियानीकेन्द्रियादनन्तरमतः आतुरविषया-रिष्टोदेशानुकमलात् पूर्विख्पाणां पूर्वेरूपीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः, इतिह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

गङ्गाधरः—तद् यथा—पूट्येरूपाणीत्यादि। असाध्यानां विकाराणां पृथक् पृथक् रोगाणामसाध्यत्यस्यापकानि पूर्व्यरूपाणि भिन्नाभिन्नानि विशेषणा पूर्व्यरूपाणि सन्वरोगाणामेकविधया च वक्ष्यामि।। २।।

ं गङ्गाधरः—सामान्यविधया प्रथमत आह—पूर्व्वरूपाणीत्यादि । एनं ज्वरि-णम् ॥ ३॥

चक्रपाणिः—इन्द्रियगतिरष्टमिभधाय सरवादीनामग्रे सूचितानामिरिष्टमग्रे वक्तुं शुज्यते ; तत् तु अल्पवक्तत्यत्वात् तदुल्ल्क्य बहुवक्तव्यं पृथ्वंक्रपिरष्टमभिधातुं पृथ्वंक्रपीयोऽभिधीयते । प्रथमाध्याये एव तु सत्त्वादीनामग्रेऽभिधानमिन्द्रियैः समं बुद्धिसाधनत्वादिशसङ्गागतं ज्ञेयम् । व्याधिस्तु यद्यपि बहुत्वेन वक्तव्यः कतमानिश्वरीरीयेऽग्रे सूचितथ्य, तथापि पृथ्वंक्षपपृथ्वंकत्वात् व्याधेः पृथ्वं पृथ्वंक्षपिष्ट् । सूत्रे त्वग्रे व्याधिवचनेन पृथ्वंक्षपात् व्याधेः पृथ्वंक्षपवायस्य प्राधान्यं दर्शयति । भिन्नाभिन्नानीति साधारणासाधारणानि । तत्र "पृथ्वंक्षपाणि" इत्यादिना "तस्यापि मरणं ध्रुवम्" इत्यन्तेन सर्वव्याधिरिष्टं साधारणग्रुक्तम् । पृथ्वंक्षपिण्यं इत्यादिना तु प्रतिव्याधि मिन्नपृथ्वंक्षपारिष्टमुच्यते । अन्ये तु भिन्नाभिन्नानीति वक्तानुक्तानीति व्यवते, तत्र ज्वरादिपृथ्वंक्षपार्युक्तानि । श्रभिरुष्ट्रेः खरेरित्यादि तु पृथ्वंक्षपानुक्तम् । सर्व्वाणीति समस्तानि । अति-

अन्यस्यापि च रोगस्य पूर्व्वरूपाणि यं नरम्।
विश्वन्थनेन कल्पेन तस्यापि सरगां ध्रुवम् ॥ ४ ॥
पूर्व्वरूपेकदेशांस्तु वच्यास्यन्यान् सुद्धारुगान् ।
ये रोगाननुवधन्ति मृत्युये रेव वुध्यते ६ ॥ ५ ॥
वलञ्च हीयते यस्य प्रतिश्यायश्च वर्ष्वते ।
तस्य नारीप्रसक्तस्य शोषोऽन्तायोपज्ञायते ॥ ६ ॥
श्वभिरुष्ट्रेः खरैर्वापि याति यो दिज्ञ्गां दिशम् ।
स्वप्ने यदमाग्रमासाय जीवितं स विसुञ्जति † ॥ ७ ॥

गङ्गाधरः—अन्यस्यापीत्यादि । अनेन कल्पेन साकल्येन पूर्विरूपाणि यं नरं विश्वन्ति इत्यन्वयः ॥ ४॥

गृज्ञाधरः—इत्यभिन्नानि पूर्विक्षाण्युत्तवा भिन्नान्याह—पूर्विक्षैकदेशांस्तु इत्यादि। अन्यान् कान् ये पूर्विक्षैकदेशा रोगान् अनुवधनित अभिव्यक्तत्व-दशायामपि संवधनित न चान्यपूर्विक्षपविश्वदिश्च यान्ति तान्। नन्नु तांश्च वहून् वहूनां व्याधीनामनुद्यान्यनः पञ्चायो न च तैन्त्रियते इत्यत आह— मृत्युरित्यादि। यैः पूर्विक्षपैकदेशान् वस्यामि॥ ५॥

गङ्गाधरः—वल्डन्वेत्यादि । शोपो राजयक्ष्मा । तस्य पूट्वेरूपविशेषः प्रतिश्यायो यस्य क्रमेण वर्द्धते वल्रश्च हीयते नारीप्रसक्तस्य सततं मैथुनं सेव-मानस्य तस्यातः परं शोषः स्यात् । स च तस्यान्ताय नाशायोपपचते ॥ ६ ॥ गङ्गाधरः—पट्टेरूपवर्ष्ट्यायां स्वातोऽप्यात्रिक्षण्यः वस्तिविक्षण्यातः । स

गङ्गाधरः-पूर्वेरूपावस्थायां स्वमतोऽप्यरिष्टमाह-व्यमिरित्यादि। यः

मात्रयेति अत्युल्वणत्वेन । ज्वरपुरःसर इति ज्वरान्तरभावी । एतेन कल्पेनेत्यनेन सर्वाणि चाति-मात्रया चेति दर्शयति ॥ १—४ ॥

चक्रगणिः—रोगःनतुवधन्तीति रोगेण पश्चाव्भाविना अवश्यं युज्यन्ते । मृत्युर्थेरनुवध्यते इति ये रोगेरनुवध्यते । एतेन्तत् फरुति, ज्वरिणो तैन्योधिभिनियतसम्बन्धा अवश्यं मारका भवन्तीत्यर्थः । 'श्वभिरुष्ट्रेः खरैः'' इत्यादि शोपनिदानेऽप्युक्तम् । तेन दक्षिणदिशागमनं

अनुबध्यते इति पाठान्तरम् ।

^{†:} स्वप्ने यक्ष्मा तमाविश्य न जीवन्नवसुज्यते। एतत् पाठान्तरञ्च दृश्यते।

प्रतेः सह पिवेन्मदंग स्व.ने यः कृष्यते शुना।
स घोरं उत्ररमा ताय न जीवेन्न च स्वःयते ॥ ८ ॥
लाचालका वरामं यः प्रयत्य वरमन्तिकात्।
स रक्तित्तमासाय तेनेवान्ताय नियते ॥ ६ ॥
रक्तस्रक्तसर्व्वाङ्गो रक्तवासा मुहुईसन्।
यः स्वप्ने नोयते नार्थ्या स रक्तं प्राप्य सोदति ॥ १० ॥
शूलाटोपान्त्रक्रु ताश्च दौर्व्वाल्यश्चातिमात्रया।
नखादिषु च वैवर्ष्यं गुलमेनान्तकरो शहः॥ ११ ॥

पुरुषः स्वप्ने इविभः कुक् रैरुप्टैः खरैगेईभैवा दक्षिणां दिशं याति स यक्ष्माणं पश्चात् यक्ष्मरोगं प्राप्य म्रियते। एतत्पूर्व्वरूपवान् यक्ष्मा न साध्य इत्यथेः ॥ ७॥ गङ्गाधरः—भेतैरित्यादि । यः पुरुषः पूर्वं ज्वरोत्पत्तेः, स्वप्ने भेतेः मृतैः सह मदंग पिवत्, यो वा स्वप्ने शना कुक् रेण कृष्यते कर्षणीक्रियते, सोऽपि घोरं ज्वरमासाद्य न जीवेन न च सज्यते। एतत्पूर्व्वरूपको ज्वरोऽसाध्य इत्यर्थः ॥ ८

गङ्गाधरः — लाक्षेत्यादि । यः पुरुषः । प्रकरणात् स्वप्ने पूर्विम् अन्तिकात् स्विनिकटमवधीकृत्यः अम्बरमाकाशं लाक्षालक्ताम्बराभं लाक्षालक्तिन रक्तम् अम्बरं वस्त्रं तदाभं पश्यति स परं रक्तिपित्तमासाद्य तेन रक्तिपित्तेन अन्ताय मरणाय नीयते यमालयं नीयते इत्यर्थः । कम्मिणि गत्यर्थलाचतुर्थी । एतत्-पूर्विरूपकं रक्तिपित्तमसाध्यमित्यर्थः ॥ ९ ॥

गङ्गाधरः—रक्तस्रगित्यादि। यो वा पुरुषः स्वप्ने रक्तस्रक् रक्तपुष्पमाला-वान् भूला रक्तसर्व्वाङ्गो रक्तस्रक्षितसर्व्वाङ्गो भूला रक्तवासाश्च भूला मुहुईसन् सन् नार्य्या नीयते स रक्तं रक्तपित्तमासाद्य सीदित स्त्रियते। एतत्पूर्व्वरूपक-श्चासाध्यम् ॥ १०॥

गङ्गाधरः-श्लाटोपेत्यादि । यस्य गुल्मस्य पूच्चरूपाण्येतानि शृलाटोपात्र-कूजातिमात्रदौच्चल्यनखादिवैवण्यानि तस्य गुल्मेन ग्रहो ग्रहणम् अन्तकरः

विशेषितमेतदरिष्टम् । अन्तिकादिति समीपात् । रक्तं प्राप्त्रेति रक्तपित्तं प्राप्य । सीदिति अन्तरते ॥ ५—१० ॥

चक्रपाणिः—आटोपः कुक्षौ शब्दवदवातश्रमणम् । यृद्यते अनेनेति ग्रहो लिङ्गमित्यर्थः ।

लता कराटिकनी यस्य दारुणा हृदि जायते। स्व-ने गुल्मस्तमन्ताय क्रूरो विश्वित मानवम् ॥ १२ ॥ कायेऽल सिन संस्पृष्टं सुसृशं यस्य दिर्ध्यते। चतानि च न रोहन्ति कुष्ठेष्ट्वं सुहिनस्ति तम् ॥ १३ ॥ नयस्याज्यावसिक्तस्य जुह्नतोऽग्निमनिर्चिपम् । पद्मान्युरिम जायन्ते स्वप्ने कुष्ठेमीरिष्यतः॥ १४ ॥ स्नातानुलिसगात्रेऽपि यस्मिन् यन्नित्त मिद्यकाः। स प्रमेहेगा संस्पर्शं प्राप्य तैनेव हन्यते॥ १५ ॥

नाशकः स्यादित्यथेः। न चेदं स्वमतः पूर्विरूपम्। कश्चित् प्रकरणात् स्वप्ने एवं दर्शनं व्याचण्डेऽसाध्यगुरुवपूर्विरूपमिति, तन्न।। ११।।

गुङ्गाधरः -- लित्यादि । यस्य खप्न हृदि व ण्टाकनी व ण्टकवती दारुणा लता जायते, तं मानवमन्ताय नाशाय क्रो गुल्मो विश्वात । एतत् पूर्वेरूपको गुल्मोऽसाध्यः ॥ १२ ॥

गङ्गाधरः—काये इत्यादि । यस्य कायेऽल्पमिष संस्पृष्टं सुभृशं दीय्यंते क्षतानि च न तस्य रोहन्ति, तं पुरुषं मृत्युः कुष्ठैर्थाविभिद्दिनस्ति । एतत्पूच्वेरूपाणि सुष्टाः यसाध्यानि । नदं स्वमतोऽरिष्टं पूच्वेरूपम् ॥ १३॥

गुजाधरः—स्वमत आह— नग्नस्येत्यादि। कुष्ठरोगेभेविष्यद्भिरिष्यतः पुरुपस्य, स्वप्ने नग्नस्य दिगम्बरस्य आज्यावसिक्तस्य घृतम्रक्षितसर्व्वाङ्गस्य अनिच्चेषम् अप्रज्विष्ठतमग्निं निव्वाणाग्निं वा जुहृतो होमं कुर्वित उरसि वक्षसि पद्मानि जायन्ते इति। यो नरः स्वप्ने नग्नो भूला घृतं म्रक्षयिला निव्वाणाग्नौ होमं करोति पद्मानि च तस्य वक्षसि जायन्ते इति पद्मति तस्य कुष्ठरोगेण मरणं भविष्यतीति विद्यादित्यर्थः॥ १४॥

गङ्गाधरः — स्नातेत्यादि । यस्मिन् पुरुषे मिसका ग्रामित स्नातानु लिप्ते गात्रेऽपि अनुलेपितक्तत्वेन न तं मुश्चिन्ति ग्रामित्येव छभ्यन्त्येव, स प्रमेहेण संस्पर्भं प्राप्य प्रमेहं प्राप्य तेनैव प्रमेहेण हन्यते । एतत्पूर्वेरूपकप्रमेहोऽसाध्यः ॥ १५ ॥ संस्पृष्टमिति शक्ततृणादिसंस्पृष्टम् । यद्यपि "स्नातानुलिस्गात्रे" इत्यादि 'स्नातानुलिस्स' इत्यादिनोक्तम् तथापीह प्रमेहेण मरणोपदर्शनार्थं पुनरुच्यते । तत्र च यदा प्रमेहपूर्वेरूपान्तराणि

स्तेहं वहुविधं खने चएडालैः सह यः पिवेत्। वध्यते स प्रमेहेण स्पृश्यतेऽन्ताय मानवः ॥ १६॥ ध्यानायासौ तथोहेगो मोहश्चास्थानसम्भवः। अरितर्वलहानिश्च घृत्युरुन्मादपूर्व्यकः॥ १७॥ आहारहेषणं यस्य लुसचित्तमुदर्दितम्। विद्याद धीरो मुमूर्षुं तमुन्मादेनातिपातिना॥ १८॥ क्रोधनं त्रासवहुलं सकृत्प्रहसिताननम्। मूर्व्यायतृष्णावहुलं हन्युन्मादः श्ररीरिणम्॥ १६॥ नृत्येदु रचोगणैः सार्ष्वं यः खप्नेऽम्भिस मज्ञति। स प्राप्य भृश्मुन्मादं याति लोकिमतः परम्॥ २०॥

गङ्गाधरः—स्नेहमित्यादि । यः स्वप्ने चण्डाछैः सह वहुविधं स्नेहं घृत-नवनीततैलादिकं पिवेत्, स मानवः प्रमेहेण वध्यतेऽनुवध्यतेऽन्ताय मरणाय स्पृत्र्यते च । तस्य प्रमेहो भविष्यति तेन प्रमेहेण स मरिष्यतीति भावः ॥ १६ ॥ गङ्गाधरः—ध्यानत्यादि । पूर्विष्पाधिकारात् । यस्योन्मादपूर्विष्पाणि ध्यानं चिन्ता, आयासः श्रमकरो भावः, उद्देगः, अस्थानसम्भवो मोहः—यत्र मोहविषयता नास्ति तत्र मोहः, अरतिरनवस्थचित्ततं, वलहानिञ्चैतानि यस्य, तस्योन्मादरोगो भूता पश्चान्मृत्युरित्यर्थः ॥ १७ ॥

गृङ्गाधरः—आहारेत्यादि । यस्योन्मादपूर्व्वरूपेषु आहारद्वेपणं छप्तचित्त-सन मुदा हपेभावेण पवर्त्तमानेन अहितं व्यथितं तं पुरुपमितपातिना भाविना उन्मादेन मुमुष्ठ धीरो विद्यात् ॥ १८॥

गङ्गाधरः — क्रोधनिमत्यादि । जन्मादपू व्वरूपेषु क्रोधनं त्रासवहुलं सकृदेक-वारमात्रं पहसिताननं मुर्च्छोयतृष्णावहुलं शरीरिणम् जन्मादो भूला हन्ति ॥१९ गङ्गाधरः — नृत्येदित्यादि । जन्मादपू व्यरूपेषु यः स्वप्ने रक्षोगणैः सह

भवन्ति, एतचं लक्षणं भवति, भवति तदा प्रमेहेण मृत्युः। यदा प्रमेहएव्वंरूपाणि न भवन्ति, तदा येन केनापि व्याभिना मृत्युज्ञयः। उद्दितिमिति उद्देशुक्तम्। यद् वा उद्दितं मृद्व-वातार्दितम्॥ ११—२०॥

श्रसत् तमः पश्यति यो यः श्रृगोत्यसतः खनान् । बहुन् बहुविधान् जायत् सोऽपस्मारेग् वध्यते ॥ २१ ॥ मत्तं नृत्यन्तमाविध्य प्रतो हरति यं नरम् । खन्ने हरति तं मृत्युरपस्मारपुरःसरः ॥ २२ ॥ स्तभ्येते प्रतिबुद्धस्य हनुमन्ये तथाचिग्गी । यस्य तं बहिरायामो यहीत्वा हन्त्यसंश्यम् ॥ २३ ॥ शष्कुलीर्वान्यपूपान् वा खप्ने खादति यो नरः । स चेत् प्रच्छईयेत् तादक् प्रतिबुद्धो न जोवति ॥ २४ ॥

इत्येत्, अम्भसि च मज्जति, स धृशमुन्मादं रोगं प्राप्य इतो जन्मक्षेत्रात् परलोकं याति॥२०॥

गङ्गाधरः—असत् तम इत्यादि । यो जाग्रत् सन्नसत् तमो मिथ्याऽन्धकारं पश्यति, यो वा जाग्रत् सन्नसतो मिथ्या बहुविधान् [वहून् स्वनान् शृणोति, सोऽपस्मारेण भाविना वध्यते हन्यते ॥ २१ ॥

गङ्गाधरः—मत्तमित्याद्भि। शेतो मृतः पुरुषो यं नरं नृत्यन्तं मत्तं स्वम् आविध्याधःशिरसं कृता स्वप्ने हरति, स्वप्ने इति पश्यन्तं तम् अपस्मारेण भाविना मृत्युहरतीत्यथः॥ २२॥

गङ्गाधरः—स्तभ्येते इत्यादि । पूर्व्यं निद्रया वाह्यज्ञानहीनस्य पश्चात् प्रति-, बुद्धस्य जागरितस्य यस्य हनुमन्ये तथाऽक्षिणी च स्तभ्येते, तं नरं वहिरायामो धनुःस्तम्भो भविष्यन् गृहीला हर्न्त ॥ २३ ॥

गङ्गाधरः—शब्दुलीरित्यादि। यो नरः स्वप्ने शब्दुलीरपूपान् वा खादति, स चेत् प्रतिबुद्धो जागरितः सन् तादृक् शब्दुलीर्वापूपान् वा प्रच्छिद्देयेत्, स विहरायामेणे भाविना न जीवति मरिष्यतीत्यथः॥ २४॥ एतानि पूर्व्वरूपाणि यः सम्यगवबुध्यते ।
स एषामनुवन्धञ्च फलञ्च ज्ञातुमहिति ॥ २५ ॥
य इमांश्रापरान् स्वमान् दारुणानुपलच्चेत् ।
ञ्ञातुराणां विनाशाय क्वेशाय महतेऽपि वा ॥ २६ ॥
यस्योत्तमाङ्गे जायन्ते वंशगुल्मलतादयः ।
वयांसि च निलीयन्ते स्वप्ने मौग्डप्रमियाच्च यः ॥
यश्रोलूकश्वकाकाद्यः स्वप्ने यः परिवार्थ्यते ।
रचःप्रे तिपशाचस्त्री-चग्डालद्रविद्वान्धकैः ॥
वंशवेत्रलतापाश-तृण्कग्टकसङ्कटे ।
प्रमुद्यति च यः स्वप्ने यो गच्छन् प्रपतत्यिप ॥

गङ्गाधरः — पूर्वेरूपारिष्टाधिकारस्याशिषं समापयति — एतानीत्यादि । अतुवन्धम् एपामुक्तानां व्याधीनां पश्चाद्वव्यं सम्बन्धं तद्व्याधीनामेषां वा पूर्वे-रूपाणां फलश्च मरणं बातुमहेति ॥ २५॥

गङ्गाधरः—अथ पूर्विरूपावस्थिकस्वमानुत्तवा रूपावस्थादिषु स्वमनकरणम् आरव्धुमाह—य इमानित्यादि । यस्य यस्य यक्ष्मज्वरादे रोगस्य पूर्विरूपतया यो यः स्वम जक्तस्तत्तव्व्याधिनातुरस्य स एप एप स्वमो विनाशाय उपलक्ष्यते इत्यर्थे इमानुक्तान दारुणान् स्वमान् आतुराणां तत्तद्वप्राधिभिः पीड़ितानां विनाशायोपलक्षते । अपरानिप दारुणान् स्वमान् वक्ष्यमाणान् आतुराणां वर्त्तमानातुर्यवतां विनाशाय महते क्लेशाय वापि उपलक्षते ॥ २६ ॥

गृहाधरः—नतु के तेऽपरे स्वमा इत्यत आह—यस्योत्तमाङ्गे इत्यादि। यथायथमनियतसङ्खेत्रयं स्वप्ने दर्जनं वोध्यम्। उत्तमाङ्गे मूर्द्धनि वंशाद्यन्यतमाः, मौण्डतं मुण्डनम् इयात् प्राप्तुयात्। गृधादिभी रक्षःप्रेतादिभिश्च वंशादिसङ्कटे स्वप्ने यः परिवार्यते परिवारीक्रियते, यः प्रमुह्यति मोहं प्रामोति, यः स्वप्ने

चक्रपाणिः—एपामनुबन्धमिति एतत्पूर्वक्ष्पोत्तरकालभाविनंव्याधिम्। फलल्चैपां मृत्यु-रूपम्। छोशाय महतेऽपि वेत्यत्रारोगिणां छोशाय महते इति बोध्यम्, रोगिणान्तु मरणायैव। यत उत्तरत्रोपसंहारे "इत्येते दारुणाः स्वप्नाः" इत्यादौ यथोक्तमेच विभागं करिप्यति॥ २५।२६॥ सम्बन्धाः—वयांसीति पक्षिणः। गृधादिकाकादैयः परिवार्यत इति सम्बन्धः। संसुक्रति सूसी पांश्पधानायां वल्मीके वाथ भस्मिन ।
रसशानायतने श्वक्षे स्वप्ने यः प्रपतत्यिष ॥
कलुषेऽस्मिस पङ्के वा कूपे वा तमसावृते ।
स्वप्ने सज्जित शीघ्रे ए स्रोतसा नीयते च यः ॥
स्नेहपानं तथाभ्यङ्गः प्रच्छईनिवरेचने ।
हिरएयलाभः कलहः स्वप्ने वन्यपराजयो ॥
उपानदुयुगनाश्रश्च प्रपातः पदचर्म्भएगः ।
हर्षः स्वप्ने प्रकृपितेः पितृभिश्चापि भर्त्यनम् ॥
चन्द्रतारार्कनचत्र-दीपदैवतचन्तपाम् ।
पतनश्च प्रणाशो वा स्वप्ने भेदो नगस्य वा ॥
रक्तपुण्यं वनं सूसिं पापकर्मालयं चिताम् ।
ग्रहान्धकारसंवाधं स्वप्ने यः प्रविश्वरापि ॥
रक्तमाली हसन्तुच्चैदिंग्वासा दिन्गगं दिश्म् ।
दारुगासटवों स्वप्ने किपशुक्तः प्रयाति वा ॥

गच्छन् सन् प्रपतित, यः स्वप्ने कळुपेऽम्भिस पङ्के वा तमसाष्टते क्षे वा मज्जित,
यश्च शिश्रेण वेगवता स्रोतसा नीयते, यस्य स्वप्ने स्नेहानां घृतादीनां पान
तथा स्नेहाभ्यङ्गः, एवं पच्छईनं विरेचनश्च, यस्य स्वप्ने हिरण्यस्य कपईकस्य
लाभः, स्वप्ने च कलहः एवं वन्धो वा पराजयो वा, एवमुपानद्युगस्य
चर्म्मपादुकाद्वयस्य नाजः, स्वप्ने तथा पादयोश्चम्मणोद्ध्योः प्रपातः,
स्वप्ने हषः, एवं प्रकुपितैः पितृभिभित् सनम्, तथा स्वप्ने चन्द्रादीनां
प्रपातः णाशो वा, नगस्य ग्रक्षस्य भेदो भङ्गः स्वप्ने, यः स्वप्ने रक्तपुप्पादिकं
प्रविश्वा — गुहान्धकारस्यपसम्यग्वाधाकरं देशं यः स्वप्ने प्रविश्वति, यो रक्तमाली
इति संयुक्तो भवति। क्षिंवा प्रमुखतीति वा पाठः, तत्र प्रमुखतीति वंशादिसङ्कटे लग्नः सन्
न निर्गममार्गमासादयति। प्रपतस्यपीति स्मावित्यादिना योज्यम्। पांश्चपधानायामिति धूलिसंयुक्तायाम्। क्षिंवा स्मावित्यादि प्रविश्वतीत्यमेन योज्यम्। उपानत् उपानश्ची। रक्तपुप्पमिति
वनविश्वेपणम्। गुहान्धकारसंवाधिमिति गुहान्धकाररूपं कष्टकारकम्। दिग्वासा नग्नः सन्।